पाणिनीयाऽष्टाध्यायीव्याख्याभूता
श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

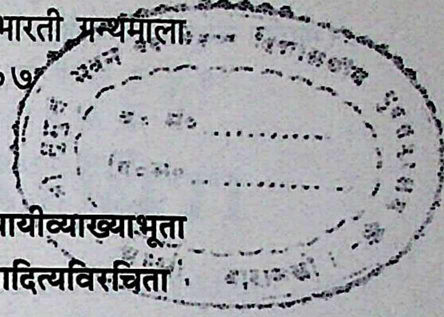
काशिकावृत्तिः

'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता काशिकास्थ-सूत्र-वार्त्तिकेष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिको-दाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूचीभिरलङ्कृता

प. ईश्वरचन्द्र

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१०७



पाणिनीयाऽष्टाध्यायीव्याख्याभूता

श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

काशिकावृत्तिः

'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता काशिकास्थ-सूत्र-वार्त्तिकेष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिकोदाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूचीभिरलङ्कृता

प्रथमो भागः

[प्रथमद्वितीयतृतीयाध्यायात्मकः]

व्याख्याकारः

प. ईश्वरचन्द्रः

हरियाणाप्रदेशीय-भिवानीमण्डलान्तर्गत-
भिवानीनगरस्थ-राजकीय-स्नातकोत्तर-महाविद्यालयीय-
संस्कृत-विभागाऽध्यक्षः



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

प्रथम संस्करण संस्करण 2004 ई.

प्रथम भाग 325.00 • द्वितीय भाग 375.00
तृतीय भाग 325.00 • सम्पूर्ण (1-3 भाग) 1000.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263, 2333371



चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIWAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
107

KĀŚIKĀVṚTTI

A COMMENTARY ON PĀṆINI'S AṢṬĀDHYĀYĪ

OF

VĀMANA & JAYĀDITYA

with 'Somalekhā' Hindi commentary and other valuable explanations and various indices i.e. Sūtra, Vārtika, Iṣṭi, Phiṭsūtra, Gaṇasūtra, Paribhāṣā, Uṇādisūtra, Kārikā and Examples

Part 1

[Adhyāyas 1-3]

By
Pt. Ishwar Chandra
Head, Dept. of Sanskrit
Govt. (P.G.) College, Bhiwani (Haryana)



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Publishers :
© CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Tel. # 23956391

First Edition 2004

Also can be had from :
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. # 2335263, 2333371



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 2420404

पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति का मूल आधार वेद हैं। वेदार्थ के सम्यग् बोध के लिए वेदांगों का ज्ञान अनिवार्य है। वेदांग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः तथा ज्यौतिष। वेदांगों में शब्द विद्या अर्थात् व्याकरण ही प्रमुख है। आचार्य पतञ्जलि कहते हैं कि वेदार्थ ज्ञान-साध्य है तथा व्याकरण ज्ञान-साधन है। अतः वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

यद्यपि शब्द शास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं, परन्तु महर्षि पाणिनि एक तत्त्ववेत्ता आचार्य हुए हैं। आचार्य पाणिनि रचित अष्टाध्यायी अपने सर्वातिशायी गुणों के कारण सभी व्याकरण ग्रन्थों में श्रेष्ठ है। लौकिक तथा वैदिक—दोनों प्रकार के संस्कृत वाङ्मयों में पाणिनि की प्रतिभा अकुण्ठित रही। आज व्याकरणशास्त्र के अध्येता को आचार्य पाणिनि के औपचारिक परिचय की किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

अष्टाध्यायी पर संस्कृत में अनेक वृत्तियाँ लिखी गईं। इस परम्परा में प्रमुखतः दो सरणियों का उदय हुआ—लक्षण-प्रधान वृत्ति तथा लक्ष्य-प्रधान वृत्ति। जयादित्य-वामन विरचित काशिका लक्षण-प्रधान वृत्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आज सम्पूर्ण प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी पर इससे उत्तम टीका उपलब्ध नहीं है।

भट्टोजि दीक्षित विरचित वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी लक्ष्यप्रधान शैली का चूडान्त निदर्शन है।[1] दीक्षितजी ने अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को प्रक्रिया की दृष्टि से प्रकरणानुसार व्यवस्थित करके एक नवीन शैली का सूत्रपात किया।

काशिकावृत्ति पर न्यास तथा पदमञ्जरी—दो प्रौढ़ संस्कृत-टीकायें प्राप्त होती हैं। इन संस्कृत टीकाओं पर भी अनेक संस्कृत-टीकायें उपलब्ध होती हैं; परन्तु काशिकावृत्ति पर हिन्दी भाषा में टीकाओं की कमी रही है। सम्प्रति श्रीनारायण मिश्र कृत हिन्दी टीका तथा श्रीजयशंकर लाल त्रिपाठी कृत भावबोधिनी टीका—ये दो टीकायें ही आज उपलब्ध हैं। फिर भी आज के अध्येतृवर्ग द्वारा काशिकावृत्ति की एक सरल व सुबोध उपयोगी हिन्दी टीका की महती आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही थी, जिसकी पूर्ति प्रस्तुत 'सोमलेखा' टीका के माध्यम से करने का यथाशक्य प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत टीका की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

1. प्रस्तुत टीका की भाषा अत्यधिक सरल है।
2. व्याकरण जैसे दुरूह तथा शुष्क विषय को सुगम तथा रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।
3. सभी सूत्रों का अर्थ दिया गया है।
4. सभी वार्त्तिकों को अर्थसहित प्रस्तुत किया गया है।
5. प्रत्येक उदाहरण की सिद्धिप्रक्रिया विस्तार से प्रदर्शित की गई है।
6. पदकृत्यों के विशेष विवेचन के द्वारा सूत्रस्थ प्रत्येक पद का औचित्य दिखाया गया है।
7. गूढ स्थलों की विशेष व्याख्या की गई है।
8. कारिकाओं की विस्तृत व्याख्या दी गई है।

---

1. व्याकरणशास्त्र में भट्टोजि दीक्षित के अद्वितीय योगदान के विषय में हमारा शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थ—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की 'पुष्पाञ्जलि' हिन्दी टीका की भूमिका पठनीय है।

9. वैदिक उद्धरणों का स्वरांकन किया गया है।
10. आवश्यक पदों की व्याख्या की गई है।
11. अनेक उपयोगी विषयों की चर्चा भूमिका भाग में की गई है।
12. ग्रन्थ के अन्त में दिये गये अनेक उपयोगी परिशिष्ट स्वर्ण-सौरभ योग स्थापित करते हैं।
13. ग्रन्थ के अन्त में काशिकागत लगभग 26000 उदाहरणों को प्रथम बार अकारादि क्रम से प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार अनेक उपयोगी विषयों एवं परिशिष्टों से संवलित तथा सरल व सुबोध हिन्दी भाष्य से सुशोभित यह ग्रन्थ सर्वथा उपयोगी अतएव संग्रहणीय है।

आभार प्रदर्शन–भगवान् विश्वनाथ की असीम कृपा से ही यह कार्य पूर्ण हो सका है। अत: उस प्रभु का कोटिश: धन्यवाद करता हूँ। सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य पिता कैलासवासी श्री द्यालुराम शास्त्री जी के श्रीचरणों में धन्यवादरूप श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने संस्कृत व्याकरण का ज्ञान देकर शृंग व पुच्छ से विहीन इस पशु को मनुष्य की संज्ञा प्रदान की।

मैं प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्रों के सम्पादनरूप तथा अनेक शास्त्रों की उपयोगी व्याख्याओं से संवलित ग्रन्थरत्नों के प्रकाशनरूप उत्तम कार्य के लिए बद्ध परिकर, शुद्ध व स्तरीय प्रकाशन के लिए ख्यातनाम, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली के स्वत्वाधिकारी श्रेष्ठिवर्य श्री वल्लभदास जी गुप्त, जो आज के भौतिकताप्रधान युग में भी माँ सरस्वती की सेवाभावनया उपासना कर रहे हैं, का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। आपने इस विशाल ग्रन्थ को सभी मुद्रणदोषों से विरहित तथा सर्वांग सुन्दर बनाकर अत्यल्प समय में प्रकाशित किया है। एतदर्थ आपके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

अन्त में विद्वान् लोगों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे समय-समय पर अपने सत्परामर्शों के द्वारा मुझे उपकृत करते रहें।

माघ शुक्ला तृतीया, सं० 2060 — विद्वज्जनाश्रव:

अभिजित् — **ईश्वरचन्द्र**
1915/13, भिवानी (हरियाणा)

विषय प्रवेश

षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्। (महाभाष्यम्)

लोक में भाषा की प्रवृत्ति तथा उसका विकास किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। भारतीय मान्यता के अनुसार लौकिक भाषा का विकास वेद से हुआ है। द्रष्टव्य—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्ता विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।[1]

भाषा का विकास चाहे किसी भी रीति से अथवा किसी भी स्रोत से हुआ हो, यह निर्विवाद सत्य है कि संसार की सभी भाषाओं का आदि मूल संस्कृत भाषा है। इसके अतिरिक्त किसी समय संस्कृत भाषा का प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इस भाषा का नाम 'संस्कृत' क्यों पड़ा ? भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध विवरण के अनुसार प्राचीन काल में देववाणी का उपदेश प्रतिपद पाठ के द्वारा किया जाता था, जो अत्यधिक श्रमसाध्य था। देववाणी का बोध सुगम रीति से हो सके—इस दृष्टि से व्याकरण के आचार्य इन्द्र ने समस्त भाषा को प्रकृति-प्रत्ययरूप संस्कार से संस्कृत कर दिया। फलतः इसे 'संस्कृत' कहा जाता है। द्रष्टव्य—

संस्कृतं नाम दैवी वाग् अन्वाख्याता महर्षिभिः।

इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना के साथ ही व्याकरण का उदय हुआ। यद्यपि अति प्राचीन काल से ऐन्द्र आदि अनेक व्याकरणों की अविच्छिन्न परम्परा रही है, तदपि आचार्य पाणिनि का व्याकरण सभी व्याकरणों में श्रेष्ठ तथा मूर्धाभिषिक्त है। व्याकरण जगत् में आचार्य पाणिनि को केन्द्रबिन्दु मानकर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याकरण के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है।[2] यथा—

(क) प्राक् पाणिनीय काल; (ख) पाणिनीय काल तथा (ग) पाणिनि से उत्तरवर्त्ती काल।

पाणिनि से पूर्व काल में व्याकरण की सत्ता थी—इसके प्रबल व पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। स्वयं आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अपने पूर्ववर्त्ती दश आचार्यों का स्मरण किया है।[1] परन्तु इन सभी आचार्यों की रचनायें कालकवलित हो गईं हैं। वस्तुतः पाणिनि व्याकरण शास्त्र का एक सुपरिचित एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त नाम है। पाणिनि के व्याकरण का सम्भवतः उसके सर्वातिशायी महत्त्व के कारण बहुत शीघ्र प्रचार व प्रसार हुआ। उन जैसा वैयाकरण विश्व में आज तक नहीं हुआ है। जितना अधिक आचार्य पाणिनि का काल अज्ञात है, उतना ही अधिक अज्ञात उनका इतिवृत्त भी है।

अष्टाध्यायी आचार्य पाणिनि की प्रमाणभूत एवं लोकप्रिय रचना है। इसमें लगभग ४००० सूत्रों में समग्र शब्दसमूह का अनुशासन किया गया है। अष्टाध्यायी ही वह प्रथम व्याकरण है, जिसमें अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से प्रकृति-प्रत्यय का अन्तर पहचाना गया है। अतः इसमें सर्वांगीण अतिशुद्ध व्याकरण पद्धति का निर्माण हुआ।

पाणिनि से कतिपय शताब्दी पश्चात् आचार्य कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों के द्वारा पणिनि के सूत्रार्थों वा गुप्त आशयों को प्रकट करने का प्रयास किया। आचार्य कात्यायन से कुछ शताब्दी पश्चात् महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण को परिष्कृत करने का अपूर्व कार्य किया। उनकी रचना 'महाभाष्य' नाम से विख्यात है। यह अष्टाध्यायी पर एक प्रौढ़ तथा प्रामाणिक भाष्य है।

काशिका

अष्टाध्यायी पर प्राचीन व अर्वाचीन—अनेक आचार्यों ने वृत्ति-ग्रन्थ लिखे हैं। अष्टाध्यायी पर दो प्रकार के व्याख्यानग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

(क) प्रकरणानुसारी ग्रन्थ—काशिका आदि।

(ख) प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ—वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी आदि।

प्रकरणानुसारी व्याख्यान में अष्टाध्यायी के सूत्रों के क्रम को भंग किये विना व्याख्यान किया जाता है तथा प्रक्रियानुसारी व्याख्यान में लक्ष्य की दृष्टि से सूत्रों को व्यवस्थित करके उनकी व्याख्या की जाती है।

---

1. ऋ० 8.100.11.

2. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)-पं० युधिष्ठिर मीमांसक।

1. पा० 1.2.25; 8.4.67; 6.1.19; 123; 126; 3.4.111; 7.2.63; 8.3.19; 6.1.92; 6.3.61; 7.1.74; 7.3.99; 8.4.50.

'सूत्रं सूचनात्' इस निर्वचन के आधार पर 'सूत्र' का अर्थ है—अनेक अर्थों की सूचना देने वाला। अत: सूत्रों के.अर्थ को सम्यक् रूप से जानने के लिए व्याख्यान ग्रन्थ नितान्त आवश्यक हैं। महर्षि पतञ्जलि ने व्याख्यानग्रन्थ का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

'केवल चर्चा पदों को व्याख्यान नहीं कहा जा सकता; अपितु जहाँ उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा अधिकार आदि की चर्चा होती है, उसे व्याख्यान ग्रन्थ कहा जाता है'।[1]

भाषावृत्ति की टीका में व्याख्यान के पाँच अवयव बताये गये हैं। यथा—

(क) पदच्छेद, (ख) पदार्थोक्ति (अर्थात् पदों का अर्थ), (ग) विग्रह (अर्थात् समस्त पदों का विग्रह), (घ) वाक्ययोजना तथा (ङ) पूर्वपक्ष व समाधान।

इस प्रकार इन पाँच अंगों से युक्त ग्रन्थ को व्याख्यानग्रन्थ कहा जाता है। अष्टाध्यायी के प्रकरणानुसारी व्याख्यान का एकमात्र प्रमाणभूत ग्रन्थ 'काशिका' है। यह जयादित्य तथा वामनरचित सम्मिलित वृत्ति है। महाभाष्य और वाक्यपदीय के पश्चात् प्रमाणभूत व्याकरणग्रन्थ 'काशिका' ही है। इसे 'एकवृत्ति' तथा प्राचीन वृत्ति के नाम से भी जाना जाता है।

काशिका का कर्तृत्व

काशिका के कर्तृत्व के विषय में यहाँ मत-मतान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं—

1. पं० बालशास्त्री द्वारा सम्पादित काशिका के प्रथम चार अध्यायों की पुष्पिका में जयादित्य का नाम है तथा शेष चार अध्यायों की पुष्पिका में वामन का नाम है।

2. हरिदीक्षित ने प्रौढ़मनोरमा की शब्दरत्न टीका में प्रथम, द्वितीय, पञ्चम व षष्ठ अध्यायों को जयादित्यकृत स्वीकार किया है तथा शेष चार अध्यायों (तृतीय, चतुर्थ, सप्तम व अष्टम) को वामनकृत बताया है।

3. प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य तथा वामन के नाम से जो उद्धरण दिये हैं, उनके आधार पर श्री श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने काशिका के प्रथम पाँच अध्यायों को जयादित्यकृत माना है तथा शेष तीन अध्यायों को वामनकृत।

4. काश्मीरी हस्तलेखों के आधार पर प्रथम चार अध्यायों की रचना जयादित्य के द्वारा मानी जाती है तथा शेष अध्यायों की रचना वामन के द्वारा।

1. महा०

5. चीनी यात्री इत्सिंग ने समग्र काशिका का उल्लेख जयादित्य के नाम से किया है।

6. काशिका की शैली की अन्तरंग परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि वह सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की रचना नहीं है।

7. काशिका तथा उसकी टीका 'न्यास' के निम्नलिखित सन्दर्भों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि काशिका आद्योपान्त एक ही व्यक्ति की रचना है। यथा—

(क) ....ऋकारविषये तस्य प्रतिविधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। ....ऋकारस्थो रेफो हल्ग्रहणेन गृह्यते।[1]

तु० ऋकारैक.......... गृह्यते।[2]

(ख) 'र' इति सामान्यमुपादीयते। ....तयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्।[3]

तु० 'र' इति श्रुतिसामान्यमुपादीयते।[4]

(ग) ऋवर्णाच्चेति..........।[5]

तु० नुड्..........।[6]

8. निम्नलिखित सन्दर्भों के आधार पर अधिकांश विद्वान् काशिका को दो व्यक्तियों की रचना स्वीकार करते हैं—

(क) दृशेरग् वक्तव्यः।[7]

(ख) ऋदृशोऽङि गुण इत्येतदपि बहुल०।[8]

(ग) इदित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थम्।[9]

(घ) तासि सिचोरिदित्कार्यं नास्तीत्युच्चारणार्थो निरनुनासिक इकारः पठ्यते।[10]

(ङ) तृच् क्रीडाजीविकयोर्नास्तीत्यक उदाह्रियते।[11]

(च) नित्यं क्रीडाजीविकयोरिति समासः।[12]

काशिका की आवश्यकता

अष्टाध्यायीक्रम के विना सूत्र का अर्थ न तो स्पष्ट होता है

1. न्यास–पृ० 36 (काशिका, प्रथम भाग)।
2. काशि० 7.4.71.
3. न्यास–पृ० 37 (काशिका, प्रथम भाग)।
4. काशि० 8.2.18.
5. न्यास–पृ० 38 (काशिका, प्रथम भाग)।
6. पदम० 8.2.18.
7. काशि० 3.1.86.
8. काशि० 7.1.8.
9. काशि० 3.1.33.
10. काशि० 7.1.58.
11. काशि० 2.2.17.
12. काशि० 6.2.73.

तथा न ही यह बुद्धि में अवस्थित होता है। काशिकावृत्ति अष्टाध्यायी का प्रकरणानुसारी व्याख्यानग्रन्थ है। अतः काशिका के ज्ञान के विना पाणिनीय व्याकरण का तलस्पर्शी ज्ञान सम्भव नहीं है। अष्टाध्यायी-क्रम का आश्रय करके काशिकावृत्ति के द्वारा व्याकरण का अध्ययन ही अध्येतृ वर्ग के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है—इसे अद्यत्वे सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं। इसके इसी गुण से आकृष्ट होकर सम्प्रति विद्वान् अष्टाध्यायी-क्रम के पठन-पाठन को प्रोत्साहित करने लगे हैं। कौमुदी-क्रम से अध्ययन करने वालों को भी पदे-पदे अष्टाध्यायी-पारायण की आवश्यकता पड़ती है। तत्परिणाम-स्वरूप आज विद्वान् काशिकावृत्ति के अध्ययन-अध्यापन की महती आवश्यकता अनुभव करते हैं।

काशिका की शैली तथा वैशिष्ट्य

काशिकावृत्ति अष्टाध्यायी की प्राचीनतम व सम्पूर्ण वृत्ति है। इसमें अष्टाध्यायी के प्रत्येक सूत्र की व्याख्या है। इसकी भाषा सरल व प्रवाहयुक्त है। इसकी प्रसादमयी शैली ने इसे इतना अधिक लोकप्रिय तथा उपादेय बना दिया है कि इसकी समता दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। अष्टाध्यायी का व्याख्यान-ग्रन्थ होने से इसमें व्याख्यान के पाँचों अवयव उपलब्ध होते हैं।

काशिका में सर्वप्रथम पूर्व शास्त्र से अनुवृत्त पद को दिखाया जाता है। इसके पश्चात् सामान्य रूप से सूत्रार्थ दिया जाता है। तत्पश्चात् सूत्र के सभी सम्भव उदाहरणों को प्रदर्शित किया जाता है। सूत्रस्थ प्रत्येक पद के औचित्य को प्रदर्शित करने के लिए प्रत्युदाहरण भी दिये गये हैं। अन्त में शंका-समाधान होता है। विशेष स्थल कारिकाओं के रूप में निबद्ध होता है। काशिका में सूत्र की व्याख्या का प्राय: यही क्रम सर्वत्र उपलब्ध होता है।

काशिकावृत्ति के वैशिष्ट्य को निम्न प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है—

1. इसमें अष्टाध्यायी के प्रत्येक सूत्र का अर्थ दिया गया है।
2. काशिका की भाषा सरल व प्रवाहमयी है।
3. काशिका में प्रदर्शित उदाहरण प्राचीन तथा परम्परागत हैं।
4. भाष्य में अनुक्त अनेक विषयों का प्रतिपादन काशिका में हुआ है।
5. काशिकावृत्ति में गणपाठ प्राप्त होता है।
6. काशिकावृत्ति में सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों से दी गई है।
7. काशिका में प्रदर्शित उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत हैं। अतः यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है।
8. सम्प्रति अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के उद्धरण यहाँ संगृहीत होने से काशिकाकार के विस्तृत वैदिक ज्ञान की सूचना प्राप्त होती है।
9. संज्ञा तथा परिभाषासूत्रों के उपयोगस्थलों की सूचना तत् तत् सूत्र पर दी गई है। यथा—

   टिप्रदेशाः.......... । घुप्रदेशाः.......... । इत्यादि।
10. काशिकावृत्ति में वार्त्तिकों का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है।
11. काशिकाकार ने भाष्य से भी उपयोगी वार्त्तिकों को संगृहीत किया है।
12. काशिका तथा भाष्य का कतिपय स्थलों पर विरोध प्राप्त होता है। यह काशिकावृत्ति का अवगुण नहीं, अपितु गुण ही कहा जायेगा। वस्तुतः काशिकाकार ने एतादृश स्थलों पर भाष्यकार से अपना वैमत्य दिखाकर प्राचीन आचार्यों के मत को प्रतिष्ठापित किया है।

इस प्रकार काशिकावृत्ति अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

काशिका का पाठ

अत्यधिक खेद का विषय है कि सम्प्रति काशिका के उपलब्ध सभी पाठ प्रायः अशुद्ध हैं। अत्यधिक पुरातन काल से ही काशिका का पाठ भ्रष्ट हो गया था—इस आशय की पुष्टि न्यासकार के निम्नलिखित वचन से हो जाती है—

अन्ये तूत्तर सूत्रे..........[1]

न्यास तथा पदमञ्जरी में भी यत्र तत्र काशिका के पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। काशिका में अनेक स्थलों पर उदाहरणों के वैज्ञानिक क्रम को भंग कर दिया गया है। ऐसे स्थलों पर हमने मूल में कोई परिवर्तन किये विना व्याख्याभाग में उदाहरणों को वैज्ञानिक क्रम में दर्शाया है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद की संस्कृत परिषद् द्वारा सम्पादित संस्करण, श्री नारायण मिश्र द्वारा सम्पादित व चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित संस्करण तथा श्री जयशंकर लाल त्रिपाठी द्वारा सम्पादित व तारा प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित संस्करण अपेक्षाकृत शुद्ध कहे जा सकते हैं। हमने अपनी टीका का आधार श्री जयशंकर लाल त्रिपाठी के द्वारा सम्पादित पाठ को बनाया है।

१. न्यास (काशि०) 1.1.5.

प्रस्तुत हिन्दी टीका में प्रत्येक सूत्र से पूर्व संख्या का निर्देश है। यह संख्या सूत्र के काशिका-क्रम को दर्शाती है। सूत्र के पश्चात् जो संख्या अंकित है, उसके द्वारा सूत्र की पादगत स्थिति का ज्ञान होता है। अन्त में कोष्ठक में संख्या दी गई है। इस संख्या के द्वारा सूत्र का वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदीगत क्रम सूचित होता है।

काशिका का सूत्रपाठ

प्रत्येक आचार्य अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से यथेष्ट सहायता लेता है। काशिकाकार ने महाभाष्य तथा प्राचीन वृत्तियों से अत्यधिक सहायता ली है। इसके अतिरिक्त काशिकाकार का कतिपय सूत्रों की अनुवृत्ति तथा व्याख्या आदि के सम्बन्ध में भाष्यकार से विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं; काशिका में कई सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर भी प्राप्त होता है। सूत्रों के स्वरूप में परिवर्तन काशिकाकृत है अथवा अन्य वृत्तिकारकृत है—यह एक अलग प्रश्न है। यहाँ हम केवल उन सूत्रों की चर्चा करेंगे; जिनके स्वरूप में काशिका में न्यूनाधिक अन्तर पाया जाता है।

अष्टाध्यायी का दो प्रकार का सूत्रपाठ प्राप्त होता है—एक महाभाष्यसम्मत सूत्रपाठ[1] तथा दूसरा काशिकासम्मत सूत्रपाठ[2]। काशिकासम्मत सूत्रपाठ में निम्न विशेषतायें प्राप्त होती हैं—

(क) कुछ सूत्रों को विद्वानों ने अपाणिनीय बताया है,

1. महाभाष्यसम्मत सूत्रपाठ में 3965 सूत्र हैं। इसके लिए देखिये —पाणिनीयं शब्दानुशासनम् (वार्तिकगणपाठयुतः सूत्रपाठः)— सम्पा०, पं० ईश्वरचन्द्रः, संस्कृत ग्रन्थागारम्, रोहिणी, नवदिल्ली, 1999; अष्टाध्यायी (चन्द्रलेखा हिन्दी टीका)–व्याख्याकार पं० ईश्वर चन्द्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2004 (परिशिष्ट-क)।

2. काशिकासम्मत सूत्रपाठ में 3983 सूत्र प्राप्त होते हैं—जिसका विवरण इस प्रकार है—

अध्याय	प्रथमपाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	चतुर्थपाद	योग
प्रथम अध्याय	75	73	93	110	351
द्वितीय अध्याय	72	38	73	85	268
तृतीय अध्याय	150	188	176	117	631
चतुर्थ अध्याय	178	145	168	144	635
पञ्चम अध्याय	136	140	119	160	555
षष्ठ अध्याय	223	199	139	175	736
सप्तम अध्याय	103	118	120	97	438
अष्टम अध्याय	74	108	119	68	369
				कुल योग	3983

(ख) काशिकाकार ने कुछ वार्त्तिकों को सूत्ररूप में गृहीत कर लिया है,

(ग) काशिकाकार ने कुछ सूत्रों को स्वल्प प्रक्षेप अथवा परिवर्तन के साथ गृहीत किया है,

(घ) कुछ सूत्रों का योगविभाग किया गया है।

इन सूत्रों का विवेचन इस प्रकार है—

(1) 'उञः' काशिका 1.1.17., 'ऊँ' काशिका 1.1.18. —महाभाष्य में 'उञ ऊँ' पा० 1.1.17 सूत्र के योगविभाग का सुझाव दिया गया है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने भी काशिकाकार का अनुकरण करते हुए प्रकृत सूत्र का योगविभाग कर दिया है।[2] तत्त्वबोधिनीकार स्पष्ट शब्दों में इसे एक सूत्र स्वीकार करते हैं।[3]

(2) समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्त्तिश्रुविदिभ्यः (काशि० 1.3.29)—महाभाष्य में 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इतना अंश सूत्र के रूप में गृहीत है। इस सूत्र पर महाभाष्य में दो वार्त्तिक प्राप्त होते हैं।[4]

सम्भवतः काशिकाकार ने दोनों वार्त्तिकों का प्रक्षेप सूत्र में ही कर दिया है। हरदत्त ने भी 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इतना अंश ही सूत्ररूप में स्वीकार किया है।[5] भट्टोजिदीक्षित ने भी महाभाष्य का अनुसरण किया है।[6] वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में एक वार्त्तिक प्राप्त होता है। द्र०—विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम् (वै०सि०कौ० 2699)। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के तत्त्वबोधिनी टीकाकार ने स्पष्ट रूप से इसे प्रक्षेप बताया है।[7]

(3) प्रादयः (काशि० 1.4.58), उपसर्गाः क्रियायोगे (काशि० 1.4.59)—महाभाष्य में दोनों सूत्रों को एक सूत्र स्वीकार किया गया है तथा इसके योगविभाग का सुझाव दिया गया है।[8] भट्टोजिदीक्षित ने भी इसे दो सूत्र मानकर व्याख्या की है।[9]

1. महा० 1.1.17 उञ इति योगविभागः।
2. वै०सि० कौ० सूत्र 106, 107.
3. तत्त्व० (वै०सि०कौ० 106-7) इह 'उञ ऊँ' इत्येकमेव सूत्रं योगविभागेन व्याख्यातम्।
4. महा० 1.3.29 समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्, (वा० 1); अर्त्तिश्रुदृशिभ्यश्च (वा० 2)।
5. पदम० 1.3.29. समो गम्यृच्छिभ्याम् इत्येतावत् सूत्रम्। ....।
6. वै०सि०कौ० सूत्र 2699.
7. तत्त्व० (वै०सि०कौ० सूत्र 2699)।
8. महा० 1.4.58. प्रादय इति योगविभागः।
9. वै०सि०कौ० सूत्र 21-22.

(4) विभाषा (काशि० 2.1.11), अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (काशि० 2.1.12) महाभाष्य में इसे एक ही सूत्र मानकर इसके योगविभाग का सुझाव दिया गया है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने भी काशिकाकार के अनुसार इन्हें दो सूत्र मानकर व्याख्या की है।[2] तत्त्वबोधिनीकार इन्हें एक ही सूत्र मानता है।[3]

(5) कृत्याः प्राङ् ण्वुलः (काशि० 3.1.95)—हरदत्त ने 'कृत्याः' अंश को ही सूत्र के रूप में स्वीकार किया है।[4] महाभाष्य में इस सूत्र पर एक वार्त्तिक पठित है।[5] कैयट भी 'कृत्याः' को ही सूत्र मानता है।[6]

(6) अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च (काशि० 3.3.121) —महाभाष्य में एक वार्त्तिक पठित है—घञ्विधाववहाराधारावायानामुपसङ्ख्यानम्[7]। इससे प्रतीत होता है कि सूत्र में 'आधारावाय' इस अंश का प्रक्षेप किया गया है। प्रदीपकार ने स्पष्ट शब्दों में 'आधारावाय' इस अंश के प्रक्षेप को स्वीकार किया है।[8] हरदत्त ने भी इसे प्रक्षेप बताया है।[9] भट्टोजिदीक्षित ने भी 'अध्यायन्यायोद्यावसहाराश्च' इतना सूत्र स्वीकार किया है।[10]

वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में एक वार्त्तिक प्राप्त होता है।[11] सिद्धान्त कौमुदी के तत्त्वबोधिनी टीकाकार ने भी प्रक्षेप को स्वीकार किया है।[12]

(7) वृद्धस्य च पूजायाम् (काशि० 4.1.166)—प्रदीप टीकाकार कैयट ने इसे अपाणिनीय माना है।[13] महाभाष्य में इसका वार्त्तिक के रूप में पाठ है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने भी वार्त्तिक के रूप में इसका पाठ किया है।[2]

(8) यूनश्च कुत्सायाम् (काशि० 4.1.167)—कैयट ने इसे अपाणिनीय कहा है।[3] भट्टोजिदीक्षित ने भी इसे वार्त्तिक स्वीकार किया है।[4]

(9) कलेर्ढक् (काशि० 4.2.8)—'दृष्टं साम' (पा० 4.2.7) सूत्र पर महाभाष्य में 'दृष्टं साम कलेर्ढक्' वार्त्तिक प्राप्त होता है। अतः इसे वार्त्तिक मानना ही उपयुक्त है। भट्टोजिदीक्षित ने इसे सूत्र माना है।[5] नागेश भट्ट ने इसे वार्त्तिक कहा है।[6]

(10) सञ्ज्ञायाम् (काशि० 4.3.117.), कुलालादिभ्यो वुञ् (काशि० 4.3.118)—भट्टोजिदीक्षित ने भी काशिकाकार के अनुसार इन्हें दो सूत्र मानकर व्याख्या की है।[7] महाभाष्य ने एक सूत्र मानकर योगविभाग किया है। शेष सभी टीकाकार मौन हैं।

(11) कौपिञ्जलहास्तिपदादण् (काशि० 4.3.132)—कैयट इसे अपाणिनीय मानता है।[8] भट्टोजिदीक्षित ने इसका सूत्र के रूप में पाठ किया है।[9]

(12) आथर्वणिकस्येकलोपश्च (काशि० 4.3.133)। प्रदीपकार इसे सूत्र स्वीकार करता है।[10] भट्टोजिदीक्षित ने भी इसे सूत्र रूप में पढ़ा है।[11] कौमुदी के टीकाकार बालमनोरमाकार ने इसके सूत्रत्व तथा वार्त्तिकत्व दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है।[12]

(13) द्वित्रिपूर्वादण् च (काशि० 5.1.36)—कैयट इसे अपाणिनीय मानता है।[13] भट्टोजिदीक्षित ने इसका पाठ सूत्र के

1. महा० 2.1.11 विभाषेति योग विभागः।
2. वै०सि०कौ० सूत्र 665-666.
3. तत्त्व० (वै०सि०कौ० सूत्र 665-66) .... योगं विभज्य व्याचष्टे।
4. पदम० 3.1.95 'कृत्या' इत्येतावदेव पठितं सूत्रकारेण। वृत्तिकारस्तु .... प्रचिक्षेप।
5. महा० 3.1.95 कृत्यसञ्ज्ञाया प्राङ् ण्वुल् वचनम् (वा०)।
6. प्रदी० 3.1.95 'कृत्या' इत्येतावत् सूत्रम् इत्याह।
7. महा० 3.3.121.
8. प्रदी० 3.3.121.
9. पदम० 3.3.121. वृत्तिकारस्तु .... सूत्रे प्रक्षिप्य चकारेणावहारशब्दं ....।
10. वै०सि०कौ० सूत्र 3301.
11. वै०सि०कौ० सूत्र 3301. अवहाराधारावायानामुपसङ्ख्यानम् (वा०)।
12. तत्त्व० (वै०सि०कौ० सूत्र 3301) वृत्तिकारस्त्वा .... सूत्रे प्रक्षिप्य ....।
13. प्रदी० 4.1.165.

1. महा० 4.1.165.
2. वै०सि०कौ० सूत्र 1092.
3. प्रदी० 4.1.165.
4. वै०सि०कौ० सूत्र 1092.
5. वै०सि०कौ० सूत्र 1209.
6. ल०श०
7. वै०सि०कौ० सूत्र 1497-98.
8. प्रदी० 4.3.132.
9. वै०सि०कौ० सूत्र 1512.
10. प्रदी० 4.3.133.
11. वै०सि०कौ० सूत्र 1513.
12. बाल० (वै०सि०कौ० सूत्र 1513)–इदं सूत्रमिति कैयटः। वार्त्तिकमित्यन्ये।
13. प्रदी० 5.1.36.

रूप में किया है।[1] वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के बालमनोरमा टीकाकार इसे वार्त्तिक स्वीकार करते हैं।[2] तत्त्वबोधिनीकार भी बालमनोरमाकार से सहमत हैं।[3]

(14) प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः (काशिका० 5.2.101)— हरदत्त 'वृत्ति' इतने अंश को प्रक्षिप्त मानता है।[4]

(15) ह्वः सम्प्रसारणम् (काशि० 6.1.132)—अभ्यस्तस्य च (काशि० 6.1.33)—महाभाष्य में 'ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च' इसे एक सूत्र मान कर योग विभाग किया है।[5] भट्टोजिदीक्षित ने भी इन्हें दो सूत्र मान कर इनकी व्याख्या की है।[6]

(16) अचि शीर्षः (काशि० 6.1.62)—कैयट[7] ने तथा भट्टोजिदीक्षित[8] ने इसे वार्त्तिक स्वीकार किया है।

(17) नित्यमाम्रेडिते डाचि (काशि० 6.1.100)—कैयट[9] तथा दीक्षित[10]—इन दोनों विद्वानों ने इसे वार्त्तिक माना है। बालमनोरमाकार लिखते हैं कि महाभाष्यकार ने इसका पाठ वार्त्तिक के रूप में किया है[11]।

(18) सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे (काशि० 6.1.137), समवाये च (काशि० 6.1.138)—कीलहार्न इसे एक सूत्र मानता है[12]।

(19) अडभ्यासव्यवायेऽपि (काशि० 6.1.136)— कैयट,[13] भट्टोजिदीक्षित[14] तथा नागेशभट्ट[15] आदि सभी विद्वान् इसे वार्त्तिक स्वीकार करते हैं।

(20) विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (काशि० 6.1.150)– महाभाष्य में 'विष्किरः शकुनौ वा' इस प्रकार सूत्रपाठ उपलब्ध होता है। इस सूत्र पर 'विष्किरः शकुनौ विकिरो वा' वार्त्तिक का पाठ किया गया है।[1] कैयट[2] भी इसे वार्त्तिक मानता है। भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य का अनुकरण किया है।[3] तत्त्वबोधिनीकार ने भी 'विकिरः' पद को वार्त्तिकांश माना है।[4] बालमनोरमाकार ने लिखा है कि वृत्तिकार ने इसका सूत्र में पाठ किया है।[5] सम्भवतः 'वृत्तिकार' शब्द के द्वारा काशिकाकार गृहीत होता है।

(21) तद्धितस्य (काशि० 6.1.164), कितः (काशि० 6.1.165)—कीलहार्न दोनों सूत्रों को एक मानता है।[6]

(22) आत्मनश्च पूरणे (काशि० 6.3.6)—महाभाष्य में 'आज्ञायिनि च' (पा० 6.3.5) सूत्र पर 'आत्मनश्च पूरणे' वार्त्तिक का पाठ किया है। नागेश ने इसे स्पष्ट शब्दों में वार्त्तिक स्वीकार किया है।[7] भट्टोजिदीक्षित[8] ने केवल 'आत्मनश्च' इतने अंश को ही सूत्ररूप में गृहीत किया है। उन्होंने यहाँ एक वार्त्तिक का पाठ किया है।

बालमनोरमाकार तथा हरदत्त ने सम्पूर्ण सूत्र को वार्त्तिक माना है।[9]

(23) स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि (काशि० 6.3.40.)— महाभाष्य में 'स्वाङ्गाच्चेतः' का सूत्र के रूप में पाठ है तथा 'स्वगाच्चेतोऽमानिनि' यह वार्त्तिक रूप में पठित है।[10] प्रदीपकार ने महाभाष्यकार का अनुसरण किया है।[11] दीक्षित ने भी 'स्वाङ्गाच्चेतः' इतना अंश सूत्ररूप में स्वीकार किया है तथा इस सूत्र पर 'अमानिनीति वक्तव्यम्' वार्त्तिक का पाठ किया है।[12] हरदत्त ने भी 'अमानिनि' इतने अंश को वार्त्तिक माना है।[13]

---

1. वै०सि०कौ० सूत्र 1701.
2. बाल० सूत्र 1701. वार्त्तिकमिदम्।
3. तत्त्व० सूत्र 1701. वार्त्तिकमिदं .... प्रक्षिप्तम्।
4. पदम० 5.2.101.
5. महा० 6.1.32.
6. वै०सि०कौ० सूत्र 2586, 2417.
7. प्रदी० 6.1.62. वार्त्तिकं ....प्रक्षिप्तम्।
8. वै०सि०कौ० सूत्र 1667.
9. प्रदी० 6.1.100.
10. वै०सि०कौ० सूत्र 2128.
11. महा० 6.1.99 तथा बाल० सूत्र 2128.
12. महा० कीलहार्न 6.1.137.
13. प्रदी० 6.1.136.
14. वै०सि०कौ० सूत्र 2553.
15. उद्यो० 6.1.136.

---

1. महा० 6.1.150.
2. प्रदी० 6.1.150.
3. वै०सि०कौ० सूत्र 1065.
4. तत्त्व० सूत्र 1065.
5. बाल० सूत्र 1065.
6. महा० (कीलहार्न) 6.1.164.
7. उद्यो० 6.3.5.
8. वै०सि०कौ० सूत्र 963.
पूरण इति वक्तव्यम् (वा०)।
9. बाल० सूत्र 962 तथा पदम० 6.3.6.
10. महा० 6.3.40.
11. प्रदी० 6.3.40 'स्वाङ्गाच्चेत' इत्येतावत् सूत्रम्।
12. वै०सि०कौ० सूत्र 841.
13. पदम० 6.3.40.

(24) प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु (काशि० 6.3.83)—महाभाष्य में 'प्रकृत्याशिषि' इतना ही सूत्र प्राप्त होता है।[1] इस सूत्र पर महाभाष्य में एक वार्त्तिक पठित है।[2] प्रदीपकार ने भी 'अगोवत्सहलेषु' अंश को प्रक्षेप माना है।[3] नागेश ने भी महाभाष्य का ही अनुसरण किया है।[4] भट्टोजिदीक्षित तथा हरदत्त—दोनों आचार्यों ने पतञ्जलि का ही समर्थन किया है।[5]

(25) घसिभसोर्हलि च (काशि० 6.1.100)—महर्षि पतञ्जलि सूत्र में चकार का पाठ नहीं करते हैं।[6] प्रदीपकार चकार का प्रक्षेप स्वीकार करते हैं।[7] भट्टोजिदीक्षित सूत्र में चकार का पाठ मानते हैं।[8]

(26) सनीवन्तर्द्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् (काशि० 7.2.49)—काशिकाकार इसका 'भरिज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम्' ऐसा स्वरूप भी स्वीकार करते हैं।[9]

(27) यजध्वैनमिति च (काशि० 7.1.43)—काशिकाकार ने प्रकृत सूत्र के द्वारा दो कार्यों का निपातन स्वीकार किया है—

(क) मकार का लोप तथा (ख) वकार को यकार आदेश।[10]

इस प्रकार सूत्र का स्वरूप 'यजध्यैनमिति च' होना चाहिए। अत: यकार आदेशरूप निपातन कार्य चिन्त्य है। पदमञ्जरीकार के अनुसार यहाँ केवल मकारलोप का निपातन है।[11] भट्टोजिदीक्षित ने यकारादेशरूप निपातन कार्य को काशिकाकार का प्रमाद माना है।[12]

(28) ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति (काशि० 7.3.75.)—महाभाष्यकार ने इस सूत्र का स्वरूप इस प्रकार माना है—

1. महा० 6.3.83.
2. महा० 6.3.83. प्रकृत्याशिष्यगवादिषु (वा०)।
3. प्रदी० 6.3.83.
4. उद्यो० 6.3.83.
5. वै०सि०कौ० सूत्र 850 पदम० 6.3.83.
6. महा० 6.4.100.
7. पदम० 6.4.100. .... चकारोऽच् सम्बन्धार्थः क्रियते। .... श्चकारं न च पपाठेति लक्ष्यते।
८. वै०सि०कौ० सूत्र 3550.
9. काशि० 7.2.49. केचिदत्र भरिज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणामिति पठन्ति।
10. काशि० 7.1.43.
11. पदम० 7.1.43. मकारलोपमात्रं निपात्यते।
12. वै०सि०कौ० सूत्र 3565 वकारस्य यकारो निपात्यत इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी।

'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति'।[1]

महाभाष्य में एक वार्त्तिक प्राप्त होता है—दीर्घत्वमाङि चम इति वक्तव्यम्।[2] कैयट ने भी 'आङि' पद को वार्त्तिकांश स्वीकार किया है।[3] इस प्रकार काशिकाकार ने 'आङि' इस वार्त्तिक का प्रक्षेप सूत्र में कर दिया है।

(29) इषुगमियमां छः (काशि० 7.3.77)—पतञ्जलि ने 'इषगमियमां छ:' इस प्रकार सूत्रपाठ स्वीकार किया है।[4] कैयट ने स्पष्ट शब्दों में 'इषु' पाठ को अनार्ष बताया है।[5] उद्योतकार ने भी इनका समर्थन किया है।[6] काशिकाकार 'इषु' तथा 'इष' दोनों पाठों को स्वीकार करता है।[7]

(30) औत् (काशि० 7.3.118.), अच्च घेः (काशि० 7.3.119)—महाभाष्यकार इन दोनों सूत्रों को एक सूत्र मानता है तथा इनके योगविभाग का सुझाव देता है।[8] यद्यपि काशिकाकार ने महाभाष्यकार के मत को भी उपस्थापित किया है।[9] भट्टोजिदीक्षित ने भी इन्हें दो सूत्र माना है।[10]

(31) पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्य: (काशि० 8.1.67.)—महाभाष्यकार 'पूजनात् पूजितमनुदात्तम्' इतने अंश को सूत्ररूप में स्वीकार करता है।[11] महाभाष्य में इस सूत्र पर एक वार्त्तिक पठित है।[12] इससे प्रतीत होता है कि प्रकृत सूत्र में 'काष्ठादिभ्य:' यह वार्त्तिकांश का प्रक्षेप है। कैयट ने प्रक्षेप को स्पष्ट शब्दों में कहा है।[13] भट्टोजिदीक्षित भी महाभाष्यकार से सहमत हैं।[14] सिद्धान्त कौमुदी की दोनों टीकाओं में प्रक्षेप को स्वीकार किया है।[15]

(32) एति सञ्ज्ञायामगात् (काशि० 8.3.99.), नक्षत्राद्वा

1. महा० 7.3.75.
2. महा० 7.3.75.
3. प्रदी० 7.3.75.
4. महा० 7.3.77.
5. प्रदी० 7.3.77. इषुगमीति पाठोऽनार्षः।
6. उद्यो० 7.3.77.
7. काशि० 7.3.77. य इषिमुदितं नाऽधीयते तेऽचीति .... ।
८. महा० 7.3.117. औत्वे योगविभागः कर्त्तव्यः।
9. काशि० .... येषामेकमेवेदं सूत्रं ते प्रधानशिष्टमिदम् ...... ।
10. वै०सि०कौ० सूत्र 247 तथा 256.
11. महा० 8.1.67.
12. महा० 8.1.67. पूजितस्याऽनुदात्तत्वे काष्ठादिग्रहणम्।
13. प्रदी० 8.1.67. .... कैश्चित् प्रक्षिप्तम्।
14. वै०सि०कौ० सूत्र 3974.
15. बाल० 3974 तथा तत्त्व० सूत्र 3974.

(काशि० 8.3.100)—काशिका के उस्मानिया संस्करण में इन सूत्रों को गणसूत्र स्वीकार किया गया है। भट्टोजिदीक्षित इन सूत्रों की व्याख्या गणसूत्र के रूप में करता है।[1] वस्तुत: ये दोनों गणसूत्र हैं; जिनका पाठ सुषामादि गण में है। काशिकाकार ने इन्हें सूत्ररूप में व्याख्यात किया है।[2]

(33) सदिष्वञ्जोः परस्य लिटि (काशि० 8.3.118)—महाभाष्य ने 'सदेः परस्य लिटि' इतना ही सूत्र माना है।[3] इस सूत्र पर महाभाष्य में एक वार्तिक का पाठ किया गया है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने भी 'सदेः परस्य लिटि' का सूत्ररूप में पाठ स्वीकार किया है।[2] इससे सिद्ध होता है कि काशिकाकार ने प्रकृत सूत्र में वार्त्तिकांश का प्रक्षेप किया है।

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि काशिकाकार ने कुछ वार्त्तिकों को सूत्ररूप में पढ़ दिया है, कुछ वार्त्तिकांशों का सूत्रों में प्रक्षेप कर दिया है तथा कुछ सूत्रों का योगविभाग कर दिया है।

1. वै०सि०कौ० सूत्र 1023, 1024.
2. तत्त्व० सूत्र 1023 सुषामाद्यन्तर्गणसूत्रमेतत्।
3. महा० 8.3.118.

1. महा० 8.3.118. सदो लिटि प्रतिषेधे ष्वञ्जेरुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्।
2. वै०सि०कौ० सूत्र 2361 एवं सूत्र 2396.

काशिकावृत्तिः

संक्षेपार्थक सूची

अथ०	अथर्ववेद
अदा०	अदादिगण
अव्य०	अव्ययीभावसमास
आ०	आत्मनेपद
आप० श्रौ०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आपि०	आपिशलि
आश्व० गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
इ०	इच्छार्थक
उ०	उत्तम पुरुष
उ०सू०	उणादि सूत्र
उदा०	उदाहरण
उद्यो०	उद्योतटीका
उभ०	उभयपदी
ऋ०	ऋग्वेदसंहिता
ऋ०खि०	ऋग्वेद खिलपाठ
एकव०	एकवचन
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
कर्म०	कर्मधारय
का०स०	काण्व संहिता
काठ०	काठक संहिता
काशि०	काशिका वृत्ति
कि०	किरातार्जुनीय
कुन्द०	कुन्दमाला
कौ०गृ०	कौषीतकि गृह्यसूत्र
क्रि०	क्रियासमभिहार
क्षी० तं०	क्षीरतरङ्गिणी
ग०पा०	गणपाठ
ग०सू०	गणसूत्र
गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
गो०ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
च०	चतुर्थी
चु०	चुरादिगण
छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद्
जु०	जुहोत्यादिगण
त०	तनादिगण
तत्त्व०	तत्त्वबोधिनी टीका
तु०	तुलनीय
तुदा०	तुदादिगण
तृ०	तृतीया
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
दि०	दिवादिगण
द्र०	द्रष्टव्य
द्वि०	द्विवचन
द्विती०	द्वितीया
धा० पा०	धातुपाठ
नपु०	नपुँसक लिंग
नि०	निरुक्त
नै०	नैषधचरित
न्यास०	काशिकावृत्ति की टीका
प०	परस्मैपद
पदम०	काशिकावृत्ति की पद-मञ्जरी टीका
परि०	परिभाषा
पा० गृ०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
पु०	पुरुष
पुँ०	पुँल्लिग
पृ०	पृष्ठ
पै०	पैप्पलाद संहिता
प्र०	प्रथम
प्रत्या०	प्रत्याहार
प्रथ०	प्रथमा
प्रदी०	महाभाष्य की प्रदीप टीका
फि०सू०	फिट्सूत्र
बहु०	बहुव्रीहि
बहुव०	बहुवचन
बाल०	वै०सि०कौ० की बाल-मनोरमा टीका
भा०	महाभारत
भ्वा०	भ्वादिगण
म०	मध्यम
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभाष्य
मा०	माहेश्वर
मा० धा०	माधवीया धातुवृत्ति
मा०सं०	माध्यन्दिन संहिता
मै०	मैत्रायणी संहिता
यजु०	यजुर्वेद
रघु०	रघुवंश
रा०	रामायण
रु०	रुधादिगण
ल०श०	लघुशब्देन्दुशेखर
लिङ्गा०	लिंगानुशासन
वंश० ब्रा०	वंशब्राह्मण
वा०	वार्तिक
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वासि०गृ०	वासिष्ठ गृह्यसूत्र
वि०	विभक्ति
विक०	विकरण
विदु०	विदुरनीति
वै०सि०कौ०	वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी
श०	अभिज्ञानशाकुन्तल
शत०	शतपथ ब्राह्मण
शां० आ०	शांख्यायन आरण्यक
शां० श्रौ०	शांखायन श्रौतसूत्र
शौ०	शौनकीय संहिता
ष०	षष्ठी
स०	समास
सं०व्या०	सं०व्या०शास्त्र का इतिहास
समा०	समाधान
सुबो०	वै०सि०कौ० की सुबोधिनी टीका
सू०	सूत्र
स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग
स्वा०	स्वादिगण



॥ श्रीः ॥

श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्रवृत्तिः

काशिका

सोमलेखा-हिन्दीव्याख्यायुता



अथ प्रत्याहाराः

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः ॥1॥

अर्थ—वृत्तिग्रन्थों में, भाष्य में, धातुपारायण में तथा नामपारायण आदि में विस्तारित तन्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र को साररूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

व्याख्या—सूत्रों की व्याख्या 'वृत्ति' कहलाती है। कुणि आदि अनेक प्रसिद्ध वृत्तिकार हुए हैं। महर्षि पतञ्जलिकृत 'महाभाष्य' व्याकरण में एक प्रामाणिक भाष्य है। इसमें कात्यायनप्रणीत वाक्यों (वार्त्तिकों) की व्याख्या के साथ-साथ पाणिनीयसूत्रों का खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन प्राप्त होता है। धातुपारायण से अभिप्राय है—धातु-गणपाठ इत्यादि। नामपारायण का अर्थ है—प्रातिपदिक गणपाठ। इसमें काशिकावृत्ति का प्रयोजन बताया गया है।

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥2॥

अर्थ—यह **काशिका** वृत्ति इष्टियों के व्याख्यान से युक्त, विशुद्ध गणपाठ से युक्त, सूत्रों के गूढ़ अर्थ को प्रकाशित करने वाली तथा व्युत्पन्न शब्दरूपों की सिद्धि प्रदर्शित करने वाली है।

व्याख्या—सूत्र के द्वारा जिसकी साधुता प्रदर्शित न की गई हो, उसकी साधुता का बोधक भाष्यवचन **इष्टि** कहलाता है। इस काशिकानामक वृत्ति में इष्टियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इसमें शुद्ध गणपाठ है तथा व्युत्पत्तिसिद्ध रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की गई है। इस श्लोक में पुनः ग्रन्थ का प्रयोजन बताया जा रहा है।

व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्।
शिष्टः परिकरबन्धः क्रियतेऽस्य ग्रन्थकारेण ॥3॥

अर्थ—यह (अर्थात् जो पूर्ववर्ती दो श्लोकों में कहा जा चुका है) व्याकरण शास्त्र का शरीर कहा गया है। इसी में व्याकरण शास्त्र परिसमाप्त है। महाभाष्यकार पतञ्जलि आदियों ने इसी का प्रणयन किया है।

व्याख्या—व्याकरण शास्त्र का वार्तिक-शरीर (अर्थात् स्वरूप) सूत्र, इष्टि व गणपाठ इत्यादि है। अतः प्रस्तुत वृत्ति को व्याकरण-विषयक कहा जा सकता है। कारण कि व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के रक्षोहागम आदि जो प्रयोजन महाभाष्यकार ने बताये हैं, वे सभी प्रयोजन प्रस्तुत वृत्ति के हैं।

अथ शब्दानुशासनम् (म० भा० 1.1)।

अर्थ—अब **शब्दानुशासन** नामक शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है।

व्याख्या—'अथ' एक निपात है, जिसके दो प्रयोजन होते हैं—

(क) मङ्गलाचरण व (ख) प्रारम्भ।

यहाँ 'अथ' शब्द के द्वारा दोनों प्रयोजन सिद्ध हो रहे हैं। यह भाष्यवचन है। यहाँ से व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ हो रहा है।

'शब्दानुशासन' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'अनुशिष्यन्ते (संस्क्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते वा) शब्दा अनेनेति शब्दानुशासनम्' अर्थात् जिसके द्वारा (शब्दों का) संस्कार अथवा प्रकृति-प्रत्यय का विभाग किया जाता है, वह शब्दानुशासन कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने 'व्याकरण' की एक अन्य परिभाषा भी दी है—

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना सूत्रशैली में की है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इसमें कुल 3976 सूत्र हैं।

केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च (म० भा०) ।

अर्थ—किन शब्दों का (अनुशासन है) ? लौकिक शब्दों का तथा वैदिक शब्दों का।

व्याख्या—यह भी भाष्यवचन है। 'अथ शब्दानुशासनम्' के द्वारा प्रतिज्ञा की गई है कि यहाँ से व्याकरणशास्त्र प्रारम्भ होता है। तब प्रश्न उठता है कि किन शब्दों का अनुशासन किया जा रहा है ? दो प्रकार के शब्द हैं—लौकिक तथा वैदिक। इस शास्त्र में लौकिक व वैदिक उभयविध शब्दों का अनुशासन किया जा रहा है।

कथमनुशासनम् ? प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्य-विशेषवता लक्षणेन (म० भा०) ।

अर्थ—अनुशासन किस प्रकार किया जाय ? (समा०) सामान्य व विशेष लक्षणों के द्वारा प्रकृति व प्रत्यय की कल्पना की जाय।

व्याख्या—यहाँ शब्दों का अनुशासन किया जा रहा है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुशासन का प्रकार क्या हो ? अनुशासन के कई प्रकार होते हैं। प्राचीन काल में प्रतिपदपाठ की परम्परा भी रही है। यह परम्परा अति विस्तृत होती है। पाणिनीय व्याकरण में उत्सर्ग-अपवाद शैली से अनुशासन किया गया है। इसमें प्रथम उत्सर्ग (अर्थात् सामान्य नियम) कहा जाता है, तब अपवाद (अर्थात् विशेष नियम) का उपदेश होता है। इस प्रकार उत्सर्गापवाद शैली के द्वारा शब्दों का अनुशासन (अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययविभाग) किया जायेगा।

प्रत्याहारप्रकरणम्

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ? प्रत्याहारार्थः । प्रत्याहारो लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः (म० भा०) ।

अर्थ—वर्णों का उपदेश किसलिए है ? (उ०) प्रत्याहार-निर्माण के लिए (वर्णों का उपदेश किया जा रहा है)। अल्प प्रयास के द्वारा शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए 'प्रत्याहार' होता है।

व्याख्या—आचार्य पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र के प्रारम्भ में चौदह सूत्रों के वर्णसमाम्नाय का उपदेश किया है। इन सूत्रों को प्रत्याहारसूत्र कहते हैं। इन सूत्रों का प्रयोजन प्रत्याहारों का निर्माण करना है। शास्त्र में लघु रीति (अर्थात् अल्प प्रयास) से प्रवृत्ति हो सके—एतदर्थ प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है। 'प्रत्याहार' का लक्षण इस प्रकार है—

'प्रत्याह्रियन्ते सङ्क्षिप्यन्ते अस्मिन् वर्णाः' अर्थात् जिसके द्वारा संक्षेप हो। यथा—

'इको यणचि' में इक्, यण् तथा अच् प्रत्याहार हैं। इनके द्वारा बोध्य वर्णों का बार-बार उल्लेख करने में गौरव होता है। उस गौरव का परिहार करने के लिए प्रत्याहारों का निर्माण किया जाता है। भाव यह है कि 'इक्' प्रत्याहार में चार वर्ण (इ,उ,ऋ,ऌ) होते हैं। शास्त्र में इन चार वर्णों के लिए 'इक्' इस प्रत्याहार का निर्देश होता है, ताकि प्रत्येक स्थल पर इन चार वर्णों का उल्लेख न करना पड़े। अल्प प्रयास से शास्त्र की प्रवृत्ति हो सके—इसके लिए प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है।

अ इ उ ण् ॥ (मा.सू. 1)

'अ इ उ' इत्यनेन क्रमेण वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'उरण् रपरः' (1.1.51) इत्यकारेण। ह्रस्वमवर्णं प्रयोगे संवृतम्। दीर्घप्लुतयोस्तु विवृतत्वम्। तेषां सावर्ण्यप्रसिद्ध्यर्थमकार इह शास्त्रे विवृतः प्रतिज्ञायते। तस्य प्रयोगार्थम् 'अ अ' (8.4.66) इति शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिः करिष्यते (म० भा०) ।

अर्थ—अ,इ,उ इस क्रम से वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में णकार को इत् किया गया है। उस (णकार) का केवल एक बार अकार के साथ 'उरण् रपरः' में ग्रहण होता है। प्रयोग दशा में ह्रस्व अकार संवृत होता है, परन्तु दीर्घ व प्लुत अकार विवृत प्रयत्न वाला होता है। उन (तीनों) की सवर्णता हो सके—इसके लिए यहाँ व्याकरण शास्त्र में विवृतधर्मयुक्त अकार का उपदेश किया गया है। पुनः उसके प्रयोग के लिए अ अ (8.4.66) सूत्र के द्वारा इस शास्त्र के अन्त में प्रतिविधान किया जायेगा।

व्याख्या—प्रथम प्रत्याहार सूत्र में अ,इ तथा उ इन वर्णों का उपदेश किया गया तथा अन्त में इत्संज्ञक णकार का उपदेश है। ण् अनुबन्ध प्रत्याहार के लिए जोड़ा गया है। इससे केवल एक प्रत्याहार (अण्) बनता है, जिसका 'उरण् रपरः' में प्रयोग होता है।

ह्रस्व वर्ण प्रयोग में संवृत प्रयत्न वाला होता है। चूँकि अकार के दीर्घ व प्लुत रूप विवृत गुण वाले होते हैं। अतः इन तीनों रूपों की सवर्णता (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) सिद्ध नहीं हो पाती। इसके समाधान के लिए आचार्य पाणिनि ने यहाँ विवृत गुण वाले अकार का उपदेश किया है।

व्याकरण शास्त्र में विवृत अकार का उपदेश है, परन्तु प्रयोग के लिए ह्रस्व अकार संवृत प्रयत्न वाला होता है। अतः शास्त्र

के अन्त में 'अ अ' सूत्र से प्रतिविधान कर दिया है कि प्रक्रिया दशा में जो ह्रस्व अकार विवृत गुण वाला उपदिष्ट है, वह प्रयोग की दशा में संवृत गुण वाला हो जाता है। भाव यह है कि शास्त्र के कार्य की सिद्धि के लिए व्याकरण शास्त्र के प्रारम्भ में 'अ इ उ ण्' सूत्र के द्वारा ह्रस्व अकार विवृत गुण से युक्त उपदिष्ट है, ताकि प्रक्रियादशा में ह्रस्व अकार विवृत गुण वाला हीं रहे। शास्त्र के अन्त में 'अ अ' सूत्र के द्वारा विवृत अकार को संवृत अकार का प्रतिविधान कर दिया गया है, ताकि प्रयोग की दशा में ह्रस्व अकार संवृत गुण वाला (अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप वाला) हो जाय।

विशेष—1. अ, इ, उ—इनमें संहिताकार्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है। व्याख्याकारों ने इसके तीन कारण बताये हैं—

(क) अ, इ आदि वर्ण एक अज्रूप निपात हैं। इनकी 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसञ्ज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्या अचि०' से प्रकृतिभाव होता है[1]।

(ख) आचार्य ने स्पष्ट विप्रतिपत्ति के लिए प्रत्याहारसूत्रों में संहिता कार्य नहीं किया है। यदि इनमें संहिताकार्य किया जायेगा तो वर्णों के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान न हो सकेगा[2]।

(ग) सर्वप्रथम प्रत्याहारसूत्रों का पाठ है। पश्चात् इत्संज्ञा व संहिताकार्यों का उपदेश है। अतः प्रथम उपदिष्ट (इन वर्णों) में संहिताकार्य का अभाव प्राप्त होता है[3]।

2. अब प्रश्न उठता है कि क्या 'अ, इ, उ' इस क्रम में कोई उलट-फेर सम्भव है। (समा०) ऐसा सम्भव नहीं है। इस क्रम के ये लाभ हैं—

(1) अण् के द्वारा अ, इ, उ—इनका ग्रहण हो सके,
(2) इण् के द्वारा अकार का ग्रहण न हो,
(3) उण् के द्वारा अकार व इकार का ग्रहण न हो।

ऋ ऌ क् ॥ (मा.सू.2)

'ऋ ऌ' इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः-'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.101) इत्यकारेण, 'इको गुणवृद्धी' (1.1.3) इतीकारेण, 'उगितश्च' (4.1.5) इत्युकारेण। अकारादयो वर्णाः प्रचुरप्रयोगविषयास्तेषां सुज्ञानमुपदेशे प्रयोजनम्। ऌकारस्तु क्लृपिस्थ एव प्रयुज्यते, क्लृपेश्च 'पूर्वत्रासिद्धम्' (8.2.1) इति लत्वमसिद्धम्। तस्यासिद्धत्वाद् ऋकार एव अच्कार्याणि भविष्यन्तीति किमर्थं ऌकार उपदिश्यते? लत्वविधानाद्यानि पराण्यच्कार्याणि तानि ऌकारे यथा स्युरिति। कानि पुनस्तानि? (1) प्लुतः (2) स्वरितो (3) द्विर्वचनम्। क्लृ3प्तशिखः। प्रक्लृप्तः। क्लृप्तवानिति। यच्चाशक्तिजमसाधुशब्दरूपं तदनुकरणस्यापि साधुत्वमिष्यते। तत्स्थस्यापि ऌकारस्याच्कार्यप्रतिपत्त्यर्थं ऌकारोपदेशः क्रियते। 'ऋतकः' इति प्रयोक्तव्ये शक्तिवैकल्यात् कुमारी 'ऌतक' इति प्रयुङ्क्ते, तदन्योऽनुकरोति-कुमार्य्ऌतक इत्याह इति।

अर्थ—प्रथम अ, इ, उ—इन वर्णों का तथा (पश्चात्) ऋ,ऌ—इन दो वर्णों का उच्चारण करके अन्त में प्रत्याहार के लिए ककार (अनुबन्ध) का उपदेश किया है। इत्सञ्ज्ञक ककार का तीन वर्णों के साथ ग्रहण होता है। यथा—'अकः सवर्णे दीर्घः' में अकार के साथ (द्र०—अक्), 'इको गुणवृद्धी' में इकार के साथ (द्र०—इक्) तथा 'उगितश्च' में उकार के साथ (द्र०—उक्)।

अकारादि वर्णों का धात्वादि में प्रचुरतया प्रयोग होता है। अतः वर्णों का सम्यक् ज्ञान कराना ही प्रत्याहारसूत्रों के उपदेश का प्रयोजन है, परन्तु ऌ वर्ण केवल क्लृप् धातु में ही प्रयुक्त होता है। क्लृप् का लत्व असिद्धाधिकार (पूर्वत्रासिद्धम्) से असिद्ध है। तब अच् सम्बन्धी कार्य सिद्ध ही हैं। अतः ऌ का उपदेश किसलिए किया गया है?

(समा०) लत्वविधान (द्र०—कृपो रो लः-8.2.18) से परवर्त्ती अच् कार्य ऌकार में भी प्रवृत्त हो सकें—एतदर्थ ऌ वर्ण का उपदेश (प्रत्याहारसूत्रों में) किया गया है। यथा—

(शंका०) वे परवर्त्ती कार्य कौन-कौन हैं? (समा०) वे कार्य हैं—(क) प्लुत, यथा—क्लृ3प्तशिखः, (ख) स्वरित, यथा—प्रक्लृप्तः तथा (ग) द्विर्वचन, यथा—क्लृप्तवान्।

अशक्ति से उच्चारित असाधु शब्द के अनुकरण के साधुत्व के लिए भी ऌकार का उपदेश है। उस (अनुकरण शब्द में स्थित) ऌकार को प्राप्त अच्कार्यों के ज्ञान के लिए भी ऌकार का उपदेश आवश्यक है।

उदाहरणस्वरूप 'ऋतक' शब्द के उच्चारण की दशा में शक्तिविकलतावश कोई कुमारी 'ऌतक' ऐसा उच्चारण करती है। तब दूसरा व्यक्ति 'कुमार्य्ऌतक इत्याह' (= कुमारी ने 'ऌतक' ऐसा कहा) इस प्रकार अनुकरण करता है।

व्याख्या—(ऋ ऌ इत्येतौ) सर्वप्रथम आचार्य ने 'अ इ उ

1. न्यास प्रत्याहारसूत्र—1
2. न्यास प्रत्या०सू०—1
3. न्यास प्रत्या०सू०—1

ण्' के द्वारा अ, इ, उ—इन तीन वर्णों का उपदेश किया। तब प्रस्तुत सूत्र के द्वारा ऋ तथा ऌ—इन दो वर्णों का उच्चारण करके अन्त में अनुबन्धस्वरूप (इत्सञ्ज्ञक) ककार का उच्चारण प्रत्याहार के लिए किया है। इस ककार अनुबन्ध का तीन के द्वारा ग्रहण होता है—

(क) अकार के साथ। यथा—'अक: सवर्णे दीर्घ:' में 'अक्' के रूप में।

(ख) इकार के साथ। यथा—'इको गुणवृद्धी' में 'इक्' के रूप में।

(ग) उकार के साथ। यथा—'उगितश्च' में 'उक्' के रूप में।

अकारादय:— अकारादि वर्णों का धात्वादि में प्रचुरतया प्रयोग होता है। अत: अकार आदि वर्णों के उच्चारण का प्रयोजन स्पष्ट है, परन्तु ऌकार के उपदेश का प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है।

चूँकि ऌकार का प्रयोग केवल क्लृप धातु में ही होता है तथा यहाँ पर लत्व 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र के द्वारा असिद्ध रहता है। उस लत्व के असिद्ध हो जाने पर उसे ऋकार ही मानकर सभी अच्कार्य हो जायेंगे। तब ऌकार का उपेदश व्यर्थ प्रतीत होता है।

(लत्व०) अष्टाध्यायी में 'कृपो रो ल:' (8.2.18) के द्वारा लत्वादेश होता है। इस लत्वविधान से परवर्त्ती जो अच्सम्बन्धी कार्य होते हैं, वे ऌकार में भी हों—एतदर्थ (वर्ण- समाम्नाय में) ऌकार का उपदेश किया गया है।

(शंका०) वे अच्कार्य कौन-कौन से हैं ?
(समा०) वे अच्कार्य इस प्रकार हैं ?

(क) प्लुतादेश—'क्लृप्तशिख:' यहाँ 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याऽपि' के द्वारा प्लुत होता है। यथा—क्लृ३प्तशिख:। यदि प्रत्याहार-सूत्रों में ऌकार का उच्चारण नहीं किया जायेगा तो यहाँ प्लुतादेश न हो सकेगा।

(ख) स्वरित—'प्रक्लृप्त' इस दशा में 'प्र' उदात्त है। ऌ धातुस्वर से आद्युदात्त है। 'क्लृप्त' निष्ठाप्रत्ययान्त है। अत: निष्ठास्वर से ऌ अनुदात्त हो जाता है। 'उदात्तानुदात्तस्य स्वरित:' के द्वारा 'ऌ' स्वरित होता है। यथा—प्रक्लॄप्त:।

यदि ऌकार का उपदेश न होता तो यहाँ स्वरित न हो पाता।

(ग) द्विर्वचन—'क्लृप्तवान्' इस दशा में 'अनचि च' के द्वारा अच् (ऌ) से पर यर् (प्) को द्वित्व होता है। यथा—क्लृप्प्तवान्। यदि ऌकार का उपदेश न करते तो यहाँ द्विर्वचन नहीं हो पाता; अत: प्रत्याहारसूत्रों में ऌकार के उपदेश का प्रयोजन अच्कार्य है।

यच्चाशक्ति०—ऌकार के उपदेश का दूसरा प्रयोजन बताया जा रहा है। जो व्यक्ति इन्द्रियजन्य विकलता के कारण ऋकार का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते, वे ऋकार के स्थान पर ऌकार का भ्रष्ट उच्चारण करेंगे। तब उनके अनुकरण के विषय में अच्कार्यों की सिद्धि के लिए ऌकार का उपदेश आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप—

किसी कुमारी ने उच्चारण के असामर्थ्य के कारण 'ऋतक' के स्थान पर 'ऌतक' ऐसा उच्चारण किया। दूसरे व्यक्ति ने उसका अनुकरण करते हुए कहा—'कुमार्य्लृतक इत्याह' (= कुमारी ने 'ऌतक' ऐसा कहा)। यदि प्रत्याहारसूत्रों में ऌकार का उपदेश न किया जाता तो यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश न हो पाता।

ऌकार उपदेश का एक अन्य प्रयोजन भी है। न्यासकार के अनुसार यदि ऌकार का उच्चारण न किया जाता तो 'गम्ॡ' में उपदेशेऽजनुनासिक:' से ऌकार की इत्संज्ञा न होती। फलत: 'पुषादिद्युताद्य्लृदित:' के द्वारा 'अङ्' भी न हो पाता; इसलिए ऌकार का उपदेश आवश्यक है[1]।

ए ओ ङ्॥ (मा.सू.3)

'ए ओ' इत्येतौ वर्णावुपदिश्य अन्ते ङकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन। 'एङि पररूपम्' (6.1.94) इत्येकारेण।

अर्थ—ए,ओ इन दो वर्णों का उच्चारण कर आचार्य अन्त में प्रत्याहार के लिए ङकार को इत्संज्ञक करते हैं। इस (ङकार) का एक (अर्थात् एकार) से ग्रहण होता है। यथा—एङि पररूपम्।

व्याख्या—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य ने ए तथा ओ—इन दो वर्णों का उपदेश किया है। अन्त में इत्संज्ञक ङकार का पाठ किया है। इस ङकार के द्वारा एक प्रत्याहार (एङ्) का निर्माण होता है।

ऐ औ च्॥ (मा.सू.4)

'ऐ औ' इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते चकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भि:—'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' (1.1.57) इत्यकारेण, 'इच एकाचो-

1. न्यास प्रत्या०सू०— 2, इत्संज्ञा तर्ह्यपरं प्रयोजनम्।

ऽम्प्रत्ययवच्च' (6.3.68) इति इकारेण, 'एचोऽयवायावः' (6.1.78) इति एकारेण, 'वृद्धिरादैच्' (1.1.1) इति ऐकारेण।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः॥

वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्यं न भवति, तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव। पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः *नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारे प्रतिविधातव्यम्* (म०भा०, माहेश्वर सूत्र 1, वा०5)। नुड्विधौ (7.4.71) ऋकारग्रहणम्—आनृधतुः, आनृधुः। लादेशे (8.2.18) ऋकारग्रहणम्-क्लृप्तः, क्लृप्तवान्। विनामे (8.4.1) ऋकारग्रहणम्-कर्त्तॄणाम्।

अर्थ—ऐ तथा औ—इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए इत्संज्ञक चकार का पाठ किया है। इस (चकार) का ग्रहण चार प्रकार से होता है। यथा—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' में 'अच्' के रूप में अकार के साथ, 'इच एकाचोऽम्०' में 'इच्' के रूप में इकार के साथ, 'एचोऽयवायावः' में 'एच्' के रूप में एकार के साथ तथा 'वृद्धिरादैच्' में 'ऐच्' के रूप में ऐकार के साथ।

(शंका०) अक्षरसमाम्नाय में उपदिष्ट अनुबन्धों का अज्वर्णों में ग्रहण क्यों नहीं होता है?

(समा०) आचार के कारण, अप्रधान के कारण और लोप के बलवान् होने के कारण (इत्संज्ञक वर्णों का अच् के अन्तर्गत ग्रहण नहीं होता)।

वर्णों में अन्य वर्णों की आकृति के समान जो वर्णों के अवयव होते हैं, उनमें अन्य वर्णों के कार्य नहीं होते हैं। कारण कि वर्णों के अवयव वर्णों की आकृति का अनुकरण ही करते हैं, न कि अन्य वर्ण ही होते हैं। आचार्य भिन्न स्थान व प्रयत्न के द्वारा उच्चारित वर्ण को कहते हैं।

तब नुड्विधि, लादेश और विनाम (= मूर्धन्य) में ऋकार में प्रतिविधान करना होगा। यथा—

(क) 'आनृधतुः' इस दशा में नुड्विधि में, 'क्लृप्तः' में लत्वादेश में तथा 'कर्त्तॄणाम्' में मूर्धन्यादेश में ऋकार-ग्रहण का प्रयोजन है।

व्याख्या—प्रथम ऐ तथा औ—इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए इत्संज्ञक चकार का पाठ किया गया है। इस चकार का चार प्रकार से ग्रहण होता है। यथा—

(क) अकार के साथ 'अच्' के रूप में। द्र० अचः परस्मिन्०।
(ख) इकार के साथ 'इच्' के रूप में। द्र० इच एकाचोऽम्०।
(ग) एकार के साथ 'एच्' के रूप में। द्र० एचोऽयवायावः।
(घ) ऐकार के साथ 'ऐच्' के रूप में। द्र० वृद्धिरादैच्।

श्लोकवार्तिक (शंका०) अजादि में अनुबन्धों (ण्,क्,ङ्,च्) का ग्रहण क्यों नहीं होता है? (समा०) अच् आदि में ण् आदि अनुबन्धों का ग्रहण निम्नलिखित तीन कारणों से नहीं होता है। यथा—

(क) आचारात् अर्थात् आचारवशात् (अनुबन्धों का ग्रहण अच् आदि में नहीं होता है।) पाणिनि आदि आचार्यों का ण् आदि अनुबन्धों में अच् रूप से व्यवहार नहीं देखा जाता है। 'तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' सूत्रपाठ से आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि आचार्य इन क् आदि अनुबन्धों का ग्रहण अच् में नहीं करते हैं, अन्यथा षकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर अच् (क्) परे रहते यणादेश होना चाहिए था। इसी प्रकार 'उणादयो बहुलम्' में आचार्य का व्यवहार ज्ञापित करता है कि वे 'ण्' अनुबन्ध का ग्रहण अच् में नहीं करते हैं।

(ख) अप्रधानत्वात् अर्थात् गौण होने से (अनुबन्धों का ग्रहण अच् आदि में नहीं होता है।) प्रत्येक आचार्य की शैली होती है कि एक स्थान पर एक जैसी चीजों का उपदेश तथा दूसरे स्थान पर दूसरी वस्तुओं का उपदेश करते हैं। आचार्य पाणिनि ने भी प्रथम अच् वर्णों का उपदेश किया है। इसके पश्चात् हल् वर्णों का उच्चारण किया है। अच् वर्णों में हल् वर्णों (ण्,क्,ङ्,च्) के गौण होने से इनका यहाँ ग्रहण उचित नहीं है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि वर्णों का ज्ञान कराना मुख्य कर्म है तथा प्रत्याहारों के लिए अनुबन्धों का उपदेश गौण उद्देश्य है। अतः अनुबन्धों का अच् वर्णों में ग्रहण नहीं होता है।

(ग) लोपश्च बलवत्तरः अर्थात् लोप के बलवान् होने के कारण (अनुबन्धों का ग्रहण अच् वर्णों में नहीं होता है)। 'बलवत्तर' शब्द में 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग स्वार्थ में हुआ है। अनुबन्धों की इत्संज्ञा होती है। तब 'आदिरन्त्येन सहेता' के द्वारा प्रत्याहार बनता है। इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाता है। चूँकि लोपकार्य सभी कार्यों से अधिक बलवान् होता है; अतः अनुबन्धों का अच् वर्णों में ग्रहण नहीं होता है।

वर्णेषु—वर्णों के अवयव भी होते हैं। आ में अकार का, ऋ में रेफ का तथा ए में अकारादि का श्रवण होता है। तब आ समुदाय तथा अ अवयव हुआ।

अब शंका होती है कि क्या समुदाय (आ आदि) के द्वारा अवयय (अ आदि) का ग्रहण होता है। यदि अवयव का ग्रहण होता है तो उनमें (अर्थात् अवयवों में) अच् कार्य (दीर्घत्वादि) होने चाहिये।

(समा०) वस्तुतः समुदाय के द्वारा अवयवों का ग्रहण नहीं होता है। कारण कि, अवयव स्वतन्त्र वर्ण नहीं है। आचार्य भिन्न उच्चारण स्थान व भिन्न प्रयत्न से उच्चारित वर्ण को चाहते हैं। यदि समुदाय के द्वारा अवयवों का ग्रहण करते हैं तो 'अग्ने इन्द्रम्' इस दशा में नकारोत्तरवर्त्ती एकार के अवयव इकार तथा पश्चाद्वर्ती इकार—इन दोनों के स्थान पर सवर्णदीर्घ एकादेश होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विषय में ग्रहण पक्ष व अग्रहण पक्ष दोनों हैं। काशिकाकार अग्रहणपक्ष के समर्थक हैं।

अग्रहणपक्ष की दशा में नुट् विधि, लत्वादेश तथा मूर्धन्य आदेश विधियों में ऋकार में प्रतिविधान करना चाहिए। यथा—

(क) नुड्विधि—'आनृधुः' में 'तस्मान्नुड् द्विहलः' से 'नुट्' होता है। यदि ऋकार के द्वारा उसके एकादेश रेफ का ग्रहण न करेंगे तो यहाँ द्विहल् उपलब्ध न होने से नुट् नहीं होगा। तब ऋकार का पृथक् ग्रहण करना होगा।

(ख) लत्वादेश—'कृपो रो लः' के द्वारा कृप् धातु के ऋकार को ऌकार होता है। यदि ऋकार के द्वारा उसके अवयव रेफ का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो यहाँ लादेश नहीं होगा। तब 'ऋकारस्य चेति वक्तव्यम्' इस प्रकार विधान करना होगा।

(ग) मूर्धन्यादेश—मूर्धन्यादेश की दशा में 'रषाभ्यां नो णः०' आदि सूत्रों में ऋकार का पाठ करना होगा।

महाभाष्यकार ने उपर्युक्त तीनों वार्त्तिकों का समाधान प्रदर्शित किया है[1]।

ह य व र ट् ॥ (मा.सू.5)

'ह य व र' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते टकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'शश्छोऽटि' (8.4.63) इत्यकारेण। अयं रेफो यकारात्पर उपदिश्यते। तस्य यर्ग्रहणेन यय्ग्रहणेन च ग्रहणे सति स्वर्नयति प्रातर्नयतीत्यत्र 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (8.4.45) इति अनुनासिकः प्राप्नोति। मद्रह्रदो भद्रह्रद इत्यत्र द्विर्वचनं प्राप्नोति 'अचो रहाभ्यां द्वे' (8.4.46) इति। कुण्डं रथेन, वनं रथेनेत्यत्र 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (8.4.58) इति परसवर्णः प्राप्नोति? नैष दोषः। आकृतौ पदार्थे समुदाये 'सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते' इत्येतस्मिन् दर्शने 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (8.4.45) अन्तरतमो भवतीत्येवमेतत्प्रवर्त्तते। तदनेन गकारादीनां ङकारादयो ये यथास्वं स्थानतः गुणतश्चान्तरतमास्ते सर्वे विहिताः। ये तु न स्थानतो नापि गुणतः स्थानमात्रेण गुणमात्रेण वा अन्तरतमास्ते सर्वे निवर्तिता इति स्थानमात्रान्तरतमो रेफस्य णकारो न भवति। द्विर्वचनेऽपि रेफस्य यरन्तर्भावे सति यर्कार्यं प्राप्तं तत्साक्षाच्छिष्टेन निमित्तभावेन बाध्यत इति न द्विरुच्यते रेफः। 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (8.4.58) इत्येतदप्यनुस्वारान्तरतमं सकृदेव परसवर्णं विदधाति। न च रेफस्यानुस्वारान्तरतमः सवर्णोऽस्तीति न भविष्यति–कुण्डं रथेन, वनं रथेनेत्यत्र। अटां मध्ये विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानामप्युपदेशः कर्त्तव्यः। किं प्रयोजनम्? उरः केण। उर≍केण। उरः पेण। उर≍पेण। अत्र 'अड्व्यवाये (8.4.2) इति णत्वं यथा स्यादिति।

अर्थ—ह,य्,व्,र्—इन चार वर्णों का उपदेश करके अन्त में उपदेश के लिए इत्संज्ञक टकार का उपदेश किया है। इस (टकार) का ग्रहण एक के साथ होता है। यथा—'शश्छोऽटि' में 'अट्' के रूप में अकार के साथ। रेफ का यकार से यर् उपदेश किया गया है, तब 'यर्' तथा 'यय्' में रेफ का ग्रहण होकर 'प्रातर् नयति' इस दशा में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' के द्वारा णत्वादेश होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अपि च, 'मद्रह्रदः' में 'अचो रहाभ्यां द्वे' से दो रेफों का श्रवण होता है। इसी प्रकार, 'वनं रथेन' की दशा में 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' के द्वारा परसवर्ण प्राप्त होता है।

परन्तु ये दोष नहीं हैं। 'जाति पदार्थ है' इस पक्ष में समुदाय में 'एक बार ही लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति होती है' इस परिभाषा के आधार पर 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' के द्वारा सदृशतम अनुनासिक आदेश विकल्प से होता है—ऐसी व्यवस्था होती है। तब गकार को ङकार (जो गुण तथा स्थान के आधार पर सदृशतम है) का विधान है। जो न तो स्थान के आधार पर तथा न ही गुण के आधार पर सदृशतम है और या तो केवल स्थान के आधार पर अथवा केवल गुण के आधार पर सदृशतम है, उसकी निवृत्ति हो जाती है। फलतः 'स्वर् नयति' में अनुनासिक नहीं होगा।

द्वित्व (की दशा) में भी यर् प्रत्याहार में रेफ का अन्तर्भाव होने से यर् सम्बन्धी कार्य प्राप्त होता है। अतः द्वित्व साक्षात्

1. महा० सूत्र—ऐऔच्।

शिष्ट विहित निमित्तभाव से बाधित हो जाता है। अतः ('मद्रह्रद' में) रेफ का द्वित्व नहीं किया जाता है। 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' यह भी अनुस्वार का अन्तरतम परसवर्ण एक बार ही विधान करता है। इसके अतिरिक्त रेफ का अनुस्वार सदृशतम आदेश नहीं है। अतः 'वनं रथेन' की दशा में परसवर्ण नहीं होगा।

अट्वर्णों में विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का उपदेश करना चाहिए, ताकि उर ≍केण, उरः केण, उर≍पेण तथा उरः पेण—इन चार स्थानों पर 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये०' के द्वारा णत्व हो जाय।

व्याख्या (हयवर—) प्रकृत सूत्र के द्वारा ह्,य्,व् तथा र्— इन चार वर्णों का उपदेश किया है। प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त में इत्संज्ञक टकार का उच्चारण किया है। इस टकार का अकार के साथ एक बार ग्रहण होकर अट् प्रत्याहार बनता है। द्र०—'शश्छोऽटि'।

अयं—रेफ का उपदेश यकार के पश्चात् किया गया है। फलतः रेफ का ग्रहण 'यर्' तथा 'यय्' प्रत्याहारों में होता है और तीन दोष उपस्थित होते हैं। यथा—

(क) अनुनासिकादेश—'प्रातर् नयति' इस दशा में यर् (रेफ) से पर अनुनासिक (नकार) रहते रेफ को अनुनासिक प्राप्त होता है।

(ख) द्वित्व—'मद्रह्रदः' इस दशा में अच् (रेफोत्तरवर्त्ती अकार) से पर हकार से पर यर् वर्ण (रेफ) को 'अचो रहाभ्यां द्वे' के द्वारा द्वित्व प्राप्त होता है। यदि रेफ का उपदेश यकार से पूर्व होता तो रेफ को द्वित्व नहीं होता।

(ग) परसवर्णादेश—'वनं रथेन' इस दशा में अनुस्वार से पर यय् (रेफ) रहते 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' के द्वारा परसवर्ण प्राप्त होता है। यदि यकार से पूर्व रेफ का पाठ कर दिया जाये तो रेफ का 'यय्' के द्वारा ग्रहण नहीं होगा। तब यहाँ अनिष्ट रूप भी प्राप्त नहीं होगा।

नैष दोषः—परन्तु पूर्वोक्त दोष यहाँ प्रसक्त नहीं होते हैं।

(क) जाति, पदार्थ व समुदाय में 'सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्त्तते' परिभाषा प्रवृत्त होती है। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' की एकता सिद्ध होती है। सार यह है कि जातिपक्ष मान लेने पर लक्ष्य में लक्षण की एक बार प्रवृत्ति होती है। तब एक दृष्टि से सदृशतम नहीं गृहीत होता; अपितु दोनों दृष्टियों (गुण व स्थान) से सदृशतम लिया जायेगा। 'प्रातर् नयति' में प्राप्त अनुनासिकादेश (णकार) केवल स्थान के आधार पर सदृशतम तथा प्रयत्न के आधार पर नहीं है। अतः अनुनासिक आदेश नहीं होगा।

(ख) 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र में 'रहाभ्याम्' इस प्रकार रेफ और हकार को निमित्त रूप से प्रत्यक्ष कहा गया है तथा 'यर्' में रेफ का कार्यी रूप से ज्ञान है। चूँकि प्रत्यक्ष कही गयी निमित्तता बलवती होती है। अतः यहाँ 'मद्रह्रद' में रेफ को द्वित्व नहीं होगा[1]।

(ग) 'वनं रथेन' इस दशा में परसवर्ण नहीं होगा। कारण कि, रेफ व अनुस्वार के स्थान व प्रयत्न भिन्न-भिन्न हैं। अतः परसवर्ण व गुण दोनों आधारों पर कोई सदृशतम वर्ण नहीं है। अतः परसवर्ण नहीं होता है।

अटाम्—पूर्वोक्त तीनों दोषों का परिहार करने के पश्चात् वार्त्तिक के द्वारा विसर्ग, जिह्वामूलीय आदि का स्थान निश्चित किया गया है।

अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मा-नीय—इन तीन वर्णों का भी उपदेश होना चाहिए।

'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा रेफ व षकार से पर नकार को णकार हो जाता है, भले ही दोनों के मध्य अट् आदि का व्यवधान हो। प्रस्तुत वार्त्तिक के द्वारा विसर्ग के अट् वर्णों में स्वीकार कर लेने पर 'उरःकेण' में णत्व हो जाता है। यदि विसर्ग को अट् प्रत्याहार में नहीं मानेंगे तो 'उरःकेन' इस दशा में रेफ व नकार के मध्य विसर्ग का व्यवधान होने से नकार को णकार नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार अट्वर्णों में जिह्वामूलीय व उपध्मानीय का पाठ होने पर 'उर≍केण' तथा 'उर≍पेण' में नकार को णकार हो जायेगा।

ल ण् ॥ (मा.सू.6)

'ल' इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः-'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (1.1.69) इत्यकारेण, 'इण्कोः' (8.3.57) इतीकारेण, 'इको यणचि' (6.1.77) इति यकारेण। इण्ग्रहणानि सर्वाणि परेण णकारेण, अण्ग्रहणानि तु पूर्वेण। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (1.1.69)। इत्येतदेवैकं परेण। अथ किमर्थमज्ग्रहणमेवैतन्न क्रियते? नैवं शक्यम्। अन्तःस्थानामपि हि सवर्णानां ग्रहणमिष्यते-सय्ँय्ँयन्ता, सव्ँव्ँवत्सरः, यल्ँल्ँलोकम्,

1. प्रत्यक्षाऽनुमितयोः प्रत्यक्षं बलीयः।

तलँ्लँ्लोकमित्यत्रानुस्वारस्यानुनासिके यथि परसवर्णे कृते (8.4.58) तस्य यर्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विर्वचनं (8.4.47) यथा स्यादिति।हकारादिष्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः। लकारे त्वनुनासिकः प्रतिज्ञायते। तेन 'उरण् रपरः' (1. 1.51) इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणाल्लपरत्वमपि भवति।

अर्थ—'ल्' इस एक वर्ण का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक 'ण्' का पाठ किया है। इसका तीन प्रकार से ग्रहण होता है। यथा—'अणुदित् सवर्णस्य' में 'अण्' के रूप में अकार के साथ, 'इण्कोः' में 'इण्' के रूप में इकार के साथ तथा 'इको यणचि' में 'यण्' के रूप में यकार के साथ। 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पश्चाद्वर्ती णकार (लण्) से गृहीत होता है। 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार (अ,इ,उ,ण्) से गृहीत होता है। केवल 'अणुदित् सवर्णस्य' में 'अण्' प्रत्याहार पश्चाद्वर्ती णकार (लण्) से लिया जाता है।

(शंका) 'अणुदित् सवर्णस्य' को अच् ग्रहण वाला किसलिए नहीं किया गया?

(समा०) यह सम्भव नहीं है। कारण कि अन्तःस्थों के सवर्णों का ग्रहण इष्ट था। यथा—सयँ्यँ्यन्ता, सवँ्वँ्वत्सरः, यलँ्लँ्लोकम्—इन उदाहरणों में 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' के द्वारा परसवर्ण होता है। ताकि यहाँ 'यर्' के ग्रहण से ग्रहण हो जाने के कारण द्वित्व हो सके।

हकार आदि में अकार उच्चारणार्थ है, न कि अनुबन्ध। लकार में अकार अनुनासिक है। अतः 'उरण् रपरः' यहाँ प्रत्याहारग्रहण से लपर भी होता है।

व्याख्या—'ल्' इस प्रकार एक वर्ण का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक 'ण्' का उच्चारण किया है। इस (णकार) का तीन प्रकार से ग्रहण होता है। यथा—

(क) अकार के साथ 'अण्' के रूप में। द्र०—अणुदित् सवर्णस्य०।

(ख) इकार के साथ 'इण्' के रूप में। द्र०—इण्कोः।

(ग) यकार के साथ 'यण्' के रूप में। द्र०—इको यणचि।

इण्—'इण्' प्रत्याहार पश्चाद्वर्ती णकार (अर्थात् लण् वाले) से गृहीत होता है। यदि 'इण्' प्रत्याहार पूर्व वाले (अर्थात् अइउण् वाले) णकार से गृहीत होगा तो 'इण्' केवल दो वर्णों (इ,उ) की संज्ञा होगा, जो आचार्य को इष्ट नहीं है।

अण्—'अण्' प्रत्याहार पूर्व वाले (अर्थात् अइउण् वाले) णकार से गृहीत होता है। केवल 'अणुदित् सवर्णस्य' इस एक स्थल पर अण् प्रत्याहार बाद वाले (अर्थात् लण् वाले) णकार से गृहीत होता है।

अथ—अब प्रश्न यह है कि अण् पूर्व वाले णकार से लिया जाये या बाद वाले णकार से लिया जाये—यह संशय बना रहता है। यदि 'अणुदित् सवर्णस्य' के स्थान पर 'अजुदित् सवर्णस्य' का पाठ कर दिया जाय तो यह संशय समाप्त हो जाता है।

(समा०) यह नहीं हो सकता। कारण कि 'अण्' के स्थान पर 'अच्' का पाठ कर देने पर इसके द्वारा अन्तःस्थ वर्णों का ग्रहण नहीं हो सकेगा। तब 'संयन्ता' इस दशा में 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण होता है। संयँ्यन्ता। अब 'अनचि च' से 'यँ्' को पाक्षिक द्वित्व होकर 'संयँ्यँ्यन्ता' बनता है। यदि 'अण्' के स्थान पर 'अच्' का उच्चारण करते हैं तो 'अच्' के द्वारा अन्तःस्थ वर्ण (य्) का ग्रहण नहीं होगा। तब प्रत्याहारग्रहणक शास्त्र के बल पर यँ्, वँ्, लँ् की संज्ञा 'यर्' नहीं होगी। इसके फलस्वरूप 'संयँ्यन्ता' में 'यँ्' को द्वित्व न होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा। यदि 'अण्' के स्थान पर कोई परिवर्त्तन नहीं करते हैं तो अन्तःस्थ वर्णों के 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आ जाने से 'यर्' प्रत्याहार के द्वारा ग्रहणक शास्त्र के बल पर अनुनासिक अन्तःस्थ वर्णों (यँ्, वँ्, रँ्) का ग्रहण होकर 'संयँ्यँ्यन्ता' में द्वित्व हो जायेगा। इसी प्रकार 'संवँ्वँ्वत्सरः' में 'वँ्' को 'यंलँ्लँ्लोकम्' में (लँ्) को द्वित्व हो जाता है।

हकारादि०—हकारादि वर्णों में अकार का उच्चारण मुख-सुख के लिए है, न कि अनुबन्ध के रूप में। कारण कि, स्वर की सहायता के विना व्यञ्जन वर्ण का उच्चारण सम्भव नहीं हो पाता है।

लकार में अकार अनुनासिक है। आचार्य ने कुछ अच् वर्णों का अनुनासिकयुक्त पाठ किया है, जिसका प्रयोजन 'उपदेशेऽजनुनासिक—' के द्वारा इत्संज्ञा करना है। लकारस्थ अकार के इत्करण का प्रयोजन 'र' प्रत्याहार का निर्माण करना है। 'हयवरट्' के रेफ से 'लँण्' के इत्संज्ञक अकार तक 'र' (र् + अ) प्रत्याहार बनता है (द्र०—आदिरन्त्येन सहेता)। 'उरण् रपरः' में र प्रत्याहार का उपयोग होता है। र प्रत्याहार के द्वारा रेफ व लकार दो वर्णों का ग्रहण होता है। तब 'तव ऌकारः—तवल्कारः' यहाँ लपर सम्भव होता है।

ञ म ङ ण न म्॥ (मा.सू.7)

'ञ म ङ ण न' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते

मकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः-'पुमः खय्यम्परे' (8.3.6) इत्यकारेण, 'हलो यमां यमि लोपः' (8.4.64) इति यकारेण, 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (8.3.32) इति ङकारेण। 'ञमन्ताड्डः' (उणा० सू० 1.114) इति ञकारेणापि ग्रहणमस्य दृश्यते। केचित्तु सर्वाण्येतानि प्रत्याहारग्रहणानि ञकारेण भवन्त्विति मकारमनुबन्धं प्रत्याचक्षते। तथा च सति 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (8.3.32) इत्यत्रागमिनोर्झभोर-भावादागमाभावप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं भवति।

अर्थ—ञ्,म्,ङ्,ण् तथा न्—इन पाँच वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक 'म्' का पाठ किया है। इसका ग्रहण तीन प्रकार से होता है। यथा—'पुमः खय्यम्परे' में 'अम्' के रूप में अकार के साथ, 'हलो यमां यमि लोपः' में 'यम्' के रूप में यकार के साथ तथा 'ङमो ह्रस्वादचि०' में 'ङम्' के रूप में ङकार के साथ। 'ञमन्ताड्डः' (उणा०सू०) में 'ञम्' के रूप में ञकार के साथ भी मकार का ग्रहण होता है।

कुछ लोग मकार अनुबन्ध का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार (पूर्वोक्त) सभी प्रत्याहार ञकार से होने चाहिए[1]। परन्तु यह उचित नहीं है। यदि ऐसा मान लेते हैं तो 'ङमो ह्रस्वादचि—' के द्वारा स्थानी के रूप में झ तथा भ के न रहने से उनके लिए आगमों के अभाव का ज्ञान कराना होगा। इसमें गौरव होता है।

व्याख्या—ञ्,म्,ङ्,ण्,न्—इन पाँच वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त में मकार अनुबन्ध जोड़ा है। इसका तीन प्रकार से ग्रहण होता है। यथा—

(क) अकार के साथ 'अम्' के रूप में। द्र०—पुमः खय्यम्परे।

(ख) यकार के साथ 'यम्' के रूप में। द्र०—हलो यमां यमि लोपः।

(ग) ङकार के साथ 'ङम्' के रूप में। द्र०—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्।

'म्' अनुबन्ध का प्रयोग ञकार के साथ उणादिसूत्र[2] (1.114.) में भी देखा जाता है।

केचित्तु—कुछ विद्वान् इत्संज्ञक मकार का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार पूर्वोक्त सभी प्रत्याहारों का ग्रहण ञकार से होना चाहिए (अर्थात् अम्, यम् तथा ङम् के स्थान पर क्रमशः अञ्, यञ् तथा ङञ् होने चाहिए)।

परन्तु ऐसा मानने में एक दोष है। 'ङञ्' की दशा में स्थानी के रूप में झ तथा भ भी होने लगेगा, परन्तु झ तथा भ स्थानी के रूप में पदान्त में उपलब्ध नहीं हैं। अतः स्थानी तीन (ङ, ण, न) रह गये तथा आगम पाँच (ङुट्, णुट्, नुट्, झुट्, भुट्) हो गये। तब सूत्र में यथासंख्य परिभाषा लागू नहीं होगी। इसके समाधान के लिए झ तथा भ को आगम नहीं मानना चाहिए' ऐसा कहना होगा। इस प्रकार गौरव होता है। अतः मकार अनुबन्ध ही उचित है।

झ भ ञ्॥ (मा.सू.8)

'झ भ' इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ञकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन-'अतो दीर्घो यञि' (7.3.101) इति यकारेण।

अर्थ—झ् तथा भ्—इन दो वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार-निर्माण के लिए अन्त में इत्संज्ञक ञकार का उच्चारण किया है।

इसका ग्रहण एक बार होता है, यकार के साथ 'यञ्' के रूप में। द्र०—अतो दीर्घो यञि।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र के द्वारा झ तथा भ इन दो वर्णों का उपदेश किया गया है। अन्त में प्रत्याहार के लिए इत्संज्ञक ञकार का पाठ किया है। इस ञकार का एक बार ग्रहण होता है। यथा—

'अतो दीर्घो यञि' में 'यञ्' के रूप में यकार के साथ।

घ ढ ध ष्॥ (मा.सू.9)

'घ ढ ध' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते षकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति द्वाभ्याम्-'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (8.2.37) इति भकारझकाराभ्याम्।

अर्थ—घ्, ढ्, ध्—इनका उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में षकार (इत्) का पाठ है। इस षकार का दो बार ग्रहण होता है। द्र०—

'एकाचो बशो भष्—' में 'भष्' के रूप में भकार के साथ तथा 'झष्' के रूप में झकार के साथ।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र के द्वारा घ, ढ तथा ध—इन तीन वर्णों का उपदेश किया गया है। प्रत्याहारनिर्माण के लिए अन्त में इत्संज्ञक षकार का उच्चारण किया गया है। इत्संज्ञक षकार के द्वारा दो प्रत्याहारों का निर्माण होता है—

1. महा—मा०सू० 7
2. ञमन्ताड्डः।

(क) भष्—भकार के साथ,

(ख) झष्—झकार के साथ।

इन दोनों प्रत्याहारों का उपयोग 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य—' में होता है।

ज ब ग ड द श्॥(मा.सू.10)

'ज ब ग ड द' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते शकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः– 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (8.3.17) इति अकारेण, 'हशि च' (6.1.114) इति हकारेण, 'नेड्वशि कृति' (7.2.8) इति वकारेण, 'झलां जश् झशि' (8.4.53) इति जकारझकाराभ्याम्, 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (8.2.37) इति बकारेण।

व्याख्या—ज्, ब्, ग्, ड्, द् इन वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक शकार का पाठ किया गया है।

इस इत्संज्ञक शकार का ग्रहण छः प्रत्याहारों में होता है—

(क) 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' में 'अश्' में अकार के साथ,

(ख) 'हशि च' में 'हश्' के रूप में हकार के साथ,

(ग) 'नेड्वशि कृति' में 'वश्' के रूप में वकार के साथ,

(घ) 'झलां जश् झशि' में 'जश्' के रूप में जकार के साथ तथा 'झश्' के रूप में झकार के साथ,

(ङ) 'एकाचो बशो भष्०' में 'बश्' के रूप में बकार के साथ।

ख फ छ ठ थ च ट त व्॥(मा.सू.11)

'ख फ छ ठ थ च ट त' इत्येतान् वर्णानुपदिश्यान्ते वकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन 'नश्छव्यप्रशान्' (8.3.7) इति छकारेण। खफग्रहणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—प्रकृत सूत्र के द्वारा ख्,फ्,छ्,ठ्,थ्,च्,ट्,त्—इन आठ वर्णों का उपदेश किया गया है। अन्त में प्रत्याहारनिर्माण के लिए इत्संज्ञक वकार का उच्चारण किया है।

इत्संज्ञक वकार का ग्रहण एक बार होता है—'नश्छव्यप्रशान्' में 'छव्' के रूप में छकार के साथ।

प्रश्न है कि 'छव्' प्रत्याहार के द्वारा खकार व फकार का ग्रहण नहीं होता है। तब प्रकृत सूत्र में इनका पाठ करना व्यर्थ सिद्ध होता है।

(समा०) प्रस्तुत सूत्र में ख् तथा फ् वर्णों का उपदेश उत्तरार्थ किया गया है।[1] सार यह है कि खकार तथा फकार का उत्तरवर्ती प्रत्याहारों में ग्रहण हो सके—एतदर्थ इसी सूत्र में इन दोनों का पाठ कर दिया गया है। प्रकृत सूत्र में खकार व फकार का पाठ होने से उत्तरवर्ती प्रत्याहारों (यय् तथा खय्) में इनका ग्रहण हो जाता है।

क प य्।। (मा.सू.12)

'क प' इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते यकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः– 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (8.4.58) इति यकारेण, 'मय उञो वो वा' (8.3.33) इति मकारेण, 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (8.3.62) इति झकारेण, 'पुमः खय्यम्परे' (8.3.6) इति खकारेण।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र के द्वारा क् तथा प्—इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में प्रत्याहार के लिए इत्संज्ञक यकार का उच्चारण किया गया है। इस यकार का चार प्रकार से ग्रहण होता है—

(क) 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' में 'यय्' के रूप में यकार के साथ,

(ख) 'मय उञो वो वा' में 'मय्' के रूप में मकार के साथ,

(ग) 'झयो होऽन्यतरस्याम्' में 'झय्' के रूप में झकार के साथ,

(घ) 'पुमः खय्यम्परे' में 'खय्' के रूप में खकार के साथ।

श ष स र्॥(मा.सू.13)

'श ष स' इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः– 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (8.4.45) इति यकारेण, 'झरो झरि सवर्णे' (8.4.65) इति झकारेण, 'खरि च' (8.4.55) इति खकारेण, 'अभ्यासे चर्च' (8.4.54) इति चकारेण, 'शर्पूर्वाः खयः' (7.4.61) इति शकारेण।

व्याख्या—प्रकृत सूत्र के द्वारा श्, ष् तथा स्—इन तीन वर्णों का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक रकार का पाठ किया गया है।

इस रकार का पाँच प्रकार से ग्रहण होता है—

---

1. न्यास० मा०सू०11—ननु च छकारेणैवाऽस्य ग्रहणम्, न च खफौ तदन्तर्भूतौ, तत् किमर्थं तयोरिह ग्रहणम्'''। उत्तरेषु'''। द्र० पदमञ्जरी

(क) 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' में 'यर्' के रूप में यकार के साथ,

(ख) 'झरो झरि सवर्णे' में 'झर्' के रूप में झकार के साथ,

(ग) 'खरि च' में 'खर्' के रूप में खकार के साथ,

(घ) 'अभ्यासे चर्च' में 'चर्' के रूप में चकार के साथ,

(ङ) 'शर्पूर्वाः खयः' में 'शर्' के रूप में शकार के साथ।

ह ल् ॥ (मा.सू.14)

'ह' इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते लकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः–'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (1.1.65) इति अकारेण, 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (1.1.7) इति हकारेण, 'लोपो व्योर्वलि' (6.1.66) इति वकारेण, 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' (1.2.26) इति रेफेण, 'झलो झलि' (8.2.26) इति झकारेण, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (3.1.45) इति शकारेण।

अर्थ—'ह्' इस एक वर्ण का उपदेश करके प्रत्याहार के लिए अन्त में इत्संज्ञक लकार का उच्चारण किया है। इस लकार का छह प्रत्याहारों में ग्रहण होता है—अल्, हल्, वल्, रल्, झल् तथा शल् में।

प्रकृत सूत्र के द्वारा केवल एक 'ह्' वर्ण का उपदेश किया है। प्रत्याहार बनाने के लिए अन्त में इत्संज्ञक लकार का उच्चारण किया है।

अथ किमर्थमुपदिष्टोऽपि हकारः पुनरुपदिश्यते? कित्त्वविकल्पक्सेड्विधयो यथा स्युरिति। स्निहित्वा, स्नेहित्वेत्यत्र 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' (1.2.26) इति कित्त्वं वा यथा स्यात्। लिहेरलिक्षदिति 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (3.1.45) इति क्सो यथा स्यात्। रुदिहि, स्वपिहीति वलादिलक्षण इड्यथा (7.2.76) स्यात्। अदाग्धाम्। झल्ग्रहणेषु च (8.2.26) हकारस्य ग्रहणं यथा स्यात्।

अर्थ—(शङ्का) पहले उपदेश कर दिए जाने पर पुनः किसलिए उपदेश किया है?

(समा०) ताकि कित्त्व विकल्प, क्स तथा इट् का आगम हो सके।

(क) 'स्निह् क्त्वा' इस दशा में वैकल्पिक कित्त्व होकर 'स्निहित्वा' तथा 'स्नेहित्वा' रूप बनते हैं। द्र०—रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च।

(ख) 'लिह्' से 'क्स' होकर 'अलिक्षत्' बनता है। द्र०—शल इगुपधादनिटः क्सः।

(ग) 'रुद्' तथा 'स्वप्' से इट् होकर क्रमशः 'रुदिहि' तथा 'स्वपिहि' रूप बनते हैं। द्र०—आर्धधातुकस्येड् वलादेः।

इसी प्रकार 'झल्' प्रत्याहार में हकार का ग्रहण हो सके, ताकि 'अदाग्धाम्' रूप बन सके।

व्याख्या—'हयवरट्' (मा०सू० 5) में हकार का उपदेश किया जा चुका है। तब प्रश्न उठता है कि 'हल्' (मा०सू० 14) में हकार का पुनः उपदेश किसलिए किया गया है?

(समा०) हकार के पुनः उपदेश के तीन प्रयोजन हैं—

(क) पाक्षिक कित्त्वकरण—'हल्' सूत्र में हकार का उपदेश हो जाने से हकार का 'रल्' प्रत्याहार में अन्तर्भाव हो जाता है। तब 'स्निह् क्त्वा' इस दशा में 'रलो व्युपधा' से क्त्वा विकल्प से किद्वत् होता है। इस प्रकार अकित् पक्ष में गुण होकर 'स्नेहित्वा' तथा कित् पक्ष में गुणनिषेध होकर 'स्निहित्वा' रूप बनता है। 'हल्' सूत्र में हकार के उपदेश का यह एक फल है।

(ख) क्सविधान—हकार के पुनः उपदेश का दूसरा फल है—क्स प्रत्यय करना; यथा—

लिह् लुङ्—लिह् तिप् (प्र०पु०एकव०)—

लिह् च्लि त् (च्लि, इकारलोप)—

अलिह् क्स त् (अट्, क्स आदेश 'शल इगुपधाद०' के द्वारा)—

अलिक्षत् (ढकार, 'हो ढः' ककार, 'षढोः कः सि' षकार)।

यहाँ 'शल इगुपधाद०' के द्वारा 'क्स' हुआ है। यदि 'हल्' सूत्र में हकार का पुनः उपदेश न होता तो हकार का 'शल्' प्रत्याहार में अन्तर्भाव न होता। तब यहाँ 'क्स' न होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती थी।

(ग) इड्विधि—'हल्' में हकार के उपदेश का तीसरा फल है—इडागम। 'हल्' में हकार का उपदेश होने से 'वल्' प्रत्याहार में हकार का अन्तर्भाव हो जाता है और तब 'रुदिहि' रूप की साधुता सिद्ध हो जाती है। द्र०—

रुद् सिप् (लोट् म०पु०एकव०)—

रुद् हि (सेर्ह्यपिच्च)—

रुदिहि (रुदादिभ्यः सार्वधातुके)।

यदि 'हल्' में हकार का उपदेश नहीं होता तो हकार का 'वल्' के द्वारा ग्रहण न होता। तब यहाँ 'हि' प्रत्यय को इट् आगम

न होकर अनिष्ट रूप बन जाता। काशिकाकार ने इस हकार के उपदेश का एक अन्य प्रयोजन भी बताया है कि 'झल्' के द्वारा हकार का ग्रहण हो सके, ताकि 'अदाग्धाम्' की साधुता प्रदर्शित की जा सके। द्र०—

दह् लुङ्—दह् तस् (प्र०पु०द्वि०)—
दह् ताम् ('ताम्' आदेश)—
अ दह् च्लि ताम् (अट्, च्लि)—
अ दाह् स् ताम् (सिच्, अच् को वृद्धि)—
अ दाघ् स् ताम् (दाऽऽदेर्धातो०)—
घत्व असिद्ध है। अतः इसे हकार मानकर
अदाघ् ताम् (झलो झलि)—
अदाघ् धाम् (झषस्तथो०)—
अदाग् धाम् (झलां जश् झशि)—
अदाग्धाम्।

यदि हकार का 'झल्' में ग्रहण न होतां तो घकार के असिद्ध होने से यहाँ सिच् लोप न हो पाता।

विशेष—'हल्' में हकार के उपदेश का प्रयोजन है कि रल्, वल्, शल् तथा झल् प्रत्याहारों में भी हकार का अन्तर्भाव हो सके।

हमारे विचार में हकार के दो बार उपदेश का एक अन्य कारण भी है। इसके अनुसार ज्ञापित होता है कि वर्णों के उपदेश का आचार्य का प्रमुख उद्देश्य प्रत्याहार-निर्माण करना है तथा गौण उद्देश्य वर्णसमाम्नाय का ज्ञान कराना है। यदि इन चौदह सूत्रों के द्वारा आचार्य का मुख्य उद्देश्य वर्णसमाम्नाय का ज्ञान कराना होता तो वे एक ही वर्ण (हकार) का दो बार उच्चारण नहीं करते।

यद्येवं ह य व र ट् इत्यत्र तर्हि किमर्थमुपदिश्यते? महाँ हि सः देवाः हसन्तीत्यत्राड्ग्रहणेषु (8.3.3) चाश्ग्रहणेषु (8.3.22) च हकारस्य ग्रहणं यथा स्यात्। 'हशि च' (6.1.114) इति हकारस्य ग्रहणं यथा स्यात्–ब्राह्मणो हसति। 'हशि च' (6.1.114) इति उत्वं यथा स्यात्।

अर्थ—यदि ऐसा है तो 'हयवरट्' में हकार का उपदेश किस लिए है? (यहाँ हकार का उपदेश किया है) ताकि 'अट्' व 'अश्' में हकार का ग्रहण हो सके। तब 'महाँ हि सः देवा हसन्ति' की साधुता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त ('हयवरट्' में हकार का उपदेश है) ताकि 'हश्' में हकार का ग्रहण हो सके। तब 'ब्राह्मणो हसति' में 'हशि च' से उत्व हो जाता है।

व्याख्या—पीछे 'हल्' में हकार के उपदेश की सार्थकता सिद्ध की जा चुकी है। अब प्रश्न है कि यदि 'हल्' में हकार का उच्चारण अनिवार्य है तो 'हयवरट्' में हकार का उपदेश किसलिए किया गया?

(समा०) 'अट्' व 'अश्' प्रत्याहारों में हकार का अन्तर्भाव करने के लिए हकार का 'हयवरट्' में उच्चारण किया गया है। यथा—

महान् हि सः—
महा रु हि सः (दीर्घाद् अटि०)—
महाँ हि सः (आतोऽटि नित्यम्)।

यदि 'हयवरट्' में हकार का उच्चारण नहीं होता तो हकार की 'अट्' संज्ञा नहीं होती। तब नकार को 'रु' आदि नहीं हो पाता।

इसी प्रकार देवास् हसन्ति—
देवा रु हसन्ति (ससजुषो)—
देवा य् हसन्ति (भोभगो अघो०)—

यदि हकार का ग्रहण 'अश्' के द्वारा नहीं होता तो यहाँ यकार नहीं होता।

देवा हसन्ति (हलि सर्वेषाम्)।
इसी प्रकार—ब्राह्मणस् हंसति—
ब्राह्मण रु हसति—ब्राह्मण उ हसति (हशि च)—

यदि 'हयवरट्' में हकार का पाठ नहीं होता तो 'हश्' हकार की संज्ञा नहीं होती। तब यहाँ उत्व नहीं हो पाता।

ब्राह्मणो हसति (आद् गुणः)।

अतः अट्, अश् व हश् प्रत्याहारों के द्वारा हकार का ग्रहण कराने के लिए 'हयवरट्' में हकार का उच्चारण किया है।

एकस्मान् ङञणवटा द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः।
ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलौ षड्भ्यः॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम्

व्याख्या—'ण्' आदि अनुबन्धों के द्वारा प्रत्याहारों का निर्माण किया जाता है। द्र०—'आदिरन्त्येन सहेता' की व्याख्या। आचार्य पाणिनि ने शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए 41 प्रत्याहारों की कल्पना की है। एक प्रत्याहार उणादिपाठ में तथा दो प्रत्याहार वार्तिकपाठ में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में कुल 44 प्रत्याहारों का प्रयोग होता है।

काशिकाकार ने प्रस्तुत कारिका के द्वारा सभी प्रत्याहारों का परिगणन कर दिया है। यथा—

एकस्मान् ङञणवटाः अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, व् तथा ट् अनुबन्धों के द्वारा एक-एक प्रत्याहार बनता है। इनके नाम हैं— एङ्, यञ्, अण्, छव् तथा अट्।

द्वाभ्यां षः अर्थात् ष् अनुबन्ध के द्वारा दो प्रत्याहार बनते हैं। यथा—झष् तथा भष्।

त्रिभ्य एव कणमाः स्युः अर्थात् क्, ण् तथा म् अनुबन्धों के द्वारा तीन-तीन प्रत्याहार बनते हैं। उनके नाम हैं—अक्, इक्, उक्, अण्, इण्, यण्, अम्, यम्, तथा ङम्।

ञ्चेयौ चयौ चतुर्भ्यः अर्थात् च् तथा य् अनुबन्धों के द्वारा चार-चार प्रत्याहार बनते हैं। यथा—अच्, इच्, एच्, ऐच्, यय् मय्, झय् तथा खय्।

रः पञ्चभ्यः अर्थात् र् अनुबन्ध के द्वारा पाँच प्रत्याहार बनते हैं। यथा—यर्, झर्, खर्, चर् तथा शर्।

शलौ षड्भ्यः अर्थात् श् तथा ल् अनुबन्धों के द्वारा छः-छः प्रत्याहार बनते हैं। यथा—अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल् तथा शल्।

शास्त्र में प्रयुक्त 'अण्' आदि प्रत्याहार हैं अथवा प्रत्यय हैं—यह व्याख्यान से ही जाना जाता है, लक्षण से नहीं। चौवालीस प्रत्याहार ये हैं—

1. अण्—अ, इ, उ (द्र० 'उरण् रपरः' 1.1.50)।
2. अक्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ (द्र०—'अकः सवर्णे दीर्घः' 6.1.97)।
3. अच्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ (द्र०—'अचोऽन्त्यादि टि' 1.1.6.3)।
4. अट्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र (द्र०—'शश्छोऽटि' 8.4.62)।
5. अण्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल (द्र०—'अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः')।
6. अम्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न (द्र०—'पुमः खय्यम्परे' 8.3.6)।
7. अश्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द (द्र०—'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' 8.3.17)।
8. अल्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह (द्र०—'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' 1.1.64)।
9. इक्—इ, उ, ऋ, ऌ (द्र०—'इको गुणवृद्धी' 1.1.3)।
10. इच्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ (द्र०—'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' 6.3.66)।
11. इण्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल (द्र०—'इण्कोः' 8.3.57)।
12. उक्—उ, ऋ, ऌ (द्र०—'उगितश्च' पा० 4.1.6.)।
13. एङ्—ए, ओ (द्र०—'एङि पररूपम्' पा० 6.1.91)।
14. एच्—ए, ओ, ऐ, औ (द्र०—'एचोऽयवायावः' 6.1.75)।
15. ऐच्—ऐ, औ (द्र०—'वृद्धिरादैच्' 1.1.1)।
16. हश्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द (द्र०—'हशि च' 6.1.110)।
17. हल्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह (द्र०—'हलोऽनन्तराः संयोगः' 1.1.7)।
18. यण्—य, व, र, ल (द्र०—'इको यणचि' 6.1.74)।
19. यम्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न (द्र०—'हलो यमां यमि लोपः' 8.4.63)
20. यञ्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ (द्र०—'अतो दीर्घो यञि' 7.3.101)
21. यय्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प. (द्र०—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' 8.4.57)।
22. यर्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स (द्र०—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' 8.4.44)।
23. वश्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द (द्र०—'नेड्वशि कृति' 7.2.8)।
24. वल्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह (द्र०—'लोपो व्योर्वलि' 6.1.64)।

25. रल्—र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह (द्र०—'रलो व्युपधाद् हलादेः सँश्च' 1.2.26)।
26. र—र, ल (द्र०—'उरण् रपरः' पा० 1.1.50)।
27. ञम्—ञ, म, ङ, ण, न (द्र०—'ञमन्ताड् डः' उणा—1.114)।
28. मय्—म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प (द्र०—'मयउञो वो वा' 8.3.33)।
29. ङम्—ङ, ण, न (द्र०—'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' 8.3.32)।
30. झष्—झ, भ, घ, ढ, ध (द्र०—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' 8.2.37)।
31. झश्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द (द्र०—'झलां जश् झशि' 8.4.52)।
32. झय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प (द्र०—'झयो होऽन्यतरस्याम्' 8.4.61)।
33. झर्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स (द्र०—'झरो झरि सवर्णे' 8.4.64)।
34. झल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह (द्र०—'झलो झलि' 8.2.26)।
35. भष्—झ, भ, घ, ढ, ध (द्र०—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य०' 8.2.37)।
36. जश्—ज, ब, ग, ड, द (द्र०—'झलां जशोऽन्ते' 8.2.39)।
37. बश्—ब, ग, ड, द (द्र०—'एकाचो बशो०' 8.2.37)।
38. खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प (द्र०—'पुमः खय्यम्परे' पा० 8.3.6)।
39. खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स (द्र०—'खरि च' पा० 8.4.54)।
40. छव्—छ, ठ, थ, च, ट, त (द्र०—'नश्छव्यप्रशान्' 8.3.7)।
41. चय्—च, ट, त, क, प (द्र०—'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः' 8.4.47 वा०)।
42. चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स (द्र०—'अभ्यासे चर्च' पा० 8.4.53)।
43. शर्—श, ष, स (द्र०—'वा शरि' 8.3.36)।
44. शल्—श, ष, स, ह (द्र०—'शल इगुपधादनिटः क्सः' 3.1.45)।

इसमें 'र' प्रत्याहार की कल्पना नवीन वैयाकरणों की है। आचार्य पाणिनि को 'र' प्रत्याहार इष्ट नहीं है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां प्रत्याहारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ
प्रथमाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(1) वृद्धिरादैच् *1* (16)

'वृद्धि' शब्दः संज्ञात्वेन विधीयते प्रत्येकमादैचां वर्णानां सामान्येन तद्भावितानामतद्भाविताना‌ञ्च।

अर्थ—तद्भावित तथा अतद्भावित दोनों प्रकार के आ तथा ऐच् वर्णों की प्रत्येक की सामान्य रूप से वृद्धि संज्ञा होती है।

व्याख्या—तद्भावित का अर्थ है—वृद्धि शब्द से होने वाला। अतद्भावित का अर्थ है—वृद्धि शब्द से न होने वाला अर्थात् स्वतः उत्पन्न। 'आ' का अर्थ है—दीर्घ आकार। 'ऐच्' एक प्रत्याहार है, जो **ऐ** तथा **औ**—इन दो वर्णों की संज्ञा है। आ, ऐ तथा औ—इनमें प्रत्येक वर्ण की वृद्धि संज्ञा होती है। चाहे ये वर्ण तद्भावित हों अथवा अतद्भावित हों।

यह एक संज्ञासूत्र है। संज्ञासूत्र में दो पद होते हैं—एक संज्ञा तथा दूसरा संज्ञी। प्रकृत सूत्र में 'वृद्धि' पद संज्ञा है तथा 'आदैच्' पद संज्ञी है।

तपरकरणमैजर्थं 'तादपि परस्तपरः' इति, खट्वैडका-दिषु त्रिमात्रचतुर्मात्रप्रसङ्गनिवृत्तये। आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः। औपमन्यवः। शालीयः। मालीयः। वृद्धि-प्रदेशाः–'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (7.2.1) इत्येवमादयः।

अर्थ—तपरकरण 'ऐच्' के लिए है। तकार से पर जो होता है, वह भी 'तपर' कहलाता है। खट्वैडकादि में त्रिमात्र व चतुर्मात्र की निवृत्ति के लिए ('ऐच्' को तपर किया गया है)।

व्याख्या—'आदैच्' पद का पदच्छेद करने पर दो पद—आत् तथा ऐच् प्राप्त होते हैं। 'तपरस्तत्कालस्य' परिभाषा के द्वारा तपर वर्ण अपने काल का ही बोधक होता है। 'तपर' की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है—

तः परो यस्मात्। तात्परो यः।

इन व्याख्याओं के आधार पर 'आ' तथा 'ऐच्' दोनों तपर होकर अपने काल के बोधक होंगे। परन्तु आकार का 'अण्' प्रत्याहार से ग्रहण नहीं होता है। तब 'आ' का तपर होना व्यर्थ है। इस दशा में केवल 'ऐच्' को तपर माना जायेगा। 'ऐच्' को तपर करने का फल यह है कि **ऐ** तथा **औ** की ही तात्कालिक (= द्विमात्रिक) वृद्धि संज्ञा होती है तथा त्रिमात्रिक व चतुर्मात्रिक ए, औ की नहीं होती है। यथा—'खट्वा एडका' इस दशा में आकार व एकार के स्थान पर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से ऐकार की प्राप्ति हुई। तब आकार की दो मात्रा तथा एकार की दो मात्रा मिलाकर चतुर्मात्रिक ऐकार होना चाहिए। चूँकि 'वृद्धिरादैच्' के द्वारा द्विमात्रिक 'ऐ' की वृद्धिसंज्ञा है; अतः यहाँ द्विमात्रिक 'ऐ' हो गया तथा चतुर्मात्रिक 'ऐ' की निवृत्ति हो गई।

उदाहरण—(1) आश्वलायनः
अश्वल फक् (नडादिभ्यः फक्)—
आश्वल आयन (आयने०। यस्येति च)—
आश्वल् आयन → आश्वलायन सु—
आश्वलायनः।
यहाँ तद्भावित वृद्धि आकार है।

(2) ऐतिकायनः
इतिक फक् (पूर्ववत्)—
ऐतिक् आयन (वृद्धि, आयन् आदेश, अकारलोप)—
ऐतिकायनः (सु)।

(3) औपगवः
उपगु अण् ('उपगोरपत्यम्' अर्थ में)—
औपगु अ → औपगो अ (ओर्गुणः)—
औपगव सु (एचोऽयवायावः) → औपगवः।

(4) औपमन्यवः
उपमन्यु अण् (पूर्ववत्)—
औपमन्यवः।
ये सभी उदाहरण तद्भावित के हैं।

(5) शालीयः
'शालायां भवः' इस अर्थ में—
शाला ङि अण् (तत्र भवः)—
'शाला' समुदाय की 'वृद्धिर्यस्याचामा०' के द्वारा वृद्धसंज्ञा—
शाला ङि छ (वृद्धाच्छः)—
शाला छ (प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, अंगसंज्ञा)—
अंगाधिकार में 'आयनेयीनी—' से 'ईय्'

शाला ईय् अ (भसंज्ञा, भस्य, यस्येति च)—
शाल् ईय सु—शालीयः।
(6) मालीयः
माला छ—मालीयः (पूर्ववत्)।
ये दो उदाहरण अतद्भावित के हैं।

वृद्धि के प्रयोगस्थल—
'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यादि।

(2) अदेङ्गुणः *2* (17)

'गुण' शब्दः संज्ञात्वेन विधीयते प्रत्येकमदेङां वर्णानां सामान्येन तद्भावितानामतद्भावितानां च। तपरकरणं त्विह सर्वार्थम्। तरिता। चेता। स्तोता। पचन्ति। जयन्ति। अहं पचे। गुणप्रदेशाः–'मिदेर्गुणः' (7.3.82) इत्येवमादयः।

अर्थ—तद्भावित अथवा अतद्भावित ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार की गुण संज्ञा होती है। तपरकरण सभी के लिए है।

व्याख्या—'गुणः' संज्ञा तथा 'अदेङ्' संज्ञी है। 'अदेङ्' में 'अत्' तथा 'एङ्' दो पद हैं तथा दोनों तपर हैं। 'एङ्' प्रत्याहार है जो 'ए' तथा 'ओ' की संज्ञा है। ये तपरपरिभाषा के द्वारा अपने-अपने काल के बोधक हैं। अतः ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार व दीर्घ ओकार की गुणसंज्ञा होती है।

उदाहरण—(1) तरिता
तृ तृच्—तृ तृ (अनुबन्धलोप)—
तृ इट् तृ (आर्धधातुक संज्ञा, वलादिक इट्)—
तर्, इ तृ (सार्वधातुकार्धधातु०। उरण् रपरः)—
तरितृ सु—तरिता।
गुणसंज्ञक तद्भावित ह्रस्व अकार हुआ।
(2) चेता
चिञ् तृच्—चि तृ (पूर्ववत्)—
चेतृ (सार्वधातुकार्धधा०)—
चेतृ सु—चेता।
गुणसंज्ञक तद्भावित दीर्घ एकार हुआ।
(3) स्तोता
स्तु तृच्—स्तोता (पूर्ववत्)।
गुणसंज्ञक तद्भावित दीर्घ ओकार हुआ।
(4) पचन्ति
पच् झि (लट् प्र०पु० बहुव०)—
पच् शप् झि (सार्वधातुक संज्ञा, शप्)—
पच् अ अन्ति (झोऽन्तः)—
पचन्ति (अतो गुणे)।
यहाँ अतद्भावित अकार हुआ है।
(5) जयन्ति
जि झि—झोऽन्तः,
जि शप् अन्ति—कर्त्तरि शप्, अनुबन्धलोप,
जे अ अन्ति—सार्वधातुकार्ध० से गुण,
जय् अ अन्ति—अतो गुणे, अय्।
(6) पचे
पच् इट् (लट्, उ० पु०, एकव०)—
पच् शप् इ (शप्)—
पच् अ ए (टित आत्मनेपदानां०)—
पच ए → पचे (अतो गुणे)।
यहाँ अतद्भावित एकार हुआ है।

गुण के प्रयोग-स्थल—
'मिदेर्गुणः' इत्यादि।

(3) इको गुणवृद्धी *3* (34)

परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते। वृद्धिगुणौ स्वसंज्ञया शिष्यमाणाविक एव स्थाने वेदितव्यौ। वक्ष्यति–'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (7.3.84) अङ्गस्य गुण इति। स इक एव स्थाने वेदितव्यः। तरति। नयति। भवति। वृद्धिः खल्वपि–अकार्षीत्, अहार्षीत्, अचैषीत्, अनैषीत्, अलावीत्, अस्तावीत्।

अर्थ—स्थानी के नियमन के लिए यह परिभाषा है। अनियम के प्रसंग में नियम का विधान किया जा रहा है।

अपनी संज्ञा के द्वारा विधीयमान गुण और वृद्धि 'इक्' के स्थान पर ही होते हैं। यथा—आचार्य कहते हैं—सार्वधातुक व आर्धधातुक के परे रहते अंग को गुण हो। अतः वह 'इक्' के स्थान पर ही होगा।

व्याख्या—यह एक परिभाषासूत्र है। यह स्थानी का नियमन करता है।

अनिय०—गुण और वृद्धिविधायक सूत्रों में जहाँ प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः स्थानी का निर्देश प्राप्त न हो, वहाँ यह सूत्र व्यवस्था करता है।

वृद्धिगुणौ—'वृद्धि हो, गुण हो'—इस प्रकार उच्चारण कर जहाँ वृद्धि अथवा गुण का विधान किया जाता है, वहाँ वे (अर्थात् वृद्धि और गुण) 'इक्' के स्थान पर ही होते हैं। इसे इगन्तलक्षणा गुण वृद्धि कहते हैं। भाव यह है कि जिस स्थल पर 'गुण' वा 'वृद्धि' शब्दों के द्वारा गुण वा वृद्धि का विधान किया गया हो तथा स्थानी का उल्लेख न हो, वहाँ ये आदेश 'इक्' के स्थान पर ही होते हैं अर्थात् वहाँ स्थानी 'इक्' ही होता है। उदाहरण-स्वरूप आचार्य ने 'सार्वधातुकार्कधातुकयोः' के द्वारा सार्वधातुक व आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अंग को गुण का विधान किया है, परन्तु यहाँ स्थानी का निर्देश स्पष्टतः नहीं हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा कहा गया गुण 'इक्' के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण—(1) नयति
नी तिप्—नी शप् ति—
ने अति—नयति।
ईकार (अर्थात् इक्) के स्थान पर गुण हुआ है।

(2) भवति
भू शप् तिप्—भवति।
ऊकार (अर्थात् इक्) के स्थान पर गुण हुआ है।

(3) तरति
तॄ तिप् (लट्)—
तॄ शप् ति—तर् अति—तरति।
'इक्' अर्थात् ऋकार के स्थान पर गुण हुआ है।

(4) अकार्षीत्
कृ तिप् (लुङ्)—
कृ च्लि त् → कृ सिच् त्—
अ कृ स् ई त् (अट्, ईट्)—
अकार्षीत् (सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु)।
ऋ (अर्थात् इक्) के स्थान पर वृद्धि हुई है।

(5) अहार्षीत्
हृ लुङ् (पूर्ववत्)।

(6) अचैषीत्
चि लुङ् → चि तिप्—
अ चि स् ई त् (अट्, सिच्, ईट्)—
अचैषीत्।
इकार (अर्थात् इक्) के स्थान पर वृद्धि हुई है।

(7) अनैषीत्
नी लुङ्—अनैषीत् (पूर्ववत्)।

(8) अस्तावीत्
स्तु लुङ्—अस्तावीत् (पूर्ववत्)।

(9) अलावीत्
लू लुङ्—लू इट् सिच् ईट् त्—
(तिप्, इकारलोप, सिच्, इट्, ईट्)
अ लू इ ई त्—(सिच् लोप)—
अलौ ईत्—अलावीत्।
ऊ (अर्थात् इक्) के स्थान पर वृद्धि हुई है।

गुणवृद्धी (यत्र) स्वसंज्ञया विधीयेते, तत्र इक इति एतदुपस्थितं द्रष्टव्यम्। किं कृतं भवति? द्वितीयया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते (1.46)। *मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्वङ्गेनेग्विशेष्यते* (म० भा०)। जुसि सार्वधातुकादिगुणेष्विकाङ्ग विशेष्यते-मेद्यते, अबिभयुः।

अर्थ—जहाँ गुण व वृद्धि का अपनी संज्ञा के द्वारा विधान होता है, वहाँ 'इक् के स्थान पर हो' ऐसा पद उपस्थित हो जाता है। यह किसलिए होता है?

एक दूसरा षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। मिद्, मृज्, पुगन्त, लघूपध, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र तथा क्षुद्र—इनमें 'अंग' के द्वारा 'इक्' विशेषित होता है। जुस् प्रत्यय परे रहते और सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'इक्' के द्वारा अंग विशेषित होता है। क्रमशः उदाहरण हैं—मेद्यते व अबिभयुः।

व्याख्या—जहाँ 'गुण' व 'वृद्धि' शब्दों के द्वारा विधान होता है, वहाँ वह कार्य 'इक्' के स्थान पर ही होता है।

मिद्, मृज्, पुगन्त, लघूपध, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र तथा क्षुद्र में अंग के द्वारा 'इक्' की विशेषता बताई जाती है।[1] यथा—'मिदेर्गुणः' के द्वारा 'मिद्' अंग को गुण का विधान किया गया है। वह 'इक्' के स्थान पर होता है। तब सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—'मिद्' अंग के 'इक्' को गुण हो; यथा—
मिद् लट्—मिद् त—
मिद् श्यन् त— (दिवादिभ्यः श्यन्) मेद् यत्—मेद्यते (मिदेर्गुणः)।

इसी प्रकार 'मृजेर्वृद्धिः' के द्वारा 'मृज्' अंग को वृद्धि का विधान किया गया है। वह 'इक्' के स्थान पर होगा। अतः सूत्रार्थ बनता है—'मृज्' अंग के 'इक्' के स्थान पर वृद्धि हो।

जुस् प्रत्यय अथवा सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'इक्' के द्वारा अंग की विशेषता बताई गई है।

1. महा० 1.1.3. (वा०)

'जुसि च' के द्वारा 'जुस्' प्रत्यय परे रहते गुण का विधान किया गया है। यहाँ 'इक्' के द्वारा अंग विशेषित है।[1] अतः तदन्त विधि होकर सूत्रार्थ होता है कि 'जुस्' परे रहते इगन्त अंग को गुण होता है। यथा—

भी लङ्—भी झि (प्र० पु०, बहुव०)—
अट् भी जुस् (शप्, श्लु, अट्, जुस्)
द्र०—सिजभ्यस्तविदिभ्यः
अ भी भी उस् (अनुबन्धलोप, द्वित्व)—
अबिभी उस् (अभ्यासकार्य)—
अबिभयुः (जुसि च)।

इसी प्रकार 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा गुण का विधान किया गया है। 'इकः' पद उपस्थित हुआ तथा 'इक्' के द्वारा अंग विशेषित हैं। अतः सूत्रार्थ होता है—सार्वधातुक व आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अंग को गुण होता है।

इक इति किम्? *आत्सन्ध्यक्षरव्यञ्जनानां मा भूत्* (म०भा० 1)–यानम्, ग्लायति, उम्भिता। पुनर्गुणवृद्धि-ग्रहणं स्वसंज्ञया विधाने नियमार्थम्। इह मा भूत्–द्यौः, पन्थाः, सः, इममिति।

इकः—(शंका) 'इकः' अर्थात् 'इक्' के स्थान पर हो—ऐसा क्यों कहा गया है?

(समा०) 'इकः' पद का प्रयोजन है कि आकार, सन्ध्यक्षर अथवा हल् वर्णों के स्थान पर गुण व वृद्धि न हों। इन स्थलों पर गुण व वृद्धि के बाध के लिए 'इकः' पद की आवश्यकता होती है। यथा—

या ल्युट्—या अन—
यान सु—यानम् (गुण प्राप्त हुआ। सूत्र में 'इकः' पद का योग होने से वह इक् वर्ण से भिन्न अर्थात् 'आ' के स्थान पर नहीं हुआ। अन्यथा गुण होकर 'यनम्' अनिष्ट रूप बन जाता)।

ग्लै तिप् (लट्)—
ग्लै शप् तिप् (सार्वधातुक गुण प्राप्त हुआ, जो सन्ध्यक्षर 'ऐ' के स्थान पर होना चाहिए; परन्तु सूत्र में 'इकः' पद का योग है। अतः सन्ध्यक्षर के स्थान पर गुण नहीं हुआ)।

ग्लाय् अति—ग्लायति।
उम्भ् तृच्—उम्भ् इट् तृ (इट्)—
उम्भितृ सु—उम्भिता (ओष्ठ्यस्थानिक भकार के स्थान पर गुण 'ओकार' प्राप्त हुआ। 'इक्' के स्थान पर ही होना चाहिए। अतः हल् 'भकार' के स्थान पर गुण नहीं हुआ)।

1. महा० 1.1.3. (वा०)

पुनर्गुण०—(शंका) प्रकृत सूत्र में 'वृद्धिरादैच्' से 'वृद्धि' पद तथा 'अदेङ् गुणः' से 'गुण' पद का अनुवर्त्तन प्राप्त होने पर भी पुनः 'गुणवृद्धी' पद के योग की क्या आवश्यकता है?

(समा०) प्रकृत सूत्र में पुनः 'गुणवृद्धी' पद के उच्चारण का प्रयोजन है कि 'गुण' तथा 'वृद्धि' पद के द्वारा जहाँ गुण व वृद्धि का विधान किया जाता है, वह 'इक्' के स्थान पर ही हो; अन्य के स्थान पर न हो। यथा—

(1) 'दिव औत्' सूत्र के द्वारा 'औ' का विधान किया जा रहा है, जो वृद्धिसञ्ज्ञक वर्ण है (द्र०—वृद्धिरादैच्) चूँकि यहाँ 'औ' का विधान है तथा 'वृद्धिः' इस प्रकार साक्षात् वृद्धिकार्य का विधान नहीं है। अतः यह 'औ' इक् के स्थान पर नहीं होगा। अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य वर्ण अर्थात् वकार के स्थान पर ही होगा—

दिव् सु—दि औ स्—द्यौस् (इको यणचि)—
द्यौः।

(2) पथिन् सु—पथि आ स्—
('पथिमथ्यृभुक्षामात्' से आकार आदेश प्रसक्त हुआ, जो वृद्धि-संज्ञक वर्ण है, परन्तु 'वृद्धिः स्यात्' इस प्रकार साक्षात् वृद्धि आदेश का विधान न होने से यह आकार आदेश इक् के स्थान पर नहीं होता है, अपितु अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य वर्ण (नकार) के स्थान पर हुआ)।

पन्थ आ स् (इतोऽत् सर्व०। थो न्थः—)
पन्थाः (अकः सवर्णे दीर्घः)।

(3) तद् सु—त अ स्—
('त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश प्रसक्त हुआ, जो गुणसंज्ञक तो है, परन्तु यहाँ 'गुणः' इस प्रकार उच्चारण कर गुणादेश का विधान नहीं किया गया है। इस सूत्र के द्वारा होने वाला गुणसंज्ञक अकार इग्लक्षण नहीं है। तब अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य वर्ण को हुआ)

त स्—स स् (अतो गुणे, तदोः स०)—
सः।

(4) न धातुलोप आर्धधातुके *4* (2656)

धात्वेकदेशो धातुः, तस्य लोपो यस्मिन्नार्धधातुके तदार्ध-धातुकं धातुलोपं तत्र ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः (म०भा०)। लोलूयादिभ्यो यङन्तेभ्यः पचाद्यचि (3.1.134) विहिते 'यङोऽचि च'

(2.4.74) इति यङो लुकि कृते तमेवाचमाश्रित्य ये गुणवृद्धी प्राप्ते तयोः प्रतिषेधः ।

अर्थ—धातु का एकदेश 'धातु' कहलाता है। जिस आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते जो धात्वेकदेश का लोप होता है, उसे 'धातुलोप' कहते हैं। धातुलोप के विषय में पूर्वोक्त इग्लक्षण गुण व वृद्धि आदेश नहीं होते हैं।

यथा—लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः ।

लोलूय आदि यङ्प्रत्ययान्त शब्दों से पचादि अच् होने पर 'यङोऽचि च' के द्वारा यङ् का लुक् कर देने पर उस अच् को निमित्त मानकर प्राप्त गुण व वृद्धि का प्रतिषेध हो गया।

व्याख्या—सूत्रस्थ 'आर्धधातुके' पद में निमित्त सप्तमी है। 'लोपे' पद विशेष्य तथा 'आर्धधातुके' पद विशेषण है। 'धातु' पद 'धात्वंश' के अर्थ में लाक्षणिक है। यदि 'धातुलोपे' का अर्थ 'धातु का लोप' ऐसा किया जाये तो स्थानी के न रहने से गुण व वृद्धि की उपस्थिति नहीं होगी। अतः 'धातु' पद को धात्वंश के अर्थ में लाक्षणिक माना गया है।

भाव यह है कि जिस आर्धधातुक को निमित्त मानकर धातु के अवयव का लोप हुआ हो, उसी आर्धधातुक को निमित्त मानकर (इग्लक्षण) गुण व वृद्धि नहीं होते हैं।

उदा०—(1) लूञ् (धातुसंज्ञा)
लू यङ्—लू लूय (धातोरेकाचो हलादेः—)
द्वित्व आदि (सन्यङोः, सनाद्यन्ता धातवः)—
लोलूय अच् (गुण, नन्दिग्रहिपचा०)—
लोलू अ (यङोऽचि च)—
आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, गुण का प्रतिषेध—
लोलुव् अ सु—लोलुवः ।
उवङ्, सु ।
(2) पूञ् यङ्—
पोपूय (पूर्ववत्)—
पोपुवः (पूर्ववत्) ।
(3) मृज् यङ्—
मृज् मृज् य—मृ मृज् य (द्वित्व, हलादि शेष)—
मर् मृज् य—ममृज् य (अभ्यास को 'अत्')—
मरीमृज्य—मरीमृज् (रीगृदुपधस्य च, यङोऽचि च)—
मरीमृज् अ—मरीमृजः ।
प्राप्त वृद्धि का निषेध, सु ।

धातुग्रहणं किम्? लूञ्-लविता। (धा०तु० 1483) रेडसि। (वा०सं० 6.18) पर्णं नयेः (ऋ० 4.403)। अनुबन्धप्रत्ययलोपे मा भूत्। रिषेर्हिंसार्थस्य (धा०पा० 694) विच्प्रत्ययलोप उदाहरणं रेडिति (वा०सं० 6. 18)। आर्धधातुके इति किम्? 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (ऋ० 4.5.83)। सार्वधातुके मा भूत्। इक इत्येव-अभाजि, रागः। बहुव्रीहिसमाश्रयणं किम्? क्नोपयति, प्रेद्धम्।

अर्थ—(प्रस्तुत सूत्र में) 'धातु' पद का ग्रहण किसलिए है?

(समा०) ताकि अनुबन्ध अथवा प्रत्यय का लोप होने पर सूत्रोक्त प्रतिषेध न हो। यथा—लविता, रेडसि।

हिंसार्थक रिष् धातु से 'विच्' प्रत्यय का लोप होकर 'रेड्' बनता है।

(शङ्का०) 'आर्धधातुके' पद का प्रयोजन क्या है?

(समा०) ताकि सार्वधातुक को निमित्त मानकर यह प्रतिषेध न हो। यथा—'रोरवीति' में सार्वधातुक प्रत्यय परे है। अतः प्राप्त गुण का निषेध नहीं हुआ।

'इक्' के स्थान पर ही हो, अन्यत्र न हो। यथा—अभाजि, रागः।

'धातुलोपे' में बहुव्रीहि समास का प्रयोजन क्या है?

(समा०) ताकि 'क्नोपयति' व 'प्रेद्धम्' में (सूत्रोक्त) निषेध न हो।

व्याख्या (धातु)—(शङ्का) प्रस्तुत सूत्र में 'धातु' पद के पाठ का क्या प्रयोजन है।

(समा०) 'धातु' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि **धातु के एकदेश का लोप होने पर ही** प्राप्त गुण अथवा वृद्धि का निषेध होता है, अन्य दशा में नही।

लूञ्—लू तृच् (अनुबन्ध लोप, ण्वुल्तृचौ)—
लू इट् तृ—लो इ तृ (आर्धधातुक इट्, सार्वधातु-कार्धधातु०)—
लवितृ सु—लविता।
यहाँ अनुबन्ध (ञकार) का लोप हुआ है। धात्वंश का लोप न होने से आर्धधातुक गुण का निषेध नहीं हुआ।

इसी प्रकार—रिष् विच् (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)
रिष् व् (उपदेशेऽजनु०, हलन्त्यम्)—
रिष् (वेरपृक्तस्य)—
रेष् सु → रेष् → रेड्। (सु, लोप, झलां जशोऽन्ते)

यहाँ 'व्' प्रत्यय का लोप हुआ है, धात्वेकदेश का नहीं; अतः सूत्र के द्वारा उक्त निषेध नहीं हुआ।

नी विधिलिङ् → नी सिप्—
नी शप् यासुट् सिप्—ने अयास् स—
नय् अ ई य् स् → नयेस् → नयेः।

यहाँ प्रत्यय का लोप हुआ है, धात्वंश का नहीं। अतः सूत्रोक्त गुणनिषेध नहीं हुआ।

आर्धधातुके—(शङ्का) **आर्धधातुके** अर्थात् आर्धधातुक परे रहते गुण वा वृद्धि का निषेध होता है—ऐसा किसलिए कहा गया है ?

(समा०) यह इसलिए कहा गया है ताकि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते उक्त निषेध न हो। यथा—

रु यङ् (धातोरेकाचो०)—
रु रु य (सन्यङोः)—
रोरुय (गुणो यङ्लुकोः, धातुसंज्ञा)—
रो रु य ति → रो रु ति (यङोऽचि च)
रो रु अ ति → रो रु अ ईट् ति (यङो वा)—

यहाँ धात्वंश (य) का लोप सार्वधातुक प्रत्यय (ति) परे रहते हुआ है। चूँकि धात्वंशलोप का निमित्त आर्धधातुक नहीं है; अतः प्राप्त गुण का निषेध नहीं हुआ।

रो रो ई ति—रोरवीति (अदिप्रभृतिभ्यः शपः)।

इकः—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा होने वाला निषेध इग्लक्षण गुण वा वृद्धि के स्थान पर ही होता है, अन्यत्र नहीं। यथा—

भञ्ज् लुङ्—अट् भञ्ज् त—
(अट, भावकर्मणोः)
अ भञ्ज् च्लि त—अ भञ्ज् चिण् त—
(च्लि, चिण्भावकर्मणोः)
अ भञ्ज् चिण् (चिणो लुक्, भञ्जेश्चिणि)—
अ भाज् चिण्—अभाज् इ (अत उपधाया, चुटू, हलन्त्यम्)—
अभाजि।

यहाँ 'चिण्' को निमित्त मानकर धात्वंश (ञकार) का लोप हुआ है। 'चिण्' को निमित्त मानकर अकार को वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। चूँकि वृद्धि आदेश 'इक्' के स्थान पर प्राप्त नहीं है; अतः निषेध नहीं हुआ।

इसी प्रकार—रञ्ज् घञ् (भावे)

रज् अ (घञि च भावकर्मणोः, लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्)—
राज् अ (अत उपधायाः)

'घञ्' को निमित्त मानकर धात्वंश (ञकार) का लोप हुआ है। इसी को निमित्त मानकर उपधा को वृद्धि आदेश प्राप्त होता है, परन्तु यह वृद्धि इग्लक्षणा नहीं है। तब सूत्र के द्वारा प्राप्त निषेध नहीं हुआ।

राग सु—रागः (चजोः कु घिण्ण्यतोः)

बहुव्रीहि—प्रकृत सूत्र में बहुव्रीहि समास का आश्रय इसलिए किया गया है कि **जिस आर्धधातुक** को मानकर धात्वेकदेश का लोप होता है, उसी **आर्धधातुक** प्रत्यय को निमित्त मानकर प्राप्त इग्लक्षण गुण वा वृद्धि का निषेध होता है। यथा—

क्नूयी णिच्। (हेतुमति च, धातुसंज्ञा, तिप्)—
क्नूय् इ ति → क्नू पुक् इ ति (अर्तिह्री०)—
क्नूप् इ ति—क्नू प् इ अ ति (शप्)—
क्नूप् ए अ ति—क्नोपयति (पुगन्तलघू०)।

यहाँ धात्वंश (यकार) का लोप हुआ है। इसका 'लोपो व्योर्वलि' से लोप हुआ है। इग्लक्षण गुण (ओकार) 'पुगन्तलघूपधस्य' से हुआ है। चूँकि धात्वंशलोप तथा गुण के निमित्त भिन्न-भिन्न हैं; अतः इग्लक्षण गुण का निषेध नहीं हुआ।

प्र इन्धी क्त → प्र इध् त (अनिदितां—)
प्र इ ध् त
प्र इ द् ध (झषस्तथो०, झलां जश् झशि)—
प्रेद्ध सु → प्रेद्धः।

यहाँ धात्वंश (नकार) का लोप 'अनिदितां—' से हुआ है। आद् गुणः' से गुण हुआ है, परन्तु दोनों के निमित्त भिन्न हैं। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित निषेध नहीं हुआ।

विशेष—आचार्य पाणिनि ने सप्तमी विभक्ति का त्रिविध प्रयोग किया है—

(क) निमित्तसप्तमी—जिस पद में निमित्तसप्तमी होती है, उस पद का अर्थ होता है—अमुक को निमित्त मानकर अमुक कार्य होता है। प्रकृत सूत्रस्थ 'आर्धधातुके' पद में निमित्त सप्तमी है। इसी प्रकार 'क्क्ङति च' में निमित्तसप्तमी है।

निमित्तसप्तमी में निमित्त मानकर कार्य होता है। इस दशा में प्रत्यय तथा जिसमें कार्य होता है—इन दोनों की व्यवधान-रहितता अपेक्षित नहीं है अर्थात् दोनों के मध्य व्यवधान होने पर भी कार्य अवश्य होगा। निमित्तसप्तमी में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(ख) परसप्तमी—जिस पद में परसप्तमी होती है, उसका अर्थ होता है—अमुक के परे रहते अमुक कार्य हो। यहाँ 'तस्मिन्निति

निर्दिष्टे—' परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अतः जो कार्य किया जाता है, प्रत्यय के परे रहते अव्यवहित पूर्व के स्थान पर वह कार्य होता है। यथा—'इको यणचि' सूत्रस्थ 'अचि' पद में परसप्तमी है।

(ग) विषयसप्तमी—जिस पद में विषयसप्तमी होती है, उस पद का अर्थ होता है—अमुक के विषय में अमुक कार्य होता है। यथा—

संहितायाम्। आर्धधातुके।

(5) क्क्ङिति च *5* (2217)

निमित्तसप्तम्येषा। क्क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः (म०भा०)। चितः, चितवान्। स्तुतः, स्तुतवान्। भिन्नः, भिन्नवान्। मृष्टः, मृष्टवान्। ङिति खल्वपि-चिनुतः, चिन्वन्ति। मृष्टः, मृजन्ति।

अर्थ—यहाँ निमित्तसप्तमी है। कित्, गित् व ङित् को निमित्त मानकर जो गुण वा वृद्धि आदेश प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते हैं। कित् में—चितः, चितवान्, भिन्नः, भिन्नवान्, मृष्टः मृष्टवान्। ङित् में—चिनुतः, चिन्वन्ति, मृष्टः, मृजन्ति।

व्याख्या—'क्क्ङिति' पद में निमित्तसप्तमी है। कित्, गित् व ङित् प्रत्ययों को निमित्त मानकर 'इक्' के स्थान पर जो गुण वा वृद्धि आदेश प्राप्त होते हैं, वे न हों। यथा—

(1) चि क्त → चि त सु—चितः
'त' की आर्धधातुक संज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का निषेध।

(2) चि क्तवतु—चितवान् (पूर्ववत्)।

(3) स्तुतः
स्तु क्त—लशक्वत०,
स्तु त—प्राप्त गुण का निषेध, सु।

(4) स्तुतवान्
स्तु क्तवतु—पूर्ववत्।

(5) भिद् क्त → भिद् त—
भिन्न सु → भिन्नः (रदाभ्यां निष्ठातो—)
'पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का निषेध।

(6) भिद् क्तवतु—भिन्नवान् (पूर्ववत्)।

(7) मृज् क्त → मृष् त (व्रश्चभ्रस्ज—)
मृष्ट सु → मृष्टः (ष्टुना ष्टुः, सु)।

(8) मृज् क्तवतु → मृष्टवान् (पूर्ववत्)।

(9) चि लट्—चि तस् (प्र० पु० द्विव०)—
चि श्नु तस् → चिनुतस् (स्वादिभ्यः श्नुः)—
'श्नु' को 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हुआ। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध। चिनुतः।

(10) चि झि → चिश्नु अन्ति → चिन्वन्ति (झोऽन्तः। पूर्ववत्)।

(11) मृज् लट् → मृज् तस् → मृष् तस्—
मृष्टः (पूर्ववत् ङिद्वत्, गुणनिषेध)।

10. मृज् झि → मृजन्ति (पूर्ववत्)।

गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते। 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' (3.2.139) जिष्णुः, भूष्णुः। इक इत्येव-कामयते, लैगवायनः (म०भा०)। *मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते।* (म०भा० 1.48) संक्रमो नाम गुणवृद्धि-प्रतिषेधविषयः। परिमृजन्ति, परिमार्ज्जन्ति, परिमृजन्तु। परिमार्ज्जन्तु। लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेधः। अचिनवम-सुनवमित्यादौ लकारस्य सत्यपि ङित्त्वे यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापकम्-ङिति यत्कार्यं तल्लकारे 'ङिति न भवति' इति।

अर्थ—यहाँ चर्त्वभूत गकार का प्रश्लेष है। (इसका फल है कि) 'ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः' से (12) 'जिष्णुः' व (13) 'भूष्णुः' होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा गुणनिषेध होता है। यथा (14) कामयते, (15) लैगवायनः।

मृज् धातु को अजादि प्रत्यय के संक्रम में विकल्प से वृद्धि इष्ट है। संक्रम का अर्थ है—गुण, वृद्धि का निषेध। यथा—

(16) परिमृजन्ति, (17) परिमार्ज्जन्ति। (18) परिमृजन्तु, (19) परिमार्ज्जन्तु।

यहाँ लघूपध गुण का भी प्रतिषेध किया गया है। 'अचिनवम्' तथा 'असुनवम्' इत्यादि में लकार के ङित् होने पर भी यासुट् को ङित् करने से ज्ञापित होता है कि ङित् प्रत्यय के परे रहते जो कार्य होता है, वह ङित् लकार परे रहते प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या (गकारो)—यहाँ 'क्क्ङिति' पद में चर्त्व को प्राप्त गकार का प्रश्लेष भी निर्दिष्ट है। यथा—'ग् क् ङ्' इस दशा में 'खरि च' से चर्त्व (ककार) होकर 'क्क्ङ्' बना। कुछ विद्वान् 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासि०' से पाक्षिक ङकार कर (क् ङ् ङ्) प्रथम ङकार का लोप (द्र०—हलो यमां यमि०) करते हैं। इस प्रकार सूत्र का स्वरूप एक ककारवान् (क्ङिति च) रह जाता है। सूत्र में गकार के प्रश्लेष का प्रयोजन है कि 'जिष्णुः' में गित् (ग्स्नु)

प्रत्यय परे रहने पर गुणनिषेध हो गया। इसमें 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' से 'ग्स्नु' प्रत्यय हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'ग्स्नु' के स्थान पर 'क्स्नु' मान लिया जाय; परन्तु ऐसा मानने में दोष है कि 'स्थास्नु' की दशा में 'घुमास्थागापाजहाति०' के द्वारा ईकार नहीं होता है। यह सूत्र कित् प्रत्यय परे रहते ईकार करता है तथा गित् परे रहते नहीं।

इकः—प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित निषेध इग्लक्षण गुण वा वृद्धि का ही होता है। यथा—

कम् णिङ् (कमेर्णिङ्)—
काम् इ (अत उपधायाः, धातुसंज्ञा)—
कामि त—कामि शप् त—
कामे अ त—कामय् अ त (सार्वधातुकार्धधातुकयोः)-
कामयते (टित आत्मनेपदानां टेरे)।

यहाँ 'अत उपधायाः' के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई, जिसका 'क्ङिति च' से निषेध प्राप्त हुआ। चूँकि यह वृद्धि इग्लक्षण नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से विहित निषेध नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'लैगवायनः' के विषय में भी जानना चाहिए।

मृजे—गुण-वृद्धि के निषेध को 'संक्रम' कहते हैं। अजादि प्रत्यय के परे रहते प्राप्त गुण-वृद्धि का निषेध मृज् को विकल्प से होता है। यथा—

परि मृज् लट्—परि मृज् झि (प्र० पु० बहुव०)—
परिमृज् अन्ति (झोऽन्तः)—
परिमृजन्ति (वृद्धि का निषेध हो गया)।
परिमार्ज्जन्ति (वृद्धिनिषेध पाक्षिक)।
परि मृज् झि → परिमृजन्तु
(लोट्, झि, अन्त आदेश, उत्व, गुणनिषेध)।
परिमार्ज्जन्तु।
(पक्ष में वृद्धिनिषेध का अभाव)।

लघूपध—लघूपधगुण का भी प्रतिषेध होता है। लट् आदि दश लकारों में लङ्, लिङ् लुङ् तथा लृङ्—ये चार लकार ङित् हैं, परन्तु इन लकारों में 'क्ङिति च' के द्वारा गुण-वृद्धि का निषेध नहीं होता है। इसमें आचार्य पाणिनि का 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' सूत्र ज्ञापक है। इसके द्वारा विधिलिङ् में 'यासुट्' आगम को ङित् किया गया है। लिङ् स्वतः ङित् है। अतः गुण-वृद्धि का निषेध प्राप्त ही था। पुनः यासुट् को ङित् करने से ज्ञापित होता है कि लकार के ङित् होने पर यथाप्राप्त गुण वा वृद्धि का निषेध नहीं होता है। यथा—

चि लङ्—चि मिप् (उ०पु० एकव०)—
अ चि अम् (अट्, तस्थस्थमिपां०)—
अचि श्नु अम् (स्वादिभ्यः श्नुः)—
अचिनवम्।

चूँकि लङ् ङित् लकार है। अतः यहाँ 'क्ङिति च' के द्वारा गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) का निषेध प्राप्त हुआ। यासुट् को ङित् करने से प्राप्त ज्ञापक का फल है कि यहाँ गुणनिषेध न हो।

इसी प्रकार 'असुनवम्' के विषय में भी जानना चाहिए।

(6) दीधीवेवीटाम् *6* (2190)

दीधीवेव्योरिटश्च ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। आदीध्यनम्, आदीध्यकः। आवेव्यनम्, आवेव्यकः। इटः खल्वपि-श्वः कणिता, श्वः रणिता।

अर्थ—दीधी, वेवी और इट् के 'इक्' के स्थान पर विहित गुण व वृद्धि आदेश नहीं होते हैं।

व्याख्या—'दीधी' तथा 'वेवी' धातु छान्दस हैं। इन दोनों का पाठ अदादिगण में प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'इटाम्' पद के द्वारा 'इट्' के गुण व वृद्धि दोनों आदेशों का प्रतिषेध अनुवृत्तिवशात् प्राप्त होता है, परन्तु 'इट्' को वृद्धि आदेश सम्भव न होने से 'इट्' के लघूपधगुण का ही यहाँ प्रतिषेध जानना चाहिए।

उदा० (1) आदीध्यनम्
आङ् पूर्वक दीधीङ् से ल्युट् हुआ,
आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध, 'एरनेकाचो०' से यण,
आदीध्य् अन,
आदीध्यन सु—आदीध्यनम् (सुबुत्पत्ति)।

(2) आदीध्यकः
आङ् दीधीङ् ण्वुल्—ण्वुल् प्रत्यय,
आ दीधी अक — युवोरनाकौ
प्राप्त वृद्धि का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध, पूर्ववत् यण,
आदीध्य् अक—आदीध्यकः (सु)।

(3) आवेव्यनम्
आङ् वेवीङ् ल्युट् — पूर्ववत्,
आ वे व् य् अन — पूर्ववत् गुणनिषेध, यण,
आवेव्यनम् (सु)।

(4) आवेव्यकः
आङ् वेवीङ् ण्वुल्—पूर्ववत्,
प्राप्त वृद्धि का निषेध, यण, सु।

(5) कणिता
कण् इट् ता — इट् आया,

प्राप्त गुण का निषेध,
कणिता श्वः।

(6) इसी प्रकार—रणिता श्वः।

वृद्धिरिटो न सम्भवतीति लघूपधगुणस्यात्र प्रतिषेधः।

व्याख्या—चूँकि 'इट्' के सम्बन्ध में वृद्धि सम्भव नहीं है; अतः यहाँ केवल लघूपधगुण का ही प्रतिषेध होता है।

(7) हलोऽनन्तराः संयोगः *7* (30)

भिन्नजातीयैरज्भिरव्यवहिताः श्लिष्टोच्चारिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्ति। समुदायः संज्ञी। जातौ चेदं बहुवचनम्, तेन द्वयोर्बहूनां च संयोगसंज्ञा सिद्धा भवति। अग्निरिति ग-नौ। अश्व इति श-वौ। कर्ण इति र-णौ। इन्द्रश्चन्द्रो मन्द्र इति न-द-राः। उष्ट्रो राष्ट्रं भ्राष्ट्रमिति ष-ट-राः। तिलान् स्त्र्यावपतीति न-स-त-र-या न-त-स-त-र-याः वा।

अर्थ—भिन्न जाति वाले अचों के व्यवधान से रहित श्लिष्ट रूप से उच्चारित हलों की संयोग संज्ञा होती है।

व्याख्या—'अनन्तराः' का अर्थ है—व्यवधानरहित। व्यवधान सदा भिन्न जाति वालों का होता है। अतः वृत्ति में कहा गया है—भिन्नजातीयैः। हल् से भिन्न 'अच्' ही होता है।

यहाँ 'संयोग' संज्ञा है तथा 'समुदाय' संज्ञी है। 'हलः' पद में जाति की विवक्षा में बहुवचन का प्रयोग है। अतः दो या अधिक वर्णों की संयोग संज्ञा होती है। सार यह है कि एक-एक हल् की संयोग संज्ञा न होकर श्लिष्ट रूप से उच्चारित तथा अच् वर्णों के व्यवधान से रहित हल् समुदाय की संयोग संज्ञा होती है।

उदा० (1) अग्निः
यहाँ गकार व नकार के मध्य अच् का व्यवधान नहीं है। अतः 'ग्न्' इस सम्पूर्ण हल् समुदाय की संयोग संज्ञा होती है।

(2) अश्वः
यहाँ 'श्व्' इस समुदाय की संयोग संज्ञा है।

(3) कर्णः
यहाँ 'र्ण्' इस समुदाय की संयोग संज्ञा है।
इन्द्रश्चन्द्रो मन्द्रः
यहाँ 'न्द्र्' इस समुदाय की संयोग संज्ञा है।

(4) उष्ट्रः, राष्ट्रम्, भ्राष्ट्रम्
यहाँ 'ष् ट् र्' इस समुदाय की संयोग संज्ञा है।

(5) तिलान्स्त्र्यावपति
यहाँ 'न् स् त् र् य्' इस समुदाय की संयोग संज्ञा है।
अथवा 'धुट्' आगम की दशा में (तिलान्त्स्त्र्यावयति)
'न् त् स् त् र् य्' समुदाय की संयोग संज्ञा है।

हल इति किम्? तितउच्छत्रम् (नि० 4.9.10)? 'संयोगान्तस्य लोपः' (8.2.23) इति लोपः स्यात्। अनन्तरा इति किम्? पचति। पनसम्। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (8.2.29) इति लोपः स्यात्। संयोगप्रदेशाः–'संयोगान्तस्य लोप' (8.2.23) इत्येवमादयः।

व्याख्या—(क) सूत्र में 'हलः' पद का फल है कि हल् समुदाय की ही संयोग संज्ञा होती है, अन्य की नहीं, यथा—
तितउच्छत्रम्—यहाँ तकारोत्तरवर्ती अकार तथा उकार के मध्य भिन्नजातीय (अर्थात् हल्) का व्यवधान नहीं है तथा इन दोनों का श्लिष्ट उच्चारण भी प्राप्त है; अतः 'अ उ' इस समुदाय की संयोग संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु यह हल् समुदाय नहीं है। अतः इसकी संयोग संज्ञा नहीं होती है। यदि इसकी संयोग संज्ञा करते हैं तो संयोगान्तलोप (उकार का लोप) प्राप्त होकर अनिष्ट रूप बनता है।

(ख) सूत्र में 'अनन्तराः' पद का फल है कि **व्यवधानरहित** हल् समुदाय की संयोग संज्ञा होती है। यथा—
'पचति पनसम्' यहाँ 'स्' तथा 'म्' के मध्य अकार का व्यवधान है। अतः 'स्म्' समुदाय की संयोग संज्ञा नहीं होती है। यदि सूत्र में 'अनन्तराः' पद का योग न होता तो यहाँ संयोग संज्ञा होकर 'स्कोः संयोगाद्यो०' के द्वारा संयोगादि सकार का लोप होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। संयोग संज्ञा का फल है—
संयोगान्तस्य लोपः, स्कोः संयोगा० इत्यादि।

(8) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः *8* (9)

मुखसहिता नासिका मुखनासिका, तया य उच्चार्यते वर्णः सोऽनुनासिकसंज्ञो भवति। 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (6. 1.126) 'अभ्र आँ अपः' (ऋ० 8.48.1)। 'गभीर आँ उग्रपुत्रे' (ऋ० 8.67.11)। च न आँ इन्द्रः।

अर्थ—मुखसहित जो नासिका, उसके द्वारा उच्चारित वर्ण की अनुनासिक संज्ञा होती है।

व्याख्या—जिस वर्ण का उच्चारण मुख व नासिका—इन दोनों के द्वारा होता है, उसकी अनुनासिक संज्ञा होती है। 'मुखनासिका०' पद में दो समास माने जा सकते हैं—

(क) तृतीया तत्पुरुष—मुखेन सहिता नासिका-मुखसहिता नासिका। अब 'शाकपार्थिवादीनां०' के द्वारा समास होता है।

(ख) द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि—मुखं च नासिका च, ईषद् वचनमावचनम्-मुखनासिकम् आवचनं यस्य—मुखनासिकावचनः। यहाँ द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास हुआ।

उदा० (1) अभ्र आँ अपः
यहाँ मुख और नासिका के द्वारा उच्चारित होने से 'आँ' की अनुनासिक संज्ञा हुई।

(2) गभीर आँ उग्रपुत्रे
पूर्ववत् 'आँ' की अनुनासिक संज्ञा हुई।

(3) च न आँ इन्द्रः (पूर्ववत्)।

मुखग्रहणं किम्? अनुस्वारस्यैव हि स्यात्। नासिकाग्रहणं किम्? कचटतपानां मा भूत्। अनुनासिकप्रदेशाः–'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (6.1.126) इत्येवमादयः।

व्याख्या—(क) सूत्र में 'मुख' पद के ग्रहण का फल है कि **मुखसहित** नासिका के द्वारा उच्चारित वर्ण की अनुनासिक संज्ञा होती है। अनुस्वार का उच्चारण केवल नासिका से होता है। इसके उच्चारण में मुख की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अतः अनुस्वार की ही अनुनासिक संज्ञा हो सकेगी, अन्य (ङ, ञ, ण आदि) की यह संज्ञा नहीं हो सकेगी।

(ख) 'नासिका' पद के ग्रहण का फल है कि मुखसहित **नासिका** से जिसका उच्चारण हो तथा केवल मुख से उच्चारण न हो, उस वर्ण की अनुनासिक संज्ञा होती है। चूँकि क्, च्, ट्, त्, प्—इन वर्णों के उच्चारण में मुख की आवश्यकता होती है, नासिका की नहीं। अतः इनकी अनुनासिक संज्ञा नहीं होती।

अनुनासिक संज्ञा के फल हैं—
आङोऽनुनासिकश्छन्दसि—इत्यादि।

(9) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् *9* (10)

तुल्यशब्दः सदृशपर्यायः, आस्ये भवमास्यं ताल्वादि-स्थानं, प्रयतनं प्रयत्नः स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः। तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य वर्णस्य येन वर्णेन सह, स समानजातीयं प्रति सवर्णसंज्ञो भवति। चत्वार आभ्यन्तराः प्रयत्नाः सवर्ण-संज्ञायामाश्रीयन्ते–स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, संवृतता, विवृतता चेति।

अर्थ—जिन वर्णों के (ताल्वादि) उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न दोनों एक समान हों, उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है।

व्याख्या—'तुल्य' शब्द सदृशार्थक है। आस्ये भवम् आस्यम् अर्थात् मुख में होने वाले को 'आस्य' कहते हैं। इस प्रकार 'आस्य' का अर्थ हुआ—ताल्वादि उच्चारण स्थान।

उत्कृष्ट यत्न को 'प्रयत्न' कहा जाता है। वर्ण के उच्चारण के समय जो यत्न करना पड़ता है, उसे ही प्रयत्न कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। वर्ण की उत्पत्ति में आभ्यन्तर प्रयत्न का विशेष योगदान होता है। अतः बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर प्रयत्न श्रेष्ठ कहा गया है। इसी दृष्टि से सूत्रार्थ करते समय 'प्रयत्न' पद का अर्थ 'आभ्यन्तर प्रयत्न' किया गया है।

आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है—

(क) स्पृष्ट—वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वा तत्-तत् स्थान का स्पर्श करती है, जिससे उस वर्ण का उच्चारण होता है। इसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। 'क्' से 'म्' तक पच्चीस वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है तथा ये वर्ण 'स्पर्श' कहलाते हैं।

(ख) ईषत् स्पृष्ट—कई बार जीभ किसी वर्ण का उच्चारण करते समय उसके उच्चारण स्थान का आंशिक स्पर्श करती है। इसे ईषत्स्पृष्ट कहते हैं। अन्तःस्थ वर्णों (य्, र्, ल्, व्) का प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है।

(ग) संवृत—ह्रस्व अकार का प्रयोग काल में संवृत प्रयत्न होता है, परन्तु प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न होता है।

(घ) विवृत—जिस वर्ण का उच्चारण करते समय जिह्वा तत्-तत् उच्चारण स्थान का स्पर्श बिल्कुल नहीं करती है, उस वर्ण का विवृत प्रयत्न कहा गया है। इसमें कण्ठ खुला रहता है। अकार को छोड़कर सभी अच् वर्णों का विवृत प्रयत्न है।

उपर्युक्त चार के अतिरिक्त एक 'ईषद् विवृत' प्रयत्न भी होता है। इसमें कण्ठ आंशिक रूप से खुला रहता है। ऊष्म वर्णों (श्, ष्, स्, ह्) का ईषद्विवृत प्रयत्न होता है।

विशेष—वर्ण की उत्पत्ति के समय या तो वायु मुख में किसी स्थान पर टकराती है अथवा जिह्वा मुख के किसी भाग का स्पर्श करती है। वर्ण की उत्पत्ति में मुख के जिस भाग का सहयोग होता है, वह उस वर्ण का उच्चारण स्थान कहलाता है।

किसी कार्य की सिद्धि में जिस वस्तु का अत्यधिक उपयोग होता है, वह करण कहलाता है। यथा—साधकतमं करणम्। वर्णों की उत्पत्ति में जीभ का अत्यधिक उपयोग होता है। अतः यहाँ जिह्वा ही करण है; परन्तु पवर्गीय वर्णों में जीभ का कोई उपयोग नहीं होता है। इनके उच्चारण में निचला होठ ही जीभ का कार्य करता है।

उच्चारणस्थान छः हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ तथा नासिका। अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका होता है।

1. अवर्ण, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह् तथा विसर्जनीय—इन वर्णों का उच्चारणस्थान कण्ठ है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार विसर्ग का उच्चारण तदाश्रित वर्ण के स्थान के अनुसार होता है। द्र०—'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः' (पा० शि० 22) इसके अनुसार 'रामः' में विसर्ग का स्थान कण्ठ, 'पतिः' में तालु तथा 'साधुः' में ओष्ठ होता है।

अवर्ण के द्वारा इसके 18 भेदों का ग्रहण होता है (द्र०—पा० 1.1.68. की व्याख्या)।

2. इवर्ण, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य् तथा श्—इन वर्णों का उच्चारण-स्थान तालु है। इवर्ण के द्वारा उसके 18 भेदों तथा यवर्ण के द्वारा उसके दो भेदों का ग्रहण होता है।

3. ऋवर्ण, टवर्ण (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्), रेफ तथा षवर्ण का मूर्धा स्थान होता है। ऋवर्ण के द्वारा केवल उसके अट्ठारह भेदों का ग्रहण होता है।

4. ऌवर्ण, तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) , लवर्ण तथा सवर्ण का उच्चारण स्थान दन्त होता है। यहाँ ऌकार के द्वारा उसके बारह रूपों का तथा लकार के द्वारा उसके दो रूपों का ग्रहण होता है।

5. उवर्ण, पवर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्) तथा उपध्मानीय वर्णों का ओष्ठ स्थान होता है। उवर्ण के द्वारा उसके अट्ठारह भेदों का ग्रहण होता है। अच् से परे तथा प/फ से पूर्व विसर्ग को उपध्मानीय कहते हैं।

6. ञ, म्, ङ्, ण्, न्—इन पाँच वर्णों का उच्चारण स्थान नासिका भी है अर्थात् इन वर्णों का तत्-तत् वर्ग से सम्बन्धी उच्चारण स्थान तो है ही; इसके अतिरिक्त नासिका इनका अधिक है। यथा—ङकार का कण्ठ व नासिका, ञकार का तालु व नासिका तथा इसी प्रकार णकार इत्यादि का भी जानना चाहिए।

7. एकार तथा ऐकार का कण्ठ व तालु उच्चारण स्थान होता है। इन दो वर्णों में पूर्वभाग में अवर्ण तथा उत्तरभाग में इकार की श्रुति होती है तथा ये दोनों वर्ण इनमें संश्लिष्ट रूप में रहते हैं। अतः ए व ऐ वर्णों के दो-दो (कण्ठ व तालु) स्थान माने गये हैं। मूल में इन वर्णों को 'एत्' व 'ऐत्' इस प्रकार पढ़ा है। इसे तपर नहीं मानना चाहिये; अपितु यह तवर्ण मुखसुख के लिये जोड़ा गया है। आचार्य ने भी अपने शास्त्र में कई स्थानों पर उच्चारणार्थ वर्णों का प्रयोग किया है। द्र० 'दिव औत्'।

8. ओकार तथा औकार का कण्ठ व ओष्ठ स्थान है। इन वर्णों में अकार (कण्ठस्थानीय) तथा उकार (ओष्ठस्थानीय) का संश्लेष है। अतः इनके दो-दो स्थान हैं। 'कण्ठ + ओष्ठ' इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' से 'कण्ठौष्ठ' ऐसा वृद्धि आदेश होना चाहिए; परन्तु 'ओत्वोष्ठयोः समासे' वार्तिक के द्वारा पक्ष में पररूप होकर भी रूप बनता है।

9. वकार का दन्तोष्ठ स्थान होता है।

10. जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल होता है। अच् से पर विसर्ग क/ख से पूर्व रहने पर जिह्वामूलीय कहलाता है।

11. अनुस्वार का नासिका स्थान होता है।

स्थानबोधक चक्र

कण्ठ	तालु	मूर्धा	ओष्ठ	दन्त	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठ	दन्तोष्ठ	जिह्वा	उपध्मा०
अ	इ	ऋ	उ	ऌ	ञ्	ए	ओ	व्	≍क	-
क्	च्	ट्	प्	त्	म्	ऐ	औ	-	≍ख	-
ख्	छ्	ठ्	फ्	थ्	ङ्	-	-	-	-	-
ग्	ज्	ड्	ब्	द्	ण्	-	-	-	-	-
घ्	झ्	ढ्	भ्	ध्	न्	-	-	-	-	-
ङ्	ञ्	ण्	म्	न्	-	-	-	-	-	-
ह्	य्	र्	-	ल्	-	-	-	-	-	≍प
-	श्	ष्	-	स्	-	-	-	-	-	≍फ

वर्णों के उच्चारण करते समय अन्दर से आने वाली वायु के साथ जिह्वा को मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ चेष्टा करनी पड़ती है। इसे शास्त्र में 'यत्न' कहा जाता है।

यत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर तथा बाह्य। आभ्यन्तर यत्न की चर्चा पीछे की जा चुकी है। बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है—

1. विवार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. नाद, 5. घोष, 6. अघोष, 7. अल्पप्राण, 8. महाप्राण, 9. उदात्त, 10. अनुदात्त तथा 11. स्वरित।

1. विवर—इसमें मुख खुलता है।

2. संवार—जिस वर्ण के उच्चारण में मुख संकुचित रहता है, उस वर्ण का यत्न संवार होता है।

3. श्वास—कुछ वर्णों के उच्चारण में श्वास चलता है, उनका प्रयत्न श्वास होता है।

4. नाद—जिस वर्ण के उच्चारण में नाद होता है, उसका यत्न नाद कहलाता है।

5. घोष—जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज होती है, उसे घोष वर्ण कहते हैं।

6. अघोष—जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज नहीं होती है, उसे अघोष वर्ण कहते हैं।

7. अल्पप्राण—जिस वर्ण के उच्चारण में प्राणवायु का अल्प प्रयोग होता है, उसका यत्न अल्पप्राण कहा गया है।

8. महाप्राण—जिस वर्ण के उच्चारण में प्राणवायु का अधिक उपयोग होता है, उसका यत्न महाप्राण कहा गया है।

9-11. उदात, अनुदात्त व स्वरित—इनकी व्याख्या के लिए देखिए—पा० 1. 2. 29, 30, 31 सूत्रों की व्याख्या।

'अअ॒अं' इति त्रयोऽकारा उदात्तानुदात्तस्वरिताः, प्रत्येकं सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदादष्टादशधा भिद्यन्ते। तथेवर्णः। तथोवर्णः। तथा ऋवर्णः। लवर्णस्य दीर्घा न सन्ति (आपि० 6.4)। तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते। सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादशप्रभेदानि। अन्तःस्था द्विप्रभेदाः, रेफवर्ज्जिता यवलाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति। 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः' (आपि० 6.11)। दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्।

व्याख्या—उदात्तादि भेद से अकार तीन प्रकार का होता है—

अ उदात्त अवर्ण, अ॒ अनुदात्त अवर्ण, अं स्वरित अवर्ण।

पुनः प्रत्येक अनुनासिक-निरनुनासिक भेद से दो प्रकार का होता है—

अ	अ॒	अं
अँ	अँ॒	अँ

इस प्रकार अवर्ण छः प्रकार का हुआ।

पुनः प्रत्येक अवर्ण ह्रस्वादि भेद से तीन प्रकार का हुआ। इस प्रकार अवर्ण अट्ठारह प्रकार का हुआ। यथा—

अ	अँ	अ॒	अँ॒	अं	अँ
आ	आँ	आ॒	आँ॒	आं	आँ
अ3	अँ3	अ॒3	अँ॒3	अं3	अँ3

इसी प्रकार इवर्ण, उवर्ण तथा ऋवर्ण अट्ठारह-अट्ठारह प्रकार के होते हैं।

लवर्ण का दीर्घ नहीं होता है (द्र०—आपि० 64)। अतः इसके बारह ही भेद होते हैं।

सन्ध्यक्षरों का ह्रस्व प्रकार नहीं होता है। अतः इन (ए,ओ,ऐ,औ) के भी प्रत्येक के बारह-बारह भेद होते हैं।

अकार के अट्ठारह रूप परस्पर सवर्णी हैं। इसी प्रकार इकार के अट्ठारह रूपों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है। उकार के 18 भेदों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है और इसी प्रकार ऋकार के अठारह भेदों की भी। चूँकि ऋकार व लकार की सवर्णता मानी गई है। अतः ऋकार के तीस भेदों (ऋकार के 18 + लकार के 12) की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है।

ए, ऐ, ओ, औ—ये प्रत्येक अपने बारह-बारह भेदों की संज्ञा होते हैं।

अन्तःस्थ वर्णों (रेफ को छोड़कर) के दो-दो भेद होते हैं—

य, यँ; व, वँ; ल, लँ।

रेफ और ऊष्म वर्णों (श, ष, स, ह) का कोई सवर्ण नहीं होता है। वर्ग्य (अर्थात् अपने वर्ग वाला) वर्ण की वर्ग्य के साथ सवर्णता होती है। सार यह है कि किसी एक वर्ग का जो वर्ण, वह अपने वर्ग के किसी अन्य तुल्यास्य प्रयत्न वाले के साथ सवर्ण होता है। यथा—ककार व खकार परस्पर सवर्ण हैं।

उदा० (1) दण्डाऽग्रम्

दण्ड अग्रम्—इस दशा में डकारोत्तरवर्त्ती 'अ' से परे सवर्ण

'अ' है। अतः दोनों के स्थान पर 'अकः सवर्णे दीर्घः से सवर्ण-दीर्घ एकादेश होकर रूप बना।

(2) खट्वाऽग्रम्

खट्वा अग्रम्—इस दशा में 'आ' से परे सवर्ण 'अ' है। दोनों के स्थान पर पूर्ववत् सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया है।

आस्यग्रहणं किम्? कटचतपानां भिन्नस्थानानां तुल्य-प्रयत्नानां मा भूत्। किं च स्यात्? 'तप्तीं' तर्प्तुम्' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे' (8.4.65) इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात्। प्रयत्नग्रहणं किम्? इचुयशानां तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नानां मा भूत्। किञ्च स्यात्? अरुश्च्योततीत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे' (8.4.65) इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात्।

व्याख्या—(क) सूत्र में 'आस्य' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि जिनका **उच्चारण स्थान** समान है, उन वर्णों की सवर्ण संज्ञा होती है। क्, च्, त् वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न तो समान है; परन्तु इनके उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न हैं। अतः क् च् त् परस्पर सवर्ण नहीं है। यदि सूत्र में 'आस्य' पद न होता तो क् च् ट् त् प् वर्ण परस्पर सवर्ण होकर तर्प्ता, तर्प्तुम् में 'झरो झरि सवर्णे' से सवर्ण झर् के परे रहते झर् वर्ण का लोप होकर अनिष्ट रूपों की प्राप्ति हो जाती है।

(ख) सूत्र में 'प्रयत्न' पद के ग्रहण का फल यह है कि जिन वर्णों का **आभ्यन्तर प्रयत्न** समान है, उन वर्णों की ही सवर्ण संज्ञा होती है। इ, चवर्ग, य तथा श वर्णों का उच्चारणस्थान तो समान है, परन्तु उनका प्रयत्न समान नहीं है। अतः ये सवर्ण नहीं हैं। यदि सूत्र में 'प्रयत्न' पद का ग्रहण नहीं किया जाता तो इकार, चवर्ग के वर्ण, य तथा श—ये परस्पर सवर्ण होते। तब 'अरुश्च्योतति' में 'झरो झरि सवर्णे' से सवर्ण झर् (चकार) परे रहते झर् वर्ण (शकार) का लोप होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

*** ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या * (म० भा० 1.1.9 वा० 6)। होतृप्लृकारः। होतॄकारः। उभयोर्ऋवर्णस्य लृवर्णस्य चान्तरतमः सवर्णो दीर्घो नास्तीति ॠकार एव दीर्घो भवति। सवर्णप्रदेशाः 'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.101) इत्येवमादयः।**

व्याख्या—ऋकार व लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए। तब 'होतृ लृकारः' इस दशा में ऋकार व लृकार का सवर्णदीर्घ एकादेश 'ॠ' होकर 'होतॄकारः' रूप बनता है।

सवर्णसंज्ञा के फल हैं—'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यादि।

(10) नाज्झलौ *10* (13)

अच्च हल् च अज्झलौ, तुल्यास्यप्रयत्नावपि अज्झलौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ न भवतः। अवर्णहकारौ–दण्डहस्तः। इवर्णशकारौ–दधिशीतम्। सवर्णदीर्घत्वं न भवति। वैपाशो मत्स्यः। आनडुहं चर्म्मेति। 'यस्येति च' (6.4.148) इति लोपो न भवति।

अर्थ—उच्चारणस्थान और प्रयत्न की समानता होने पर भी अच् व हल् वर्णों की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती है।

व्याख्या—अकार व हकार के उच्चारण स्थान व प्रयत्न समान हैं। अतः इनकी सवर्णता प्राप्त होती है, परन्तु 'नाज्झलौ' के द्वारा इनकी सवर्णता का निषेध किया गया है। सार यह है कि तुल्य उच्चारणस्थान व प्रयत्न होने पर भी अच् व हल् वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

अच् हलौ इस दशा में संहिता होकर 'अग्घलौ' रूप बनना चाहिए था, परन्तु ऐसा करने पर 'अक् हलौ' इस प्रकार के पदच्छेद का सन्देह बना रहता। अतः आचार्य ने 'अज्झलौ' ऐसा योग किया है।

पदमञ्जरीकार ने 'अज्झलौ' के स्थान पर 'अण्शलौ' पाठ को उपयुक्त माना है[1]; परन्तु इस पाठ में कोई विषेष लाघव दृष्टिगोचर नहीं होता है। प्रत्युत 'अज्झलौ' पाठ में स्पष्ट विप्रतिपत्ति बनी रहती है।

उदा० (1) दण्डहस्तः

'दण्डहस्तः' यहाँ डकारोत्तरवर्ती अकार तथा हकार की 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से सवर्णता प्राप्त होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ होने लगता है। परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा समान स्थान व प्रयत्न वाले अच् व हल् के सावर्ण्य का निषेध कर देने पर पूर्वोक्त सवर्णदीर्घता नहीं होती है।

(2) दधिशीतम्

इकार (विवृत व तालु) तथा शकार (ईषद् विवृत व तालु) की 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' के द्वारा सवर्णता होकर 'दधिशीतम्' यहाँ धकारोत्तरवर्ती इकार तथा शकार के स्थान पर पूर्ववत् सवर्णदीर्घ की प्राप्ति होती है, परन्तु अच् व हल् की सवर्णता का निषेध होने से अनिष्ट रूप (सवर्ण दीर्घ) नहीं होता है।

1. पदम० 1.1.10

(3) वैपाशो मत्स्यः

इसी प्रकार 'विपाशि अण्' इस दशा में 'यस्येति च' के द्वारा इकार का लोप होता है। तब 'विपाश् अण्' ऐसा रहने पर इ तथा श् की सवर्णता होने की दशा में 'यस्येति च' के द्वारा शकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा अच् व हल् की सवर्णता का निषेध हो जाने से श् का लोप नहीं होगा।

(4) आनुडुहं चर्म

अनुडुहस्येदम्। अनुडुह अञ् (तस्येदम्, प्राणिरजतादिभ्योऽञ्) इस दशा में 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् की वृद्धि तथा 'यस्येति च' से अकारलोप होकर 'आनडुह् अ' इस दशा में अकार व हकार के सवर्ण होने की दशा में 'यस्येति च' से हलोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध कर दिए जाने से हकार का लोप नहीं होता है।

(11) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् *11* (100)

ईत् उत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति। अग्नी इति। वायू इति। माले इति। पचेते इति। यजेते इति।

अर्थ—दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त तथा दीर्घ एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

व्याख्या—सूत्रस्थ 'ईदूदेद्' पर 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है। यहाँ तदन्तविधि होती है। 'ईत्' का अर्थ है—दीर्घ ईकार। 'ऊत्' का अर्थ है—दीर्घ ऊकार तथा 'एत्' का अर्थ है—दीर्घ एकार। 'ईत्' आदि में तकार का ग्रहण तत्काल के बोध के लिए नहीं है, अपितु मुखसुखार्थ एवं स्पष्टता के लिए है। तकार का ग्रहण न किए जाने की दशा में ई + ऊ + ए इस दशा में सन्धि होकर 'य्वे' ऐसा न्यास होता, जिससे अर्थ में स्पष्टता न रहती। दूसरे, द्विवचन में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' के द्वारा इवर्ण तथा उवर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घादेश होता है। अतः यहाँ तपरकरण का कोई औचित्य भी नहीं था।

उदा० (1) अग्नी इति

नकारोत्तरवर्ती ईकार ईदन्त द्विवचन है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव (प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्) होता है। यण् न हुआ।

(2) वायू इति

यकारोत्तरवर्ती ऊकार ऊदन्त द्विवचन है। पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो गया।

(3) माले इति

लकारोत्तरवर्ती एकार एदन्त द्विवचन है। पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो गया है।

(4) पचेते इति (पूर्ववत्)।

(5) यजेते इति (पूर्ववत्)।

ईदूदेदिति किम्? वृक्षावत्र। प्लक्षावत्र। द्विवचनमिति किम्? कुमार्यत्र। किशोर्यत्र। तपरकरणमसन्देहार्थम्। प्रगृह्यप्रदेशाः–'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (6.1.125) इत्येवमादयः।

व्याख्या—(क) प्रस्तुत सूत्र में 'ईदूदेत्' पद का प्रयोजन है कि ईदन्त, ऊदन्त व एदन्त द्विवचन की ही प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अन्य की नहीं। 'वृक्षौ अत्र' यहाँ 'औ' द्विवचन है; परन्तु न तो ईदन्त है, न ऊदन्त है तथा न ही एदन्त है। अतः इसकी प्रगृह्यसंज्ञा न हुई। तब आव् आदेश (एचोऽयवायावः) होकर 'वृक्षावत्र' बनता है। इसी प्रकार 'प्लक्षावत्र' में जानना चाहिए।

(ख) प्रकृतसूत्र में 'द्विवचनम्' पद का प्रयोजन है कि द्विवचन की ही प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अन्य की नहीं। 'कुमारी अत्र' यहाँ रेफोत्तरवर्ती ईकारान्त (ईत्) तो है, परन्तु वह द्विवचन नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। तब यण् होकर 'कुमार्यत्र' बनता है। इसी प्रकार 'किशोर्यत्र' में जानना चाहिए।

(ग) 'ईत्', 'ऊत्' तथा 'एत्' में तपरकरण स्पष्टता के लिए है। प्रगृह्यसंज्ञा के प्रयोजन हैं—

'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' आदि।

ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम। (भार० 12.172.12) दम्पतीव (ऋ० 2.39.2), जम्पतीव, रोदसीव।

व्याख्या—'मणी इव', 'दम्पती इव', 'जम्पती इव' तथा 'रोदसी इव' इन स्थलों पर प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव (प्लुतप्रगृह्या अचि०) प्राप्त होता है; परन्तु लोक में यहाँ सवर्णदीर्घ उपलब्ध होता है। इसकी साधुता प्रकृत वार्तिक[1] के द्वारा प्रदर्शित की गई है।

(वा०) 'ईद्' आदि की प्रगृह्यसंज्ञा के विषय में 'मणीव' आदि

1. काशि० 1.1.11. (वा०) ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः।

प्रयोग साधु कहे गये हैं अर्थात् इन प्रयोगों की दशा में उक्त प्रगृह्य संज्ञा का निषेध होता है।

प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध हो जाने पर सामान्य सवर्णदीर्घ होकर क्रमशः मणीव (भा० 12.172.12), दम्पतीव, जम्पतीव तथा रोदसीव प्रयोग बनते हैं।

(12) अदसो मात् *12* (101)

अदसः सम्बन्धी यो मकारस्तस्मात्पर ईदूदेतः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति। अमी अत्र। अमी आसाते। अमू अत्र। अमू आसाते। एकारस्य नास्त्युदाहरणम्।

अर्थ—'अदस्' शब्द के मकार से परे 'ईत्' तथा 'ऊत्' की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

व्याख्या—'अदस्' शब्द सर्वनाम है। इसके तीनों लिंगों के रूपों पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति निम्नलिखित सात स्थलों पर ही होती है—

(क) प्रथमा बहुव०—अमी (पुँ०)।

(ख) प्रथमा व द्वितीया का द्वि० — अमू (पुँ०)।

(ग) प्रथमा वा द्वितीया का द्वि० — अमू (स्त्री०)।

(घ) प्रथमा व द्वितीया का द्वि० — अमू (नपुँ०)।

निष्कर्ष यह है कि 'अमी' (प्रथमा बहुव० पु०) तथा 'अमू' (प्रथमा व द्वितीया द्विव० पु०)—ये दो ही प्रस्तुत सूत्र के प्रयोग-स्थल हैं। शेष चार रूपों (अमू) की 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है।[1]

उदा० (1) अमी अत्र

मकारोत्तरवर्ती ईकार से परे अकार है। अतः 'इको यणचि' से यणादेश की प्राप्ति हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हुई। प्रकृतिभाव (प्लुतप्रगृह्या अचि0) हुआ।

(2) अमी आसाते

पूर्ववत् यण् की प्राप्ति, प्रगृह्य संज्ञा व प्रकृतिभाव हुआ है।

(3) अमू अत्र (पूर्ववत्)।

(4) अमू आसाते (पूर्ववत्)।

(5) एकार का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।

अदस इति किम्? शम्यत्र। दाडिम्यत्र। मादिति किम्? अमुकेऽत्र।

व्याख्या—(क) 'अदसः' का प्रयोजन है कि अदस् शब्द के मकार से परे 'ईत्' व 'ऊत्' की प्रगृह्य संज्ञा होती है। यथा—

शमी अत्र—यहाँ मकार से पर 'ईत्' तो है, परन्तु वह मकार 'अदस्' शब्द का नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है, सामान्य यणादेश होता है (इको यणचि)—शम्यत्र।

इसी प्रकार 'दाडिम्यत्र' में जानना चाहिए।

(ख) 'मात्' अर्थात् 'अदस्' शब्द के मकार से पर 'ईत्' व 'ऊत्' की प्रगृह्य संज्ञा होती है। यथा—

अमुकेऽत्र—इस दशा में 'अदस्' शब्द का 'एत्' है, परन्तु वह मकार से अव्यवहित पर नहीं; अपितु ककार से पर है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है। पूर्वरूप होता है—अमुकेऽत्र।

विशेष—(क) स्त्रीलिंग में 'अदस् औ' (प्रथमा या द्वितीया का द्विव०) इस दशा में अद अ औ त्यदादीनामः→अद औ अतो गुणे→अद आ औ (स्त्रीत्वे टाप्)→अदा औ→अदा शी (औङ आपः)→अदे (आद् गुणः)—अमू (अदसोऽसेर्दादु०) रूप सिद्ध हुआ। 'अदसोऽसेर्दादु०' 8.2.80 त्रिपादी का सूत्र है, जो 'ईदूदेद् द्विवचनं०' 1.1.11. की दृष्टि में 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से असिद्ध है। अर्थात् 'ईदूदेद् द्विव०' की दृष्टि में 'अमू' रूप न होकर 'अदे' ही है। तब प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है। अतः कहा गया है कि प्रथमा व द्वितीया द्विव० स्त्रीलिंग प्रकृत सूत्र के प्रयोगस्थल नहीं हैं।

(ख) नपुसँकलिंग में अदस् औ (प्रथमा या द्वितीया का द्विव0) इस दशा में अद अ औ (त्यदादीनाम्०)→अद औ (अतो गुणे)—अद शी (नपुँसकाच्च)→अद ई→अदे (आद्गुणः)—अमू (पूर्ववत्) रूप सिद्ध हुआ। पूर्ववत् 'ईदूदेद् द्विवच०' से प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। अतः कहा गया है कि प्रथमा व द्वितीया द्विव० नपुसँकलिंग प्रकृत सूत्र के प्रयोगस्थल नहीं हैं।

(ग) अदस् जस् (पुँ० प्रथमा बहुव) इस दशा में अद अ जस् (पूर्ववत्)→अद शी (पूर्वरूप, जसः शी)→अदे (गुण)→अमी 'एत ईद् बहुवचने' (8.2.81) रूप बना। ईदूदेद्० की दृष्टि में एत ईद्० असिद्ध है। इसकी दृष्टि में 'अमी' पद न होकर 'अदे' है। चूँकि यह द्विवचन का 'एत्' नहीं है और ईदूदेद्० की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है; अतः कहा गया है कि प्रथमा बहुव० पु० (अमी) प्रकृत सूत्र का प्रयोगस्थल है।

(घ) अदस् औ (प्रथमा या द्वितीया द्विव० पु०)→अद अ औ→अद् औ (पूर्ववत्)→अदौ→अमू (अदसोऽसेर्दा० पा० 8.2.80) रूप बनता है। ईदूदेद्० की दृष्टि में 'अमू' न होकर 'अदौ' है, जो न ईत् है, न ऊत् है तथा न ही एत् है। तब

1. आगे **विशेष** के अन्तर्गत देखें।

'ईदूदेद्०' की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः कहा गया है कि प्रथमा व द्वितीया द्वि० पुँ० 'अमू' प्रकृत सूत्र के प्रयोगस्थल हैं।

अब शंका होती है कि प्रथमा, बहुव० पुँ० का 'अमी' रूप तथा प्रथमा, द्वितीया द्वि० स्त्री० का 'अमू' रूप—ये दोनों 'अदसो मात्' की दृष्टि में भी असिद्ध हैं। अतः यहाँ 'अदसो मात्' की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी।

इसका समाधान यह है कि वचनसामर्थ्य से 'अदसो मात्' की दृष्टि में 'अदसोऽसेर्दा०' तथा 'एत ईद्०' सूत्र असिद्ध नहीं है, अन्यथा प्रकृत सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।

(13) शे *13* (102)

शे इत्येतत्प्रगृह्यसंज्ञं भवति। किमिदं शे इति? सुपामादेशश्छन्दसि। न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० 8.68.19)। अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० 4.49.4)। युष्मे इति (ऋ० पदपाठः)। अस्मे इति (ऋ० पदपाठः)। त्वे रायः (तै०सं० 3.2.5.2)। मे रायः (वा०सं० 4.22)। त्वे इति (तै०सं० पदपाठः)। मे इति (वा०सं० पदपाठः)।

अर्थ—'शे' इस सुबादेश की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

व्याख्या—'शे' छान्दस सुबादेश है। चतुर्थी विभक्ति बहुवचन के स्थान पर वेद में 'शे' आदेश होता है। यहाँ उसी का ग्रहण है। 'शे' के शकार की इत्संज्ञा (लशक्वतद्धिते) होती है।

उदा० (1) न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० 8.68.19.)

युष्मद् भ्यस् (चतुर्थी बहुव०)—यहाँ सुपां सुलुक् के (पा. 7.1.39) द्वारा सम्पूर्ण विभक्ति (भ्यस्) के स्थान पर 'शे' आदेश हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हो गई— युष्मे इति। प्रकृतिभाव हुआ।

(2) अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० 4.49.4)

अस्मद् भ्यस्—अस्मे पूर्ववत् 'शे' आदेश, प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव।

(3) त्वे रायः (तै० सं० 3.2.5.2.)

युष्मद् ङि (सप्तमी एकव०)—त्वे (शे आदेश) पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव—त्वे इति।

(4) मे रायः (यजु० 4.22)

पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव। मे इति।

छान्दसमेतदेवैकमुदाहरणम्-'अस्मे इन्द्राबृहस्पती' (ऋ० 4.49.4) इति, तत्र तथा पाठात्। इतरत्तु लौकिकमनुकरणम्-युष्मे इति, अस्मे इति, त्वे इति, मे इति।

व्याख्या—वेद का एक ही उदाहरण 'अस्मे इन्द्राबृहस्पती' है। शेष तो पदपाठ अर्थात् लौकिक उदाहरण हैं। यथा—युष्मे इति, त्वे इति, मे इति।

(14) निपात एकाजनाङ् *14* (103)

एकश्चासावच्च एकाच्, निपातो य एकाच् आङ्-वर्जितः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति। अ अपेहि। इ इन्द्रं पश्य। उ उत्तिष्ठ। आ एवं नु मन्यसे (म०भा०)। आ एवं किल तत् (म०भा०)।

अर्थ—आङ् को छोड़कर एक अच् स्वरूप निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

व्याख्या—'एकाच्' पद का दो प्रकार से विग्रह सम्भव है—

एकश्चाऽसावच् (कर्म०)

एकोऽच् यस्मिन् सः (बहु०)

यहाँ कर्मधारय समास ही इष्ट है, कारण कि बहुव्रीहि समास मान लेने की दशा में एक अच् वाले अनेकाल् की भी प्रगृह्य संज्ञा होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

'अनाङ्' का अर्थ है—आङ् को छोड़कर।

आचार्य पाणिनि ने 'चाऽऽदयोऽसत्त्वे' के द्वारा चाऽऽदिगण में पठित शब्दों की सत्त्वभिन्न अर्थ में 'निपात' संज्ञा कही है।

सार यह है कि निपातसंज्ञक एक अच्स्वरूप शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होती है तथा आङ् निपात की नहीं होती है।

उदा० (1) अ अपेहि

'अ' एकाच् निपात है। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हुई। प्रकृतिभाव हो गया।

(2) इ इन्द्रं पश्य

पूर्ववत् प्रगृह्य संज्ञा व प्रकृतिभाव हो गया।

(3) उ उत्तिष्ठ (पूर्ववत्)।

(4) आ एवं नु मन्यसे

'आ' एकाच् निपात है तथा 'आङ्' नहीं है। अतः पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा व प्रकृतिभाव हुआ।

(5) आ एवं किल तत् (पूर्ववत्)।

निपात इति किम्? चकारात्र, जहारात्र। एकाजिति

किम्? प्राग्नुये वाचमीरय (ऋ० 10.187.1)। अनाङिति किम्? आ उदकान्तात् ओदकान्तात्।

व्याख्या—(क) सूत्र में 'निपातः' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि **निपातसंज्ञक** एकाच् शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

चकार अत्र—यहाँ कृ धातु से लिट् प्र० पु० एकव० का णल् होकर 'चकार' बना है। इसमें णल् > अ एकाच् तो है; परन्तु निपात-संज्ञक नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। सामान्य सवर्णदीर्घ होकर 'चकारात्र' बन गया।

इसी प्रकार 'जहारात्र' में जानना चाहिए।

(ख) 'एकाच्' पद का प्रयोजन यह है कि **एकाच् स्वरूप** निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

प्राग्नुये वाचमीरय (ऋ० 10.187.1.)—यहाँ 'प्र अग्नुये' इस दशा में 'प्र' निपात तो है परन्तु एकाच् नहीं है। अतः प्रगृह्य संज्ञा न हुई।

(ग) 'अनाङ्' का फल यह है कि आङ् भिन्न ('आ') निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

आ उदकान्तात्—यहाँ आङ् निपात है। अतः एकाच् होते हुए भी प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। गुणादेश हो गया—ओदकान्तात्।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्॥
(म० भा०)

व्याख्या—चादिगण में आ तथा प्रादि गण में **आङ्**—इस प्रकार दो निपातों का पाठ प्राप्त होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'अनाङ्' पद के ग्रहण से प्रादि गणपठित 'आङ्' की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। यहाँ केवल चादिगण में पठित आ निपात की ही प्रगृह्यसंज्ञा कही है। अतः 'आ एवं किल तत्' इत्यादि स्थलों पर प्रकृतिभाव हो जाता है।

(शंका) **आङ्** निपात के ङकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत् संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। तब दोनों प्रकार के निपातों में कोई स्वरूपगत अन्तर नहीं रहता है। ऐसी दशा में किस प्रकार ज्ञात होगा कि यह आ **निपात है या आङ्?**

(समा०) इस सम्बन्ध में महाभाष्य में इस प्रकार व्यवस्था की गई है—

ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित्॥

अर्थात् ईषत् (थोड़ा) अर्थ में, क्रियायोग में, मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ में आत् (अर्थात् आ) को ङित् (आङ्) समझें तथा पूर्वकथित बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में प्रयुक्त आ को अङित् (आ) समझें।

(क) ईषदर्थे—ईषद् उष्णम् इस दशा में प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया वार्तिक से नित्य समास होकर आ उष्णम् ऐसी स्थिति होती है। चूँकि यहाँ आ निपात के द्वारा ईषद् (= अल्प) अर्थ विवक्षित है। अतः आ ङित् है। ङित् होने से इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। तब 'आद् गुणः' से गुण एकादेश होकर ओष्णम् रूप निष्पन्न होता है।

(ख) क्रियायोग—क्रिया के योग में प्र आदि की उपसर्ग संज्ञा कही गई है। क्रिया के योग में जो आ होता है, वह ङित् होता है। यथा—'आ इहि' (इधर आइये)—इस स्थल पर आ निपात क्रिया, (इहि) के योग में है। अतः आङ् है। ङित् होने से इस आ की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती। तब आद्गुणः' से गुण एकादेश होकर एहि रूप बनता है।

(ग) मर्यादायाम्—जहाँ अवधि का ग्रहण नहीं होता है, वहाँ मर्यादा अर्थ होता है। यथा—

'आ मृत्योः' अर्थात् मृत्युपर्यन्त।

इसका भाव यह है कि मृत्यु को छोड़कर उससे पूर्व सम्पूर्ण जीवन। 'आ अजमेराद्' इस स्थल पर आ मर्यादा अर्थ में होने से ङित् (आङ्) है। आङ् होने से इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। तब सवर्णदीर्घ होकर 'आजमेराद्' शब्द बनता है।

(घ) अभिविधौ—जहाँ अवधि का ग्रहण होता है, वहाँ अभिविधि अर्थ रहता है। यथा—'आजन्मनः मद्यं न सेवितं तेन' अर्थात् जन्म से लेकर आज तक उसने शराब नहीं पी। उपर्युक्त 'आ अजमेराद् मेघो वृष्टः' वाक्य का मर्यादा अर्थ में अर्थ होगा—अजमेर तक इन्द्र बरसा। परन्तु अभिविधि अर्थ में उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि अजमेर शहर में भी इन्द्र बरसा तथा अन्यत्र भी बरसा। तब अभिविधि अर्थ में ङित् होने से 'आ अजमेराद्' इस स्थल पर प्रगृह्य संज्ञा का अभाव होता है। सवर्णदीर्घ होकर 'आजमेराद्' रूप निष्पन्न होता है।

(ङ) वाक्ये—'आ एवं नु मन्यसे' (अर्थात् अब तू ऐसा मानता है)—

यहाँ आ ङित् नहीं है। ङित् न होने से 'निपात एकाजनाङ्' के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो जाता है।

(च) स्मरणे—'आ एवं किल तत्' (हाँ, यह ऐसा ही है)—यहाँ स्मरण अर्थ इष्ट होने से आ ङित् नहीं है। तब प्रस्तुत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

(15) ओत् *15* (104)

निपात इति वर्त्तते। तस्यौकारेण तदन्तविधिः। ओदन्तो यो निपातः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति। आहो इति। उताहो इति (म०भा०)।

अर्थ—ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

व्याख्या—यहाँ निपात पद की अनुवृत्ति प्राप्त होती है। 'येन विधिस्तदन्त०' के द्वारा तदन्तविधि होकर 'ओत्' का अर्थ 'ओकारान्त' सिद्ध होता है। ओकारान्त निपात छः ही हैं—ओ, आहो, उताहो, हो, अहो तथा अथो। इनमें 'ओ' की प्रगृह्यसंज्ञा करने में प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होता है।

उदा० (1) आहो इति

'आहो' की निपात संज्ञा है तथा वह ओकारान्त भी है। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्या०' से प्रकृतिभाव हुआ।

(2) उताहो इति

पूर्ववत् प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव हो गया।

(16) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे *16* (105)

ओदिति वर्त्तते। सम्बुद्धिनिमित्तो य ओकारः स शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञो भवति, 'इति' शब्देऽनार्षे = अवैदिके परतः। वा॒यो॒ इतिं, वायविति (ऋ० 4.46.1)। भानो इति, भानविति।

अर्थ—सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार की अवैदिक 'इति' शब्द के परे रहते शाकल्य आचार्य के मत में प्रगृह्य संज्ञा होती है।

व्याख्या—'सम्बुद्धौ' का अर्थ है—सम्बुद्धि में। 'एकवचनं सम्बुद्धि' के द्वारा सम्बोधन में एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

'अनार्षे' का अर्थ है—जो वेद का विषय न हो अर्थात् ('इति' शब्द) जिसका वेद में प्रयोग न हो।

'शाकल्यस्य' का अर्थ है—(उक्त कार्य) शाकल्य आचार्य के मत में होता है तथा पाणिनि के मत में नहीं होता है। इस प्रकार विधि का विकल्प हो जाता है।

उदा० (1) वायो इति, वायविति

वायो इति—इस दशा में 'वायो' सम्बुद्धि का रूप है तथा इससे पर 'इति' पद है, जिसका वेद में प्रयोग नहीं हुआ। 'वायो' ओकारान्त भी है। शाकल्य मुनि के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हुई। तब प्रकृतिभाव हुआ। पाणिनि के मत में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। तब पक्ष में आवादेश (एचोऽयवायावः) होकर रूप बना—वायविति।

(2) भानो इति, भानविति

पूर्ववत् शाकल्य आचार्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हुई। प्रकृतिभाव हुआ—भानो इति।

पक्ष में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। अवादेश होकर—भानविति।

सम्बुद्धाविति किम्? गवित्ययमाह। अत्रानुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वात् असत्यर्थवत्त्वे विभक्तिर्न भवति। शाकल्यग्रहणं विभाषार्थम्। इताविति किम्? वायोऽत्र। अनार्ष इति किम्? 'एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्'। (का०सं० 10.6)।

व्याख्या (क) 'सम्बुद्धौ' का फल यह है कि **सम्बुद्धि** में ही ओकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

गो इति अयम् आह—इस दशा में 'गो' शब्द ओकारान्त है। इससे परे वेदभिन्न 'इति' पद भी है; परन्तु 'गो' शब्द सम्बुद्धि का नहीं है। अतः प्रगृह्य संज्ञा न हुई। अवादेश हेकर 'गवित्ययमाह' बना। यहाँ अनुकार्य (गो शब्द) और अनुकरण (गो शब्द) में अन्तर नहीं है। अर्थवत्ता न रहने से विभक्ति का योग भी नहीं होता है।

(ख) सूत्र मे 'शाकल्य' पद का उल्लेख विभाषा के लिए किया गया है।

(ग) सूत्र में 'इतौ' पद का फल यह है कि **इति** पद के परे रहते ही सम्बुद्धि के ओकार की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

वायो अत्र—यहाँ 'वायो' सम्बुद्धि का पद है, ओकारान्त भी है, परन्तु 'इति' पद परे नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। पूर्वरूप होकर 'वायोऽत्र' बन गया।

(घ) 'अनार्षे' पद के ग्रहण का फल यह है कि जो **वेद में प्रयुक्त न हो** ऐसे 'इति' पद के परे रहते ही प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

एता गा ब्रह्मबन्धो इत्यब्रवीत्—यहाँ 'इति' पद वैदिक है। अतः प्रगृह्य संज्ञा न हुई। अवादेश हो गया—एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्।

(17) उञः *17* (106)

शाकल्यस्येताविति वर्त्तते। उञः प्रगृह्यसंज्ञा भवति, इतौ

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन। शाकल्यस्येति विभाषार्थम्-उ इति, विति।

अर्थ—वेदभिन्न 'इति' पद परे रहते 'उञ्' की प्रगृह्यसंज्ञा होती है, शाकल्य आचार्य के मत में।

व्याख्या—सूत्रविहित कार्य शाकल्य के मत में होता है। अतः विभाषा से प्रवृत्त होता है।

उदा॰ उ इति, विति

उ इति—यहाँ वेदभिन्न 'इति' पद परे है। शाकल्य आचार्य के मत में 'उ' की प्रगृह्यसंज्ञा हुई। 'प्लुतप्रगृह्या॰' से प्रकृतिभाव हुआ।

पक्ष में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। तब यणादेश हुआ—विति।

(18) ऊँ *18* (107)

'उञः' इति वर्त्तते। उञ इतावनार्षे ऊँ इत्ययमादेशो भवति दीर्घोऽनुनासिकश्च, शाकल्यस्य मतेन प्रगृह्य-संज्ञकश्च। शाकल्यस्य ग्रहणं विभाषार्थमिहाप्यनुवर्त्तते। तेन त्रीणि रूपाणि भवन्ति-उ इति, विति, ऊँ इति।

अर्थ—वेदभिन्न 'इति' पद परे रहते 'उञ्' के स्थान पर शाकल्य के मत में 'ऊँ' आदेश होता है, जो प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

व्याख्या—'ऊँ' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होता है तथा पक्ष में 'उञ्' की प्रगृह्यसंज्ञा विकल्प से होती है। दो बार विकल्प होने से तीन रूप बनते हैं।

उदा॰ (1) उ इति

पक्ष में 'ऊँ' आदेश नहीं हुआ। प्रगृह्यसंज्ञा हुई। प्रकृतिभाव हो गया।

(2) विति

जिस पक्ष में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई, उस पक्ष में यणादेश हो गया।

(3) ऊँ इति

प्रकृत सूत्र से 'ऊँ' आदेश हुआ, प्रगृह्यसंज्ञा हुई तथा प्रकृतिभाव हो गया।

(19) ईदूतौ च सप्तम्यर्थे *19* (109)

'शाकल्यस्येतावनार्षे' इति निवृत्तम्। ईदन्तमूदन्तं च शब्दरूपं सप्तम्यर्थे वर्त्तमानं प्रगृह्यसंज्ञं भवति। 'अध्यस्यां मामकी तनू'। (पै॰ 1.6.8) मामक्यां तन्वामिति प्राप्ते मामक्याम्, मामकी इति; तन्वाम्, तनू इति। 'सोमो' गौरी अधिश्रितः (ऋ॰ 9.12.3)।

अर्थ—सप्तमी के अर्थ में ईकारान्त व ऊकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

व्याख्या—'सप्तम्यर्थे' का अर्थ है—सप्तमी के अर्थ में। 'ईदूतौ' का अर्थ है—ईकारान्त व ऊकारान्त।

उदा॰ (1) अध्यस्यां मामकी तनू (पै॰ सं॰ 1.6.8.)

मामकी ङि—इस दशा में 'सुपां सुलुक्॰' के द्वारा विभक्ति का लुक् हो गया। सप्तमी के अर्थ में ईकारान्त (मामकी) की प्रगृह्यसंज्ञा हो गई। मामकी इति—प्रकृतिभाव हो गया।

तनू ङि—पूर्ववत् सुलुक्, प्रगृह्यसंज्ञा व प्रकृतिभाव हुआ—तनू इति।

(2) सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ॰ 9.12.3.)

गौरी ङि—सुलुक्, प्रगृह्यसंज्ञा व प्रकृतिभाव हो गया।

ईदूताविति किम्? 'प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति' (ऋ॰ 5.37.5)। अग्निशब्दात्परस्याः सप्तम्याः डादेशः। सप्तमीग्रहणं किम्? धीती (ऋ॰ 1.164.8) मती (ऋ॰ 1.165.1) सुष्टुती (ऋ॰ 2.32.4)। धीत्या मत्या (ऋ॰ 5.58.5) सुष्टुत्या इति प्राप्ते। अर्थग्रहणं किम्? वाप्यश्वः, नद्यातिः। तपरकरणमसन्देहार्थम्।

व्याख्या—(क) 'ईदूतौ' अर्थात् ईकारान्त व ऊकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

प्रियः सूर्ये अग्ना भवति (ऋ॰ 5.37.5)

अग्नि ङि—इस दशा में 'सुपां सुलुक्॰' के द्वारा 'डा' आदेश हो गया है। 'अग्ना' यहाँ सप्तमी का अर्थ है, परन्तु ईकारान्त नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा न हुई।

(ख) 'सप्तम्यर्थे' अर्थात् सप्तमी के अर्थ मे ईकारान्त व ऊकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

धीती, मती, सुष्टुती—तीनों स्थलों पर 'सुपां सुलुक्॰' के द्वारा 'टा' विभक्ति को पूर्वसवर्ण दीर्घ हो गया है। यहाँ ईकारान्त तो है, परन्तु सप्तमी का अर्थ नहीं है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई।

(ग) सूत्र में 'अर्थे' पद का फल यह है कि सप्तमी के अर्थ में ही ईकारान्त व ऊकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

वाप्याम् अश्वः वाप्यश्वः—यहाँ सप्तमी है तथा ईकारान्त है;

परन्तु सप्तमी का अर्थ नहीं है। कारण कि, समास में समस्त पद का अर्थ होता है, पृथक्-पृथक् पद का नहीं। तब प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। यणादेश हो गया।

इसी प्रकार 'नद्यातिः' में जानना चाहिए।

(घ) 'ईदूतौ' पद में तपरकरण तत्काल के बोध के लिए नहीं है, अपितु स्पष्टता के लिए है।

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्।
पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ।।1।।
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ।।2।।
(मा० भा०)

व्याख्या—प्रकृत सूत्र में 'अर्थे' इस पद की आवश्यकता प्रदर्शित करने हेतु महाभाष्य में दो कारिकाएँ प्राप्त होती हैं, जिनका आशय इस प्रकार है—

(क) ईदूतौ सप्तमीत्येव अर्थात् प्रकृत सूत्र का स्वरूप 'ईदूतौ सप्तमी' इतना ही पर्याप्त है। इसमें 'अर्थे' पद का योग अनावश्यक है।

(ख) लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् अर्थात् सप्तमी विभक्ति के लुप्त होने की दशा में 'अर्थे' ऐसा न्यास किया जाना आवश्यक है, अन्यथा विभक्तिलुप्त के स्थलों पर प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध नहीं हो सकेगी। यथा—गौरी अधिश्रितः। यहाँ 'गौरी' पद लुप्तसप्तमीक है। यदि सूत्र में 'अर्थे' पद का ग्रहण नहीं करेंगे तो यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हो सकेगी, कारण कि यहाँ सप्तमी तो है नहीं।

(ग) पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसौ अर्थात् यदि पूर्वोक्त स्थल पर 'गौरी' पद में सप्तमी का लुक् न मानकर पूर्वसवर्ण दीर्घ (सुपां सुलुक्०) मान लें तो समस्या का समाधान हो जायेगा तथा 'अर्थे' पद के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(घ) आडाम्भावः प्रसज्यते अर्थात् 'गौरी' इस पद के विषय में पूर्वसवर्ण दीर्घ मान लेने की दशा में आट् आगम (आण् नद्याः) तथा आम् आदेश (ङेराम् नद्याम्नीभ्यः) प्रसक्त होते हैं; कारण कि 'वार्णादाङ्गं बलीयः' अर्थात् वर्ण को होने वाले कार्य की अपेक्षा अंग को होने वाला कार्य बलवान् होता है। अतः प्रकृत सूत्र में 'अर्थे' पद का ग्रहण आवश्यक है।

(ङ) वचनात् अर्थात् 'ईदूतौ च सप्तमी' इतना सूत्र बना देने से सप्तमी लुक् के स्थलों पर भी वचनसामर्थ्य से प्रगृह्यसंज्ञा हो ही जायेगी। अतः सूत्र में 'अर्थे' पद का योग व्यर्थ है। यदि सप्तमी का लुक् होने की दशा में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हो सकेगी तो आचार्य का यह सूत्रपाठ ही व्यर्थ हो जायेगा।

(च) यत्र दीर्घत्वम्—'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्' यहाँ 'सरसी' पद में सप्तमी का लुक् नहीं है, अपितु दीर्घादेश (सरस् ङि—सरस् ई, 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्'—वा०) हुआ है। वचनसामर्थ्य से ऐसे स्थलों पर प्रगृह्यसंज्ञा हो जाया करेगी; परन्तु 'गौरी अधिश्रितः' जैसे स्थलों पर कथमपि प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी। अतः सूत्र में 'अर्थे' पद आवश्यक है।

(छ) तत्राऽपि सरसी यदि अर्थात् लोक में 'सरसी' शब्द प्रथमान्त प्राप्त होता है। गौरादि गण के उपगण पिप्पल्यादि गण में पठित 'सरस्' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'सरसी' यह प्रथमान्त शब्द सिद्ध होता है। 'सरसी' आदि पदों में सप्तमी का लुक् हो जाने पर भी वचनसामर्थ्य से 'सरसी' की प्रगृह्यसंज्ञा हो जाया करेगी। तब 'गौरी' आदि शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा निर्बाध हुआ करेगी। अतः 'अर्थे' पद का योग व्यर्थ है।

(ज) ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे अर्थात् 'तदन्तपक्ष में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है' यह ज्ञापित होता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रकृतसूत्र में 'अर्थे' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि तदन्तपक्ष (अर्थात् प्रत्ययलक्षण के बल पर) में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है। यथा—कुमार्योरगारम् इस लौकिक विग्रह तथा 'कुमारी ओस् अगार सु' इस अलौकिक विग्रह की दशा में समास होकर ओस् विभक्ति का लोप हुआ। 'कुमारी अगार' यहाँ प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'कुमारी' शब्द ईदन्त है तथा द्विवचनान्त भी है। तब प्रत्ययलक्षण के द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। इस दशा में 'अर्थे' पद व्यर्थ हो जाता है। तब ज्ञापित होता है कि प्रत्ययलक्षण के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है।[1] अतः प्रकृत सूत्र में 'अर्थे' पद का योग आवश्यक है।

(झ) मा वा पूर्वस्य भूत् अर्थात् ('अर्थे' पद के ग्रहण से) ज्ञापित होता है कि पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है।

अब शंका होती है कि 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति' परिभाषा के द्वारा पूर्वोक्त स्थल 'कुमारी अगार' पर प्रगृह्यसंज्ञा का बाध हो जाता है। तब 'अर्थे' पद की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि 'अर्थे' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है। यथा—'वाप्याम् अश्वः'। यहाँ समास होकर 'वापी अश्व' इस दशा

1. प्रदी० 1.1.19. तत् क्रियमाणमर्थग्रहणं प्रत्यय- लक्षणाभावं सूचयति।

में प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव की प्राप्ति होती है। तब 'अर्थे' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है। अतः प्रकृतसूत्र में 'अर्थे' पद का न्यास उचित है।

(20) दाधा घ्वदाप् *20* (2373)

दारूपाश्चत्वारो धातवो धारूपौ च द्वौ दाब्दैपौ वर्जयित्वा घुसंज्ञका भवन्ति। डुदाञ् (धा०पा० 1091)-प्रणिददाति। दाण् दाने (धा०पा० 930)-प्रणिदाता। दो (धा०पा० 1148)-प्रणिद्यति। देङ् (धा०पा० 962)-प्रणिदयते। डुधाञ् (धा०पा० 1092)-प्रणिदधाति। धेट् (धा०पा० 902)-प्रणिधयति वत्सो मातरम्।

अर्थ—दा रूप वाले (चार धातुओं) तथा धा रूप वाले (दो धातुओं) की घुसंज्ञा होती है, दाप् लवने तथा दैप् शोधने धातुओं को छोड़कर।

व्याख्या—'दाधा' का अर्थ है—दारूप व धारूप। अनुबन्ध लोप करने के पश्चात् जिनका स्वरूप 'दा' इस प्रकार रहता है, उन्हें दारूप धातु कहते हैं। ये चार हैं—डुदाञ् दाने (जु० उभ०), दाण् दाने (भ्वा० प०), दो अवखण्डने (दि० प०) तथा देङ् रक्षणे (भ्वा० आ०)।

अनुबन्ध लोप करने पर जिन धातुओं का रूप 'धा' इस प्रकार रहता है, उन्हें धारूप धातु कहा जाता है। ये दो हैं—डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु० उभ०) तथा धेट् पाने (भ्वा० प०)।

दो, देङ् तथा धेट्—इन धातुओं के अनुबन्धों का लोप करने पर 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० 6.1.45) के द्वारा आकार आदेश होकर दारूप/धारूप धातुएँ बन जाते हैं। 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। फलतः यहाँ सभी धातुओं का ग्रहण होता है।

कुछ धातु स्वतः दा/धा रूप वाले होते हैं। यथा—
डुदाञ्, दाण्, डुधाञ्।
इन्हें दा/धारूप वाले स्वाभाविक धातु कहते हैं। कुछ धातु 'आदेच उपदेशे—' से आकार अन्तादेश होकर दा/धारूप धारण कर लेते हैं। यथा—
देङ् > दा।
इन्हें दा/धारूप लाक्षणिक धातु कहते हैं।

प्रकृत सूत्र में 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' परिभाषा की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ दा/धारूप स्वाभाविक तथा लाक्षणिक दोनों प्रकार के धातुओं का ग्रहण होता है।

इसी प्रकार 'अदाप्' पद के द्वारा स्वाभाविक व लाक्षणिक दोनों प्रकार के 'दाप्' धातुओं का वर्जन होता है। यथा—
दाप् लवने (अदा० प०)।
दैप् शोधने (भ्वा० प०)।

उदा० (1) प्रणिददाति
प्र नि दा ति (लट् प्र० पु० एकव०)—प्रकृत सूत्र के द्वारा 'दा' की घुसंज्ञा, प्र नि ददाति → प्रणिददाति—'नेर्गदनदपतपद०' से णत्व।

(2) प्रणिदाता
प्र नि दा ता (लुट् प्र० पु० एकव०) पूर्ववत् घुसंज्ञा, णत्व।

(3) प्रणिद्यति
प्र नि दो ति → प्रणिद्यति। (पूर्ववत्)।

(4) प्रणिदयते
प्र नि दे त → प्रणिदयते (पूर्ववत्)।

(5) प्रणिदधाति
प्र नि धा ति → प्रणिदधाति (पूर्ववत्)।

(6) प्रणिधयति
प्र नि धे ति → प्रणिधयति (पूर्ववत्)।

अदाबिति किम्? दाप् लवने (धा०पा० 1059)-दातं बर्हिः। दैप् शोधने (धा०पा० 924)-अवदातं मुखम्।

व्याख्या—'अदाप्' का प्रयोजन यह है कि दाप् लवने तथा दैप् शोधने धातुओं को छोड़कर घुसंज्ञा होती है। यथा—
'दातं बर्हिः' यहाँ घुसंज्ञा नहीं हुई।
'अवदातं मुखम्'—यहाँ भी घुसंज्ञा नहीं हुई।

घुप्रदेशाः-'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (6.4.66) इत्येवमादयः।

व्याख्या—'घु' सञ्ज्ञा के निम्नलिखित फल हैं—

(क) 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (पा० 6.4.66) के द्वारा हलादि कित् प्रत्ययों में घुसञ्ज्ञक धातु को 'ईत्व' होता है। यथा—
दा यक् त (कर्मणि)।
दीयते (टि को एत्व)।
धा यक् त
धायते—टित आत्मनेपदा०
धीयते।

(ख) 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (पा० 6.4.199) के द्वारा 'हिं'

परे रहते घुसञ्ज्ञक धातु को एत्व तथा उसके अभ्यास का लोप होता है। यथा—

दा सिप्।
दा दा सि > हि।
दा दा हि—सेर्ह्यपिच्च
दे हि—अभ्यासलोप, एत्व।
धा सिप् → धा धा हि → धेहि।

(ग) 'एर्लिङि' (पा० 6.4.67.) सूत्र के द्वारा आर्धधातुक कित् लिङ् में घुसञ्ज्ञक धातु को एकार आदेश होता है। यथा—
दा तिप् (लिङ् में)।
दा यासुट् तिप्—यासुट् परस्मै०।
दा यास् त्।
दा यास् त् (संयोगादि लोप)।
दायात् (एत्व)। देयात्।
इसी प्रकार 'धेयात्' बनता है।

(घ) 'गातिस्थाघुपाभूभ्य:०' से लुङ् में घुसञ्ज्ञक से पर 'सिच्' का लुक् होता है। यथा—
अट् दा ति > त् (लुङ्) 'इतश्च'।
अदा सिच् त् → अदात्।
इसी प्रकार 'अधात्' बनता है।

(ङ) 'नेर्गदनदपतपद—' से णत्व होता है। यथा—
प्रनिददाति → प्रणिददाति।

(च) 'स्थाघ्वोरिच्च' से घुसञ्ज्ञक के अन्त्य अल् के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश तथा सिच् प्रत्यय कित्वत् होता है, आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते। यथा—
अ दा त → अदित।
अ धा त → अधित।

(छ) 'ई हल्यघो:' से हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक परे रहते घुसञ्ज्ञक के आकार को ईत्व नहीं होता है। यथा—

हा तस् → जा हा तस् → जहातस् → जहीत:।

(21) आद्यन्तवदेकस्मिन् *21* (348)

असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि न सिद्ध्यन्तीत्ययमतिदेश आरभ्यते। सप्तम्यर्थे वति:। आदाविव अन्त इव एकस्मिन्नपि कार्यं भवति। यथा कर्त्तव्यमित्यत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्वं भवति (3.1.3), एवमौपगवमित्यत्रापि यथा स्यात्। यथा वृक्षाभ्यामित्यत्रातोऽङ्गस्य दीर्घत्वम् (7.3: 102), वमाभ्यामित्यत्रापि यथा स्यात्।

अर्थ—एक में भी आदिवत् तथा अन्तवत् कार्य होते हैं।

व्याख्या—सूत्रस्थ 'एक' शब्द असहायवाची है। 'आदि' और 'अन्त' शब्द सापेक्ष होते हैं। एक से अधिक वर्णों में ही अन्तता व आदिता देखी जाती है। जिससे पूर्व कोई वर्ण न हो, वह 'आदि' कहलाता है तथा जिससे पश्चात् कोई वर्ण न हो, वह 'अन्त' कहलाता है। 'आदि' और 'अन्त' की प्रवृत्ति एक ही समय में तथा एक ही वर्ण में प्राप्त हो सके—इसके लिए प्रस्तुत सूत्र का आरम्भ किया गया है।

उदा० (1) कर्त्तव्यम्
कृ तव्यत् → कर्तव्य (सार्वधातुका०। उरण् रपर:),
कर्त्तव्य सु → कर्त्तव्यम्।
'आद्युदात्तश्च' से तव्यत् आद्युदात्त हुआ। कर्त्तव्यम्।

(2) औपगव:
उपगु अण्—अपत्य अर्थ में अण्,
औपगो अ → औपगव सु → औपगव:।

अब 'आद्युदात्तश्च' से 'अ' प्रत्यय आद्युदात्त हुआ, परन्तु 'अ' प्रत्यय में केवल एक वर्ण है। अत: इसका आदि व अन्त सम्भव नहीं है। प्रकृत सूत्र के द्वारा इस एक वर्ण (अ) में आदिता मानकर इसे आद्युदात्त किया—औपगव:।

(3) वृक्षाभ्याम्
वृक्ष भ्याम् 'सुपि च' से दीर्घादेश की प्राप्ति,
दीर्घादेश हुआ—वृक्षाभ्याम्।

(4) आभ्याम्
इदम् भ्याम्—इद अ भ्याम् → इद भ्याम् (अतो गुणे),
अ भ्याम् (हलि लोप:),

अब दीर्घादेश की प्राप्ति, अवर्ण में अन्तता प्राप्त होकर दीर्घादेश हुआ—आभ्याम्।

एकस्मिन्निति किम्? सभासन्नयने भव: साभासन्नयन:। आकारमाश्रित्य वृद्धसंज्ञा न भवति।

व्याख्या—सूत्रस्थ 'एकस्मिन्' पद का प्रयोजन यह है कि एक में ही आदिवत् तथा अन्तवत् कार्य होते हैं। यथा—

सभासन्नयने भव:—साभासन्नयन:। यहाँ आकार असहाय नहीं है, यह मध्य में स्थित है। अत: यहाँ 'वृद्धिर्यस्याचामा०' से वृद्धसंज्ञा नहीं होती है।

(22) तरप्तमपौ घ: *22* (2003)

तरप् तमप् इत्येतौ-प्रत्ययौ घसंज्ञौ भवत:। कुमारितरा।

कुमारितमा। ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। घप्रदेशाः- 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः' (6.3.43) इत्येवमादयः।

अर्थ—तरप् तथा तमप्—इन दो प्रत्ययों की घसंज्ञा होती है।

उदा० (1) कुमारितरा

कुमारी तरप्—'घरूपकल्पप्०' (पा० 6.3.43) से 'कुमारी' के ईकार को इकार हुआ। 'द्विवचनविभज्यो०' (पा० 5.3.57) से 'तरप्' हुआ है,

कुमारी तर टाप्—स्त्रीत्व में टाप्,

कुमारि तरा सु—कुमारितरा, सुलोप।

(2) कुमारितमा

कुमारी तमप्—'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० 5.3.55) से 'तमप्' हुआ, प्रकृत सूत्र से घसंज्ञा,

कुमारितमा—पूर्ववत् इकार, सु।

(3) ब्राह्मणितरा

पूर्ववत् तरप्, घसंज्ञा, इकार, सु।

(४) ब्राह्मणितमा (पूर्ववत्)।

घसंज्ञा के फल ये हैं—

'घरूपकल्पचेलड्ब्रुव०' इत्यादि।

(23) बहुगणवतुडति संख्या *23* (258)

बहुगणवतुडति (5.2.39.41) इत्येते संख्यासंज्ञा भवन्ति। बहुकृत्वः (5.4.17)। बहुधा (5.3.42)। बहुकः (5.1.12)। बहुशः (5.4.43)। गणकृत्वः। गणधा। गणकः। गणशः। तावत्कृत्वः। तावद्धा। तावत्कः। तावच्छः। कतिकृत्वः। कतिधा। कतिकः। कतिशः।

अर्थ—'बहु' तथा 'गण' शब्द की तथा 'वतु' व 'डति' प्रत्ययान्त शब्दों की संख्यासंज्ञा होती है।

उदा० (1) बहुकृत्वः

बहु — संख्या संज्ञा,

बहुकृत्वसुच्—'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्ति०' (पा० 5.4.17) से कृत्वसुच्,

बहुकृत्वस् — अनुबन्ध लोप,

बहुकृत्वः — सु, सुलोप।

(2) बहुधा

बहु धा — संख्यासंज्ञा, 'संख्यायाः विधार्थे०' (पा० 5.3.42),

बहुधा — सु, सुलोप।

(3) बहुकः

बहु कन् —'संख्याया अतिशब्दा०' (पा० 5:1.22),

बहुक सु—बहुकः।

(4) बहुशः

बहु शस् — 'बह्वल्पार्थाच्छस्' (पा० 5.4.42),

बहुशस् सु — बहुशः।

(5) गणकृत्वः

'गण' शब्द की संख्या संज्ञा, पूर्ववत् कृत्वसुच् आदि।

(6) गणधा

गण धा — गणधा सु — गणधा।

(7) गणकः

गण कन् — गणक सु — गणकः।

(8) गणशः

गण शस् — गणशः।

(9) तावत्कृत्वः

'वतु' प्रत्ययान्त 'तावत्' की संख्या संज्ञा।

(10) तावद्धा

तावत् धा — तावद् धा — तावद्धा।

(11) तावत्कः

तावत् कन् — तावत्क सु — तावत्कः।

(12) तावच्छः

तावत् शस् — तावच्छः (शश्छोऽटि, सु, सुलोप)।

(13) कतिकृत्वः

डतिप्रत्ययान्त 'कति' की संख्या संज्ञा,

कति कृत्वसुच् → कतिकृत्वस् →

कतिकृत्वः (सु, सुलोप)।

(14) कतिधा

कति धा → कतिधा।

(15) कतिकः

कति कन् → कतिकः।

(16) कतिशः

कति शस् → कतिशः।

बहुगणशब्दयोर्वैपुल्ये सङ्घे च वर्तमानयोरिह ग्रहणं

नास्ति । संख्यावाचिनोरेव । भूर्यादीनां निवृत्त्यर्थं संख्यासंज्ञा विधीयते ।

व्याख्या—यहाँ आधिक्यवाची बहु शब्द का तथा संघवाची गण शब्द का ग्रहण नहीं है, अपितु संख्यावाची 'बहु' तथा 'गण' शब्दों का ग्रहण यहाँ अभीष्ट है। 'वतु' तथ 'डति' प्रत्यय है। तदन्तविधि होकर अर्थ होता है—वतुप्रत्ययान्त तथा डतिप्रत्ययान्त।

भूरि (= प्रभूत) आदि शब्दों की निवृत्ति के लिए ही 'बहु' तथा 'गण' शब्दों की संख्या संज्ञा की जाती है।

***अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यं समासकन् विध्यर्थम्* (मा० भा० 1.82) अर्धपञ्चमशूर्पः । अर्धं पञ्चमं येषामिति बहुव्रीहौ कृतेऽर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः । तद्धितार्थेति (2.5.51) समासः । तत्र 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (2.1.50) इत्यनुवृत्तेस्ततः संख्यापूर्वस्य द्विगुसंज्ञायां (2.1.52) 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' (5.1.26) इत्यञ् ठञ्च । 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसञ्ज्ञायाम्' (5.1.28) इति लुक् । अर्धपञ्चमकः (5.1.22) । संख्याप्रदेशाः-'संख्या वंश्येन' (2.1.19) इत्येवमादयः ।**

व्याख्या—'अर्ध' शब्द है पूर्वपद में जिसके, ऐसे पूरण प्रत्ययान्त शब्द की संख्या संज्ञा होती है, समासविधि में तथा कन् विधि में।[1]

संख्या के क्रम को दिखलाने वाला प्रत्यय 'पूरण' प्रत्यय कहलाता है। तीय, डट् तथा मट् इत्यादि पूरणार्थक प्रत्यय हैं।

अर्धं पञ्चमं येषाम्—अर्धपञ्चमः—बहुव्रीहिसमास,

अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतः—प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'अर्धपञ्चम' शब्द की संख्या संज्ञा, तद्धितार्थ में समास,

अर्धपञ्चम शूर्प अञ्—'संख्यापूर्वो द्विगुः', 'शूर्पादन्य०' से 'अञ्'—

अर्धपञ्चम शूर्प सु—'अध्यर्ध०' से प्रत्यय का लुक्—
अर्धपञ्चमशूर्पः ।
पक्ष में 'ठञ्' होता है।
कन् विधि में पूर्ववत् कार्य होकर
अर्धपञ्चमकः बनता है।

संख्या संज्ञा के फल ये हैं—
'संख्या वंश्येन' इत्यादि।

1. महा0 1.1.23. (वा०)

(24) ष्णान्ता षट् *24* (369)

स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् संख्येति सम्बध्यते । षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञा भवति । षकारान्तास्तावत्-षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य । नकारान्ताः-पञ्च, सप्त, नव, दश ।

अर्थ—षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है।

व्याख्या—सूत्रस्थ 'ष्णान्ताः' पद में स्त्रीलिंग का निर्देश होने से इसके साथ पूर्वसूत्र 'बहुगणवतु०' से 'संख्या' पद का सम्बन्ध होता है।

यहाँ छः शब्द (पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन् तथा षष्) संज्ञी हैं तथा 'षट्' शब्द संज्ञा है, जिसका अर्थ 'छः' होता है। अतः 'षट्' संज्ञा अन्वर्थ है।

उदा० (1) षट् तिष्ठन्ति
षष् जस् — षट् संज्ञा, 'षड्भ्यो लुक्' से 'जस्' का लुक्,
षष् → षड् — प्रत्ययलक्षण से पदसंज्ञा, 'झलां जशोऽन्ते',
षट्, षड् — 'वाऽवसाने'।
इसी प्रकार षष् शस् — षट् (पश्य)।

(2) पञ्च
पञ्चन् जस् — षट्संज्ञा, लुक्,
पञ्चन् → पञ्च — 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'।

(3) सप्त
सप्तन् जस् — पूर्ववत्।

(4) नव
नवन् जस् (पूर्ववत्)।

(5) दश
दशन् जस् — दश (पूर्ववत्)।

अन्तग्रहणमौपदेशिकार्थम् । तेनेह न भवति-शतानि, सहस्राणि । अष्टानामित्यत्र नुड् भवति (7.1.55) । षट्प्रदेशाः-'षड्-भ्यो लुक्' (7.1.22) इत्येवमादयः ।

व्याख्या—'ष्णान्ताः' पद में 'अन्त' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि उपदेशकाल में जो 'ष्' तथा 'ण्', वे हैं अन्त में जिसके, ऐसे शब्द की षट्संज्ञा होती है। यथा—

शत जस्—शत शि—शत नुम् इ—शतान् इ। यहाँ 'शतान्'

नकारान्त है तथा संख्यावाची भी है। तब षट्संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु यह उपदेशकाल में नकारान्त नहीं है। अतः षट्संज्ञा नहीं होती है। यदि षट्संज्ञा कर देंगे तो जस् विभक्ति (शि) का लुक् होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा। शतानि।

इसी प्रकार 'सहस्राणि' में जानना चाहिए।

अष्टन् आम्—इस दशा में 'षट्चतुर्भ्यश्च' से नुट् होकर 'अष्टानाम्' बनता है। आत्व कर देने पर 'अष्ट आ नुट् आम्' इस दशा में नकारान्त न रहने से षट्संज्ञा प्राप्त नहीं होती है, परन्तु उपदेशकाल में 'अष्टन्' शब्द के नकारान्त होने से षट्संज्ञा निर्बाध हो जाती है।

आचार्य कात्यायन तथा महर्षि पतञ्जलि काशिकाकार से सहमत नहीं हैं। उन दोनों आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में अन्तग्रहण औपदेशिकार्थ नहीं है। पूर्वोक्त दोनों स्थलों (शतानि व अष्टानाम्) पर सन्निपात लक्षण परिभाषा के द्वारा इष्टसिद्धि हो सकती है। तब अन्तग्रहण औपदेशिकार्थ मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

षट्संज्ञा के फल हैं—
षड्भ्यो लुक्, षट्चतुर्भ्यश्च इत्यादि।

(25) डति च *25* (259)

डत्यन्ता च या संख्या सा षट्संज्ञा भवति। कति तिष्ठन्ति। कति पश्य।

अर्थ—डति प्रत्ययान्त संख्यावाची शब्द की षट्संज्ञा होती है।

उदा० (1) कति तिष्ठन्ति
किम् डति—प्रातिपदिक संज्ञा, 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' के अधिकार में 'डति' प्रत्यय (किमः संख्यापरिमाणे० 5.2.51),
किम् अति—अनुबन्धलोप, 'यचि भम्' से भसंज्ञा,
क् अति—'भस्य' तथा 'टेः',
कति—षट् संज्ञा,
कति जस् → कति—'षड्भ्यो लुक्',
कति।

(2) कति पश्य
कति शस् → कति (पूर्ववत्)।

(26) क्तक्तवतू निष्ठा *26* (3012)

क्तश्च क्तवतुश्च = क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञौ भवतः। कृतः। कृतवान्। भुक्तः। भुक्तवान्।

अर्थ—'क्त' तथा 'क्तवतु' प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है।

उदा० (1) कृतः
कृ—धातुसंज्ञा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च, निष्ठा—इन सूत्रों के अधिकार में निष्ठासंज्ञक प्रत्यय हुआ—
कृ क्त—'क्तक्तवतू निष्ठा' से निष्ठा, अनुबन्धलोप,
कृ त—'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा,
कृत सु—आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, 'क्ङिति च' से निषेध, सुप् विभक्ति,
कृतः।

(2) कृतवान्
कृ क्तवतु—पूर्ववत् प्रत्यय आया,
कृ तवत् सु—कृतवान्।

(3) भुक्तः
भुज् क्त—पूर्ववत्,
भुज् त—अनुबन्धलोप, प्राप्त गुण का निषेध,
भुक्तः—कुत्व, 'खरि च' तथा सु आया।

(4) भुक्तवान्
भुज् क्तवतु—भुक्तवान् (पूर्ववत्)।

ककारः कित्कार्यार्थः। उकार उगित्कार्यार्थः। निष्ठा-प्रदेशाः-'श्वीदितो निष्ठायाम्' (7.2.14) इत्येवमादयः।

व्याख्या—'क्त' तथा 'क्तवतु' में ककार को इत् करने का प्रयोजन है—कित् सम्बन्धी कार्य करना। कित् होने से 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होता है। 'क्तवतु' में उकार अनुबन्ध का प्रयोजन है—उगित् कार्य करना। क्तवतु प्रत्ययान्त शब्द से 'उगितश्च' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

निष्ठा संज्ञा के प्रयोजन हैं—
'श्विदितो निष्ठायाम्' आदि।

(27) सर्वादीनि सर्वनामानि *27* (213)

सर्वशब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वः, सर्वौ, सर्वे (7.1.17)। सर्वस्मै (7.1.14)। सर्वस्मात् (7.1.15)। सर्वेषाम् (7.1.52)। सर्वस्मिन् (7.1.15)। सर्वकः (5.1.71)। विश्वः। विश्वौ। विश्वे। विश्वस्मै। विश्वस्मात्। विश्वेषाम्। विश्वस्मिन्। विश्वकः। उभ। उभय। उभशब्दस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनं 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' (2.3.27) इति। (उभाभ्यां हेतुभ्यां वसति, उभयोः हेत्वोः वसति) उभये। उभयस्मै।

उभयस्मात्। उभयेषाम्। उभयस्मिन्। डतर, डतम, कतर, कतम, कतरस्मै-कतमस्मै। इतर, अन्य, अन्यतर, इतरस्मै, अन्यस्मै, अन्यतरस्मै। त्वशब्दोऽन्यवाची, स्वरभेदाद् द्विःपठितः। एक उदात्तः, द्वितीयोऽनुदात्तः। केचित् तकारान्तमेकं पठन्ति। (ऋ०) त्व-त्वदिति द्वावपि चानुदात्ताविति स्मरन्ति। नेम। नेमस्मै। वक्ष्यमाणेन जसि विभाषा भवति-नेमे, नेमाः (1.1.33) इति। सम। समस्मै। कथं 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' (1.3.10) 'समे देशे यजेत' इति? समस्य सर्वशब्दपर्यायस्य सर्वनामसंज्ञेष्यते, न सर्वत्र। सिम-सिमस्मै।

अर्थ—सर्व आदि गणपठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदा० (1) सर्वः

सर्व—प्रातिपदिक संज्ञा, 'सु' प्रत्यय प्रथमा एकवचन में हुआ, सर्व सु—सर्वः।

(2) सर्वौ

सर्व औ—प्रथमा द्विवचन में 'औ' हुआ, वृद्धिं प्राप्त हुई, वृद्धि का बाध होकर पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति तथा सवर्णदीर्घ का निषेध,

सर्वौ — वृद्धिरेचि।

(3) सर्वे

सर्व—प्रतिपदिक संज्ञा, प्रथमा बहुव० में 'जस्' हुआ,

सर्व जस्—सर्वनाम संज्ञा, 'जसः शी' से 'शी',

सर्व शी → सर्व ई → सर्वे—अनुबन्धलोप, 'आद्गुणः' से गुण।

(4) सर्वस्मै

सर्व ङे — पूर्ववत् 'ङे' हुआ, सर्वनामसंज्ञा,

सर्व स्मै — 'सर्वनाम्नः स्मै',

सर्वस्मै।

(5) सर्वस्मात्

सर्व ङसि - 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ',

सर्वस्मात्।

(6) सर्वेषाम्

सर्व आम्—ष० बहुव०, 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (7.1.52),

सर्व सुट्, आम्—सर्व साम्—सर्वेषाम्।

(7) सर्वस्मिन्

सर्व ङि—'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (7.1.15.),

सर्वस्मिन्।

(8) सर्वकः

सर्व—सर्वनामसंज्ञा, 'अव्ययसर्वनाम्नामक०' (5.3.71),

सर्व अकच् अ—सर्वक सु—सर्वकः।

(9) विश्वः

विश्व सु—विश्वः। 'विश्व' शब्द का अर्थ है—सम्पूर्ण।

सर्वादि गण में पठित होने से 'विश्व' की सर्वनामसंज्ञा होती है तथा 'सर्व' के सभी कार्य यहाँ घटित होते हैं। यथा—

विश्वौ, विश्वे, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वेषाम्, विश्वस्मिन्, विश्वकः।

(10) 'उभ' शब्द नित्य द्विवचनान्त है।

अब शंका होती है कि सर्वनामता एकवचन (ङे, ङसि, ङि) तथा बहुवचन (जस्, आम्) में ही चरितार्थ होती है। उभशब्द नित्य द्विवचनान्त है। तब उभशब्द में सर्वनामता का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका समाधान यह है कि उभ शब्द की सर्वनाम संज्ञा करने के दो फल हैं— 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' (2.3.27.)। यथा—

उभाभ्यां हेतुभ्यां वसति, उभयोः हेत्वोः वसति।

यहाँ हेतु अर्थ की विवक्षा में सर्वनामसंज्ञा शब्द से तृतीया व षष्ठी होती है।

उभ शब्द की सर्वनामता का दूसरा फल यह है कि उभ शब्द से 'अकच्' होता है—उभकौ। 'उभकौ' शब्द 'क' प्रत्यय से निष्पन्न नहीं होता है। यथा—'उभ क औ' इस दशा में बीच में व्यवधान (अर्थात् 'क' प्रत्यय) होने से द्विवचन का विघात होकर 'अयच्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है। तब 'उभयकौ' रूप बनता है।

'अकच्' टि अंश से पूर्व होता है। 'तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन०' परिभाषा से द्विवचन का व्याघात नहीं होता है। तब 'अयच्' की निवृत्ति होकर 'उभकौ' रूप बनता है।

(11) उभये, उभयस्मात्, उभयेषाम्, उभयस्मिन्

'उभय' शब्द का द्विवचन नहीं होता है।

(12) कतरस्मै, कतमस्मै

'किम्' से डतर व डतम प्रत्ययान्त 'कतर' व 'कतम' शब्दों से 'ङे' विभक्ति में रूप बनते हैं।

(13) इतरस्मै, अन्यस्मै, अन्यतरस्मै

इतर, अन्य तथा अन्यतर शब्दों से 'ङे' हुआ है।

यद्, तद् तथा एक शब्दों से डतर व डतम प्रत्यय करने पर क्रमशः यतर, यतम, तर, ततम, एकतर तथा एकतम शब्द बनते हैं।

(14) 'त्व' शब्द अन्यवाची है। स्वरभेद से यह दो प्रकार का है—त्व (उदात्त) तथा त्वत् (अनुदात्त)। कुछ तकारान्त पाठ (त्वत्) मानते हैं।

(15) नेम (= आधा) की जस् विभक्ति में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है—

नेम जस्—नेम शी—(जसः शी)।

नेम जस्—नेमाः।

(16) समस्मै

सम (= सब) की सर्वनाम संज्ञा होती है। सम (= तुल्य) शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है। इसमें आचार्य का 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्रपाठ ज्ञापक है।

(17) सिमस्मै।

***पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्* (1.1.34 ग०सू० 1)। *स्वमज्ञातिधनाख्याम्* (1.1.35 ग०सू० 2)। *अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः* (1.1.36 ग०सू० 3)। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। सर्वादिः। सर्वनामप्रदेशाः–'सर्वनाम्नः स्मै' (7.1.14) इत्येवमादयः।**

व्याख्या—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर तथा अधर शब्दों की (जस् विभक्ति में) संज्ञाभिन्न व्यवस्था में सर्वनाम संज्ञा होती है।

स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था अर्थात् जहाँ पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो, उसे 'व्यवस्था' कहते हैं। जिसकी अपेक्षा हो उसे 'अपेक्ष' कहते हैं। 'अभिधेय' का अर्थ है—वाच्य। स्व शब्द जिसका अर्थ 'आत्मीय' तथा 'धन' न हो तो, उसकी सर्वनामसंज्ञा होती है।

स्वशब्द के चार अर्थ हैं—स्वयम्, अपना, ज्ञाति और धन।

बाह्य तथ उपसंव्यान (= परिधानीय) अर्थों में 'अन्तर' शब्द की सर्वनामसंज्ञा होती है।

बहिर्योग का अर्थ है—बाह्य।

सर्वादिगुण में निम्नलिखित 35 शब्दों का पाठ है—

1. सर्व (= सब), 2. विश्व (= सब), 3. उभ (= दो), 4. उभय (= दो का समुदाय), 5. डतर (प्रत्ययान्त शब्द = दो में से एक का निर्धारण, यथा—कतर), 6. डतम (प्रत्ययान्त शब्द = अनेक में से एक का निर्धारण, यथा—कतम), 7. अन्य (= दूसरा), 8. अन्यतर (= दो में से एक), 9. इतर (= दूसरा), 10. त्वत् (= अन्य), 11. त्व (= अन्य), 12. नेम (= आधा), 13. सम (= सब), 14. सिम (= सब), 15. पूर्व (= पहला), 16. पर (= दूसरा), 17. अवर (= पश्चिम), 18. दक्षिण (= दक्षिण दिशा), 19. उत्तर (= उत्तर दिशा), 20. अपर (= पश्चिम), 21. अधर (= नीचा), 22. स्व (= अपना), 23. अन्तर (= बाहर का, अधोवस्त्र), 24. एतद् (= यह), 25. त्यद्, 26. तद्, 27. यद्, 28. इदम् (= यह), 29. अदस् (= वह), 30. एक (= एक संख्या), 31. द्वि (= दो संख्या), 32. युष्मद् (= तुम), 33. अस्मद् (= मैं), 34. भवतु (= आप), 35. किम् (= कौन)।

सर्वादि गण में एक 'त्यदादि' उपगण भी प्राप्त होता है। इस उपगण में बारह शब्दों का पाठ है—

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु तथा किम्।

सर्वनामसंज्ञा के फल ये हैं—

सर्वनाम्नः स्मै, ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ, आमि सर्वनाम्नः सुट् इत्यादि।

(28) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ *28* (292)

'न बहुव्रीहौ' (1.1.29) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति, तस्मिन्नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विभाषेयमारभ्यते। दिशां समासो दिक्समासः। दिगुपदिष्टे समासे बहुव्रीहौ विभाषा सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै। दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै।

अर्थ—दिशावाची बहुव्रीहि समास में 'सर्व' आदि शब्दों की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

'विभाषा' का अर्थ है—विकल्प। 'दिक्समासे' का अर्थ है—दिशाओं का समास।

उदा० (1) उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोरन्तरालम्—इस दशा में समास होकर 'उत्तरपूर्वा' शब्द बनता है।

उत्तरपूर्वा ङे—चतुर्थी एकव० में, विकल्प से सर्वनामसंज्ञा, उत्तरपूर्वस्यै।

पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है—

उत्तरपूर्वायै।

(2) दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै

पूर्ववत् वैकल्पिक सर्वनामता होकर दो रूप बनते हैं।

दिग्ग्रहणं किम् 'न बहुव्रीहौ' (1.1.29) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति, तत्र न ज्ञायते। क्व विभाषा, क्व प्रतिषेध इति। दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे ज्ञायते-दिगुपदिष्टसमासे विभाषा-ऽन्यत्र प्रतिषेध इति। समासग्रहणं किम्? समास एव यो बहुव्रीहिस्तत्र विभाषा यथा स्यात्। बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र भा भूत्-दक्षिणदक्षिणस्यै (8.1.10) देहि। बहु-व्रीहाविति किम्? द्वन्द्वे विभाषा मा भूत्-दक्षिणो-त्तरपूर्वाणामिति (म०भा० 1.10)। 'द्वन्द्वे च' (1.1.31) इति नित्यं प्रतिषेधो भवति।

व्याख्या—(क) 'दिग्ग्रहण' का फल यह है कि दिशाओं का समास होने पर ही विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है—

अग्रिम सूत्र 'न बहुव्रीहौ' के द्वारा बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया गया है। प्रकृत सूत्र में 'दिक्' शब्द के योग से ज्ञात होता है कि बहुव्रीहि में दिशाओं का समास करने की दशा में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है तथा अन्यत्र बहुव्रीहि में सर्वनामता का निषेध होता है।

(ख) सूत्र में 'समासे' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि समास में ही बहुव्रीहि होने पर सर्वनाम संज्ञा का विकल्प होता है, बहुव्रीहि के समान जो बहुव्रीहि है, उसकी सर्वनामता नहीं होती है—

दक्षिणदक्षिणस्यै—यहाँ 'एकं बहुव्रीहिवत्' (8.1.9.) से 'बहुव्रीहिवत्' का अनुवर्त्तन कर 'आबाधे च' (8.1.10) के द्वारा 'दक्षिण' शब्द का द्वित्व होकर रूप बना है। समास नहीं हुआ है। अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

(ग) सूत्र में 'बहुव्रीहौ' पद का प्रयोजन यह है कि बहुव्रीहि समास में ही दिशाओं का समास होने पर सर्वनाम संज्ञा का विकल्प होता है—

दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्—यहाँ द्वन्द्व समास है, बहुव्रीहि नहीं है। अतः सर्वनाम संज्ञा का विकल्प नहीं हुआ। 'द्वन्द्वे च' से नित्य निषेध होकर रूप बना है।

(29) न बहुव्रीहौ *29* (222)

सर्वनामसंज्ञायां तदन्तविधेरभ्युपगमाद् बहुव्रीहेरपि सर्वाद्यन्तस्य संज्ञा स्यादिति प्रतिषेध आरभ्यते। बहुव्रीहौ समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। प्रियविश्वाय। प्रियोभयाय। द्व्यन्याय। त्र्यन्याय। इह च त्वत्कपितृकः मत्कपितृक इत्यकज्न भवति।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'सर्व' आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है।

व्याख्या—सर्वनामता के विषय में तदन्तविधि होती है। तब 'प्रियविश्व' की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है। इसके निषेध के लिए प्रस्तुत सूत्र का पाठ है।

उदा० (1) प्रियविश्वाय

प्रियाः विश्वे यस्य सः—बहुव्रीहि समास हुआ,

प्रियविश्व ङे—सर्वनामता का निषेध, 'ङेर्यः',

प्रियविश्व य—प्रियविश्वाय—'सुपि च'।

(2) प्रियोभयाय

प्रियोभय ङे—प्रियोभयाय।

(3) द्व्यन्याय

द्व्यन्य ङे—द्व्यन्याय।

(4) त्र्यन्याय

त्र्यन्य ङे—त्र्यन्याय।

(5) त्वत्कपितृकः

सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से 'अकच्' नहीं हुआ। 'प्रगिवात्कः' से 'क' हुआ है।

(6) मत्कपितृकः

पूर्ववत् 'क' हुआ है।

बहुव्रीहाविति वर्त्तमाने पुनर्बहुव्रीहिग्रहणं भूतपूर्वमात्रेऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात्-वस्त्रान्तरवसनान्तराः (म०भा० 1.90) इति।

व्याख्या—शंका होती है कि पूर्व सूत्र 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' से 'बहुव्रीहौ' पद का अनुवर्त्तन सम्भव होने पर भी पुनः प्रकृत सूत्र में 'बहुव्रीहौ' पद का ग्रहण किसलिए किया गया? समाधान यह है कि प्रकृत सूत्र में 'बहुव्रीहौ' पद की अनुवृत्ति सम्भव होने पर भी पुनः 'बहुव्रीहौ' पद का पाठ करने का प्रयोजन है कि भूतपूर्व बहुव्रीहि की दशा में भी सर्वनाम संज्ञा का निषेध होता है। यथा—वस्त्रम् अन्तरं येषाम्—इस प्रकार बहुव्रीहि समास करके तथा 'वसनम् अन्तरं येषाम्' यहाँ बहुव्रीहि समास करके 'वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च' इस प्रकार द्वन्द्व करके 'वस्त्रान्तर-वसनान्तराः' रूप बनता है। यहाँ वर्त्तमान में बहुव्रीहि नहीं है,

भूतपूर्व हुआ है, तदपि निषेध हो गया। वर्त्तमान में द्वन्द्व समास है, परन्तु 'द्वन्द्वे च' तथा 'विभाषा जसि' के द्वारा 'जस्' में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प नहीं होता है।

(30) तृतीयासमासे *30* (223)

तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। मासपूर्वाय। संवत्सरपूर्वाय। द्व्यहपूर्वाय। त्र्यहपूर्वाय।

अर्थ—तृतीया तत्पुरुष समास में सर्वादि गण में पठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है।

उदा० (1) मासपूर्वाय
मासेन पूर्वः → मासपूर्व—समास हुआ,
मासपूर्व ङे → मासपूर्वाय—सर्वनामसंज्ञा का निषेध।
(२) सँवत्सरपूर्वाय (पूर्ववत्)।
(३) द्व्यहपूर्वाय (पूर्ववत्)।
(४) त्र्यहपूर्वाय (पूर्ववत्)।

समासे इति वर्तमाने पुनः समासग्रहणं तृतीया-समासार्थवाक्येऽपि प्रतिषेधो यथा स्यात्–मासेन पूर्वाय। 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः' (2.1.31) इति तृतीयासमासं प्रतिपदं वक्ष्यति, तस्येदं ग्रहणं न यस्य कस्यचित्तृतीयासमासस्य 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' (2.1.32) इति। त्वयका कृतम्, मयका कृतम्।

व्याख्या—(क) 'समासे' पद का अनुवर्त्तन सम्भव रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र में 'समासे' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि तृतीया तत्पुरुष के वाक्य की दशा में भी सर्वनामसंज्ञा का निषेध होता है। यथा—

मासेन पूर्वाय—यहाँ समास नहीं हुआ। समास का वाक्य है। तब सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो गया है।

(ख) 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुण०' (पा० 2.1.31) आदि के द्वारा विहित प्रतिपदोक्त समास होता है। प्रतिपदोक्त समास की दशा में ही यह निषेध प्रवृत्त होता है। तब 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' (पा० 2.1.32) के द्वारा होने वाले तृतीया तत्पुरुष की दशा में उक्त निषेध नहीं होता है—

त्वयका कृतम्—यहाँ सर्वनामसंज्ञा, अकच् प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार—मयका कृतम्।

(31) द्वन्द्वे च *31* (224)

द्वन्द्वे च समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। पूर्वापराणाम्। कतरकतमानाम्।

अर्थ—द्वन्द्व समास में सर्वादि गणपठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है।

उदा० (1) पूर्वापराणाम्
पूर्वाश्चाऽपराश्च → पूर्वापर—समास हुआ,
पूर्वापर आम्—सर्वनाम संज्ञा की प्राप्ति, प्रस्तुत सूत्र से निषेध,
पूर्वापराणाम्—नुट्, दीर्घ, णत्व।
(2) कतरकतमानाम्
पूर्ववत् सर्वनामता का निषेध हो गया।

(32) विभाषा जसि *32* (225)

पूर्वेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते जसि विभाषाऽऽरभ्यते। द्वन्द्वे समासे जसि विभाषा सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। कतरकतमे, कतरकतमाः।

अर्थ—द्वन्द्व समास में सर्वादि गण में पठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से नहीं होती है, जस् सम्बन्धी कार्य में।

निषेध के विकल्प का अभिप्राय विधि का विकल्प ही है। एक पक्ष में निषेध होता है तथा दूसरे पक्ष में निषेध प्रवृत्त नहीं होता है।

उदा० (1) कतरकतमाः, कतरकतमे
कतरकतम जस्—द्वन्द्वसमास, जस् हुआ,
कतरकतमाः—सर्वनामता का निषेध हुआ।
कतरकतमे—विकल्प से निषेध हुआ। पक्ष में सर्वनाम संज्ञा का निषेध नहीं हुआ।

जसः कार्यं प्रति विभाषाऽकज् हि न भवति–कतरकतमकाः।

व्याख्या—जस् सम्बन्धी कार्य में ही उक्त विकल्प होता है। अकच् के विषय में नहीं होता है। तब एक ही रूप बनता है—
कतरकतमकाः।

(33) प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च *33* (226)

'विभाषा जसि' (1.1.32) इति वर्त्तते। 'द्वन्द्वे' (1.1.31) इति निवृत्तम्। प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम–इत्येते जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति। प्रथमे, प्रथमाः। चरमे, चरमाः। द्वितये, द्वितयाः। अल्पे, अल्पाः। अर्धे, अर्धाः। कतिपये, कतिपयाः। नेमे, नेमाः। 'तय' इति तयप्प्रत्ययः। शिष्टानि प्रातिपदिकानि। तत्र 'नेम' इति सर्वादिषु पठ्यते, तस्य प्राप्ते विभाषा,

अन्येषामप्राप्ते। उभयशब्दस्य तयप्प्रत्ययान्तस्य गणे पाठान्नित्या सर्वनामसंज्ञा इहापि जस्कार्यं प्रति विभाषा। काऽकचोर्यथायोगं वृत्तिः।

अर्थ—प्रथम, चरम, तयप् प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध, कतिपय तथा नेम—इन शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है, जस् सम्बन्धी कार्य में।

उदा० (1) प्रथमे, प्रथमाः
प्रथम जस्—सर्वनामता का विकल्प हुआ,
प्रथम शी → प्रथमे।
प्रथम जस्—प्रथमाः। पक्ष में सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई।

(2) चरमे, चरमाः (पूर्ववत्)।
(3) द्वितये, द्वितयाः
'द्वि' शब्द से 'तयप्' करके 'द्वितय' बनता है।
(4) अल्पे, अल्पाः (पूर्ववत्)।
(5) अर्धे, अर्धाः (पूर्ववत्)।
(6) कतिपये, कतिपयाः (पूर्ववत्)।
(7) नेमे, नेमाः (पूर्ववत्)।

व्याख्या—(क) **'तय'** 'तयप्' प्रत्यय है। तब तदन्त विधि होती है।

शेष (अर्थात् 'प्रथम' आदि) शब्द प्रातिपदिक हैं।

यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। 'नेम' शब्द का सर्वादि गण में पाठ है। अतः 'जस' में 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से नित्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्राप्त का विकल्प कह दिया गया।

शेष 'प्रथम' आदि शब्दों की सर्वनामता प्राप्त नहीं थी। अतः अप्राप्त का विकल्प कह दिया गया।

(ख) **उभय०**—'संख्याया अवयवे तयप्' (5.2.42.) से 'तयप्' होता है। इसके स्थान पर 'उभादुदात्तो नित्यम्' (5.2.24) से 'अयच्' होता है। तब स्थानिवद्भाव से 'उभय' तयप् प्रत्ययान्त है। इसकी 'जस्' में सर्वनामसंज्ञा होती है। प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प कह दिया है।

(ग) **काकचो०**—'क' और 'अकच्' यथायोग वृत्ति है। 'नेम' तथा 'उभय' शब्दों से 'अकच्' होता है। शेष 'प्रथम' आदि शब्दों से 'क' प्रत्यय होता है।

(34) पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् *34* (218)

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर-इत्येतेषां गणे पाठात्पूर्वेण नित्यायां सर्वनामसंज्ञायां प्राप्तायां जसि विभाषाऽऽरभ्यते। पूर्वादीनि विभाषा जसि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। पूर्वे, पूर्वाः। परे, पराः। अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः। उत्तरे, उत्तराः। अपरे, अपराः। अधरे, अधराः।

अर्थ—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर तथा अधर—इन शब्दों की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, संज्ञा से भिन्न व्यवस्था की दशा में।

व्याख्या—(क) **पूर्व०**—पूर्व आदि शब्दों का सर्वादि गण में पाठ होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि' से नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा विभाषा कही गई है।

(ख) **स्वाभि०**—'व्यवस्था' शब्द की परिभाषा पा० 1.1.27 पर कही जा चुकी है। वहाँ देख लेवें।

व्यवस्था में सूत्रपठित पूर्व आदि शब्द तीन प्रकार के हैं—

1. देशवाची—'वाराणसीपूर्वा' इस वाक्य में 'पूर्वा' शब्द का अर्थ है—पूर्व दिशा में स्थित नगरविशेष 'वाराणसी'। यह अभिधेय है। इस अभिधेय के द्वारा अवधि के नियम की अपेक्षा अर्थात् आकांक्षा होती है कि 'किससे पूर्व में (वाराणसी) है?' इसका उत्तर है—इन्द्रप्रस्थात् अर्थात् इन्द्रप्रस्थ से (पूर्व में है)। इस प्रकार अभिधेय ('पूर्वा' शब्द का अर्थ) अवधि के नियम (अर्थात् इन्द्रप्रस्थात्) की आकांक्षा रखता है। अतः यहाँ 'पूर्व' शब्द का प्रयोग व्यवस्था में है।

2. कालवाची—'पूर्वे कृष्णादयो राजानः' यहाँ 'पूर्वे' शब्द का अर्थ है—पूर्व काल में स्थित कृष्ण आदि राजा लोग। यह अभिधेय है। इस अभिधेय के द्वारा अवधि के नियम की जिज्ञासा होती है—कृष्ण आदि राजा किससे पूर्व हैं? यह आकांक्षा हुई। तब उत्तर प्राप्त होता है—'दुःषन्तादिभ्यः' अर्थात् दुःषन्त आदि राजा लोगों से पूर्व हुए हैं। यहाँ अभिधेय (पूर्वे कृष्णादयो राजानः) के द्वारा अवधि के नियम (दुःषन्तादिभ्यः) की आकांक्षा है। अतः व्यवस्था हुई।

3. दिशावाची—'पूर्वस्यामुदेति भास्करः' यहाँ 'पूर्वा' पद दिशावाची है। दिशा का ज्ञान ध्रुव नक्षत्र से होता है। अभिधेय (= वाच्य) के द्वारा अवधि के नियम की आकांक्षा होने से व्यवस्था हुई।

उदा० (1) पूर्वे, पूर्वाः
'पूर्वे' शब्द व्यवस्था में है। 'जस्' में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा,

पूर्व जस्—पूर्वे।
पक्ष में—पूर्वाः।
(2) परे, पराः (पूर्ववत्)।
(3) अवरे, अवराः (पूर्ववत्)।
(4) दक्षिणे, दक्षिणाः (पूर्ववत्)।
(5) उत्तरे, उत्तराः (पूर्ववत्)।
(6) अपरे, अपराः (पूर्ववत्)।
(7) अधरे, अधराः (पूर्ववत्)।

व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गाथकाः, प्रवीणा इत्यर्थः। असंज्ञायामिति किम् ? उत्तराः कुरवः। सत्यामेव व्यवस्थायामियं तेषां संज्ञा।

व्याख्या—(क) **व्यवस्था०**—'व्यवस्थायाम्' का प्रयोजन यह है कि **व्यवस्था** में ही पूर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है—

दक्षिणा इमे गाथकाः—यहाँ व्यवस्था नहीं है। अतः सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई।

(ख) 'असंज्ञायाम्' का प्रयोजन है कि **संज्ञा के विषय** को छोड़कर पूर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है—

उत्तराः कुरवः—यहाँ संज्ञा है। अतः सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई।

(35) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् *35* (219)

अत्रापि नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता जसि विभाष्यते। स्वमित्येतच्छब्दरूपं जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञं भवति, न चेज्ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते। स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः। स्वे गावः, स्वा गावः। आत्मीया इत्यर्थः। ज्ञातिप्रतिषेधः इति किम् ?

धूमायन्त इवाश्लिष्टाः प्रज्वलन्तीव संहताः।
उल्मुकानीव मेऽमी स्वा ज्ञातयो भरतर्षभ॥
(भा० 5.36.38)

अधनाख्यायामिति किम् ? प्रभूताः स्वा न दीयन्ते, प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते। प्रभूतानि धनानीत्यर्थः।

अर्थ—'जस्' सम्बन्धी कार्य में 'स्व' शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, ज्ञाति (= आत्मीय) तथ धन की आख्या को छोड़कर।

उदा० (1) स्वे, स्वाः (पुत्राः)
यहाँ न तो 'ज्ञाति' अर्थ है और न ही 'धन' अर्थ है। अतः विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हुई।

(2) स्वे, स्वाः (गावः)
पूर्ववत्।

व्याख्या—(क) **अत्रापि०**—यहाँ नित्य सर्वनामता प्राप्त थी। विकल्प कहा गया है।

'स्व' शब्द के चार अर्थ होते हैं—

1. आत्मा (= स्वयम्), 2. आत्मीय (= अपना), 3. ज्ञाति (= बान्धव) तथा 4. धन।

प्रथम दो अर्थों में 'स्व' शब्द की नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इन अर्थों में विकल्प कहा गया है।

(ख) **ज्ञातिप्रति०**—'ज्ञाति' अर्थ को छोड़कर ही सर्वनाम संज्ञा कही गई है—स्वा ज्ञातयः (भा 5.36.38) यहाँ सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

(ग) **अधनाख्या०**—'धन' अर्थ को छोड़कर ही सर्वनाम संज्ञा कही गई है—प्रभूताः स्वाः यहाँ 'धन' अर्थ है। अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

(36) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः *36* (220)

अत्रापि पूर्वेण नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता सा जसि विभाष्यते। अन्तरमित्येतच्छब्दरूपं विभाषा जसि सर्वनामसंज्ञं भवति बहिर्योग उपसंव्याने च गम्यमाने। अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः। नगरबाह्याश्चाण्डालादिगृहा उच्यन्ते। (उपसंव्याने–) अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः।

अर्थ—'बाह्य' तथा 'उपसंव्यान' अर्थों में 'अन्तर' शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, जस् विभक्ति में।

व्याख्या—(क) **अत्रापि०**—यहाँ भी पूर्ववत् नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी, विकल्प कहा गया है।

(ख) 'बहिर्योग' का अर्थ है—बाह्य। 'उपसंव्यान' का अर्थ है—परिधानीय। अमरकोश में 'उपसंव्यान' को 'अधोवस्त्र' कहा गया है।

उदा० (1) अन्तरे, अन्तराः (गृहाः)
अन्तरे (अर्थात् नगर से बाहर) गृहाः (= चाण्डाल इत्यादि के घर) यहाँ 'बहिर्योग' में सर्वनाम संज्ञा हो गई।
अन्तराः (गृहाः)—पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

(2) अन्तरे, अन्तराः (शाटकाः)
अन्तरे शाटकाः (= अन्दर पहनने योग्य वस्त्र) यहाँ पूर्ववत् सर्वनामसंज्ञा होती है (परिधानीय अर्थ में)।

अन्तरा: शाटका:—सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

उपसंव्यानं परिधानीयमुच्यते, न प्रावरणीयम्। बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति किम्? अनयोर्ग्रामयोरन्तरे तापसः प्रतिवसति, तस्मिन्नन्तरे शीतान्युदकानि। मध्यप्रदेशवचनोऽन्तरशब्दः। गणसूत्रस्य चेदं प्रत्युदाहरणम्। * अपुरीति च वक्तव्यम् * (म०भा०)। (इह मा भूत्) अन्तरायां पुरि वसति। * विभाषाप्रकरणे तीयस्य वा ङित्सु सर्वनामसंज्ञेत्युपसंख्यानम् * (म०भा०)। द्वितीयस्मै, द्वियीयाय। तृतीयस्मै, तृतीयाय।

व्याख्या—(क) बहिर्योगो० अर्थात् बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थों में ही सर्वनाम संज्ञा होती है—

अनयोर्ग्रामयोरन्तरे तापसः प्रतिवसति—यहाँ 'अन्तर' शब्द का अर्थ न तो 'बहिर्योग' है तथा न ही 'उपसंख्यान' है। अत: सर्वनामता नहीं हुई।

(ख) अपुरीति च वक्तव्यम् (वा०)—'पुरी' अर्थ को छोड़कर 'अन्तर' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है—

अन्तरायां पुरि वसति—यहाँ 'पुरी' अर्थ है। अत: सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

(ग) विभाषाप्रकरणे तीयस्य वा ङित्सु सर्वनामसञ्ज्ञेत्युपसंख्यानम् (वा०)—विकल्प प्रकरण में ङित् प्रत्ययों में तीयप्रत्ययान्त शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है—

द्वितीयस्मै, द्वितीयाय

'द्वितीय' शब्द तीय प्रत्ययान्त है। ङित् (ङे) प्रत्यय में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हुई—द्वितीयस्मै।

द्वितीयाय—पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

तृतीयस्मै, तृतीयाय (पूर्ववत्)।

(37) स्वरादिनिपातमव्ययम् *37* (447)

स्वरादीनि शब्दरूपाणि निपाताश्चाव्ययसंज्ञानि भवन्ति। स्वर्। अन्तर्। प्रातर्—एतेऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। पुनर् आद्युदात्तः। सनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। आरात्। ऋते। युगपत्। पृथक्—एतेऽपि सनुतर्प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। आविस्। अवस्। अधस्। समया। निकषा। स्वयम्। मृषा। नक्तम्। नञ्। हेतौ। अद्धा। इद्धा। सामि—एतेऽपि ह्यस्प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। वत्, वदन्तमव्ययसंज्ञं भवति—ब्राह्मणवत्। क्षत्रियवत्। सन्। सनात्। सनत्। तिरस्—एते आद्युदात्ताः पठ्यन्ते। अन्तरा—अयमन्तोदात्तः। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सना। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मुधा। मिथ्या। क्त्वातोसुन्कसुनः—कृन्मकारान्तः, सन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रवाहुकम्। आर्यहलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्द्धम्। समम्। नमस्। हिरुक्। तसिलादिस्तद्धित एधाच्पर्यन्तः। शस्तसी। कृत्वसुच्। सुच्। आस्थालौ। च्व्यर्थाश्च। अम्। आम्। प्रतान्। प्रशान्—स्वरादिः। निपाता वक्ष्यन्ते—'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (1.4.56) इति। च। वा। ह। अह। एव—एवमित्यादयः। अव्ययप्रदेशाः—'अव्ययादाप्सुपः' (2.4.82) इत्येवमादयः। 'अव्ययम्' इत्यन्वर्थसंज्ञा।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
(गो०ब्रा० 1.1.26)

अर्थ—स्वरादि गण में पठित शब्दों की तथा निपात शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है।

उदा० (स्वरादयः) स्वर्, प्रातर् आदि (द्र०—काशि० 1.1.37) (निपात) च, वा, ह इत्यादि।

व्याख्या—स्वरादि एक गण है। 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (1.4.56) के द्वारा निपात शब्दों का वर्णन प्राप्त होता है। अग्रिम दो सूत्रों में भी अव्ययसंज्ञा का विधान है।

अव्यय0 अव्यय संज्ञा का फल है—

'अव्ययादाप् सुपः' इत्यादि।

अव्यय एक अन्वर्थ संज्ञा है। यन्न व्येति तदव्ययम् अर्थात् जिसमें कोई विकार नहीं होता है, उसे 'अव्यय' कहते हैं। संस्कृत में शब्द में कारक, वचन व लिंग के अनुसार विकार होता है, परन्तु कुछ शब्दों में यह विकार प्राप्त नहीं होता है। व्याकरण शास्त्र में इन्हें 'अव्यय' कहा जाता है। काशिका में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

अर्थात् तीनों लिंगों, सभी विभक्तियों तथा सभी वचनों में जिसमें कोई विकार नहीं हो उसे 'अव्यय' कहते हैं।

(38) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः *38* (448)

तद्धितान्तः शब्दोऽसर्वविभक्तिरव्ययसंज्ञो भवति। यस्मान्न सर्वविभक्तेरुत्पत्तिः सोऽसर्वविभक्तिः। ततः। यतः। तत्र। यत्र। तदा। यदा। सर्वदा। सदा।

अर्थ—जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न न हों, ऐसे तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है।

जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं हों, उसे 'असर्वविभक्ति' कहा जाता है।

उदा० (1) ततः

तद् तसिल्—पञ्चमी के अर्थ में 'पञ्चम्यास्तसिल्' (5.3.7)

तद् तस्—अनुबन्ध लोप,

त अ तस्—'प्राग्दिशो विभक्तिः' से विभक्ति संज्ञा, 'त्यदादीनामः०'

त तस् सु—पररूप, सु, अव्यय संज्ञा—

ततः — 'अव्ययादाप्सुपः०'

(2) यतः

यद् तसिल् — पूर्ववत्,

य अ तस् — यतस् सु—पूर्ववत्,

यतः — सुलोप।

(3) तत्र

तद् त्रल्—सप्तमी के अर्थ में 'सप्तम्यास्त्रल्०'

त अ त्र — तत्र सु—तत्र—पूर्ववत्।

(4) यत्र

यद् त्रल्—यत्र—पूर्ववत्।

(5) तदा

तद् दा—'सर्वैकाऽन्य०'—

त अ दा—तदा सु—तदा।

(6) यदा

यद् दा—य अदा—पूर्ववत्,

यदा सु—यदा।

(7) सर्वदा

सर्व दा—पूर्ववत्,

सर्वदा सु—सर्वदा।

(८) सदा (पूर्ववत्)।

तद्धित इति किम्? एकः, द्वौ, बहवः। असर्वविभक्तिरिति किम्? औपगवः, औपगवौ, औपगवाः।

व्याख्या—(क) 'तद्धितः' पद का प्रयोजन यह है कि तद्धित प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है—

एकः—तद्धितप्रत्ययान्त नहीं है, असर्वविभक्ति तो है। अतः अव्ययसंज्ञा नहीं हुई।

द्वौ—पूर्ववत्।

बहवः—पूर्ववत्।

(ख) 'असर्व०' अर्थात् जिस शब्द से **सभी विभक्तियाँ उत्पन्न न हों**, उसकी अव्यय संज्ञा होती है—

औपगव सु—'औपगव' शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है, परन्तु इससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः अव्ययसंज्ञा नहीं हुई। इसी प्रकार औपगवौ तथा औपगवाः।

(ग) जिन तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है, उन शब्दों से विहित तद्धितप्रत्ययों का परिगणन महाभाष्य में किया गया है—

1. तसिल्, 2. त्रल्, 3. ह, 4. र्हि, 5. धुना, 6. दानीम्, 7. थाल्, 8. थमु, 9. अस्ताति, 10. अतसुच्, 11. रिल्, 12. रिष्टात्, 13. आति, 14. एनप्, 15. आच्, 16. आहि, 17. असि, 18. धा, 19. ध्यमुञ्, 20. धमुञ्, 21. एधाच्, 22. शस्, 23. तसि, 24. च्वि, 25. साति, 26. त्रा, 27. डाच्, 28. अमु, 29. आमु, 30. वति, 31. कृत्वसुच्, 32. ना, 33. नाञ्। द्रष्टव्य—पा० 5.3.7-37.

(39) कृन्मेजन्तः *39* (449)

कृद्यो मकारान्तः एजन्तश्च तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति। स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते। लवणङ्कारं भुङ्क्ते। एजन्तः-वक्षे रायः, ता वामेषे रथानाम् (ऋ० 5.66.3) क्रत्वे दक्षाय जीवसे (ऋ० 10.57.4)। ज्योक्च सूर्यं दृशे। वक्षे इति वचेः। 'तुमर्थे सेसेन्' (3.4.9) इति सेप्रत्यये कुत्वे षत्वे च कृते रूपम्। 'एषे' इति इणः सेप्रत्यये गुणे षत्वे च कृते रूपम्। 'जीवसे' इति जीवेरसे प्रत्यये रूपम्। 'दृशे' इति दृशेः केन्प्रत्ययो निपात्यते-'दृशे विख्ये च' (3.4.11) इति।

अर्थ—मकारान्त कृत्प्रत्ययान्त तथा एजन्त कृत् प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है।

मेजन्त = मकारान्त व एजन्त। संस्कृत व्याकरण में निम्नलिखित चार कृत् प्रत्यय ही मकारान्त हैं—

1. णमुल्, 2. कमुल्, 3. खमुञ् तथा 4. तुमुन्।

एजन्त कृत्प्रत्यय 20 हैं—

1. से, 2. सेन्, 3. असे, 4. असेन्, 5. क्से, 6. क्सेन्, 7. तवेङ्, 8. तवेन्, 9. के, 10. केन्, 11. एश्, 12. अध्यै, 13. अध्यैन्, 14. कध्यै, 15. कध्यैन्, 16. शध्यै, 17. शध्यैन्, 18. तवै, 19. कै तथा 20. इष्यै।

उदा० (1) स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते
अस्वाद्वीं स्वाद्वीं कृत्वा भुङ्क्ते—लौकिक विग्रह,
स्वादुम् अम् कृ अम्—स्वादुमि णमुल्, कृदतिङ्,
स्वादुम् कृ णमुल्—कृन्मेजन्तः,
स्वादुम् कृ अम् सु—स्वादुङ्कारम्—सु, सुलोप।

(2) सम्पन्नकारं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।
(3) लवणङ्कारं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

(4) वक्षे रायः
वच् से—तुमर्थे सेसेनसे0,
वक् से—वक् षे → वक्षे—चोः कुः, आदेशप्रत्यययोः,
वक्षे सु → वक्षे—सु, सुलुक्।

(5) एषे
इ से → ए से → एषे—पूर्ववत्,
एषे सु—एषे।

(6) जीवसे
जीव् असे → जीवसे सु—जीवसे।

(7) दृशे
दृश् केन् (निपातन) → दृशे सु → दृशे।

अन्तग्रहणमौपदेशिकप्रतिपत्त्यर्थम्। इह मा भूत्–आधये, चिकीर्षवे, कुम्भकारेभ्यः इति।

व्याख्या—अन्त० सूत्र में अन्त पद का ग्रहण औपदेशिक प्रतिपत्ति के लिए है। तब 'आधि ङे → आधि ए' यहाँ अव्यय संज्ञा नहीं होती है। 'ए' प्रत्यय उपदेश में एजन्त नहीं है।
इसी प्रकार चिकीर्षु ए → चिकीर्षवे में जानना चाहिए।
कुम्भकार भ्यस् → कुम्भकारेभ्यः यहाँ भी उपदेश में एजन्त नहीं है।

(40) क्त्वातोसुन्कसुनः *40* (450)

क्त्वा-तोसुन्-कसुन्-इत्येवमन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति। कृत्वा, हृत्वा। तोसुन्-(व्युष्टायां) पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (का०सं० 83)। पुरा वत्सानामपाकर्त्तोः (का०सं० 31.15)। 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदि' (3.4.16) इति इणः कृञश्च तोसुन्प्रत्ययः। कसुन्-'सृपितृदोः कसुन्' (3.4.17) इति। पुरा क्रूरस्यं विसृपों विरप्शिन्, पुरा जत्रुभ्यं आतृदः (ऋ० 8.1.12)।

अर्थ—क्त्वा, तोसुन् तथा कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है।

उदा० (1) कृत्वा
कृ क्त्वा—समानकर्तृकयोः पूर्व०
कृत्वा सु—अनुबन्ध लोप, अव्यय संज्ञा, सु,
कृत्वा — सुलोप।

(2) हृत्वा
हृ क्त्वा — पूर्ववत्।

(3) उदेतोः
उद् इण् तोसुन्—भावलक्षणे० (पा० 3.4.16),
उद् इ तोस् → उदेतोस्—अनुबन्ध लोप, आर्धधातुकगुण,
उदेतोस् सु—उदेतोः, सुलोप।

(4) अपाकर्त्तोः
अप आ कृ तोसुन्—पूर्ववत्,
अपाकर्त्तोः।

(5) विसृपः
वि सृप् कसुन्—सृपितृदोः कसुन्, अनुबन्धलोप,
विसृपस् सु—विसृपः (पूर्ववत्)।

(6) आतृदः
आ तृद् कसुन्—आतृदः (पूर्ववत्)।

(41) अव्ययीभावश्च *41* (451)

अव्ययीभावसमासोऽव्ययसंज्ञो भवति। किं प्रयोजनम्? लुङ्मुखस्वरोपचाराः। लुक्- (2.4.82) उपाग्नि, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। मुखस्वरः-उपाग्निमुखः, प्रत्यग्निमुखः। 'मुखं स्वाङ्गम्' (6.2.167) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तम्, 'नाव्ययदिक्छब्द' (6.2.168) इति प्रतिषिद्ध्यते। तस्मिन् प्रतिषिद्धे पूर्वपदप्रकृतिस्वर एव भवति। 'उपचारः'-उपपयःकारः, उपपयःकामः। विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्य 'उपचारः' इति संज्ञा। तत्राऽव्ययीभावस्याव्ययत्वे 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य' (8.3. 46) इति पर्युदासः सिद्धो भवति (म०भा० 1.18)। सर्वमिदं काण्डं स्वरादावपि पठ्यते।

अर्थ—अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है।

उदा० (1) अव्यय संज्ञा के फल निम्नलिखित हैं—

(क) लुक्

(1) उपाग्नि

अग्नेः समीपम्—समास हुआ, अव्ययं विभक्तिसमीप०,
अग्नि उप—सुप् का लुक्, उपसर्जन संज्ञा, पूर्व निपात,
उप अग्नि सु—प्रातिपदिक संज्ञा, अव्यय संज्ञा, सु, सुलुक्,
उपाग्नि।

(2) प्रत्यग्नि

पूर्ववत् 'सु' का लुक् हुआ है।

(ख) मुखस्वर अर्थात् मुख को मानकर होने वाले स्वर का निवारण

(3) उपाग्निमुंखः

उपाग्नि मुखं यस्य सः—अव्ययीभाव के साथ बहुव्रीहि,
उपाग्निमुंख—'मुखं स्वाङ्गम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त प्राप्त हुआ,
उपाग्नि मुख—'नाऽव्ययदिक्छब्द०' से निषेध, 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या०' से समास स्वर से अन्तोदात्त,
उपाग्निमुंखः—सु।

(4) प्रत्यग्निमुंखः (पूर्ववत्)।

(ग) उपचार—विसर्ग के स्थान पर सकार होना।

(5) उपपयःकारः

उपपयः—अव्ययीभाव हुआ,
उपपयःकार—'अतः कृकमिकंस०' (8.3.46) से पर्युदास सिद्ध हुआ,
उपपयःकारः—सु।

(6) उपपयःकामः (पूर्ववत्)।

पुनर्वचनमनित्यत्वज्ञापनार्थम्। तेनायं कार्यनियमः सिद्धो भवति। इह च-पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (का०सं० 8.3), पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (तै०सं० 1.1.9.3) इति 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (2.3.69) इति षष्ठीप्रतिषेधो न भवति।

व्याख्या—(पुनर्वचन) 'तद्धितश्चाऽसर्व०' से लेकर 'अव्ययीभावश्च' तक सम्पूर्ण विवेचन स्वरादि गण में पठित है। इसके पुनः विधान से ज्ञापित होता है कि अव्यय संज्ञा अनित्य है। इससे यह कार्यनियम सिद्ध होता है कि उपर्युक्त तीन कार्यों में ही अव्ययीभाव की अव्यय संज्ञा होती है।

तब 'पुरा सूर्यस्योदेतोः' तथा 'पुरा क्रूरस्य विसृपः' में 'न लोकाव्यय०' के द्वारा षष्ठी का प्रतिषेध नहीं हुआ।

(42) शि सर्वनामस्थानम् *42* (313)

'शि' इत्येतत्सर्वनामस्थानसंज्ञं भवति। किमिदं शि इति? जश्शसोः शि. (7.1.20) इति शिरादेशः। कुण्डानि (7.1.72,6.4.8) तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य (म०भा०) दधीनि, मधूनि, त्रपूणि, जतूनि। सर्वनामस्थानप्रदेशाः-'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (6.4.8) इत्येवमादयः।

अर्थ—'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।

'जश्शसोः शि' के द्वारा 'जस्' व 'शस्' के स्थान पर होने वाले 'शि' आदेश का यहाँ ग्रहण होता है।

उदा० (1) कुण्डानि

कुण्ड जस् (अथवा शस्)—शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा,
कुण्ड शि → कुण्ड इ—अनुबन्धलोप,
कुण्ड नुम् इ → कुण्डान् इ—नपुँसकस्य झलचः, सर्वनामस्थाने चा०—
कुण्डानि।

(2) दधीनि

दधि जस् (या शस्)—दधि शि—पूर्ववत्,
दधिन् इ—दधीनि।

(3) मधूनि

मधु शि—मधूनि।

(4) त्रपूणि

त्रपु शि—त्रपूणि।

(5) जतूनि

जतु शि—जतूनि।

सर्वनामस्थान संज्ञा के फल हैं—
'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यादि।

(43) सुडनपुंसकस्य *43* (229)

सुडिति पञ्च वचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि भवन्ति नपुंसकादन्यत्र। नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः, तेन जसं शे सर्वनामस्थानसंज्ञा पूर्वेण भवत्येव। राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ (6.4.8)। सुडिति किम्? राज्ञः पश्य। अनपुंसकस्येति किम्? सामनी, वेमनी।

अर्थ—नपुँसकलिंग से भिन्न 'सुट्' (अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट्) विभक्तियों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।

व्याख्या—'सुट्' एक प्रत्याहार है। यह प्रत्याहार 'सु' (प्रथमा एकव०) से लेकर 'औट्' के टकार तक होता है। अतः 'सुट्' प्रत्याहार के द्वारा सु, औ, जस्, अम् तथा औट्—इन पाँच विभक्तियों का ग्रहण होता है।

नपुंसके अर्थात् नपुँसक में न विधि है, न ही निषेध है। तब 'जस्' के स्थान पर 'शि' आदेश की सर्वनामस्थान संज्ञा पूर्व सूत्र से होती ही है।

उदा० (1) राजा
राजन् सु → राजान् स्—सर्वनामस्थान संज्ञा, दीर्घ (6.4.8),
राजान् → राजा — हल्ङ्याब्भ्यो०, नलोपः प्रातिप०।
(2) राजानौ
राजन् औ — पूर्ववत् सर्वनामस्थान संज्ञा, दीर्घ,
राजान् औ — राजानौ।
(3) राजानः
राजन् जस् — राजानः।
(4) राजानम्
राजन् अम् — राजान् अम्—राजानम्।
(5) राजानौ
राजन् औ—राजानौ।

व्याख्या—(सुडिति) 'सुट्' का प्रयोजन यह है कि सुट् विभक्ति में ही सर्वनामस्थान संज्ञा होती है—

राजन् शस्—'शस्' सुट् के अन्तर्गत नहीं है। अतः सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं हुई,

राज्न् अस्→राज्ञ् आस्—उपधालोप, स्तोः श्चुना० से श्चुत्व, राज्ञः।

अनपुंस०—**नपुंसकलिंग** से भिन्न सुट् की सर्वनाम स्थान संज्ञा होती है—

सामन् औ—सामन् शी—नपुँसकलिंग होने से सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं हुई,

सामनी।

वेमन् औ — वेमनी

(44) न वेति विभाषा *44* (24)

नेति प्रतिषेधोः, वेति विकल्पः, तयोः प्रतिषेधविकल्पयोर्विभाषेति संज्ञा भवति। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः। विभा-षाप्रदेशेषु प्रतिषेधविकल्पावुपतिष्ठेते। तत्र प्रतिषेधेन समीकृते विषये पश्चाद्विकल्पः प्रवर्त्तते। उभयत्र विभाषाः प्रयोजयन्ति। 'विभाषा श्वेः' (6.1.30)। शुशाव, शिश्वाय, शुशुवतुः, शिश्वियतुः। विभाषाप्रदेशाः-'विभाषा श्वेः' (6.1.30) इत्येवमादयः।

अर्थ—निषेध तथा विकल्प—इनकी विभाषा संज्ञा होती है।

व्याख्या—इति०—'न' तथा 'वा' इन शब्दों के साथ 'इति' पद का योग है। 'इति' का प्रयोग अर्थनिर्देश के लिए है। अतः 'न' तथा 'वा' पदों के द्वारा उनके स्वरूप का ग्रहण न होकर उनके अर्थों का ग्रहण होता है। 'न' का अर्थ है—निषेध। 'वा' का अर्थ है—विकल्प।

विभाषा—विभाषा के प्रयोगस्थलों में प्रतिषेध और विकल्प दोनों उपस्थित होते हैं। प्रथम निषेध होता है, पश्चात् विकल्प होता है। भाव यह है कि 'विभाषा' की दशा में सर्वप्रथम 'न' (= निषेध) के द्वारा विषय को समान किया जाता है अर्थात् जो प्रवाह चला आ रहा है, उसका निषेध किया जाता है। तब 'वा' (= विकल्प) के द्वारा वहाँ विकल्प होता है। अतः व्याकरण शास्त्र में 'विभाषा' पद के द्वारा स्थूलरूपेण विकल्प ही मान लिया जाता है।

आचार्य पाणिनि ने विकल्प के लिए 'वा', 'बहुलम्' तथा 'अन्यतरस्याम्' सदृश पदों का प्रयोग भी किया है। इन सभी के कार्यों में सूक्ष्म भेद है, जो यथास्थान पर व्याख्या में देखा जा सकता है।

विभाषा दो प्रकार की होती है—
(क) व्यवस्थित विभाषा।
(ख) प्राप्ताप्राप्त विभाषा।

जो विकल्प व्यवस्थित होता है, उसे व्यवस्थित विभाषा कहते हैं। इस दशा में विकल्प कहीं निश्चितरूपेण नित्य प्रवृत्त होता है तथा कहीं बिल्कुल प्रवृत्त नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र के द्वारा प्राप्त 'अवङ्' आदेश स्फोटायन के मत में होता है तथा यह आदेश पाणिनि को इष्ट नहीं है। अतः विकल्प से प्रवृत्त होना चाहिये। 'गवाक्षः' तथा 'गवादनी' इन प्रयोगों में उक्त 'अवङ्' नित्य प्रवृत्त होता है। पक्ष में 'गोऽक्षः' तथा 'गो अक्षः' रूप भी होने चाहिए, परन्तु ये रूप उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः यहाँ व्यवस्थित विभाषा समझनी चाहिए।

दूसरे प्रकार की विभाषा के पुनः तीन भेद हैं—

1. प्राप्त विभाषा—इसमें उत्सर्ग शास्त्र की प्रथम निवृत्ति की जाती है। दूसरे पक्ष में उसकी प्रवृत्ति स्वतः हो जाती है। अतः इसकी उपयोगिता नहीं है।

2. अप्राप्त विभाषा—इसमें प्राप्त विभाषा की तरह उत्सर्ग शास्त्र की प्रथम निवृत्ति होती है। तब दूसरे पक्ष में उसकी प्रवृत्ति हो जाने से उक्त संज्ञा की उपयोगिता नहीं रहती है।

3. प्राप्ताप्राप्त विभाषा—इसे उभयत्र विभाषा भी कहते हैं। जब किसी की प्राप्ति में तथा किसी की अप्राप्ति में विभाषा की जाती है, तो उभयत्र विभाषा कहलाती है।

'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' (8.2.33) में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। चूँकि संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध की प्रक्रिया के शास्त्र में शब्द का ही ग्रहण होता है। यथा—'तरप्तमपौ घः'। परन्तु यहाँ 'दादेर्धातो॰' (8.2.32) के द्वारा 'द्रुह्' धातु को घत्वादेश नित्य प्राप्त था, अतः 'द्रुह्' को घत्व का विकल्प 'प्राप्तविभाषा' है। इसी प्रकार 'मुह्' धातु के दकारादि न होने से 'दादेर्धातोः॰' से घत्वादेश की अप्राप्ति होती है। अतः प्रकृतसूत्र में 'मुह्' को घत्व का विकल्प 'अप्राप्तविभाषा' है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र के द्वारा प्राप्त एवं अप्राप्त दोनों स्थलों पर विकल्प किया गया है। अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा का उदाहरण है।

विभाषा सञ्ज्ञा का विधान प्राप्ताप्राप्त विभाषा के लिए ही किया गया है। इसमें प्रथम निषेध द्वारा विषय को समान बना दिया जाता है, तब विकल्प की प्रवृत्ति होती है। 'विभाषा श्वेः' (6.1.30) सूत्र प्राप्ताप्राप्त विभाषा का उदाहरण है। 'श्वि' धातु का यज्ञादि में' पाठ होने से 'वचिस्वपियजादीनां किति च' (6.1.15) सूत्र के द्वारा 'श्वि' धातु को कित् लिट् प्रत्ययों में सम्प्रसारण प्राप्त है। तब इस सूत्र के द्वारा अपित् प्रत्ययों में सम्प्रसारण प्राप्त है तथा पित् प्रत्ययों में सम्प्रासरण अप्राप्त है। 'विभाषा श्वेः' के द्वारा सर्वत्र (अर्थात् पित् व अपित् दोनों प्रत्ययों में) विकल्प किया जा रहा है। अतः प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

उदा॰ 'विभाषा श्वेः' (6.1.30)

(1) शुशाव, शिश्वाय
श्वि लिट् → श्वि तिप् — लिट्, तिप्, णल् हुआ,
श्वि णल् → विभाषा श्वेः, न वेति विभाषा,
श् उ इ अ → शु अ → शौ अ—सम्प्रसारण हुआ,
शौ शौ अ → शु शाव् अ → शुशाव—द्वित्व आदि।
श्वि श्वि अ—पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ,
शि श्वै अ → शि श्वाय् अ → शिश्वाय।

(2) शुशुवतुः
श्वि अतुस्—पूर्ववत् लिट्, तस्, अतुस्,
शु अतुस् → शु शु अतुस्—सम्प्रसारण, द्वित्व,
शुशुवतुः—उवङ्।
(3) शिश्वियतुः
श्वि अतुस्—पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ,
शि श्वि अतुस् → शिश्वियतुः—इयङ्।

(45) इग्यणः सम्प्रसारणम् *45* (328)

इग्यो यणः स्थाने भूतो भावी वा तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भवति। यज्–इष्टम्। वप्-उप्तम्। ग्रह्–गृहीतम्। केचिदुभयथा सूत्रमिदं व्याचक्षते–वाक्यार्थः संज्ञी वर्ण-श्चेति। इग्यण इति यो वाक्यार्थः स्थान्यादेशसम्बन्ध-लक्षणः स सम्प्रसारणसंज्ञो भवति, यणस्थानिक इग्वर्णः स सम्प्रसारणसंज्ञो भवतीति। तत्र विधौ वाक्यार्थ उपतिष्ठते–'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' (6.1.13), 'वसोः सम्प्रसारणम्' (6.4.131) इति। अनुवादे वर्णः–'सम्प्रसारणाच्च' (6.1.108) इति। संख्यातानुदेशादिह न भवति–अदुहितरामिति। द्युभ्याम् इत्यत्र 'दिव उत्' (6.1.131) इति तपरकरणाद् दीर्घो न भवति। सम्प्रसारणप्रदेशाः–'वसोः सम्प्रसारणम्' (6.4.131) इत्येवमादयः।

अर्थ— 'यण्' के स्थान पर होने वाले 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है।
'यण्' का अर्थ है—य्, व्, र्, तथा ल्।
'इक्' का अर्थ है—इ, उ, ऋ तथा ऌ।
यहाँ यण् चार हैं तथा इक् भी चार हैं। अतः यहाँ 'यथासंख्यमनुदेशः॰' की प्रवृत्ति होती है। तब 'य्' के स्थान पर 'इ', 'व्' के स्थान पर 'उ', 'र्' के स्थान पर 'ऋ' तथा 'ल्' के स्थान पर 'ऌ' होता है।

उदा॰ (1) इष्टम्
यज् क्त—निष्ठा, क्तक्तवतू निष्ठा,
यज् त → इ अज्त—लशक्वतद्धिते, वचिस्वपियजादी॰, इग्यणः सम्प्र॰, इज् त → इष् त → इष् ट—व्रश्चभ्रस्ज॰, ष्टुना ष्टुः,
इष्ट सु—इष्टम्।
(2) उप्तम्
वप् क्त—उप् त—पूर्ववत्,
उप्त सु—उप्तम्।

(3) गृहीतम्
ग्रह् क्त—गृह् त—पूर्ववत्,
गृह् इट् त → गृहीत—आर्धधातुकस्येड्०, ग्रहोऽलिटि दीर्घः,
गृहीत सु—गृहीतम्।

व्याख्या—केचिद्—कुछ व्याख्याकार इस सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। यथा—

(क) 'यण्' के स्थान पर हो चुकने वाले इक् की सम्प्रसारण संज्ञा होती है। यह स्थानी और आदेश को मानकर होने वाले 'वाक्यार्थ' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है।

(ख) 'यण्' के स्थान पर होने वाला जो 'इक्' वर्ण, उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है।

तत्र—विधि सूत्रों में वाक्यार्थ लिया जाता है। यथा—'ष्यङः सम्प्रसारणम्'—ष्यङ् प्रत्ययान्त शब्द को सम्प्रसारण हो जाए। यहाँ पर 'यण्' के स्थान पर 'इक्' हो जाए—इस वाक्यार्थ का ग्रहण होता है। सम्प्रसारण कर चुकने के पश्चात् जो कार्य किया जाता है, वह अनुवाद कहलाता है। अनुवाद में वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा होती है। यथा—'सम्प्रसारणाच्च' (= सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप हो जाता है)।

यहाँ सम्प्रसारणसंज्ञक 'इक्' वर्ण का ही ग्रहण किया जाता है। तब 'इ अ ज्' इस दशा में इ की सम्प्रसारण संज्ञा होकर पूर्वरूप होता है। उपर्युक्त दो प्रकार की व्याख्याओं का फल है कि 'यण्' के स्थान पर भावी 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा हो—यह अर्थ नहीं करना पड़ता है। वाक्यार्थ की सम्प्रसारण संज्ञा कर ली जाती है।

इसके अतिरिक्त 'यण्' के स्थान पर हो चुके 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है—यह अर्थ भी नहीं करना पड़ता है। इस पक्ष में वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा कर ली जाती है।

संख्याता—यहाँ यथासंख्य नियम की प्रवृत्ति होती है। यथा—
दुह् लङ् → दुह् इट्—कर्मवत् कर्मणा०,
अट् दुह् इ—यहाँ लङ् के स्थान पर 'इ' हुआ है, यण् के स्थान पर नहीं। अतः सम्प्रसारण संज्ञा नहीं हुई,
अ दुह् शप् इ → अट्, शप्, 'न दुहस्नुनमां०' से यक् निषेध,
अ दुह् इ—अदुहि—अदिप्रभृतिभ्यः०,
अदुहितराम्—तिङश्च, किमेत्तिङ्० ।

यदि यहाँ सम्प्रसारण संज्ञा हो जाती तो 'हलः' से दीर्घ होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

द्युभ्याम्० 'दिव् भ्याम्' इस दशा में 'दिव उत्' से उकार आदेश तथा यण् होकर 'द्युभ्याम्' बनता है। यहाँ वकार के स्थान पर उकार हुआ है परन्तु इसकी सम्प्रसारण संज्ञा नहीं होती है, अन्यथा 'हलः' से दीर्घ होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति हो जाती।

(46) आद्यन्तौ टकितौ *46* (36)

आदिष्टिद्भवति अन्तः किद्भवति षष्ठीनिर्दिष्टस्य। लविता (7.2.35)। मुण्डो भीषयते (7.3.40)। टित्प्रदेशाः-'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (7.2.35) इत्येवमादयः। कित्प्रदेशाः-'भियो हेतुभये षुक्' (7.3.40) इत्येवमादयः।

अर्थ—(षष्ठी निर्दिष्ट को होने वाले) टित् आगम व कित् आगम क्रमशः आदि व अन्त-अवयव होते हैं।

व्याख्या—व्याकरण शास्त्र में जिसके स्थान पर कोई कार्य होता है, उसे **स्थानी** कहते हैं। जो वर्ण या शब्दांश किसी के साथ जोड़ा जाता है, उसे **आगम** कहते हैं। आगम स्थानी के साथ कोई परिवर्तन किए विना चुपचाप आकर बैठ जाता है। अतः आगम का व्यवहार मित्र की तरह होता है।[1] आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—

(क) टित्—जिनका टकार इत् होता है। यथा—इट्, धुट्, नुट्, मुट् व सुट्।

(ख) कित्—जिनका ककार इत् होता है। यथा—तुक्, मुक् कुक्, टुक्, षुक्।

(ग) मित्—जिनका मकार इत् होता है। यथा—नुम्, मुम्।

टित् आद्यवयव होते हैं अर्थात् जिसे टित् आगम होता है, उसके आदि में आगम होगा। कित् अन्त्यावयव होते हैं अर्थात् जिसे कित् आगम होता है, उसके अन्त में यह आगम होगा।

उदा (1) लविता
लू तिप्—धातुसंज्ञा, लुट् प्र०पु० एकव० में तिप्—
पठ् तास् तिप्—पठ् तास् डा—स्यतासी०, लुटः प्रथमस्य०,
पठ् तास् आ—अनुबन्धलोप, आर्धधातुकं शेषः, आर्धधातुकस्येड्०, इट् आगम 'तास्' को हुआ, टित् होने से 'तास्' के आदि में हुआ—
पठ् इ त् आ—पठिता—टिलोप।

(2) भीषयते
भी णिच्—धातु संज्ञा, णिच्, 'भियो हेतुभये षुक्' से धातु को 'षुक्' हुआ। 'षुक्' कित् है। अतः अन्त में हुआ—
भी षुक् इ → भी ष् इ त—अनुबन्धलोप, लट्, त—
भीषि शप् त—भीषयते।

1. मित्रवदागमा भवन्ति।

(47) मिदचोऽन्त्यात् परः *47* (37)

अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातौ चेदमेकवचनम्। अचां सन्निविष्टानामन्त्यादचः परो मिद्भवति। स्थानेयोगप्रत्ययपरत्वस्य (3.1.1-2) अयमपवादः। विरुणद्धि (3.1.78)। मुञ्चति (7.1.59)। पयांसि (7.1.72)। मित्प्रदेशाः–'रुधादिभ्यः श्नम्' (3.1.78) इत्येवमादयः।

अर्थ—अचों के मध्य जो अन्त्य अच्, उससे परे 'मित्' आगम होता है।

व्याख्या—(क) 'अचः' पद में निर्धारण में षष्ठी है। अचोऽन्त्यात् अर्थात् अच् समुदाय में जो अन्तिम अच्, उससे। 'अचः' में एकवचन जाति अर्थ में है।

(ख) **स्थाने**—यह सूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा का तथा 'प्रत्ययः, परश्च' इन अधिकारों का अपवाद है। 'षष्ठी स्थानेयोगा' से व्याकरण शास्त्र में षष्ठी का प्रयोग स्थानी के स्थान पर आदेश के लिए होता है। 'परश्च' के द्वारा प्रत्यय की स्थिति स्थानी के परे निश्चित की जाती है। अतः यह सूत्र इन सभी का अपवाद है। न तो मित् आगम स्थानी को हटा कर होता है तथा न ही बाद में होता है, अपितु अन्त्य अच् से पर होता है।

उदा० (1) विरुणद्धि

रुध् तिप्—धातुसंज्ञा, लट्, तिप्,

रु श्नम् ध् ति—'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्' हुआ। 'श्नम्' मित् है। व्यपदेशिवद्भाव से अन्त्य अच् उकार हुआ। उससे पर 'श्नम्' हुआ। लशक्वतद्धिते। हलन्त्यम्—

रु न ध् ति → रु न ध् धि—झषस्तथो०,

रुणद्धि—झलां जश् झशि, अट्कुप्वाङ्नु०,

विरुणद्धि।

(2) मुञ्चति

मुच् तिप् → मु नुम् च् शप् ति—पूर्ववत् तिप्, शे मुचादीना०,

मु न् च् अ ति—अनुबन्धलोप,

मुंचति—मुञ्चति—नश्चाऽप०, अनुस्वारस्य ययि०।

(3) पयांसि

पयस् जस् → पयस् शि—जश्शसोः शि,

पय नुम् स् इ—लशक्वतद्धिते, नपुंसकस्य झलचः, 'नुम्' मित् है। अन्त्य अच् (यकारोत्तरवर्त्ती अकार) से पर हुआ—

पय न् स् इ—पयान् सि—अनुबन्ध लोप, सान्तमहतः—

पयांसि—नश्चाऽपदान्तस्य०।

मित् आगम के फल हैं—रुधादिभ्यः श्नम्, शे मुचादीनाम् आदि।

(4) मग्नः

*** मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुममिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् * (म० भा०)। मग्नः (7.1.60)। मग्नवान् (8.2.29)। मङ्क्ता। मङ्क्तुम्।**

व्याख्या—मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुमिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् अर्थात् अनुषंग और संयोगादिलोप के लिए मस्ज् धातु के अन्त्य वर्ण से पूर्व 'नुम्' होता है। नकार उपधा को अनुषंग कहते हैं—

मस्ज् क्त → मस्ज् त—धातुसंज्ञा, निष्ठा, क्तक्तवतू निष्ठा,

मस् न् ज् त—'मस्जिनशोर्झलि' (7.1.60) से 'नुम्' हुआ। 'नुम्' मित् है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से मकारोत्तरवर्त्ती अकार से पर 'नुम्' की प्राप्ति हुई। प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा अन्त्य वर्ण (जकार) से पूर्व हुआ—

म ज् त—संयोगादि सकार का लोप, स्कोः संयोगाद्योर०, अनिदितां० से अनुनासिक लोप,

म ग् त—मग् न— चोः कुः, ओदितश्च,

मग्नः—सु।

(5) इसी प्रकार मस्ज् क्तवतु—मग्नवान्।

(6) मङ्क्ता

मस्ज् तृच् → म स् न् ज् तृ → म न् ज् तृ → म न् ग् तृ—मंग् तृ → मंक् तृ → मङ्क्तृ सु → मङ्क्ता—खरि च, नश्चाऽपदान्तस्य०।

(7) मङ्क्तुम्

मस्ज् तुमुन् → म स् न् ज् तुम्—पूर्ववत्,

म न् ज् तुम् → मन् ग् तुम्—मन् क्तुम्-पूर्ववत्,

मङ्क्तुम्—पूर्ववत्।

(48) एच इग्घ्रस्वादेशे *48* (323)

एचो ह्रस्वादेशे कर्त्तव्य इगेव ह्रस्वो भवति, नान्यः। रै–अतिरि। नौ–अतिनु (1.2.47)। गो–उपगु (1.2.48)।

अर्थ—ह्रस्वादेश के विधान की दशा में 'एच्' वर्ण के स्थान पर 'इक्' वर्ण होता है।

'एच्' में चार वर्ण हैं—ए, ओ, ऐ, औ। इन्हें सन्ध्यक्षर भी कहा जाता है। इनके ह्रस्व रूप नहीं होते हैं। निम्नलिखित दो दो स्वरों के मेल से एच् वर्ण बनते हैं—

अ इ → ए, ऐ।

अ उ → ओ, औ।

व्याकरण शास्त्र में एच् वर्णों को ह्रस्वादेश का विधान किया गया है। इस दशा में एच् वर्णों के स्थान पर तीन वर्ण (अ, इ, उ) ही प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नियम किया जाता है कि 'एच् वर्णों के स्थान पर ह्रस्व विधान करने पर 'इक्' वर्ण होते हैं'।

यद्यपि प्रकृत सूत्र में स्थानी (एच्) व आदेश (इक्) समसंख्यक हैं, तदपि यहाँ यथासंख्य नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थानसादृश्य के आधार पर ए, ओ, ऐ तथा औ के स्थान पर क्रमशः इ, उ, इ तथा उ होते हैं।

उदा० (क) 'ए' के स्थान पर 'इ' होता है।
(1) कोई उदाहरण नहीं है।
(ख) 'ओ' के स्थान पर 'उ' होता है।
(2) उपगु
गोः समीपम् — अव्ययं विभक्तिसमीप० से समास,
गो उप — प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् लुक्, उपसर्जनं संज्ञा,
उपगो—उपसर्जन का पूर्वनिपात, ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य,
उपगु सु → उपगु — सु, सुलुक्।
(ग) 'ऐ' के स्थान पर 'इ' होता है।
(3) अतिरि
अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—'अत्यादयः क्रान्ता0' से समास,
रै अति—पूर्ववत् सुप् लुक्, उपसर्जन संज्ञा,
अति रै → अतिरि सु → अतिरि—पूर्ववत्।
(4) प्ररि (पूर्ववत्)।
(घ) 'औ' के स्थान पर 'उ' होता है।
(5) अतिनु
अतिक्रान्तं नावं यत् कुलम्—पूर्ववत्,
अति नौ → अति नु सु → अतिनु—पूर्ववत्।
(6) सुनु (पूर्ववत्) (काशिकायामप्रदर्शितः)।
(7) प्रद्यु (पूर्ववत्) (काशिकायामप्रदर्शितः)।

एच इति किम्? अतिखट्वः, अतिमालः। ह्रस्वादेशे इति किम्? दे3वदत्त (8.2.86) देवद3त्त (6.1.198)।

व्याख्या—(क) एचः अर्थात् एच् वर्णों के स्थान पर 'इक्' होते हैं—
(8) अतिखट्वः
खट्वाम् अतिक्रान्तः—समास हुआ,
अति खट्वा—पूर्वनिपात, ह्रस्वादेश,
अतिखट्व सु—चूँकि ह्रस्वादेश 'एच्' के स्थान पर नहीं है, आकार के स्थान पर है। अतः 'इ' नहीं हुआ, सु,—अतिखट्वः।
(9) इसी प्रकार 'अतिमालः' में भी जानना चाहिए।

(ख) **ह्रस्वादेशे** अर्थात् **ह्रस्वादेश** विधान की दशा में ही 'एच्' के स्थान पर 'इक्' वर्ण होता है—

दे3वदत्त, देवद3त्त—'गुरोरनृतोऽनन्त्य०' से प्लुतादेश करना है। अतः 'इक्' नहीं हुआ।

(49) षष्ठी स्थानेयोगा *49* (38)

परिभाषेयं योगनियमार्था। इह शास्त्रे या षष्ठी अनियतयोगा श्रूयते, सा स्थानेयोगैव भवति, नान्ययोगा। स्थानेयोगस्य निमित्तभूते सति सा प्रतिपत्तव्या। स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची। यथा-दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यमिति दर्भाणां प्रसङ्ग इति गम्यते। एवमिहापि अस्तेः स्थाने प्रसङ्गे भूर्भवति-भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। ब्रुवः प्रसङ्गे वचिर्भवति-वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। प्रसङ्गे सम्बन्धस्य निमित्तभूते, ब्रुवः इति षष्ठी।

अर्थ—अनिश्चित सम्बन्ध की दशा में 'षष्ठी' स्थान के साथ सम्बन्धवाली होती है।

व्याख्या—यह परिभाषा सम्बन्ध नियम के लिए है।

(क)—**स्थाने**—स्थानेयोग के निमित्त बन जाने पर इस षष्ठी का ज्ञान करना चाहिए। भाव है कि जहाँ 'स्थान' के साथ सम्बन्ध हो, वहाँ यह षष्ठी जाननी चाहिए। 'स्थान' शब्द भाववाची 'स्थितिपरक' है। यह तीन प्रकार का होता है—
अपकर्ष, निवृत्ति और प्रसंग।
यहाँ 'स्थान' शब्द प्रसंगवाची है। यथा—
'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्' यहाँ 'दर्भों के प्रसंग में' ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार शास्त्र में 'अस् के स्थान पर' ऐसा जानना चाहिए।

उदा० (1) भविता
अस् तृच्—धातुसंज्ञा, तृच्, आर्धधातुक संज्ञा,
भू तृ—'अस्तेर्भूः' के द्वारा 'अस्' के स्थान पर 'भू',
भू इट् तृ सु → भविता।
(2) भवितुम्
अस् तुमुन् → भू इ तुम् → भो इतुम्—पूर्ववत्,
भवितुम् सु → भवितुम्।
(3) भवितव्यम्

अस् तव्यत् → भवि तव्य—पूर्ववत्,
भवितव्य सु → भवितव्यम्।

इसी प्रकार 'ब्रुवो वचिः' अर्थात् 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' होता है।

(4) वक्ता
ब्रू तृच् → वच् तृ—पूर्ववत्,
वक् तृ सु → वक्ता।

(5) वक्तुम्
ब्रू तुमुन् → वच् तुम्—पूर्ववत्,
वक्तुम् सु → वक्तुम्।

(6) वक्तव्यम्
ब्रू तव्यत् → वक्तव्यम्—पूर्ववत्।

'प्रसंगे' अर्थात् 'सम्बन्ध का निमित्त रहने पर' ऐसा अर्थ होता है। 'ब्रुवः' यहाँ (स्थानेयोगा) षष्ठी है।

बहवो हि षष्ठ्यर्थाः-स्वस्वाम्यनन्तरसमीपसमूहविकारावयवाद्याः। तत्र यावन्तः शब्दे सम्भवन्ति तेषु सर्वेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते-'षष्ठी स्थानेयोगा' (1.1.49) इति। स्थाने योगोऽस्या इति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः। अतएव निपातनाच्च सप्तम्या अलुक्।

व्याख्या—बहवः—महर्षि पतञ्जलि ने षष्ठी विभक्ति के एक सौ एक अर्थ बताये हैं। यथा—स्व-स्वामिभाव, समीप, अवयव, विकार तथा समूह आदि। जिस षष्ठी का उपर्युक्त एक सौ एक अर्थों में से कोई भी अर्थ न हो, उसे अनियतयोगा षष्ठी कहते हैं। अनियतयोगा षष्ठी का सम्बन्ध प्रकृत सूत्र के द्वारा 'स्थाने' इस शब्द के साथ बताया गया है।

अतएव 'स्थाने योगोऽस्याः सा' इस विग्रह की दशा में निपातन से सप्तमी का अलुक होता है। 'स्थाने अयोगा—स्थानेयोगा' इस विग्रह की दशा में भी अर्थ होता है—(अयोगा) अनिश्चित अर्थ वाली (षष्ठी) षष्ठी (स्थाने) 'स्थान पर' सम्बन्ध वाली होती है।

(50) स्थानेऽन्तरतमः *50* (39)

स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवति सदृशतमः। कुतश्च शब्दस्यान्तर्यम्? स्थानार्थगुणप्रमाणतः। स्थानतः-'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.101)-दण्डाग्रम्, यूपाग्रम्। द्वयोरकारयोः कण्ठ्य एव दीर्घ आकारो भवति। अर्थतः-वतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः। पुंवद्भावेनान्तरतमः पुंशब्दोऽतिदिश्यते। गुणतः-पाकः, त्यागः, रागः। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (7.3.52) इति चकारस्याल्पप्राणस्याघोषस्य तादृश एव ककारो भवति, जकारस्य घोषवतोऽल्पप्राणस्य तादृश एव गकारः। प्रमाणतः-अमुष्मै, अमूभ्याम्। 'अदसोसेर्दादु दो मः' (8.2.80) इति ह्रस्वस्य ह्रस्वः, दीर्घस्य दीर्घः।

अर्थ—किसी के स्थान पर होने वाला आदेश (स्थानी के) सदृशतम होता है।

जिसके स्थान पर 'आदेश' होता है, उसे 'स्थानी' कहते हैं। 'स्थानी' के स्थान पर होने वाले को 'आदेश' कहा जाता है। आदेश स्थानी को हटा कर उसके स्थान पर होता है। अतः आदेश को शत्रुवत् कहा गया है।[1]

व्याकरण शास्त्र में स्थानी व आदेशों की समसंख्या होने पर प्रायः[2] यथासंख्य नियम की प्रवृत्ति होकर आदेश क्रमशः प्राप्त होते हैं, परन्तु स्थानियों व आदेशों की संख्या समान न होने पर अथवा एक स्थानी के स्थान पर अनेक आदेशों की प्राप्ति होने पर 'अन्तरतम' आदेश होता है।

'अन्तरतम' का अर्थ है—अत्यधिक सदृश।

स्थानार्थ—वर्णों के सादृश्य के चार आधार होते हैं—

(क) स्थान के आधार पर—

(1) दण्डाग्रम्

'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.97) के द्वारा सवर्ण परे रहते 'अक्' वर्ण के स्थान पर दीर्घ एकादेश होता है। 'दण्ड अग्रम्' इस दशा में दीर्घादेश करना है। अक् वर्णों के चार दीर्घ रूप हैं—आ, ई, ऊ, ॠ। अब प्रश्न उठता है कि इनमें से कौन सा दीर्घादेश हो? 'स्थानेऽन्तरतमः' के द्वारा स्थान के आधार पर सदृशतम दीर्घादेश प्राप्त हुआ। 'अ' स्थानी है। 'अ' के सदृशतम 'आ' ही होता है। अतः 'आ' एकादेश हुआ—दण्डाऽग्रम्।

(2) यूपाग्रम्
इसी प्रकार—यूप अग्रम्।

(ख) अर्थ के आधार पर—

(3) वातण्ड्ययुवतिः
वतण्डी चाऽसौ युवतिश्च—'वतण्ड' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा

1. शत्रुवदादेशः।

2. प्रायः शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि यथासंख्य नियम अपूर्व विधि में ही होता है, नियम विधि में नहीं। 'एच इग्ध्रस्वादेशे' सूत्र में स्थानी और आदेशों के यथासंख्यक होने पर भी यथासंख्य नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है।

हुई। 'समर्थानां प्रथमाद्वा'। 'तस्याऽपत्यम्'। 'वतण्डाच्च' ('वतण्ड' का जो स्त्री अपत्य—इस अर्थ में) यञ् हुआ। 'लुक् स्त्रियाम्' (४.१.१०९) से 'यञ्' का लुक् हुआ। स्त्रियाम्। शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। वतण्डी। कर्मधारय समास हुआ (पोटायुवति०),

वतण्डी युवति—'वतण्डी' के स्थान पर 'पुँवत् कर्म०' (६.३.४०) के द्वारा पुँवद्भाव होकर 'वतण्ड' शब्द की प्राप्ति हुई। वातण्ड्य आदेश हुआ। जो अर्थ स्त्रीलिंग 'वतण्डी' शब्द का है, वही अर्थ पुँल्लिंग 'वातण्ड्य' शब्द का है। अर्थ के आधार पर सदृशतम 'वातण्ड्य' हुआ। ध्यातव्य है कि 'वतण्डी' अपत्य अर्थ का बोधक है। अतः अपत्य अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को पुँवद्भाव होता है। यहाँ अपत्य अर्थ का बोध 'वातण्ड्य' शब्द से होता है, न कि 'वतण्ड' से। वातण्ड्य युवतिः—सु।

(4) अभवताम् (काशिकायामप्रदर्शितः)

भू लङ् → भू तस्—अनद्यतने लङ्, तस्, 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदि आदेशों की प्राप्ति, अर्थ के आधार पर 'तस्' (प्र० द्विव०) के स्थान पर 'ताम्' (प्र० द्वि०) हुआ—

अभू शप् ताम्—शप्, अट्, गुण, अयादेश—

अभवताम्।

अर्थकृत सादृश्य का अभिप्राय है—एकवचन के स्थान पर एकवचन, द्विवचन के आधार पर द्विवचन तथा बहुवचन के स्थान पर बहुवचन होता है। भाव यह है कि स्थानी के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है, आदेश के द्वारा उसी अर्थ का बोध होना चाहिए।

(ग) गुण के आधार पर

(5) पाकः

पच् घञ्—धातुसंज्ञा, घञ्,

पाच् अ् → पाक् अ—अनुबन्धलोप, अत उपधायाः। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (7.3.52) से कुत्व प्राप्त हुआ। प्रश्न उठता है कि क्, ख्, ग्, घ्, ङ् में से कौन सा आदेश होना चाहिए? अब 'स्थानेऽन्तरतमः' के द्वारा गुणकृत सादृश्य के आधार पर अल्पप्राण, अघोष यत्न वाले 'च्' के स्थान पर अल्पप्राण, अघोष 'क्' हुआ—

पाक सु → पाकः।

(6) त्यागः

त्यज् घञ् → त्यागः (पूर्ववत्)।

(7) रागः

रञ्ज् घ ञ् रु रागः (पूर्ववत्)।

(घ) प्रमाण (या मात्रा) के आधार पर—

(८) अमुष्मै

अदस् ङे → अद अ ए—त्यदादीनामः,

अद ए → अम् उ ए → अतो गुणे। अदसोऽसे०,

अमु स्मै—सर्वनाम्नः स्मै, यहाँ प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार हुआ,

अमुष्मै—आदेशप्रत्यययोः।

(9) अमूभ्याम्

अदस् भ्याम् → अद अ भ्याम् → अदभ्याम्—पूर्ववत्,

अदाभ्याम्—सुपि च,

अमूभ्याम्—प्रमाणकृत।

स्थाने इति वर्त्तमाने पुनः स्थानेग्रहणं किम्? यत्राऽनेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात्। चेता। स्तोता। प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्तस्तत्र स्थानत आन्तर्यादेकारोकारौ भवतः। तमब्ग्रहणं किम्? वाग्घसति, त्रिष्टुब्भसति 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (8.4.62) इति हकारस्य पूर्वसवर्णे क्रियमाणे 'सोष्मणः सोष्माणः' इति द्वितीयाः प्रसक्ताः, 'नादवतो नादवन्त' इति तृतीयाः, तमब्ग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च ते भवन्ति चतुर्थाः (मा० भा)।

व्याख्या—स्थाने 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा० 1.1.48) से प्रकृत सूत्र में 'स्थाने' पद का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी पुनः 'स्थाने' पद के ग्रहण का फल यह है कि अनेक प्रकार का सादृश्य होने पर स्थानकृत सादृश्य ही बलवान् होता है। यथा—

(10) चेता

चि तृच् → चेता—यहाँ यदि, प्रमाण कृत आधार पर गुण आदेश किया जाए तो 'अकार' की प्राप्ति होकर अनिष्ट रूप बनता है। चूँकि स्थानकृत सादृश्य बलवान् होता है। अतः स्थानकृत आन्तरतम्य के आधार पर एकार हो गया—

चेता सु → चेता।

(11) इसी प्रकार 'स्तोता' में जानना चाहिए।

तमब्—अन्तरतमः' पद में 'तमप्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सदृशों में भी अत्यधिक सदृश का ग्रहण होता है। यथा—

(12) वाक् हसति—'झयो होऽन्यतरस्याम्' से हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है। पूर्व में 'ककार' है। अतः हकार का पूर्वसवर्ण कोई कवर्गीय वर्ण होना चाहिए। क्, ख्,

ग् तथा घ्—ये चारों वर्ण हकार के सवर्णी हैं। अतः इनमें भी जो हकार के अत्यधिक सदृश होगा, वह यहाँ आदेश होगा—

वाक् घसति—ककार अल्पप्राण है, हकार महाप्राण है। अतः हकार के स्थान पर ककार नहीं हो सकता। खकार व हकार दोनों महाप्राण हैं। दोनों में प्रयत्नकृत आन्तर्य तो है, परन्तु खकार (अघोष) हकार (घोष) के स्थान पर नहीं हो सकता। गकार अल्पप्राण है तथा हकार महाप्राण है। अतः यहाँ गकार आदेश भी नहीं होगा। घकार घोष व महाप्राण है। हकार भी घोष व महाप्राण है। अतः दोनों में अत्यधिक सादृश्य के कारण हकार के स्थान पर घकार हुआ है—

वाग् घसति—झलां जशोऽन्ते।

वाग् हसति—पक्ष में घकार नहीं हुआ।

इसी प्रकार—

(13) त्रिष्टुप् हसति → त्रिष्टुब् भसति, त्रिष्टुब्हसति।

(51) उरण् रपरः *51* (70)

उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो वेदितव्यः। कर्त्ता (7.3.84)। हर्त्ता। किरति (7.1.100)। गिरति। द्वैमातुरः (4.1.115)। त्रैमातुरः।

अर्थ—ऋवर्ण के स्थान पर विधीयमान अण् (=अ, इ, उ) रपर होता है। रपरः—रः परो यस्मात् सः अर्थात् 'र' है परे जिससे, उसे रपर कहते हैं। अण् प्रत्याहार में तीन वर्ण हैं—अ, इ, उ। रपर की दशा में 'अ' के स्थान पर 'अर्', 'इ' के स्थान पर 'इर्' तथा 'उ' के स्थान पर 'उर्' आदेश होते हैं।

जब 'ऋ' के स्थान पर 'अण्' होने लगता है तो उसी समय वह रपर हो जाता है।

उदा० (1) कर्त्ता

कृ तृच्—धातुसंज्ञा, तृच्, आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, अदेङ् गुणः, उरण् रपरः,

कर् तृ → कर् तृ सु—सु,

कर्त्ता।

(2) हर्त्ता

हृ तृच् → हर्त्ता।

(3) किरति

कॄ तिप्—धातुसंज्ञा, लट्, तिप्,

कॄ श ति → कॄ अ ति—तुदादिभ्यः शः, अनुबन्धलोप,

क् इर् अ ति—'ॠत इद्धातोः' से ॠकारान्त अंग को इकारादेश प्राप्त हुआ। 'उरण् रपरः' से 'इर्'—

किरति।

(4) गिरति

गॄ तिप् → गिरति (पूर्ववत्)।

(5) द्वैमातुरः

द्वयोर्मात्रोरपत्यम्—तद्धितार्थोत्तरपद०। तस्याऽपत्यम्,

द्वि मातृ अण्—मातुरुत्संख्या० से 'उत्' आदेश, उरण् रपरः,

द्विमातुर् अ → द्वैमातुर—तद्धितेष्वचामादेः,

द्वैमातुरः—सु।

(6) त्रैमातुरः

तिसृणां मातृणामपत्यम्—पूर्ववत् समास होकर—

त्रि मातृ अण् → त्रैमातुरः (पूर्ववत्)।

उरिति किम्? खेयम् (3.1.111) गेयम् (6.4.65)। अण्ग्रहणं किम्? 'सुधातुरकङ् च' (4.1.97)-सौधातकिः।

व्याख्या—(क) उरिति अर्थात् ऋकार के स्थान पर होने वाला 'अण्' आदेश रपर होता है—

(7) खेयम्

खन् क्यप् → खन् य—क्यप् हुआ,

ख ई य → खेय—'ई च खनः' से 'ई' आदेश नकार के स्थान पर हुआ है, ऋकार के स्थान पर नहीं। अतः रपर नहीं हुआ—

खेय सु → खेयम्।

(8) इसी प्रकार—गै य → गा य—आदेच उपदेशे०, ईद्यति,

गेय सु → गेयम्—यहाँ आकार (अण्) 'ऐ' के स्थान पर हुआ है, न कि 'ऋ' के स्थान पर। अतः रपर नहीं हुआ।

(ख) अण् ग्रहणं—अर्थात् विधीयमान अण् ही रपर होता है—

(9) सुधातृ → सुधात् अकङ् इञ्—यहाँ 'सुधातुरकङ् च' से 'ऋ' के स्थान पर अकङ् तथा 'इञ्' प्रत्यय हुआ है। ऋ के स्थान पर अकङ् हुआ है, न कि अण् वर्ण। अतः रपर नहीं हुआ—

सौधातकिः—तद्धितेष्वचामादेः, सु।

(52) अलोऽन्त्यस्य *52* (42)

षष्ठीनिर्दिष्टस्य य उच्यते आदेशः, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने वेदितव्यः। 'इद्गोण्याः' (1.2.50)-पञ्चगोणिः, दशगोणिः।

अर्थ—षष्ठी के द्वारा निर्दिष्ट जो (आदेश या लोप) कार्य, वह अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

उदा० (1) पञ्चगोणिः

पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः—तद्धितार्थोत्तरपद०, सुप्लुक्—

पञ्चन् गोणी ढक्—आर्हादगोपुच्छ०,

पञ्चन् गोणी—अर्ध्यपूर्वद्विगो०, इद् गोण्याः

पञ्चन् गोणि सु → पञ्चगोणिः—अन्त्य वर्ण के स्थान पर 'इत्' आदेश हुआ, सु।

(2) दशगोणिः (पूर्ववत्)।

(53) ङिच्च *53* (43)

ङिच्च य आदेशः सोऽनेकालपि अलोऽन्त्यस्य भवति। 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (6.3.25)–होतापोतारौ, मातापितरौ। तातङि ङित्करणस्य गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थत्वात्सर्वादेशस्तातङ् भवति–जीवताद्भवान्, जीवतात्त्वम्।

अर्थ—षष्ठी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट के स्थान पर जो ङित् कार्य, वह अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। जिसका ङकार इत् है, उसे 'ङित्' कहा जाता है।

उदा० (1) होतापोतारौ

होता च पोता च—चार्थे द्वन्द्वः, सुप् लुक्,

होतृ पोतृ → होत् आनङ् पोतृ—'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (पा० 6.3.23) से उत्तरपद परे रहते 'आनङ्' आदेश हुआ। अनेकाल् होने से यह सर्वादेश होना चाहिए, परन्तु ङित् होने से अन्त्य अल् को हुआ—

होतान् पोतृ → होतापोतृ औ → होतापोतारौ।

(2) मातापितरौ

माता च पिता च—पूर्ववत्,

मातानङ् पितृ → मातान्पितृ → मातापितृ—पूर्ववत्,

मातापितृ औ → मातापितरौ।

व्याख्या—(क) यह 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' सूत्र का अपवाद है। यदि कोई आदेश ङित् भी है और अनेकाल् भी है तो वह ङित् सामर्थ्य से अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। यथा—

अनङ्, आनङ्, इयङ्, उवङ् तथा अवङ् आदि आदेश अनेकाल् हैं तथा ङित् भी हैं।

(ख) **तातङि**—अब शंका होती है कि 'तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम्' के द्वारा 'तु' और 'हि' के स्थान पर होने वाला 'तातङ्' आदेश सर्वादेश होता है। तब इसका ङित्करण व्यर्थ हो जाता है।

(ग) **गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थम्** अर्थात् 'तातङ्' अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है, तदपि ङित् करना व्यर्थ नहीं है, अपितु सार्थक है। 'तातङ्' को ङित् करण 'ङिच्च' के लिए नहीं है; अपितु गुण व वृद्धि के निषेध के लिए है। अतः चरितार्थ है। यथा—

जीवतात् भवान्, जीवतात् त्वम्।

(54) आदेः परस्य *54* (44)

परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः प्रत्येतव्यम्। क्व च परस्य कार्यं शिष्यते? यत्र पञ्चमीनिर्देशः। तद्यथा- 'ईदासः' (7.2.83)–आसीनो यजते; 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (6.3.97)–द्वीपम्, अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम्।

अर्थ—पर को कहा गया कार्य, उसके आदि अल् के स्थान पर होता है। पर को कार्य कहाँ होता है? जहाँ पञ्चमी का निर्देश हो, वहाँ 'तस्मादित्युत्तरस्य' से पर को कार्य होता है।

उदा० (1) आसीनः

आस् लट्—भूवादयो धातवः, वर्त्तमाने लट्,

आस् शानच्—लटः शतृशानचाव०, तङानावात्मनेपदम्,

आस् आन → आस् शप् आन—लशक्वतद्धिते, तिङ्शित् सार्व०, कर्त्तरि शप्—

आस् आन—अदिप्रभृतिभ्यः, 'ईदासः' से (पञ्चम्यन्त निर्देश-युक्त) 'आस्' से 'ईत्' आदेश हुआ,

आस् ईत् न—तस्मादित्युत्तर० परिभाषा से 'आस्' से अव्यवहित पर 'आन' को 'ईत्' प्राप्त हुआ, 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य अल् (अकार) को प्राप्त हुआ, 'आदेः परस्य' से आदि वर्ण (आकार) को हुआ—

आसीन सु → आसीनः।

(2) द्वीपम्

द्विर्गता आपो यस्मिन्—अनेकमन्यपदार्थे, सुप्लुक्,

द्वि अप् अ—समासान्ताः, ऋक्पूरब्धू०, 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यो०' से 'ईत्', पञ्चम्यन्त का निर्देश होने से अव्यवहित 'अप्' को प्राप्त हुआ,

द्वि ईत् प् अ—अलोऽन्त्यस्य, आदेः परस्य,

द्वीप सु → द्वीपम्।

(3) अन्तरीपम्

अन्तर्गता आपो यस्मिन्—पूर्ववत्,

अन्तर् अप् अ → अन्तर् ईत् प् अ → अन्तरीपम् (सु)।

(4) प्रतीपम् (पूर्ववत्)।
(5) समीपम्
सङ्गता आपो यस्मिन्—पूर्ववत्,
समीपम्।

(55) अनेकाल्शित् सर्वस्य *55* (45)

अनेकाल् य आदेशः शिच्च स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति। 'अस्तेर्भूः' (2.4.52)-भविता भवितुम्, भवितव्यम्। शित्खल्वपि-'जश्शसोः शिः' (7.1.20)-कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य।

अर्थ—षष्ठी-निर्दिष्ट को जो अनेकाल् व शित् आदेश कहा गया है, वह सम्पूर्ण षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान पर होता है।

व्याख्या—यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' तथा 'आदेः परस्य' का अपवाद है। व्याकरण शास्त्र में दो प्रकार के आदेश प्राप्त होते हैं—

(क) एकाल् व (ख) अनेकाल्।

आचार्य ने इन सभी को अनुबन्धों के आधार पर वर्गीकृत करते हुए इनकी व्यवस्था तीन सूत्रों के द्वारा की है। यथा—

1. सामान्यतः एकाल् आदेश स्थानी के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है। द्र०—अलोऽन्त्यस्य।

2. ङित् (चाहे एकाल् हो चाहे अनेकाल्) सर्वदा अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। द्र०—ङिच्च।

3. लोट् लकार में 'तु' (प्र० पु० एकव०) तथा 'हिं' (म० पु० एकव०) के स्थान पर विहित 'तातङ्' ङित् होने पर भी सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

4. शित् तथा अनेकाल् (ङित् अनेकाल् को छोड़कर) आदेश सर्वादेश होते हैं। द्र०—अनेकाल् शित् सर्वस्य।

उदा (क) अनेकाल्—
(1) भविता
अस् तृच्—तृच्, आर्धधातुक संज्ञा,
भू तृ—'अस्तेर्भूः' के द्वारा 'भू' आदेश की प्राप्ति हुई, 'भू' अनेकाल् है। अतः सर्वादेश हुआ—
भू इट् तृ → भवितृ सु → भविता—इट्, गुण, सु।
(2) भवितुम्
अस् तुमुन् → भू तुम्—पूर्ववत्
भू इ तुम् → भवितुम् सु → भवितुम्।
(3) भवितव्यम्
अस् तव्यत् → भू तव्य → भू इ तव्य—पूर्ववत्,
भो इ तव्य सु → भवितव्यम्।
(4) कुण्डानि
कुण्ड जस्—जश्शसोः शि, शि सर्वनामस्थानम्,
कुण्ड शि → कुण्ड नुम् इ—नुम्, लशक्वतद्धिते,
कुण्डान् इ → कुण्डानि।

(56) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ *56* (49)

स्थान्यादेशयोः पृथक्त्वात् स्थान्याश्रयं कार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्ययमतिदेश आरभ्यते। स्थानिना तुल्यं वर्त्तत इति स्थानिवत्। स्थानिवदादेशो भवति, स्थान्याश्रयेषु कार्येष्वनलाश्रयेषु स्थान्यलाश्रयाणि कार्याणि वर्ज्जयित्वा। अनल्विधिरनेकाल्विधिरित्यर्थः। किमुदाहरणम्? धात्वङ्ग-कृत्तद्धि-ताव्ययसुप्तिङ्पदादेशाः। धात्वादेशो धातुवद्भवति-'अस्तेर्भूः' (2.4.52) 'ब्रुवो वचिः' (2.4.53)। आर्धधातुके विषये प्रागेवादेशेषु कृतेषु धातोरिति तव्यादयो भवन्ति। भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। अङ्गा-देशोऽङ्गवद्भवति-केन, काभ्याम्, कैः। किमः कः (7. 2.103) इति कादेशे कृतेऽङ्गाश्रया इनदीर्घत्वैस्भावा भवन्ति। कृदादेशः कृद्वद्भवति-प्रकृत्य, प्रहृत्य। क्त्वो ल्यबादेशे कृते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (6.1.71) इति तुग्भवति। तद्धितादेशस्तद्धितवद्भवति-दाधिकम्, अद्यतनम्। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (1.2.46) इति प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। अव्ययादेशोऽव्ययवद्भवति-प्रस्तुत्य, प्रहृत्य, उपहृत्य, उपस्तुत्य। 'अव्ययात्' (2.4.82) इति सुब्लुग् भवति। सुबादेशः सुब्वद्भवति-वृक्षाय, प्लक्षाय। 'सुपि च' (7.3.102) इति दीर्घत्वं भवति। तिङादेशस्तिङ्वद्भवति-अकुरुताम्, अकुरुतम्। 'सुप्तिङन्तं पदम्' (1.1.14) इति पदसंज्ञा भवति। पदादेशः पदवद्भवति-ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। 'पदस्य' (8.1.16) इति रुत्वं भवति।

अर्थ—आदेश स्थानी के समान होता है, परन्तु यदि स्थानी 'अल्' के आश्रित कार्य करना हो तो वह स्थानी के समान नहीं होता है।

व्याख्या—स्थानी और आदेश पृथक् होते हैं। आदेश स्थानी को हटाकर उसके स्थान पर होता है। तब स्थानी के न रहने से उसे होने वाला कार्य आदेश को प्राप्त नहीं हो सकेगा। स्थानी को होने वाला कार्य आदेश को भी हो जाए—इसके लिए यह अतिदेश किया जा रहा है।

उदा०—धातु, अंग, कृत्, तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ् तथा पद के स्थान पर होने वाला आदेश स्थानिवत् होता है। यथा—

(क) धातु को होने वाला आदेश धातु के समान होता है—

(1) भविता

अस् तृच् → भू तृच्—'भूवादयो धातवः' से अस्' की धातुसंज्ञा, 'तृच्' प्रत्यय की विवक्षा में 'अस्तेर्भूः' से भू सर्वादेश हुआ। धात्वादेश धातुवत् होता है। अतः 'भू' की धातुसंज्ञा हुई। 'तृच्' हुआ—

भविता—इट्, गुण, सु।

यदि आदेश (भू) में धातुत्व न होता तो 'तृच्' नहीं हो सकता था।

(2) भवितुम्

अस् तुमुन् → भवितुम्—पूर्ववत्।

(3) भवितव्यम्

अस् तव्यत् → भू तव्य → भवितव्यम्।

(4) वक्ता

ब्रू तृच् → वच् तृ—'ब्रुवो वचिः' से वच् आदेश,

वक्ता—चोः कुः, सु।

(5) वक्तुम्

ब्रू तुमुन् → वक्तुम्।

(6) वक्तव्यम्

ब्रू तव्यत् → वक्तव्यम्।

(ख) अङ्ग के स्थान पर होने वाला आदेश अङ्ग के समान होता है—

(7) केन

किम् टा—यस्मात् प्रत्ययविधिस्त०, किमः कः,

क टा → क इन—अंगादेश अंग के समान होता है। तब 'क' की अंगसंज्ञा हुई। टाङसिङसामिना०,

केन—आद् गुणः।

(8) काभ्याम्

किम् भ्याम् → क भ्याम्—पूर्ववत् 'क' की अंगसंज्ञा,

काभ्याम्—सुपि च।

(9) कैः

किम् भिस्—पूर्ववत्,

क भिस्—अंगसंज्ञा, → क ऐस् → कैस्—अतो भिस ऐस्, कैः।

उपर्युक्त तीन उदाहरणों में 'किमः कः' के द्वारा 'क' आदेश कर देने पर अंग को आश्रित क्रमशः इन, दीर्घदिश तथा ऐस्भाव् प्राप्त हो जाते हैं।

(ग) कृत् को होने वाला आदेश कृत् के समान होता है—

(10) प्रकृत्य

प्र कृ क्त्वा—समासेऽनञ्पूर्वे०,

प्रकृ ल्यप्—'ल्यप्' कृत् नहीं है। अतः 'ह्रस्वस्य पिति कृति०' की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रकृत सूत्र से कृदादेश कृत् के समान होता है। तब 'तुक्' हुआ—

प्रकृत्य—सु, सुलुक्।

(11) प्रहृत्य (पूर्ववत्)।

(घ) तद्धितादेश तद्धित के समान होता है—

(12) दाधिकम्

दधि ठक्—तेन संस्कृतम्, ठस्येकः,

दधि इक—तद्धित आदेश (इक) तद्धित के समान होता है। तब 'यस्येति च' से इकार लोप,

दध् इक → दाध् इक → दाधिकम्—सु।

(13) अद्यतनम्

अद्य ट्यु → अद्य तुट् यु—सायंचिर०, अनुबन्धलोप,

अद्य त् अन → युवोरनाकौ, तद्धित आदेश (अन) में तद्धितत्व उत्पन्न हुआ, प्रातिपदिक संज्ञा,

अद्यतन सु → अद्यतनम्।

(ङ) अव्ययादेश अव्यय के समान होता है—

(14) प्रस्तुत्य

प्रस्तु क्त्वा → प्रस्तु ल्यप्—समासेऽनञ्पूर्वे0,

प्रस्तुत्य—अव्ययादेश (ल्यप्) में अव्ययधर्म आया, अव्यय संज्ञा, सु, सु लुक्।

(15) उपस्तुत्य (पूर्ववत्)।

(16) प्रहृत्य (पूर्ववत्)।

(17) उपहृत्य (पूर्ववत्)।

(च) सुबादेश सुप् के समान होता है—

(18) वृक्षाय

वृक्ष ङे → वृक्ष य—ङेर्य, अनेकाल् शित् सर्वस्य, सुबादेश सुप् के समान होता है, 'य' में सुप्त्व धर्म आया,

वृक्षाय—सुपि च।

(19) प्लक्षाय (पूर्ववत्)।

(छ) तिङादेश तिङ् के समान होता है—

(20) अकुरुताम्

कृ लङ् → कृ तस्—प्र०पु०, द्विव०, अट्,

अट् कृ ताम्—तस्थस्थमिपां०, 'ताम्' तिङ् नहीं है, प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ताम्' में तिङ्त्व आया,

अकृ उ ताम् → अकर् उताम्—तनादिकृञ्भ्यः, सार्वधातु-कार्ध०, अत उत्०

अकुरुताम्।

(21) अकुरुतम् (पूर्ववत्)।

(ज) पदादेश पद के समान होता है—

(22) नः

'युष्माकम्' के स्थान पर 'नस्' हुआ (बहुवचनस्य वस्नसौ)

'नस्' को स्थानिवद्भाव से पदत्व हुआ।

नः—पदस्य, ससजुषो रुः।

(23) वः (पूर्ववत्)।

वत्करणं किम्? स्थानी आदेशस्य संज्ञा मा विज्ञायीति। स्वाश्रयमपि यथा स्यात्। आहत, आवधिष्ट। 'आङो यमहनः' (1.3.28) इत्यात्मनेपदमुभयत्रापि भवति। आदेशग्रहणं किम्? आनुमानिकस्याप्यादेशस्य स्थानि-वद्भावो यथा स्यात्। पचतु। 'एरुः' (3.4.86)। अनल्विधाविति किम्? द्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद्भवन्ति- द्यौः, पन्थाः, स्यः (सः) इति। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' (6.1.68) इति सुलोपो न भवति।

व्याख्या—(क) **वत्करणम्**—'स्थानिवत्' में 'वत्' के ग्रहण का प्रयोजन है कि आदेश स्थानी के समान हो तथा स्थानी आदेश की संज्ञा न हो। स्थानी को आश्रय मानकर कार्य हो। यथा—

(24) आवधिष्ट

आ हन् लुङ → आ वध ल्—आत्मनेपदेष्व०,

आ वध त—स्थानिवत् हुआ,

आ अ वध च्लि (= सिच्) त → अ अ वध् इ स् त → च्लेः सिच्, इट्,

आवधिष्ट—अतो लोपः, आदेशप्रत्यययोः।

यहाँ 'वध' को स्थानिवत् होने से आत्मनेपद हुआ।

(25) आहत

आ हन् ल् → आ आ हन् त → आङो यमहनः,

आ हन् सिच् त → आ हन् त—ह्रस्वादङ्गात्,

आहत—यदि आदेश को स्थानी के समान नहीं मानेंगे तो स्थानी संज्ञा होगा तथा आदेश संज्ञी। तब 'वध' को ही आत्मनेपद हुआ करेगा, 'हन्' को नहीं होगा।

(ख) **आदेश**—'आदेश' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि आनुमानिक आदेश भी स्थानिवत् होता है—

(26) पचतु

पच् लोट् → पच् शप् ति → पचति। इस दशा में 'एरुः' से इकार के स्थान पर उकार होकर 'पचतु' बनता है।

यहाँ न तो इकार स्थानी है (वस्तुतः 'ति' स्थानी है) तथा न ही उकार आदेश है (वस्तुतः आदेश 'तु' है)। इकार व उकार आनुमानिक हैं। उकार समग्र आदेश नहीं है, अर्धादेश है। सूत्र में 'आदेश' पद के ग्रहण का फल है कि सभी प्रकार के आदेश स्थानिवत् होते हैं।

(ग) **अनल्विधा** अर्थात् 'अनल्विधौ' का प्रयोजन यह है कि अल् विधि को छोड़ कर आदेश स्थानिवत् होता है।

'अल्विधिः' पद में चार प्रकार से समास सम्भव है। यथा—

1. तृतीया तत्पुरुष—अला विधिः अल्विधिः अर्थात् यदि स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है—

(27) व्यूढोरस्केन

'व्यूढम् उरो यस्य तेन' इस अर्थ में 'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, प्रातिपदिक सञ्ज्ञा,

सुप् लुक्—

व्यूढ सु उरस् सु।

व्यूढ उरस्।

'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' से कप्—

व्यूढ उरस् कप् > क।

'आद् गुणः' से गुणादेश—

व्यूढोरस्क—ओकार एकादेश।

रुत्व तथा विसर्ग—

व्यूढोरस्कः—प्रातिपदिक संज्ञा।

'सोऽपदादौ' (पा० 8.3.38) से विसर्ग—

व्यूढोरस्कः।

सुप् की उत्पत्ति 'टा' विभक्ति—

व्यूढोरस्क टा इन।

व्यूढोरस्केन।

इस स्थल पर 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व प्राप्त होता है। विसर्जनीय की अट् प्रत्याहार में गणना होने से स्थानिवद् भाव के कारण उस विसर्जनीय के समान सकार का व्यवधान रहने

पर भी णत्व प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ विसर्जनीय (अर्थात् अल्) के कारण णत्व विधि है। तब अल् विधि होने से यहाँ स्थानिवत् नहीं होता है।

इसी प्रकार 'महद् उरो यस्य तेन' इस अर्थ में पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'महोरस्केन' बनता है। केवल 'आन्महतः०' (6.3.84) से 'महत्' के तकार को आकार अधिक होता है।

2. पञ्चमी तत्पुरुष—अलो विधिरल्विधिः अर्थात् यदि स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है—

(28) द्यौः

दिव् सु → दिव् स् (उकार की इत्संज्ञा)

दि औ स्—दिव औत्,

चूँकि 'औ' वकार (अर्थात् हल्) के स्थान पर हुआ है। अतः आदेश स्थानिवत् हो जाता है। तब 'औ' में हल्त्व धर्म आ जाते हैं।

'दि औ स्' इस दशा में 'औ' (अर्थात् हल्) से परे अपृक्त प्रत्यय 'स्' का 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप होता है; परन्तु स्थानी अल् (= वकार) से परे लोपविधि करनी है। अतः अल्विधि होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

(29) पन्था:

इसी प्रकार 'पथिन् सु' इस दशा में—

पथिन् सु—पथिमथ्यृभु०,

पथि आ सु।[1]

यहाँ आकार नकार के स्थान पर हुआ है। अतः स्थानिवद्भाव से आकार में हल्त्व धर्म आ जाने से पूर्ववत् 'स्' का लोप प्राप्त होता है। परन्तु अल्विधि होने के कारण स्थानिवत् नहीं होता है।

इसी प्रकार 'द्यौः' तथा 'स्यः' में सकारलोप नहीं होता है—दिव् सु → दि औ स् → द्यौ स्—दिव औत्, यण्। यहाँ वकार को 'औ' अन्तादेश हुआ। इससे पर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त 'स्' का लोप करना है। अतः 'औ' अन्तादेश स्थानिवत् नहीं हुआ। यदि स्थानिवत् हो जाता तो 'स्' लोप होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार 'स्यः' में 'स्' का लोप नहीं हुआ।

3. षष्ठी तत्पुरुष—अलो विधिरल्विधिः अर्थात् यदि स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करनी हो तो स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

'दिवं कामयते' अथवा 'दिवि कामो यस्य सः' इस अर्थ में—

दिव् ङि काम सु (अनेकमन्यपदार्थे)।

दिव् काम (सुपो धातुप्राति०)।

दि उत् काम (दिव उत्)।

'दि उ काम' इस दशा में 'उ' को स्थानिवद्भाव से वकार मानकर ककार परे रहते 'लोपो व्योर्वलि' के द्वारा उकार (जो वकार के समान है) का लोप होता है। यहाँ स्थानी अल् (= वकार) के स्थान पर लोपविधि इष्ट है, अतः उकार को स्थानिवत् नहीं होता है।

दि उ काम (इको यणचि)।

द्यु काम (प्रातिपदिक संज्ञा)।

द्युकामः (सु होकर)।

4. सप्तमी तत्पुरुष—अलो विधिरल्विधिः अर्थात् यदि अल् के परे रहने पर उससे पूर्व कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

'यज्' धातु से 'क्त' में सम्प्रसारण होकर 'इष्टः' रूप बनता है। तब 'इष्टः' का 'इ' यकार के स्थान में होने के कारण स्थानिवद्भाव से यह ('इ') यकार के समान हो जाता है।

'कः इष्टः' इस दशा में—

करु इष्टः।

चूँकि 'इ' यकार के समान है। अतः 'इ' को 'हश्' में माना जायेगा। तब 'हशि च' से 'रु' को उत्व प्राप्त होता है, परन्तु स्थानी यकार (अल्) है तथा अल् के परे उत्व विधि इष्ट है। अतः अल्विधि होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

(57) अचः परस्मिन् पूर्वविधौ *57* (50)

पूर्वेणानल्विधौ स्थानिवद्भाव उक्तः। अल्विध्यर्थमिदमारभ्यते। आदेशः स्थानिवदिति वर्त्तते। अच इति स्थानिनिर्देशः। परस्मिन्निति निमित्तसप्तमी। पूर्वविधाविति विषयसप्तमी। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भवति। पटयति। अवधीत्। बहुखट्वकः। पटुमाचष्ट इति णिचि टिलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् 'अत उपधायाः' (7.2.116) इति वृद्धिर्न भवति। अवधीत्। अतो लोपस्य स्थानिवद्भावाद् 'अतो हलादेर्लघोः' (7.2.7) इति हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न भवति। बहुखट्वकं इति। 'आपोऽन्तरस्याम्' (7.4.15) इति ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावाद् 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' (6.2.174) इति स्वरो न भवति।

1. पथिमथ्यृभुक्षामात्

अर्थ—अचः० 'अचः' इसके द्वारा स्थानी का निर्देश किया गया है।

परस्मिन्—'परस्मिन्' पद में निमित्तसप्तमी है।

पूर्व—'पूर्वविधौ' पद में विषय सप्तमी है।

पर को निमित्त मानकर अच् के स्थान पर हुआ जो आदेश, वह पूर्व को कार्य करने के विषय में स्थानिवत् होता है।

उदा० (1) पटयति

'पटुम् आचष्टे' इस अर्थ में प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, द्वितीया एकवचन करके 'तत्करोति तदाचष्टे' (वा० 3.1.26) से 'णिच्' होता है—

पटु अम् णिच्।

धातु सञ्ज्ञा, सुप् लुक्—

पटु इ (चुटू, उपदेशेऽजनु०)।

'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य' (वा० 6.4.155) से 'णि' परे रहते इष्ठन्वत् कार्य—

पटु इ।

'टेः' से टिलोप—

पट् इ।

'अत उपधायाः' से णित् को निमित्त मानकर उपधा को वृद्धि प्राप्त होती है, परन्तु उकार लोप 'स्थानिवदादेशो०' से स्थानिवत् होता है। अतः प्राप्त उपधावृद्धि की निवृत्ति हो गई।

पट् इ।

परन्तु अल्विधि से स्थानिवत् का निषेध हो गया। तब पुनः पूर्ववत् उपधावृद्धि प्राप्त होती है।

'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत्[1] होकर उपधावृद्धि की निवृत्ति हो जाती है।

प ट् इ लट् → पट् इ शप् तिप् (कर्त्तरि शप्)

पटयति।

(2) अवधीत्

'हन्' से 'लुङ' होकर—

हन् लुङ् > ल्।

'लुङि च' से—

वध ल्।

1. यहाँ परनिमित्तक अर्थात् णिच् को निमित्त मानकर अच् के स्थान में अजादेश (उकारलोप) हुआ है। पूर्व को कार्य (उपधावृद्धि) करना है। इसके विषय में उकारलोप स्थानिवत् हो गया।

'अलावीत्' की तरह अट्, इट्, ईट्, च्लि, सिच् होकर—

अ वध च्लि तिप्।

अ वध सिच्—अनुबन्धलोप।

अ वध स् त्।

अ वध इ स् ई त्।

अ वध इ ई त्—इट ईटि।

पर आर्धधातुक को निमित्त मानकर 'अतो लोपः' से धकारोत्तरवर्त्ती अकार का लोप होता है—

अ वध् इ ई त्।

'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वृद्धि की प्राप्ति होती है—अल् विधि होने से 'स्थानिवदादे०' की प्राप्ति नहीं होती है। तब परनिमित्तक अजादेश (अकार लोप) होने के कारण पूर्वविधि (अर्थात् वृद्धिकार्य) करने में प्रकृत सूत्र से पूर्ववत् स्थानिवत् हो गया। तब वैकल्पिक वृद्धि की निवृत्ति हो गई—अवधीत्।

(3) बहुखट्वकः

बह्वयः खट्वा अस्मिन् सः—अनेकमन्यपदार्थे,

बह्वी खट्वा—सुप् लुक्, स्त्रियाः पुँवद्भा०, शेषाद् विभाषा,

बह्वी खट्वा कप् → बहुखट्वक—आपोऽन्यतरस्याम्

बहुखट्वकः—सु।

'खट्वा' के 'आ' को ह्रस्वादेश 'अ' हुआ। यह स्थानिवत् हुआ। 'ह्रस्वान्ते०' के द्वारा खकारोत्तरवर्त्ती अकार को उदात्त नहीं हुआ।

अच इति किम्? प्रश्नः, अक्राष्टाम्, आगत्य। प्रश्नः इति प्रच्छेर्नङ्प्रत्यये, 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (6.4.19) इति छकारस्य शकारः परनिमित्तकस्तुकि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। आक्राष्टामिति 'झलो झलि' (8.2.26) इति सिचो लोपः परनिमित्तकः कृषेः षकारस्य 'षढोः कः सि' (8.2.41) इति ककारे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। आगत्येति 'वा ल्यपि' (6.4.38) इति अनुनासिकलोपः परनिमित्तकस्तुकि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। परस्मिन्निति किम्? युवजानिः, वधूटीजानिः, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये। युवजानिरिति 'जायाया निङ्' (5.4.134) न परनिमित्तकः, तेन यलोपे (6.1.66) न स्थानिवद्भवति। वैयाघ्रपद्य इति न परनिमित्तकः पादस्यान्तलोपः (5.4.138) पद्भावं (6.4. 130) न प्रतिबध्नाति। आदीध्ये इति दीधीङ उत्तमपुरुषैकवचने टेरेत्वस्यापरनिमित्तकत्वाद् 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (7.4.53) इति लोपो न भवति।

पूर्वविधाविति किम्? हे गौः, बाभ्रवीयाः, नैधेयः (म०भा०)। हे गौरिति वृद्धिरजादेशः (7.1.90) सम्बुद्धिलोपे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। बाभ्रवीया इति बाभ्रव्यस्यामी छात्रा इति 'वृद्धाच्छः' (4.2.114) इति छः। 'हलस्तद्धितस्य' (6.4.150) इति यकारलोपे कर्त्तव्येऽवादेशो न स्थानिवद्भवति। नैधेयः-'आतो लोप इटि च' (6.4.64) इत्यकारलोपः। 'इतश्चानिञः' (4.1.122) इति द्व्यज्लक्षणे प्रत्ययविधौ न स्थानिवद्भवति।

व्याख्या—(क) अचः अर्थात् अजादेश ही स्थानिवत् होता है—

उदा० (1) प्रश्नः

प्रच्छ् नङ्—यजयाचयत०,

प्रश् न—च्छ्वोः शूडनु०, 'श्' आदेश अजादेश नहीं है, हलादेश है। अतः स्थानिवत् नहीं हुआ। तब 'छे च' की प्रवृत्ति नहीं हुई, अन्यथा 'तुक्' होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है—

प्रश्न सु → प्रश्नः।

(2) अक्राष्टाम्

कृष् लङ् → कृष् तस् → कृष् ताम्—तस्थस्थमिपां०,

अ कृष् स् ताम्—अट्, च्लि, स्पृशमृशकृषतृप० (वा०),

अ कृ अम् ष् स् ताम् → अक्रष् स् ताम्—अनुदात्तस्य चर्दु०, अनुबन्धलोप, यण्,

अक्राष् स् ताम् → अक्राष् ताम्—वदव्रजहल० से वृद्धि, झलो झलि, 'ताम्' को निमित्त मान कर सिच् का लोप हुआ। सिज्लोप हलादेश है, अजादेश नहीं। अतः स्थानिवत् नहीं हुआ। यदि इसे स्थानिवत् मान लेते तो 'षढोः कः सि' से ककार होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता—

अक्राष्टाम्—ष्टुना ष्टुः।

(3) आगत्य

'आ' पूर्वक 'गम्' धातु से 'क्त्वा' की दशा में 'ल्यप्' आदेश होकर—

आ गम् ल्यप् > य।

'वा ल्यपि' (पा० 6.4.38) से अनुनासिक मकार का विकल्प से लोप होता है। लोपपक्ष में—

आ ग य।

इस दशा में अनुनासिक लोप हलादेश होने के कारण यहाँ प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् स्थानिवत् नहीं होता है। तब 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से—आ ग तुक् य।

आगत्य।

(ख) परस्मिन् अर्थात् परनिमित्तक होने पर ही अजादेश स्थानिवत् होता है। यदि अजादेश पर को निमित्त मानकर नहीं होगा तो वह स्थानिवत् नहीं हो सकेगा—

(1) युवजानिः

युवतिर्जाया यस्य सः—अनेकमन्यपदार्थे,

युवति जाया → युव जाया → स्त्रियाः पुँवद्०,

युव जाय् निङ्—जायाया निङ्, 'निङ्' आदेश परनिमित्तक नहीं है। अतः यह स्थानिवत् नहीं हुआ—

युव जा नि—लोपो व्योर्वलि, यदि 'निङ्' को स्थानिवत् मान लेते तो 'लोपो व्यो०' की प्रवृत्ति नहीं होती—

युवजानिः—सु।

(2) वधूटीजानिः

पूर्ववत् स्थानिवत् नहीं हुआ।

(3) वैयाघ्रपद्यः

व्याघ्रस्य पादाविव पादौ यस्य सः—समास,

व्याघ्रपाद् यञ्—तस्याऽपत्यम्, गर्गादिभ्यो यञ्

वैयाघ्रपाद् य—न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां०,

वैयाघ्रपद् य सु—पादः पत्, सु,

वैयाघ्रपद्यः—'पाद' के आकार का लोप हुआ है, जो परनिमित्तक नहीं है। अतः स्थानिवत् नहीं हुआ। यदि इसे स्थानिवत् मान लेते तो 'पादः पत्' की प्रवृत्ति नहीं होती।

(4) आदीध्ये

आङ् पूर्वक अदादिगणी 'दीधीङ्' के लट् उ०पु०, एकव० में—

आङ् दीधीङ् लट्।

आ दीधी इट्।

'टित आत्मनेपदानां टेरे' से इकार को एकार होता है।

आ दीधी ए।

चूँकि यह एकार अजादेश तो है, परन्तु पर को निमित्त मान कर नहीं हुआ। अतः एकार को प्रकृत सूत्र के द्वारा स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यदि यह स्थानिवत् (अर्थात् इकार) होता तो 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (7.4.53) के द्वारा धातु के ईकार का लोप होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

तब 'एरनेकाचः०' से 'यण्' होता है—

आदीध्ये।

(ग) **पूर्वविधा**—'पूर्वविधौ' अर्थात् **पूर्वविधि के विषय में** ही अजादेश स्थानिवत् होता है—

(1) हे गौः

हे गो → गो सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,

(हे) गौ स्—गोतो णित्, अचो ञ्णिति,

हे गौः—यहाँ औकार अजादेश है, जो परनिमित्तक भी है; परन्तु 'एङ् ह्रस्वात्०' से होने वाला लोप पूर्वविधि के विषय में नहीं, अपितु परविधि के विषय में है। अतः अजादेश स्थानिवत् नहीं हुआ।

(2) बाभ्रवीयाः

बाभ्रव्यस्य इमे छात्राः—वृद्धाच्छः, आयने०,

बाभ्रव्य छ → बाभ्रव्य ईय → बाभ्रव्य् ईय—

बाभ्रव् ईय—हलस्तद्धितस्य, 'अव्'[1] आदेश के स्थानिवत् न होने से यलोप हुआ, यदि 'अव्' को स्थानिवद्भाव हो जाता तो यलोप न होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है—

बाभ्रवीय जस् → बाभ्रवीयाः।

(3) नैधेयः

निधा कि → निधि—आतो लोप इटि०

निधि ढक्—'इतश्चानिञः' से 'ढक्', 'निधि' को होने वाले आलोप को स्थानिवद्भाव नहीं होता है; क्योंकि यह परनिमित्तक तो है परन्तु पूर्वविधि के विषय में नहीं है। यदि यह स्थानिवत् हो जाता तो 'निधि' में तीन अच् का भाव होकर 'ढक्' नहीं हो पाता—

नैध् एय → नैधेयः।

(58) न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर-सवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु *58* (51)

पूर्वेणातिप्रसक्तः स्थानिवद्भाव एतेषु विधिषु प्रतिषिद्ध्यते। (1) पदान्तविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति—कौ स्तः। यौ स्तः। तानि सन्ति। यानि सन्ति। 'श्नसोरल्लोपः' (6.4. 111) 'क्ङिति सार्वधातुके' (8.4. 47) इति परनिमित्तकः, स पूर्वविधावावादेशे यणादेशे च कर्त्तव्ये स्थानिवत्स्यात्। अस्माद्वचनान्न भवति। (2) द्विर्वचनविधिः—द्विर्वचनविधिं प्रति (अजादेशः) न स्थानिवद्भवति—दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र। यणा(म०भा०)देशः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् 'अनचि च' (8.4. 47) इति धकारस्य द्विर्वचनं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। (3) वरेविधिः—वरे योऽजादेशः स पूर्वविधिं प्रति न स्थानिवद्भवति—अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्। यातेर्यङन्ताद् 'यश्च यङः' (3.2.176) इति वरचि कृते 'अतो लोपः' (6.4.48) परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवत्त्वात् 'आतो लोप इटि च' (6.4.64) इत्यकारलोपः स्यात्, अस्माद्वचनान्न भवति। (4) यलोपविधिः—यलोपविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति—कण्डूतिः। कण्डूयतेः क्तिनि कृतेऽतो लोपः (6.4.48) परनिमित्तकः, 'लोपो व्योर्वलि' (6.1.66) इति यलोपे स्थानिवत्स्यात्, अस्माद्वचनान्न भवति। (5) स्वरविधिः—स्वरविधिं प्रति अजादेशो न स्थानिवद्भवति—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः। ण्वुलि कृतेऽतोलोपः (6.4.48) परनिमित्तको लिति (6.1.193) प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तमिति स्वरे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवतीति। (6) सवर्णविधिः—सवर्णविधिं प्रति अजादेशो न स्थानिवद्भवति—शिण्ढि, पिण्ढि। शिषेः पिषेश्च लोण्मध्यमपुरुषैकवचने 'रुधादिभ्यः श्नम्' (3.1.78), हित्वधित्वष्टुत्वजश्त्वेषु कृतेषु 'श्नसोरल्लोपः' (6.4. 111) 'क्ङिति सार्वधातुके' (8.4.50) परनिमित्तकोऽनुस्वारस्य ययि परसवर्णे (8.4.58) कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति। (7) अनुस्वारविधिः—अनुस्वारविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति—शिंषन्ति। पिंषन्ति। 'नश्चापदान्तस्य झलि' (8.3.24) इति अनुस्वारे कर्त्तव्ये श्नसोरल्लोपो (6.4.111) न स्थानिवद्भवति। (8) दीर्घविधिः—दीर्घविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति—प्रतिदीव्ना। प्रतिदीव्ने। प्रतिदिवन्नित्येतस्य 'भस्य' (6.4.129) इत्यधिकृत्य तृतीयैकवचने चतुर्थ्येकवचने च 'अल्लोपोऽनः' (6.4.134) इति अकारलोपः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावाद् 'हलि च' (8.2.77) इति दीर्घत्वं न स्यात्। न ह्ययं वकारो हल्पर इत्यस्माद्वचनाद्भवति। (9) जश्विधिः—जश्विधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति—'सग्धिंश्च मे सपीतिश्च मे' (वाज०सं० 18.9)। बब्धान्ते हरी धानाः (नि० 5.12)। अदेः क्तिनि 'बहुलं छन्दसि' (2.4.39) इति घस्लादेशः, 'घसिभसोर्हलि च' (6.4. 100) इत्युपधालोपः, 'झलो झलि' (8.2.26) इति सकारलोपः, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (8.2.40) इति धत्वम्। उपधालोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'झलां जश् झशि' (8.4.53) इति धकारस्य जश्त्वं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। समाना ग्धिः, समानस्य भावः सग्धिः। बब्धामिति—भसेर्लोड्-द्विवचने शपः श्लुः, द्विर्वचनमभ्यासकार्यम्, 'घसिभसोर्हलि च' (6.4.100) इति उपधालोपः, 'झलो झलि' (8.2.26) इति सकारलोपः, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (8.2. 40)

1. बभ्रु यञ् — बाभ्रव् य—'ओर्गुणः' से 'अव्' होता है।

इति षत्वम्। उपधालोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'झलां जश् झशि' (8.4.53) इति जश्त्वं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। (10) चर्विधिः–चर्विधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिवद्भवति– जक्षतुः। जक्षुः। 'अक्षन्नपितरोऽमीमदन्त पितरः (वाज० सं० 19.36)। लिड्द्विवचनबहुवचनयोरदेर्घस्लादेशः, 'गमहनजनखनघसाम्' (6.4.98) इत्युपधालोपः, द्विर्वचनम्, अभ्यासकार्यम्। तत्रोपधालोपस्य स्थानिवत्त्वात् 'खरि च' (8.4.55) इति घकारस्य चर्त्वं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। 'शासिवसिघसीनां च' (8.3. 60) इति षत्वम्। अक्षन्नित्यदेर्लुङ्बहुवचने घस्लादेशश्च्लेरागतस्य, 'मन्त्रे घसह्वर' (2.4.80) इति लुक्, 'गमहनजनखनघसाम्' (6.4.98) इत्युपधालोपः। तस्य स्थानिवत्त्वात् 'खरि च' (8.4.55) इति चर्त्वं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवद्भवति। अन्यत्र तु स्थानिवदेव। तेन बहुखट्वकः, किर्योः, गिर्योः, वाय्वोरिति स्थानिवत्त्वात् स्वरदीर्घयलोपा न भवन्ति।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा अतिप्रसक्त स्थानिवद्भाव का इन विधियों में निषेध किया जाता है। पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश् तथा चर्—इन विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है।

उदा०—(क) पदान्त विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(1) कौ स्तः

'अस्' धातु के लट्, प्र०पु०, द्विव० में—

अस् तस्।

अस् शप् तस् (शप्)।

अस् तस् (शप् लुक्) अदिप्रभृतिभ्यः शपः।

स् तस् (श्नसोरल्लोपः)।

स्तः।

अब 'श्नसोरल्लोपः' से होने वाला अल्लोप अजादेश है तथा परनिमित्तक है, परन्तु पदविधि होने से स्थानिवत् नहीं होता है।

यदि यह स्थानिवत् हो जायेगा तो 'कौ स्तः' इस दशा में 'एचोऽयवायावः' से 'आव्' आदेश प्राप्त होता है।

(2) यौ स्तः (पूर्ववत्)।

(3) तानि सन्ति।

(4) यानि सन्ति।

(ख) द्विर्वचन विधि के प्रति भी अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(5) दद्ध्यत्र

दधि अत्र

दध् यत्र (इको यणचि)।

दध् ध्यत्र (अनचि च)।

द द् ध्यत्र (झलां जश् झशि)।

'दध्यत्र' इस दशा में यणादेश अल् विधि होने से स्थानिवत् नहीं होता है।

तब 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' के द्वारा उक्त आदेश स्थानिवत् होता है, परन्तु द्विर्वचन विधि के प्रति प्रकृत सूत्र से स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होता है, अन्यथा 'य्' के स्थानिवत् (अर्थात् इकार) होने से 'अनचि च' से द्वित्व नहीं होता।

(6) मद्ध्वत्र

मधु अत्र → मध् व् अत्र → मध्ध्वत्र—पूर्ववत्,

मद्ध्वत्र।

(ग) वरच् प्रत्यय परे रहने पर अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(7) यायावरः

'पुनः पुनरतिशयेन याति' या 'भृशं याति' इस अर्थ में—

या यङ् (धातोरेकाचो०)

या या यङ् (सन्यङोः), पूर्वोऽभ्यासः

य या य (ह्रस्वः)।

या या य (दीर्घोऽकितः)।

तब धातु सञ्ज्ञा, वरच् प्रत्यय (यश्च यङः), अकारलोप (अतो लोपः) तथा यकार लोप (लोपो० व्यो०) होकर—

या या य वरच्।

या या य् वर।

या या वर—प्रातिपदिक संज्ञा।

यायावरः (सु होकर)।

'या या य् वर' इस अवस्था में अकार लोप अजादेश तो है, परन्तु अल्विधि होने से स्थानिवत् नहीं हुआ। पुनः 'अचः परस्मिन्०' से स्थानिवत् हो गया। 'वरच्' को निमित्त मान कर अजादेश ('अ' का लोप) हुआ है। तब 'न पदान्तद्विर्वचन०' से वरे विधि में निषेध हो गया, अन्यथा स्थानिवत् होने की दशा में 'आतो लोप इटि च' से आकार लोप प्राप्त होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

(घ) यलोप विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(8) कण्डूति

'कण्डूञ्' धातु से 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' से 'यक्', धातु सञ्ज्ञा तथा 'क्तिच्' प्रत्यय होता है—

कण्डूञ् → कण्डू।

कण्डू यक् → कण्डूय।

कण्डू य क्तिच् ति (क्तिच् क्तौ च सञ्ज्ञा०)—हलन्त्यम्,

कण्डूय ति (आर्धधातुक सञ्ज्ञा, लशक्वत०)

'आर्धधातुके' के अधिकार में 'अतो लोपः' से अकारलोप—

कण्डूय् ति।

यह अल्लोप अल्विधि होने से स्थानिवत् नहीं होता है। परन्तु अजादेश (अकारलोप) परनिमित्तक होने से 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत् हो जाता है। तब 'लोपो व्योर्वलि' की प्रवृत्ति न होकर 'कण्डूय्ति' ऐसा अनिष्ट रूप बनता है।

वस्तुतः पूर्वोक्त स्थानिवद्भाव को बाध कर 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' के द्वारा यलोप विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं हुआ। तब यलोप होकर—

कण्डू ति।

कण्डूतिः (सु होकर)।

(ङ) स्वरविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(9) चिकीर्षकः

'कृ' धातु से 'सन्' में—

डुकृञ् > डुकृ।

कृ सन् > स (धातोः कर्मणः—)

आर्धधातुक सञ्ज्ञा, वलादि इट् की प्राप्ति, इट् का निषेध (एकाच उप०) आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, 'सन्' के किद्वत् (इको झल) होने से गुणनिषेध तथा दीर्घ[1] होकर—

कृ स।

कॄ स।

'ॠत इद्धातोः' से 'इत्' आदेश रपर होकर —

किर् स।

धातु सञ्ज्ञा, 'सन्यङोः' से द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा 'हलि च' से दीर्घ—

किर् किर् स (पूर्वोऽभ्यासः)।

कि किर् स (हलादिः शेषः)।

चि किर् स (कुहोश्चुः)।

चि कीर् स > ष—सनाद्यन्ता धातवः।

'धातोः' के अधिकार में 'ण्वुल्' प्रत्यय—

चिकीर् ण्वुल् > अक।

अंग सञ्ज्ञा होकर 'अक' आदेश होता है। 'अतो लोपः' से अकार लोप—

चिकीर्ष् अक।

'ण्वुल्' लित् है। 'लिति' (6.1.187) से लित् 'अक' के परे, प्रत्यय से पूर्व ईकार को उदात्त किया।

'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से अकार लोप स्थानिवत् होता है। तब 'अक' प्रत्यय से पूर्व अकार को उदात्त प्राप्त हुआ। परन्तु 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो गया।

तब ईकार को उदात्त हुआ।

अब 'सु' होकर—

चिकीर्षकः।

(10) जिहीर्षकः

हृ सन्—पूर्ववत्,

हिर् स → झि हिर् स (कुहोश्चुः)—

जिहीर्स ण्वुल् → जिहीर्षकः (अभ्यासे चर्च)।

(च) सवर्ण विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(11) शिण्ढि

'शिष्' धातु के 'लोट्' मध्यम पु०, एकवचन में—

शिष्लृ → शिष् (अनुबन्धलोप)।

शिष् लोट्—(लोट् च)।

शिष् ल् → शिष् सिप्।

शि श्नम् ष् सि (रुधादिभ्यः श्नम्)।

शि न ष् हि (सेर्ह्यपिच्च)।

शिन् ष् हि (सार्वधातुकमपित् श्नसोरल्लोपः)।

शिन् ष् धि (हुझल्भ्यो हेर्धिः)।

शिन् ष् ढि (झलां जश् झशि)।

शिन् ड् ढि।

शिन् ढि (झरो झरि सवर्णे)।

'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार होता है, परन्तु 'श्न' के अकार का लोप 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत् होता है। तब 'झल्' परे न होने से पूर्वोक्त अनुस्वार नहीं होता है। 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' से स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होकर अनुस्वार होता है। शिण्ढि।

1. अज्झनगमां सनि।

(छ) अनुस्वार विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(13) शिंषन्ति

'शिष्' के लट् प्र०पु०, बहुव० में—

शिष् लट् > ल्।

शिष् झि > अन्ति।

शि श्नम् ष् अन्ति।

शि न् ष् अन्ति (श्नसोरल्लोपः)।

यहाँ 'शिण्ढि' की तरह अकारलोप के स्थानिवत् होने से अनुस्वार नहीं होता है, परन्तु अनुस्वार विधि होने के कारण 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' के द्वारा स्थानिवद्भाव का निषेध होने के कारण 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होता है—

शिंषन्ति।

(14) पिंषन्ति

पिष् लट् → पिष् झि → पिष् अन्ति → पि श्नम् ष् न्ति—पिंषन्ति (पूर्ववत्)।

(ज) दीर्घ विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(15) प्रतिदीव्ना

'प्रतिदिवन्' से तृतीया एकव०—प्रतिदिवन् टा > आ।

भसञ्ज्ञा, 'भस्य' तथा 'अल्लोपोऽनः' से 'अन्' अन्त वाले भसञ्ज्ञक शब्द के उपधाभूत 'अ' का लोप—

प्रति दिवन् आ।

अकारलोप अजादेश है तथा परनिमित्तक भी है। अतः 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत् हो गया। तब 'हलि च' के द्वारा दीर्घ नहीं हुआ। परन्तु दीर्घविधि के प्रति अजादेश 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ०' सूत्र से स्थानिवत् न होने के कारण उक्त दीर्घ हो जाता है—

प्रति दी व् न् आ।

प्रतिदीव्ना।

(16) प्रतिदीव्ने

प्रति दिवन् ङे—(पूर्ववत्)।

(झ) जश् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(17) सग्धिः

अद् (धातु सञ्ज्ञा)।

घस्लृ > घस् ('बहुलं छन्दसि' पा० 2.4.39; षष्ठी स्थानेयोगा। 'स्थानिवदादेशो०' से अनल्विधि होने के कारण स्थानिवत् हो गया। 'घस्' की धातुसंज्ञा हुई। 'धातोः' के अधिकार में 'स्त्रियां क्तिन्' से—

घस् क्तिन् > ति।

'घसिभसोर्हलि च' से उपधालोप—

घ् स् ति।

'झलो झलि' से सलोप—

घ् ति।

'झषस्तथोर्धोऽधः' से—

घ् धि।

अकारलोप के 'अचः परस्मिन्०' से स्थानिवत् होने से 'झलां जश्झशि' से जश्त्व नहीं होता है। चूँकि जश् विधि के प्रति अजादेश 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्०' के द्वारा स्थानिवत् नहीं होता है। तब जश्त्व हो जाता है—

ग् धि।

ग्धिः (सु होकर)।

तब 'समाना ग्धिः' इस अर्थ में 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमान०' (पा० 2.1.57) से समास होकर—

समाना ग्धि

समान ग्धि (पुंवत् कर्मधार०)

स ग्धि (समानस्य छन्दस्य०)

सग्धिः (सु होकर)।

(18) बब्धाम्

इसी प्रकार 'भस्' के लोट् प्र०पु०, द्वि० में—

भस् लोट् > ल्।

भस् तस्। भस् शप् तस् (जुहोत्यादि०)।

भस् तस् (श्लुत्व)।

'लोटो लङ्वत्' तथा 'तस्थस्थमिपां०' से—

भस् ताम्।

'श्लौ' तथा अभ्यास कार्य—

भस् भस् ताम्।

भ भस् ताम्।

ब भस् ताम्।

'सार्वधातुकमिपित्' से 'ङित्' तथा 'घसिभसोर्हलि' से उपधालोप—

ब भ्स् ताम्।

'झलो झलि' तथा 'झषस्तथोर्धो०' से

बभ् ताम्। ब भ् धाम्।

अकार लोप के स्थानिवत् होने से (अचः परस्मिन्०) 'झलां

जश् झशि' की प्राप्ति नहीं हुई। तब 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' से स्थानिवत् निषेध होकर—

बब्धाम्।

बब्धाम्।

(ञ) चर् विधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा—

(19) जक्षतुः

'अद्' से लिट् प्र०पु०, द्वि० में 'परोक्षे लिट्', 'लिट् च', 'आर्धधातुके' तथा 'लिट्यन्यतरस्याम्' सूत्र लगकर—

अद् लिट्।

घस्लृ लिट्।

'स्थानिवदादेशो०' से 'घस्' आदेश स्थानिवत् होकर—

घस् लिट् > ल्।

घस् तस्

'परस्मैपदानां णलतुसुस्०', 'असंयोगाल्लिट् कित्' तथा 'गमहनजन' लगकर—

घस् अतुस्।

घ्स् अतुस्।

द्वित्व व अभ्यास कार्य होकर—

घ् स् घ् स् अतुस् (लिटि धातोर० । द्विर्वचनेऽचि)

घ घ् स् अतुस्।

झ घ् स् अतुस् (कुहोश्चुः)

ज घ् स् अतुस् (अभ्यासे चर्च)

'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से अकारलोप स्थानिवत् हो जाता है। तब 'खरि च' (पा० 8.4.54) से (खर् परे न होने के कारण) घकार को ककार नहीं होता है। 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' से इसके स्थानिवद्भाव का निषेध होकर चर्त्व होता है—

ज क् स् अतुस्।

'शासिवसिघसीनां च' से षत्व—

जक्ष् अतुस्।

जक्षतुः।

(20) जक्षुः

अद् लिट् → घस् झि → घस् उस्—पूर्ववत्,

घ्स् घ्स् उस् → घ् घ् स् उस् → पूर्ववत्,

झ घ् स् उस् → ज घ् स् उस् → ज क् सुस्—पूर्ववत्, जक्षुः।

(21) अक्षन्

'अद्' के लुङ् प्र० पु०, बहुव० में—

अद् लुङ् ('लुङ्')।

घस्लृ लुङ् ('आर्धधातुके', 'लुङ्सनो०')।

पूर्ववत् घस् स्थानिवत् हो गया। अट्, च्लि तथा 'च्लि' का लुक् होता है—

अट् घस् च्लि झि—

अ घस् च्लि अन्ति (झोऽन्तः)।

अ घस् च्लि अन्त् (इतश्च)।

अ घस् च्लि अन् (संयोगान्त लोप)।

अ घस् अन्। (मन्त्रे घसह्वर०)।

अ घ् स् अन् (उपधालोप)।

अब 'अचः परस्मिन्०' से उपधालोप के स्थानिवत् हो जाने से 'खरि च' से चर्त्व नहीं होता है। 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' से स्थानिवद्भाव का निषेध होकर चर्त्व हो गया—

अ क् स अन्।

पूर्ववत् षत्व—(शासिवसिघसीनां०)।

अक्षन्।

व्याख्या—(क) 'पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप...विधिषु' इस पद के अन्त में स्थित 'विधि' पद का सम्बन्ध 'पदान्त' आदि सभी शब्दों के साथ होता है। तब इसका अर्थ होता है—पदान्तविधि, वरेविधि तथा यलोपविधि आदि में परनिमित्तक अजादेश स्थानी के समान नहीं होता है।

(ख) 'पदान्त' पद में 'अन्त' शब्द का अर्थ है—चरम अवयव। तब 'पदान्त' पद का अर्थ हुआ पद के अन्तिम अवयव के विधेय रहने पर।

(ग) स्वर, दीर्घ तथा यलोप करने के विषय में ही लोपरूप अजादेश के ही स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। यथा—

1. 'बह्व्यः खट्वाः यस्मिन् प्रदेशे' इस अर्थ में समास हुआ, सुप् लुक् हुआ—

बह्वी जस् खट्वा जस् (अनेकमन्यपदार्थे)

बह्वी खट्वा।

बहु खट्वा (स्त्रियाः पुँवद्०)।

बहु खट्वा कप्। अब 'आपोऽन्यतरस्याम्' से ह्रस्व होता है:

बहुखट्वक।

अब 'बहोर्नञ्वदुत्तरपद०' से उत्तरपद का बहुत्व अभिधेय होने पर नञ्वत् खकारोत्तरवर्ती अकार को 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्० (पा० 6.2.173) से उदात्त प्राप्त हुआ 'अचः परस्मिन्०' से ह्रस्वादेश के स्थानिवत् (अर्थात् दीर्घ आकार) होने से उक्त

अकार को उदात्त नहीं हुआ। तब 'कपि पूर्वम्' (6.2.172) से 'ट्व' के अकार को उदात्त प्राप्त हुआ। अब स्वरविधि होने से 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' सूत्र से अजादेश के स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध हो जाता है। तब पूर्ववत् खकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त प्राप्त होता है, परन्तु स्वरविधि में ही लोपरूप अजादेश के स्थानिवद्भाव का निषेध है। यहाँ ह्रस्वादेश रूप अजादेश है। अत: वकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त होता है।

2. 'कृ' धातु से 'कृग्रोरिच्च' से—
किर कि > इ।
किरि (रपर)।
कि रि ओस्।
किर्योः (इको यणचि)।

यहाँ 'इक्' के स्थान में परनिमित्तक अजादेश (यण्) हुआ है। तब 'हलि च' से दीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवत् होने से दीर्घादेश नहीं होता है। 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' के द्वारा स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। तब पुन: दीर्घादेश की प्राप्ति होती है।

'दीर्घविधि में लोपरूप अजादेश के सम्बन्ध में स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध होता है' इस वचन के अनुसार यहाँ दीर्घ नहीं हुआ। कारण कि, यहाँ यणादेश है, लोपरूप अजादेश नहीं है।

3. इसी प्रकार 'गिर्योः' में समझना चाहिए।
4. 'वायु ओस्'।
वाय्वोः।

इस दशा में 'लोपो व्योर्वलि' से यलोप प्राप्त होता है। पूर्ववत् स्थानिवत् होने से यलोप नहीं होता है। यलोपविधि होने से अजादेश के स्थानिवद्भाव के निषेध होने से पुन: यलोप की प्राप्ति हुई, परन्तु 'लोपरूप अजादेश ही यलोप विधि के प्रति स्थानिवत् नहीं होता' इस वचन के कारण यणादेशरूप अजादेश होने से उक्त निषेध की निवृत्ति होती है तथा यलोप नहीं होता है।

(59) द्विर्वचनेऽचि *59* (2243)

द्विर्वचननिमित्तेऽचि अजादेशः स्थानिवद्भवति द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये। रूपातिदेशश्चायं नियतकालः। तेन कृते द्विर्वचने पुनरादेशरूपमेवावतिष्ठते। आल्लोपोपधालोप-णिलोपयणवायावादेशाः प्रयोजनम् (म०भा०)। आल्-लोपः-पपतुः, पपुः। 'आतो लोप इटि च' (6.4.64) इत्याकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् 'एकाच' (6.1.1) इति द्विर्वचनं भवति। उपधालोपः-जघ्नतुः, जघ्नुः। 'गमहनजनखनघसाम्' (6.4. 98) इत्युपधालोपे कृते अनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न स्यात्, अस्माद्वचनाद्भवति। णिलोपः-आटिटत्। अटतेर्णिचि लुङि चङि णिलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वात् 'अजादेर्द्वितीयस्य' (6.1.2) इति टिशब्दस्य द्विर्वचनं भवति। यण्-चक्रतुः, चक्रुः। करोतेरतुसि उसि च यणादेशे कृतेऽनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न स्यात्, स्थानिवत्त्वाद्भवति। अयवायावादेशाः-निनय, निनाय; लुलवलुलाव। नयतेर्लुनातेश्चोत्तमे णलि गुणे कृते वृद्धौ चायवायावादेशाः। तेषां स्थानिवत्त्वान्नेनैलोलाविति द्विर्वचनं भवति।

अर्थ—सूत्रस्थ 'द्विर्वचने' पद विशेषण तथा 'अचि' पद विशेष्य है। 'द्विर्वचने' पद में निमित्तसप्तमी है। 'द्विर्वचन' पद में एकशेष द्वन्द्व समास (द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च—द्विर्वचनम्) मानकर सूत्रार्थ में इस पद की आवृत्ति की जाती है। प्रथम 'द्विर्वचने' में निमित्तसप्तमी तथा द्वितीय 'द्विर्वचने' पद में विषय- सप्तमी मान कर काशिकांकार ने इस प्रकार सूत्रार्थ किया है—

द्विर्वचननिमित्तक अच् के परे रहते अजादेश स्थानिवत् होता है, द्विर्वचन के विषय में।

यह रूपातिदेश सूत्र है। जिस सूत्र में आदेश का रूप स्थानी के समान हो जाये, उसे रूपातिदेश सूत्र कहते हैं। निमित्त दो प्रकार के होते हैं—साक्षात् निमित्त तथा परम्परा सम्बन्ध से। यथा—

(क) नी त—लिट् प्र० पु०, एकव०,
नी ए—लिटस्तझयो०। यहाँ 'ए' प्रत्यय द्वित्व का साक्षात् निमित्त है—
निन्ये—द्वित्व आदि होकर।

(ख) नी तस् → नी अतुस्—णलतुसुस्०,
निन्यतुः—यहाँ 'अतुस्' द्वित्व का साक्षात् निमित्त है तथा 'अतुस्' का अकार परम्परया निमित्त है।

सूत्रस्थ 'अचि' पद के द्वारा साक्षात् व परम्परया—दोनों प्रकार के निमित्तों का ग्रहण है।

उदा० इस सूत्र के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

(क) आल्लोपः—आकार का लोप। यथा—
1. पपतुः
पा तस्—लिट् प्र० पु० द्विव०,
पा अतुस्—असंयोगाल्लिट्०। आतो लोप०। लिटि धातो० से द्वित्व होने लगा। एकाचो द्वे प्रथमस्य।

प् अतुस्—प्रकृत सूत्र के द्वारा रूपातिदेश (अर्थात् आदेश स्थानिवत्) हो गया—

पा प् अतुस् → पपतुः—ह्रस्वः।

(2) पपुः

पा झि → पा उस् → प् उस्—

पा प् उस्—पपुः (पूर्ववत्)।

(ख) उपधालोपः—उपधा का लोप। यथा—

(3) जघ्नतुः

हन् तस् → हन् अतुस् → ह् न् अतुस्—पूर्ववत्, गमहनजन० से उपधा लोप, द्वित्व होने लगा, परन्तु अच् के न होने से द्विर्वचन न हो सका। तब रूपातिदेश—

हन् हन् अतुस् → ह ह् न् अतुस्—द्वित्व, हलादि शेष,

झ ह् न् अतुस् → ज ह् न् अतुस्—अभ्यास कार्य,

जघ्नतुः।

(4) जघ्नुः

हन् झि → जघ्नुः—पूर्ववत्।

(ग) णिलोपः—णि का लोप। यथा—

(5) आटिटत्

अट् णिच् → आटि—हेतुमति च, अत उपधायाः, धातुसंज्ञा—

आटि तिप्—लुङ् प्र०पु० एकव०—

आटि चङ् त्—इतश्च, च्लि लुङि, णिश्रि०—

आट् अ त्—णेरनिटि—

अट् अ त्—णौ चङ्युपधा० से ह्रस्व, 'चङि' से द्वित्व होने लगा, प्रकृत सूत्र से रूपातिदेश हुआ, अजादेर्द्वि० से 'टि' को द्वित्व—

अ टि ट् अत् → आटिटत्—आट् आगम।

(घ) यणादेशः—यण् आदेश। यथा—

(6) चक्रतुः

कृ तस् → कृ अतुस्—लिट् निमित्तक अतुस्,

क्र् अतुस्—यणादेश, द्वित्व करने के विषय में अच् से हीन को द्वित्व प्राप्त नहीं हुआ, रूपातिदेश—

कृ क्र् अतुस् → कर्, क्रतुस् → क क्रतुस्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,

चक्रतु;—उरत्, कुहोश्चुः।

(7) चक्रुः

कृ झि → चक्रुः—पूर्ववत्।

(ङ) अयवायावादेशाः—अय्, अव्, आय् तथा आव् आदेश। यथा—

(8) निनय

नी णल्—लिट्, उ०पु० एकव०, णलतुसुस्०, णलुत्तमो वा,

नी अ → ने अ नय् अ—अणित् पक्ष में गुण, अयादेश,

नी नय् अ—द्वित्व होने लगा, रूपातिदेश हुआ, द्वित्व,

निनय—ह्रस्वः।

(9) निनाय

नी णल् → नै अ → नाय् अ—पूर्ववत्, णित् पक्ष में आय्,

नी नाय् अ → निनाय—रूपातिदेश।

(10) लुलव

लू णल् → लव् अ → लू लव् अ—पूर्ववत्,

लुलव—रूपातिदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य।

(11) लुलाव

लू णल् → लाव् अ → लु लाव् अ—पूर्ववत्,

लुलाव।

द्विर्वचन इति किम्? जग्ले, मम्ले। श्रवणमाकारस्य न भवति। द्विर्वचननिमित्त इति किम्? दुद्यूषति। ऊठि यणादेशो न स्थानिवद्भवति। अचीति किम्? जेघ्रीयते, देध्मीयते। 'ई घ्राध्मोः' (7.4.31) 'यङि च' (7.4.30) इति ईकारादेशः। तस्य स्थानिवद्भावादाकारस्य द्विर्वचनं स्यात्। अज्ग्रहणान्न भवति।

व्याख्या—(क) द्विर्व० 'द्विर्वचने' का फल यह है कि द्विर्वचन कर्त्तव्य होने पर ही अजादेश स्थानिवत् होता है—

(12) जग्ले

ग्लै त—भाव में लिट्, त, आदेच उपदेशे०, लिटस्तझ०,

ग्ला ए → ग्ला ग्ला ए → ग ग्ला ए—द्वित्व, हलादि शेष,

ज ग्ला ए → ज ग्ल् ए—कुहोश्चुः, आतो लोप इटि च। यहाँ आकार लोप वृद्धि के लिए स्थानिवत् नहीं होता है, कारण कि यहाँ द्विवर्चन कर्त्तव्य नहीं है।

जग्ले।

(13) इसी प्रकार—मम्ले।

(ख) द्विर्वच—'द्विर्वचननिमित्ते' अर्थात् द्विर्वचन निमित्त होने पर ही अजादि स्थानिवत् होता है—

(14) दिव् सन्—सन्, 'हलन्ताच्च' से कित्, विकल्प से इट्,

दि ऊठ् स → द्यू स—इडभाव पक्ष में, 'च्छ्वोः शूड०', यण्, द्वित्व प्राप्त हुआ,

द्यू द्यू स → दु द्यू स → दुद्यूस—द्वित्व निमित्त नहीं है। अतः यण् का स्थानिवद्भाव न हुआ, धातुसंज्ञा—दुद्यूषति।

(ग) अची—'अचि' अर्थात् अजादेश परे रहते ही स्थानिवद्भाव होता है—

(15) घ्रा यङ् → घ्री य—ई घ्राध्मोः,

घ्री घ्री य → घे घ्री य → झेघ्रीय → जेघ्रीय—द्वित्व, अभ्यास कार्य, यङि च,

जेघ्रीयते—द्वित्व का निमित्त 'यङ्' है, 'अच्' नहीं है। अतः स्थानिवद्भाव नहीं हुआ। यदि स्थानिवद्भाव हो जाता तो 'आ' का द्वित्व प्राप्त होता।

(16) देध्मीयते—पूर्ववत् स्थानिवद्भाव नहीं हुआ।

विशेष—महर्षि पतञ्जलि ने प्रकृत सूत्र में स्थानिवद्भाव माना है तथा उसका निषेध नहीं माना है। भट्टोजिदीक्षित ने 'न पदान्तवरेयलोप०' से 'न' का अनुवर्त्तन कर यहाँ निषेध माना है। उन्होंने 'अचः परस्मिन्०' से 'अचः' का, 'स्थानिवदादेशो०' से 'आदेशः' का तथा 'न पदान्त०' से 'न' पद का अनुवर्त्तन किया है। दीक्षितसमर्थित अर्थ इस प्रकार है—द्वित्व के निमित्त अच् को मानकर किया जाने वाला अजादेश न हो, द्वित्व करने में।[1] सार यह है कि द्वित्व के निमित्त अच् के परे रहते द्वित्व करने के विषय में कोई अजादेश न हो (पहले द्वित्व होता है)।

काशिकासम्मत व कौमुदीसम्मत—दोनों प्रकार की व्याख्याओं में रूपसिद्धि की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है तथा प्रयोग-स्थल भी समान ही हैं। रूपसिद्धि में जो थोड़ा अन्तर है, वह नीचे प्रदर्शित है—

पा तस् → पा अतुस्—द्वित्व व आकारलोप की प्राप्ति हुई,

पा पा अतुस् → प पा अतुस्—प्रथम द्वित्व हुआ, अभ्यास कार्य,

प प् अतुस् → पपतुः—आतो लोप इटि०।

इसी प्रकार अन्य प्रयोगों में भी जानना चाहिए।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के तत्त्वबोधिनी टीकाकार ने दीक्षितसम्मत व्याख्या को सुगम बताया है।[2]

---

1. वै०सि० कौ० सूत्र 2243—द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वकर्त्तव्ये।

2. वै० सि० कौ० (तत्त्व) सूत्र 2243—यद्यपीह वृत्त्यादौ अजादेशः स्थानिवत् स्यादिति रूपातिदेशपक्षः स्वीकृतः, फलं चोभयत्र तुल्यम्, तथाप्यादेशनिषेधपक्षोऽपि भाष्यारूढ इति स एवाऽत्र स्वीकृतः। किं चाऽऽदेशमङ्गीकृत्य पुनः स्थानिरूपाऽऽश्रयणाऽपेक्षया निषेधपरतया व्याख्यानमेव लघु। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायात् 'न पदान्तवरेयलोप०' इति निषेधाऽनन्तरं पाठोऽप्येवं सत्यनुगृहीत इति श्रेयानयं पक्षः।

(60) अदर्शनं लोपः *60* (53)

अदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभावो वर्णविनाशः- इत्यनर्थान्तरम्। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तस्य 'लोप' इतीयं संज्ञा भवति। अर्थस्येयं संज्ञा, न शब्दस्य। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं भवति। 'गोधाया ढ्रक्' (4.1.129)-गौधेरः (6.1.66) पचेरन्। जीवेरदानुक् (द०उ० 1.163)- जीरदानुः (ऋ० 8.62.3)। स्त्रिवेर्मनिन्-आस्त्रेमाणम्। यकारवकारयोरदर्शनमिहोदाहरणम्। अपरस्याऽनुबन्धादेः प्रसक्तस्य। लोपप्रदेशाः-'लोपो व्योर्वलि' (6.1.66) इत्येवमादयः।

अर्थ—'अदर्शन' शब्द यहाँ अपने अर्थ का ज्ञान कराता है। अदर्शन अर्थात् 'दिखाई न पड़ना' इस अर्थ की लोप संज्ञा होती है। अर्थ की संज्ञा होती है, 'अदर्शन' शब्द की नहीं। शब्द श्रवणबोध्य होता है। अतः 'अदर्शन' शब्द का अर्थ हुआ—सुनाई न पड़ना। भाव यह है कि विद्यमान का सुनाई न पड़ना लोपसंज्ञक होता है।

'अदर्शन' विद्यमान का होता है, न कि अविद्यमान का। अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'स्थाने' पद का अनुवर्त्तन कर इसका षष्ठी में विभक्ति-विपरिणाम कर लिया जाता है। 'स्थानस्य' का अर्थ है—विद्यमान का।

उदा० (1) गौधेरः

गोधा ढ्रक् → गोधा एय्र्—तस्याऽपत्यम्, गोधाया ढ्रक्, आयनेय०,

गोध् एय्र → गौधेर—लोपो व्योर्वलि, अदर्शनं लोपः,

गौधेर सु → गौधेरः।

(2) पचेरन्

पच् झ → पच् शप् सीयुट् झ—लिङ्, झ, शप्, सीयुट्,

पच् अ ईय् रन्—लिङः सलोपो०, झस्य रन्,

पचेय् रन्—लोपो व्यो०, अदर्शनं लोपः।

(3) जीरदानुः

जीव् रदानुक् → जीव् रदानु → जीरदानु (पूर्ववत्), जीरदानुः।

(4) आस्त्रेमाणम्

आङ् स्त्रिव् मनिन् → आ स्त्रि मन्—लोपो व्योर्वलि, अदर्शनं लोपः, आस्त्रेमन् अम्—सार्वधातुकार्ध०, द्विती० एकव०, आस्त्रेमाणम्।

प्रसक्त होने वाले अनुबन्ध आदि का अश्रवण यहाँ 'लोप' के उदाहरण हैं।

(61) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः *61* (260)

अदर्शनमिति वर्त्तते। प्रत्ययादर्शनस्य लुक्, श्लु, लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति। अनेकसंज्ञाविधानाच्च तद्भावित-ग्रहणमिह विज्ञायते। लुक्संज्ञाभावितं प्रत्ययादर्शनं लुक्संज्ञं भवति। श्लुसंज्ञाभावितं श्लुसंज्ञं भवति। लुप्संज्ञाभावितं लुप्संज्ञं भवति। तेन संज्ञानां सङ्करो न भवति। विधिप्रदेशेषु च भाविनी संज्ञा विज्ञायते। अत्ति (2.4.72)। जुहोति (2.4.75)। वरणाः (4.2.82)।

अर्थ—'अदर्शन' की लुक्, श्लु तथा लुप्—ये तीन संज्ञाएँ क्रमशः होती हैं।

व्याख्या—अनेक० अनेक संज्ञाओं के विधान के कारण यहाँ तद्भावित का ग्रहण होता है।

लुक्०—लुक् शब्द के द्वारा कराया गया प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा होती है।

श्लु०—श्लु शब्द के द्वारा कराया गया प्रत्यय का अदर्शन श्लुसंज्ञक होता है।

लुप्०—लुप् शब्द के द्वारा कराया गया प्रत्यय का अदर्शन लुप् संज्ञक होता है।

तेन०—इस प्रकार संज्ञाओं का सांकर्य नहीं होता है। भाव यह है कि उपर्युक्त प्रकार से अर्थ न करने पर संज्ञाओं का सांकर्य होकर 'अदर्शन' की लुक् आदि तीनों संज्ञाएँ युगपत् हो जाती हैं।

उदा० (1) अत्ति

अद् तिप् —अद् शप् ति—धातुसंज्ञा, लट्, तिप्, कर्त्तरि शप्, अद् ति—'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का 'लुक्' 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' से लुक्संज्ञा,

अत् ति → अत्ति—खरि च।

(2) जुहोति

हु तिप्—धातुसंज्ञा, तिप्, शप्, 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से 'शप्' को श्लु, प्रकृत सूत्र के द्वारा श्लुसंज्ञा,

हु हु ति → झु हु ति → जुहुति—श्लौ, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,

जुहोति—गुण।

(3) वरणाः

वरणानाम् अदूरभवौ ग्रामः—समार्थानां प्रथमाद्वा। प्राग्दी-व्यतोऽण्।

अदूरभवश्च,

वरण अण् → वरण—प्रत्यय का लुप् हुआ, तब प्रकृत सूत्र के द्वारा इसकी लुप् संज्ञा, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के द्वारा प्रत्ययलक्षण वृद्धि प्राप्त हुई,

वरण—न लुमताऽङ्गस्य, लुपि युक्तवद् व्यक्ति० से पूर्ववत् लिंग व वचन—

वरण जस् → वरणाः।

प्रत्ययग्रहणं किम्? अगस्तयः, कुण्डिनाः (2.4.70)। लुक्श्लुलुप्प्रदेशाः–'लुक्तद्धितलुकि' (1.2.49), 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (2.4.75), 'जनपदे लुप्' (4.2.81) इत्येवमादयः।

व्याख्या—(क) **प्रत्यय०** 'प्रत्ययस्य' का प्रयोजन यह है कि 'लुक्' आदि संज्ञाएँ **प्रत्यय** की ही होती हैं—

उदा० (1) अगस्तयः

अगस्त्यस्य बहूनि अपत्यानि—ऋष्यन्धकवृष्णि०,

अगस्त्य अण् → आगस्त्य जस्—आगस्त्यकौण्डिन्ययो० से लुक् तथा प्रकृति को 'अगस्ति' आदेश। चूँकि सूत्र में प्रत्यय की ही लुक् संज्ञा कही गई है। अतः प्रकृति की लुक् संज्ञा नहीं हुई,

अगस्ति जस् → अगस्तयः।

(2) कुण्डिनाः

कुण्डिन्या बहूनि अपत्यानि—गर्गादिभ्यो यञ्,

कुण्डिनी यञ् → कुण्डिनच्—आगस्त्यकोण्डिन्य०, पूर्ववत्,

कुण्डिन जस्—कुण्डिनाः।

(ख) **लुक्०** लुक् आदि संज्ञाओं के फल ये हैं—

लुक् तद्धितलुकि, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, जनपदे लुप् इत्यादि।

यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि 'अदर्शनं लोपः' के द्वारा 'अदर्शन' की लोप संज्ञा कही गई है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लु०' के द्वारा 'अदर्शन' की लुक् आदि संज्ञाएँ कहीं है। इस प्रकार 'अदर्शन' की दो-दो (लोप व लुक्) संज्ञाएँ होती हैं।

(62) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् *62* (262)

प्रत्ययनिमित्तं कार्यमसत्यपि प्रत्यये कथं तु नाम स्यादिति सूत्रमिदमारभ्यते। प्रत्ययलोपे कृते प्रत्ययलक्षणं प्रत्ययहेतुकं कार्यं भवति। अग्निचित्, सोमसुत्, अधोक् इत्यत्र सुप्ति-ङोर्लुप्तयोः 'सुप्तिङन्तं पदम्' (1.4.14) इति पदसंज्ञा भवति। अधोगिति दुहेर्लङि तिपि शब्लुकि तिलोपे घत्वभष्भावजश्त्वचर्त्वेषु कृतेषु रूपम्। 'प्रत्ययः' इति वर्त्तमाने पुनः प्रत्ययग्रहणं किम्? कृत्स्नप्रत्ययलोपे यथा

स्यात्। इह मा भूत्–आघ्नीय, सङ्ग्मीय (का०सं० 6.9)। हनिगम्यो-र्लिङात्मनेपदे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (7.2.79) इति सीयुट्सकारलोपः प्रत्ययैकदेशलोपः, तत्र प्रत्ययलक्षणेन झलीत्यनुनासिकलोपो न भवति (6.4. 37)। प्रत्ययलक्षणमिति किम्? रायः कुलं–रैकुलम्, गवे हितं–गोहितम् (म०भा०)। आयवादेशौ न भवतः, वर्णाश्रयत्वात्।

अर्थ—प्रत्यय का लोप (अर्थात् अदर्शन) होने पर भी प्रत्यय लक्षण (= प्रत्यय के द्वारा होने वाला) कार्य होता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'लोप' पद अदर्शन मात्र के लिए गृहीत है। अतः 'लोप' पद के द्वारा लुक् आदि का भी ग्रहण होता है।

व्याख्या—(**प्रत्यय**) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय के निमित्त होने वाला कार्य हो सके—इसलिए प्रकृत सूत्र का पाठ किया गया है।

उदा० (1) अग्निचित्

अग्निं चिनोति—समास, अग्नौ चेः,

अग्नि चि क्विप् → अग्नि चि—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते, उपदेशेऽजनुनासिक०, वेरपृक्तस्य,

अग्नि चि तुक्—प्रत्ययलोपे०, ह्रस्वस्य पिति०, प्रातिपदिक संज्ञा, अग्निचित्—सु।

(2) सोमसुत्

सोमं सुनोति—सोमे सुञः,

सोम सु क्विप् → सोम सु—पूर्ववत्,

सोमसुत्—पूर्ववत्।

(3) अधोग्

दुह् लङ् — दुह् शप् तिप् → अ दुह् अ त्—लङ्, तिप्, शप्, अनुबन्धलोप, इतश्च, अट्,

अदुहत् → अदोह् त्—अदिप्रभृति०, पुगन्तलघू०,

अदोह्—हल्ङ्याब्भ्यः० से तिङ् प्रत्यय का लोप, अब तिङ् हीन होने से पदसंज्ञा न हुई, प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः, पदस्य, सुप्तिङन्तं पदम्,

अदोघ् → अधोघ्—दादेर्धातो०, एकाचो बशो भष्०,

अधोग् अधोक्—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

प्रत्यय—पूर्वसूत्र से प्रत्यय पद का अनुवर्त्तन सुलभ रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र में 'प्रत्यय' के ग्रहण का फल यह है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होने की दशा में भी प्रत्ययलक्षण कार्य हो जाए। यथा—

(1) आघ्नीय

आ हन् इ—आङ् के योग में 'हन्' से आत्मनेपद हुआ, लिङ्, उ० पु० एकवचन हुआ—

आ हन् सीयुट् इ—लिङः सीयुट्, लिङः सलोपो०, इटोऽत्,

आ हन् ईय् अ—यहाँ प्रत्यय के एक अंश (स्) का लोप हुआ है। अतः प्रत्ययलक्षण मानकर 'अनुदात्तोपदेश०' की प्रवृत्ति नहीं होती है—

आ ह् न् ईय् अ → आ घ् नीय् अ—गमहन०, हो हन्ते०, आघ्नीय।

(2) सङ्ग्मीय

सम् गम् इ → सम् गम् सीयुट् इ—पूर्ववत्,

सम् गम् ईय् अ → सम् ग् म् ईय—पूर्ववत्,

संग्मीय → सङ्ग्मीय—पूर्ववत्।

प्रत्ययल—'प्रत्ययलक्षण' अर्थात् प्रत्यय का लोप होने पर **प्रत्ययलक्षण** कार्य ही हो, अन्य कार्य न हो—

(1) रैकुलम्

रायः कुलम् → रै कुल—समास हुआ, सुप् लुक् हुआ,

रैकुल सु → रैकुलम्—यहाँ प्रत्यय (ङस्) का लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त होते हैं, आय् आदेश नहीं होता है; क्योंकि आय् आदेश अच् को निमित्त मानकर होता है।

(2) गोहितम्

गवे हितम् → गोहितम्—पूर्ववत् अवादेश नहीं हुआ।

(63) न लुमताङ्गस्य *63* (263)

पूर्वेणातिप्रसक्तं प्रत्ययलक्षणमिति विशेषे प्रतिषेध उच्यते। लुमताशब्देन लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति। गर्गाः। मृष्टः। जुहुतः। यञ्श-पोर्लुमतालुप्तयोरङ्गस्य गुणवृद्धी न भवतः। लुमतेति किम्? कार्यते। हार्यते (6.4.51) अङ्गस्येति किम्? पञ्च, सप्त, पयः, साम।

अर्थ—लुक्, श्लु तथा लुप्—इन तीन शब्दों के द्वारा जहाँ प्रत्यय का लोप किया गया हो, वहाँ उसके परे रहते अंग को प्रत्ययनिमित्तक कार्य नहीं होता है।

'लुमान्' का अर्थ है—'लु' वाला। लुमान् तीन शब्द हैं—लुक्, श्लु और लुप्।

उदा० (1) गर्गाः

गर्गस्य गोत्राऽपत्यानि → गर्ग ङस् अपत्य जस्—समास, यञ्,

गर्ग यञ् → गर्ग य जस् → सुप् लुक्,

गर्ग जस् → 'यञञोश्च' से लुक्, 'ञ्नित्यादिर्नि०' से प्रत्ययलक्षण आदि उदात्त तथा 'तद्धितेष्वचा०' से प्रत्ययलक्षण आदिवृद्धि की प्राप्ति हुई, 'न लुमताऽङ्गस्य' से निषेध, गर्गाः।

(2) मृष्टः

मृज् तस्—लट्, प्र०पु० द्विव०,

मृज् शप् तस् → मृज् तस्—शप्, शप् का लुक्, 'मृजेर्वृद्धिः' से प्रत्ययलक्षणवृद्धि प्राप्त हुई, निषेध,

मृष् तस् → मृष् टस्—सार्वधातुकम०, क्ङिति च,

मृष्टः—सु।

(3) जुहुतः

हु तस् → हु शप् तस् → हु तस्—शप् को श्लु, प्रत्ययलक्षण गुण की प्राप्ति, निषेध,

हु हु तस् → झु हु तस् → जुहुतः—अभ्यास कार्य।

व्याख्या—(क) लुमता अर्थात् 'लुमत् शब्द के द्वारा कहा गया'। इसका प्रयोजन यह है कि **लुमान् शब्द के द्वारा** कहे जाने पर ही प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध होता है—

(1) कार्यते

कृ णिच् त—णिच्, धातुसंज्ञा, कर्म में लकार,

कृ णिच् यक् त → कृ य त—'णि' को लोप, यहाँ 'लोप' शब्द के द्वारा णिलोप हुआ है, लुमान् शब्द से नहीं। अतः प्रत्ययलक्षण वृद्धि हुई—

कार् यते → कार्यते।

(2) हार्यते

हृ णिच् यक् त → हार्यते—पूर्ववत्।

(ख) **अङ्गस्य** अर्थात् **अङ्गसम्बन्धी** प्रत्ययलक्षणकार्य होता है—

(1) पञ्च

पञ्चन् जस्—ष्णान्ताः षट्, षड्भ्यो लुक्, यहाँ लुमान् शब्द से प्रत्यय का लुक् हुआ, अतः प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हुआ, परन्तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा हो गई। ध्यातव्य है कि पदसंज्ञा 'अङ्ग' की न होकर प्रत्यययुक्त अङ्ग की होती है—

पञ्चन्—प्रत्ययलक्षण का निषेध प्रवृत्त नहीं हुआ,

पञ्च—नकारलोप।

(2) सप्त

सप्तन् जस् → सप्तन् → सप्त (पूर्ववत्)।

(3) पयः

पयस् सु → पयस्—स्वमोर्नपुंसकात्,

पयः (पूर्ववत्)।

(4) साम

सामन् सु → सामन् → साम।

(64) अचोऽन्त्यादि टि *64* (79)

अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्। अचां सन्निविष्टानां योऽन्त्योऽच् तदादिशब्दरूपं टिसंज्ञं भवति। अग्निचित्-इच्छब्दः। सोमसुत्-उच्छब्दः। आताम्, आथाम्-आम्शब्दः। पचेते। पचेथे। टिप्रदेशाः-'टित आत्मनेपदानां टेरे' (3.4.79) इत्येवमादयः।।

अर्थ—'अचः' में निर्धारण षष्ठी है। 'अन्त्य' शब्द 'अच्' का विशेषण है। 'अन्त्यादि'—अन्त्य (अच्) है आदि में जिसके (ऐसा समुदाय)। अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस सम्पूर्ण समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है।

उदा० (1) अग्निचित्

यहाँ अकार, इकार व इकार—ये तीन अच् हैं। इनमें अन्तिम अच् (चकारोत्तरवर्ती) इकार है। वह 'इत्' इस समुदाय के आदि में है। अतः 'इत्' सम्पूर्ण की 'टि' संज्ञा हुई।

(2) सोमसुत्

यहाँ 'उत्' वर्णसमुदाय की 'टि' संज्ञा हुई।

(3) आताम्

'आताम्' के 'आम्' की टिसंज्ञा है।

(4) आथाम्

यहाँ 'आम्' की टिसंज्ञा है।

(5) पचेते

पच् आताम् → पच् शप् आताम्—लट्, प्र० पु०, द्विव०, शप्,

पच आत् ए → पचेते—टित आत्मनेपदानां०।

(6) पचेथे

पच् आथाम् → पचेथे (पूर्ववत्)।

(65) अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा *65* (249)

धात्वादौ वर्णसमुदायेऽन्त्यादलः पूर्वो यो वर्णः सोऽलेऽवोपधासंज्ञो भवति। पच्, पठ्-अकारः। भिद्, छिद्-

इकारः । बुध्, युध्–उकारः । वृत्, वृध्–ऋकारः । अलः इति किम्? शिष्टः, शिष्टवान् (म० भा०)। समुदायात् पूर्वस्य मा भूत्। उपधाप्रदेशाः–'अत उपधायाः' (7.2.115) इत्येवमादयः ।

अर्थ—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की 'उपधा' संज्ञा होती है।

उदा० (1) पच्

'पच्' में तीन अल् (प् अ च्) हैं। इनमें अन्त्य अल् चकार है। इससे पूर्व अकार है। अकार की 'उपधा' संज्ञा हुई।

(2) पठ्

यहाँ अकार की उपधासंज्ञा हुई।

(3) भिद्

इकार की उपधासंज्ञा हुई।

(4) छिद्

इकार उपधासंज्ञक है।

(5) बुध्

उकार की उपधासंज्ञा हुई।

(6) युध् (पूर्ववत्)।

(7) वृत्

ऋकार की उपधासंज्ञा है।

(8) वृध् (पूर्ववत्)।

व्याख्या—(क) अलः अर्थात् अल् वर्णों में अन्तिम से पूर्व की उपधा संज्ञा होती है—

(1) शिष्टः

यहाँ समुदाय के पूर्व वर्ण (श्) की उपधा संज्ञा नहीं हुई।

(2) शिष्टवान् (पूर्ववत्)।

(66) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य *66* (40)

तस्मिन्निति सप्तम्यर्थनिर्देशे पूर्वस्यैव कार्यं भवति, नोत्तरस्य। 'इको यणचि' (6.1.77)–दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम्। निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्, अग्निचिदत्रेति व्यवहितस्य मा भूत्।

अर्थ—सप्तमी विभक्ति के निर्देश के द्वारा किया जाने वाला कार्य उससे अव्यवहित पूर्व वर्ण को होता है।

सूत्रस्थ 'तस्मिन्' पद सप्तमी विभक्त्यन्त का निर्देश है। 'इति' पद अर्थनिर्देश के लिए है। 'तस्मिन्' का अर्थ हुआ—सप्तमी विभक्त्यन्त। 'निर्दिष्टे' पद विशेषण है तथा 'तस्मिन्' पद विशेष्य है। इन दोनों पदों में भावसप्तमी है।

सूत्र का भाव इस प्रकार है—

(क) सप्तम्यन्त पद के द्वारा निर्दिष्ट पद,

(ख) (उक्त पद के) परे रहते पूर्व के स्थान पर कार्य होता है,

(ग) पूर्व और पर के मध्य व्यवधान न हो।

उदा० (1) दध्युदकम्

दधि उदकम्—यहाँ इको 'यणचि' से 'इक्' के स्थान पर 'अच्' परे रहते 'यण्' प्राप्त हुआ। इकार व उकार ये दो 'इक्' हैं। तब कौन से 'इक्' के स्थान पर यणादेश हो। प्रस्तुत सूत्र में 'अचि' पद सप्तम्यन्त है। अतः 'तस्मिन्निति०' के द्वारा व्यवस्था की गई कि 'अच्' के परे रहते अव्यवहित पूर्व वर्ण को कार्य हो।

यहाँ अच् (उकार) के परे रहते पूर्व वर्ण धकारोत्तरवर्त्ती इकार के स्थान पर 'यण्' होगा। इनके मध्य कोई व्यवधान भी नहीं है। तब 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'य्' हुआ—

दध् य् उदकम् → दध्युदकम्।

ध्यान रहे कि अच् (दकारोत्तरवर्त्ती अकार) परे रहते पूर्ववर्ण उकार के स्थान पर यणादेश नहीं होगा, क्योंकि दोनों के मध्य दकार का व्यवधान है।

(2) मध्विदम्

मधु इदम् → मध्विदम् (पूर्ववत्)।

(3) पचत्योदनम्

पचति ओदनम्—पूर्ववत्

पचत्योदनम्।

(4) अग्निचिदत्र

अग्निचित् अत्र—अच् (अकार) परे रहते पूर्व में 'इक्' इकार (चकारोत्तरवर्त्ती) है। 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ। परन्तु पर तथा पूर्व दोनों वर्णों के मध्य दकार का व्यवधान है। अतः यण् नहीं हुआ।

अग्निचिदत्र।

(67) तस्मादित्युत्तरस्य *67* (41)

निर्दिष्टग्रहणमनुवर्त्तते। तस्मादिति पञ्चम्यर्थनिर्देशः। उत्तरस्यैव कार्यं भवति, न पूर्वस्य। 'तिङ्ङतिङः' (8.1.28)–ओदनं पचति। इह न भवति–पचत्योदनमिति।

अर्थ—'तस्मात्' पद पञ्चम्यन्त का अनुकरण है।

पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट शब्द के द्वारा होने वाला कार्य उससे पर वर्ण को होता है, यदि पूर्व व पर के मध्य किसी वर्ण का व्यवधान न हो।

उदा० (1) ओदनं पचति

ओदनं पचति—यहाँ 'ओदनं' अतिङन्त है तथा 'पचति' तिङन्त पद है। 'तिङ्ङतिङः' से निघात प्राप्त हुआ। 'अतिङः' में पञ्चमी का निर्देश है। अतः अतिङन्त (ओदन) से पर तिङन्त (पचति) को निघात हुआ। इनके मध्य कोई व्यवधान भी नहीं है—

ओ॒दनं॑ पचति।

(2) पचत्योदनम्

पचति ओदनम्—यहाँ अतिङन्त (ओदन) से पर तिङन्त नहीं है। इससे पूर्व तिङन्त (पचति) है। अतः इसे निघात नहीं हुआ।

(68) स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा *68* (25)

शास्त्रे स्वमेव रूपं शब्दस्य ग्राह्यं बोध्यं प्रत्याय्यं भवति न बाह्योऽर्थः, शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा। शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्य-स्यासम्भवात् तद्वाचिनां शब्दानां सम्प्रत्ययो मा भूदिति सूत्रमिदमारभ्यते। 'अग्नेर्ढक्' (4.2.33)–आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् (वै०श्रौ०सू० 1.19)। अग्निशब्दोऽग्निशब्दस्यैव ग्राहको भवति, न ज्वलनः, पावको, धूमकेतुरिति; नातः प्रत्ययो भवति। 'उदश्वितोऽन्यतरस्याम्' (4.2.19)–औदश्वित्कम्, औदश्वितम्। तक्रमरिष्टं कालशेषं दण्डाहतं मथितमिति नातः प्रत्ययो भवति। अशब्दसंज्ञेति किम्? 'दाधाघ्वदाप्' (1.1.20), 'तरप्तमपौ घः' (1.1.23) इति घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च संज्ञिनां ग्रहणं, न संज्ञायाः। *सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम्* (म०भा०)। सिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं तद्विशेषाणां ग्रहणम् भवतीति। किं प्रयोजनम्? वृक्षाद्यर्थम्–'विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यकवडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्' (2.4.12) इति। प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्षन्यग्रोधाः। *पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्* (म० भा०)। पिन्निर्देशः कर्त्तव्यः। ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्य ग्रहणं भवति, चकारात् स्वस्य रूपस्य तद्विशेषाणां चेति। किं प्रयोजनम्? स्वाद्यर्थम्। 'स्वे पुषः' (3.4.40) स्वपोषं पुष्टः, रैपोषम्, धनपोषम्, विद्यापोषम्, अश्वपोषम्, गोपोषम्। *जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम्* (म० भा०)। जिन्निर्देशः कर्त्तव्यः। ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवतीति, न स्वरूपस्य, नापि तद्विशेषाणाम्। किं प्रयोजनम्? राजाद्यर्थम्। 'सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा' (2.4.23)–इनसभम्, ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति–राजसभा। तद्विशेषाणां च न भवति–पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा। *झित्तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम्* (म०भा०)। झिन्निर्देशः कर्त्तव्यः। ततो वक्तव्यम् तस्य च ग्रहणं भवति तद् विशेषाणां चेति। किं प्रयोजनम्? मत्स्याद्यर्थम्। 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (4.4.35) इति ठक्–पाक्षिकः, मात्स्यिकः। तद्विशेषाणाम्–शाकुनिकः। पर्यायाणां न भवति–अजिह्मान् हन्ति, अनिमिषान् हन्तीति। अस्यैकस्येष्यते (म०भा०)–मीनान् हन्तीति मैनिकः।

अर्थ—शब्द अपने स्वरूप की संज्ञा होता है, शब्दसंज्ञा को छोड़कर। स्वं रूपम्—स्वरूप। अशब्दसंज्ञा—शब्द की संज्ञा को छोड़कर। व्याकरण शास्त्र में शब्दों की घ, उपधा आदि संज्ञाएँ कही गई हैं। इन संज्ञा शब्दों के द्वारा न तो अर्थ का ग्रहण होता है और न ही स्वरूप का। यथा 'वृद्धिरादैच्' के द्वारा 'वृद्धि' शब्द संज्ञा है। इसके द्वारा न तो अर्थ (= बढ़ोत्तरी) का ग्रहण होता है तथा न ही स्वरूप (= वृद्धि) का ग्रहण होता है, अपितु आ, ऐच् वर्णों का ग्रहण होता है। भाव यह है—

(क) शब्द अपने स्वरूप की संज्ञा होता है तथा अर्थ की संज्ञा नहीं होता है। यथा—'अग्नेर्ढक्' के द्वारा 'अग्नि' शब्द से 'ढक्' का प्रत्यय कहा गया है। तब 'ढक्' प्रत्यय 'जलती हुई अग्नि' से न होकर 'अग्नि' शब्द से होकर 'आग्नेय' शब्द बनता है।

(ख) शब्द अपने पर्याय की संज्ञा नहीं होता है। यथा—'अग्नेर्ढक्' से 'अग्नि' शब्द से 'ढक्' होकर 'आग्नेय' शब्द बनता है तथा 'अग्नि' शब्द के पर्याय (पावक, वह्नि आदि) से 'ढक्' नहीं होगा।

(ग) व्याकरण शास्त्रोक्त संज्ञा न तो स्वरूप की संज्ञा होती है तथा न ही अर्थ की। शब्दसंज्ञा के द्वारा उसके संज्ञी का बोध होता है।

शब्देना—व्याकरण शास्त्र में प्रोक्त कार्य (शब्द के) अर्थ में नहीं होते हैं। अतः अर्थ के वाचक अन्य शब्दों से भी कार्य न हो—इसलिए प्रस्तुत सूत्र का पाठ किया गया है—

उदश्वितो—'उदश्वितोऽन्यतरस्याम्' के द्वारा 'उदश्वित्' शब्द से 'ठक्' होकर 'औदश्वित्कम्' बनता है। पक्ष में 'अण्' होकर 'औदश्वितम्' बनता है। यहाँ भी 'उदश्वित' शब्द के पर्यायवाची 'तक्र' आदि शब्दों से 'ठक्' नहीं होता है।

अशब्द—इसका प्रयोजन है कि शब्दसंज्ञा को छोड़कर शब्द अपने स्वरूप की संज्ञा होता है। यथा—

'तरप्तमपौ घः' से 'घ' तथा 'दाधाघ्वदाप्' के द्वारा 'घु' संज्ञाएँ कही गई हैं। 'घ' तथा 'घु' के द्वारा न तो इनके स्वरूप का तथा न ही इनके अर्थ का ग्रहण होता है, अपितु इनके द्वारा इनके संज्ञियों (तरप् आदि) का ग्रहण होता है।

सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् (वा०)—वृक्ष आदि के लिए 'सित्' उसके विशेषों का भी प्रतिपादक होता है।

जहाँ विशेषों का ग्रहण इष्ट हो, वहाँ 'सित्' का निर्देश करना चाहिए। यह वृक्ष आदि के लिए होता है। यथा—

'विभाषा वृक्षमृगतृण०' के द्वारा वृक्षादियों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है। तब वृक्षादि के विशेषों का ग्रहण होकर 'प्लक्ष' व 'न्यग्रोध' के द्वन्द्व की दशा में एकवत् होता है—प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः।

पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् (वा०)—पर्यायवचन का ग्रहण इष्ट हो तो 'पित्' का निर्देश करना चाहिए, स्वादियों के लिए।

जहाँ पर्यायों का ग्रहण इष्ट हो, वहाँ 'पित्' का निर्देश करना चाहिए। यह स्वादियों के लिए होता है। चकार के द्वारा अपने विशेषों का तथा अपने रूप का भी ग्रहण होता है। यथा—

'स्वे पुषः' के द्वारा 'स्व' उपपद रहते 'पुष्' से 'णमुल्' होकर 'स्वपोषम्' बनता है। तब प्रकृत वार्त्तिक व्यवस्था करता है कि 'स्व' शब्द के पर्यायवाची शब्दों (रै, धन आदि) के उपपद रहते भी 'पुष्' से 'णमुल्' होता है—रैपोषम्, धनपोषम्।

जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् (वा)—राजा आदि के लिए 'जित्' उनके पर्यायों का भी प्रतिपादक होता है।

जहाँ विशेषणों का ग्रहण इष्ट हो, वहाँ 'जित्' का निर्देश करना चाहिए। यह राजा आदि के लिए होता है। यथा—

'सभाराजाऽमनुष्य०' के 'सभा' अन्त वाले तत्पुरुष को नपुँसक लिंग होता है। प्रकृत वार्त्तिक ने व्यवस्था की कि 'राजा' आदि शब्दों के पर्यायों का ग्रहण यहाँ इष्ट है। तब इनसभम्, ईश्वरसभम् आदि शब्द बनते हैं। चूँकि यहाँ 'राजा' शब्द के स्वरूप व विशेषों का ग्रहण नहीं होता है। अतः राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा में नपुँसक लिंग नहीं हुआ।

झित्तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् (वा०)—मत्स्य आदि के लिए 'झित्' स्वरूप व उनके विशेषों का भी प्रतिपादक होता है।

जाँ अपने स्वरूप व विशेषों का ग्रहण इष्ट हो, वहाँ 'झित्' का निर्देश चाहिए। यह मत्स्य आदि के लिए होता है। यथा—

'पक्षिमत्स्यमृगान्०' के द्वारा 'ढक्' होता है। तब पाक्षिकः, मात्स्यिकः आदि रूप बनते हैं। इन रूपों में इनके स्वरूप का ग्रहण है। प्रकृत वार्त्तिक ने व्यवस्था की कि इनके द्वारा इनके स्वरूप (मात्स्यिकः) तथा इनके विशेषों का भी ग्रहण होता है। चूँकि यहाँ विशेषणों का ग्रहण नहीं होता है। अतः अजिह्मान् हन्ति तथा अनिमिषान् हन्ति में 'ठक्' नहीं हुआ। यहाँ केवल एक स्थान पर विशेषण का ग्रहण होता है—मीनान् हन्ति—मैनिकः।

(69) अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः *69* (14)

परेण णकारेण प्रत्याहारग्रहणम्। अण् गृह्यमाण उदिच्च सवर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य, प्रत्ययं वर्जयित्वा। 'आद्गुणः' (6.1.87), 'अस्य च्वौ' (7.4.32), 'यस्येति च' (6.4.148)–स्वरानुनासिक्यकालभिन्नस्य ग्रहणं भवति (म० भा०)। उदित्खल्वपि–'चुटू' (अ० सू० 1.3.7), 'लशक्वतद्धिते' (1.3.8)–चवर्गटवर्गयोः कवर्गस्य च ग्रहणं भवति। अप्रत्यय इति किम्? 'सनाशंसभिक्ष उः' (3.2.168), 'असाम्प्रतिके' (4.3.9) दीर्घो न भवति।

अर्थ—पर णकार (लण् प्रत्याहारस्थ) के द्वारा 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार 'अण्' प्रत्याहार में चौदह वर्ण होते हैं—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्। जिसका विधान किया जाता है, उसे 'प्रत्यय' कहा जाता है। यथा—'इको यणचि' में यणादेश का विधान किया गया है। तब 'यण्' प्रत्यय हुआ। जिसका उकार इत्संज्ञक होता है, उसे उदित् कहा जाता है। कु, चु, टु, तु तथा पु—इनका उकार इत्संज्ञक है। अतः ये उदित् कहलाते हैं। पाँचों वर्गों को मिलाकर पच्चीस वर्ण होते हैं। 'अप्रत्ययः' पद केवल 'अण्' का विशेषण है। अतः 'उदित्' के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध नहीं है। भाव यह है कि 'उदित्' चाहे विधीयमान हो अथवा अविधीयमान हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता है। उदित अपने सवर्णों का दोनों अवस्थाओं में बोध करायेंगे। यथा—

'चोः कुः' में 'चु' अविधीयमान है तथा 'कु' विधीयमान है। तदपि 'चु' तथा 'कु' दोनों अपने-अपने सवर्णों का ज्ञान कराते हैं। इसी प्रकार 'कुहोश्चुः' सूत्र में विधीयमान 'चु' अपने सवर्णों का भी बोधक है।

सूत्रार्थ—अविधीयमान 'अण्' (पूर्वोक्त चौदह वर्ण) तथा उदित् वर्ण (पूर्वोक्त पच्चीस वर्ण) अपनेस्वरूप तथा अपने सवर्णों की भी संज्ञा होते हैं।

अ इ, उ तथा ऋ के अट्ठारह-अट्ठारह भेद होते हैं। जो परस्पर सवर्ण हैं। प्रस्तुत सूत्र व्यवस्था करता है कि अविधीयमान 'अ' के द्वारा उसके अठारह रूपों का बोध होता है। इसी प्रकार 'इ' तथा 'उ' वर्णों के द्वारा प्रत्येक के अट्ठारह-अट्ठारह रूपों का ज्ञान होता है। ऋ व ऌ की सवर्णता होती है। तब 'ऋ' के द्वारा उसके तीस रूपों (18 प्रकार का 'ऋ' तथा 12 प्रकार का 'ऌ' का बोध होता है।

ए, ओ, ऐ तथा औ प्रत्येक अपने-अपने बारह रूपों का बोध कराते हैं। 'ह्' तथा 'र्' का कोई सवर्ण नहीं होता है। अतः इनके द्वारा केवल इनके स्वरूप का ही ज्ञान होता है। य्, व् तथा ल् के दो-दो सवर्ण होते हैं—य्, यँ, व्, वँ, ल्, लँ। अतः ये प्रत्येक अपने दो-दो रूपों की संज्ञा होते हैं। यथा—'य्' के द्वारा 'य्' तथा 'यँ' का ज्ञान होता है। इसी प्रकार 'व्' तथा 'ल्' के विषय में भी जानना चाहिए। इसे व्याकरण शास्त्र में ग्रहणक शास्त्र के नाम से जाना जाता है।

उदा० (1) आद्गुणः

प्रकृत सूत्र के द्वारा अकार से पर अच् रहते दोनों के स्थान पर गुण एकादेश होता है। यहाँ 'आद्' में 'अ' अविधीयमान है। अतः यह अपने अट्ठारह रूपों का ज्ञान करायेगा। यथा—

नर ईशः—नरेशः।

रमा ईशः—रमेशः।

'अ' के द्वारा सवर्ण 'आ' का ग्रहण हो जाने से 'आद्गुणः' की प्रवृत्ति हुई।

(2) अस्य च्वौ

प्रकृत सूत्र के द्वारा अकार व उसके अट्ठारह रूपों का ग्रहण होता है।

(3) यस्येति च

यहाँ अविधीयमान 'अ' है, जो अपने अट्ठारह रूपों का ग्राहक है।

(4) चुटू

यहाँ 'चु' तथा 'टु' उदित् हैं, जो सवर्णों के भी ग्राहक हैं।

(5) लशक्वतद्धिते

'कु' उदित् है।

व्याख्या—(क) **अप्रत्ययः** अर्थात् **अविधीयमान** अण् वर्ण अपने सवर्ण का बोधक होता है—

'सनाशंसभिक्ष उः' यहाँ 'उ' विधीयमान है। अतः यह अण् वर्ण होने पर भी अपने सवर्णों (अट्ठारह रूपों) का बोध नहीं कराता है।

इसी प्रकार 'अ साम्प्रतिके' में 'अ' अण् वर्ण है, परन्तु अविधीयमान नहीं है। अतः अपने सवर्णों (अट्ठारह रूपों) का ज्ञान नहीं कराता है।

(ख) अण् अर्थात् अविधीयमान अण् ही अपने सवर्णों का बोध कराते हैं—

प्रत्याहारसूत्रों में ह्रस्व 'अ' का पाठ है तथा इसके दीर्घ रूप (आ) का पाठ नहीं है। तब अण् प्रत्याहार में 'आ' की गणना न होने के 'आ' अपने सवर्णों का बोधक नहीं होता है। इसी प्रकार 'ई' आदि अन्य वर्णों के विषय में भी जानना चाहिए; जिनका प्रत्याहारसूत्रों में पाठ नहीं है।

(70) तपरस्तत्कालस्य *70* (15)

तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः, तादपि परस्तपरः। तपरो वर्णस्तत्कालस्यात्मना तुल्यकालस्य गुणान्तरयुक्तस्य सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। विध्यर्थमिदम्। अणिति नानुवर्तते। अणामन्येषां च तपराणाम् इदमेव ग्रहणकशास्त्रम्। 'अतो भिस ऐस्' (7.1.9) इत्येवमादिषु पूर्वग्रहणकशास्त्रं न प्रवर्तत एव। अतपरा अणस्तस्याव-काशः। किमुदाहरणम्? 'अतो भिस ऐस्' (7.1.9)-वृक्षैः, प्लक्षैः। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (6.4.41)-अब्जाः। गोजाः (ऋ० 4.40.5) तत्कालस्येति किम्? खट्वाभिः, मालाभिः।।

अर्थ—तपर वर्ण अपना तथा समकाल सवर्ण (जो चाहे गुणान्तर से युक्त हो) का बोधक होता है।

तः परो—'तः परो यस्मात् स' तथा 'तात्परो यः स' इस प्रकार यहाँ दो प्रकार का विग्रह सम्भव है। 'तवर्ण है जिससे परे' तथा 'जो तवर्ण से परे है'—इन दोनों को 'तपर' कहा जायेगा। भाव यह है कि जिस वर्ण के चाहे आगे अथवा पीछे तकार हो, वह 'तपर' कहलाता है।

गुणान्तरयुक्तस्य—तपर वर्ण अपने स्वरूप का तथा अपने काल वाले, चाहे भिन्न गुण वाले सवर्णों का बोध कराता है। यथा—'अत्' में अकार तपर है। अतः इसके द्वारा यहाँ अवर्ण अपने स्वरूप (अकार) का, अपने तुल्य काल वाले छह सवर्णों (अ, अँ, अ॒, अँ॒, अ॑, अँ॑) का ज्ञान कराता है। 'गुण' से अभिप्राय उदात्तादि प्रयत्न है।

अणाम—इस सूत्र के द्वारा व्यवस्था की गई है कि तपर अण् वर्ण तथा अण् भिन्न तपर वर्ण अपने स्वरूप तथा तुल्य काल सवर्णों के ग्राहक हैं।

'अतो भिस ऐस्' में अकार तपर है। तब 'अणुदित् सवर्ण०' इस ग्रहणक शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। तपर भिन्न अण् के स्थलों पर ही 'अणुदित्०' प्रवृत्त होता है।

उदा० (1) वृक्षैः
वृक्ष भिस्—प्रातिपदिक संज्ञा, तृ० एकव०,
वृक्ष ऐस्—अतो भिस ऐस्, अनेकाल् शित् सर्वस्य,
वृक्षैः—वृद्धिरेचि।

(2) प्लक्षैः (पूर्ववत्)।

(3) अब्जाः
अप्सु जायते → अप् जन् विट्—जनसनखन०,
अप् ज आ—'विड्वनोरनु०' के द्वारा 'आत्' आदेश; आत् तपर है, अतः केवल दीर्घ रूप (आ) का बोधक है—
अब्जा सु → अब्जाः।

(4) गोजाः
गोषु जायते → गो जन् विट्—पूर्ववत्,
गोजाः।

5. खट्वाभिः
खट्वा भिस्—'अतो भिस ऐस्' में 'अ' तपर है। अतः तुल्यकाल (अर्थात् ह्रस्व रूप) का ही बोधक है। यहाँ दीर्घ रूप (आ) है। तब 'ऐस्' नहीं हुआ—

खट्वाभिः। इसलिए सूत्र में 'तत्कालस्य' का ग्रहण है।

(6) मालाभिः (पूर्ववत्)।

(71) आदिरन्त्येन सहेता *71* (2)

आदिरन्त्येनेत्संज्ञकेन सह गृह्यमाणस्तन्मध्यपतितानां वर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। अण्, अक्, अच्, हल्, सुप्, तिङ्। अन्त्येनेति किम्? सुडिति तृतीयैकवचनेन टा इत्यनेन ग्रहणं मा भूत्।

अर्थ—आदि वर्ण अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर अपने स्वरूप का तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोध कराता है।

यह एक संज्ञासूत्र है। संज्ञासूत्र में एक पद 'संज्ञा' तथा दूसरे पद 'संज्ञी' होते हैं। प्रस्तुत सम्पूर्ण सूत्र संज्ञा है। इसमें संज्ञी का निर्देश नहीं है।

सूत्रस्थ 'आदिः' और 'अन्त्य' पद अवयव हैं। तब उनसे बनने वाला प्रत्याहार अवयवी हुआ। 'अवयवी' ही संज्ञा होता है। मध्यस्थ वर्ण संज्ञी हैं। यथा—'इण्' प्रत्याहार में 'इण्' संज्ञा है तथा इ, उ आदि वर्ण संज्ञी हैं।

(1) अण्
'अइउण्' सूत्र का आदि वर्ण 'अ' अन्त्य इत्संज्ञक 'ण्' के साथ मिलकर 'अण्' प्रत्याहार बनाता है। 'अण्' संज्ञा है। 'अण्' के द्वारा अपने स्वरूप (अर्थात् अकार) तथा मध्यवर्त्ती वर्णों (इ,उ) का ग्रहण होता है। अतः अ, इ, उ—ये तीन वर्ण संज्ञी हुए।

(2) अक्
'अइउण्' का आदि वर्ण 'अ' 'ऋऌक्' के अन्त्य इत्संज्ञक 'क्' के साथ 'अक्' प्रत्याहार बनाता है। 'अक्' संज्ञा और अ, इ, उ, ऋ तथा ऌ—ये पाँच संज्ञी हैं।

(3) अच्
'अइउण्' का 'अ' 'ऐऔच्' का 'च्' के साथ 'अच्' प्रत्याहार बनाता है।

(4) हल्
'हयवरट्' का 'ह्' 'हल्' के 'ल्' के साथ 'हल्' प्रत्याहार बनाता है।

(5) सुप्
'सुऔजस्...सुप्' के 'सु' से अन्त्य 'प्' पर्यन्त 'सुप्' प्रत्याहार बनता है। इसमें ये 21 प्रत्यय संज्ञी हैं—

सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् तथा सुप्।

(6) तिङ्
'तिप्तस्...महिङ्' इसके 'ति' से अन्त्य 'ङ्' पर्यन्त 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है। इसमें निम्न अट्ठारह प्रत्यय संज्ञी हैं—तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि तथा महिङ्।

इस सूत्र के द्वारा प्रत्याहारों का निर्माण किया जाता है। द्र

1. अण् = अ, इ, उ।
2. अक् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ।
3. अच् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।
4. अट् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्।
5. अण् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्।
6. अम् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।

7. अश् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
8. अल् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
9. इक् = इ, उ, ऋ, ऌ।
10. इच् = इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।
11. इण् = इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल्।
12. उक् = उ, ऋ, ऌ।
13. एङ् = ए, ओ।
14. एच् = ए, ओ, ऐ, औ।
15. ऐच् = ऐ, औ।
16. हश् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
17. हल् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
18. यण् = य, व, र, ल् ।
19. यम् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न्।
20. यञ् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ्।
21. यय् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प्।
22. यर् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, ठ, ख, फ, छ, द, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स्।
23. वश् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द्।
24. वल् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
25. रल् = र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।
26. मय् = म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ट, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प्।
27. ङम् = ङ, ण, न्।
28. झष् = झ, भ, घ, ढ, ध्।
29. झश् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द्।
30. झय् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प्।
31. झर् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स्।
32. झल् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह्।
33. भष् = भ, घ, ढ, ध्।
34. जश् = ज, ब, ग, ड, द्।
35. बश् = ब, ग, ड, द्।
36. खय् = ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प्।
37. खर् = ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स्।
38. छव् = छ, ठ, थ, च, ट, त्।
39. चय् = च, ट, त, क, प्।
40. चर् = च, ट, त, क, प, श, ष, स्।
41. शर् = श, ष, स्।
42. शल् = श, ष, स, ह्।

अन्त्ये० अर्थात् अन्त्य वर्ण के साथ ही प्रत्याहार बनता है— 'सुट्' यह प्रत्याहार आदि (सु) तथा इत्संज्ञक अन्त्य वर्ण (औट् का टकार) के साथ मिलकर बनता है। तृतीया एकवचन के 'टा' प्रत्यय का टकार इत्संज्ञक तो है, परन्तु अन्त्य नहीं है। अतः इसके टकार का यहाँ प्रत्याहारनिर्माण में ग्रहण इष्ट नहीं है।

(72) येन विधिस्तदन्तस्य *72* (26)

येन विशेषणेन विधिर्विधीयते स तदन्तस्यात्मान्तस्य 'समुदायस्य' ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। 'एरच्' (3.3.56)–इवर्णान्तादच्प्रत्ययो भवति–चयः, जयः, अयः। 'ओरावश्यके' (3.1.125)–उवर्णान्ताद् ण्यद्भवति। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्। *समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। द्वितीयान्तं श्रितादिभिः सह समस्यते (2.1.24) कष्टश्रितः। इह मा भूत्–कष्टं परमश्रित इति। प्रत्ययविधौ– 'नडादिभ्यः फक्' (4.1.99)–नडस्यापत्यं नाडायनः। इह मा भूत्–सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः। किमविशेषेण? नेत्याह। *उगिद्वर्णग्रहणवर्जमिति वाच्यम्* (म०भा०)। उगितश्चेति ङीप्प्रत्ययस्तदन्तादपि भवति। भवती, अति-

भवती। वर्णग्रहणम्–'अत इञ्' (4.1.95)–दाक्षिः, प्लाक्षिः। * यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे * (म० भा०)। अल्ग्रहणेषु यस्मिन् विधिस्तदादाविति वक्तव्यम्। 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (6.4.77) इति–श्रियः, भ्रुवः।

अर्थ—जिस विशेषण से विधि (= कार्य) की जाती है, वह विशेषण है अन्त में जिसके, वह अपने स्वरूप का तथा उस समुदाय का बोधक होता है।

भाव यह है कि जिस विशेषण के साथ किसी कार्य का विधान किया जाता है, वह विशेषण जिसके अन्त में है, वह उस सम्पूर्ण समुदाय का तथा अपने स्वरूप का बोधक होता है। यथा—

'एरच्' के द्वारा इकारान्त धातु से 'अच्' का विधान है। यह धातु का विशेषण होकर तदन्त अर्थात् धातु का बोध कराता है, परन्तु तदन्तता सम्भव न होने पर वह अपने स्वरूप का भी बोधक है। उदाहरण के लिए 'इ' धातु व्यपदेशिवद्भाव से इकारान्त धातु का भी ग्रहण कराता है।

उदा० (1) चयः
चि अच्—एरच्—
चय सु → चयः।

(2) जयः
जि अच् → जयः।

(3) अयः
इ अच् (पूर्ववत्)।

(4) अवश्यलाव्यम्
'ओरावश्यके' से 'ण्यत्' हुआ है। अचो ञ्णिति।

(5) अवश्यपाव्यम् (पूर्ववत्)। अवश्य पू ण्यत्।

समास—शङ्का होती है कि 'द्वितीयाश्रितातीत०' से द्वितीयान्त का 'श्रित' आदि शब्दों के साथ तत्पुरुष समास होता है। प्रकृत सूत्र से तदन्तविधि होकर 'कष्टं परमश्रितः—कष्टपरमश्रितः' इस प्रकार अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

इसका समाधान प्रकृत वार्तिक 'समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (काशि० 1.1.72) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार समास में तथा प्रत्यय विधि में तदन्तविधि प्रवृत्त नहीं होती है। तब 'कष्टं परमश्रितः' में समास नहीं होगा।

सूत्रनडस्याऽपत्यम्—'सूत्रनड' से तदन्तविधि होकर 'फक्' (नडादिभ्यः फक्) प्राप्त हुआ। प्रकृत वार्तिक के द्वारा निषेध हुआ।

सूत्रनड इञ् → सौत्रनाडिः।

उगिद्—शङ्का है कि 'अतिभवत्' से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(समा०) 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जमिति वाच्यम्' (काशि० 1.1.72) के द्वारा व्यवस्था की गई कि (यद्यपि प्रत्यय विधि में तदन्त विधि प्रवृत्त नहीं होती है, तदपि) वह उगित् प्रत्ययों के सम्बन्ध में प्रवृत्त होती है। तब 'भवती' तथा 'अतिभवती' रूप निर्बाध बन जाते हैं।

वर्ण—वर्णग्रहण में तदन्तविधि होती है। यथा—

दाक्षिः, प्लाक्षिः—यहाँ अकारान्त से 'इञ्' हुआ है (अत इञ्)।

यस्मिन्—वर्णसम्बन्धी सप्तम्यन्त विशेषण परे रहते यदि कोई विधि होती है तो उस विशेषण में तदादि विधि होती है। यथा—'अचिश्नुधातु०' के द्वारा सूत्रस्थ 'अचि' पद में वर्णसम्बन्धी सप्तमी विभक्ति प्रत्यय का विशेषण है। अतः तदादि विधि होकर 'अचि' पद का अर्थ 'अजादौ' ऐसा किया जाता है—

श्री ङस् → श्रियः।
भ्रू ङस् → भ्रुवः।

(73) वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् *73*
(1335)

यस्येति समुदाय उच्यते। अचां मध्ये यस्य वृद्धिसंज्ञक आदिभूतस्तच्छब्दरूपं वृद्धसंज्ञं भवति। अचामिति जातौ बहुवचनम्। शालीयः। मालीयः। औपगवीयः। कापटवीयः (4.2.114)। आदिरिति किम्? सभासन्नयने भवः साभासन्नयनः (4.3.53) (म० भा०)। * वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या * (म० भा०)। देवदत्तीयाः, दैवदत्ताः (4.3. 120)। * गोत्रान्तादसमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् * (म० भा०)। घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः, तस्य छात्रा घृतरौढीयाः। ओदनप्रधानः पाणिनिरोदनपाणिनिस्तस्य छात्रा ओदनपाणिनीयाः। वृद्धाम्भीयाः। वृद्धकाश्यपीयाः। * जिह्वाकात्यहरित-कात्यवर्जम् * (म० भा०)। जैह्वाकाताः। हारितकाताः (4.3.120)।

अर्थ—जिस समुदाय के अचों के मध्य आदि अच् वृद्धिसंज्ञक हो, उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा होती है।

'अचाम्' इस पद में जाति अर्थ में बहुवचन का प्रयोग है।

उदा० (1) शालीयः

शालायां भवः—'अण्' की प्राप्ति हुई,

शाला अण्—आधारोऽधिकरणम्, सप्तम्यधिकरणे च, समर्थानां प्रथमाद्वा, तत्र भवः,

शाला छ—शकारोत्तरवर्ती आकार की वृद्धि संज्ञा (वृद्धिरादैच्), प्रकृत सूत्र के द्वारा 'शाला' शब्द की 'वृद्ध' संज्ञा, वृद्धाच्छः,

शाला ईय् अ → शाल् ईय → शालीयः—सु।

(2) मालीयः (पूर्ववत्)।

(3) औपगवीयः

उपगोरपत्यम्—पूर्ववत् अण्,

उपगु अ → औपगु अ—तद्धितेष्वचामा०,

औपगव छ—पूर्ववत् वृद्धसंज्ञा, छ,

औपगवीयः।

(4) कापटवीयः (पूर्ववत्)।

आदि—जिस समुदाय के **आदि** अच् की वृद्धि संज्ञा हो, उसकी 'वृद्ध' संज्ञा होती है—

सभासन्नयने भवः—साभासन्नयनः

'सभासन्नयन' के आदि अच् की वृद्धि संज्ञा नहीं है। अतः 'सभासन्नयन' की वृद्ध संज्ञा नहीं हुई।

वा नाम० नाम की वृद्धसंज्ञा विकल्प से होती है।[1] यथा—देवदत्तीयाः—वृद्धसंज्ञा हो गई।

देवदत्ताः—पक्ष में वृद्धसंज्ञा नहीं हुई।

गोत्रा० गोत्रप्रत्ययान्त से असमस्त पद के समान प्रत्यय होता है[2]—

(1) घृतप्रधानो रौढिः—घृतरौढ़िः,

तस्य छात्रा घृतरौढीयाः—'छ' हुआ है।

(2) ओदनप्रधानः पाणिनिः ओदनपाणिनिः,

तस्य छात्रा ओदनपाणिनीयाः।

(3) इसी प्रकार—वृद्धाम्भीयाः।

(4) वृद्धाकाश्यपीयाः।

जिह्वा—जिह्वाकात्य और हरितकात्य की (असमस्त पद की तरह) वृद्धसंज्ञा नहीं होती है[3]—

(1) जैह्वाकाताः।

(2) हारितकाताः।

(74) त्यदादीनि च *74* (1336)

यस्याचामादिग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तते। इह तु न सम्बध्यते। त्यदादीनि शब्दरूपाणि वृद्धसंज्ञानि भवन्ति। त्यदीयम्। तदीयम्। एतदीयम्। इदमीयम्। अदसीयम्। त्वदीयम्। त्वादायनिः (4.1.57)। मदीयम्। मादायनिः। भवदीयम्। किमीयम्।

अर्थ—त्यद् आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा होती है। पूर्वसूत्र से 'यस्य अचाम्' का अनुवर्तन उत्तरवर्ती सूत्र के लिए होता है। इस सूत्र में इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

उदा० (1) त्यदीयम्

त्यद् छ → त्यद् ईय् अ—वृद्धसंज्ञा, छ,

त्यदीय सु → त्यदीयम्।

(2) तदीयम्

तद् छ → तदीयम्।

(3) एतदीयम्

एतद् छ (पूर्ववत्)।

(4) इदमीयम्

इदम् छ (पूर्ववत्)।

(5) अदसीयम्

अदस् छ (पूर्ववत्)।

(6) त्वदीयम्

युष्मद् छ → त्वदीयम्।

(7) त्वादायनिः

युष्मद् फिञ्—उदीचां वृद्धादगो०,

त्वाद् आयन् इ → त्वादायनिः।

(8) मदीयम्

अस्मद् छ (पूर्ववत्)।

(9) मादायनिः

अस्मद् फिञ् → माद् आयनि → मादायनिः।

(10) भवदीयम्

भवत् छ् → भवदीयम्।

(11) किमीयम्

किम् छ् → किमीयम्।

---

1. वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या—काशि०1.1.73.
2. गोत्रान्तादसमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम्—काशि० 1.1.73. (वा०)
3. जिह्वाकात्यहरितकात्यवर्जम्—काशि०1.1.73. (वा०)

(75) एङ् प्राचां देशे ॥75॥ (1338)

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्त्तते । एङ् यस्याचामादिस्तत्प्राचां देशाभिधाने वृद्धसंज्ञं भवति । एणीपचनीयः । भोजकटीयः । गोनर्दीयः । एङिति किम् ? आहिच्छत्रः, कान्यकुब्जः । प्राचामिति किम् ? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामः, तत्र भवो दैवदत्तः । देशे इति किम् ? गोमत्यां भवा मत्स्या गौमताः ।

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अर्थ—जिस समुदाय के अचों में आदि अच् 'एङ्' (= ए, ओ) हो, उसकी वृद्धसंज्ञा होती है, पूर्व दिशा वाच्य हो तो ।

उदा (1) एणीपचनीयः
एणीपचन—आदि अच् में 'ए' है, वृद्धासंज्ञा, छ, एणीपचनीयः ।

(2) भोजकटीयः
भोजकट छ—आदि अच् 'ओ' है ।
भोजकटीयः

(3) गोनर्दीयः
गोनर्द छ → पूर्ववत् ।

आदि अच् में एङ् हो तो वृद्धसंज्ञा होती है—

(1) अहिच्छत्र—पूर्व के लोगों का देश है परन्तु आदि अच् में 'एङ्' नहीं है—
अहिच्छत्र अण् → आहिच्छत्रः ।

(2) कान्यकुब्जः (पूर्ववत्) ।

प्राचाम् अर्थात् पूर्ण दिशा के लोगों का देश वाच्य हो तो वृद्धसंज्ञा होती है—

देवदत्त अण् → दैवदत्तः—आदि अच् में एङ् है, परन्तु यह पूर्व देश का नाम नहीं है ।

देशे—अर्थात् देश वाच्य होने पर ही वृद्ध संज्ञा होती है—
गोमत्यां भवाः → गौमताः ।

'गोमती' का आदि अच् 'ओ' (एङ्) है । परन्तु यह देश का वाचक नहीं है । अतः वृद्धसंज्ञा नहीं हुई ।

प्रागुद—प्रस्तुत काशिका के द्वारा काशिकाकार ने 'प्राक्' व 'उदक्' का विभाग स्पष्ट किया है—

जिस प्रकार हंस नीर व क्षीर को पृथक्-पृथक् कर देता है, उसी प्रकार विद्वानों की शब्दसिद्धि के लिए शरावती नदी, जो प्राग् देश और उत्तर देश को विभक्त करती है, हमारी रक्षा करे।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां प्रथमाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।



प्रथमाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः

(76) गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् *1* (2461)

अतिदेशोऽयम्। गाङिति इङादेशो (2.4.49) गृह्यते, न 'गाङ् गतौ' (धा॰पा॰ 950) इति; ङकारस्यानन्यार्थत्वात्। कुटादयोऽपि–'कुट कौटिल्ये' (धा॰पा॰ 1367) इत्येतदारभ्य यावत् 'कुङ् शब्दे' (धा॰पा॰ 1402) इति। एभ्यो गाङ् कुटादिभ्यः परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितो भवन्ति। ङिद्वद्भवन्तीत्यर्थः। गाङः–अध्यगीष्ट (6.4.66), अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। कुटादिभ्यः–कुटिता (1.1.5), कुटितुम्, कुटितव्यम्। उत्पुटिता, उत्पुटितुम्, उत्पुटितव्यम्। अञ्णिदिति किम्? उत्कोटयति (3.1.26), उच्चुकोट (3.4.42)। उत्कोटकः (3.1.133) उत्कोटो (3.3.18) वर्त्तते। *व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यम्*। विचिता। विचितुम्। विचितव्यम्। अनसीति किम्? उरुव्यचाः (ऋ॰ 1.104.9)।

अति॰—यह अतिदेश सूत्र है। 'गाङ्' के द्वारा 'इङ्' के स्थान पर होने वाले 'गाङ्' का ग्रहण होता है तथा 'गाङ् गतौ' का ग्रहण नहीं होता है। कारण कि 'गाङ्' आदेश को ङित् करने का अन्य कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। 'इङ्' के स्थान पर होने वाला 'गाङ्' आदेश स्थानिवद्भाव से ङित् हो जाता है, तब ङित् करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि उक्त 'गाङ्' आदेश का प्रकृत सूत्र में ग्रहण हो।

कुटा॰—'कुट कौटिल्ये' से लेकर 'कुङ् शब्दे' तक चालीस धातु 'कुटादि' हैं।

सूत्रार्थ—'गाङ्' आदेश तथा कुटादि (चालीस) धातुओं से परे ञित् व णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

उदा (1) अध्यगीष्ट

अधि इङ् त—लुङ् की विवक्षा में विकल्प से 'गाङ्' प्राप्त हुआ, गाङ् पक्ष में लुङ्, प्र॰पु॰ एकव॰—

अधि गाङ् च्लि त → अधि गा सिच् त—च्लि लुङि, च्लेः सिच्, अधि गा स् त—गाङ् से उत्तर सिच् ङिद्वत् हुआ, 'घुमास्थागा॰' से ईत्व हुआ, अट्,

अधि अट् गी स् त → अध्यगीष्ट—आदेशप्रत्यय॰, ष्टुना ष्टुः, यण्।

(2) अध्यगीषाताम्

अधि गा स् आताम्—पूर्ववत् 'गाङ्', लुङ्, आताम्, सिच्,
अधि आ गी स् आताम्—अट्, ईत्व,
अध्यगीषाताम्।

(3) अध्यगीषत

अधि गा स् झ → अधि अ गी स् अत—आत्मनेपदेष्व॰, अध्यगीषत।

(4) कुटिता

कुट् तृच्—आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुकस्येड्,
कुट् इ तृ — कुटि तृ—'तृ' ङिद्वत्, पुगन्तलघू॰, गुण का निषेध, कुटिता—सु।

(5) कुटितुम्

कुट् तुमुन् (पूर्ववत्)।

(6) कुटितव्यम्

कुट् तव्यत् (पूर्ववत्)।

(7) उत्पुटिता

उद् पुट् तृच् (पूर्ववत्)।

(8) उत्पुटितुम्

उद् पुट् तुमुन् (पूर्ववत्) 'खरि च'।

(9) उत्पुटितव्यम्

उद् पुट् तव्यत् (पूर्ववत्)।

अञ्णित्॰ अर्थात् गाङ् व कुटादि धातुओं से उत्तर ञित् व णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् होता है—

(1) उत्कोटयति

उद् कुट् णिच् शप् तिप्—उद् पूर्वक कुट् से णिच्, धातु संज्ञा, तिप्, शप्,

उत्कोटयति—णिच् णित् है। अतः ङिद्वत् नहीं हुआ। अतः 'पुगन्तलघू॰' से गुण हो गया।

(2) उच्चुकोट

उद् कुट् णल्—लिट् स्थानिक तिप्, णल्, णित् होने से ङित् न हुआ,

उद् कुट् कुट् अ → उद् कुकुट् अ → उद् चुकुट् अ—

द्वित्व, अभ्यास कार्य, उद् चुकोट → उज् चुकोट → उच्चुकोट—गुण, स्तोः श्चुना श्चुः, खरि च।

(3) उत्कोटकः

उद् कुट् ण्वुल् → उत्कोटकः—'ण्वुल्' के णित् होने से ङिद्वत् नहीं हुआ, गुण हुआ।

उत्कोटकः—सु।

उद् कुट् घञ्—'घञ्' ञित् है, अतः ङिद्वत् नहीं हुआ,
उत्कोट् अ सु → उत्कोटः।

व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यम् (वा०)—'अस्' से भिन्न प्रत्यय परे रहते 'व्यच्' धातु को कुटादि धातुओं के समान जानना चाहिए अर्थात् 'व्यच्' धातु से उत्तर अस् भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होता है। यथा—

(1) विचिता

व्यच् तृच्—'तृच्' अस् भिन्न होने से ङिद्वत् हुआ, 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण,

विच् तृ → विच् इ तृ → विचिता—प्राप्त गुण का निषेध।

(2) विचितुम्
व्यच् तुमुन् (पूर्ववत्)।

(3) विचितव्यम्
व्यच् तव्यत् (पूर्ववत्)।
अस् भिन्न प्रत्यय ही ङित् होता है—

(1) उरुव्यचाः
उरु व्यच् असुन्—सर्वधातुभ्योऽसुन्, असुन् ङिद्वत् नहीं हुआ, उरुव्यचाः—सु, अत्वसन्तस्य०।

(77) विज इट् *2* (2536)

'ओविजी भयचलनयोः' (धा०पा० 1290)। अस्मात्परः इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद्भवति। उद्विजिता। उद्विजितुम्। उद्विजितव्यम्। इडिति किम्? उद्वेजनम् (3.3.113), उद्वेजनीयम् (3.1.96)।

अर्थ—'ओविजी' धातु से पर इडादि प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

उदा० (1) उद्विजिता

उद् विज् तृच् → उद् विज् इ तृ—आर्धधातुक संज्ञा, इट्, ङिद्वत्, उद्विजिता—प्राप्त गुण का निषेध, सु।

(2) उद्विजितुम्।

उद् विज् तुमुन् → उद् विज् इ तुम्—पूर्ववत् ङिद्वत्, गुण-निषेध, उद्विजितुम्।

(3) उद्विजितव्यम्
उद् विज् तव्यत्—(पूर्ववत्)।

इडिति० अर्थात् 'विज्' से पर **इडादि** प्रत्यय ही ङिद्वत् होता है—

(1) उद्वेजनम्
उद् विज् ल्युट्—'ल्युट्' इडादि नहीं है। ङिद्वत् नहीं हुआ,
उद्वेज् अन—गुण हुआ,
उद्वेजनम्—सु।

(2) उद्वेजनीयम्
उद् विज् अनीयर्—पूर्ववत् गुण।

(78) विभाषोर्णोः *3* (2447)

इडिति वर्तते। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' (धा०पा० 1.039) अस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद्भवति। प्रोर्णुविता। प्रोर्णविता। इडित्येव-प्रोर्णवनम्, प्रोर्णवनीयम्।

अर्थ—ऊर्णुञ् धातु से पर इडादि प्रत्यय विकल्प से ङिद्वत् होता है।

उदा० (1) प्रोर्णुविता
ऊर्णु तृच्—आर्धधातुक संज्ञा, वलादिक इट्,
ऊर्णु इ तृ—ङिद्वत्, प्राप्त गुण का निषेध, 'अचि श्नुधातु०',
ऊर्णुवितृ → प्रोर्णुविता—'प्र' उपसर्ग, सु।

(2) प्रोर्णविता
प्र ऊर्णु इ तृ—पूर्ववत् विकल्प से ङिद्वत्, अङित् पक्ष में गुण, प्रोर्णविता—अयादि आदेश,

इडि० अर्थात् **इडादि** प्रत्यय विकल्प से ङिद्वत् होता है—

(1) प्रोर्णवनम्
ऊर्णु ल्युट्—इट् नहीं हुआ, अतः ङिद्वत् नहीं हुआ,
प्रोर्णव् अन → प्रोर्णवनम्—गुण, अवादेश, सु।

(2) प्रोर्णवनीयम्
ऊर्णु अनीयर् → प्रोर्णु अनीय—पूर्ववत्,
प्रोर्णवनीयम्।

(79) सार्वधातुकमपित् *4* (2234)

सार्वधातुकं यदपित्तङिद्वद्भवति। कुरुतः, कुर्वन्ति। चिनुतः, चिन्वन्ति। सार्वधातुकमिति किम्? कर्त्ता, कर्तुम्, कर्त्तव्यम्। अपिदिति किम्? करोति, करोषि, करोमि।

अर्थ—पित् भिन्न सार्वधातुक प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

उदा० (1) कुरुतः

कृ तस्—लट्, तस्, 'तिङ्शित्सार्व०' से 'तस्' की सार्वधातुक संज्ञा,

कृ उ तस्—तनादिकृञ्भ्य उ,

कर् उ तस् → कुर् उ तस्—सार्वधातुकार्ध०, अत उत् सार्व०,

कुर् उ तस् → कुरुतः—'तस्' सार्वधातुक है, पित् भी नहीं है। यह ङित् हुआ। प्राप्त सार्वधातुक गुण का निषेध।

(2) कुर्वन्ति

कृ झि → कृ अन्ति → कृ उ अन्ति—पूर्ववत् सार्वधातुक संज्ञा, उ विकरण, झोऽन्तः,

कुर् उ अन्ति → ङित् होने से प्राप्त गुण का निषेध, यण्, कुर्वन्ति।

(3) चिनुतः

चि तस् → चि श्नु तस्—स्वादिभ्यः श्नुः, लशक्वतद्धिते, तिङ्शित्सार्वधा०, सार्वधातुकमपित्,

चि नु तस् → चिनुतः—'चि' अंग को प्राप्त गुण का निषेध।

(4) चिन्वन्ति

चि झि—चि श्नु अन्ति—'अन्ति' तिङ् है तथा 'श्नु' शित् है। अतः दोनों की सार्वधातुक संज्ञा। दोनों अपित् हैं। अतः ङिद्वत्—

चिन्वन्ति—'नु' को निमित मानकर 'चि' अंग को प्राप्त गुण का निषेध हुआ।

सार्वधा० अर्थात् **सार्वधातुक** पित् से भिन्न को ङिद्वत् होता है—

(1) कर्त्ता

कृ तृच्—तृच् अपित् है, परन्तु सार्वधातुक नहीं है। अतः ङिद्वत् नहीं हुआ,

कर् तृ सु → कर्त्ता—आर्धधातुक गुण।

(2) कर्तुम्

कृ तुमुन् → कर्तुम्, अचो रहाभ्यां द्वे।

(3) कर्त्तव्यम्

कृ तव्यत् → कर्त्तव्यम्।

अपिदि० अर्थात् **पिद् भिन्न** सार्वधातुक ही ङिद्वत् होता है—

(1) करोति

कृ तिप् → कृ उ तिप्—'तिप्' सार्वधातुक है, परन्तु 'पित्' होने से ङिद्वत् नहीं हुआ,

कर् ओ ति → करोति—सार्वधातुक गुण 'ओ' हुआ।

(3) करोषि

कृ सिप् → कृ उ सि—पूर्ववत् गुण,

करोषि—आदेशप्रत्यययोः।

(3) करोमि

कृ मिप् → कृ उ मि → करोमि।

(80) असंयोगाल्लिट् कित् *5* (2242)

अपिदिति वर्त्तते। असंयोगान्ताद्धातोः परो लिट् प्रत्ययोऽपित् किद्भवति। बिभिदतुः, बिभिदुः। चिच्छिदतुः, चिच्छिदुः। ईजतुः, ईजुः। असंयोगादिति किम्? सस्रंसे, दध्वंसे। अपिदित्येव-बिभेदिथ।

अर्थ—संयोग नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे धातु से परे अपित् लिट् किद्वत् होता है।

उदा० (1) बिभिदतुः

भिद् तस् → भिद् अतुस्—लिट्, तस्, णलतुसुस्०; तस् अपित् है, 'अतुस्' भी स्थानिवद्भाव से अपित्, प्रकृत सूत्र के द्वारा कित् हुआ,

भिद् भिद् अतुस्—भि भिद् अतुस्—बिभिद् अतुस्—अभ्यासकार्य,

बिभिदतुः—'अतुस्' के कित् होने से गुण का निषेध।

(2) बिभिदुः

भिद् झि → भिद् उस् → बिभिद्—पूर्ववत् कित्,

बिभिदुः—गुण का निषेध।

(3) चिच्छिदतुः

छिद् तस् → छिद् अतुस्—पूर्ववत् किद्वत्,

चिच्छिदतुः—द्वित्व, अभ्यास कार्य, छे च, श्चुत्व।

(4) चिच्छिदुः

छिद् झि → चिच्छिदुः (पूर्ववत्)।

(5) ईजतुः

यज् तस् → यज् अतुस्—पूर्ववत् किद्वद्भाव,

ईजतुः—'वचिस्वपियजा०' से सम्प्रसारण।

(6) ईजुः

यज् झि → ईजुः—पूर्ववत् कित्त्व, सम्प्रसारण।

असंयोगा० अर्थात् संयोग नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे धातु से पर लिट् कित् होता है—

(1) सस्रंसे

स्रंस् त → स्रंस् ए—लिटस्तझयोरेश्० से 'एश्', जो अपित् है; परन्तु 'स्रंस्' धातु के अन्त में संयोग है। अतः 'ए' कित् नहीं हुआ।

सस्रंस् ए → सस्रंसे।

(2) दध्वंसे

ध्वंस् त → दध्वंसे (पूर्ववत्)।

अपिदि० अर्थात् अपित् लिट् ही किद्वत् होता है—

(1) बिभेदिथ

भिद् थल्—सिप्, 'णलतुसुस्०' से 'थल्', 'भिद्' धातु के अन्त में संयोग नहीं है, परन्तु थल् स्थानिवद्भाव से पित् है। अतः पिद्भिन्न लिट् न रहने से किद्वत् नहीं हुआ—

बि भिद् थ—द्वित्व, अभ्यासकार्य, इट्,

बिभेदिथ—गुण।

विशेष—यद्यपि 'गाङ्कुटादिभ्यो०' से 'ङित्' पद का अनुवर्तन करके भी गुणनिषेध किया जा सकता था, परन्तु प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कित् किए जाने का प्रयोजन गुणनिषेध के साथ-साथ सम्प्रसारण करना भी है।

(81) इन्धिभवतिभ्यां च *6* (3393)

इन्धिभवतीत्येताभ्यां परो लिट्प्रत्ययः किद्भवति। समीधे दस्युहन्तमम् (ऋ० 6.16.15)। पुत्र ईधे अथर्वणः (ऋ० 6.16.14)। भवतेः खल्वपि-बभूव, बभूविथ। इन्धेः संयोगार्थं ग्रहणम्। भवतेः पिदर्थम् (म०भा०)। अत्रेष्टिः-* श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् * श्रेथतुः, श्रेथुः। ग्रेथतुः, ग्रेथुः। देभतुः, देभुः। परिषस्वजे, परिषस्वजाते।

अर्थ—इन्धि तथा भू धातुओं से पर लिट् कित् होता है।

उदा० (1) समीधे

इन्ध् त → इन्ध् एश्—लिट्, त, लिटस्तझयोरेश्०, 'एश्' कित् हुआ—

इध् ए → इध् इध् ए → इ इध् ए—'अनिदितां हल०' से अनुनासिक लोप, द्वित्व आदि,

सम् इ इधे—समीधे।

(2) बभूव

भू तिप् → भू णल्—तिप्, णल्, अचो ञ्णिति, 'णल्' के कित् होने से वृद्धि निषेध, क्क्ङिति च,

भू वुक् अ → भूव् भूव् अ →भुवोवुग्०, द्वित्व,

भ भूव् अ → बभूव—भवतेरः, अभ्यासे चर्च।

(3) बभूविथ

भू सिप् → भू थल्—पूर्ववत् कित्,

बभूव् इ थ → बभूविथ।

इन्धेः अर्थात् 'इन्ध्' धातु का ग्रहण संयोग के लिए है। संयोग की दशा में तो 'असंयोगाल्लिट्०' से कित्त्व होता ही है, प्रकृत सूत्र संयोग की दशा में कित्त्व करता है।

भवतेः—अर्थात् सूत्र में 'भू' धातु का ग्रहण पित् प्रत्यय के लिए है। अपित् लिट् प्रत्यय को किद्वद्भाव 'असंयोगाल्लिट्०' से सिद्ध ही है। पित् प्रत्यय भी किद्वत् हो जाय —इसलिए 'भू' का ग्रहण किया गया है।

श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् (वा०)—यह महाभाष्य की इष्टि है। इसके अनुसार श्रन्थ्, ग्रन्थ्, दम्भ् व स्वञ्ज् धातुओं से पर लिट् कित् होता है—

(1) श्रेथतुः

श्रन्थ् तस् → श्रन्थ् अतुस्—'श्रन्थ्' संयोगान्त है। अतः 'असंयोगाल्लिट्०' की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रकृत इष्टि के द्वारा कित्त्व हुआ—

श्रथ् अतुस् → श्रेथतुः—'अनिदितां हल०', एत्व, अभ्यासलोप।

(2) श्रेथुः

श्रन्थ् झि → श्रन्थ् उस् → श्रेथुः (पूर्ववत्)।

(3) ग्रेथतुः

ग्रन्थ् अतुस्—पूर्ववत् किद्भाव, अनुनासिकलोप,

ग्रेथतुः—एत्व, अभ्यासलोप।

(4) ग्रेथुः

ग्रन्थ् झि → ग्रन्थ् उस्—ग्रेथुः (पूर्ववत्)।

(5) देभतुः

दम्भ् अतुस् → दभ् उतुस् → देभतुः।

(6) देभुः

दम्भ् उस् → देभुः (पूर्ववत्)।

(7) परिषस्वजे

स्वञ्ज् त → स्वञ्ज् ए → स्वज् ए—त, एश्, कित्त्व, अनुनासिक लोप, द्वित्व,

सस्वज् ए → परिषस्वजे।

(8) परिषस्वजाते

स्वञ्ज् आताम् → स्वज् आताम् (पूर्ववत्),

सस्वजाताम्—टित आत्मनेपदा०, मूर्धन्य,

परिषस्वजाते।

विशेष—'इन्धिभवतिभ्यां च' में 'च' का योग अनुक्त समुच्चय के लिए है। चकार से 'श्रन्थ्' आदि धातुओं का ग्रहण होता है।

(82) मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा *7* (3323)

मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस्–इत्येतेभ्यः परः क्त्वाप्रत्ययः किद्भवति। 'न क्त्वा सेट्' (1.2.18) इति कित्त्वप्रतिषेधं वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपकर्षः। गुध-कुषक्लिशीनां तु 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' (1.2.26) इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम्। मृडित्वा। मृदित्वा। गुधित्वा। कुषित्वा। क्लिशित्वा। उदित्वा। उषित्वा।

अर्थ—मृड्, मृद्, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद् तथा वस्—इन धातुओं से परे क्त्वा किद्वत् होता है।

न क्त्वा—'न क्त्वा सेट्' (पा० 1.2.18) के द्वारा सेट् क्त्वा के कित्त्व का निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा उसका पहले ही अपवाद कह दिया गया।

गुधकुष०—गुध्, कुष् तथा क्लिश्—इन धातुओं से पर क्त्वा 'रलो व्युपधाद्ध०' के द्वारा विकल्प से कित् होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नित्य कित् कहा है।

उदा० (1) मृडित्वा

मृड् इ क्त्वा—'समानकर्तृकात्०', आर्धधातुकसंज्ञा, आर्ध-धातुकस्येड्०, 'न क्त्वा सेट्' से क्त्वा के किद्वद्भाव का निषेध,

मृड् इत्वा—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा किद्वत् होकर, गुणनिषेध,

मृडित्वा—अव्ययसंज्ञा, सु, सुलुक्।

(2) मृदित्वा

मृद् क्त्वा → मृदित्वा (पूर्ववत्)।

(3) गुधित्वा

गुध् इ त्वा—पूर्ववत् क्त्वा को कित्त्व का निषेध, 'रलो व्युपधा०' से विकल्प से कित्त्व, प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नित्य किद्वद्भाव—

गुधित्वा।

(4) कुषित्वा

'गुधित्वा' की तरह।

(5) क्लिशित्वा

'रलो व्युपधाद्ध०' से वैकल्पिक कित्त्व, प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नित्य किद्वद्भाव।

(6) उदित्वा

वद् क्त्वा → व द् इ त्वा—पूर्ववत् कित्त्व,

उद् इ त्वा → उदित्वा—वचिस्वपियजा०,

उदित्वा—सु, सुलुक्।

(7) उषित्वा

वस् क्त्वा → वस् इ त्वा—पूर्ववत्,

उषित्वा—सम्प्रसारण, 'शासिवसिघसीनां०' से षत्व।

(83) रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च *8* (2609)

रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ–इत्येतेभ्यः संश्च क्त्वा च कितौ भवतः। रुदविदमुषीणां 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' (1.2.26) इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं ग्रहणम्। ग्रहेर्विध्यर्थमेव। स्वपिप्रच्छ्योः सन्नर्थं ग्रहणम्। किदेव हि क्त्वा। रुदित्वा, रुरुदिषति। विदित्वा। विविदिषति। मुषित्वा। मुमुषिषति। गृहीत्वा, जिघृक्षति। सुप्त्वा, सुषुप्सति। पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति। ग्रहादीनां कित्वा-त्सम्प्रसारणं भवति, 'किरश्च पञ्चभ्यः' (7.2.75) इति प्रच्छेरिडागमः।

अर्थ—रुद्, विद्, मुष, ग्रह, स्वप् तथा प्रच्छ्—इन धातुओं से पर सन् व क्त्वा कित् होते हैं।

रुदविद—रुद्, विद् तथा मुष् धातु से पर सन् व क्त्वा को 'रलो व्युपधाद्ध०' से विकल्प से किद्वत् होता है। इन धातुओं से पर सन् और क्त्वा नित्य कित् हो जायँ—इसके लिए प्रकृत सूत्र में इनका ग्रहण किया गया है।

ग्रहे—प्रस्तुत सूत्र में 'ग्रह्' धातु का ग्रहण विधि के लिए है। 'ग्रह्' से पर क्त्वा के कित्त्व का 'न क्त्वा सेट्' से निषेध होता है।

स्वपि—'स्वप्' तथा 'प्रच्छ्' धातुओं से पर 'क्त्वा' को इट्

प्राप्त नहीं है। अतः अनिट् क्त्वा स्वतः किद्वत् है। इनसे पर 'सन्' भी किद्वत् हो जाय—एतदर्थ सूत्र में इनका ग्रहण है।

उदा० (1) रुदित्वा

रुद् क्त्वा → रुद् त्वा → रुद् इ त्वा—वलादिक इट्, 'न क्त्वा सेट्' से कित्त्व का निषेध, 'रलो व्युपधाद्ध०' से वैकल्पिक कित्त्व, प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नित्य कित्त्व,

रुदित्वा—गुणनिषेध, सु, सुलुक्।

(2) रुरुदिषति

रुद् सन् → रुद् स—'धातोः कर्मणः समा०' से सन्,

रुद् इ स—वलादि इट्, सन् का कित्त्व, प्राप्त लघूपधगुण का निषेध,

रु रुद् इ स—द्वित्व, अभ्यासकार्य, धातुसंज्ञा,

रुरुदिषति—तिप, शप्, पूर्वरूप।

(3) विदित्वा

विद् क्त्वा → विदित्वा—'रुदित्वा' की तरह।

(4) विविदिषति

विद् सन् → विद् इ स → विविद् इ स (पूर्ववत्),

विविदिषति (पूर्ववत्)।

(5) मुषित्वा

मुष् क्त्वा → मुषित्वा—'रुदित्वा' की तरह।

(6) मुमुषिषति

मुष् सन् → मुमुषिषति (पूर्ववत्)।

(7) गृहीत्वा

ग्रह् क्त्वा → ग्रह् इत्वा—'न क्त्वा सेट्' के द्वारा कित्त्व का निषेध, प्रस्तुत सूत्र से कित्त्व,

गृहित्वा—'ग्रहिज्या०' से सम्प्रसारण,

गृहीत्वा—'ग्रहोऽलिटि०' से दीर्घ।

(8) जिघृक्षति

ग्रह् सन्—वलादिक इट् की प्राप्ति, 'सनि ग्रहगुहोश्च' से निषेध, प्रस्तुत सूत्र से किद्वत्,

गृह् स—ग्रहिज्या०, सम्प्रसारणाच्च,

गृह् गृह् स → गृ गृह् स → गर् गृह् स → ज गृह् स—सन्यङोः, हलादिः शेषः, उरत्, कुहोश्चुः,

जिगृह् स → जिगृढ् स—सन्यतः, हो ढः,

जिघृढ् स → जिघृक् स—एकाचो बशो०, षढोः कः सि,

जिघृक्ष → जिघृक्षति—आदेशप्रत्यययोः, सनाद्यन्ता धातवः, तिप्, शप्, पूर्वरूप।

(9) सुप्त्वा

स्वप् क्त्वा—अनिट् होने से स्वतः कित्त्व सिद्ध है, प्रस्तुत सूत्र की चरितार्थता नहीं है।

सुप् त्वा → सुप्त्वा—सम्प्रसारण।

(10) सुषुप्सति

स्वप् सन्—'सन्' को किद्वद्भाव हुआ, सम्प्रसारण हुआ

सु सुप्स → सुषुप्स—धातुसंज्ञा,

सुषुप्सति।

(11) पृष्ट्वा

प्रच्छ् क्त्वा—इट् प्राप्त नहीं है, 'न क्त्वा सेट्' की प्रवृत्ति नहीं हुई, स्वतः कित्त्व,

पृच्छ् त्वा → पृष् त्वा—सम्प्रसारण,

पृष्ट्वा—ष्टुना ष्टुः।

(12) पिपृच्छिषति

प्रच्छ् सन् → प्रच्छ् इ स → 'सन्' किद्वत्, किरश्च पञ्चभ्यः,

पृच्छ् इ स → पृ पृच्छिस → पर् पृच्छिस—सम्प्रसारण, द्वित्व, अभ्यास कार्य,

प पृच्छिस → पिपृच्छिष—उरत्, हलादिः शेषः, सन्यतः, आदेशप्रत्यययोः, धातु संज्ञा,

पिपृच्छिषति—तिप्, शप्, पूर्वरूप।

(84) इको झल् *9* (2612)

सन्नित्यनुवर्त्तते। क्त्वेति निवृत्तम्। इगन्ताद्धातोः परो झलादिः सन् किद्भवति। चिचीषति। तुष्टूषति। चिकीर्षति। इक इति किम्? पिपासति, तिष्ठासति। झलिति किम्? शिशयिषते। किमर्थमिदमुच्यते? गुणो मा भूदिति। 'अज्झनगमां सनि' (6.4.16) इति दीर्घत्वं गुणस्य बाधकं भविष्यति। यथैव तर्हि दीर्घत्वं गुणं बाधते तथा णिलोपमपि बाधेत। तस्माद्दीर्घत्वस्यावकाशदानाय कित्त्व-मिदमारभ्यते। चिचीषतीत्यादिषु सावकाशं दीर्घत्वं परत्वात् णिलोपेन बाध्यते (6.4.21) ज्ञीप्सति।

अर्थ—'इकः' में तदन्त विधि होकर 'इगन्तात्' पद बनता है। 'सन्' के कारण 'धातोः' पद का आक्षेप कर लिया जाता है। 'झल्' पद 'सन्' का विशेषण है। तदादिविधि होकर इसका अर्थ होता है—झलादि सन्। 'इक्' में चार वर्ण होते हैं—इ, उ, ऋ तथा ऌ।

सूत्रार्थ—इक् अन्त वाले धातु से पर झलादि सन् किद्वत् होता है।

उदा० (1) चिचीषति

चि सन्—वलादिक इट् की प्राप्ति, एकाच उपदेशेऽनु० से निषेध, झलादि सन् किद्वत्,

चिचीष—द्वित्व आदि,

चिचीषति—तिप् आदि।

(2) तुष्टूषति

स्तु सन्—पूर्ववत् कित्त्व, गुणनिषेध, दीर्घ, द्वित्व,

तुष्टूष—शर्पूर्वाः खयः, ह्रस्वः, धातुसंज्ञा,

तुष्टूषति—शप्।

'स्तौतिण्योरेव०' से प्रथम 'स' को षत्व हुआ।

(3) चिकीर्षति

कृ स—सन् कित् हुआ, प्राप्त गुण का निषेध,

किर् स—'ॠत इद्धातोः' से इत्व, उरण् रपरः,

कीर् स—'हलि च' उपधादीर्घ,

कीर्ष—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य,

कीर् कीर् ष → की कीर् ष—'सन्यङोः' से द्वित्व, हलादिः शेषः,

किकीर्ष → चिकीर्ष—ह्रस्वः, कुहोश्चुः,

चिकीर्ष तिप्—'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा, तिप्,

चिकीर्षति—शप्, पररूप आदि।

इक इति० अर्थात् इगन्त धातु से पर झलादि सन् किद्वत् होता है—

(1) पिपासति

पा सन्—झलादि सन् है, परन्तु वह इगन्त धातु से पर नहीं है। 'पा' आकारान्त धातु है। कित्त्व नहीं हुआ

पिपासति—द्वित्व, सन्यतः, धातुसंज्ञा।

(2) तिष्ठासति

स्था सन्—पूर्ववत् कित् नहीं हुआ,

तिष्ठासति—शर्पूर्वाः खयः, ष्टुत्व।

झलिति० अर्थात् झलादि सन् ही इगन्त धातु से पर किद्वत् होता है—

(1) शिशयिषते

शी सन् → शी इ स—वलादिक इट् यहाँ अजादि सन् है। तब झलादि न होने के कारण किद्वत् नहीं हुआ। फलतः गुणनिषेध न हुआ, शी शी इ स → शि शे इ स—शिंशयिषते।

किमर्थ—अब शङ्का होती है कि प्रस्तुत सूत्र की क्या चरितार्थता है? इसका समाधान यह है कि गुण के निषेध में यह चरितार्थ है अर्थात् झलादि सन् के कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है।

इस पर आक्षेप है कि 'अज्झनगमां सनि' से विहित दीर्घादेश गुण का बाध कर देगा। तब कित्त्व व्यर्थ हो जाता है।

यथैव—शङ्का होती है कि यदि दीर्घादेश गुण का बाध करता है तो वह णिलोप का भी बाध करेगा। तब 'ज्ञीप्सति' रूप सिद्ध न हो सकेगा। अतः दीर्घादेश को अवकाश देने के लिए ही झलादि सन् को कित् किया गया है।

चिचीष—'चिचीषति' में दीर्घादेश सावकाश है। 'ज्ञीप्सति' में पर होने के कारण णिलोप के द्वारा दीर्घादेश का बाध हो जाता है।

इकः कित्त्वं गुणो मा भूद्दीर्घारम्भात्कृते भवेत्।
अनर्थकं तु ह्रस्वार्थं दीर्घाणां तु प्रसज्यते ॥1॥
सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमृदित्वं दीर्घसंश्रयम्।
दीर्घाणां नाकृते दीर्घे णिलोपस्तु प्रयोजनम् ॥2॥

(म०भा०, वा० 1-10)

उपर्युक्त शङ्काओं व समाधानों को इस कारिका में बद्ध किया है—

(क) इकः कित्त्वम्—इगन्त धातु से पर झलादि सन् को कित् किसलिए किया गया है?

(ख) गुणो मा भूत्—झलादि सन् को कित् करने का प्रयोजन है कि 'चिचीषति' आदि प्रयोगों में गुण न हो।

(ग) दीर्घारम्भात्—('चिचीषति' आदि प्रयोगों में) 'अज्झनगमां०' से प्राप्त दीर्घत्व गुण का बाध कर लेगा। (तब कित् किसलिए किया जाय?)

(घ) कृते भवेत्—दीर्घादेश कर लेने पर भी 'सार्वधातुकार्धधातु०' से पुनः गुण प्राप्त होता है। (इसके निषेध के लिए कित् करण आवश्यक है)।

(ङ) अनर्थकं तु ह्रस्वार्थम्—परन्तु 'चि' आदि ह्रस्वान्त धातुओं के लिए सन् को कित्त्व व्यर्थ है। (पीछे कहा गया है कि दीर्घादेश कर लेने पर भी गुण प्राप्त होता है, वह ठीक नहीं है। कारण कि वचनसामर्थ्य से पुनः गुण प्राप्त न होगा। अन्यथा दीर्घ करना व्यर्थ हो जायेगा।)

(च) दीर्घाणां तु प्रसज्यते—(ह्रस्वान्त धातुओं को वचनसामर्थ्य से पुनः गुण की प्राप्ति न होगी, परन्तु) 'नी' आदि दीर्घान्त

धातुओं को गुण हो ही जायेगा। (कारण कि ये धातु दीर्घादेश-भावित नहीं हैं अपितु स्वतः दीर्घ हैं। अतः यहाँ वचनसामर्थ्य से भी गुण की निवृत्ति नहीं हो सकेगी।)

(छ) सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यम्—(जिस प्रकार लोक में देखा जाता है कि भोजन कर लेने पर भी भोजनविशेष में मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार) स्वतः दीर्घ 'नी' आदि धातुओं को सामर्थ्यवश 'अज्झन०' के द्वारा दीर्घादेश की प्रवृत्ति अवश्य होगी। (तब उस दीर्घादेश से गुण का बाध हो जायेगा। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कित्करण व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार दीर्घान्त 'नी' आदि धातुओं में दीर्घत्व के द्वारा गुणादेश का बाध हो जाता है, उसी प्रकार 'चिकीर्षति' में वह दीर्घत्व इत्व का बाधक बन जायेगा। तब 'ऋत इद्धातोः' से प्राप्त इत्व भी न होगा। इसका सार यह है कि दीर्घादेश गुण का बाधक नहीं है। अतः गुणनिषेध के लिए कित् किया गया है।)

(ज) ऋदित्वं दीर्घसंश्रयम्—'ऋत इद्धातोः' के द्वारा दीर्घ ॠकारान्त धातुओं को इत्व आदेश होता है। 'चिकीर्षति' में 'कृ' को दीर्घ किये विना इत्व की प्राप्ति न हो सकेगी। इस प्रकार दीर्घत्व इत्व का निमित्त होने से इत्व का बाध न करेगा तथा गुण का ही बाध करेगा। (यहाँ ध्यातव्य है—'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते यस्य तु विधेः पुनर्निमित्तमेव नाऽसौ बाध्यते।' तब गुणनिषेध के लिए कित् करण व्यर्थ है।)

इसका समाधान यह है कि 'अज्झनगमां०' के द्वारा दीर्घादेश किये विना जहाँ इत्व की प्राप्ति होती है, वहाँ दीर्घादेश इत्व का निमित्त न होने से उसका बाधक बन जाता है। 'तॄ प्लवन-सन्तरणयोः' में 'तॄ' स्वतः दीर्घ है। यहाँ दीर्घत्व की आवश्यकता नहीं है। तब दीर्घादेश इत्व का बाधक बन जायेगा तथा गुण का बाधक नहीं बन सकेगा। उस दशा में गुणनिषेध के लिए कित् किया गया है।

(झ) दीर्घाणां नाकृते दीर्घे—'इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन' के द्वारा इत्व तथा उत्व करने से पूर्व गुण व वृद्धि होते हैं। तब दीर्घान्त धातुओं को भी गुण प्राप्त होता है। अतः 'तॄ' आदि को भी दीर्घ करने के पश्चात् इत्व होता है। उस गुण की निवृत्ति के लिए 'नी' आदि दीर्घान्त धातुओं को दीर्घादेश कहना चाहिए। (दीर्घान्त धातुओं को भी दीर्घत्व विधान करने के कारण सर्वत्र अर्थात् 'तॄ' आदि में भी दीर्घादेश इत्व का निमित्त होकर उसका बाध नहीं कर सकेगा। तब दीर्घत्व केवल गुण का बाध होगा। अतः कित् करण व्यर्थ है।)

(ञ) णिलोपस्तु प्रयोजनम्—(समाधान यह है कि) 'ज्ञीप्सति' में 'णिलोप' हो जाय—इसलिए झलादि सन् को कित् किया गया है। (सन् को कित् न किए जाने पर जिस प्रकार अनवकाश दीर्घादेश गुण का बाध करता है, उसी प्रकार णिलोप का बाध कर लेगा। तब 'ज्ञीप्सति' प्रयोग सिद्ध न हो सकेगा। 'सन्' को किद्वत् करने पर 'चिचीषति' आदि में गुण का निषेध होता है। तब दीर्घादेश सावकाश रहता है। 'ज्ञप् णि सन् ति' इस दशामें सावकाश दीर्घादेश को बाधकर पर होने के कारण णिलोप होता है। अतः झलादि सन् को कित् करना अनिवार्य है।)

विशेष—(क) शुद्ध 'सन्' को झलादि सन् कहा गया है तथा सेट् 'सन्' को अजादि सन्।

(ख) 'वृद्धिर्यस्याऽचामादि' सूत्र से 'आदि' पद का अनुवर्त्तन होने से यहाँ तदादि विधि होती है अर्थात् 'झल्' का अर्थ है—झलादि (सन्)। यहाँ तदन्त विधि नहीं होती है।

(ग) 'इको झल्' में 'इक्' पद से 'इक्' प्रत्याहार का ग्रहण होता है न कि 'इक्' धातु का। इसमें दो प्रमाण हैं—

1. गर्गादिगण में 'जिगीषु' शब्द का पाठ उपलब्ध है। यदि प्रकृत सूत्रस्थ 'इकः' पद के द्वारा 'इक् धातोः' अर्थ गृहीत किया जाय तो 'जिगीषु' में सन् कित् नहीं होगा। तब 'सार्वधातुकार्धधा०' से गुण होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि 'इकः' के द्वारा इक् प्रत्याहार का ग्रहण है।[1]

2. 'इको झल्' में पठित 'झल्' एक प्रत्याहार है। अतः साहचर्यवशात् सिद्ध होता है कि 'इक्' भी प्रत्याहार ही है तथा धातु नहीं है।[2]

(85) हलन्ताच्च *10* (2613)

इकः, सन्, झल्किदिति वर्त्तते। समीपवचनोऽन्तशब्दः। हल् चासावन्तश्च हलन्तः। इगन्तादि क्समीपाद्धलः परः सन् झलादिः किद्भवति। बिभित्सति। बुभुत्सते। इक इत्येव–यियक्षते। झलित्येव–विवर्त्तिषते। दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात्सिद्धम्–धीप्सति, धिप्सति (6.4.24)।

अर्थ—'अन्त' शब्द समीपवाची है। कुछ विद्वान् 'हलन्तात्' पद का विच्छेद 'हल्' व 'अन्तात्' इस प्रकार करते हैं। इसके अनुसार 'हल्' में लुप्तपञ्चमी है।

1. न्यास 1.2.9. तस्मात् प्रत्याहारस्यैव ग्रहणं न्याय्यं, न धातोः।
2. न्यास 1.2.9. झलिति प्रत्याहारसाहचर्यात् प्रत्याहारस्यैव युक्तत्वात्।

इक् के समीप जो हल्, उससे परे झलादि सन् कित् होता है।

उदा० (1) बिभित्सति

भिद् सन्—'एकाच उपदेशे०' से इट् का निषेध, सन् किद्वत् हुआ, प्राप्त लधूपधगुण का निषेध,

भिद्-भिद् सन् → बिभिद् स → बिभित्स → खरि च, धातुसंज्ञा, बिभित्सति।

(2) बुभुत्सते

बुध् सन्—पूर्ववत् इट् निषेध, सन् किद्वत्, लघूपधगुण का निषेध,

बु बुध् स—द्वित्व, हलादिः शेषः,

बुभुध् स—एकाचो बशो० → बुभुत् स, खरि च, धातुसंज्ञा,

बुभुत्सते—त, शप्, पररूप।

इक० अर्थात् **इक्** के समीप जो हल्, उससे पर झलादि सन् कित् होता है—

(1) यियक्षते

यज् सन्—यहाँ हल् (ज्) इक् के समीप नहीं है, अपितु अकार के समीप है। अतः सन् किद्वत् नहीं हुआ,

य यज् स → यि यज् स → यि यक् स → यि यक्ष—सम्प्रसारण नहीं हुआ, द्वित्व, अभ्यास कार्य, सन्यतः, मूर्धन्य,

यियक्षते—धातुसंज्ञा, त।

झलित्ये० अर्थात् झलादि सन् ही कित् होता है—

(1) विवर्त्तिषते

वृत् सन् → वृत् इ स—इट्, अजादि सन् हुआ, झलादि सन् न रहने से किद्वत् नहीं हुआ,

विवर्त्तिषते—लघूपधगुण हुआ।

दम्भे—'हल्' पद का ग्रहण जातिवाचक है। 'दम्भ् सन्' इस दशा में 'सनीवन्तर्ध०' से इट् का निषेध हुआ।

(2) 'दम्भ इच्च' से 'इत्' हुआ। 'दिम्भ् स' चूँकि 'म्' तथा 'भ्' दोनों हल् जाति के हैं। अतः इनसे पर 'सन्' कित् हुआ।

'दिभ् स'—अनिदितां हल उप० से अनुनासिकलोप हुआ। द्वित्व व अभ्यासलोप (अत्र लोपोऽभ्यासस्य)।

दिभ् दिभ् स → दिभ् स → धिभ् स (एकाचो बशो०)—धिप् स (खरि च) → धिप्सति।

(3) पक्ष में—धीप्सति।

(86) लिङ्सिचावात्मनेपदेषु *11* (2300)

हलन्तादिको झल्किदिति वर्त्तते। सन्निति निवृत्तम्। इगन्तादिक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदेषु परतः कितौ भवतः। भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट। सिचि खल्वपि–अभित्त, अबुद्ध। इकः इत्येव–यक्षीष्ट, अयष्ट। सम्प्रसारणं (6.1.15) हि स्यात्। आत्मनेपदेष्विति किम्? अस्राक्षीत्, अद्राक्षीत्। 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' (6.1.58) इत्यमागमो न स्यात्। हलन्तादित्येव–चेषीष्ट, अचेष्ट। गुणो न स्यात्। झलित्येव–वर्त्तिषीष्ट, अवर्त्तिष्ट। गुणो न स्यात्। लिङ्-सिचाविति किम्? द्वेष्टा, द्वेक्ष्यति।

अर्थ—इक् के समीप जो हल्, उससे पर झलादि लिङ् व सिच् किद्वत् होते हैं, आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते।

झलादि लिङ् आत्मनेपद में ही सम्भव है। अतः 'आत्मनेपदेषु' पद 'सिच्' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

उदा० (1) भित्सीष्ट

भिद् त—'आशिषि लिङ्लोटौ' से लिङ्, त,

भिद् सीयुट् सुट् त—लिङः सीयुट्, सुट् तिथोः, लिङाशिषि,

भिद् सीय् स् त—झलादि लिङ् कित् हुआ, प्राप्त लघूपधगुण का निषेध,

भिद् सी ष् त—लोपो व्योर्वलि, आदेशप्रत्यययोः,

भित्सीष्ट—खरि च, ष्टुना ष्टुः।

(2) भुत्सीष्ट

बुध् त → बुध् सीयुट् सुट् त → बुध् सीय् स् त—पूर्ववत्, बुध् सी स् त → भुध् सी स् त → भुत् सी स् त → पूर्ववत्,

भुत्सीष्ट (पूर्ववत्)।

'एकाचो बशो भष्०' से भकार हुआ है।

(3) अभित्त

भिद् त—लुङ्, त प्रत्यय,

अ भिद् स् त—अट्, च्लि, सिच्, अनुबन्धलोप, सिच् कित् हुआ, प्राप्त गुण का निषेध,

अ भिद् त → अभित्त—झलो झलि, खरि च।

(4) अबुद्ध

बुध् त—अ बुध् स् त → अबुध् स् त—पूर्ववत्,

अ बुध् त → अ बुध् ध → अबुद्ध—'झषस्तथो०', झलां जश् झशि।

इकः अर्थात् **इक्** के समीप जो हल् उससे पर झलादि लिङ् सिच् कित् होते हैं—

(1) यक्षीष्ट

यज् त → यज् सीयुट् सुट् त—हल् (ज्) इक् के समीप नहीं है, अकार के समीप है। अत: लिङ् कित् नहीं हुआ, तब सम्प्रसारण नहीं हुआ,

यक् सी स् त → यक्षीष्ट—लोपो व्योर्वलि।

(2) अयष्ट

अट् यज् त—लुङ्, त, अट्,

अ यज् स् त—सिच्, अकार के समीप हल् है, अत: सिच् कित् नहीं हुआ,

अयष्ट।

आत्मनेप० अर्थात् **आत्मनेपद** के विषय में ही लिङ् व सिच् कित् होते हैं—

(1) अस्राक्षीत्

अट् सृज् सिच् त्—लुङ्, अट्, च्लि, सिच्, इतश्च,

अ स्रज् स् त—आत्मनेपद न होने से सिच् कित् नहीं हुआ, तब 'रम्' हुआ, सृजिदृशो०,

अ स्रज् स् ई त् → अस्राज् सीत्—वृद्धि, अस्तिसिचो०,

अस्राक्षीत्—कुत्व, षत्व।

(2) अद्राक्षीत्

अट् दृश् स् त्—पूर्ववत्, सिच् कित् न हुआ,

अ द्रश् स् त् → अद्रश् स् ई त्—रम् आगम, ईट्,

अ द्रष् सीत् → अद्रक् सीत्—व्रश्चभ्रस्ज०, षढो: क०,

अद्राक् षीत् → अद्राक्षीत्—हलन्तलक्षणा वृद्धि।

हलन्ता० अर्थात् **हल्** से पर सिच् व लिङ् कित् होते हैं—

(1) चेषीष्ट

ची सीयुट् सुट् त—लिङ्, सीयुट् आदि, इक् के समीप हल् न होने से किद्वत् नहीं हुआ,

चे सीय् स् त—गुण, लोपो व्योर्वलि,

चेषीष्ट।

(2) अचेष्ट

ची त—लुङ्, त,

अ ची स् त—अट्, च्लि, सिच्, इक् के समीप हल् न होने से सिच् कित् न हुआ,

अचेष्ट—गुण, मूर्धन्य, ष्टुत्व।

झलि० अर्थात् **झलादि** सिच् व लिङ् कित् होते हैं—

(1) वर्तिषीष्ट

वृत् त → वृत् सीय् स् त—लिङ्, त, सीयुट्, सुट् तिथो:,

वृत् इ सीय् स् त—इट्, इक् (ऋ) के समीप हल् (त्) है, परन्तु हल् से पर झलादि लिङ् नहीं है, अजादि लिङ् है, अत: कित् न हुआ,

वर्त् इ सी स् त → वर्ति षीस् त—गुण, यलोप, मूर्धन्य,

वर्तिषीष्ट—ष्टुत्व।

(2) अवर्त्तिष्ट

अट् वृत् त → अ वृत् स् त—लुङ्, त, अट्, सिच्,

अ वर्त् इ स् त—इट्, इक् (ऋ) के समीप हल् (त्) से पर झलादि सिच् नहीं है, अजादि सिच् है। अत: सिच् कित् नहीं हुआ। गुण—

अवर्ति ष् त → अवर्त्तिष्ट—मूर्धन्य, ष्टुना ष्टु:।

लिङ्सि० अर्थात् हल् से पर झलादि **लिङ्** व **सिच्** ही कित् होते हैं—

(1) द्वेष्टा

द्विष् त—लुट्, त, इक् (इ) से पर हल् (ष्) है, उससे पर आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय (त) है, जो झलादि तो है; परन्तु न तो लिङ् है और न ही सिच् है। अत: कित् नहीं हुआ;

द्विष तास् डा—लुट: प्रथमस्य०, स्यतासी लृ०,

द्विष् त् आ—अनुबन्धलोप, गुण, टिलोप,

द्वेष् ता—द्वेष्टा—ष्टुना ष्टु।

(2) द्वेक्ष्यति

द्विष् तिप्—द्विष् स्य ति—पूर्ववत् कित् न हुआ, गुण,

द्वेष् स्य ति → द्वेक् स्य ति → द्वेक् ष्यति—

द्वेक्ष्यति।

(87) उश्च *12* (2368)

ऋवर्णान्ताद्धातो: परो लिङ्सिचावात्मनेपदेषु झलादी कितौ भवत:। कृषीष्ट, हृषीष्ट। सिच: खल्वपि-अकृत, अहृत। झलित्येव-वरिषीष्ट, अवरिष्ट। 'वृतो वा' (7.2.38) अवरीष्ट।

अर्थ—ऋवर्ण से पर झलादि लिङ् व सिच् कित् होते हैं, आत्मनेपद के विषय में।

उदा० (1) कृषीष्ट

कृ त—लिङ्, त,

कृ सीयुट् सुट् त → कृ सीय् स् त—लोपो व्योर्वलि,

कृ सी स् त—ऋवर्ण से पर झलादि लिङ् है, कित् हुआ, गुण का निषेध हुआ,

कृषीष्ट (पूर्ववत्)।

(2) हृषीष्ट

हृ त → हृ सीय् स् त → हृषीष्ट (पूर्ववत्)।

(3) अकृत

अ कृ त—लुङ्, त, अट्,

अ कृ स् त—सिच्, ऋवर्ण से पर झलादि सिच् है, कित् हुआ, गुणनिषेध,

अकृत—ह्रस्वादङ्गात्।

(4) अहृत

अ हृ स् त → अहृत (पूर्ववत्)।

झलि॰ अर्थात् ऋवर्ण से पर झलादि लिङ् व सिच् ही कित् होते हैं—

(1) वरिषीष्ट

वृ त → वृ सीय् स् त → वृ इ सीय् स् त—ऋवर्ण से पर झलादि लिङ् नहीं है, अतः कित् न हुआ, गुण,

वर् इ सी स् त → वरिषीष्ट—'वर्त्तिषीष्ट' की तरह।

(2) अवरिष्ट

अट् वृ इ स् त—लुङ्, सिच्, अट्, इट्, ऋवर्ण से पर सिच् है, परन्तु झलादि नहीं है। कित् नहीं हुआ, गुण,

अवरिष्ट—'अवर्त्तिष्ट' की तरह।

(3) अवरीष्ट

'वृतो वा' से पक्ष में 'अवरीष्ट'।

(88) वा गमः *13* (2700)

लिङ्सिचावात्मनेपदेष्विति वर्त्तते। गमेर्धातोः परौ-लिङ्सिचौ आत्मनेपदेषु झलादी वा कितौ भवतः। संगसीष्ट। संगंसीष्ट। सिचः खल्वपि-समगत, समगंस्त। कित्त्वपक्षे अनुनासिकलोपो भवति 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्' (6.4.37) इति।

अर्थ—गम् धातु से पर झलादि लिङ् व सिच् विकल्प से कित् होते हैं, आत्मनेपद के विषय में।

उदा॰ (1) संगसीष्ट

सम् गम् सीय् स् त—समो गम्यृच्छि॰ से आत्मनेपद, झलादि लिङ् विकल्प से कित् हुआ,

सम् ग सी स् त—कित्पक्ष में अनुदात्तोपदेश॰' अनुनासिकलोप,

सं ग सी स् त → संगसीष्ट—मोऽनुस्वारः, मूर्धन्य।

(2) सम् गम् सी स् त—इन पूर्वोक्त स्थिति में अकित् पक्ष में,

संगंसीष्ट।

(3) समगत

सम् गम् त—सम् अट् गम् स् त—गम् से पर झलादि सिच् है। विकल्प से कित् हुआ,

सम् अ ग स् त—कित् पक्ष में अनुनासिक लोप, ह्रस्वादङ्गात्, समगत।

(4) समगंस्त

सम् अ गम् स् त—पूर्वोक्त दशा में अकित् पक्ष में,

समगंस्त—मोऽनुस्वारः।

(89) हनः सिच् *14* (2697)

हन्तेर्धातोः परः सिच् किद्भवति। आहत, आहसाताम्, आहसत। सिचः कित्त्वादनुनासिकलोपः (6.4.37)। सिज्ग्रहणं लिङ्निवृत्यर्थम्, उत्तरत्रानुवृत्तिर्मा भूत्। आत्मनेपदग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तते। इह तु परस्मैपदे हन्तेर्वधभावस्य नित्यत्वात् कित्त्वस्य प्रयोजनं नास्ति।

अर्थ—हन् धातु से पर सिच् कित् होता है आत्मनेपद प्रत्यय के विषय में।

उदा॰ (1) आहत

आ अ हन् त—'आङो यमहनः' से आत्मनेपद, लुङ्,

आ अ हन् स् त—हन् से पर सिच् कित् हुआ, अनुनासिक-लोप,

आ अ ह स् त → आहत—ह्रस्वादङ्गात्।

(2) आहसाताम्

आ अ हन् स् आताम् (पूर्ववत्),

आहसाताम्।

(3) आहसत

आ अ हन् स् झ—आत्मनेपदेष्वनतः, कित्,

आ अ हस् अत → आहसत।

सिज्—(पूर्वशास्त्र से 'सिच्' पद का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी) पुनः 'सिच्' का ग्रहण 'लिङ्' पद की निवृत्ति के लिए है अर्थात् 'हन्' से उत्तर केवल सिच् कित् हो तथा लिङ् न हो।

आत्मने—प्रकृत सूत्र में 'आत्मनेपदेषु' पद की अनुवृत्ति प्राप्त होने पर भी उसकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। कारण कि परस्मैपद में 'हन्' को वधादेश नित्य होता है। तब कित्त्व का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है। अत: यह कित्त्व हन् से आत्मनेपद में ही सावकाश है। 'आत्मनेपदेषु' पद का अनुवर्त्तन उत्तरशास्त्र के लिए किया गया है।

(90) यमो गन्धने *15* (2698)

सिच् आत्मनेपदेष्विति वर्त्तते। यमेर्धातोर्गन्धने वर्त्तमानात्परः सिच् प्रत्ययः किद्भवति आत्मनेपदेषु परतः। गन्धनं सूचनम्, परेण प्रच्छाद्यमानस्यावद्यस्याविष्करणम्। अनेकार्थत्वाद्धातूनां यमिस्तत्र वर्तते। उदायत, उदायसाताम्, उदायसत। सूचितवानित्यर्थः। सिचः कित्वादनुनासिकलोपः (6.4.37)। 'आङो यमहनः' (1.3.28) इत्यात्मनेपदम्। गन्धन इति किम्? उदायंस्त पादम्, उदायंस्त कूपादुदकम्। उद्धृतवानित्यर्थः। सकर्मकत्वेऽपि 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' (1.3.75) इत्यात्मनेपदम्।

अर्थ—'गन्धन' अर्थ में वर्तमान 'यम्' धातु से पर सिच् कित् होता है, आत्मनेपद के विषय में।

'गन्धन' का अर्थ है—चुगली करना।

उदा० (1) उदायत
उद् आ यम् त—आङो यमहनः, लुङ्, सिच्, अट्,
उदा अट् यम् स् त—सिच् कित्, अनुनासिकलोप,
उदा अ यस् त्—उदा अयत—ह्रस्वादङ्गात्,
उदायत।

(2) उदायसाताम्
उद् आ अट् यम् स् आताम्—इस स्थिति में सिच् कित् हुआ,
उद् आ अय स् आताम् → उदायसाताम् (पूर्ववत्)।

(3) उदायसत
उद् आ अट् यम् झ—आत्मनेपदेष्वनतः, सिच्,

उदा अयम् स् अत—उदा अय स त → उदायसत (पूर्ववत्)।

गन्धन अर्थात् गन्धन अर्थ में ही 'यम्' से पर सिच् कित् होता है—

(1) उदायंस्त पादम् (= पैर को ऊपर खींचा)
उद् आ अ यम् त—यहाँ गन्धन अर्थ नहीं है। समुदाङ्भ्यो० से आत्मनेपद हुआ,
उदा अ यम् स् त—सिच् कित् नहीं हुआ,
उदायंस्त—नश्चाऽपदान्त०।

(2) उदायंस्त कूपादुदकम् (= कुयें से जल खींचा)

पूर्ववत् 'गन्धन' अर्थ न रहने से कित् नहीं हुआ।

(91) विभाषोपयमने *16* (2730)

यमः, सिच्, आत्मनेपदेष्विति वर्त्तते। यमेर्धातोरुपयमने वर्त्तमानात् परः सिच्प्रत्ययो विभाषा किद्भवति आत्मनेपदेषु परतः। उपायत कन्याम्, उपायंस्त कन्याम्। उपायत भार्याम्, उपायंस्त भार्याम्। उपयमनं स्वीकरणं विवाहः, दारकर्म पाणिग्रहणमित्यर्थः। 'उपाद्यमः स्वकरणे' (1.3.56) इत्यात्मनेपदम्।

अर्थ—उपयमन अर्थ में वर्तमान 'यम्' से पर सिच् विकल्प से किद्वत् होता है, आत्मनेपद के विषय में। उपयमन = विवाह करना।

उदा० (1) उपायत कन्याम्
उप आ यम् त—आत्मनेपद, त, उपाद्यमः स्वकरणे,
उपा अ यम् स् त—सिच् विकल्प से कित् हुआ, कित् पक्ष में अनुनासिक लोप,

(2) उपायत।

(2) उपायंस्त कन्याम्
अकित् पक्ष में अनुनासिकलोप नहीं हुआ। अनुस्वार हुआ।

(92) स्थाघ्वोरिच्च *17* (2389)

सिजात्मनेपदेष्विति वर्तते। तिष्ठतेर्धातोः घुसंज्ञकानां च इकारश्चान्तादेशः सिच्च किद्भवति आत्मनेपदेषु परतः। उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत। घुसंज्ञकानाम्-अदित, अधित।

अर्थ—स्था तथा घुसंज्ञक धातुओं से पर सिच् कित् होता है तथा इनके अन्त्य अल् के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है, आत्मनेपद के विषय में।

'दाधाघ्वदाप्' के द्वारा 'दाप्' को छोड़कर दारूप व धारूप धातुओं की घुसंज्ञा होती है।

षष्ठ्यन्त के द्वारा निर्देश होने से 'इत्' आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

'इत् में तपर निर्देश है। अत: ह्रस्व इकार आदेश होता है।

'स्था' धातु परस्मैपदी है, परन्तु 'उपाद्देवपूजासङ्गति...वाच्यम्' से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) उपास्थित

उप स्था स् त—आत्मनेपद, त, सिच्, अकर्मकाच्च,

उप अ स्था स् त—सिच् कित् हुआ तथा इत् आदेश हुआ, गुणनिषेध,

उप अ स्थि स् त → उपास्थित—ह्रस्वादङ्गात्।

(2) उपास्थिषाताम्

उप स्था आताम्—पूर्ववत्,

उप अ स्थि स् आताम्—उपास्थिषाताम्।

(3) उपास्थिषत

उप अ स्था स् झ—आत्मनेपदेष्वनतः, सिच् कित्, इत्त्व,

उप अ स्थि स् अत—उपास्थिषत।

(4) अदित

अट् दा त—लुङ्, अट्, त,

अ दा स् त—सिच् कित्, इत्त्व, गुणनिषेध,

अदित—ह्रस्वादङ्गात्

(5) अधित

अट् धा स् त → अधित।

इच्च कस्य तकारेत्त्वं दीर्घो मा भूदृतेऽपि सः।
अनन्तरे प्लुतो मा भूत् प्लुतश्च विषये स्मृतः॥
(म०भा०, वा० 1-5)

प्रकृतं सूत्रस्थ 'इत्' पद के तपरकरण को पतञ्जलि ने व्यर्थ माना है। 'इत्' में तपरकरण व्यर्थ है, कारण कि 'घुमास्थागापा०' के द्वारा दीर्घ ईकार सिद्ध है। अतः तपरकरण के विना भी दीर्घ ईकार की निवृत्ति हो जाती है। प्रथम तो विधानसामर्थ्य से यहाँ ह्रस्व इकार ही होगा; दूसरे 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति' इस परिभाषा के आश्रय से भी ह्रस्व इकार ही होता है।[1]

तपरकरण का प्रयोजन प्लुतत्व की निवृत्ति मानना भी अनुचित है। कारण कि, दूर से आह्वान करने में ही प्लुत होता है। यदि प्लुतत्व सर्वत्र होने लगता तो 'दूराद्धूते च' सूत्र व्यर्थ हो जाता है। अतः प्लुत के वारणार्थ 'इत्' तपरकरण व्यर्थ प्रतीत होता है। वस्तुतः 'इत्' में तकार मुखसुखार्थ है।[2]

परस्मैपद में 'गातिस्थाघु०' के द्वारा 'स्था' तथा घुसंज्ञक धातुओं से पर सिच् का लोप हो जाता है। वहाँ सिच् न रहने से कित्त्व किसे होगा ? तब प्रकृत सूत्र केवल आत्मनेपद में चरितार्थ होता है। अतः काशिकाकार के द्वारा प्रकृतसूत्र में 'आत्मनेपद' का अनुवर्त्तन किया जाना अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

यहाँ सिच् को किद्वत् करने का प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। 'इत्' पद में ह्रस्व इकार करने से ही ह्रस्वविधानसामर्थ्य से गुण की निवृत्ति हो जाती है। अतः कित्त्वविधान व्यर्थ है। न्यासकार कहता है कि इत् विधान का प्रयोजन गुणनिवृत्ति नहीं है, अपितु उच्चारणलाघव है तथा कित्त्वविधान गुणनिषेध के लिए है।[1]

(93) न क्त्वा सेट् *18* (3322)

क्त्वाप्रत्ययः सेण्न किद्भवति। देवित्वा, वर्त्तित्वा। सेडिति किम्? कृत्वा, हृत्वा। क्त्वाग्रहणं किम्? निगृहीतिः (का०सं० 20.5), उपस्निहितिः, निकुचितिः।

अर्थ—सेट् क्त्वा कित् नहीं होता है।

उदा० (1) देवित्वा

दिव् क्त्वा → दिव् इ त्वा—वलादिक इट्, कित्त्व का निषेध,

देवित्वा—'पुगन्तलघू०' से गुण, सु, सुलुक्।

(2) वर्त्तित्वा

वृत् त्वा → वृत् इ त्वा—पूर्ववत् गुण,

वर्त्तित्वा।

सेडिति० अर्थात् सेट् क्त्वा कित् नहीं होता है—

(1) कृत्वा

कृ क्त्वा—यहाँ 'एकाच उपदेशे०' से इट् का निषेध, अतः प्रकृत सूत्र से विहित निषेध नहीं हुआ,

कृत्वा—क्क्ङिति च।

(2) हृत्वा

हृ क्त्वा (पूर्ववत्)।

क्त्वाग्रह० अर्थात् सेट् क्त्वा ही कित् नहीं होता है—

(1) निगृहीतिः

नि ग्रह् क्तिन् → नि ग्रह् इ ति—सेट् है, परन्तु क्त्वा नहीं है। अतः कित्व का निषेध नहीं हुआ,

नि गृह् इ ति → निगृहीतिः—सम्प्रसारण, दीर्घ, सु।

(2) उपस्निहितिः

उप स्निह् इ क्तिन् (पूर्ववत्)।

(3) निकुचितिः

1. महा० 1.2.17
1. न्यास० 1.2.17

1. न्यास० 1.2.17.

नि कुच् इ क्तिन् (पूर्ववत्)।

न सेडिति कृतेऽकित्त्वे निष्ठायामवधारणात्।
ज्ञापकान्न परोक्षायां सनि झल्ग्रहणं विदुः॥
(म०भा० 1.200)

इत्वं कित्सन्नियोगेन रेण तुल्यं सुधीवनि।
वस्वर्थं किदतीदेशान्निगृहीतिः प्रयोजनम्॥
(म०भा०,वा० 1-9)

महाभाष्यकार ने प्रकृत सूत्र में 'क्त्वा' पद को व्यर्थ माना है। इस सम्बन्ध में काशिकाकार ने पतञ्जलि की एक कारिका को उद्धृत किया है—

न सेट्—प्रकृत सूत्र का 'न सेट्' इतना स्वरूप पर्याप्त है। इसमें क्त्वा ग्रहण व्यर्थ है।

अकित्त्वे—इस पर शङ्का है कि 'न सेट्' इतना न्यास किए जाने की दशा में प्रत्येक सेट् प्रत्यय अकित् हो जायेगा। तब 'गुथितः' आदि प्रयोगों में गुण प्राप्त होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अतः क्त्वाग्रहण सार्थक है।

निष्ठायामवधारणात्—'निष्ठा शीङ्स्वि०' के द्वारा अवधारण किया गया है कि 'शीङ्' आदि धातुओं से निष्ठासंज्ञक प्रत्यय कित् होता है, अन्य धातुओं से नहीं। तब 'गुथितः' में 'क्त' के कित्त्व का प्रतिषेध न होकर गुण की प्राप्ति न होगी। अतः प्रकृत सूत्र में क्त्वाग्रहण व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि 'जग्मिव' इस स्थल पर 'असंयोगा०' से लिट् प्रत्यय कित् हुआ। 'न सेट्' न्यास की दशा में कित्त्व का निषेध होकर 'गमहनजन०' (उपधालोप) की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।[1] अतः क्त्वाग्रहण सार्थक है।

ज्ञापकान्न परोक्षायाम्—सेट् लिट् में भी ज्ञापक होने से कित्त्व न हो सकेगा। अतः क्त्वाग्रहण व्यर्थ है।

सनि झल्ग्रहणं विदुः—'इको झल्' के द्वारा झलादि सन् को किद्वत् करने से ज्ञापित होता है कि 'न सेट्' के द्वारा औपदेशिक कित्त्व का ही निषेध होता है, आतिदेशिक का नहीं। यदि 'न सेट्' सूत्र सभी प्रकार के प्रत्ययों को अकित् कर देगा तो 'इको झल्' में झल्ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। यथा—'शिशयिषते' में झलादि सन् नहीं है। अतः 'इको झल्' के द्वारा कित्त्व नहीं हुआ। यदि 'न सेट्' के द्वारा आतिदेशिक कित्त्व का भी निषेध होता तो 'शिशयिषते' में कोई दोष उपस्थित नहीं होता और 'इको झल्' में झल् के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

1. पद० 1.2.18.

इससे ज्ञापित होता है कि 'न सेट्' आतिदेशिक कित्त्व का निषेध नहीं करता है। 'जग्मिव' में आतिदेशिक कित्त्व है। यहाँ कित्त्व निर्बाध होकर उपधालोप हो जायेगा। अतः 'क्त्वा' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि 'इको झल्' में झल् ग्रहण का पूर्वोक्त प्रयोजन उचित नहीं है। इको झल् में 'झल्' का पाठ उत्तरशास्त्र (स्थाघ्वोरिच्च) के लिए है।[1] यदि 'स्थाघ्वो०' में 'झल् पद' का अनुवर्त्तन नहीं करेंगे तो 'उपस्थायिषाताम्' में झलादि सन् नहीं रहने पर भी इत्त्व प्राप्त होता है। अतः क्त्वाग्रहण सार्थक है।

इत्वं कित् सन्नियोगेन रेणतुल्यं सुधीवनि—शङ्का है कि 'स्थाघ्वोरिच्च' के द्वारा कित्त्व के साथ इत्व का विधान है। यहाँ कित्त्व की प्रधानता है तथ इत्त्वादेश उसका सहयोगी है। 'उपस्थायिषाताम्' में 'न सेट्' से कित्त्व का निषेध हो जाने से इत्त्व भी नहीं होगा। रेणतुल्यम् अर्थात् इत्त्व रेफ के समान होता है। यथा—

'शोभना धीवानो यस्यां सा—सुधीवा' यहाँ 'अनो बहुव्रीहेः' के द्वारा ङीप् प्रत्यय के अभाव में 'वनो र च' से रेफ भी नहीं होता। इसी प्रकार 'उपस्थायिषाताम्' में कित्त्व की प्राप्ति न होने पर इत्त्व भी न होगा। अतः 'स्थाघ्वोरिच्च' में 'झल्' के अनुवर्त्तन की आवश्यकता नहीं है। 'इको झल्' में झल् पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'न सेट्' आतिदेशिक कित्त्व का प्रतिषेध नहीं करता है। अतः 'न सेट्' न्यास सार्थक है।

वस्वर्थम्—समाधान यह है कि 'क्वसु' के लिए यहाँ 'क्त्वा' का ग्रहण आवश्यक हो जाता है। 'जग्मिवान्' यहाँ 'क्वसु' हुआ है। 'क्वसु' औपदेशिक कित् है। यदि 'न सेट्' इस प्रकार न्यास होगा तो यहाँ कित्त्व का निषेध होकर उपधालोप प्राप्त नहीं होगा। अतः प्रकृत सूत्र में 'क्त्वा' पद चरितार्थ है।

किदतिदेशात्—'जग्मिवान्' में 'न सेट्' से औपदेशिक कित्त्व का प्रतिषेध हो जाने पर 'असंयोगाल्लिट्०' से आतिदेशिक कित्त्व की प्राप्ति होकर उपधालोप हो जायेगा। अतः क्त्वाग्रहण व्यर्थ है।

निगृहीतिः प्रयोजनम्—'नि ग्रह् इट् क्तिन्' इस दशा में 'न सेट्' से कित्त्व का प्रतिषेध होकर सम्प्रसारण नहीं हो सकेगा। अतः प्रकृत सूत्र में 'क्त्वा' पद सार्थक है।

1. पद० 1.2.18. ननु चोत्तरार्थं झल् ग्रहणम्।

(94) निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः *19* (3052)

न सेडिति वर्त्तते। शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि, धृष् इत्येतेभ्यः परो निष्ठाप्रत्ययः सेण्न किद्भवति। शयितः, शयितवान्। प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितवान्। प्रमेदितः, प्रमेदितवान्। प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान्। प्रधर्षितः, प्रधर्षितवान्। सेडित्येव–स्विन्नः, स्विन्नवान्। स्विदादीनाम् 'आदितश्च' (7.2.16) इति निष्ठायामिट् प्रतिषिध्यते। 'विभाषा भावादिकर्मणोः' (7.2.17) इति पक्षेऽभ्यनुज्ञायते। स विषयः कित्त्वप्रतिषेधस्य।

अर्थ—शी, स्विद्, मिद्, क्ष्विद् तथा धृष् धातुओं से पर सेट् निष्ठासंज्ञक प्रत्यय कित् नहीं होता है।

यहाँ हरदत्त[1] ने 'ञिष्विदा स्नेहमोचनयोः' का ग्रहण किया है तथा न्यासकार[2] ने 'ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे' का ग्रहण माना है।

उदा० (1) शयितः
शी क्त—निष्ठा, क्तक्तवतू निष्ठा, आर्धधातुकं शेषः,
शी इ त—आर्धधातुकस्येड्वलादेः, सेट् निष्ठा अकित् हुआ,
शयित सु → शयितः—गुण।

(2) शयितवान्
शी क्तवतु → शी इतवत्—पूर्ववत्,
शयितवत् सु → शयितवान्।

(3) प्रस्वेदित
प्र स्विद् क्त—प्र स्विद् इ त → अकित्, गुण,
प्रस्वेद् इ त सु → प्रस्वेदितः।[3]

(4) प्रस्वेदितवान्
पूर्ववत् गुण।

(5) मेदितः
मिद् इ क्त—पूर्ववत्,
मेदित सु → मेदितः।

(6) मेदितवान्
मिद् क्तवतु → मेदितवान्।

1. पद० 1.2.19.
2. न्यास० 1.2.19.
3. 'आदितश्च' के द्वारा 'स्विद्' धातु को विकल्प से इट् का प्रतिषेध होता है। 'विभाषा भावादिक०' से इट् होता है। यह रूप इट् पक्ष का है।

(7) प्रक्ष्वेदितः
प्र क्ष्विद् इ क्त (पूर्ववत्)।

(8) प्रक्ष्वेदितवान्
प्रक्ष्विद् क्तवतु (पूर्ववत्)।

(9) प्रधर्षितः
प्र धृष् क्त → इट् गुण आदि पूर्ववत्।

(10) प्रधर्षितवान्
प्र धृष् इ क्तवतु — प्रधर्षितवान्।

सेडि—'प्रस्वेदितः' प्रयोग सेट् की दशा में होता है। इट् के वैकल्पिक निषेध होने पर इट् पक्ष में 'विभाषा भावादि०' से इट् होता है।

विशेष—1. 'स्विदि' के द्वारा हरदत्त ने 'ञिष्विदा स्नेहमोचनयोः' (द्र०—धा० पा०, भ्वा० 496) का ग्रहण किया है। हरदत्त के अनुसार यहाँ दैवादिक 'स्विद्' धातु का ग्रहण नहीं है। हरदत्त के अनुसार दैवादिक 'स्विद्' धातु का पाठ ञि अनुबन्धपूर्वक नहीं है[1] तथा यहाँ साहचर्यवशात् ञीत् स्विद् (भौवादिक) का ही ग्रहण इष्ट है।

न्यासकार ने यहाँ दैवादिक 'स्विद्' (धा०पा०, दि० 77 ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे) का ग्रहण किया है।[2] न्यासकार का मत हमें उचित प्रतीत होता है। हरदत्त के द्वारा दैवादिक धातु को अञीत् बताया जाना चिन्तनीय है, कारण कि धातुपाठ में दोनों धातु (भौवादिक तथा दैवादिक) ञीत् ही पठित हैं।

2. इसी प्रकार यहाँ 'मिदि' के द्वारा दैवादिक (धा०पा०, दि० 129) 'मिद्' का ग्रहण किया जाता है, न कि भौवादिक 'मिद्' (धा०पा०, भ्वा० 495) का।

(95) मृषस्तितिक्षायाम् *20* (3055)

मृषेर्धातोस्तितिक्षायामर्थे निष्ठा सेण्न किद्भवति। तितिक्षा क्षमा। मर्षितः, मर्षितवान्। तितिक्षायामिति किम्? अपमृषितं वाक्यमाह।

अर्थ—क्षमा अर्थ में वर्त्तमान मृष् धातु से पर सेट् निष्ठा कित् नहीं होता है।

उदा० (1) मर्षितः

1. पद० 1.2.19. न तु 'ष्विदा गात्रप्रक्षरणे' इति दैवादिकस्य। ञीद्भिः साहचर्यात्, अस्य चाञीत्वात्।
2. न्यास० 1.2.19.

मृष् क्त → मृष् इ त—निष्ठा, क्तक्तवतू०, इट्, कित्त्व का निषेध,

मर्ष् इ त → गुण,

मर्षितः — सु।

(2) मर्षितवान्

मृष् क्तवतु → मृष् इ तवत्—पूर्ववत्,

मर्षितवान्।

तितिक्षा० अर्थात् 'क्षमा' अर्थ में ही सेट् निष्ठा अकित् होता है—

(3) अपमृषितम्

अप मृष् इ क्त—सेट् निष्ठा है परन्तु 'तितिक्षा' अर्थ नहीं है, कित्त्व का निषेध प्रवृत्त नहीं हुआ, गुणनिषेध,

अपमृषितम्—सु।

(96) उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् *21* (3056)

निष्ठा सेण्न किदिति वर्त्तते। उदुपधाद्धातोः परो भावे आदिकर्मणि च वर्त्तमानो निष्ठाप्रत्ययः सेडन्यतरस्यां न किद्भवति। द्युतितमनेन, द्योतितमनेन। प्रद्युतितः, प्रद्योतितः। मुदितमनेन, मोदितमनेन। प्रमुदितः, प्रमोदितः। उदुपधादिति किम्? लिखितमनेन। भावादिकर्मणोरिति किम्? रुचितं कार्षापणं ददाति। सेडित्येव-प्रभुक्त ओदनः। व्यवस्थितविभाषा चेयम्। तेन शब्विकरणानामेव भवति। 'गुध परिवेष्टने' (धा०पा० 1120) गुधितमित्यत्र न भवति।

अर्थ—भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में विद्यमान उदुपध धातु से पर सेट् निष्ठा विकल्प से कित् नहीं होता है।

उदुपध—ह्रस्व उकार है उपधा में जिसके। अन्यतरस्याम्—विकल्प से। आदिकर्म—क्रिया की प्रारम्भिक अवस्था।

धातु का अर्थ 'भाव' होता है। जहाँ न कर्त्ता वाच्य हो और न ही कर्म वाच्य हो, वहाँ धातु का अर्थ वाच्य होता है। इसे भाववाच्य कहते हैं।

उदा० (1) द्युतितम्

द्युत् क्त—'नपुँसके भावे क्तः', आर्धधातुक संज्ञा,

द्युत् इ त—'द्युत्' उदुपध है। अतः 'क्त' को विकल्प से अकिद्भाव हुआ,

द्युतितम्—कित् पक्ष में गुणनिषेध।

(2) द्योतितम्

पूर्ववत् वैकल्पिक अकित् प्राप्त हुआ। अकित् पक्ष में गुण हुआ।

(3) प्रद्युतितः

पूर्ववत्। कर्म में। आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या।

(4) प्रद्योतितः (पूर्ववत्)।

(5) मुदितम्

मुद् इ क्त—पूर्ववत् कित् पक्ष में गुणनिषेध,

मुदितम्।

(6) मोदितम्

अकित् पक्ष में गुण हुआ।

(7) प्रमुदितः

कर्म में पूर्ववत् गुणनिषेध।

(8) प्रमोदितः

कर्म में पूर्ववत् गुण।

उदुपधा० अर्थात् **ह्रस्व उकार उपधा** वाले धातु से पर सेट् निष्ठा विकल्प से अकित् होता है—

(1) लिखितम्

लिख् इ त—धातु उदुपध नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ।

भावादिक० अर्थात् **भाव** तथा **आदिकर्म** में ही उदुपध धातु से पर सेट् निष्ठा विकल्प से अकित् होता है—

(1) रुचितम्

रुच् इ त—धातु उदुपध है, निष्ठा सेट् है; परन्तु न तो 'भाव' तथा न ही 'कर्म' है। अतः प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई—रुचितम्।

सेडि० अर्थात् **सेट्** निष्ठा ही विकल्प से अकित् होता है—

(1) प्रभुक्तः

प्र भुज् क्त—उदुपध धातु है, कर्मवाच्य है, निष्ठा है; परन्तु वह सेट् नहीं है,

प्रभुक्तः।

व्यवस्थ—यह एक व्यवस्थित विभाषा है। तब शप् विकरण वाले उदुपध धातु से पर सेट् निष्ठा विकल्प से अकित् होता है। यथा—

गुधितम्—'गुध्' धातु उदुपध है, इससे पर सेट् निष्ठा भी

है, परन्तु यह दैवादिक धातु है; इससे 'शप्' विकरण न होकर 'श्यन्' होता है। अतः अकित्त्व का विकल्प नहीं हुआ।

(97) पूङः क्त्वा च *22* (3051)

अन्यतरस्यामिति न स्वर्यते, उत्तरसूत्रे पुनर्वावचनात्। न सेडिति वर्त्तते। 'पूङश्च' इड्विहितः 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' (7.2.50) पूङश्चेति (7.2.51)। पूङः परो निष्ठाप्रत्ययः क्त्वा च सेण् न किद्भवति। पवितः, पवितवान्। क्त्वाप्रत्ययस्य 'न क्त्वा सेट्' (1.2.18) इति सिद्ध एव प्रतिषेधः। तस्य ग्रहणमुत्तरार्थम्। तथा चोक्तम्—'नित्यमकित्त्वमिडाद्यो क्त्वानिष्ठयोः क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्' (म०भा०) इति।

अर्थ—'पूङ्' धातु से पर सेट् निष्ठा तथा क्त्वा प्रत्यय कित् नहीं होते हैं।

उदा० (1) पवित:

पू इ क्त—'पूङश्च' से इट् पक्ष में गुण,

पो इ त → पवित सु — पवितः।

(2) पवितवान् (पूर्ववत्)।

(3) पवित्वा

पू इ क्त्वा → पवित्वा (पूर्ववत्)।

इडभाव पक्ष में क्रमशः पूतः, पूतवान् तथ पूत्वा बनते हैं।

क्त्वा—'पू' से पर सेट् क्त्वा को 'न क्त्वा सेट्' से कित्त्व का प्रतिषेध सिद्ध ही है। तब प्रकृतसूत्र में 'क्त्वा' का पाठ उत्तरशास्त्र के लिए किया गया है।

पूर्वसूत्र (उदुपधाद्भाव०—1.2.21.) में विकल्पविधि है तथा उत्तरसूत्र (नोपधात् थफा०—1.2.23) में पुनः विकल्प कहा गया है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा कित् निषेध नित्य होता है। कारण कि विकल्पविधियों के मध्य नित्य विधि हुआ करती है।

(98) नोपधात् थफान्ताद्वा *23* (3324)

निष्ठेति निवृत्तम्। नकारोपधाद्धातोस्थकारान्तात्फकारान्ताच्च परः क्त्वाप्रत्ययः सेड्वा न किद्भवति। ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा। श्रथित्वा, श्रन्थित्वा। गुफित्वा, गुम्फित्वा। नोपधादिति किम्? रेफित्वा, गोफित्वा। थफान्तादिति किम्? स्रंसित्वा, ध्वंसित्वा।

अर्थ—नकार उपधा वाले, थकारान्त तथा फकारान्त धातु से पर सेट् क्त्वा विकल्प से कित् नहीं होता है।

नोपध—नकार है उपधा में जिसके।

उदा० (1) ग्रथित्वा

ग्रन्थ् इ त्वा—क्त्वा, इट्, 'ग्रन्थ्' नोपध तथा थकारान्त है। इससे पर सेट् क्त्वा विकल्प से अकित् हुआ—

ग्रथित्वा—कित्त्व पक्ष में अनुनासिकलोप। अनिदितां हल उप०।

(2) ग्रन्थित्वा

अकित् पक्ष में अनुनासिक लोप न हुआ।

(3) श्रथित्वा

श्रन्थ् इ त्वा—पूर्ववत् अनुनासिकलोप।

श्रथित्वा।

(4) श्रन्थित्वा

अकित् पक्ष में।

(5) गुफित्वा

गुम्फ् इ त्वा—फकारान्त धातु 'गुम्फ्' से सेट् क्त्वा विकल्प से अकित् हुआ—

गुफित्वा—कित् पक्ष में।

(6) गुम्फित्वा

अकित् पक्ष में अनुनासिकलोप न हुआ।

नोपधा० अर्थात् नोपध धातु से पर सेट् क्त्वा को विकल्प से अकित्त्व होता है—

(1) रेफित्वा

रिफ् इ त्वा—सेट् क्त्वा है, धातु फकारान्त है परन्तु नोपध नहीं (इदुपध) है, कित्त्व का निषेध नहीं हुआ, रेफित्वा—गुण।

(2) गोफित्वा (पूर्ववत्)।

थफान्ता०—अर्थात् थकारान्त व फकारान्त धातु से पर सेट् क्त्वा विकल्प से अकित् होता है—

(1) स्रंसित्वा

स्रंस् इ त्वा—'स्रंस्' नोपध, है परन्तु न तो थकारान्त है तथा न ही फकारान्त है। अतः अकित्त्वनिषेध नहीं हुआ,

स्रंसित्वा—अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(2) ध्वंसित्वा (पूर्ववत्)।

(99) वञ्चिलुञ्च्यृतश्च *24* (3325)

वञ्चि, लुञ्चि, ऋत्-इत्येतेभ्यः परः क्त्वाप्रत्ययः सेड्वा न किद्भवति। वचित्वा, वञ्चित्वा। लुचित्वा, लुञ्चित्वा। ऋतित्वा, अर्तित्वा। 'ऋतेरीयङ्' (3.1.29) आर्धधातुके विकल्पितः (3.1.31)। स यत्र पक्षे नास्ति तत्रेदमुदाहरणम्। सेडित्येव-वक्त्वा।

अर्थ—वञ्च्, लुञ्च् तथा ऋत्—इन धातुओं से पर सेट् क्त्वा विकल्प से कित् नहीं होता है।

उदा० (1) वञ्चित्वा
वञ्च् इ क्त्वा—सेट् क्त्वा के कित्त्व का विकल्प से निषेध, कित्त्वनिषेध पक्ष में,
वञ्चित्वा।

(2) वचित्वा
कित्त्वनिषेध अभाव पक्ष में कित्त्व होकर अनुनासिकलोप हुआ।

(3) लुञ्चित्वा
लुञ्च् इ त्वा—कित्त्व का वैकल्पिक निषेध,
लुञ्चित्वा—अकित् पक्ष।

(4) लुचित्वा
कित् पक्ष में अनुनासिक लोप,
लुचित्वा।

(5) अर्तित्वा
ऋत् इ क्त्वा—कित्त्वनिषेध, गुण,
अर्त् इ त्वा → अर्तित्वा।

(6) ऋतित्वा
कित्त्व पक्ष में गुणनिषेध।

'ऋतेरीयङ्' (पा० 3.1.29) सूत्र के द्वारा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'ऋत्' को विकल्प से 'ईयङ्' आदेश होता है। ईयङ् अभाव पक्ष में ही उपर्युक्त रूप बनते हैं। ईयङ् पक्ष में 'अर्त्तीयित्वा' बनेगा। यथा—ऋत् ईयङ्। ऋतीय। ऋतीय इत्वा। तब नित्य अकित् होकर—'अर्त्तीयित्वा' बनता है।

सेडि० अर्थात् सेट् क्त्वा ही विकल्प से कित् नहीं होता है—

(1) वक्त्वा
वञ्च् क्त्वा—'उदितो वा' से वैकल्पिक इट्, इट् अभाव पक्ष में कित् निषेध नहीं हुआ,
वच् त्वा → वक्त्वा—अनुनासिक लोप।

(100) तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य *25* (3326)

'न क्त्वा सेट्' (1.2.18) इति प्रतिषेधे प्राप्ते कित्त्वं विकल्प्यते। तृषि, मृषि, कृशि-इत्येतेभ्यः परः क्त्वा-प्रत्ययः सेट् काश्यपस्याचार्यस्य मते वा न किद्भवति। तृषित्वा, तर्षित्वा। मृषित्वा, मर्षित्वा। कृशित्वा, कर्शित्वा। काश्यपग्रहणं पूजार्थम्। वेत्येव हि वर्त्तते (म० भा०)।

अर्थ—तृष्, मृष् व कृश् धातुओं से पर सेट् क्त्वा विकल्प से कित् नहीं होता है।

उदा० (1) तृषित्वा
तृष् इ क्त्वा → विकल्प से कित् का निषेध हुआ,
तृषित्वा—कित् पक्ष में गुणनिषेध।

(2) तर्षित्वा
अकित् पक्ष में गुण हो गया।

(3) मृषित्वा
पूर्ववत् गुणनिषेध हुआ।

(4) मर्षित्वा
अकित् पक्ष में गुण।

(5) कृशित्वा (पूर्ववत्)।

(6) कर्शित्वा (पूर्ववत्)।

चूँकि प्रस्तुत सूत्र में 'वा' पद का अनुवर्त्तन हो रहा है। अतः 'काश्यप' पद का ग्रहण सत्कार के लिए है।

(101) रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च *26* (2617)

वेति वर्त्तते 'सेट्' इति च। उश्च इश्च वी। वी उपधे यस्य स व्युपधः। उकारोपधादिकारोपधाच्च धातोः रलन्ताद्धलादेः परः संश्च क्त्वा च सेटौ वा कितौ भवतः। द्युतित्वा, द्योतित्वा। दिद्युतिषते, दिद्योतिषते। लिखित्वा, लेखित्वा। लिलिखिषति, लिलेखिषति। रलः इति किम्? देवित्वा, दिदेविषति। व्युपधादिति किम्? वर्त्तित्वा, विवर्त्तिषते। हलादेरिति किम्? एषित्वा, एषिषिषति। सेडित्येव-भुक्त्वा। बुभुक्षते।

अर्थ—उ + इ = वी। 'वि' है उपधा में जिसके, उसे 'व्युपध' कहते हैं। हलादि—जिसके आदि में हल् है।

'रल्' एक प्रत्याहार है। इसमें 'हयवरट्' के 'र्' से लेकर 'हल्' के 'ल्' पर्यन्त सभी वर्ण आते हैं। 'रल्' प्रत्याहार में य तथा व को छोड़कर सभी व्यञ्जन वर्ण होते हैं।

सूत्रार्थ—इवर्ण-उवर्ण है जिसकी उपधा में, ऐसे हलादि व रलन्त धातु से पर सेट् क्त्वा सेट् सन् विकल्प से कित् नहीं होता है। सूत्र का सार इस प्रकार है—

(क) धातु हलादि हो,
(ख) धातु के अन्त में 'रल्' वर्ण हो,
(ग) धातु की उपधा में इकार या उकार हो,

तो सेट् क्त्वा व सेट् सन् विकल्प से कित् नहीं होता है।

उदा० (1) द्युतित्वा

द्युत् इ त्वा—धातु के उपधा में उकार है, धातु के आदि में हल् (द्) है, धातु के अन्त में 'रल्' (त्) है। अतः विकल्प से क्त्वा कित् नहीं हुआ,

द्युतित्वा—कित् पक्ष में गुणनिषेध।

(2) द्योतित्वा

अकित् पक्ष में गुण हुआ।

(3) दिद्युतिषते

द्युत् सन् → द्युत् इ स—पूर्ववत् विकल्प से अकित् हुआ,

दिद्युतिषते—द्वित्व, अभ्यासकार्य, धातुसंज्ञा, 'त' प्रत्यय, कित् पक्ष में गुण का निषेध।

(4) दिद्योतिषते

अकित् पक्ष में गुण हो गया।

(5) लिखित्वा

लिख् इ त्वा—उपधा में इकार है, धातु के आदि में हल् (ल्) है, धातु के अन्त में 'रल्' (ख्) है। सेट् क्त्वा विकल्प से अकित् हुआ—

लिखित्वा—कित् पक्ष में गुण न हुआ।

(6) लेखित्वा

अकित् पक्ष में गुण हुआ।

(7) लिलिखिषति

लिख् इ सन्—पूर्ववत् सन् विकल्प से कित् नहीं हुआ,

लिलिखिषति—द्वित्व, अभ्यासकार्य, कित् पक्ष में गुणनिषेध।

(8) लिलेखिषति

पूर्ववत् अकित् पक्ष में गुण हुआ।

रलः अर्थात् रलन्त धातु से पर सेट् क्त्वा व सन् विकल्प से कित् नहीं होता है—

(1) देवित्वा

दिव् इ त्वा—धातु हलादि है, उपधा में इकार है; परन्तु धातु के अन्त में वकार है, जो 'रल्' नहीं है। अतः अकित् का निषेध नहीं हुआ—

देवित्वा—गुण हुआ।

(2) दिदेविषति

दिव् इ सन्—सन् के अकित्त्व का निषेध नहीं हुआ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, गुण हुआ,

दिदेविषति।

व्युपधा० अर्थात् इकार व उकार उपधा में हो, ऐसे धातु से पर सेट् क्त्वा व सन् विकल्प से कित् नहीं होते हैं—

(1) वर्त्तित्वा

वृत् इ त्वा—धातु के आदि में हल् (व्) है, धातु के अन्त में 'रल्' (त्) है, परन्तु उपधा में न तो इकार है, न ही उकार है। अकित् नित्य हुआ—

वर्त्तित्वा।

(2) विवर्त्तिषते

वृत् इ सन्—सन् नित्य कित् हुआ—

विवर्त्तिषते—गुणनिषेध।

हलादे० अर्थात् हलादि धातु से उत्तर सेट् क्त्वा व सन् विकल्प से कित् नहीं होते हैं—

(1) एषित्वा

इष् इ क्त्वा—सेट् क्त्वा है, धातु की उपधा में इकार है, धातु के अन्त में 'रल्' (ष्) है परन्तु धातु हलादि नहीं है। अतः अकित् नित्य हुआ—

एषित्वा—गुण।

(2) एषिषिषति

इष् इ सन्—पूर्ववत् सन् नित्य अकित् हुआ—

इ सि सि स → एषिषिषति।

सेड्० अर्थात् सेट् क्त्वा व सन् ही विकल्प से कित् होते हैं—

(1) भुक्त्वा

भुज् क्त्वा—धातु की उपधा में उकार है, धातु के अन्त में 'रल' (ज्) है, धातु के आदि में हल् (भ्) है, धातु से पर 'क्त्वा' है, परन्तु 'क्त्वा' सेट् नहीं है। कित् नित्य हुआ—

भुक्त्वा—गुणनिषेध, चोः कुः।

(2) बुभुक्षते

भुज् सन्—पूर्ववत् नित्य कित्त्व,

बुभुक्षते।

विशेष—1. 'व्युपधात्' पद में स्थित 'वी' (उ + इ) के द्वारा ह्रस्व उकार तथा ह्रस्व इकार का ही ग्रहण होता है। यदि ग्रहणक शास्त्र के द्वारा दीर्घ ऊकार व दीर्घ ईकार का ग्रहण कर लिया जाय तो लघूपध न रहने से 'पुगन्तलघूपध०' से गुण प्राप्त नहीं हो सकेगा।

(2) आचार्य पाणिनि 'इ' 'उ' का निर्देश करते समय सर्वत्र प्रत्याहारसूत्र ('अइउण्') क्रम का अनुसरण करते हैं। द्र 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' परन्तु प्रस्तुत सूत्र में पूर्वोक्त क्रम का व्यतिक्रम देखा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र का स्वरूप 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' इस प्रकार होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के न्यास की दशा में अर्थ की अस्पष्टता बनी रहती है। आचार्य ने 'यू' के स्थान पर 'वी' इस प्रकार न्यास स्पष्टता व मुखसुखार्थ किया है।

(102) ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः *27* (4)

ऊ इति त्रयाणामयं मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्रिकाणां प्रश्लिष्टनिर्देशः (तै०प्रा० 1.31)। 'ह्रस्वदीर्घप्लुत' इति द्वन्द्वैकवद्भावे पुँल्लिङ्गनिर्देशः। उऊऊ3 इत्येवंकालोऽज् यथाक्रमं ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्येवंसंज्ञो भवति। उकालो ह्रस्वः- दधि, मधु। ऊकालो दीर्घः-कुमारी, गौरी। ऊ3कालः प्लुतः-देवदत्त3 अत्र न्वसि। कालग्रहणं परिमाणार्थम्। दीर्घप्लुतयोः ह्रस्वसंज्ञा मा भूत्-आलूय, प्रलूय। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (6.1.71) इति तुग् न भवति। अज्ग्रहणं संयोगाच्समुदायनिवृत्त्यर्थम् (म०भा०)-प्रतक्ष्य, प्ररक्ष्य। ह्रस्वाश्रयस्तुङ् मा भूत्-तितउच्छत्रम्। 'दीर्घात्' (6.1.75) 'पदान्ताद्वा' (6.1.76) इति विभाषा तुङ् मा भूत्। ह्रस्वदीर्घप्लुतप्रदेशाः-'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (1.2.47), 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (7.2.25), 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (8.2.82)।

अर्थ—'ऊ' यह एकमात्रिक, द्विमात्रिक व त्रिमात्रिक—इन तीनों का प्रश्लेष है। 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' यहाँ समाहार द्वन्द्व में पुँल्लिङ्ग का निर्देश है।

उकाल (= एकमात्रिक), ऊकाल (= द्विमात्रिक) तथा उ3काल (= त्रिमात्रिक) अच् की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ व प्लुतसंज्ञा होती है। इस सूत्र के द्वारा अच् वर्णों की तीन संज्ञाएँ की गई हैं। ध्यातव्य है कि सभी अच् वर्णों की तीन-तीन संज्ञाएँ नहीं होती हैं। यथा—

लृकार की दीर्घ संज्ञा तथा एच् वर्णों की ह्रस्वसंज्ञा नहीं होती।

कुक्कुट की 'कु कू कू3' इस प्रकार ध्वनि में मात्राजनित आरोह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः आचार्य ने यहाँ दृष्टान्त रूप में 'अ' का ग्रहण न करके 'उ' का ग्रहण किया है।

(1) दधि

दकारोत्तरवर्त्ती अकार एकमात्रिक है। इसकी ह्रस्वसंज्ञा हुई। धकारोत्तरवर्त्ती इकार एकमात्रिक है। इसकी ह्रस्वसंज्ञा हुई।

(2) मधु

अकार की ह्रस्वसंज्ञा है। उकार की ह्रस्वसंज्ञा है।

(3) कुमारी

आकार व ईकार द्विमात्रिक हैं। अतः इनकी दीर्घसंज्ञा हुई।

(4) देवदत्त3 अत्र न्वसि

तकारोत्तरवर्त्ती अकार त्रिमात्रिक है। अतः प्लुतसंज्ञा हुई।

काल—सूत्र में 'काल' पद का ग्रहण परिमाण के लिए है। दीर्घ व प्लुत की ह्रस्व संज्ञा न हो। यथा—

(1) आलूय

आलूय—यहाँ 'ऊ' द्विमात्रिक है। इसकी दीर्घसंज्ञा हुई। यदि इसकी ह्रस्वसंज्ञा भी हो जाती तो 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता।

(2) प्रलूय

इसी प्रकार 'प्रलूय' में भी जानना चाहिए।

अज्ग्रह—सूत्र में 'अच्' पद के ग्रहण के तीन प्रयोजन हैं—

(क) ह्रस्वादि संज्ञा अच् वर्ण की ही होती है। अतः हल् वर्ण को ये संज्ञाएँ नहीं होती हैं।

(ख) संयोग की ह्रस्वादि संज्ञाएँ नहीं होती हैं। यथा—क्ष् (= क् ष्) की एक मात्रा हुई। इसकी ह्रस्वसंज्ञा प्राप्त हुई, परन्तु यह अच् नहीं है। अतः ह्रस्वसंज्ञा नहीं हुई। यदि 'क्ष्' की ह्रस्वसंज्ञा मान ली जाय तो 'प्रतक्ष्य' में 'ह्रस्वस्य पिति०' से 'तुक्' आगम की प्राप्ति होती है।

(ग) अच् समुदाय की दीर्घ आदि संज्ञाएँ नहीं होती हैं। यथा—'तितउच्छत्रम्' यहाँ तकारोत्तरवर्त्ती अकार तथा उकार—इन्हें मिलाकर 'अउ' समुदाय द्विमात्रिक हुआ। इस समुदाय की दीर्घसंज्ञा प्राप्त हुई, परन्तु यह अच् समुदाय है। अतः दीर्घसंज्ञा नहीं हुई। यदि इसकी दीर्घसंज्ञा मान ली जाय तो 'पदान्ताद्वा' के द्वारा 'तुक्' का विकल्प प्राप्त होता है।

ह्रस्वसंज्ञा का फल है—
ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य।

दीर्घसंज्ञा का फल है—
अकृत् सार्वधातुकयोर्दीर्घः।

प्लुतसंज्ञा का फल है—
वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः।

(103) अचश्च *28* (35)

परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। ह्रस्वदीर्घप्लुताः स्वसंज्ञया शिष्यमाणा अच एव स्थाने वेदितव्याः। वक्ष्यति–'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (1.2.47)। रै–अतिरि। नौ–अतिनु। गो–उपगु। अच इति किम्? सुवाग् ब्राह्मण-कुलम्। 'अकृत्सार्वधातुकयोदीर्घः' (7.4.25)–चीयते, श्रूयते। अच इति किम्? भिद्यते, छिद्यते (म०भा०)। 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (8.2.82)–देवदत्त3, यज्ञदत्त3। अच इति किम्? अग्निचि3त्। सोमसु3त्। तकारस्य मा भूत्। * स्वसंज्ञया विधाने नियमः * (म०भा०)। अजिति वर्त्तते। इह मा भूत्–द्यौः, पन्थाः, सः। द्युभ्याम्, द्युभिः। अत्र नियमो नास्ति।

अर्थ—ह्रस्व हो, दीर्घ हो, प्लुत हो—इस प्रकार विधीयमान ह्रस्वादि (कार्य) अच् के स्थान पर ही होता है।

'अचः' पद में स्थानषष्ठी है, अवयवषष्ठी नहीं।

उदा० (1) अतिरि

अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—समासकार्य होकर,

अति रै—प्रातिपदिक संज्ञा, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदि०' से ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ, 'अचश्च' के द्वारा 'अच्' के स्थान पर प्राप्त हुआ, 'एच इग्घ्रस्वादे०' से इकार हुआ,

अतिरि—सु, सुलुक्।

(2) उपगु

गोः समीपम्—अव्ययं विभक्तिसमीप०, उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जनं पूर्वम्,

उपगो—पूर्ववत् ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ, 'अचश्च' से 'अच्' के स्थान पर प्राप्त हुआ, 'एच इग्घ्रस्वा०' से उकार हुआ—

उपगु—सु, सुलुक्।

अच इति—'अचः' पद में स्थानेयोगा षष्ठी होने से 'सुवाग् ब्राह्मणकुलम्' यहाँ ह्रस्व नहीं होता है। कारण कि 'सुवाग्' शब्द अजन्त नहीं, हलन्त है। यदि यहाँ अवयवषष्ठी मान ली जाय तो 'वाग्' के अवयव आकार को मध्य में स्थित होने पर भी ह्रस्व हो जाता।

इसी प्रकार 'चीयते' व 'श्रूयते' में 'अकृत्सार्वधातुक०' से दीर्घ हो जाता है; 'भिद्यते' में अवयव इकार को दीर्घ नहीं होता है। तब 'छिद्यते' में भी दीर्घ नहीं होता है।

'अचः' कहने से 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' के द्वारा 'देवदत्त3' में अकार प्लुत हो जाता है; परन्तु 'अग्निचि3त्' में तकार को प्लुत नहीं हुआ। कारण कि तकार अच् नहीं है।

स्वसंज्ञया०—अपनी सञ्ज्ञा से स्पष्टतः विधीयमान ह्रस्वादि ही अच् के स्थान पर होते हैं अर्थात् ह्रस्व हो, दीर्घ हो—इस प्रकार ह्रस्व आदि का नाम लेकर जब विधान किया जायेगा तब ये अच् के स्थान पर होंगे, अन्यथा नहीं। यथा—

(1) द्यौः

'दिव् सु' इस दशा में 'दिव औत्' सूत्र के द्वारा 'दिव्' को 'औत्' आदेश किया गया है। यद्यपि 'औत्' वर्ण दीर्घ होता है, तदपि यहाँ 'दीर्घ हो' ऐसा स्पष्टतः विधान न होने के कारण 'औत्' आदेश 'अचश्च' परिभाषा के बल पर 'अच्' के स्थान पर प्रवृत्त नहीं होगा तथा 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा अन्त्य वर्ण वकार के स्थान पर होता है।

दि औ स्। द्यौस्। द्यौः।

(2) पन्थाः

पथिन् सु—

पथि आ सु—पथिमथ्यृभुक्षामात्

'आ' आदेश प्राप्त हुआ। 'आ' की दीर्घसंज्ञा है। अतः 'अचश्च' से 'अच्' के स्थान पर प्राप्त हुआ। चूँकि 'दीर्घ हो' ऐसा साक्षात् विधान नहीं किया गया है, अतः 'अचश्च' की प्रवृत्ति नहीं होती है। अन्त्य परिभाषा के द्वारा नकार के स्थान पर होता है।

पथ आ सु—इतोऽत् सर्वनामस्थाने

पन्थ आ सु—थोन्थः

पन्था सु—अकः सवर्णे दीर्घः

पन्थाः—रुत्व, विसर्ग।

(3) सः

तद् सु—

त अ सु—त्यदादीनामः

स स्—तदोः।

सः।

'त्यदादीनामः' के द्वारा 'अ' का विधान किया गया है। यद्यपि 'अ' की ह्रस्वसंज्ञा है, तथापि 'ह्रस्व हो' इस प्रकार साक्षात् विधान न होने के कारण 'अ' आदेश 'अचश्च' के द्वारा 'अच्' के स्थान पर न होकर अन्त्य वर्ण को होता है।

(4) द्युभ्याम्
दिव् भ्याम्—'दिव उत्' से उकार
दि उ भ्याम्—पूर्ववत् 'अचश्च' की प्रवृत्ति नहीं हुई,
द्युभ्याम्—यण्।

(5) द्युभिः
दिव् भिस् → द्युभिः।

(104) उच्चैरुदात्तः *29* (5)

अजिति वर्त्तते। उदात्तादिशब्दाः स्वरे वर्णधर्मे लोक-वेदयोः प्रसिद्धा एव; त इह तद्गुणेऽचि परिभाष्यन्ते। उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति। उच्चैरिति च श्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते उच्चैर्भाषते, उच्चैः पठतीति। किं तर्हि? स्थानकृतमुच्चत्वं संज्ञिनो विशेषणम्। ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते। तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति, यस्मिन्नुच्चार्य-माणे गात्राणामायामो निग्रहो भवति। रूक्षता अस्निग्धता स्वरस्य। संवृतता कण्ठविवरस्य। ये, ते, के। उदात्त-प्रदेशाः-'आद्युदात्तश्च' (3.1.3) इत्येवमादयः।

अर्थ—(ताल्वादि स्थानों के) ऊर्ध्वभागों से उच्चरित अच् की उदात्त संज्ञा होती है।

उच्चै—'उच्चैः' पद के द्वारा 'श्रवण का प्रकर्ष' अर्थ गृहीत नहीं होता। इसका अर्थ है—स्थानसम्बन्धी उच्चता।

ताल्वादि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है। वहाँ जो उस स्थान के उच्च भाग से उच्चरित हो, उसकी उदात्तसंज्ञा कही गई है। जिसके उच्चारण करने पर अवयवों का निग्रह व रूक्षता होती है तथा कण्ठविवर का संकोच होता है, वह उदात्त है।

उदा० (1) ते
यह उदात्त है।

(2) के (पूर्ववत्)।

(3) ये (पूर्ववत्)।

(105) नीचैरनुदात्तः *30* (6)

अजिति वर्तते। नीचैरुपलभ्यमानो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति। समाने स्थाने नीचभागे निष्पन्नोऽच् अनुदात्तः। यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्ववसर्गो मार्दवं भवति स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, कण्ठविरस्योरुता महत्ता। त्व, सम, सिम, नेमं इत्यनुच्चानि। नमस्ते रुद्र नीलकण्ठ सहस्राक्ष। अनुदात्तप्रदेशाः-'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (3.1.4) इत्येव-मादयः।

अर्थ—(ताल्वादि स्थानों के) निम्न भागों से उच्चार्यमाण अच् वर्ण की अनुदात्त संज्ञा होती है।

समाने—ताल्वादि सखण्ड भागों के निम्न भाग से उच्चारित अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है।

जिसके उच्चारण में अंगों की कोमलता, स्निग्धता व विस्तृतता होती है, वह अनुदात्तसंज्ञक होता है।

उदा० (1) त्व
अनुदात्त है।

(2) सम (पूर्ववत्)।

(3) सिम (पूर्ववत्)।

(106) समाहारः स्वरितः *31* (7)

अजिति वर्त्तते। उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति। सामर्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते, नाचौ। तौ समाह्रि-येते यस्मिन्नचि तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते। शिक्य॑म्, कन्या॑, सामन्यः॑, क्व॑। स्वरितप्रदेशाः-'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इत्येवमादयः।

अर्थ—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व—ये दोनों धर्म जिस अच् में विद्यमान हों, उसकी स्वरितसंज्ञा होती है।

सामर्थ्या० सामर्थ्यवश प्रस्तुत सूत्र में लोक व वेद में प्रसिद्ध उदात्त व अनुदात्त धर्मों का ग्रहण होता है, अचों का नहीं। इन दो गुणों का जहाँ समाहार होता है, उसकी स्वरितसंज्ञा होती है।

(1) शिक्य॑म्
स्वरित हुआ।

(2) कन्या॑ (पूर्ववत्)।

(3) सामन्यः॑ (पूर्ववत्)

(4) क्व॑ (पूर्ववत्)।

विशेष—1. उदात्तादि अच् वर्णों के धर्म हैं। उदात्त के लिए प्रायः कोई चिह्न प्रयुक्त नहीं होता। अनुदात्त के लिए वर्ण के नीचे पड़ी रेखा अंकित की जाती है। स्वरित के लिए वर्ण पर खड़ी रेखा अंकित होती है। कुछ संहिताओं में स्वरांकन का भिन्न प्रकार भी देखा जाता है।

2. सजातीय (अर्थात् एक ही स्थान वाले) अच् वर्णों में परस्पर तीन प्रकार के भेद होते हैं। यथा—

(1) कालकृत,

(2) स्थानभागकृत,

(3) नासिकाकृत।

'ऊकालोऽज्झस्व०' सूत्र के द्वारा कालकृत भेद—ह्रस्वदि बताये गये हैं। 'उच्चैरुदात्तः' इत्यादि पूर्वोक्त तीन सूत्रों के द्वारा स्थानभागकृत भेद कहे गए हैं 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उपर्युक्त भेदोपभेद के आधार पर अकार, इकार, उकार तथा ऋकार के 3×3×2 = 18 इस प्रकार 18-18 भेद होते हैं। ऌ के 12 (3×2×2 = 12) तथा ए, ओ, ऐ, औ—इनमें प्रत्येक के 12 (3×2×2 = 12) भेद होते हैं।

(107) तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् *32* (8)

उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारः स्वरितः इत्युक्तम्। तत्र न ज्ञायते कस्मिन्नंशे उदात्तः? कस्मिन्नंशेऽनुदात्तः? कियान् वा उदात्तः? कियान् वा अनुदात्त इति? तदुभयमनेनाख्यायते। तस्य स्वरितस्य आदावर्धह्रस्वमुदात्तम्। परिशिष्टमनुदात्तम्। अर्धह्रस्वमिति चार्द्धमात्रोपलक्ष्यते। ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। सर्वेषामेव ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वरितानामेष स्वरविभागः। शिक्यमित्यत्रार्द्धमात्रा आदित उदात्ता, अपरार्धमात्राऽनुदात्ता, एकश्रुतिर्वा। कन्या इत्यत्रार्द्धमात्राऽऽदित उदात्ता, अर्धमात्राऽनुदात्ता। माणवकं३ माणवक (8.2. 103) इत्यत्रार्धमात्राऽऽदित उदात्ताऽर्धतृतीयमात्रा अनुदात्ता।

अर्थ—उदात्त व अनुदात्त के समाहार को स्वरित कहा गया है। तब प्रश्न उठता है कि उदात्त का कितना अंश है तथा अनुदात्त का कितना?

स्वरित के आदि की आधी मात्रा उदात्त और शेष अनुदात्त होती है।

ह्रस्व—'ह्रस्व' का ग्रहण उपलक्षण है। सभी ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतों के स्वरित धर्म का यह स्वरविभाग है।

'शिक्यम्' यहाँ आदि की अर्ध मात्रा उदात्त है तथा शेष आधी मात्रा अनुदात्त है। इनका समाहार ही स्वरित होता है।

'कन्या' यहाँ आदि की अर्ध मात्रा उदात्त व शेष (अर्थात् डेढ़) मात्रा अनुदात्त है।

माणवक३ यहाँ आदि की अर्ध मात्रा उदात्त व शेष (ढाई मात्रा) अनुदात्त है।

(108) एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ *33* (3662)

त्रैस्वर्यं पदानां प्राप्ते दूरात्सम्बुद्धावैकश्रुत्यं विधीयते। एका श्रुतिर्यस्य तदिदमेकश्रुति, एकश्रुति वाक्यं भवति। दूरात् सम्बोधयति येन वाक्येन तत्सम्बोधनं सम्बुद्धिः, नैकवचनं सम्बुद्धिः। स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोधानमेकश्रुतिः। आगच्छ भो माणवक देवदत्त३। दूरादिति किम्? आगच्छ भो मांणवक देवदत्त।

अर्थ—सम्बुद्धि—(दूर से) बुलाना। दूर से सम्बोधन में वाक्य एकश्रुति रहता है।

भाव यह है कि दूर से बुलाने में वाक्य में पृथक्-पृथक् उदात्तादि स्वरों का श्रवण नहीं होता तथा एक ही प्रकार का स्वर सुनाई पड़ता है।

दूरात्—दूर से बुलाने में ही एकश्रुति होती है—
आगच्छ भो मांणवक देवदत्त,
यहाँ दूर से आह्वान नहीं है; अतः एकश्रुति नहीं हुई।

(109) यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु *34* (3663)

त्रैस्वर्येण वेदे मन्त्राः पठ्यन्ते, तेषां यज्ञक्रियायामपि तथैव प्रयोगे प्राप्ते एकश्रुतिर्विधीयते, जपन्यूङ्खसामानि वर्ज्जयित्वा। यज्ञकर्मणि मन्त्राणामैकश्रुत्यं भवति। अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० 8.44.16)। यज्ञकर्मणीति किम्? संपाठे माभूत्। अजपेष्विति किम्? ममांग्ने वर्च्चो विहवेष्वस्तु (ऋ० 10.128.1)। जपोऽनुकरणमन्त्रः। उपांशुप्रयोगः। अन्यूङ्खेति किम्? न्यूङ्खा ओकाराः षोडश। तेषु केचिदुदात्ताः, केचिदनुदात्ताः। असामस्विति किम्? ए३ विश्वं समत्रिणं दह३ (जै०सं०अ० 11)। सामानि वाक्यविशेषस्था गीतय उच्यन्ते। तत्रैकश्रुतिर्न भवति।

अर्थ—वेद में मन्त्रों का पाठ उदात्तादि तीनों स्वरों के साथ होता है। उनका यज्ञक्रिया में प्रयोग प्राप्त होने पर एकश्रुति का विधान किया गया है।

यज्ञकर्म में (उदात्तादि स्वरों की) एकश्रुति होती है; जप, न्यूंख व साम को छोड़ कर।

जप—मन्द ध्वनि से बोलना। न्यूंख—आश्वलायन श्रौतसूत्र (7.11.) में पठित निगदविशेष।

उदा० अग्निर्मूर्द्धा.....।

यज्ञ—यज्ञकर्म में एकश्रुति होती है; वेदपाठ में नहीं।

अजपे० अर्थात् जप को छोड़कर एकश्रुति होती है। जप में उदात्तादि की स्पष्ट प्रतीति होती है।

अन्यूङ्ख—न्यूंख सोलह हैं। इनमें एकश्रुति नहीं होती है।

असाम—साममन्त्रों में भी एकश्रुति नहीं होती है।

(110) उच्चैस्तरां वा वषट्कारः *35* (3664)

यज्ञकर्मणीति वर्तते। यज्ञकर्मणि वषट्कारः उच्चैस्तरां वा भवति एकश्रुतिर्वा। वषट्शब्देनात्र वौषट्शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यैवेदं स्वरविधानम्। यद्येवं, वौषड्ग्रहणमेव कस्मान्न कृतम्? वैचित्र्यार्थम्। विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः। सोमस्याग्ने वीही3 वौ3षट्। सोमस्याग्ने वीही3 वौ3षट् (ऐ०ब्रा० 3.5.4.6)।

अर्थ—यज्ञकर्म में वषट्कार (अर्थात् 'वौषट्' शब्द) विकल्प से उदात्ततर होता है, पक्ष में एकश्रुति होती है।

सूत्र में साक्षात् 'वौषट्' शब्द का ग्रहण क्यों नहीं किया गया? आचार्य पाणिनि की रचना अत्यधिक विचित्र है। उन्होंने विचित्रता के लिए 'वौषट्' के स्थान पर 'वषट्' का प्रयोग किया है।

उदा० (1) सोमस्याऽग्ने वीही3 वौ3षट्
यहाँ उदात्ततर है।

(2) सोमस्याग्ने वीही3 वौ3षट्
पक्ष में एकश्रुति है।

(111) विभाषा छन्दसि *36* (3665)

छन्दसि विषये विभाषा एकश्रुतिर्भवति, पक्षान्तरे त्रैस्वर्यमेव भवति। वेति प्रकृते विभाषाग्रहणं यज्ञकर्मणीत्यस्य निवृत्त्यर्थम्। तेनायं स्वाध्यायकालेऽपि पाक्षिक एकश्रुत्यविधिर्भवति। इ॒षे त्वो॒र्ज्जे त्वां। इषे त्वोर्जे त्वा (वाज०सं० 1.1.1)। अग्न॒ आयांहि वी॒तयें। अग्न आयाहि वीतये (ऋ० 6.16.10)। अ॒ग्निमीं॒ले पु॒रोहिंतम्। अग्निमीले पुरोहितम् (ऋ० 1.1.1)। शन्नों दे॒वीर॒भिष्ट॑ये। शन्नो देवीरभिष्टये (ऋ० 10.9.4)।

अर्थ—वेद में तीनों स्वरों को विकल्प से एकश्रुति होती है। पक्ष में तीनों स्वर होते हैं।

इस प्रकार स्वाध्यायकाल में एकश्रुति विकल्प से होती है।

उदा० (1) इषे त्वोर्जे त्वा
एकश्रुति।

(2) इ॒षे त्वो॒र्जे त्वां
पक्ष में उदात्तादि।

(3) अग्न आ याहि वीतये
एकश्रुति।

(4) अ॒ग्न आ यांहि वी॒तयें
पक्ष में उदात्तादि।

(5) अग्निमीळे पुरोहितम्
एकश्रुति।

(6) अ॒ग्निमीळे पु॒रोहिंतम्
पक्ष में उदात्तादि।

(7) शन्नो देवीरभिष्टये
एकश्रुति।

(8) शन्नों दे॒वीर॒भिष्टंये
पक्ष में उदात्तादि।

(112) न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः *37* (3666)

सुब्रह्मण्या नाम निगदस्तत्र 'यज्ञकर्मणि' (1.2.34) इति 'विभाषा छन्दसि' (1.2.36) इति च एकश्रुतिः प्राप्ता प्रतिषिध्यते। सुब्रह्मण्यायामेकश्रुतिर्न भवति। यस्तु लक्षणप्राप्तः स्वरितस्तस्योदात्त आदेशो भवति। सुब्रह्मण्यो॒3मिन्द्रागच्छ, ह॒रिव आ॒गच्छ, मेधातिथेर्मेष वृ॒षणश्वस्य मेने गौ॒रावस्कन्दि॒न्न॒हल्यायै जार॒ कौ॒शिकब्राह्मण गौ॒तमब्रुवाण॒ श्वः सु॒त्यामागच्छ॒ मघवन् (श०ब्रा० 3.3.1.19)। अत्र सुब्रह्मण्योमित्योकारस्तित्स्वरेण स्वरितस्तस्योदात्तो विधीयते। इन्द्र आगच्छेत्यामन्त्रितमाद्युदात्तं द्वितीयो वर्णोऽनुदात्तः। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (8.4.66) इति स्वरितः प्रसक्तस्तस्यानेन उदात्तः क्रियते। तेन द्वावप्युदात्तौ सम्पन्नौ। आगच्छेत्याकार उदात्तः। ततः परोऽनुदात्तः स्वरितस्तस्यानेनोदात्तः क्रियते। तदेवमिन्द्र आगच्छेति चत्वार उदात्ताः। पश्चिम एकोऽनुदात्तः। हरिव आगच्छेत्यनयैव प्रक्रियया चत्वार उदात्ताः, द्वावनुदात्तौ। मेधातिथेरिति षष्ठ्यन्तं परमामन्त्रितमनुप्रविशति 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (2.1.2) इति। ततः सकलस्यामन्त्रिताद्युदात्तत्वे कृते द्वितीयमक्षरमनुदात्तं, तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य

स्वरितः' (8.4.66) इति स्वरितत्वे प्राप्ते इदमुदात्तत्वं विधीयते। तेन द्वावप्युदात्तौ भवतः। शेषमनुदात्तम्। 'वृषणश्वस्य मेने' इति समानं पूर्वेण। गौरावस्कन्दिन्निति तथैव द्वे आद्ये अक्षरे उदात्ते, शेषमनुदात्तम्। अहल्यायै जारेति सुबन्तस्यामन्त्रितानुप्रवेशात् तद्वदेव स्वरः द्वावुदात्तौ; शेषमनुदात्तम्। कौशिकब्राह्मणेति समस्तमामन्त्रितमाद्युदात्तं तत्र पूर्ववत् द्वावुदात्तौ। शेषमनुदात्तम्। एवं गौतमब्रुवाणेति द्वावुदात्तौ, शेषमनुदात्तम्। श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्निति श्वःशब्द उदात्तः, सुत्यामित्यन्तोदात्तः। 'संज्ञायां समजनिपदनिपतमनविदषुञ् शीङ्भृञिणः, (3.3.99) इति क्यपो विधाने उदात्त इति वर्त्तते। आगच्छेति द्वावुदात्तौ। अन्त्योऽनुदात्तः। मघवन्निति पदात्परमामन्त्रितं निहन्यते।

अर्थ—शतपथ ब्राह्मण में एक निगद का नाम 'सुब्रह्मण्या' है। सुब्रह्मण्या में एकश्रुति नहीं होती है।

सुब्रह्मण्या में जो स्वरित, उसे उदात्त होता है।

उदा० (1) सुब्रह्मण्यो३म् इन्द्रागच्छ

'ओकार' तित् होने से इसे 'तित्स्वरितम्' से स्वरित स्वर प्राप्त हुआ। तब उदात्त हुआ।

इसी प्रकार 'इन्द्रागच्छ' में आमन्त्रित आद्युदात्त है। दूसरा वर्ण अनुदात्त है। 'उदात्तादनुदा०' (8.4.66) से स्वरित प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा उदात्त हुआ।

(2) हरिव आगच्छ
यहाँ चार उदात्त तथा दो अनुदात्त हैं।

(3) मेधातिथेर्मेष
'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्०' (2.1.2)। आद्युदात्तत्व। दूसरा अच् (धकारोत्तरवर्ती आकार) अनुदात्त हुआ। इसे 'उदात्तादनुदा०' से स्वरित प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र से उदात्त हुआ।

(4) वृषणश्वस्य मेने (पूर्ववत्)।

(5) गौरावस्कन्दि
पूर्ववत् चार उदात्त तथा दो अनुदात्त हैं।

(6) अहल्यायै जार
पूर्ववत् चार उदात्त व दो अनुदात्त।

(7) कौशिक ब्राह्मण (पूर्ववत्)।

(८) गौतम ब्रुवाण (पूर्ववत्)।

(9) श्व सुत्यामागच्छ मघवन्

'श्व' उदात्त है। 'सुत्याम्' अन्तोदात्त है। 'सञ्ज्ञायां समजनि०' (3.3.99) 'उदात्त' की अनुवृत्ति है। 'आगच्छ' में दो उदात्त हैं। अन्तिम अनुदात्त है।

(113) देवब्रह्मणोरनुदात्तः *38* (3667)

सुब्रह्मण्यायामेव 'देवा ब्रह्माणः' इति पठ्यते। तत्र पूर्वेण स्वरितस्योदात्ते प्राप्तेऽनेनानुदात्तो विधीयते। देवब्रह्मणोः स्वरितस्यानुदात्त आदेशो भवति। देवा ब्रह्माण आगच्छत (श०ब्रा० 3.3.1.20)। द्वयोरपि पदयोरामन्त्रिताद्युदात्तत्वे शेषनिघाते चोदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः कृतस्तस्यानुदात्तो भवति।

अर्थ—देव, ब्रह्मन्—शब्दों को स्वरित के स्थान पर अनुदात्त होता है।

उदा० (1) देवा ब्रह्माण आगच्छत

यह सुब्रह्मण्या निगद में पठित है। अतः 'न सुब्रह्म०' से स्वरित को उदात्त प्राप्त हुआ।

दोनों पदों का आमन्त्रित अद्युदात्त हुआ। शेष निघात होकर उसे (उदात्त से पर रहने के कारण) स्वरित हुआ। तब स्वरित का अनुदात हुआ।

(114) स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् *39* (3668)

एकश्रुतिरिति वर्त्तते। संहितायां विषये स्वरितात्परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिर्भवति। इमं में गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० 10.75.5)। माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि। इममित्यन्तोदात्तम्, मे इति अनुदात्तम्, विधिकाल एव निघातविधानात्। तत्पुनः 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (8.4.66) इति स्वरितं सम्पद्यते। तस्मात्स्वरितात्परेषामनुदात्तानां गङ्गेप्रभृतीनामेकश्रुतिर्भवति। सर्व एते आमन्त्रितनिघातेनानुदात्ताः। माणवक जटिलकेति प्रथममामन्त्रितमाद्युदात्तं तस्य द्वितीयमक्षरं स्वरितं, ततः परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिर्भवति। संहताग्रहणं किम्? अवग्रहे मा भूत्-इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति (ऋ० 10.75.5)।

अर्थ—संहिता के विषय में स्वरित से उत्तर अनुदात्त को एकश्रुति होती है। वेदमन्त्रों का संकलन सहित रूप में किया गया है। इसे ही संहितापाठ कहते हैं। यहाँ इसी का ग्रहण है। जब

पदों को पृथक्-पृथक् दर्शा कर लिखा जाता है तो उसे 'पदपाठ' कहते हैं।

उदा० (1) इमं में गङ्गे यमुने

यहाँ 'मे' स्वरित है। इसके पश्चात् सभी अनुदात्तों को एकश्रुति हुई।

(2) माणंवक जटिलकाध्यापक (पूर्ववत्)।

संहिता० अर्थात् संहितापाठ में स्वरित से पश्चात् अनुदात्तों को एकश्रुति होती है—

(1) इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति

यहाँ संहितापाठ नहीं है। अतः एकश्रुति नहीं हुई।

(115) उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः *40* (3669)

अनुदात्तग्रहणमनुवर्त्तते। उदात्तः परो यस्मात्स उदात्तपरः, स्वरितः परो यस्मात्स स्वरितपरः। उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चानुदात्तस्य सन्नतर आदेशो भवति। अनुदात्ततरः इत्यर्थः। देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः (पै० 3.31.1)। मातर इत्यनुदात्तः। अप इत्यन्तोदात्तः 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (6.1.171) इति। तत्रानुदात्तयोरेकादेश ओकारोऽनुदात्तः। तस्योदात्ते परभूते सन्नतर आदेशो भवति। इमं में गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० 10.75.5)। इकारोऽनुदात्तः। शुतुद्रि इत्येतदामन्त्रितं पादादौ, तस्मान्न निहन्यते 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (8.1.18) इति। तस्य प्रथममक्षरमुदात्तम्, तस्मिन् परभूते पूर्वस्य सरस्वतीतीकारस्य सन्नतर आदेशो भवति। माणंवक जटिलकाध्यापक! क्वं गमिष्यसि। क्व इति स्वरितः, तस्मिन् परभूते क इति अनुदात्तस्य सन्नतर आदेशो भवति।

अर्थ—उदात्तपरक व स्वरितपरक अनुदात्त स्वर के स्थान में अनुदात्ततर होता है।

उदा० (1) देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः

'मातरः' यह सर्वानुदात्त है। अपः में 'ऊडिदम्पदा०' से अन्तोदात्त है। एकादेश अनुदात्त हुआ—मातरोपः। अनुदात्त से पर होने के कारण अनुदात्ततर हुआ।

(2) माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि

'क्व' स्वरित है। इसके परे रहते ककारोत्तरवर्ती अनुदात्त अकार को अनुदात्ततर हुआ।

(116) अपृक्त एकाल्प्रत्ययः *41* (251)

अपृक्त इतीयं संज्ञा भवति एकाल् यः प्रत्ययस्तस्य। असहायवाची एकशब्दः। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (3.2.58)–घृतस्पृक्। 'भजो ण्विः' (3.2.62)–अर्धभाक्, पादभाक्। एकालिति किम्? दर्विः (उ०सू० 502), जागृविः (उ०सू० 503) (म०भा० 1.2.43)। प्रत्यय इति किम्? सुराः। अपृक्तप्रदेशाः–'वेरपृक्तस्य' (6.1.67) इत्येवमादयः।

अर्थ—एकाल् रूप प्रत्यय (उपदेशकाल में अथवा अनुबन्धलोप होने पर) की 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

'एकाल्' पद में कर्मधारय समास है।

उदा० (1) घृतस्पृक्

घृतं स्पृशतीति → घृत स्पृश् क्विन्—स्पृशोऽनुदके०,

घृत स्पृश् विन्—लशक्वतद्धिते,

घृत स्पृश् वि → घृत स्पृश् व्—हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०,

घृत स्पृश्—अपृक्त एकाल्० से व् की अपृक्तसंज्ञा, वेरपृक्तस्य, सु, सुलोप,

घृतस्पृक्—'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से 'ख्', 'झलां जशोऽन्ते' से 'ग्' 'वाऽवसाने' से पक्ष में 'क्'।

(2) अर्धभाक्

अर्धं भजते—अर्ध भज् ण्वि—भजो ण्विः,

अर्ध भज् व्—चुटू, उपदेशेऽजनु०, अपृक्त एकाल्०, वेरपृक्तस्य, सु, सुलोप,

अर्धभाज्—प्रत्ययलक्षण, अचो ञ्णिति,

अर्धभाग्—चोः कुः,

अर्धभाक्—'वाऽवसाने' से पक्ष में ककार।

एकाल्० अर्थात् एकवर्णरूप प्रत्यय की अपृक्तसंज्ञा होती है—

(1) दर्विः

दृ विन् → वृदृभ्यां विन् (उ०सू० 4.53),

दृ वि—हलन्त्यम्, 'वि' एकवर्ण रूप नहीं है। अतः अपृक्त न हुई। तब 'वेरपृक्तस्य' से लोप प्रसक्त नहीं हुआ—

दर्वि सु → दर्विः—सार्वधातुकार्धधा०, सु।

(2) जागृविः

जागृ क्विन् → जागृ वि—हलन्त्यम्, लशक्वत०,
जागृवि—'वि' एकाल् नहीं है, अपृक्तसंज्ञा नहीं हुई,
जागृविः—सु।

प्रत्यय० अर्थात् एकाल् प्रत्यय की ही अपृक्तसंज्ञा होती है—

(1) सुराः

सुरां सुनोति—अन्येभ्योऽपि दृश्यते,

सुरा सुञ् क्विप् → सुरा सु—'क्विप्' का पूर्ववत् सर्वापहार लोप,

सुरासुत्—प्रत्ययलक्षण, तुक्, सु, 'स्' का लोप।

अब 'सुरासुतम् आचष्टे' की दशा में

सुरासुत् णिच्—णाविष्ठवत् कार्यं प्रातिपदिकस्य, टेः,

सुरा स् इ → सुरा स् इ क्विप्—क्विप्,

सुरा स्—णेरनिटि, सर्वापहारलोप, 'स्' अपृक्त है; परन्तु यह प्रत्यय नहीं है। अतः अपृक्त संज्ञा न हुई। अपृक्त संज्ञा हो जाती तो 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से लोप होकर अनिष्ट रूप प्राप्त हो जाता,

सुरास् सु—सुराः—सु, सुलुक्।

(117) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः *42* (745)

तत्पुरुष इति समासविशेषस्य संज्ञां वक्ष्यति। स तत्पुरुषः समानाधिकरणपदः कर्मधारयसंज्ञो भवति। अधिकरणशब्दोऽभिधेयवाची। समानाधिकरणः समानाभिधेयः। परमराज्यम्, उत्तमराज्यम्, 'अकर्मधारये राज्यम्' (6.2.130) इत्युत्तरपदाद्युदात्तं न भवति। पाचकवृन्दारिका (6.3.42)। तत्पुरुष इति किम्? पाचिकाभार्यः (6.3.37)। समानाधिकरण इति किम्? ब्राह्मणराज्यम्। कर्मधारयप्रदेशाः–'कर्मधारये निष्ठा' (6.2.46) इत्येवमादयः।

अर्थ—जिन पदों का समान आश्रय हो, उन पदों वाले तत्पुरुष समास की 'कर्मधारय' संज्ञा होती है।

अधिकरण = आश्रय। जहाँ एक ही द्रव्य में दो धर्म हों, उसे समानाधिकरण कहते हैं। व्याकरण शास्त्र में जिनमें एक समान विभक्ति हो, उन पदों को समानाधिकरण कहते हैं। यथा—

कृष्णः सर्पः—यहाँ 'कृष्णः' प्रथमान्त है तथा 'सर्पः' भी प्रथमान्त है। अतः दोनों पदों में सामानाधिकरण्य हुआ।

उदा० (1) परमराज्यम्

परमं राज्यम्—समास, सुप् लुक्, उपसर्जनसंज्ञा,

परमराज्य—प्रातिपदिक संज्ञा, कर्मधारय संज्ञा,

परमराज्यम्—सु, कर्मधारय न रहने पर उत्तरपद 'राज्यम्' को आदि उदात्त नहीं होता।

(2) पाचकवृन्दारिका

पाचिका चाऽसौ वृन्दारिका—वृन्दारकनागकुञ्जरैः, कर्मधारय संज्ञा,

पाचिका वृन्दारिका—'न कोपधायाः' से प्राप्त निषेध को बाध कर 'पुँवत् कर्मधार०' से पुँवद्भाव,

पाचकवृन्दारिका—सु, सुलुक्।

तत्पुरुष० अर्थात् समानाधिकरण तत्पुरुष की ही कर्मधारय संज्ञा होती है—

(1) पाचिकाभार्यः,

पाचिकाभार्या यस्य सः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समानाधिकरण बहुव्रीहि हुआ, समानाधिकरण तो है, तत्पुरुष नहीं है,

पाचिकाभार्य—कर्मधारय संज्ञा नहीं हुई,

पाचिकाभार्यः—सु।

समानाधि० अर्थात् समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है—

(1) ब्राह्मणराज्यम्

ब्राह्मणस्य राज्यम्—तत्पुरुष है, परन्तु दोनों पदों में सामानाधिकरण्य नहीं है। अतः कर्मधारय संज्ञा नहीं हुई,

ब्राह्मणराज्यम्—सु।

(118) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् *43* (653)

प्रथमया विभक्त्या यन्निर्दिश्यते समासशास्त्रे तदुपसर्जनसंज्ञं भवति। समास इति समासविधायिशास्त्रं गृह्यते। वक्ष्यति–'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (2.1.24) इति द्वितीयासमासे द्वितीयेत्येतत् प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयासमासे तृतीयेति, चतुर्थीसमासे चतुर्थीति, पञ्चमीसमासे पञ्चमीति, षष्ठीसमासे षष्ठीति, सप्तमीसमासे सप्तमीति। कष्टश्रितः। शङ्कुलाखण्डः (2.1.30)। यूपदारु (2.1.36)। वृकभयम् (2.1.37)। राजपुरुषः (2.2.8)। अक्षशौण्डः (2.1.40)। उपसर्जनप्रदेशाः–'उपसर्जनं पूर्वम्' (2.2.30) इत्येवमादयः।

अर्थ—समासे = समासविधायक शास्त्र में। प्रथमानिर्दिष्टम् = प्रथमा विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट जो पद, उसके द्वारा बोध्य शब्द।

समासविधायक शास्त्र में प्रथमा से निर्दिष्ट जो पद, उसके द्वारा बोध्य शब्द उपसर्जनसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कष्टश्रितः

कष्टं श्रितः—'द्वितीया श्रितातीत०' से समास, प्रातिपदिक संज्ञा, सुपों का लुक्—

कष्टश्रित—सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमान्त है, इसके द्वारा 'कष्टम्' पद का बोध होता है। 'कष्ट' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा,

कष्टश्रितः—'उपसर्जनं पूर्वम्' से पूर्वनिपात, प्रतिपदिक संज्ञा, सु।

(2) शङ्कुलाखण्डः

शङ्कुलया खण्डः 'तृतीया तत्कृतार्थे०' से समास,

शङ्कुला खण्ड—'तृतीया' पद प्रथमान्त है, इसके द्वारा 'शङ्कुला' शब्द का बोध होता है, उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,

शङ्कुलाखण्डः—सु।

(3) यूपदारु

यूपाय दारु → चतुर्थी तदर्थार्थ०, सुप् लुक्, 'चतुर्थी' पद के द्वारा 'यूप' का बोध होता है, 'यूप' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,

यूप दारु सु—सु, सु का लुक्,

यूपदारु।

(4) वृकभयम्

वृकाद् भयम्—'पञ्चमी' से समास, पूर्ववत् 'वृक्' की उपसर्जनसंज्ञा, इसका पूर्वनिपात, प्रातिपदिक संज्ञा,

वृकभयम्—सु।

(5) राजपुरुषः

राज्ञः पुरुषः—षष्ठी समास, सुप् लुक्, षष्ठ्यन्त 'राज्ञः' पद है। अतः 'राजन्' की उपसर्जन संज्ञा,

राजन् पुरुष—प्रातिपदिक संज्ञा, 'राजन्' के नकार का लोप,

राजपुरुषः—सु।

(6) अक्षशौण्डः

अक्षेषु शौण्डः—पूर्ववत् 'अक्ष' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,

अक्षशौण्ड सु—सु,

अक्षशौण्डः।

विशेष—1. ध्यातव्य है कि समासविधायक शास्त्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद की उक्त सञ्ज्ञा नहीं होती है, अपितु प्रथमानिर्दिष्ट पद जिसका वाचक है, उसकी उपसर्जनसञ्ज्ञा होती है। यथा 'अव्ययं विभक्ति—' सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमा से निर्दिष्ट है। अतः 'अव्यय' के द्वारा बोध्य उप, अधि, अनु आदि पदों की उपसर्जन सञ्ज्ञा होती है।

2. समास में प्रायः दो पद होते हैं। तब समास करते समय किस पद का पहले तथा किस पद का बाद में प्रयोग होता है—इस विषय में व्यवस्था की गई है। जिस पद की उपसर्जनसञ्ज्ञा होती है, उसका पूर्वनिपात किया जाता है।

3. अनेक स्थलों पर सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पदों की भी उपसर्जनसञ्ज्ञा होती है। यथा—'पूर्वापरप्रथम०' तथा 'सन्महत् परमो०' में प्रथमानिर्दिष्ट 'पूर्व' आदि शब्दों की उक्त सञ्ज्ञा होती है।

(119) एकविभक्ति चापूर्वनिपाते *44* (655)

एका विभक्तिर्यस्य तदिदमेकविभक्ति। समासे विधीयमाने यन्नियतविभक्तिकं द्वितीये सम्बन्धिनि बहुभिर्विभक्तिभिर्युज्यमानेऽप्येकयैव विभक्त्या युज्यते तदुपसर्जनसंज्ञं भवति अपूर्वनिपाते। पूर्वनिपातं पूर्वनिपाताख्यमुपसर्जनकार्यं वर्जयित्वा। * निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या * (वा० 1339)। पूर्वपदे नानाविभक्तिकेऽप्युत्तरपदं पञ्चम्यन्तमेव भवति। निष्क्रान्ता कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः। निष्क्रान्तं कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिम्। निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिना। निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बये। निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः। निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बेः। निष्क्रान्ते कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बौ। निर्वाराणसिः। एकविभक्तीति किम्? राजकुमारी। अपूर्वनिपात इति किम्? न हि भवति कौशाम्बीनिरिति।

अर्थ—अपूर्वनिपाते = जहाँ पूर्वनिपात कार्य न हो तथा उससे भिन्न कोई कार्य हो। एका विभक्तिर्यस्य तद्—एकविभक्ति—इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। समास के विग्रह की दशा में दो पद होते हैं; इनमें से एक पद में निश्चित विभक्ति होती है तथा दूसरे पद में विभक्त्यन्तर की दशा में भी इस निश्चित विभक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस निश्चित विभक्ति वाले पद को 'एकविभक्ति' कहते हैं। यह नीचे उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

सूत्रार्थ—यदि पूर्वनिपात से भिन्न कोई कार्य इष्ट हो तो नियतविभक्तिक (अर्थात् जिस में सदा व सर्वत्र एक समान विभक्ति रहे) शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होती है।

उदा० (1) निष्कौशाम्बिः

निष्क्रान्ता कौशाम्ब्याः—'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' (वा) से समास हुआ, 'कौशाम्बी' पद एकविभक्तिक है। इसकी उपसर्जन संज्ञा हुई। 'उपसर्जनं पूर्वम्' से प्राप्त पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, जिसका निषेध प्रकृत सूत्र के द्वारा हुआ,

निष्कौशाम्बिः—सु।

(2) निष्कौशाम्बिम्

निष्क्रान्तं कौशाम्ब्याः—पूर्ववत् 'कौशाम्बी' शब्द की उपसर्जन संज्ञा,

निष्कौशाम्बि अम्—द्वि० एकव०,

निष्कौशाम्बिम्।

(3) निष्कौशाम्बिना

निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्याः—पूर्ववत्,

निष्कौशाम्बि टा → निष्कौशाम्बिना।

(4) निष्कौशाम्बये

निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्याः—पूर्ववत्,

निष्कौशाम्बि ङे → निष्कौशाम्बये।

(5) निष्कौशाम्बेः

निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्याः—पूर्ववत्,

निष्कौशाम्बि ङसि → निष्कौशाम्बेः।

(6) निष्कौशाम्बेः

निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्याः—पूर्ववत्,

निष्कौशाम्बि ङस् → निष्कौशाम्बेः।

(7) निष्कौशाम्बौ

निष्क्रान्ते कौशाम्ब्याः—पूर्ववत्,

निष्कौशाम्बि ङि → निष्कौशाम्बौ।

एकविभ०—एकविभक्तिक पद की ही उपसर्जनसंज्ञा होती है—

(1) राजकुमारी

राज्ञः कुमारी—इसमें कुमारी पद एकविभक्तिक नहीं है। अतः उपसर्जन संज्ञा नहीं हुई,

राजकुमारी।

अपूर्व—पूर्वनिपात से भिन्न कार्य इष्ट हो तो एकविभक्तिक की उपसर्जनसंज्ञा होती है—

निष्क्रान्ता कौशाम्ब्याः—समास हुआ, 'कौशाम्बी' की उपसर्जनसंज्ञा हुई, परन्तु पूर्वनिपात नहीं होता है, अतः 'कौशाम्बीनिर्' नहीं होता है।

(120) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् *45* (178)

अभिधेयवचनोऽर्थशब्दः। अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा। डित्थः। कपित्थः। कुण्डम्। पीठम्। अर्थवदिति किम्? वनं धनमिति। नान्तस्यावधेर्मा भूत्। नलोपो हि स्यात् (8.2.7)। अधातुरिति किम्? हन्तेर्लङ्–अहन्। नलोपो हि स्यात्। अप्रत्यय इति किम्? काण्डे, कुड्ये (म०भा०)। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (1.2.47) इति ह्रस्वः स्यात्। *अनर्थकस्यापि निपातस्य प्रातिपदिकसंज्ञेष्यते* (म०भा०)। अध्यागच्छति, प्रलम्बते। प्रातिपदिकप्रदेशाः–ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (1.2.47) इत्येवमादयः।

अर्थ—अर्थवद् = सार्थक। 'अर्थ' शब्द अनेकार्थी है। यथा—

(क) प्रयोजन—देवः अमुकेनाऽर्थेनाऽत्रागतः।

(ख) निवृत्ति—मशकार्थो धूमः कृतः।

(ग) धन—देवः अर्थवान् अस्ति।

परन्तु प्रकृत सूत्रस्थ 'अर्थ' शब्द अभिधेय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अभिधेय चार प्रकार का होता है—

(क) जाति—'गो' आदि जातिवाचक शब्द है,

(ख) गुण—'शुक्ल' आदि गुणवाचक शब्द है,

(ग) द्रव्य—'कृष्ण' आदि द्रव्यवाचक शब्द है,

(घ) क्रिया—'पाचक' आदि क्रियावाची शब्द है।

'अधातुः' का अर्थ है—धातु को छोड़कर। 'अप्रत्ययः' का अर्थ है—प्रत्यय को छोड़कर। यहाँ 'प्रत्यय' शब्द के द्वारा 'प्रत्यय' और 'प्रत्ययान्त' दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ 'शब्दस्वरूप' पद का अध्याहार किया जाता है।

सूत्रार्थ—धातुरहित, प्रत्ययरहित व प्रत्ययान्तरहित सार्थक शब्दस्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

उदा० (1) डित्थः

डित्थ—यह धातु नहीं है, प्रत्यय नहीं है तथा प्रत्ययान्त भी नहीं है। यह शब्द अर्थवान् है। अतः प्रातिपदिक संज्ञा हुई,

डित्थः—सु।

(2) कपित्थः

कपित्थ—प्रातिपदिक संज्ञा,

कपित्थः—सु।

(3) कुण्डम्

पूर्ववत् प्रतिपदिक संज्ञा।

(4) पीठम्
पीठ सु—पूर्ववत्।
पीठम्।

अर्थवद्० अर्थात् **अर्थवान्** शब्द की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है—

(1) वनम्

वन—'वन्' अधातु व अप्रत्यय तो है, परन्तु अर्थवान् नहीं है। अतः प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हुई। यदि 'वन्' की प्रातिपदिक संज्ञा हो जाय तो 'न्' का लोप होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है—

वन सु—वनम्।

(2) धनम् (पूर्ववत्)।

अधातुः अर्थात् **धातुभिन्न** शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है—

(1) अहन्
हन् लङ् → हन् तिप् → अट् हन् त्—इतश्च,
अहन् शप् त् → अहन् त् → अहन्—कर्त्तरि शप्, अदिप्रभृतिभ्यः शपः, हल्ङ्याब्भ्यो०,

अहन्—प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः प्रत्ययान्त रहित हुआ व अर्थवान् भी हुआ, परन्तु धातु है। अतः प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हुई। प्रातिपदिक संज्ञा कर देने पर नलोप होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

अप्रत्ययः अर्थात् **प्रत्ययान्त** की प्रतिपदिक संज्ञा नहीं होती है—

(1) काण्डे
काण्डे—यह प्रथमा द्विवचनान्त रूप है। प्रत्ययान्त है, अतः प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हुई। प्रातिपदिक संज्ञा मान लेने पर 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

(2) कुड्ये

पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हुई।

अनर्थकस्याऽपि निपातस्य प्रातिपदिकसंज्ञेष्यते (वा०)—अनर्थक निपात की भी प्रतिपादिक संज्ञा होती है—

अध्यागच्छति—यहाँ 'अधि' और 'आ' अनर्थक निपात हैं। इसी प्रकार 'प्रलम्बते' में 'प्र' निपात है। इनकी प्रातिपदिक संज्ञा होकर पदसंज्ञा होती है। तब 'तिङ्ङतिङः' से अतिङन्त 'अधि' आदि से पर तिङन्त पद को अनुदात्त हो जाता है।

(121) कृत्तद्धितसमासाश्च *46* (179)

कृतस्तद्धिताः समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञा भवन्ति। अप्रत्ययः इति पूर्वसूत्रे पर्युदासात् कृदन्तस्य तद्धितान्तस्य चानेन प्रातिपदिकसंज्ञा विधीयते। अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थम् (म०भा०)। कृत्–कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता। तद्धितः–औपगवः, कापटवः। समासः–राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः। समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाद्वाक्यस्यार्थवतः संज्ञा न भवति।

अर्थ—कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

कृत् = कृदन्त, तद्धित = तद्धितान्त। अष्टाध्यायी में 'कृदतिङ्' (पा० 3.1.93) के अधिकार में कृत् प्रत्यय तथा 'तद्धिताः' (पा० 4.1.76) के अधिकार में तद्धितप्रत्यय पढ़े गए हैं।

अर्थवत्—अर्थवाले समुदायों के नियम के लिए 'समास' पद का ग्रहण किया गया है। 'अर्थवदधातुर०' के द्वारा अर्थवान् की प्रातिपदिक संज्ञा कही गई है। चूँकि समास भी अर्थवान् होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा प्रतिपदिक संज्ञा सिद्ध ही है। तब प्रकृत सूत्र में 'समास' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि अर्थवान् समुदाय की दशा में समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है तथा अर्थवान् वाक्य की यह संज्ञा नहीं होती है।

उदा० (1) कारकः
कृ ण्वुल्—ण्वुल्तृचौ, वृद्धि, युवोरनाकौ, प्रातिपदिकसंज्ञा,
कार् अक → कारकः — सु।

(2) हारकः
हृ ण्वुल् → हारकः (पूर्ववत्)।

(3) कर्त्ता
कृ तृच् → कर्तृ—तृच् हुआ, गुण,
कर्तृ सु—प्रातिपदिकसंज्ञा,
कर्त्ता।

(4) हर्त्ता
हृ तृच्—गुण, प्रातिपदिकसंज्ञा,
हर्त्ता—सु।

(5) औपगवः
उपगोरपत्यम् → उपगु अण्—तद्धित प्रत्यय, आदिवृद्धि, गुण,

औपगो अ → औपगव् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
औपगवः—सु।

(6) कापटवः (पूर्ववत्)।

(7) राजपुरुषः
राज्ञः पुरुषः—राजन् ङस् पुरुष ङस्—षष्ठी तत्पुरुष, प्रातिपदिक संज्ञा, सुपो धातुप्राति०,
राजन् पुरुष—प्रथमानिर्दिष्ट०, उपसर्जनं पूर्वम्,
राजपुरुष—'न्' का लोप, प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
राजपुरुषः।

(8) ब्राह्मणकम्बलः
ब्राह्मणस्य कम्बलः (पूर्ववत्)।

विशेष—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' के द्वारा 'टि' से पूर्व तद्धित प्रत्यय 'अकच्' होकर 'उच्चकैः' शब्द बनता है। इसी प्रकार 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' से 'बहुच्' आदि प्रत्यय शब्द से पूर्व होकर 'बहुपटुः' शब्द बनता है। 'उच्चकैः' तथा 'बहुपटुः' शब्द तद्धित प्रत्ययान्त नहीं होने के कारण इनकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती। इसका समाधान है कि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा के द्वारा उक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा निर्बाध हो जाती है।

(122) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य *47* (318)

नपुंसकलिङ्गेऽर्थे यत्प्रातिपदिकं वर्त्तते तस्य ह्रस्वो भवति आदेशोऽलोऽन्त्यस्याचः। अतिरि कुलम्। अतिनु कुलम्। नपुंसक इति किम्? ग्रामणीः, सेनानीः। प्रादिपदिकस्येति किम्? काण्डे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठतः। प्रातिपदिकग्रहणसामर्थ्यादेकादेशः पूर्वस्यान्तवन्न भवति।

अर्थ—नपुँसक लिंग में वर्त्तमान प्रातिपदिक को ह्रस्व आदेश होता है।

उदा० (1) अतिरि (कुलम्)
अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—समास, सुप् लुक्,
अति रै—प्रातिपदिक संज्ञा, प्रस्तुत सूत्र के द्वारा ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ,
अति रि सु—एच इग्घ्रस्वादेशे, सु,
अतिरि—स्वमोर्नपुंसकात्।

(2) अतिनु (कुलम्)
अतिक्रान्तं नावं यत् कुलम्—पूर्ववत् ह्रस्वादेश,
अति नौ → अति नु—सु, सुलुक्।

नपुंसके० अर्थात् नपुँसक लिंग में वर्त्तमान प्रातिपदिक को ह्रस्व आदेश होता है—

(1) ग्रामणीः
ग्रामं नयति → ग्राम नी → ग्रामणी—समास हुआ, प्रातिपदिक संज्ञा, नपुँसकलिंग नहीं है। अतः ह्रस्वादेश नहीं हुआ।
ग्रामणीः—सु।

(2) सेनानीः
पूर्ववत् ह्रस्व नहीं हुआ।

प्रातिपदि० अर्थात् प्रतिपदिकसंज्ञक शब्द को ह्रस्वादेश होता है।

(1) काण्डे (तिष्ठतः)
काण्डे—यह पदसंज्ञक है, प्रातिपदिकसंज्ञक नहीं है। अतः ह्रस्वादेश नहीं हुआ।

(2) कुड्ये (तिष्ठतः) (पूर्ववत्)।

प्रातिपदि—प्रातिपदिकग्रहणसामर्थ्य से एकादेश पूर्व का अन्तवत् नहीं होता है।

(123) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य *48* (656)

प्रातिपदिकस्येति वर्त्तते। गो इति स्वरूपग्रहणम्, स्त्रीति प्रत्ययग्रहणम्, स्वरितत्वात्। उपसर्जनग्रहणं तयोर्विशेषणम्-गोरुपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययान्तस्योपसर्जनस्येति। ताभ्यां प्रातिपदिकस्य तदन्तविधिः। उपसर्जनगोशब्दान्तस्य उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति। चित्रगुः। शबलगुः। स्त्रियाः-निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः, अतिखट्वः, अतिमालः। उपसर्जनस्येति किम्? राजकुमारी। स्वरितत्वं किम्? अतितन्त्रीः, अतिलक्ष्मीः, अतिश्रीः। * ईयसो बहुव्रीहेः प्रतिषेधो वक्तव्यः * (म० भा०) बहुश्रेयसी। विद्यमानश्रेयसी।

अर्थ—'गो' यह स्वरूप का ग्रहण है। 'स्त्री' यह प्रत्यय का ग्रहण है। टाप्, चाप्, डाप्, ङीप्, ङीष् तथा ङीन् स्त्रीप्रत्यय हैं। उपसर्जनसंज्ञक गो शब्दान्त प्रातिपदिक तथा उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्वादेश होता है।

उदा० (1) चित्रगुः
चित्रा गावो यस्य सः—'अनेकमन्यपदार्थे', प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, 'सप्तमी विशेषणे०' से 'चित्र' शब्द का पूर्वप्रयोग,

चित्र गो—सभी पद उपसर्जन हैं। गोशब्दान्त प्रातिपदिक को ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ,

चित्रगु सु → चित्रगुः।

(2) शबलगुः
शबला गावो यस्य सः—पूर्ववत् ह्रस्वादेश।

(3) निष्कौशाम्बिः
निर्गतः कौशाम्ब्याः—'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे०' से समास,

निर् कौशाम्बी—प्रातिपदिक संज्ञा, एकविभक्ति चाऽपूर्व०, स्त्रीप्रत्ययान्त 'कौशाम्बी' को ह्रस्वादेश हुआ,

निर् कौशाम्बि—विसर्जनीय, षत्व, 'खरवसान०' 'इदुदुपधस्य', प्रातिपदिकसंज्ञा,

निष्कौशाम्बिः—सु।

(4) निर्वाराणसिः
निर्गतः वाराणस्याः—पूर्ववत् ह्रस्वादेश।

(5) अतिखट्वः
अतिक्रान्तः खट्वा—उपसर्जनसंज्ञा, ह्रस्वादेश, प्रातिपदिक संज्ञा,

अतिखट्वः—सु।

(6) अतिमालः
मालाम् अतिक्रान्तः—पूर्ववत् ह्रस्वादेश।

उपसर्जन—उपसर्जनसंज्ञक को ही ह्रस्वादेश होता है—

(1) राजकुमारी
राज्ञः कुमारी—तत्पुरुष हुआ, प्रातिपदिक संज्ञा,

राजन् कुमारी—'कुमारी' शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त तो है, परन्तु इसकी उपसर्जनसंज्ञा नहीं है। प्रकृत सूत्र के द्वारा ह्रस्वादेश नहीं हुआ,

राजकुमारी—नकारलोप, सु, सुलोप।

स्वरित—स्त्रीप्रत्ययान्त का स्वरितत्व-कथन का प्रयोग है कि **'स्त्रियाम्'** के अधिकार में विहित प्रत्यय (टाप् आदि) हैं जिसके अन्त में, ऐसे उपसर्जनसंज्ञक को ह्रस्वादेश होता है—

(1) अतितन्त्रीः
तत्रि → तन्त् (इदितो नुम् धातोः) ई (अतितृस्तृ... उ०सू० 5.158) इस प्रकार 'तन्त्री' शब्द बनता है।

अतिक्रान्तः तन्त्रीम्—'अतितन्त्री प्रातिपदिक हुआ, उपसर्जन संज्ञा हुई, परन्तु 'तन्त्री' में स्त्रीप्रत्यय नहीं है। अतः ह्रस्वादेश नहीं हुआ।

(2) अतिलक्ष्मीः
यहाँ पूर्ववत् स्त्रीप्रत्यय न होने से ह्रस्वादेश नहीं हुआ।

(3) अतिश्रीः (पूर्ववत्)।

ईयसो बहुव्रीहेः प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—ईयसुन् प्रत्यय के साथ बहुव्रीहि समास में उक्त ह्रस्वादेश नहीं होता है—

(1) बहुश्रेयसी
अतिशयेन प्रशस्येति श्रेयसी—द्विवचनविभज्यो०, प्रशस्यस्य श्र., उगितश्च,

बह्व्यः श्रेयस्यो यस्याः सा—समास,

बहुश्रेयसी—ह्रस्वादेश नहीं हुआ, सु, सुलोप।

(2) विद्यमानश्रेयसी
विद्यमानाः श्रेयस्यो यस्याः—पूर्ववत्।

(124) लुक्तद्धितलुकि *49* (1408)

स्त्रीग्रहणमनुवर्त्तते उपसर्जनस्येति च। पूर्वेण ह्रस्वत्वे प्राप्ते लुग्विधीयते। तद्धितलुकि सति स्त्रीप्रत्ययस्य उपसर्जनस्य लुग्भवति। पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः (4.2.24)। दशेन्द्रः (4.1.88)। पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतः पञ्चशष्कुलिः (5.1.37,5.1.28)। आमलक्याः फलमामलकम् (4.3.144,163)। बदरम्। कुवलम्। तद्धितग्रहणं किम्? गार्ग्याः कुलं गार्गीकुलम्। लुकीति किम्? गार्गीत्वम्। उपसर्जनस्येत्येव-अवन्ती, कुन्ती, कुरूः।

अर्थ—'स्त्री' पद का ग्रहण है। 'उपसर्जनस्य' का भी (ग्रहण है)। पूर्व सूत्र के द्वारा ह्रस्वादेश प्राप्त होने पर लुक् का विधान किया गया है। तद्धित के लुक् हो जाने पर उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त का लुक् होता है।

उदा० पञ्चेन्द्रः
पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य—प्रस्तुत सूत्र से स्त्रीप्रत्यय (ङीप् व आनुक् आगम) का लुक् हुआ है।

पञ्चन् इन्द्राणी → पञ्चेन्द्राणी—नलोपः प्रातिपदि०, साऽस्य देवता,

पञ्चेन्द्राणी अण्—तद्धिताः, संख्यापूर्वो द्विगुः, द्विगोर्लुग०,

पञ्चेन्द्राणी → पञ्चेन्द्र सु → पञ्चेन्द्रः।

(2) दशेन्द्रः
पूर्ववत् लुक् हुआ।

(3) पञ्चशष्कुलः
पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतम्—'तेन क्रीतम्' से 'ठक्',

पञ्चन् शष्कुली ठक्—'अध्यर्धपूर्व०' से लुक्,
पञ्चन् शष्कुली—स्त्रीप्रत्यय का लुक्, सु,
पञ्चशष्कुलः।

(4) आमलकम्
आमलक्याः फलम्—षिद्गौरादिभ्यश्च,
आमलक ङीष् → आमलकी मयट्—तस्य विकारः, नित्यं वृद्ध०,
आमलकी → आमलक—फले लुक्, प्रस्तुत सूत्र से प्रत्यय-लुक्,
आमलक सु → आमलकम्।

(5) बदरम् (पूर्ववत्)।

(6) कुवलम् (पूर्ववत्)।

तद्धित० अर्थात् **तद्धितप्रत्यय का लुक्** होने पर ही स्त्रीप्रत्यय का लुक् होता है—

(1) गार्गीकुलम्
गार्ग्याः कुलम्—गार्गीकुलम्—यहाँ सुप् का लुक् है तथा तद्धित का लुक् नहीं हुआ है। अतः स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् नहीं हुआ।

लुकीति० अर्थात् **लुक्** होने पर ही स्त्रीप्रत्यय का लुक् होता है—

(1) गार्गीत्वम्,
गार्गी त्व → गार्गीत्वम्—यहाँ किसी भी प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ है। अतः स्त्रीप्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

उपसर्जन० अर्थात् उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्यय का लुक् होता है—

(1) अवन्ती
अवन्ती—प्रधान रूप से ङीष् हुआ है। उपसर्जनसंज्ञक न होने से प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(2) कुन्ती (पूर्ववत्)।

(3) कुरूः (पूर्ववत्)।

(125) इद् गोण्याः *50* (1703)

पूर्वेण लुकि प्राप्ते इकारो विधीयते। गोण्यास्तद्धितलुकि सति इकारादेशो भवति। पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पटः पञ्चगोणिः। दशगोणिः। इदिति योगविभागः। पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः पञ्चसूचिः। दशसूचिः। स च एवंविषय एव।

अर्थ—पूर्व सूत्र से लुक् प्राप्त होने पर इकारादेश का विधान किया जा रहा है।

तद्धित प्रत्यय के लुक् हो जाने पर 'गोणी' शब्द को ह्रस्व इकार होता है।

'इत्' में तपरत्व होने से इसके द्वारा 'ह्रस्व इकार' का ग्रहण होता है।

उदा० (1) पञ्चगोणिः
गोण ङीष्—'जानपदकुण्डगोण०' से आवपन अर्थ में,
पञ्चभिः गोणीभिः क्रीतः—तद्धितार्थोत्तरपद,
पञ्चन् गोणी → पञ्चगोणी ठञ्–प्रागवतेष्ठञ्, अध्यर्ध०, लुक्,
पञ्चगोणी → पञ्चगोणि—'इत्' आदेश,
पञ्चगोणिः—सु।

(2) दशगोणिः
दशभिः गोणीभिः क्रीतः (पूर्ववत्)।

इदिति—(काशिकाकार ने प्रकृत सूत्र के योगविभाग का सुझाव दिया है। तब) 'इत्' पद के द्वारा 'गोणी' शब्द से इतर शब्दों को भी इकार आदेश होता है—

(1) पञ्चसूचिः
पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः (पूर्ववत्)।

(2) दशसूचिः (पूर्ववत्)।

(126) लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने *51* (1294)

लुपीति लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थ उच्यते। तत्र लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने भवतः। युक्तवदिति निष्ठाप्रत्ययेन क्तवतुना प्रकृत्यर्थ उच्यते। स हि प्रत्ययार्थमात्मना युनक्ति। तस्य युक्तवतो व्यक्तिवचने लुबर्थे विधीयते। अथ वा युक्तः प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थेन सम्बद्धस्तस्मिन्निव व्यक्तिवचने लुबर्थे भवतः। सप्तम्यर्थे वतिः। व्यक्तिवचने इति च लिङ्ग-संख्ययोः पूर्वाचार्यनिर्देशस्तदीयमेवेदं सूत्रम्। तथा चास्य प्रत्याख्यानं भविष्यति–'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (1.2.53) इति। व्यक्तिः–स्त्रीपुंनपुंसकानि, वचनम्–एकत्व-द्वित्वबहुत्वानि। पञ्चालाः क्षत्रियाः, पुंलिङ्गाः बहुवचन-विषयाः। तेषां निवासो जनपदः (4.2.81)। यथा तेषु क्षत्रियेषु व्यक्तिवचने तद्वज्जनपदे भवतः–पञ्चालाः, मगधाः, मत्स्याः, अङ्गाः, सुह्माः, पुण्ड्राः (ऐ०ब्रा० 7.3.6)। लुपीति किम्? लुकि मा भूत्–लवणः सूपः, लवणा यवागूः, लवणं शाकम् (4.2.22,24)। व्यक्तिवचने इति

किम् ? शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः (4.2.70,82) शिरीषास्तस्य वन शिरीषवनम् (म० भा०)। 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः' (8.4.6) इति णत्वं न भवति। * हरीतक्यादिषु व्यक्तिः * (म० भा०)। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः (4.3.167) फलानि। * खलतिकादिषु वचनम् * (म० भा०)। खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि वनानि (4.2.70,82) खलतिकं वनानि।

अर्थ—'लुपि' इस प्रकार लुप् संज्ञा के द्वारा लुप्त प्रत्यय का अर्थ कहा जा रहा है।

प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर उस प्रत्यय के अर्थ में लिंग तथा वचन प्रकृत्यर्थ के समान होते हैं।

अथवा—अथवा 'युक्त' का अर्थ है—प्रकृत्यर्थ। युक्तवत् = प्रकृत्यर्थवत्। जिससे प्रत्यय का विधान होता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं। 'व्यक्तिवचने' का अर्थ है—लिंग तथा वचन। यह पूर्व आचार्यों के द्वारा किया गया निर्देश है। उनका ही यह सूत्र है। आगे इसका प्रत्याख्यान किया जायेगा—तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्।

व्यक्तिः—लिंग तीन प्रकार का है—स्त्रीलिंग, पुँल्लिंग तथा नपुँसकलिंग। वचन भी तीन प्रकार का है—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन।

इस सूत्र का भाव यह है कि जिस शब्द से विधान किए गये किसी प्रत्यय का लुप् हो जाए तो लुप् के बाद अवशिष्ट उस प्रकृति से लिंग व वचन का योग प्रकृति के अनुसार होना चाहिए तथा विशेष्य के अनुसार नहीं होना चाहिए।

उदा० (1) पञ्चालाः
पञ्चाल अञ्—तस्याऽपत्यम्, जनपदशब्दात्०, ते तद्राजाः,
पञ्चाल—तद्राजस्य बहुषु० से लुक्, यह शब्द पुँल्लिंग व बहुवचन का विषय है,
पञ्चाल अण्—तस्य निवासः,
पञ्चाल—जनपदे लुप्, यह शब्द जनपद का वाचक है, सो एकवचन होना चाहिए, प्रत्यय के लुप् होने से पूर्व प्रकृति बहुवचन का वाचक है तब प्रकृतिवत् अर्थात् बहुवचन का पुँल्लिंग हुआ—
पञ्चाल जस् → पञ्चालाः।

(2) मगधाः (पूर्ववत्)।
(3) मत्स्याः (पूर्ववत्)।
(4) अङ्गाः (पूर्ववत्)।
(5) सुह्माः (पूर्ववत्)।
(6) पुण्ड्राः (पूर्ववत्)।

लुपीति० अर्थात् लुप् होने पर ही युक्तवत् लिंग व वचन होते हैं—

(1) लवणः (शाकः)
लवणेन संसृष्टम्—संसृष्टे,
लवण ठक्—लवणाल्लुक्, लुक् हुआ।

लवणः—चूँकि लुक् हुआ है तथा लुप् नहीं हुआ। अतः प्रकृति के समान लिंग व वचन न होकर विशेष्य के अनुसार होते हैं।

(2) लवणा (यवागूः)
पूर्ववत् लुक् हुआ। प्रकृतिवत् लिंग व वचन न होकर विशेष्य के अनुसार हुए।

(3) लवणम्। (शाकम्)
पूर्ववत्।

व्यक्ति० अर्थात् **लिंग व वचन** ही प्रकृतिवत् होते हैं, प्रत्यय का लुप् होने पर—

(1) शिरीषवनम्
शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः—'अदूरभवश्च' से अण्,
शिरीष अण्—वरणादिभ्यश्च,
शिरीष।

अब तस्य वनम्—'शिरीषवनम्' हुआ। चूँकि यहाँ प्रत्यय का लुप् हुआ है। अतः लिंग व वचन ही प्रकृतिवत् होते हैं। अन्य कार्य नहीं होते हैं। तब 'विभाषौषधि०' से प्राप्त णत्व नहीं हुआ।

हरीतक्यादिषु व्यक्तिः अर्थात् 'हरीतकी' आदि में केवल लिंग का ही अतिदेश होता है। यथा—

(1) हरीतक्यः (फलानि)
हरीतकी अञ्—तस्य विकारः, अनुदात्तादेरञ्,
हरीतकी—हरीतक्यादिभ्यश्च,
हरीतकी जस् → हरीतक्यः—स्त्रीलिंग हुआ।

खलतिकादिषु वचनम् अर्थात् 'खलतिक' आदि में केवल वचन का अतिदेश होता है।

(1) खलतिकं (वनानि)
खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि वनानि—अदूरभवश्च,
खलतिक अण्—वरणादिभ्यश्च,
खलतिक—अब विशेष्य के अनुसार बहुवचन प्राप्त हुआ, परन्तु यहाँ वचन प्रकृति के अनुसार होता है—
खलतिक सु → खलतिकम्।

(127) विशेषणानां चाजातेः *52* (1300)

लुपीति वर्त्तते। लुबर्थस्य यानि विशेषणानि तेषामपि व्यक्तिवचने भवतः, जातिं वर्जयित्वा। पञ्चालाः रमणीयाः, बह्वन्नाः, बहुक्षीरघृताः, बहुमाल्यफलाः। गोदौ रमणीयौ, बह्वन्नौ, बहुक्षीरघृतौ, बहुमाल्यफलौ। अजातेरिति किम्? पञ्चालाः जनपदः, गोदौ ग्रामः। जात्यर्थस्य चायं युक्तवद्भावप्रतिषेधः। तेन जातिद्वारेण यानि विशेषणानि तेषामपि युक्तवद्भावो न भवति–पञ्चालाः जनपदो रमणीयो, बह्वन्नः, गोदौ ग्रामो रमणीयो बह्वन्न इति। * मनुष्यलुपि प्रतिषेधो वक्तव्यः * (म०भा०)। चञ्चाऽभिरूपः (म० भा०)। वध्रिका दर्शनीयः (5.3.96,98)।

अर्थ—प्रत्यय के लुप् होने पर उस लुबर्थ के विशेषण में प्रकृतिवत् लिंग व वचन होते हैं, जाति के प्रयोग से पूर्व।

आजातेः अर्थात् जाति के प्रयोग से पूर्व।

उदा० (1) पञ्चालाः रमणीयाः

पञ्चाल—प्रत्यय का लुप् पूर्ववत् हुआ, पूर्वसूत्र से प्रकृतिवत् वचन आदि प्राप्त हुए,

पञ्चालाः—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा विशेषण के अनुसार लिंग व वचन हुए।

(2) पञ्चालाः (बह्वन्नाः)

पूर्ववत्।

(3) पञ्चालाः (बहुक्षीरघृताः)

पूर्ववत्।

(4) पञ्चालाः (बहुमाल्यफलाः)

पूर्ववत्।

(5) गोदौ (रमणीयौ)

पूर्ववत्।

इसी प्रकार—गोदौ बह्वन्नौ, बहुक्षीरघृतौ, बहुमाल्यफलौ।

अजातेः—जाति को छोड़कर ही विशेषण में प्रकृतिवत् लिंग व वचन होते हैं—

(1) पञ्चालाः (जनपदः)

पञ्चाल—प्रत्यय का लुप् होकर पूर्वसूत्र से प्रकृतिवत् लिंग व वचन प्राप्त हुए। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा विशेषण में प्रकृतिवत् लिंग व वचन प्राप्त हुए। परन्तु यहाँ जाति है। अतः विशेषण में प्रकृतिवत् लिंग व वचन नहीं हुए।

(2) गोदौ ग्रामः (पूर्ववत्)।

जात्यर्थ० जात्यर्थ का ही यहाँ प्रकृतिवत् लिंग व वचन का निषेध किया गया है। तब जाति के द्वारा जो विशेषण उनमें भी प्रकृतिवत् लिंग व वचन नहीं होते हैं। यथा—

पञ्चालाः जनपदः रमणीयः।

मनुष्यलुपि प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—मनुष्यलक्षण से लोप होने पर प्रकृतिवत् लिंग व वचन का निषेध होता है—

(1) चञ्चा अभिरूपः

चञ्चेव मनुष्यः—चञ्चाभिरूपः—यहाँ 'इवे प्रतिकृतौ' से 'कन्' तथा 'लुम्मनुष्ये' से लुप् हुआ,

'अभिरूप' विशेषण में प्रकृतिवत् (अर्थात् 'चञ्चा' के समान) लिंग व वचन प्राप्त हुए। चूँकि लुप् मनुष्यलक्षण से हुआ है। अतः प्रकृतिवत् लिंग व वचन का प्रतिषेध हुआ—

चञ्चा अभिरूपः।

(128) तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् *53* (1295)

तदिति प्रकृतं युक्तवद्भावलक्षणं निर्दिश्यते, तदशिष्यं न वक्तव्यं कस्मात्संज्ञाप्रमाणत्वात्। संज्ञाशब्दा हि नानालिङ्ग-संख्याः प्रमाणम्। पञ्चाला वरणा इति च नैते योगशब्दाः। किं तर्हि? जनपदादीनां संज्ञा एताः। तत्र लिङ्गं वचनं च स्वभावसिद्धमेव, न यत्लप्रतिपाद्यम्। यथा–आपः, दाराः, गृहाः, सिकताः, वर्षा इति।

अर्थ—(लिंग व वचन के) लोकव्यवहार के अधीन होने के कारण उस (अर्थात् लिंग व वचन की व्यवस्था) का शासन नहीं किया जा सकता।

'तद्' पद के द्वारा 'युक्तवद्भाव' का ग्रहण है। 'सञ्ज्ञाप्रमाण' का अर्थ है—लोकव्यवहार। अशिष्यम्—जिसका शासन (अर्थात् व्यवस्था) न किया जा सके।

सार यह है कि लिंग व वचन की व्यवस्था नहीं की जा सकती। कारण कि ये दोनों लोकाश्रित हैं।

पञ्चालाः—पञ्चालाः, वरणाः—ये योगशब्द नहीं हैं। ये जनपद आदि की संज्ञाएँ हैं। संज्ञाशब्दों के लिंग और वचन स्वभावतः सिद्ध हैं; किसी यत्न द्वारा सिद्ध नहीं हैं। यथा—

आपः—'आप्' शब्द जलकणवाची है, तदपि बहुवचन में प्रयुक्त होता है। 'दारा' शब्द स्त्रीवाची है, तथापि पुँल्लिंग व बहुवचन में प्रयुक्त होता है।

'गृह' शब्द एकवचन में नपुँसक व बहुवचन में पुँल्लिंग होता है। 'बालु' के एक कण के लिए स्त्रीलिंग व बहुवचन (सिकताः) का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'वर्षा' के विषय में भी जानना चाहिए।

जिस प्रकार 'दारा' आदि शब्दों में लिंग व वचन लोकाधीन होते हैं, उसी प्रकार 'पञ्चालाः' आदि पूर्वोक्त शब्दों में भी जानना चाहिए।

(129) लुब्योगाप्रख्यानात् *54* (1296)

लुबप्यशिष्यः। योऽयं 'जनपदे लुप्' (4.2.81), 'वरणादिभ्यश्च' (4.2.82) इति लुबुच्यते, अयं न वक्तव्यः। किं कारणम्? योगाप्रख्यानात्। न हि पञ्चाला वरणा इति योगः सम्बन्धः प्रख्यायते। नैतदुपलभामहे-वृक्षयोगान्नगरे वरणा इति, किं तर्हि, संज्ञा एताः। तस्मादत्र 'तस्य निवासः' (4.2.69), 'अदूरभवश्च' (4.2.70) इति तद्धितो नैवोत्पद्यते, किं लुपो विधानेन?

अर्थ—(निवास आदि) सम्बन्ध के प्रतीत न होने से लुप् विधायक सूत्र भी अशिष्य हैं।

योग = सम्बन्ध। प्रख्यान = प्रतीत होना।

योऽयम्—जो 'जनपदे लुप्' तथा 'वरणादिभ्यश्च' इत्यादि सूत्रों के द्वारा लुप् का विधान किया गया है, वह भी अशक्य है। कारण कि, क्षत्रियादि के साथ में जनपदादि के सम्बन्ध को 'योग' कहा जाता है, परन्तु यह सम्बन्ध कहीं भी प्राप्त नहीं होता है।

जिस प्रकार 'दण्ड' के सम्बन्धवशात् 'दण्डी' कहा जाता है, उसी प्रकार क्षत्रियों के सम्बन्ध के कारण उस नगर को 'पञ्चालाः' नहीं कहा जा सकता तथा 'वृक्ष' के सम्बन्धवशात् 'वरणाः' नहीं कहा जा सकता है। अपितु ये उन जनपदों की संज्ञाएँ हैं।

तस्मात्—अतः 'तस्य निवासः' तथा 'अदूरभवश्च' से 'अण्' प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं होता है। तब लोप की क्या आवश्यकता है?

(130) योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं यात् *55* (1297)

पञ्चालादयः संज्ञाशब्दाः न योगनिमित्ताः इत्युक्तम्, तच्चावश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्, योगप्रमाणे हि तदभावेऽदर्शनं स्यात्। यदि पञ्चालादिशब्दो योगस्य प्रमाणम् = योगस्य वाचकः स्यात्, ततस्तदभावेऽदर्शनमप्रयोगः स्यात्। दृश्यते च सम्प्रति विनैव क्षत्रियसम्बन्धेन जनपदेषु पञ्चालादिशब्दः, ततोऽवसीयते-नायं योगनिमित्तकः, किं तर्हि? रूढिरूपेणैव तत्र प्रवृत्त इति।

अर्थ—'पञ्चाल' आदि संज्ञाशब्द हैं; सम्बन्धवशात् नहीं हैं—यह कहा जा चुका है।

सम्बन्ध को वाचक मानकर यदि संज्ञा हो तो उस सम्बन्ध के हट जाने पर उस संज्ञा का अदर्शन होना चाहिए (परन्तु वह नहीं होता है)।

दृश्यते—'योगप्रमाणे' का अर्थ है—सम्बन्ध को वाचक मानने पर। 'तदभावे' का अर्थ है—उस सम्बन्ध के हट जाने पर। 'अदर्शनम्' का अर्थ है—दिखाई न पड़ना। भाव यह है कि यदि 'पञ्चालाः' नामक क्षत्रियों के योग से किसी जनपदविशेष का नाम 'पञ्चालाः' है अथवा 'वरणाः' नामक वृक्षविशेष के योग से किसी जनपद का नाम 'वरणाः' है तो यह नाम उस सम्बन्ध के अभाव में नहीं होना चाहिए अर्थात् उस स्थान से उन क्षत्रिय लोगों या वृक्षविशेष के नष्ट हो जाने पर उन जनपदों की क्रमशः 'पञ्चाल' या 'वरण' सञ्ज्ञा नहीं रहनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सञ्ज्ञाएँ योगनिमित्तक (= अर्थ-निमित्तक) नहीं है, परन्तु सञ्ज्ञाविशेष ही हैं।

(131) प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् *56* (1298)

अशिष्यमिति वर्त्तते। प्रधानं समासे किञ्चित्पदम्, प्रत्ययस्त्वव्यदादिः। ताभ्यामर्थवचनमर्थाभिधानमनेन प्रकारेण भवतीति पूर्वाचार्यैः परिभाषितम्। * प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः * प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः * इति। तत्पाणिनिराचार्यः प्रत्याचष्टे-अशिष्यमेतत्। अर्थस्यान्यप्रमाणत्वादिति। अन्य इति शास्त्रापेक्षया लोको व्यपदिश्यते। शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकं न पारिभाषिकमशक्यत्वात्। लोकत एवार्थावगतेः। यैरपि व्याकरणं न श्रुतं तेऽपि राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजविशिष्टं पुरुषमानयन्ति, न राजानं नापि पुरुषमात्रम्। औपगवमानयेत्युक्ते उपगुविशिष्टमपत्यमानयन्ति, नोपगुं नाप्यपत्यमात्रं नोभौ। यश्च लोकतोऽर्थः सिद्धः, किं तत्र यत्नेन।

अर्थ—अर्थ के सम्बन्ध में लोकव्यवहार के अधीन होने के कारण प्रधानार्थ और प्रत्ययार्थ का शासन नहीं किया जा सकता।

अशिष्यम्—'अशिष्यम्' पद का अनुवर्तन होता है। इसका

अर्थ है—शासन नहीं किया जा सकता। समास में कोई पद प्रधान होता है। प्रत्यय तव्यत् आदि हैं। इनके द्वारा अर्थ का कथन इस प्रकार से होता है—ऐसा पूर्व आचार्यों ने कहा है।

प्रधानोप—प्रधान और गौण—दोनों प्रधान के अर्थ को एक साथ कहते हैं। प्रकृति और प्रत्यय अर्थ को एक साथ कहते हैं। परन्तु आचार्य पाणिनि इन कथनों का खण्डन करते हैं। (वे कहते हैं—) इनकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि अर्थ लोकाश्रित होता है। शब्दों के द्वारा 'लोक' (= शास्त्राद् अन्यः) अर्थ गृहीत होता है। 'अन्य' शब्द के द्वारा अर्थ का कथन स्वाभाविक होता है तथा पारिभाषिक नहीं होता है। कारण कि अर्थ का ज्ञान लोक से ही होता है, यह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है।

यैरपि—जिन्होंने कभी व्याकरण शास्त्र का ज्ञान विधिवत् ग्रहण नहीं किया है, वे भी 'राजपुरुष को लाओ' ऐसा कहे जाने पर राजविशिष्ट पुरुष को ही लाते हैं, न कि किसी सामान्य पुरुष को अथवा केवल राजा को। इसी प्रकार 'औपगव को लाओ'—ऐसा कहे जाने पर उपगु की सन्तति को लाया जाता है तथा सामान्य सन्तति को अथवा उपगु को नहीं। न ही उन दोनों को (लाया जाता है)। (आचार्य पाणिनि कहते हैं कि) जब अर्थ लोकाश्रित ही है तो (इस सम्बन्ध में) प्रत्यय करना व्यर्थ है।

(132) कालोपसर्जने च तुल्यम् *57* (1299)

अशिष्यमिति वर्त्तते। कालोपसर्जने चाशिष्ये, कस्मादर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्। तुल्यशब्दो हेत्वनुकर्षणार्थः। अशिष्यविशेषणं चैतत्। कालोपसर्जने च तुल्यमशिष्ये भवतः। इहान्ये वैयाकरणाः कालोपसर्जनयोः परिभाषां कुर्वन्ति–'आन्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्च संवेशनात्, एषोऽद्यतनः कालः'। अपरे पुनराहुः–'अहरुभयतोऽर्द्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः' इति। तथोपसर्जनपरिभाषां कुर्वन्ति–'अप्रधानमुपसर्जनमिति'। तत्पाणिनिराचार्यः प्रत्याचष्टे लोकतोऽर्थावगतेः। यैरपि व्याकरणं न श्रुतं तेप्याहुरिदमस्माभिरद्य कर्त्तव्यमिदं श्वः कर्त्तव्यमिदं ह्यः कृतमिति। नैवं व्युत्पाद्यन्ते। तथोपसर्जनम्, वयमत्र गृहे ग्रामे वा, उपसर्जनप्रधानमिति गम्यते। यश्च लोकतोऽर्थः सिद्धः किं तत्र यत्नेन? यद्येवं पूर्वसूत्र एव कालोपसर्जनग्रहणं कस्मान्न क्रियते, किमर्थो योगविभागः? प्रदर्शनार्थः। अन्यदप्येवं जातीयकमशिष्यमिति। तथा च पूर्वाचार्याः परिभाषन्ते–'मत्वर्थे बहुव्रीहिः', 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' इत्येवमादि, तदशिष्यमिति।

अर्थ—'अशिष्यम्' का अनुवर्त्तन हो रहा है। 'काल' तथा 'उपसर्जन' दोनों का समान रूप से शासन नहीं किया जा सकता अर्थात् जिस प्रकार लिंग व वचन का शासन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'काल' व 'उपसर्जन' का भी शासन नहीं किया जा सकता।

इहान्ये—यहाँ कई वैयाकरण 'काल' और 'उपसर्जन' की परिभाषा किया करते हैं। यथा—प्रातः चारपाई से उठने के काल से लेकर रात्रि में शयन के काल तक का समय 'अद्यतन' कहलाता है। दूसरे (वैयाकरण) कहते हैं—दिन के दूसरी ओर (अर्थात् अर्धरात्रि से अर्धरात्रिपर्यन्त) के बीच का काल 'अद्यतन' कहलाता है। इसी प्रकार 'उपसर्जन को 'गौण' कहा जाता है।

तत्पाणिनि—आचार्य पाणिनि इसका खण्डन करते हैं कि लोक से अर्थ का ज्ञान होता है। अतः (इन दोनों की) परिभाषा नहीं की जा सकती। जिन्होंने व्याकरण शास्त्र का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है, क्या वे 'यह हमें आज करना है, 'यह हम कल करेंगे' तथा 'यह हमने कल किया है'—इन स्थलों पर व्युत्पादन करने में असमर्थ हैं? (अर्थात् वे लोकव्यवहारवशात् 'अद्यतन' की परिभाषा सम्यग् रूपेण जानते हैं।)

इसी प्रकार उपसर्जन के विषय में जानना चाहिए। यथा—हम यहाँ इस गाँव में या घर में अप्रधान हैं—ऐसा जाना जाता है। जब लोकव्यवहार से ही अर्थ का ज्ञान होता है तो शासन करने की क्या आवश्यकता है?

यद्येवम्—यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्र में ही 'काल' और 'उपसर्जन' पदों का पाठ क्यों न कर दिया जाय? तब योगविभाग का क्या प्रयोजन है। योगविभाग का प्रयोजन है—प्रदर्शन।

अन्यद—तब अन्य विधान का भी शासन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए पूर्व आचार्य परिभाषा करते हैं—

'मतुप् प्रत्यय के अर्थ में बहुव्रीहि होता है', 'अव्ययीभाव पूर्वपदप्रधान होता है, 'द्वन्द्व दोनों पदार्थ प्रधान होता है'—इस प्रकार शासन किया जाना भी व्यर्थ है।

(133) जात्याख्यायमेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् *58* (817)

अशिष्यमिति निवृत्तम्। जातिर्नामायमेकोऽर्थः। तदभिधाने एकवचनमेव प्राप्तमत इदमुच्यते। जातेराख्या जात्याख्या। जात्याख्यायामेकस्मिन्नर्थे बहुवचनमन्यतरस्यां भवति। जात्यर्थो बहुवद् भवतीति यावत्। तेन तद्विशेषणानामजाति-

शब्दानामपि सम्पन्नादीनां बहुवचनमुपपद्यते । सम्पन्नो यवः, सम्पन्ना यवाः । सम्पन्नो व्रीहिः, सम्पन्ना व्रीहयः । पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः, पूर्ववयसो ब्राह्मणाः प्रत्युत्थेयाः । जातिग्रहणं किम् ? देवदत्तः, यज्ञदत्तः । आख्यायामिति किम् ? काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः । भवत्ययं जातिशब्दो न त्वनेन जातिराख्यायते, किं तर्हि ? प्रतिकृतिः । एकस्मिन्निति किम् ? व्रीहियवौ । * संख्याप्रयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः * (म० भा०) । एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति ।

अर्थ—'अशिष्यम्' का अनुवर्त्तन नहीं हो रहा है। 'जाति' में एकत्व अर्थ होता है। अतः एकवचन की प्राप्ति होती है। तब यह विधान किया जा रहा है। जात्याख्या = जाति का कथन।

सूत्रार्थ—जातिकथन के विषय में एकत्व अर्थ में विकल्प से बहुत्व होता है। जातिकथन में एकत्व का ही प्रयोग होता है। यथा—'गौर्न हन्तव्यः' यहाँ 'गो' शब्द जातिपरक है। अतः एकवचन का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा विकल्प से बहुत्व होता है।

तेन—अतः उस जाति के विशेषण, अजातिवाचक सम्पन्न आदि शब्दों को भी बहुत्व होता है।

उदा० (1) सम्पन्नो यवः
जातिकथन में एकवचन हुआ।

(2) सम्पन्ना यवाः
विकल्प से बहुवचन हुआ।

(3) सम्पन्नो व्रीहिः
एकवद् हुआ।

(4) सम्पन्ना व्रीहयः
पक्ष में बहुत्व हुआ।

(5) पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः
एकवचन हुआ।

(6) पूर्ववयसः ब्राह्मणाः प्रत्युत्थेयाः
पक्ष में बहुत्व हुआ।

जाति० अर्थात् **जातिकथन** में ही विकल्प से बहुत्व होता है—'देवदत्तः' यहाँ व्यक्तिकथन है, जातिकथन नहीं है। अतः बहुत्व नहीं हुआ।

इसी प्रकार—यज्ञदत्तः।

आख्याया० अर्थात् जाति की **आख्या** में ही विकल्प से बहुत्व होता है—

काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः
यहाँ जाति की आख्या नहीं है। अतः बहुत्व नहीं हुआ।

एकस्मिन्—एकत्व के विषय में ही पूर्वोक्त बहुत्व होता है—

(1) व्रीहियवौ
यहाँ एकत्व नहीं है, द्वित्व का विषय है। अतः बहुवचन नहीं हुआ।

संख्याप्रयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०) संख्या के प्रयोग के विषय में पूर्वोक्त बहुत्व नहीं होता है। यथा—

एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति—यहाँ बहुवचन नहीं हुआ।

(134) अस्मदो द्वयोश्च *59* (818)

अस्मदो योऽर्थस्तस्यैकत्वे द्वित्वे च बहुवचनमन्यतरस्यां भवति । अहं ब्रवीमि । वयं ब्रूमः । आवां ब्रूवः । वयं ब्रूमः । * सविशेषणस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः * (म० भा०) । अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं गार्ग्यो ब्रवीमि । अहं पटुर्ब्रवीमि (म० भा०) । युष्मदि गुरावेकेषाम् । त्वं मे गुरुः । यूयं मे गुरवः ।

अर्थ—'अस्मद्' के एकत्व व द्वित्व अर्थों में विकल्प से बहुवचन होता है। द्वयोः अर्थात् द्वित्व में।

उदा० (1) अहं ब्रवीमि
एकत्व में एकवचन हुआ।

(2) वयं ब्रूमः
पक्ष में बहुवचन हुआ।

(3) आवां ब्रूवः
द्वित्व में द्विवचन हुआ।

(4) वयं ब्रूमः
पक्ष में बहुवचन हुआ।

सविशेषणस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—विशेषणयुक्त 'अस्मद्' शब्द में पूर्वोक्त बहुत्व का निषेध होता है—

(1) अहं देवदत्तः ब्रवीमि
'अहं' शब्द विशेषण (देवदत्तः) से युक्त है। अतः एकवचन हुआ। पक्ष में बहुत्व नहीं हुआ।

(2) अहं गार्ग्यः ब्रवीमि
पूर्ववत् एकवचन।

(3) अहं पटुर्ब्रवीमि
पक्ष में बहुवचन का निषेध हुआ।

युष्मदि गुरावेकेषाम्—'गुरु' शब्द के वाचक के रूप में प्रयुक्त 'युष्मद्' शब्द में कुछ आचार्यों के मत में विकल्प से बहुत्व होता है—

(1) त्वं मे गुरुः
यहाँ एकवचन हुआ।

(2) यूयं मे गुरवः
पक्ष में बहुवचन हुआ।

(135) फल्गुनीप्रोष्ठपदानाञ्च नक्षत्रे *60* (819)

चकारो द्वयोरित्यनुकर्षणार्थः। फल्गुन्योर्द्वयोः प्रोष्ठपदयोश्च द्वयोर्नक्षत्रयोर्बहुवचनमन्यतरस्यां भवति। कदा पूर्वे फल्गुन्यौ, कदा पूर्वाः फल्गुन्यः। कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे, कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। नक्षत्र इति किम्? फल्गुन्यौ माणविके।

अर्थ—'च' के द्वारा 'द्वयोः' पद का अनुवर्त्तन होता है। फल्गुनी और प्रोष्ठपद नक्षत्रों के द्वित्व के अर्थ में विकल्प से बहुवचन होता है।

उदा० (1) (कदा पूर्वे) फल्गुन्यौ
यहाँ द्विवचन हुआ।

(2) (कदा पूर्वाः) फल्गुन्यः
पक्ष में बहुवचन हुआ।

नक्षत्रे० अर्थात् नक्षत्र को ही पूर्वोक्त बहुवचन होता है—

(1) फल्गुन्यौ माणवकौ
यहाँ नक्षत्र वाच्य नहीं है। अतः बहुवचन नहीं हुआ।

(136) छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् *61* (3387)

अन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते पुनर्वस्वोश्छन्दसि विषये एकवचनमन्यतरस्यां भवति। पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता (मै०सं० 2.13.2)। पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता (तै०सं० 4.4.10)। नक्षत्र इत्येव-पुनर्वसू माणवकौ। छन्दसीति किम्? पुनर्वसू इति।

अर्थ—यहाँ 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में 'पुनर्वसु' नक्षत्र को द्वित्व के अर्थ में विकल्प से एकवचन होता है।

उदा० (1) पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता (मै० सं० 2.13.2) पुनर्वसु नामक दो नक्षत्र हैं। अतः नियमेन द्वित्व 'पुनर्वसू' प्राप्त होता है। वेद के विषय में यह विकल्प से एकवचन भी होता है।

(2) पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता (तै० सं० 4.4.10)
पक्ष में द्विवचन हो गया।

छन्दसि० अर्थात् वेद के विषय में ही पूर्वोक्त एकवचन होता है। पुनर्वसू—नित्य द्विवचन हुआ। यह लोक का विषय है।

नक्षत्रे० अर्थात् नक्षत्र वाच्य होने पर ही विकल्प से एकवचन होता है—

पुनर्वसू माणवकौ—'नक्षत्र' वाच्य नहीं है। अतः एकवचन पक्ष में नहीं हुआ। नित्य द्विवचन हुआ।

(137) विशाखयोश्च *62* (3388)

छन्दसीति वर्त्तते। द्विवचने प्राप्ते छन्दसि विषये विशाखयोरेकवचनमन्यतरस्यां भवति। विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (मै०सं० 2.13.20)। विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (तै०सं० 4.4.10.2)।

अर्थ—'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन होता है। वेद के विषय में 'विशाखा' शब्द में नक्षत्र वाच्य होने पर द्वित्व के अर्थ में विकल्प से एकवचन होता है।

उदा० (1) विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (तै० 4.4.10.2) द्विवचन हुआ। कारण कि 'विशाखा' नामक दो नक्षत्र हैं।

(2) विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता (मै० 2.13.20) पक्ष में एकवचन हुआ।

(138) तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् *63* (820)

छन्दसीति निवृत्तम्। तिष्य एकः पुनर्वसू द्वौ तेषां द्वन्द्वो बह्वर्थः। तत्र बहुवचने प्राप्ते द्विवचनं विधीयते। तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रविषये द्वन्द्वे बहुवचनप्रसङ्गे नित्यं द्विवचनं भवति। उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते। तिष्यपुनर्वस्वोरिति किम्? विशाखानुराधाः। नक्षत्र इति किम्? तिष्यश्च माणवकः पुनर्वसू माणवकौ तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः। ननु च प्रकृतमेव नक्षत्रग्रहणं किमर्थं पुनरुच्यते? पर्यायाणामपि यथा स्यात्-तिष्यपुनर्वसू, सिध्यपुनर्वसू। द्वन्द्व इति किम्? यस्तिष्यस्तौ पुनर्वसू येषां त इमे तिष्यपुनर्वसवः (वा०सं० 2.69) उन्मुग्धाः। तिष्यादय एव विपर्ययेण दृश्यमाना बहुव्रीहिणोच्यन्ते। तेन नक्षत्रसमास एवाऽयम्।

बहुवचनस्येति किम्? एकवचनस्य मा भूत्–तिष्यपुनर्वसु इदमिति। 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषा एकवद्भवति' (व्या०प० 91) इत्यस्यैतदेव ज्ञापकम् (म०भा०)। नित्यग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन नहीं है। तिष्य एक नक्षत्र है तथा पुनर्वसु दो नक्षत्र हैं। इनका द्वन्द्व समास होने पर बहुवचन प्राप्त होता है। तब बहुवचन प्राप्त होने पर द्विवचन का विधान किया जाता है।

सूत्रार्थ—नक्षत्रविषयक 'तिष्य' और 'पुनर्वसु' नामक शब्दों के द्वन्द्व समास में बहुवचन के स्थान पर नित्य द्विवचन होता है।

उदा० (1) तिष्यपुनर्वसू दृश्येते

'तिष्यश्च पुनर्वसू च' इस प्रकार समास होकर बहुवचन प्राप्त होता है। नक्षत्र द्वन्द्व होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा द्विवचन हो गया।

तिष्य० अर्थात् **'तिष्य'** और **'पुनर्वसु'** नक्षत्रों के द्वन्द्व समास में नित्य द्विवचन होता है—

(1) विशाखाऽनुराधाः

विशाखे चाऽनुराधे च—इस दशा में बहुत्व हो गया। चूँकि यहाँ 'तिष्य' व 'पुनर्वसु' का समास नहीं है। अतः द्वित्व नहीं हुआ।

नक्षत्रेति० अर्थात् नक्षत्र वाच्य होने पर ही पूर्वोक्त द्विवचन होता है—

(1) तिष्यपुनर्वसवः (माणवकाः)

तिष्यश्चाऽसौ माणवकः पुनर्वसू माणवकौ—इस दशा में 'तिष्य' तथा 'पुनर्वसु' का द्वन्द्व हुआ है। चूँकि यहाँ 'नक्षत्र' वाच्य नहीं है; अतः द्वित्व नहीं हुआ।

ननु च—'फल्गुनीप्रोष्ठपदानां०' सूत्र से 'नक्षत्रे' पद की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी प्रकृत सूत्र में पुनः 'नक्षत्र' के ग्रहण का प्रयोजन है कि 'तिष्य' तथा 'पुनर्वसु' नक्षत्रों के पर्याय शब्दों के द्वन्द्व समास में भी द्विवचन होता है। यथा—

(1) तिष्यपुनर्वसू (पूर्ववत्)।

(2) सिद्ध्यपुनर्वसू

सिद्ध्यश्च पुनर्वसू च—यहाँ नित्य द्विवचन हुआ।

द्वन्द्व० अर्थात् द्वन्द्व समास में ही द्विवचन नित्य होता है—

(1) तिष्यपुनर्वसवः

यस्तिष्यस्तौ पुनर्वसू येषां त इमे—यहाँ बहुव्रीहि हुआ, द्वन्द्व नहीं हुआ। अतः द्विवचन नहीं हुआ।

बहुवच० अर्थात् बहुवचन के स्थान पर ही नित्य द्विवचन होता है—

(1) तिष्यपुनर्वसु

'सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति' इस परिभाषा के द्वारा द्वन्द्व एकवद् भी होता है। अतः 'बहुवचनस्य' पद के द्वारा ज्ञापित होता है कि समस्त द्वन्द्व एकवचन भी विकल्प से होता है। एकवद्भाव पक्ष में द्विवचन नहीं हुआ।

नित्य० अर्थात् सूत्र में 'नित्यं' पद के द्वारा पूर्वशास्त्र (जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्) से प्राप्त विकल्प का निवारण हो जाता है।

(139) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ *64* (188)

समानं रूपमेषामिति सरूपाः। सरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति। एकः शिष्यते, इतरे निवर्त्तन्ते। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः। प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेन अनेकस्याभिधानम्। तत्रानेकार्था-भिधानेऽनेकशब्दत्वं प्राप्तम्, तस्मादेकशेषः (म०भा०)। सरूपाणामिति किम्? प्लक्षन्यग्रोधाः। रूपग्रहणं किम्? भिन्नेऽप्यर्थे यथा स्यात्–अक्षाः, पादाः, माषाः। एकग्रहणं किम्? द्विबह्वोः शेषो मा भूत्। शेषग्रहणं किम्? आदेशो मा भूत्। एकविभक्ताविति किम्? पयः पयो जरयति। ब्राह्मणाभ्यां च कृतम्, ब्राह्मणाभ्यां च देहि (म०भा०)।

अर्थ—जिनका रूप समान है; उन्हें 'सरूप' कहते हैं। समान रूप वाले शब्दों में से एकशेष रहता है, समान विभक्ति परे रहते।

एकविभक्ति—समान विभक्ति। 'सरूपाणाम्' पद में निर्धारण षष्ठी है।

उदा० (1) वृक्षौ

वृक्षश्च वृक्षश्च—यहाँ दोनों 'वृक्ष' पद सरूप हैं। इनसे परे एकसमान (= प्रथमा) विभक्ति है। अतः एकशेष होकर द्विवचन विभक्ति हुई।

वृक्ष औ → वृक्षौ।

(2) वृक्षाः

वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च—पूर्ववद् एकशेष हुआ। बहुत्व की विवक्षा में 'जस्' हुआ—

वृक्ष जस् — वृक्षाः।

प्रत्यर्थं—प्रत्येक अर्थ के लिए पृथक् शब्द का उच्चारण होता है। अतः दो या अधिक अर्थों का बोध कराने के लिए वचन के अनुसार शब्दों का पृथक् उच्चारण किया जाना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नियम किया जाता है कि सरूप शब्दों में से शब्द एक बार ही उच्चारित किया जाता है तथा शेष शब्दों की निवृत्ति हो जाती है।

सरूपा० अर्थात् सरूपों में ही एकशेष होता है—

(1) प्लक्षन्यग्रोधाः

प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च न्यग्रोधश्च—यहाँ तीनों शब्दों में एकसमान विभक्ति है, परन्तु तीनों में सरूपता नहीं है। अतः एकशेष नहीं हुआ।

रूपग्र० अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थ रहने पर भी समान रूप वालों में एकशेष होता है—

(1) अक्षाः

अक्षश्च (= इन्द्रियाख्यः) अक्षश्च (= शकटाङ्गम्) अक्षश्च (= बिभीतकः)। इस प्रकार 'अक्ष' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में तीन बार प्रयुक्त हुआ है। तीनों में सरूपता होने से एकशेष हो गया—

अक्षाः।

(2) पादाः (पूर्ववत्)।

(3) माषाः (पूर्ववत्)।

एक० अर्थात् सरूपों में एक का ही शेष होता है।

वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च—इनमें दो या अधिक का शेष नहीं होगा। एक 'वृक्ष' शब्द ही शेष रहता है।

शेष० अर्थात् सरूपों में एक का शेष ही होता है तथा आदेश आदि नहीं होता है।

एकविभ० अर्थात् एक समान विभक्ति परे रहते ही सरूपों में एकशेष होता है—

(1) पयः पयो जरयति

यहाँ प्रथम 'पयः' पद प्रथमान्त है तथा द्वितीय 'पयः' पद द्वितीयान्त है। अतः सरूप होते हुए भी एकशेष नहीं हुआ।

(2) ब्राह्मणाभ्यां च कृतं ब्राह्मणाभ्यां च देहि—यहाँ सरूप शब्द हैं, परन्तु प्रथम पद (ब्राह्मणाभ्याम्) में तृतीया द्विव० है तथा द्वितीय पद (ब्राह्मणाभ्याम्) में चतुर्थी द्विव० है) एकसमान विभक्ति न रहने से एकशेष नहीं हुआ।

(140) वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः *65* (931)

शेष इति वर्त्तते। 'यूना' इति सहयोगे तृतीया। वृद्धो यूना सहवचने शिष्यते, युवा निवर्त्तते। वृद्धशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा गोत्रस्य। अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति। वृद्ध-यूनोः सहवचने वृद्धः शिष्यते तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः। तदिति वृद्धयूनोर्निर्देशः। लक्षणशब्दो निमित्तपर्यायः। चेच्छब्दो यद्यर्थे। एवकारोऽवधारणे। विशेषो वैरूप्यम्। वृद्धयुवनिमित्तकमेव यदि वैरूप्यं भवति ततो वृद्धः शिष्यते, युवा निवर्तते। समानायामाकृतौ वृद्धयुवप्रत्ययौ भिद्येते। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ। वृद्ध इति किम्? गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्ग-गार्ग्यायणौ। यूनेति किम्? गार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ। तल्लक्षण इति किम्? गार्ग्यवात्स्यायनौ। एवकारः किमर्थः? भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्तिभाग-वित्तिकौ। कुत्सा सौवीरत्वं च भागवित्तिकस्यापरो विशेषो विद्यते।

अर्थ—'शेषः' पद का अनुवर्तन है। 'यूना' यहाँ सहयोग में तृतीया है। 'युवा' के साथ कहे जाने पर 'वृद्ध' शेष रहता है। पूर्वाचार्यों के द्वारा गोत्र की 'वृद्ध' संज्ञा कही गई है। व्यवहित अर्थात् एक पीढी पश्चात् का अपत्य की वृद्धसंज्ञा होती है। 'यूना' का अर्थ है—युवाप्रत्ययान्त शब्द। तल्लक्षणः अर्थात् वृद्ध-युव-प्रत्ययनिमित्तक।

सूत्रार्थ—वृद्धप्रत्ययान्त शब्द युवाप्रत्ययान्त शब्द के साथ होने पर वृद्धप्रत्ययान्त शब्द शेष रहता है, यदि तन्निमित्तक ही विशेषता हो अर्थात् अन्य सभी (प्रकृति आदि) की समानता हो।

तदिति—'तद्' पद के द्वारा 'वृद्ध' व 'युवा' का निर्देश किया गया है। 'लक्षण' का अर्थ है—निमित्त। चेत् = यदि। 'एव' पद का प्रयोग अवधारण अर्थ में है। विशेष = अन्तर।

उदा० (1) गार्ग्यौ

गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च—विग्रहवाक्य।

गर्ग शब्द से 'यञ्' हुआ। गर्गादिभ्यो यञ्। तद्धितेष्वचामादेः। गार्ग य। यस्येति च। गार्ग्य। 'गार्ग्य' वृद्धप्रत्ययान्त शब्द है।

'यञिञोश्च' से युवाप्रत्यय 'फक्' हुआ। गार्ग्य फक्। गार्ग्य आयन् अ। गार्ग्यायन। गार्ग्यायण। अब 'गार्ग्य' तथा 'गार्ग्यायण' इन दो शब्दों में प्रत्ययसम्बन्धी भेद है। एक में वृद्धसञ्ज्ञक 'यञ्' तथा दूसरे में युवसञ्ज्ञक 'फक्' प्रत्यय है। दोनों शब्दों की प्रकृति समान ही है। तब प्रस्तुत सूत्र के द्वारा वृद्धप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शेष रह गया। अत: 'गार्ग्यौ' का अर्थ है—'गार्ग्य' (= गर्ग का पौत्र) तथा 'गार्ग्यायण' (= गर्ग का प्रपौत्र)।

गार्ग्य औ—द्वित्व की विवक्षा में—

गार्ग्यौ।

(2) वात्स्यौ

वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च—विग्रह।

पूर्ववत्।

वृद्ध इति अर्थात् वृद्धप्रत्ययान्त शब्द ही शेष रहता है—

(1) गर्गगार्ग्यायणौ

गर्गश्च गार्ग्यायणश्च—

यहाँ वृद्धप्रत्ययान्त शब्द नहीं है। अत: एकशेष नहीं हुआ।

यूनेति॰ अर्थात् **युवप्रत्ययान्त** के साथ ही एकशेष होता है—

(1) गार्ग्यगर्गौ

'गार्ग्यश्च गर्गश्च यहाँ युवसंज्ञक नहीं है। एकशेष नहीं हुआ। अर्थात् **तन्निमित्तक** अन्तर होने पर ही एकशेष होता है—

(1) गार्ग्यवात्स्यायनौ

'गार्ग्यश्च वात्स्यायनश्च' यहाँ प्रकृतियों में भी अन्तर है। एकशेष नहीं हुआ।

एव—सूत्र में 'एव' पद के ग्रहण का फल है कि प्रत्यय-निमित्तक ही विशेष होने पर एकशेष होता है—

भागवितिश्च भागवित्तिकश्च—भागवित्तिभागवित्तिकौ।

'भागवित्त' शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में 'इञ्' होकर 'भागवित्ति' बनता है। युवाऽपत्य अर्थ में 'भागवित्ति' से 'ठक्' (वृद्धाट् ठक् सौवीरेषु॰) होकर 'भागवित्तिक' बनता है। इससे दो अर्थ (कुत्सा व सुवीर देशोत्पत्ति) अधिक हैं। अत: एकशेष नहीं हुआ।

(141) स्त्रीपुंवच्च *66* (932)

शेष इति वर्त्तते। वृद्धो यूनेति च सर्वम्। स्त्री वृद्धा यूना सहवचने शिष्यते तल्लक्षणश्चेदेव विशेषो भवति। पुंस इवास्या: कार्यं भवति, स्त्र्यर्थ: पुमर्थवद्भवति। गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ। दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी।

अर्थ—'शेष:' पद की अनुवृत्ति है। 'वृद्धो यूना' इस अंश का भी अनुवर्तन है।

गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द युवप्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रहता है तथा उस स्त्रीलिंग शब्द को पुंवत् कार्य भी होता है, यदि उन दोनों का निमित्तक ही विशेष हो (तथा शेष प्रकृति आदि समान हों)।

इस सूत्र के द्वारा दो कार्य होते हैं—

एकशेष तथा पुँवद्भाव।

उदा॰ (1) गार्ग्यौ

गार्गी च गार्ग्यायणश्च—'गार्गी' शब्द गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द है। 'गार्ग्यायण' युवप्रत्ययान्त शब्द है। इनमें प्रत्ययनिमित्तक विशेषता भी है तथा प्रकृति समान है। 'गार्गी' शब्द शेष रहा तथा उसी को पुंवद्भाव हुआ—

गार्ग्य औ—द्वित्व की विवक्षा में—गार्ग्यौ।

(2) वात्स्यौ

वात्सी च वात्स्यायनश्च—पूर्ववत् 'वात्सी' शब्द शेष रहा तथा इसे पुंवद्भाव हुआ—

वात्स्य औ—'औ' प्रत्यय—वात्स्यौ।

(3) दाक्षी

दाक्षी च दाक्षायणश्च—पूर्ववत् 'दाक्षी' शेष रहा तथा पुँवद्भाव हुआ—

दाक्षि औ → द्वित्व की विवक्षा में—दाक्षी।

(142) पुमान् स्त्रिया *67* (933)

तल्लक्षणश्चेदेव विशेष: इति वर्त्तते। वृद्धो यूनेति निवृत्तम्। स्त्रिया सहवचने पुमान् शिष्यते, स्त्री निवर्त्तते। स्त्रीपुंसलक्षणश्चेदेव विशेषो भवति। ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ। कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ। तल्लक्षण-श्चेदेव विशेष इत्येव–कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुटमयूर्यौ। एवकार: किमर्थ: ? इन्द्रश्च इन्द्राणी चेन्द्रेन्द्राण्यौ। पुंयोगा-दाख्यायाम् (4.1.48) इत्यपरो विशेष:। पुमानिति किम् ? प्राक्च प्राची च प्राक्प्राच्यौ। प्रागित्यव्ययमलिङ्गम्।

अर्थ—'तल्लक्षणश्चेदेव विशेष:' की अनुवृत्ति है। स्त्रीवाची शब्द के साथ पुरुषवाची शब्द शेष रहता है यदि वहाँ पुरुष व स्त्री को बतलाने वाला ही अन्तर हो (तथा अन्य अन्तर न हो)।

(1) ब्राह्मणौ

ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च—'ब्राह्मणी' शब्द स्त्रीवाची है तथा 'ब्राह्मण' शब्द पुरुषवाची है। दोनों की प्रकृति समान है तथा

पुरुषत्व व स्त्रीत्वनिमित्तक अन्तर ही है। अतः पुरुषवाची ('ब्राह्मण') शब्द शेष रहा—

ब्राह्मण औ—द्वित्व की विवक्षा में—ब्राह्मणौ

(2) कुक्कुटौ

कुक्कुटश्च कुक्कुटी च—पूर्ववत् पुरुषवाची शब्द (कुक्कुट) शेष रहा—कुक्कुटौ।

तल्लक्षण० अर्थात् पुरुषवाची व स्त्रीवाची शब्दों में प्रत्यय-निमित्तक अन्तर हो तथा प्रकृतिसम्बन्धी अन्तर नहीं हो तो एक-शेष होता है—

कुक्कुटश्च मयूरी च—'कुक्कुट' पुरुषवाची शब्द है तथा 'मयूरी' स्त्रीवाची शब्द है। इनमें पुरुषत्व व स्त्रीत्व बोधक अन्तर है। तब 'कुक्कुट' शब्द को एकशेषता प्राप्त हुई, परन्तु इन दोनों शब्दों में प्रकृतिगत अन्तर भी है। अतः एकशेष नहीं हुआ।

कुक्कुटमयूर्यौ।

एवकार० अर्थात् प्रत्ययनिमित्तक ही अन्तर हो तो पूर्वोक्त एकशेष होता है—

इन्द्रश्च इन्द्राणी च—यहाँ 'पुंयोगादाख्यायाम्' से पुंयोग अधिक है। शेष सभी शर्तें पूरी हैं। अतः एकशेष न हुआ—

इन्द्रेन्द्राण्यौ।

पुमान्० अर्थात् पुरुषवाची शब्द ही शेष रहता है—

प्राक् च प्राची च—यहाँ 'प्राक्' अव्यय पुरुषवाची नहीं है, अपितु तत्सदृश है। 'प्राची' स्त्रीवाची है, तदपि 'प्राक्' शेष नहीं रहा—

प्राक्प्राच्यौ।

(143) भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् *68* (934)

यथासंख्यं भ्रातृपुत्रशब्दौ शिष्येते सहवचने स्वसृदुहितृभ्याम्। स्वस्रा सहवचने भ्रातृशब्दः शिष्यते। भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। दुहित्रा सहवचने पुत्रशब्दः शिष्यते। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ।

अर्थ—'भ्रातृ' तथा 'पुत्र' शब्द यथासंख्य करके 'स्वसृ' तथा 'दुहितृ' शब्दों के साथ शेष रहते हैं।

भाव यह है कि भातृ व स्वसृ शब्दों में से 'भ्रातृ' शब्द शेष रहता है तथा पुत्र व दुहितृ शब्दों में से 'पुत्र' शब्द शेष रहता है।

उदा० (1) भ्रातरौ

भ्राता च स्वसा च—'भ्रातृ' शब्द शेष रहा—

भ्रातृ औ—द्वित्व की विवक्षा में—भ्रातरौ।

(2) पुत्रौ

पुत्रश्च दुहिता च (पूर्ववत्)।

(144) नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् *69* (935)

तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः इति वर्त्तते। नपुंसकानपुंसकमात्रकृते विशेषे अनपुंसकेन सहवचने नपुंसकं शिष्यते, एकवच्चास्य कार्यं भवति अन्यतरस्याम्। शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च बृहतिका, शुक्लं च वस्त्रं, तदिदं शुक्लम्। तानीमानि शुक्लानि (म० भा०)। अनपुंसकेनेति किम्? शुक्लं च शुक्लं च शुक्लं च शुक्लानि। एकवच्चेति न भवति।

अर्थ—'अनपुँसक' का अर्थ है—नपुँसकभिन्न (अर्थात् पुँल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग)। पुँल्लिग और स्त्रीलिङ्ग के साथ नपुँसक शेष रहता है तथा उसे विकल्प से एकवचन होता है, यदि उनमें लिङ्गनिमित्तक ही अन्तर हो (अन्य अन्तर न हो)।

उदा० (1) शुक्लानि

शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च शाटिका शुक्लं च वस्त्रम् → यहाँ 'शुक्लः' पुँलिङ्ग है, 'शुक्ला' स्त्रीलिङ्ग है तथा 'शुक्लम्' नपुसंक लिङ्ग है। इन सभी में लिङ्गसम्बन्धी भेद है व अन्य कोई भेद नहीं है तथा प्रकृति एक समान है। अतः विकल्प से नपुंसक 'शुक्ल' शब्द शेष रहा। बहुत्व की विवक्षा में 'शुक्लानि' हुआ।

(2) शुक्लम्

पूर्वोक्त स्थिति में पक्ष में एकत्वभाव हुआ।

अनपुंस० अर्थात् नपुँसकभिन्न के साथ नपुँसक शब्द शेष रहता है—

(1) शुक्लानि

शुक्लं च शुक्लं च शुक्लं च—यहाँ नपुँसकभिन्न नहीं है। अतः एकवचन नहीं हुआ।

(145) पिता मात्रा *70* (936)

अन्यतरस्यामिति वर्त्तते, नैकवदिति। मात्रा सहवचने पितृशब्दः शिष्यते अन्यतरस्याम्। माता च पिता च पितरौ, मातापितराविति वा।

अर्थ—'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है। 'एकवत्' की अनुवृत्ति नहीं है। 'मातृ' शब्द के साथ 'पितृ' शब्द विकल्प से शेष रहता है।

उदा० (1) पितरौ
माता च पिता च—प्रकृत सूत्र के द्वारा 'पितृ' शब्द शेष रहा—
पितृ औ—द्वित्व की विवक्षा में,
पितरौ।

(2) मातापितरौ
पूर्वोक्त दशा में पक्ष में एकशेष न हुआ। 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, पिता की अपेक्षा माता के अधिक पूज्य होने के कारण 'अभ्यर्हितञ्च' (वा०) 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात,
मातृ पितृ—मातानङ् पितृ—आनङ् ऋतो०,
मातापितरौ—नलोपः प्राति०, औ।

(146) श्वशुरः श्वश्र्वा *71* (937)

अन्यतरस्यामिति वर्तते। श्वश्र्वा सहवचने श्वशुरशब्दः शिष्यते अन्यतरस्याम्। श्वशुरश्च श्वश्रूश्च श्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुराविति वा।

अर्थ—'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है।

'श्वश्रू' शब्द के साथ 'श्वशुर' शब्द विकल्प से शेष रहता है।

उदा० (1) श्वशुरौ
श्वशुरश्च श्वश्रूश्च—एकशेष हुआ—
श्वशुर औ—श्वशुरौ।

(2) श्वश्रूश्वशुरौ
पक्ष में एकशेष नहीं हुआ।

(147) त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् *72* (938)

त्यदादीनि शब्दरूपाणि सर्वैः सहवचने नित्यं शिष्यन्ते त्यदादिभिरन्यैश्च। सर्वग्रहणं साकल्यार्थम्, नित्यग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम्। स च देवदत्तश्च तौ। यश्च देवदत्तश्च यौ। * त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते *। स च यश्च यौ। यश्च कश्च कौ।

अर्थ—सभी शब्दों के साथ 'त्यद्' आदि शब्द नित्य शेष रहते हैं।

उदा० (1) तौ
स च देवदत्तश्च—'सः' त्यदादिगण का होने से शेष रहा—
तद् औ → तौ।

(2) यौ
यश्च देवदत्तश्च—पूर्ववत्।

त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते (वा०)—यदि 'त्यद्' आदि शब्द से परस्पर कहे जायँ तो वहाँ जो परवर्ती होता है, वह शेष रहता है—

(1) स च यश्च—यौ।
(2) यश्च स च—तौ।
(3) कश्च यश्च—यौ।
(4) यश्च कश्च—कौ।
(5) कश्च स च—तौ।
(6) स च कश्च—कौ।

(148) ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री *73* (939)

ग्राम्याणां पशूनां सङ्घाः ग्राम्यपशुसङ्घाः। एतेषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते। 'पुमान् स्त्रिया' इति पुंसः शेषे प्राप्ते स्त्रीशेषो विधीयते। अतरुणग्रहणं सामर्थ्यात्पशुविशेषणम्। गाव इमाः। अजा इमाः। ग्राम्यग्रहणं किम्? रुरव इमे, पृषता इमे। पशुष्विति किम्? ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः। सङ्घेष्विति किम्? एतौ गावौ चरतः। अतरुणेष्विति किम्? वत्सा इमे, बर्करा इमे। * अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् *। इह मा भूत्-अश्वा इमे।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अर्थ—तरुणों को छोड़कर ग्रामीण पशुओं के समूह में स्त्रीपशु शेष रहता है।

'पुमान् स्त्रिया' के द्वारा पुरुषवाची शेष रहता है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा स्त्रीवाची का एकशेष कहा गया है।

'अतरुण' पद का ग्रहण सामर्थ्यवशात् पशु का विशेषण है, संघ का नहीं।

उदा० (1) गावः
गावश्च वृषभाश्च—'गो' शब्द पशु-स्त्रीवाची है तथा 'वृषभ' शब्द पशु-पुरुषवाची है। इनके समूह में स्त्रीपशु (गो) शेष रहा—
गो जस्—बहुत्व की विवक्षा में,
गावः।

(2) अजाः
अजाश्च अजाश्च—पूर्ववत् 'अजा' शब्द शेष रहा—
अजा जस् → अजाः।

ग्राम्य० अर्थात् ग्रामपशुओं के संघ में ही पूर्वोक्त एकशेष होता है—

(1) रुरवः (इमे)
यहाँ पूर्वोक्त एकशेष नहीं हुआ।

(2) पृषताः (इमे) (पूर्ववत्)।

पशुष्विति० अर्थात् पशुओं के संघ में ही एकशेष होता है—

(1) ब्राह्मणाः
यहाँ पशुओं का संघ नहीं है।

सङ्घेष्विति अर्थात् ग्रामपशुओं के संघ में ही पूर्वोक्त एकशेष होता है।

एतौ गावौ चरतः—यहाँ पुँल्लिंग शेष रहा।

अतरुण० अर्थात् जो तरुण नहीं हैं, उनके संघ के विषय में ही पूर्वोक्त एकशेष होता है—

वत्साः (इमे)
वत्स = बछड़ा। तरुण होने से एकशेष नहीं हुआ।

अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् (वा०)—अनेक खुर वालों का एकशेष होता है—

अश्वाः इमे—'अश्व' एक शफ वाला पशु है। अतः पूर्वोक्त एकशेष न होकर पुरुषवाची 'अश्व' शब्द का एकशेष हुआ।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
प्रथमाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



प्रथमाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(149) भूवादयो धातवः *1* (18)

भू इत्येवमादयः शब्दाः क्रियावचना धातुसंज्ञा भवन्ति। भू (धा०पा०1)–भवति। एध (धा०पा० 2)–एधते। स्पर्द्ध (धा०पा० 3)–स्पर्द्धते। धातुशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा। ते च क्रियावचनानां संज्ञां कृतवन्तः। तदिहापि पूर्वाचार्यसंज्ञाश्रयणात् क्रियावाचिनामेव भूवादीनां धातुसंज्ञा विधीयते।

भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते।
भूवो वार्थं वदन्तीति भ्वर्था वा वादयः स्मृताः॥
(म०भा०)

धातुप्रदेशाः–'धातोः' (3.1.91) इत्येवमादयः।

अर्थ—'भू' आदि क्रियावाची शब्दों की धातुसंज्ञा होती है।

उदा० (1) भवति

भू—धातु संज्ञा, कर्त्ता अर्थ में लकार, लः कर्मणि च भावे०,
भू लट्—वर्त्तमाने लट्, लस्य, तिप्तस्झि,
भू तिप्—प्रथमपुरुष एकवचन में,
भू शप् ति → भो अ ति—तिङ् शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्, सार्वधातुकार्ध०,
भवति—अवादेश।

(2) एधते

एध् त—धातुसंज्ञा, लट्, त,
एध् शप् त—शप् पूर्ववत्,
एधते—टित आत्मनेपदानां०—

(3) स्पर्द्धते

स्पर्द्ध् त → स्पर्द्ध् अ त—पूर्ववत्,
स्पर्द्धते।

धातु—'धातु' शब्द पूर्व आचार्यों के द्वारा दिया गया नाम है। उन्होंने क्रियावाची शब्दों की यह संज्ञा की है। अतः यहाँ पर भी पूर्वाचार्यों की संज्ञा के आश्रय से क्रियावाची 'भू' तथा 'वा' आदि शब्दों की धातुसंज्ञा की जाती है।

भूवा—(आचार्य पतञ्जलि के अनुसार) 'भूवादीनाम्' पद में वकार का योग मङ्गलकामना के उद्देश्य से है।

(दूसरे मत में) वदन्तीति वादयः—यहाँ 'वसिवपि०' (उ०सू०) के द्वारा 'वद्' से 'इञ्' होकर 'वादि' होता है। 'भुवो वार्थं वदन्ति' अर्थात् जो 'भू' के अर्थ को कहते हैं, वे 'भूवादयः' कहलाते हैं। 'भू' का अर्थ है—'भू' क्रियासामान्य। सार यह है कि क्रियासामान्य को कहने वाले शब्दों को 'भूवादयः' कहते हैं।

शंका है कि 'पच्' आदि क्रियाविशेष के वाचक है। अतः इनकी संज्ञा नहीं हो सकेगी।

समाधान यह है कि 'भावे' सूत्र के द्वारा 'पच्' आदि विशेष धातु से भी 'घञ्' होता है। तब यहाँ भी सामान्य (भू) व विशेष (पच्) दोनों प्रकार की क्रियाओं की धातुसंज्ञा हो जाती है।

भ्वर्था वा०—'भूवादयः' का विग्रह 'भू वा आदयः' इस प्रकार भी सम्भव है। अतः 'वा' से लेकर चुरादिगण की समाप्ति तक सभी धातुओं का इससे ग्रहण हो जाता है। 'आदि' शब्द प्रकारवाची है। प्रकार = सादृश्य। तब 'वादयः' का अर्थ होता है कि 'वा' के सदृश सभी क्रियावाची शब्दों की धातुसंज्ञा होती है।

(150) उपदेशेऽजनुनासिक इत् *2* (3)

उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः, शास्त्रवाक्यानि–सूत्रपाठः खिलपाठश्च। तत्र योऽजनुनासिकः स इत्संज्ञो भवति। एध, स्पर्द्ध। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः (व्या०प० 121)। उपदेश इति किम्? अभ्र आँ अपः (ऋ० 5.48.1)। अजिति किम्? 'आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च' (3.2.74)। अनुनासिक इति किम्? सर्वस्याऽचो मा भूत्। इत्प्रदेशाः– 'आदितश्च' (7.2.16) इत्येवमादयः।

अर्थ—जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। शास्त्रवाक्यों को 'उपदेश' कहा जाता है। सूत्रपाठ, खिलपाठ आदि उपदेश कहलाते हैं।

सूत्रार्थ—उपदेश में होने वाले अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) एधँ

एधँ का धकारोत्तरवर्त्ती अकार अनुनासिक पठित है। अतः इसकी इत्संज्ञा हुई।

प्रतिज्ञा—आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र में अच् वर्णों पर अनुनासिक चिह्न का (ँ) इस प्रकार पाठ किया था, परन्तु अब वह पाठ भ्रष्ट हो गया है। अतः इस अनुनासिक व्यवस्था को गुरुपरम्परा से ही जाना जा सकता है।

उपदेश अर्थात् **उपदेश** में ही अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा होती है—

(1) अभ्र आँ अपः (ऋ० 5.48.01)

यहाँ 'आँ' अनुनासिक अच् है, परन्तु उपदेश में नहीं है। अतः इसकी इत्संज्ञा नहीं हुई।

अजिति० अर्थात् अच् की ही इत्संज्ञा होती है—आतो मनिन्-क्वनिब्वनिपश्च' सूत्रपाठ है। अतः उपदेश में 'न्' यह अनुनासिक वर्ण है, परन्तु 'न्' अच् नहीं है। अतः इसकी इत्संज्ञा नहीं हुई।

अनुनासि० अर्थात् **अनुनासिक** अच् की इत्संज्ञा होती है—

इसका प्रयोजन है कि सभी प्रकार के अचों (अनुनासिक व निरनुनासिक) की इत्संज्ञा न हो।

विशेष—आद्योच्चारणम् उपदेशः अर्थात् आद्य आचार्य लोगों (पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि) के उच्चारण को उपदेश कहते हैं। आचार्य पाणिनि के निम्नलिखित पाठ 'उपदेश' कहलाते हैं—

सूत्रपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, गणपाठ तथा लिंगानुशासन।

(151) हलन्त्यम् *3* (1)

उपदेश इति वर्त्तते। अन्ते भवमन्त्यम्। धात्वादेः समुदायस्य यदन्त्यं हल् तदित्संज्ञं भवति। अ इ उ ण्-णकारः। ऋ लृ क्-ककारः। ए ओ ङ्-ङकारः। ऐ औ च्-चकारः। उपदेश इत्येव-अग्निचित्, सोमसुत्। हस्य ल् हलिति द्वितीयमत्र हल्ग्रहणं तन्त्रेणोपात्तं द्रष्टव्यम्। तेन प्रत्याहारपाठे हलित्यत्र लकारस्य इत्संज्ञा क्रियते। तथा च सति हलन्त्यमित्यत्र प्रत्याहारे नेतरेतराश्रयदोषो भवति।

अर्थ—'उपदेशे' पद का अनुवर्त्तन है। अन्त्य = अन्त में होने वाला। धातु आदि समुदाय के अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) 'अइउण्' के अन्त में 'ण्' है, जो हल् वर्ण है। अतः इसकी इत्संज्ञा हुई।

(2) 'ऋलृक्' में 'क्' की इत्संज्ञा हुई।

(3) 'एओङ्' में ङकार की इत्संज्ञा है।

(4) 'ऐऔच्' में 'च्' की इत्संज्ञा हुई।

उपदेश अर्थात् **उपदेश** में ही हल् की इत्संज्ञा होती है—

(1) अग्निचित्

'त्' हल् वर्ण है, जो अन्त्य भी है। तब इसकी इत्संज्ञा प्राप्त हुई, परन्तु यह उपदेश अवस्था में नहीं है। अतः इत् नहीं हुआ।

(2) सोमसुत्

पूर्ववत् 'त्' की इत्संज्ञा नहीं हुई।

हस्येति 'हस्य ल्—हल्' इस रूप में द्वितीय 'हल्' तन्त्र द्वारा संगृहीत जानना चाहिए। इससे प्रत्याहारपाठ में 'हल्' सूत्र में 'ल्' की इत्संज्ञा की जाती है। ऐसा होने पर हलन्त्यम् में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता।

विशेष—चौदहवें प्रत्याहारसूत्र 'हल्' के लकार की इत्सञ्ज्ञा किये विना 'हल्' प्रत्याहार नहीं बन सकता। 'हल्' प्रत्याहार के विना 'हलन्त्यम्' सूत्र नहीं बन पाता। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष उपस्थित होता है। इसके निवारणार्थ प्रस्तुत सूत्र के 'हल्' पद में षष्ठी तत्पुरुष माना गया है। यथा—हस्य ल् हल्। पुनः 'हल् च हल् च हल्', 'नपुंसकमनपुंसकेन' से इस प्रकार एकशेष किया गया है। भाव यह है कि 'ह के समीप ल् की इत्संज्ञा होती है' इस प्रकार अर्थ होकर प्रत्याहार वाले 'हल्' सूत्र के लकार की इत्संज्ञा होकर हल् प्रत्याहार बन जाता है। पश्चात् 'हल्' का एकशेष करने पर 'अन्तिम हल् की इत्संज्ञा होती है' इस प्रकार अर्थ करने पर कोई दोष नहीं रहता है।

पतञ्जलि ने 'हलन्त्यम्' सूत्र का पदच्छेद इस प्रकार दिखाया है: 'हल् ल् अन्त्यम्'। द्वितीय लकार का 'संयोगान्तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। इस विग्रह के अनुसार सूत्रार्थ होता है—

उपदेश अवस्था में अन्त्य 'ल्' तथा 'हल्' की इत्सञ्ज्ञा होती है। इस प्रकार पहले लकार की इत्संज्ञा करके 'हल्' प्रत्याहार बना लिया जाता है।

(152) न विभक्तौ तुस्माः *4* (190)

पूर्वेण प्राप्तायामित्संज्ञायां विभक्तौ वर्त्तमानानां तवर्ग-सकारमकाराणां प्रतिषेध उच्यते। तवर्गः-'टाङसिङसामिनात्स्याः' (7.1.12)-वृक्षात्, प्लक्षात्। सकारः-जस् (4.1.2)-ब्राह्मणाः। तस्, थस् (3.4.78)-पचतः, पचथः। मकारः'-अपचताम्, अपचतम् (3.4.101)। विभक्ताविति किम्? 'अचो यत्' (3.1.97), 'ऊर्णाया युस्' (5.2.123) 'रुधादिभ्यः श्नम्' (3.1.78), 'किमोऽत्' (5.3.12), 'इटोऽत्' (3.4.106) इत्यत्र प्रतिषेधो न भवति, अनित्यत्वादस्य प्रतिषेधस्य। 'इदम-

स्थमुः' (5.3.24) इत्युकाराऽनुबन्धनिर्देशादनित्यत्वमुपलक्ष्यते ।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा इत्संज्ञा के प्राप्त हो जाने पर विभक्ति में वर्त्तमान तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा का निषेध कहा गया है।

विभक्ति में वर्तमान तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्,), सकार और मकार जो अन्त्य, उनकी इत्संज्ञा नहीं होती है। 'सुप्' तथा 'तिङ्' को विभक्ति' कहते हैं।

उदा० (1) वृक्षात्

वृक्ष ङसि—'टाङसिङसामिनात्०' से 'आत्' आदेश, विभक्ति-संज्ञा,

वृक्ष आत्—'हलन्त्यम्' से 'त्' को इत्संज्ञा प्राप्त हुई, प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध,

वृक्षात्।

(2) प्लक्षात् (पूर्ववत्)

(3) ब्राह्मणाः

ब्राह्मण जस्—'हलन्त्यम्' से स् की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हुआ,

ब्राह्मणाः।

(4) पचतः

पच् तस्—पूर्ववत् 'स्' की इत्संज्ञा का निषेध।

पच् शप् तस्—कर्त्तरि शप्,

पचतः।

(5) पचथः

पच् थस्—पूर्ववत्

पचथः।

(6) अपचताम्

पच् लङ् → पच् तस्—प्र० पु० द्विव०,

पच् शप् तस्—'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्',

अट् पच् अ ताम्—'म्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, निषेध,

अपचताम्।

(7) अपचतम्

पच् थस् → पच् तम्—पूर्ववत् 'तम्' आदेश,

अ पच् अ तम्—पूर्ववत् इत्संज्ञा का निषेध,

अपचतम्।

अर्थात् **विभक्ति में ही** तवर्ग, सकार व मकार की इत्संज्ञा का निषेध होता है—

(1) अचो यत्

'यत्' की विभक्ति संज्ञा नहीं है। अतः 'यत्' के तकार की इत्संज्ञा का निषेध नहीं हुआ, 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा हुई।

(2) ऊर्णाया युस्

'युस्' की विभक्ति संज्ञा न होने से 'स्' की इत्संज्ञा का निषेध न हुआ। 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा हुई।

(3) रुधादिभ्यः श्नम्

पूर्ववत् 'म्' की इत्संज्ञा का निषेध प्राप्त हुआ, परन्तु 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा हुई।

(4) किमोऽत्

पूर्ववत् तकार की इत्संज्ञा हुई।[1]

(5) इटोऽत् (पूर्ववत्)।[1]

(6) इदमस्थमुः

'इदमस्थमु' (5.3.24) यहाँ 'थमु' प्रत्यय का विधान किया गया है, जिसकी 'प्राग्दिशो विभक्तिः' से विभक्ति सञ्ज्ञा होती है। 'थम्' इस रूप में उपदेश करने पर भी इसकी इत्संज्ञा का निषेध हो जाता है। तब 'थमु' इस प्रकार उपदेश व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि पूर्वोक्त प्रतिषेध अनित्य है। अनित्य होने के कारण 'किमोऽत्' तथा 'इटोऽत्' में तकार की इत्सञ्ज्ञा का निषेध नहीं होता है। यद्यपि इनकी 'प्राग्दिशो विभक्तिः' से विभक्ति सञ्ज्ञा हो जाती है।

(153) आदिर्ञिटुडवः *5* (2289)

इदिति वर्तते। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ञि, टु, डु–इत्येतेषां (3.2.18) समुदायानामादितो वर्त्तमानानामित्संज्ञा भवति। ञिमिदा (धा०पा० 743) मिन्नः (3.2.18)। ञिधृषा (धा०पा० 1270)–धृष्टः। ञिक्ष्विदा (धा०पा० 740) क्ष्विण्णः। ञिइन्धी (धा०पा० 1449) इद्धः। टुवेपृ (धा०पा० 367)–वेपथुः। टुओश्वि (धा०पा० 1010)–श्वयथुः। डुपचष् (धा०पा० 996)–पक्त्रिमम् (3.3.88)। डुवप् (धा० पा० 1003)–उप्त्रिमम्। डुकृञ् (धा०पा० 1473)

1. अन्य मत से यहाँ तकार उच्चारणार्थ माना गया है। इस दशा में 'त्' की इत्संज्ञा करने की आवश्यकता नहीं होती है। इत्संज्ञा से पूर्व ही इस 'त्' की निवृत्ति हो जाती है।

कृत्रिमम्। आदिरिति किम्? पटूयति, कण्डूयति। उपदेश इत्येव–ञिकारीयति।

अर्थ—'इत्' की अनुवृत्ति है। 'आदि' शब्द का प्रत्येक (ञि, टु, डु) के साथ सम्बन्ध है।

उपदेश अवस्था में (धातु[1] के) आदि में वर्तमान 'ञि', 'टु' तथा 'डु' इस समुदाय की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) भिन्नः

ञिभिदा—'ञि' की इत् संज्ञा हुई, 'तस्य लोपः' से लोप हुआ।
भिद् क्त → रदाभ्यां निष्ठातो०—
भिन्न सु → भिन्नः।

(2) धृष्टः

ञिधृषा—'ञि' की इत् संज्ञा व लोप,
धृष् त → धृष् ट—
धृष्टः—सु।

(3) क्ष्विण्णः

ञिक्ष्विदा—पूर्ववत्,
क्ष्विद् त → क्ष्विन्न—रदाभ्यां—,
क्ष्विण्णः—णत्व, सु।

(4) इद्धः

ञिइन्धी—पूर्ववत् अनुबन्धलोप,
इन्ध् त—अनुनासिक लोप,
इध् त → इध् ध—झषस्तथो०,
इद् ध — इद्धः—झलां जश् झशि, सु।

(5) वेपथुः

टुवेपृ—अनुबन्धलोप,
वेप् अथुच्—'हलन्त्यम्',
वेपथु → वेपथुः—सु।

(6) श्वयथुः

टुओश्वि → श्वि—अनुबन्धलोप,
श्वि अथुच् → श्वे अथु—गुण,
श्वयथुः—अयादेश, सु।

(7) पक्त्रिमम्

डुपचष्—अनुबन्धलोप,
पच् क्त्रि → पच् त्रि—ड्वितः क्त्रिः, लशक्वत०,
पक् त्रि मम्—क्त्रेर्मम् नित्यम्, हलन्त्यम्,
पक्त्रिमम्—सु।

(8) उप्त्रिमम्

डुवप् → वप् क्त्रि–
उप् त्रि—वचिस्वपियजा० से सम्प्रसारण,
उप्त्रिमम्—पूर्ववत्।

(9) कृत्रिमम्

डुकृञ्—कृ क्त्रि (पूर्ववत्),
कृत्रिमम्।

आदि० अर्थात् आदि में वर्त्तमान 'ञि' आदि की इत् संज्ञा होती है—

'कण्डूयति'[1] में 'डू' आदि में नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा नहीं हुई।

शङ्का होती है कि यहाँ 'डू' दीर्घान्त है तथा सूत्र में ह्रस्वान्त (डु) की इत्संज्ञा की गई है। यहाँ प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है। अतः 'आदि' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

कण्ड्वादि गण दो प्रकार का है—धातु व प्रातिपदिक। यहाँ 'कण्डु' धातु का ग्रहण है; 'कण्डू' प्रातिपदिक का नहीं। तब प्रकृत सूत्र में 'आदि' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।

इसी प्रकार 'पटूयति'[2] में 'टु' की इत् संज्ञा नहीं होती है।

उपदेशे अर्थात् उपदेश अवस्था में ही पूर्वोक्त इत्संज्ञा होती है—

(1) ञिकारीयति

ञिकार' शब्द उपदेश में वर्त्तमान नहीं है। अतः यहाँ प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है।

विशेष—'आदिर्ञिटुडवः' में 'टु' के द्वारा 'टवर्ग' का ग्रहण नहीं होता है, अपितु 'टु' इस अनुबन्धसमुदाय का ग्रहण होता है। यहाँ 'चुटू' में 'टु' का पाठ ज्ञापक है। 'चुटू' में 'टु' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'आदिर्ञिटुडवः' में 'टु' के द्वारा 'टु' वर्णसमुदाय का ग्रहण होता है; टवर्ग का नहीं।

(154) षः प्रत्ययस्य *6* (474)

षकारः प्रत्ययस्यादिरित्संज्ञो भवति। 'शिल्पिनि ष्वुन्'

1. 'भूवादयो धातवः' से 'धातवः' पद का अनुवर्तन कर विभक्ति व वचन का विपरिणाम करके 'धातोः' ऐसा पद बना लिया जाता है।

1. कण्डूञ् → कण्डू यक् (कण्ड्वादिभ्यो यक्) → कण्डूय (अकृत् सार्व०) → कण्डूय शप् तिप् → कण्डूयति।
2. पटु यक् → पटूय → पटूयति (पूर्ववत्)।

(3.1.145)–नर्त्तकी, रजकी। प्रत्ययस्येति किम्? षोडः, षण्डः, षडिकः। आदिरित्येव–'अविमह्योष्टिषच्' (उणा० 1.45)–अविषः, महिषः।

अर्थ—उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्तमान 'ष्' की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) नर्त्तकी

नृत् ष्वुन्—शिल्पिनि ष्वुन्, 'हलन्त्यम्' से नकार की तथा 'षः प्रत्ययस्य' से 'ष्' की इत्संज्ञा हुई, तस्य लोपः,

नृत् वु → नृत् अक—युवोरनाकौ,

नर्त् अक → नर्त्तक ङीष्—पुगन्तलघू०, षिद्गौरा०,

नर्तकी—यचि भम्, यस्येति च, अचो रहाभ्यां०, सु, सुलुक्।

(2) रजकी

रञ्ज् ष्वुन् → रञ्ज् वु—पूर्ववत्,

रज् अक—युवोरना०, रजकरजनरजः० (वा० 6.4.24) से अनुनासिकलोप,

रजकी—ङीष्, सु, सुलुक्।

प्रत्यय० अर्थात् प्रत्यय के आदि में 'ष्' की इत् संज्ञा होती है—

(1) षोडः

षड् दन्ता अस्य—अनेकमन्यपदार्थे,

षष् दन्त → षष् दतृ—वयसि दन्तस्य०,

षो दत् → षोडत्—षष उत्वं दतृदश० (पा० 5.1.9. वा०) से उत्व तथा ष्टुत्व,

षोडन्तमाचष्टे—'तत्करोति तदाचष्टे' से 'णिच्',

षोडत् णिच् → षोड् इ—णाविष्ठवत् कार्यं प्रातिपदि० से टिलोप,

षोड् अच्—नन्दिग्रहिपचा०, णेरनिटि,

षोडः—सु।

'षोडः' के आदि में 'ष्' है, परन्तु वह प्रत्यय का नहीं है। अतः इसकी इत् संज्ञा नहीं हुई।

(2) षडिकः

षडङ्गुलिदत्त ठच्—'बह्वचोऽमनुष्यनाम्न०' से 'ठच्',

षड् ठच्—ठाजादावूर्ध्वं० से 'अङ्गुलिदत्त' का लोप,

षड् इक—षडिकः—ठस्येकः, सु।

पूर्ववत् 'ष्' की इत्संज्ञा नहीं हुई।

आदि अर्थात् प्रत्यय के आदि में वर्तमान 'ष्' की इत् संज्ञा होती है—

(1) अविषः

अव् टिषच्—अविमह्योष्टिषच्,

अव् इष—'चुटू' से टकार की तथा 'हलन्त्यम्' से चकार की इत्संज्ञा होती है। 'ष्' प्रत्यय में वर्तमान है, परन्तु आदि में न होने के कारण इसकी इत् संज्ञा नहीं हुई—

अविषः—सु।

(2) महिषः

मह् टिषच् → मह् इष—

महिषः।

(155) चुटू *7* (189)

चवर्गटवर्गौ प्रत्ययस्यादी इत्संज्ञौ भवतः। 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' (4.1.98)–कौञ्जायन्यः। छस्य ईयादेशं वक्ष्यति (7.1.2)। जस्–ब्राह्मणाः (4.1.2)। झस्यान्तादेशं वक्ष्यति (7.1.3)। 'शण्डिकादिभ्यो ञ्यः (4.3.92)–शाण्डिक्यः। टवर्ग–'चरेष्टः' (3.2.16) कुरुचरी, मद्रचरी। ठस्य इकादेशं वक्ष्यति (7.3.50)। 'सप्तम्यां जनेर्डः' (3.2.97)–उपसरजः, मन्दुरजः। ढस्य एयादेशं वक्ष्यति (7.1.2)। 'अन्नाण्णः' (4.4.85)–आन्नः। पृथग्योगकरणमस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनार्थम्। 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (5.2.26)–केशचुञ्चुः केशचणः। 'अवात्कुटारच्च' (5.2.30)। 'नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः' (5.2.31)–अवटीटः। आदिरित्येव–'कर्म्मणि घटोऽठच्' (5.2.35)–कर्मठः।

अर्थ—उपदेश अवस्था में प्रत्यय के आदि में वर्तमान चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) कौञ्जायन्यः

कुञ्ज च्फञ्—'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' से 'च्फञ्',

कुञ्ज फ—'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की तथा 'चुटू' से 'च्' की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः',

कुञ्ज् आयन—आयनेयी०' से 'आयन',

कौञ्जायन सु—तद्धितेष्वचामादेः, सु,

कौञ्जायनः।

(2) 'आयनेयीनीयियः फढख०' सूत्र के द्वारा 'छ्' को 'ईय्' आदेश होता है। अतः प्रत्यय के आदि में स्थित 'छ्' की उक्त वचनसामर्थ्य से इत्संज्ञा नहीं होती है। यदि 'छ्' की इत्संज्ञा होने लगेगी तो उक्त 'ईय्' आदेश व्यर्थ हो जायेगा।

(3) ब्राह्मणाः,

ब्राह्मण जस्—'हलन्त्यम्' से 'स्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हुआ, 'चुटू' से 'ज्' की इत्संज्ञा,

ब्राह्मण अस् → ब्राह्मणाः।

(4) 'झस्य रन्' तथा 'झोऽन्तः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा 'झ्' को अन्तादेश कहे गये हैं। इस वचनसामर्थ्य से 'झ्' की इत् संज्ञा नहीं होती है।

(5) शाण्डिक्यः

शण्डिक ञ्य—तस्य निवासः, शण्डिकादिभ्यो ञ्यः,

शाण्डिक य—चुटू, तद्धितेष्वचामादेः,

शाण्डिक्यः—यस्येति च, सु।

(6) कुरुचरी

कुरुषु चरति—'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' तथा 'चरेष्टः' से 'ट'

कुरु चर् ट → कुरुचर् अ—चुटू—

कुरुचरी सु—टिड्ढाऽण्०, सु,

कुरुचरी—सुलुक्।

(7) मद्रचरी

मद्रचर् ट (पूर्ववत्)।

(8) 'ठस्येकः' से 'इक' आदेश कहा है। इस वचनसामर्थ्य से 'ठ' की इत्संज्ञा नहीं होती है।

(9) उपसरजः

उपसरे जातः—'सप्तम्यां जनेर्डः'- से 'ड',

उपसर जन् ड → उपसर जन् अ—'चुटू' से 'ड्' की इत्संज्ञा,

उपसर ज् अ—'डित् सामर्थ्याद् अभस्याऽपि०' (6.4.143. वा०) से टिलोप,

उपसरज सु → उपसरजः—सु।

(10) मन्दुरजः

मन्दुरा जन् ड—'ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसो०' से 'ड',

मन्दुरजः (पूर्ववत्)।

(11) 'आयनेयीनीयियः फढखछ०' से 'ढ्' को 'एय्' होता है। अतः वचनसामर्थ्य से इत्संज्ञा नहीं होती है।

(12) आन्नः

अन्नं लब्धा—अन्नाण्णः,

अन्न ण → अन्न अ—चुटू, तस्य लोपः,

आन्न अ—आन्न् अ → आन्न—

आन्नः।

पृथग्योग—'षः प्रत्ययस्य' तथा 'चुटू' इन दो सूत्रों के स्थान पर 'चुटुषं प्रत्ययस्य' ऐसा एक सूत्र बनाया जा सकता था, परन्तु दो पृथक्-पृथक् सूत्र बनाने का प्रयोजन है कि यह विधि अनित्य है। अतः 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' सूत्र के द्वारा विहित 'चुञ्चुप्' तथा 'चणप्' के चकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है। केशचुञ्चुः। केशचणः। इसी प्रकार 'अवात् कुटारच्च' तथा 'नते नासिकायाः सञ्ज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः' के द्वारा विहित 'कुटारत्' तथा 'टीटच्' के टकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती है। अवटीटः।

आदिरि० अर्थात् प्रत्यय के आदि में वर्त्तमान चवर्ग तथा टवर्ग की इत्संज्ञा होती है—

'कर्मणि घटोऽठच्' के द्वारा 'अठच्' होता है। प्रत्यय के मध्य में स्थित टवर्गीय ठकार की इत् संज्ञा नहीं होती है।

(156) लशक्वतद्धिते *8* (195)

तद्धितवर्जितस्य प्रत्ययस्यादितो वर्त्तमाना लकारशकार-कवर्गा इत्संज्ञा भवन्ति। लकारः-'ल्युट् च' (3.3.115)-चयनम्, जयनम्। शकारः-'कर्त्तरि शप्' (3.1.68)-भवति, पचति। कवर्गः-'क्तक्तवतू निष्ठा' (3.1.26)-भुक्तः, भुक्तवान्। 'प्रियवशे वदः खच्' (3.2.38)-प्रियंवदः, वशंवदः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (3.2.139)-ग्लास्नुः, जिष्णुः, भूष्णुः। 'भञ्जभासमिदो घुरच्' (3.2.161)-भङ्गुरम्। 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (5.2.96)-वृक्षात्, वृक्षस्य। अतद्धित इति किम्? चूडालः (5.2.96), लोमशः (5.2.100), कर्णिका (4.3.65)।

अर्थ—उपदेश अवस्था में प्रत्यय के आदि में वर्तमान लकार, शकार तथा कवर्ग की इत्संज्ञा होती है, तद्धित को छोड़कर।

उदा० (1) चयनम्

चि ल्युट्—'धातोः' से धातुसंज्ञा, 'ल्युट् च' से 'ल्युट्',

चि ल्यु → चि यु—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते,

चि अन → चे अ—युवोरनाकौ, सार्वधातुकार्धधातु०,

चय् अन → चयनम्—अयादेश, सु।

(2) जयनम्

जि ल्युट्—पूर्ववत्,

जयन → जयनम्।

(3) भवति

भू तिप्—भूवादयो धातवः, वर्तमाने लट्, तिप्तस्झि०,

भू शप् तिप्—तिङशित्सार्व०, कर्त्तरि शप्, अनुबन्धलोप,
भो अ ति → भवति—सार्वधातुकार्ध०, एचोऽयवायाव: ।

(4) भुक्त:
भुज् क्त—निष्ठा, क्तक्तवतू निष्ठा, लशक्वतद्धिते,
भुक्त सु → भुक्त: ।

(5) भुक्तवान्
भुज् क्तवतु—पूर्ववत्,
भुक्तवत् सु → भुक्तवान् ।

(6) प्रियवंद:
प्रियवद् खच्—'प्रियंवशे वद: खच्' से 'खच्',
प्रिय वद् अ—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते,
प्रिय मुम् वद् अ—'अरुर्द्विषद०' से 'मुम्',
प्रियंवद:—अनुस्वार, सु ।

(7) वशंवद:
वश वद् खच् → पूर्ववत्,
वशंवद:—सु ।

(8) ग्लास्नु:
ग्लै → ग्ला → ग्ला ग्स्नु—आदेच उपदेशेऽशिति, ग्लाजिस्थ०, गकार की इत्संज्ञा,
ग्लास्नु:—सु ।

(9) जिष्णु:
जि स्नु—ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु:,
जिष्णु: (पूर्ववत्) ।

(10) भूष्णु:
पूर्ववत् इत् संज्ञा ।

(11) भङ्गुरम्
भञ्ज् घुरच्—'भञ्जभासमिदो घुरच्' से 'घुरच्',
भञ्ज् उर—'हलन्त्यम्' से 'च्' की तथा 'लशक्वतद्धिते' से 'घ्' की इत्संज्ञा हुई,
भन्ग् उर—'चजो: कु घिण्ण्यतो:' से कुत्व, 'ञ्' को 'न्' हुआ,
भंगुर → भङ्गुर:—नश्चाऽपदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:, सु ।

(12) वृक्षात्
वृक्ष ङसि—'ङ्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, 'टाङसिङसामिनात्०' से 'आत्'—
वृक्ष आत् → वृक्षात् ।

(13) वृक्षस्य
वृक्ष ङस्—पूर्ववत् 'स्य' आदेश,
वृक्षस्य → वृक्षस्य ।

अतद्धित० अर्थात् तद्धितभिन्न लकार, शकार तथा कवर्ग की इत्संज्ञा होती है—

(1) चूडाल:
चूडा लच्—प्राणिस्थादातो० के द्वारा 'लच्', 'हलन्त्यम्' से 'च्' की इत्संज्ञा हुई, 'लशक्वतद्धिते' से 'ल्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई । 'लच्' तद्धित प्रत्यय है । अत: इत् संज्ञा नहीं हुई ।
चूडाल:—सु ।

(2) लोमश:
लोम श—लोमादिपामादि० से 'श', 'लशक्वतद्धिते' से 'श्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, तद्धितप्रत्यय होने से इत्संज्ञा नहीं हुई,
लोमश:—सु ।

(3) कर्णिका
कर्ण कन्—'कर्णललाटात् कन्' से 'कन्', पूर्ववत् 'क्' की इत्संज्ञा का निषेध,
कर्णक टाप् → कर्णिका—टाप्, सु, सुलुक् ।

(157) तस्य लोप: *9* (62)

तस्येत्संज्ञकस्य लोपो भवति । तथा चैवोदाहृतम् । तस्य ग्रहणं सर्वलोपार्थम् । अलोऽन्त्यस्य (1.1.52) मा भूत् 'आदिर्ञिटुडव:' (1.3.5) इति ।

अर्थ—उस इत्संज्ञक का लोप होता है ।

पूर्ववर्ती सूत्रों ('उपदेशेऽजनु०' 1.3.2. से 'लशक्वतद्धिते' 1.3.8. तक) के द्वारा विहित इत्संज्ञक शब्द (अथवा वर्ण) का लोप होता है ।

तस्य—'तस्य' पद का ग्रहण सर्वलोप के लिए है । यदि प्रकृत सूत्र में 'तस्य' पद का पाठ न किया जाता तो यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा प्रसक्त होती है । उस दशा में 'ञि' आदि के अन्त्य वर्ण का ही लोप होता है । 'तस्य' पद का ग्रहण होने से समग्र वर्णसमुदाय (ञि) का लोप होता है ।

ध्यातव्य है कि 'अइउण्' आदि चौदह प्रत्याहारसूत्रों में 'हलन्त्यम्' के द्वारा 'ण्' आदि अनुबन्धों की इत्संज्ञा होती है, परन्तु इनका लोप नहीं होता है । यदि इन अनुबन्धों का लोप हो जाता तो अक्, अण् आदि संज्ञाएँ नहीं बन पातीं ।

(158) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् *10* (128)

संख्याशब्देनात्र क्रमो लक्ष्यते। यथासंख्यं यथाक्रममनुदेशो भवति। अनुदिश्यत इत्यनुदेशः। पश्चादुच्चार्यत इत्यर्थः। समानां समसंख्यानां समं परिपठितानामुद्देशिनामनुदेशिनां च यथाक्रमम् उद्देशिभिरनुदेशिनः सम्बध्यन्ते। 'तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' (4.3.94)। प्रथमात् प्रथमः, द्वितीयाद् द्वितीय इत्यादि। तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः। कौचवार्यः। समानामिति किम्? 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' (1.4.90) लक्षणादयश्चत्वारोऽर्थाः, प्रत्यादयस्त्रयः, सर्वेषां सर्वत्र कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति। इह कस्मान्न भवति–'वेशोयशआदेर्भगाद्यल्' (4.4.131) 'ख च' (4.4.132) इति? स्वरितेन लिङ्गेन यथासंख्यम्। यत्र नेष्यते, तत्र स्वरितत्वं न प्रतिज्ञायते। 'स्वरितेनाधिकारः' (1.3.11) इति स्वरितग्रहणं पूर्वेणापि सम्बध्यते।

अर्थ—संख्या = क्रम। अनुदेश = जिसका बाद में उच्चारण किया जाय। अनुदिष्ट समान संख्या वालों का कार्य यथाक्रम होता है। भाव यह है कि पहले के स्थान पर पहला, दूसरे के स्थान पर दूसरा—इसी प्रकार क्रमशः होता है।

उदा० (1) तौदेयः

तूदी ढक्—'तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' से 'तूदी' आदि को 'ढक्' आदि प्रत्यय प्राप्त हुए। प्रकृत सूत्र ने व्यवस्था की कि समान संख्या वाले उद्देशी (तूदी आदि) को समसंख्यक अनुदेशी (ढक्) क्रमशः होते हैं। तब तूदी (प्रथम) को 'ढक्' (प्रथम) ही हुआ—

तूदी एय—'आयनेयी०' से 'एय्',

तौदेयः—आदिवृद्धि, सु।

(2) शालातुरीयः

शलातुर छण्—प्रथम को प्रथम तथा द्वितीय (शालातुर) को द्वितीय (छण्) हुआ—

शलातुर ईय → शालातुरीय—'आयनेयी०' से,

शालातुरीयः—सु।

(3) वार्म्मतेयः

वर्मती ढञ् → तृतीय (वर्मती) को तृतीय (ढञ्) हुआ वार्म्मतेयः। अचो रहाभ्यां०, सु।

(4) कौचवार्यः

कूचवार यक्—चतुर्थ (कूचवार) के स्थान पर चतुर्थी (यक्) हुआ—

कौचवार्यः—सु।

समानाम्—उद्देशी तथा अनुदेशी के समसंख्यक होने की दशा में ही यथासंख्य नियम काम करता है—

'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' यहाँ 'लक्षण' आदि चार उद्देशी हैं तथा 'प्रति' आदि अनुदेशी तीन हैं। इनकी संख्या समान नहीं है। अतः यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है। अतः 'प्रति' आदि सभी की सभी स्थानों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

वेशो—'वेशो यश आदेर्भगाद्यल्०' में दो उद्देशी (वेशोभग, यशोभग) हैं तथा दो ही अनुदेशी (यल्, ख) हैं। प्रकृत सूत्र के द्वारा यथा संख्यनियम की प्राप्ति हुई, परन्तु यहाँ यथासंख्य नहीं होता है। 'स्वरितेनाऽधिकारः' (1.3.11.) का योगविभाग किया जाता है—स्वरितेन, अधिकारः। इसका सम्बन्ध यथासंख्य नियम के साथ जोड़ कर इसका अर्थ किया जाता है कि यथासंख्य नियम वहीं होगा, जहाँ स्वरित का निर्देश होगा। 'वेशो यश आदेर्भ०' में स्वरित का निर्देश न होने से यथा संख्यनियम लागू नहीं होगा।[1]

(159) स्वरितेनाधिकारः *11* (46)

स्वरितेनेति इत्थंभूतलक्षणे (2.3.21) तृतीया। स्वरितो नाम स्वरविशेषो वर्णधर्मः, तेन चिह्नेनाधिकारो वेदितव्यः। अधिकारः विनियोगः। स्वरितगुणयुक्तं शब्दरूपमधिकृतत्वादुत्तरत्रोपतिष्ठते। 'प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः' (व्या० प० 122), 'प्रत्ययः' (3.1.1), 'धातोः' (3.1.91), 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (4.1.1), 'अङ्गस्य' (6.4.1), 'भस्य' (6.4.129), 'पदस्य' (8.1.16)।

अर्थ—'स्वरितेन' यहाँ 'इत्थम्भूतलक्षणे' से तृतीया हुई है। स्वरित एक स्वरविशेष है, जो अच् वर्णों का धर्म कहा गया है। जहाँ स्वरित के द्वारा निर्देश हो, उसे 'अधिकार' जानना चाहिए।

स्वरित—स्वरित गुण से युक्त शब्दरूप अधिकार होने के कारण उत्तरवर्ती शास्त्र में अनुवृत्त होता चलता है। आचार्य पाणिनि

1. काशिकाकार ने 'वेशो यशआदेर्भगाद्यल्' (4.4.131.) तथा 'ख च' (4.4.132.) इस प्रकार दो सूत्र माने हैं। इस दशा में यथासंख्य नियम की स्वतः निवृत्ति हो जाती है तथा 'स्वरितेनाऽधिकारः' के योगविभाग की आवश्यकता नहीं है। काशिकाकार ने 'स्वरितेनाऽधि०' सूत्र के योगविभाग का जो सुझाव दिया है, यह किसी अन्य आचार्य का मत है।

ने अपने शास्त्र के प्रवचनकाल के समय 'स्वरित' का उपदेश किया था, जो सम्प्रति व्यवहार से लुप्त हो चुका है। आजकल प्रतिज्ञावशात् ही स्वरितत्व का ज्ञान होता है।

उदा० प्रत्ययः। धातोः। ङ्याप्प्रातिपदिकात्। अङ्गस्य। भस्य। पदस्य। ये सभी अधिकार हैं।

(160) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् *12* (2157)

अविशेषेण धातोरात्मनेपदं परस्मैपदं च विधास्यते, तत्रायं नियमः क्रियते। अनुदात्तेतो ये धातवो ङितश्च तेभ्य एव आत्मनेपदं। भवति, नान्येभ्यः। अनुदात्तेद्भ्यः-आस् (धा० पा० 1022)–आस्ते। वस् (धा०पा० 1024)–वस्ते। ङिद्भ्यः खल्वपि–षूङ् (धा०पा० 1032)–सूते। शीङ् (धा०पा० 1033)–शेते।

अर्थ—धातु का आत्मनेपदित्व व परस्मैपदित्व का विधान किया जा रहा है। अनुदात्तेत् (= जिसका अनुदात्त इत् है) तथा ङित् (जिसका 'ङ्' इत् है) धातु आत्मनेपदी होता है।

'इत्' पद का सम्बन्ध 'अनुदात्त' व 'ङ्' दोनों के साथ है।

उदा० (1) आस्ते

आसँ—सकारोत्तरवर्त्ती अकार अनुनासिक व अनुदात्त है। इसकी 'उपदेशेऽजनुनासि०' से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हुआ, प्रकृत सूत्र के 'आस्' धातु की आत्मनेपद संज्ञा हुई,

आस् लट्—वर्त्तमाने लट्, लस्य, तङानावात्मनेपदम्,
आस त → आस्ते—टित आत्मनेपदानां टेरे।

(2) वस्ते
वस → वस् त → वस्ते (पूर्ववत्)।

(3) सूते
षूङ् → षू → सू—'धात्वादेः षः सः' से 'ष्' को 'स्' हुआ। 'ङ्' की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपद संज्ञा,
सूत → सूते—पूर्ववत् तङ् प्रत्यय, टि को एत्व।

(4) शेते
शीङ् → शी—पूर्ववत् आत्मनेपद संज्ञा, शप्,
शेते—शप्, लुक्, सार्वधातुकार्धधातु०।

विशेष—1. धातुपाठ में प्रयोजनवशात् उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वर जोड़े गये हैं। ये अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होते हैं। जिस धातु का अनुदात्त स्वर इत् होता है, वह अनुदात्तेत् कहलाता है।

2. इसी प्रकार प्रयोजनवशात् आचार्य ने धातुपाठ में धातुओं का अनुबन्धसहित पाठ किया है। जिस धातु का ङकार अनुबन्ध होता है, वह ङित् धातु कहलाता है।

3. प्रस्तुत सूत्र में 'धातोः' पद 'भूवादयो धातवः' से यथाप्राप्त है। अतः तदन्त परिभाषा के द्वारा 'अन्त' शब्द भी प्राप्त है। 'बोभूय' (यङ् प्रत्ययान्त) आदि धातु से आत्मनेपद विधान के लिये 'अन्तः' पद का योग आवश्यक है।

4. चूँकि इत्सञ्ज्ञा औपदेशिक अच् या हल् की ही होती है। अतः 'इत्' कहने से 'उपदेशे' पद की अनुवृत्ति यहाँ अर्थतः प्राप्त है।

(161) भावकर्मणोः *13* (2679)

'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (3.4.69) इति भाव-कर्मणोर्विहितस्य लस्य तिबादयः सामान्येन वक्ष्यन्ते, तत्रेदमुच्यते—भावे कर्मणि चात्मनेपदं भवति। भावे-ग्लायते भवता, सुप्यते भवता, आस्यते भवता। कर्मणि-क्रियते कटः, ह्रियते भारः। कर्म्मकर्त्तरि-लूयते केदारः स्वयमेवेति, परस्मैपदं न भवति। तस्य (1.3.78) विधाने द्वितीयं कर्तृग्रहणमनुवर्त्तते (1.3.14)। तेन कर्त्तैव यः कर्त्ता तत्र परस्मैपदं भवति।

अर्थ—'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' के द्वारा भाव तथा कर्म में विहित लकार के स्थान पर सामान्यरूपेण तिप् आदि कहे जा रहे हैं।

भाव और कर्म में हुए लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होता है।

उदा० (1) ग्लायते (भवता)
ग्लै → ग्ला → ग्ला लट् → ग्ला त—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार, भाव में लट्, आत्मनेपद प्रत्यय, तङानावात्मनेपदम्,
ग्ला यक् त्—तिङ् शित्सार्वधातु०, सार्वधातुके यक्,
ग्लायते—टि को एत्व।

(2) सुप्यते (भवता)
स्वप् यक् त—पूर्ववत्, त, यक्,
सुप्यते—वचिस्वपियजा० से सम्प्रसारण, एत्व।

(3) आस्यते (भवता)
आस् त → आस् यक् त → आस्यते (पूर्ववत्)।

(4) क्रियते (कटः)

कृ त → कृ य त → पूर्ववत् यक्,
क्रियते—रिङ्शयग्लिङ्क्षु ।

(5) ह्रियते (भारः)
हृ त → हृ य त → ह्रियते (पूर्ववत्) ।

कर्मकर्त्त—कर्मकर्ता में 'लुप्यते केदारः स्वयमेव' यहाँ परस्मैपद नहीं हुआ । इसके विधान में द्वितीय 'कर्तृ' पद का ग्रहण का अनुवर्त्तन होता है । अतः जहाँ कर्त्ता के समान कर्त्ता हो, वहाँ ही परस्मैपद होता है ।

विशेष—'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' सूत्र में लकार के तीन अर्थ बताये गये हैं—कर्त्ता, कर्म और भाव । सकर्मक धातुओं से लकार कर्म व कर्त्ता अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाव तथा कर्त्ता अर्थ में होते हैं ।

सकर्मक व अकर्मक भेद से धातु दो प्रकार का होता है । जिस धातु का कर्म होता है, वह 'सकर्मक' कहलाता है । जिस धातु का कर्म नहीं होता है, वह 'अकर्मक' धातु होता है । यथा—

क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम् ।
सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ।।

अर्थात् जहाँ क्रियापद कर्तृपद से युक्त होकर 'किम्' शब्द की अपेक्षा करता है, उसे 'सकर्मक' कहा जाता है । जहाँ क्रियापद कर्तृपद से युक्त होकर 'किम्' शब्द की अपेक्षा नहीं करता, उसे 'अकर्मक' कहा जाता है । इस विषय में व्यवस्था इस प्रकार है—

लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवनमरणम् ।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥

अर्थात् कारिकोक्त लज्जा आदि अर्थ वाले धातु अकर्मक होते हैं ।

(क) जब क्रिया और कर्त्ता का अधिकरण (= आश्रय) परस्पर समान होता है, तब कर्तृवाच्य क्रिया होती है । इसमें क्रिया कर्त्ता को कहती है ।

(ख) जब क्रिया और कर्म का अधिकरण एक होता है तो कर्मवाच्य क्रिया बनती है । कर्मवाच्य में क्रिया कर्म को कहती है ।

(ग) भाववाच्य क्रिया में भावमात्र कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र भावकर्म-प्रक्रिया को कहता है । यहाँ 4 बातें मुख्य हैं—

(1) 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद होता है ।
(2) 'सार्वधातुके यक्' से यक् होता है ।
(3) 'चिण् भावकर्मणोः' से 'चिण्' होता है ।
(4) 'स्यसिच्०' चिण्वद्भाव होता है ।

(162) कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे *14* (2680)

कर्मशब्दः क्रियावाची, व्यतीहारो विनिमयः । यत्रान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनीं चेतरः, स कर्मव्यतीहारः । तद्विशिष्टक्रियावचनाद्धातोरात्मनेपदं भवति । व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते । कर्मव्यतीहार इति किम् ? लुनन्ति । कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' (1.3.78) इति ।

अर्थ—कर्म शब्द क्रियावाची है । व्यतिहार 'अदला-बदली' को कहते हैं । जहाँ किसी के कार्य को अन्य करता है तथा अन्य के कार्य को वह स्वयं करता है, उसे कर्मव्यतीहार कहते हैं ।

क्रिया के अदल-बदल करने में कर्तृवाच्य में आत्मनेपद होता है ।

उदा० (1) व्यतिलुनते
'वि' तथा 'अति' पूर्वक 'लू' धातु से कर्मव्यतीहार अर्थ में आत्मनेपद प्रत्यय हुआ—

व्यति लू झ—बहुत्व में 'झ' हुआ,
व्यति लू श्ना झ—क्र्यादिभ्यः श्ना, सार्वधातुकमपित्,
व्यति लू न् झ—श्नाऽभ्यस्तयोरातः,
व्यति लू न् अत—आत्मनेपदेष्वनतः, प्वादीनां ह्रस्वः,
व्यति लु न त → व्यतिलुनते—एत्व ।

(2) व्यतिपुनते
व्यति पू झ—पूर्ववत्,
व्यतिपुनते ।

कर्मव्य० अर्थात् कर्मव्यतीहार में ही आत्मनेपद होता है—

(1) लुनन्ति
लु झि—यहाँ कर्मव्यतीहार नहीं है । अतः आत्मनेपद नहीं हुआ, परस्मैपद हुआ, 'झ' हुआ ।
लू श्ना अन्ति—क्र्यादिभ्यः श्ना, झोऽन्तः,
लुनन्ति—श्नाऽभ्यस्तयोरातः ।

विशेष—1. कर्मव्यतीहार के निम्नलिखित तीन स्थान माने जाते हैं—

(क) एक के योग्य कार्य को यदि दूसरा करे तो उसे 'कर्मव्यतीहार' कहते हैं । यथा—ब्राह्मणः क्षेत्रं व्यतिलुनीते । यहाँ मजदूरों के योग्य काटना रूप कार्य को ब्राह्मण करता है । अतः क्रियाव्यतीहार हो गया ।

(ख) एक-दूसरे के साथ एक जैसी पारस्परिक क्रिया को भी 'क्रियाव्यतीहार' कहा जाता है । यथा—राजानः सम्प्रहरन्ते । राजा

लोग एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं। 'कृषका: क्षेत्रं व्यतीलुनते' अर्थात् किसान एक-दूसरे का खेत काटते हैं।

(ग) किसी विषय में एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर होना भी 'क्रिया-व्यतीहार' कहलाता है। यथा—व्यतिभाते (नै० 2.22.)। यहाँ दमयन्ती के मातृ व पितृ दोनों कुलों का एक-दूसरे से अधिक प्रसिद्ध होना बताया है।

2. कर्मव्यतीहार अर्थ में पूर्वोक्त 'व्यति' उपसर्गद्वय के विना भी कुछ धातुओं से आत्मनेपद देखा जाता है। यथा—प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे (कालिदास)।

(163) न गतिहिंसार्थेभ्यः *15* (2681)

पूर्वेणात्मनेपदं प्राप्तं प्रतिषिध्यते। गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्मव्यतीहारे आत्मनेपदं न भवति। व्यतिगच्छन्ति। व्यतसर्पन्ति। हिंसार्थेभ्यः-व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति। * प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम् * (म० भा०)। व्यतिहसन्ति। व्यतिजल्पन्ति। व्यतिपठन्ति। *हरतेरप्रतिषेधः* (म० भा०)। सम्प्रहरन्ते राजानः।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा आत्मनेपद प्राप्त होने पर निषेध किया जा रहा है।

क्रिया के अदल-बदल अर्थ में गति अर्थ वाले तथा हिंसा अर्थ वाले धातु से आत्मनेपद प्रत्यय नहीं होता है।

उदा० (1) व्यतिगच्छन्ति

व्यति गम्—कर्म का व्यतीहार है। गति अर्थ वाला 'गम्' धातु है। 'कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे' से आत्मनेपद प्रत्यय प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र ने निषेध किया—परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय हुआ—

व्यति गम् झि → व्यति गच्छ् शप् झि—शप्, 'इषुगमियमां छः',

व्यतिगच्छन्ति—झोऽन्तः।

(2) व्यतिसर्पन्ति

व्यति सृप् झि—पूर्ववत् परस्मैपद हुआ,

व्यतिसर्पन्ति।

(3) व्यतिहिंसन्ति

व्यति हिसि—व्यति हिंस्—इदितो नुम् धातोः, नश्चाऽपदान्त० कर्मव्यतीहार अर्थ में 'कर्त्तरि कर्मव्यती०' से आत्मनेपद प्राप्त हुआ। हिंस्' हिंसार्थक् धातु है। अतः आत्मनेपद का निषेध हुआ—

व्यति हिंस् झि—परस्मैपद हुआ,

व्यतिहिंसन्ति।

(4) व्यतिघ्नन्ति

व्यति हन् झि—पूर्ववत् परस्मैपद,

व्यतिघ्नन्ति।

प्रतिषेधे हसादीनामुपसङ्ख्यानम् (वा०) अर्थात् हस् आदि धातुओं से कर्मव्यतीहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) व्यतिहसन्ति

व्यति हस्—'कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे' से आत्मनेपद प्राप्त हुआ, प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा निषेध हुआ,

व्यति हस् झि → व्यतिहसन्ति।

(2) व्यतिजल्पन्ति

व्यति जल्प् झि—पूर्ववत्,

व्यतिजल्पन्ति।

(3) व्यतिपठन्ति

व्यति पठ् झि → व्यतिपठन्ति।

हरतेरप्रतिषेधः अर्थात् हिंसा अर्थ वाले 'हृ' धातु से आत्मनेपद का प्रतिषेध नहीं होता है, कर्मव्यतीहार अर्थ में—

(1) सम्प्रहरन्ते (राजानः)

सम् प्र हृ—कर्मव्यतीहार अर्थ में 'कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे' से आत्मनेपद प्राप्त हुआ। सम् व प्र पूर्वक 'हृ' धातु हिंसार्थक है। अतः 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से आत्मनेपद का निषेध हुआ। प्रकृत वार्त्तिक ने निषेध का निषेध कर दिया। आत्मनेपद हुआ—

सम्प्रहरन्ते—पूर्ववत्।

(164) इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च *16* (2682)

इतरेतरोऽन्योऽन्यः इत्येवमुपपदाद्धातोः कर्मव्यतीहारे आत्मनेपदं न भवति। इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति। अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति। * परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम् * (मा० भा०)। परस्परस्य व्यतिलुनन्ति।

अर्थ—'इतरेतर' तथा 'अन्योऽन्य' शब्दों के उपपद रहते धातु से आत्मनेपद नहीं होता है, कर्मव्यतीहार अर्थ में।

उदा० (1) इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति

'इतरेतर' उपपद रहते 'व्यति' पूर्वक 'लू' धातु से प्राप्त आत्मनेपद का निषेध हो गया।

(2) अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति

'अन्योऽन्य' उपपद रहते 'व्यति' पूर्वक 'लू' धातु से प्राप्त आत्मनेपद का निषेध हो गया।

परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम् अर्थात् 'परस्पर' उपपद रहते धातु से आत्मनेपद का निषेध होता है, कर्मव्यतीहार अर्थ में—

(1) परस्परस्य व्यतिलुनन्ति

आत्मनेपद का निषेध हुआ। परस्मैपद हो गया।

(165) नेर्विशः *17* (2683)

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (1.3.78) इति परस्मैपदे प्राप्ते निपूर्वाद्विश आत्मनेपदं विधीयते। नेः परस्माद्विश आत्मनेपदं भवति। निविशते, निविशन्ते। नेरिति किम्? प्रविशति। 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (व्या०प० 11)। तेनाटा नास्ति व्यवधानम्–न्यविशत। नेरुपसर्गस्य ग्रहणम्, 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' (व्या०प० 1) इति। तस्मादिह न भवति–मधुनि विशन्ति भ्रमराः।

अर्थ—'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद प्राप्त होने पर 'नि' पूर्वक् 'विश्' धातु से आत्मनेपद का विधान किया जा रहा है। 'नि' पूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) निविशन्ते

निविश—'विश्' धातु परस्मैपदी है, परन्तु 'नि' पूर्वक 'विश्' से आत्मनेपद हुआ—

नि विश् झ → निविश् शप् झ—झ, शप्,

निविशन्ते—झोऽन्तः, टित आत्मनेपदानां—

नेरिति० अर्थात् नि पूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) प्रविशति

प्र विश्—यहाँ 'विश्' से पूर्व 'नि' नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ। यथाप्राप्त परस्मैपद हुआ—

प्रविश् शप् तिप् → प्रविशति।

यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते अर्थात् जो आगम होते हैं, वे उसके ग्रहण से गृहीत हो जाते हैं। अतः यहाँ भी आत्मनेपद हो जाता है—

(1) न्यविशत

नि विश् त—लङ् आत्मनेपद हुआ। अट् आगम का व्यवधान होने पर भी आत्मनेपद हुआ—

न्यविशत।

नेरुपस० अर्थात् यहाँ 'नि' उपसर्ग का ग्रहण है। अर्थवान् का ग्रहण करने में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है। अतः यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) मधुनि विशन्ति भ्रमराः

यहाँ 'विशन्ति' से पूर्व 'मधुनि' का 'नि' है, जो उपसर्ग नहीं है। तथाच, 'नि' अनर्थक भी है। अतः यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ।

(166) परिव्यवेभ्यः क्रियः *18* (2684)

'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (धा०पा० 1474), ञित्वात्कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमात्मनेपदम्। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। परिव्यवेभ्य उत्तरस्मात्क्रीणातेरात्मनेपदं भवति। परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते। पर्यादय उपसर्गा गृह्यन्ते, तेनेह न भवति–बहुवि क्रीणाति वनम्।

अर्थ—कर्तृपरक क्रियाफल की दशा में 'क्री' धातु से आत्मनेपद सिद्ध है। तब अकर्त्रभिप्राय के अर्थ में यह व्यवस्था की जा रही है। परि, वि तथा अव उपसर्गपूर्वक 'क्री' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) परिक्रीणीते

डुक्रीञ्—'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की इत्संज्ञा तथा 'आदिर्ञिटुडवः' से 'डु' की इत्संज्ञा होती है। 'ञित्' होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' से उभयपद की प्राप्ति होती है—

परिक्रीत—कर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद सिद्ध ही है। तब अकर्त्रभिप्राय में भी आत्मनेपद हुआ—

परि क्री श्ना त—क्र्यादिभ्यः श्ना, लशक्वतद्धिते,

परिक्रीणीते।

(2) विक्रीणीते

वि क्री त—पूर्ववत्,

विक्रीणीते।

(3) अवक्रीणीते

अव क्री श्ना त—पूर्ववत्,

अवक्रीणीते।

पर्यादय—यहाँ परि, वि तथा अव—इन उपसर्गों का ग्रहण होता है तथा अनर्थक 'परि' आदि का ग्रहण नहीं होता है—

(1) बहुवि क्रीणाति वनम्

बहवो वयो यत्र—बहुवि शब्द बनता है। तब 'बहुवि क्रीणाति वनम्' इस वाक्य में 'क्री' से पूर्व 'वि' है; परन्तु यह उपसर्ग नहीं है। अतः 'क्री' से आत्मनेपद नहीं हुआ।

(167) विपराभ्यां जेः *19* (2685)

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् (1.3.78) इत्यस्यापवादः। विपरापूर्वाज्जयतेर्धातोरात्मनेपदं भवति। विजयते, पराजयते। विपराशब्दावुपसर्गौ गृह्येते, साहचर्यात्। तेनेह न भवति–बहुवि जयति वनम्, परा जयति सेनेति (म० भा०)।

अर्थ—यह 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' का अपवाद है। 'वि' तथा 'परा' उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) विजयते
वि जि—'जि' परस्मैपदी धातु है। विपूर्वक होने से आत्मनेपद हुआ—
वि जि त → वि जि शप् त → विजयते।

(2) पराजयते
परा जित—पूर्ववत् आत्मनेपद,
पराजयते।

विपरा—'वि' तथा 'परा' के द्वारा 'वि' व 'परा' उपसर्गों का ही ग्रहण होता है, अनर्थक 'वि' तथा 'परा' का ग्रहण नहीं होता है—

(1) बहुवि जयति वनम्
यहाँ 'जि' से पूर्व 'वि' है; परन्तु वह उपसर्ग नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) परा जयति सेनेति
यहाँ 'परा' उपसर्ग नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(168) आङो दोऽनास्यविहरणे *20* (2686)

अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। आङ्पूर्वाद्ददातेः अनास्यविहरणे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। विद्यामादत्ते। अनास्यविरहण इति किम्? आस्यं व्याददति। *आस्यविहरणसमानक्रियादपि प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। विपादिकां व्याददाति। कूलं व्याददाति (म० भा०)। *स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् (म० भा०)।

अर्थ—अकर्त्रभिप्राय अर्थ के लिए विधान किया जा रहा है। 'मुख खोलना' इस अर्थ को छोड़कर अन्य में 'आ' पूर्वक 'दा' धातु से आत्मनेपद होता है।

आपूर्वक 'दा' धातु के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—

उदा० (क) ग्रहण करना,
(ख) मुख खोलना।

(1) आदत्ते (विद्याम्)
आ दा त—यहाँ आपूर्वक दा का अर्थ 'ग्रहण करना' है। 'मुख खोलना' अर्थ न होने के कारण आत्मनेपद हुआ।
आ दद् त — आदत्ते।

अनास्य० अर्थात् **'मुख खोलना'** अर्थ को छोड़ अन्य अर्थ में आत्मनेपद होता है—

(1) व्याददाति (आस्यम्)
वि तथा आपूर्वक 'दा' का अर्थ 'मुख खोलना' है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ; परस्मैपद हुआ।
व्या दा तिप् — व्याददाति।

आस्यविहरणसमानक्रियादपि प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—'मुख खोलना' के समान क्रियाओं से भी आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) व्याददाति (विपादिकाम्)
व्याददाति विपादिकाम् (= पैर की बिवाई को खोलता है) यहाँ 'मुख खोलना' से मिलती-जुलती क्रिया है। अतः आत्मनेपद का निषेध हो गया।

(2) व्याददाति (कूलम्)
कूलं व्याददाति (= किनारे को काटता है)—यहाँ पूर्ववत् आत्मनेपद का निषेध हो गया है।

स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)—जहाँ 'आ' पूर्वक 'दा' धातु का कर्म स्वाङ्ग हो तथा 'आस्य विहरण' अर्थ हो तो आत्मनेपद का निषेध होता है। यथा—

(1) व्याददते पिपीलिका पतङ्गस्य मुखम्—यहाँ 'वि' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु का अर्थ 'मुख खोलना' नहीं है तथा इसका कर्म स्वाङ्ग नहीं है। अतः आत्मनेपद हो गया।

(169) क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च *21* (2687)

'क्रीड़ विहारे' (धा० पा० 350)। एतस्माद् अनु, सम्, परि–इत्येवम्पूर्वाद् आङ्पूर्वाच्चात्मनेपदं भवति। अनुक्रीडते, संक्रीडते, परिक्रीडते। आङः खल्वपि–आक्रीडते। समासाहचर्यादन्वादिरुपसर्गो गृह्यते। तेनेह कर्मप्रवचनीयप्रयोगे न भवति–माणवकमनुक्रीडति (म० भा०)। *समोऽकूजने इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–संक्रीडन्ति शकटानि। *आगमेः क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्* (म०

भा०)। क्षमा उपेक्षा कालहरणमिति यावत्। आगमयस्व तावन्माणवकम्। *शिक्षेर्जिज्ञासायाम्* (म०भा०)। विद्यासु शिक्षते (म०भा०)। *आशिषि नाथः* (म० भा०)। सर्पिषो नाथते। मधुनो नाथते (म०भा०)। आशिषीति किम्? माणवकमनुनाथति। *हरतेर्गत-ताच्छील्ये* (म०भा०)। पैतृकमश्वा अनुहरन्ते। मातृकं गावोऽनुहरन्ते। गतताच्छील्य इति किम्? मातुरनुहरति। *किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे-ष्विति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अपस्किरते वृषभो हृष्टः। जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। कुलायकरणे-अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी (म०भा०)। हर्षादिष्विति किम्? अपकिरति कुसुमम्। *आङि नुप्रच्छ्योरुपसंख्यानम्* (म० भा०)। आनुते शृगालः। आपृच्छते गुरुम्। *शप उपलम्भन इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। वाचा शरीर-स्पर्शनमुपलम्भनम्। देवदत्ताय शपते, यज्ञदत्ताय शपते (म०भा०)। उपलम्भन इति किम्? शपति।

अर्थ—अनु, सम्, परि तथा आङ् उपसर्गपूर्वक क्रीड् धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) अनुक्रीडते
अनु क्रीड्—आत्मनेपद हुआ,
अनु क्रीड् त—शप् आदि,
अनुक्रीडते—एत्व।

(2) सङ्क्रीडते
सम् क्रीड्—पूर्ववत् आत्मनेपद,
सङ्क्रीडते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) परिक्रीडते
परि क्रीड्—पूर्ववत् आत्मनेपद,
परिक्रीडते।

(4) आक्रीडते (पूर्ववत्)।

समोऽकूजने इति वक्तव्यम् (वा०)—'कूजन' अर्थ को छोड़कर 'सम्' पूर्वक' 'क्रीड्' से आत्मनेपद होता है—

(1) सङ्क्रीडन्ति शकटानि
यहाँ कूजन अर्थ है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

समासाह—'सम्' तथा 'आ' के साहचर्य से 'अनु' उपसर्ग का ग्रहण होता है तथा कर्मप्रवचनीय 'अनु' का नहीं। 'सम्' तथा 'आ' उपसर्ग हैं। 'अनु' उपसर्ग भी होता है तथा कर्मप्रवचनीय भी। 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ पाठ होने से यहाँ 'अनु' उपसर्ग का ही ग्रहण होता है—माणवकम् अनु क्रीडति—यहाँ 'अनु' उपसर्ग नहीं, कर्मप्रवचनीय है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

आगमेः क्षमायात्मनेपदं वक्तव्यम् (वा०)—क्षमा अर्थ में 'आ' पूर्वक 'गम्' धातु से आत्मनेपद होता है। क्षमा = उपेक्षा, समय बिताना। यथा—

(1) आगमयस्व तावन्माणवकम्
यहाँ 'कालहरण' अर्थ है। आत्मनेपद हुआ।

शिक्षेर्जिज्ञासायाम् (वा०)—जिज्ञासा अर्थ में 'शिक्ष्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) शिक्षते विद्यासु
'विद्या की जिज्ञासा करता है' इस अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

आशिषि नाथः (वा०)—आशीर्वाद अर्थ में 'नाथ्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) नाथते सर्पिषः (= घृत प्राप्त हो)
आशीर्वाद अर्थ इष्ट है। तब आत्मनेपद हुआ। 'आशिषि नाथः' (पा० 2.3.55.) से षष्ठी हुई।

(2) नाथते मधुनः (पूर्ववत्)।

आशिषि० अर्थात् **आशीर्वाद** अर्थ में ही आत्मनेपद होता है—

(1) अनुनाथति माणवकम्
यहाँ आशीर्वाद अर्थ इष्ट नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

हरतेर्गतताच्छील्ये (वा०)—गति के ताच्छील्य अर्थ में 'हृ' धातु से आत्मनेपद होता है।

(1) अनुहरन्ते पैतृकमश्वा
यहाँ आत्मनेपद हुआ।

(2) अनुहरन्ते मातृकं गावः (पूर्ववत्)।

गतताच्छी० अर्थात् गति **के ताच्छील्य** अर्थ में ही 'हृ' से आत्मनेपद होता है—

(1) अनुहरति मातुः
यहाँ गति का ताच्छील्य अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् (वा०)—हर्ष, जीविका तथा कुलायकरण अर्थों में 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) अपस्किरते वृषभो हृष्टः
यहाँ हर्ष अर्थ है। अतः आत्मनेपद हुआ।

(2) अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी
यहाँ जीविका अर्थ है। आत्मनेपद हो गया।

(3) अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी
यहाँ कुलायकरण अर्थ है। अत; आत्मनेपद हुआ।

हर्षादि० अर्थात् हर्ष आदि अर्थों में ही 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) अपकिरति कुसुमम्
यहाँ न 'हर्ष' अर्थ है, न 'जीविका' अर्थ है और न ही 'कुलायकरण' अर्थ है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

आङि नु प्रच्छ्योरुपसङ्ख्यानम् (वा०)—'आ' पूर्वक 'नु' तथा 'प्रच्छ्' धातुओं से आत्मनेपद होता है—

(1) आनुते शृगालः
'आ' पूर्वक 'नु' धातु से आत्मनेपद हो गया।

(2) आपृच्छते गुरुम्
'आ' पूर्वक 'प्रच्छ् 'धातु से आत्मनेपद हुआ।

शप उपलम्भन इति वक्तव्यम् (वा०)—उपलम्भन (= शपथ-विशेष) अर्थ में 'शप्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) शपते देवदत्ताय
'उपलम्भन' अर्थ है। आत्मनेपद हुआ।

(2) शपते यज्ञदत्ताय
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

उपलम्भन० अर्थात् उपलम्भन अर्थ में ही 'शप्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) शपति
यहाँ 'उपलम्भन' अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(170) समवप्रविभ्यः स्थः *22* (2689)

सम्, अव, प्र, वि–इत्येवंपूर्वात् तिष्ठतेरात्मनेपदं भवति। सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते। * आङः स्थः प्रतिज्ञाने इति वक्तव्यम् * (म०भा०)। अस्ति सकार-मात्रमातिष्ठते। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते (म०भा०)।

अर्थ—सम्, अव, प्र तथा विपूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) सन्तिष्ठते
सम् स्था—आत्मनेपद हुआ, त, शप,
सम् स्था त → सम् तिष्ठ अ ते—टि को एत्व,
संतिष्ठते → सन्तिष्ठते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) अवतिष्ठते
अव स्था त—पूर्ववत् आत्मनेपद,
अवतिष्ठते।

(3) प्रतिष्ठते
प्र स्था त—पूर्ववत्,
प्रतिष्ठते।

(4) वितिष्ठते।
वि स्था त → वितिष्ठते—
पूर्ववत्।

आङः स्थः प्रतिज्ञान इति वक्तव्यम् (वा०)—प्रतिज्ञान अर्थ में आङ् पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) आतिष्ठते सकारमात्रम्
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(171) प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च *23* (2690)

स्वाभिप्रायकथनं प्रकाशनम्। स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या। तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः। विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इति प्रसिद्धस्तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाख्याग्रहणम्। प्रकाशने स्थे-याख्यायां च तिष्ठतेरात्मनेपदं भवति। प्रकाशने तावत्-तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः, तिष्ठते वृषली ग्रामपुत्रेभ्यः। प्रकाशयत्यात्मानमित्यर्थः। स्थेयाख्यायाम्–त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते, 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' (कि० 3.14)।

अर्थ—प्रकाशन = अपने भाव का प्रकाशन। स्थेयाख्या = विवाद का निर्णय करना। प्रकाशन और स्थेय की आख्या अर्थ में 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः
प्रकाशन अर्थ में 'स्था' से आत्मनेपद हुआ।

(2) तिष्ठते वृषली ग्रामपुत्रेभ्यः
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(3) तिष्ठते त्वयि
स्थेयाख्या में आत्मनेपद हुआ।

(4) (मयि) तिष्ठते (पूर्ववत्)।

(172) उदोऽनूर्ध्वकर्मणि *24* (2691)

उत्पूर्वात्तिष्ठतेरनूर्ध्वकर्मणि वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। कर्मशब्दः क्रियावाची। अनूर्ध्वकर्मविशिष्टक्रियावचनात् तिष्ठतेरात्मनेपदं भवति। गेहे उत्तिष्ठते। कुटुम्बे उत्तिष्ठते। तदर्थं यतते इत्यर्थः। * उद ईहायामिति वक्तव्यम् * (म० भा०)। इह मा भूत्–अस्माद् ग्रामात् शतमुत्तिष्ठति। शतमुत्पद्यत इत्यर्थः। ईहाग्रहणमनूर्ध्वकर्मण एव विशेषणं नापवादः।अनूर्ध्वकर्मणीति किम्? आसनादुत्तिष्ठति।

अर्थ—'ऊपर की ओर उठना' अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में 'उद्' पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) (गेहे) उत्तिष्ठते = घर में उन्नति करता है—

उद् स्था—ऊर्ध्वगमन अर्थ नहीं है, उद् पूर्वक 'स्था' से आत्मनेपद हुआ,

उद् स्था त → उत्तिष्ठते—'तिष्ठ' आदेश, खरि च, शप्, एत्व।

(2) कुटुम्बे उत्तिष्ठते = परिवार में उन्नति करता है।

पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

उद ईहायामिति वक्तव्यम् (वा०)—चेष्टा अर्थ में 'उद्' पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (अस्माद् ग्रामात् शतम्) उत्तिष्ठति = इस गाँव से सौ रुपये प्राप्त होते हैं।

यहाँ चेष्टा अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

ईहा—'ईहा' का ग्रहण 'अनूर्ध्वगमन' के लिए है। यह विशेषण है, अपवाद नहीं है।

अनूर्ध्व० अर्थात् ऊर्ध्व गमन अर्थ को छोड़कर ही 'उद्' पूर्वक 'स्था' से आत्मनेपद होता है—

(1) (आसनाद्) उत्तिष्ठति

उद् स्था—यहाँ स्थितिजन्य ऊर्ध्वगमन है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ—

उत्तिष्ठति—तिप्, शप्, खरि च।

(173) उपान्मन्त्रकरणे *25* (2692)

उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते। मन्त्रकरण इति किम्? भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। * उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम् * (म० भा०)। देवपूजायाम्–आदित्यमुपतिष्ठते। सङ्गतिकरणे–रथिकानुपतिष्ठते। मित्रकरणे–महामात्रानुपतिष्ठते। मित्रकरणसङ्गतिकरणयोः को विशेषः? सङ्गतिकरणमुपश्लेषः। तद्यथा–गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते। मित्रकरणं तु विनाप्युपश्लेषेण मैत्रीसम्बन्धः। पथि–अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। * वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। भिक्षुको ब्राह्मणकुलमुपतिष्ठते, उपतिष्ठतीति वा (म० भा०)।

अर्थ—'मन्त्र' है करण जिसका, इस अर्थ में 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

जिस धात्वर्थ का साधकतम 'मन्त्र' हो, वह मन्त्रकरण कहलाता है।

उदा० (1) (ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्) उपतिष्ठते = इन्द्र देवता वाली ऋचा को बोलकर गार्हपत्य अग्नि के पास जाता है—

यहाँ मन्त्रकरण अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

मन्त्रकरणं अर्थात् मन्त्रकरण अर्थ में ही 'उप' पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (भर्तारम्) उपतिष्ठति यौवनेन = यौवन के द्वारा पति को प्राप्त करती है—

मन्त्रकरण अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

उपाद् देवपूजासंगतिकरणमित्रीकरणपथिष्विति वाच्यम् (वा०)—देवपूजा, संगतिकरण, मित्रीकरण तथा पथ—इन अर्थों में 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (आदित्यम्) उपतिष्ठते = आदित्य की उपासना करता है। उप स्था—यहाँ देवपूजा अर्थ है। अतः 'स्था' से आत्मनेपद हुआ,

उपतिष्ठते—त आदि।

(2) (रथिकान्) उपतिष्ठते = रथ चलाने वाले के साथ संगति करता है—

उप स्था—संगतिकरण अर्थ है। आत्मनेपद हुआ, उपतिष्ठति।

(3) (महामात्रान्) उपतिष्ठते = महावतों के साथ मित्रता करता है।

उप स्था—मित्रीकरण अर्थ है। आत्मनेपद हुआ, उपतिष्ठते।

(4) (अयं पन्था: स्रुघ्नम्) उपतिष्ठते
यहाँ 'पथ' अर्थ है। आत्मनेपद हुआ।

मित्रकरण—मित्रकरण और संगतिकरण में क्या विशेष है। संगतिकरण 'उपश्लेष' को कहते हैं। यथा—
गङ्गा यमुनाम् उपतिष्ठते।
मित्रीकरण विना उपश्लेष के भी होता है।

वा लिप्सायामिति वक्तव्यम् (वा)—लिप्सा अर्थ में उपपूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद विकल्प से होता है—

(1) (भिक्षुको ब्राह्मणकुलम्) उपतिष्ठते
यहाँ 'लिप्सा' अर्थ है। अत: आत्मनेपद विकल्प से हुआ।

(2) (भिक्षुको ब्राह्मणकुलम्) उपतिष्ठति
पक्ष में परस्मैपद हुआ।

(174) अकर्मकाच्च *26* (2693)

उपादिति वर्त्तते। उपपूर्वात् तिष्ठतेरकर्मकात् अकर्मकक्रियावचनादात्मनेपदं भवति। यावद्भुक्तमुपतिष्ठते। यावदोदनमुपतिष्ठते। भुक्तमिति भावे क्तप्रत्यय:। भोजने भोजने सन्निधीयत इत्यर्थ:। अकर्मकादिति किम्? राजानमुपतिष्ठति।

अर्थ—'उप' पद का अनुवर्त्तन होता है।
उपपूर्वक अकर्मक 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) (यावद् भुक्तम्) उपतिष्ठते = भोजन के समय आ खड़ा होता है।
यहाँ 'स्था' धातु अकर्मक है। आत्मनेपद हुआ।

(2) (यावद् ओदनम्) उपतिष्ठते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

भुक्तम्—'भुक्तम्' यहाँ 'भाव' में 'क्त' प्रत्यय हुआ है।

अकर्मका० अर्थात् **अकर्मक** 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है।

(1) (राजानम्) उपतिष्ठति = राजा के पास ठहरता है।
यहाँ अकर्मक नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

(175) उद्विभ्यां तप: *27* (2694)

अकर्मकादिति वर्त्तते। उत्, वि-इत्येवम्पूर्वात् तपतेरकर्मकक्रियावचनादात्मनेपदं भवति। उत्तपते। वितपते। दीप्यत इत्यर्थ:। अकर्मकादित्येव-उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकार:, वितपति पृष्ठं सविता। * स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम् * (म०भा०)। उत्तपते पाणिम्। उत्तपते पृष्ठम्। वितपते पाणिम्। वितपते पृष्ठम्। स्वाङ्गं चेह न पारिभाषिकं गृह्यते-अद्रवन्मूर्त्तिमत्स्वाङ्गमिति। किं तर्हि? स्वमङ्गं स्वाङ्गम्। तेनेह न भवति-देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठमुत्तपतीति। उद्विभ्यामिति किम्? निष्टपति।

अर्थ—'अकर्म्मकात्' पद की अनुवृत्ति है। 'उद्' तथा 'वि' उपसर्गपूर्वक अकर्मक 'तप्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) उत्तपते
उद् तप्—अकर्मक 'तप्' धातु है, इससे पूर्व 'उद्' है। अत: आत्मनेपद हुआ—
उद् तप् त → उत् तप् अ त—खरि च, शप्,
उत्तपते—एत्व।

(2) वितपते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

अकर्मकात् अर्थात् **अकर्मक** 'तप' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) उत्तपति स्वर्णं स्वर्णकार:
उद् तप्—यहाँ 'तप्' धातु सकर्मक है। आत्मनेपद नहीं हुआ।
उत्तपति।

(2) वितपति पृष्ठं सविता
पूर्ववत् आत्मनेपद नहीं हुआ।

स्वाङ्गकर्म्मकाच्चेति वक्तव्यम्—स्वाङ्ग कर्म हो तो 'उद्' तथा 'वि' पूर्वक 'तप्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) उत्तपते पाणिम्
यहाँ स्वाङ्ग (पाणि) कर्म है। 'उद्' पूर्वक 'तप्' से आत्मनेपद हुआ।

(2) उत्तपते पृष्ठम्
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(3) वितपते पाणिम् (पूर्ववत्)।

(4) वितपते पृष्ठम् (पूर्ववत्)।

स्वाङ्गं—स्वाङ्ग शब्द यहाँ पारिभाषिक गृहीत नहीं है। अद्रव्य व मूर्त्तिमान् को स्वाङ्ग कहा गया है। अपना अङ्ग स्वाङ्ग कहलाता है। अत: यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) (देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठम्) उत्तपति

यहाँ उद् पूर्वक 'तप्' है। परन्तु स्वाङ्ग कर्म नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

उद्विभ्या० अर्थात् 'उद्' व 'वि' उपसर्गपूर्वक 'तप्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) निष्टपति

निस् तप्—'तप्' धातु से पूर्व न तो 'उद्' है; न ही 'वि' है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ—

निस् तप् ति → निस् तपति → निष्टपति।

(176) आङो यमहनः *28* (2695)

अकर्मकादिति वर्त्तते। 'यम उपरमे' (धा०पा० 984), 'हन हिंसागत्योः' (धा०पा० 1092) इति परस्मैपदिनौ। ताभ्यामकर्मकक्रियावचनाभ्यामाङ्पूर्वाभ्यामात्मनेपदं भवति। आयच्छते, आयच्छेते, आयच्छन्ते। हनः खल्वपि-आहते, आघ्नाते, आघ्नते। अकर्मकादित्येव-आयच्छति कूपाद्रज्जुम्, आहन्ति वृषलं पादेन (म०भा०)। *स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। आयच्छते पाणिम्, आहते शिरः (म०भा०)। स्वाङ्गं चेह न पारिभाषिकं गृह्यते। किं तर्हि? स्वमङ्गं स्वाङ्गम्। तेनेह न भवति-आहन्ति शिरः परकीयमिति।

अर्थ—'अकर्म्मकात्' पद की अनुवृत्ति है। यम व हन धातु परस्मैपदी हैं। इनसे आत्मनेपद कहा गया है।

आङ् पूर्वक अकर्मक यम् तथा हन् धातुओं से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) आयच्छते

आ यम्—परस्मैपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ,

आ यम् त → आ यच्छ् त—इषुगमियमां छः, शप्, आयच्छते—टि को एत्व।

(2) आयच्छेते

आ यम् आताम् → आयच्छेते (पूर्ववत्)।

(3) आयच्छन्ते

आ यम् झ—पूर्ववत् आत्मनेपद,

आयच्छन्ते—झोऽन्तः।

(4) आहते वृषलं पादेन

आ हन्—पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ,

आ हन् त → आहते—अनुदात्तोपदेश०।

स्वाङ्गकर्म्मकाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)—स्वाङ्ग कर्म के रहते 'यम्' तथा 'हन्' धातुओं से आत्मनेपद होता है—

(1) आयच्छते पाणिम्

'पाणि' स्वाङ्ग है। अतः 'आ' पूर्वक 'यम्' से आत्मनेपद हुआ।

(2) आहते शिरः

'शिरः' स्वाङ्ग है। इसके कर्म रहते आत्मनेपद हुआ। यहाँ भी स्वाङ्ग शब्द पारिभाषिक नहीं है। 'स्वाङ्ग' का अर्थ है—अपना अङ्ग। इसलिए यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) आहन्ति शिरः परकीयम्

यहाँ 'शिरः' कर्म है, परन्तु वह स्वाङ्ग नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

(177) समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः *29* (2699)

अकर्मकादिति वर्त्तते। शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (1.3.78) इति प्राप्ते। सम्पूर्वेभ्यो गमि, ऋच्छि, प्रच्छि, स्वरति, अर्ति, श्रु, विदि-इत्येतेभ्योऽकर्मकेभ्यो धातुभ्य आत्मनेपदं भवति। सङ्गच्छते। समृच्छते। सम्पृच्छते। संस्वरते। सङ्कल्पा अस्य समरन्त। अर्तेर्लुङि च्लेः 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (3.1.56) इत्यङादेशः। तत्र परस्मैपदेष्वित्येतन्नाश्रीयते 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (3.4.75) इत्याट् प्रतिषिध्यते। 'ऋदृशोऽङि गुणः' (7.4.16) इति गुणः। समरन्त। संशृणुते। संवित्ते। ऋच्छेरनादेशस्य ग्रहणम्-समृच्छिष्यते। अत्यदिशस्य त्वर्त्तीत्येवं सिद्धमात्मनेपदम्। अर्तिरुभयत्र पठ्यते-'ऋ गतिप्रापणयोः' (धा० पा० 936) इति भ्वादौ, 'ऋ सृ गतौ' (धा०पा० 1098-1099) इति जुहोत्यादौ। विशेषाभावाद् द्वयोरपि ग्रहणम्। विदेर्ज्ञानार्थस्य ग्रहणम् (धा०पा० 1065), परस्मैपदिभिर्गमादिभिः साहचर्यान्न लाभार्थस्य, स्वरितेत्त्वादुभयतोभाषस्य (धा०पा० 1433)। *दृशेश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सम्पश्यते। अकर्मकादित्येव-ग्रामं सम्पश्यति।

अर्थ—'अकर्म्मकात्' की अनुवृत्ति है। 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद प्राप्त होने पर आत्मनेपद कहा गया है।

'सम' पूर्वक अकर्मक गम्, ऋच्छ्, प्रच्छ्, स्वृ, ऋ, श्रु तथा विद्—इन धातुओं से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) सङ्गच्छते

सम् गम्—परस्मैपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ, शप्,

सङ्गच्छते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) समृच्छते

सम् ऋच्छ्—पूर्ववत् आत्मनेपद,

समृच्छते।

(3) संस्वरते

सम् स्वृ त—पूर्ववत् आत्मनेपद, शप्, सार्वधातुक गुण,

सम् स्वर त → संस्वरते—अनुस्वार।

(4) समरन्त

सम् ऋ झ—पूर्ववत् आत्मनेपद, लुङ्, झ, झोऽन्तः,

सम् ऋ अन्त → सम् ऋ अङ् अन्त—'सर्त्तिशास्त्यर्त्ति०' से 'अङ्', च्लि,

सम् ऋ अ अन्त—'बहुलं छन्दस्यमाङ्०' से आट् का निषेध,

समरन्त—ऋदृशोऽङि गुणः।

(5) संशृणुते

सम् श्रु—पूर्ववत् आत्मनेपद, लट्, त,

सम् श्रुत → सम् शृ शनु त—'श्रुवः शृ च' से 'शृ' आदेश, श्नु,

संशृणुते—लशक्वतद्धिते, अनुस्वार।

(6) संवित्ते

सम् विद्—पूर्ववत् आत्मनेपद,

सम् विद् त—संवित्ते—अनुस्वार।

ऋच्छेर—सूत्र में अनादेश 'ऋच्छ्,' धातु का ग्रहण है। यथा—

(1) समृच्छियते

तुदादिगण में अनादेश 'ऋच्छ्' का पाठ है। यहाँ इसी धातु का ग्रहण होता है। 'ऋ' को अन्त्यादेश 'ऋच्छ्' को आत्मनेपद सिद्ध ही है। अतः यहाँ आदेशरहित 'ऋच्छ्' का ग्रहण जानना चाहिए।

'ऋ' का दो स्थानों पर पाठ प्राप्त होता है। 'ऋ गतिप्रापणयो' (भ्वा०) तथा 'ऋ सृ गतौ' (जु०)। विशेष निर्देश न होने के कारण यहाँ दोनों धातुओं का ग्रहण होता है।

विदे—यहाँ ज्ञानार्थक 'विद्' धातु का पाठ है। सूत्र में 'गम्' धातु परस्मैपदी धातुओं का ग्रहण है। अतः उनके साहचर्य से उभयपदी लाभार्थक 'विद्' धातु का यहाँ ग्रहण नहीं होता है।

दृशेश्चेति वक्तव्यम् अर्थात् 'सम्' पूर्वक अकर्मक 'दृश्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) सम्पश्यते

सम् दृश्—परस्मैपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपद हुआ,

सम् पश्य त—पश्यादेश, त, शप्,

सम्पश्यते।

अकर्म्मकात्० अर्थात् सम् पूर्वक **अकर्मक** दृश् धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (ग्रामं) सम्पश्यति

यहाँ अकर्मक न होने से 'दृश्' धातु से आत्मनेपद न हुआ। यथाप्राप्त परस्मैपद हुआ।

विशेष—प्रस्तुत सूत्र का स्वरूप 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' इतना प्रतीत होता है। पदमञ्जरीकार के अनुसार इसमें वार्त्तिक को भी जोड़ दिया गया है।[1]

(178) निसमुपविभ्यो ह्वः *30* (2703)

अकर्मकादिति निवृत्तम्। अतः परं सामान्येनात्मनेपदविधानं प्रतिपत्तव्यम्। नि, सम्, उप, वि-इत्येवंपूर्वाद् ह्वयतेर्धातोरात्मनेपदं भवति। निह्वयते। संह्वयते। उपह्वयते, विह्वयते। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। अन्यत्र हि ञित्वात्सिद्धमेवात्मनेपदम्। *उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्* (म० भा०)। निरस्यति, निरस्यते। समूहति, समूहते।

अर्थ—'अकर्म्मकात्' पद का अनुवर्त्तन नहीं है। इससे पर सामान्य रूप से आत्मनेपद विधान जानना चाहिए।

नि, सम्, उप तथ वि उपसर्गपूर्वक 'ह्वे' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) निह्वयते

नि ह्वे—प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपद होता है,

नि ह्वय् अ त → निह्वयते।

(2) संह्वयते

सम् ह्वे त—पूर्ववत् आत्मनेपद,

संह्वयते—अनुस्वार।

(3) उपह्वयते

1. पदम० 1.3.29. समो गम्यृच्छिभ्यामित्येतावत् सूत्रम्। प्रच्छ्यादयस्तु वार्तिकदृष्टाः सूत्ररूपेण पठिताः।

उप ह्वे त—पूर्ववत् आत्मनेपद,
उपह्वते।

अकर्त्रभि—यह अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान किया गया है। 'ञित्' होने से कर्त्रभिप्राय की दशा में आत्मनेपद सिद्ध ही है।

उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम् (वा०) उपसर्ग से पर 'अस्' तथा 'ऊह्' धातुओं से आत्मनेपद विकल्प से होता है—

(1) निरस्यते
निर् अस्—आत्मनेपद विकल्प से हुआ, दिवादिभ्यः श्यन्,
निर् अस् श्यन् त → निरस्यते।

(2) निरस्यति
पक्ष में आत्मनेपद नहीं हुआ।

(3) समूहते
सम् ऊह् त → समूह् अ त → समूहते (पूर्ववत्)।

(4) समूहति
पक्ष में आत्मनेपद नहीं हुआ।

(179) स्पर्द्धायामाङः *31* (2704)

अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। स्पर्धायां विषये आङ्पूर्वाद् ह्वयतेरात्मनेपदं भवति। स्पर्द्धा संघर्षः पराभिभवेच्छा, स विषयो धात्वर्थस्य। धातुस्तु शब्दक्रिय एव। मल्लो मल्लमाह्वयते। छात्रश्छात्रमाह्वयते। स्पर्द्धमानस्तस्याह्वानं करोतीत्यर्थः। स्पर्द्धायामिति किम्? गामाह्वयति गोपालः।

अर्थ—अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान किया जा रहा है।

स्पर्द्धा के विषय मे 'आङ्' पूर्वक 'ह्वे' धातु से आत्मनेपद होता है।

'स्पर्द्धा' का अर्थ है—दूसरे के परिभव की इच्छा। धातु शब्द क्रिया वाला होता है।

उदा० (1) (मल्लो मल्लम्) आह्वयते
आ ह्वे—'स्पर्द्धा' अर्थ है। अतः आत्मनेपद हुआ,
आ ह्वे त—त, शप्,
आ ह्वे अ त → आह्वय् अ त—अयादि आदेश,
आह्वयते—एत्व।

(2) (छात्रश्छात्रम्) आह्वयते
आ ह्वे त—पूर्ववत्,
आह्वयते।

स्पर्द्धायाम् अर्थात् स्पर्द्धा अर्थ में ही 'आ' पूर्वक 'ह्वे' धातु से आत्मनेपद होता है।

(1) आह्वयति गां गोपालः
आ ह्वे—स्पर्द्धा अर्थ नहीं है। सामान्य पुकारना अर्थ है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ—
आह्वयति।

(180) गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः *32* (2705)

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमेवात्मनेपदम्। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। गन्धनादिष्वर्थेषु वर्त्तमानात् करोतेरात्मनेपदं भवति। गन्धनमपकारप्रयुक्तं हिंसात्मकं सूचनम्। तथाहि-वस्त गन्ध अर्द्दने (धा०पा० 1684-1685), अर्द्द हिंसायाम् इति (धा०पा० 1829) चुरादौ पठ्यते। अवक्षेपणं भर्त्सनम्। सेवनमनुवृत्तिः। साहसिक्यम् साहसिकं कर्म। प्रतियत्नः सतो गुणान्तराऽऽधानम्। प्रकथनं प्रकर्षेण कथनम्। उपयोगः धर्मादिप्रयोजनो विनियोगः। गन्धने तावत्-उत्कुरुते, उदाकुरुते। सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणे-श्येनो वर्त्तिकामुदाकुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। सेवने-गणकानुपकुरुते, महामात्रानुपकुरुते। सेवते इत्यर्थः। साहसिक्येपरदारान् प्रकुरुते। तेषु सहसा प्रवर्त्तत इत्यर्थः। प्रतियत्ने-एधोदकस्योपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते। तस्य सतो गुणान्तराधानं करोतीत्यर्थः। षष्ठीसुटौ करोतेः प्रतियत्न एव विधीयते (2.3.53,6.1.139)। प्रकथने-गाथाः प्रकुरुते, जनापवादान् प्रकुरुते। प्रकर्षेण कथयतीत्यर्थः। उपयोगेशतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते। धर्मार्थं शतं विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतेष्विति किम्? कटं करोति।

अर्थ—कर्त्रभिप्राय की दशा में तो आत्मनेपद सिद्ध ही है। अतः अकर्त्रभिप्राय की दशा में आत्मनेपद का विधान किया जा रहा है।

गन्धन (= चुगली करना), अवक्षेपण (= धमकाना), सेवन (= सेवा करना), साहसिक्य (= साहस करना), प्रतियत्न (= किसी गुण को भिन्न गुण में बदलना), प्रकथन (= डींग मारना), तथा उपयोग (= धर्मादि कार्य में नियुक्त करना)—इन अर्थों में 'डुकृञ्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) उत्कुरुते
उद् कृ—आत्मनेपद हुआ 'गन्धन' अर्थ में,

उद् कृ त → उद् कृ उ त—तनदिकृञ्भ्य उः,
उद् कुरुते → उत्कुरुते—खरि च।

(2) उदाकुरुते।
उद् आ कृ—आत्मनेपद हुआ,
उदाकुरुते।

(3) उपकुरुते
उप कृ—आत्मनेपद हुआ,
उपकुरुते।

(4) प्रकुरुते
प्र कृ—साहस अर्थ में आत्मनेपद हुआ,
प्रकुरुते।

(5) (एधोदकस्य) उपस्कुरुते
उप कृ—'प्रतियत्न' अर्थ में आत्मनेपद हुआ,
उप सुट् कृ त—सुट्,
उपस्कुरुते।

(6) (काण्डं गुडस्य) उपस्कुरुते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(7) प्रकुरुते
'प्रकथन' अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

एतेष्वि॰ अर्थात् गन्धन आदि अर्थों में ही आत्मनेपद होता है—

(1) (कटं) करोति

यहाँ उपर्युक्त 'गन्धन' आदि अर्थ नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

(181) अधेः प्रसहने *33* (2706)

अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। अधिपूर्वात् करोतेः प्रसहने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। प्रसहनमभिभवः अपराजयो वा। तमधिचक्रे। तमभिबभूव। न तेन पराजित इति वा। प्रसहन इति किम्? अर्थमधिकरोति। पृथग्योगकरणमुपसर्गविशेषणार्थम्।

अर्थ—अकर्त्रभिप्राय अर्थ में यह विधान किया गया है।

प्रसहन अर्थ में 'अधि' पूर्वक 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है। 'प्रसहन' का अर्थ है—पराभव।

उदा॰ (1) (तम्) अधिचक्रे

अधि कृ—'प्रसहन' अर्थ में 'कृ' से आत्मनेपद हुआ,
अधिकुरुते।

प्रसहने॰ अर्थात् प्रसहन अर्थ में 'कृ' से आत्मनेपद होता है—

(1) (अर्थम्) अधिकरोति
यहाँ प्रसहन अर्थ नहीं है। अत: आत्मनेपद न हुआ। उपसर्गविशेष के लिए योगविभाग किया गया है।

(182) वेः शब्दकर्मणः *34* (2707)

कृञः इत्यनुवर्त्तते। विपूर्वात् करोतेरकर्त्रभिप्राये क्रियाफले शब्दकर्मण आत्मनेपदं भवति। कर्मशब्द इह कारकाभिधायी, न क्रियावचनः। 'क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्। ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान्'। शब्दकर्मण इति किम्? विकरोति पयः।

अर्थ—'कृञ्' की अनुवृत्ति है।

'शब्दकर्म' अर्थ में 'वि' पूर्वक 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है। यहाँ 'शब्दकर्म' कारक का वाचक है तथा क्रियावाची नहीं है।

उदा॰ (1) (क्रोष्टा) विकुरुते स्वरान्
वि कृ—'शब्दकर्म' अर्थ में आत्मनेपद हुआ।
विकुरुते।

(2) (ध्वाङ्क्षः) विकुरुते स्वरान्
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

शब्दकर्म्म॰ अर्थात् शब्दकर्म अर्थ में ही 'कृ' से आत्मनेपद हुआ—

(1) विकरोति पयः
यहाँ 'शब्दकर्म' अर्थ नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

(183) अकर्मकाच्च *35* (2708)

वेः कृञः इत्यनुवर्त्तते। विपूर्वात् करोतेरकर्मकादकर्मकक्रियावचनादात्मनेपदं भवति। विकुर्वते सैन्धवाः। साधुदान्ताः शोभनं वल्गन्तीत्यर्थः। ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते। निष्फलं चेष्टन्त इत्यर्थः।

अर्थ—'वि' तथा 'कृ' पदों की अनुवृत्ति है। 'वि' पूर्वक अकर्मक 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा॰ (1) विकुर्वन्ते सैन्धवाः
वि कृ झ—आत्मनेपद हुआ,
विकुर्वन्ते।

(2) ओदनस्य पूर्णाश्छात्राः। विकुर्वते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(184) सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः *36* (2709)

णीञ् प्रापणे (धा०पा० 901) अस्मात् कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमेवात्मनेपदम्। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। णीञ् प्रापणे इत्येतस्माद्धातोरात्मनेपदं भवति सम्माननादिषु विशेषणेषु सत्सु। सम्माननं पूजनम्। नयते चार्वी लोकायते। चार्वी बुद्धिः, तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी, स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते, उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति, ते युक्तिभिः स्थाप्यमानाः सम्मानिताः पूजिता भवन्ति। उत्सञ्जनमुत्क्षेपणम्। माणवकमुपनयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। आचार्यकरणमाचार्यक्रिया, माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति, यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यीकुर्वन् माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः। नयते चार्वी लोकायते। तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः। भृतिर्वेतनम्। कर्मकरानुपनयते। भृतिदानेन समीपं करोतीत्यर्थः। विगणनमृणादेर्निर्यातनम्। मद्राः करं विनियन्ते। निर्यातयन्तीत्यर्थः। व्ययो धर्मादिषु विनियोगः। शतं विनयते। सहस्रं विनयते। धर्मार्थं शतं विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतेष्विति किम्? अजां नयति ग्रामम्।

अर्थ—'णीञ्' यह 'ञित्' धातु है। अतः कर्त्रभिप्राय क्रियाफल की दशा में आत्मनेपद सिद्ध ही है। अकर्त्रभिप्राय के लिए यह विधान किया जा रहा है।

सम्मानन (= पूजा), उत्सञ्जन (= उछालना), आचार्यकरण (= आचार्य कर्म), ज्ञान, भृति (= वेतन के द्वारा अनुकूल करना), विगणन (= ऋण आदि को चुकाना तथा व्यय—इन अर्थों में 'नी' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) नयते चार्वी लोकायते
चार्वी = बुद्धि। बुद्धि के सम्बन्ध से 'आचार्य' भी 'चार्वी' कहलाता है। लोकायते—चार्वाकीय शास्त्र में पदार्थों को वह प्रतिष्ठित करता है। यहाँ आत्मनेपद हुआ।

(2) (माणवकम्) उदानयते
आचार्यकरण = आचार्य बनाना। गुरु ब्रह्मचारी को ऐसी विधि से पास लाता है कि जिससे वह स्वयं आचार्य बन जाता है। यहाँ उत्सञ्जन अर्थ है।

(3) (माणवकम्) उपनयते
आत्मनेपद हुआ।

(4) नयते चार्वी लोकायते (पूर्ववत्)।
(5) (मद्राः करं) विनयन्ते (पूर्ववत्)।
(6) (शतं) विनयते (पूर्ववत्)।
(7) (सहस्रं) विनयते (पूर्ववत्)।

एष्विति० अर्थात् सम्मानन आदि अर्थों में 'नी' से आत्मनेपद होता है—

(1) (अजां) नयति ग्रामम्
यहाँ पूर्वोक्त कोई अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ। यथाप्राप्त परस्मैपद हुआ।

(185) कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि *37* (2710)

नयतेः कर्त्ता देवदत्तादिर्लकारवाच्यः। कर्तृस्थे कर्मण्यशरीरे सति नयतेरात्मनेपदं भवति। शरीरं प्राणिकायः, तदेकदेशोऽपि शरीरम्। क्रोधं विनयते। मन्युं विनयते। कर्तृस्थ इति किम्? देवदत्तो यज्ञदत्तस्य क्रोधं विनयति। अशरीर इति किम्? गडुं विनयति, घाटां विनयति। कर्मणीति किम्? बुद्ध्या विनयति, प्रज्ञया विनयति।

अर्थ—कर्त्ता में स्थित 'शरीर' को छोड़कर अन्य कर्म रहते 'नी' धातु से आत्मनेपद होता है।

शरीर = प्राणियों का शरीर। उसका एकदेश भी 'शरीर' कहलाता है।

उदा० (1) (क्रोधं) विनयते
वि नी—यहाँ 'क्रोध' शब्द कर्म है। यह शरीर से भिन्न है। 'नी' से आत्मनेपद हुआ—
विनीत → विनयते।

(2) (मन्युं) विनयते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

कर्तृस्थे० अर्थात् कर्त्ता में स्थित हो तब 'नी' से आत्मनेपद होता है—

(1) (देवदत्तो यज्ञदत्तस्य क्रोधं) विनयति
यहाँ 'क्रोध' नी धातु का शरीर भिन्न कर्म तो है, परन्तु कर्त्ता में स्थित नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

अशरीरे॰ अर्थात् शरीरभिन्न कर्म के रहते 'नी' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (गडुं) विनयति
'गडु' कर्म है, जो शरीर से भिन्न नहीं है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) (घाटां) विनयति
'घाटा' (= गाँठ) शरीरभिन्न कर्म नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

कर्मणि॰ अर्थात् 'नी' धातु का शरीरभिन्न शब्द कर्म हो तभी आत्मनेपद होता है—

(1) (बुद्ध्या) विनयति
'बुद्धि' शब्द शरीरभिन्न है, परन्तु यह 'नी' धातु का कर्म नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) (प्रज्ञया) विनयति
पूर्ववत् आत्मनेपद नहीं हुआ।

(186) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः *38* (2711)

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदे (1.2.78) प्राप्ते वृत्त्यादिष्वर्थेषु क्रमेर्धातोरात्मनेपदं भवति। वृत्तिरप्रतिबन्धः। सर्गः उत्साहः। तायनं स्फीतता। वृत्तौ तावत्–ऋक्ष्वस्य क्रमते बुद्धिः। न प्रतिहन्यत इत्यर्थः। ऋजुःष्वस्य क्रमते बुद्धिः। सर्गे–व्याकरणाध्ययनाय क्रमते। उत्सहत इत्यर्थः। तायने–अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते। स्फीतीभवन्तीत्यर्थः। ऐतेष्विति किम्? अपक्रामति।

अर्थ—वृत्ति, सर्ग तथा तायन अर्थों में 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद होता है।

वृत्ति = विना व्यवधान के चलना। सर्ग = उत्साह। तायन = विस्तार।

उदा॰ (1) (ऋक्ष्वस्य) क्रमते बुद्धिः (= ऋचाओं में इसकी बुद्धि अप्रतिहत है)
क्रम—'वृत्ति' अर्थ में आत्मनेपद हुआ,
क्रम अ त → क्रमते।

(2) (यजुष्वस्य) क्रमते बुद्धिः (पूर्ववत्)।

(3) (व्याकरणाऽध्ययनाय) क्रमते
उत्साह अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(4) (अस्मिन् शास्त्राणि) क्रमन्ते
यहाँ 'विस्तार' अर्थ है। अत: आत्मनेपद हुआ।

एतेष्वि॰ अर्थात् वृत्ति आदि अर्थों में ही 'क्रम' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) अपक्रामति
यहाँ 'वृत्ति' आदि कोई अर्थ नहीं है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ। परस्मैपद हुआ। 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ हुआ।

(187) उपपराभ्याम् *39* (2712)

वृत्तिसर्गतायनेष्विति वर्तते। उपपरापूर्वात्क्रमतेर्वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। किमर्थं तर्हीदमुच्यते? उपसर्गनियमार्थं सोपसर्गादुपपरापूर्वादेव, नान्यपूर्वादिति–उपक्रमते, पराक्रमते। उपपराभ्यामिति किम्? संक्रामति। वृत्त्यादिष्वित्येव–उपक्रामति, पराक्रामति।

अर्थ—'वृत्ति' आदि का अनुवर्त्तन होता है।

'उप' तथा 'परा' उपसर्गपूर्वक 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है, वृत्ति, सर्ग तथा तायन अर्थों में।

यह उपसर्ग नियम के लिए हैं। उक्त अर्थों में 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद पूर्व सूत्र से सिद्ध ही था। तब 'उप' तथा 'प्र' उपसर्ग-पूर्वक 'क्रम' से आत्मनेपद हो जाय—इसलिए विधान किया गया है।

उदा॰ (1) उपक्रमते
उप क्रम्—पूर्वोक्त अर्थों में आत्मनेपद हुआ,
उपक्रमते।

(2) पराक्रमते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

उपपरा॰ अर्थात् उप तथा परा उपसर्गपूर्वक ही 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) सङ्क्रामति
सम् क्रम् = 'क्रम्' से पूर्व न तो 'उप' है तथा न ही 'परा' है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ,

सम् क्रम् त → सङ्क्रामते—अनुस्वार, परसवर्ण, 'क्रमः परस्मै॰'।

वृत्त्यादि अर्थात् वृत्ति आदि पूर्वोक्त अर्थों में ही 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है—

(1) उपक्रामति

उप क्रम्—उपपूर्वक 'क्रम्' है, परन्तु 'वृत्ति' आदि कोई अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ,

उपक्रामति।

(2) पराक्रामति

पूर्ववत् आत्मनेपद नहीं हुआ। 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ।

(188) आङ् उद्गमने *40* (2713)

आङ्पूर्वात् क्रमतेरुद्गमने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। आक्रमते आदित्यः। आक्रमते चन्द्रमाः। आक्रमन्ते ज्योतींषि। उद्गमन इति किम्? आक्रामति माणवकः कुतुपम्। * ज्योतिरुद्गमने इति वक्तव्यम् * (म०भा०)। इह मा भूत्–आक्रामति धूमो हर्म्यतलात् (म०भा०)।

अर्थ—'उद्गमन' अर्थ में 'आङ्' पूर्वक 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) आक्रमते (आदित्यः)

आ क्रम्—'आ' पूर्वक 'क्रम्' है। 'उद्गमन' अर्थ है। आत्मनेपद हुआ,

आक्रमते—शप्, एत्व।

(2) आक्रमते (चन्द्रमाः)

पूर्ववत्।

(3) आक्रमन्ते (ज्योतींषि)

पूर्ववत्।

उद्गमने० अर्थात् **उद्गमन** अर्थ में ही 'क्रम' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) आक्रामति माणवकः कुतपम्

आ क्रम्—'उद्गमन' अर्थ नहीं है। आपूर्वक 'क्रम्' होने पर भी आत्मनेपद नहीं हुआ,

आक्रामति—तिप्, शप्।

ज्योतिरुद्गमन इति वक्तव्यम् (वा०)—ज्योति के उद्गमन अर्थ में 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है—

(1) आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्

यहाँ 'ज्योति' का उद्गमन नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(189) वेः पादविहरणे *41* (2714)

विपूर्वात्क्रमतेः पादविहरणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। विहरणं विक्षेपः। सुष्ठु विक्रमते। साधु विक्रमते। अश्वादीनां गतिविशेषो विक्रमणमुच्यते। यद्यपि क्रमिः पादविहरण एव पठ्यते—'क्रमु पादविक्षेपे' (धा०पा० 473) इति, तथाप्यनेकार्थत्वाद्धातूनामेवमुक्तम्। पादविहरणे इति किम्? विक्रामत्यजिनसन्धिः।

अर्थ—'पादविहरण' अर्थ में 'वि' पूर्वक 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद होता है। विहरण = उठाना।

उदा० (1) विक्रमते सुष्ठु

वि क्रम्—प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ,

विक्रमते।

(2) विक्रमते साधु (पूर्ववत्)।

घोड़े आदि पशुओं की गतिविशेष को 'विक्रमण' कहा जाता है। यद्यपि 'क्रम्' धातु का पाठ 'पादविहरण' अर्थ में ही है, तथापि धातुओं का अनेक अर्थ होने से ऐसा कहा गया है।

पादविहरणे० अर्थात् पादविहरण अर्थ में ही 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है—

(1) विक्रामति अजिनसन्धिः

यहाँ वि पूर्वक 'क्रम्' धातु है, परन्तु पादविहरण अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(190) प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् *42* (2715)

प्र, उप–इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां परस्मात् क्रमतेरात्मनेपदं भवति, तौ चेत् प्रोपौ समर्थौ तुल्यार्थौ भवतः। क्व चानयोस्तुल्यार्थता? आदिकर्म्मणि। प्रक्रमते भोक्तुम्। उपक्रमते भोक्तुम्। समर्थाभ्यामिति किम्? पूर्वेद्युः प्रक्रामति। गच्छतीत्यर्थः। अपरेद्युरुपक्रामति। आगच्छतीत्यर्थः। अथोपपराभ्यामित्यनेनात्मनेपदमत्र कस्मान्न भवति? वृत्त्यादिग्रहणं तत्रानुवर्त्तते, ततोऽन्यत्रेदं प्रत्युदाहरणम्।

अर्थ—समान अर्थ वाले 'प्र' तथा 'उप' उपसर्ग से पर 'क्रम्' धातु से आत्मनेपद होता है।

आदिकर्म (अर्थात् क्रिया को प्रारम्भ करने) अर्थ में 'प्र' तथा 'उप' उपसर्ग समानार्थक होते हैं।

उदा० (1) प्रक्रमते भोक्तुम्

प्रपूर्वक 'क्रम्' धातु से पूर्वोक्त अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(2) उपक्रमते (पूर्ववत्)।

समर्थाभ्याम् अर्थात् प्र तथा परा उपसर्ग समानार्थक होने पर ही आत्मनेपद होता है। यथा—

(3) पूर्वेद्युः प्रक्रामति (= पहले दिन जाता है)।

(4) अपरेद्युरुपक्रामति (= अगले दिन आता है)।

यहाँ 'प्र' तथा 'उप' उपसर्ग तुल्यार्थक नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

अथोपप—'उपपराभ्याम्' द्वारा यहाँ आत्मनेपद क्यों नहीं हुआ ? उस सूत्र में 'वृत्ति' आदि पदों का अनुवर्त्तन है। उनसे अन्य अर्थो में यह प्रत्युदाहरण है।

(191) अनुपसर्गाद्वा *43* (2716)

क्रम इति वर्त्तते। अप्राप्तविभाषेयम्। उपसर्गवियुक्तात् क्रमतेरात्मनेपदं वा भवति। क्रमते। क्रमति। अनुपसर्गादिति किम्? संक्रामति।

अर्थ—'क्रमः' पद का अनुवर्त्तन हो रहा है। यह अप्राप्त के स्थान पर विकल्प किया जा रहा है।

उपसर्गरहित 'क्रम्' धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) क्रमते
पूर्व में उपसर्ग नहीं है। आत्मनेपद विकल्प से हुआ।

(2) क्रामति
पक्ष में परस्मैपद हुआ। 'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ हुआ।

अनुपसर्गा० अर्थात् **उपसर्गरहित** 'क्रम्' से हा[illegible]त्मनेपद का विकल्प होता है—

(1) सङ्क्रामति
आत्मनेपद नहीं हुआ।

(192) अपह्नवे ज्ञः *44* (2717)

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदे (1.3.78) प्राप्ते जानातेरपह्नवे वर्त्तमानादा-त्मनेपदं भवति। अपह्नवोऽपह्नुतिरपलापः। सोपसर्गश्चाय-मपह्नवे वर्त्तते, न केवलः। शतमपजानीते। सहस्रमपजानीते। अपलपतीत्यर्थः। अपह्नव इति किम्? न त्वं किञ्चिदपि जानासि।

अर्थ—'छिपाना' अर्थ में 'अप' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है। प्रायः 'अप' पूर्वक 'ज्ञा' धातु का प्रयोग 'छिपाना' अर्थ में होता है।

उदा० (1) (शतम्) अपजानीते
अप ज्ञा—'छिपाना' अर्थ में आत्मनेपद हुआ,
अप जा श्ना त—ज्ञाजनोर्जा, क्र्यादिभ्यः श्ना,
अपजानीते।

(2) (सहस्रम्) अपजानीते
पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

अपह्नवे० अर्थात् **छिपाना** अर्थ में ही आत्मनेपद होता है—

(1) (न त्वं किञ्चिदपि) जानासि

यहाँ 'अप' पूर्वक 'ज्ञा' धातु नहीं है तथा 'छिपाना' अर्थ नहीं है। अत; आत्मनेपद नहीं हुआ।

(193) अकर्मकाच्च *45* (2718)

अकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्, कर्त्रभिप्राये हि 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' (1.3.76) इति जानातेरकर्मकादकर्मकक्रियावचनादात्मनेपदं भवति। सर्पिषो जानीते। मधुनो जानीते। कथं चायमकर्मकः? नात्र सर्पिरादि ज्ञेयत्वेन विवक्षितम्, किं तर्हि? ज्ञानपूर्विकायां प्रवृत्तौ करणत्वेन, तथा च 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' (2.3.51) इति षष्ठी विधीयते-सर्पिषो जानीते। मधुनो जानीते। सर्पिषा उपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः। अकर्मकादिति किम्? स्वरेण पुत्रं जानाति।

अर्थ—यह अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान है। कर्त्रभिप्राय क्रियाफल की दशा में तो 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' से आत्मनेपद होता ही है।

उदा० (1) (सर्पिषः) जानीते
ज्ञा—यहाँ पर 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'जानना' नहीं है, अपितु 'प्रवृत्त होना' है। अतः अकर्मक है। आत्मनेपद हो गया। यहाँ 'घृत' करण है। 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' के द्वारा षष्ठी हो गई।

(2) (मधुनः) जानीते (पूर्ववत्)।

अकर्मकात्० अर्थात् **अकर्मक** 'ज्ञा' धातु से ही आत्मनेपद होता है—

(1) जानाति पुत्रं स्वरेण
यहाँ अकर्मक 'ज्ञा' नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(194) सम्प्रतिभ्यामनाध्याने *46* (2719)

ज्ञः इति वर्त्तते। सकर्मकार्थमिदम्। सम्, प्रति इत्येवम्पूर्वाज्जानातेरनाध्याने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। आध्यानमुत्कण्ठास्मरणम्। शतं सञ्जानीते। सहस्रं सञ्जानीते। शतं प्रतिजानीते। सहस्रं प्रतिजानीते। अनाध्यने इति किम्? मातुः सञ्जानाति, पितुः सञ्जानाति। उत्कण्ठते इत्यर्थः (2.3.52)।

अर्थ—'ज्ञः' की अनुवृत्ति है। सकर्मक के लिए विधान किया जा रहा है। 'सम्' तथा 'प्रति' पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ को छोड़कर।

आध्यान का अर्थ है—उत्कण्ठापूर्वक स्मरण।

उदा० (1) (शतं) संजानीते
सम् ज्ञा—प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ,
सम् जानीते → सञ्जानीते—अनुस्वार,
सञ्जानीते—परसवर्ण।

(2) (सहस्रं) प्रतिसञ्जानीते (पूर्ववत्)।

अनाध्याने० अर्थात् **उत्कण्ठापूर्वक स्मरण** अर्थ को **छोड़कर** अन्य अर्थ में ही 'सम्' तथा 'प्रति' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) (मातुः) सञ्जानाति
यहाँ 'आध्यान' अर्थ है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) (पितुः) सञ्जानाति (पूर्ववत्)।

(195) भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः *47* (2720)

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदे प्राप्ते (1.3.78) भासनादिषु विशेषणेषु सत्सु वदतेरात्मनेपदं भवति। भासनं दीप्तिः। वदते चार्वी लोकायते। भासमानो दीप्यमानस्तत्र पदार्थान् व्यक्तीकरोतीत्यर्थः। उपसंभाषा उपसान्त्वनम्-कर्मकरानुपवदते। उपसान्त्वयतीत्यर्थः। ज्ञानं सम्यगवबोधः। वदते चार्वी लोकायते। जानाति वदितुमित्यर्थः। यत्नः उत्साहः-क्षेत्रे वदते, गेहे वदते। तद्विषयमुत्साहमाविष्करोतीत्यर्थः। विमतिर्नानामतिः-क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते। विमतिपतिता विचित्रं भाषन्त इत्यर्थः। उपमन्त्रणं रहस्युपच्छन्दनम्-कुलभार्यामुपवदते, परदारानुपवदते। उपच्छन्दयतीत्यर्थः। एतेष्विति किम्? यत्किञ्चिद् वदति।

अर्थ—भासन (= दीप्ति), उपसम्भाषा (= उपसान्त्वना), यत्न (= उत्साह), विमति (= नानामति) तथा उपमन्त्रण (= एकान्त भाषण)—इन अर्थों में 'वद्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) वदते चार्वी लोकायते
पदार्थों को व्यक्त या दीप्त करता है—इस अर्थ में आत्मनेपद हो गया।

(2) (कर्मकरान्) उपवदते
उपसान्त्वना अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(3) वदते चार्वी लोकायते (पूर्ववत्)।

(4) वदते क्षेत्रे
'यत्न' अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(5) वदते गेहे
'यत्न' अर्थ में।

(6) (क्षेत्रे) विवदन्ते
'विमति' अर्थ में हुआ।

(7) (गेहे) विवदन्ते (पूर्ववत्)।

(8) उपवदते कुलभार्याम्
'एकान्त सम्भाषण' अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(9) उपवदते परदारान् (पूर्ववत्)।

एतेष्विति० अर्थात् **भासन** आदि अर्थों में 'वद्' से आत्मनेपद होता है—

(1) वदति यत्किञ्चित्
यहाँ 'भासन' आदि कोई अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(196) व्यक्तवाचां समुच्चारणे *48* (2721)

वदः इति वर्त्तते। व्यक्तवाचां समुच्चारणं सहोच्चारणम्, तत्र वर्त्तमानाद्वदतेरात्मनेपदं भवति। ननु 'वद व्यक्तायां वाचि' (धा०पा० 1009) इत्येव पठ्यते। तत्र किं व्यक्तवाचामिति विशेषणेन? प्रसिद्ध्युपसंग्रहार्थमेतत्। व्यक्तवाच इति हि मनुष्याः प्रसिद्धाः। तेषां समुच्चारणे यथा स्यात्-सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः, सम्प्रवदन्ते क्षत्रियाः। व्यक्तवाचामिति किम्? वरतनु। सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः (म०भा०)। समुच्चारणे इति किम्? ब्राह्मणो वदति, क्षत्रियो वदति।

अर्थ—'वदः' का अनुवर्त्तन है। समुच्चारण = मिलकर बोलना। व्यक्तवाच् = स्पष्ट वाणी वाला। इस पृथ्वी पर मनुष्य ही एकमात्र व्यक्तवाच् प्राणी है।

स्पष्ट वाणी वालों के 'मिलकर बोलने' अर्थ में 'वद्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः
सम् प्र वद्—यहाँ ब्राह्मण लोग व्यक्तवाच् हैं। उनका सह उच्चारण अभीष्ट है। अतः आत्मनेपद हुआ—
सम्प्रवदन्ते।

(2) सम्प्रवदन्ते क्षत्रियाः (पूर्ववत्)।

व्यक्तवाचा० अर्थात् **स्पष्ट वाणी वालों** के सह उच्चारण की दशा में ही 'वद्' से आत्मनेपद होता है—

(1) सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः

यहाँ कुक्कुटों का सह उच्चारण है, जो स्पष्ट वाणी वाले नहीं हैं। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

समुच्चारणे० अर्थात् **सह उच्चारण** में ही 'वद्' से आत्मनेपद होता है—

(1) ब्राह्मणो वदति

यहाँ ब्राह्मण 'व्यक्तवाच्' तो है, परन्तु उनका सहोच्चारण न होने से आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) क्षत्रियो वदति (पूर्ववत्)।

(197) अनोरकर्मकात् *49* (2722)

वदः इति, व्यक्तवाचामिति च वर्त्तते। अनुपूर्वाद्वदतेरकर्मकाद्व्यक्तवाग्विषयादात्मनेपदं भवति। अनुवदते कठः कलापस्य। अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य। अनुः सादृश्ये। यथा कलापोऽधीयानो वदति तथा कठ इत्यर्थः। अकर्मकादिति किम्? पूर्वमेव यजुरुदितमनुवदति। व्यक्तवाचामित्येव–अनुवदति वीणा।

अर्थ—'वदः' तथा 'व्यक्तवाचाम्' पदों का अनुवर्त्तन हो रहा है। 'अनु' पूर्वक अकर्मक 'वद्' धातु से स्पष्ट वाणी वालों के सह उच्चारण में आत्मनेपद होता है। अनु 'सादृश्य' अर्थ में प्रयुक्त है।

उदा० (1) अनुवदते कठः कलापस्य (= जिस प्रकार कलाप शाखा अध्यायी बोलता है, उसी प्रकार कठ शाखा वाला बोलता है) यहाँ 'वद्' धातु अकर्मक है। आत्मनेपद हुआ।

(2) अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य (पूर्ववत्)।

अकर्म्मका० अर्थात् **अकर्मक** से ही आत्मनेपद होता है—

(1) यजुरुदितमनुवदति

'अनु' पूर्वक 'वद्' है; परन्तु अकर्मक नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

व्यक्तवाचाम्० अर्थात् **व्यक्तवाच्** के सह उच्चारण में ही 'वद्' से आत्मनेपद होता है—

(1) अनुवदति वीणा

यहाँ 'अनु' पूर्वक 'वद्' है, परन्तु स्पष्ट वाणी वाला प्राणी नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(198) विभाषा विप्रलापे *50* (2723)

वद इति वर्त्तते, व्यक्तवाचां समुच्चारणे इति च। विप्रलापात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणे वर्त्तमानाद्वदतेरात्मनेपदं भवति विभाषा। प्राप्तविभाषेयम्। विप्रवदन्ते सांवत्सराः। विप्रवदन्ति सांवत्सराः। विप्रवदन्ते मौहूर्त्ताः। विप्रवदन्ति मौहूर्त्ताः। युगपत्परस्परप्रतिषेधेन विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः। विप्रलाप इति किम्? सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। व्यक्तवाचामित्येव–विप्रवदन्ति शकुनयः। समुच्चारण इत्येव–क्रमेण मौहूर्त्ता मौहूर्त्तेन सह विप्रवदन्ति।

अर्थ—'वदः', 'व्यक्तवाचाम्' तथा 'समुच्चारणे' पदों की अनुवृत्ति है।

विप्रलाप = परस्पर विरुद्ध कथन।

मनुष्यों के परस्पर विरुद्ध कथनात्मक सह उच्चारण अर्थ में 'वद्' धातु से आत्मनेपद विकल्प से होता है।

यह प्राप्त के स्थान पर विकल्प किया जा रहा है।

उदा० (1) विप्रवदन्ते सांवत्सराः

मनुष्यों का सह उच्चारण है, परस्पर विरुद्ध कथन है। अतः 'वद्' से आत्मनेपद विकल्प से हुआ।

(2) विप्रवदन्ति सांवत्सराः

पक्ष में आत्मनेपद नहीं हुआ।

(3) विप्रवदन्ते मौहूर्त्ताः

पूर्ववत् आत्मनेपद।

(4) विप्रवदन्ति मौहूर्त्ताः

पक्ष में आत्मनेपद नहीं हुआ।

विप्रलापे० अर्थात् **परस्पर विरुद्ध कथन** की दशा में ही 'वद्' से आत्मनेपद विकल्प से होता है—

(1) सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः

परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है। अतः पूर्व सूत्र 'व्यक्तवाचां०' से आत्मनेपद हुआ। प्रकृत सूत्र से विकल्प नहीं हुआ।

व्यक्तवाचाम् अर्थात् **स्पष्ट वाणी वालों** के विप्रलाप व सह उच्चारण में ही आत्मनेपद विकल्प से होता है—

(1) विप्रवदन्ति शकुनयः

यहाँ सह उच्चारण है, विप्रलाप है; परन्तु स्पष्ट वाणी वालों का नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

समुच्चारणे० अर्थात् **सह उच्चारण** की दशा में ही आत्मनेपद विकल्प से होता है—

(1) विप्रवदन्ति मौहूर्त्ताः क्रमेण मौहूर्त्तेन सह

यहाँ क्रमशः विप्रलाप है, सह उच्चारण नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(199) अवाद्ग्रः *51* (2724)

'गॄ निगरणे' (धा०पा० 1410) इति तुदादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम्, न तु 'गॄ शब्दे' (धा०पा० 1498) इति क्र्यादिपठितस्य, तस्य ह्यवपूर्वस्य प्रयोग एव नास्ति (म० भा०)। शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदे (1.3.78) प्राप्ते, अवपूर्वाद्गिरतेरात्मनेपदं भवति–अवगिरते, अवगिरेते, अवगिरन्ते। अवादिति किम्? गिरति।

अर्थ—'गॄ निगरणे' इस धातु का तुदादिगण में पाठ है। उसी का यहाँ पाठ है। 'गॄ शब्दे' (क्र्यादि०) धातु का ग्रहण नहीं है। कारण कि, उस क्र्यादिगणी धातु का 'अव' उपसर्गपूर्वक प्रयोग नहीं है। 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद प्राप्त होता है। उसका अपवाद है। 'अव' पूर्वक 'गॄ' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) अवगिरते

अव गॄ—परस्मैपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपद हुआ,

अव गॄ श त—'तुदादिभ्यः शः' से 'श' विकरण,

अव गिर् अ त—ॠत इद् धातोः, उरण् रपरः,

अवगिरते।

(2) अवगिरेते

अव गॄ आताम्—पूर्ववत् आत्मनेपद,

अव गिर् अ आताम्—आतो ङितः,

अवगिरेते—टित आत्मनेपदानां टेरे।

(3) अवगिरन्ते

अव गॄ झ → अव गिर् अ अन्त—झोऽन्तः, श, इत्,

अवगिरन्ते।

अवादि० अर्थात् अवपूर्वक 'गॄ' धातु से ही आत्मनेपद होता है—

(1) गिरति

गॄ—यहाँ 'अव' उपसर्ग नहीं है। आत्मनेपद नहीं हुआ। यथाप्राप्त परस्मैपद हुआ।

गॄ श ति → गिर् अ ति → गिरति।

(200) समः प्रतिज्ञाने *52* (2725)

ग्रः इति वर्त्तते। सम्पूर्वाद्गिरतेः प्रतिज्ञाने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। प्रतिज्ञानमभ्युपगमः। शतं संगिरते। नित्यं शब्दं संगिरते। प्रतिज्ञाने इति किम्? संगिरति ग्रासम्।

अर्थ—'ग्रः' की अनुवृत्ति है।

स्वीकार करना—इस अर्थ में 'सम्' पूर्वक 'गॄ' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) सङ्गिरते शतम्

सम् गॄ—(सौ रुपये स्वीकार करता है—) इस प्रकार अर्थ में 'सम्' पूर्वक 'गॄ' से आत्मनेपद हुआ—

सम् गॄ श त → सङ्गिरते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) सङ्गिरते शब्दं नित्यम्

सम् गॄ—(शब्द नित्य है—इस प्रकार स्वीकार करता है)—इस अर्थ में आत्मनेपद हुआ,

सङ्गिरते।

प्रतिज्ञाने० अर्थात् स्वीकार करना अर्थ में ही 'सम्' पूर्वक 'गॄ' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) सङ्गिरति ग्रासम्

यहाँ 'स्वीकार करना' अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

(201) उदश्चरः सकर्मकात् *53* (2726)

शेषात्कर्तरि परस्मैपदे प्राप्ते उत्पूर्वाच्चरतेः सकर्मकक्रियावचनादात्मनेपदं भवति। गेहमुच्चरते। कुटुम्बमुच्चरते। गुरुवचनमुच्चरते। उत्क्रम्य गच्छतीत्यर्थः। सकर्मकादिति किम्? वाष्पमुच्चरति।

अर्थ—'शेषात् कर्त्तरि०' से परस्मैपद प्राप्त होने पर आत्मनेपद का विधान किया जा रहा है।

'उद्' उपसर्गपूर्वक सकर्मक 'चर्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) उच्चरते गेहम्

उद् चर्—सकर्मक 'चर्' धातु है। आत्मनेपद हुआ,

उद् चर् त → उद् चर् शप् त—शप्,

उज् चर् अ त—स्तोः श्चुना श्चुः,

उच्चरते—खरि च।

(2) उच्चरते कुटुम्बम् (पूर्ववत्)।

(3) उच्चरते गुरुवचनम् (पूर्ववत्)।

सकर्मकात्० अर्थात् 'उद्' पूर्वक सकर्मक 'चर्' धातु से ही आत्मनेपद होता है—

(1) उच्चरति वाष्पम्
यहाँ सकर्मक 'चर्' नहीं हैं। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(202) समस्तृतीयायुक्तात् *54* (2727)

सम्पूर्वाच्चरतेस्तृतीयायुक्तादात्मनेपदं भवति। तृतीयेति तृतीया विभक्तिर्गृह्यते। तथा चरतेरर्थद्वारको योगः। अश्वेन सञ्चरते। तृतीयायुक्तादिति किम्? 'उभौ लोकौ सञ्चरसि इमं चामुं च देवल' (म०भा०)। यद्यप्यत्र तदर्थयोगः सम्भवति, तृतीया तु न श्रूयत इति प्रत्युदाहरणं भवति।

अर्थ—'सम्' उपसर्ग से पर तृतीयान्त से युक्त 'चर्' धातु से आत्मनेपद होता है।

'तृतीया' के द्वारा तृतीया विभक्ति का ग्रहण होता है। उसके द्वारा 'चर्' धातु के साथ अर्थ का योग है।

उदा० (1) सञ्चरते अश्वेन
'अश्वेन' में तृतीया है। सम् पूर्वक 'चर्' से आत्मनेपद हुआ।
सम् चर् त—शप्,
सम् चर् अ त → संचरते—अनुस्वार,
सञ्चरते—परसवर्ण।

तृतीया० अर्थात् तृतीया से युक्त 'चर्' से आत्मनेपद होता है—

(1) सञ्चरसि उभौ लोकौ
यहाँ 'सम्' पूर्वक 'चर्' है, परन्तु तृतीया से युक्त नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

यद्यपि यहाँ तदर्थयोग है, तदपि तृतीया उपलब्ध नहीं है। अतः प्रत्युदाहरण होता है।

(203) दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे *55* (2728)

'दाण् दाने' (धा०पा० 930) परस्मैपदी। ततः सम्पूर्वात्तृतीयायुक्तादात्मनेपदं भवति, सा चेत्तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति। कथं पुनस्तृतीया चतुर्थ्यर्थे स्यात्? वक्तव्यमेवैतत्। * अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम् *। दास्या सम्प्रयच्छते (म०भा०)। वृषल्या सम्प्रयच्छते। कामुकः सन् दास्यै ददातीत्यर्थः। चतुर्थ्यर्थ इति किम्? पाणिना सम्प्रयच्छति। समः प्रशब्देन व्यवधाने कथमात्मनेपदं भवति? सम इति विशेषणे षष्ठी, न पञ्चमी।

अर्थ—'दाण् दाने' धातु परस्मैपदी है।

'सम्' उपसर्ग से परे तृतीयान्त से युक्त 'दा' धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में प्रयुक्त हो।

कथं पुन—चतुर्थी के स्थान पर तृतीया कैसे होती है?

अशिष्टव्यवहारे तृतीयाचतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम् (वा०)—अशिष्ट व्यवहार के अर्थ में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है।

उदा० (1) सम्प्रयच्छते (रतिं) दास्या कामी (= कामी पुरुष दासी को रति देता है) दासी के साथ कामुक सम्बन्ध रखना अशिष्ट व्यवहार है। अतः चतुर्थी के अर्थ में तृतीया हुई है।

प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद हुआ। 'यच्छ' आदेश होकर रूप बना।

(2) सम्प्रयच्छते वृषल्या (पूर्ववत्)।

चतुर्थ्यर्थे० अर्थात् चतुर्थी के अर्थ में प्रयुक्त तृतीयान्त से युक्त 'दा' से आत्मनेपद होता है—

(1) सम्प्रयच्छति पाणिना
यहाँ 'पाणिना' में तृतीया है। चतुर्थी के अर्थ में तृतीया नहीं है। अतः आत्मनेपद न हुआ।

समः—'सम्प्रयच्छते' यहाँ 'सम्' तथा 'दा' धातु के मध्य 'प्र' का व्यवधान है। तब आत्मनेपद कैसे हुआ?

इसका समाधान है कि 'समः' पद में पञ्चमी नहीं है, अपितु विशेषण षष्ठी विभक्ति है। यदि पञ्चमी विभक्ति मान लेंगे तो 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा के बल पर उससे पर अव्यवहित को कार्य प्राप्त होता है। तब 'सम्प्रयच्छते' रूप नहीं बन सकेगा।

(204) उपाद्यमः स्वकरणे *56* (2729)

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदे (1.3.78) प्राप्ते उपपूर्वाद् यमः स्वकरणे वर्तमानादात्मनेपदं भवति। पाणिग्रहणविशिष्टमिह स्वकरणं गृह्यते, न स्वकरणमात्रम्। भार्यामुपयच्छते। स्वकरण इति किम्? देवदत्तो यज्ञदत्तस्य भार्यामुपयच्छति।

अर्थ—'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद प्राप्त होने पर आत्मनेपद का विधान किया जा रहा है।

पाणिग्रहण अर्थ में 'उप' पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद होता है।

स्वकरण = पाणिग्रहण।

उदा० (1) उपयच्छते भार्याम्
यहाँ पाणिग्रहण अर्थ है। 'उप' पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद

हुआ। 'इषुगमियमां छः' के द्वारा 'छ' आदेश तथा 'छे च' से 'तुक्' आगम होते हैं।

स्वकरण० अर्थात् पाणिग्रहण अर्थ में 'उप' पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) उपयच्छति यज्ञदत्तस्य भार्यां देवदत्तः

यहाँ पाणिग्रहण अर्थ नहीं है। अतः 'उप' पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद न हुआ।

(205) ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः *57* (2731)

ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश्—इत्येतेषां सन्नन्तानामात्मनेपदं भवति। तत्र जानातेः 'अपह्नवे ज्ञः' (1.3.44) इति त्रिभिः सूत्रैरात्मनेपदं विहि-तम्, श्रुदृशोरपि 'समो गम्यृच्छि' (1.3.29) इत्यत्र विहितम्, तस्मिन्विषये 'पूर्ववत्सनः' (1.3.62) इत्येव सिद्धमात्मनेपदं ततोऽन्यत्रानेन विधीयते। स्मरतेः पुनरप्राप्त एव विधानम्। धर्मं जिज्ञासते। गुरुं शुश्रूषते। नष्टं सुस्मूर्षते। नृपं दिदृक्षते। सनः इति किम्? जानाति, शृणोति, स्मरति, पश्यति।

अर्थ—ज्ञा, श्रु, स्मृ तथा दृश्—इन धातुओं के सन्नन्त (रूप) से परे आत्मनेपद होता है। ये सभी धातु परस्मैपदी हैं।

उदा० (1) जिज्ञासते धर्म्मम्

ज्ञा—धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायाम्० से 'सन्',

ज्ञा सन् → ज्ञा स—'सन्यङोः' से द्वित्व,

ज्ञा ज्ञा स → जा ज्ञा स → ज ज्ञा स—अभ्यासकार्य,

जिज्ञास—'सन्यतः' से इकार, धातुसंज्ञा,

जिज्ञास लट्—लट् हुआ, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद,

जिज्ञासते—त, शप्।

(2) शुश्रूषते गुरुम्

श्रु सन् → श्रु श्रू स—पूर्ववत् सन् 'श्र्युकः किति' से इट् निषेध, द्वित्व,

शु श्रू स → शु श्रू स—हलादिः शेषः, 'श्रु' अंग को प्राप्त गुण का 'इको झल्' से 'सन्' के कित् होने से 'क्क्ङिति च' से निषेध, 'अज् झन् गमां—' से दीर्घ, धातुसंज्ञा,

शुश्रूषते—पूर्ववत् आत्मनेपद, आदेशप्रत्यययोः।

(3) सुस्मूर्षते नष्टम्

स्मृ सन् → स्मृ स

स्मुर् स—'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'उ' आदेश,

स्मूर् स—'र्वोरुपधायाः०' से दीर्घ,

स्मूर् स्मूर् स—'सन्यङोः' से द्वित्व,

सु स्मूर् स—हलादिः शेषः, ह्रस्वः,

सुस्मूर्ष—आदेशप्रत्यययोः, धातुसंज्ञा, लट्,

सुस्मूर्षते—आत्मनेपद, शप्।

(4) दिदृक्षते नृपम्

दृश् सन् → दृश् स—'हलन्ताच्च' से 'सन्' कित्, प्राप्त गुण का निषेध,

दृश् दृश् स → दृ दृश् स → दि दृश् स—उरत्, सन्यतः,

दि दृष् स → दि दृक् स—'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'ष्', षढोः कः सि,

दिदृक्ष—आदेशप्रत्यययोः, धातुसंज्ञा, लट्,

दिदृक्षते—आत्मनेपद।

तत्र जानते—इनमें से 'अपह्नवे ज्ञः' इत्यादि तीन सूत्रों से 'ज्ञा' से आत्मनेपद होता है। 'श्रु' तथा 'दृश्' धातुओं से भी 'समो गम्यृच्छि०' के द्वारा आत्मनेपद होता है। अतः यहाँ 'पूर्ववत् सनः' से आत्मनेपद स्वतः सिद्ध है। प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वोक्त से भिन्न स्थलों पर आत्मनेपद का विधान किया गया है।

सन इति० अर्थात् पूर्वोक्त धातुओं के सन्नन्त रूप से ही आत्मनेपद होता है—

(1) जानाति

सन् नहीं है। अतः यथाप्राप्त परस्मैपद हुआ।

(2) शृणोति (पूर्ववत्)।

(3) स्मरति (पूर्ववत्)।

(4) पश्यति (पूर्ववत्)।

(206) नानोर्ज्ञः *58* (2732)

पूर्वेण योगेन प्राप्तमात्मनेपदं प्रतिषिद्ध्यते। अनुपूर्वाज्जानातेः सन्नन्तादात्मनेपदं न भवति। तथा च सति सकर्मकस्यैवायं प्रतिषेधः सम्पद्यते-पुत्रमनुजिज्ञासति। अनोरिति किम्? धर्मं जिज्ञासते।

अर्थ—पूर्व शास्त्र के द्वारा प्राप्त आत्मनेपद का निषेध किया जाता है। 'अनु' उपसर्गपूर्वक सन् प्रत्ययान्त 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद नहीं होता है।

यह सकर्मक की दशा में निषेध होता है।

उदा० (1) अनुजिज्ञासति पुत्रम्

अनु ज्ञा सन्—सन्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, धातुसंज्ञा,

अनुजिज्ञास—लट्, आत्मनेपद प्राप्त हुआ, निषेध हुआ,

अनुजिज्ञासति—परस्मैपद, शप्।

अनो० अर्थात् अनु पूर्वक् सन् प्रत्ययान्त 'ज्ञा' से आत्मनेपद नहीं होता है—

(1) जिज्ञासते धर्म्मम्

'अनु' उपसर्ग नहीं है। तब आत्मनेपद का निषेध नहीं हुआ।

(207) प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः *59* (2733)

प्रति, आङ्–इत्येवंपूर्वाच्छृणोतेः सन्नन्तादात्मनेपदं न भवति। प्रतिशुश्रूषति। आशुश्रूषति। उपसर्गग्रहणं चेदं तस्मादिह प्रतिषेधो न भवति–देवदत्तं प्रति शुश्रूषते।

अर्थ—'प्रति' तथा 'आङ्' पूर्वक सन् प्रत्ययान्त 'श्रु' धातु से आत्मनेपद नहीं होता है—

उदा० (1) प्रतिशुश्रूषति

प्रति श्रु सन्—द्वित्वादि कार्य,

प्रतिशुश्रूष—धातुसंज्ञा, लट्, 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां०' से आत्मनेपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से निषेध,

प्रतिशुश्रूषति—परस्मैपद।

उपसर्ग० अर्थात् यहाँ उपसर्ग का ग्रहण होता है—

(1) देवदत्तं प्रति शुश्रूषते

यहाँ 'श्रु' धातु सन् प्रत्ययान्त है। इससे पूर्व 'प्रति' है; परन्तु यह उपसर्ग नहीं है, कर्मप्रवचनीय है। अतः आत्मनेपद का निषेध नहीं हुआ।

(208) शदेः शितः *60* (2362)

'शद्लृ शातने' (धा०पा० 1855) परस्मैपदी, तस्मादात्मनेपदं विधीयते। शदिर्यः शित्, शिद्भावी शितो वा सम्बन्धी तस्मादात्मनेपदं भवति। शीयते। शीयेते। शीयन्ते। शित इति किम्? अशत्स्यत्, शत्स्यति, शिशत्सति।

अर्थ—'शद्लृ शातने' परस्मैपदी धातु है।

शित् सम्बन्धी जो 'शद्' धातु, उससे आत्मनेपद होता है। धातु से होने वाले शित् प्रत्यय ये हैं—

शप्, श्यन्, श श्नम्, श्ना।

उदा० (1) शीयते

शद् त—आत्मनेपद हुआ,

शद् शप् त—कर्त्तरि शप्,

शीय् अ त—'पाघ्राध्मास्था०' से 'शीय्',

शीयते—एत्व।

(2) शीयेते

शद् आताम् → शद् शप् आताम्—पूर्ववत्,

शीय् अ आताम्—शीयेते।

(3) शीयन्ते

शद् झ—शद् शप् अन्त—शीयन्ते।

पूर्ववत्।

शित० अर्थात् शित् सम्बन्धी जो 'शद्' उससे आत्मनेपद होता है—

(1) अशत्स्यत्

शद् लृङ्—लृङ् शित् सम्बन्धी लकार नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ,

अट् शद् तिप् → अ शद् स्य त्—अट्, स्यतासी लृलुटोः, इतश्च,

अशत्स्यत्—खरि च।

(2) शत्स्यति

शद् लृट्—पूर्ववत् आत्मनेपद का निषेध हुआ,

शद् स्य ति → शत्स्यति।

(3) शिशत्सति

शद् सन् सन्, → श शद् स—द्वित्व,

शिशत्स—सन्यतः, धातुसंज्ञा, सन् शित् सम्बन्धी नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ,

शिशत्सति।

(209) म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च *61* (2538)

'मृङ् प्राणत्यागे' (धा०पा० 1404)। ङित्त्वादात्मनेपदमत्र सिद्धमेवेति नियमार्थमिदं वचनम्। म्रियतेर्लुङ्लिङोः शितश्चात्मनेपदं भवति, अन्यत्र न भवति। अमृत। मृषीष्ट। शितः खल्वपि–म्रियते। म्रियेते। म्रियन्ते। नियमः किमर्थः? मरिष्यति, अमरिष्यत्।

अर्थ—'मृङ् प्राणत्यागे' धातु ङित् होने से 'अनुदात्तङित आत्मने०' से आत्मनेपद स्वतः सिद्ध है। तब नियमार्थ विधान किया जा रहा है अर्थात् प्रकृत सूत्र नियम करता है कि इस धातु को लुङ्, लिङ् तथा शित् प्रत्ययों में ही आत्मनेपद होता है तथा सर्वत्र आत्मनेपद नहीं होता है।

सूत्रार्थ—लुङ् लकार, लिङ् लकार तथा शित् प्रत्यय के सम्बन्ध में 'मृ' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) अमृत

मृ लुङ् → मृ त—आत्मनेपद हुआ,

अट् मृ च्लि त—अ मृ सिच् त—अट्, च्लि लुङि, च्लेः सिच्,

अमृत—ह्रस्वादङ्गात्।

(2) मृषीष्ट

मृ लिङ्—सूत्र में पूर्वशास्त्र से 'शितः' पद का अनुवर्त्तन होने से विधिलिङ् (शित् होने के कारण) में आत्मनेपद सिद्ध ही है। तब 'लिङ्' पद के द्वारा 'आशीर्लिङ्' का ही ग्रहण होता है। आत्मनेपद हुआ,

मृ सीयुट् सुट् त → मृ सीय् स् त—सुट् तिथोः,

मृ सी स् त—अनुबन्ध लोप, लोपो व्योर्वलि,

मृ षी स् त → मृषीष् त → मृषीष्ट—आदेश प्रत्यययोः, ष्टुना ष्टुः।

(3) म्रियेते

मृ लट्—लट् शित् प्रत्यय है, आत्मनेपद हुआ,

मृ आताम्—द्वित्व की विवक्षा में 'आताम्' हुआ,

मृ शप् आताम्—कर्त्तरि शप्,

म्रियङ् अ आताम्—रिङ् शयग्लिङ्क्षु से 'रिङ्', 'अचि श्नु०' से 'इयङ्'—

म्रियेते—आतो ङितः।

(4) म्रियन्ते

मृ झ—पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ,

म्रियन्ते—झोऽन्तः।

नियमः—प्रस्तुत सूत्र नियम करता है कि लुङ्, लिङ् व शित् प्रत्ययों में ही 'मृ' को आत्मनेपद होता है। यथा—

(1) मरिष्यति

मृ लृट्—आत्मनेपद न हुआ,

मृ तिप् → मृ स्य ति—तिप्, स्य,

मरिष्यति—इट्, गुण, मूर्धन्य आदेश।

(2) अमरिष्यत्

मृ लृङ्—पूर्ववत् आत्मनेपद न हुआ,

अट् मृ स्य तिप् → अ मृ इट् स्य त्—

अमरिष्यत्।

सार यह है कि लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् तथा लुङ् लकारों में 'मृ' धातु से आत्मनेपद होता है। शेष में परस्मैपद होता है।

21 का०प्र०

(210) पूर्ववत् सनः *62* (2734)

सनः पूर्वो यो धातुः आत्मनेपदी तद्वत्सन्नन्तादात्मनेपदं भवति। येन निमित्तेन पूर्वस्मादात्मनेपदं विधीयते तेनैव सन्नन्तादपि भवति। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12)–आस्ते, शेते। सन्नन्तादपि तदेव निमित्तम्–आसिसिषते। शिशयिषते (म०भा०)। नेर्विशः (1.3.17)–निविशते, निविविक्षते। आङ उद्गमने (1.3.40)–आक्रमते, आचिक्रंसते। इह न भवति–शिशत्सति, मुमूर्षति। न हि शदिम्रियतिमात्रमात्मनेपदनिमित्तम्, किं तर्हि? शिदाद्यपि, तच्चेह नास्ति। यस्य च पूर्वत्रैव निमित्तभावः प्रतिषिध्यते तत्सन्नन्तेऽप्यनिमित्तम्। अनुचिकीर्षति, पराचिकीर्षति। इह जुगुप्सते मीमांसते इति? अनुदात्त (1.3.12) इत्येव सिद्धमात्मनेपदमवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति (म०भा०)।

अर्थ—सन् से पूर्व जो धातु आत्मनेपदी, सन् करने पर भी उससे पूर्ववत् आत्मनेपद होता है।

सार यह है कि सन् का प्रकृतिभूत धातु यदि आत्मनेपदी हो तो सन् करने पर भी धातु से आत्मनेपद होता है तथा प्रकृतिभूत धातु यदि परस्मैपदी हो तो सन् करने पर भी धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) आसिसिषते

आसँ—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद हुआ,

आस् सन् → आस् इट् स—इट् हुआ,

आ सि सि ष—द्वित्व, अजादेर्द्वितीयस्य, मूर्धन्य, धातुसंज्ञा,

आसिसिष—लट्, आत्मनेपद,

आसिसिषते—शप्।

(2) शिशयिषते

शीङ्—ङित् होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद हुआ, सन्, इट्, पूर्ववत्,

शी इ सन् → शी शी इ स → शिशयिष—अभ्यासकार्य, गुण, अयादेश, मूर्धन्य, धातुसंज्ञा,

शिशयिषते—पूर्ववत् सनः, आत्मनेपद, शप्।

(3) निविविक्षते

नि विश्—'नेर्विशः' से आत्मनेपद हुआ,

नि विश् सन् → नि वि विश् स → निविविक्ष—'ष्' हुआ, 'क्' हुआ, षढोः कः सि,

निविविक्षते—पूर्ववत् सनः. आत्मनेपद हुआ।

(4) आचिक्रंसते
आ क्रम्—'आङ् उद्गमने' से आत्मनेपद हुआ, सन्,
आ क्रम् क्रम् स → आकक्रम् स्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
आचिक्रम् स—कुहोश्चुः, सन्यतः,
आचिक्रंस—अनुस्वार, धातुसंज्ञा, पूर्ववत् सनः,
आचिक्रंसते।

(5) शिशत्सति
शद् सन्—'शदेः शितः' से आत्मनेपद प्राप्त न हुआ,
शिशत्सति—परस्मैपद, पूर्ववत् सनः।

(6) मुमूर्षति
मृ सन्—मुमूर्षति—

नहि शदि—यहाँ पर केवल 'शद्' तथा 'मृङ्' ही आत्मनेपद का निमित्त नहीं है, अपितु 'शित्' आदि भी आत्मनेपद के निमित्त हैं। वह निमित्त यहाँ पर नहीं है। जिस धातु को जिस निमित्त से आत्मनेपद का निषेध होता है, सन्नन्त से भी इसी निमित्त से प्रतिषेध रहता है। यथा—

'अनुपराभ्यां कृञः' के द्वारा 'अनु' तथा 'परा' पूर्वक 'कृ' से परस्मैपद होता है, आत्मनेपद नहीं होता है। अतः सन् प्रत्ययान्त (अनुचिकीर्षति, तथा पराचिकीर्षति) से भी आत्मनेपद का निषेध होता है। तब परस्मैपद हुआ।

इह—'गुप्' धातु से सन् होकर 'जुगुप्सते' तथा 'मन्' से सन् होकर 'मीमांसते' बनता है। अब प्रश्न उठता है कि 'गुप्' 'मन्' धातुओं से आत्मनेपद नहीं होता है। तब सन् प्रत्ययान्त (जुगुप्सते तथा मीमांसते) से आत्मनेपद का निषेध होना चाहिए।

समाधान यह है कि इन्हें अनुदात्तेत् मानकर आत्मनेपद सिद्ध है। अवयव में किया हुआ चिह्न समुदाय का बोध कराता है। इस प्रकार सन् प्रत्ययान्त (जुगुप्सते तथा मीमांसते) में आत्मनेपद होता है।

(211) आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य *63* (2240)

अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। आम् प्रत्ययो यस्मात्सोऽयमाम्प्रत्ययः। आम्प्रत्ययस्येव धातोः कृञोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदं भवति। ईक्षाञ्चक्रे। ईहाञ्चक्रे। यदि विध्यर्थमेतत् तर्हि उदुब्जाञ्चकार, उदुम्भाञ्चकारेति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं प्राप्नोति? नैष दोषः। उभयमनेन क्रियते विधिर्नियमश्च। कथम्? पूर्ववदिति वर्त्तते। स द्वितीयो यत्नो नियमार्थो भविष्यति। कृञ इति किम्? ईक्षामास, ईक्षाम्बभूव। कथं पुनरस्यानुप्रयोगो यावता 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (3.1.40) इत्युच्यते? कृञिति प्रत्याहारग्रहणं तत्र विज्ञायते। क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः? अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (5.4.50) इति कृशब्दादारभ्य यावत् 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ' (5.4.58) इति ञकारम्।

अर्थ—अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान किया जा रहा है। आम्प्रत्यय = आम् प्रत्यय है जिससे (वह प्रकृति)।

जिससे आम् प्रत्यय का विधान किया गया है, उस प्रकृति के समान ही पश्चात् प्रयोग की गई 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है। 'वत्' प्रत्यय सादृश्य के अर्थ में है। 'कृञः' तथा 'अनुप्रयोगस्य' पदों में सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है अथवा इनका पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाभ कर लेना चाहिए।

उदा० (1) ईक्षाञ्चक्रे
ईक्ष् लिट् → ईक्ष् आम् लिट्—दीर्घश्च, इजादेश्च गुरु० से 'आम्',
ईक्ष् आम्—'आमः' से लुक्, प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः, 'कृदतिङ्' से कृत् संज्ञा, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा,
ईक्ष् आम् सु—'सु' आया, कृन्मेजन्तः, अव्ययादाप्सुपः,
ईक्षाम् कृ—'कृञ्चाऽनुप्रयुज्यते०',
ईक्षाम् कृ लिट्—पुनः लिट्, 'आम्प्रत्ययवत्०' से आत्मनेपद,
ईक्षाम् कृ त → ईक्षाम् कृ एश्—लिटस्तझयोरे०, अनेकालशित्०,
ईक्षाम् च कृ ए—द्विर्वचनेऽचि, द्वित्व, उरत्, हलादिः शेषः, कुहोश्चु,
ईक्षाम् चक्रे—यणादेशः,
ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षांचक्रे—मोऽनुस्वारः, वा पदान्तस्य।

(2) ईहाञ्चक्रे
ईह् लिट्—पूर्ववत् 'कृ' अनुप्रयोग, आत्मनेपद,
ईहाञ्चक्रे, ईहांचक्रे।

यदि विध्य—यदि प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान किया जा रहा है तो निम्नलिखित स्थलों पर आत्मनेपद प्राप्त होता है—

(1) उदुब्जाञ्चकार

उद् उब्ज्—'संयोगे गुरु' से गुरुसंज्ञा, लिट्, 'इजादेश्च गुरुमतो०' से 'आम्',

उद् उब्ज् आम् कृ लिट्—पूर्ववत् अनुप्रयोग आदि कार्य होकर लिट् आया, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त हुआ, 'पूर्ववत्' पद का अनुवर्त्तन कर परस्मैपद हुआ,

उदुब्जाञ्चकार—द्वित्व आदि।

(2) उदुम्भाञ्चकार

उद् उम्भ् आम् लिट्—संयोगे गुरु, इजादेश्च गुरु०,

उदुम्भ् आम् कृ लिट्—पूर्ववत् आत्मनेपद प्राप्त हुआ, 'पूर्ववत्' पद का अनुवर्त्तन कर परस्मैपद हुआ,

उदुम्भाञ्चकार—द्वित्व आदि।

समाधान यह है कि पूर्वसूत्र से 'पूर्ववत्' पद का अनुवर्त्तन कर लिया जाता है। तब सूत्रार्थ इस प्रकार किया जाता है—आम् प्रत्यय का विधान जिससे किया गया है, उस प्रकृति से अनुप्रयुज्यमान 'कृ' धातु से पूर्ववत् आत्मनेपद हो। चूँकि यह अर्थ 'आम्प्रत्ययवत्' पद के द्वारा सिद्ध था, तदपि 'पूर्ववत्' पद की अनुवृत्ति कर लेने पर प्रकृत सूत्र नियम करता है कि अनुप्रयुज्यमान 'कृ' से यदि आत्मनेपद करना हो तो वह पूर्ववत् (अर्थात् पहले वाली धातु के समान) ही हो, अन्यथा नहीं।

निष्कर्ष यह है कि अनुप्रयुज्यमान 'कृ' से वही पद होगा जो आम्प्रकृति धातु का होगा। यदि आम्प्रकृतिक धातु आत्मनेपदी होगा तो 'कृ' से आत्मनेपद होगा तथा यदि आम्प्रकृतिक धातु परस्मैपदी होगा तो 'कृ' से परस्मैपद होगा। चूँकि 'णिचश्च' सूत्र के द्वारा 'चोरि' धातु उभयपदी है। अतः आम्प्रत्ययवत् 'कृ' से उभयपद होकर 'चोरयाञ्चकार' तथा 'चोरयाञ्चक्रे' दो रूप बनते हैं।

यदि प्रकृत सूत्र में 'पूर्ववत्' पद का अनुवर्त्तन न करेंगे तो यदि धातु आत्मनेपदी हो तो अनुप्रयुज्यमान 'कृ' से परगामी क्रियाफल में परस्मैपद न हो, आत्मनेपद ही होगा, परन्तु यदि आम्प्रकृतिक धातु परस्मैपदी हो (यथा—गोपायाञ्चकार) तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। यहाँ अनुप्रयुज्यमान 'कृ' से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद तथा परगामी होने पर परस्मैपद होगा। इस प्रकार दोनों पद प्राप्त होकर अनिष्ट रूप बनेंगे। इसके लिए 'पूर्ववत्' पद का अनुवर्त्तन किया गया है।

कृञः अर्थात् अनुप्रयुज्यमान 'कृ' से आत्मनेपद होता है—

(1) ईक्षामास

ईक्ष् आम् लिट्—दीर्घश्च, इजादेश्च गुरुमतो०,

ईक्ष् आम् अस्—लुक्, 'अस्' का अनुप्रयोग, पूर्ववत् लिट् को आत्मनेपद प्राप्त हुआ, परन्तु 'कृ' अनुप्रयोग न होने से आत्मनेपद नहीं हुआ।

ईक्षाम् अस् णल्—द्वित्व आदि,

ईक्षामास।

(2) ईक्षाम्बभूव

ईक्षाम् भू लिट्—पूर्ववत् परस्मैपद,

ईक्षाम्बभूव।

कथं—पुनः इसका अनुप्रयोग किस प्रकार है ? 'कृञ्चाऽनुप्रयुज्यते लिटि' कहा गया है। 'कृञ्' यह प्रत्याहार जानना चाहिए। किन-किन का यहाँ प्रत्याहार है। 'कृभ्वस्तियोगे०' (5.4.50) में 'कृ' शब्द से लेकर 'कृञो द्वितीयतृतीया' (5.4.58) के ञकार तक प्रत्याहार जानना चाहिए।

(212) प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु *64* (2753)

'युजिर् योगे' (धा०पा० 1445) स्वरितेत्। तस्य कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमेवात्मनेपदम्। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। प्र, उप इत्येवम्पूर्वाद् युजेरयज्ञपात्रप्रयोगविषयादात्मनेपदं भवति। प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते। अयज्ञपात्रेष्विति किम्? द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति (आ०गृ० 1.1.16)। *स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्*। उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति किम्? संयुनक्ति।

अर्थ—'युजिर् योगे' धातु स्वरितेत् है। इसके कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये—' से आत्मनेपद सिद्ध ही है। अकर्त्रभिप्राय के लिए यह विधान है।

यज्ञपात्र के विषय को छोड़कर 'प्र' तथा 'उप' पूर्वक 'युज्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) प्रयुङ्क्ते

प्र युज् त—आत्मनेपद हुआ, रुधादिभ्यः श्नम्,

प्र यु श्नम् ज् त → प्र यु न् ज् त—अनुबन्धलोप, श्नसोरल्लोपः,

प्र यु न् ग् त—चोः कुः,

प्र यु न् क् त → प्रयुंक्त—खरि च, नश्चाऽपदान्तस्य०,

प्रयुङ्क्ते—अनुस्वारस्य ययि०, टित आत्मनेपदानां०।

(2) उपयुङ्क्ते

उप युज् त—पूर्ववत्,

उप यु श्नम् ज् त → उप यु न ज् त → उप युन् ज् त—पूर्ववत्

उ प यु न् ग् त → उपयुङ्क्ते।

अयज्ञपात्रे०. अर्थात् **यज्ञपात्र** के विषय को **छोड़कर** 'युज्' से आत्मनेपद होता है।

(1) (द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि) प्रयुनक्ति

प्र युज् तिप्—यहाँ यज्ञपात्र का विषय है। आत्मनेपद नहीं हुआ। श्नम्, अत् का लोप,

प्र यु श्नम् ति → प्र यु न ज् ति → प्र यु न् ज् ति—प्र यु न् ग् ति—चोः कुः,

प्रयुङ्क्ति—अनुस्वार, परसवर्ण।

स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम् (वा०)—जिसके आदि में स्वर हो अथवा जिसके अन्त में स्वर हो, ऐसी उपसर्गयुक्त धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—

(1) उद्युङ्क्ते

उद् उपसर्ग स्वरादि है। अतः आत्मनेपद हुआ। नि उपसर्ग स्वरान्त है। अतः आत्मनेपद हुआ।

स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति अर्थात् **जिसके आदि में स्वर हो अथवा जिसके अन्त में स्वर हो,** ऐसे उपसर्गयुक्त धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) संयुनक्ति

सम् युज्—यहाँ 'सम्' उपसर्ग है; परन्तु न तो इसके आदि में स्वर है तथा न ही अन्त में स्वर है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(213) समः क्ष्णुवः *65* (2736)

'क्ष्णु तेजने' (धा०पा० 1037) परस्मैपदी। ततः सम्पूर्वादात्मनेपदं भवति। 'समो गम्यृच्छि' (1.3.29) इत्यत्रैव कस्मान्न पठितः? अकर्मकादिति तत्र वर्त्तते। संक्ष्णुते शस्त्रम्। संक्ष्णुवाते। संक्ष्णुवते।

अर्थ—'क्ष्णु तेजने' परस्मैपदी धातु है।

'सम्' पूर्वक 'क्ष्णु' धातु से आत्मनेपद होता है।

'समो गम्यृच्छि०' (1.3.29) के साथ 'क्ष्णु' का पाठ करने पर भी इष्टसिद्धि हो जाती है; परन्तु इस न्यास में एक दोष होता है कि 1.3.29 में 'अकर्मकात्' पद की अनुवृत्ति आ रही है।

उदा० (1) सङ्क्ष्णुते शास्त्रम्

सम् क्ष्णु त—आत्मनेपद हुआ,

सङ्क्ष्णुते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) सङ्क्ष्णुवाते

सम् क्ष्णु आताम्—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरि०।

सङ्क्ष्णुवाते।

(3) सङ्क्ष्णुवते

सम् क्ष्णु झ—सङ्क्ष्णुवते।

पूर्ववत् उवङ्।

(214) भुजोऽनवने *66* (2737)

भुज पालनाभ्यवहारयोः (धा०पा० 1455) इति रुधादौ पठ्यते। तस्मादनवने अपालने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति। भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते। अनवने इति किम्? भुनक्त्येनमग्निराहितः। अनवन इति प्रतिषेधेन रौधादिकस्यैव ग्रहणं विज्ञायते, न तौरादिकस्य-'भुजो कौटिल्ये' (धा०पा० 1418) इत्यस्य। तेनेह न भवति-विभुजति पाणिम्।

अर्थ—'भुज पालनाऽभ्यवहारयोः' का पाठ रुधादि में प्राप्त होता है। 'अनवन' का अर्थ है—पालन न करना।

'पालन करना' अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) भुङ्क्ते

भुज् त—'पालन करना' से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद हुआ,

भु न् ज् त—रुधादिभ्यः श्नम्, श्नसोरल्लोपः,

भु न् ग् त → भु ङ् क्ते—चोः कुः, खरि च, अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) भुञ्जाते

भुज् आताम् → भु न् ज् आताम्—पूर्ववत्,

भुंज् आताम् → भुञ्जाते—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) भुञ्जते

भुज् झ → भुन् ज् झ → भुञ्जते।

पूर्ववत्।

अनवने अर्थात् **पालन करना** से भिन्न अर्थ में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद हुआ—

(1) भुनक्त्येनमग्निराहितः

भुज् तिप्—'पालन करना' अर्थ है। आत्मनेपद न हुआ, श्नम्,

भु न ज् ति → भुनक्ति—चोः कुः।

'भुज्' धातु का दो स्थलों पर पाठ उपलब्ध होता है—

1. रुधादिगण में (द्र०—भुज पालनाऽभ्यवहारयोः),

2. तुदादिगण में (द्र०—भुजो कौटिल्ये)।

सूत्र में 'अनवने' इस प्रकार निषेध किए जाने से यहाँ रौधादिक 'भुज्' धातु का ही ग्रहण होता है तथा तौदादिक 'भुज्' का नहीं। इसलिए यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ—

(1) विभुजति पाणिम्
वि भुज् तिप्—तौदादिक 'भुज्' से आत्मनेपद न हुआ।
वि भुज् अ ति—तुदादिभ्यः शः, लशक्वतद्धिते,
विभुजति।

विशेष—'भुजोऽनवने' के स्थान पर 'भुजोऽदने' सूत्रपाठ करने पर लाघव होता है अथवा प्रकृत सूत्र के स्थान पर 'भुजोऽवने' ऐसा पाठ परस्मैपद प्रकरण के अन्तर्गत किया जा सकता है, परन्तु उक्त दोनों प्रकार के सूत्रपाठों (भुजोऽदने, भुजोऽवने) में महान् दोष हैं।

चूँकि धातु अनेकार्थी होते हैं। अतः महर्षि पाणिनि का प्रकृत सूत्रपाठ (भुजोऽनवने) से अभिप्राय है कि पालन अर्थ को छोड़कर अन्य किसी भी अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद हो जाय। तब 'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते' यहाँ 'सहना' अर्थ में प्रयुक्त 'भुज्' से आत्मनेपद हो गया। बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीम् (रघु० 15.1) में 'भुज्' धातु का अर्थ है।

(215) णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने *67* (2738)

'णिचश्च' (1.3.74) इति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमेवात्मनेपदम्। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। ण्यन्तादात्मनेपदं भवति। कथम्? अणौ यत्कर्म णौ चेत्तदेव कर्म, स एव कर्त्ता भवति, अनाध्याने आध्यानं वर्जयित्वा। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (म०भा०)। आरोहयते हस्ती स्वयमेव। उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। उपसेचयते हस्ती स्वयमेव। पश्यन्ति भृत्या राजानम् (म० भा०)। दर्शयते राजा स्वयमेव। णेरिति किम्? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। आरोहयमाणो हस्ती साध्वारोहति। अणाविति किम्? गणयति गोगणं गोपालकः। गणयति गोगणः स्वयमेव (म०भा०)। कर्मग्रहणं किम्? लुनाति दात्रेण। लावयति दात्रं स्वयमेव। णौ चेद्ग्रहणं समानक्रियार्थम्। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। आरोहयमाणो हस्ती भीतान् सेचयति मूत्रेण। यत्सग्रहणमनन्यकर्मार्थम्। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। आरोहयमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्। कर्त्तेति किम्? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। तानारोहयति महामात्रः। अनाध्याने इति किम्? स्मरति वनगुल्मस्य कोकिलः। स्मरयत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव (म०भा०)। ननु चात्र कर्मकर्त्तरि मूलोदाहरणानि, तत्र कर्मवद्भावेनैव सिद्धमात्मनेपदं, किमर्थमिदमुच्यते? कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्मवदतिदेशो विज्ञायते। कर्तृस्थार्थोऽयमारम्भः। तथा च रुहिः कर्तृस्थक्रियः, दृशिः कर्तृस्थभावकः उदाहृतः।

अर्थ—'णिचश्च' के द्वारा कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद सिद्ध ही है। अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान किया जा रहा है।

सूत्रार्थ—अण्यन्त अवस्था में जो कर्म, वह यदि ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन जाय तो ऐसे ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है, 'उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना' अर्थ को छोड़कर।

अनाध्याने अर्थात् उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना अर्थ को छोड़कर। 'णेः' का अर्थ है—ण्यन्त धातु से। 'अणौ' का अर्थ है—अण्यन्त अवस्था में। 'णौ' का अर्थ है—ण्यन्त अवस्था में।

उदा० (1) आरोहन्ति हस्तिपकाः (अण्यन्ते)
आरोहयते स्वयमेव हस्ती (ण्यन्ते)

आङ् पूर्वक 'रुह्' धातु से णिच् हुआ। अण्यन्त का कर्म (हस्तिन्) ण्यन्त का कर्त्ता बन जाता है। आध्यान अर्थ भी नहीं है। अतः आत्मनेपद हुआ।

(2) उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (अण्यन्ते)
उपसेचयते हस्ती स्वयमेव (ण्यन्ते)
उपपूर्वक 'सिच्' से 'णिच्' हुआ। पूर्ववत् आत्मनेपद हुआ।

(3) पश्यन्ति भृत्याः राजानम्
दर्शयते राजा स्वयमेव

णेरिति० अर्थात् अण्यन्त अवस्था में जो कर्म, वह यदि ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन जाय तो आत्मनेपद होता है—

(1) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (अण्यन्ते)
आरोहयमाणो हस्ती साध्वारोहति (ण्यन्ते)
यहाँ 'आरोहति' ण्यन्त नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

अणाविति अर्थात् अण्यन्त अवस्था में जो कर्म, वह यदि ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन जाय तो ऐसे ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) गणयति गणं गोपालकः (ण्यन्ते)
गणयति गणः स्वयमेव (ण्यन्ते)
यहाँ 'गणं' कर्म अण्यन्त में नहीं है। अतः 'गणयति' में आत्मनेपद नहीं हुआ।

कर्मग्र० अर्थात् अण्यन्त अवस्था में जो **कर्म** वह यदि ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन जाय तो ऐसे ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) लुनाति दात्रेण (अण्यन्ते)
लावयति दात्रं स्वयमेव (ण्यन्ते)

यहाँ अण्यन्त में कर्म नहीं है। ण्यन्त में (दात्रम्) कर्त्ता अण्यन्त का कारण ही है। अत: आत्मनेपद नहीं हुआ।

णौ चेद्० अर्थात् 'णौ' तथा 'चेत्' का ग्रहण **समान क्रिया** के लिए है—

(1) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका: (अण्यन्ते)
आरोहयमाणो हस्ती भीतान् सेचयति मूत्रेण (ण्यन्ते)

यहाँ दोनों वाक्यों (ण्यन्त व अण्यन्त) में पृथक्-पृथक् क्रियाओं (आरोहण तथा सेचन) का प्रयोग होने से आत्मनेपद नहीं हुआ।

यत् स ग्रहण० अर्थात् 'यत्' पद का ग्रहण **अनन्य कर्म** के लिए है—

(1) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका: (अण्यन्ते)
आरोहयमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान् (ण्यन्ते)

यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ।

कर्त्तेति० अर्थात् अण्यन्त का कर्म यदि ण्यन्त का **कर्त्ता** बन जाय तो ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका: (अण्यन्ते)
तानारोहयति महामात्र: (ण्यन्ते)

यहाँ अण्यन्त का कर्म (हस्तिनम्) ण्यन्त का कर्त्ता नहीं बना है। अत: 'आरोहयति' में आत्मनेपद नहीं हुआ।

अनाध्याने० अर्थात् **उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना अर्थ न हो** तो ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है—

स्मरति वनगुल्मस्य कोकिल: (अण्यन्ते)
स्मरयत्येनं वनगुल्म: स्वयमेव (ण्यन्ते)

यहाँ उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ है। अत: ण्यन्त अवस्था में धातु से आत्मनेपद नहीं हुआ।

ननु चात्र—यहाँ कर्मकर्त्ता में मूल उदाहरण दिखाए गए हैं। वहाँ कर्मवद् भाव के द्वारा आत्मनेपद सिद्ध है—यह किसलिए कहा गया है ? कर्मस्थ भावकों का तथा कर्मस्थ क्रियाओं का कर्मवत् अतिदेश जाना जाता है। कर्तृस्थ के लिए यह विधान किया जा रहा है। इसी प्रकार 'रुह्' कर्तृस्थ क्रिया है तथा 'दृश्' कर्तृस्थभावक उदाहरण दिए गए हैं।

(216) भीस्म्योर्हेतुभये *68* (2594)

णेरिति वर्त्तते। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भ:। विभेते: स्मयतेश्च ण्यन्तादात्मनेपदं भवति हेतुभये। हेतु: प्रयोजक: कर्त्ता लकारवाच्यस्ततश्चेद्भयं भवति। भयग्रहणमुपलक्षणार्थं विस्मयोऽपि तत एव। जटिलो भीषयते। मुण्डो भीषयते। जटिलो विस्मापयते। मुण्डो विस्मापयते हेतुभय इति किम्? कुञ्चिकयैनं भाययति, रूपेण विस्माययति। अत्र कुञ्चिका भयस्य करणं, न हेतु:।

अर्थ—'णे:' की अनुवृत्ति है। अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान किया जा रहा है।

ण्यन्त 'भी' तथा 'स्मि' धातुओं से आत्मनेपद होता है, प्रयोजक कर्त्ता से भय होने पर।

'भय' का ग्रहण उपलक्षण के लिए है। यहाँ विस्मय भी होता है।

उदा० (1) भीषयते जटिल:
भी णिच्—हेतुमति च, भियो हेतुभये षुक्,
भी ष् इ → भीषि—धातुसंज्ञा, लट्, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद,
भीषि शप् त → त, शप्,
भीषयते।

(2) भीषयते मुण्ड: (पूर्ववत्)।

(3) विस्मापयते जटिल:
वि स्मि णिच् → वि स्मा इ—'नित्यं स्मयते:' से आत्व,
वि स्मा पुक् इ—'अर्त्तिह्रीव्ली०' से पुक्,
विस्मापि—धातुसंज्ञा, लट्, आत्मनेपद,
विस्मापयते।

(4) विस्मापयते मुण्ड:

हेतुभये० अर्थात् **भय का कारण होने पर** ही आत्मनेपद होता है—

(1) भाययति कुञ्चिकयैनम्
भी णिच् → 'षुक्' न हुआ,
भायि तिप्—'हेतुभय' न होने पर आत्मनेपद नहीं हुआ,
भाययति—शप्।

(2) विस्मापयति रूपेण
वि स्मि णिच् → विस्मा पुक् इ—आत्व, पुक्,
विस्मापयति—पूर्ववत् आत्मनेपद नहीं हुआ।

(217) गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने *69* (2739)

णेरिति वर्त्तते। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' (धा०पा० 1247), 'वञ्चु गतौ' (धा०पा० 189) इत्येतयोर्ण्यन्तयोः प्रलम्भने वर्त्तमानयोरात्मनेपदं भवति। प्रलम्भनं विसंवादनं मिथ्या-फलाख्यानम्। माणवकं गर्धयते। माणवकं वञ्चयते। प्रलम्भन इति किम्? श्वानं गर्धयति। गर्धनमस्यो-त्पादयतीत्यर्थः। अहिं वञ्चयति। परिहरतीत्यर्थः।

अर्थ—'णेः' की अनुवृत्ति है। अकर्त्रभिप्राय के लिए यह विधान किया जा रहा है।

ण्यन्त 'गृध्' तथा 'वञ्च्' धातु से आत्मनेपद होता है, 'ठगना' अर्थ में।

उदा० (1) गर्धयते माणवकम्
गर्ध णिच् → गर्धि—धातुसंज्ञा, लट्, आत्मनेपद,
गर्धि त → गर्धि शप् त → शप्,
गर्धयत—सार्वधातुकार्धधातु०, अयादेश,
गर्धयते।

(2) वञ्चयते माणवकम्
वञ्च् णिच् → वञ्चि—पूर्ववत्,
वञ्चयते।

प्रलम्भने अर्थात् प्रलम्भन अर्थ में ही आत्मनेपद होता है—

(1) गर्धयति श्वानम् (गधे की इच्छा उत्पन्न करता है)
गर्ध् णिच्—'प्रलम्भन' अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ,
गर्धि तिप् → गर्धयति।

(2) वञ्चयति अहिम् (= साँप को बचाता है)
वञ्च् इ—पूर्ववत् आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं हुई,
वञ्चयति।

(218) लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च *70* (2592)

णेरिति वर्त्तते। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। 'लीङ् श्लेषणे' (धा०पा० 1139) इति दिवादौ पठ्यते, 'ली श्लेषणे' (धा०पा० 1501) इति च क्र्यादौ। विशेषाभावाद् द्वयोरपि ग्रहणम्। लियो ण्यन्तात्सम्मानने शालीनीकरणे च वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति, च-शब्दात् प्रलम्भने च। सम्माननं पूजनम्। शालीनीकरणं न्यग्भावनम्। जटाभिरालापयते। पूजां समधिगच्छतीत्यर्थः। श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते। न्यक्करोतीत्यर्थः। प्रलम्भने-कस्त्वामुल्लापयते। विसंवादयतीत्यर्थः। 'विभाषा लीयतेः' (6.1.51) इति वाऽऽत्वं विधीयते। तदस्मिन् विषये नित्यमन्यत्र विकल्पः। व्यवस्थितविभाषा हि सा। सम्माननादिष्विति किम्? बालकमुल्लापयति।

अर्थ—'णेः' का अनुवर्त्तन हो रहा है। अकर्त्रभिप्राय के लिए यह विधान किया जा रहा है। 'लीङ् श्लेषणे' का पाठ दिवादिगण में है तथा 'ली श्लेषणे' का पाठ क्र्यादिगण में है। विशेषण निर्देश न होने से यहाँ दोनों का ग्रहण होता है।

पूजा, अभिभव तथा प्रलम्भन अर्थों में ण्यन्त 'ली' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) आलापयते जटाभिः (= जटाओं के द्वारा पूजा को प्राप्त होता है)

आ ली णिच्—पूजा अर्थ में है। 'विभाषा लीयतेः' के द्वारा आत्व, 'अर्त्तिह्रीव्ली०' के द्वारा पुक्,
आ ला पुक् इ → आलापि—धातुसंज्ञा, आत्मनेपद,
आलापयते।

(2) उल्लापयते वर्त्तिकां श्येनः (= बाज बत्तख को दबाता है)

उद् ली णिच् → उल्लापि—पूर्ववत् पुंक् आदि, 'तोर्लि' से परसवर्ण,
उल्लापि त → उल्लापयते—अभिभव अर्थ में आत्मनेपद हुआ।

(3) उल्लापयते कस्त्वाम् (= तुम्हें कौन ठगता है)
उल्लापि—पूर्ववत् धातुसंज्ञा आदि,
उल्लापयते—प्रलम्भन अर्थ में आत्मनेपद।

तदस्मिन् अर्थात् इस विषय में नित्य होता है तथा अन्य विषयों में विकल्प होता है। अतः यह व्यवस्थित विभाषा है।

सम्माननादि० अर्थात् पूजा आदि अर्थों में ही आत्मनेपद होता है—

(1) उल्लापयति बालकम् (= बालक को प्यार करता है)
यहाँ पूर्वोक्त 'पूजा' आदि कोई अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(219) मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे *71*
(2740)

णेरिति वर्त्तते। अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः। ण्यन्तात्करोतेर्मिथ्योपपदादात्मनेपदं भवति अभ्यासे। अभ्यासः पुनः पुनः करणमावृत्तिः। पदं मिथ्या कारयते। सापचारं स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः। मिथ्योपपदादिति किम्? पदं सुष्ठु कारयति। कृञ इति किम्? पदं मिथ्या वाचयति। अभ्यास इति किम्? पदं मिथ्या कारयति। सकृदुच्चारयति।

अर्थ—'णेः' पद अनुवृत्त है। अकर्त्रभिप्राय के लिए विधान है।

'मिथ्या' शब्द के उपपद रहते ण्यन्त 'कृ' धातु से आत्मनेपद होता है, अभ्यास अर्थ में।

अभ्यास = बार-बार करना।

उदा० (1) (पदं) मिथ्या कारयते

यहाँ 'मिथ्या' उपपद है। अभ्यास अर्थ भी है। आत्मनेपद हुआ।

मिथ्योप० अर्थात् **मिथ्या उपपद** रहते ही 'कृ' से आत्मनेपद होता है—

(1) (पदं) सुष्ठु कारयति

यहाँ अभ्यास अर्थ है। 'मिथ्या' उपपद नहीं है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

कृञः अर्थात् **ण्यन्त 'कृ' से ही** आत्मनेपद होता है—

(1) (पदं) मिथ्या वाचयति

यहाँ अभ्यास अर्थ है। 'मिथ्या' उपपद भी है; परन्तु ण्यन्त 'कृ' नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

अभ्यास० अर्थात् **अभ्यास** अर्थ में ही ण्यन्त 'कृ' से आत्मनेपद होता है—

(1) (पदं) मिथ्या कारयति (= एक बार मिथ्या उच्चारण करता है)

यहाँ ण्यन्त 'कृ' है। 'मिथ्या' उपपद है; परन्तु 'अभ्यास' अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(220) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले *72*
(2158)

णेरिति निवृत्तम्। शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदे (1.3.78) प्राप्ते स्वरितेतो ये धातवो ञितश्च तेभ्य आत्मनेपदं भवति, कर्त्तारं चेत्क्रियाफलमभिप्रैति। क्रियायाः फलं क्रियाफलं प्रधानभूतं यदर्थमसौ क्रिया आरभ्यते, तच्चेत्कर्तुर्लकारवाच्यस्य भवति। यजते। पचते। ञितः खल्वपि-सुनुते। कुरुते। स्वर्गादि प्रधानफलमिह कर्त्तारमभिप्रैति। कर्त्रभिप्राये इति किम्? यजन्ति याजकाः। पचन्ति पाचकाः। कुर्वन्ति कर्मकराः। यद्यपि दक्षिणा भृतिश्च कर्तुः फलमिहास्ति, तथापि न तदर्थः क्रियारम्भः।

अर्थ—'णेः' की अनुवृत्ति नहीं है।

जिस धातु का स्वरित स्वर 'इत्' है या ञकार वर्ण 'इत्' है, उससे आत्मनेपद होता है, क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर।

भाव यह है कि क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर धातु से आत्मनेपद होगा तथा क्रिया के फल के कर्तृगामी न होने पर (अर्थात् परगामी) होने पर धातु से आत्मनेपद नहीं होता है (परस्मैपद होता है)।

'स्वरितञितः' पद में 'इत्' पद का सम्बन्ध 'स्वरित' तथा 'ञ्' इन दोनों के साथ है। अतः इसका अर्थ हुआ—जिस धातु का स्वरित इत् है या जिस धातु का ञकार इत् है।

कर्त्तारम् अभिप्रैति गच्छतीति कर्त्रभिप्रायम् अर्थात् जो कर्त्ता को प्राप्त होता है। जिस अभिप्राय से कोई क्रिया आरम्भ की जाती है, वह उस क्रिया का फल कहलाता है। यथा—यजन क्रिया का फल 'स्वर्गप्राप्ति' कहा जाता है। क्रिया का फल दो प्रकार का हो सकता है—कर्तृगामी तथा परगामी।

जब क्रिया का फल कर्त्ता से अतिरिक्त व्यक्ति को प्राप्त हो, उसे परगामी क्रिया का फल कहते हैं। तब कोई पुरोहित अपने यजमान के लिए यज्ञादि करता है तो उसका फल परगामी होता है। भाव यह है कि उस यज्ञ का फल कर्त्ता (पुरोहित) को प्राप्त न होकर उससे भिन्न व्यक्ति (यजमान) को प्राप्त होता है।

जब क्रिया का फल स्वयं कर्त्ता को प्राप्त होता है तो उसे कर्तृगामी क्रियाफल कहते हैं।

उदा० (1) यजते

यजँ का जकारोत्तरवर्ती अकार अनुनासिक व स्वरित है। 'उपदेशेऽजनुनासि०' से इत्संज्ञा हुई। 'यज्' धातु स्वरितेत् हुआ। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद हुआ—

यज् त → यज् शप् त → यजते।

(2) पचते

पच—पूर्ववत् आत्मनेपद,
पच् अ त → पचते।

कर्त्रभिप्राये अर्थात् क्रियाफल के **कर्तृगामी** होने पर ही धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) यजन्ति याजकाः
यजमान के लिए यजन उद्दिष्ट होने पर क्रियाफल परगामी हुआ। तब आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) पचन्ति पाचकाः
पूर्ववत् आत्मनेपद नहीं हुआ।

यद्यपि याजक (= पुरोहित) को दक्षिणा आदि के रूप में क्रिया का फल देखा जाता है, परन्तु मुख्य क्रियाफल (स्वर्गप्राप्ति, पुण्यलाभ आदि) तो यजमानगामी ही होता है। अतः यहाँ क्रियाफल परगामी हुआ।

(221) अपाद् वदः *73* (2741)

कर्त्रभिप्राय इति वर्त्तते। अपपूर्वाद्वदतेः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति। धनकामो न्यायमपवदते। 'न्यायाऽपवादेन धनमर्जयिष्यामि' इति मन्यते। कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इत्येव–अपवदति।

अर्थ—'कर्त्रभिप्राये' की अनुवृत्ति है।

क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर 'अप' पूर्वक 'वद्' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) अपवदते न्यायं धनकामः
यहाँ आत्मनेपद हुआ।

कर्त्रभिप्रा० अर्थात् क्रियाफल के **कर्तृगामी** होने पर ही आत्मनेपद होता है—

(1) अपवदति
यहाँ क्रियाफल परगामी है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

(222) णिचश्च *74* (2564)

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इति वर्त्तते। णिजन्तादात्मनेपदं भवति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। कटं कारयते। ओदनं पाचयते। कर्त्रभिप्राय इत्येव–कटं कारयति परस्य।

अर्थ—'कर्त्रभिप्राये' का अनुवर्त्तन है।

क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर णिजन्त धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) कारयते कटम्
क्रियाफल कर्तृगामी है। आत्मनेपद हुआ।

(2) पाचयते ओदनम् (पूर्ववत्)।

कर्त्रभि० अर्थात् क्रियाफल के **कर्तृगामी** होने पर ही आत्मनेपद होता है—

(1) कारयति कटं परस्य
यहाँ क्रियाफल परगामी है; अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

(223) समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे *75* (2742)

कर्त्रभिप्राये इति वर्त्तते। सम्, उद्, आङ्–इत्येवं-पूर्वाद्यमेः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति, ग्रन्थविषय-श्चेत्प्रयोगो न भवति। व्रीहीन् संयच्छते। भार-मुद्यच्छते। वस्त्रमायच्छते। आङ्पूर्वादकर्मकादाङो यमहन (1.3.28) इति सिद्ध-मेवात्मनेपदं सकर्मकार्थमिदं पुनर्ग्रह-णम्। अग्रन्थ इति किम्? उद्यच्छति चिकित्सां वैद्यः। कर्त्रभिप्राय इत्येव–संयच्छति, उद्यच्छति, आयच्छति।

अर्थ—'कर्त्रभिप्राये' का अनुवर्त्तन है।

ग्रन्थविषयक प्रयोग न होने पर सम्, उद् तथा आङ् पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद होता है, क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर।

उदा० (1) संयच्छते व्रीहीन्
सम् यम्—क्रियाफल कर्तृगामी है, ग्रन्थविषयक प्रयोग नहीं है। सम् पूर्वक 'यम्' से आत्मनेपद हुआ,
सम् यम् त → सम् यछ् त → सम् य तुक् छ् त—छे च, श्चुत्व,
सम् यच्छ् शप् त → संयच्छते—अनुस्वार।

(2) उद्यच्छते भारम्
उद् यम्—पूर्ववत् आत्मनेपद,
उद् यच्छते → उद्यच्छते।

(3) आयच्छते वस्त्रम्
आ यम् → आयच्छते।
पूर्ववत्।

आङ्पूर्व—आङ् पूर्वक अकर्मक 'यम्' से 'आङो यमहनः' से ही आत्मनेपद सिद्ध ही है। अकर्मक के लिए यहाँ ग्रहण किया गया है।

अग्रन्थे० अर्थात् **ग्रन्थविषयक** प्रयोग **न** होने पर ही पूर्वोक्त आत्मनेपद होता है—

(1) उद्यच्छति चिकित्सां वैद्यः (= वैद्य चिकित्सा शास्त्र को जानने का प्रयत्न करता है)

यहाँ ग्रन्थविषयक प्रयोग है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

कर्त्रभिप्रा० अर्थात् क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर ही आत्मनेपद होता है—

(1) संयच्छति
सम् यम्—क्रियाफल परगामी है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

(2) उद्यच्छति
आत्मनेपद नहीं हुआ।

(3) आयच्छति
आत्मनेपद नहीं हुआ।

(224) अनुपसर्गाज्ज्ञः *76* (2743)

कर्त्रभिप्राय इति वर्त्तते। अनुदसर्गाज्जानातेः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति। गां जानीते, अश्वं जानीते। अनुपसर्गादिति किम्? स्वर्गलोकं न प्रजानाति मूढः। कर्त्रभिप्राय इत्येव-देवदत्तस्य गां जानाति।

अर्थ—'कर्त्रभिप्राये' पद अनुवृत्त है।

क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर उपसर्गरहित 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) (गां) जानीते
यहाँ आत्मनेपद हुआ।

(2) (अश्वं) जानीते (पूर्ववत्)।

अनुपसर्गा० अर्थात् उपसर्गरहित 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है—

(1) न प्रजानाति मूढः स्वर्गं लोकम्
प्र ज्ञा—प्र पूर्वक 'ज्ञा' धातु है। आत्मनेपद नहीं हुआ,
प्र जा श्ना तिप्—प्रजानाति।

कर्त्रभिप्रा० अर्थात् क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर ही 'ज्ञा' से आत्मनेपद होता है—

(1) जानाति देवदत्तस्य गाम्
यहाँ क्रियाफल कर्तृगामी नहीं है। आत्मनेपद नहीं हुआ।

(225) विभाषोपपदेन प्रतीयमाने *77* (2744)

'स्वरितञितः' (1.3.72) इति पञ्चभिः सूत्रैरात्मनेपदं कर्त्रभिप्राये क्रियाफले द्योतिते विहितं, तदुपपदेन द्योतिते न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते। समीपे श्रूयमाणं शब्दान्तरमुपपदम्, तेन प्रतीयमाने कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विभाषाऽऽत्मनेपदं भवति। स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते। स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते। स्वं पुत्रमपवदति, स्वं पुत्रमपवदते। एवं पञ्चसूत्र्यामुदाहार्यम्।

अर्थ—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' से लेकर 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' तक पाँच सूत्रों के द्वारा क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर जो आत्मनेपद कहा गया है, वह उपपद के द्योतित होने पर प्राप्त नहीं होता है। अतः विधान किया जा रहा है। जो शब्द समीप सुना जाता है, वह उपपद कहलाता है।

उपपद के द्वारा क्रियाफल के कर्तृगामी प्रतीत होने पर कर्तृगामी क्रियाफल के विषय में आत्मनेपद विकल्प से होता है।

उदा० (1) (स्वं यज्ञम्) यजते
उपपद के द्वारा क्रियाफल कर्तृगामी प्रतीत हो रहा है। तब आत्मनेपद विकल्प से हुआ।

(2) (स्वं यज्ञं) यजति
पक्ष में परस्मैपद हुआ।

(3) (स्वं कटं) कुरुते
आत्मनेपद हुआ।

(4) (स्वं कटं) करोति
पक्ष में परस्मैपद हुआ।

(5) (स्वं पुत्रम्) अपवदते (पूर्ववत्)।

(6) (स्वं पुत्रम्) अपवदति

इसी प्रकार पूर्वोक्त पाँचों सूत्रों के उदाहरण जानने चाहिए।

(226) शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् *78* (2159)

पूर्वेण प्रकरणेनात्मनेपदनियमः कृतः, न परस्मैपदनियमः। तत्सर्वतः प्राप्नोति, तदर्थमिदमुच्यते। येभ्यो धातुभ्यो येन विशेषणेनात्मनेपदमुक्तं ततो यदन्यत्स शेषः। शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदं भवति शेषादेव नान्यस्मात्। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12) उक्तम्-आस्ते। शेते। ततोऽन्यत्र परस्मैपदं भवति-याति। वाति। नेर्विशः (1.3.17) आत्मनेपदमुक्तम्-निविशते। ततोऽन्यत्र परस्मैपदम्-आविशति। प्रविशति। कर्त्तरीति किम्? पच्यते, गम्यते। कर्मकर्तरि कस्मात्परस्मैपदं न भवति-पच्यते

ओदनः स्वयमेव ? कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे (1.3.14) इति द्वितीयं कर्तृग्रहणमनुवर्त्तते तेन कर्त्तैव यः कर्त्ता (म०भा०), तत्र परस्मैपदं भवति, कर्मकर्त्तरि न भवति।

अर्थ—पूर्वशास्त्र के द्वारा आत्मनेपद की व्यवस्था की गई है; परस्मैपद की नहीं। वह (आत्मनेपद) सर्वत्र होता है। अतः यह विधान किया जा रहा है। जिस विशेषण के द्वारा आत्मनेपद कहा गया है, उससे अतिरिक्त जो है, उसे 'शेष' कहा गया है।

जिन धातुओं से आत्मनेपद की व्यवस्था की गई है, उनसे शेष धातुओं से कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है।

'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि के द्वारा आत्मनेपद कहा है। यथा—आस्ते। इन स्थलों से अतिरिक्त स्थलों पर परस्मैपद होता है।

उदा० (1) याति

या—'या' धातु न तो अनुदात्तेत् है तथा न ही ङित् है। अतः कर्तृवाच्य में परस्मैपद हुआ,

या तिप् → या शप् ति → याति—अदिप्रभृतिभ्यः शपः,

याति।

(2) वाति

वा तिप्—पूर्ववत्,

वाति।

'नेर्विशः' से आत्मनेपद कहा गया है। यथा—निविशते। इससे अन्यत्र परस्मैपद होता है—

(1) आविशति

परस्मैपद हुआ।

(2) प्रविशति

परस्मैपद हुआ।

कर्त्रभिप्रा० अर्थात् **कर्तृवाच्य** में ही आत्मनेपद होता है—

(1) पच्यते

पच् त—कर्तृवाच्य नहीं है। कर्मवाच्य है। आत्मनेपद हुआ—

पच् यक् त—सार्वधातुके यक्,

पच्यते—एत्व।

(2) गम्यते (पूर्ववत्)।

कर्मकर्त्ता में इससे परस्मैपद नहीं होता है—

(1) पच्यते ओदनः स्वयमेव

यहाँ कर्मकर्त्ता है। अतः परस्मैपद नहीं हुआ।

'कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे' यहाँ द्वितीय 'कर्तृ' का अनुवर्त्तन है। इससे जो कर्त्ता हो कर्त्ता होता है, वहाँ परस्मैपद होता है। तब कर्मकर्त्ता में नहीं होता है।

विशेष—पद व्यवस्था करने वाले प्रमुख 4 सूत्रों का सार इस प्रकार है—

(1) अनुदात्तङित आत्मनेपदम्

अनुदात्तेत् व उपदेश में ङित् धातु से कर्तृवाच्य में केवल आत्मनेपद होता है।

(2) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले

क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर स्वरितेत् तथा ञित् धातु से कर्तृवाच्य में आत्मनेपद होता है।

(3) शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्

शेष अर्थात् उदात्तेत् तथा क्रियाफल के परगामी होने पर स्वरितेत् व ञित् धातु से कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है।

(4) भावकर्मणोः

भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में सदा आत्मनेपद होता है।

(227) अनुपराभ्यां कृञः *79* (2745)

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले गन्धनादिषु च करोतेरात्मनेपदं विहितम्, तदपवादः परस्मैपदं विधीयते। अनु, परा-इत्येवंपूर्वात्करोतेः परस्मैपदं भवति। अनुकरोति। पराकरोति।

अर्थ—गन्धन आदि अर्थों में क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर 'कृ' से आत्मनेपद का विधान है। उसका यह अपवाद है।

अनु तथा परा उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) अनुकरोति

अनु कृ—परस्मैपद हुआ,

अनु कृ तिप् → अनु कृ उ ति—तनादिकृञ्भ्य०,

अनुकरोति।

(2) पराकरोति

परा कृ—पूर्ववत् परस्मैपद,

पराकरोति।

(228) अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः *80* (2746)

क्षिप प्रेरणे (धा०पा० 1286) स्वरितेत्, ततः कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधी-

यते। अभि, प्रति, अति–इत्येवंपूर्वात् क्षिपः परस्मैपदं भवति। अभिक्षिपति। प्रतिक्षिपति। अतिक्षिपति। अभिप्रत्यतिभ्य इति किम्? आक्षिपते। द्वितीयमपि कर्तृग्रहणमनुवर्तते। तेनेह न भवति–अभिक्षिप्यते स्वयमेव।

अर्थ—'क्षिप प्रेरणे' स्वरितेत् है। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद के प्राप्त होने परस्मैपद का विधान किया गया है।

अभि, प्रति तथा अति उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) अभिक्षिपति
अभि क्षिप्—परस्मैपद हुआ,
अभि क्षिप् शप् तिप् → अभिक्षिपति।

(2) प्रतिक्षिपति (पूर्ववत्)।
(3) अतिक्षिपति (पूर्ववत्)।

अभिप्रत्य० अर्थात् अभि आदि उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' धातु से परस्मैपद होता है—

(1) आक्षिपते
आ क्षिप्—'क्षिप्' से पूर्व 'अभि' आदि उपसर्ग नहीं हैं। अतः परस्मैपद नहीं हुआ—
आक्षिपते।

यहाँ द्वितीय कर्तृग्रहण का अनुवर्त्तन हो रहा है। अतः यहाँ नहीं होता है—

(1) अभिक्षिप्यते स्वयमेव
अभि क्षिप्—कर्मवाच्य है। परस्मैपद नहीं हुआ,
अभि क्षिप् यक् त → अभिक्षिप्यते।

(229) प्राद्वहः *81* (2747)

वह प्रापणे (धा०पा० 1004) स्वरितेत्, ततः कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधीयते। प्रपूर्वाद्वहतेः परस्मैपदं भवति। प्रवहति। प्रवहतः। प्रवहन्ति। प्रादिति किम्? आवहते।

अर्थ—'वह प्रापणे' स्वरितेत् है। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद के प्राप्त होने पर परस्मैपद का विधान किया जा रहा है।

'प्र' पूर्वक 'वह' धातु से परस्मैपद होता है।
उदा० (1) प्रवहति
प्र वह्—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये—' से कर्तृगामी की दशा में आत्मनेपद प्राप्त हुआ—
प्रवहति—प्रकृत सूत्र से परस्मैपद हुआ।

(2) प्रवहतः (पूर्ववत्)।
(3) प्रवहन्ति (पूर्ववत्)।

प्रादिति० अर्थात् 'प्र' पूर्वक 'वह्' से परस्मैपद होता है—
(1) आवहते
आ वह्—'प्र' उपसर्ग नहीं है। परस्मैपद नहीं हुआ—
आवहते।

(230) परेर्मृषः *82* (2748)

मृष तितिक्षायां (धा०पा० 1165) स्वरितेत्, ततस्तथैवात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधीयते। परिपूर्वाद् मृष्यतेः परस्मैपदं भवति। परिमृष्यति। परिमृष्यतः। परिमृष्यन्ति। परेरिति किम्? आमृष्यते। वहतिमपि केचिदत्रानुवर्तयन्ति–परिवहति।

अर्थ—'मृष तितिक्षायाम् धातु स्वरितेत् है। इससे कर्तृगामी क्रियाफल की दशा में आत्मनेपद प्राप्त होने पर परस्मैपद का विधान किया जा रहा है।

'परि' पूर्वक 'मृष्' धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) परिमृष्यति
परि मृष्—परस्मैपद हुआ,
परि मृष् य तिप्—श्यन्, लशक्वत०, हलन्त्यम्
परिमृष्यति।

(2) परिमृष्यतः (पूर्ववत्)।
(3) परिमृष्यन्ति (पूर्ववत्)।

परेरिति अर्थात् परि पूर्वक 'मृष्' धातु से परस्मैपद होता है—
(1) आमृष्यते
आ मृष्—'परि' उपसर्ग नहीं है। परस्मैपद नहीं हुआ—
आमृष्यते।

कुछ विद्वान् प्रकृत सूत्र में 'वहः' पद का अनुवर्तन मानते हैं। तब 'परिवहति' में भी परस्मैपद होता है।

(231) व्याङ्परिभ्यो रमः *83* (2749)

रमु क्रीडायाम् (धा०पा० 854)। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधीयते। वि, आङ्, परि–इत्येवं-

पूर्वाद्रमतेः परस्मैपदं भवति। विरमति। आरमति। परिरमति। एतेभ्य इति किम्? अभिरमते।

अर्थ—'रमु क्रीडायाम्' धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद प्राप्त होने पर परस्मैपद का विधान किया जाता है।

वि, आङ् तथा परि उपसर्गपूर्वक 'रम्' धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) विरमति
वि रम्—'अनुदात्तङित आत्मने०' से आत्मनेपद प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से परस्मैपद हुआ,
वि रम् शप् ति → विरमति।

(2) आरमति
आ रम्—पूर्ववत् परस्मैपद,
आरमति।

(3) परिरमति
परि रम्—पूर्ववत् परस्मैपद,
परिरमति।

एतेभ्यः—अर्थात् वि आदि उपसर्गपूर्वक 'रम्' धातु से आत्मनेपद होता है—
(1) अभिरमते
अभि रम्—यहाँ न तो 'वि' है, न ही 'आङ्' है तथा न ही 'परि' उपसर्ग है। अतः परस्मैपद नहीं हुआ,
अभिरमते।

(232) उपाच्च *84* (2750)

रमः इत्येव। उपपूर्वाद्रमतेः परस्मैपदं भवति। देवदत्तमुपरमति। यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीति यावत्। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र रमिः। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्। अकर्मकाद्विभाषां वक्ष्यति, सा उपपूर्वादेव यथा स्यात्।

अर्थ—'उप' पूर्वक 'रम्' धातु से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) उपरमति देवदत्तम्
उप रम्—आत्मनेपद प्राप्त हुआ, परस्मैपद हुआ,
उपरमति।

(2) उपरमति यज्ञदत्तम् (पूर्ववत्)।

व्याख्या—अन्तर्भावित ण्यन्त का अर्थ है—रमि। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' तथा 'उपाच्च' इन दोनों के स्थान पर एक सूत्र न बनाकर पृथक् पाठ करने का फल है—उत्तरवर्ती शास्त्र में अनुवर्तन करना। अकर्मक 'रम्' से विकल्प से परस्मैपद कहा जायेगा। अतः वह उपपूर्वक अकर्मक 'रम्' से परस्मैपद विकल्प से हो जाय—इसलिए 'उपाच्च' यह पृथक् पाठ किया गया।

(233) विभाषाऽकर्मकात् *85* (2751)

रमः, उपादिति च वर्त्तते। पूर्वेण नित्ये परस्मैपदे प्राप्ते विकल्प आरभ्यते। उपपूर्वाद्रमतेरकर्मकाद्विभाषा परस्मैपदं भवति। यावद्भुक्तमुपरमति, यावद्भुक्तमुपरमते। निवर्तत इत्यर्थः।

अर्थ—'रमः' तथा 'उपात्' इन पदों की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य परस्मैपद प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

'उप' पूर्वक अकर्मक 'रम्' धातु से परस्मैपद विकल्प से होता है।

उदा० (1) (यावद् भुक्तम्) उपरमति
यहाँ नित्य परस्मैपद प्राप्त हुआ परस्मैपद विकल्प से हुआ।

(2) (यावद् भुक्तम्) उपरमते
पक्ष में आत्मनेपद हुआ।

(234) बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः *86* (2752)

णिचश्चेति (1.3.74) कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधीयते। बुध, युध, नश, जन, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु-इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं भवति। बोधयति। योधयति। नाशयति। जनयति। अध्यापयति। प्रावयति। द्रावयति। स्रावयति। येऽत्राकर्मकास्तेषाम् 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' (1.3.88) इत्येव सिद्धे वचनमिदमचित्तवत्कर्तृकार्थम्। बोधयति पद्मम्। योधयन्ति काष्ठानि। नाशयति दुःखम्। जनयति सुखम्। येऽत्र चलनार्था अपि तेषां 'निगरणचलनाऽर्थेभ्यश्च' (1.3.87) इति सिद्धे यदा न चलनार्थास्तदर्थं वचनम्। प्रवते। प्राप्नोतीति गम्यते। अयो द्रवति। विलीयत इत्यर्थः। कुण्डिका स्रवति। स्यन्दत इत्यर्थः। एतद्विषयाण्युदाहरणानि (प्रावयति, द्रावयति, स्रावयति)।

अर्थ—क्रियाफल के कर्तृगामी की दशा में 'णिचश्च' के द्वारा आत्मनेपद प्राप्त होने पर परस्मैपद का विधान किया गया है।

बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु तथा स्रु—इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) बोधयति
बुध् णिच्—उपधा को गुण, धातु संज्ञा, लट्, परस्मैपद हुआ,
बोधि शप् ति → बोधयति।

(2) योधयति
युध् णिच् → योधि—पूर्ववत् परस्मैपद,
योधयति।

(3) नाशयति
नाश् णिच् → नाशि—उपधावृद्धि, परस्मैपद,
नाशयति।

(4) जनयति
जन् णिच् → जानि—उपधावृद्धि,
जानि तिप्—'जनीजॄष०' से मित् संज्ञा, 'मितां ह्रस्वः' से उपधा ह्रस्व,
जनयति—शप्।

(5) अध्यापयति
अधि इ णिच् → अध्यापि—पुक्,
अध्यापि तिप्—परस्मैपद,
अध्यापयति।

(6) प्रावयति
प्रु णिच् → प्रौ इ—वृद्धि,
प्रावि—आवादेश, धातुसंज्ञा, परस्मैपद,
प्रावयति।

(7) द्रावयति
द्रु णिच् → द्रावि—पूर्ववत्,
द्रावि तिप्—परस्मैपद,
द्रावयति।

(8) स्रावयति (पूर्ववत्)।

येऽत्राक—यहाँ जो अकर्मक हैं, उनसे 'अणावकर्मकाच्चित्तवत् कर्तृकात्' से परस्मैपद सिद्ध ही है। तब प्रकृत सूत्र अचित्तवान् व कर्तृवाची के लिए विधान करता है। यथा—

(1) बोधयति पद्मम्
बुध् णिच् → बोधि ति → बोधयति।

(2) योधयन्ति काष्ठानि (पूर्ववत्)।
(3) नाशयति दुःखम्। (पूर्ववत्।
(4) जनयति सुखम् (पूर्ववत्)

येऽत्र—जो यहाँ चलनार्थक हैं, उनसे 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' से सिद्ध होने पर भी, जो चलनार्थक नहीं हैं (उनसे परस्मैपद हो), इसके लिए यह सूत्र है। यथा—

(1) प्रवते
यहाँ परस्मैपद नहीं हुआ।

(2) द्रवति
यहाँ परस्मैपद हुआ।

(3) स्रवति
यहाँ परस्मैपद हुआ।

(235) निगरणचलनार्थेभ्यश्च *87* (2753)

णेरिति वर्त्तते। कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदापवादः परस्मैपदं विधीयते। निगरणमभ्यवहारः। चलनं कम्पनम्। निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च धातुभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं भवति। निगारयति। आशयति। भोजयति। चलनार्थेभ्यः-चलयति, चोपयति, कम्पयति। अयमपि योगः सकर्मकार्थः, अचित्तवत्कर्तृकार्थश्च। * अदेः प्रतिषेधो वक्तव्यः *। अत्ति देवदत्तः, आदयते देवदत्तेन।

अर्थ—'णेः' पद का अनुवर्त्तन है। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद प्राप्त होता है। उसका यह अपवाद है। निगरण = निगलना। चलन = चलना।

निगरण अर्थ वाले तथा चलन अर्थवाले ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) निगारयति
नि गॄ णिच् → निगारि—धातुसंज्ञा, परस्मैपद,
निगारि शप् तिप् → निगारयति।

(2) आशयति
अश् णिच् → आशि तिप् → आशयति।

(3) भोजयति
भुज् णिच् → भोजि—निगरणार्थक 'भुज्' है—
भोजि तिप् → भोजयति।

(4) चलयति
चल् णिच् → चलि—'चल्' चलनार्थक है—
चलि तिप् → चलयति।

(5) चोपयति
चुप् णिच् → चोपि—'चुप्' चलनार्थक है,
चोपयति—पूर्ववत्।

(6) कम्पयति

कपि → कम्प्—इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण,

कम्प् णिच् → कम्पि तिप् → कम्पयति—शप्।

यह योग सकर्मक के लिए है।

अदेः प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)—(भक्षणार्थक) ण्यन्त 'अद्' धातु से परस्मैपद नहीं होता है—

(1) आदयते

'देवदत्तः अत्ति' यह अण्यन्त प्रयोग है। 'णिच्' में—

अद् णिच् → आदि—धातुसंज्ञा, परस्मैपद प्राप्त हुआ, तब परस्मैपद का निषेध,

आदि त → आदि शप् त → आदयते (देवदत्तेन)।

(236) अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् *88* (2754)

णेरिति वर्त्तते। कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदापवादः परस्मैपदं विधीयते। अण्यन्तो यो धातुरकर्मकश्चित्तवत्कर्तृकश्च तस्मात् ण्यन्तात्परस्मैपदं भवति। आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम्। शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम्। अणाविति किम्? चेतयमानं प्रयोजयति चेतयते इति केचित् प्रत्युदाहरन्ति, तदयुक्तम्। हेतुमण्णिचो विधिः, प्रतिषेधोऽपि प्रत्यासत्तेस्तस्यैव न्याय्यः। तस्मादिह चेतयतीति परस्मैपदेनैव भवितव्यम्। इदं तु प्रत्युदाहरणम्–आरोहयमाणं प्रयुङ्क्ते आरोहयते। अकर्मकादिति किम्? कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते। चित्तवत्कर्तृकादिति किम्? शुष्यन्ति व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः।

अर्थ—'णेः' की अनुवृत्ति है। क्रियाफल के कर्तृगामी होने की दशा में प्राप्त आत्मनेपद का अपवाद है। इससे परस्मैपद का विधान किया जाता है। जो धातु अण्यन्त अवस्था में अकर्मक हो तथा साथ ही चेतन कर्त्ता वाला हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है।

उदा० (1) आसयति देवदत्तम्

आस्ते देवदत्तः—अण्यन्त अवस्था में 'आस्' अकर्मक है। यह चेतन कर्त्ता (देवदत्त) वाला है। णिच् हुआ—

आस् णिच् → आसि—परस्मैपद हुआ,

आसयति।

(2) शाययति देवदत्तम्

शेते देवदत्तः—अण्यन्त अवस्था में 'शी' अकर्मक व चेतन कर्त्ता वाला धातु है। णिच् हुआ—

शी णिच् → शायि—परस्मैपद हुआ,

शाययति—तिप्, शप्।

अणावि० अर्थात् जो **अण्यन्त** अवस्था में अकर्मक हो तथा चेतन कर्त्ता वाला हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है—

(1) चेतयमानं प्रयोजयति चेतयते

यहाँ परस्मैपद नहीं हुआ।

अकर्मका० अर्थात् अण्यन्त अवस्था में जो **अकर्मक** हो उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है—

(1) कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते

परस्मैपद न हुआ।

चित्तवत्० अर्थात् जो धातु **चेतन कर्त्ता** वाला हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है—

(1) शुष्यन्ति व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः

'शुष्' धातु अण्यन्त में अकर्मक है, परन्तु इसका कर्त्ता चेतन नहीं है। अतः ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद नहीं हुआ।

(237) न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः *89* (2755)

पूर्वेण योगद्वयेन कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदापवादः परस्मैपदं विहितं, तस्य प्रतिषेधोऽयमुच्यते। यत्कर्त्रभिप्रायविषयमात्मनेपदं तदवस्थितमेव, न प्रतिषिध्यते। पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद, वस-इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं न भवति। णिचश्चेत्यात्मनेपदं भवति। तत्र पिबतिर्निगरणार्थः। दमिप्रभृतयश्चित्तवत्कर्तृकाः। नृतिश्चलनार्थोऽपि। एषां परस्मैपदं न भवति। पा–पाययते। दमि–दमयते। आङ्यम–आयामयते। 'यमोऽपरिवेषणे' (ग०सू० 193) इति मित्संज्ञा प्रतिषिध्यते। आङ्यस–आयासयते। परिमुह–परिमोहयते। रुचि–रोचयते। नृति–नर्त्तयते। वद–वादयते। वस–वासयते। * पादिषु धेट उपसंख्यानम् * (म०भा०)। धापयेते शिशुमेकं समीची (ऋ० 1.196.5)।

अर्थ—पूर्ववर्त्ती दो सूत्रों के द्वारा क्रियाफल के कर्तृगामी होने की दशा में आत्मनेपद कहा है। उसका यह अपवाद जो परस्मैपद कहा गया, उसका निषेध कहा जा रहा है।

पा, दमि, आङ्पूर्वक यम्, आङ्पूर्वक यस्, परिपूर्वक मुह्,

रुच्, नृत्, वद् तथा वस्—इन धातुओं से ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद नहीं होता है।

णिचश्चे—'णिचश्च' से आत्मनेपद होता है। 'पा' धातु निगरणार्थक है। 'दमि' आदि धातु चेतन कर्त्ता वाले हैं। 'नृत्' चलनार्थक है। इनसे परस्मैपद नहीं होता है।

उदा० (1) पाययते
पा णिच्—पूर्व सूत्र से परस्मैपद प्राप्त हुआ, निषेध,
पायि—'शाच्छासाह्वा०' से 'युक्'—
पायि शप् त → पाययते।

(2) दमयते
दम् णिच् → दामि—मित्संज्ञा, मितां ह्रस्वः, परस्मैपदनिषेध,
दामि त → दामयते।

(3) आयामयते
आ यम् णिच् → आयामि—'यमो परिवेषणे' से मित्संज्ञा का निषेध,
आयामि—प्राप्त परस्मैपद का निषेध,
आयामि त → आयामयते।

(4) आयासयते
आ यस् णिच् → आयासि—धातुसंज्ञा, लट्,
आयासि त → प्राप्त परस्मैपद का निषेध,
आयासयते।

(5) परिमोहयते
परि मुह् णिच् → परिमोहि—लघूपधगुण,
परिमोहि त → परिमोहयते।

(6) रोचयते
रुच् णिच् → रोचि—पूर्ववत्,
रोचि त—परस्मैपद का निषेध,
रोचयते।

(7) नर्त्तयते
नृत् णिच् → नर्त्ति
नर्त्ति त—पूर्ववत्,
नर्त्तयते।

(8) वादयते
वद् णिच् → वादि—अत उपधायाः,
वादि त—परस्मैपदनिषेध।
वादयते।

(9) वासयते
वस् णिच् → वासयते (पूर्ववत्)।

पादिषु धेट उपसङ्ख्यानम् (वा०)—पादि धातुओं में 'धेट्' का परिगणन किया जाता है—
(1) धापयेते शिशुमेकं समीची (ऋ०1.196.5)
धेट् → धे णिच् → धा इ → धापि—आत्व, पुक्,
धापि आताम्—परस्मैपद का निषेध,
धापयेते।

(238) वा क्यषः *90* (2669)

'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति (3.1.13) वक्ष्यति, तदन्ताद्धातोर्वा परस्मैपदं भवति। लोहितायति, लोहितायते। पटपटायति, पटपटायते। अथात्र परस्मैपदेन मुक्ते कथमात्मनेपदं लभ्यते? यावताऽनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12) इत्येवमादिना प्रकरणेन तन्नियतम्। एवं तर्हि आत्मनेपदमेवात्र विकल्पितं विधीयते, तच्चानन्तरं परस्मैपद-प्रतिषेधेन सन्निधापितमिह सम्बध्यते। तेन मुक्ते, शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदं (1.3.78) भवति।

अर्थ—क्यष् प्रत्ययान्त धातु से परस्मैपद विकल्प से होता हे। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' से 'क्यष्' कहा गया है।

उदा० (1) लोहितायति
लोहित क्यष्—'लोहितादिडाज्भ्यः०' से क्यष् 'अकृत् सार्वधा०'—
लोहिताय लट्—धातुसंज्ञा, लट्,
लोहिताय ति—विकल्प से परस्मैपद,
लोहितायति।

(2) लोहितायते
पक्ष में परस्मैपद न हुआ।

(3) पटपटायति
पटत् पटत् करोति—प्रातिपदिक संज्ञा 'अव्यक्तानुकरणाद्०' से 'डाच्', डाचि द्वे भवतः (8.1.12. वा०) से 'डाच्' के विषय में द्वित्व—
पटत् पटत्—पटत् पटत् डाच्—तस्य परमाम्रेडितम्—
पटत् पटत् डाच्—'नित्यमाम्रेडिते०' (6.1.96. वा०) से पूर्व 'पटत्' के तकार व अकार के स्थान पर पररूप एकादेश,
पट पटत् आ—यचि भम्, भस्य, टेः,
पट पट् आ क्यष्—'लोहितादिडाज्भ्यः०' से 'क्यष्',
पटपटायति—धातुसंज्ञा, विकल्प से परस्मैपद।

(4) पटपटायते
पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ।

अब यहाँ परस्मैपद से मुक्त स्थल पर आत्मनेपद किस प्रकार प्राप्त होता है। 'अनुदात्तङितः' इतने प्रकरण मात्र से वह नियत किया गया है। इस प्रकार यहाँ आत्मनेपद का ही विकल्प किया जाता है। उसके पश्चात् परस्मैपद के प्रतिषेध के द्वारा आत्मनेपद का विधान किया जाता है। उससे मुक्त स्थल में 'शेषात् कर्त्तरि०' से परस्मैपद होता है।

(239) द्युद्भ्यो लुङि *91* (2345)

वेत्येव। द्युत दीप्तौ (धा०पा० 741), तत्साहचर्यात् लुठादयोऽपि कृपूपर्यन्तास्तथैव व्यपदिश्यन्ते। बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो भवति। अनुदात्तत्त्वान्नित्यमेवात्मनेपदे प्राप्ते द्युतादिभ्यो लुङि वा परस्मैपदं भवति। व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ट। अलुठत्, अलोठिष्ट। लुङीति किम्? द्योतते।

अर्थ—'वा' की अनुवृत्ति है। 'द्युद्भ्यः' पद में बहुवचन का निर्देश है। अतः इसके द्वारा द्युत् आदि धातु अभिप्रेत हैं। धातुपाठ में द्युत् धातु के बाद 21 धातुओं के पाठ के पश्चात् गण की समाप्ति होती है। तब इसके द्वारा 'द्युत्' से लेकर 'कृप्' धातुपर्यन्त का ग्रहण होता है। धातुपाठ के अनुसार ये 22 धातु हैं। यथा—

द्युत्, श्वित्, मिद्, स्विद् (क्ष्विद्), रुच्, घुट्, रुट्, लुट्, लुठ्, शुभ्, क्षुभ्, णभ्, तुभ्, स्रंस्, ध्वंस्, भ्रंस् (भ्रंश् भी), स्रम्भ्, वृत्, वृध, शृध्, स्यन्द् तथा कृप्।

द्युत् आदि (पूर्वोक्त बाईस) धातुओं से पर लुङ् के स्थान पर परस्मैपद विकल्प से होता है।

उदा० (1) व्यद्युतत्
द्युत् लुङ् → अद्युत् च्लि तिप्—परस्मैपद, तिप्, अट्, च्लि,
अ द्युत् अङ् त्—इतश्च, पुषादिद्युतादि०,
वि अद्युतत् → व्यद्युतत्।

(2) व्यद्योतिष्ट
पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ।
द्युत् त → द्युत् स् त—सिच्,
अद्योति स् त—इट्, अट्, गुण,
व्यद्योतिष्ट—आदेशप्रत्यययोः, ष्टुना ष्टुः।

(3) अलुठत्
लुठ् लुङ्—परस्मैपद,
अलुठत्।

(4) अलोठिष्ट
पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ।

लुङीति अर्थात् लुङ् के स्थान पर ही परस्मैपद विकल्प से होता है—

(1) द्योतते
द्युत् लट्—लुङ् न होने से परस्मैपद नहीं हुआ,
द्योतते।

(240) वृद्भ्यः स्यसनोः *92* (2347)

द्युतादिष्वेव वृतादयः पठ्यन्ते। वृतु वर्त्तने (धा०पा० 758), वृधु वृद्धौ (धा०पा० 759), शृधु शब्दकुत्सायाम् (धा०पा० 760), स्यन्दू प्रस्रवणे (धा०पा० 761), कृपू सामर्थ्ये (धा०पा० ७६२)-एतेभ्यो धातुभ्यः स्ये सनि च परतो वा परस्मैपदं भवति। वृत्—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति, वर्त्तिष्यते, अवर्तिष्यत, विवर्त्तिषते। वृध्–वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति, वर्द्धिष्यते, अवर्द्धिष्यत, विवर्द्धिषते। स्यसनोरिति किम्? वर्त्तते।

अर्थ—द्युतादिगण में ही एक उपगण 'वृतादि' है। वृतादि में वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द् तथा कृप्—ये पाँच धातु हैं।
'स्य' पद के द्वारा ऌट् व ऌङ् का ग्रहण होता है।

वृत् आदि (पूर्वोक्त पाँच) धातुओं से ऌट्, ऌङ् तथा सन् में परस्मैपद विकल्प से होता है।

वृत् आदि पाँचों धातु अनुदात्तेत् हैं। अतः इन धातुओं से स्य (अर्थात् ऌट् व ऌङ्) में 'अनुदात्तङित०' से आत्मनेपद प्राप्त होता है। इनसे 'सन्' में 'पूर्ववत् सनः' से आत्मनेपद प्राप्त होता है।

उदा० (1) वर्त्स्यति
वृत् ऌट्—वृत् स्य तिप्—परस्मैपद, स्यतासी ऌलुटोः,
वर्त् स्य ति—प्राप्त वलादिक इट् का 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से निषेध, लघूपधगुण,
वर्त्स्यति।

(2) वर्त्तिष्यते
वृत् त—पक्ष में परस्मैपद न हुआ,
वृत् इ स्य त—वर्त् इष्यते—इट्, गुण,
वर्त्तिष्यते।

(3) अवर्त्स्यत्

वृत् लृङ्—परस्मैपद,
अट् वृत् तिप्—अवृत् स्य त्—अट्, इतश्च, स्य, इट् निषेध,
अवर्त्स्यत्—गुण।

(4) अवर्त्तिष्यत
वृत् लृङ्—पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ,
अ वृत् इ स्य त—पूर्ववत्,
अवर्तिष्यत।

(5) विवृत्सति
वृत् सन् → वृ वृत् स → व वृत् स—इट् का निषेध, द्वित्व, उरत्, हलादिः शेषः,
विवृत्स—सन्यतः, धातुसंज्ञा, परस्मैपद,
विवृत्सति—शप्।

(6) विवर्त्तिषते
वृत् स → वृत् इ स → विवर्तिष—इट्, गुण,
विवर्त्तिषते—परस्मैपद नहीं हुआ।

(7) वर्त्स्यति
वृध् स्य ति—पूर्ववत् परस्मैपद, स्य,
वर्त्स्यति—गुण।

(8) वर्द्धिष्यते
वृध् इ स्य त—पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ,
वर्ध् इ स्य त—इट्, गुण,
वर्द्ध् इ स्य त—द्वित्व, झलां जश् झशि,
वर्द्धिष्यते—आदेशप्रत्यययोः।

(9) अवर्त्स्यत्
वृध् तिप्—लृङ्, परस्मैपद,
अवर्त्स्यत्—स्य 'इतश्च' गुण, अट्,

(10) अवर्द्धिष्यत
वृध् लृङ्—पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ—
अ वर्ध् इ स्य त → अवर्द्धिष्यत—पूर्ववत्।

(11) विवृत्सति
वृध् सन् → विवृत्स—धातुसंज्ञा, परस्मैपद,
विवृत्सति।

(12) विवर्द्धिषते
वृध् सन् → विवर्द्धिष—धातुसंज्ञा, पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ,
विवर्द्धिषते।

स्यसनो० अर्थात् स्य तथा सन् में परस्मैपद विकल्प से होता है—

(1) वर्त्तते
वृत् लट्—न लृङ् है, न लृट् है तथा न ही 'सन्' है। अतः परस्मैपद नहीं हुआ,
वर्त्तते—शप् गुण।

(241) लुटि च क्लृपः *93* (2351)

वृतादित्वादेव स्यसनोर्विकल्पः सिद्धः, लुटि विधीयते। चकारस्तर्हि स्यसनोरनुकर्षणार्थो न वक्तव्यः? एवं तर्हीयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधेत। तस्माच्चकारः स्यसनोरनुकर्षणार्थः क्रियते। लुटि च स्यसनोश्च क्लृपेः परस्मैपदं वा भवति। कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः। कल्प्स्यति। अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति। कल्पिता। कल्पिष्यते। अकल्पिष्यत। चिकल्पिषते।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अर्थ—'क्लृप्' धातु का पाठ वृतादि में होने के कारण 'वृद्भ्यः स्यसनोः' के द्वारा 'स्य' तथा 'सन्' में विकल्प से परस्मैपद सिद्ध है। यहाँ 'लुट्' में विधान किया जा रहा है।

क्या 'स्य' तथा 'सन्' के अनुकर्षण के लिए चकार का पाठ नहीं करना चाहिए? ऐसा करते हैं तो यह प्राप्ति पूर्व (सूत्र) प्राप्ति का बाधक बन जाती है। सार यह है कि चकार का पाठ न करने से 'लुटि क्लृपः' इतना मात्र सूत्र बना लेने पर केवल लुट् में 'क्लृप्' से परस्मैपद का विकल्प होता है तथा 'स्य' व 'सन्' में विकल्प नहीं होगा। कारण कि, इस दशा में यह न्यास पूर्वसूत्र (वृद्भ्यः स्यसनोः) का बाध करेगा।

सूत्रार्थ—लुट्, स्य तथा सन् में 'क्लृप्' धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है।

उदा० (1) कल्प्ता
क्लृप् लुट्—क्लृप तिप्—परस्मैपद हुआ—
क्लृप् तास् डा—'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'—
कल्प् त् आ—टिलोप, गुण, 'तासि च क्लृपः' से इट् निषेध,
कल्प्ता।

(2) कल्पिता
पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ। इट् हुआ।

(3) कल्प्तारौ

क्लृप् तस् → कल्प् तास् रौ—'रि च' से 'स्' का लोप, कल्प्तारौ।

(4) कल्प्तारः

क्लृप् झि → कल्प् रस् → कल्प्तारः—पूर्ववत्।

(5) कल्प्स्यति

क्लृप् तिप् → क्लृप् स्य ति—लृट् में परस्मैपद हुआ, कल्प्स्यति।

(6) कल्पिष्यते

पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ। इट् हुआ।

(7) अकल्प्स्यत्

क्लृप् लृङ्—परस्मैपद हुआ,

अट् कल्प् स्य त्—स्य, 'इतश्च' से इकारलोप, अट्, अकल्प्स्यत्—गुण।

(8) अकल्पिष्यत

पक्ष में परस्मैपद नहीं हुआ। इट् हुआ।

(9) चिक्लृप्सति

क्लृप् सन् → क्लृप् क्लृप् स—द्वित्व,

क्लृ क्लृप् स → कल् क्लृप स → कक्लृप्—उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः,

चिक्लृप्स—कुहोश्चुः, सन्यतः, धातुसंज्ञा, परस्मैपद,

चिक्लृप्स ति—शप् आदि,

चिक्लृप्सति।

(10) चिकल्पिषते

चिक्लृप् इ स → इट् हुआ, पक्ष में परस्मैपद न हुआ, चिकल्पिषते।

विशेष—1. 'कृपो रो लः' सूत्र के द्वारा सर्वत्र धातुस्थ ऋकार के रेफ अंश को लत्व होता है।

2. धातुपाठ में 'क्लृप्' धातु का पाठ नहीं है। वस्तुतः 'कृपो रो लः' में बताये अनुसार यहाँ लृकारवान् पाठ वहाँ ऋवर्ण के रेफसदृश अवयव का भी 'रः' पद से ग्रहण बतलाता है अर्थात् धातु 'कृप्' ही है; परन्तु लुट् के स्थान में तथा स्य व सन् में परस्मैपद प्रत्ययों के विधान से पूर्व ही ऋकारावयव को लृकारावयव लकारसदृश आदेश हो जायेगा।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
प्रथमाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



प्रथमाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(242) आ कडारादेका संज्ञा *1* (232)

'कडाराः कर्मधारये' (2.2.38) इति वक्ष्यति। आ एतस्मात्सूत्रा-ऽवधेर्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तत्र एका संज्ञा भवतीति वेदितव्यम्। का पुनरसौ ? या पराऽनवकाशा च। अन्यत्र संज्ञासमावेशान्नियमार्थं वचनमेकैव संज्ञा भवतीति। वक्ष्यति-'ह्रस्वं लघु'-भिदि, छिदि (1.4.10) भेत्ता, छेत्ता (7.3.86)। 'संयोगे गुरु' (1.4.11)-शिक्षा, भिक्षा (3.3.103)। संयोगे परस्य ह्रस्वस्य लघुसंज्ञा प्राप्नोति, गुरुसंज्ञा च। एका संज्ञेति वचनाद् गुरुसंज्ञैव भवति-अततक्षत्, अररक्षत्। 'सन्वल्लघुनि चङ्-परेऽनग्लोपे' (1.4.93) इत्येष विधिर्न भवति।

अर्थ—'कडाराः कर्मधारये' (2.2.38) सूत्र का पाठ आगे किया जायेगा। इस सूत्र की अवधि तक यहाँ से लेकर जो- जो कहे जायेंगे, वहाँ-वहाँ एक संज्ञा जानना चाहिए। यथा लोक में एक ही व्यक्ति के अनेक नाम होते हैं, उसी प्रकार शास्त्र में भी एक ही पदार्थ की कई संज्ञाएँ देखी जाती हैं। यथा—'तव्यत्' प्रत्यय की प्रत्यय, कृत् तथा कृत्य—ये तीन संज्ञाएँ होती हैं। अष्टाध्यायी में 'कडार' शब्द दो स्थलों पर प्राप्त होता है—

(क) 'प्राक् कडारात् समासः' (2.1.3) तथा
(ख) 'कडाराः कर्मधारये' (2.2.38)

'कडाराः कर्मधारये' में 'कडार' शब्द प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण स्वतन्त्र है, परन्तु 'प्राक् कडारात् समासः' सूत्र परतन्त्र है। अतः प्रस्तुत सूत्र (2.2.38) में पठित 'कडार' शब्द का ग्रहण होता है। 'आ कडारात्' का अर्थ है—'कडाराः कर्मधारये' सूत्रपर्यन्त।

सूत्रार्थ—इस सूत्र से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' सूत्रपर्यन्त एक की एक ही संज्ञा होती है।

का पुनः—अब प्रश्न है कि दो में से एक संज्ञा कौन-सी हो ? इसके लिए परिभाषा है कि 'या पराऽनवकाशा च' अर्थात् जो संज्ञा पर या निरवकाशा हो, वह होती है। यदि दोनों संज्ञाएँ सावकाश हों, वहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के अनुसार परसंज्ञा होती है तथा जहाँ एक संज्ञा सावकाश और एक संज्ञा निरवकाश हो तो वहाँ निरवकाश संज्ञा होती है।

उदा० (1) भेत्ता
भिद् तृच्—अनवकाश होने से 'ह्रस्वं लघु' से लघुसंज्ञा,
भेद् तृ → भेत् तृ—'पुगन्तलघूपधस्य च',
भेत्तृ सु—भेत्ता।

(2) छेत्ता
छिद् तृच् → छेत्ता (पूर्ववत्)।

(3) शिक्षा
शिक्ष्—'संयोगे गुरु' से इकार की गुरुसंज्ञा हुई, यह संज्ञा सावकाश है,
शिक्ष् अ—'गुरोश्च हलः' से 'अ',
शिक्ष टाप् → शिक्षा—स्त्रीत्व में 'टाप्',
शिक्षा सु → शिक्षा—सु, सु का लोप।
यहाँ 'गुरु' व 'लघु' दो संज्ञाएँ सावकाश हैं। पर होने के कारण गुरु संज्ञा हुई।

(4) भिक्षा
भिक्ष् अ → भिक्ष टाप् सु → भिक्षा (पूर्ववत्)।

(243) विप्रतिषेधे परं कार्यम् *2* (175)

तुल्यबलविरोधः विप्रतिषेधः। यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्या-र्थावेकस्मिन् युगपत्प्राप्नुतः स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः (म०भा०)। तस्मिन् विप्रतिषेधे परं कार्यं भवति। उत्सर्गापवादनित्यान्तरङ्गबहिरङ्गेषु तुल्यबलता नास्तीति नाय-मस्य योगस्य विषयः, बलवतैव तत्र भवितव्यम्। अप्रवृत्तौ पर्यायेण वा प्रवृत्तौ प्राप्तायां वचनमारभ्यते। 'अतो दीर्घो यञि' (7.3.101)। 'सुपि च' (7.3.102) इत्यस्या-वकाशः-वृक्षाभ्याम्, प्लक्षाभ्याम्। 'बहुवचने झल्येत्' (7.3.103) इत्यस्यावकाशः-वृक्षेषु, प्लक्षेषु। इहोभयं प्राप्नोति-वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः इति। परं भवति विप्रति-षेधेन।

अर्थ—तुल्य बलविरोध को 'विप्रतिषेध' कहते हैं। पृथक्-पृथक् स्थानों पर चरितार्थ होने वाले कार्य को 'तुल्य बल' कहते हैं। जहाँ दो अन्य अर्थ वाले प्रसङ्ग एक ही स्थल पर एक साथ प्राप्त होते हैं, उसे तुल्य बलविरोध विप्रतिषेध कहते हैं।

सूत्रार्थ—तुल्य बल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है।

उत्सर्गाप—उत्सर्ग-अपवाद, नित्य-अनित्य, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग—इनमें तुल्यबलता नहीं होती है। यहाँ तो बलवत्ता ही विचारणीय है। अप्रवृत्ति में पर्याय से अथवा प्रवृत्ति के प्राप्त होने पर यह नियम है।

उदा० (1) वृक्षेभ्यः

वृक्ष भ्यस्—यहाँ 'सुपि च' (7.3.101) के द्वारा दीर्घादेश तथा 'बहुवचने झल्येत्' (7.3.102) से 'एत्' आदेश की प्राप्ति हुई। दोनों का तुल्यबल विरोध होने पर प्रस्तुत सूत्र के द्वारा परकार्य (अर्थात् 'एत्') हुआ—

वृक्षेभ्यः—विसर्ग हुआ।

(2) वृक्षाभ्याम्

वृक्ष भ्याम्—'अतो दीर्घो यञि' (7.3.100) से दीर्घादेश तथा 'सुपि च' से दीर्घादेश प्राप्त होता है। तब परकार्य (सुपि च) हुआ,

वृक्षाभ्याम्।

(3) प्लक्षाभ्याम् (पूर्ववत्)।

(4) वृक्षेषु

वृक्ष सुप्—'सुपि च' से दीर्घादेश तथा 'बहुवचने झल्येत्' से एत्त्व प्राप्त हुए। परकार्य हुआ—

वृक्षेषु—आदेशप्रत्यययोः।

(5) प्लक्षेषु (पूर्ववत्)।

विशेष—(क) उत्सर्ग और अपवाद में अपवाद बलवान् होता है। यथा—

'सु ग्ला' यहाँ आकारान्त धातु होने के कारण 'श्याद्व्यधा०' (3.1.141) के द्वारा 'ण' प्रत्यय प्राप्त है तथा 'आतश्चोपसर्गे' (3.1.136) के द्वारा 'क' प्राप्त है। णप्रत्यय का कार्य पर होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा यहाँ प्राप्त होता है; परन्तु यह उत्सर्ग है तथा अपवाद उत्सर्ग से बलवान् होता है। अतः इसे बाध कर 'क' हुआ। सुग्लः।

इसी प्रकार 'आद्गुणः' उत्सर्ग सूत्र है तथा 'वृद्धिरेचि' अपवाद है। अतः गुणादेश को बाध कर वृद्धि आदेश होता है।

(ख) नित्य तथा अनित्य विधि में नित्य विधि बलवान् होती है। यथा—

'रध् णिच् शप् तिप्' इस दशा में 'रधिजभोरचि' (7.1.61) से 'नुम्' प्राप्त है तथा 'अत उपधायाः' (7.2.116) के द्वारा उपधावृद्धि की प्राप्ति हुई। यहाँ 'नुम्' नित्यविधि है; कारण कि यह उपधावृद्धि से पूर्व भी प्राप्त है तथा पश्चात् भी। परन्तु 'नुम्' करने पर उपधावृद्धि को अवकाश प्राप्त नहीं होता है। अतः उपधावृद्धि अनित्य है। अनित्य की अपेक्षा नित्य विधि बलवान् होने से 'नुम्' होगा।

(ग) अन्तरङ्ग विधि बहिरङ्ग विधि से बलवान् होती है। यथा—

'अट् हु द्रु यङ् तिप्' इस दशा में चङ् को मानकर 'अचि श्नुधातु०' से उवङ् तथा 'पुगन्तलघू' से लघूपध गुण भी प्राप्त है। चूँकि उवङ् आदेश चङ् को मान कर होता है; अतः अन्तरङ्ग कार्य है। अन्तरङ्ग बलवान् होने से 'उवङ्' ही होता है।

(244) यू स्त्र्याख्यौ नदी *3* (266)

ई च ऊ च = यू। अविभक्तिको निर्देशः। स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ। मूलविभुजादिदर्शनात्कप्रत्ययः (3.2.5 वा०)। ईकारान्तमूकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञं भवति। ईकारान्तम्-कुमारी, गौरी, लक्ष्मीः, शार्ङ्गरवी। ऊकारान्तम्-ब्रह्मबन्धूः, यवागूः। यू इति किम्? मात्रे। दुहित्रे। स्त्र्याख्याविति किम्? ग्रामणीः, सेनानीः, खलपूः। आख्याग्रहणं किम्? शब्दार्थे स्त्रीत्व एव यथा स्यात्, पदान्तराख्ये मा भूत्-ग्रामण्ये स्त्रियै, खलप्वे स्त्रियै (म० भा०)। नदीप्रदेशाः-'आण्नद्याः' (7.3.112) इत्येवमादयः।

अर्थ—ई + ऊ = यू। यह विभक्तिरहित निर्देश है। जो स्त्रीलिंग को कहता है, वह 'स्त्र्याख्य' कहलाता है। मूल विभुजादि के दर्शन से 'क' प्रत्यय होता है। 'स्त्र्याख्य' का अर्थ है—नित्य स्त्रीलिंगी शब्द। जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है, वे नित्यस्त्रीलिंग कहलाते हैं। यथा—नदी, गौरी आदि। 'ग्रामणी' शब्द स्त्रीलिंग व पुँल्लिंग दोनों में प्रयुक्त होता है। अतः इसे नित्य स्त्रीलिंग नहीं कहते हैं।

सूत्रार्थ—ईदन्त और ऊदन्त नित्य स्त्रीलिंग शब्दों की नदी संज्ञा होती है।

उदा० (1) कुमारी

कुमारी—नित्य स्त्रीलिंग शब्द है। अतः नदीसंज्ञा हुई—

कुमारी सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,

कुमारी—हल्ङ्याब्भ्यो०।

(2) गौरी

गौरी सु—नदीसंज्ञा,

गौरी—सु का लोप।

(3) लक्ष्मीः
लक्ष्मी सु—नदीसंज्ञा,
लक्ष्मीः।

(4) शार्ङ्गरवी
शार्ङ्गरव ङीन्—स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन्,
शार्ङ्गरवी सु—नदीसंज्ञा, सु,
शार्ङ्गरवी।

(5) ब्रह्मबन्धूः
ब्रह्मबन्धू सु—नदीसंज्ञा,
ब्रह्मबन्धूः।

(6) यवागूः
यवागू सु—नदीसंज्ञा,
यवागूः।

यू इति अर्थात् **ईकारान्त** व **ऊकारान्त** की ही नदीसंज्ञा होती है—

(1) मात्रे
मातृ ङे—यह नित्य स्त्रीलिंग है, परन्तु न तो ईकारान्त है; न ही ऊकारान्त है। अतः नदीसंज्ञा नहीं हुई,
मात्रे—इको यणचि।

(2) दुहित्रे
पूर्ववत् नदीसंज्ञा का निषेध।

स्त्र्याख्यौ अर्थात् **नित्य स्त्रीलिंग** की ही नदीसंज्ञा होती है—

(1) ग्रामणीः
ग्रामणी—यह ईकारान्त है, परन्तु नित्य स्त्रीलिंग नहीं है। अतः नदीसंज्ञा नहीं हुई,
ग्रामणी सु → ग्रामणीः।

(2) सेनानीः
सेनानी सु—पूर्ववत् नदीसंज्ञा नहीं हुई,
सेनानीः।

(3) खलपूः
खलपू—ऊकारान्त है, परन्तु नित्य स्त्रीलिंग न होने से नदी संज्ञा नहीं हुई,
खलपू सु → खलपूः।

आख्याग्रह० अर्थात् 'स्त्र्याख्यौ' पद में **आख्या** पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि शब्दार्थ में स्त्रीत्व वृथा हो तथा पदान्तर के वाचक में न हो। यथा—

(1) ग्रामण्ये स्त्रियै
यहाँ ग्रामणी की नदीसंज्ञा नहीं हुई।

(2) खलप्वे स्त्रियै (पूर्ववत्)।

विशेष—प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च (वा०)—यह वार्त्तिक महाभाष्य में प्राप्त होता है। इसका अर्थ है—

'नदीसञ्ज्ञा में प्रथम लिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग है तथा बाद में समास की दशा में गौण होकर अन्य लिङ्ग में चला गया हो, उसकी भी पहले के लिङ्ग के आधार पर नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—

'बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी' इस प्रकार समास होकर 'बहुश्रेयसी' शब्द निष्पन्न हुआ, जो पुँल्लिङ्ग है। चूँकि इस समस्तपद के उत्तरपद में 'श्रेयसी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है, परन्तु समस्त पद के रूप में यह गौण हो गया है तथा इसका लिङ्ग भी परिवर्तित हो गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा नदीसञ्ज्ञा नहीं हो सकेगी। तब प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा पूर्ववर्ती लिङ्ग (अर्थात् स्त्रीलिङ्ग) के आधार पर इसकी नदीसञ्ज्ञा होकर 'बहुश्रेयस्यै' आदि रूप बन जायेंगे।

(245) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री *4* (303)

पूर्वेणातिप्रसक्ता नदीसंज्ञा प्रतिषिध्यते। स्थितिः = स्थानम्। इयङुवङोः स्थानमनयोरितीयङुवङ्स्थानौ यौ यू, तौ नदीसंज्ञौ न भवतः, स्त्रीशब्दं (6.4.79) वर्जयित्वा। हे श्रीः। हे भ्रूः (6.4.77)। अस्त्रीति किम्? हे स्त्रि (7.3.107)।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा अतिरिक्त स्थलों पर प्रसक्त नदीसंज्ञा का निषेध किया जा रहा है। स्थिति = स्थान।

जिन ईकार व ऊकार के स्थान पर क्रमशः इयङ् तथा उवङ् आदेश होते हैं, उन नित्य स्त्रीलिंग शब्दों की नदीसंज्ञा नहीं होती है, स्त्रीशब्द को छोड़कर।

इयङुवङ्स्थानौ = जहाँ इयङ् तथा उवङ् आदेश होते हों।

इस सूत्र का सार यह है कि 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' सूत्र के द्वारा अजादि विभक्तियों में इयङ् व उवङ् आदेश होते हैं। अतः इन (इयङ् व उवङ्) आदेश वाले स्थानों पर स्त्रीलिंग ईकारान्त व ऊकारान्त शब्दों की नदीसंज्ञा का निषेध होता है; परन्तु 'स्त्री' शब्द की नदीसंज्ञा का निषेध नहीं होता है। यद्यपि 'स्त्री' शब्द

भी इयङ्-उवङ्-स्थानी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'स्त्री' शब्द की नदीसंज्ञा का प्रतिषेध प्राप्त था, जिसका 'अस्त्री' पद के द्वारा निषेध कर दिया है।

ध्यातव्य है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा इयङ्स्थानी व उवङ्स्थानी शब्दों की नदीसंज्ञा का निषेध केवल उन स्थलों पर ही नहीं होता है, जहाँ इयङ् अथवा उवङ् होते हैं, अपितु उक्त शब्दों की नदीसंज्ञा का सर्वत्र निषेध होता है, अन्यथा केवल अजादि विभक्तियों में ही नदीसंज्ञा का निषेध हो पायेगा। उस दशा में सम्बुद्धि में अजादि विभक्ति न रहने से निषेध न होकर अनिष्ट रूपों की प्राप्ति हो जायेगी।

उदा॰ (1) (हे) श्रीः

हे श्री सु—सम्बोधने च, एकवचनं सम्बुद्धिः, 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' से नदीसंज्ञा प्राप्त हुई। चूँकि 'श्री' शब्द इयङ्स्थानी है। अतः नदीसंज्ञा का निषेध हुआ—

हे श्रीः—सु।

(2) (हे) भ्रूः (पूर्ववत्)।

अस्त्रीति अर्थात् **स्त्री शब्द को छोड़कर** नदीसंज्ञा का निषेध होता है—

(1) हे स्त्रि

स्त्री सु—नदीसंज्ञा हुई—

स्त्रि स् → स्त्रि।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'स्थानौ' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि इयङ्-उवङ् आदि से सम्बन्धित जो 'ई' अथवा 'ऊ' हैं, उनकी नदीसंज्ञा नहीं होती है अर्थात् जहाँ अपवाद से इयङ्-उवङ् का बाध हो जाय, वहाँ उक्त निषेध लागू नहीं होता है। यथा—

'वर्षाभू' शब्द स्त्रीवाची व ऊकारान्त है। 'यू स्त्र्याख्यौ॰' से नदीसंज्ञा प्राप्त है, जिसका उवङ् स्थानी होने के कारण 'नेयङुवङ्॰' के द्वारा निषेध होना चाहिए। 'वर्षाभ्वश्च' के द्वारा उवङ् आदेश का बाध हो जाता है। अतः 'वर्षाभू' शब्द उवङ्सम्बन्धी न रहा। तब नदीसंज्ञा का प्रतिषेध भी प्रसक्त नहीं हुआ।

(246) वाऽऽमि *5* (304)

पूर्वेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते आमि विकल्पः क्रियते। इयङुवङ्स्थानौ यू आमि परतो वा नदीसंज्ञौ न भवतः। श्रियाम् (6.4.77), श्रीणाम् (7.1.54)। भ्रुवाम्, भ्रूणाम्। अस्त्रीत्येव-स्त्रीणाम्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा (नदीसंज्ञा का) नित्य प्रतिषेध प्राप्त होने पर 'आम्' में विकल्प किया जा रहा है।

इयङ्-उवङ्स्थानी नित्य स्त्रीलिंग ईकारान्त व ऊकारान्त शब्दों की नदीसंज्ञा विकल्प से होती है, 'आम्' परे रहते; परन्तु 'स्त्री' शब्द को छोड़कर।

उदा॰ (1) श्रियाम्

श्री आम्—'यू स्त्र्याख्यौ॰' से प्राप्त नदीसंज्ञा का 'नेयङुवङ्॰' से निषेध हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा नदीसंज्ञा विकल्प से हुई, अनदी पक्ष में 'इयङ्' होकर रूप बना।

(2) श्रीणाम्

श्री आम् (पूर्ववत्)।

श्री नुट् आम्—नदीपक्ष में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्', 'अट्कुप्वाङ् नुम्॰' से णत्व,

श्रीणाम्।

(3) भ्रुवाम्

भ्रू आम्—पूर्ववत् नदीसंज्ञा का विकल्प,

भ्रुवाम्—अनदीपक्ष में उवङ्।

(4) भ्रूणाम्

भ्रू आम्—नदीपक्ष में 'नुट्' आदि,

भ्रूणाम्।

अस्त्री॰ अर्थात् **स्त्री शब्द को छोड़कर** नदीसंज्ञा का विकल्प होता है—

(1) स्त्रीणाम्

स्त्री आम्—नदीसंज्ञा का विकल्प नहीं हुआ,

स्त्रीणाम्—नुट्।

(247) ङिति ह्रस्वश्च *6* (296)

दीर्घस्य नदीसंज्ञा विहिता, ह्रस्वस्य न प्राप्नोति, इयङुवङ्स्थानयोश्च प्रतिषिद्धा। तस्माद्ङिति वा विधीयते। ङिति परतो ह्रस्वश्च य्वोः सम्बन्धी यः स्त्र्याख्यः, स्त्र्याख्यौ इयङुवङ्स्थानौ च यू वा नदीसंज्ञौ भवतः। कृत्यै (7.3.112), कृतये। धेन्वै, धेनवे। श्रियै, श्रिये। भ्रुवै, भ्रुवे। अस्त्रीत्येव-स्त्रियै। स्त्र्याख्यावित्येव-अग्नये, वायवे, भानवे।

अर्थ—दीर्घ की नदीसंज्ञा कही गई है। ह्रस्व (इकारान्त व उकारान्त) की नहीं होती है। इयङ्-उवङ्स्थानी शब्दों की नदीसंज्ञा का प्रतिषेध होता है।

ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त स्त्रीवाची शब्दों तथा इयङ्-उवङ् स्थानी ईकारान्त व ऊकारान्त स्त्रीवाची शब्दों की नदीसंज्ञा विकल्प से होती है, ङित् विभक्ति में; परन्तु 'स्त्री' शब्द को छोड़कर।

'ङित्' का अर्थ है—ङकार है इत् जिसका। केवल चार विभक्तियाँ ङित् होती हैं—ङे, ङसि, ङस् तथा ङि।

उदा० (1) कृत्यै
कृति ङे—नदीसंज्ञा का विकल्प हुआ, नदीपक्ष में,
कृति आट् ए—'आण्नद्याः' से 'आट्',
कृति ऐ—'आटश्च' से वृद्धि,
कृत्यै—इको यणचि।

(2) कृतये
कृति ङे—अनदीपक्ष में 'घेर्ङिति'
कृते ए → कृतये।

(3) धेन्वै
धेनु ङे—नदीसंज्ञा का विकल्प,
धेनु आ ए → धेन्वै (पूर्ववत्)।

(4) धेनवे
अनदीपक्ष में 'घि' संज्ञा,
धेनो ए → धेनवे।

(5) श्रियै
श्री ए—नदीसंज्ञा का विकल्प,
श्रियङ् आ ए—इयङ् आदेश, वृद्धि,
श्रिय् ऐ → श्रियै।

(6) श्रिये
श्री ङे—अनदीपक्ष में,
श्रिये—इयङ् आदेश।

(7) भ्रुवै
भ्रू ङे → भ्रू आ ए → भ्रुवै।
उवङ् आदि।

(8) भ्रुवे
अनदीपक्ष में उवङ् हुआ।

अस्त्री अर्थात् स्त्री शब्द को छोड़कर नदीसंज्ञा का विकल्प होता है—

(1) स्त्रियै
स्त्री ङे—नित्य नदीसंज्ञा,
स्त्रियै—आट्, वृद्धि, इयङ्।

स्त्र्याख्यौ अर्थात् नित्य स्त्रीलिंग शब्द की विकल्प से नदीसंज्ञा होती है—

(1) अग्नये
अग्नि ङे—यह नित्य स्त्रीलिंग नहीं है। अतः नदीसंज्ञा नहीं हुई, घिसंज्ञा होकर,
अग्ने ए → अग्नये।

(2) वायवे
वायु ङे—पूर्ववत् घिसंज्ञा,
वायो ए → वायवे।

(3) भानवे
भानु ङे → भानवे (पूर्ववत्)।

(248) शेषो घ्यसखि *7* (243)

'ह्रस्व' इति वर्त्तते। शेषोऽत्र घिसंज्ञो भवति, सखिशब्दं वर्जयित्वा। कश्च शेषः? ह्रस्वमिवर्णोवर्णान्तं यन्न स्त्र्याख्यं स्त्र्याख्यं च यन्न नदीसंज्ञकं स शेषः। अग्नये (7.3.111), वायवे, कृतये, धेनवे। असखीति किम्? सख्या। सख्ये। सख्युः। सख्यौ। घिप्रदेशा–'द्वन्द्वे घि' (2.2.32) इत्येवमादयः।

अर्थ—'ह्रस्वः' पद का अनुवर्त्तन है। जिनकी नदीसंज्ञा नहीं है, ऐसे ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त की घिसंज्ञा होती है, सखि शब्द को छोड़कर।

कश्च शेषः—'शेष' किसे कहते हैं?

शेषः अर्थात् जिन शब्दों की नदीसंज्ञा नहीं है, वे 'शेष' कहलाते हैं। जो ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त नित्य स्त्रीलिंग नहीं हैं तथा जो नित्य स्त्रीलिंग नदीसंज्ञक नहीं हैं—ये सभी 'शेष' कहलाते हैं। इसका भाव इस प्रकार है—

'ङिति ह्रस्वश्च' से विशेष अवस्थाओं (ङित् विभक्तियों) में ह्रस्व (इकारान्त व उकारान्त) की नदीसंज्ञा कही गई है। वह 'ह्रस्वः' पद यहाँ 'शेषः' पद के द्वारा गृहीत है अर्थात् जो ह्रस्व स्त्रीवाची नहीं हैं तथा जो स्त्रीवाची होते हुए भी नदीसंज्ञक नहीं हैं, उन शब्दों की प्रकृत सूत्र के द्वारा 'घि' संज्ञा होती है। 'घि' संज्ञा के स्थल ये हैं—

(क) पुँल्लिंग व नपुंसक में ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त शब्द,

(ख) स्त्रीलिंग में ङित् विभक्तियों के परे रहते जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' के द्वारा नदीसंज्ञा नहीं होती है।

उदा० (1) अग्नये

अग्नि ङे—घि संज्ञा,
अग्ने ए—घेर्ङिति,
अग्नये—अयादि आदेश।

(2) वायवे
वायु ङे → वायो ए → वायवे (पूर्ववत्)।

(3) कृतये
कृति ङे → कृतये (पूर्ववत्)।

(4) धेनवे
धेनु ङे → धेनवे।

असखी० अर्थात् **सखि** शब्द को छोड़कर घिसंज्ञा होती है—

(1) सख्या
सखि टा → सखि आ—घिसंज्ञा नहीं हुई। तब 'आङो नाऽस्त्रियाम्' की प्रवृत्ति नहीं हुई,
सख्या—इको यणचि।

(2) सख्ये
सखि ङे—घिसंज्ञा नहीं हुई, 'घेर्ङिति' की प्रवृत्ति नहीं हुई,
सख्ये—यण्।

(3) सख्युः
सखि ङसि—घिसंज्ञा नहीं हुई, 'इको यणचि' से 'यण्',
सख्य् अस्—'ख्यत्यात् परस्य' से 'ङस्' के अकार को उकार हुआ,
सख्य् उस्—रुत्व, विसर्ग,
सख्युः।

(4) सख्यौ
सखि ङि—घिसंज्ञा नहीं हुई,
सखि औ—'औत्' से 'औ'
सख्यौ—यणादेश।

विशेष—1. घिसंज्ञा दो प्रकार की होती है—
अवयवाश्रित तथा समुदायाश्रित।

यहाँ 'सखि' शब्द के विषय में अवयवाश्रित घिसंज्ञा का ही प्रतिषेध है तथा समुदायाश्रित घिसंज्ञा तो होती ही है। यथा—शोभनः सखाऽस्येति सुसखिः। यहाँ घिसंज्ञा होती है।

2. 'घि' संज्ञा सामान्य होने से 'शेषो घ्यसखि' सूत्र उत्सर्ग है। 'ङिति ह्रस्वश्च' अपवाद है। चूँकि अपवाद के स्थलों को छोड़कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति हुआ करती है। नदीसञ्ज्ञा के अवशिष्ट की घिसञ्ज्ञा प्राप्त हो जाती है। अतः शेष पद की आवश्यकता नहीं है, तदपि आचार्य ने यह पद अधिक स्पष्टता के लिए कहा है।

(249) पतिः समास एव *8* (257)

पतिशब्दस्य घिसंज्ञायां सिद्धायामयं नियमः क्रियते। पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञो भवति। प्रजापतिना। प्रजापतये। समास इति किम्? पत्या। पत्ये। एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः। दृढमुष्टिना। दृढमुष्टये।

अर्थ—'पति' शब्द की घिसंज्ञा सिद्ध होने पर यह नियम किया जाता है।

'पति' शब्द समास की दशा में ही घिसंज्ञक होता है।

उदा० (1) प्रजापतिना
प्रजापति टा—समस्त पद में 'पति' शब्द है। घिसंज्ञा हुई। 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'ना',
प्रजापतिना।

(2) प्रजापतये
प्रजापति ङे—घिसंज्ञा, 'घेर्ङिति' से गुण,
प्रजापते ए → अयादेश,
प्रजापतये।

समासे अर्थात् **समास की दशा** में ही 'पति' शब्द की घिसंज्ञा होती है—

(1) पत्या
पति टा—घिसंज्ञा नहीं हुई,
पत्या—यण्।

(2) पत्ये
पति ङे → पत्ये (पूर्ववत्)।

एवकारः—'एव' शब्द अवधारणार्थक है। यदि यहाँ 'पतिरेव समासे' ऐसा पाठ करते तो इसका अर्थ होता कि समास की दशा में 'पति' शब्द की ही घिसंज्ञा होती है, अन्य की नहीं। इस प्रकार निम्न में घिसंज्ञा नहीं हो पाती—

(1) दृढमुष्टिना
दृढमुष्टि—समस्त पद है। उत्तरपद में 'मुष्टि' शब्द है तथा 'पति' शब्द नहीं है। तब घिसंज्ञा प्राप्त न होकर अनिष्ट रूप होता है। परन्तु 'पति' की समास में ही घिसंज्ञा होती है—ऐसा अर्थ करने पर यहाँ घिसंज्ञा हो जाती है,

दृढमुष्टि टा → दृढमुष्टिना।

(250) षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा *9* (3389)

पतिरिति वर्त्तते। पूर्वेण नियमेनासमासे न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते। षष्ठ्यन्तेन शब्देन युक्तः पतिशब्दश्छन्दसि विषये वा घिसंज्ञो भवति। कुलुञ्चानां पतये नमः (तै०सं० 4.5.37)। कुलुञ्चानां पत्ये नमः (वा०सं० 16)। षष्ठीग्रहणं किम्? मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (ऋ० 10. 86.36)। छन्दसीति किम्? ग्रामस्य पत्ये।

अर्थ—'पतिः' पद यहाँ अनुवृत्त है। पूर्व सूत्र के द्वारा असमास की दशा में घिसंज्ञा प्राप्त नहीं होती है। अतः यह विधान किया जा रहा है।

वेद के विषय में षष्ठ्यन्त शब्द से युक्त 'पति' शब्द की घिसंज्ञा विकल्प से होती है।

षष्ठीयुक्तः = षष्ठ्यन्त शब्द से युक्त। 'छन्दस्' शब्द के द्वारा मन्त्रसंहिताओं और ब्राह्मणसंहिताओं का ग्रहण होता है। 'छन्दस्' की विस्तृत व्याख्या के लिए वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया—एक समीक्षात्मक अध्ययन[1], का भूमिका भाग देखिए।

उदा० (1) कुलुञ्चानां पतये

'कुलुञ्चानाम्' षष्ठ्यन्त पद है। इससे युक्त 'पति' शब्द की विकल्प से घिसंज्ञा हुई,

कुलुञ्चानां पतये—घेर्ङिति।

(2) कुलुञ्चानां पत्ये (यजु० 16.22)

पक्ष में घिसंज्ञा नहीं हुई।

षष्ठीयुक्त० अर्थात् **षष्ठ्यन्त से युक्त** 'पति' शब्द की घिसंज्ञा होती है—

(1) (मया) पत्या (शौ० सं० 14.1.50)

'मया' तृतीयान्त शब्द है। यहाँ 'पति' शब्द षष्ठ्यन्त से युक्त नहीं है। अतः घिसंज्ञा नहीं हुई,

मया पत्या—यण् हुआ।

छन्दसि अर्थात् **वेद के विषय** में ही 'पति' शब्द की घिसंज्ञा होती है—

(1) ग्रामस्य पत्ये

लोक में षष्ठ्यन्त शब्द 'ग्रामस्य' से युक्त होने पर भी 'पति' शब्द की घिसंज्ञा नहीं हुई। यथा—

पति ङे → पत्ये।

(251) ह्रस्वं लघु *10* (31)

मात्रिकस्य ह्रस्वसंज्ञा कृता (1.2.27), तस्यानेन लघुसंज्ञा विधीयते। ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवति। भेत्ता, छेत्ता (7.3.86)। अचीकरत्, अजीहरत् (7.4.1,93)। लघुप्रदेशाः–'पुगन्तलघूपधस्य च' (7.3.86) इत्येवमादयः।

अर्थ—एक मात्रा काल वाला अच् वर्ण ह्रस्व होता है।

ह्रस्व वर्ण की लघुसंज्ञा होती है।

उदा० (1) भेत्ता

भिद् तृच्—इकार की लघुसंज्ञा, 'आर्धधातुकं शेषः' से 'तृच्' की आर्धधातुक संज्ञा,

भेद् तृ—'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध को गुण,

चर्त्व, सु,

भेत् तृ → भेत् तृ सु → भेत्ता।

(2) छेत्ता

छिद् तृच्—पूर्ववत्,

छेत्ता।

(3) अचीकरत्

कृ णिच् → कारि—'हेतुमति च' से णिच् 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, धातुसंज्ञा, लुङ्, तिप्, च्लि,

कारि ल् → कारि तिप् → कारि च्लि त्—इतश्च,

कारि चङ् त्—'णिश्रि०' से 'चङ्', 'णेरनिटि' से णिच् का लोप, 'णौ चङ्युपधाया०' से ह्रस्व,

कार् चङ् त → कर् अ त्—'चङि' से द्वित्व, 'णौ कृतं स्थानिवद् भवति' इस ज्ञापक से रूपातिदेश,

कृ कर् अ त् → कर् कर् अ त्—उरत्, उरण् रपरः,

क कर् अ त् → च कर् अ त्—ह्रस्वं लघु, सन्यतः, दीर्घो लघोः

अचिकरत् → अचीकरत्।

(4) अजीहरत्

हृ णिच् → पूर्ववत् लुङ् इत्यादि,

अजीहरत्।

(252) संयोगे गुरु *11* (32)

ह्रस्वमिति वर्त्तते। पूर्वेण लघुसंज्ञायां प्राप्तायां गुरुसंज्ञा विधीयते। संयोगे परतो ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञं भवति।

1. वै० सि० कौ० की वैदिकी प्रक्रिया—ईश्वरचन्द्र, परिमल प्रकाशन, शक्तिनगर, नई दिल्ली, पृ० 17

कुण्डा। हुण्डा। शिक्षा। भिक्षा (3.3.103)। गुरुप्रदेशाः–'गुरोश्च हलः' (3.3.103) इत्येवमादयः।

अर्थ—'ह्रस्वम्' की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र के द्वारा लघु संज्ञा प्राप्त होने पर गुरु संज्ञा का विधान किया जा रहा है।

संयोग परे रहते ह्रस्व वर्ण की गुरुसंज्ञा होती है।

उदा० (1) कुण्डा
कुडि → कु नुम् ड्—इदितो नुम् धातोः,
कुण्ड्—नश्चाऽपदान्तस्य०, अनुस्वारस्य०, संयोगे गुरु, गुरोश्च हलः,
कुण्ड् अ टाप् → कुण्डा—अजाद्यतष्टाप्, सु का लोप।
(2) हुण्डा
हुडि → हुण्ड् अ टाप् → हुण्डा सु → हुण्डा (पूर्ववत्)।
(3) शिक्षा
शिक्ष्—संयोगे गुरु, गुरोश्च हलः, स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्,
शिक्षा सु → शिक्षा।
(4) भिक्षा
भिक्ष् अ टाप् → भिक्षा—
भिक्षा सु → भिक्षा।

(253) दीर्घं च *12* (33)

संयोगे इति नानुवर्त्तते। सामान्येन संज्ञाविधानम्। दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञं भवति। ईहाञ्चक्रे। ईक्षाञ्चक्रे (3.1.36)।

अर्थ—'संयोगे' पद की अनुवृत्ति नहीं है। सामान्य रूप से संज्ञा का विधान है।

दीर्घ वर्ण की गुरु संज्ञा होती है।

उदा० (1) ईहाञ्चक्रे
ईह् लिट्—दीर्घश्च, इजादेश्च गुरुमतो०
ईह् आम् लिट्—ईहाम्—आमः, कृञ्चाऽनुप्रयुज्यते०,
ईहाम् कृ लिट् → ईहाम् कृ त—द्विर्वचनेऽचि, द्वित्व आदि,
ईहाम् चक्रे → ईहाञ्चक्रे।
(2) ईक्षाञ्चक्रे
ईक्ष् आम् लिट् → ईक्षाम्—पूर्ववत्,
ईक्षाञ्चक्रे।

(254) यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् *13* (199)

यस्मात्प्रत्ययो विधीयते धातोर्वा प्रातिपदिकाद्वा तदादि शब्दरूपं प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञं भवति। कर्त्ता, हर्त्ता। करिष्यति हरिष्यति। अकरिष्यत् (7.3.84)। औपगवः। कापटवः (7.2.1)। यस्मादिति संज्ञिनिर्देशार्थम्, तदादीतिसम्बन्धात्। प्रत्ययग्रहणं किम्? न्यविशत, व्यक्रीणीत। 'नेर्विशः' (1.3.17) इत्युपसर्गाद्विधिरस्ति, तदादेरङ्गसंज्ञा स्यात्। विधिग्रहणं किम्? प्रत्ययपरत्वमात्रे मा भूत्–स्त्री इयती (म०भा०)। *तदादिवचनं स्यादिनुमर्थम्* (म०भा०)। करिष्यावः, करिष्यामः (7.3.101)। कुण्डानि। पुनः प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्? लुप्तप्रत्यये मा भूत्। श्र्यर्थम्, ध्र्यर्चम् (म०भा०)। अङ्गप्रदेशाः–'अङ्गस्य' (6.4.1) इत्येवमादयः।

अर्थ—जिस प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक) से प्रत्यय का विधान किया जाय, उस प्रत्यय के परे रहते उस प्रकृति का आदि वर्ण है आदि जिसका, उस सम्पूर्ण समुदाय की अंगसंज्ञा होती है।

उदा० (1) कर्त्ता
कृ तृच्—धातुसंज्ञा, 'तृच्' हुआ, 'कृ' प्रकृति से 'तृ' प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। 'तृच्' के परे रहते प्रकृति 'कृ' का आदि वर्ण ककार है आदि 'कृ' समुदाय का। अतः सम्पूर्ण समुदाय (कृ) की अंगसंज्ञा हुई, 'तृच्' की आर्धधातुक संज्ञा, सार्वधातुकार्धधातु० से गुण, सु आदि।
(2) हर्त्ता
हृ तृच्—पूर्ववत् अंगसंज्ञा,
हर्त्ता।
(3) करिष्यति
कृ लृट् → कृ तिप् → कृ स्य ति—पूर्ववत् अंगसंज्ञा,
कृ इट् स्य ति—इट्, गुण,
करिष्यति।
(4) हरिष्यति
हृ स्य ति → हृ इ स्य ति—
हरिष्यति (पूर्ववत्)।
(5) औपगवः
उपगोरपत्यम्—तस्याऽपत्यम्, अण्,
उपगु अण् → उपगो अण् → औपगो अ—गुण, आदिवृद्धि,
औपगवः—सु।
(6) कापटवः (पूर्ववत्)।

यस्मादि—'यस्मात्' इसका ग्रहण संज्ञी के निर्देश के लिए है, 'तदादि' इस सम्बन्ध से।

तदादि० अर्थात् प्रत्यय परे रहते वह प्रकृति है आदि में जिसके, ऐसे समग्र समुदाय की अंगसंज्ञा होती है—

(1) भवामि

भू मिप्—लट्, मिप्, शप्,

भू अ मि—यदि समग्र समुदाय (भव) की अंग संज्ञा नहीं होती तथा केवल प्रकृति की ही अंगसंज्ञा होती तो यहाँ दीर्घ नहीं हो पाता—

भो अ मि → भव मि → भवामि—अतो दीर्घो यञि।

प्रत्यय० अर्थात् **प्रत्यय** परे रहते ही पूर्व समग्र समुदाय की अंगसंज्ञा होती है—

(1) न्यविशत

नि विश्—'नेर्विशः' से आत्मनेपद हुआ। प्रत्यय का विधान न रहने से अंगसंज्ञा नहीं हुई—

नि अट् विश् अ त—अट्, आत्मनेपद,

न्यविशत।

(2) व्यक्रीणीत

वि क्री—'परिव्यवेभ्यः क्रियः' से आत्मनेपद हुआ, अंगसंज्ञा नहीं हुई,

वि अट् क्री श्ना त → व्यक्रीणीत।

विधिग्रह० अर्थात् जिससे परे प्रत्यय का **विधान** हो उससे पूर्व समग्र समुदाय की अंगसंज्ञा होती है—

यह इसलिए कहा गया है कि प्रत्यय के **परे होने मात्र** से अंगसंज्ञा नहीं होती है—

(1) स्त्री इयती

इदं परिमाणमस्याः—इदम् वतुप्—हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०,

इदम् वत् → इदम् घत्—किमिदम्भ्यां वो घः,

इदम् इय—आयनेयीनी०,

ईश् इयत्—इदं किमोरीश्०,

ई इयत् → इ यत्—यस्येति च,

इयती—'उगितश्च' से 'ङीप्'।

यद्यपि यहाँ 'इयत्' प्रत्यय स्त्रीशब्द से परे है, परन्तु उसका विधान नहीं किया गया है। अतः अंगसंज्ञा न हुई।

तदादिवचनं स्यादि नुमर्थम्—सूत्रस्थ 'तदादि' पद का प्रयोजन 'स्य' आदि के लिए तथा 'नुम्' के लिए है—

(1) करिष्याव:

कृ लट् → कृ वस् → कृ स्य वस्—स्यतासी लृलुटोः,

कृ इ स्य वस्—यहाँ 'कृ' से परे 'वस्' प्रत्यय विहित है। 'कृ' स्य तथा इट् के आदि में स्थित है। अतः 'करिष्य' (कृ इट् स्य) इस सम्पूर्ण समुदाय की अंगसंज्ञा हुई,

करिष्यावः—दीर्घ हुआ।

(2) करिष्यामः

कृ मस् → करिष्यामः—पूर्ववत् 'करिष्य' समुदाय की अंग संज्ञा हुई।

(3) कुण्डानि

कुण्ड जस् → कुण्ड शि—जश्शसोः शि,

कुण्ड नुम् इ—नपुंसकस्य झलचः। यदि 'नुम्' को परादि मान लें तो 'सुपि च' से अकार को दीर्घ हो जायेगा। यदि पूर्वान्त मानें तो 'कुण्डन्' शब्द की नान्त उपधा को दीर्घ (सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ) हो जायेगा। वस्तुतः 'नुम्' अभक्त है। प्रस्तुत वार्त्तिक से 'कुण्डन्' की अंगसंज्ञा होकर 'सर्वनामस्थाने०' से दीर्घ हुआ—

कुण्डानि।

पुनः प्रत्यय० अर्थात् सूत्र में **दो बार प्रत्यय ग्रहण** का फल यह है कि प्रत्यय के लुप्त हो जाने की दशा में अंगसंज्ञा नहीं होती है—

(1) श्र्यर्थम्

श्रिय इदम्—श्री ङे अर्थ सु—'चतुर्थीतदर्थार्थबलि०' से समास, 'सुप्' प्रत्यय का लुक्। पुनः प्रत्यय ग्रहण करने से 'ङे' का लोप, 'श्री' की अंगसंज्ञा न हुई। तब 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' की प्रवृत्ति नहीं हुई,

श्री अर्थ—इको यणचि,

श्र्यर्थ सु → श्र्यर्थम्।

(2) भ्र्वर्थम्

भ्रुव इदम् → भ्र्वर्थम् (पूर्ववत्)।

(255) सुप्तिङन्तं पदम् *14* (29)

सुप्तिङिति प्रत्याहारग्रहणम्। सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति। ब्राह्मणाः पचन्ति। पदसंज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधेः प्रतिषेधार्थम् (म० भा०)-गौरी ब्राह्मणितरा। पदप्रदेशाः-'पदस्य' (8.1.16), 'पदात्' (8.1.17) इत्येवमादयः।

अर्थ—'सुप्' तथा 'तिङ्'—ये प्रत्याहार हैं।

सुबन्त (= सुप् अन्त वाला) तथा तिङन्त (= तिङ् अन्त वाला) शब्दों की पदसंज्ञा होती है।

'स्वौजसमौट्०' के द्वारा विहित इक्कीस प्रत्ययों की 'सुप्' संज्ञा है। 'तिप्तस्झिसिप्थस्थमिप्०' के द्वारा विहित 18 प्रत्ययों की 'तिङ्' संज्ञा है। ये प्रत्यय जिसके अन्त में होते हैं, उस समग्र शब्द समुदाय की पदसंज्ञा होती है।

उदा० (1) ब्राह्मणाः

ब्राह्मण जस्—प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा बहुवचन में 'जस्' आया, 'जस्' की 'सुप्' संज्ञा, चुटू,

ब्राह्मण अस् → ब्राह्मणाः—'ब्राह्मणाः' शब्द सुप् (जस्) प्रत्ययान्त है। अतः इसकी पदसंज्ञा हुई।

(2) पचन्ति

पच् झि—धातुसंज्ञा, लट्, प्रथम पुरुष बहुव०,

पच् अ अन्ति—झोऽन्तः, कर्तरि शप्, लशक्वतद्धिते,

पचन्ति—अतो गुणे। 'पचन्ति' शब्द तिङ् (झि) प्रत्ययान्त है। अतः इसकी पदसंज्ञा हुई।

पदसंज्ञा—'सुप्तिङन्तं पदम्' में **अन्त ग्रहण** का प्रयोजन है कि संज्ञा के विधान में प्रत्यय का ग्रहण करने में तदन्त विधि नहीं होती है।[1]

शङ्का है कि 'सुप्तिङ् पदम्' इतना सूत्र बना लेने पर तदन्त विधि होकर सुबन्त व तिङन्त की पदसंज्ञा हो सकती थी। इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र में 'अन्त' पद का ग्रहण ज्ञापित करता है कि संज्ञाविधि में तदन्तविधि नहीं होती है।

(1) गौरी ब्राह्मणितरा

ब्राह्मणितरा—'तरप्तमपौ घः' द्वारा 'तरप्' की 'घ' संज्ञा होती है, तदन्तविधि की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि तदन्त विधि मान लेंगे तो 'ब्राह्मणी' (तरप् प्रत्ययान्त) की 'घ' संज्ञा होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा।

गौरी ब्राह्मणितरा—'घरूपकल्प०' के द्वारा 'ब्राह्मणी' शब्द को ह्रस्व होता है तथा 'गौरी' शब्द को ह्रस्व न हुआ।

(256) नः क्ये *15* (2659)

'क्ये' इति क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्यग्रहणम्। नान्तं शब्दरूपं क्ये परतः पदसंज्ञं भवति। क्यच्-राजीयति। क्यङ्-राजायते। क्यष्-वर्मायति, वर्मायते (8.2.7)। चर्मायति, चर्मायते। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः (का०प० 59)-नान्तमेव क्ये परतः पदसंज्ञं भवति, नान्यत्। वाच्यति। स्रुच्यति (म०भा०)।

अर्थ—क्य के द्वारा क्यच्, क्यङ् व क्यष्—इस प्रकार तीनों का सामान्य रूप से ग्रहण होता है।

नकारान्त शब्द की क्यच्, क्यङ् तथा क्यष् परे रहते पदसंज्ञा होती है।

उदा० (1) राजीयति

आत्मनो राजानम् इच्छति—'सुप आत्मनः क्यच्' से 'क्यच्',

राजन् क्यच्—प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, अब धातुसंज्ञा, प्रकृत सूत्र के द्वारा पदसंज्ञा,

राज य—'नलोपः प्राति०' से नकार का लोप, 'हलन्त्यम्' से चकार की इत्संज्ञा, 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्संज्ञा,

राजीय—क्यचि च,

राजीयति—लट्, तिप्, शप्।

(2) राजायते

राजेवाऽऽचरति—'आचरति' अर्थ में 'क्यङ्',

राजन् क्यङ् → राजन् य—'कर्तुः क्यङ्०'

राज य → राजाय—'नलोपः प्राति०'। 'अकृत् सार्वधा०'

राजायते—'अनुदात्तङित आत्मने०', शप्।

(3) चर्मायति

अचर्म चर्म भवति—'लोहितादिडाज्भ्य०' से 'क्यष्',

चर्मन् क्यष्—पदसंज्ञा,

चर्म य → चर्माय → चर्मायति—'नलोपः प्राति०', 'वा क्यषः' से परस्मैपद का विकल्प, परस्मैपद,

चर्म्मायति—अचो रहाभ्यां द्वे।

(4) चर्म्मायते

पूर्ववत्, आत्मनेपद पक्ष में रूप बना।

सिद्धे—यहाँ पूर्वसूत्र (सुप्तिङन्तं पदम्) के द्वारा पदसंज्ञा सिद्ध ही है। पुनः विधान नियमार्थ है। यह नियमसूत्र है। यह सूत्र नियम करता है कि क्यच् आदि प्रत्ययों के परे रहते नकारान्त शब्द की ही पदसंज्ञा होती है, अन्य शब्द की नहीं। यथा—

(1) वाच्यति

आत्मनो वाचम् इच्छति—'क्यच्' हुआ,

वाच् य—'क्यच्' परे है, परन्तु 'वाच्' शब्द नकारान्त नहीं है। अतः पदसंज्ञा नहीं हुई। तब 'चोः कुः' प्रवृत्त नहीं हुआ—

वाच्यति—लट्, तिप्, शप्।

(2) स्रुच्यति

1. महा० 1.4.14 (वा०) अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधेः प्रतिषेधार्थम्।

विशेष—1. 'नः' यहाँ अकार उच्चारणार्थ है।

2. 'क्ये' के द्वारा 'सञ्ज्ञायां समजनिषद०' (पा० 3.3.99) से विहित 'क्यप्' प्रत्यय का ग्रहण नहीं किया जाता है। कारण कि 'क्यप्' का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।

(257) सिति च *16* (1252)

यचि भमिति (1.4.18) वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः। सिति प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति। 'भवतष्ठक्छसौ'(4.2.115)–भवदीयः (8.2.39)। 'ऊर्णाया युस्' (5.2.123)–ऊर्णायुः। 'ऋतोरण्' (5.1.105) 'छन्दसि घस्' (5.1.106)–ऋत्वियः।

अर्थ—आगे 'यचि भम्' सूत्र का पाठ किया जायेगा। उसी का यह पूर्व अपवाद है।

सित् प्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है।

उदा० (1) भवदीयः

भवत् छस्—'भवतष्ठक्छसौ' से 'छस्', 'छस्' के सकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा, 'छस्' के सित् होने से 'भवत्' की पदसंज्ञा,

भवत् ईय—'आयनेयीनी०' से 'ईय्',

भवदीय सु—झलां जशोऽन्ते—

भवदीयः।

(2) ऊर्णायुः

ऊर्णा युस्—'ऊर्णाया युस्' से 'युस्',

ऊर्णा यु—'युस्' के सित् होने से इसके परे रहते 'ऊर्णा' की पदसंज्ञा (भसंज्ञा के अभाव में अकारलोप भी प्राप्त नहीं होता है)—

ऊर्णायुः—सु।

(3) ऋत्वियः

ऋतु घस्—'छन्दसि घस्' से 'घस्',

ऋतु इय् अ—'घस्' के परे रहते 'ऋतु' की पदसंज्ञा, 'आयनेयीनी०' के द्वारा 'इय्',

ऋत्विय सु—पदसंज्ञा होने से भसंज्ञा प्रसक्त नहीं हुई। तब 'ओर्गुणः' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(258) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने *17* (230)

स्वादिष्विति सुशब्दादेकवचनात् (4.1.2) आरभ्य आ कपः (5.1.151) प्रत्यया गृह्यन्ते। स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः सर्वनामस्थानवर्जितेषु पूर्वं पदसंज्ञं भवति। राजभ्याम्, राजभिः। राजत्वम् (6.4.142), राजता। राजतरः, राजतमः। असर्वनामस्थाने इति किम्? राजानौ, राजानः।

अर्थ—चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सु' (प्रथमा एकव०) से लेकर पञ्चम अध्याय के अन्तिम प्रत्यय 'कप्' तक सब प्रत्ययों को 'स्वादि' कहा गया है। 'स्वौजसमौट्०' (4.1.2) के द्वारा 'सु' तथा 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (5.4.151) के द्वारा 'कप्' का विधान किया गया है।

सूत्रार्थ—सर्वनामस्थान से भिन्न 'सु' आदि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व शब्दसमुदाय की पदसंज्ञा होती है।

'सुडनपुंसकस्य' के द्वारा 'सुट्' (सु, औ, जस्, अम् व औट्) को सर्वनामस्थान कहा जाता है।

उदा० (1) राजभ्याम्

राजन् भ्याम्—प्रातिपदिक संज्ञा, चतुर्थी द्वि० में 'भ्याम्',

राज भ्याम्—पद संज्ञा, नलोपः प्राति०,

राजभ्याम्—'सुपि च' से दीर्घादेश प्राप्त हुआ; परन्तु नकारलोप के असिद्ध होने से निवृत्ति हुई।

(2) राजभिः

राजन् भिस्—तृतीया बहुव०,

राज भिस्—पदसंज्ञा, नकारलोप,

राजभिः।

(3) राजतरः

राजन् तरप्—'तरप्' हुआ,

राजन् तर—'हलन्त्यम्' से 'प्' की इत्,

राज तर—पदसंज्ञा, नकारलोप,

राजतरः—सु।

(4) राजतमः

राजन् तमप् — राजतमः (पूर्ववत्)।

असर्वनाम० अर्थात् सर्वनामस्थान को छोड़कर पदसंज्ञा होती है—

(1) राजानौ

राजन् औ—प्रथमा (अथवा द्वितीया) का द्वि०,

राजान् औ—'औ' सुट् प्रत्यय है। इसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। अतः पदसंज्ञा नहीं हुई। नकार का लोप नहीं हुआ—

राजानौ।

(2) राजानः

राजन् जस्—पूर्ववत्,

राजानः।

(259) यचि भम् *18* (231)

स्वादिष्वसर्वनामस्थान इति वर्तते। पूर्वेण पदसंज्ञायां प्राप्तायां तदपवादो भसंज्ञा विधीयते। यकारादावजादौ च स्वादौ सर्वनामस्थानवर्जिते प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति। यकारादौ–गार्ग्यः, वात्स्यः। अजादौ–दाक्षिः, प्लाक्षिः (6.4.148)। *नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। नभ इव नभस्वत्। अङ्गिरा इव अङ्गिरस्वत्। मनुरिव मनुष्वत्। *वृषण्वस्वश्वयोः* (म० भा०)। वृषन्नित्येतत् वस्वश्वयोः परतो भसञ्ज्ञं भवति छन्दसि विषये। वृषण्वसुः (ऋ० 1.111.1)। वृषणश्वस्य मे नासीत् (मै० 2.5.5)। भप्रदेशाः–'भस्य' (6.4.129) इत्येवमादयः।

अर्थ—'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति है। पूर्व सूत्र के द्वारा पदसंज्ञा प्राप्त होने पर उसका अपवादस्वरूप भसंज्ञा का विधान किया जा रहा है।

सर्वनामसंज्ञक (सु, औ, जस्, अम्, औट्) प्रत्ययों को छोड़कर 'सु' से 'कप्' पर्यन्त यकारादि व अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है।

'यचि' का अर्थ है—(य्) यकारादि तथा (अच्) अजादि प्रत्यय परे रहते।

'स्वादिष्वसर्व०' तथा 'यचि भम्' दोनों सूत्रों का सार इस प्रकार है—

1. सु, औ, जस्, अम् तथा औट्—इन पाँचों प्रत्ययों के परे रहते न तो पदसंज्ञा होती है तथा न ही भसंज्ञा; परन्तु नपुँसकलिंग में इन पाँच प्रत्ययों के परे रहते यथाप्राप्त संज्ञा (पदसंज्ञा या भसंज्ञा) होती है।

2. नपुँसक लिंग में 'सु' परे रहते पदसंज्ञा तथा 'औ', 'अम्' व 'औट्' परे रहते भसंज्ञा होती है।

3. नपुँसक लिंग में 'जश्शसोः शि' के द्वारा 'जस्' के स्थान पर 'शि' होकर 'शि सर्वनामस्थानम्' के द्वारा सर्वनामस्थानसंज्ञक होता है। अतः 'जस्' (नपुँ०) परे रहते न तो पदसंज्ञा होती है तथा न ही भसंज्ञा होती है।

4. अन्यत्र यकारादि व अजादि में भसंज्ञा होती है तथा शेष स्थलों पर पदसंज्ञा होती है।

5. षष्ठी बहुव० में 'आम्' परे रहते भसंज्ञा तथा 'नाम्' व 'साम्' (नुट्-सुट् सहित आम्) परे रहते पदसंज्ञा होती है।

उदा० (1) गार्ग्यः

गर्ग यञ्—'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्',

गर्ग य → गार्ग य—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि,

गार्ग् य—भसंज्ञा, अकारलोप,

गार्ग्यः—सु।

(2) वात्स्यः

पूर्ववत् भसंज्ञा व अकारलोप।

(3) दाक्षिः

दक्षस्याऽपत्यम्—तस्याऽपत्यम्, अत इञ्,

दक्ष इञ् → द क्ष इ → दाक्ष इ—आदिवृद्धि,

दाक्ष् इ → भसंज्ञा, अकारलोप,

दाक्षि सु → दाक्षिः।

(4) प्लाक्षिः (पूर्ववत्)।

नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसङ्ख्यानम् (वा०)—नभस्, अङ्गिरस् तथा मनुस् शब्दों की 'वत्' प्रत्यय परे रहते भसंज्ञा होती है—

(1) नभस्वत्

नभ इव → नभस् वति → नभस् वत्—भसंज्ञा हुई, पदसंज्ञा न होने से रुत्व तथा विसर्ग नहीं हुए,

नभस्वत्।

(2) अङ्गिरस्वत्

पूर्ववत् भसंज्ञा।

(3) मनुष्वत्

पूर्ववत्।

वृषण्वस्वश्वयोः (वा०)—वेद के विषय में 'वृषन्' शब्द की 'वसु' तथा 'अश्व' शब्द परे रहते भसंज्ञा होती है—

(1) वृषण्वसु (ऋ० 1.111.1)

वृषन् वसु—भसंज्ञा हुई। पदसंज्ञा न होने से नकारलोप नहीं हुआ, 'पदान्तस्य' की प्रवृत्ति भी नहीं हुई—

वृषण्वसुः—सु।

(2) वृषणश्वस्य मेने

पूर्ववत् भसंज्ञा हुई।

(260) तसौ मत्वर्थे *19* (1896)

भमिति वर्तते। तकारान्तं सकारान्तं शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतो भसंज्ञं भवति। उदश्वित्वान् घोषः। विद्युत्वान् बलाहकः। सकारान्तम्–यशस्वी, पयस्वी। तसाविति किम्? तक्षवान् ग्रामः।

अर्थ—'भम्' की अनुवृत्ति है।

तकारान्त और सकारान्त शब्दों की भसंज्ञा होती है, मत्वर्थ प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) उदश्वित्वान् घोषः

उदश्वित् सु—प्रातिपदिक संज्ञा,

उदश्वित् सु मतुप्—'तदस्यास्त्य०' से 'मतुप्',

उदश्वित् मतुप्—सुप् का लुक्,

उदश्वित् वतुप्—'झयः', भसंज्ञा हुई। पदसंज्ञा न होने से 'झलां जशोऽन्ते' की प्रवृत्ति नहीं हुई,

अत्वसन्तस्य०, उगिदचां सर्वनाम०, हल्ङ्याब्भ्यो०, संयोगान्तस्य लोपः।

उदश्वित् वत् सु → उदश्वित्वान्।

(2) विद्युत्वान् बलाहकः

विद्युत् वत्—पूर्ववत्,

विद्युत्वन् त् स्—सु, नुम्,

विद्युत्वान् त् स् → विद्युत्वान् त् → विद्युत्वान्।

(3) यशस्वी

यशस् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु—

यशस् सु विनि—'अस्मायामेधा०' से 'विनि',

यशस् विनि → यशस्विन्—भसंज्ञा हुई,

यशस्विन् सु → यशस्वीन् स्—'सौ च'—

यशस्वीन् — यशस्वी—हल्ङ्याब्भ्यो०, नलोपः प्राति०।

(4) पयस्वी

पयस् विन्—पूर्ववत् भसंज्ञा।

तसौ अर्थात् **तकारान्त** और **सकारान्त** शब्दरूप की भसंज्ञा होती है—

(1) तक्षवान् ग्रामः

तक्षन् मतुप् → तक्षन् मत्—मत्वर्थक 'मतुप्' प्रत्यय परे है, परन्तु 'तक्षन्' शब्द न तो तकारान्त है तथा न ही सकारान्त है। अतः भसंज्ञा नहीं हुई। पदसंज्ञा हुई—

तक्षवत्—नलोपः प्राति०,

तक्षवत् सु—तक्षवान्।

मत्वर्थे अर्थात् **मत्वर्थक** प्रत्यय परे रहते तकारान्त व सकारान्त शब्दों की भसंज्ञा होती है—

(1) यशस्वी

भसंज्ञा हुई।

(2) पयस्वी

भसंज्ञा हुई।

(261) अयस्मयादीनि च्छन्दसि *2·0*

(3390)

अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये साधूनि भवन्ति। भपदसंज्ञाधिकारे विधानात्तेन मुखेन साधुत्वमयस्मयादीनां विधीयते। अयस्मयं वर्म (तै० 1.37.5)। अयस्मयानि पात्राणि (कौ०सू० 81.18)। क्वचिदुभयमपि भवति–स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेनं (ऋ० 4.50.2)। पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति। छन्दसीति किम्? अयोमयं वर्म। आकृतिगणोऽयम्।

अर्थ—वेद में 'अयस्मय' इत्यादि शब्द साधु होते हैं। 'भ' तथा 'पद' संज्ञा के अधिकार में विधान किए जाने से इनकी साधुता का विधान किया जाता है।

उदा० (1) अयस्मयं वर्म (यजु० 12.63)

अयस् ङस् मयट्—'द्व्यचश्छन्दसि'[1] से 'मयट्', सुप् का लुक्, भसंज्ञा,

अयस् मय सु → अयस्मयम्।

(2) अयस्मयानि पात्राणि

अयस्मय—पूर्ववत्,

अयस्मय जस् → अयस्मयानि।

कई स्थलों पर दोनों संज्ञाएँ भी होती हैं—

(1) ऋक्वता (ऋ० 4.50.5)

ऋच् मतुप्—'मतुप्' हुआ, वकार हुआ,

ऋच् वत्—अनुबन्धलोप, पदसंज्ञा हुई, 'चोः कुः' से कुत्व,

ऋक्वत् टा—तृ० एकव०, अब 'झलां जशोऽन्ते' से 'जश्त्व' की प्राप्ति, भसंज्ञा होकर जश्त्व की निवृत्ति,

ऋक्वता।

छन्दसी० अर्थात् **वेद के विषय** में ही 'अयस्मय' आदि शब्द साधु होते हैं—

(1) अयोमयम्

अयस् मयट्—लोक में भसंज्ञा न हुई, पदसंज्ञा हुई, रुत्व तथा विसर्ग,

1. न्यासकार ने यहाँ 'मयड्वैतयोः' (पा० 4.3.143) के द्वारा 'मयट्' स्वीकार किया है—द्र०—न्यास० 1.4.20.

अयोमय सु → अयोमयम्।

(262) बहुषु बहुवचनम् *21* (187)

ङ्याप्रातिपदिकात्स्वादयः, लस्य तिबादय इति सामान्येन बहुवचनं विहितम्, तस्यानेन बहुत्वसंख्यावाच्यत्वेन विधीयते। बहुषु बहुवचनं भवति। बहुत्वमस्य वाच्यं भवतीति यावत्। कर्मादयोऽप्यपरे विभक्तीनामर्था वाच्यास्तदीये बहुत्वे बहुवचनम्, कर्मादिषु बहुषु बहुवचनमित्यर्थः। ब्राह्मणाः पठन्ति। यत्र च संख्या सम्भवति, तत्रायमुपदेशः। अव्ययेभ्यस्तु निःसङ्ख्येभ्यः सामान्यविहिताः स्वादयो विद्यन्त एव।

अर्थ—'ङ्याप्रातिपदिकात्' से 'स्वादि' तथा 'लस्य' से तिबादि का इस प्रकार सामान्य रूप से बहुवचन का विधान किया गया है। उस बहुवचन के वाच्य के रूप में यहाँ बहुत्व संख्या का विधान किया जाता है।

सूत्रार्थ—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन का प्रत्यय होता है। जहाँ बहुवचन का वाच्य बहुत्व हो, वहाँ बहुवचन होता है। कर्म आदि भी विभक्तियों के वाच्य अर्थ होते हैं। कर्म आदिगत बहुत्व ही बहुवचन का वाच्य होता है, केवल प्रातिपदिकार्थगत बहुत्व नहीं। अतः कर्म आदि में बहुवचन होता है।

उदा० (1) ब्राह्मणाः पठन्ति

यहाँ बहुत्व की विवक्षा है। अतः बहुवचन का प्रत्यय (जस्) हुआ।

'ब्राह्मण' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा (अर्थवदधातुर०) होकर उससे 'सुप्' (इक्कीस प्रत्ययों) की उत्पत्ति हुई (ङ्याप्रातिपदिकात्। प्रत्ययः। परश्च। स्वौजसमौट्०)।

'सुपः' से तीन-तीन की प्रथमादि संज्ञा हुई। तब 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचन०' से प्रथमा हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन (जस्) प्रत्यय हुआ। ब्राह्मण जस्—'हलन्त्यम्' व 'चुटू' से इत्संज्ञा हुई। ब्राह्मण अस्—अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ प्राप्त हुआ, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ। ब्राह्मणा स्—पदसंज्ञा, रुत्व तथा विसर्ग हुआ (सुप्तिङन्तं पदम्। ससजुषो रुः। खरवसानयोर्विसर्जनीयः। विरामोऽवसानम्)।

पठ्—'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, 'धातोः' के अधिकार में 'लः कर्मणि च भावे चाऽक०' से कर्तृवाच्य में लकार आया। प्रत्ययः, परश्च का अधिकार है। 'वर्त्तमाने लट्' से वर्त्तमान की विवक्षा में 'लट्' हुआ—

पठ् लट् → पठ ल्—हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०, 'लस्य' के अधिकार में 'तिप्तस्झिसिप्०' से 18 प्रत्यय हुए, 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद संज्ञक नौ (तिप्—मस् तक) प्रत्यय हुए, अब तिङस्त्रीणि त्रीणि० से तीन-तीन की प्रथम आदि संज्ञा हुई तथा 'तान्येकवचन०' से प्रत्येक त्रिक के प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन आदि संज्ञाएँ हुईं। अब 'शेषे प्रथमः' से प्रथम पुरुषसंज्ञक तीन प्रत्यय (तिप्, तस्, झि) हुए। प्रकृत सूत्र से बहुवचन की विवक्षा में 'झि' हुआ—

पठ् झि—'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा, 'कर्त्तरि शप्' से 'शप्'—

पठ् शप् झि—झोऽन्तः,

पठ अन्ति → पठन्ति—अतो गुणे।

यत्र च—जहाँ पर संख्या सम्भव है, वह ही इस सूत्र का विषय है। संख्यारहित अव्ययों से तो सामान्य रूप में विहित स्वादि रहते ही हैं।

(263) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने *22* (186)

द्वित्वैकत्वयोरर्थयोर्द्विवचनैकवचने भवतः। एतदपि सामान्यविहितयोर्द्विवचनैकवचनयोरर्थाभिधानम्। द्वित्वे द्विवचनं भवति, एकत्वे एकवचनं भवति। ब्राह्मणौ पचतः। ब्राह्मणः पचति।

अर्थ—दो तथा एक की विवक्षा में क्रमशः द्विवचन और एकवचनसंज्ञक प्रत्यय होते हैं।

यह भी सामान्य रूप से विहित द्विवचन और एकवचन के अर्थ को बताया गया है। द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन तथा एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है।

उदा० (1) ब्राह्मणौ पचतः

ब्राह्मण औ—पूर्ववत् प्रथमा हुई, द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन प्रत्यय (औ) हुआ,

ब्राह्मणौ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ, 'नादिचि' से निषेध, 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हुई—

ब्राह्मणौ।

(2) पचतः

पच् तस्—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचनसंज्ञक प्रत्यय (तस्) हुआ, शप्,

पच् अ तस् → पचतः।

(3) ब्राह्मणः

ब्राह्मण सु—एकत्व की विवक्षा में एकवचनसंज्ञक प्रत्यय (सु) हुआ,

ब्राह्मणः—रुत्व, विसर्ग।

(4) पचति

पच् तिप्—एकत्व की विवक्षा में 'तिप्' हुआ—

पचति—हलन्त्यम्, कर्त्तरि शप्।

(264) कारके *23* (534)

कारके इति विशेषणमपादानादिसंज्ञाविषयमधिक्रियते। कारके इत्यधिकारो वेदितव्यः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः 'कारके' इत्येवं तद्वेदितव्यम्। कारकशब्दश्च निमित्त-पर्यायः। कारकं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। कस्य हेतुः? क्रियायाः। वक्ष्यति-'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (1.4.24)-ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। कारक इति किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति। कुड्यस्य पिण्डः पतति। 'अकथितं च' (1.4.51)-अकथितं च कारकं कर्मसंज्ञं भवति। माणवकं पन्थानं पृच्छति। कारके इति किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। कारकसंशब्दनेषु चाऽनेनैव विशेष-णेन व्यवहारो विज्ञायते।

अर्थ—अपादान आदि संज्ञाओं के विषय में 'कारके' इस विशेषण का अधिकार है। 'कारके'—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। यहाँ से आगे जो-जो सूत्र कहे जायेंगे उनमें 'कारके' इस प्रकार सम्बन्ध जानना चाहिए।

भाव यह है कि 'कारके' यह आगे कहे जाने वाले अपादानादि का विशेषण है, संज्ञा नहीं। संज्ञा का निर्देश प्रथमा विभक्ति के द्वारा होता है; 'कारके' में सप्तमी विभक्ति है।

कारकशब्दश्च—'कारक' शब्द निमित्त का वाचक है। 'कारक' और 'हेतु' इन दोनों का अर्थ एक ही है। हेतु किसका? क्रिया का। आगे कहा जायेगा—'ध्रुवमपायेऽपादानम्'। ग्रामाद् आगच्छति (= गाँव से आता है)। पर्वताद् अवरोहति (= पर्वत से नीचे आता है। 'कारके' इसलिए कहा है कि निम्नलिखित में न हो—

1. वृक्षस्य पर्णं पतति—पतनरूप क्रिया 'पर्ण' में है तथा 'पर्ण' व 'वृक्ष' के मध्य अवयवाऽवयवी सम्बन्ध है। अतः कारक संज्ञा न हुई। इसी प्रकार—कुड्यस्य पिण्डः पतति।

भाव यह है कि करोतीति कारकः (> कृ ण्वुल्) इस प्रकार 'कारक' शब्द कर्त्ता का पर्याय है। 'कारके' में 'कारक' शब्द कर्त्ता का पर्याय नहीं कहा जा सकता। कारण कि, अपादान आदि कारक क्रिया की सिद्धि में अस्वतन्त्र हैं। अतः अपादान आदि के साथ 'कारक' शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। यदि अपादान आदि को भी स्वतन्त्र मानेंगे तो इनकी भी 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' से कर्त्ता संज्ञा होने लगेगी। अतः कहा है कि 'कारक' निमित्त का पर्याय है, कर्त्ता का नहीं।

क्रिया का करने वाला और क्रिया का निमित्त दोनों का एक ही अर्थ (कारक) है। 'ग्रामादागच्छति' में 'आगमन' क्रिया का निमित्त 'ग्राम' तथा 'पर्वतादवरोहति' में 'अवरोहण' क्रिया का निर्मित्त 'पर्वत' है। अतः इनकी अपादान संज्ञा होती है।

'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' पतनरूप क्रिया का निमित्त नहीं है। अतः 'वृक्ष' की अपादान संज्ञा नहीं हुई।

अकथितं च—अकथित कारक की कर्मसंज्ञा होती है। 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' में पृच्छारूप क्रिया का निमित्त 'माणवक' है। अतः इसकी कर्मसंज्ञा हुई। 'कारके' अर्थात् **कारक** में इसलिए कहा गया ताकि 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' में 'माणवक' की कर्मसंज्ञा न हो। यहाँ 'माणवक' क्रिया का निमित्त नहीं है। कारक शब्द का प्रयोग होने पर इस कारकरूप विशेषण से ही व्यवहार जाना जाता है।

(265) ध्रुवमपायेऽपादानम् *24* (586)

ध्रुवं यदपाययुक्तमपाये साध्ये यदवधिभूतं तत्कारकम-पादानसंज्ञं भवति। ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। सार्थाद्धीनः। रथात्पतितः। *जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामु-पसंख्यानम्* (म०भा०)। अधर्माज्जुगुप्सते। अधर्म्माद्वि-रमति। धर्मात्प्रमाद्यति। अपादानप्रदेशाः-'अपादाने पञ्चमी' (2.3.28) इत्येवमादयः।

अर्थ—अपाय (अर्थात् पृथक्ता) सिद्ध होने पर अवधिभूत (अर्थात् अचल) की अपादान संज्ञा होती है।

भाव यह है कि जहाँ दो पदार्थों में पृथक्ता रूप क्रिया हो, तो वहाँ उनमें जो अचल हो, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

उदा० (1) ग्रामाद् आगच्छति

'ग्राम' से वियोग क्रिया सम्पन्न हो रही है। 'ग्राम' अचल है। इसकी अपादान संज्ञा हुई। अपादान में पञ्चमी हुई।

(2) पर्वताद् अवरोहति

पूर्ववत् 'पर्वत' की अपादान संज्ञा हुई।

(3) सार्थाद् हीनः (पूर्ववत्)।

(4) रथात् पतितः (पूर्ववत्)।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम् (वा०)—जुगुप्सा

(= छिपने की इच्छा), विराम तथा प्रमाद (= आलस्य) अर्थ वाली धातुओं के योग में अपादान संज्ञा होती है—

(1) अधर्माज्जुगुप्सते
'जुगुप्सा' अर्थ है। अपादान संज्ञा हुई।
(2) अधर्माद् विरमति
'विराम' अर्थ है। 'अधर्म' की अपादान संज्ञा हुई।
(3) धर्मात् प्रमाद्यति
'प्रमाद' अर्थ है। 'धर्म' की अपादान संज्ञा हुई।
सर्वत्र अपादान में पञ्चमी हुई है।

(266) भीत्रार्थानां भयहेतुः *25* (588)

बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयहेतुर्यस्तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। चौरेभ्यो बिभेति। चौरेभ्य उद्विजते। त्रायत्यर्थानाम्–चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति। भयहेतुरिति किम्? अरण्ये बिभेति, अरण्ये त्रायते।

अर्थ—भयार्थक व रक्षार्थक धातुओं के योग में जो भय का हेतु होता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

'ञिभी भये' (जु० 2) तथा 'ओविजी भयचलनयोः' (तुदा० 9) धातु भयार्थक हैं। 'रक्ष पालने' (भ्वा० 440) तथा 'त्रैङ् पालने' (भ्वा० 692) धातु रक्षणार्थक हैं। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा इन चार धातुओं का ही ग्रहण होता है।

उदा० (1) चौरेभ्यो बिभेति
'भी' धातु भयार्थक है। 'चौर' भय का हेतु है। 'चौर' शब्द की अपादान संज्ञा हुई। तब पञ्चमी हुई।

(2) चौरेभ्य उद्विजते
पूर्ववत् अपादान संज्ञा हुई।
(3) चौरेभ्यस्त्रायते
'त्रै' रक्षणार्थक धातु है। इसके योग में 'चौर' शब्द की अपादान संज्ञा हुई।
(4) चौरेभ्यो रक्षति
पूर्ववत् 'चौर' शब्द की अपादान संज्ञा हुई।

भयहेतु० अर्थात् भय के हेतु की अपादान संज्ञा होती है—

(1) अरण्ये बिभेति
यहाँ भयार्थक 'भी' धातु है। परन्तु 'अरण्य' भी धातु का कारण न होकर आधार है। अतः अपादान संज्ञा नहीं हुई।
(2) अरण्ये त्रायते
पूर्ववत् अपादान संज्ञा नहीं हुई।

(267) पराजेरसोढः *26* (589)

परापूर्वस्य जयतेः प्रयोगे असोढो योऽर्थः सोढुं न शक्यते, तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। अध्ययनात्पराजयते। असोढ इति किम्? शत्रून् पराजयते।

अर्थ—'परा' पूर्वक 'जि' धातु का अर्थ 'असोढ' होता है।

परापूर्वक 'जि' धातु के योग में जो सहन न किया जा सकता, ऐसे शब्द की अपादान संज्ञा होती है। यहाँ 'जि त्रि अभिभवे' धातु का ग्रहण है।

उदा० (1) अध्ययनात् पराजयते
यहाँ परापूर्वक 'जि' धातु का योग है। 'असोढ' अर्थ इष्ट है। 'अध्ययन' की अपादान संज्ञा हुई।

असोढ० अर्थात् जो सहन न किया जा सकता, ऐसे शब्द की अपादान संज्ञा होती है—

(1) शत्रून् पराजयते
यहाँ परापूर्वक 'जि' धातु का योग है। परन्तु 'शत्रु' असोढ नहीं है। अतः इसकी अपादान संज्ञा नहीं हुई।

(268) वारणार्थानामीप्सितः *27* (590)

वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे य ईप्सितोऽर्थस्तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। प्रवृत्तिविघातः वारणम्। यवेभ्यो गां वारयति। यवेभ्यो गां निवर्त्तयति। ईप्सित इति किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

अर्थ—वारण (= रोकना) अर्थ वाले धातु के योग में इष्ट पदार्थ की अपादान संज्ञा होती है।

सार यह है कि वारणार्थक धातु के योग में जिससे रोकना अभीष्ट हो, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

(1) यवेभ्यो गां वारयति
यहाँ वारणार्थक धातु का योग है। 'गो' को वारित किया जा रहा है। 'यवक्षेत्र' यहाँ इष्ट है, जिससे 'गो' को वारित किया जा रहा है। 'यव' की अपादान संज्ञा हुई।

ईप्सित० अर्थात् जो इष्ट है उसकी अपादान संज्ञा होती है—

(1) क्षेत्रे यवेभ्यो गां वारयति
वारणार्थक धातु का योग है। 'गो' वारित किया जा रहा है। 'यव' इष्ट पदार्थ है। 'क्षेत्र' इष्ट नहीं है, आधार है। अतः अपादान संज्ञा नहीं हुई।

(269) अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति *28* (591)

व्यवधानम् अन्तर्द्धिः। अन्तर्द्धिनिमित्तं येनादर्शनमात्मन इच्छति तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते। उपाध्यायान्निलीयते। मा मामुपाध्यायो द्राक्षीदिति निलीयते। अन्तर्द्धाविति किम्? चौरान्न दिदृक्षते। इच्छतिग्रहणं किम्? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्।

अर्थ—अन्तर्द्धौ = व्यवधान। इसमें निमित्त सप्तमी है।

व्यवधान के होने पर छिपने वाला जिससे छिपता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

उदा० (1) उपाध्यायाद् अन्तर्द्धत्ते
यहाँ 'उपाध्याय' से छिपा जाता है। अतः 'उपाध्याय' की अपादान संज्ञा हुई।

अन्तर्द्धा० अर्थात् व्यवधान होने पर **जिससे छिपा जाय** उसकी अपादान संज्ञा होती है—

(1) चौरान्न दिदृक्षते
यहाँ 'छिपना' अर्थ नहीं है। अतः 'चौर' की अपादान संज्ञा नहीं हुई।

इच्छति० अर्थात् **जिससे छिपना चाहता है**, उसकी अपादान संज्ञा होती है—

तब अदर्शन की इच्छा होने पर दिखाई पड़ने पर भी अपादान संज्ञा हो जायेगी।

(270) आख्यातोपयोगे *29* (592)

आख्याता प्रतिपादयिता। उपयोगो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्। उपयोगे साध्ये य आख्याता तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। उपाध्यायादधीते। उपाध्यायादागमयति। उपयोग इति किम्? नटस्य गाथां शृणोति (म०भा०)।

अर्थ—आख्याता = व्याख्याता, उपाध्याय। उपयोग = नियमपूर्वक विद्या का ग्रहण।

नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में उपाध्याय की अपादान संज्ञा होती है।

उदा० (1) उपाध्यायाद् अधीते
यहाँ 'उपाध्याय' की अपादान संज्ञा हुई। पञ्चमी विभक्ति हो गई है।

(2) उपाध्यायाद् आगमयति (पूर्ववत्)।

उपयोगे अर्थात् **नियमपूर्वक विद्या ग्रहण** करने में ही उपाध्याय की अपादान संज्ञा होती है—

(1) नटस्य गाथां शृणोति
यहाँ नियमपूर्वक विद्या ग्रहण नहीं है। अतः 'नट' की अपादान संज्ञा नहीं हुई। सम्बन्धलक्षणा षष्ठी हुई है।

(271) जनिकर्त्तुः प्रकृतिः *30* (593)

जनेः कर्त्ता जनिकर्त्ता। जन्यर्थस्य जन्मनः कर्त्ता जायमानः, तस्य या प्रकृतिः कारणं हेतुः तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति। शृङ्गाच्छरो जायते। गोमयाद्-वृश्चिको जायते (म०भा०)।

अर्थ—जन्म के कर्त्ता को 'जनिकर्त्ता' कहते हैं। प्रकृति = कारण।

जन्म के कर्त्ता की प्रकृति की अपादान संज्ञा होती है।

उदा० (1) शृङ्गाच्छरो जायते
यहाँ 'शृङ्ग' 'शर' का कारण है। अतः 'शृङ्ग' की अपादान संज्ञा हो गई।

(2) गोमयाद् वृश्चिको जायते
'गोमय' की अपादान संज्ञा हो गई।

प्रकृतिः अर्थात् **प्रकृति** की अपादान संज्ञा होती है। किसी भी कार्य के दो कारण होते हैं—

(क) उपादान,

(ख) निमित्त।

प्रकृत सूत्र से दोनों प्रकार के कारणों की अपादान संज्ञा होती है। यथा—

(1) पुत्राद् आनन्दो जायते
'पुत्र' 'आनन्द' का उपादान कारण है। अतः 'पुत्र' की अपादान संज्ञा हुई।

(272) भुवः प्रभवः *31* (594)

कर्त्तुरिति वर्त्तते। भवनं भूः। भवत्यस्मादिति प्रभवः। भूकर्त्तुः प्रभवो यस्तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। हिमवतो गङ्गा प्रभवति (म०भा०)। काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति। प्रथमत उपलभ्यत इत्यर्थः।

अर्थ—'कर्त्तुः' पद की अनुवृत्ति है। जिससे होता है, उसे 'प्रभव' कहते हैं। 'भू' धातु के कर्त्ता के उत्पत्तिस्थान की अपादान संज्ञा होती है।

उदा० (1) हिमवतो गङ्गा प्रभवति

'गङ्गा' नदी का प्रभव 'हिमवान्' है। अतः 'हिमवान्' की अपादान संज्ञा हुई।

(2) काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति

पूर्ववत् 'काश्मीर' की अपादान संज्ञा हुई।

(273) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् *32* (569)

कर्मणा करणभूतेन कर्त्ता यमभिप्रैति तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानाद्ददातिकर्मणेति विज्ञायते। उपाध्यायाय गां ददाति (म०भा०)। माणवकाय भिक्षां ददाति। *क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्* (म०भा०)। क्रिययापि यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्। श्राद्धाय निगर्हते। युद्धाय सन्नह्यते। पत्ये शेते (म०भा०)। सम्प्रदानप्रदेशाः– 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (2.3.13) इत्येवमादयः। *कर्मणः करणसंज्ञा वक्तव्या सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा* (म०भा०)। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः (म०भा०)।

अर्थ—दान क्रिया के कर्म के द्वारा कर्त्ता जिसे अधिक लक्षित करता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं।

कर्म शब्द क्रिया की अपेक्षा रखता है। तब 'सम्प्रदान' संज्ञा (सम्यग् दीयते प्रकर्षेणाऽस्मै इति) अन्वर्थ होने से 'दान क्रिया के कर्म के द्वारा' ऐसा अर्थ उपलब्ध होता है।

उदा० (1) उपाध्यायाय गां ददाति

दान क्रिया के कर्म 'गो' के द्वारा कर्त्ता (शिष्य) सर्वाधिक 'उपाध्याय' को लक्षित कर रहा है। अतः 'उपाध्याय' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

(2) माणवकाय भिक्षां ददाति

पूर्ववत् 'माणवक' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम् (वा०)—अर्थात् यहाँ क्रिया का भी ग्रहण करना चाहिए।

क्रियया यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (वा०)—अर्थात् क्रिया के द्वारा कर्त्ता जिसे लक्षित करता है, उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है—

(1) श्राद्धाय निगर्हते

यहाँ निगर्हणरूप क्रिया के द्वारा कर्त्ता 'श्राद्ध' को लक्षित करता है। अतः 'श्राद्ध' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

(2) युद्धाय सन्नह्यते

पूर्ववत् 'युद्ध' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

(3) पत्ये शेते

शयनरूप क्रिया के द्वारा कर्त्ता (पत्नी) 'पति' को लक्षित करता है। अतः 'पति' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

पूर्वोक्त वार्त्तिकों का सार यह है कि जिसे कोई वस्तु दे, केवल उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती, अपितु जिस व्यक्ति या वस्तु के उद्देश्य से जिसके लिए कर्त्ता कोई कार्य करना चाहता है, उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

कर्मणः करणसञ्ज्ञा वक्तव्या सम्प्रदानस्य च कर्मसञ्ज्ञा (वा०)—कर्म की करणसंज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्मसंज्ञा कहनी चाहिए। यथा—

(1) पशुना रुद्रं यज (अर्थात् पशुं रुद्राय यजते)

यहाँ कर्म के स्थान पर करणसंज्ञा (पशुना) हुई तथा सम्प्रदान के स्थान पर कर्मसंज्ञा (रुद्रम्) हुई।

(274) रुच्यर्थानां प्रीयमाणः *33* (571)

रुचिना समानार्थाः रुच्यर्थाः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणो योऽर्थस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। देवदत्ताय रोचते मोदकः। यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूपः। देवदत्तस्थस्याभिलाषस्य मोदकः कर्त्ता। प्रीयमाण इति किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

अर्थ—रुच्यर्थ = रुचि के समानार्थ।

अभिलाषा अर्थ वाले धातुओं के योग में जिसे वह वस्तु प्रिय हो, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' (भ्वा० 498) तथा 'स्वद आस्वादने' (भ्वा० 23)—ये दो धातु अभिलाषा अर्थ वाले हैं। इनका ही यहाँ ग्रहण होता है।

उदा० (1) देवदत्ताय रोचते मोदकः

यहाँ अभिलाषा अर्थ वाला 'रुच्' धातु है। देवदत्त को मोदक प्रिय है। 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा हुई।

(2) देवदत्ताय स्वदतेऽपूपः

पूर्ववत् 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

प्रीयमाणः अर्थात् जिसे कोई वस्तु प्रिय होती है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है—

(1) देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि

यथा 'पथिन्' शब्द की सम्प्रदानसंज्ञा नहीं हुई। 'पथिन्' यहाँ कर्म न होकर आधार है। अतः सप्तमी हुई।

(275) श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः *34* (572)

श्लाघ, ह्नुङ्, स्था, शप–इत्येतेषां ज्ञीप्स्यमानो योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। ज्ञीप्स्यमानो ज्ञपयितुमिष्यमाणो बोधयितुमभिप्रेतः। देवदत्ताय श्लाघते। देवदत्तं श्लाघमानस्तां श्लाघां तमेव ज्ञपयितुमिच्छतीत्यर्थः। एवम्–देवदत्ताय ह्नुते, यज्ञदत्ताय ह्नुते। देवदत्ताय तिष्ठते, यज्ञदत्ताय तिष्ठते। देवदत्ताय शपते, यज्ञदत्ताय शपते। ज्ञीप्स्यमान इति किम्? देवदत्तः श्लाघते।

अर्थ—श्लाघ्, ह्नु, स्था तथा शप् धातुओं के योग में जो जनाये जाने की इच्छा वाला है, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है। ज्ञीप्स्यमानः = जो जनाये जाने की इच्छा वाला है।

उदा० (1) देवदत्ताय श्लाघते
'श्लाघ्' धातु है। 'देवदत्त' ज्ञीप्स्यमान है। 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई। तब चतुर्थी विभक्ति हुई।

(2) देवदत्ताय ह्नुते
पूर्ववत् 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(3) देवदत्ताय तिष्ठते (पूर्ववत्)।

(4) देवदत्ताय शपते (पूर्ववत्)।

ज्ञीप्स्यमान० अर्थात् **जो जनाये** जाने की **इच्छा** वाला हो, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है—

(1) देवदत्तः श्लाघते
यहाँ 'देवदत्त' ज्ञीप्स्यमान नहीं है। अतः सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई।

(276) धारेरुत्तमर्णः *35* (573)

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णो योऽर्थः तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। उत्तममृणं यस्य स उत्तमर्णः। कस्य चोत्तममृणम्? यदीयं धनम्। धनस्वामी प्रयोक्ता उत्तमर्णः, स सम्प्रदानसंज्ञो भवति। देवदत्ताय शतं धारयति। यज्ञदत्ताय शतं धारयति। उत्तमर्ण इति किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

अर्थ—धारि (धृ णिच्)—इस णिजन्त धातु के योग में उत्तमर्ण की सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

ऋण देने वाले को 'उत्तमर्ण' कहते हैं। जिसके पास धन होता है, धन का स्वामी 'उत्तमर्ण' कहलाता है।

उदा० (1) देवदत्ताय शतं धारयति
यहाँ 'देवदत्त' उत्तमर्ण है। 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) यज्ञदत्ताय शतं धारयति (पूर्ववत्)।

उत्तमर्ण० अर्थात् **उत्तमर्ण** की सम्प्रदानसंज्ञा होती है—

(1) देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे
'ग्राम' शब्द उत्तमर्ण नहीं है। अतः 'ग्राम' शब्द की सम्प्रदानसंज्ञा नहीं हुई।

(277) स्पृहेरीप्सितः *36* (574)

स्पृह ईप्सायां (धा०पा० 1872) चुरादावदन्तः पठ्यते, तस्य ईप्सितो योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। ईप्सित इत्यभिप्रेत उच्यते। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। फलेभ्यः स्पृहयति। ईप्सित इति किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति।

अर्थ—'स्पृह ईप्सायाम्' (धा० पा० 1872) चुरादिगण में अदन्त पठित है।

'स्पृह्' धातु के योग में ईप्सित (= अभीष्ट) की सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

उदा० (1) पुष्पेभ्यः स्पृहयति
'पुष्प' ईप्सित है। अतः 'पुष्प' शब्द की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) फलेभ्यः स्पृहयति
पूर्ववत् 'फल' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

ईप्सित० अर्थात् **अभीष्ट वस्तु** की सम्प्रदानसंज्ञा होती है—

(1) पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति
'वन' अभीष्ट पदार्थ नहीं है। अतः 'वन' शब्द की सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई।

विशेष—यहाँ ध्यातव्य है कि 'ईप्सित' की सम्प्रदानसंज्ञा होती है तथा ईप्सिततम की (परत्व के कारण) कर्मसंज्ञा होती है। यथा—फलानि स्पृहयति।
यहाँ 'फल' शब्द की कर्मसंज्ञा हुई।

(278) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः *37* (575)

अमर्षः क्रोधः, अपकारः द्रोहः, अक्षमा ईर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। क्रोधस्तावत्कोप एव, द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते। तस्मात्सामान्येन विशेषणं यं प्रति कोप इति। देवदत्ताय क्रुध्यति। देवदत्ताय द्रुह्यति। देवदत्तायेर्ष्यति। देवदत्तायासूयति। यं प्रति कोप इति

किम्? भार्यामीर्ष्यति, मा एनामन्यो द्राक्षीदिति।

अर्थ—'अमर्ष' का अर्थ है—क्रोध। 'अपकार' का अर्थ है—द्रोह। 'अक्षमा' का अर्थ है—ईर्ष्या। 'असूया' का अर्थ है—गुणों में दोषान्वेषण। क्रोध करना, द्रोह करना, ईर्ष्या करना तथा निन्दा करना—इन धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप किया जाय, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

उदा० (1) देवदत्ताय क्रुध्यति
यहाँ 'क्रुध्' धातु के योग में 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) देवदत्ताय द्रुह्यति
पूर्ववत् 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(3) देवदत्तायेर्ष्यति
'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(4) देवदत्तायाऽसूयति

यं प्रति०—**जिसके प्रति कोप** किया जाय उसकी सम्प्रदान-संज्ञा होती है—

(1) भार्याम् ईर्ष्यति—मा एनामन्यो द्राक्षीदिति (= पत्नी से ईर्ष्या करता है कि कोई इसे देख न ले)
यहाँ 'ईर्ष्य्' धातु का योग है, परन्तु 'भार्या' के प्रति कोप नहीं है। अतः 'भार्या' की सम्प्रदानसंज्ञा नहीं हुई।

विशेष—1. चूँकि क्रुधादि सभी धातु कोपमूलक हैं। अतः सूत्र में 'कोपः' शब्द का सामान्य रूप में ग्रहण है।

2. 'अस्मान् द्वेष्टि' आदि स्थलों पर 'द्विष्' धातु 'अप्रीति' अर्थ में है, क्रोधादि अर्थों में नहीं। अतः सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई।

3. 'द्विष्' का प्रयोग अचेतन पदार्थों में भी दृष्टिगोचर होता है—औषधं द्वेष्टि।

4. 'क्रुध्' तथा 'द्रुह्' धातु अकर्मक हैं। अतः इनके योग में षष्ठी प्राप्त होती है। इसे बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो गई है। इसी प्रकार 'ईर्ष्य्' तथा 'असूय्' धातु सकर्मक हैं। इनके योग में प्राप्त कर्मसंज्ञा को बाध कर सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(279) क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म *38* (576)

पूर्वेण सम्प्रदानसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते। क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः उपसर्गसम्बद्धयोर्यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। देवदत्तमभिक्रुध्यति। देवदत्तमभिद्रुह्यति। उपसृष्टयोरिति किम्? देवदत्ताय क्रुध्यति, यज्ञदत्ताय द्रुह्यति।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा सम्प्रदानसंज्ञा के प्राप्त होने पर कर्म संज्ञा का विधान किया जा रहा है। उपसृष्ट = उपसर्गयुक्त।

उपसर्गयुक्त 'क्रुध्' तथा 'द्रुह्' धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप किया जाता है, उसकी कर्मसंज्ञा होती है।

उदा० (1) देवदत्तम् अभिक्रुध्यति
यहाँ अभि उपसर्गपूर्वक 'क्रुध्' धातु का प्रयोग है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा हुई। 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया हुई।

(2) देवदत्तम् अभिद्रुह्यति
पूर्ववत् 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा हुई।

उपसृष्ट० अर्थात् उपसर्गयुक्त 'क्रुध' व 'द्रुह्' के योग में कर्म-संज्ञा होती है—

(1) देवदत्ताय क्रुध्यति
यहाँ उपसर्गरहित 'क्रुध्' धातु का योग है। अतः कर्मसंज्ञा नहीं हुई। पूर्व सूत्र से 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) यज्ञदत्ताय द्रुह्यति
पूर्ववत् सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(280) राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः *39* (577)

राधेरीक्षेश्च कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। कीदृशम्? यस्य विप्रश्नः। विविधः प्रश्नः विप्रश्नः। स कस्य भवति? यस्य शुभाशुभं पृच्छ्यते। देवदत्ताय राध्यति। देवदत्तायेक्षते। नैमित्तिकः पृष्टः सन् देवदत्तस्य दैवं पर्यालोचय-तीत्यर्थः।

अर्थ—विप्रश्न = विविध प्रश्न।

'राध्' और 'ईक्ष्' धातुओं के योग में जिसके विषय में विविध प्रश्न हों, उस कारक की सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

स कस्य० विविध प्रश्न किसके विषय में होता है? जिसके विषय में शुभाशुभ पूछा जाता है।

उदा० (1) देवदत्ताय राध्यति (= देवदत्त के विषय में पूछे जाने पर उसके भाग्य का पर्यालोचन करता है।
'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) देवदत्तायेक्षते
पूर्ववत् 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

विशेष—न्यासकार व पदमञ्जरीकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'यं प्रति' पदों की अनुवृत्ति मानी है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—जिसके

प्रति विप्रश्न हो, उसकी 'राध्' व 'ईक्ष्' धातुओं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है। इस प्रकार सूत्रस्थ 'यस्य' पद व्यर्थ हो जाता है। वस्तुतः आचार्य ने 'यस्य' पद का योग स्पष्टता के लिए किया है।[1]

(281) प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता *40* (578)

प्रति, आङ्–इत्येवम्पूर्वस्य शृणोतेः कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। कीदृशम्? पूर्वस्य कर्त्ता। प्रतिपूर्व आङ्पूर्वश्च शृणोतिरभ्युपगमे प्रतिज्ञाने वर्त्तते, स चाभ्युपगमः परेण प्रयुक्तस्य सतो भवति। तत्र प्रयोक्ता पूर्वस्याः क्रियायाः कर्त्ता सम्प्रदानसंज्ञो भवति। देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति। देवदत्ताय गामाशृणोति। प्रतिजानीत इत्यर्थः।

अर्थ—प्रति तथा आङ् उपसर्गपूर्वक 'श्रु' धातु के योग में पूर्व का जो कर्त्ता, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

'प्रतिश्रु' तथा 'आश्रु' धातुओं का अर्थ 'प्रतिज्ञा करना' होता है। प्रतिज्ञा किसी के कहने पर की जाती है। एक व्यक्ति दूसरे से किसी बात के लिए कहता है। दूसरा व्यक्ति उस बात को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करता है। प्रथम व्यक्ति प्रेरणारूप पहले कार्य (अर्थात् व्यापार) का कर्त्ता हुआ। यह कर्त्ता ही सम्प्रदानसंज्ञक होता है।

उदा० (1) सः देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति
प्रथम देवदत्त गाय को माँगता है। अतः 'देवदत्त' याचना क्रिया का कर्त्ता हुआ। पश्चात् वह गाय देने की प्रतिज्ञा करता है। पूर्व क्रिया का कर्त्ता होने के कारण 'देवदत्त' की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) देवदत्ताय गामाशृणोति
पूर्ववत् देवदत्त की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(282) अनुप्रतिगृणश्च *41* (579)

पूर्वस्य कर्त्तेति वर्त्तते। अनुपूर्वस्य प्रतिपूर्वस्य च गृणातेः कारकं पूर्वस्याः क्रियायाः कर्तृभूतं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। होत्रेऽनुगृणाति। होता प्रथमं शंसति तमन्यः प्रोत्साहयति। अनुगरः प्रतिगरः इति हि शंसितुः प्रोत्साहने वर्त्तते। होतारं शंसन्तं प्रोत्साहयतीत्यर्थः।

अर्थ—'पूर्वस्य कर्त्ता' पद की अनुवृत्ति है। 'अनु' तथा 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'गृ' धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्त्ता, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है।

उदा० (1) होत्रेऽनुगृणाति
यज्ञ में चार 'ऋत्विक्' होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता प्रथम मन्त्र उच्चारण करता है। तब अध्वर्यु आदि 'अनुगर' तथा 'प्रतिगर' के द्वारा उसका प्रोत्साहन करते हैं। अतः मन्त्रोच्चारणरूप पूर्व क्रिया के कर्त्ता की सम्प्रदानसंज्ञा हुई।

(2) होत्रे प्रतिगृणाति (पूर्ववत्)।

(283) साधकतमं करणम् *42* (560)

क्रियासिद्धौ यत्प्रकृष्टोपकारकं विवक्षितं तत्साधकतमं कारकं करणसंज्ञं भवति। दात्रेण लुनाति। परशुना छिनत्ति। तमब्ग्रहणं किम्? गङ्गायां घोषः। कूपे गर्गकुलम् (म०भा०)। करणप्रदेशाः–'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (2.3.18) इत्येवमादयः।

अर्थ—क्रिया की सिद्धि में जो सर्वाधिक उपकारक (= सहायक) होता है, उसकी करणसंज्ञा होती है।

जिससे किया जाय वह 'करण' कहलाता है। करण ही क्रिया की सिद्धि का साधकमात्र हो सकता है। यद्यपि सभी कारक क्रिया की सिद्धि में स्व-स्व स्थान पर सहायक होते हैं, परन्तु जो कारक सर्वाधिक सहायक हो, उसकी करणसंज्ञा होती है।

उदा० (1) दात्रेण लुनाति
यहाँ 'लवन' क्रिया में सर्वाधिक उपकारक 'दात्र' है। अतः 'दात्र' की करण संज्ञा हुई। तब 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति हुई।

(2) परशुना छिनत्ति
पूर्ववत् 'परशु' की करणसंज्ञा।

तमब्ग्रह—अर्थात् 'साधकतमम्' में **तमप्** प्रत्यय के ग्रहण का प्रयोजन है कि **सर्वाधिक** उपकारक की ही करणसंज्ञा होती है—

(1) गङ्गायां घोषः
'गङ्गायाम्' में अधिकरण कारक होने से सप्तमी हुई है। 'घोष' का आधार 'गङ्गा' हो सकती है, परन्तु उसे 'घोष' का आधारतम नहीं कहा जा सकता।

(2) कूपे गर्गकुलम् (पूर्ववत्)।

(284) दिवः कर्म च *43* (562)

पूर्वेण करणसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते। दिवः

1. पदम० 1.4.39 यस्य ग्रहणमनर्थकम्।
न्यास० 1.4.39 यस्येति ग्रहणं विस्पष्टार्थम्।

साधकतमं यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति, चकारात्करणसंज्ञं च। अक्षान् दीव्यति। अक्षैर्दीव्यति।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा करणसंज्ञा प्राप्त होने पर कर्मसंज्ञा का विधान किया जा रहा है।

'दिव्' धातु का जो साधकतम कारक उसकी कर्म तथा करण संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अक्षान् दीव्यति
यहाँ 'दिव्' धातु का साधकतम कारक 'अक्ष' है, जिसकी कर्मसंज्ञा हुई।

(2) अक्षैर्दीव्यति
यहाँ पूर्ववत् 'अक्ष' की करणसंज्ञा हुई।

(285) परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् *44* (580)

साधकतममिति वर्त्तते। पूर्वेण करणसंज्ञायां प्राप्तायां सम्प्रदानसंज्ञा पक्षे विधीयते। परिक्रयणे साधकतमं कारकमन्यतरस्यां सम्प्रदानसंज्ञं भवति। परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणम्, नात्यन्तिकः क्रय एव। शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि। शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि। सहस्रेण परिक्रीतोऽनुब्रूहि। सहस्राय परिक्रीतोऽनुब्रूहि।

अर्थ—'साधकतमम्' पद का अनुवर्त्तन है। पूर्व सूत्र के द्वारा करण संज्ञा प्राप्त होने पर पक्ष में सम्प्रदान संज्ञा का विधान किया जा रहा है। परिक्रयण में साधकतम कारक की सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है। पक्ष में यथाप्राप्त करणसंज्ञा होती है।

परिक्रयणं—किसी व्यक्ति ने किसी अन्य को उधार धन दिया; परन्तु वह किसी कारणवश धन लौटा न सका। प्रथम व्यक्ति ने उस व्यक्ति को खरीद लिया, ताकि उधार चुकाने तक वह उत्तमर्ण की सेवा करता रहे। यह 'परिक्रयण' कहलाता है।

उदा० (1) शताय परिक्रीतः
यहाँ 'परिक्रयण' अर्थ इष्ट है। इसका साधकतम कारक 'शत' शब्द है। अतः 'शत' की सम्प्रदानसंज्ञा विकल्प से हुई।

(2) शतेन परिक्रीतः
पक्ष में 'शत' की करणसंज्ञा हुई।

(286) आधारोऽधिकरणम् *45* (632)

आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रिया इत्याधारः। कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रयभूतयोर्धारणक्रियां प्रति य आधारस्तत्कारकमधिकरणसंज्ञं भवति। कटे आस्ते। कटे शेते। स्थाल्यां पचति। अधिकरणप्रदेशाः–'सप्तम्यधिकरणे च' (2.3.36) इत्येवमादयः।

अर्थ—'आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रिया इत्याधारः' जिसमें क्रिया आधृत रहे, उसे 'आधार' कहते हैं।

क्रिया के आश्रयभूत कर्त्ता व कर्म का धारण-क्रिया के प्रति जो आधार, उसकी अधिकरण संज्ञा होती है।

उदा० (1) कट आस्ते
यहाँ 'आस्' क्रिया का आधार 'कट' है। इसकी अधिकरण संज्ञा हुई। तब सप्तमी विभक्ति हुई।

(2) कटे शेते
पूर्ववत् 'कट' की अधिकरण संज्ञा हुई।

(३) स्थाल्यां पचति (पूर्ववत्)।

विशेष—आधेय का आधाररूप अर्थ ही अधिकरण कहलाता है। वह अधिकरण तीन प्रकार का होता है—

(क) व्यापक—जहाँ आधेय आधार के समस्त अवयवों में व्याप्त रहे, वहाँ व्यापक अधिकरण कहलाता है। यथा—

तिलेषु तैलम्—यहाँ तेल आधेय है जो तिलरूप आधार में सर्वत्र व्याप्त है। अतः व्यापक अधिकरण हो गया। इसी प्रकार 'दध्नि घृतम्' में जानना चाहिए।

(ख) औपश्लेषिक—उपश्लेष संयोग को कहते हैं। जहाँ आधेय व आधार का संयोग हो, वहाँ औपश्लेषिक अधिकरण होता है। यह सर्वत्र न होकर, एकदेशी हुआ करता है। यथा—

कटे शेते। पर्यङ्के शेते। प्रकोष्ठे मक्षिकाऽस्ति।
इन उदाहरणों में आधार व आधेय का संयोग है।

(ग) वैषयिक—विषय से सम्बद्ध अधिकरण वैषयिक कहलाता है। यथा—

मोक्षे इच्छा अस्ति।

(287) अधिशीङ्स्थासां कर्म *46* (542)

पूर्वेणाधिकरणसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते। अधिपूर्वाणां शीङ्, स्था, आस्–इत्येतेषामाधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। पर्वतमध्यास्ते।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा करणसंज्ञा प्राप्त होने पर कर्मसंज्ञा का विधान किया जा रहा है। सूत्रोक्त प्रत्येक धातु के साथ 'अधि' का सम्बन्ध है।

अधिपूर्वक 'शी' धातु, अधिपूर्वक 'स्था' धातु तथा अधिपूर्वक 'आस्' धातु—इन धातुओं के आधार की कर्मसंज्ञा होती है।

उदा० (1) ग्रामम् अधिशेते
'ग्राम' अधिपूर्वक 'शी' धातु का आधार है। 'आधारोऽधिकर०' से अधिकरणसंज्ञा प्राप्त हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध होकर कर्मसंज्ञा हुई। 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई।

(2) ग्रामम् अधितिष्ठति
'ग्राम' की पूर्ववत् कर्मसंज्ञा हुई।

(3) पर्वतम् अध्यास्ते (पूर्ववत्)।

(288) अभिनिविशश्च *47* (543)

अभिनिपूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। ग्राममभिनिविशते। कथं कल्याणेऽभिनिवेशः, पापेऽभिनिवेशः, या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशत इति? अन्यतरस्यामिति वर्त्तते, 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' (1.4.44) इत्यतः। सा च व्यवस्थिविभाषा विज्ञायते।

अर्थ—'अभि' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है।

उदा० (1) ग्रामम् अभिनिविशते
'ग्राम' अभिनिविश् का आधार है। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ग्राम' शब्द की कर्मसंज्ञा हुई। 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई।

कथं—'अभिनिविश्' धातु के आधार की कर्मसंज्ञा कही गई है, तब 'कल्याणेऽभिनिवेशः' यहाँ 'कल्याण' शब्द की अधिकरणसंज्ञा किस प्रकार होती है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए काशिकाकार महाभाष्य को आधार बनाते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' से 'अन्यतरस्याम्' पद की मण्डूकप्लुति न्याय से अनुवृत्ति मानकर पूर्वोक्त दशा में 'अभिनिविश्' के आधार की विकल्प से कर्मसंज्ञा मानी है। चूँकि यह व्यवस्थित विभाषा है; अतः कहीं नित्य कर्मसंज्ञा होती है तथा कहीं अधिकरणसंज्ञा भी होती है।

विशेष—'अभि' तथा 'नि' का द्वन्द्व समास करने पर 'अल्पाच्तरम्' से 'नि' का पूर्वनिपात होना चाहिए था, परन्तु 'अभि' का पूर्वनिपात 'अभिनिविश' इस अनुकरण के लिए है।[1] इससे ज्ञापित होता है 'अभि' तथा 'नि' पूर्वक 'विश्' धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है। सार यह है कि जब 'अभि' तथा 'नि' इन उपसर्गों का संघात सूत्रोक्त क्रम में 'विश्' से पूर्व होता है, तब ही 'विश्' के आधार की कर्मसंज्ञा होती है। अन्यथा प्रकार की दशा में कर्मसंज्ञा न हो। यथा—

निविशते यदि शूक शिखापदे (नै० 4.11.) यहाँ 'अभि' तथा 'नि' का संघात नहीं है। अतः कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

(289) उपान्वध्याङ्वसः *48* (544)

उप-अनु-अधि-आङ्-इत्येवंपूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। ग्राममुपवसति सेना। पर्वतमुपवसति। ग्राममनुवसति सेना। ग्राममधिवसति। ग्राममावसति। *वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। ग्रामे उपवसति। भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः।

अर्थ—अप, अनु, अधि तथा आङ् (पर्यायेण) उपसर्गपूर्वक 'वस्' धातु के आधार की कर्मसंज्ञा होती है।

उदा० (1) ग्रामम् उपवसति
'अप' पूर्वक 'वस्' धातु का आधार 'ग्राम' है। इसकी कर्मसंज्ञा हुई। तब द्वितीया विभक्ति हुई।

(2) पर्वतम् उपवसति
पूर्ववत् कर्मसंज्ञा।

(3) ग्रामम् अनुवसति (पूर्ववत्)।

(4) ग्रामम् अधिवसति (पूर्ववत्)।

(5) ग्रामम् आवसति (पूर्ववत्)।

यहाँ लुग्विकरणालुग्विकरण परिभाषा के द्वारा भौवादिक 'वस निवासे' का ग्रहण होता है; आदादिक 'वस आच्छादने' का नहीं।[1]

वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः—भोजननिवृत्ति के वाचक 'उपवस्' के आधार की कर्मसंज्ञा नहीं होती है—

(1) ग्रामे उपवसति
यहाँ 'उपवस्' का अर्थ 'भोजननिवृत्ति' है। अतः कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

(290) कर्तुरीप्सिततमं कर्म *49* (535)

कर्त्तुः क्रियया यदाप्तुमिष्टतमं तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। कटं करोति। ग्रामं गच्छति। कर्त्तुरिति किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम्? पयसौदनं भुंक्ते। कर्मेत्यनुवर्तमाने पुनः कर्मग्रहण-

1. पदम० 1.4.47. नेरल्पाच्तरस्याऽपूर्वनिपाताद् 'अभिनि' इति समुदायाऽनुकरम्।

1. न्यास 1.4.48.

माधारनिवृत्त्यर्थम्। इतरथाऽऽधारस्यैव हि स्यात्–गेहं प्रविशतीति। ओदनं पचति, सक्तून् पिबतीत्यादिषु न स्यात्। पुनः कर्मग्रहणात् सर्वत्र सिद्धं भवति। कर्म-प्रदेशाः–'कर्मणि द्वितीया' (2.3.2) इत्येवमादयः।

अर्थ—कर्त्ता को अपनी क्रिया के द्वारा जो सर्वाधिक इप्सित हो, उसकी कर्मसंज्ञा होती है।

उदा० (1) कटं करोति

यहाँ करणरूप क्रिया द्वारा कर्त्ता का सर्वाधिक ईप्सित 'कट' है। इसकी कर्मसंज्ञा हुई।

कर्त्तुरिति अर्थात् कर्त्ता को जो सर्वाधिक ईप्सित है, उसकी कर्मसंज्ञा होती है—

(1) माषेष्वश्वं बध्नाति

यहाँ बन्धनरूप क्रिया के द्वारा 'अश्व' कर्त्ता का ईप्सिततम है तथा 'माष' ईप्सिततम नहीं है। अतः 'माष' की कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

तमब् अर्थात् 'ईप्सिततमम्' पद में 'तमप्' प्रत्यय का प्रयोजन है कि जो **सर्वाधिक** इष्ट होता है, उसकी कर्मसंज्ञा होती है—

(1) पयसौदनं भुङ्क्ते

यहाँ कर्त्ता को 'ओदन' तथा 'पयस्' दो पदार्थ अभीष्ट है; परन्तु 'ओदन' सर्वाधिक इष्ट है। अतः इसकी कर्मसंज्ञा हुई। 'पयस्' इष्ट तो है; परन्तु सर्वाधिक इष्ट नहीं है। अतः इसकी कर्मसंज्ञा न हुई।

कर्म इत्य—प्रकृत सूत्र में 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (पा० 1.1.46.) से 'कर्म' पद का अनुवर्त्तन सुलभ रहने पर भी यहाँ पुनः 'कर्म' पद का ग्रहण क्यों किया गया ?

इसका समाधान है कि प्रकृत सूत्र में पूर्वशास्त्र से 'कर्म' के साथ-साथ 'आधारः' पद भी अनुवृत्त होता है। 'आधारः' पद की निवृत्ति के लिए यहाँ पुनः 'कर्म' पद का ग्रहण किया गया है। तब निम्नलिखित प्रयोगों में कर्मसंज्ञा हो जाती है—

(1) गेहं प्रविशति

'गेह' शब्द आधार है परन्तु कर्त्ता का ईप्सिततम है। अतः इसकी कर्मसंज्ञा हुई।

(2) ओदनं पचति (पूर्ववत्)।

(3) सक्तून् पिबति (पूर्ववत्)।

विशेष—कर्म तीन प्रकार का होता है। यथा—

(क) निर्वर्त्य (= उत्पाद्य)—इसमें सर्वथा नवीन वस्तु का निर्माण होता है। यथा—घटं करोति।

(ख) विकार्य—इसमें पूर्व विद्यमान वस्तु का विकार देखा जाता है। यथा—पयः दधि करोति।

(ग) प्राप्य—जहाँ व्याप्ति और व्यतिरेक के द्वारा क्रियागत विशेषता न हो, उसे प्राप्य कर्म कहते हैं। यथा—चित्रं पश्यति। ग्रामं गच्छति।

(291) तथायुक्तं चानीप्सितम् *50* (538)

येन प्रकारेण कर्त्तुरीप्सिततमं क्रियया युज्यते तेनैव चेत्प्रकारेण यदनीप्सितं युक्तं भवति तस्य कर्मसंज्ञा विधीयते। ईप्सितादन्यत्सर्वमनीप्सितं (म०भा०) द्वेष्यमितरच्च। विषं भक्षयति। चौरान् पश्यति। ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति।

अर्थ—अभीष्टतम के समान क्रिया से युक्त होने पर अनभीष्ट की भी कर्मसंज्ञा होती है। 'ईप्सित' से अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब 'अनीप्सित' कहलाता है। अनभीष्ट वस्तु या तो द्वेष्य होगी या उपेक्ष्य। यहाँ पर्युदास प्रतिषेध है।

उदा० (1) विषं भक्षयति

यहाँ 'विष' अनभीष्ट पदार्थ है; परन्तु ईप्सिततम के समान क्रिया से युक्त होने के कारण इसकी कर्मसंज्ञा हो गई।

(2) चौरान् पश्यति

यहाँ पूर्ववत् 'चौर' शब्द की कर्मसंज्ञा हुई।

(3) ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति (पूर्ववत्)।

(292) अकथितं च *51* (539)

अकथितं च यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। केनाऽकथितम् ? अपादानादिविशेषकथाभिः। परिगणनं कर्त्तव्यम्–

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥
(म०भा०)

उपयुज्यत इत्युपयोगः पयःप्रभृति, तस्य निमित्तं गवादि, तस्योपयुज्यमानपयःप्रभृतिनिमित्तस्य गवादेः कर्मसंज्ञा विधीयते। पाणिना कांस्यपात्र्यां गां दोग्धि पयः। पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तं तस्य कस्मान्न भवति ? नैतदस्ति, विहिता हि तत्र करणादिसंज्ञा। तदर्थमाह–अपूर्वविधाविति। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते–ब्रुविशास्योर्गुणः साधनं प्रधानं कर्म धर्मादिकम्, तेन यत्सम्बध्यते, तदकीर्तितमाचरितं कविना, तदकथितमुक्तं

सूत्रकारेण । दुहि–गां दोग्धि पयः । याचि–पौरवं गां याचते । रुधि–गामवरुणद्धि व्रजम् । प्रच्छि–माणवकं पन्थानं पृच्छति । भिक्षि–पौरवं गां भिक्षते । चिञ्–वृक्षमवचिनोतिफलानि । ब्रुवि–माणवकं धर्मं ब्रूते । शासि–माणवकं धर्ममनु–शास्ति ।

अर्थ—अकथित कारक की कर्मसंज्ञा होती है।

अकथित किसे कहते हैं ? जो अपादानादि के द्वारा कथित न हो, उसे अकथित कहते हैं।

परिगणनं—यहाँ काशिकाकार महाभाष्य की एक कारिका उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(क) दुह्, याच्, रुध्, प्रच्छ्, भिक्ष् तथा चि—इन धातुओं के उपयोग का जो निमित्त है, उसकी अपूर्व विधि (अर्थात् अनुक्त होने पर) कर्मसंज्ञा होती है। यथा—

गां पयः दोग्धि।

यहाँ 'गो' निमित्त है तथा 'पयस्' दुह् धातु का उपयोग है। अतः अनुक्त 'गो' की कर्मसंज्ञा होती है।

पाणिना—अब शङ्का होती है कि 'पाणिना कांस्यपात्र्यां गां दोग्धि पयः' यहाँ 'पाणि' आदि उपयोग (पयस्) के निमित्त है। तब 'पाणि' की कर्मसंज्ञा क्यों नहीं होती है। इसका समाधान है कि 'अकथित' कारक की ही यहाँ कर्मसंज्ञा होती है। चूँकि 'पाणि' की करणसंज्ञा कही जा चुकी है; अतः कर्मसंज्ञा नहीं हुई। इसलिए कारिका में 'अपूर्वविधौ' ऐसा कहा गया है।

(ख) ब्रू तथा शास् धातुओं के प्रधान कर्म से जो सम्बन्धित तथा अकथित है, उसकी भी कर्मसंज्ञा होती है। यथा—

शिष्यं धर्मं ब्रूते।

यहाँ 'धर्म' प्रधान कर्म है तथा 'शिष्य' उससे सम्बन्धित है। अतः अनुक्त रहने पर 'शिष्य' की कर्मसंज्ञा हुई।

विशेष—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में सोलह धातुओं का परिगणन किया गया है। इन धातुओं के योग में तथा इनके समान अर्थ वाली धातुओं के योग में कर्मसञ्ज्ञा होती है। अतः यह सञ्ज्ञा अर्थ के आश्रित है, स्वरूप के अश्रित नहीं है।[1] यथा—

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥[2]

ये सभी द्विकर्मक धातु हैं। इनका एक प्रधान (= कथित) कर्म होता है तथा दूसरा गौण (= अकथित) कर्म होता है। इन धातुओं के प्रधान कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है, वह गौण कर्म होता है।

भाव यह है कि जब कोई कारक अपादान, सम्प्रदान आदि के रूप में कहना अभीष्ट न हो तो वह भी कर्मसञ्ज्ञक होता है।

उदा० नीचे दिखाए गए उदाहरण वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी से लिए गये हैं—

(क) देवः गां **पयः** दोग्धि (= देव गाय से दूध दोहता है)।

यहाँ 'पयः' ईप्सिततम कर्म है। अतः 'कथित' (= प्रधान) कर्म है। यहाँ 'गो' का अपादानत्व अकथित है। अतः यह गौण होने से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कर्मसंज्ञक हुआ। यदि कर्त्ता 'गो' को अपादान रूप में कहता तो 'देवाः गोः पयः दोग्धि' ऐसा प्रयोग होता। यहाँ अपादान रूप की अविवक्षा है।

(ख) वामनः बलिं **वसुधां** याचते (= वामन बलि से पृथ्वी मांगता है)—यहाँ अपादान रूप की अविवक्षा है। 'बलिम्' गौण है। 'बलिं भिक्षते **वसुधाम्**' में भी जानना चाहिए।

(ग) तण्डुलान**ोदनं** पचति (= चावलों से भात पकाता है)—यहाँ 'तण्डुल' पचन क्रिया के करण हैं। अतः यहाँ करण की अविवक्षा है। 'तण्डुल' गौण कर्म है।

(घ) गर्गान् **शतं** दण्डयति (= गर्गों से सौ रुपये दण्ड प्राप्त करता है)—यहाँ अपादान रूप की अविवक्षा है। 'गर्ग' गौण कर्म है।

(ङ) **गां** व्रजमवरुणद्धि (= गाय को बाड़े में घेरता है)—यहाँ अधिकरण की अविवक्षा है। 'व्रज' गौण कर्म है।

(च) माणवकं **पन्थानं** पृच्छति (= बच्चे से मार्ग पूछता है)—यहाँ अपादानरूप की अविवक्षा है। 'माणवक' गौण कर्म है।

(छ) वृक्षमवचिनोति **फलम्** (वृक्ष से फल तोड़ता है)—यहाँ अपादान रूप की अविवक्षा है। 'वृक्ष' गौण कर्म है।

(ज) माणवकं **धर्मं** ब्रूते (शास्ति, भाषते, वक्ति, अभिधत्ते)—(= बच्चे को धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ सम्प्रदानरूप की अविवक्षा है। 'माणवक' गौण कर्म है।

(झ) देवं **शतं** जयति (= देव से सौ जीतता है)—यहाँ अपादान की अविवक्षा है। 'देव' गौण कर्म है।

(ञ) क्षीरनिधिं **सुधां** मथ्नाति (= क्षीरसागर से अमृत मथता है)—अपादानरूप की अविवक्षा है। 'क्षीरनिधि' गौण कर्म है।

(ट) देवं **शतं** मुष्णाति (= देव से सौ रुपये छीनता है)—यहाँ अपादानरूप की अविवक्षा है। 'देव' गौण कर्म है।

1. वै० सि० कौ० सूत्र—54० अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा।
2. वै० सि० कौ०—सूत्र 54०

(ठ) देवः ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति (= देव बकरी को गाँव ले जाता है)—यहाँ अधिकरणरूप की अविवक्षा है। 'ग्राम' गौण कर्म है।

यहाँ उदाहरणों में सभी मुख्य कर्मों को रेखाङ्कित किया गया है। मुख्य कर्मों में 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' से कर्मसञ्ज्ञा हुई है। गौण कर्मों के विषय में प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कर्मसञ्ज्ञा होती है।

विशेष—1. द्विकर्मक धातुओं के कर्मवाच्य की दशा में निम्नलिखित व्यवस्था होती है—

(क) गौणे कर्मणि दुह्यादेः अर्थात् 'दुह्' आदि (कारिकोक्त 'दुह्' से लेकर 'मुष्' पर्यन्त) बारह धातुओं के गौण कर्म में लकार होता है। इसका अर्थ है कि कर्मवाच्य में इन धातुओं का गौण कर्म उक्त होता है। अतः उसमें प्रथमा होती है तथा मुख्य कर्म में यथावत् द्वितीया रहती है। धातु में पुरुष एवं वचन गौण कर्म के अनुसार होते हैं। यथा—

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
देवो गां पयः दोग्धि	देवेन गौः पयो दुह्यते।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

(ख) प्रधाने नीहृकृष्वहाम् अर्थात् नी, हृ, कृष् तथा वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार होता है। इसका भाव यह है कि कर्मवाच्च में इन धातुओं का मुख्य कर्म उक्त होता है। अतः उसमें प्रथमा होती है तथा गौण कर्म में यथावत् द्वितीया विभक्ति होती है। धातु में पुरुष व वचन प्रमुख कर्म के अनुसार होते हैं। यथा—

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
देवो ग्राममजां नयति	देवेन ग्रामम् अजा नीयते।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

(293) गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ *52* (540)

अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां च धातूनां तथा शब्दकर्मकाणामकर्मकाणां च अण्यन्तानां यः कर्त्ता स ण्यन्तानां कर्मसंज्ञो भवति। गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम्। याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम्। *गत्यर्थेषु नीवह्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। नयति भारं देवदत्तः, नाययति भारं देवदत्तेन। वहति भारं देवदत्तः, वाहयति भारं देवदत्तेन। *वहेरनियन्तृकर्तृकस्येति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह प्रतिषेधो मा भूत्–वहन्ति यवान् बलीवर्दाः, वाहयति यवान् बलीवर्दानिति (म० भा०)। बुद्धि–बुध्यते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम्। वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम्। प्रत्यवसानमभ्यवहारः–भुङ्क्ते माणवक ओदनम्, भोजयति माणवकमोदनम्। अश्नाति माणवक ओदनम्, आशयति माणवकमोदनम्। *आदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। अत्ति माणवक ओदनम्, आदयते माणवकेनौदनम्। खादति माणवकः, खादयति माणवकेन। *भक्षेरहिंसार्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः, भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेनेति। अहिंसार्थस्येति किम्? भक्षयन्ति बलीवर्दाः सस्यम्, भक्षयन्ति बलीवर्दान् सस्यम्। शब्दकर्मणाम्–अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम्। पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम्। अकर्मकाणाम्–आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम्। शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम्। एतेषामिति किम्? पचत्योदनं देवदत्तः, पाचयत्योदनं देवदत्तेनेति। अण्यन्तानामिति किम्? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।

अर्थ—'अर्थ' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है। गमनार्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा होती है।

गम्, या तथा इण् आदि गमनार्थक धातु हैं। बुध्, ज्ञा तथा विद् आदि ज्ञानार्थक धातु हैं। प्रत्यवसान का अर्थ है—भक्षण। भक्ष्, अश्, अद् तथा भुज् आदि भक्षणार्थक धातु हैं।

जिनका कर्म कोई शब्द हो, ऐसा धातु शब्दकर्मक कहलाता है। अकर्मक धातु का सामान्य दशा में जो कर्त्ता होता है, वह ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक क्रिया की दशा में कर्म बन जाता है।

उदा माणवको ग्रामं गच्छति

यह अण्यन्त प्रयोग है। सामान्यावस्था का कर्त्ता 'माणवक' है।

(1) माणवकं ग्रामं गमयति

यह ण्यन्त प्रयोग है। गमनार्थक धातु है। सामान्यावस्था का कर्त्ता 'माणवक' कर्म हो गया है।

(2) माणवकं ग्रामं यापयति

माणवको ग्रामं याति—यह सामान्यावस्था है। इसका कर्त्ता 'माणवक' है। ण्यन्त दशा में यह कर्म हो गया है।

गत्यर्थेषु नीवह्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः—गत्यर्थक 'नी' तथा 'वह्' धातुओं की सामान्यावस्था के कर्त्ता की कर्मसंज्ञा नहीं होती है। यथा—

(3) नाययति भारं देवदत्तेन

देवदत्तो भारं नयति—यहाँ 'नी' गत्यर्थक धातु है। इसकी सामान्यावस्था में 'देवदत्त' कर्त्ता है, जो ण्यन्त दशा में कर्मसंज्ञक नहीं हुआ। तब इसकी करणसंज्ञा होकर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया हुई।

(4) वाहयति भारं देवदत्तेन

पूर्ववत् 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा का निषेध हो गया है।

वहेरनियन्तृकर्तृकस्येति वक्तव्यम्—जहाँ 'वह्' धातु सारथि के द्वारा प्रेरित न हो, वहाँ प्रेरित वहन क्रिया का कर्त्ता णिजन्त दशा में कर्मसंज्ञक नहीं होता है। यथा—

(5) वाहयति यवान् बलीवर्दान्

बलीवर्दा यवान् वहन्ति—यह अण्यन्त अवस्था है। 'वह्' धातु का प्रयोग है। इसका कर्त्ता 'बलीवर्द' है। 'वह्' धातु सारथि के द्वारा प्रेरित है। ण्यन्त दशा में 'बलीवर्द' की कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध नहीं हुआ।

(6) बोधयति माणवकं धर्मम्

बुध्यते माणवको धर्मम्—सामान्यावस्था है। इसका कर्त्ता 'माणवक' ण्यन्त दशा में कर्म हुआ।

(7) वेदयति माणवको धर्मम्

वेत्ति माणवको धर्मम्—सामान्यावस्था। पूर्ववत् 'माणवक' की कर्मसंज्ञा हुई।

(8) भोजयति माणवकम् ओदनम्

भुङ्क्ते माणवक ओदनम्—सामान्यावस्था।

(9) आशयति माणवकम् ओदनम्

अश्नाति माणवक ओदनम् (पूर्ववत्)।

आदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः—'अद्' और 'खाद्' धातुओं के अण्यन्त दशा के कर्त्ता की ण्यन्त दशा में कर्मसंज्ञा नहीं होती है। यथा—

(10) आदयते माणवकेनौदनम्

अत्ति माणवक ओदनम्—सामान्यावस्था है। 'अद्' धातु का कर्त्ता 'माणवक' है। ण्यन्त दशा में इसकी कर्मसंज्ञा प्राप्त हुई। वार्तिक के द्वारा प्रतिषेध हो गया। तब करणसंज्ञा हुई।

(11) खादयति माणवकेन

पूर्ववत् 'माणवक' की कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध हुआ।

भक्षेरहिंसार्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः—हिंसा अर्थ को छोड़कर शेष अर्थों में 'भक्ष्' धातु के अण्यन्त कर्त्ता की कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध होता है—

(12) भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन

भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः—यहाँ 'भक्ष्' धातु हिंसा अर्थ में नहीं है। सामान्यावस्था के कर्त्ता 'देवदत्त' की ण्यन्त में कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध हो गया।

अर्थात् **हिंसा अर्थ** को **छोड़कर** ही 'भक्ष्' के अण्यन्त कर्त्ता की ण्यन्त दशा में कर्मसंज्ञा का प्रतिषेध होता है—

(13) भक्षयन्ति बलीवर्दान् सस्यम्

भक्षयन्ति बलीवर्दाः सस्यम्—यहाँ हिंसा अर्थ में 'भक्ष्' धातु का प्रयोग है। सामान्यावस्था के कर्त्ता (बलीवर्द) की ण्यन्त दशा में कर्मसंज्ञा का निषेध नहीं हुआ।

(14) अध्यापयति माणवकं वेदम्

अधीते माणवको वेदम्—सामान्यावस्था है।

(15) पाठयति माणवकं वेदम्

पठति माणवको वेदम्—सामान्यावस्था है।

(16) आसयति देवदत्तम्

आस्ते देवदत्तः—सामान्यावस्था है। यह अकर्मक का प्रयोग है। ण्यन्त में 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा हुई।

(17) शाययति देवदत्तम्

शेते देवदत्तः—सामान्यावस्था है।

एतेषामिति अर्थात् **गमनार्थक** आदि का अण्यन्त कर्त्ता की ण्यन्त में कर्मसंज्ञा होती है—

(18) पाचयत्योदनं देवदत्तेन

पचति देवदत्त ओदनम्—यह सामान्यावस्था है। यहाँ सूत्रोक्त गमनार्थक आदि किसी का प्रयोग नहीं है। अतः सामान्यावस्था के कर्त्ता 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

अण्यन्ता० अर्थात् गमनार्थक आदि के **सामान्यावस्था** के कर्त्ता की कर्मसंज्ञा होती है—

(19) गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः

गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्—यहाँ गमनार्थक 'गम्' धातु का प्रयोग है, परन्तु सामान्यावस्था नहीं है। अतः इसके कर्त्ता 'देवदत्त' की पुनः प्रेरणार्थक में कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

(294) हृक्रोरन्यतरस्याम् *53* (541)

अणि कर्त्ता स णाविति वर्त्तते। हरतेः करोतेश्चाण्यन्तयोर्यः कर्त्ता स ण्यन्तयोरन्यतरस्यां कर्मसंज्ञो भवति। हरति भारं माणवकः, हारयति भारं माणवकं माणवकेनेति वा। करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेनेति वा। *अभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम्* (म०भा)। अभिवदति गुरुं देवदत्तः, अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेनेति वा। पश्यन्ति भृत्या राजानम्, दर्शयते भृत्यान् राजानं भृत्यैरिति वा। आत्मनेपद इति किम्? दर्शयति चैत्रं मैत्रमपरः। प्राप्तविकल्पत्वाद् द्वितीयैव। अभिवादयति गुरुं माणवकेन पिता। अप्राप्तविकल्पत्वात्तृतीयैव।

अर्थ—'हृ' और 'कृ' धातुओं के अण्यन्त कर्त्ता की ण्यन्त दशा में कर्मसंज्ञा विकल्प से होती है। पक्ष में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया होती है।

उदा० (1) हारयति भारं माणवकम्

हरति भारं माणवकः—यहाँ सामान्यावस्था है। 'हृ' धातु का कर्त्ता 'माणवक' है। प्रेरणार्थक दशा में कर्त्ता 'माणवक' की विकल्प से कर्मसंज्ञा हुई।

(2) हारयति भारं माणवकेन

पक्ष में कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

(3) कारयति कटं देवदत्तम्

करोति कटं देवदत्तः—अण्यन्त 'कृ' का कर्त्ता 'देवदत्त' प्रेरणार्थक दशा में विकल्प से कर्मसंज्ञक हुआ।

(4) कारयति कटं देवदत्तेन

पक्ष में कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

अभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम्—अभिपूर्वक 'वद्' धातु तथा 'दृश्' धातु के सामान्यावस्था के कर्त्ता की ण्यन्त में तथा पूर्वोक्त धातुओं के आत्मनेपद के विषय में कर्मसंज्ञा विकल्प से होती है—

(5) अभिवादयते गुरुं देवदत्तम्

अभिवदति गुरुं देवदत्तः—अभिवद् की सामान्यावस्था का कर्त्ता 'देवदत्त' है। ण्यन्त में 'अभिवादयते' आत्मनेपद का विषय है। अतः कर्त्ता 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा विकल्प से हुई।

(6) अभिवादयते गुरुं देवदत्तेन

पक्ष में कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

(7) दर्शयते भृत्यान् राजानम्

पश्यन्ति भृत्या राजानम्—सामान्यावस्था।

पूर्ववत् कर्मसंज्ञा का विकल्प हुआ।

(8) दर्शयते भृत्यै राजानम्

पक्ष में कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

आत्मनेपद०—आत्मनेपद के विषय में ही पूर्वोक्त दशा में कर्मसंज्ञा होती है—

(9) दर्शयति चैत्रं मैत्रम्

'दर्शयति' आत्मनेपद का विषय नहीं है। अतः कर्म संज्ञा नहीं होती है; परन्तु प्राप्त विकल्प होने से द्वितीया ही हुई है।

(10) अभिवादयति गुरुं माणवकेन पिता

पूर्ववत् कर्मसंज्ञा नहीं हुई। किसी भी प्रकार से विकल्प प्राप्त न होने से तृतीया (माणवकेन) हुई।

(295) स्वतन्त्रः कर्त्ता *54* (559)

स्वतन्त्र इति प्रधानभूत उच्यते। अगुणभूतो यः क्रियासिद्धौ स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते तत्कारकं कर्तृसंज्ञं भवति। देवदत्तः पचति। स्थाली पचति। कर्तृप्रदेशाः-'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (2.3.18) इत्येवमादयः।

अर्थ—क्रिया की सिद्धि में जो मुख्यरूपेण विवक्षित होता है, उसकी कर्तृसंज्ञा होती है।

सार यह है कि क्रिया का स्वतन्त्ररूपेण जनक 'कर्त्ता' होता है तथा शेष कारक कर्त्ता से प्रेरित होकर क्रिया की सिद्धि करते हैं।

उदा० (1) देवदत्तः पचति

'देवदत्त' प्रधानतया विवक्षित है। अतः इसकी कर्तृसंज्ञा हुई। 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' के द्वारा प्रथमा हुई।

(2) स्थाली पचति (पूर्ववत्)।

(296) तत्प्रयोजको हेतुश्च *55* (2575)

तदिति अनन्तरः कर्ता परामृश्यते। तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः। निपातनात् समासः। स्वतन्त्रस्य प्रयोजको योऽर्थः तत्कारकं हेतुसंज्ञं भवति, चकारात्कर्तृसंज्ञं च। संज्ञासमावेशार्थश्चकारः। कुर्वाणं प्रयुङ्क्ते-कारयति, हारयति। हेतुत्वाद् णिचो निमित्तं कर्तृप्रत्ययेनोच्यते। हेतुप्रदेशाः-'हेतुमति च' (3.1.26) इत्येवमादयः।

अर्थ—'तत्' के द्वारा अव्यवहित (पूर्व सूत्रोक्त) 'कर्त्ता' का

परामर्श होता है। तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः यहाँ निपातन से षष्ठी समास हुआ है। स्वतन्त्रतया विवक्षित कारक के प्रेरक की 'कर्तृ' व 'हेतु'—ये दो संज्ञाएँ होती हैं।

भाव यह है कि जिसके द्वारा कर्त्ता को प्रेरणा मिलती है, वह 'कर्त्ता' भी कहलाता है तथा 'हेतु' भी।

उदा० (1) कारयति
कृ णिच्—हेतुमति च' से 'णिच्' हुआ,
कार् इ → कारि—धातुसंज्ञा, लट्, तिप्,
कारि शप् ति → कारयति।

'हेतु' संज्ञा होने से णिच्' हुआ तथा 'कर्तृ' संज्ञा होने से कर्तृ प्रक्रिया में लकार हुआ।

(2) हारयति
हृ णिच्—पूर्ववत्।

(297) प्राग्रीश्वरान्निपाताः *56* (19)

'अधिरीश्वरे' (1.4.97) इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद-वधेर्यानि त ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः निपातसंज्ञास्ते वेदितव्याः। वक्ष्यति-'चादयोऽसत्वे' (1.4.57)-च, वा, ह, अह। प्रागवचनं संज्ञासमावेशार्थम्। गत्युपसर्गकर्मप्रवचनीयसंज्ञा-भिस्सह निपातसंज्ञा समाविशति। रेफोच्चारणम् 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (3.4.13) इत्ययमवधिर्मा विज्ञायीति।

रीश्वराद्वीश्वरान्मा भूत् कृन्मेजन्तः परोऽपि सः।
समासेष्वव्ययीभावो लौकिकं चातिवर्तते॥
(म० भा)

अर्थ—'अधिरीश्वरे' (1.4.97) सूत्र से पूर्व तक निपात संज्ञा का अधिकार है अर्थात् 'अधिरीश्वरे' सूत्रपर्यन्त जो-जो शब्द कहे जायेंगे, उन सभी की निपातसंज्ञा होती है।

प्राग्वचनम्—'प्राक्' पद संज्ञाओं के समावेश के लिए है। तब गति, उपसर्ग तथा कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं के साथ-साथ निपात-संज्ञा भी होती है।

रेफोच्चारणम्—प्रस्तुत सूत्र का स्वरूप 'प्रागीश्वरान्निपाताः' इस प्रकार होना चाहिए था। इस प्रकार लाघव भी होता, परन्तु रेफयुक्त पाठ (प्राग्रीश्वरा०) का प्रयोजन है कि प्रस्तुत सूत्र का अधिकार रेफयुक्त पाठ (अधिरीश्वरे) पर्यन्त होता है। यदि प्रस्तुत सूत्र में 'प्राग्रीश्वरा०' के स्थान पर 'प्रागीश्वरा०' इस प्रकार रेफवर्जित पाठ होता तो इसका अधिकार 'ईश्वरे तोसुन् कसुनौ' (3.4.13) तक चलता है—इस प्रकार अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।

रीश्वराद्वीश्वरान्मा भूत्—प्रश्न है कि 'प्राग्रीश्वरा०' इस प्रकार रेफयुक्त निर्देश किसलिए किया गया है?

इसका समाधान यह है कि रेफयुक्त निर्देश (रीश्वरात्) होने से 'वीश्वर' सूत्रपाठ[1] पर्यन्त अधिकार नहीं होता है।

इस पर शङ्का होती है कि आचार्य ने 'कृन्मेजन्तः' (1.1.39) के द्वारा मकारान्त व एजन्त कृदन्त शब्दों की अव्ययसंज्ञा बताई है। इस विधान से स्पष्ट है कि प्रकृतसूत्र का अधिकार 'वीश्वर' पर्यन्त नहीं जाता है। यदि प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' पर्यन्त मान लिया जाय तो मकारान्त व एजन्त कृदन्त शब्दों की निपात संज्ञा होकर 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (1.1.37) से अव्यय संज्ञा हो जाती है। तब 'कृन्मेजन्तः' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' पर्यन्त नहीं चलता है।

कृन्मेजन्तः परोऽपि सः—इस समाधान का खण्डन है कि प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' तक जाता है—इसमें 'कृन्मेजन्तः' सूत्र निरर्थक नहीं जानना चाहिए। यह स्पष्ट है कि 'वीश्वर' तक निपातसंज्ञा मान लेने पर 3.4.13 पर्यन्त मकारान्त व एजन्त शब्दों की अव्यय संज्ञा 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से हो ही जायेगी, परन्तु 'वीश्वर' से पश्चात् जो मकारान्त व एजन्त कृदन्त शब्द हैं, उनकी निपातसंज्ञा के लिए 'कृन्मेजन्तः' सूत्र की आवश्यकता पड़ती है। अतः प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' पर्यन्त निर्बाध चलता है।

इस पर आक्षेप है कि 'अव्ययीभावश्च' (1.1.41) सूत्र के द्वारा अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' तक नहीं चलता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो 'अव्ययीभावः' (2.1.5) के 'वीश्वर' (3.4.13) से पूर्व होने के कारण इसकी प्रकृत सूत्र के द्वारा निपातसंज्ञा होकर 'स्वरादिनिपात०' से अव्यय संज्ञा होती है। तब 'अव्ययीभावश्च (1.1.41) सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' तक नहीं चलता है। फलतः प्रकृत सूत्र में रेफयुक्त निर्देश (रीश्वरान्नि०) व्यर्थ है।

समासेष्वव्ययीभावः—इसका समाधान है कि 'अव्यय-यीभावश्च' का पूर्वोक्त प्रयोजन नहीं है; अपितु इसका प्रयोजन है कि समास में केवल अव्ययीभाव समास की ही अव्ययसंज्ञा होती

1. अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ संहितरूप में होने के कारण 'शकि णमुल्कमुलौ' तथा 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' इन दो सूत्रों का स्वरूप संहितापाठ की दशा में 'शकि णमुल्कमुलावीश्वरे तोसुन्कसुनौ' इस प्रकार उपलब्ध होता है। यहाँ 'वीश्वरे' इसी का उल्लेख है।

है, अन्य की नहीं। अतः प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' तक नहीं चलता है। इस प्रकार रेफयुक्त निर्देश (रीश्वरा०) सार्थक हो जाता है।

इस पर शंका है कि लोक से भी ज्ञात होता है कि 'वीश्वर' तक निपातसंज्ञा का अधिकार नहीं चलता है। यथा—आ वनान्ता-दोदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्' से 'वन' तथा 'जलाशय' तक अवधि जान ली जाती है तथा उत्तरवर्त्ती तक नहीं। इसी प्रकार 'कूपाज्जलमाहर' से पूर्ववर्त्ती कूप से ही जल लाया जाता है; उत्तरवर्ती कूप से नहीं। इस प्रकार लोकव्यवहार से भी सिद्ध होता है; प्रकृत सूत्र का अधिकार 'वीश्वर' पर्यन्त नहीं चलता है। अतः रेफयुक्त निर्देश व्यर्थ है।

लौकिकं चाऽतिवर्त्तते—इसका समाधान है कि लौकिक न्याय का अतिक्रमण भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त स्थलों में पूर्ववर्त्ती 'जलाशय' या 'कूप' को छोड़कर उत्तरवर्त्ती तक मेहमान का अनुगमन किया जाता है। यह कोई प्रमाण नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र में रेफयुक्त पाठ (रीश्वर०) सप्रयोजन है।

(298) चादयोऽसत्त्वे *57* (20)

चादयो निपातसंज्ञा भवन्ति, न चेत्सत्त्वे वर्तन्ते। प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्। 'सत्त्वम्' इति द्रव्यमुच्यते।

च। वा। ह। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। सूपत्। कूपत्। कुवित्। नेत्। चेत्। चण्। कच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिम्। नकिम्। माङ्। माङो ङकारो विशेषणार्थः 'माङि लुङ्' (3.3.175) इति। इह न भवति–मा भवतु, मा भविष्यति। नञ्। यावत्। तावत्। त्वा। त्वै। द्वै। रै। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। वषट्। स्वधा। ओम्। किल। तथा। अथ। सु। स्म। अस्मि। अ। इ। उ। ऋ। ऌ। ए। ऐ। ओ। औ। अम्। तक्। उञ्। उकञ्। वेलायाम्। मात्रायाम्। यथा। यत्। यम्। तत्। किम्। पुरा। अद्धा। धिक्। हाहा। हे। है। प्याट्। पाट्। थाट्। अहो। उताहो। हो। तुम्। तथाहि। खलु। आम्। आहो। अथो। ननु। मन्ये। मिथ्या। असि। ब्रूहि। तु। नु। इति। इव। वत्। चन। बत। इह। आम्। शम्। कम्। अनुकम्। नहिकम्। हिकम्। सुकम्। सत्यम्। ऋतम्। श्रद्धा (अद्धा)। इद्धा। मुधा। नोचेत्। नचेत्। नहि। जातु। कथम्। कुतः। कुत्र। अव। अनु। हाहौ। हैहा। ईहा। आहोस्वित्। छम्बट्। खम्। दिष्ट्या। पशु। वट्। सह। आनुषक्। अङ्ग। फट्। ताजक्। अये। अरे। चटु। चाटु। कुम्। खुम्। घुम्। हुम्। आईम्। शीम्। सीम्। वै। उपसर्गविभक्ति-स्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः (ग०सू० 16)। उपसर्ग-प्रतिरूपकाः–

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते॥

'अच उपसर्गात्तः' (7.4.47) इति तत्त्वं न भवति। दुर्नीतम्। दुर्नयः। दुर्निर्णयः। 'उपसर्गात्' (8.4.14) इति णत्वं न भवति। असत्त्वे इति किम्? पशुर्वै पुरुषः। पशुः पुरोडाशः। निपातप्रदेशाः–'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (1.1.37) इत्येव-मादयः।

अर्थ—द्रव्य अर्थ न हो तो 'च' आदि की निपातसंज्ञा होती है।

'असत्त्वे' पद में प्रसज्यप्रतिषेध है। यदि इसमें पर्युदास प्रतिषेध मान लेते हैं तो अनर्थक 'च' आदि की निपातसंज्ञा प्राप्त नहीं होगी।

उदा० उदाहरण मूल में देखें।

माङो—'माङ्' में 'ङ्' अनुबन्ध विशेषण के लिए है। 'माङि लुङ्' इस प्रकार। मा भवतु, मा भविष्यति। यहाँ 'माङ्' नहीं है। अतः लुङ् नहीं हुआ।

उपसर्ग—उपसर्ग, विभक्ति तथा स्वरप्रतिरूपक—इनकी भी निपातसंज्ञा होती है। यथा—

उपसर्गप्रतिरूपक—

(क) अवदत्तम्—इसके स्वरूप से प्रतीत होता है कि अव-पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके यह शब्द बना है। वस्तुतः यहाँ 'अव' उपसर्ग नहीं है, अपितु उपसर्गप्रतिरूपक है। आदि कर्म अर्थ में 'क्त' करके 'अवदत्त' बनता है।

(ख) विदत्तम् (पूर्ववत्)।
(ग) प्रदत्तम्—'प्र' उपसर्गप्रतिरूपक है।
(घ) सुदत्तम् (पूर्ववत्)।
(ङ) अनुदत्तम (पूर्ववत्)।
(च) निदत्तम् (पूर्ववत्)।

यहाँ उपर्युक्त स्थलों में 'अव' आदि उपसर्गप्रतिरूपक हैं। इनकी निपातसंज्ञा होती है। यदि इन्हें उपसर्ग मान लिया जाता है तो 'अच उपसर्गात्तः' (पा० 7.4.47) से तकारादेश होकर 'अवत्तम्' आदि अनिष्ट रूपों की प्राप्ति होती है।

(छ) दुर्नीतम्—'दुर्' उपसर्गप्रतिरूपक है।

(ज) दुर्नय: (पूर्ववत्)।

(झ) दुर्निर्णय: (पूर्ववत्)।

इन स्थलों पर 'दुर्' को उपसर्ग मान लिया जाता है तो 'उपसर्गादस०' से णत्व होकर 'दुर्णीतम्' आदि अनिष्ट रूपों की प्राप्ति होती है।

विभक्तिप्रतिरूपक

(क) अहंयु:—यहाँ 'अहम्' विभक्ति नहीं है, अपितु विभक्ति-प्रतिरूपक है। तब इसकी निपातसंज्ञा होकर 'युस्' प्रत्यय हुआ है।

(ख) अस्तिक्षीरा—यहाँ 'अस्ति' विभक्ति नहीं है, अपितु विभक्तिप्रतिरूपक है। तब 'क्षीर' के साथ समास होता है।

स्वरप्रतिरूपक

(क) अ—यह स्वर नहीं है, स्वरप्रतिरूपक है। तब निपात व अव्यय संज्ञा होती है।

(ख) इ—पूर्ववत् अव्यय संज्ञा होती है।

असत्त्वे—अर्थात् **द्रव्यवाचक** को **छोड़कर** शेष 'च' आदि की निपातसंज्ञा होती है। जिस शब्द में संख्या का व्यवहार हो अथवा जिसके लिए सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं। यथा—

'पशु' शब्द के दो अर्थ हैं—पशु (जानवर) तथा सम्यक्। जानवर अर्थ में 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक है। अत: निपातसंज्ञा नहीं होती है। तब अद्रव्य (= सम्यक्) अर्थ में 'पशु' शब्द की निपातसंज्ञा होती है।

(299) प्रादय: *58* (21)

प्रादयोऽसत्त्वे निपातसंज्ञा भवन्ति। प्र। परा। अप। सम्। अनु। अव। निस्। निर्। दुस्। दुर्। वि। आङ्। नि। अधि। अपि। अति। सु। उत्। अभि। प्रति। परि। उप। पृथग्योकरणमुत्तरसंज्ञाविशेषणार्थम्। 'उपसर्गा: क्रियायोगे' (1.4.59) इति चादीनामुपसर्गसंज्ञा मा भूत्। असत्त्वे इत्येव-परा जयन्ति सेना:।

अर्थ—द्रव्य अर्थ को छोड़कर 'प्र' आदि की निपातसंज्ञा होती है।

उदा० मूल में देखें।

काशिका आदि अनेक व्याकरण ग्रन्थों में 'उद्' के स्थान पर 'उत्' का पाठ उपलब्ध होता है, जो आचार्य के आशय के विरुद्ध है। पाणिनि के सूत्रपाठ से 'उद्' ऐसे स्वरूप का निश्चय होता है। द्र०—

(क) उदश्चर: सकर्मकात् (1.3.53)

(ख) उदि कूले रुजिवहो: (3.2.31)।

(ग) उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य (8.4.60)।

'दुस्' तथा 'दुर्' इस प्रकार एक ही उपसर्ग का सान्त व रेफान्त इस प्रकार दो बार पाठ किया जाना सप्रयोजन है। 'दुस्' के सकार को 'ससजुषो रु:' (8.2.66) के द्वारा 'रु' होता है, जो त्रिपादी में होने से पूर्व शास्त्र (सपाद सप्ताध्यायी) के प्रति असिद्ध है। तब 'दुस् अयते' इत्यादि स्थलों पर 'उपसर्गस्यायतौ' (8.2.19) के द्वारा लत्व प्राप्त नहीं होता है। यह ही 'दुस्' के सान्त पाठ का प्रयोजन है।

'दुर्' उपसर्ग का रेफ सकार के स्थान पर नहीं है तथा वह लत्व आदेश के प्रति असिद्ध भी नहीं है। अत: यहाँ लत्व निर्बाध (दुलयते) हो जाता है। यह ही 'दुर्' के रेफान्त पाठ का प्रयोजन है।

पृथग्योग—काशिकाकार कहते हैं कि 'प्रादय:। उपसर्गा: क्रियायोगे' इस प्रकार योगविभाग उत्तरवर्ती संज्ञा के लिए किया गया है। यदि ऐसा न करते तो 'च' आदि की भी उपसर्ग संज्ञा प्राप्त होती है।

असत्त्वे अर्थात् **सत्त्ववाची** को **छोड़कर** 'प्र' आदि की निपात संज्ञा होती है—

(1) परा जयन्ति सेना:

'परा' का प्रादि में पाठ होने से निपात संज्ञा प्राप्त हुई, परन्तु यहाँ 'परा' शब्द द्रव्यवाची है; अत: निपातसंज्ञा नहीं हुई। यदि इसकी निपात संज्ञा करते हैं तो 'उपसर्गा: क्रियायोगे' से उपसर्ग-संज्ञा होकर 'विपराभ्यां जे:' से आत्मनेपद प्राप्त होता है।

(300) उपसर्गा: क्रियायोगे *59* (22)

प्रादय: क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञा भवन्ति। प्रणयति, परिणयति। प्रणायक:, परिणायक:। क्रियायोग इति किम्? प्रगतो नायकोऽस्माद्देशात् प्रनायाको देश:। *मरुच्छब्दस्य चोपसंख्यानं कर्तव्यम्* (म०भा०) मरुद्भिर्दत्तो मरुत्त:। संज्ञाविधानसामर्थ्यात् अनजन्तत्वेऽपि 'अच उपसर्गात्त:' (7.4.47) इति तत्त्वं भवति। *श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्* (म०भा०) 'आतश्चोपसर्गे' (3.3.106) इति

अङ् भवति । श्रद्धा । उपसर्गप्रदेशाः-'उपसर्गे घोः किः' (3.3.93) इत्येवमादयः ।

अर्थ—क्रिया के योग में 'प्र' आदि की उपसर्गसंज्ञा होती है।

उदा० (1) प्रणयति
णी → नी—णकार का नकार,
नयति—तिप्, शप्, गुण,
प्रणयति—'प्र' की उपसर्गसंज्ञा, 'उपसर्गादसमा०' से णत्व।

(2) परिणयति (पूर्ववत् णत्व)।
(3) प्रणायकः (पूर्ववत्)।
(4) परिणायकः (पूर्ववत् णत्व)।

क्रिया० अर्थात् क्रिया के योग में ही 'प्र' आदि की उपसर्गसंज्ञा होती है—

(1) प्रनायको देशः
प्रगतो नायकोऽस्माद् देशात्—समास हुआ,
प्र नायक सु → प्रनायकः—यहाँ 'प्र' है, परन्तु क्रिया का योग नहीं है। अतः उपसर्गसंज्ञा नहीं हुई।

मरुच्छब्दस्य चोपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्—'मरुत्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा होती है—

(1) मरुत्तः
मरुद्भिर्दत्तः → मरुत् दा क्त—उपसर्गसंज्ञा हुई, उपसर्गसंज्ञा-विधानसामर्थ्य से 'अच उपसर्गात्तः०' से 'दा' के आकार को तकार आदेश हुआ।

श्रच्छब्दस्योपसङ्ख्यानम्—'श्रत्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा होती है—

(1) श्रद्धा
श्रत् धा—'श्रत्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा हुई, 'आतश्चोपसर्गे' से 'आङ्' हुआ,
श्रत् ध् अ—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्,
श्रद् धा सु—श्रद्धा।

(301) गतिश्च *60* (23)

गतिसंज्ञकाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे। प्रकृत्यं (2.2.18)। प्रकृंतम् (6.2.49)। यत् प्रकरोति (8.1.49)। योगविभाग उत्तरार्थः। उत्तरत्र गतिसंज्ञैव यथा स्यात्, उपसर्गसंज्ञा मा भूत्। ऊरीस्यादित्यत्र 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' (8.3.87) इति षत्वं प्रसज्येत। चकारः संज्ञासमावेशार्थः। प्रणीतम्। अभिषिक्तम्। 'गतिरनन्तरः' (6.2.49) इति स्वरः, 'उपसर्गात्' (8.4.14, 8.3.65) इति णत्वषत्वे च भवतः। *कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्* (म० भा०)। कारिकाकृत्य। कारिकाकृतम्। यत्कारिकाकरोति। *पुनश्चनसौ छन्दसि गतिसंज्ञौ भवत इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। पुनरुत्स्यूतं वासो देयम् (मै० 1.7.2)। 'गतिर्गतौ' (8.1.70) इति निघातो भवति। चनोहितः (ऋ० 3.11.2)। 'गतिरनन्तरः' (6.2.49) इति स्वरः। गतिप्रदेशाः-'कुगतिप्रादयः' (2.2.18) इत्येवमादयः।

अर्थ—क्रिया के योग में 'प्र' आदि की गतिसंज्ञा व उपसर्ग-संज्ञा—दोनों संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) प्रकृत्य
प्र कृ क्त्वा—धातोः समानकर्तृक०, गतिश्च इत्यादि सूत्र लग कर,
प्र कृ ल्यप्—'कुगतिप्रादयः' से समास, 'समासेऽनञ्पूर्वे०' से 'ल्यप्'—
प्र कृ त् य—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्, अनुबन्धलोप,
प्रकृत्य—सु, क्त्वातोसुन्कसुनः, अव्ययादाप् सुपः, सु का लुक्।
'प्र' की गतिसंज्ञा करने से समास हुआ।

(2) प्रकृतम्।
प्र कृ क्त—लशक्वतद्धिते, गुण का निषेध,
प्रकृतम्—सु, 'गतिरनन्तरः' से आद्युदात्त हुआ,
प्रकृंतम्।

(3) यत्प्रकरोति
प्र कृ तिप्—प्रकरोति।
'प्र' की गतिसंज्ञा हुई, 'निपातैर्यद्यदि' से 'प्र' को अनुदात्त नहीं हुआ।

योगविभाग—प्रस्तुत सूत्र को पूर्ववर्त्ती सूत्रों (प्रादयः। उपसर्गाः क्रियायोगे) के साथ पढ़ देने पर भी इष्टसिद्धि हो जाती है, परन्तु योगविभाग का प्रयोजन अग्रिम सूत्रों में गतिसंज्ञा का अनुवर्त्तन करना है। यथा—

(1) ऊरीस्यात्
यहाँ 'ऊरी' की केवल गतिसंज्ञा होती है; उपसर्गसंज्ञा नहीं होती है। तब 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्ति०' की प्रवृत्ति भी नहीं होती है। अन्यथा षत्व होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

चकारः—प्रस्तुत सूत्र में चकार का योग कई संज्ञाओं के समावेश के लिए है। प्रस्तुत सूत्र एकसंज्ञाऽधिकार में पठित होने

से यहाँ 'प्र' आदि की एक ही संज्ञा (अर्थात् गतिसंज्ञा) प्राप्त होती है। अत: चकार का योग किया गया है, ताकि 'गति' व 'उपसर्ग' दोनों संज्ञाएँ निर्बाध हो सकें।

'प्राग्रीश्वरान्निपाता:' से निपातसंज्ञा भी प्राप्त होती है। यथा—

(1) प्रणीतम्

प्र नी क्त → प्रनीत सु—क्त हुआ, गुण का निषेध, सु,

प्रणीतम्—गतिसंज्ञा होने से 'गतिरनन्तर:' से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हुआ तथा 'प्र' की उपसर्ग संज्ञा होने से 'उपसर्गादसमासे'० से णत्व हो गया है।

(2) अभिषिक्तम्

अभि सिच् क्त → अभिसिक्त—लशक्वतद्धिते, 'अभि' की गतिसंज्ञा हुई, 'गतिरनन्तर:' से प्रकृतिस्वर हुआ। 'अभि' की उपसर्गसंज्ञा हुई, षत्व हो गया,

अभिषिक्तम्—सु।

कारिकाशब्दस्योपसङ्ख्यानम्—'कारिका' शब्द की गतिसंज्ञा होती है—

(1) कारिकाकृत्य

कारिका कृ क्त्वा—धातो:, समानकर्तृक०,

कारिका कृ ल्यप्—गतिसंज्ञा, 'कुगतिप्रादय:' से समास, 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से 'ल्यप्',

कारिका कृ त् य—'ह्रस्वस्य पिति कृति०' से 'तुक्', अनुबन्ध-लोप,

कारिकाकृत्य—सु, सुलुक्।

पुनश्चनसौ छन्दसि गतिसञ्ज्ञौ भवत इति वक्तव्यम्—वेद में 'पुनस्' तथा 'चनस्' की गतिसंज्ञा होती है—

(1) पुनरुत् स्यूतं वासो देयम् (मै० 1.7.2)

'पुनस्' शब्द की गतिसंज्ञा हुई। 'गतिर्गतौ' से निघात हुआ।

(2) चनोहित:

'चनस्' की गतिसंज्ञा हुई। 'गतिरनन्तर:' से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हुआ।

(302) ऊर्यादिच्विडाचश्च *61* (762)

ऊर्यादय: शब्दा: च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञा भवन्ति। च्विडाचो: कृभ्वस्तियोगे विधानं तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि तैरेव योगे गतिसंज्ञा विधीयते। ऊरी-उररी, शब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च (ग०सू० 136)। ऊरीकृत्य, ऊरीकृतम्, यदूरीकरोति। उररीकृत्य। उररीकृतम्। यदुररीकरोति। पापी। ताली। आताली। वेताली। धूसी। शकला। संशकला। ध्वंसकला। अंशकला। एते शकलादयो हिंसायाम् (ग०सू० 136)। शकलाकृत्य। संशकलाकृत्य। ध्वंसकलाकृत्य। भ्रंशकलाकृत्य। गुलुगुधा पीडार्थे (ग०सू० 136)। गुलुगुधाकृत्य। सजू: सहार्थे (ग०सू० 137)। सजू:कृत्य। फलू, फली, विक्ली, आक्ली-इति विकारे (ग०सू० 137)। फलूकृत्य। फलीकृत्य। विक्लीकृत्य। आक्लीकृत्य। आलोष्टी, कराली, केवाली, शेवाली, वर्षाली, मस्मसा, मसमशा-एते हिंसायाम्। वषट्। वौषट्। श्रौषट्। स्वाहा। स्वधा। बन्धा। प्रादुस्। श्रुत्। आविस्। च्व्यन्ता: खल्वपि-शुक्लीकृत्य। शुक्लीकृतम्। यच्छुक्लीकरोति। डाच्-पटपटाकृत्य। पटपटाकृतम्। यत्पटपटाकरोति।

अर्थ—ऊर्यादि शब्द, च्विप्रत्ययान्त तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्दों की क्रिया के योग में गति और निपात दो संज्ञाएँ होती हैं।

'च्वि' तथा 'डाच्' प्रत्ययों का कृ, भू तथा अस् के योग में विधान है। इनके साहचर्य से 'ऊरी' आदि शब्दों की भी 'कृ' आदि के योग में गतिसंज्ञा होती है।

ऊरी तथा उररी शब्दों के 'अंगीकार' व 'वितार' अर्थ हैं।

उदा० (1) ऊरीकृत्य

ऊरी कृ क्त्वा—'ऊरी' की गतिसंज्ञा, समास, ल्यप्,

ऊरी कृ य → ऊरीकृत्य—तुक्, सु, सुलुक्।

(2) ऊरीकृतम्

ऊरी कृ क्त—गतिसंज्ञा, समास,

ऊरीकृतम्—सु।

(3) (यद्) ऊरीकरोति (पूर्ववत्)।

(4) उररीकृत्य (पूर्ववत्)।

(5) उररीकृतम् (पूर्ववत्)।

(6) (यद्) उररीकरोति (पूर्ववत्)।

(7) शुक्लीकृत्य

अशुक्लं शुक्लं कृत्वा—इस दशा में,

शुक्ल च्वि → शुक्ल व्—कृभ्वस्तियोगे, वेरपृक्तस्य,

शुक्लीकृ—अस्य च्वौ, प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा, पूर्वनिपात,

शुक्ली कृ ल्यप्—समास, क्त्वा को ल्यप्,

शुक्लीकृत्य—तुक्, सु, सुलुक्।

(8) शुक्लीकृतम्

पूर्ववत् गतिसंज्ञा।
(9) (यच्) छुक्लीकरोति
पूर्ववत् गतिसंज्ञा।

(10) पटपटाकृत्य
पटत् पटत् कृ—विग्रह,
पट पटा कृ क्त्वा—क्त्वा,
पटपटा कृ ल्यप्—ल्यप्,
पटपटाकृत्य—तुक्, सु, सुलुक्।

(11) पटपटाकृतम्
क्त प्रत्यय में पूर्ववत् रूप बनता है।

(12) पटपटाकरोति (सपूर्ववत्)।

विशेष—1. ऊर्यादिगण को काशिका आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये। इस गण में पठित 'वषट्' से 'स्वधा' पर्यन्त शब्दों का पाठ चादिगण में भी प्राप्त होता है। अत: क्रियायोगाभाव में भी इनकी निपातसञ्ज्ञा होती है।

(2) 'आविस्' शब्द का पाठ 'साक्षात् प्रभृतीनि' (1.4.74) में भी प्राप्त होता है। अत: 'विभाषा कृञि' से यह 'कृ' धातु के योग में विकल्प से गतिसञ्ज्ञक होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा कृ, भू तथा अस् धातुओं के योग में नित्य गतिसञ्ज्ञा का विधान है।

(3) 'सुप्तिङन्तं पदम्' में 'अन्त' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अन्यत्र (अर्थात् पदसञ्ज्ञा से अतिरिक्त) सञ्ज्ञाविधि में प्रत्ययग्रहण होने पर तदन्तविधि नहीं होती है। परन्तु प्रकृत सूत्र '—च्विडाचश्च' में तदन्तविधि हो जाती है। इसका कारण है—'क्रियायोगे' पद का अनुवर्त्तन। चूँकि प्रत्ययमात्र का क्रिया-योग सम्भव नहीं है; अत: 'क्रियायोगे' इस पद के अनुवर्त्तन के सामर्थ्यवशात् यहाँ तदन्त (अर्थात् च्व्यन्त व डाजन्त) की ही गति-सञ्ज्ञा होती है।

(303) अनुकरणं चानितिपरम् *62* (763)

इतिः परो यस्मादिति बहुव्रीहिः। अनुकरणमनितिपरं क्रियायोगे गतिसंज्ञं भवति। खाट्कृत्य। खाट्कृतम्। यत् खाट्करोति। अनितिपरमिति किम्? खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्।

अर्थ—'इति' है परे जिससे, उसे 'इतिपर' कहते हैं।

जिससे परे 'इति' शब्द नहीं है, ऐसे अनुकरणवाची शब्द की क्रिया के योग में गति और निपात—दो संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) खाट्कृत्य
किसी व्यक्ति ने 'खाट्' इस प्रकार शब्द किया। दूसरे व्यक्ति ने 'खाट्' इस प्रकार बोला। इस स्थिति में अनुकरण वाले 'खाट्' शब्द की गतिसंज्ञा हुई।
खाट् कृ क्त्वा—तब समास, ल्यप्, तुक्,
खाट्कृत्य—सु, सुलुक्।

(2) खाट् कृतम्
पूर्ववत् गतिसंज्ञा हो गई।

(3) (यत्) खाट्करोति (पूर्ववत्)।

अनिति० अर्थात् **जिससे परे 'इति'** शब्द नहीं है, ऐसे अनुकरणवाची शब्द की गति व निपात संज्ञाएँ होती हैं। यथा—

खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्
यहाँ 'इति' शब्द परे है। अत: गति व निपातसंज्ञाएँ नहीं हुईं।

(304) आदरानादरयोः सदसती *63* (764)

प्रीतिसम्भ्रमः आदरः। परिभवौदासीन्यमनादरः। आदरानादरयोर्यथाक्रमं सदसच्छब्दौ गतिसंज्ञौ भवतः। सत्कृत्य। सत्कृतम्। यत्सत्करोति। असत्कृत्य। असत्कृतम्। यदसत्करोति। आदरानादरयोरिति किम्? सत्कृत्वा काण्डं गतः। असत्कृत्वा काण्डं गतः।

अर्थ—प्रीति का अतिशय 'आदर' कहलाता है तथा परिभव-जन्य उदासीनता 'अनादर' कहलाता है।

आदर और अनादर अर्थों में यथासंख्य करके 'सत्' तथा 'असत्' शब्दों की गति व निपात संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) सत्कृत्य
सत् कृ क्त्वा—आदर अर्थ में 'सत्' की गतिसंज्ञा हुई,
सत् कृत्य—समास, ल्यप्, तुक्,
सत्कृत्य—सु, सुलुक्।

(2) सत्कृतम्
सत् कृ क्त—पूर्ववत्।

(3) यत् सत्करोति (पूर्ववत्)।
(4) असत्कृत्य
अनादर अर्थ में 'असत्' की गतिसंज्ञा हुई।

(5) असत्कृतम् (पूर्ववत्)।
(6) यदसत्करोति (पूर्ववत्)।

आदराना० अर्थात् **आदर व अनादर अर्थों में ही गति संज्ञा होती है—**

(1) सत्कृत्वा काण्डं गतः
यहाँ आदर अर्थ नहीं है। अतः 'सत्' की गतिसंज्ञा नहीं हुई।
(2) असत्कृत्वा काण्डं गतः
अनादर अर्थ नहीं है। अतः 'असत्' की गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(205) भूषणेऽलम् *64* (765)

अलमिति प्रतिषेधे, सामर्थ्ये, पर्याप्तौ भूषणे चेति विशेषणमुपादीयते। भूषणे योऽलंशब्दः स गतिसंज्ञो भवति। अलंकृत्य। अलंकृतम्। यदलंकरोति। भूषण इति किम्? अलं भुक्त्वा ओदनं गतः।

अर्थ—'अलम्' शब्द के चार अर्थ हैं—प्रतिषेध, सामर्थ्य, पर्याप्ति तथा भूषण।

'भूषण' अर्थ में 'अलम्' शब्द की क्रियायोग में गति व निपात संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अलङ्कृत्य
अलम् कृ क्त्वा—'भूषण' अर्थ में 'अलम्' है। गतिसंज्ञा होकर समास हुआ,
अलम् कृत्य—ल्यप्, तुक्,
अलङ्कृत्य—अनुस्वार, परसवर्ण, सु, सुलुक्।
(2) अलङ्कृतम्
अलम् कृ क्त—पूर्ववत् गतिसंज्ञा,
अलङ् कृतम् (पूर्ववत्)।
(3) यदलङ्करोति (पूर्ववत्)।

अर्थात् **भूषण** अर्थ में ही 'अलम्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है—

(1) अलं भुक्त्वौदनं गतः
यहाँ 'अलम्' का अर्थ 'भूषण' नहीं है, पर्याप्ति है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(306) अन्तरपरिग्रहे *65* (766)

अन्तःशब्दोऽपरिग्रहेऽर्थे गतिसंज्ञो भवति। परिग्रहः स्वीकरणम्, तदभावे गतिसंज्ञा विधीयते। अन्तर्हत्य। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति। अपरिग्रह इति किम्? अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः। परिगृह्य गत इत्यर्थः। *अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गसंज्ञा व्यक्तव्या* (म०भा०)। अङ्–अन्तर्द्धा (3.3.106)। किविधिः–अन्तर्द्धिः (3.3.92)। णत्वम्–अन्तर्णयति (8.4.14)।

अर्थ—स्वीकार अर्थ को छोड़कर 'अन्तर्' शब्द की गति व निपात संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अन्तर्हत्य
अन्तर् हन् क्त्वा—'क्त्वा' हुआ, स्वीकार से भिन्न अर्थ (= मध्य) में 'अन्तर्' शब्द की गतिसंज्ञा हुई,
अन्तर् हन् ल्यप्—समास, ल्यप्,
अन्तर् हत्य—अनुनासिकलोप, तुक्,
अन्तर्हत्य—सु, सुलुक्।
(2) अन्तर्हतम्
पूर्ववत् गतिसंज्ञा।
(3) यदन्तर्हन्ति
पूर्ववत् गतिसंज्ञा।

अपरिग्रहे अर्थात् **स्वीकार** अर्थ को **छोड़कर** अन्यत्र 'अन्तर्' शब्द की गतिसंज्ञा होती है—

(1) अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः
यहाँ 'अन्तर्' शब्द 'परिग्रह' अर्थ में है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गसञ्ज्ञा वक्तव्या—अङ्, किविधि तथा णत्वविषय में 'अन्तर्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा होती है—

(1) अन्तर्द्धा
अन्तर् धा अङ्—'अङ्' में 'अन्तर्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा हुई, आतश्चोपसर्गे,
अन्तर् ध् अ—आतो लोप इटि च,
अन्तर् ध् ध् अ—अचो रहाभ्यां द्वे,
अन्तर् द् ध—झलां जश् झशि,
अन्तर्द्धा—टाप्, सु, सुलुक्।
(2) अन्तर्द्धिः
अन्तर् धा—उपसर्गसंज्ञा,
अन्तर् धा कि—उपसर्गे घोः किः,
अन्तर ध् इ—लशक्वतद्धिते, आतो लोप इटि च,
अन्तर्द्धि—अचो रहाभ्यां द्वे,
अन्तर्द्धिः—सु।
(3) अन्तर्णयति
अन्तर् नी लट्—'अन्तर्' की उपसर्गसंज्ञा,
अन्तर् नयति—तिप्, शप्,
अन्तर्णयति—उपसर्गादसमासेऽपि०।

(307) कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते *66* (767)

कणेशब्दो मनस्शब्दश्च श्रद्धाप्रतीघाते गतिसंज्ञौ भवतः। कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य पयः पिबति। तावत्पिबति यावदस्याभिलाषो निवृत्तः। श्रद्धा प्रतिहतेत्यर्थः। श्रद्धाप्रतीघाते इति किम्? कणे हत्वा गतः, मनो हत्वा गतः।

अर्थ—श्रद्धा के अत्यधिक अभिलाषा अर्थ में 'कणे' शब्द तथा 'मनस्' शब्दों की गतिसंज्ञा व निपातसंज्ञा होती है।

उदा० (1) कणेहत्य पयः पिबति

कणे हन् क्त्वा—यहाँ श्रद्धा का प्रतिघात अर्थ है। 'कणे' की गतिसंज्ञा हुई। समास हुआ,

कणे हन् ल्यप् → कणेहत्य—ल्यप्, तुक्, सु आदि।

(2) मनोहत्य पयः पिबति

'मनस्' शब्द की गतिसंज्ञा हुई। पूर्ववत् समास आदि।

श्रद्धाप्रतिघाते अर्थात् श्रद्धा के प्रतिघात अर्थ में ही 'कणे' व 'मनस्' शब्दों की गतिसंज्ञा होती है—

(1) कणे हत्वा गतः

यहाँ श्रद्धाप्रतिघात अर्थ नहीं है। तब गतिसंज्ञा, समास आदि नहीं हुए।

(2) मनो हत्वा गतः (पूर्ववत्)।

(308) पुरोऽव्ययम् *67* (768)

असिप्रत्ययान्तः पुरःशब्दोऽव्ययम्, स गतिसंज्ञो भवति। समासस्वरोपचाराः (8.3.40) प्रयोजनम्। पुरस्कृत्य। पुरस्कृतम्। यत्पु-रस्करोति। अव्ययमिति किम्? पूः, पुरौ, पुरः कृत्वा काण्डं गतः।

अर्थ—असि प्रत्ययान्त 'पुरस्' शब्द अव्यय है।

क्रिया के योग में 'पुरस्' अव्यय की गतिसंज्ञा व निपातसंज्ञा होती है।

समास, स्वर तथा विसर्ग का सत्व ही इसकी गतिसंज्ञा के प्रयोजन हैं।

उदा० (1) पुरस्कृत्य

पुरस् कृ क्त्वा—पूर्ववत् गतिसंज्ञा, समास आदि,

पुरस्कृत्य—गतिसंज्ञा होने से 'नमस्पुरसोर्गत्योः' से सकार होता है।

(2) पुरस्कृतम्

पूर्ववत् गतिसंज्ञा।

(3) (यत्) पुरस्करोति (पूर्ववत्)।

अव्ययम् अर्थात् अव्ययसंज्ञक पुरस् की ही गतिसंज्ञा होती है—

(1) पुरः कृत्वा काण्डं गतः

यहाँ 'पुरः' शब्द अव्यय नहीं है, अपितु 'पुर्' शब्द के प्रथमा बहुवचन (पुर् जस्) का रूप है। तब गतिसंज्ञा नहीं हुई। समास नहीं हुआ।

(309) अस्तं च *68* (769)

अस्तंशब्दो मकारान्तोऽव्ययमनुपलब्धौ वर्त्तते, स गतिसंज्ञो भवति। अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति। अस्तंगतानि धनानि। यदस्तंगच्छति। अव्ययमित्येव–अस्तं काण्डम्। क्षिप्तमित्यर्थः।

अर्थ—क्रिया के योग में 'अस्तम्' अव्यय की गति तथा निपात—ये दो संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अस्तङ्गत्य सविता पुनरुदेति

अस्तम् गम् क्त्वा—'अस्तम्' की गतिसंज्ञा, समास, ल्यप्, अनुनासिकलोप,

अस्तम् गम् ल्यप् → अस्तम् ग य → अस्तम् गत्य—तुक्,

अस्तङ्गत्य—अनुस्वार, परसवर्ण, सु, सुलुक्।

(2) अस्तङ्गतानि धनानि (पूर्ववत्)।

(3) यदस्तङ्गच्छति (पूर्ववत्)।

अव्यय अर्थात् अव्ययसंज्ञक अस्तम् शब्द की गतिसंज्ञा होती है—

(1) अस्तं कृत्वा काण्डम्

यहाँ 'अस्तम्' अव्यय नहीं है, तिङन्त है। अतः इसकी गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(310) अच्छ गत्यर्थवदेषु *69* (770)

अच्छशब्दोऽव्ययमभिशब्दस्यार्थे वर्त्तते। स गत्यर्थेषु धातुषु वदतौ च गतिसंज्ञो भवति। अच्छगत्य। अच्छगतम्। यदच्छगच्छति। वदतौ–अच्छोद्य, अच्छोदितम्, यदच्छवदति। अव्ययमित्येव–उदकमच्छं गच्छति।

अर्थ—'अच्छ' शब्द अव्यय है।

अव्ययसंज्ञक 'अच्छ' शब्द गमनार्थक धातु तथा वद् धातु के योग में गतिसंज्ञक व निपातसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अच्छगत्य (= सामने आकर)
अच्छ गम् क्त्वा—'अच्छ' की गतिसंज्ञा,
अच्छ गम् ल्यप्—समास, ल्यप्,
अच्छगत्य—अनुनासिक लोप, तुक्, सु, सुलुक्।
(2) अच्छगतम् (पूर्ववत्)।
(3) यदच्छगच्छति (सपूर्ववत्)।
(4) अच्छोद्य,
अच्छ वद् क्त्वा—पूर्ववत् गतिसंज्ञा, समास, ल्यप्,
अच्छ वद् ल्यप्—'वचिस्वपियजा०' से सम्प्रसारण,
अच्छोद्य सु → अच्छोद्य—आद्गुणः।
(5) अच्छोदितम्
अच्छ वद् क्त—(पूर्ववत्)।
(6) यदच्छवदति (पूर्ववत्)।

अव्यय० अर्थात् **अव्ययसंज्ञक** अच्छ शब्द की गतिसंज्ञा होती है—

(1) उदकमच्छं गच्छति (= स्वच्छ जल को प्राप्त करता है)
यहाँ 'अच्छ' अव्यय संज्ञक नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(311) अदोऽनुपदेशे *70* (771)

अदःशब्दस्त्यदादिषु पठ्यते, सोऽनुपदेशे गतिसंज्ञो भवति। उपदेशः परार्थः प्रयोगः। स्वयमेव तु यदा बुद्ध्या परामृशति तदा नास्त्युपदेश इति सोऽस्य विषयः। अदःकृत्य। अदःकृतम्। यददःकरोति। अनुपदेश इति किम्? अदः कृत्वा काण्डं गत इति परस्य कथयति।

अर्थ—'अदस्' शब्द का त्यदादिगण में पाठ है। किसी के लिए कही गई बात को 'उपदेश' कहा जाता है।

'उपदेश' अर्थ को छोड़कर अन्यत्र 'अदस्' शब्द की गति व निपात—ये संज्ञाएँ होती हैं, क्रिया के योग में।

उदा० (1) अदःकृत्य (= स्वयं विचार कर)
अदस् कृ क्त्वा—'अदस्' की गतिसंज्ञा,
अदःकृत्य—समास, ल्यप्, तुक्।
(2) अदःकृतम् (पूर्ववत्)।
(3) यद् अदःकरोति (पूर्ववत्)।

अनुपदेशे अर्थात् **उपदेश अर्थ को छोड़कर** ही 'अदस्' की गतिसंज्ञा होती है—

(1) अदः कृत्वा काण्डं गतः
यहाँ 'अदस्' उपदेश अर्थ में है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(312) तिरोऽन्तर्द्धौ *71* (772)

अन्तर्द्धिर्व्यवधानम्। तत्र तिरःशब्दो गतिसंज्ञो भवति। तिरोभूय। तिरोभूतम्। यत् तिरोभवति। अन्तर्द्धाविति किम्? तिरो भूत्वा स्थितः। पार्श्वतो भूत्वेत्यर्थः।

अर्थ—'अन्तर्द्धि' का अर्थ है—व्यवधान।

व्यवधान अर्थ में 'तिरस्' शब्द की गति तथा निपात—ये दो संज्ञाएँ होती हैं, क्रिया के योग में।

उदा० (1) तिरोभूय
तिरस् भू क्त्वा—गतिसंज्ञा, समास,
तिरस् भू य—ल्यप्,
तिरोभूय।
(2) तिरोभूतम् (पूर्ववत्)।
(3) यत्तिरोभवति (पूर्ववत्)।

अन्तर्द्धा० अर्थात् **व्यवधान** अर्थ में ही 'तिरस्' शबद की गति व निपात संज्ञाएँ होती हैं—

(1) तिरो भूत्वा स्थितः (= सामने होकर खड़ा है),
'तिरस्' शब्द के छः अर्थ होते हैं। यथा—

(क) तिरछापन, (ख) चुपचाप, (ग) गुप्तरूपेण, (घ) अनादर करना (यथा—तिरस्कृ), (ङ) दूर हटाना तथा (च) छिपाना।

यहाँ 'तिरस्' का अर्थ व्यवधान नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(313) विभाषा कृञि *72* (773)

अन्तर्द्धाविति वर्त्तते। प्राप्तविभाषेयम्। तिरःशब्दः करोतौ परतो विभाषा गतिसंज्ञो भवति। तिरःकृत्य, तिरस्कृत्य (8.3.42)। तिरस्कृतम्। यत्तिरस्करोति। तिरःकृत्वा। तिरस्कृत्वा। अन्तर्द्धावित्येव-तिरः कृत्वा काष्ठं तिष्ठति।

अर्थ—'अन्तर्द्धौ' पद का अनुवर्त्तन है। यह प्राप्त विभाषा है।

छिपने अर्थ में 'तिरस्' शब्द की 'कृ' धातु के योग में गतिसंज्ञा विकल्प से तथा निपातसंज्ञा नित्य होती है।

उदा० (1) तिरःकृत्य
तिरस् कृ क्त्वा—छिपना अर्थ में 'तिरस्' की 'कृ' के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा हुई, गतिसंज्ञापक्ष में समास, ल्यप्, तुक्,
तिरस् कृ त्य—अनुबन्धलोप,

तिरःकृत्य—'तिरसोऽन्यतरस्याम्' से विसर्जनीय को सकार आदेश विकल्प से हुआ, सु,

तिरःकृत्य—सुलुक्।

(2) तिरस्कृत्य
सकार आदेश पक्ष में।

(3) तिरःकृत्वा,
पक्ष में गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(4) तिरस्कृत्वा
गतिसंज्ञा नहीं हुई। पक्ष में सकार आदेश।[1]

(5) तिरस्कृतम्
पूर्ववत् गतिसंज्ञा।

(6) यत्तिरस्करोति (पूर्ववत्)।

अन्तर्द्धाव० अर्थात् व्यवधान अर्थ में ही 'तिरस्' की गति संज्ञा होती है। यथा—

(1) तिरःकृत्वा काष्ठं तिष्ठति
यहाँ व्यवधान (= छिपना) अर्थ नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(314) उपाजेऽन्वाजे *73* (774)

विभाषा कृञीति वर्तते। उपाजेऽन्वाजेशब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ दुर्बलस्य सामर्थ्याधाने वर्त्तेते। तौ कृञि विभाषा गतिसंज्ञौ भवतः। उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य। अन्वाजे कृत्वा।

अर्थ—'विभाषा कृञि' का अनुवर्त्तन है। 'उपाजे' तथा 'अन्वाजे' शब्द विभक्तिप्रतिरूपक निपात हैं। ये दुर्बल को समर्थ बनाने अर्थ में होते हैं।

अर्थ—'कृ' धातु के योग में 'उपाजे' तथा 'अन्वाजे' शब्दों की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है तथा निपातसंज्ञा नित्य होती है।

उदा० (1) उपाजेकृत्य
'उपजे' की गतिसंज्ञा विकल्प से हुई। समास, ल्यप् आदि होकर रूप बना।

(2) उपाजेकृत्वा
पक्ष में गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(3) अन्वाजेकृत्य (पूर्ववत्)।

(4) अन्वाजे कृत्वा (पूर्ववत्)।

(315) साक्षात्प्रभृतीनि च *74* (775)

विभाषा कृञीति वर्त्तते। साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि विभाषा गतिसंज्ञानि भवन्ति। *साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनम्* (म०भा०)। साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा। मिथ्याकृत्य, मिथ्या कृत्वा। साक्षात्। मिथ्या। चिन्ता। भद्रा। लोचना। विभाषा। संपत्का। आस्था। अमा। श्रद्धा। प्राजर्या। प्राजरुहा। वीजर्या। वीजरुहा। संसर्या। अर्थे। लवणम्। उष्णम्। शीतम्। उदकम्। आर्द्रम्। गतिसंज्ञासन्नियोगेन लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते। अग्नौ। वशे। विकम्पने। विहसने। प्रहसने। प्रतपने। प्रादुस्। नमस्। आविस्।

अर्थ—'विभाषा कृञि' की अनुवृत्ति है।

साक्षात् इत्यादि शब्दों की 'कृ' धातु के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा होती है तथा नित्य निपातसंज्ञा होती है।

साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनम्—'च्वि' अर्थ में साक्षात् आदि शब्दों की गतिसंज्ञा होती है।

उदा० (1) साक्षात्कृत्य
पूर्ववत् विकल्प से गतिसंज्ञा, समास आदि।

(2) साक्षात्कृत्वा
पक्ष में गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(3) मिथ्याकृत्य
पूर्ववत् गतिसंज्ञा।

(4) मिथ्याकृत्वा
गतिसंज्ञा नहीं हुई।

अन्य उदाहरण मूल में देखें।

गतिसंज्ञा—गतिसंज्ञा के सन्नियोग से 'लवण' आदि शब्दों का मकारान्त निपातन किया जाता है। यथा—

(1) लवणङ्कृत्य
लवण कृ क्त्वा—मकारान्तता का निपातन, गतिसंज्ञा का विकल्प, गतिसंज्ञा पक्ष में—
लवणम् कृत्य → लवणङ्कृत्य—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) लवणं कृत्वा
पक्ष में गतिसंज्ञा नहीं हुई, परन्तु मकारान्तता का निपातन हुआ।

1. वस्तुतः गति अभाव पक्ष में 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' प्रवृत्त नहीं होता है। अतः यहाँ काशिकाकार के द्वारा सकारवान् (तिरस्कृत्वा) रूप दिखाया जाना चिन्तनीय है। द्र०—न्यास 1.4.73.

(3) लवणीकृत्य

लवण कृ क्त्वा—गतिसंज्ञा के अभावपक्ष में 'च्वि' हुआ,

लवणीकृत्य—पूर्वविप्रतिषेध से 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' के द्वारा नित्य गतिसंज्ञा होती है,

लवणीकृत्य।

(316) अनत्याधान उरसिमनसी *75* (776)

विभाषा कृञीति वर्त्तते। अत्याधानमुपश्लेषणम्, तद-भावेऽनत्याधाने उरसिमनसी शब्दौ विभाषा कृञि गतिसंज्ञौ भवतः। उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा, मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा। अनत्याधान इति किम्? उरसि कृत्वा पाणिं शेते।

अर्थ—उपश्लेषण को अत्याधान कहते हैं।

. अनत्याधान (अर्थात् चिपका कर न रखना) अर्थ में 'उरसि' तथा 'मनसि' शब्दों की 'कृ' धातु के योग में विकल्प से गतिसंज्ञा तथा नित्य निपातसंज्ञा होती है।

'उरसि' तथा 'मनसि' शब्द विभक्तिप्रतिरूपक निपात हैं।

उदा० (1) उरसिकृत्य
गतिसंज्ञा हुई।

(2) उरसिकृ त्वा
गति संज्ञा नहीं हुई।

(3) मनसिकृत्य
गतिसंज्ञा हुई।

(4) मनसि कृत्वा
गतिसंज्ञा नहीं हुई।

अनत्याधाने अर्थात् उपश्लेषण से भिन्न अर्थ में 'उरसि' व 'मनसि' शब्दों की गतिसंज्ञा होती है—

(1) उरसि कृत्वा पाणिं शेते
यहाँ उपश्लेषण अर्थ है। गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(317) मध्ये पदे निवचने च *76* (777)

विभाषा कृञीति वर्त्तते। चकारादनत्याधान इति च। मध्ये, पदे, निवचने–इत्येते शब्दा अनत्याधाने विभाषा कृञि गतिसंज्ञा भवन्ति। मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनं वचनाभावः। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा। वाचं नियम्येत्यर्थः। अनत्याधान इत्येव–हस्तिनः पदे कृत्वा शिरः शेते।

अर्थ—'विभाषा कृञि' का अनुवर्त्तन है। चकार से 'अनत्याधाने' पद का भी अनुकर्षण होता है।

मध्ये, पदे तथा निवचने—इन शब्दों की गतिसंज्ञा तथा निपात-संज्ञा विकल्प से होती है, अनत्याध्यान विषय में तथा 'कृ' धातु के योग में।

मध्ये तथा पदे प्रतिरूपक निपात हैं। 'निवचने' में एकारान्तता निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) मध्येकृत्य
गतिसंज्ञा।

(2) मध्ये कृत्वा
गतिसंज्ञा का अभाव।

(3) पदेकृत्य
गतिसंज्ञा।

(4) पदे कृत्वा
गतिसंज्ञा का अभाव।

(5) निवचने कृत्य
गतिसंज्ञा।

(6) निवचने कृत्वा
गतिसंज्ञा का अभाव।

अनत्या० अर्थात् उपश्लेषण से भिन्न अर्थ में ही गतिसंज्ञा होती है—

(1) (हस्तिनः) पदे कृत्वा शिरः शेते
यहाँ उपश्लेषण अर्थ है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(318) नित्यं हस्ते पाणावुपयमने *77* (778)

कृञीति वर्तते। हस्ते, पाणौ इत्येतौ–शब्दौ कृञि नित्यं गतिसंज्ञौ भवत उपयमने। उपयमनं दारकर्म। हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य। दारकर्म कृत्वेत्यर्थः। उपयमन इति किम्? हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः।

अर्थ—'कृञि' की अनुवृत्ति है। उपयमन = विवाह।

विवाह के विषय में 'हस्ते' तथा 'पाणौ' शब्दों की गति तथा निपात संज्ञाएँ नित्य होती हैं, 'कृ' धातु के योग में।

उदा० (1) हस्तेकृत्य
गतिसंज्ञा हुई।

(2) पाणौकृत्य
गतिसंज्ञा हुई।

उपयमने अर्थात् विवाह अर्थ में ही गतिसंज्ञा होती है—

(1) हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः

यहाँ विवाह अर्थ नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(319) प्राध्वं बन्धने *78* (779)

कृञीति वर्त्तते। 'प्राध्वम्' इति मकारान्तमव्ययम् आनुकूल्ये वर्त्तते। तदानुकूल्यं बन्धनहेतुकं यदा भवति तदा 'प्राध्वम्' शब्दः कृञि नित्यं गतिसंज्ञो भवति। प्राध्वंकृत्य। बन्धन इति किम्? प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः।

अर्थ—आनुकूल्य अर्थ में मकारान्त अव्यय 'प्राध्वम्' होता है।

आनुकूल्य अर्थ में बन्धन के विषय में 'कृ' धातु के योग में 'प्राध्वम्' (अव्यय) की गति संज्ञा व निपातसंज्ञा नित्य होती हैं।

उदा० (1) प्राध्वङ्कृत्य

गतिसंज्ञा हुई। अनुस्वार व परसवर्ण।

बन्धने अर्थात् बन्धन के विषय में ही गतिसंज्ञा होती है—

(1) प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः

यहाँ बन्धन अर्थ नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(320) जीविकोपनिषदावौपम्ये *79* (780)

कृञीति वर्त्तते। जीविका, उपनिषदित्येतौ शब्दौ औपम्ये विषये कृञि गतिसंज्ञौ भवतः। जीविकाकृत्य। उपनिषत्कृत्य। औपम्य इति किम्? जीविकां कृत्वा गतः।

अर्थ—'कृञि' पद की अनुवृत्ति है।

जीविका तथा उपनिषद् शब्दों की गतिसंज्ञा व निपातसंज्ञा होती है, उपमा के विषय में तथा 'कृ' धातु के योग में।

उदा० (1) जीविकाकृत्य

गतिसंज्ञा हुई।

(2) उपनिषत्कृत्य

गतिसंज्ञा हुई।

औपम्ये अर्थात् उपमा के विषय में ही गतिसंज्ञा होती है—

(1) जीविकां कृत्वा गतः

यहाँ उपमा का विषय नहीं है। अतः गतिसंज्ञा नहीं हुई।

(321) ते प्राग्धातोः *80* (2230)

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्राक् प्रयोक्तव्याः। तथा चैवोदाहृताः। 'ते' ग्रहणमुपसर्गार्थम्। गतयो ह्यनन्तराः।

अर्थ—'ते' पद के द्वारा गतिसंज्ञक व उपसर्गसंज्ञक शब्दों का ग्रहण होता है।

गतिसंज्ञक तथा उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से (अव्यवहित) पूर्व प्रयुक्त होते हैं।

(322) छन्दसि परेऽपि *81* (3391)

प्राक् प्रयोगे प्राप्ते छन्दसि परेऽभ्यनुज्ञायन्ते। छन्दसि विषये गत्युपसर्गसंज्ञकाः परेऽपि पूर्वेऽपि प्रयोक्तव्याः। न च परेषां प्रयुज्यमानानां संज्ञाकार्यं किञ्चिदस्ति। केवलं परप्रयोगेऽपि क्रियायोग एषामस्तीति ज्ञाप्यते। याति नि हस्तिना। नियाति हस्तिना। हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति मुष्टिना।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा (धातु से) पूर्व प्रयोग प्राप्त होने पर वेद के विषय में धातु से पर भी होते हैं—इसका विधान किया जाता है।

वेद के विषय में गतिसंज्ञक तथा उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से परे तथा पूर्व भी प्रयुक्त होते हैं।

सूत्रस्थ 'अपि' पद के द्वारा 'प्राक्' पद का अनुकर्षण होता है। बाद में प्रयुक्त होने वालों का कोई भी संज्ञाकार्य नहीं है। केवल पर प्रयोग में भी इनका क्रिया योग (अक्षुण्ण) बना रहता है—यह ज्ञापित होता है।

उदा० (1) याति नि हस्तिना

'नि' का प्रयोग 'याति' से परे हुआ है।

(2) हन्ति नि मुष्टिना (पूर्ववत्)।

(323) व्यवहिताश्च *82* (3392)

व्यवहिताश्च गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि दृश्यन्ते। 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि। मयूररोमभिः' (ऋ० 3.45.1) आयाहि (ऋ० 6.16.10)।

अर्थ—वेद में गतिसंज्ञक व उपसर्गसंज्ञक शब्दों का प्रयोग व्यवहित रूप से भी होता है।

उदा० (1) आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि (ऋ० 3.45.1)

'आ' तथा 'याहि' के मध्य व्यवधान है।

(2) आयाहि

'याहि' से ठीक पूर्व 'आ' का प्रयोग है।

(324) कर्मप्रवचनीयाः *83* (546)

कर्मप्रचनीया इत्यधिकारो वेदितव्यः। यानित ऊर्ध्व-

मनुक्रमिष्यामः कर्मप्रवचनीयसंज्ञास्ते वेदितव्याः। 'अधिरीश्वरे' (1.4.97) इति यावद्वक्ष्यति। कर्मप्रवचनीयप्रदेशाः-कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (2.3.8) इत्येवमादयः।

अर्थ—'कर्मप्रवचनीयः' यह अधिकार जानना चाहिए। यहाँ से आगे जिस-जिस का उपदेश किया जायेगा, उस-उस की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है।

इसका अधिकार 'अधिरीश्वरे' (1.4.97) तक चलता है। कर्म (अर्थात् क्रिया के द्वारा निरूपित सम्बन्धविशेष) को कहने के कारण इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहा जाता है। ये उपसर्ग से भिन्न होते हैं, परन्तु उपसर्गों की तरह ये क्रिया से पूर्व प्रयुक्त होते हैं। उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता है।[1] परन्तु कर्मप्रवचनीय का स्वतन्त्र प्रयोग होता है। इनके योग में द्वितीया विभक्ति होती है।[2]

(325) अनुर्लक्षणे *84* (547)

अनुशब्दो लक्षणे द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् (म०भा०)। अनडुद्यज्ञमन्वसिञ्चत्। अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः। किमर्थमिदमुच्यते, यावता 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान' (1.4.90) इति सिद्धैवानोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा? *हेत्वर्थं तु वचनम्* (म०भा०)। हेतुतृतीयायां बाधित्वा द्वितीयैव यथा स्यात्।

अर्थ—'लक्षण' अर्थ में 'अनु' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

उदा० (1) शाकल्येन संहिताम् अनु (निशम्य देवः) प्रावर्षत्
यहाँ 'लक्षण' अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई तथा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' से 'संहिताम्' में द्वितीया हुई।
(2) अनडुद्यज्ञमन्वसिञ्चत् (पूर्ववत्)।
(3) अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः (पूर्ववत्)।

विशेष—'लक्षणेत्थम्भूताख्यान०' (1.4.89) से 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा की गई है। शङ्का होती है कि प्रकृत सूत्र में 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा किसलिए की गई है?

प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा करने का फल है कि हेतु तृतीया का बाध हो जाय। लक्षण अर्थ में 'हेतु' अर्थ भी निहित रहता है। अतः 'हेतौ' (2.3.32) के द्वारा प्राप्त तृतीया के बाध के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता है।

1. नित्यं धातूपसर्गयोः।
2. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया।

(326) तृतीयार्थे *85* (549)

अनुशब्दस्तृतीयार्थे द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। नदीमन्ववसिता सेना। पर्वतमन्ववसिता सेना। पर्वतेन सम्बद्धेत्यर्थः।

अर्थ—तृतीया का अर्थ विवक्षित होने पर 'अनु' की कर्मप्रवचनीय तथा निपातसंज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) नदीमन्ववसिता सेना
यहाँ तृतीयार्थ में 'अनु' का प्रयोग है। 'नदीमन्ववसिता' का अर्थ है—नद्या सह सम्बद्धा। 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।
(2) पर्वतमन्ववसिता सेना (पूर्ववत्)।

(327) हीने *86* (550)

हीन इति न्यून उच्यते, स चोत्कृष्टापेक्षः। तेनेयं हीनोत्कृष्टसम्बन्धे संज्ञा विज्ञायते। हीने द्योत्येऽयमनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। अनुशाकटायनं वैयाकरणाः। अन्वर्जुनं योद्धारः।

अर्थ—'हीन' अर्थ विवक्षित होने पर 'अनु' शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपातसंज्ञा होती है।

उदा० (1) अनु शाकटायनं वैयाकरणाः
'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।
(2) अन्वर्जुनं योद्धारः (पूर्ववत्)।
'हीन' शब्द के साथ शाकटायन का प्रयोग षष्ठी में होता है, परन्तु यहाँ षष्ठी के स्थान पर द्वितीया हुई है।

(328) उपोऽधिके च *87* (551)

उपशब्दः अधिके हीने च द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। उपखार्यां (2.3.9) द्रोणः। उपनिष्के कार्षापणम्। हीने-उपशाकटायनं वैयाकरणाः।

अर्थ—'अधिक' तथा 'हीन' अर्थों में 'उप' शब्द की कर्मप्रवचनीय तथा निपातसंज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) उपखार्यां द्रोणः
'उप' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं०' से सप्तमी हुई।
(2) उपशाकटायनं वैयाकरणाः (पूर्ववत्)।
यहाँ ध्यातव्य है कि अधिकार्थक 'उप' शब्द की कर्मप्रवचनीय-

संज्ञा द्वितीया विभक्ति के विधान के लिए नहीं है। अपितु सप्तमी के प्रसङ्ग में वक्ष्यमाण 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वर०' सूत्र के द्वारा 'अधिक' अर्थ में 'उप' के योग में सप्तमी का विधान किया गया है। केवल हीनार्थक 'उप' कर्मप्रवचनीय के ही योग में द्वितीया होती है।

(329) अपपरी वर्जने *88* (596)

अप-परी शब्दौ वर्जने द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ भवतः। प्रकृतेन सम्बन्धिना कस्यचिदनभिसम्बन्धो वर्जनम्। अप-अप त्रिगर्तेभ्यो (2.3.10) वृष्टो देवः। परिपरि (8.1.5) त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। वर्जन इति किम्? ओदनं परि-षिञ्चति।

अर्थ—'वर्जन' अर्थ में 'अप' तथा 'परि' शब्दों की कर्म-प्रवचनीय तथा निपातसंज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः (= त्रिगर्त्त देश को छोड़कर वर्षा हुई)।

कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई। 'पञ्चम्यपाङ्०' से पञ्चमी विभक्ति हुई।

(2) परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः (= त्रिगर्त को छोड़कर वर्षा हुई)।

पूर्ववत् कर्मप्रवचनीयसंज्ञा व पञ्चमी विभक्ति हुई। 'परेर्वर्जने' (8.1.5) से 'परि' का द्विर्वचन प्राप्त हुआ, परन्तु वार्तिक से द्विवर्चन का विकल्प हुआ।

(3) परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः
'परि' के द्विर्वचन अभावपक्ष में।

वर्जने अर्थात् वर्जन अर्थ में ही 'अप' तथा 'परि' की कर्म-प्रवचनीयसंज्ञा होती है—
(1) ओदनं परिषिञ्चति
यहाँ वर्जन अर्थ नहीं है। अतः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नहीं हुई। तब उपसर्गसंज्ञा होकर 'उपसर्गात्सुनोति०' से षत्व हुआ।

(330) आङ् मर्यादावचने *89* (597)

आङित्येष शब्दो मर्यादावचने कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। अवधिर्मर्यादा। वचनग्रहणादभिविधिरपि गृह्यते। आ पाट-लिपुत्राद् (2.3.10) वृष्टो देवः। आकुमारं यशः पाणिनेः (म० भा०)। आ सांकाश्यात्। आ मथुरायाः। मर्यादा-वचन इति किम्? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत्।

अर्थ—'मर्यादा' तथा 'अभिविधि' अर्थों में 'आङ्' की कर्म-प्रवचनीय तथा निपातसंज्ञा होती है।

'मर्यादा' का अर्थ है—अवधि। 'वचन' पद के द्वारा 'अभिविधि' का ग्रहण होता है। 'तेन विनेति मर्यादा' अर्थात् 'मर्यादा' में अवधि का ग्रहण नहीं होता है। यथा—

'आमृत्यु' में मर्यादा अर्थ है। इसका अर्थ है—मृत्यु तक। इसमें अवधि (= मृत्यु) को छोड़ दिया गया है।

'तेन सहेत्यभिविधिः अर्थात् अभिविधि' में अवधि का ग्रहण होता है; यथा—'आजीवनम्' में अभिविधि अर्थ है। इसमें अवधि (= जीवन) का ग्रहण है।

उदा० (1) आपाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः
यहाँ मर्यादा अर्थ है। 'पाटलिपुत्र' को छोड़कर वर्षा हुई।

'आङ्' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई 'पञ्चम्यपाङ्परि०' के द्वारा 'पाटलिपुत्र' से पञ्चमी विभक्ति हुई। समास की दशा में 'आपाट-लिपुत्रम्' प्रयोग भी बनता है।

(2) आकुमारेभ्यो यशः पाणिनेः
यहाँ अभिविधि अर्थ है। 'आङ्' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई तथा 'कुमार' शब्द से पञ्चमी हुई। समास की दशा में 'आकुमारम्' रूप बनता है।

(3) आसाङ्काश्यात् (पूर्ववत्)।
(4) आमथुरायाः (पूर्ववत्)।

मर्यादा० अर्थात् 'मर्यादा' व 'अभिविधि' अर्थों में ही 'आङ्' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।
तब ईषद् अर्थ में 'आङ्' की पूर्वोक्त संज्ञा नहीं होती है।

(331) लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः *90* (552)

लक्षणे, इत्थम्भूताख्याने, भागे, वीप्सायां च विषय-भूतायां प्रति परि, अनु-इत्येते कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवन्ति। लक्षणे तावत्-वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। वृक्षं परि, वृक्षमनु। इत्थम्भूताख्याने-साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। मातरं परि। मातरमनु। भागे-यदत्र मां प्रति स्यात्। मां परि स्यात्। मामनु स्यात्। वीप्सायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति। परि सिञ्चति। अनु सिञ्चति। लक्षणादिष्विति किम्? ओदनं परिषिञ्चति। अथ परिशब्दयोगे पञ्चमी कस्मान्न भवति, 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (2.3.10) इति? वर्जनविषये सा विधीयते, अपशब्दसाहचर्यात्।

अर्थ—लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग तथा वीप्सा अर्थों में प्रति, परि तथा अनु शब्दों की कर्मप्रवचनीय तथा निपातसंज्ञा होती है।

'इत्थम्भूताख्यान' का अर्थ है—'वह इस प्रकार का है' ऐसा कथन। वीप्सा = व्याप्ति।

उदा० (1) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्
यहाँ लक्षण अर्थ में 'परि' है। इसकी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'वृक्ष' में द्वितीया हुई।

(2) वृक्षं परि विद्योतते विद्युत् (पूर्ववत्)।
(3) वृक्षम् अनु विद्योतते विद्युत् (पूर्ववत्)।
(4) मातरं प्रति साधुर्देवदत्तः
'इत्थम्भूताख्यान' अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।
(5) मातरं परि साधुर्देवदत्तः (पूर्ववत्)।
(6) मातरम् अनु साधुर्देवदत्तः (पूर्ववत्)।
(7) मां प्रति स्याद् यदत्र
'भाग' अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।
(8) मां परि स्याद् यदत्र (पूर्ववत्)।
(9) माम् अनु स्याद् यदत्र (पूर्ववत्)।
(10) वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति
'वीप्सा' अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'नित्य-'वीप्सयोः' से 'वीप्सा' अर्थ में 'वृक्ष' को द्वित्व हुआ है।

(11) वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति (पूर्ववत्)।
(12) वृक्षं वृक्षम् अनु सिञ्चति (पूर्ववत्)।

लक्षणादि० अर्थात् लक्षणादि अर्थों में ही 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है—

(1) ओदनं परिषिञ्चति
यहाँ लक्षण आदि अर्थ नहीं हैं। अतः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा न हुई। उपसर्गसंज्ञा होकर 'उपसर्गात्सुनोति०' से षत्व हो गया। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से इसकी उपसर्गसंज्ञा का बाध हो जाता है। तब—

(क) 'उपसर्गप्रादुर्भ्याम्' (8.3.87.) की प्रवृत्ति नहीं होती है। अन्यथा षत्व होकर 'ष्यात्' आदि अनिष्ट रूपों की प्राप्ति हो जायेंगी।

(ख) 'उपसर्गात्सुनोति' (8.3.65) की प्रवृत्ति नहीं होती है। अन्यथा 'प्रतिषिञ्चति' में षत्व प्राप्त हो जायेगा।

(332) अभिरभागे *91* (553)

लक्षणादिष्वेव भागवर्जितेष्वभिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्। साधुर्देवदत्तो मातरमभि। वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति। अभाग इति किम्? भागः स्वीक्रियमाणोंऽशः। यदत्र ममाभिष्यात् तद्दीयताम्। यदत्र मम भवति तद्दीयतामित्यर्थः।

अर्थ—'भाग' अर्थ को छोड़कर लक्षण, इत्थम्भूताख्यान तथा वीप्सा अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तथा निपातसंज्ञा होती है।

उदा० (1) वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्
'लक्षण' अर्थ में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(2) मातरमभि साधुर्देवदत्तः
'इत्थम्भूताख्यान' में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(3) वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति
वीप्सा अर्थ में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

अभागे अर्थात् **भाग अर्थ को छोड़कर** अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है—

(1) यदत्र ममाऽभिष्यात् तद् दीयताम्
'भाग' अर्थ है। 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा न हुई। उपसर्गसंज्ञा हुई 'उपसर्गात्' (8.3.65) से षत्व हुआ।

(333) प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः *92* (599)

मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः। दत्तस्य प्रतिनिर्यातनम् प्रतिदानम्। प्रतिनिधिविषये प्रतिदानविषये च प्रतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। अभिमन्युरर्जुनतः प्रति। माषानस्मै तिलेभ्यः (2.3.11) प्रति यच्छति।

अर्थ—(मुख्य के न होने पर) मुख्य के समान गुण वाले व्यक्ति को 'प्रतिनिधि' कहते हैं। प्राप्त वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु देना 'प्रतिदान' कहलाता है।

प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थों में 'प्रति' शब्द की कर्मप्रवचनीय तथा निपात संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) अर्जुनतः प्रति अभिमन्युः
'पञ्चम्यास्तसिः' से 'अर्जुन' में 'तसि' हुई है। यह पञ्चमी के अर्थ में है। 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' से पञ्चमी होती है। 'प्रतिनिधि' अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई है।

(2) तिलेभ्यः प्रति माषान् यच्छति
'प्रति' का अर्थ प्रतिदान है। इसकी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'तिलेभ्यः' में पूर्ववत् पञ्चमी हुई।

प्रतिनिधि० अर्थात् प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थों में ही 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

(334) अधिपरी अनर्थकौ *93* (554)

अधि-परी शब्दौ अनर्थकौ अनर्थान्तरवाचिनौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ भवतः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गत्युपसर्गसंज्ञाबाधनार्था कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विधीयते।

अर्थ—अन्य अर्थ का वाचक न होने पर 'अधि' तथा 'परि' शब्दों की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तथा निपातसंज्ञा होती है।

अनर्थक = अन्य अर्थ का वाचक न होना।

उदा० (1) कुतोऽध्यागच्छति

'अध्यागच्छति' तथा 'आगच्छति' में कोई अर्थभेद नहीं है। अत: 'अधि' अनर्थक हुआ। तब कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'गतिर्गतौ' प्रवृत्त नहीं हुआ।

(2) कुत: पर्यागच्छति (पूर्ववत्)।

यहाँ गतिसंज्ञा व उपसर्गसंज्ञा के बाध के लिए कर्मप्रवचनीयसंज्ञा की गई है।

(335) सुः पूजायाम् *94* (555)

सुशब्दः पूजायामर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। सुसिक्तं भवता। सुस्तुतं भवता। धात्वर्थः स्तूयते। उपसर्गसंज्ञाश्रयं षत्वं न भवति। पूजायामिति किम्? सुषिक्तं किं तवात्र।

अर्थ—'पूजा' अर्थ में 'सु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तथा निपातसंज्ञा होती है।

उदा० (1) सुसिक्तं भवता

'सु' शब्द पूजा अर्थ में है। इसकी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। उपसर्गसंज्ञा का बाध होने से षत्व (उपसर्गात् सुनोति०) नहीं हुआ।

(2) सुस्तुतं भवता (पूर्ववत्)।

पूजायाम्० अर्थात् पूजा अर्थ में ही 'सु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है—

सुषिक्तं किं तवात्र ?

यहाँ 'पूजा' अर्थ नहीं है, व्यंग्य है। कर्मप्रवचनीयसंज्ञा नहीं हुई। उपसर्गसंज्ञा होकर षत्व हुआ।

(336) अतिरतिक्रमणे च *95* (556)

अतिशब्दः अतिक्रमणे चकारात् पूजायां च कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। निष्पन्नेऽपि वस्तुनि क्रियाप्रवृत्तिरतिक्रमणम्। अति सिक्तमेव भवता। अति स्तुतमेव भवता। पूजायाम्–अति सिक्तं भवता, अति स्तुतं भवता। शोभनं कृतमित्यर्थः।

अर्थ—उल्लंघन तथा पूजा अर्थों में 'अति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा और निपातसंज्ञा होती है।

उदा० (1) अति सिक्तमेव भवता

यहाँ उल्लंघन अर्थ है। 'अति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(2) अति सिक्तं भवता

पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(3) अति स्तुतमेव भवता

अतिक्रमण अर्थ।

(4) अति स्तुतं भवता

पूजा अर्थ।

(337) अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु *96* (557)

पदार्थे सम्भावनेऽन्ववसर्गे गर्हायां समुच्चये च वर्तमानः अपिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। पदान्तरस्याप्रयुज्यमानस्यार्थः पदार्थः। सर्पिषोऽपि स्यात्। मधुनोऽपि स्यात्। मात्रा, बिन्दुः; स्तोकमित्यस्यार्थे अपिशब्दो वर्त्तते। सम्भावनमधिकार्थवचनेन शक्तेरप्रतिघाताविष्करणम्–अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम्। अपि स्तुयाद्राजानम्। अन्ववसर्गः—कामचारानुज्ञानम्–अपि सिञ्च, अपि स्तुहि। गर्हा निन्दा–धिग् जाल्मं देवदत्तम् अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् (1.4.12), अपि स्तुयाद् वृषलम्। समुच्चये–अपि सिञ्च, अपि स्तुहि। सिञ्च च स्तुहि च। उपसर्गसंज्ञाबाधनात् षत्वं न भवति।

अर्थ—पदार्थ, सम्भावन, कामचार, निन्दा तथा समुच्चय—इन अर्थों में 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तथा निपातसंज्ञा होती है।

वाक्य में अप्रयुक्त किसी भिन्न पद के अर्थ को 'पदार्थ' कहा जाता है। वाक्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी ऐसे पद के अर्थ का अध्याहार किया जाता है, जो वाक्य में साक्षात् व्यक्त नहीं होता है। इस अध्याहृत पद के अर्थ को ही 'पदार्थ' कहा गया है।

शक्ति के उत्कर्ष के निमित्त जो अत्युक्ति हो, उसे सम्भावना कहते हैं। कामचार (= स्वेच्छाचारिता) को अन्ववसर्ग कहते हैं। 'गर्हा' का अर्थ है—निन्दा या तिरस्कार। समुच्चय = समूह।

उदा० (1) सर्पिषोऽपि स्यात् (= थोड़ा सा घी भी चाहिए) 'पदार्थ' में 'अपि' शब्द की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'स्यात्' में षत्व प्राप्त न हुआ। भोजनकर्त्ता को थोड़ा घी दिया गया। तब व्यंग्यस्वरूप यह कथन है। अवयवाऽवयविसम्बन्ध में 'सर्पिषः' में षष्ठी हुई है।

(2) मधुनोऽपि स्यात् (पूर्ववत्)।
(3) अपि सिञ्चन् मूलकसहस्रम्
सम्भावन अर्थ में 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(4) अपि स्तुयाद् राजानम् (पूर्ववत्)।
(5) अपि सिञ्च, अपि स्तुहि
कामचार अर्थ में 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(6) (धिग् जाल्मं देवदत्तम्) अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम्
निन्दा अर्थ में 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(7) अपि स्तुयाद् वृषलम् (पूर्ववत्)।
(8) अपि सिञ्च अपि स्तुहि
समुच्चय अर्थ में 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(338) अधिरीश्वरे *97* (644)

ईश्वरः स्वामी, स च स्वमपेक्षते। तदयं स्वस्वामिसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। तत्र कदाचित् स्वामिनः कर्मप्रवचनीयविभक्तिः सप्तमी भवति, कदाचित् स्वात्। अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः। अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः।

अर्थ—ईश्वर = स्वामी।

स्व-स्वामिसम्बन्ध अर्थ में 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तथा निपात संज्ञा होती है।

उदा० (1) अपि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः
'पञ्चाल' ब्रह्मदत्त के अधीन हैं। स्व-स्वामिभावसम्बन्धवशात् स्वामी (ब्रह्मदत्त) में सप्तमी हुई। 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(2) अपि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः
यहा 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वर०' से स्ववाची (= पञ्चाल) से सप्तमी हुई है। पूर्ववत् स्व-स्वामिभावसम्बन्ध से 'अपि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

(339) विभाषा कृञि *98* (646)

अधिः करोतौ विभाषा कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। यदत्र मामधिकरिष्यति। कर्मप्रवचनीयसंज्ञापक्षे गतिसंज्ञाबाधनात् 'तिङि चोदात्तवति' (8.1.71) इति निघातो न भवति।

अर्थ—'कृ' धातु के परे 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विकल्प से होती है।

उदा० (1) यदत्र मामधिकरिष्यति
'तिङ्ङतिङः' से 'करिष्यति' को निघात प्राप्त हुआ। 'निपातैर्यद्यदि' से निषेध हुआ। 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। उपसर्गसंज्ञा न होने से 'तिङि चोदात्त०' प्रवृत्त नहीं हुआ।

(340) लः परस्मैपदम् *99* (2155)

ल इति षष्ठी आदेशापेक्षा। लादेशाः परस्मैपदसंज्ञा भवन्ति। तिप्, तस्, झि। सिप्, थस्, थ। मिप्, वस्, मस्। शतृक्वसू च। परस्मैपदप्रदेशाः–'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (7.2.1) इत्येवमादयः।

अर्थ—'लः' यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी है। अतः 'आदेशाः' पद का अध्याहार किया जाता है। 'धातोः' पद भी अर्थतः उपलब्ध होता है।

(धातु से विहित) 'ल्' के स्थान पर होने वाले आदेश की परस्मैपदसंज्ञा होती है।

उदा—(1) तिप्, (2) तस्, (3) झि, (4) सिप्, (5) थस्, (6) थ, (7) मिप्, (8) वस्, (9) मस्, (10) शतृ, (11) क्वसु।

(341) तङानावात्मनेपदम् *100* (2156)

तङिति प्रत्याहारो नवानां वचनानाम्। आन इति शानच्कानचोर्ग्रहणम्। पूर्वेण परस्मैपदसंज्ञायां प्राप्तायां तङानयोरात्मनेपदसंज्ञा विधीयते। त, आताम्, झ। थास्, आथाम्, ध्वम्। इट्, वहि, महिङ्। आनः खल्वपि-शानच्कानचौ। लः इत्येव–कतीह निघ्नानाः (3.2.129)। आत्मने-पदप्रदेशाः–'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (1.3.12) इत्येव-मादयः।

अर्थ—'तङ्' एक प्रत्याहार है, जो 'तिङ्' के अन्तिम नौ प्रत्ययों (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि तथा महिङ्) की संज्ञा है। 'आन' यह निरनुबन्ध निर्देश है। अतः 'निरनुबन्धकग्रहणं सानुबन्धस्य०' के बल पर 'आन' के द्वारा 'चानश्' 'शानच्' व 'कानच्' प्रत्ययों का ग्रहण होता है। चूँकि 'चानश्' लकार के स्थान पर विहित नहीं है; अतः यहाँ इसका ग्रहण नहीं है।

सूत्रार्थ—(धातु से विहित) लकार के स्थान में होने वाले तङ्

प्रत्ययों, शानच् प्रत्यय तथा कानच् प्रत्यय की आत्मनेपदसंज्ञा होती है।

विशेष—1. 'लः' का प्रयोजन है कि लकार के स्थान पर होने वाले प्रत्यय की ही उक्त संज्ञा होती है। यथा—

'चानश्' के अनुबन्धों का लोप होने पर इसका स्वरूप 'आन' रह जाता है। अतः इसका 'आन' के द्वारा ग्रहण होना चाहिये; परन्तु यह लकार के स्थान पर विहित नहीं है, अतः इसकी आत्मनेपद संज्ञा नहीं होती है।

निघ्नानाः—यहाँ निपूर्वक 'हन्' धातु से 'चानश्' हुआ। आत्मनेपदसंज्ञा न होने से परस्मैपदसंज्ञक 'हन्' से हुआ।

2. लाघव को सूत्र का एक प्रमुख गुण माना जाता है। तदपि पाणिनि ने संज्ञाओं के विषय में लाघव को क्वचित्कः अवहेलित किया है। इसका प्रमुख कारण है कि तत्-तत् संज्ञा अपने-अपने काल में अत्यधिक अन्वर्थक होने से उस-उस काल में अत्यधिक लोकप्रिय रहीं होंगी। अतः लाघवप्रिय आचार्य पाणिनि उनके इस गुण का लोभ संवरण नहीं कर पाये। यथा—'टि', 'घु' इत्यादि संज्ञाओं का निर्माण करने वाले आचार्य ने 'परस्मैपद' तथा 'सम्प्रदान' जैसी बृहत्काय, परन्तु अन्वर्थक संज्ञाओं का भी पाठ किया है।

(342) तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्य-मोत्तमाः *101* (2160)

तिङोऽष्टादश प्रत्ययाः, नव परस्मैपदसंज्ञकाः नवाऽऽत्मनेपदसंज्ञकाः। तत्र परस्मैपदेषु त्रयस्त्रिकाः यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञा भवन्ति, आत्मनेपदेष्वपि त्रयस्त्रिकाः प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञा भवन्ति। तिप्, तस्, झि–इति प्रथमः। सिप्, थस्, थ–इति मध्यमः। मिप्, वस्, मस्–इत्युत्तमः। आत्मनेपदेषु–त, आताम्, झ–इति प्रथमः। थास्, आथाम्, ध्वम्–इति मध्यमः। इट्, वहि, महिङ्–इत्युत्तमः। प्रथम-मध्यमोत्तमप्रदेशाः–'शेषे प्रथमः' (1.4.108) इत्येवमादयः।

अर्थ—तिङ् के आत्मनेपद और परस्मैपद—दोनों पदों के तीन-तीन की क्रमशः प्रथम, मध्यम तथा उत्तम संज्ञा होती है।

यहाँ यथासंख्य नियम प्रवृत्त होता है।

तिङ् अट्ठारह प्रत्यय (तिप् से महिङ् तक) है—नौ परस्मैपदसंज्ञक तथा नौ आत्मनेपदसंज्ञक। प्रत्येक पद में तीन-तीन के तीन ही त्रिक बनते हैं।

प्रथम, मध्यम व उत्तम—इन संज्ञाओं के साथ पूर्वपरम्परावश पुरुष शब्द का योग कर लिया जाता है। यथा—

संज्ञा	परस्मैपद	आत्मनेपद
प्रथम पुरुष	तिप्, तस्, झि,	त, आताम्, झ
मध्यम पुरुष	सिप्, थस्, थ	थास्, आथाम्, ध्वम्
उत्तम पुरुष	मिप्, वस्, मस्	इट्, वहि, महिङ्

विशेष—1. आचार्य रामचन्द्र तथा न्यासकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'परस्मैपदम्' तथा 'आत्मनेपदम्' पदों का अनुवर्त्तन कर विभक्तिविपरिणाम के द्वारा अर्थ किया है। महर्षि पतञ्जलि ने यहाँ एकशेष स्वीकार किया है।

प्रथमश्च प्रथमश्च प्रथमौ। प्रथमौ च मध्यमौ च उत्तमौ च प्रथममध्यमोत्तमाः। परन्तु न्यासकारसम्मत व्याख्या में गौरव होते हुए भी यह व्याख्या सामान्य पाठक के लिए उपादेय होने से हमने इसी व्याख्या का अनुसरण किया है।

2. 'प्रथममध्यमोत्तमाः' इसकी लिङ्ग के अनुरोध से 'त्रीणि' के स्थान पर 'त्रयः' पद होना चाहिये था। अग्रिम सूत्र (तान्येकवचन—) में एकवचनादि संज्ञाओं का विधान किया जा रहा है, जिनका नपुंसक में व्यवहार प्राप्त होता है। जो आचार्य की बुद्धि में पूर्वतः ही स्थित है। अतः उसके अनुरोध से 'त्रीणि' पद में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग हुआ है।

(343) तान्येकवचनद्विवचनबहुवचना-न्येकशः *102* (2161)

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि भवन्ति। एकशः एकैकं पदम्। तिबित्येकवचनम्। तसिति द्विवचनम्। झि इति बहुवचनम्। एवं सर्वत्र। एकवचनद्विवचनबहुवचन-प्रदेशाः–'बहुषु बहुवचनम्' (1.4.21) इत्येवमादयः।

अर्थ—उन (तिङ् प्रत्ययों के प्रत्येक त्रिक) की एक-एक करके क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।

उदा० परस्मैपद में नौ प्रत्यय हैं—तिप्—मस्। इसके तीन त्रिक बनते हैं—तिप् तस् झि। सिप् थस् थ। मिप् वस् मस्। इसके प्रथम त्रिक (तिप् तस् झि) के प्रत्ययों की एक-एक करके एकवचनादि संज्ञा जाननी चाहिये। चूँकि प्रत्यय भी तीन हैं तथा संज्ञाएँ भी तीन हैं; अतः यथासंख्य व्यवहार होता है अर्थात् 'तिप्' की एकवचन, 'तस्' की द्विवचन तथा 'झि' की बहुवचन संज्ञा होती है। इसी प्रकार मध्यम पुरुष त्रिक के विषय में भी जानना चाहिये और इसी प्रकार आत्मनेपद के तीनों त्रिकों के सम्बन्ध

में भी समझना चाहिए और इसे नीचे तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है—

	परस्मैपद		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यम पुरुष	सिप्	थस्	थ
उत्तम पुरुष	मिप्	वस्	मस्

	आत्मेनपद		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	त	आताम्	झ
मध्यम पुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पुरुष	इट्	वहिङ्	महिङ्

(344) सुपः *103* (185)

तिङां त्रिकेष्वेकवचनादिसंज्ञा विहिताः, सम्प्रति सुपां त्रिकेषु विधीयन्ते। सुपश्च त्रीणि त्रीणि पदानि एकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि भवन्ति। सु इत्येकवचनम्। औ इति द्विवचनम्। जसिति बहुवचनम्। एवं सर्वत्र।

अर्थ—सुप् (विभक्ति) के प्रत्येक त्रिक की एक-एक करके क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।

'सुप्' पद के द्वारा प्रातिपदिक से होने वाले 'सु' आदि 21 प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'सुप्' एक प्रत्याहार है, जिसके द्वारा 'सु' से लेकर 'सुप्' के 'प्' तक 21 प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

इन इक्कीस प्रत्ययों के तीन-तीन के साथ त्रिक बनते हैं। पहला त्रिक है—सु औ जस्। इस त्रिक के तीन प्रत्ययों की एकवचनादि संज्ञा यथासंख्य होती है अर्थात् 'सु' की एकवचन, 'औ' की द्विवचन तथा 'जस्' की बहुवचन होती है। इसी प्रकार अगले त्रिक के विषय में जानना चाहिये। इसे नीचे तालिका द्वारा विस्तार से दिया जा रहा है—

	सुप्		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
1.	सु	औ	जस्
2.	अम्	औट्	शस्
3.	टा	भ्याम्	भिस्
4.	ङे	भ्याम्	भ्यस्
5.	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
6.	ङस्	ओस्	आम्
7.	ङि	ओस्	सुप्

(345) विभक्तिश्च *104* (184)

त्रीणि त्रीणीत्यनुवर्तते। त्रीणि त्रीणि विभक्तिसंज्ञाश्च भवन्ति सुपस्तिङश्च। विभक्तिप्रदेशाः-'अष्टन आ विभक्तौ' (7.2.84) इत्येवमादयः।

अर्थ—'सुप्' और 'तिङ्' के तीन-तीन की 'विभक्ति' संज्ञा होती है।

विशेष—जहाँ प्रत्यय की संज्ञा की जाती है, वहाँ तदन्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है अर्थात् तदन्त का ग्रहण नहीं होता है।[1] तब सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों की ही विभक्तिसंज्ञा होती है तथा सुबन्त (रामाः) तथा तिङन्त (गच्छन्ति) शब्दों की विभक्तिसंज्ञा नहीं होती है।

(346) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः *105* (2162)

लस्य (3.4.77) इत्यधिकृत्य सामान्येन तिबादयो विहिताः, तेषामयं पुरुषनियमः क्रियते। युष्मद्युपपदे सति व्यवहिते चाव्यवहिते सति समानाऽधिकरणे समानाभिधेये तुल्यकारके स्थानिनि प्रयुज्यमानेऽप्यप्रयुज्यमानेऽपि मध्यमपुरुषो भवति। त्वं पचसि। युवां पचथः। यूयं पचथ। अप्रयुज्यमानेऽपि-पचसि, पचथः, पचथ।

अर्थ—'लस्य' इस प्रकार अनुवृत्ति करके जो सामान्य रूप से 'तिप्' आदि आदेश कहे गये हैं, उनके विषय में पुरुषसम्बन्धी व्यवस्था की जा रही है। जिन दो शब्दों के कारक एक समान हों, उन्हें समानाधिकरण कहते हैं।

लकार के साथ युष्मद् शब्द के समान वाच्य होने पर उस 'युष्मद्' शब्द के उपपद (अर्थात् समीप उच्चरित) रहने पर मध्यम पुरुष होता है, चांहे वह युष्मद् शब्द साक्षात् पठित हो अथवा गम्यमान हो।

उदा० (1) त्वं पचसि

यहाँ 'त्वम्' तथा 'पचसि' समानाधिकरण हैं। 'त्वम्' उपपद भी है। इसका साक्षात् पाठ होने से 'प्रयुक्त' कहा गया है। तब मध्यम पुरुष हुआ।

1. सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति।

(2) युवां पचथः

पूर्ववत् प्रयुज्यमान का उदाहरण है।

(3) यूयं पचथ

प्रयुज्यमान का उदाहरण है।

(4) पचसि

यहाँ 'युष्मद्' शब्द अप्रयुक्त होने से गम्यमान है। तब भी मध्यम पुरुष हो गया है।

(5) पचथः (पूर्ववत्)।

(6) पचथ (पूर्ववत्)।

विशेष—1. समानाधिकरणे का अर्थ है कि युष्मद् शब्द लकार का सामानाधिकरण होना चाहिए अर्थात् लकार का जो अधिकरण (= वाच्य) हो, वही अधिकरण युष्मद् शब्द का होना चाहिए। यथा—त्वम् पचसि—यहाँ कर्त्ता अर्थ में लट् लकार हुआ। लट् लकार के द्वारा भी उसी का निर्देश प्राप्त होता है तथा युष्मद् शब्द के द्वारा भी उसी का निर्देश प्राप्त होता है। अतः दोनों का समानाधिकरण हुआ। परन्तु 'त्वया पच्यते' में लकार का वाच्य 'कर्म' है तथा युष्मद् के द्वारा वाच्य 'करण' है। दोनों समानाधिकरण नहीं हैं। अतः मध्यम पुरुष नहीं हुआ। इसी प्रकार 'देवः त्वां पश्यति' यहाँ लट् लकार (पश्यति) तथा युष्मद् (त्वम्) समानाधिकरण नहीं हैं। अतः मध्यम पुरुष नहीं हुआ।

2. 'स्थान' का अर्थ है—प्रसंग। 'स्थानी' का अर्थ है—अप्रयुज्यमान।

3. 'अपि' पद के द्वारा 'प्रयुज्यमान' अर्थ गृहीत होता है।

4. **उपपदे** का प्रयोजन है कि 'युष्मद्' के समीप उच्चरित रहते ही मध्यम पुरुष होता है।

यदि केवल 'युष्मदि मध्यमः' कहते तो 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे०' परिभाषा के द्वारा 'युष्मद्' शब्द के अव्यवहित परे रहते ही उक्त मध्यम पुरुष होता; तब न तो 'युष्मद्' के पूर्व में प्रयुक्त होने पर तथा न ही व्यवहित होने पर मध्यम पुरुष होता। यथा—

'पाठं पठसि त्वम्' (यहाँ हो जाता)

पठसि पाठं त्वम् (व्यवहित होने से न होता)।

पाठं त्वं पठसि (पूर्व होने के कारण न होता)।

(347) प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च *106* (2163)

प्रहासः परिहासः, क्रीडा। प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातोर्मध्यमपुरुषो भवति, मन्यतेश्चोत्तमः, स चैकवद्भवति। एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे इति, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता। मध्यमोत्तमयोः प्राप्तयोः उत्तममध्यमौ विधीयेते। प्रहासे इति किम्? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्ये इति। सुष्ठ मन्यसे, साधु मन्यसे।

अर्थ—प्रहास = परिहास।

परिहास अर्थ गम्यमान हो तो 'मन्य' उपपद वाले धातु के 'युष्मद्' उपपद रहते समानाधिकरण होने पर 'युष्मद्' शब्द के प्रयुक्त या गम्यमान रहते मध्यम पुरुष होता है तथा उस 'मन्' धातु से उत्तम पुरुष होता है और उस उत्तम पुरुष को एकत्व भी होता है।

इस सूत्र का सार इस प्रकार है—

मध्यम पुरुष होता है, यदि

(क) परिहास अर्थ गम्यमान हो,

(ख) 'मन्य' उपपद वाला धातु हो,

(ग) 'युष्मद्' शब्द समीप उच्चरित हो,

(घ) लकार तथा युष्मद् का समान वाच्य हो,

(ङ) युष्मद् शब्द चाहे प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, पूर्वोक्त सभी शर्तें पूरी होने पर निम्नलिखित कार्य होते हैं—

(क) मध्यम पुरुष होता है,

(ख) 'मन्' धातु से उत्तम पुरुष होता है,

(ग) उत्तम पुरुष एकवत् होता है।

उदा० (1) एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः

यहाँ उपहास अर्थ है। 'भोक्ष्यसे' में उत्तम पुरुष प्राप्त था, मध्यम पुरुष हुआ। 'मन्ये' में मध्यम पुरुष प्राप्त था, उत्तम पुरुष हुआ। 'भुज्' धातु 'मन्य' उपपद वाला है।

(2) एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता (पूर्ववत्)।

प्रहासे अर्थात् उपहास अर्थ गम्यमान हो तो मध्यम पुरुष होता है—

(1) एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्ये इति

यहाँ समान्य कथन है, परिहास अर्थ नहीं है। अतः 'भोक्ष्ये' में मध्यम पुरुष नहीं हुआ।

(348) अस्मद्युत्तमः *107* (2164)

उत्तमपुरुषो नियम्यते। अस्मद्युपपदे समानाभिधेये प्रयु-

ज्यमानेऽप्यप्रयुज्यमानेऽपि उत्तमपुरुषो भवति। अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। अप्रयुज्यमानेऽपि– पचामि पचावः, पचामः।

अर्थ—लकार व अस्मद् के समानाधिकरण होने पर 'अस्मद्' शब्द के उपपद रहते उत्तम पुरुष होता है, चाहे 'अस्मद्' शब्द प्रयुक्त हो अथवा गम्यमान हो।

उदा० (1) अहं पचामि

लकार (पचामि) व अस्मद् (अहम्) समानाधिकरण हैं। 'अस्मद्' प्रयुज्यमान है। अतः उत्तम पुरुष हुआ है।

(2) आवां पचावः (पूर्ववत्)।

(3) वयं पचामः (पूर्ववत्)।

(4) पचामि

'अस्मद्' अप्रयुज्यमान है।

(5) पचावः (पूर्ववत्)।

(6) पचामः (पूर्ववत्)।

(349) शेषे प्रथमः *108* (2165)

शेष इति मध्यमोत्तमविषयादन्य उच्यते। यत्र युष्मदस्मदी समानाधिकरणे उपपदे न स्तः, तत्र शेषे प्रथमपुरुषो भवति। पचति। पचतः। पचन्ति।

अर्थ—मध्यम पुरुष व उत्तम पुरुष के स्थलों से अतिरिक्त स्थलों पर प्रथम पुरुष होता है।

उदा० (1) पचति

यहाँ लकार व युष्मद् समानाधिकरण नहीं है तथा लकार व अस्मद् समानाधिकरण नहीं हैं; अतः प्रथम पुरुष हुआ।

(2) पचतः (पूर्ववत्)।

(3) पचन्ति (पूर्ववत्)।

आचार्य पाणिनि ने पूर्व दो सूत्रों के द्वारा क्रमशः 'युष्मद्' और 'अस्मद्' का साक्षात् पाठ किया है। इससे सिद्ध होता है कि 'शेष' के द्वारा 'भवत्' शब्द का भी ग्रहण होता है।

(350) परः सन्निकर्षः संहिता *109* (28)

परशब्दोऽतिशये वर्त्तते। सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः। परो यः सन्निकर्षः वर्णानामर्धमात्राकालव्यवधानं स संहितासंज्ञो भवति। दध्यत्र। मध्वत्र। संहिताप्रदेशाः–'संहितायाम्' (6.1.72) इत्येवमादयः।

अर्थ—'पर' शब्द का 'अतिशय' अर्थ में प्रयोग है। 'सन्निकर्ष' का अर्थ है—सामीप्य।

वर्णों के अत्यधिक समीपता की संहिता संज्ञा होती है।

उदा० (1) दध्यत्र

दधि अत्र—इकार व अकार की अत्यधिक निकटता है। इनकी संहिता संज्ञा हुई। 'संहितायाम्' के अधिकार में 'इको यणचि' से यणादेश होता है।

(2) मध्वत्र (पूर्ववत्)।

(351) विरामोऽवसानम् *110* (27)

विरतिर्विरामः, विरम्यतेऽनेनेति वा विरामः, सोऽवसानसंज्ञो भवति। दधिँ। मधुँ (8.4.57)। वृक्षः। प्लक्षः (8.3.15)। अवसानप्रदेशाः–'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (8.3.15) इत्येवमादयः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः॥1॥

अर्थ—'विरति' को 'विराम' कहते हैं।

वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है।

उदा० (1) दधिँ

'अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः' से अनुनासिक हुआ।

(2) मधु (पूर्ववत्)।

(3) वृक्षः

वृक्ष सु → वृक्ष स् → वृक्ष रु → वृक्ष र्—वृक्षः; 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग हुआ।

(4) प्लक्षः (पूर्ववत्)।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
प्रथमाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

समाप्तश्चाऽयं प्रथमोऽध्यायः॥1॥

अथ

द्वितीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(352) समर्थः पदविधिः *1* (647)

परिभाषेयम्। यः कश्चिदिह शास्त्रे पदविधिः श्रूयते स सर्वः समर्थो वेदितव्यः। विधीयत इति विधिः, पदानां विधिः पदविधिः। स पुनः समासादिः। समर्थः शक्तः। विग्रहवाक्यार्थाभिधाने यः शक्तः स समर्थो वेदितव्यः। अथवा समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः। समर्थानां पदानां सम्बद्धार्थानां संसृष्टार्थानां विधिर्वेदितव्यः। वक्ष्यति-'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (2.1.24)-कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। समर्थग्रहणं किम्? पश्य देवदत्त कष्टं, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम् (म०भा०)। 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' (2.1.30)-शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। समर्थग्रहणं किम्? किं त्वं करिष्यसि शङ्कुलया, खण्डो देवदत्त उपलेन। 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (2.1.36)-यूपाय दारु यूपदारु। समर्थग्रहणं किम्? गच्छ त्वं यूपाय, दारु देवदत्तस्य गेहे। 'पञ्चमी भयेन' (2.1.37)-वृकेभ्यो भयं वृकभयम्। समर्थग्रहणं किम्? गच्छ त्वं मा वृकेभ्यः, भयं देवदत्तस्य यज्ञदत्तात् (म०भा०)। 'षष्ठी' (2.2.8)-राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। समर्थग्रहणं किम्? भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य (म०भा०)। 'सप्तमी शौण्डैः' (2.1.40)-अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। समर्थग्रहणं किम्? शक्तस्त्वमक्षेषु, शौण्डः पिबति पानागारे (म०भा०)। पदग्रहणं किम्? वर्णविधौ समर्थपरिभाषा मा भूत्। तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन। तिष्ठतु कुमारीच्छात्रं हर देवदत्तात् (म०भा०)। यणादेशो (6.1.77) नित्यश्च तुग् (6.1.75) भवति।

अर्थ—यह परिभाषासूत्र है। इस शास्त्र में जो पदविधि है, वह समर्थ पदों के आश्रित होती है।

जो विधान किया जाता है उसे 'विधि' कहते हैं। पदों से सम्बन्धित कार्य 'पदविधि' कहलाता है।

समर्थ = शक्त। विग्रहवाक्य के अर्थ के कथन में जो शक्त होता है, उसे 'समर्थ' कहते हैं।

अथवा समर्थ पदों पर आश्रित होने के कारण 'समर्थ' कहलाता है। समर्थ पदों में ही पदविधि होती है अर्थात् सम्बद्ध अर्थ वाले या संसृष्ट अर्थों वाले पदों में ही पदविधि होती है—ऐसा जानना चाहिए।

वक्ष्यति—आगे कहा जायेगा—'द्वितीया श्रितातीतपतित०' अर्थात् द्वितीया विभक्त्यन्त शब्द का 'श्रित' आदि शब्दों के साथ समास होता है।

उदा० (1) कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः।

समर्थ—'समर्थ' पद के ग्रहण का प्रयोजन है कि समर्थ पदों में ही पदविधि होती है। यथा—

पश्य देवदत्त कष्टम्, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्—यहाँ 'कष्टम्' द्वितीयान्त पद है। यहाँ 'श्रितः' पद भी है, परन्तु इन दोनों के मध्य सामर्थ्य नहीं है। अतः पदविधि (अर्थात् समास) नहीं हुई। यहाँ द्वितीयान्त (गुरुकुलम्) तथा 'श्रितः' में सामर्थ्य है।

तृतीया—'तृतीया तत्कृतार्थेन०' के द्वारा तृतीयान्त का तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास होता है।

उदा० (2) शङ्कुलया खण्डः—शङ्कुलाखण्डः।

समर्थ० अर्थात् समर्थ पदों में ही पदविधि होती है। 'त्वं किं करिष्यसि शङ्कुलया, खण्डो देवदत्त उपलेन' इस स्थल पर 'शङ्कुलया' तथा 'खण्डः' में सामर्थ्य न होने से समास नहीं हुआ।

चतुर्थी—चतुर्थी विभक्त्यन्त का बलि आदि शब्दों के साथ तत्पुरुष समास होता है।

उदा० (3) यूपाय दारु—यूपदारु।

समर्थ० अर्थात् समर्थ पदों में ही पदविधि होती है। 'गच्छ त्वं यूपाय, दारु देवदत्तस्य गेहे'। यहाँ चतुर्थ्यन्त (यूपाय) तथा 'दारु' में सामर्थ्य नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

पञ्चमी—'पञ्चमी भयेन' से पञ्चम्यन्त का 'भय' के साथ तत्पुरुष समास होता है।

उदा० (4) वृकेभ्यो भयम्—वृकभयम्।

समर्थ अर्थात् समर्थ पदों में ही पदविधि होती है। 'गच्छ त्वं मा वृकेभ्यः, भयं देवदत्तस्य यज्ञदत्तात्' यहाँ 'वृकेभ्यः' तथा 'भयम्' में सामर्थ्य न होने से समास नहीं हुआ।

षष्ठी—'षष्ठी' के द्वारा षष्ठ्यन्त का तत्पुरुष समास होता है।

उदा० (5) राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः।

समर्थ० अर्थात् **समर्थ** पदों में ही पदविधि होती है। 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य'। यहाँ 'राज्ञः' तथा 'पुरुषः' में सामर्थ्य न होने से समास नहीं हुआ।

सप्तमी—'सप्तमी शौण्डैः' के द्वारा सप्तम्यन्त का 'शौण्ड' आदि शब्दों के साथ तत्पुरुष समास होता है।

उदा० (6) अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः।

समर्थ० अर्थात् **समर्थ पदों** में ही पदविधि होती है। 'शक्तस्त्वमक्षेषु, शौण्डः पिबति पानागारे'। यहाँ 'अक्षेषु' तथा 'शौण्डः' में सामर्थ्य न होने से समास नहीं हुआ।

पद० अर्थात् **पदों** की विधि ही सामर्थ्य की अपेक्षा रखती है। तब वर्णों की विधि सामर्थ्य पर आश्रित नहीं होती है। यथा—तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन—यहाँ 'दधि अशान' में यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश प्राप्त हुआ, जो पदविधि नहीं है; अपितु वर्णविधि है। अतः यहाँ सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। तब सामर्थ्य न होने पर भी वर्णविधि (अर्थात् यण् विधि) हो गई है। इसी प्रकार 'तिष्ठतु कुमारी च्छत्रं हर देवदत्तात्' यहाँ वर्णविधि (तुगामम) है, जो सामर्थ्य के न रहने पर भी निष्पन्न हो गई।

व्याख्या—समर्थ पदों में आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति—इन तीन गुणों का होना आवश्यक है। यथा—

(क) आकांक्षा—'दशरथस्य पुत्रः' यहाँ 'दशरथस्य' कथन से आकांक्षा बनी रहती है, जिसकी पूर्ति 'पुत्रः' पद के द्वारा होती है। इसी प्रकार 'पुत्रः' कथन से भी आकांक्षा बनी रहती है, जो 'दशरथस्य' पद के द्वारा शान्त होती है। अतः इन दोनों पदों में 'सामर्थ्य' कहा जायेगा।

(ख) योग्यता—पदों में परस्पर मिलने की योग्यता को ही 'योग्यता' कहा जाता है। यथा—'अग्निना सिञ्चति'। यहाँ 'अग्नि' और 'सिञ्चन' का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः दोनों पदों में 'योग्यता' न होने से ये असम्बद्ध कहे जाते हैं।

(ग) आसत्ति—इसका अर्थ है—समीपता। 'दशरथस्य पुत्रः' यहाँ दोनों पदों में 'आकांक्षा' की पूर्त्ति हुई है तथा 'योग्यता' भी है; परन्तु यदि दोनों पदों के मध्य अनावश्यक व्यवधान डाल दिया जाय तो ये दोनों पद असम्बद्ध हो जाते हैं अर्थात् यदि 'दशरथस्य' पद के पश्चात् अत्यधिक काल के व्यवधान से 'पुत्रः' पद का उच्चारण किया जाय तो उनमें 'सामर्थ्य' नहीं रहता है।

'सामर्थ्य' दो प्रकार का होता है। यथा—

(क) व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य—इस प्रकार का सामर्थ्य वाक्य में देखा जाता है। वाक्य में पद परस्पर अपेक्षा रखा करते हैं। अतः वहाँ व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य होता है।

(ख) एकार्थीभाव सामर्थ्य—समास की दशा में दो या अधिक पद मिल कर एक अर्थ को कहते हैं। अतः वहाँ एकार्थीभाव सामर्थ्य होता है अर्थात् जहाँ प्रधान अर्थ के लिए पद अपने अर्थ को गौण बना लें, छोड़ दें अथवा किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो वह एकार्थीभाव कहलाता है।[1]

महर्षि पतञ्जलि ने निम्न तीन स्थलों पर ही पदविधि मानी है—

(अ) समास—'दशरथस्य पुत्रः' यहाँ दोनों पद परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः सामर्थ्य होने से समास होता है।

(आ) विभक्ति विधान—'अपादाने पञ्चमी' इत्यादि सूत्रों के द्वारा सामान्य विहित विभक्तियों का जो नियमन होता है, उसे 'विभक्ति' कहते हैं। यह एक प्रकार की 'पदविधि' है।

(इ) पराङ्गवद्भाव—'तादात्म्य' का अतिदेश ही पराङ्गवद्भाव कहलाता है। यथा—'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' सूत्र के द्वारा सुबन्त का आमन्त्रित में प्रवेश कर अतिदेश किया गया है। 'पदविधि' शब्द में लक्षणा के द्वारा सभी प्रकार के समर्थ पदों की विधि को 'पदविधि' कहा जाता है।[2] यथा—

इस अर्थ के अनुसार निम्नलिखित स्थलों पर पदविधि मानी जाती है—

(क) कृद् वृत्ति—धातुओं के साथ सुप् प्रत्यय संयुक्त होकर निष्पन्न रूप 'कृद् वृत्ति' कहलाते हैं।

(ख) तद्धितवृत्ति—इसमें प्रातिपदिक के साथ तद्धित प्रत्यय संयुक्त होता है। इसमें पीछे, मध्य या आगे कहीं भी तद्धित प्रत्यय होता है।

(ग) समासवृत्ति—एक से अधिक पदों में समास होकर यह वृत्ति होती है।

(घ) धातुवृत्ति—धातु से सन् आदि प्रत्यय लगाकर धातुवृत्ति का बोध कराते हैं।

1. प्रदी० 2.1.1 द्र—यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा—स एकार्थीभावः।

2. महा० (प्रदीपोद्योत) 2.1.1.
द्र—पदत्वसम्पादको वा सर्वोऽपि विधिः पदविधिरेवेति।

(ङ) एकशेष वृत्ति—समान रूप अथवा समान अर्थ वाले अनेक शब्दों में से एक शब्द के अवशिष्ट रहने पर सभी शब्दों का अर्थ इसमें अभिव्यक्त होता है।

(353) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे *2* (3653)

सुबन्तमामन्त्रिते परतः परस्याङ्गवद्भवति, स्वरे स्वरलक्षणे कर्त्तव्ये। तादात्म्यातिदेशोऽयम्। सुबन्तमामन्त्रितमनुप्रविशति। वक्ष्यति–'आमन्त्रितस्य च' (6.1.198)। आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति। स ससुप्कस्यापि यथा स्यात्। कुण्डेनाटन्। परशुना वृश्चन्। मद्राणां राजन्। कश्मीराणां राजन्। सुबिति किम्? पीड्ये पीड्यमान। आमन्त्रित इति किम्? गेहे गार्ग्यः। परग्रहणं किम्? पूर्वस्य मा भूत्। देवदत्त कुण्डेनाटन्। अङ्गग्रहणं किम्? यथा मृत्पिण्डीभूतः स्वरं लभेत। उभयोराद्युदात्तत्वं मा भूत्। वत्करणं किम्? स्वाश्रयमपि कार्यं यथा स्यात्। आम् कुण्डेनाटन्। 'आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके' (8.1.95) इत्येकान्तरता भवति। स्वर इति किम्? कूपे सिञ्चन्, चर्म नमन्। षत्वणत्वे (8.3.111, 8.4.1) प्रति पराङ्गवन्न भवति। *सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसंख्यानमनन्तरत्वात्* (म०भा०)। तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्। तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन् (म०भा०)। *अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। उच्चैरधीयान। नीचैरधीयान।

अर्थ—आमन्त्रितसंज्ञक अङ्ग के परे रहते पूर्व सुबन्त पद को पर के अङ्ग के समान कार्य होता है, स्वर के विषय में।

यह तादात्म्य का अतिदेश है। सुबन्त आमन्त्रित में प्रवेश कर जाता है अर्थात् आमन्त्रित में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

आगे कहेंगे—'आमन्त्रितस्य च' से आमन्त्रित का आदि उदात्त होता है। वह पूर्ववर्ती सुबन्तसहित का जिस प्रकार हो सके, उसके लिए यह है।

उदा० (1) कुण्डेनाऽटन्

यहाँ 'अटन्' सम्बोधनान्त है। अतः 'साऽऽमन्त्रितम्' से आमन्त्रित संज्ञा हुई। 'आमन्त्रितस्य च' (8.1.19) से 'अटन्' को निघात प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा आमन्त्रित पद 'अटन्' परे रहते सुबन्त 'कुण्डेन' को पराङ्गवत् (अर्थात् पर अङ्ग के समान) हुआ। तब 'कुण्डेन' में आमन्त्रितत्व का अतिदेश हुआ। पद से उत्तर आमन्त्रितसंज्ञक पद नहीं है। अतः पूर्वप्राप्त निघात नहीं हुआ। 'आमन्त्रितस्य च' (6.1.194) के द्वारा आद्युदात्त हुआ—कुण्डेन्। 'अनुदात्तं पदमेक०' (6.1.152)। 'उदात्तादनुदा०' के द्वारा स्वरित तथा 'स्वरितात् संहिता०' से एकश्रुति हुआ—कुण्डेन।

(2) परशुना वृश्चन् (पूर्ववत्)।
(3) मद्राणां राजन् (पूर्ववत्)।
(4) कश्मीराणां राजन्।

सुबिति० अर्थात् सुबन्त पद को ही पराङ्गवत् होता है—

(1) पीड्ये पीड्यमान
यहाँ परांगवत् नहीं हुआ।

आमन्त्रित० अर्थात् आमन्त्रितसंज्ञक पद के परे रहते ही सुबन्त परांगवत् होता है—

(1) गेहे गार्ग्यः
यहाँ परांगवत् नहीं हुआ।

परग्रहण० अर्थात् सुबन्त परांगवत् होता है—
इसका फल यह है कि सुबन्त पूर्व की तरह न हो। यथा—
देवदत्त कुण्डेनाऽटन्

यहाँ नहीं हुआ।

अङ्ग०—अङ्गग्रहण का फल यह है कि सुबन्त पर अङ्ग के समान होता है; अतः मिट्टी के पिण्ड के समान होकर स्वर प्राप्त कर सके। दोनों का स्वर न होने लगे।

भाव यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के दो पिण्ड मिल कर एक पिण्ड बन जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी दो पद मिलकर एक रूप हो जाते हैं।

वत्करण० अर्थात् 'वत्करण' का प्रयोजन यह है कि स्वाश्रय कार्य भी हो जाय। यथा—आम् कुण्डेनाऽटन्—यहाँ 'आम एकान्तरमामन्त्रितमन०' (8.1.55.) के द्वारा एक का व्यवधान होता है।

स्वर० अर्थात् स्वर के विषय में ही सुबन्त परांगवत् होता है—

(1) कूपे सिञ्चन्
इसमें षत्व के प्रति परांगवत् नहीं होता है।
(2) चर्म नमन्
णत्व के विषय में परांगवत् नहीं होता है।

सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसङ्ख्यानमनन्तरत्वात्—सुबन्त के पराङ्गवद् भाव में समानाधिकरण होता है, व्यवहित होने से। यथा—

(1) तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्

'सूच्या' का परांगवद्भाव सम्भव है; परन्तु व्यवधान होने से 'तीक्ष्णया' का नहीं। दोनों का आद्युदात्त होता है।

(2) तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन् (पूर्ववत्)।

अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः—अव्यय के परांगवद्भाव का निषेध होता है—

(1) उच्चैरधीयान

यहाँ 'उच्चैः' अव्यय है। परांगवद्भाव नहीं हुआ। दोनों पदों का पृथक्-पृथक् स्वर होता है।

(2) नीचैरधीयान (पूर्ववत्)।

(354) प्राक्कडारात् समासः *3* (648)

कडारसंशब्दनात् (2.2.38) प्राग् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्ते समास-संज्ञा वेदितव्याः। वक्ष्यति–'यथाऽसादृश्ये' (2.1.7)। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व। प्राग्वचनं संज्ञा-समावेशार्थम् (म०भा०)। समासप्रदेशाः–'तृतीयासमासे' (1.1.30) इत्येवमादयः।

अर्थ—'कडाराः कर्मधारये' (2.2.38) सूत्र से पूर्व-पूर्व जो-जो कहा जायेगा, उस-उस की समास संज्ञा होती है।

आगे कहा जायेगा—'यथाऽसादृश्ये'। यथा—

यथावृद्धं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व।

अन्य संज्ञाओं के समावेश के लिए सूत्र में 'प्राक्' पद का योग है।

विशेष—वैयाकरणों ने समासवृत्ति का एक सामान्य लक्षण इस प्रकार दिया है—

विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते।
पदानां चैकपद्यं च समासः सोऽभिधीयते॥

अर्थात् जहाँ—

(क) विभक्तियों का लोप हो जाता है,
(ख) परन्तु उनका अर्थ प्रतीत होता रहता है,
(ग) अनेक पद मिलकर एक पद बन जाता है,
उसे समास कहते हैं।

समास पाँच प्रकार के होते हैं—

(अ) **केवलसमास**—जब शास्त्र में किसी समास की विशेष संज्ञा नहीं की जाती है तो वह 'केवलसमास' कहलाता है। यथा—

'पूर्वं भूतो भूतपूर्वः' यहाँ 'सह सुपा' सूत्र के द्वारा समास होता है, परन्तु इसकी कोई संज्ञा नहीं कही गई है। अतः यह केवल-समास हुआ; इसे परम्परा से 'सुप्सुपा समास' भी कहते हैं।

(आ) **अव्ययीभाव समास**—यह एक अन्वर्थ संज्ञा है। इसमें प्रायः पूर्व पद का अर्थ प्रधान होता है। पूर्व पद प्रायः अव्यय होता है तथा समस्त पद भी अव्यय के रूप में व्यवहृत होता है। यथा—

कृष्णस्य समीपम्—उपकृष्णम्।

(इ) **तत्पुरुष समास**—इसका उत्तर पद प्रधान होता है। यह कई प्रकार का होता है—

1. विभक्ति तत्पुरुष—द्वितीयान्त से सप्तम्यन्त पर्यन्त जिस-जिस का उत्तरपद के साथ समास होता है, वह उस-उस विभक्ति के नाम से जाना जाता है। यथा—

कष्टश्रितः, हरित्रातः, यूपदारु, चौरभयम्, राजपुरुषः तथा अक्षशौण्डः।

2. कर्मधारय तत्पुरुष—इसके दोनों पद समानाधिकरण होते हैं। यथा—

नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम्।

3. द्विगु तत्पुरुष—यह कर्मधारय का उपभेद है। जब पूर्व पद संख्यावाचक होता है तो द्विगु समास कहलाता है। यथा—

त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी।

4. नञ् तत्पुरुष—इसमें निषेध अर्थ की प्रधानता रहती है। यथा—

न आदरः अनादरः।

(ई) **द्वन्द्व समास**—इसमें प्रायः सभी पद प्रधान होते हैं। 'च' के अर्थ में इसका विधान होता है। यथा—

रामश्च लक्ष्मणश्च—रामलक्ष्मणौ।

(उ) **बहुव्रीहि समास**—इसमें अन्य पद प्रधान होता है। तब समस्यमान पद अन्य पद के विशेषण बन जाते हैं। यथा—

पीतानि अम्बराणि यस्य सः—पीताम्बरः।

ध्यातव्य—समास वृत्ति में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—अष्टाध्यायी (चन्द्रलेखा हिन्दी टीका)—पं. ईश्वर चन्द्र।

(355) सह सुपा *4* (649)

सुबिति वर्तते। सहेति सुपेति च त्रयमप्यधिकृतं वेदितव्यम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रेदमुपस्थितं द्रष्टव्यम्। वक्ष्यति–'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (2.1.

14) इति।द्वितीयान्तं श्रितादिभिः सह समस्यते। कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। सहग्रहणं योगविभागार्थम्, तिङापि सह यथा स्यात्–अनुव्यचलत्, अनुप्रावर्षत्।

अर्थ—'सुप्', 'सह' तथा 'सुपा'—इन तीन पदों का अधिकार है। इससे आगे जो-जो कहा जायेगा, वहाँ-वहाँ इन तीनों का अधिकार जानना चाहिए।

आगे कहा जायेगा—द्वितीयान्त का 'श्रित' आदि शब्दों के साथ समास होता है। यथा—कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः।

सह० सूत्र में 'सह' पद का ग्रहण योगविभाग के लिए है। ताकि तिङ् के साथ भी समास हो जाय। यथा—

अनुव्यचलत्, अनुप्रावर्षत्।

विशेष—यह अधिकारसूत्र है तथा विधिसूत्र भी है। इसका सामान्य अर्थ है—सुप् का सुप् के साथ समास होता है। इस समास की कोई संज्ञा नहीं है। अतः इसे 'केवलसमास' कहा जाता है। आचार्य पतञ्जलि ने इसके योगविभाग का सुझाव दिया है। तब इसका अर्थ होता है—

(क) **सह**—सुप् का तिङ् के साथ समास होता है,

(ख) **सुपा**—सुप् का सुप् के साथ समास होता है।

(356) अव्ययीभावः *5* (651)

अव्ययीभाव इत्यधिकारो वेदितव्यः। यानित ऊर्ध्व-मनुक्रमिष्यामोऽव्ययीभावसंज्ञास्ते वेदितव्याः। वक्ष्यति–'यथाऽसादृश्ये' (2.1.7)। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व। अन्वर्थसंज्ञा चेयं महती तेन पूर्वपदार्थप्राधान्यमव्ययीभावस्य दर्शयति। अव्ययीभावप्रदेशाः 'अव्ययीभावश्च' (2.4.18) इत्येवमादयः।

अर्थ—यह अधिकार है। इससे जो-जो कहा जायेगा, उस सबकी अव्ययीभाव संज्ञा जाननी चाहिये।

आगे कहेंगे—यथाऽसादृश्ये।

उदा० यथावृद्धम्।

यह इतनी बड़ी संज्ञा अन्वर्थक है। यह अव्ययीभाव के पूर्व पदार्थ की प्रधानता को प्रदर्शित करती है।

(357) अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्था-भावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौग-पद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु *6* (652)

सुप् सुपेति च वर्त्तते। विभक्त्यादिष्वर्थेषु यदव्ययं वर्त्तते तत्समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। वचनग्रहणं प्रत्येकं सम्बध्यते। विभक्तिवचने तावत्–स्त्रीस्वधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते अधिस्त्रि। अधि-कुमारि। सप्तम्यर्थे यदव्ययं तद् विभक्तिवचनम्। समीप-वचने–कुम्भस्य समीपम् उपकुम्भम्। उपमणिकम्। समृ-द्धिः = ऋद्धेराधिक्यम्, समृद्धिर्मद्राणाम् = सुमद्रम्, सुमगधं वर्त्तते। व्यृद्धिः = ऋद्धेरभावः। गवदिकानामृद्धेरभावः दुर्गवदिकम्, दुर्यवनं वर्त्तते। अर्थाभावः = वस्तुनोऽभावः–अभावो मक्षिकाणाम् निर्मक्षिकम्, निर्मशकं वर्त्तते। अत्ययः = अभूतत्वमतिक्रमः–अतीतानि हिमानि निर्हिमम्, निःशीतं वर्त्तते। असम्प्रति उपभोगस्य वर्त्तमानकाल-प्रतिषेधः। अतितैसृकम्। तैसृकमाच्छादनम्, तस्यायमुप-भोगकालो न भवतीत्यर्थः। शब्दप्रादुर्भावः = प्रकाशता शब्दस्य–इति पाणिनि। तत्पाणिनि। पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः। पश्चात्–अनुरथं पादातम्। रथानां पश्चात् इत्यर्थः। यथा यथार्थे यदव्ययं वर्त्तते तत्समस्यते। योग्यता वीप्सा पदार्थानतिवृत्तिः सादृश्यं चेति यथार्थाः। योग्य-तायाम्–अनुरूपम्, रूपयोग्यं भवतीत्यर्थः। वीप्सायाम्–अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। पदार्थानतिवृत्तौ–यथाशक्ति। आनुपूर्वमनुक्रमः–अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः। ज्येष्ठा-नुपूर्व्या भवन्तः प्रविशन्त्वित्यर्थः। यौगपद्यमेककालता–सचक्रं धेहि, युगपच्चक्रं धेहीत्यर्थः। सादृश्यं तुल्यता। किमर्थमिदमुच्यते, यथार्थ इत्येव सिद्धम्? गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यात्–सदृशः किख्या सकिखि। सम्पत्ति-रनुरूप आत्मभावः समृद्धेरन्यः। सब्रह्म बाभ्रवाणाम्। सक्षत्रं शालङ्कायनानाम्। साकल्यमशेषता। सतृणमभ्य-वहरति। सबुसम्। न किञ्चिदभ्यवहार्यं परित्यजती-त्ययमर्थोऽधिकार्थवचनेन प्रतिपाद्यते। अन्तवचने–अन्त इति परिग्रहापेक्षया समाप्तिरुच्यते। साग्न्यधीते सेष्टिपशुबन्धम्। पशुबन्धान्तमधीत इत्यर्थः। इयं समाप्तिरसकलेऽप्यध्ययने भवतीति साकल्यात्पृथगुच्यते।

अर्थ—'सुप्' तथा 'सुपा' का अनुवर्त्तन है।

विभक्ति आदि अर्थों में जो अव्यय, उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

सूत्रस्थ 'वचन' पद प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होता है।

उदा० (1) अधिस्त्रि

स्त्रीषु अधिकृत्य—प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार लौकिक विग्रह।

स्त्रीषु इति—नव्य वैयाकरणों के अनुसार लौकिक विग्रह।
स्त्री सुप् अधि सु—अलौकिक विग्रह।

स्त्री सुप् अधि—'अव्ययाद् आप् सुपः' से सु का लुक्, तब समर्थ सुबन्त (स्त्री सुप्) के साथ 'अधि' इस अव्यय का प्रकृत सूत्र के द्वारा समास हुआ, अव्ययीभाव संज्ञा हुई, 'कृत्तद्धित-समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातुप्राति०' से सुप् का लुक्,

स्त्री अधि—'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपस०' से 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'अधि' का पूर्वनिपात,

अधि स्त्री—सुप् का लुक् होने पर भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा के द्वारा 'अधिस्त्री' की प्रातिपदिक संज्ञा अक्षुण्ण रहती है,

अधि स्त्री—'अव्ययीभावश्च' (2.4.18) से नपुँसकलिंग हुआ, स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति,
अधि स्त्री सु—प्रथमा एकवचन की विवक्षा में,
अधि स्त्रि सु—'ह्रस्वो नपुँसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व,
अधि स्त्रि—'अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लुक्।

(2) अधिकुमारि (पूर्ववत्)।

सप्तमी के अर्थ में अव्यय, वह विभक्तिवचन है।

(3) उपकुम्भम्
कुम्भस्य समीपम्—लौकिक विग्रह,
कुम्भ ङस् समीप सु—अलौकिक विग्रह,
पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'उपकुम्भ' प्रातिपदिक बनता है,

उपकुम्भ सु—अव्यय संज्ञा होने से 'सु' के लुक् की प्राप्ति हुई, 'नाऽव्ययीभावादतोऽम्०' से 'अम्',
उपकुम्भम्—अमि पूर्वः।

(4) उपमणिकम् (पूर्ववत्)।

(5) सुमद्रम्
ऋद्धि की अधिकता को 'समृद्धि' कहते हैं।
मद्राणां समृद्धिः—लौकिक विग्रह,
मद्र आम् समृद्धि सु—अलौकिक विग्रह,
मद्र आम् सु सु—पूर्ववत् सभी कार्य होकर;
सु मद्र सु—प्रातिपदिक बना, सुप् प्रत्यय,
सुमद्रम्—पूर्ववत्।

(6) सुमगधम्
मगधानां समृद्धिः—पूर्ववत्।

(7) दुर्गवदिकम्
ऋद्धि के अभाव को 'व्यृद्धि' कहते हैं।
गवदिकानां व्यृद्धिः—लौकिक विग्रह,
गवदिक आम् व्यृद्धिः सु—अलौकिक विग्रह,
गवदिक आम् दुर् सु—पूर्ववत् सभी कार्य,
दुर्गवदिकम्—'सु' होकर 'अम्' आदेश।

(8) दुर्यवनम्
यवनानां व्यृद्धिः—पूर्ववत्।

(9) निर्मक्षिकम्
वस्तु के अभाव को 'अर्थाभाव' कहते हैं।
मक्षिकाणाम् अभावः—लौकिक विग्रह,
मक्षिका आम् अभाव सु—अलौकिक विग्रह,
मक्षिका आम् निर् सु—पूर्ववत् सभी कार्य,
निर्मक्षिका—'ह्रस्वो नपुँसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व,
निर्मक्षिक सु — निर्मक्षिकम्—पूर्ववत्।

(10) निर्मशकम्
मशकानाम् अभावः—पूर्ववत्।

(11) निर्हिमम्
'अत्यय' का अर्थ है—नाश।
अतीतानि हिमानि—लौकिक विग्रह,
हिम जस् अतीत जस्—अलौकिक विग्रह,
हिम जस् निर् जस्—पूर्ववत् सभी कार्य होकर,
निर्हिम सु → निर्हिमम्।

(12) निःशीतम्
शीतस्याऽत्ययः—पूर्ववत्।

(13) अतितैसृकम्
उपभोग के लिए वर्त्तमान काल का प्रतिषेध ही 'असम्प्रति' कहलाता है।

तैसृकः सम्प्रति न युज्यते—लौकिक विग्रह,
तैसृक सु अति सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् कार्य होकर,
अतितैसृक सु → अतितैसृकम्।

(14) इतिपाणिनि
पाणिनिशब्दस्य प्रकाशः—लौकिक विग्रह,
पाणिनि सु इति सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् कार्य होकर,
इतिपाणिनि सु—सु, अव्ययादाप्सुपः,
इतिपाणिनि।

(15) अनुरथम्
रथस्य पश्चात्—लौकिक विग्रह,
रथ ङस् अनु सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् सभी कार्य,
अनुरथ सु → अनुरथम्।

(16) 'यथा' अर्थ में अव्यय का समास होता है। 'यथा' के चार अर्थ हैं—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृति तथा सादृश्य।

सामर्थ्य या औचित्य को 'योग्यता' कहते हैं। गुण या क्रिया के कारण अनेक पदार्थों को व्याप्त कर एक साथ कथन की इच्छा 'वीप्सा' कहलाता है। पदार्थ का उल्लंघन न करना 'पदार्थानतिवृत्ति' होता है। 'सादृश्य' का अर्थ है—समानता।

अनुरूपम्
रूपस्य योग्यम्—लौकिक विग्रह,
रूप ङस् योग्य सु—अलौकिक विग्रह,
रूप ङस् अनु सु—योग्यता अर्थ में समास हुआ,
अनुरूपम्।

(17) प्रत्यर्थम्
अर्थम् अर्थं प्रति—लौकिक विग्रह,
अर्थ सु अर्थ सु प्रति सु—वीप्सा में समास हुआ,
प्रत्यर्थम्।

(18) यथाशक्ति
शक्तिम् अनतिक्रम्य—लौकिक विग्रह,
शक्ति अम् यथा सु—पदार्थानतिवृत्ति में समास हुआ,
यथाशक्ति।

(19) आचार्य ने 'यथाऽसादृश्ये' के द्वारा 'यथा' का सादृश्य अर्थ से भिन्न अर्थ में समास कहा है। अतः काशिकाकार ने यहाँ कोई उदाहरण नहीं दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने यहाँ 'सहरि' उदाहरण दिखाया है।[1]

(20) अनुज्येष्ठम्
ज्येष्ठानुपूर्व्येण अथवा ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्यम्—लौकिक विग्रह,
ज्येष्ठ ङस् अनु सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् सभी कार्य होकर प्रातिपदिक संज्ञा,
अनुज्येष्ठ सु → अनुज्येष्ठम्।

(21) सचक्रम्
चक्रेण युगपद्—लौकिक विग्रह,
चक्र टा सह स—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'अव्ययीभावे चाऽकाले' से 'सह' को 'स' आदेश हुआ,
सचक्रम्—सु, अम् आदेश।

(22) सकिखि
किख्या सदृशः—लौकिक विग्रह,
किखि टा सदृश सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् कार्य होकर,
सकिखि—सु, सु का लुक्।

यहाँ शङ्का होती है कि 'यथा' के अर्थ (योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति तथा सादृश्य) में अव्यय का समास कहा गया है। पुनः सादृश्य अर्थ में अव्यय का समास किसलिए किया जा रहा है ? इसका समाधान है कि गुणभूत के विषय में भी सादृश्य अर्थ में समास इष्ट है, जो पूर्वोक्त सादृश्य ('यथा' का चतुर्थ अर्थ) अर्थ में 'सम्भव' नहीं है। अतः पुनः 'सादृश्य' अर्थ में अव्यय का समास कहा गया है।

(23) सब्रह्म
ब्राह्मणः सम्पत्तिः—लौकिक विग्रह,
ब्रह्मन् ङस् सम्पत्ति सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत्,
स ब्रह्मन् सु → सु का लुक्, नकार का लोप,
सब्रह्म।

(24) सक्षत्रम्
क्षत्राणां सम्पत्तिः—लौकिक विग्रह, पूर्ववत्,
सक्षत्रम्।

(25) सतृणम्
तृणम् अप्यपरित्यज्य—लौकिक विग्रह,
तृण अम् सह सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत्
सतृणम्।
'साकल्य' का अर्थ है—सम्पूर्णता।

(26) सबुसम्
बुसम् अप्यपरित्यज्य—लौकिक विग्रह, पूर्ववत्,
सबुसम्।

(27) साग्नि
अग्निग्रन्थपर्यन्तम्—लौकिक विग्रह,
अग्नि अम् सह सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत्,
साग्नि सु → साग्नि—'स्वमोर्नपुँसकात्'।

(28) सेष्टि
इष्टिपर्यन्तम्—पूर्ववत्।
स इष्टि सु → सेष्टि—आद् गुणः, स्वमोर्नपुसँकात्।

विशेष—शङ्का होती है कि समस्त पद से जो सुप् विभक्ति

1. वै० सि० कौ० सूत्र 652.

होती है, उसका 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' से लुक् प्राप्त होता है।

समाधान यह है कि सुप् विभक्ति 'परश्च' के अधिकार में होती है। वह विभक्ति समुदाय (अर्थात् समस्त पद) से पर होती है तथा उस समुदाय का अङ्ग नहीं होती है। समुदाय का अङ्ग न होने से विभक्ति का लुक् नहीं होता है।

अब शङ्का होती है कि 'नगरं समया' तथ 'नगराद् आरात्' यहाँ समीपवाचक अव्ययों ('समया' वा 'आरात्') का सुबन्त पद (नगरम् व नगराद्) के साथ प्रकृत सूत्र से समास प्राप्त होता है।

समाधान यह है कि 'अभित:परित:समया०' (वा०) ज्ञापित करता है कि यहाँ समास नहीं होता है। यदि समास होता तो यह वार्त्तिक व्यर्थ हो जाता। इसी प्रकार 'अन्यरादितरर्त्ते०' वार्त्तिक ज्ञापक है कि 'नगराद् आरात्' में समास नहीं होता है।

(358) यथाऽसादृश्ये *7* (661)

यथेत्येतदव्ययमसादृश्ये वर्त्तमानं सुपा सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व। ये ये वृद्धाः यथावृद्धम्। यथाध्यापकम्। असादृश्ये इति किम्? यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः (म०भा०)। यथार्थे यदव्ययमिति पूर्वेणैव सिद्धे समासे वचनमिदं सादृश्यप्रतिषेधार्थम्।

अर्थ—असादृश्य अर्थ में विद्यमान 'यथा' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है।

उदा० (1) यथावृद्धम्
ये ये वृद्धा:—वीप्सा अर्थ है, सादृश्य अर्थ नहीं है। अत: समास हुआ, पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, उपसर्जन संज्ञा होकर,
यथावृद्ध सु—सु, अम् आदेश।

(2) यथाऽध्यापकम्
ये ये अध्यापका:—लौकिक विग्रह,
यथाऽध्यापकम्—पूर्ववत्।

असादृश्ये अर्थात् सादृश्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में ही 'यथा' अव्यय का समास होता है—

(1) यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त:
यहाँ सादृश्य अर्थ है। अत: समास नहीं हुआ।

(359) यावदवधारणे *8* (662)

यावदित्येतदव्ययमवधारणे वर्त्तमानं सुपा सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अवधारणमियत्तापरिच्छेदः। यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व। यावन्ति पात्राणि सम्भवन्ति पञ्च षड् वा तावत् आमन्त्रयस्व। अवधारण इति किम्? यावद्दत्तं तावद् भुक्तम्। नावधारयामि कियन्मया भुक्तमिति।

अर्थ—'यह इतना है'—इस प्रकार परिमाण का निश्चय 'अवधारण' कहलाता है।

अवधारण अर्थ में वर्त्तमान 'यावत्' का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है।

उदा० (1) यावदमत्रम्
यावन्ति अमत्राणि (पात्राणि)
यावदमत्रम्—पूर्ववत् कार्य होकर।

यह नित्य समास है। समस्त पद में 'यावत्' अव्यय का प्रयोग हुआ है तथा लौकिक विग्रह में तद्धितप्रत्ययान्त (यावत्) शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अवधारण अर्थ में समास होने के कारण उसमें 'तावत्' का अन्तर्भाव रहता है, जो लौकिक विग्रह में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

अवधार० अर्थात् **अवधारण** अर्थ में ही 'यावत्' अव्यय का समास होता है—
(1) यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्
यहाँ अवधारण अर्थ नहीं है। अत: समास नहीं हुआ।

(360) सुप्प्रतिना मात्रार्थे *9* (663)

मात्रा, बिन्दुः, स्तोकम्, अल्पमिति पर्यायाः। मात्रार्थे वर्त्तमानेन प्रतिना सह सुबन्तं समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अस्त्यत्र किञ्चित् शाकं शाकप्रति। सूपप्रति। मात्रार्थे इति किम्? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। सुबिति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणमव्ययनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—'मात्रा' शब्द के तीन अर्थ हैं—बिन्दु, स्तोक तथा स्वल्प। स्वल्प अर्थ में वर्त्तमान 'प्रति' अव्यय के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है और वह अव्ययीभाव होता है।

उदा० (1) शाकप्रति
शाकस्य लेश: } लौकिक विग्रह,
अस्त्यत्र किञ्चित् शाकम् }

शाक ङस् प्रति सु—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् सभी कार्य, 'शाक' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,

शाकप्रति सु → शाकप्रति।

(2) सूपप्रति

सूपस्य लेशः—पूर्ववत्।

मात्रार्थे अर्थात् 'मात्रा' अर्थ में 'प्रति' अव्यय के साथ सुबन्त शब्द का समास होता है—

(1) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्

यहाँ 'मात्रा' अर्थ में 'प्रति' नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

प्रकृत सूत्र में 'सुप्' पद का अनुवर्त्तन सुलभ रहने 'सुप्' पद का ग्रहण अव्यय पद की निवृत्ति के लिए है।

(361) अक्षशलाकासंख्याः परिणा *10* (664)

अक्षशब्दः, शलाकाशब्दः, संख्याशब्दाश्च परिणा सह समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। कितवव्यवहारे समासोऽयमिष्यते। पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति, तत्र यदा सर्वे उत्तानाः पतन्त्यवाञ्चो वा पातयिता जयति, तस्यैवैतस्य विपातोऽन्यथा पाते सति जायते। अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये (म० भा०)। अक्षपरि। शलाकापरि। एकपरि। द्विपरि। त्रिपरि। परमेण चतुष्परि।

पञ्चसु त्वेकरूपासु जय एव भविष्यति।
अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य यथा न तत्।
कितवव्यवहारे च एकत्वेऽक्षशलाकयोः॥
(म० भा०)

अर्थ—अक्ष, शलाका और संख्या शब्दों का 'परि' अव्यय के साथ अव्ययीभाव समास होता है।

जुआरी लोगों के व्यवहार में यह समास होता है। 'पञ्चिका' नामक जुआ पाँच शलाकाओं से होता है। उसमें जब सभी चित्त गिरते हैं तो गिराने वाला जीतता है। अथवा इसके विपरीत गिरने पर हार होती है। अन्यथा गिरने पर जीतता है। तब अक्ष उस प्रकार न हुआ, जैसे पहले जीत में हुआ था।

अर्थ—(1) अक्षपरि (= पासा उलटा गिरने पर जो हार जाता है)

'अक्ष' का 'परि' के साथ समास हुआ।

(2) शलाकापरि (पूर्ववत्)।

(3) एकपरि (पूर्ववत्)।

(4) द्विपरि (पूर्ववत्)।

(5) त्रिपरि (पूर्ववत्)।

(6) चतुष्परि (पूर्ववत्)।

पञ्चसु त्वेक····भविष्यति—पाँचों शलाकाओं के एकरूप (= सीधा) अथवा उल्टा गिरने पर विजय होती है।

अक्षादय····शलाकयोः—अक्ष आदि तृतीयान्त शब्दों का तब समास हो जाता है, जब जय के समय गिरने के समान नहीं गिरते हैं। जब जुआरियों का व्यवहार होता है तथा एकत्व होता है तो अक्ष और शलाका का समास होता है।

(362) विभाषा *11* (665)

विभाषेत्ययमधिकारो वेदितव्यः (म० भा०)। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्विभाषा भवति। वक्ष्यति-'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (2.1.12)। अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः। अप त्रिगर्तेभ्यः।

अर्थ—इसका अधिकार है। यहाँ से आगे जो कहा जाएगा, वह विकल्प से होता है।

आगे कहा जायेगा—'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः'। इसे शास्त्र में महाविभाषा कहा गया है। अतः पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहता है। इसका अधिकार पा० 2.2.29 तक चलता है। उदाहरण इस प्रकार है—

(1) अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः—समास हुआ,

(2) अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः—समास नहीं हुआ।

(363) अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या *12* (666)

अप, परि, बहिस्, अञ्चु-इत्येते सुबन्ताः पञ्चम्यन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अप त्रिगर्त्तं वृष्टो देवः, अप त्रिगर्त्तेभ्यः। परित्रिगर्त्तम्, परि त्रिगर्त्तेभ्यः। बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात्। प्राग्ग्रामम्, प्राग् ग्रामात्। बहिःशब्दयोगे पञ्चमीभावस्यैतदेव ज्ञापकम्।

अर्थ—अप, परि, बहिस् तथा अञ्चु (क्विन् प्रत्ययान्त)—इन शब्दों का पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव होता है।

उदा० (1) अपत्रिगर्त्तम्

अप त्रिगर्त्तेभ्यः—वर्जन अर्थ में 'अप' है। 'अपपरी वर्जने'

से 'अप' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'पञ्चम्यपाङ्०' से पञ्चमी हुई है,

अप त्रिगर्त्त—पूर्ववत् समास, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, उपसर्जनसंज्ञा, उसका पूर्वनिपात,

अपत्रिगर्तम्—अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा, सु, अम्।

(2) अप त्रिगर्त्तेभ्यः

पक्ष में विग्रह वाक्य बना रहा।

(3) परित्रिगर्त्तम्

परि त्रिगर्त्तेभ्यः—अपपरी वर्जने, पञ्चम्यपाङ्० पूर्ववत् समास आदि सभी कार्य,

परित्रिगर्त्तम्।

(4) परि त्रिगर्त्तेभ्यः

पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(5) बहिर्ग्रामम्

ग्रामाद् बहिः[1]—पूर्ववत् समास आदि,

बहिस् ग्राम सु—सु,

बहिर्ग्रामम्—ससजुषो रुः, सु, अम्।

(6) बहिर्ग्रामात्

पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(7) प्राग्ग्रामम्

ग्रामात् प्राग्—'अञ्चु' के योग में 'अन्यारादितरर्त्ते०' से पञ्चमी, समास का विकल्प, पूर्ववत् अन्य कार्य,

प्राक् ग्राम → प्राग्ग्रामम्—झलां जशोऽन्ते।

प्रपूर्वक अञ्चु धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' से पञ्चमी हुई। 'अनिदितां हल उपधायाः०' से अनुनासिक लोप तथा 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व होता है।

(8) प्राग् ग्रामात्।

पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(364) आङ् मर्यादाभिविध्योः *13* (667)

आङित्येतन्मर्यादायामभिविधौ च वर्त्तमानं पञ्चम्यन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः, आ पाटलिपुत्रात्। अभिविधौ-आकुमारं यशः पाणिनेः, आकुमारेभ्यः।

अर्थ—मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्त्तमान 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है।

उदा० (1) आपाटलिपुत्रम्

आ पाटलिपुत्रात्—'मर्यादा' और 'अभिविधि' दोनों अर्थ यहाँ इष्ट है, विकल्प से समास हुआ,

आपाटलिपुत्र—पूर्ववत् सभी कार्य,

आपाटलिपुत्रम्—सु, अम्।

(2) आ पाटलिपुत्रात्

पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(3) आ कुमारम्

कुमारेभ्य आ—'अभिविधि' अर्थ में समास हुआ,

आकुमारम्—सु, अम्।

(4) आ कुमारेभ्यः

पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(365) लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये *14* (668)

लक्षणं चिह्नम्, तद्वाचिना सुबन्तेन सहाभिप्रती शब्दावाभिमुख्ये वर्त्तमानौ विभाषा समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निमभि। प्रत्यग्नि, अग्निं प्रति। अग्निं लक्ष्यीकृत्य अभिमुखं पतन्तीत्यर्थः। लक्षणेनेति किम्? स्रुघ्नं प्रति गतः। पतिर्निवृत्य स्रुघ्नमेवाभिमुखं गतः। अभिप्रती इति किम्? येनाग्निस्तेन गतः। आभिमुख्य इति किम्? अभ्यङ्का गावः, प्रत्यङ्का गावः। नवाङ्का इत्यर्थः।

अर्थ—लक्षण = चिह्न।

सम्मुखता अर्थ में 'अभि' और 'प्रति' अव्ययों का चिह्नवाची सुबन्त पद के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अभ्यग्नि

अग्निम् अभि—लौकिक विग्रह,

अग्नि अम् अभि सु—अलौकिक विग्रह, विकल्प से समास हुआ, पूर्ववत सभी कार्य होकर,

अभि अग्नि → अभ्यग्नि—इको यणचि,

अभ्यग्नि—सु, सु का लुक्।

(2) अग्निमभि

पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

---

1. प्रस्तुत सूत्र में 'बहिस्' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि 'बहिस्' के योग में पञ्चमी होती है।

(3) प्रत्यग्नि (पूर्ववत्)।
(4) अग्निं प्रति
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

लक्षणेन० अर्थात् लक्षणवाची शब्द के साथ ही समास होता है—

(1) स्रुघ्नं प्रति गतः (= लौट कर स्रुघ्न की ओर ही गया)
यहाँ लक्षणवाची नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

अभिप्रती० अर्थात् अभि और प्रति अव्ययों का ही समास होता है—

(1) येनाग्निस्तेन गतः
यहाँ 'अग्नि' गमन का लक्षण है तथा सम्मुखता अर्थ भी इष्ट है; परन्तु न तो 'अभि' है, न ही 'प्रति' है। अतः समास नहीं हुआ।

आभिमु० अर्थात् सम्मुखता अर्थ में ही समास होता है—

(1) अभ्यङ्का गावः
अभिनवः अङ्कः आसाम्—यहाँ 'अभि' अव्यय है, लक्षणवाची शब्द (अङ्क) भी है; परन्तु सम्मुखता अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(2) प्रत्यङ्का गावः
प्रतिनवः अङ्कः आसाम्—यहाँ 'प्रति' अव्यय है। लक्षणवाची शब्द (अङ्क) भी है; परन्तु सम्मुखता अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(366) अनुर्यत्समया *15* (669)

समया समीपम्। अनुर्यस्य समीपवाची तेन लक्षणभूतेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अनुवनमशनिर्गतः। अनुरिति किम्? वनं समया। यत्समयेति किम्? वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्। 'अव्ययं विभक्तिसमीप' (2.1.6) इत्येव सिद्धे पुनर्वचनं विभाषार्थम्।

अर्थ—समया = निकट।
'अनु' जिसकी समीपता को कहता है, उस लक्षणवाची समर्थ सुबन्त के साथ 'अनु' का विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है।

उदा० (1) अनुवनम्
वनस्य अनु—सिद्धि पूर्ववत्।
अनुरिति अर्थात् अनु का ही समास होता है—

(1) वनं समया
यहाँ 'अनु' का प्रयोग नहीं है। 'समया' शब्द के साथ समास नहीं हुआ।

यत्समया० अर्थात् 'अनु' जिसका समीपवाची है, ऐसे शब्द के साथ ही समास होता है—

(1) वृक्षमनु
यहाँ 'अनु' है, परन्तु वह समीपवाची नहीं है; अपितु लक्ष्य-लक्षणभाव का वाचक है। तब समास नहीं हुआ। 'अनुर्लक्षणे' से 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

अव्यय—'अनुवनम्' प्रयोग 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि०' सूत्र के द्वारा भी निष्पन्न हो सकता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प कहा गया है।

(367) यस्य चायामः *16* (670)

लक्षणेनेति वर्तते। आयामो दैर्घ्यम्। अनुर्यस्यायामवाची तेन लक्षणभूतेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अनुगङ्गं वाराणसी (म०भा०)। अनुयमुनं मथुरा। यमुनाऽऽयामेन मथुराऽऽयामो लक्ष्यते। आयाम इति किम्? वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्।

अर्थ—आयाम = दीर्घता।

'अनु' शब्द के द्वारा जिसकी 'दीर्घता' द्योतित होती हो, ऐसे लक्षणवाची शब्द के साथ 'अनु' का विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अनुगङ्गम् (= गङ्गा के विस्तार के साथ-साथ)
गङ्गाया अनु—'अनु' शब्द के द्वारा वाराणसी का विस्तार लक्षित है, विकल्प से समास हुआ,
अनुगङ्गा → अनुगङ्ग—ह्रस्व हुआ,
अनुगङ्गम्—सु, अम्।

(2) गङ्गाया अनु
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(3) अनुयमुनम् (पूर्ववत्)।
(4) यमुनाया अनु (पूर्ववत्)।

अर्थात् दीर्घता द्योतित होने पर ही समास होता है—

(1) वृक्षमनु
यहाँ 'अनु' है; परन्तु दीर्घता द्योतित नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(368) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च *17* (671)

तिष्ठद्ग्वादयः समुदाया एव निपात्यन्ते। तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि शब्दरूपाणि अव्ययीभावसंज्ञकानि भवन्ति। तिष्ठद्गु कालविशेषः (म० भा०), तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स तिष्ठद्गु कालः। खलेयवादीनि प्रथमान्तानि विभक्त्यन्तरेण नैव सम्बध्यन्ते, अन्यपदार्थे च काले वर्त्तन्ते। चकारोऽवधारणार्थः। अपरः समासो न भवति–परमतिष्ठद्ग्विति। तिष्ठद्गु। बहद्गु। आयतीगवम्। खलेयवम्। खलेबुसम्। लूनयवम्। लूयमानयवम्। पूतयवम्। पूयमानयवम्। संहृतयवम्। संह्रियमाणयवम्। संहृतबुसम्। संह्रियमाणबुसम्–एते कालशब्दाः। समभूमि। समपदाति। सुषमम्। विषमम्। निष्षमम्। दुष्षमम्। अपरसमम्। आयतीसमम्। प्राह्णम्। प्ररथम्। प्रमृगम्। प्रदक्षिणम्। अपरदक्षिणम्। सम्प्रति। असम्प्रति। पापसमम्। पुण्यसमम्। 'इच् कर्मव्यतिहारे' (5.4.127)–दण्डादण्डि, मुसलामुसलि।

अर्थ—'तिष्ठद्गु' आदि समुदाय ही निपातित होते हैं। 'तिष्ठद्गु' आदि शब्दों की अव्ययीभावसंज्ञा होती है।

उदा० (1) तिष्ठद्गु

तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय सः कालः—लौकिक विग्रह,

स्था शतृ ङीप् जस् (तिष्ठन्त्यः) गो जस्—समास हुआ,
तिष्ठत् गो—निपातन से शतृ आदेश, पुँवद्भाव,
तिष्ठत् गु—ह्रस्वादेश (गोस्त्रियोरुपसर्ज०), अव्ययीभावसंज्ञा,
तिष्ठद् गु—जश्त्व, सु, सु का लुक्।

चकारो—चकार अवधारण अर्थ में है। अन्य प्रकार के समास नहीं होते हैं। अतः 'परमतिष्ठद्गु' आदि रूप नहीं होते हैं। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(369) पारे मध्ये षष्ठ्या वा *18* (672)

षष्ठीसमासे प्राप्ते तदपवादोऽव्ययीभाव आरभ्यते। वावचनाच्च षष्ठीसमासोऽपि पक्षेऽभ्यनुज्ञायते। पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह विभाषा समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। तत्सन्नियोगेन चानयोरेकारान्तत्वं निपात्यते। पारं गङ्गायाः पारेगङ्गम्। मध्ये गङ्गाया मध्येगङ्गम्। षष्ठीसमासपक्षे–गङ्गापारम्, गङ्गामध्यम्। महाविभाषया वाक्यविकल्पः क्रियते।

अर्थ—षष्ठी तत्पुरुष समास प्राप्त होने पर उसके अपवाद-स्वरूप अव्ययीभाव समास का विधान किया जा रहा है। 'वा' ग्रहण के द्वारा पक्ष में षष्ठी तत्पुरुष भी होता है।

षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ 'पार' व 'मध्य' शब्दों का विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है तथा इन दोनों शब्दों के अन्त्य वर्ण को निपातन से सकारादेश होता है।

उदा० (1) पारेगङ्गम्

गङ्गायाः पारम्—विकल्प से समास हुआ, निपातन से एकार अन्तादेश हुआ, शेष कार्य पूर्ववत्,
पारे गङ्गा—ह्रस्व,
पारेगङ्गम्—सु, अम्।

(2) गङ्गायाः पारम्
महाविभाषा के द्वारा पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहा।

(3) गङ्गापारम्
सूत्र में 'वा' वचन के द्वारा एक पक्ष में षष्ठीतत्पुरुष भी हुआ। इस पक्ष में 'गङ्गा' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होती है।

(4) मध्येगङ्गम्
गङ्गाया मध्यम्—पूर्ववत् सभी कार्य।

(5) गङ्गाया मध्यम्
पक्ष में विग्रहवाक्य।

(6) गङ्गामध्यम्
पक्ष में षष्ठी तत्पुरुष।

(370) संख्या वंश्येन *19* (673)

विद्यया जन्मना वा प्राणिनामेकलक्षणसन्तानो वंश इत्यभिधीयते। तत्र भवो वंश्यः। तद्वाचिना सुबन्तेन सह संख्या समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य। त्रिमुनि व्याकरणस्य। यदा तु विद्यया तद्वतामभेदविवक्षा तदा सामानाधिकरण्यं भवति–द्विमुनि व्याकरणम्, त्रिमुनि व्याकरणमिति। जन्मना–एकविंशति भारद्वाजम्।

अर्थ—विद्या अथवा जन्म के द्वारा प्राणियों का एक स्वभाव वाला सम्बन्ध 'वंश' कहलाता है। वंश में होने वाला 'वंश्य' कहलाता है।

वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त का विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है।

उदा० (1) द्विमुनि व्याकरणस्य

द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ—लौकिक विग्रह,
द्वि औ मुनि औ—अलौकिक विग्रह, पूर्ववत् सभी कार्य,
द्विमुनि—सु, लुक्।

(2) त्रिमुनि व्याकरणस्य
त्रयो मुनयो व्याकरणस्य वंश्याः—लौकिक विग्रह, पूर्ववत्।

यदा तु—जब विद्या के साथ विद्यावान् (पाणिनि आदि) का अभेद विवक्षित रहता है, तब सामानाधिकरण्य होता है। यथा—

द्विमुनि व्याकरणम्, त्रिमुनि व्याकरणम्।

जन्मना—जब जन्म के साथ अभेद विवक्षित रहता है, तब सामानाधिकरण्य होता है। यथा—

एकविंशति भारद्वाजम्।

(371) नदीभिश्च *20* (674)

संख्येत्यनुवर्त्तते। नदीवचनैः शब्दैः सह संख्या समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। समाहारे चायमिष्यते। सप्तगङ्गम्। द्वियमुनम्। पञ्चनदम्। सप्तगोदावरम्।

अर्थ—संख्यावाची शब्द का नद्यर्थक समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है। यह समाहार अर्थ में होता है। समाहार अर्थ में निम्नलिखित दो सूत्रों के द्वारा द्विगु समास होता है। अतः यह सूत्र इन दोनों का अपवाद है—

(क) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (2.1.50),
(ख) संख्यापूर्वो द्विगुः (2.1.51.)।

नदीभिः यह बहुवचन निर्देश है। इसके द्वारा न तो व्याकरण शास्त्र में विहित नदीसंज्ञक (लक्ष्मी, गौरी आदि) शब्दों का ग्रहण होता है तथा न ही स्वरूपात्मक नदी शब्द का ग्रहण होता है; अपितु नद्यर्थक शब्दों का ग्रहण होता है। तब इसके द्वारा नदी-विशेष (गङ्गा आदि) का तथा नद्यर्थक शब्द—दोनों का ग्रहण होता है।[1]

उदा० (1) सप्तगङ्गम्
सप्तानां गङ्गानां समाहारः—विकल्प से समास, शेष सभी कार्य पूर्ववत्,
सप्तन् गङ्गा—'नलोपः प्रातिपदि०' से नकारलोप, 'ह्रस्वो नपुँसके प्राति०', सु है।
सप्तगङ्ग सु → सप्तगङ्गम्।
(2) द्वियमुनम् (पूर्ववत्)।
(3) पञ्चनदम् (पूर्ववत्)।
(4) सप्तगोदावरम् (पूर्ववत्)।

विशेष—यद्यपि 'सप्तगङ्गम्' आदि रूप समाहार अर्थ में द्विगु समास के द्वारा भी सिद्ध हैं। यथा—

तद्धितार्थोत्तरपद०। सः नपुंसकम्। अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः (वा०) से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'द्विगोः' से प्राप्त 'ङीप्' का निषेध 'पात्राद्यन्तस्य न' (वा०) से हो जाता है।

परन्तु आचार्य पाणिनि ने प्रकृत सूत्र के द्वारा इन प्रयोगों में अव्ययीभाव समास का विधान किया है, ताकि पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर शेष विभक्तियों में 'अम्' हो जाय। अन्यथा यहाँ द्विगु समास मान लेने पर 'सप्तगङ्गम्' के स्थान पर 'सप्तगङ्गाय' आदि अनिष्ट रूपों की प्राप्ति होती है।

(372) अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् *21* (675)

संख्येति निवृत्तम्, नदीग्रहणमनुवर्त्तते। नदीभिः सह सुबन्तमन्यपदार्थे वर्त्तमानं संज्ञायां विषये समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। विभाषाधिकारेऽपि नित्यसमास एवायम्। न हि वाक्येन संज्ञा गम्यते। उन्मत्तगङ्गं नाम देशः। लोहितगङ्गम्। कृष्णगङ्गम्। शनैर्गङ्गम्। अन्यपदार्थ इति किम्? कृष्णवेण्णा। संज्ञायामिति किम्? शीघ्रगङ्गो देशः।

अर्थ—'संख्या' पद की निवृत्ति हो गई है। 'नदी' पद की अनुवृत्ति है। अन्य पदार्थ के अर्थ में वर्त्तमान सुबन्त का नदीवाचक समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो। वाक्य के द्वारा संज्ञा गम्यमान नहीं होती है, अतः महाविभाषा का अधिकार होने पर भी यह नित्य समास है।

उदा० (1) उन्मत्तगङ्गम् (= जिस देश में गङ्गा उन्मत्त होकर बहती है)

उन्मत्ता सु गङ्गा सु—पूर्ववत् सभी कार्य, 'स्त्रियाः पुँवद्भाषित०' के द्वारा पुँवद्भाव हुआ,
उन्मत्तगङ्ग सु—ह्रस्व, सु,
उन्मत्तगङ्गम्—अम् आदेश।
(2) लोहितगङ्गम् (पूर्ववत्)।
(3) कृष्णगङ्गम् (पूर्ववत्)।
(4) शनैर्गङ्गम् (पूर्ववत्)।

अन्यप० अर्थात् अन्य पदार्थ की प्रधानता होने पर ही समास होता है—

1. न्यास 2.1.20.

उदा० (1) कृष्णवेण्णा

कृष्णा चाऽसौ वेण्णा च—अन्य पदार्थ की प्रधानता नहीं है। अत: उक्त अव्ययीभाव समास नहीं हुआ,

कृष्णवेण्णा—सु, सुलुक्।

संज्ञायाम् अर्थात् **संज्ञा** गम्यमान होने पर ही समास होता है—

(1) शीघ्रगङ्गो देश:

शीघ्रा गङ्गा यस्मिन् स:—अन्य पदार्थ प्रधान है; परन्तु संज्ञा गम्यमान नहीं है। अत: उक्त अव्ययीभाव समास नहीं हुआ।

शीघ्रगङ्ग:—बहुव्रीहि हुआ।

(373) तत्पुरुष: *22* (684)

तत्पुरुष: इति संज्ञाऽधिक्रियते प्राग् बहुव्रीहे: (2.2.23) यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्पुरुषसंज्ञास्ते वेदितव्या:। वक्ष्यति–'द्वितीया श्रितातीतपतित' (2.1.24) इति। कष्टश्रित:। पूर्वाचार्यसंज्ञा चेयं महती, तदङ्गीकरणमुपाधेरपि तदीयस्य परिग्रहार्थम्–उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुष (म० भा०) इति। तत्पुरुषप्रदेशा:–'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (3.3.14) इत्येवमादय:।

अर्थ—'तत्पुरुष' इस संज्ञा का 'शेषो बहुव्रीहि' (2.2.23) से पूर्व तक अधिकार जानना चाहिए। यहाँ से लेकर आगे जो कहा जायेगा, उस सबकी 'तत्पुरुष' संज्ञा होती है।

आगे कहेंगे—'द्वितीया श्रितातीतपतित०' से 'कष्टश्रित:' आदि। यह इतनी बड़ी संज्ञा पूर्व आचार्यों के द्वारा कही गई है।

(374) द्विगुश्च *23* (685)

द्विगुश्च समासस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति। द्विगोस्तत्पुरुषत्वे समासान्ता: प्रयोजनम् (म० भा०)। पञ्चराजी, दशराजी। द्व्यह:, त्र्यह:। पञ्चगवम्, दशगवम्।

अर्थ—द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा होती है। 'द्विगु' की तत्पुरुष संज्ञा करने का प्रयोजन है—समासान्त प्रत्यय करना।

उदा० (1) पञ्चराजम्

काशिकाकार के द्वारा यहाँ 'पञ्चराजी' उदाहरण दिखाया जाना चिन्तनीय है।

पञ्चानां राज्ञां समाहार:—लौकिक विग्रह,

पञ्चन् आम् राजन् आम्—अलौकिक विग्रह, 'तद्धितार्थोत्तरपद०' से समास, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् का लुक् हुआ,

पञ्चन् राजन्—'संख्यापूर्वो द्विगु:' से द्विगुसंज्ञा व 'द्विगुश्च' से तत्पुरुष संज्ञा,

पञ्चन् राजन् टच्—राजाहस्सखि०' से 'टच्',

पञ्चराजन् अ—नलोप: प्रातिपदि०, चुटू, हलन्त्यम्,

पञ्चराज् अ—'नस्तद्धिते' से टिलोप,

पञ्चराजम्—सु, अम्।

(2) दशराजम्

काशिकाकार ने 'दशराजी' उदाहरण दिया है।

पूर्ववत्।

(3) द्व्यह:

द्वे अहनी समाहृते—पूर्ववत् समास, 'राजाऽह:—' से 'टच्', 'अह्नोऽह्न एतेभ्य:' से 'अह्न' आदेश की प्राप्ति तथा 'न सङ्ख्यादे०' से निषेध हुआ, 'रात्राह्नाहा: पुंसि' से पुँल्लिंग, 'नस्तद्धिते' से टिलोप।

(4) त्र्यह:—पूर्ववत् सभी कार्य।

(5) पञ्चगवम्

पञ्चानां गवां समाहार:—पूर्ववत् सभी कार्य,

पञ्चन् गो टच्—'गोरतद्धितलुकि' से 'टच्',

पञ्च गो अ → पञ्चग् अ—नस्तद्धिते,

पञ्चगवम्—पूर्ववत्।

(6) दशगवम् (पूर्ववत्)।

विशेष—1. 'संख्यापूर्वो द्विगु:' (2.1.51) के द्वारा पूर्व पद में संख्यावाचक शब्द के रहते द्विगुसंज्ञक समास होता है। 'द्विगुश्च' के द्वारा उसकी तत्पुरुष संज्ञा भी होती है। चूँकि तत्पुरुष और द्विगु संज्ञाएँ एकसंज्ञाधिकार में आती हैं। द्र०—'आ कडारादेका संज्ञा'। अत: द्विगुसंज्ञा तत्पुरुष संज्ञा का बाध होता है। परन्तु आचार्य पाणिनि को टच् समासान्त प्रत्यय (द्र०—राजाह:सखिभ्यष्टच्) द्विगु समास की दशा में भी अपेक्षित था, जो केवल तत्पुरुष समास से विधीयमान है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा की गई है। इस प्रकार एक संज्ञाधिकार में भी यहाँ द्विगु और तत्पुरुष दोनों संज्ञायें होती हैं। भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार 'संख्यापूर्वो द्विगु:' इस सूत्र में चकार पाठ करके 'तत्पुरुष:' पद का अनुकर्षण सम्भव था। अत: 'द्विगुश्च' इतने बड़े सूत्र की आवश्यकता नहीं है।[1]

(375) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नै: *24* (686)

सुप् सुपेति वर्त्तते, तस्य विशेषणमेतद् द्वितीया। द्विती-

1. वै० सि० कौ० 684—इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्। 'संख्यापूर्वो द्विगुश्च' इति पठित्वा चकार बलेन संज्ञाद्वय"।

यान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। नरकश्रितः। अतीत–कान्तारमतीतः कान्तारातीतः। पतित–नरकं पतितः नरकपतितः। गत–ग्रामं गतः ग्रामगतः। अत्यस्त–तरङ्गानत्यस्तः तरङ्गात्यस्तः, तुहिनात्यस्तः। प्राप्त–सुखं प्राप्तः सुखप्राप्तः। आपन्न–सुखमापन्नः, सुखापन्नः, दुःखापन्नः। *श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। ग्रामं गमी ग्रामगमी। ग्रामं गामी ग्रामगामी। ओदनं बुभुक्षुः ओदनबुभुक्षुः।

अर्थ—'सुप्' तथा 'सुपा' की अनुवृत्ति है। उसी का यह 'द्वितीया' पद विशेषण है।

द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न प्रकृति वाले सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कष्टश्रितः
कष्टं श्रितः—लौकिक विग्रह,
कष्ट अम् श्रित सु—अलौकिक विग्रह, समास, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,
कष्टश्रित सु → कष्टश्रितः—सु।

(2) नरकश्रितः
नरकं श्रितः—पूर्ववत्।

(3) कान्तारातीतः
कान्तारम् अतीतः—पूर्ववत्।

(4) नरकपतितः
नरकं पतितः—पूर्ववत्।

(5) ग्रामगतः
ग्रामं गतः—पूर्ववत्।

(6) तरङ्गात्यस्तः
तरङ्गान् अत्यस्तः—पूर्ववत्।

(7) तुहिनात्यस्तः
तुहिनम् अत्यस्तः—पूर्ववत्।

(8) सुखप्राप्तः
सुखं प्राप्तः—पूर्ववत्।

(9) सुखापन्नः
सुखम् आपन्नः—पूर्ववत्।

(10) दुःखापन्नः
दुःखम् आपन्नः—पूर्ववत्।

श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्—द्वितीयान्त सुबन्त का (श्रित आदि से अतिरिक्त) गमिन् व गामिन् आदि के साथ भी तत्पुरुष समास होता है। गम्यादि एक आकृतिगण है—

(11) ग्रामगमी
ग्रामं गमी—पूर्ववत्।

(12) ग्रामगामी
ग्रामं गामी—पूर्ववत्।

(13) अन्नबुभुक्षुः
अन्नं बुभुक्षः—पूर्ववत्।

विशेष—व्याकरण शास्त्र में विशेषण से तदन्त विधि होती है; परन्तु समासविधान में तदन्त विधि नहीं होती है।[1] अतः 'श्रित' आदियों से तदन्त विधि नहीं होती है। तब 'कष्टं परमश्रितः' यहाँ समास नहीं होता है।

(376) स्वयं क्तेन *25* (687)

स्वयमेतदव्ययमात्मनेत्यस्यार्थे वर्त्तते। तस्य द्वितीयया सह सम्बन्धो नोपपद्यत। इति द्वितीयाग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तते। स्वयमित्येतत्सुबन्तं क्तान्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। स्वयन्धौतौ पादौ। स्वयं विलीनमाज्यम्। एकपद्यमैकस्वर्यं च समासत्वाद्भवति।

अर्थ—'स्वयम्' अव्यय 'आत्मना' इस अर्थ में है।

'स्वयम्' अव्यय का क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यहाँ पूर्व सूत्र से 'द्वितीया' पद की अनुवृत्ति नहीं की गई है। कारण कि 'स्वयम्' अव्यय है तथा अव्यय में कोई भी विभक्ति प्रसक्त नहीं होती है।

उदा० (1) स्वयंधोतौ पादौ
स्वयं धोत औ—पूर्ववत् समास,
स्वयंधोतौ—प्रथमा द्विवचन।

(2) स्वयंविलीनम् (पूर्ववत्)।
समास होने से एकपद तथा एकस्वर हुआ।

(377) खट्वा क्षेपे *26* (688)

खट्वाशब्दो द्वितीयान्तः क्तान्तेन सह क्षेपे गम्यमाने

1. समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः (वा०)

समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। क्षेपो निन्दा, स च समासार्थ एव, तेन विभाषाधिकारेऽपि नित्यसमास एवायम्, न हि वाक्येन क्षेपो गम्यते। खट्वारोहणं चेह विमार्ग-प्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते। खट्वारूढो जाल्मः। खट्वाप्लुतः। अपथप्रस्थित इत्यर्थः। क्षेप इति किम्? खट्वामारूढः।

अर्थ—'निन्दा' अर्थ होने पर द्वितीयान्त 'खट्वा' शब्द का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ नित्य तत्पुरुष समास होता है।

वाक्य से निन्दा अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। अतः यह नित्य समास होता है।

'खट्वारोहण' से अभिप्राय है—विपरति मार्ग का अनुसरण करना। सब प्रकार के अविनीत को 'खट्वारूढ़' कहा जाता है।

उदा० (1) खट्वारूढ़:
खट्वाम् आरूढः—पूर्ववत्।

(2) खट्वाप्लुत:
खट्वां प्लुतः—पूर्ववत्।
क्षेप० अर्थात् निन्दा अर्थ में ही समास होता है—

(3) खट्वाम् आरूढ:
यहाँ सामान्य आरोहण अर्थ है तथा निन्दा अर्थ नहीं है। अत: समास नहीं हुआ।

(378) सामि *27* (689)

सामीत्येतदव्ययमर्द्धशब्दपर्यायः, तस्यासत्त्ववाचित्वात् द्वितीयया नास्ति सम्बन्धः। तत् सुबन्तं क्तान्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। सामिकृतम्। सामिपीतम्। सामिभुक्तम्। ऐकपद्यमैकस्वर्यं च समासत्वाद्भवति।

अर्थ—सामि = आधा। द्रव्यवाची न होने के कारण यहाँ भी द्वितीया का सम्बन्ध नहीं है।

'सामि' अव्यय का क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) सामिकृतम् (पूर्ववत्)।
(2) सामिपीतम् (पूर्ववत्)।
(3) सामिभुक्तम् (पूर्ववत्)।

एकपद व एकस्वर के लिए समास होता है।

(379) कालाः *28* (690)

द्वितीया, क्तेनेति च वर्त्तते। कालवाचिनः शब्दा द्वितीयान्ताः क्तान्तेन सह समस्यन्ते विभाषा, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम्। काला इति न स्वरूपविधिः। षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः। ते कदाचिदहर्गच्छन्ति कदाचिद्रात्रिम् (म०भा)। अहरतिसृता मुहूर्त्ताः अहस्संक्रान्ताः। रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः रात्रिसंक्रान्ताः। मासप्रमितश्चन्द्रमाः। मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपच्चन्द्रमा इत्यर्थः।

अर्थ—'द्वितीया' तथा 'क्तेन' का अनुवर्त्तन है।

कालवाची द्वितीयान्त शब्द का क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

अत्यन्त संयोग को छोड़कर शेष के लिए यह वचन है। 'काल' शब्द के द्वारा स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है।

छः मुहूर्त्त चलते रहते हैं। वे कभी दिन में चलते हैं और कभी रात में।

उदा० (1) अहरतिसृताः (मुहूर्त्ताः)
अहः अतिसृताः—कालवाचक 'अहन्' का क्तान्त 'अतिसृताः' के साथ समास हुआ, छहों मुहूर्त्त एक ही काल में सम्भव नहीं हैं; अतः अत्यन्त संयोग नहीं हुआ,
अहरतिसृताः—जस् हुआ।

(2) रात्र्यतिसृताः (मुहूर्त्ताः)
पूर्ववत्।

(3) मासप्रमितः (चन्द्रमाः)

(380) अत्यन्तसंयोगे च *29* (691)

काला इति वर्त्तते, क्तेनेति निवृत्तम्। अत्यन्तसंयोगः कृत्स्नसंयोगः, कालस्य स्वेन सम्बन्धिना व्याप्तिः। कालवाचिनः शब्दा द्वितीयान्ता अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने सुपा सह समस्यन्ते विभाषा, तत्पुरुषश्च समासो भवति। मुहूर्तं सुखम् मुहूर्त्तसुखम्। सर्वरात्रकल्याणी। सर्वं रात्रशोभना।

अर्थ—'कालाः' पद की अनुवृत्ति है। 'क्तेन' की निवृत्ति हो गई।

अत्यन्त संयोग गम्यमान हो तो कालवाचक द्वितीयान्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) मुहूर्त्तसुखम्
मुहूर्त्तं सुखम्—अत्यन्त संयोग है, 'मुहूर्त्तम्' कालवाची द्वितीयान्त है, समास हुआ,

मुहूर्त्तसुखम्—सु।

(2) सर्वरात्रकल्याणी

सर्वरात्रं कल्याणी—पूर्ववत्। 'अहस्सर्वैक०' से 'अच्'।

(3) सर्वरात्रशोभना (पूर्ववत्)।

(381) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन *30* (692)

सुप् सुपेति वर्त्तते, तस्य विशेषणमेतत् तृतीया। तृतीयान्तं सुबन्तं गणवचनेनाऽर्थशब्देन च सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कीदृशेन गुणवचनेन? तत्कृतेन = तदर्थकृतेन, तृतीयान्तार्थकृतेनेति यावत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। किरिणा काणः किरिकाणः। अर्थशब्देन-धान्येनार्थः धान्यार्थः। तत्कृतेनेति किम्? अक्ष्णा काणः। गुणवचनेति किम्? गोभिर्वपावान् (म०भा०)।

अर्थ—'सुप्' तथा 'सुपा' पदों का अनुवर्तन है। 'तृतीया' इनका विशेषण है। तृतीयान्त सुबन्त शब्द का उस तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट द्रव्यवाचक सुबन्त के साथ तथा सुबन्त अर्थ शब्द के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

किस प्रकार के गुणवचन के द्वारा? 'तत्कृत' (अर्थात् तदर्थकृत) के द्वारा। इसका अर्थ है—तृतीयान्तार्थकृत के द्वारा।

'सुपां सुलुक्०' के द्वारा 'तत्कृत' में तृतीया का लुक् है। अर्थ की दृष्टि से 'तत्कृत' का स्वरूप 'तत्कृतेन' ऐसा निश्चित होता है। यह पद 'गुणवचनेन' का विशेषण है। 'तत्कृत' में 'तत्' पद के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट तृतीयान्त पद का ग्रहण होता है। जो शब्द प्रथम गुण को कहकर पश्चात् द्रव्यवाचक हो गया हो, उसे 'गुणवचन' कहते हैं। स्पष्टता के लिए सूत्रार्थ को दो खण्डों में इस प्रकार विभक्त किया जाता है—

(क) तृतीयान्त सुबन्त का तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है,

(ख) तृतीयान्त सुबन्त का अर्थप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।

उदा० (1) शङ्कुलाखण्डः

शङ्कुलया खण्डः—'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया हुई, शङ्कुला के द्वारा भेदनरूप गुण है। तद्विशिष्ट द्रव्य 'खण्ड' है। इससे होने वाले 'मतुप्' प्रत्यय (5.2.94) का 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्' (5.2.94—वा०) से लुक् हुआ, विकल्प से समास हुआ, शङ्कुलाखण्डः—पूर्ववत् सभी कार्य।

(2) किरिकाणः

किरिणा काणः—पूर्ववत्।

न्यास के अनुसार 'गिरिकाणः' प्रयोग है।

(3) धान्यार्थः

धान्येनार्थः—'हेतौ' से तृतीया हुई, समास हुआ,

धान्यार्थः—पूर्ववत् सभी कार्य।

तत्कृतेन अर्थात् तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुबन्त के साथ समास होता है—

(1) अक्ष्णा काणः

'अक्ष्णा' तृतीयान्त है; परन्तु उस तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा गुण (काणता), तद्विशिष्ट पदार्थ का वाचक यहाँ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

गुणवचनेन अर्थात् गुणवाची के साथ समास होता है—

(1) गोभिर्वपावान्

'गोभिः' तृतीयान्त है; परन्तु 'वपा' शब्द द्रव्यवाची है। इसके गुणवाची न होने के कारण समास नहीं हुआ।

(382) पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः *31* (693)

पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण-एतैः सह तृतीयान्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अस्मादेव वचनात् पूर्वादिभिर्योगे तृतीया भवति, हेतौ वा द्रष्टव्या। पूर्व-मासेन पूर्वः मासपूर्वः, संवत्सरपूर्वः। सदृश-मातृसदृशः, पितृसदृशः। सम-मातृसमः, पितृसमः। ऊनार्थ-माषोनम्, कार्षापणोनम्; माषविकलम्, कार्षापणविकलम्। कलह-असिकलहः, वाक्कलहः। निपुण-वाग्निपुणः, आचारनिपुणः। मिश्र-गुड-मिश्रः, तिलमिश्रः। श्लक्ष्ण-आचारश्लक्ष्णः। *पूर्वादिष्ववरस्योपसंख्यानम्* (म०भा०)। मासेनावरः मासावरः। संवत्सरावरः।

अर्थ—पूर्व, सदृश, सम, ऊनवाची, कलह, निपुण, मिश्र तथा श्लक्ष्ण—इन सुबन्तों के साथ तृतीयान्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

इसी वचन के द्वारा 'पूर्व' आदि शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है।

उदा० (1) मासपूर्वः
मासेन पूर्वः—लौकिक विग्रह,
मास टा पूर्व सु—समास हुआ, पूर्ववत् सभी कार्य,
मासपूर्वः—सु।

यद्यपि अवधि की प्रतीति होने से 'अन्यारादितरर्त्ते०' से पञ्चमी प्राप्त हुई, तथापि प्रकृत सूत्र में अनुवर्तमान 'तृतीया' पद से ज्ञापित होता है कि यहाँ तृतीया ही होती है।

पक्ष में—मासेन पूर्वः।

(2) सँवत्सरपूर्वः
सँवत्सरेण पूर्वः—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं होता है।

(3) मातृसदृशः
मात्रा सदृशः—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(4) पितृसदृशः
पित्रा सदृशः—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(5) मातृसमः
मात्रा समः—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य।

(6) पितृसमः
पित्रा समः—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(7) माषोनम्
माषेनोनम्—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(8) कार्षापणोनम्
कार्षापणेनोनम्—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(9) मासविकलम्
मासेन विकलम्—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(10) कार्षापणविकलम्
कार्षापणेन विकलम्—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(11) असिकलहः
असिना कलहः—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(12) वाक्कलहः
वाचा कलहः—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(13) वाग्निपुणः
वाचा निपुणः—समास, पूर्ववत् सभी कार्य,
वाच् निपुण → वाक्निपुण—'चोः कुः' से कुत्व,
वाग्निपुणः—झलां जशोऽन्ते, सु।

(14) आचारनिपुणः
आचारेण निपुणः—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(15) गुडमिश्रः
गुडेन मिश्रः—पूर्ववत्।
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(16) तिलमिश्रः
तिलैर्मिश्रः—पूर्ववत्,
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(17) आचारश्लक्ष्णः
आचारेण श्लक्ष्णः—पूर्ववत्।
पक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

पूर्वादिष्ववरस्योपसङ्ख्यानम्—तृतीयान्त सुबन्त का 'अवर' शब्द के साथ पूर्वोक्त समास होता है—

(18) मासावरः
मासेनावरः—पूर्ववत्।

विशेष—सूत्रस्थ 'मिश्र' पद के द्वारा सोपसर्ग 'सम्मिश्र' आदि पदों का भी ग्रहण होता है। आचार्य पाणिनि का सूत्रपाठ (मिश्रं चाऽनुपसर्गमसन्धौ' (6.2.154) यहाँ ज्ञापक है।[1] इस सूत्र में 'अनुपसर्गम्' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है 'पूर्वसदृश-समोनार्थ०' समासविधायक सूत्र के द्वारा सोपसर्ग 'सम्मिश्र' आदि के साथ तृतीयान्त सुबन्त का समास होता है। यदि ऐसा न होता

1. पदम० 2.1.31.

तो 6.2.154 के द्वारा 'अनुपसर्गम्' के द्वारा निषेध की आवश्यकता ही नहीं थी। इस दशा में यह निषेध व्यर्थ हो जाता।

(383) कर्त्तृकरणे कृता बहुलम् *32* (694)

तृतीयेति वर्त्तते। कर्त्तरि करणे च या तृतीया तदन्तं कृदन्तेन सह समस्यते बहुलम्, तत्पुरुषश्च समासो भवति। सर्वोपाधिव्यभिचारार्थं बहुलग्रहणम्। कर्त्तरि–अहिना हतः अहिहतः। करणे–नखैर्निर्भिन्नो नखनिर्भिन्नः, परशुना छिन्नः परशुच्छिन्नः। कर्तृकरणे इति किम्? भिक्षाभिरुषितः। बहुलग्रहणं किम्? दात्रेण धान्यं लूनवान्, परशुना छिन्नवान्। इह समासो न भवति। पादहारकः गलेचोपकः (म०भा०) इति च भवति।

अर्थ—कर्तृवाची और करणवाची तृतीयान्त सुबन्त का समर्थ कृदन्त सुबन्त के साथ बहुल करके समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

इसका सार यह है कि 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' के द्वारा जो तृतीया का विधान किया गया है, तदन्त सुबन्त का कृदन्त सुबन्त के साथ बहुल करके समास होता है और उसकी तत्पुरुषसंज्ञा होती है।

सर्वोपाधि—आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र में 'बहुलम्' पद का प्रयोग सभी विधियों के व्यभिचार के लिए किया है। 'बहुलम्' के द्वारा की गई विधि की चतुर्विध स्थिति देखी जाती है—

(क) क्वचित् प्रवृत्तिः = कार्य का होना,
(ख) क्वचिदप्रवृत्तिः = कार्य का न होना,
(ग) क्वचिद् विभाषा = कहीं विकल्प से कार्य का होना,
(घ) क्वचिदन्यदेव = कहीं अन्य प्रकार से कार्य का होना। यथा—

पादहारकः
पादाभ्यां हारकः—अपादान में पञ्चमी हुई है। बाहुलकात् समास हो गया।

गलेचोपकः
गले चोपकः—सप्तम्यन्त (गले) का 'चोपकः' (कृदन्त) के साथ बाहुलकात् समास हुआ है।

उदा० (1) अहिहतः
अहिना हतः—कर्तृवाची तृतीयान्त (अहिना) का समर्थ कृदन्त (हतः) सुबन्त के साथ समास हुआ,
अहिहतः—सु

यहाँ विधि की प्रवृत्ति हुई है।

'असिना छिन्नवान्' में समास नहीं हुआ। अतः विधि की अप्रवृत्ति हुई।

(2) नखनिर्भिन्नः
नखैर्निर्भिन्नः—कारणवाची तृतीयान्त (नखैः) का कृदन्त (निर्भिन्नः) समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ,
नखनिर्भिन्नः—पूर्ववत् सभी कार्य।

(3) परशुच्छिन्नः
परशुना छिन्नः—पूर्ववत्,
परशु छिन्नः → परशु तुक् छिन्न—छे च,
परशुच्छिन्नः—अनुबन्धलोप, स्तोः श्चुना श्चुः, सु।

कर्तृकरणे० अर्थात् कर्तृवाची व करणवाची सुबन्त का कृदन्त सुबन्त के साथ समास होता है—

(1) भिक्षाभिरुषितः
'हेतौ' के द्वारा हेतु अर्थ में 'तृतीया' हुई है। न तो कर्तृवाची है तथा न ही करणवाची है। अतः समास नहीं हुआ।

बहुल० अर्थात् पूर्वोक्त समास बहुलता से होता है—
(1) दात्रेण लूनवान् धान्यम्—यहाँ करणवाची (दात्रेण) का कृदन्त (लूनवान्) के साथ समास नहीं हुआ।
पादहारकः तथा गलेचोपकः में बाहुलकात् हो जाता है।

कृता अर्थात् कृदन्त के साथ ही पूर्वोक्त समास होता है—
(1) काष्ठैः पचतितराम्

यहाँ करणवाची (काष्ठैः) सुबन्त के साथ 'पचतितराम्' का समास नहीं हुआ। 'पचतितराम्' तिङन्त पद है, कृदन्त नहीं।

(384) कृत्यैरधिकार्थवचने *33* (695)

स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तमध्यारोपितार्थवचनमधिकार्थवचनम्। कर्तृकरणयोर्या तृतीया तदन्तं सुबन्तं कृत्यैः सह समस्यतेऽधिकार्थवचने गम्यमाने विभाषा, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कर्त्ता–काकपेया (3.1.97) नदी, श्वलेह्यः (3.1.124) कूपः। करणम्–बाष्पच्छेद्यानि तृणानि। कण्टकसञ्चेय ओदनः। पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः। *कृत्यग्रहणे यण्ण्यतोर्ग्रहणं कर्त्तव्यम्*। इह मा भूत्–काकैः पातव्या इति।

अर्थ—किसी की स्तुति या निन्दा के विषय में कुछ अधिक कहना 'अधिकार्थवचन' कहलाता है।

अधिकार्थवचन गम्यमान हो तो कर्तृवाची और करणवाची

तृतीयान्त सुबन्त का समर्थ कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) काकपेया नदी

काकैः पेया—'पेया' में 'यत्' कृत्यसंज्ञक प्रत्यय है। यहाँ 'निन्दा' तथा 'स्तुति' दोनों अर्थों में[1] अधिकार्थवचन है। समास हुआ,

काक पेय टाप्—पूर्ववत् सभी कार्य, स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्', सु तथा सुलुक्,

काकपेया सु → काकपेया।

(2) श्वलेह्यः

शुना लेह्यः—'लेह्य' में 'ण्यत्' प्रत्यय है, पूर्ववत् सभी कार्य होकर,

श्वलेह्यः—सु।

पूर्वोक्त दोनों रूप कर्तृवाची के हैं।

(3) वातच्छेद्यानि तृणानि

यहाँ करणवाची तृतीयान्त (वातेन) का कृत्यप्रत्ययान्त (छेद्य) के साथ अधिकार्थवचन में समास हुआ।

(4) कण्टकसञ्चेयः (ओदनः)

यहाँ करणवाची (कण्टकेन) का कृत्यप्रत्ययान्त (सञ्चेय) के साथ अधिकार्थवचन में समास हुआ।

पूर्वस्य—यद्यपि 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्रस्थ 'बहुलम्' पद के द्वारा प्रकृत सूत्र का कार्य भी सिद्ध हो जाता है। अतः यह सूत्र पूर्वसूत्र का प्रपञ्चमात्र है।

कृत्य० सूत्रस्थ 'कृत्यैः' पद के द्वारा 'यत्' तथा 'ण्यत्' प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है—

काकैः पातव्या—यहाँ अधिकार्थवचन है; परन्तु 'पातव्या' में न तो 'यत्' प्रत्यय है; न ही 'ण्यत्' प्रत्यय है। अतः तृतीयान्त (काकैः) का 'पातव्या' के साथ समास नहीं हुआ।

(385) अन्नेन व्यञ्जनम् *34* (696)

तृतीयेति वर्त्तते। व्यञ्जनवाचि तृतीयान्तमन्नवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते विभाषा, तत्पुरुषश्च समासो भवति। संस्कार्यमन्नम्, संस्कारकं व्यञ्जनम्। दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदनः। क्षीरौदनः। वृत्तौ क्रियाया अन्तर्भावादन्न-व्यञ्जनयोः सामर्थ्यम्।

अर्थ—अन्नवाची सुबन्त के साथ व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है। व्यञ्जन = जिसके द्वारा किसी पदार्थ का संस्कार किया जाय।

उदा० (1) दध्योदनः

दध्नोपसिक्त ओदनः—तृतीयान्त 'दध्न' शब्द का अर्थ है—दही के द्वारा साना हुआ (दध्नोपसिक्तः), तब कर्तृवाची तृतीयान्त 'दध्ना' का 'ओदन' से समास हुआ,

दधि ओदन → दध्योदनः—इको यणचि, सु।

(2) क्षीरौदनः

क्षीरेणोपसिक्त ओदनः—पूर्ववत् समास हुआ,

क्रिया के अन्तर्भाव के कारण 'अन्न' और संस्कारक द्रव्य में सामर्थ्य होता है। तब समास होता है।

(386) भक्ष्येण मिश्रीकरणम् *35* (697)

मिश्रीकरणवाचि तृतीयान्तं भक्ष्यवाचिना सुबन्तेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम्, तस्य संस्कारकं मिश्रीकरणम्। गुडेन मिश्रा धानाः गुडधानाः। गुडपृथुकाः। वृत्तौ क्रियाया अन्तर्भावात्पूर्वोत्तरपदयोः सामर्थ्यम्।

अर्थ—भक्ष्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है।

उदा० (1) गुडधाना

गुडैर्मिश्रा धाना—समास हुआ,

गुडधानाः—पूर्ववत्, जस् प्रत्यय।

(2) गुडपृथुकाः

गुडैर्मिश्राः पृथुकाः—पूर्ववत्।

'मिश्रण' क्रिया अन्तर्भूत है। अतः पूर्व तथा उत्तरपद में सामर्थ्य होने से समास हुआ।

(387) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः *36* (698)

सुप् सुपेति वर्त्तते, तस्य विशेषणमेतच्चतुर्थी। तदिति सर्वनाम्ना चतुर्थ्यन्तस्यार्थः परामृश्यते। तस्मै इदं तदर्थम्।

1. निन्दा अर्थ में विग्रह—काकैरेव पेया अर्थात् स्वल्प जल वाला नदी जहाँ केवल कौवे ही जल पी सकें।

स्तुति अर्थ में विग्रह—काकैरपि पेया अर्थात् तरंगों से तरंगित व जल से परिपूर्ण नदी, जिसके तट पर कौवा भी सुखपूर्वक जल पी सके।

तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षितइत्येतैः सह चतुर्थ्यन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तदर्थेन प्रकृति-विकारभावे समासोऽयमिष्यते। यूपाय दारु यूपदारु। कुण्डलाय हिरण्यम् कुण्डलहिरण्यम्। इह न भवति-रन्धनाय स्थाली, अवहननायोलूखलमिति। चतुर्थी चास्मादेव ज्ञापकात्तादर्थ्ये भवति। *अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च वक्तव्या* (म०भा०)। ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्था यवागूः (म०भा०)। बलि–कुबेराय बलिः कुबेरबलिः, महाराजबलिः। हित–गोहितम्, अश्वहितम्। सुख–गोसुखम्, अश्वसुखम्। रक्षित–गोरक्षितम्, अश्वरक्षितम्।

अर्थ—'सुप्' तथा 'सुपा' दोनों का यहाँ अधिकार है। 'चतुर्थी' पद इसका विशेषण है। 'तत्' पद के द्वारा 'चतुर्थ्यन्त का अर्थ' जाना जाता है। यथा—तस्मै इदम्—तदर्थम्। सार यह है कि चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिए जो वस्तु, उस वस्तु के वाचक सुबन्त को 'तदर्थ' कहा गया है।

चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख तथा रक्षित—इन सुबन्त समर्थ शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

तदर्थेन तदर्थ के द्वारा प्रकृतिविकारभाव में समास होता है।

उदा० (1) यूपदारु

यूपाय दारु—चतुर्थ्यन्त सुबन्त 'यूपाय' है। 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (वा०) से चतुर्थी हुई। उसके वाच्य 'यूप' के लिए 'दारु' है। 'दारु' का वाचक सुबन्त 'दारु' (दारु सु) यह तदर्थ है। समास हुआ, 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पु०' से नपुँसक हुआ।

(2) कुण्डलहिरण्यम्
कुण्डलाय हिरण्यम्—पूर्ववत् सभी कार्य,
कुण्डलहिरण्य सु — कुण्डलहिरण्यम्।

(3) रन्धनाय स्थाली
यहाँ समास नहीं हुआ।

(4) अवहननायोलूखलम्
यहाँ समास नहीं हुआ।

पूर्वोक्त दोनों स्थलों 'पर' चतुर्थ्यन्त सुबन्त और तदर्थवाचक में प्रकृति-विकृतिभाव नहीं है। अतः यहाँ समास नहीं हुआ।

अर्थेन नित्यसमासवचनम्, सर्वलिङ्गता च वक्तव्या—'अर्थ' सुबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का नित्य समास होता है तथा उस समास का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। तब समास का विग्रह अस्वपद होता है। यथा—

(5) द्विजार्थः (सूपः) → द्विजायाऽयम्।
(6) द्विजार्थम् (पयः) → द्विजायेदम्।
(7) द्विजार्था (यवागूः) → द्विजायेयम्।
(8) कुबेरबलिः → कुबेराय बलिः।
(9) महाराजबलिः → महाराजाय बलिः।
(10) गोहितम् → गवे हितम्।
(11) अश्वहितम् → अश्वाय हितम्।
(12) गोसुखम् → गवे सुखम्।
(13) अश्वसुखम् → अश्वाय सुखम्।
(14) गोरक्षितम् → गवे रक्षितम्।
(15) अश्वरक्षितम् → अश्वाय रक्षितम्।

(388) पञ्चमी भयेन *37* (699)

सुप् सुपेति वर्त्तते, तस्य विशेषणमेतत् पञ्चमी। पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयशब्देन सुबन्तेन सह समस्यते विभाषा, तत्पुरुषश्च समासो भवति। वृकेभ्यो भयम् वृकभयम्। चौरभयम्। दस्युभयम्। *भयभीतभीतिभीभिरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। वृकेभ्यो भीतः वृकभीतः। वृकभीतिः। वृकभीः। पूर्वस्यैवायं बहुलग्रहणस्य प्रपञ्चः। तथा च-ग्रामनिर्गतः, अधर्मजुगुप्सुरित्येवमादि सिद्धं भवति।

अर्थ—'सुप्' और 'सुपा' की अनुवृत्ति है। उसका विशेषण 'पञ्चमी' है। पञ्चम्यन्त सुबन्त का भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) वृकभयम्
वृकाद् भयम्—पूर्ववत् समास,
वृकभय—पूर्ववत् शेष सभी कार्य,
वृकभयम्—सु।

(2) चौरभयम् → चौराद् भयम्।

(3) दस्युभयम् → दस्योर्भयम्।

भयभीतिभीभिरिति वक्तव्यम्—भय, भीति और भी शब्दों के साथ भी पूर्वोक्त समास होता है—

(4) वृकभीतः → वृकेभ्यो भीतः।
(5) वृकभीतिः → वृकेभ्यो भीतिः।
(6) वृकभीः → वृकेभ्यो भीः।

पूर्वस्यै—यह सूत्र का ही प्रपञ्चमात्र है।[1] यथा—

(7) ग्रामनिर्गतः → ग्रामाद् निर्गतः।

(8) अधर्मजुगुप्सुः → अधर्माज् जुगुप्सुः।

(389) अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः *38* (700)

अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त–इत्येतैः सह पञ्चम्यन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अपेत–सुखापेतः। अपोढ–कल्पनापोढः। मुक्त–चक्रमुक्तः। पतित–स्वर्गपतितः। अपत्रस्त–तरङ्गापत्रस्तः। अल्पशः इति समासस्याल्पविषयतामाचष्टे। अल्पा पञ्चमी समस्यते, न सर्वा। प्रासादात्पतितः, भोजनादपत्रस्त, इत्येवमादौ न भवति। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (2.1.32) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—कुछ पञ्चम्यन्त सुबन्तों का अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित तथा अपत्रस्त—इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) सुखापेतः

सुखाद् अपेतः—समास हुआ, पूर्ववत् सभी कार्य हुए,

सुख अपेत—अकः सवर्णे दीर्घः, सु,

सुखाऽपेतः—विसर्ग।

(2) कल्पनापोढः

कल्पनयाऽपोढः—पूर्ववत्।

(3) चक्रमुक्तः → चक्राद् मुक्त।

(4) स्वर्गपतितः → स्वर्गात् पतितः।

(5) तरङ्गापत्रस्तः → तरङ्गेभ्योऽपत्रस्तः।

अल्पशः—'अल्पशः' पद समास की अल्पविषयता को कहता है। कुछ सुबन्तों का ही समास होता है, सबका नहीं; यथा—

(6) प्रासादात् पतितः

यहाँ नहीं हुआ।

(7) भोजनादपत्रस्तः

यहाँ समास नहीं हुआ।

यह भी पूर्वसूत्र का प्रपञ्चमात्र है।

1. महाभाष्य में प्रकृत सूत्र का योगविभाग किया गया है।

(390) स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन *39* (701)

स्तोक, अन्तिक, दूर–इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च पञ्चम्यन्ताः क्तान्तेन सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। स्तोक–स्तोकान्मुक्तः। अन्तिक–अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः। दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रान्मुक्तः, कृच्छ्राल्लब्धः। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुक्। *शतसहस्रौ परेणेति वक्तव्यम्*। शतात्परे परश्शताः। सहस्रात्परे परस्सहस्राः। राजदन्तादित्वात्परनिपातः। निपातनात्सुडागमः।

अर्थ—स्वल्पार्थक, समीपार्थक, दूरार्थक तथा कृच्छ्र—इन पञ्चम्यन्त शब्दों का क्तान्तप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) स्तोकान्मुक्तः

स्तोकात् मुक्तः—स्वल्पवाची 'स्तोकात्' पञ्चम्यन्त का क्तान्तप्रकृतिक (मुक्त) समर्थ सुबन्त के साथ समास हुआ, पूर्ववत् कार्य हुए,

स्तोकात् मुक्त—'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' से अलुक्,

स्तोकान्मुक्तः—'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से अनुनासिक, सु।

शङ्का है कि यहाँ विग्रहवाक्य और समस्त पद के स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। तब समास की क्या आवश्यकता है?

समाधान यह है कि समस्त पद से तद्धित प्रत्यय सम्भव होता है तथा एकस्वर भी होता है; परन्तु विग्रहवाक्य से न तो तद्धित प्रत्यय होता है और न ही एकस्वर होता है। अतः समास किया गया है।

(2) अन्तिकादागतः

अन्तिकात् आगतः—पूर्ववत्।

(3) अभ्याशादागतः

अभ्याशात् आगतः—पूर्ववत्।

(4) दूरादागतः

दूरात् आगतः—पूर्ववत्।

(5) विप्रकृष्टादागतः

विप्रकृष्टात् आगतः—पूर्ववत्।

(6) कृच्छ्रान्मुक्तः

कृच्छ्रात् मुक्तः—पूर्ववत्।

(7) कृच्छ्राल्लब्धः

कृच्छ्रात् लब्धः—पूर्ववत्।

शतसहस्रौ परेणेति वक्तव्यम्—पञ्चम्यन्त 'शत' और 'सहस्र' सुबन्त का पर सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है—

(1) परश्शतः

शतात् परे—'शत' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर इसका पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, 'राजदन्तादिषु परम्' के द्वारा परनिपात हुआ,

परशत—'पारस्करप्रभृतीनि च' से 'सुट्' आगम,

परश्शत जस्—'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व, जस्,

परश्शताः—विसर्ग आदि।

(2) परस्सहस्राः

सहस्रात् परे—पूर्ववत्।

(391) सप्तमी शौण्डैः *40* (717)

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अक्षेषु शौण्डोऽक्षशौण्डः। अक्षधूर्तः। अक्षकितवः। शौण्ड। धूर्त्त। कितव। व्याड। प्रवीण। संवीत। अन्तर्। अन्तश्शब्दस्त्वत्राधिकरणप्रधान एव पठ्यते। अधिपटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण। वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादक्षादिषु अधिकरणे सप्तमी।

अर्थ—सप्तम्यन्त सुबन्त का 'शौण्ड' आदि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अक्षशौण्डः

अक्षेषु शौण्डः—पूर्ववत् समास।

(2) अक्षधूर्तः

अक्षेषु धूर्तः—पूर्ववत्।

(3) अक्षकितवः

अक्षेषु कितवः—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।,

प्रसक्ति क्रिया के अन्तर्भाव के कारण 'अक्ष' आदि शब्दों में अधिकरण में सप्तमी हुई है।

(392) सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च *41* (718)

सप्तमीति वर्तते। सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध-इत्येतैः सह सप्तम्यन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। सांकाश्यसिद्धः। काम्पिल्यसिद्धः। शुष्क-आतपशुष्कः, छायाशुष्कः। पक्व-स्थालीपक्वः, कुम्भीपक्वः बन्ध-चक्रबन्धः। बहुलग्रहणस्यैवायमुदाहरणप्रपञ्चः।

अर्थ—'सप्तमी' का अनुवर्तन है।

सप्तम्यन्त सुबन्त का सिद्ध, शुष्क, पक्व तथा बन्ध—इन सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा० (1) साङ्काश्यसिद्धः

साङ्काश्ये सिद्धः—समास हुआ।

(2) काम्पिल्यसिद्धः

काम्पिल्ये सिद्धः—पूर्ववत्।

(3) आतपशुष्कः

आतपे शुष्कः—पूर्ववत्।

(4) छायाशुष्कः

छायायां शुष्कः—पूर्ववत्।

(5) स्थाली पक्वः

स्थाल्यां पक्वः—पूर्ववत्।

(6) कुम्भीपक्वः

कुम्भ्यां पक्वः—पूर्ववत्।

(7) चक्रबन्धः

चक्रे बन्धः—पूर्ववत्।

यह बहुल ग्रहण का प्रपञ्चमात्र है।

(393) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे *42* (719)

ध्वाङ्क्षेणेत्यर्थग्रहणम्। ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं सुबन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, क्षेपे गम्यमाने। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः। अनवस्थित इत्यर्थः। तीर्थकाकः। तीर्थवायसः। क्षेप इति किम्? तीर्थे ध्वाङ्क्षस्तिष्ठति।

अर्थ—'ध्वांक्ष' के द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है।

काकवाची सुबन्त के साथ विकल्प से सप्तम्यन्त सुबन्त का समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है, यदि निन्दा गम्यमान हो।

उदा० (1) तीर्थध्वाङ्क्षः

तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव—पूर्ववत् समासविधि हुई।

(2) तीर्थकाकः
तीर्थे काकः—पूर्ववत्।

(3) तीर्थवायसः
तीर्थे वायसः—पूर्ववत्।

क्षेपे अर्थात् निन्दा गम्यमान हो तो समास होता है—

(1) तीर्थे ध्वाङ्क्षस्तिष्ठति
यहाँ निन्दा गम्यमान नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(394) कृत्यैर्ऋणे *43* (720)

सप्तमीति वर्तते। कृत्यप्रत्ययान्तैः सह सप्तम्यन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, ऋणे गम्यमाने। यत्प्रत्ययेनैवेष्यते। मासे देयमृणं मासदेयम्। संवत्सरदेयम्। त्र्यहदेयम्। ऋणग्रहणं नियोगोपलक्षणार्थम्, तेनेहापि समासो भवति–पूर्वाह्णे गेयं साम, प्रातरध्येयोऽनुवाकः। ऋण इति किम्? मासे देया भिक्षा।

अर्थ—'सप्तमी' का अनुवर्त्तन है।

सप्तम्यन्त सुबन्त का कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है, अवश्यम्भाविता गम्यमान हो तो।

'कृत्य' के द्वारा केवल 'यत्' प्रत्यय का ही ग्रहण होता है।

उदा० (1) मासदेयम् (ऋणम्)
मासे देयम्—समास हुआ।

(2) संवत्सरदेयम्
संवत्सरे देयम्—पूर्ववत्।

(3) त्र्यहदेयम् (पूर्ववत्)।

नियोग के उपलक्षण के लिए 'ऋण' शब्द गृहीत है। अतः निम्न में समास होता है—

(4) पूर्वाह्णगेयम्
पूर्वाह्णे गेयम्—पूर्ववत्।

(5) प्रातरध्येयः (पूर्ववत्)।

ऋणे अर्थात् **अवश्यम्भाविता** गम्यमान हो तो समास होता है—

(6) मासे देया भिक्षा
यहाँ अवश्यम्भाविता अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(395) सञ्ज्ञायाम् *44* (721)

संज्ञायां विषये सप्तम्यन्तं सुपा सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। संज्ञा समुदायोपाधिः। तेन नित्यसमास एवायम्, न हि वाक्येन संज्ञा गम्यते। अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषाः। वनेकिंशुकाः। वनेबिल्वकाः। कूपेपिशाचकाः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो सप्तम्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

समुदाय की उपाधि को 'संज्ञा' कहते हैं। अतः यह नित्य समास है; क्योंकि वाक्य से संज्ञा का अर्थ ज्ञात नहीं होता है।

उदा० (1) अरण्येतिलकाः
अरण्ये तिलकाः—समास हुआ, 'हलदन्तात् सप्तम्याः—' से अलुक् हुआ है।

(2) अरण्येमाषाः
अरण्ये माषाः—पूर्ववत्।

(3) वनेकिंशुकाः
वने किंशुकाः—पूर्ववत्।

(4) वनेबिल्वकाः
वले बिल्वकाः—पूर्ववत्।

(5) कूपेपिशाचिकाः
कूपे पिशाचिकाः—पूर्ववत्।

(396) क्तेनाहोरात्रावयवाः *45* (722)

अहरवयवाः रात्र्यवयवाश्च सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। पूर्वाह्णकृतम्। अपराह्णकृतम्। पूर्वरात्रकृतम्। अपररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्? एतत्तु ते दिवा वृत्तं रात्रौ वृत्तं च द्रक्ष्यसि। अहनि भुक्तम्, रात्रौ वृत्तम्। बहुलग्रहणाद् रात्रिवृत्तम्, सन्ध्यागर्जितमित्यादयः।

अर्थ—दिन के अवयववाची और रात्रि के अवयववाची सप्तम्यन्त सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) पूर्वाह्णकृतम्
पूर्वाह्णे कृतम्—दिन के अवयववाची (पूर्वाह्ण) का क्तप्रत्ययान्त (कृत) के साथ समास हुआ, शेष सभी कार्य हुए।

(2) अपराह्णकृतम्
अपराह्णे कृतम्—पूर्ववत्।

(3) पूर्वरात्रकृतम्
पूर्वरात्रे कृतम्—पूर्ववत्।

(4) अपररात्रकृतम्
अपररात्रे कृतम्—पूर्ववत्।

अवयव० अर्थात् **अवयववाची** सप्तम्यन्त सुबन्त का ही समास होता है—

(1) अहनि भुक्तम्
समास नहीं हुआ।

(2) रात्रौ वृत्तम्
समास नहीं हुआ।

'बहुलम्' पद का ग्रहण होने से 'रात्रिवृत्तम्' में समास हुआ। इसी प्रकार 'सङ्ख्यागर्जितम्' में समास हुआ।

(397) तत्र *46* (723)

तत्रेत्येतत् सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तत्रभुक्तम्। तत्रकृतम्। तत्रपीतम्। ऐकपद्यमैकस्वर्यं च समासत्वाद्भवति।

अर्थ—'तत्र' इस सप्तम्यन्त शब्द का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) तत्रभुक्तम्
समास हुआ।

(2) तत्रकृतम्
समास हुआ।

(3) तत्रपीतम्
समास हुआ।

समस्त पद व एकस्वर के लिए समास होता है।

(398) क्षेपे *47* (724)

क्षेपो निन्दा। क्षेपे गम्यमाने सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतत्। चापलमेतत्, अनवस्थितत्वं तवैतदित्यर्थः। उदकेविशीर्णम्। प्रवाहेमूत्रितम्। भस्मनिहुतम्। निष्फलं यत्क्रियते तदेवमुच्यते। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (6.3.14) इत्यलुक्।

अर्थ—क्षेप = निन्दा। निन्दा गम्यमान हो तो सप्तम्यन्त सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अवतप्तेनकुलस्थितम्
अवतप्ते नकुलस्थितम्—समास हुआ (कर्तृकरणे कृता बहुलम्)—अलुक् हुआ (तत्पुरुषे कृति बहुलम्), —पूर्ववत् शेषकार्य होकर,
अवतप्तेनकुलस्थितम्—सु।

'नकुलेन स्थितम्—नकुलस्थितम्' यहा 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्याऽपि ग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा क्तान्त हुआ।

(2) उदकेविशीर्णम्
उदके विशीर्णम्—पूर्ववत्।

(3) प्रवाहेमूत्रितम् (पूर्ववत्)।
(4) भस्मनिहुतम् (पूर्ववत्)।

(399) पात्रेसमितादयश्च *48* (725)

समुदाया एव निपात्यन्ते। पात्रेसमितादयः शब्दास्तत्पुरुषसंज्ञा भवन्ति, क्षेपे गम्यमाने। ये चात्र क्तान्तेन सह समस्तास्तेषां पूर्वेणैव सिद्धे पुनः पाठो युक्तारोह्यादिपरिग्रहार्थः-पूर्वपदाद्युदात्तत्वं यथा स्यादिति। युक्तारोह्यादिषु हि पात्रेसमितादयश्चेति पठ्यन्ते। पात्रेसमिताः। पात्रेबहुलाः। अवधारणेन क्षेपो गम्यते। पात्र एव समिताः, न पुनः क्वचित्कार्य इति। उदुम्बरमशकादिषु उपमया क्षेपः। मातरिपुरुष इति प्रतिषिद्धसेवनेन। पिण्डीशूरादिषु निरीहतया। अव्यक्तत्वाच्चाकृतिगणोऽयम्। पात्रेसमिताः। पात्रेबहुलाः। उदुम्बरमशकाः। उदरक्रिमिः। कूपकच्छपः। कूपचूर्णकः। अवटकच्छपः। कूपमण्डूकः। कुम्भमण्डूकः। उदपानमण्डूकः। नगरकाकः। नगरवायसः। मातरिपुरुषः। पिण्डीशूरः। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। गेहेक्ष्वेडी। गेहेविजिती। गेहेव्याडः। गेहेदृप्तः। गेहेधृष्टः। गर्भेतृप्तः। आखनिकबकः। गोष्ठेशूरः। गोष्ठेविजिती। गोष्ठेक्ष्वेडी। गेहेमेही। गोष्ठेपटुः। गोष्ठेपण्डितः। गोष्ठेप्रगल्भः। कर्णेटिट्टिभः। कर्णेचुरचुरा। चकारोऽवधारणार्थः। तेन समासान्तरं न भवति-परमपात्रेसमिता इति।

अर्थ—समुदाय के रूप में निपातित किया जा रहा है।

निन्दा गम्यमान हो तो 'पात्रेसमित' आदि शब्दों का निपातन किया जाता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

ये चाऽत्र०—जिन शब्दों का यहाँ क्तप्रत्ययान्त के साथ समास है, उनका तो पूर्वसूत्र (क्षेपे) से ही सिद्ध है। तब पुनः पाठ 'युक्तारोही' आदि में परिग्रहण के लिए है, ताकि पूर्व पद का आदि उदात्त हो जाय।

उदा० (1) पात्रेसमिताः
पात्रे समिताः—सप्तम्यन्त (पात्रे) का क्तप्रत्ययान्त (समित) के साथ निन्दा अर्थ में समास हुआ,
पात्रेसमिताः—जस्।

(2) पात्रेबहुलाः (पूर्ववत्)।

अवधारणेन—अवधारण के द्वारा निन्दा की प्रतीति होती है। भोजन के समय ही एकत्र होने वाले तथा किसी कार्य के समय एकत्र न होने वाले।

उदुम्बरमशकादि में उपमा से क्षेप की प्रतीति होती है। 'मातरिपुरुष' इसमें प्रतिषिद्ध के सेवन से निन्दा की प्रतीति होती है। 'पिण्डीशूर' आदि अन्य उदाहरण मूल में देखें।

चकार—सूत्र में चकार का प्रयोग अवधारण अर्थ में है। अतः निम्नलिखित में अन्य समास नहीं होता है—
परमपात्रेसमिताः।

(400) पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन *49* (726)

सुप् सुपेति वर्त्तते, तस्य विशेषणमेतत्। पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल-इत्येते सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुपा सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। भिन्नप्रवृत्तिनिमितस्य शब्दस्यैकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। पूर्वकाल इत्यर्थनिर्देशः, परिशिष्टानां स्वरूपग्रहणम्। पूर्वकालोऽपरकालेन समस्यते। स्नातानुलिप्तः। कृष्टसमीकृतम्। दग्धप्ररूढम्। एकशाटी। एकभिक्षा। सर्वदेवाः। सर्वमनुष्याः। जरद्धस्ती। जरद्गृष्टिः। जरद्वृत्तिः। पुराणान्नम्। पुराणावसथम्। नवान्नम्। नवावसथम्। केवलान्नम्। समानाधिकरणेनेति किम्? एकस्याः शाटी।

अर्थ—'सुप्' और 'सुपा' की अनुवृत्ति है। उसका ही यह विशेषण है। पूर्व कालवाची, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव तथा केवल सुबन्तों का समान अधिकरण वाले समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

भिन्न—भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्द की एक ही अर्थ में वृत्ति 'सामानाधिकरण्य' होता है। 'पूर्वकाल' के द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है तथा शेष शब्दों के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है। पूर्वकाल का अपरकाल के साथ समास होता है।

उदा० (1) स्नातानुलिप्तः
स्नातः अनुलिप्तः—समास हुआ, पूर्ववत् कार्य होकर,
स्नातानुलिप्तः—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्णदीर्घ एकादेश तथा 'सु' हुआ।

(2) कृष्टसमीकृतम्
कृष्टञ्च समीकृतञ्च—पूर्ववत् समास।

(3) दग्धप्ररूढम्—पूर्ववत् समास।

(4) एकशाटी—पूर्ववत् समास।

(5) एकभिक्षा—पूर्ववत् समास।

(6) सर्वदेवाः
सर्वे च ते देवाः—समास हुआ,
सर्वदेव जस् → सर्वदेवाः।

(7) सर्वमनुष्याः
सर्वे च ते मनुष्याः—पूर्ववत्।

(8) जरद्धस्ती
जरंश्चाऽसौ हस्ती च—पूर्ववत्।

(9) जरद् गृष्टिः (पूर्ववत्)।

(10) जरद्वृत्तिः (पूर्ववत्)।

(11) पुराणान्नम् → पुराणञ्च तदन्नम्।

(12) नवाऽन्नम् → नवञ्च तदन्नम्।

(13) नवाऽवसथम्
नवञ्च तदवसथञ्च—पूर्ववत्।

(14) केवलान्नम् (पूर्ववत्)।

समानाधि० अर्थात् **समानाधिकरण** सुबन्त के साथ समास होता है—

(15) एकस्याः शाटी
यहाँ सामानाधिकरण्य नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

विशेष—1. प्रकृत सूत्रघटित प्रयोगों की सिद्धि कर्मधारय की दशा में भी सम्भावित है; परन्तु कर्मधारय समास में समस्यमान पदों के पौर्वापर्य का क्रम पूर्वनिपात के सम्बन्ध में निश्चित नहीं होता है। प्रकृत सूत्र का प्रयोजन समस्यमान पदों का क्रम निश्चित करना है।

2. 'एक' शब्द संख्यावाची है तथा 'दिक्संख्ये०' सूत्र के द्वारा

नियमित किया गया है कि संख्यावाची शब्द का संज्ञा के विषय में ही समास हो। अतः प्रकृत सूत्र में पठित 'एक' शब्द का प्रयोजन यह है कि संज्ञाविषय से अतिरिक्त भी 'एक' शब्द का समास होता है।

(401) दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम् *50* (727)

समानाधिकरणेनेत्यापादसमाप्तेरनुवर्त्तते। दिग्वाचिनः शब्दाः संख्या च समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, सञ्ज्ञायां विषये। पूर्वेषुकामशमी। अपरेषुकामशमी। संख्या–पञ्चाम्राः, सप्तर्षयः। सञ्ज्ञायामिति किम्? उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः।

अर्थ—'समानाधिकरणेन' इसका अनुवर्त्तन पाद के समाप्ति-पर्यन्त चलता है। दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त का समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ संज्ञा के विषय में समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) पूर्वेषुकामशमी
पूर्वा चाऽसौ इषुकामशमी—समास हुआ,
पूर्वेषुकामशमी—'आद् गुणः' से गुण एकादेश हुआ।

(2) अपरेषुकामशमी
पूर्ववत् समास हुआ।

(3) पञ्चाम्राः
पूर्ववत् संज्ञा व संख्या के साथ समास हुआ।

(4) सप्तर्षयः
सप्त च ते ऋषयः—समास हुआ,

सप्तन् ऋषि—अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक्, लुक् को प्राप्त विभक्ति को प्रत्ययलक्षण द्वारा मान कर पदसंज्ञा होकर 'नलोपः प्रातिपदिका०' से नकार का लोप,
सप्त ऋषि—'आद् गुणः' से गुणादेश,
सप्तर्षि → सप्तर्षयः—जस्।

(5) सप्त ऋषयः
सप्त ऋषि—पूर्वोक्त दशा में 'ऋत्यकः' से पाक्षिक ह्रस्वमूलक प्रकृतिभाव हुआ,
सप्त ऋषयः—जस्।

संज्ञायाम् अर्थात् **संज्ञा** गम्यमान हो तो समास होता है—
(1) उत्तरा वृक्षाः
यहाँ संज्ञा अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(2) पञ्च ब्राह्मणाः
पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

विशेष—1. 'विशेषणं विशेषेण बहुलम्' के द्वारा दिशा व संख्यावाची सुबन्त शब्दों का समानाधिकरण के साथ समास सिद्ध है। प्रकृत सूत्र नियमार्थ है। यह नियम करता है कि दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त यदि समानाधिकरण के साथ तत्पुरुष को प्राप्त होते हैं तो वे संज्ञा के विषय में ही हों। इसके अतिरिक्त यह नियम 'विशेषणं विशेष्येण०' सूत्र द्वारा प्राप्त तत्पुरुष समास तक सीमित है। 'पञ्चगुः' इत्यादि बहुव्रीहि समास के स्थलों पर यह नियम प्रवृत्त नहीं होगा। अतः वहाँ संज्ञा का विषय होना अनिवार्य नहीं है।

(402) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च *51* (728)

दिक्संख्ये इत्यनुवर्त्तते। तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे चाभिधेये दिक्संख्ये समानाधिकरणेन सुपा सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तद्धितार्थे तावत्–पूर्वस्यां शालायां भवः, दिक्पूर्वपदादसञ्ज्ञायां ञः' (4.2.107)–पौर्वशालः, आपरशालः। उत्तरपदे–पूर्वशालाप्रियः, अपरशालाप्रियः। समाहारे दिक्शब्दो न सम्भवति। संख्या, तद्धितार्थे–पाञ्चनापितिः, पञ्चकपालः। उत्तरपदे–पञ्चगवधनः, दशगवधनः। समाहारे–पञ्चपूली, दशपूली। पञ्चकुमारि, दशकुमारि। 'स नपुंसकम्' (2.4.17) इति नपुंसकत्वम्, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (1.3.47) इति ह्रस्वत्वम्।

अर्थ—'दिक्सङ्ख्ये' का अनुवर्त्तन है।

तद्धितार्थ का विषय होने पर, उत्तरपद परे होने पर तथा समाहार वाच्य होने पर—इनमें से किसी एक की दशा में दिशा-वाची तथा संख्यावाची सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' पद में प्रयुक्त एक ही सप्तमी विषय-भेद से भिन्न-भिन्न है। यथा—
(क) तद्धितार्थे—यहाँ वैषयिक सप्तमी है।
(ख) उत्तरपदे—यहाँ परसप्तमी है।
(ग) समाहारे—यहाँ वाच्याधिकरण में सप्तमी है।

उदा० (1) पौर्वशालः
पूर्वस्यां शालायां भवः—यहाँ तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति के

लिए प्रातिपदिक संज्ञा का होना आवश्यक है, प्रातिपदिक संज्ञा करने के लिए समास करना अपेक्षित है; परन्तु समास तद्धित प्रत्यय के विना नहीं हो सकता। इस इतरेतराश्रय दोष की निवृत्ति के लिए 'तद्धितार्थे' में विषयसप्तमी मानी गई है। तब तद्धितार्थ का विषय उपस्थित होते ही प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रथम समास हुआ, प्रातिपदिक संज्ञा हुई, तद्धित प्रत्यय हुआ,

पूर्वा ङि शाला ङि—सुप् का लुक्,

पूर्वा शाला—'स्त्रियाः पुवँद्भाषित०' अथवा 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुँवद्भावः' (महा० 2.2.28) से पुँवद्भाव हो गया,

पूर्वशाला—दिक् पूर्वपदादसंज्ञायां ञः, तत्र भवः, तद्धिताः से 'ञ' हुआ,

पूर्वशाला ञ—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि,

पौर्वशाला अ—चुट्‌, 'यस्येति च' से 'आ' का लोप,

पौर्वशाल् अ सु → पौर्वशालः।

यह तद्धितार्थ में समास हुआ।

(2) आपरशालः

अपरस्यां शालायां भवः—पूर्ववत् तद्धितार्थ में समास हुआ।

(3) पूर्वशालाप्रियः

पूर्वा शाला प्रिया यस्य—पूर्ववत् समास हुआ, 'अनेकमन्यपदार्थे' से बहुव्रीहि समास हुआ, सुप् लुक्,

पूर्वा शाला प्रिया—प्रकृत सूत्र के द्वारा 'प्रिया' उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष हुआ, 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ, 'समासस्य' से लकारोत्तरवर्त्ती 'आ' को उदात्त हुआ, 'अनुदात्तं पदमेक०' 'उदात्तादनुदा०', 'स्वरितात् संहितायाम्०' स्त्रियाः पुँवद्०' से पुँवद्भाव,

पूर्व शाला प्रिया—एकविभक्ति चापूर्वनिपाते, 'गोस्त्रियो-रुपसर्जनस्य,

पूर्वशालाप्रिय—'सु' होकर,

पूर्वशालाप्रियः।

यह उत्तरपद परे रहते समास हुआ।

(4) अपरशालाप्रियः

अपरा शाला प्रिया यस्य—पूर्ववत् उत्तरपद परे रहते समास हुआ।

समाहार में दिक् शब्द सम्भव नहीं है। अतः कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है।

(5) पाञ्चनापितिः

पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्—समास हुआ,

पञ्चन् नापित—'नलोपः प्रातिपदि०'—

पञ्चनापित इञ्—'अत इञ्' से 'इञ्'—

पाञ्चनापित इ—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि,

पाञ्चनापिति—यचि भम्, यस्येति च,

पाञ्चनापितिः—सु।

(6) पञ्चकपालः

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—तद्धितार्थ में संख्या का समास हुआ,

पञ्चन् सुप् कपाल सुप् → पञ्चन् कपाल—नकारलोप, 'संस्कृतं भक्षाः' से 'अण्',

पञ्चकपाल अण्—संख्यापूर्वो द्विगुः, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक्,

पञ्चकपाल सु—सु हुआ, प्रत्ययलक्षण के द्वारा प्राप्त आदि-वृद्धि,

पञ्चकपालः—का 'न लुमताऽङ्गस्य' से निषेध।

(7) पञ्चगवधनः

पञ्च गावो धनं यस्य—त्रिपद बहुव्रीहि हुआ,

पञ्चन् जस् गो जस् धन सु—सुप् का लुक्,

पञ्चन् गो धन—'नलोपः प्रातिपदिकस्य'

पञ्चगो धन—'धन' शब्द के परे रहते प्रकृत सूत्र के द्वारा 'पञ्चगो' में तत्पुरुष समास हुआ, महाविभाषा के अधिकार में होने के कारण यह अवान्तर तत्पुरुष समास वैकल्पिक है, अतः पक्ष में 'टच्' नहीं है, तब 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्य-समासवचनम्' (वा०) के द्वारा अवान्तर तत्पुरुष नित्य हो जाता है, 'गोरतद्धितलुकि,

पञ्च गो टच् धन—एचोऽयवायावः,

पञ्चगव् अ धन—स्वादि की उत्पत्ति,

पञ्चगवधनः।

(8) दशगवधनः

दश गावो धनं यस्य—पूर्ववत् उत्तर पद में समास हुआ।

(9) पञ्चपूली

पञ्चानां पूलानां समाहारः—समाहार अर्थ में संख्या का समास हुआ,

पञ्चन् पूल—सुप् का लुक्, संख्यापूर्वो द्विगुः 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' (पा० 2.4.30—वा०) के द्वारा स्त्रीलिङ्ग हुआ, 'स्त्रियाम्' तथा 'द्विगोः' से ङीप्,

पञ्च पूल ङीप् → पञ्च पूल ई—यस्येति च, 'द्विगुरेकवचनम्' से एकवद्भाव,

पञ्चपूली—सु, सु का लोप।

(10) दशपूली

दशपूलानां समाहारः—पूर्ववत्।

(11) पञ्चकुमारि

पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पूर्ववत् समास, द्विगुसंज्ञा, एकवचन,

पञ्चन् कुमारी—'स नपुंसकम्' से नपुंसकलिंग, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व,

पञ्चकुमारि सु — पञ्चकुमारि।

(12) दशकुमारि

दशानां कुमारीणां समाहारः—पूर्ववत्।

विशेष—1. संज्ञा के विषय से अतिरिक्त इस सूत्र की उपयोगिता है।

2. त्रिपद बहुव्रीहि के अन्तर्गत अवान्तर तत्पुरुष का विधान महाविभाषा के कारण विकल्प से प्राप्त होता है; परन्तु वार्त्तिक के द्वारा उस विकल्प का बाध होकर उत्तर पद के परे रहते द्विगु तथा तत्पुरुष समास नित्य होते हैं।

(403) संख्यापूर्वो द्विगुः *52* (730)

'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (2.1.51) इत्यत्र यः संख्यापूर्वः समासः स द्विगुसञ्ज्ञो भवति। तद्धितार्थे तावत्—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः, दशकपालः। 'संस्कृतं भक्षाः' (4.2.16) इतीहाण्, तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (4.2.88) इति लुक्। उत्तरपदे—पञ्चनावप्रियः। 'नावो द्विगोः' (5.4.99) इति समासान्तो भवति। समाहारे—पञ्चमूली। 'द्विगोः' (4.1.21) इति ङीब् भवति। द्विगुप्रदेशाः—'द्विगोः' इत्येवमादयः।

अर्थ—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' के द्वारा जो संख्यापूर्वक समास, उसकी द्विगुसंज्ञा होती है।

उदा० (1) पञ्चकपालः

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—2.1.51 पर सिद्धिप्रक्रिया देखें।

(2) दशकपालः

2.1.51 पर देखें।

(3) पञ्चनावप्रियः

पञ्च नावः प्रिया यस्य—2.1.51. पर सिद्धि देखें—'पञ्चगवधन'। 'नावो द्विगोः' से समासान्त प्रत्यय होता है।

(4) पञ्चमूली

पञ्चानां मूलानां समाहारः—सिद्धि देखें 2.1.51. पर 'पञ्चपूली' की तरह।

(404) कुत्सितानि कुत्सनैः *53* (732)

कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवचनैः सुबन्तैः सह सम-स्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। शब्दप्रवृत्तिनिमित्त-कुत्सायामयं समास इष्यते। 'विशेषणं विशेष्येण' (2.1.57) इति परनिपाते प्राप्ते विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थ आरम्भः। वैयाकरणखसूचिः। निष्प्रतिभ इत्यर्थः। याज्ञिककितवः। अयाज्ययाजनतृष्णापरः उच्यते। मीमांसकदुर्दुरूढः, नास्तिकः। कुत्सितानीति किम्? वैयाकरण-श्चौरः। न ह्यत्र वैयाकरणत्वं कुत्स्यते। कुत्सनैरिति किम्? कुत्सितो ब्राह्मणः।

अर्थ—निन्द्यवाची सुबन्तों का निन्दा समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है। शब्द प्रवृत्तिनिमित्त की निन्दा में यह समास होता है। (इसके अतिरिक्त) 'विशेषणं विशेष्येण' (2.1.57) के द्वारा विशेष्य का परनिपात प्राप्त होने पर उसके पूर्वनिपात के लिए समास किया जा रहा है।

उदा० (1) वैयाकरणखसूचिः

वैयाकरणश्चाऽसौ खसूचिश्च—प्रकृत सूत्र से समास हुआ, 'वैयाकरण' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,

वैयाकरणखसूचिः—सु।

(2) याज्ञिककितवः

याज्ञिकश्चाऽसौ कितवश्च—पूर्ववत्।

(3) मीमांसकदुर्दुरूढः (पूर्ववत्)।

कुत्सिता० अर्थात् कुत्स्यमान का ही समास होता है—

(4) वैयाकरणश्चौरः

यहाँ समास नहीं हुआ।

कुत्सनैः० अर्थात् निन्दावाची के साथ समास होता है—

(5) कुत्सितो ब्राह्मणः—यहाँ समास नहीं हुआ।

(405) पापाणके कुत्सितैः *54* (733)

पापाणकशब्दौ कुत्सनाभिधायिनौ, तयोः पूर्वेण समासे परनिपातः प्राप्तः, पूर्वनिपातार्थमिदमारभ्यते। पाप, अणक एते सुबन्ते कुत्सितवचनैस्सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। पापनापितः। पापकुलालः। अणकनापितः। अणककुलालः।

अर्थ—कुत्सनवाची पाप और अणक सुबन्त शब्दों का समानाधिकरण कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'पाप' और 'अणक' शब्द निन्दावाची हैं। पूर्वसूत्र के द्वारा उनका परनिपात प्राप्त होने पर उनके पूर्वनिपात के लिए यह सूत्र किया जा रहा है।

उदा० (1) पापनापित:

पापश्चाऽसौ नापितश्च—समास होकर 'पाप' शब्द का पूर्वनिपात हुआ—

पापनापित सु—पापनापित:।

(2) पापकुलाल: (पूर्ववत्)।

(3) अणकनापित: (पूर्ववत्)।

(4) अणककुलाल: (पूर्ववत्)।

(406) उपमानानि सामान्यवचनैः *55* (734)

उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्। उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम्, तद्विशिष्टोपमेयवचनैरयं समासः। शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता। कुमुदश्येनी। हंसगद्गदा। न्यग्रोधपरिमण्डला। उपमानानीति किम्? देवदत्ता श्यामा। सामान्यवचनैरिति किम्? फाला इव तण्डुलाः, पर्वता इव बलाहकाः।

अर्थ—जिसके द्वारा समानता प्रदर्शित की जाय उसे 'उपमान' कहते हैं तथा जिसकी समानता बताई जाय उसे 'उपमेय' कहते हैं। सु है।

उपमानवाची शब्दों का समानाधिकरण सामान्यवचन सुबन्त शब्दों के साथ समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उपमान व उपमेय के सामान्य धर्म को 'सामान्यवचन' कहा जाता है। यथा—

चन्द्र इव रम्यम्—यहाँ 'चन्द्र' उपमान, 'मुखम्' उपमेय तथा 'रम्यता' सामान्य धर्म है।

उदा० (1) शस्त्रीश्यामा

शस्त्रीव श्यामा—समास हुआ।

(2) कुमुदश्येनी (पूर्ववत्)।

(3) हंसगद्गदा (पूर्ववत्)।

(4) न्यग्रोधपरिमण्डला (पूर्ववत्)।

उपमाना० अर्थात् उपमानवाची शब्दों का ही समास होता है—

(5) देवदत्ता श्यामा

यहाँ उपमानवाची शब्द नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

सामान्यवच० अर्थात् सामान्यवचन शब्द के साथ समास होता है—

(6) फाला इव तण्डुलाः

उपमानवाची है, परन्तु सामान्यवचन नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(7) पर्वता इव बलाहकाः

पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(407) उपमितं व्याघ्रादिभिःसामान्याप्रयोगे *56* (735)

उपमेयमुपमितम्, तद्वाचि सुबन्तं व्याघ्रादिभिः सामर्थ्यादुपमानवचनैः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति, न चेत्सामान्यवाची शब्दः प्रयुज्यते। 'विशेषणं विशेष्येण' (2.1.57) इति परनिपाते प्राप्ते विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थ आरम्भः। पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः। पुरुषसिंहः। सामान्याप्रयोग इति किम्? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः। व्याघ्र। सिंह। ऋक्ष। ऋषभ। चन्दन। वृक्ष। वृष। वराह। हस्तिन्। कुञ्जर। रुरु। पृषत्। पुण्डरीक। बलाहक। आकृतिगणश्चायम्। तेनेदमपि भवति–मुखपद्मम्, मुखकमलम्, करकिसलयम्, पार्थिवचन्द्रः इत्येवमादि।

अर्थ—यदि सामान्य धर्मवाची शब्द का प्रयोग हो तो उपमेयवाची सुबन्त का समानाधिकरण व्याघ्र आदि सुबन्त शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'विशेषणं विशेष्येण—' के द्वारा परनिपात प्राप्त होने पर विशेष्य के पूर्वनिपात के लिए यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) पुरुषव्याघ्रः

पुरुषोऽयं व्याघ्र इव—समास हुआ।

(2) पुरुषसिंहः

पुरुषोऽयं सिंह इव—समास हुआ।

अर्थात सामान्य धर्मवाची शब्द का प्रयोग न होने पर ही समास होता है—

(3) पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः

यहाँ 'शूर' इस सामान्य धर्मवाची शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः समास नहीं हुआ।

व्याघ्रादि एक आकृतिगण है। अतः निम्नलिखित प्रयोग भी होते हैं—

(4) मुखपद्मम्—मुखं पद्मम् इव।

(5) मुखकमलम्।

(6) करकिसलयम्।

(7) पार्थिवचन्द्रः।

(408) विशेषणं विशेष्येण बहुलम् *57* (736)

भेदकं विशेषणम्, भेद्यं विशेष्यम्। विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। नीलोत्पलम्। रक्तोत्पलम्। बहुलवचनं व्यवस्थार्थम्। क्वचिन्नित्यसमास एव-कृष्णसर्पः, लोहितशालिः। क्वचिन्न भवत्येव-रामो जामदग्न्यः, अर्जुनः कार्त्तवीर्यः। क्वचिद्विकल्पः-नीलमुत्पलम्, नीलोत्पलम्। विशेषणमिति किम्? तक्षकः सर्पः। विशेष्येणेति किम्? लोहितस्तक्षकः।

अर्थ—'भेदक' को विशेषण कहा जाता है अर्थात् जिसके द्वारा कोई वस्तु दूसरी वस्तुओं से अलग करके पहचानी जाय, उसे विशेषण कहते हैं। 'भेद्य' को विशेष्य कहा जाता है अर्थात् जिसे दूसरे से अलग कर पहचाना जाता है, उसे विशेष्य कहते हैं।

विशेषण सुबन्त का समानाधिकरण विशेष्य सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

बहुलता से होने के कारण इस नियम की चतुर्विध (प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति, विभाषा तथा अन्यथाप्रकारेण) स्थिति देखी जाती है।

उदा० (1) नीलोत्पलम्

नीलञ्च तदुत्पलम्—समास हुआ,

नील उत्पल—'आद् गुणः' से गुणादेश,

कर्मधारय समास में सामानाधिकरण्य को प्रकट करने के लिए तीन प्रकार का लौकिक विग्रह व्याकरण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यथा—

(क) नीलम् उत्पलम्

(ख) चकार के साथ अदस्, तद् या यद् आदि शब्दों का विशेष्यानुसार लिंग में प्रयोग होता है—

नीलञ्च तदुत्पलम्,

नीलञ्चाद उत्पलम्,

नीलञ्च यदुत्पलम्।

(ग) दो चकारों का प्रयोग किया जाता है—

नीलञ्च तदुत्पलञ्च।

(2) रक्तोत्पलम्

रक्तञ्च तदुत्पलञ्च।

क्वचिन्नित्य—कहीं-कहीं नित्य समास होता है—

(3) कृष्णसर्पः

यह विषधर सर्प जातिविशेष की संज्ञा है। अतः नित्य समास हुआ।

(4) रामो जामदग्न्यः

यहाँ विधि की अप्रवृत्ति है। अतः समास नहीं हुआ।

(5) अर्जुनः कार्त्तवीर्यः

अप्रवृत्तिवशात् समास नहीं हुआ।

(6) नीलमुत्पलम्

यहाँ विकल्प से समास हुआ। पक्ष में समास नहीं हुआ।

विशेषणम् अर्थात् विशेषणवाची शब्द का ही समास होता है—

(7) तक्षकः सर्पः

यहाँ विशेषणवाची शब्द नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

विशेष्येण अर्थात् विशेष्यवाची शब्द के साथ ही समास होता है—

(8) लोहितस्तक्षकः

यहाँ विशेष्यवाची नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(409) पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च *58* (737)

पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर-इत्येते सुबन्ताः समानाधिकरणेन सुपा सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। पूर्वपुरुषः। अपरपुरुषः। प्रथमपुरुषः। चरमपुरुषः। जघन्यपुरुषः। समानपुरुषः। मध्यपुरुषः। मध्यमपुरुषः। वीरपुरुषः। पूर्यस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन, समान, मध्य, मध्यम और वीर—इन विशेषणवाची सुबन्तों का विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्त शब्द के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) पूर्वपुरुषः
पूर्वश्चाऽसौ पुरुषः—समास हुआ,
पूर्वपुरुषः—सु।

(2) अपरपुरुषः
अपरश्चाऽसौ पुरुषः—पूर्ववत्।

(3) प्रथमपुरुषः → प्रथमश्चाऽसौ पुरुषः।
(4) चरमपुरुषः → चरमश्चाऽसौ पुरुषः।
(5) जघन्यपरुषः → जघन्यश्चाऽसौ पुरुषः।
(6) समानपुरुषः → समानश्चाऽसौ पुरुषः।
(7) मध्यपुरुषः → मध्यश्चाऽसौ पुरुषः।
(8) मध्यमपुरुषः → मध्यमश्चाऽसौ पुरुषः।
(9) वीरपुरुषः → वीरश्चाऽसौ पुरुषः।
यह सब पूर्व सूत्र का प्रपञ्चमात्र है।

(410) श्रेण्यादयः कृतादिभिः *59* (738)

श्रेण्यादयः सुबन्ताः कृतादिभिः समानाधिकरणैः सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। *श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्त्तव्यम्* (म० भा०)। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः। एककृताः। श्रेण्यादयः पठ्यन्ते। कृतादिराकृतिगणः। च्व्यन्तानां तु 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन नित्यसमासः। श्रेणीकृताः। श्रेणि। एक। पूग। कुण्ड। राशि। विशिख। निचय। निधान। इन्द्र। देव। मुण्ड। भूत। श्रवण। वदान्य। अध्यापक। ब्राह्मण। क्षत्रिय। पटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण। कृपण-इति श्रेण्यादिः। कृत। मित। मत। भूत। उक्त। समाज्ञात। समाम्नात। समाख्यात। संभावित। अवधारित। निराकृत। अवकल्पित। उपकृत। उपाकृत-इति कृतादिः।

अर्थ—कृत आदि समानाधिकरण सुबन्त शब्दों के साथ श्रेण्यादि सुबन्तों का समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्त्तव्यम्—श्रेण्यादि शब्दों का समास 'च्वि' प्रत्यय के अर्थ में होता है—

उदा० (1) श्रेणिकृताः
अश्रेणयः श्रेण्यः कृताः—समास हुआ,
श्रेणिकृताः—जस्।

(2) एककृताः (पूर्ववत्)।

श्रेण्यादि गण मूल में देखा जा सकता है। यहाँ 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची है। कृतादि एक आकृतिगण है। यह भी मूल में देखा जा सकता है। 'कृतादि' में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है।

(411) क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् *60* (739)

नञैव विशेषो यस्य सर्वमन्यत् प्रकृत्यादिकं तुल्यं तन्नञ्विशिष्टम्, तेन नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणेन सह अनञ् क्तान्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कृतं च तदकृतं च कृताकृतम्। भुक्ताभुक्तम्। पीतापीतम्। उदितानुदितम्। नुडिटौ तद्भक्तत्वान्नैव भेदकौ। अशितानशितेन जीवति, क्लिष्टाक्लिशितेन वर्त्तते। *कृतापकृतादीनामुपसंख्यानम्* (म० भा०)। कृतापकृतम्। भुक्तविभुक्तम्। पीतविपीतम्। गतप्रत्यागतम्। यातानुयातम्। क्रयाक्रयिका। पुटापुटिका। फलाफलिका। मानोन्मानिका। *समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च* (म० भा०)। शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः। कुतपसौश्रुतः। अजातौल्वलिः।

अर्थ—वह शब्द जिसमें नञ् ही विशेष हो तथा अन्य सभी प्रकृति-प्रत्यय आदि द्वितीय पद के समान हों, उसे 'नञ्विशिष्ट' कहते हैं। नञ्विशिष्ट समानाधिकरण क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ अनञ् प्रत्ययान्त व क्तप्रत्ययान्त सुबन्त का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कृताकृतम्
कृतञ्च तदकृतम्—'कृत' नञ् रहित क्तप्रत्ययान्त शब्द है। 'अकृत' नञ् विशिष्ट है। 'कृत' की अपेक्षा 'अकृत' में नञ् प्रत्यय ही विशेष है, शेष प्रकृति व प्रत्यय सभी समान हैं, समास हुआ,
कृताकृतम्—अकः सवर्णे दीर्घः, सु।

(2) भुक्ताभुक्तम् (पूर्ववत्)।
(3) पीतापीतम् (पूर्ववत्)।
(4) उदितानुदितम् (पूर्ववत्)।

नुडिटौ—'नुट्' तथा 'इट्'—इन आगमों को भेदक नहीं माना जाता है, क्योंकि ये इसी के अवयव हैं।

सार यह है कि 'नुट्' तथा 'इट्' आगम अपने आगमी के भक्त होने के कारण भेदक नहीं बनते हैं। यथा—

(5) अशितानशितेन जीवति—यहाँ अशित व अनशित का समास है। 'अनशित' में नुट् का आगम हुआ है।

(6) क्लिष्टाक्लिशितेन वर्त्तते—यहाँ क्लिष्ट व अक्लिशित में समास है।

क्लिष्ट—क्लिश् क्त। यहाँ इट् नहीं हुआ है। क्लिशित—क्लिश् इट् क्त—यहाँ इट् हुआ है।

कृतापकृतादीनामुपसङ्ख्यानम्—कृत और अपकृत में भी समास होता है। यथा—

(7) कृतापकृतम्
कृतश्चाऽपकृतश्च—पूर्ववत्।

(8) भुक्तविभुक्तम् (पूर्ववत्)।
(9) पीतविपीतम् (पूर्ववत्)।
(10) गतप्रत्यागतम् (पूर्ववत्)।
(11) यातानुयातम् (पूर्ववत्)।
(12) क्रयाऽक्रयिका (पूर्ववत्)।
(13) पुटापुटिका (पूर्ववत्)।
(14) फलाफलिका (पूर्ववत्)।
(15) मानोन्मानिका (पूर्ववत्)।

समानाधिकरणाऽधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यानम् उत्तरपदलोपश्च—समानाधिकरण के अधिकार में शाकपार्थिव आदि शब्दों में समास होता है और उत्तर पद का लोप होता है।[1] यह कर्मधारय समास के अन्तर्गत मध्यमपदलोपी समास कहलाता है। इसी का दूसरा नाम 'शाकपार्थिवादि' समास है। 'शाकपार्थिव' आदि शब्दों की सिद्धि दो बार समास करने पर होती है। सर्वप्रथम दो पदों में समास करके एक समस्त पद बनाया जाता है। तब उस समस्त पद का समानाधिकरण सुबन्त के साथ कर्मधारय समास बना लिया जाता है। तब इस कर्मधारय समास में प्रथम प्राप्त एक पद के उत्तर पद का लोप कर दिया जाता है।

'शाकपार्थिवादीनाम्' इस प्रकार बहुवचननिर्देश से यह आकृतिगण सिद्ध होता है।

(16) शाकपार्थिवः
शाकप्रधानः पार्थिवः—समास हुआ, उत्तरपद का लोप हुआ, शाकपार्थिव सु → शाकपार्थिवः।

(17) कुतपसौश्रुतः
कुतपवासाः सौश्रुतः—पूर्ववत्।

1. यह वार्त्तिक महाभाष्य में पा० 2.1.69 पर प्राप्त होती है।

(18) अजातौल्वलिः
अजापण्यः तौल्वलिः—पूर्ववत्।

(412) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः *61* (740)

सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट-इत्येते पूज्यमानैः सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। पूज्यमानैरिति वचनात् पूजावचनाः सदादयो विज्ञायन्ते। सत्पुरुषः। महापुरुषः। परमपुरुषः। उत्तमपुरुषः। उत्कृष्टपुरुषः। पूज्यमानैरिति किम्? उत्कृष्टो गौः कर्दमात्।

अर्थ—सत्, महत्, परम, उत्तम और उत्कृष्ट—इन सुबन्त शब्दों का समानाधिकरण सत्कार के योग्य सुबन्त शब्दों के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है। 'पूज्यमान' शब्द के द्वारा पूजावाची सद् आदि का ज्ञान होता है।

उदा० (1) सत्पुरुषः
संश्चाऽसौ पुरुषश्च—समास,
सत्पुरुषः—सु।

(2) महापुरुषः
महांश्चाऽसौ पुरुषः—समास,
महापुरुषः—'आन्महतः समानाधिकरण—' से आत्व हुआ।

(3) परमपुरुषः → परमश्चाऽसौ पुरुषः।
(4) उत्तमपुरुषः → उत्तमश्चाऽसौ पुरुषः।
(5) उत्कृष्टपुरुषः → उत्कृष्टश्चाऽसौ पुरुषः।

पूज्यमानै अर्थात् सत्कार के योग्य सुबन्त शब्द के साथ ही समास होता है—

(6) उत्कृष्टा गौ कर्दमात्
'उत्कृष्टा' शब्द है; परन्तु यहाँ 'पूजा' अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(413) वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् *62* (741)

वृन्दारक, नाग, कुञ्जर-इत्येतैः सह पूज्यमानवाचि सुबन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। पूज्यमानमिति वचनाद् वृन्दारकादयः पूजावचना गृह्यन्ते। गोवृन्दारकः, अश्ववृन्दारकः। गोनागः, अश्वनागः। गोकुञ्जरः, अश्वकुञ्जरः। पूज्यमानमिति किम्? सुषीमो नागः।

अर्थ—वृन्दारक, नाग और कुञ्जर—इन समानाधिकरण सुबन्तों

के साथ पूज्यमानवाची सुबन्त शब्द का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'पूज्यमान' शब्द के द्वारा वृन्दारक पूजावाची शब्दों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) गोवृन्दारकः
गौश्चाऽसौ वृन्दारकश्च—समास होकर,
गोवृन्दारकः—सु।

(2) अश्ववृन्दारकः → अश्वश्चाऽसौ वृन्दारकश्च।
(3) गोनागः → गौश्चाऽसौ नागश्च।
(4) अश्वनागः → अश्वश्चाऽसौ नागश्च।
(5) गोकुञ्जरः → गौश्चाऽसौ कुञ्जरश्च।
(6) अश्वकुञ्जरः → अश्वश्चाऽसौ कुञ्जरश्च।

पूज्य० अर्थात् **पूज्यमानवाची** सुबन्त का ही समास होता है—

(7) सुषीमो नागः
यहाँ समास नहीं हुआ।

विशेष—1. पूर्वसूत्र 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' में 'पूज्यमान' पद से तृतीया है। अतः उपसर्जन संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। तब 'पूज्यमान' शब्द उत्तर पद में रहता है। प्रकृत सूत्र में 'पूज्यमानम्' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर उनका पूर्वनिपात होता है। प्रकृत सूत्र का यही प्रयोजन है।

2. 'उपमितं व्याघ्रादिभिः०' सूत्र में व्याघ्रादि आकृतिगण है। तब इस सूत्र के द्वारा प्रकृत सूत्रघटित रूपों की साधुता सम्भव होने पर भी प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है?

'उपमितं व्याघ्रादिभिः०' सूत्र सामान्य धर्म के विषय से अतिरिक्त स्थलों में प्रवृत्त होता है तथा प्रकृत सूत्र सामान्य धर्म- विषयक स्थलों पर भी प्रवृत्त होता है। यही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है।

(414) कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने *63* (742)

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने वर्त्तमानौ समर्थेन सुपा सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कतरकठः। कतरकालापः। कतमकठः। कतमकालापः। ननु कतमशब्दस्तावज्जातिपरिप्रश्न एव व्युत्पादितः, कतरशब्दोऽपि साहचर्यात्तदर्थवृत्तिरेव ग्रहीष्यते, किं जातिपरिप्रश्नग्रहणेन? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति–कतमशब्दोऽन्यत्रापि वर्त्तत इति। तथा च प्रत्युदाहरणम्–कतरो भवतोर्देवदत्तः। कतमो भवतां देवदत्तः।

अर्थ—जहाँ जाति के विषय में विविध प्रश्न किए जायँ, वहाँ कतर व कतम शब्दों का समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कतरकठः
कतरः कठः—समास हुआ।
(2) कतरकालापः → कतरः कालापः।
(3) कतमकठः → कतमः कठः।
(4) कतमकालापः → कतमः कालापः।

ननु कतम—कतम शब्द तो जातिपरिप्रश्न में ही व्युत्पादित है, साहचर्यवशात् कतर शब्द भी इसी प्रकार जातिविषयक अर्थ में लिया जाता है। तब शङ्का है कि 'जातिपरिप्रश्न' का ग्रहण किसलिए है? इसका समाधान यह है कि यहाँ ज्ञापित होता है कि 'कतम' शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है। प्रत्युदाहरण इस प्रकार है—

(1) कतरो भवतोर्देवदत्तः (= आप दोनों में से देवदत्त कौन-सा है?)

(2) कतमो भवतां देवदत्तः (= आप सभी में से देवदत्त कौन-सा है?)

(415) किं क्षेपे *64* (743)

किमित्येतत् क्षेपे गम्यमाने सुपा सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। किंराजा, यो न रक्षति। किंसखा, योऽभिद्रुह्यति। किंगौः, यो न वहति। 'किमः क्षेपे' (4.5.70) इति समासान्तो न भवति। क्षेप इति किम्? को राजा पाटलिपुत्रे।

अर्थ—निन्दा गम्यमान रहते 'किम्' अव्यय सुबन्त का समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) किंसखा
किं सखा—समास हुआ।
(2) किंगौः (पूर्ववत्)।
'किमः क्षेपे' से समासान्त नहीं होता है।

क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में समास होता है—
(1) को राजा पाटलिपुत्रे

यहाँ निन्दा अर्थ नहीं है। समास नहीं हुआ।

(416) पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः *65* (744)

उभयव्यञ्जना पोटेत्यभिधीयते। गृष्टिरेकवारप्रसूता। धेनुः प्रत्यग्रप्रसूता। वशा वन्ध्या। वेहद् गर्भपातिनी। बष्कयणी तरुणवत्सा। पोटादिभिः सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। इभपोटा। इभयुवतिः। अग्निस्तोकः उदश्वित्कतिपयम्। गोगृष्टिः। गोधेनुः। गोवशा। गोवेहत्। गोवष्कयणी। कठप्रवक्ता। कठश्रोत्रियः। कठाध्यापकः। कठधूर्त्तः। जातिरिति किम्? देवदत्तः प्रवक्ता। धूर्त्तग्रहणमकुत्सार्थम्।

अर्थ—स्त्री और पुरुष—इन दोनों के लक्षण जिसमें हों, उसे 'पोटा' (= नपुँसक) कहते हैं। एक बार ब्याई गाय को 'गृष्टि' कहते हैं। सद्यः बच्चे को पैदा करने वाली 'धेनु' कहलाती है। वन्ध्या गाय को 'वशा' कहते हैं। जिसका गर्भस्राव होता हो, उसे 'वेहत्' कहते हैं। जिसका बच्चा युवा हो, उसे 'बष्कयणी' कहते हैं।

पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक तथा धूर्त्त—इन समानाधिकरण सुबन्त शब्दों के साथ जातिवाचक सुबन्त का समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) इभपोटा
समास हुआ।
इभा चाऽसौ पोटा च—विग्रह।

(2) इभयुवतिः
पूर्ववत् समास हुआ।

(3) अग्निस्तोकः (पूर्ववत्)।
(4) उदश्वित्कतिपयम् (पूर्ववत्)।
(5) गोगृष्टिः (पूर्ववत्)।
(6) गोधेनुः (पूर्ववत्)।
(7) गोवशा (पूर्ववत्)।
(8) गोवेहत् (पूर्ववत्)।
(9) गोबष्कयणी (पूर्ववत्)।
(10) कठप्रवक्ता (पूर्ववत्)।
(11) कठश्रोत्रियः (पूर्ववत्)।
(12) कठाऽध्यापकः (सपूर्ववत्)।
(13) कठधूर्तः (पूर्ववत्)।

जातिरि० अर्थात् जातिवाचक समास होता है—
(14) देवदत्तः प्रवक्ता
समास नहीं हुआ।

(417) प्रशंसावचनैश्च *66* (747)

जातिरिति वर्त्तते। जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनैः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। रूढिशब्दाः प्रशंसावचना गृह्यन्ते मतल्लिकादयः, ते च आविष्टलिङ्गत्वादन्यलिङ्गेऽपि जातिशब्दे स्वलिङ्गोपादाना एव समानाधिकरणा भवन्ति। गोप्रकाण्डम्। अश्वप्रकाण्डम्। गोमतल्लिका। अश्वमतल्लिका। गोमचर्च्चिका। अश्वमचर्च्चिका। जातिरिति किम्? कुमारी मतल्लिका।

अर्थ—प्रशंसावाची समानाधिकरण शब्दों के साथ जातिवाची समर्थ का विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

रूढि—प्रशंसावाची शब्द तीन प्रकार के होते हैं—
(क) जातिवाची; यथा—सिंहो देवदत्तः।
(ख) गुण शब्द; यथा—रमणीयो ग्रामः।
(ग) रूढ शब्द; यथा—मतल्लिका आदि।

यहाँ रूढ शब्दों का ही ग्रहण होता है। ये नियत लिङ्ग वाले होने के कारण भिन्न लिङ्ग वाले भी जाति शब्द के रहने पर अपने लिङ्ग को लिए हुए समानाधिकरण होते हैं।

उदा० (1) गोप्रकाण्डम्
गौश्चाऽसौ प्रकाण्डञ्च—समास हुआ।
(2) अश्वप्रकाण्डम् (पूर्ववत्)।
(3) गोमतल्लिका (पूर्ववत्)।
(4) अश्वमतल्लिका (पूर्ववत्)।
(5) गोमचर्च्चिका (पूर्ववत्)।
(6) अश्वमचर्च्चिका (पूर्ववत्)।

जाति अर्थात् जातिवाची समर्थ का समास होता है—
(1) कुमारी मतल्लिका
यहाँ समास नहीं हुआ।

(418) युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः *67* (748)

खलत्यादिभिः समानाधिकरणैः सह युवशब्दः समस्यते,

तत्पुरुषश्च समासो भवति। जरतीभिरिति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति ज्ञापनार्थः। युवा खलतिः युवखलतिः। युवतिः खलती युवखलती। युवा पलितः युवपलितः। युवतिः पलिता युवपलिता। युवा वलिनः युववलिनः। युवतिर्वलिना युववलिना। युवा जरन् युवजरन्। युवतिर्जरती युवजरती।

अर्थ—'युवन्' प्रकृतिक सुबन्त का खलति, पलित, वलिन और जरती—इन समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास विकल्प से होता है।

'जरती' शब्द में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है। इससे ज्ञापित होता है कि प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है।

उदा० (1) युवखलतिः
युवा खलति—समास हुआ।

(2) युवखलती
युवतिः खलती—समास हुआ।

(3) युवपलितः
युवा पलितः—पूर्ववत्।

(4) युवपलिता
युवतिः पलिता—पूर्ववत्।

(5) युववलिनः
युवा वलिनः—पूर्ववत्।

(6) युववलिना
युवतिर्वलिना—पूर्ववत्।

(7) युवजरन्
युवा जरन्—पूर्ववत्।

(8) युवजरती
युवतिर्जरती—पूर्ववत्।

(419) कृत्यतुल्याख्या अजात्या *68* (749)

कृत्यप्रत्ययान्तास्तुल्यपर्यायाश्च सुबन्ता अजातिवचनेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। भोज्योष्णम्। भोज्यलवणम्। पानीयशीतम्। तुल्याख्याः-तुल्यश्वेतः, तुल्यमहान्, सदृशश्वेतः, सदृशमहान्। अजात्येति किम्? भोज्य ओदनः।

अर्थ—कृत्य प्रत्ययान्त सुबन्त का तथा तुल्यार्थक सुबन्त का जातिवाचक से अतिरिक्त समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) भोज्योष्णम्
भोज्यश्चाद उष्णश्च—समास हुआ ('भोज्य' कृत्य प्रत्ययान्त है),
भोज्य उष्ण—'आद् गुणः' से गुणादेश,
भोज्योष्णम्—सु।

(2) भोज्यलवणम् (पूर्ववत्)।

(3) पानीयशीतम्
पानीयश्चादशशीतश्च—पूर्ववत्।

(4) तुल्यश्वेतः
तुल्यश्चाऽसौ श्वेतश्च—पूर्ववत्।

(5) तुल्यमहान्
तुल्यश्चाऽसौ महान्—पूर्ववत्।

(6) सदृशश्वेतः (पूर्ववत्)।

(7) सदृशमहान् (पूर्ववत्)।

अजात्या अर्थात् जातिवाची को छोड़कर अन्य शब्द के साथ समास होता है—

(1) भोज्य ओदनः
'ओदन' शब्द जातिवाचक है। तब समास नहीं हुआ।

(420) वर्णो वर्णेन *69* (750)

वर्णविशेषवाचि सुबन्तं वर्णविशेषवाचिना सुबन्तेन समानाधिकरणेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कृष्णसारङ्गः। लोहितसारङ्गः। कृष्णशबलः। लोहितशबलः। अवयवद्वारेण कृष्णशब्दः समुदाये वर्त्तमानः समानाधिकरणो भवति।

अर्थ—वर्णविशेषवाची सुबन्त का वर्णविशेषवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है।

उदा० (1) कृष्णसारङ्गः
कृष्णश्चाऽसौ सारङ्गश्च—दोनों पद वर्णवाची हैं। अतः समास हुआ।

(2) लोहितसारङ्गः → लोहितश्चाऽसौ सारङ्गश्च।

(3) कृष्णशबलः → कृष्णश्चाऽसौ शबलश्च।

(4) लोहितशबलः → लोहितश्चाऽसौ शबलश्च।

अवयव के द्वारा कृष्ण शब्द समुदाय में वर्त्तमान है। तब समानाधिकरण होता है।

(421) कुमारः श्रमणादिभिः *70* (752)

कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। येऽत्र स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते–श्रमणा, प्रजिता, कुलटेत्येवमादयस्तैः सह स्त्रीलिङ्ग एव कुमारशब्दः समस्यते, ये तु पुँल्लिङ्गा अध्यापकोऽभिरूपकः पण्डित इति तैरुभयथा। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् (व्या०प० 25)–कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा। श्रमणा। प्रव्रजिता। कुलटा। गर्भिणी। तापसी। दासी। बन्धकी। अध्यापक। अभिरूपक। पण्डित। पटु। मृदु। कुशल। चपल। निपुण।

अर्थ—कुमार शब्द का समानाधिकरण श्रमणादि सुबन्त शब्दों के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यहाँ जो स्त्रीलिङ्गवाची 'श्रमण' आदि शब्दों का पाठ है, उनके साथ स्त्रीलिङ्ग कुमार शब्द का समास होता है। जो पुँल्लिङ्ग अध्यापक आदि शब्दों का पाठ है, उनके साथ दोनों (अर्थात् स्त्रीलिङ्ग व पुँल्लिङ्ग) का समास होता है।

उदा० (1) कुमारश्रमणा
कुमारी श्रमणा—समास हुआ।

(422) चतुष्पादो गर्भिण्या *71* (753)

चतुष्पाद्वाचिनः सुबन्ता गर्भिणीशब्देन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। गोगर्भिणी। अजागर्भिणी। *चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्–कालाक्षी गर्भिणी, स्वस्तिमती गर्भिणी। चतुष्पाद इति किम्? ब्राह्मणी गर्भिणी।

अर्थ—चतुष्पादवाची सुबन्तों का समानाधिकरण गर्भिणी सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) गोगर्भिणी
गौश्चाऽसौ गर्भिणी च—समास हुआ।

(2) अजागर्भिणी (पूर्ववत्)।

चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम्—चतुष्पाद शब्द के द्वारा जाति का बोध होता है—

(3) कालाक्षी गर्भिणी
यहाँ जाति का बोध नहीं होता है। अतः समास नहीं हुआ।

(4) स्वस्तिमती गर्भिणी
समास नहीं हुआ।

चतुष्पाद अर्थात् चतुष्पादवाची सुबन्त का समास होता है—
(5) ब्राह्मणी गर्भिणी
यहाँ समास नहीं हुआ।

(423) मयूरव्यंसकादयश्च *72* (754)

समुदाया एव निपात्यन्ते। मयूरव्यंसकादयः शब्दास्तत्पुरुषसंज्ञा भवन्ति। चकारोऽवधारणार्थः, परममयूरव्यंसक इति समासान्तरं न भवति। मयूरव्यंसकः। छात्रव्यंसकः। काम्बोजमुण्डः। यवनमुण्डः। छन्दसि–हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गलेगृह्य, पुनर्दाय। एहीडादयोऽन्यपदार्थे। एहीडम्, एहियवं वर्त्तते। एहिवाणिजा क्रिया। अपेहिवाणिजा, प्रेहिवाणिजा। एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, प्रेहिस्वागता। एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया। इहवितर्का। प्रोहकटा, अपोहकटा। प्रोहकर्दमा, अपोहकर्दमा। उद्धरचूडा। आहरचेला। आहरवसना। आहरवनिता। कृन्तविचक्षणा। उद्धरोत्सृजा। उद्धमविधमा। उत्पचविपचा। उत्पतनिपता। उच्चावचम्। उच्चनीचम्। अचितोपचितम्। अवचितपराचितम्। निश्चप्रचम्। अकिञ्चनम्। स्नात्वाकालकः। पीत्वास्थिरकः। भुक्त्वासुहितः। प्रोष्यपापीयान्। उत्पत्यपाकुला। निपत्यरोहिणी। निषण्णश्यामा। अपेहिप्रसवा। इहपञ्चमी। इहद्वितीया। जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तारं चाभिदधाति। जहिजोडः। उज्जहिजोडः। जहिस्तम्बः। उज्जहिस्तम्बः। आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये। अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। खादताचमता। आहरनिवपा। आवपनिष्किरा। उत्पचविपचा। भिन्धिलवणा। छिन्धिविचक्षणा। पचलवणा। पचप्रकूटा। अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अर्थ—समुदायों का निपातन किया जा रहा है।

मयूरव्यंसकादि गणपठित शब्दों की समानाधिकरण तत्पुरुष संज्ञा होती है।

सूत्रस्थ चकार अवधारण अर्थ में है। अतः 'परममयूरव्यंसकः' ऐसा समानान्तर (अर्थात् दूसरा) समास नहीं बनता है।

उदा० (1) मयूरव्यंसकः
निपातन से समास हुआ।

(2) छात्रव्यंसकः—पूर्ववत्।

(3) काम्बोजमुण्डः—पूर्ववत्।

(4) यवनमुण्डः—पूर्ववत्।

(5) हस्तेगृह्यः—वेद में निपातित।

(6) पादेगृह्यः—पूर्ववत्।

(7) लाङ्गलेगृह्य—पूर्ववत्।

(8) पुनर्दायः—पूर्ववत्।

'एहीड' आदि शब्द अन्यपदार्थ में समास को प्राप्त होते हैं।

(9) एहीडम्

शेष उदाहरण मूल में देखिए।

जहि—'जहि' पद का बहुलता से कर्म के साथ समास होता है—

(10) जहिजोडः—पूर्ववत्।

(11) उज्जहिजोडः—पूर्ववत्।

(12) जहिस्तम्बः—पूर्ववत्।

(13) उज्जहिस्तम्बः—पूर्ववत्।

आख्यातमा—क्रिया की निरन्तरता गम्य हो तो क्रिया का क्रिया के साथ समास होता है—

(14) अश्नीतपिबता—पूर्ववत्।

(15) पचतभृज्जता—पूर्ववत्।

(16) खादतमोदता—पूर्ववत्।

(17) खादताचमता—पूर्ववत्।

(18) आहरनिवपा—पूर्ववत्।

(19) आवपनिष्किरा—पूर्ववत्।

(20) उत्पचविपचा—पूर्ववत्।

(21) भिन्धिलवणा—पूर्ववत्।

(22) छिन्धिविचक्षणा—पूर्ववत्।

(23) पचलवणा—पूर्ववत्।

(24) पचप्रकूटा—पूर्ववत्।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां द्वितीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।



(424) पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे *1* (712)

एकदेशोऽस्यास्तीत्येकदेशी अवयवी, तद्वाचिना सुबन्तेन सह पूर्वापराधरोत्तरशब्दाः सामर्थ्यादेकदेशवचनाः समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। एकाधिकरणग्रहणमेकदेशिनो विशेषणम्, एकं चेदधिकरणमेकद्रव्यमेकदेशि भवति। षष्ठीसमासापवादोऽयं योगः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। अधरकायः। उत्तरकायः। एकदेशिनेति किम्? पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरण इति किम्? पूर्वं छात्राणामामन्त्रय। कथं मध्याह्नः, सायाह्न इति? 'संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्य' इति ज्ञापकात्सर्वेणैकदेशशब्देनाह्नः समासो भवति।

अर्थ—यदि अवयवी एकत्व संख्याविशिष्ट हो तो तद्वाचक सुबन्त के साथ पूर्व, अपर, अधर तथा उत्तर—इन सुबन्त शब्दों का विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'एकाधिकरणे' का सम्बन्ध 'एकदेशिना' पद के साथ है। यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी है। यदि एक अधिकरण एक द्रव्य हो तो वह एकदेशी होता है। यह नियम षष्ठी समास का अपवाद है।

उदा० (1) पूर्वकायः
पूर्वं कायस्य—समास हुआ।

(2) अपरकायः
अपरं कायस्य—पूर्ववत्।

(3) अधरकायः → अधरं कायस्य।
(4) उत्तरकायः → उत्तरं कायस्य।

एकदेशि० अर्थात् अवयवी के साथ ही पूर्वोक्त समास होता है—

(5) पूर्वं नाभेः कायस्य (= शरीर का नाभि से पूर्व तक आधा भाग)। यहाँ 'पूर्वं नाभेः' में 'नाभेः' पद में दिग्योग पञ्चमी हुई है। यह अवयवी नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

एकाधिक० अर्थात् अवयवी के एकत्व संख्याविशिष्ट होने पर ही पूर्वोक्त समास होता है—

(6) पूर्वं छात्राणाम्
'छात्राणाम्' अवयवी है, परन्तु एकत्व संख्याविशिष्ट नहीं है, अपितु समुदाय है। अतः समास नहीं हुआ।

कथं—'संख्याविसायपूर्वस्याऽह्नस्याऽहनन्यतरस्यां ङौ' (6.3.110) के द्वारा 'सायाह्न' शब्द से सप्तमी एकवचन में 'अहन्' आदेश विकल्प से किया गया है। 'सायाह्न' शब्द अन्य सूत्र के द्वारा निष्पन्न नहीं है। अतः 6.3.110 से ज्ञापित होता है कि किसी भी अवयववाची शब्द का 'अहन्' शब्द के साथ समास होता है। यथा—

(7) सायाह्नः
सायम् अ ह्नः—समास हुआ। अह्नोऽह्न एतेभ्यः।

(8) मध्याह्नः
मध्यम् अह्नः—पूर्ववत्।

'असति बाधके सर्वसामान्यं ज्ञापकम्' अर्थात् जहाँ कोई बाधक न हो, वहाँ ज्ञापक सर्वसुलभ होता है। इस परिभाषा का अनुसरण करते हुए कुछ विद्वान् पूर्वोक्त ज्ञापक के व्यापक स्वरूप को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार न केवल 'अहन्' शब्द के साथ; अपितु कालवाचक षष्ठ्यन्त शब्द के साथ किसी भी अवयववाचक शब्द का समास होता है। यथा—

(9) मध्यरात्रः
रात्रेर्मध्यम्—पूर्ववत्।

(10) पश्चिमरात्रः → रात्रेः पश्चिमम्।

(425) अर्द्धं नपुंसकम् *2* (713)

एकदेशिनैकाधिकरणे इति वर्त्तते। समप्रविभागेऽर्धशब्दो नपुंसकमाविष्टलिङ्गः, तस्येदं ग्रहणम्। अर्द्धमित्येतत् नपुंसकमेकदेशिनैकाधिकरणेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। षष्ठीसमासाऽपवादोऽयं योगः। अर्द्धं पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली। अर्द्धकोशातकी। नपुंसकमिति किम्? ग्रामार्द्धः, नगरार्द्धः। एकदेशिनेत्येव-अर्द्धं पशोर्देवदत्तस्य। देवदत्तेन सह समासो न भवति। एकाधिकरण इत्येव-अर्द्धं पिप्पलीनाम्।

अर्थ—सम अंश (= ठीक आधा भाग) का वाचक 'अर्द्ध'

शब्द नित्य नपुँसक होता है। उसी का यहाँ ग्रहण है। यदि वह अंश (= भाग) का वाचक हो तो पुँल्लिङ्ग व नपुँसक लिङ्ग दोनों होता है।

एकत्व संख्याविशिष्ट द्रव्य अर्थ गम्यमान हो तो अवयवी के वाचक सुबन्त के साथ नित्य नपुँसक 'अर्द्ध' शब्द का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) अर्द्धपिप्पली

अर्द्धं पिप्पल्याः—समास हुआ, 'एकविभक्ति चाऽपूर्व०' से 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा,

अर्द्धपिप्पली—'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से ह्रस्वादेश की प्राप्ति हुई, 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्०' से उपसर्जनसंज्ञा का निषेध हुआ,

अर्द्धपिप्पली—सु, सुलुक्।

(2) अर्द्धकोशातकी (पूर्ववत्)।

नपुँसक० अर्थात् 'अर्द्ध' शब्द के नित्य नपुँसक होने की दशा में ही पूर्वोक्त समास होता है—

(3) ग्रामार्द्धः → ग्रामस्याऽर्द्धः

यहाँ 'अर्द्ध' शब्द 'अंश' अर्थ में विद्यमान है। अतः एकदेशिसमास नहीं हुआ। 'षष्ठी' से समास हुआ।

एकाधिक० अर्थात् एकत्व संख्याविशिष्ट अवयवी के साथ ही पूर्वोक्त समास होता है—

(4) अर्द्धं पिप्पलीनाम्

यहाँ अवयवी बहुत्व संख्याविशिष्ट है। समास नहीं हुआ।

एकदेशि० अर्थात् अवयवी के साथ पूर्वोक्त समास होता है—

(5) अर्द्धं पशोर्देवदत्तस्य

यहाँ 'अर्द्ध' शब्द समांश का वाचक है, परन्तु 'देवदत्त' अवयवी नहीं है, अपितु स्वामी है। अतः समास नहीं हुआ।

(426) द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् *3* (714)

एकदेशिनैकाधिकरण इति वर्तते। षष्ठीसमासापवादोऽयं योगः। अन्यतरस्यांग्रहणात् सोऽपि षष्ठीसमासो भवति। 'पूरणगुण' (2.2.11) इति प्रतिषेधश्चात एवान्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्यान्न प्रवर्त्तते। द्वितीयादीनि शब्दरूपाणि एकदेशिनैकाधिकरणेन सहान्यतरस्यां समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। द्वितीयं भिक्षायाः द्वितीयभिक्षा। षष्ठीसमासपक्षे-भिक्षाद्वितीयं वा। तृतीयं भिक्षायाः तृतीयभिक्षा। भिक्षातृतीयं वा। चतुर्थं भिक्षायाः चतुर्थभिक्षा। भिक्षाचतुर्थं वा। तुर्यं भिक्षायाः तुर्यभिक्षा। भिक्षातुर्यं वा। *तुरीयशब्दस्यापीष्यते*। तुरीयं भिक्षायाः तुरीयभिक्षा। भिक्षातुरीयं वा। एकदेशिनेत्येव-द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य। एकाधिकरण इत्येव-द्वितीयं भिक्षाणाम्।

अर्थ—'एकदेशिना' तथा 'एकाधिकरणे' का अनुवर्त्तन हो रहा है। यह षष्ठी समास का अपवाद है। 'अन्यतरस्याम्' कथन के द्वारा पक्ष में षष्ठी समास भी होता है। 'पूरणगुणसुहितार्थ०' (2.2.11) के द्वारा किया जाने वाला निषेध 'अन्यतरस्याम्' पद के ग्रहण के कारण प्रवृत्त नहीं होता है।

एकत्व संख्याविशिष्ट अवयवी सुबन्त के साथ द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य—इन सुबन्त शब्दों का समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) द्वितीयभिक्षा

द्वितीयं भिक्षायाः—समास विकल्प से हुआ, पक्ष में विग्रह-वाक्य रहा,

द्वितीयभिक्षा सु → द्वितीयभिक्षा।

(2) भिक्षाद्वितीयम्

पक्ष में षष्ठी समास हुआ। 'भिक्षा' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होती है।

(3) तृतीयभिक्षा

तृतीयं भिक्षायाः—पूर्ववत्।

(4) भिक्षातृतीयम्—षष्ठी समास।

(5) चतुर्थभिक्षा—पूर्ववत्।

(6) भिक्षाचतुर्थम्—षष्ठी समास।

(7) तुर्यभिक्षा—तुर्यं भिक्षायाः।

(8) भिक्षातुर्यम्—षष्ठी समास।

तुरीयशब्दस्याऽपीष्यते—तुरीय शब्द का भी पूर्वोक्त समास होता है—

(९) तुरीयभिक्षा—तुरीयं भिक्षायाः।

(10) भिक्षातुरीयम्—षष्ठी समास।

एकदेशि० अर्थात् अवयवी के साथ ही समास होता है—

(1) द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य

यहाँ समास नहीं हुआ।

एकाधिक० अर्थात् एकत्व संख्याविशिष्ट का ही समास होता है—

(2) द्वितीयं भिक्षाणाम्

यहाँ बहुत्व संख्याविशिष्ट है। अतः समास नहीं हुआ।

(427) प्राप्तापन्ने च द्वितीयया *4* (715)

एकदेशिनैकाधिकरण इति निवृत्तम्। द्वितीयासमासे प्राप्ते वचनमिदम्। समासविधानात्सोऽपि भवति। प्राप्त, आपन्न–इत्येतौ द्वितीयान्तेन सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। प्राप्तो जीविकां प्राप्तीविकः जीविकाप्राप्त इति वा। आपन्नो जीविकाम् आपन्नजीविकः जीविकापन्न इति वा।

अर्थ—'एकदेशिना' तथा 'एकाधिकरणे' की अनुवृत्ति है। द्वितीया समास प्राप्त होने पर यह विधान किया जा रहा है। समास के विधान से वह (अर्थात् द्वितीया समास) भी होता है।

द्वितीयान्त सुबन्त के साथ 'प्राप्त' तथा 'आपन्न' सुबन्त शब्दों के साथ समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) प्राप्तजीविकः

प्राप्तो जीविकाम्—समास हुआ, 'प्राप्त' शब्द की उपसर्जन-संज्ञा, उसका पूर्वनिपात,

प्राप्तजीविका—'एकविभक्ति चापूर्व०' से 'जीविका' की उपसर्जनसंज्ञा, 'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से ह्रस्वादेश हुआ—

प्राप्तजीविक सु — प्राप्तजीविकः।

महाविभाषा का अधिकार होने से पक्ष में विग्रहवाक्य भी रहता है—प्राप्तो जीविकाम्।

'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होने से पक्ष में 'द्वितीया श्रितातीतपतित०' से द्वितीया तत्पुरुष भी होता है—

(2) जीविकाप्राप्तः।

(3) आपन्नजीविकः (पूर्ववत्)।

(4) जीविकापन्नः (पूर्ववत्)।

विशेष—हरदत्त व भट्टोजिदीक्षित आदि विद्वानों ने 'द्वितीयया' पद में अकार का प्रश्लेष (द्वितीयया अ = द्वितीयया) स्वीकार किया है।[1]

प्रश्लेष के पक्ष में सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—

द्वितीयान्त सुबन्त के साथ 'प्राप्त' और 'आपन्न' सुबन्त शब्दों का समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक समास होता है और 'प्राप्त' व 'आपन्न' शब्दों को अकार आदेश होता है। अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा यह अकार अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है।

आचार्य पतञ्जलि ने सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा 'अ' आदेश स्वीकार किया है।[1]

प्रश्लेष 'अ' की कल्पना का प्रयोजन है कि लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के द्वारा 'प्राप्ता' तथा 'आपन्ना' शब्दों का द्वितीयान्त के साथ समास हो जाता है। यथा—

प्राप्ता जीविकाम्—इस दशा में समास होकर 'प्राप्ता' शब्द को समानाधिकरण परे न रहने से पुँवद्भाव प्राप्त नहीं हुआ, ह्रस्वादेश भी नहीं हुआ,

प्राप्तजीविका—प्रश्लेष पक्ष में 'प्राप्ता' के अन्त्य वर्ण (आकार) को अकार हुआ, 'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से 'जीविका' को ह्रस्व हुआ,

प्राप्तजीविक—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' हुआ, सु तथा सुलुक् हुआ।

प्राप्तजीविका (1)

पक्ष में विग्रहवाक्य—जीविकां प्राप्ता (2)

'अन्यतरस्याम्' से पक्ष में द्वितीया समास—जीविकाप्राप्ता (3)

इसी प्रकार—

आपन्नजीविका (4)।

आपन्ना जीविकाम् (5)।

जीविकापन्ना (6)।

(428) कालाः परिमाणिना *5* (716)

परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तद्वाचिना सुबन्तेन सह सामर्थ्यात्परिमाणवचनाः कालशब्दाः समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। षष्ठीसमासविषये योगारम्भः। मासो जातस्य मासजातः। संवत्सरजातः। द्व्यहजातः। त्र्यहजातः।

अर्थ—'परिमाण है इसका'—परिमाणी।

परिमाणवाची सुबन्त के साथ परिमाणवाची काल शब्द का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है। यह षष्ठी तत्पुरुष का अपवाद है।

1. पदम० 2.2.4—अ च अत्वं च भवति।
   वै० सि० कौ० सूत्र 715—इह सूत्रे 'द्वितीयया' इति छित्वाऽकारोऽपि विधीयते।

1. महा० 2.2.4—एवं तर्हि नाऽयमनुकर्षणार्थश्चकारः। किं तर्ह्यत्वमनेन विधीयते।

उदा० (1) मासजातः
मासो जातस्य—परिमाण (मास) तथ परिमाणी (जात) का समास हुआ,
मासजात सु — मासजातः।
(2) संवत्सरजातः
(3) द्व्यहजातः
द्वयोर् अह्नोः समाहारः—समाहार अर्थ में द्विगु समास,
द्वि अहन्—'राजाऽहःसखिभ्यः—' से 'टच्', 'न संख्यादेः समाहारः' से 'अह्न' आदेश नहीं हुआ,
द्वि अहन् टच्—'अह्नष्टखोरेव'
द्वि अह् अ—'रात्राह्ना०' से
द्व्यहः—रूप बना
द्व्यहो जातस्य—प्रकृत सूत्र से समास,
द्व्यहजातः—सु।
दूसरा प्रकार—
द्वे अहनी जातस्य (यस्य सः)—वार्तिक[1] से समास,
द्वि अहन् जात—उत्तर पद में 'जात' शब्द है, अतः समाहार में द्विगु नहीं हुआ, उत्तरपदनिमित्तक द्विगु हुआ, 'न संख्यादेः समाहारः०' प्रवृत्त नहीं हुआ,
द्वि अह्नजात—अह्नोऽह्न एतेभ्यः,
द्व्यह्नजातः—समास, सु।

(429) नञ् *6* (756)

नञ् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः। अवृषलः। *नञो नलोपस्तिङि क्षेपे*। अपचसि त्वं जाल्म।

अर्थ—समर्थ सुबन्त के साथ 'नञ्' अव्यय का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

'नञ्' के ञकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है।
उदा० (1) अब्राह्मणः
न ब्राह्मणः—समास हुआ,
अब्राह्मण—'नलोपो नञः' से नकार का लोप,
अब्राह्मणः—सु
(2) अवृषलः (पूर्ववत्)।

नञो नलोपस्तिङि क्षेपे—निन्दा गम्यमान होने पर तिङ् परे रहते 'नञ्' के 'न' का लोप होता है—

1 वै० सि० कौ० सूत्र—716

(3) अपचसि (त्वं जाल्म)
निन्दा अर्थ है। समास हुआ।

विशेष—1. 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव०' से अर्थाभाव में अव्ययीभाव समास होता है; परन्तु 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' वचन ज्ञापित करता है कि अर्थाभाव में तत्पुरुष भी होता है। 'असन्देहाः' पद में पुँल्लिङ्ग का निर्देश है।

2. 'नञ्' इस सूत्रपाठ से सिद्ध होता है कि निषेधार्थक 'न' अव्यय के साथ समास नहीं होता है, अपितु 'नञ्' अव्यय के साथ समास होता है।

(430) ईषदकृता *7* (755)

ईषदित्ययं शब्दोऽकृदन्तेन सुपा सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। *ईषद् गुणवचनेनेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। ईषद्विकटः। ईषदुन्नतः। ईषत्पीतम्। ईषद्रक्तम्। गुणवचनेनेति किम्? इह न भवति–ईषद्गार्ग्यः।

अर्थ—'ईषत्' अव्यय का कृदन्त से अतिरिक्त सुबन्त शब्द के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

ईषद् गुणवचनेनेति वक्तव्यम्—'ईषत्' का गुणवाचक शब्द के साथ समास होता है।

उदा० (1) ईषत्कडारः
ईषत् कडारः—समास हुआ।
(2) ईषत्पिङ्गलः
ईषत् पिङ्गलः—समास हुआ।
(3) ईषद्विकटः → ईषत् विकटः।
(4) ईषदुन्नतः → ईषत् उन्नतः।
(5) ईषत्पीतम् → ईषत् पीतम्।
(6) ईषद्रक्तम् → ईषत् रक्तम्।

गुणवचने० अर्थात् गुणवाची शब्द के साथ ही समास होता है—

(7) ईषद् गार्ग्यः
'गार्ग्य' गुणवाची नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(431) षष्ठी *8* (702)

षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च

समासो भवति। राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। ब्राह्मणकम्बलः। *कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इध्मप्रव्रश्चनः। पलाशशातनः। किमर्थमिदमुच्यते? 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपकर्षः।

अर्थ—समर्थ सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) राजपुरुषः
राज्ञः पुरुषः—समास हुआ,
राजन् पुरुष—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य',
राजपुरुषः—सु।

(2) ब्राह्मणकम्बलः
ब्राह्मणस्य कम्बलः—समास हुआ।

कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्—कृद्योगा षष्ठी जिसके अन्त में है, उस शब्द का पूर्वोक्त समास होता है। 'कर्तृकर्मणोः कृति' से कृदन्त शब्द के योग में जो षष्ठी होती है, उसे कृद्योगा षष्ठी कहते हैं।

(3) इध्मप्रव्रश्चनः
इध्मानां प्रव्रश्चनः—समास हुआ,
इध्मप्रव्रश्चन सु—पूर्ववत् सभी कार्य हुए,
इध्मप्रव्रश्चनः—सु।

(4) पलाशशातनः
समास हुआ।

प्रतिपदविधाना षष्ठी का समास नहीं होता है। उसी का यह पूर्व अपवाद है।

(432) याजकादिभिश्च *9* (7०3)

पूर्वेण समासः सिद्ध एव, तस्य 'कर्तरि च' (2.2.16) इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनमिदमारभ्यते प्रतिप्रसवार्थम्। याजकादिभिः सह षष्ठी समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। ब्राह्मणयाजकः। क्षत्रिययाजकः। याजक। पूजक। परिचारक। परिषेचक। स्नातक। अध्यापक। उत्सादक। उद्वर्तक। होतृ। पोतृ। भर्तृ। रथगणक। पत्तिगणक। *तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्*। चन्दनगन्धः। कपित्थरसः। *गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः। सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान्। 'न निर्धारणे' (2.2.10) इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनमिदम्। सर्वशुक्ला गौः।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा समास सिद्ध है; परन्तु 'कर्त्तरि च' के द्वारा निषेध हो जाने पर पुनः विधान किया जा रहा है।

याजक आदि समर्थ सुबन्तों के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास विकल्प से होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यह 'तृजकाभ्यां कर्त्तरि' का अपवाद है।

उदा० (1) ब्राह्मणयाजकः
ब्राह्मणस्य याजकः—समास हुआ।

(2) क्षत्रिययाजकः → क्षत्रियस्य याजकः।

तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्—वस्तु में स्थित गुणों के साथ षष्ठ्यन्त शब्द का समास होता है—

(3) चन्दनगन्धः
चन्दनस्य गन्धः—'गन्ध' गुणवाची शब्द है।

(4) कपित्थरसः
कपित्थस्य रसः—पूर्ववत्।

गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्—षष्ठ्यन्त सुबन्त का गुणवाची शब्द से विहित 'तरप्' प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है और 'तरप्' प्रत्यय का लोप भी होता है—

(5) सर्वश्वेतः
सर्वेषां श्वेततरः—'श्वेत' शब्द गुणवाची है। इससे 'तरप्' प्रत्यय हुआ है। समास हुआ,
सर्वश्वेत—'तरप्' प्रत्यय का लोप हुआ,
सर्वश्वेतः—सु।

(6) सर्वमहान्
सर्वेषां महत्तरः—समास, 'तरप्' का लोप,
सर्वमहत् सु — सर्वमह नुम् त् स्—नुम्,
सर्वमहान् त् स्—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'स्' का लोप,
सर्वमहान्—'संयोगान्तस्य लोपः'।

'न निर्धारणे' के द्वारा निषेध प्राप्त होने पर यह नियम किया गया है।

(7) सर्वशुक्ला
सर्वासां शुक्लतरा—समास, तरप् का लोप,
सर्वशुक्ला सु—स्त्रीत्व में टाप्, सु,

सर्वशुक्ला—लोप।

(433) न निर्धारणे *10* (704)

पूर्वेण समासे प्राप्ते प्रतिषेध आरभ्यते। निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते। जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्। क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः। कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा। धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः। *प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। सर्पिषो ज्ञानम्। मधुनो ज्ञानम्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा समास प्राप्त होने पर प्रतिषेध किया जा रहा है।

निर्धारण अर्थ में जो षष्ठ्यन्त सुबन्त, उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

जाति, गुण और क्रिया के आधार पर समुदाय में से एक को अलग करना 'निर्धारण' कहलाता है। कैयट के अनुसार निर्धारण में निम्नलिखित तीन बातों का होना आवश्यक है—

(क) समुदाय—जिससे निर्धारित करना है,
(ख) निर्धार्यमाण—जिसे निर्धारित करना है,
(ग) हेतु—जो निर्धारण में हेतु हो। यथा—जाति, गुण अथवा क्रिया।

उदा० (1) क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः
मनुष्यगण समुदाय है, क्षत्रिय निर्धार्यमाण है तथा 'शूरता' (= जाति) हेतु है। समास नहीं हुआ।

(2) कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा
समास नहीं हुआ। गुण हेतु है।

(3) धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः
समास नहीं हुआ; क्रिया हेतु है।

प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम्—प्रतिपदविधान वाली जो षष्ठी, तदन्त सुबन्त का समास नहीं होता है। 'षष्ठी शेषे' से विहित षष्ठी को छोड़कर सूत्रविशेष के द्वारा विधीयमान षष्ठी को प्रतिपदविधाना षष्ठी कहते हैं—

(4) सर्पिषो ज्ञानम्
यहाँ 'ज्ञोऽविदर्थस्य०' के द्वारा षष्ठी हुई है। अतः समास नहीं हुआ।

(5) मधुनो ज्ञानम्
पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(434) पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन *11* (705)

पूरण, गुण, सुहितार्थ, सद्, अव्यय, तव्य, समानाधिकरण–इत्येतैः सह षष्ठी न समस्यते। अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेन स्वरूपविधिर्न भवति। पूरणार्थे–छात्राणां पञ्चमः, छात्राणां दशमः। गुण–बलाकायाः शौक्ल्यम्, काकस्य कार्ष्ण्यम्। सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः–फलानां सुहितः, फलानां तृप्तः। सत्–ब्राह्मणस्य कुर्वन्, ब्राह्मणस्य कुर्वाणः। अव्यय–ब्राह्मणस्य कृत्वा, ब्राह्मणस्य हृत्वा। तव्य–ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्। तव्यता सानुबन्धकेन समासो भवत्येव–ब्राह्मणकर्त्तव्यम्। समानाधिकरण–शुकस्य माराविदस्य, राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य, पाणिनेः सूत्रकारस्य। किं च स्यात्? पूर्वनिपातस्यानियमः स्यात्। अनन्तरायां तु प्राप्तौ प्रतिषिद्धायां 'विशेषणं विशेष्येण' (2.1.57) इति भवत्येव समासः। पूर्वनिपातश्च तदा नियोगतो विशेषणस्यैव।

अर्थ—पूरण प्रत्ययान्त, गुणवाची शब्द, तृप्तिवाची शब्द, सत् संज्ञक प्रत्ययान्त शब्द, अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त शब्द तथा समानाधिकरण शब्द—इनके साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास नहीं होता है।

सूत्र में पठित 'अर्थ' शब्द 'पूरण', 'गुण' तथा 'सुहितार्थ' इन तीनों के साथ सम्बद्ध होता है। अतः स्वरूप का ग्रहण नहीं होता।

'तौ सत्' के द्वारा 'शतृ' व 'शानच्' प्रत्यय की सत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) छात्राणां पञ्चमः
'पञ्चम' पद में पूरणार्थक प्रत्यय का प्रयोग है। अतः षष्ठ्यन्त 'छात्राणाम्' का इसके साथ समास नहीं हुआ।

(2) छात्राणां दशमः (पूर्ववत्)।

(3) बलाकायाः शौक्ल्यम्
यहाँ 'शुक्ल' गुणवाची शब्द है। इससे भाव में 'ष्यञ्' हुआ है। समास नहीं हुआ।

(4) काकस्य कार्ष्ण्यम्
पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(5) फलानां सुहितः (पूर्ववत्)।
'सुहित' तृप्तिवाचक है।

(6) ब्राह्मणस्य कुर्वन्

'कृ' से सत् संज्ञक 'शतृ' प्रत्यय होकर 'कुर्वन्' बनता है। समास नहीं हुआ।

(7) ब्राह्मणस्य कुर्वाणः

'कृ' से सत् संज्ञक 'शानच्' हुआ। अतः समास नहीं हुआ।

(8) ब्राह्मणस्य कृत्वा

'कृत्वा' अव्ययसंज्ञक है। अतः समास नहीं हुआ। सूत्रोक्त 'अव्यय' पद के दोनों ओर कृत् प्रत्ययों (सत्, तव्य) का पाठ है। पूर्वापर साहचर्य से 'अव्यय' पद के द्वारा कृत् प्रत्ययान्त अव्यय का ही ग्रहण होता है। अतः 'तदुपरि' आदि प्रयोगों में निर्बाध समास होता है।

(9) ब्राह्मणस्य हृत्वा (पूर्ववत्)।

(10) ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्

'कृ' से 'तव्य' होकर 'कर्त्तव्य' बनता है। समास नहीं हुआ।

(11) ब्राह्मणकर्त्तव्यम्

यहाँ 'तव्य' नहीं 'तव्यत्' प्रत्यय है। अनुबन्धसहित 'तव्यत्' प्रत्ययान्त शब्द के साथ समास हो गया है।[1]

(12) शुकस्य माराविदस्य

दोनों पदों में सामानाधिकरण्य है। अतः षष्ठ्यन्त का समास नहीं हुआ।

(13) राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य (पूर्ववत्)।

(14) पाणिनेः सूत्रकारस्य (पूर्ववत्)।

पूर्वनिपातानियमः—प्रश्न यह है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा षष्ठी समास का प्रतिषेध होने पर भी 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' के द्वारा षष्ठी समास करने में क्या दोष है? काशिकाकार कहते हैं कि यहाँ षष्ठी समास कर लेने पर पूर्वनिपात के विषय में अव्यवस्था हो जाती है। कारण कि षष्ठी समास में दोनों पदों की उपसर्जनसंज्ञा होकर दोनों का क्रमशः पूर्वनिपात प्राप्त होता है। षष्ठी समास का निषेध होने पर 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' के द्वारा समास होता है। तब विशेषण का पूर्वनिपात होता है।

'तव्य' पद के द्वारा केवल 'तव्य' (निरनुबन्धक) का ग्रहण होता है। यहाँ 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। तव्यत् प्रत्ययान्त के साथ प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रतिषेध नहीं होता है। अतः 'स्वकर्त्तव्यम्' यहाँ समास हुआ, निषेध नहीं हुआ।

1. काशि० 2.2.11—तव्यता सानुबन्धकेन समासो भवत्येव।

(435) क्तेन च पूजायाम् *12* (7०6)

'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (2.3.188) इति वक्ष्यति, तस्येदं ग्रहणम्। पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थम्। क्तो यः पूजायां विहितस्तेन षष्ठी न समस्यते। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। पूजायामिति किम्? छात्रस्य हसितं छात्रहसितम्।

अर्थ—पूजा अर्थ में विधीयमान जो 'क्त' प्रत्यय, तदन्त के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास नहीं होता है।

'मतिबुद्धि०' के द्वारा कृदन्त में पूजार्थक 'क्त' प्रत्यय का विधान किया गया है। यहाँ उसी का उपलक्षण है।

उदा० (1) राज्ञां मतः

'मतः' यहाँ पूजा अर्थ में 'मन्' धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ है। समास नहीं हुआ।

(2) राज्ञां बुद्धः

समास नहीं हुआ।

(3) राज्ञां पूजितः

समास नहीं हुआ।

अर्थात् पूजा अर्थ में ही समास का निषेध होता है—

(4) छात्रहसितम्

छात्रस्य हसितम्—समास हुआ।

(436) अधिकरणवाचिना च *13* (7०7)

'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' (3.7.76) इति वक्ष्यति, तस्येदं ग्रहणम्। अधिकरणवाचिना क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितम्। इदमेषां यातम्। इदमेषां भुक्तम्।

अर्थ—'क्तोऽधिकरणे च—' कहा जायेगा। उसी का यहाँ ग्रहण है।

अधिकरणवाची 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के साथ षष्ठ्यन्त शब्द का समास नहीं होता है।

उदा० (1) इदम् एषाम् आसितम्

'आसितम्' में अधिकरण अर्थ में 'क्त' हुआ है। अतः समास नहीं हुआ।

(2) इदम् एषां यातम्

पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(3) इदम् एषां भुक्तम्

पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(437) कर्मणि च *14* (708)

क्तेनेति निवृत्तम्। कर्मग्रहणं षष्ठीविशेषणम्। कर्मणि च या षष्ठी सा न समस्यते। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (2.3.8) इति षष्ठ्या इदं ग्रहणम्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन। रोचते ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन। साधु खलु पयसः पानं देवदत्तेन। विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनिना।

अर्थ—कर्म में विहित षष्ठी, तदन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

'कर्म' का ग्रहण षष्ठी के विशेषण के लिए है। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस प्रकार षष्ठी का ग्रहण है।

(1) आश्चर्यौ गवां दोहोऽगोपालकेन

'दोहः' कृत् प्रत्ययान्त शब्द है। कर्म (गो) और कर्त्ता (अगोपालक) दोनों में षष्ठी प्राप्त थी, परन्तु 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' के द्वारा कर्म में षष्ठी हुई। 'गवां दोहः' में समास नहीं हुआ।

(2) रोचते ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन

पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(3) साधु खलु पयसः पानं देवदत्तेन (पूर्ववत्)।

(4) विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनिना (पूर्ववत्)।

(438) तृजकाभ्यां कर्तरि *15* (709)

कर्तृग्रहणं षष्ठीविशेषणम्। कर्त्तरि या षष्ठी सा तृचाऽकेन च सह न समस्यते। भवतः शायिका। भवत आसिका। भवतोऽग्रगामिका। तृच् कर्त्तर्येव विधीयते, तत्प्रयोगे कर्तरि षष्ठी नास्ति। तस्मात्तृज्ग्रहणमुत्तरार्थम्। कर्तरीति किम्? इक्षुभक्षिकां मे धारयसि।

अर्थ—'कर्तृ' पद का ग्रहण षष्ठी के विशेषण के लिए है। कर्त्ता अर्थ में जो तृच् व ण्वुल् प्रत्यय, तदन्त सुबन्त के साथ कर्म में जो षष्ठी, तदन्त का समास नहीं होता है।

'अक' के द्वारा 'ण्वुल्' का ग्रहण होता है। 'कर्तृकर्मणोः कृति' से विहित षष्ठी का यहाँ ग्रहण होता है।

उदा० (1) भवतः शायिका

यहाँ समास नहीं हुआ।

(2) भवत आसिका

यहाँ समास नहीं हुआ।

(3) भवतोऽग्रगामिका

यहाँ समास नहीं हुआ।

'तृच्' का कर्त्ता में ही विधान होता है। उसके प्रयोग में कर्त्ता अर्थ में षष्ठी नहीं होती है। अतः 'तृच्' का ग्रहण उत्तर शास्त्र के लिए है।

कर्त्तरि अर्थात् कर्त्ता अर्थ में विद्यमान 'तृच्' व 'अक' प्रत्ययान्त के साथ समास का प्रतिषेध होता है—

(4) इक्षुभक्षिकाम्

इक्षूणां भक्षिका—यहाँ कर्त्ता अर्थ नहीं है। अतः समास का निषेध नहीं हुआ।

विशेष—काशिका में 'कर्त्तरि' पद को 'षष्ठी' (अनुवृत्त पद) का विशेषण मानकर सूत्रार्थ किया गया है, जो भाष्यविरुद्ध है।

(439) कर्त्तरि च *16* (710)

कर्त्तरि च यौ तृजकौ ताभ्यां सह षष्ठी न समस्यते। सामर्थ्यादकस्य विशेषणार्थं कर्तृग्रहणम्, इतरत्र व्यभिचाराभावात्। अपां स्रष्टा। पुरां भेत्ता। वज्रस्य भर्त्ता। ननु च भर्तृशब्दो ह्ययं याजकादिषु पठ्यते? सम्बन्धिशब्दस्य पतिपर्यायस्य तत्र ग्रहणम्। अकः खल्वपि–ओदनस्य भोजकः, सक्तूनां पायकः।

अर्थ—तृच् व अक प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ कर्त्ता अर्थ में जो षष्ठी, तदन्त सुबन्त का समास नहीं होता है। सामर्थ्यवशात् 'अक' के विशेषण के लिए कर्तृपद का पाठ है। अन्य अर्थात् 'तृच्' में तो व्यभिचार नहीं है। सार यह है कि 'अक' प्रत्यय कर्त्ता से अतिरिक्त अर्थों में भी होता है; परन्तु 'तृच्' केवल कर्त्ता अर्थ में ही होता है। अतः कर्तृपद 'अक' को विशेषित करता है।

उदा० (1) अपां स्रष्टा

'अपाम्' षष्ठ्यन्त पद है, जो कर्त्ता अर्थ में है। 'स्रष्टा' तृच्प्रत्ययान्त है। अतः समास नहीं हुआ।

(2) पुरां भेत्ता (पूर्ववत्)।

(3) वज्रस्य भर्त्ता (पूर्ववत्)।

यद्यपि 'भर्तृ' शब्द का पाठ याजकादिगण में भी है, परन्तु वहाँ यह 'पति' का पर्याय है।

(4) ओदनस्य भोजकः

अकप्रत्ययान्त का समास नहीं हुआ।

(5) सक्तूनां पायकः
समास नहीं हुआ।

(440) नित्यं क्रीडाजीविकयोः *17* (711)

नेति निवृत्तम्, न तृजकौ। नित्यं समासो विधीयते। क्रीडायां जीविकायां च नित्यं षष्ठी समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तृच् क्रीडाजीविकयोर्नास्तीत्यक एवोदाह्रियते। उद्दालकपुष्पभञ्जिका। वारणपुष्पप्रचायिका। जीविकायाम्–दन्तलेखकः, नखलेखकः। क्रीडाजीविकयोरिति किम्? ओदनस्य भोजकः।

अर्थ—'न' की निवृत्ति हो गई है। 'तृजकौ' की निवृत्ति नहीं हुई है। यहाँ नित्य समास होता है।

अक प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ 'क्रीडा' और 'जीविका' अर्थ में षष्ठ्यन्त सुबन्त का नित्य समास होता है और वह तत्पुरुष-संज्ञक होता है।

उदा० (1) उद्दालकपुष्पभञ्जिका
'क्रीडा' और 'जीविका' अर्थ में तृच् प्रत्यय नहीं होता है। अतः केवल अक प्रत्ययान्त का उदाहरण प्राप्त होता है—
'संज्ञायाम्' (3.3.109) से भाव में 'ण्वुल्' हुआ है।

(2) वारणपुष्पप्रचायिका (पूर्ववत्)।
(3) दन्तलेखकः (पूर्ववत्)।
(4) नखलेखकः (पूर्ववत्)।

क्रीडाजीवि० अर्थात् क्रीडा और जीविका अर्थों में ही समास होता है—

(1) ओदनस्य भोजकः
यहाँ समास नहीं हुआ।

(441) कुगतिप्रादयः *18* (761)

नित्यमिति वर्त्तते। कुशब्दोऽव्ययं परिगृह्यते, गत्यादिभिः साहचर्यात्, न द्रव्यवचनः। कुगतिप्रादयः समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कुः पापार्थे–कुपुरुषः। गति–उररीकृतम्, यदूरीकरोति। प्रादयः–दुर्निन्दायाम्–दुष्पुरुषः। स्वती पूजायाम्–सुपुरुषः, अतिपुरुषः। आङीषदर्थे–आपिङ्गलः। प्रायिकं चैतदुपाधिवचनम्, अन्यत्रापि हि समासो दृश्यते–कोष्णम्, कवोष्णम्, कदुष्णम्, दुष्कृतम्, सुष्टुतम्, अतिस्तुतम्, आबद्धम् इति। *प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया* (म०भा०) प्रगत आचार्यः प्राचार्यः। प्रान्तेवासी। *अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया* (म०भा०)। अतिक्रान्तः खट्वाम् अतिखट्वः। अतिमालः। *अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया* (म०भा०)। अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। *पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या* (म०भा०)। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। अलं कुमार्यै अलंकुमारिः। *निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या* (म०भा०)। निष्क्रान्तः कौशम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। निर्वाराणसिः। *इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्* (म० भा०)। वाससी इव। *प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः*। वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति।

अर्थ—'नित्यम्' पद का अनुवर्त्तन है। 'कु' अव्यय का ग्रहण है। यह द्रव्यवाची नहीं है।

कु (अव्यय), गतिसंज्ञक और 'प्र' आदि शब्द—इनका समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कुपुरुषः
कुत्सितः पुरुषः—समास हुआ,
कुपुरुष—'कु' की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात,
कुपुरुषः—सु।

(2) कापुरुषः
पूर्वोक्त स्थिति में 'विभाषा पुरुषे' के द्वारा विकल्प से 'का' आदेश होकर रूप बनता है।

(3) उररीकृतम्
उररी कृ क्त—'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से गतिसंज्ञा, प्रकृत सूत्र के द्वारा समास हुआ,
उररीकृतम्—सु।

(4) यद् ऊरीकरोति (पूर्ववत्)।

(5) दुष्पुरुषः
दुष्टः पुरुषः—'निन्दा' अर्थ में 'दुस्', समास हुआ। 'दुस्' की न तो उपसजर्गसंज्ञा है और न ही गतिसंज्ञा।
दुष्पुरुषः—'इदुदुपधस्य चाऽप्र०' से मूर्धन्य।

(6) सुपुरुषः
शोभनः पुरुषः—समास हुआ,
सुपुरुषः—सु।

(7) अतिपुरुष:
पूर्ववत् समास।

(8) आपिङ्गल:
'आङ्' (ईषत् अर्थ में) के साथ समास हुआ। ईषत् पिङ्गल: अस्वपद विग्रह है।

प्रायिकं—ये उपाधिवचन प्रायिक हैं। कारण कि, अन्य स्थलों पर भी समास उपलब्ध होता है। यथा—

(9) कोष्णम्
ईषद् उष्णम्—'ईषदर्थे' (6.3.105) से 'का' आदेश, समास,
का उष्ण → कोष्णम्—'आद् गुणः' से गुण।

(10) कवोष्णम्
पूर्वोक्त स्थल पर 'कवं चोष्णे' (6.3.107) से 'कव' आदेश, 'आद्गुणः' से गुणादेश हुआ।

(11) कदुष्णम्
पूर्वोक्त स्थल पर 'कत्तत्पुरुषेऽचि' (6.3.103) से 'कत्' होकर रूप बनता है।

(12) दुष्कृतम्
'निन्दा' अर्थ नहीं है, अपितु 'कृच्छ्र' अर्थ है।

(13) सुष्टुतम्
सु स्तुत—अतिशय अर्थ में 'सु' है। 'सुः पूजायाम्' की प्रवृत्ति नहीं हुई। उपसर्ग संज्ञा हुई, षत्व हुआ,
सुष्टुतम्—ष्टुत्व।

(14) अतिस्तुतम्
पूर्ववत् समास हुआ।

(15) आबद्धम् (पूर्ववत्)।

प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया—'गत' आदि अर्थों में वर्त्तमान 'प्र' आदि निपातों को प्रथमान्त सुबन्त के साथ नित्य तत्पुरुष समास होता है। 'गत' आदि कई अर्थ हैं, जो लौकिक प्रयोगों से ज्ञात होते हैं—

(16) प्राचार्य:
प्रगतः आचार्यः—(= 'आंगे' या 'दूर गया हुआ' आचार्य) यहाँ विप्रकृष्ट अर्थ में समास हुआ, 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते', 'उपसर्जनं पूर्वम्',
प्र आचार्य → प्राचार्यः।

(17) प्रान्तेवासी (पूर्ववत्)।

अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया—'क्रान्त' आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अति' आदि का द्वितीयान्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है—

(18) अतिखट्वः
अतिक्रान्तः खट्वाम्—समास हुआ,
अतिखट्वा → अतिखट्व सु → अतिखट्वः।

(19) अतिमालः (पूर्ववत्)।

अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया—'क्रुष्ट' आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अव' आदि निपातों का तृतीयान्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है—

(20) अवकोकिल:
अवक्रुष्टः कोकिलया—लौकिक विग्रह,
अव सु कोकिला टा—समास हुआ,
अवकोकिल → अवकोकिलः।

पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या—'ग्लान' आदि अर्थों में वर्त्तमान 'परि' आदि निपातों का चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है—

(21) पर्यध्ययन:
परिग्लानोऽध्ययनाय—पूर्ववत् समास।

(22) अलङ्कुमारि:
अलं कुमार्यै—पूर्ववत् समास।

निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या—'क्रान्त' आदि अर्थों में विद्यमान 'निर्' आदि निपातों का पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है—

(33) निष्कौशाम्बि:
निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—समास हुआ, एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते, उपसर्जनं पूर्वम्,
निर् कौशाम्बी → निष्कौशाम्बि—ह्रस्व, मूर्धन्य,
निष्कौशाम्बिः—सु।

(24) निर्वाराणसि: (पूर्ववत्)।

विशेष—उपर्युक्त सभी स्थलों में 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से परवत् लिङ्गता प्राप्त होती है, परन्तु 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगति०' (वा०) से निषेध होकर गति समास में विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है।

इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्—इव के साथ समास होता है, विभक्ति का लोप नहीं होता तथा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है। यथा—

(25) वाससी इव

वाससी इव—यहाँ समास हुआ, विभक्ति लोप नहीं हुआ, 'असुन्' प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (6.1.197) से आदि उदात्त होकर रूप बना।

प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः—'प्र' आदि के प्रसङ्ग में कर्मप्रवचनीय शब्दों के समास का प्रतिषेध होता है—

(26) वृक्षं प्रति (विद्योतते विद्युत्)

'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, समास नहीं हुआ।

(27) मातरं प्रति (साधुर्देवदत्तः)

पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

विशेष—कुगतिप्रादयः' के द्वारा गतिसंज्ञक शब्द का सुबन्त के साथ ही समास होता है, तिङन्त के साथ नहीं होता। निष्ठाप्रत्ययान्त, क्त्वाप्रत्ययान्त, तुमुन् प्रत्ययान्त तथा सत् संज्ञक प्रत्ययान्त शब्द ही सुबन्त होते हैं।

तिङन्त की दशा में गतिसंज्ञक का समास नहीं होता है। यहाँ गतिसंज्ञा तो बनी रहती है, परन्तु समास न होने के कारण समास-जन्य कार्यों की प्रवृत्ति नहीं होती है। समास न होने पर भी 'ते प्राग्धातोः' से धातु से पूर्व गतिवाचक शब्द निर्बाध रहते हैं।

(442) उपपदमतिङ् *19* (782)

नित्यमिति वर्तते। उपपदमतिङन्तं समर्थेन शब्दान्तरेण सह समस्यते नित्यम्, तत्पुरुषश्च समासो भवति। कुम्भकारः। नगरकारः। अतिङिति किम्? एधानाहारको व्रजति। ननु च 'सुप् सुपा' इति वर्त्तते, तत्र कुतस्तिङन्तेन सह समासप्रसङ्गः? एवं तर्हि ज्ञापयति–एतयोर्योगयोः सुप् सुपेति न सम्बध्यत इति। तेन 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इत्येतदुपपन्नं भवति–अश्वक्रीती, धनक्रीती।

अर्थ—तिङ्भिन्न उपपद का समर्थ शब्दान्तर के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) कुम्भकारः

कुम्भं करोति—'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' अधिकार के अन्तर्गत 'कुम्भ' कर्म के उपपद रहते 'कृ' से 'कर्मण्यण्' से कर्त्ता अर्थ में 'अण्' कृत् प्रत्यय हुआ,

कुम्भ ङस् कार सु—हलन्त्यम्, तस्य लोपः, अचो ञ्णिति, 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी हुई, समास हुआ,

कुम्भकार सु → कुम्भकारः।

(2) नगरकारः (पूर्ववत्)।

ननु च—अवश्य ही 'सुप्' व 'सुपा' पदों की अनुवृत्ति है। अतः तिङन्त के साथ समास किस प्रकार होता है?

कुछ विद्वान् 'अतिङ्' को 'समासः' पद का विशेषण मानते हैं तथा यहाँ बहुव्रीहि समास स्वीकार करते हैं।[1] सूत्र में 'अतिङ्' का ग्रहण होने से 'सह सुपा' से अनुवृत्त 'सुपा' पद का बाध हो जाता है। यदि 'सुपा' का अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं तो सुबन्त (= अतिङ्) का सुबन्त (= अतिङ्) के साथ समास होता है। तब प्रकृत सूत्र में 'अतिङ्' पद का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

एजज्ज्ञाप—अतः इस पद के योग से ज्ञापित होता है कि यहाँ 'सुपा' पद का अनुवर्त्तन नहीं है।

अब शङ्का होती है कि उत्तर पद में क्या हो? 'समर्थः पदविधिः' तथा अनुवर्त्तमान 'सह' पद के प्रभाववशात् 'समर्थः' पद का तृतीयान्त में विभक्तिविपरिणाम करके सूत्रार्थ होता है—

उपपद सुबन्त का समर्थ पद के साथ नित्य समास होता है और वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है तथा उस उपपद समास का उत्तर पद तिङन्त नहीं होता है।

तेन गतिकारकोप—प्रस्तुत सूत्र में 'अतिङ्' पद के ग्रहण के तीन प्रयोजन हैं—

(क) गति—'कुगतिप्रादयः' का योगविभाग (कुगति। प्रादयः) करके 'गतिः' पद के साथ 'अतिङ्' का अनुवर्त्तन किया जाता है। तब इसका अर्थ होता है—गत्यर्थक सुबन्त का तिङ्भिन्न के साथ समास होता है।

(ख) कारक—कारक का तिङ्भिन्न के साथ समास होता है।

(ग) उपपद—उपपद का तिङ्भिन्न के साथ समास होता है।

उपर्युक्त तीनों प्रयोजनों के द्वारा निम्नलिखित परिभाषा उत्पन्न होती है—

'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' अर्थात् गति, कारक और उपपद—इनका कृदन्त के साथ यदि समास हो तो कृदन्त से सुप् उत्पत्ति करने से पूर्व ही समास होता है।

इसके अनुसार पूर्वपद गति, कारक या उपपद होता है; जो सुबन्त ही हैं। यदि उत्तर पद में कृदन्त हो तो उससे सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति करने से पूर्व समास हो जाता है। यथा—

1. अविद्यमानं तिङ् यस्मिन् सः—अतिङ्।

(3) व्याघ्री

विशेषेण समन्तात् जिघ्रति—लौकिक विग्रह,

वि आ घ्रा क—'आतश्चोपसर्गे—' से 'क', 'आतो लोप इटि च' से आकारलोप,

वि आ घ्र् अ—उपपद 'आ' का 'घ्र' कृदन्त के साथ सुबुत्पत्ति से पूर्व 'उपपदमतिङ्' से समास हुआ,

वि आघ्र—'कुगतिप्रादयः' से गतिसंज्ञक 'वि' का समास हुआ, 'इको यणचि' से यणादेश,

व्याघ्र—समासत्वात् विभक्ति की उत्पत्ति से पूर्व लिङ्गनिर्धारण आवश्यक है, स्त्रीत्व की विवक्षा में 'जातेरस्त्रीविषय०' से 'ङीष्', 'यस्येति च',

व्याघ्र ङीष् → व्याघ्र् ई → व्याघ्री—सु,

व्याघ्री—सु का लुक्।

'आ घ्र' इस दशा में कृदन्त से यदि सुबुत्पत्ति करके पश्चात् समास करते हैं तो 'घ्र' इस कृदन्त पद से स्त्रीप्रत्यय नहीं प्राप्त होता। कारण कि असमास की दशा में 'घ्र' जातिवाचक नहीं होने के कारण 'ङीष्' न होकर सामान्य 'टाप्' प्राप्त होकर अनिष्ट रूप बनता है। अतः प्रथम समास किया जाता है।

(4) अश्वक्रीती

अश्वेन क्रीता—'क्रीत' कृदन्त शब्द है, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' से समास हुआ,

अश्व टा क्रीत सु—सुप् का लुक्,

अश्वक्रीत ङीष् → अश्वक्रीती—'क्रीतात् करणपूर्वात्' से 'ङीष्',

अश्वक्रीती—सु, सुलुक्।

अश्वेन क्रीता—इस दशा में समास से पूर्व 'सुप्' की उत्पत्ति कर ली जाती है तो 'ङीष्' न होकर सामान्य 'टाप्' होकर अनिष्ट रूप बन जाता है। अतः प्रथम समास होता है, पश्चात् 'सुप्' की उत्पत्ति होती है।

(5) धनक्रीती (पूर्ववत्)।

(6) कच्छपी

कच्छेन पिबति—लौकिक विग्रह,

कच्छ टा पा क सु—'सुपि स्थः' से 'क', 'आतो लोप इटि च' से आकारलोप,

कच्छ टा प—सुबुत्पत्ति से पूर्व 'उपपदमतिङ्' से समास, जातिलक्षण से 'ङीष्',

कच्छप ई → कच्छपी—सु, सुलुक्।

पूर्ववत् सुप् की उत्पत्ति से पूर्व समास हुआ।

(443) अमैवाव्ययेन *20* (783)

पूर्वेणैव समासे सिद्धे नियमार्थं वचनम्। अव्ययेनोपपदस्य यः समासः सोऽमैव भवति, नान्येन। स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते। लवणङ्कारं भुङ्क्ते। अमैवेति किम्? 'कालसमयवेलासु तुमुन्' (3.3.67)-कालो भोक्तुम्। एवकारकरणमुपपदविशेषणार्थम्। अमैव यत्तुल्यविधानमुपपदं तस्य समासो यथा स्यात्, अमा चान्येन च यत्तुल्यविधानं तस्य मा भूत्-अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा समास सिद्ध होने पर भी नियमार्थ विधान किया जा रहा है।

यदि उपपद का अव्यय के साथ समास हो तो वह अमन्त (णमुल् आदि) अव्यय के साथ ही होता है, अन्य के साथ नहीं।

उदा० (1) स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते

अस्वाद्वीं स्वाद्वीं कृत्वा भुङ्क्ते—

स्वादी अम् कृ—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्, स्वादुमि णमुल्, निपातन से 'स्वादुम्' भी हो गया,

स्वादुम् अम् कृ णमुल्—चुटू, हलन्त्यम्, कृदतिङ्, कृन्मेजन्तः, अमैवाऽव्ययेन,

स्वादुम् कृ अम् → स्वादुम् कारम्—अचो ञ्णिति,

स्वादुङ्कारम्—मोऽनुस्वारः, सु, सुलुक्।

(2) सम्पन्नङ्कारम् (पूर्ववत्)।

(3) लवणङ्कारम् (पूर्ववत्)।

अमैवेति अर्थात् अम् (= णमुल्) प्रत्ययान्त अव्यय के साथ ही समास होता है—

कालो भोक्तुम्

यहाँ 'भोक्तुम्' में 'तुमुन्' है। समास नहीं हुआ।

सूत्र में 'एव' पद उपपद के विशेषण के लिए है। जिस सूत्र के द्वारा केवल 'अम्' (अर्थात् णमुलादि) प्रत्ययों का विधान हो, वहाँ ही तदन्त के साथ समास होता है तथा जहाँ 'क्त्वा' व 'णमुल्'—इन दोनों प्रत्ययों का एक साथ विधान हो, वहाँ इस सूत्र से समास नहीं होता है। यथा—

अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम्—'विभाषाऽग्रे०' सूत्र के द्वारा 'णमुल्' व 'क्त्वा' दोनों प्रत्ययों का विधान होता है। अतः अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम् में समास नहीं हुआ। भाव यह है कि जिससे अम्' का विधान होता है, उसी के द्वारा जिस उपपद का निर्देश

किया जाता है, वही उपपद 'अम्' के साथ तुल्य विधान वाला होता है तथा उसी का समास होता है।

यदि कोई दूसरा प्रत्यय भी किया जाता है तो उसके साथ समास नहीं होता है। यही 'एव' का फल है।

(444) तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् *21* (784)

अमैवेत्यनुवर्त्तते। 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (3.4.47) इत्यतः प्रभृति यान्युपपदानि तान्यमैवाव्ययेन सहान्यतरस्यां समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। उभयत्र विभाषेयम्। यदमैव तुल्यविधानमुपपदं तस्य प्राप्ते, यथा-'उपदंशस्तृतीयायाम्' इति। यत्पुनरमा चान्येन च तुल्यविधानं तस्याप्राप्ते यथा-'अव्यये यथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' (3.4.69) इति। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते। उच्चैःकारमाचष्टे, उच्चैः कारम्। अमैवेत्येव-'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु'-पर्याप्तो भोक्तुम्, प्रभुर्भोक्तुम्।

अर्थ—'अमैव' पद का अनुवर्त्तन है। 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (3.4.47) से लेकर 'अन्वच्यानुलोम्ये' (3.4.64) तक विहित उपपदों का अम् अन्त वाले अव्ययों के साथ समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

यह उभयत्र विभाषा है अर्थात् प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। जहाँ 'अम्' के तुल्य विधान वाला उपपद है, उससे प्राप्त समास का विकल्प किया गया है (द्र०—उपदशंस्तृतीयायाम्) तथा 'अम्' व अन्य के तुल्य विधान वाला है, उससे समास अप्राप्त रहने पर विकल्प किया गया है। (द्र०—'अव्यये यथाऽभिप्रेताख्याने०')।

उदा० (1) मूलकोपदंशं भुङ्क्ते

मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—'उपदंशस्तृतीयायाम्' के द्वारा उपपूर्वक 'दंश्' धातु से 'णमुल्' हुआ, समास हुआ,

मूलक उपदंशम्—'आद् गुणः' से गुणादेश,

मूलकोपदंशम्—अव्यय, सु, सुलुक्।

(2) उच्चैः कारमाचष्टे

उच्चैः कारम्—समास।

अर्थात् अमन्त अव्यय के साथ ही समास होता है—

पर्याप्तो भोक्तुम्—यहाँ नहीं हुआ।

प्रस्तुत सूत्र के महाविभाषा के अधिकार में होते हुए भी इस सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' का योग पूर्वशास्त्र से अनुवृत्त 'नित्यम्' पद की निवृत्ति के लिए है।

(445) क्त्वा च *22* (785)

अमैवेति पूर्वयोगेऽनुवृत्तम्, तेनान्यत्र न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते। क्त्वाप्रत्ययेन सह तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि अन्यतरस्यां समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। उच्चैःकृत्य। उच्चैः कृत्वा। 'अव्यये यथाभिप्रेताख्याने' (3.4.59) इति क्त्वाप्रत्ययः। समासपक्षे ल्यबेव। तृतीयाप्रभृतीनीत्येव-अलं कृत्वा, खलु कृत्वा।

अर्थ—'अमैव' यह पूर्व सूत्र में अनुवृत्त होता है। अतः अन्य प्रत्यय के रहने पर समास नहीं होता है। अतः यह नियम बनाया जा रहा है।

क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द के साथ (पूर्व सूत्र में कथित) तृतीया आदि उपपदों का समास विकल्प से होता है तथा वह तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

उदा० (1) उच्चैःकृत्य

उच्चैस् कृ क्त्वा—'अव्यये यथाभिप्रेताख्याने' से 'क्त्वा' प्रत्यय, समास हुआ,

उच्चैस् कृ ल्यप्—'समासेऽनञ् पूर्वे०' से 'ल्यप्', 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से 'तुक्',

उच्चैःकृत्य—अव्यय संज्ञा, सु, सुलुक्।

(2) उच्चैः कृत्वा

पक्ष में समास नहीं हुआ। तब 'ल्यप्' भी नहीं हुआ। अर्थात् तृतीयाप्रभृति उपपदों का ही समास होता है—

(3) अलं कृत्वा

यहाँ समास नहीं हुआ, 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः०'।

(4) खलु कृत्वा

यहाँ भी पूर्ववत् समास नहीं हुआ।

(446) शेषो बहुव्रीहिः *23* (829)

उपयुक्तादन्यः शेषः। शेषः समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति। कश्च शेषः? यत्रान्यः समासो नोक्तः। वक्ष्यति-'अनेकमन्यपदार्थे' (2.2.24)-चित्रगुः, शबलगुः, कृष्णोत्तरासङ्गः। शेष इति किम्? उन्मत्तगङ्गम्, लोहितगङ्गम्। बहुव्रीहिप्रदेशाः-'न बहुव्रीहौ' (1.1.29) इत्येवमादयः।

अर्थ—उपयुक्त से भिन्न को 'शेष' कहते हैं। यह अधिकारसूत्र है। इसका अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः' (2.2.29) तक चलता है। शेष जो समास उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है। 'शेष' क्या

है ? जो कहा नहीं गया है, उसे 'शेष' कहते हैं। आगे 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यादि कहा जायेगा।

विशेष—इस प्रकरण में 'द्वितीया श्रितातीत०' इत्यादि सूत्रों के द्वारा सभी विभक्तियों का उल्लेख करके समास का विधान किया जा चुका है; केवल प्रथमा का उल्लेख करके समास का विधान नहीं किया गया है। अत: प्रथमा (अर्थात् प्रथमान्त) को ही 'शेष' कहा जायेगा।

बहुव्रीहि समास में समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ का ज्ञान होता है। अत: इसे अन्य पद प्रधान कहते हैं। ध्यातव्य है कि बहुव्रीहि समास में सब प्रथमान्त समानाधिकरण (अर्थात् एक ही वाच्य के वाचक) होते हैं। प्रथमान्त शब्दों में कर्मधारय समास भी होता है। अन्तर यह है कि कर्मधारय में 'प्रथमा' का उल्लेख करके समास नहीं किया गया है।

अन्य पद के अर्थ को प्रकट करने के लिए इस समास के विग्रहवाक्य में प्राय: 'यद्' सर्वनाम के सुबन्त रूपों (यम्, येन, यस्मै) का अर्थानुसार प्रयोग किया जाता है। विग्रहवाक्य के अन्त में विशेष्यानुसार तद् के प्रथमान्त रूपों (स:, सा, तद्) का प्रयोग होता है।

बहुव्रीहि समास निम्नलिखित चार प्रकार का होता है—

(क) समानाधिकरण बहुव्रीहि—इसमें समस्यमान सभी पदों में एकसमान विभक्ति होती है। यथा—दशानन: (दश आननानि यस्य स:)।

(ख) व्यधिकरण बहुव्रीहि—इसमें समस्यमान सभी पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होता है। यथा—पुस्तकपाणि: (पुस्तकं पाणौ यस्या: सा)।

(ग) तुल्ययोग बहुव्रीहि—समान सम्बन्ध की दशा में तुल्ययोग बहुव्रीहि होता है। यथा—सपुत्र: (पुत्रेण सह विद्यमान:)।

(घ) व्यतीहार बहुव्रीहि—जहाँ साध्य-साधन-भाव में विनिमय हो, वहाँ व्यतीहार बहुव्रीहि होता है अर्थात् एक-दूसरे से सम्बन्धित क्रिया को अन्य कोई करता है तथ दूसरे के लिए नियत क्रिया को प्रथम व्यक्ति करता है तो 'कर्मव्यतीहार' होता है। इस अवस्था में 'व्यतीहार बहुव्रीहि' समास होता है। यथा—दण्डादण्डि (दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य प्रवृत्तमिदं युद्धम्)।

उदा० (1) चित्रगु:
चित्रा गावो यस्य स:—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास हुआ,
चित्रा जस् गो जस्—सुप् लुक्, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से 'गो' की उपसर्जन संज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से इसका पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, 'सप्तमी विशेषणे०' से 'चित्रा' का पूर्वनिपात,
चित्रगु:—'गोस्त्रियोरुप०' से ह्रस्व, 'स्त्रिया: पुँवद्०', सु।

(2) शबलगु:
शबला गावो यस्य स:—पूर्ववत्,
शबलगु:—सु।

(3) कृष्णोत्तरासङ्ग:
यहाँ समास हुआ।
बहुव्रीहि संज्ञा हुई।
शेष—अर्थात् शेष की ही बहुव्रीहि संज्ञा होती है—

(4) उन्मत्तगङ्गम्
उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे—समास हुआ,
उन्मत्त गङ्गा—पुँवद्भाव हुआ,
उन्मत्तगङ्ग—ह्रस्व हुआ,
उन्मत्तगङ्गम्—सु हुआ।

(447) अनेकमन्यपदार्थे *24* (830)

अनेकं सुबन्तमन्यपदार्थे वर्तमानं समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। प्रथमार्थमेकं वर्जयित्वा सर्वेषु विभक्त्यर्थेषु बहुव्रीहिर्भवति। प्राप्तमुदकं यं ग्रामं प्राप्तोदको ग्राम:। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्र:। उद्धृतौदना स्थाली। चित्रगुर्देवदत्त:। वीरपुरुषको ग्राम:। प्रथमार्थे तु न भवति–वृष्टे देवे गत:। अनेकग्रहणं किम् ? बहूनामपि यथा स्यात्–

सुसूक्ष्मजटकेशेन सुगजाजिनवाससा।
समन्तशितिरन्ध्रेण द्वयोर्वृत्तौ न सिध्यति॥
(म०भा०)

***बहुव्रीहि: समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। व्यधिकरणानां मा भूत्–पञ्चभिर्भुक्तमस्य। *अव्ययानां च बहुव्रीहिर्वक्तव्य* (म०भा०)। उच्चैर्मुख:। नीचैर्मुख:। *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्य:* (म०भा०)। कण्ठे स्थित: कालोऽस्य कण्ठेकाल:। उरसिलोमा। उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुख:। खरमुख:। *समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। केशानां सङ्घात: केशसङ्घात:, केशसङ्घातश्चूडाऽस्य केशचूड:। सुवर्णस्य विकारोऽलङ्कारोऽस्य सुवर्णालङ्कार:। *प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्य:* (म०**

भा०)। प्रपतितं पर्णमस्य प्रपर्णः, प्रपतितपर्णः। प्रपतितं पलाशमस्य प्रपलाशः, प्रपतितपलाशः। *नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः* (म०भा०)। अविद्यमानः पुत्रो यस्य अपुत्रः, अविद्यमानपुत्रः। अभार्यः, अविद्यमानभार्यः। *सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनां बहुव्रीहिर्वक्तव्यः* (म०भा०)। अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी। अस्त्यादयो निपाताः।

अर्थ—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान एक से अधिक प्रथमान्त पदों का समास विकल्प से होता है और वह बहुव्रीहिसंज्ञक होता है। बहुव्रीहि में अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है। अतः इसके सभी पदों का अर्थ गौण हो जाता है।[1]

एकमात्र प्रथमा विभक्ति के अर्थ को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों के अर्थों में बहुव्रीहि समास होता है।

उदा० (1) प्राप्तोदकः (ग्रामः)
प्राप्तम् उदकं यं सः (ग्रामः)—लौकिक विग्रह,
प्राप्त सु उदक सु—प्रकृत सूत्र के द्वारा समास हुआ,
प्राप्त उदक—'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' से विशेषण का पूर्वनिपात, 'आद् गुणः' से गुणादेश,
प्राप्तोदकः—विशेष्यानुसार लिङ्ग व विभक्ति।

(2) ऊढरथोऽनड्वान्
ऊढो रथो येन सः—समास,
ऊढरथः—सु।

(3) उपहृतपशू रुद्रः
उपहृतः पशुर्यस्मै सः—समास,
उपहृतपशुः रुद्रः—सकार, रुत्व, 'रो रि' से रेफ का लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से दीर्घ'।

(4) उद्धृतौदना स्थाली
उद्धृत ओदनो यस्याः सा—समास,
उद्धृत ओदन—आद् गुणः, विशेष्यानुसार स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ,
उद्धृतौदना—सु, सुलुक्।

(5) चित्रगुर्देवदत्तः
चित्रा गावो यस्य सः—2.2.23 पर सिद्धि देखें।

(6) वीरपुरुषको ग्रामः
वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः—समास,
वीरपुरुष कप्—'कप्' हुआ,
वीरपुरुषकः—सु।

प्रथमार्थे—प्रथमा के अर्थ में बहुव्रीहि नहीं होता है। यथा—

(1) वृष्टे देवे गतः
यहाँ बहुव्रीहि समास नहीं हुआ।

अनेक—अर्थात् **एक से अधिक** सुबन्त पदों का ही बहुव्रीहि समास होता है। इस प्रकार बहुत पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है। यथा—

(1) सुसूक्ष्मजटकेशेन
सुष्ठु सूक्ष्मा जटाः केशा अस्येति—इस प्रकार चार पदों में बहुव्रीहि समास हुआ, 'ङ्यापो संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इस प्रकार बहुल वचन से ह्रस्व हुआ।

सुष्ठु सूक्ष्मा जटा येषु ते—यह विग्रह भी सम्भव है। तब सुसूक्ष्म जटास्तादृशा केशा अस्येति—समास हुआ।

(2) सुगजाजिनवाससा
सुष्ठु गजाजिनं वास आच्छादनं यस्य—विग्रह हुआ। प्रथम 'गजस्य अजिनं गजाजिनम्' इस प्रकार तत्पुरुष होता है।

महाभाष्य में इस श्लोक का पूर्वार्द्ध ही प्राप्त होता है। काशिकाकार ने उत्तरार्द्ध को जोड़ दिया है।

बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम्—समानाधिकरण पदों का भी बहुव्रीहि होता है, ताकि व्यधिकरण पदों का बहुव्रीहि न हो—

(1) पञ्चभिर्भुक्तमस्य
यहाँ पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ है। अतः समास नहीं हुआ।

अव्ययानां च बहुव्रीहिर्वक्तव्यः—अव्ययों का भी बहुव्रीहि होता है। यथा—

(2) उच्चैर्मुखः
उच्चैर्मुखम् यस्य सः—अव्यय का समास हुआ।
उच्चैर्मुख सु — उच्चैर्मुखः।

सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः—सप्तमी विभक्त्यन्त और उपमानवाची जिसका पूर्वपद है, उसका किसी के साथ समास होने की दशा में इसके उत्तरपद का लोप होता है—

(3) कण्ठेकालः
कण्ठे स्थितः कालोऽस्य—उत्तरपद 'स्थित' का लोप हुआ, 'अमूर्धमस्तकात्' से सप्तमी का अलुक् हुआ,

1. सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः।

(4) उरसिलोमा

उरसि स्थितानि लोमानि यस्य—'स्थित' पद का लोप हुआ, पूर्ववत् अलुक्,

उरसिलोमा—सु।

(5) उष्ट्रमुख:

उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य—उत्तरपद 'मुख' का लोप हुआ, उष्ट्रमुख:—सु।

(6) खरमुख: (पूर्ववत्)।

समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्—संघातपदान्त या विकारपदान्त षष्ठ्यन्त पद का समास होता है तथा उत्तरपद को लोप होता है—

(7) केशचूड:

केशानां सङ्घात:—केशसङ्घात:, तत्पुरुष समास हुआ,

केशसङ्घातश्चूडाऽस्य—बहुव्रीहिं समास हुआ, संघात शब्द का लोप हुआ,

केशचूड:—ह्रस्व, सु।

'केश' संघात है तथा 'चूडा' अवयव है।

(8) सुवर्णालङ्कार:

सुवर्णस्य विकारोऽलङ्कारोऽस्य—समास हुआ, 'सुवर्ण' प्रकृति है तथा 'अलङ्कार' विकार है, उत्तरपद (विकार) का लोप हुआ,

सुवर्णालङ्कार:—सु।

प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्य:—'प्र' आदि से पर जो धातुज (अर्थात् कृदन्त शब्द); तदन्त प्रथमा विभक्त्यन्त के साथ समास विकल्प से होता है और पूर्वपद में स्थित कृदन्त उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है तथा वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

(9) प्रपर्ण:

प्रपतितं पर्णमस्य—यहाँ प्रथम 'प्रकृष्टं पतितम्—प्रपतितम्' इस प्रकार 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' से समास हुआ, अब बहुव्रीहि समास हुआ,

प्रपर्ण:—उत्तरपद का वैकल्पिक लोप तथा सु।

इसका दूसरे प्रकार से विग्रह होता है—प्रपतितानि पर्णानि यस्य स:।

(10) प्रपतितपर्ण:

पक्ष में उत्तरपद का लोप नहीं हुआ।

(11) प्रपलाश:

प्रपतितं पलाशमस्य—पूर्ववत्।

(12) प्रपतितपलाश:

पक्ष में उत्तरपद का लोप नहीं हुआ।

नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्य:—अस्त्यर्थक व विद्यमानार्थक शब्द जो 'नञ्' अव्यय से परे हों, तदन्त प्रथमान्त का अन्य प्रथमान्त के साथ समास विकल्प से होता है और पूर्वपद में स्थित उत्तरपद का लोप विकल्प से होता है तथा वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

(13) अविद्यमान: पुत्रो यस्य स:—सर्वप्रथम 'न विद्यमान:—अविद्यमान:' इस प्रकार नञ् तत्पुरुष होता है, नञ्, नलोपो नञ:, तब विकल्प से समास हुआ, बहुव्रीहिसंज्ञा हुई,

अपुत्र—उत्तर पद (विद्यमान) का लोप हुआ,

अपुत्र:—सु।

(14) अविद्यमानपुत्र:

पक्ष में उत्तर पद का लोप नहीं हुआ।

समासाभावपक्ष में विग्रहवाक्य रहा।

(15) अभार्य:

अविद्यमाना भार्या यस्य स:—पूर्ववत्।

(16) अविद्यमानभार्य:

पक्ष में उत्तर पद का लोप नहीं हुआ।

सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनां बहुव्रीहिर्वक्तव्य:—'सुप्' के अधिकार में 'अस्तिक्षीरा' आदि शब्दों में बहुव्रीहि समास होता है—

(17) अस्तिक्षीरा

'अस्ति' शब्द विभक्तिप्रतिरूपक है। समास हुआ।

(448) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्या: संख्येये *25* (843)

संख्येये या संख्या वर्तते तथा सहाव्ययासन्नादूराधिकसंख्या: समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। अव्यय-उपदशा:। उपविंशा:। आसन्नदशा:। आसन्नविंशा:। अदूरदशा:। अदूरविंशा:। अधिकदशा:। अधिकविंशा:। संख्या-द्वित्रा:। त्रिचतुरा:। द्विदशा:। संख्येति किम्? पञ्च ब्राह्मणा:। अव्ययासन्नादूराधिकसंख्या इति किम्? ब्राह्मणा: पञ्च। संख्येये इति किम्? अधिका विंशतिर्गवाम्।

अर्थ—संख्येय अर्थ में वर्तमान जो संख्यावाची सुबन्त, उसके

साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक तथा संख्यावाचक—इन सुबन्त शब्दों का समास होता है और उसकी बहुव्रीहिसंज्ञा होती है।

विशेष—संख्येय = जो गिना जा सके। विंशति से पूर्व (अर्थात् 'एक' से लेकर (एकोनविंशति-पर्यन्त) सभी शब्द संख्येय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। विशेषण होने से विशेष्य के अनुसार इनसे लिङ्ग होता है।

विंशति के पश्चात् शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थों में नित्य एकवचनान्त होते हैं तथा स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं।[1] यथा—विंशतिः जनाः, विंशतिः स्त्रियः, विंशतिः फलानि।

इसका दूसरे प्रकार से भी प्रयोग होता है—जनानां विंशतिः।

संख्यावाची 'त्रिंशति' आदि शब्द द्विवचन व बहुवचन में भी होते हैं—

रूप्यकाणां द्वे विंशती (= चालीस रुपये)।
रूप्यकाणां तिस्रो विंशतयः (= साठ रुपये)।

उदा० (1) उपदशाः (= अर्थात् नौ और ग्यारह)
दशानां समीपे ये वर्त्तन्ते ते—लौकिक विग्रह,
दशन् आम् उप सु—समास हुआ,
दशन् उप → उपदशन्—'उप' का पूर्वनिपात,
उपदश डच्—'नलोपो प्रातिपदिकान्तस्य' से 'न्' का लोप, 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये—' से 'डच्',
उपदश् अ → उपदशाः—बहुवचन में जस्।

(2) उपविंशाः
विंशतीनां समीपे ये वर्त्तन्ते—समास हुआ,
उपविंशति डच्—'ति विंशतेर्डिति',
उपविंश अ → उपविंश—अतो गुणे,
उपविंशाः—जस्।

(3) आसन्नदशाः
दशानामासन्नाः—समास हुआ,
आसन्नदशाः—'आसन्न' शब्द का पूर्वनिपात, 'जस्' होकर।

(4) आसन्नविंशाः
विंशतीनाम् आसन्नाः—पूर्ववत् समास।

(5) अदूरदशाः
दशानाम् अदूराः—पूर्ववत् समास।

(6) अदूरविंशाः (पूर्ववत्)।

(7) अधिकदशाः
दशभ्योऽधिकाः—समास हुआ।

(8) अधिकविंशाः
विंशतेरधिकाः—समास हुआ।

(9) द्वित्राः
द्वौ वा त्रयो वा—समास हुआ,
द्वि त्रि डच् → द्वित्र् अ—टि का लोप,
द्वित्राः—'जस्' हुआ।

(10) त्रिचतुराः
त्रयो वा चत्वारो वा—संशय अर्थ में 'वा' का प्रयोग है,
त्रिचतुर् अ जस्—डच्, ढिलोप,
त्रिचतुराः—जस्।

(11) द्विदशाः
द्विरावृत्ता दश—समास हुआ, समासत्वात् 'सुच्' का श्रवण नहीं होता है,
द्विदशन् डच् → द्विदश् अ जस्—द्विदशाः।

सङ्ख्यया० अर्थात् पूर्वोक्त समास संख्या के साथ ही होता है—

(12) पञ्च ब्राह्मणाः
यहाँ समास नहीं हुआ।

अव्यया० अर्थात् अव्यय आदि का समास होता है—
(13) ब्राह्मणाः पञ्च
समास नहीं हुआ।

संख्येय अर्थात् संख्येय अर्थ में ही पूर्वोक्त समास होता है—

(14) अधिका विंशतिर्गवाम्
यहाँ संख्येय अर्थ नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(449) दिङ्नामान्यन्तराले *26* (845)

दिशां नामानि दिङ्नामानि। दिङ्नामानि सुबन्तानि अन्तराले वाच्ये समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा दिक्। पूर्वोत्तरा। उत्तरपश्चिमा। पश्चिमदक्षिणा। *सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः* (म०भा०)। नामग्रहणं रूढ्यर्थम्, इह मा भूत्—ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति।

1. आदशभ्यः संख्याः संख्येये वर्त्तन्ते। ऊर्ध्वं संख्याने संख्येये च इति महाभाष्यम्।

अर्थ—दिशाओं के नाम को 'दिङ्नाम' कहते हैं।

'अन्तराल' अर्थ गम्यमान हो तो दिशा के नामवाची सुबन्त शब्दों का परस्पर समास विकल्प से होता है और वह बहुव्रीहि-संज्ञक होता है।

उदा० (1) दक्षिणपूर्वा दिक्
दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशयोरन्तरालम्—'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुँवद्भावः' के द्वारा पूर्वपद को पुँवद्भाव हुआ,
दक्षिणपूर्वा—सु, सुलुक्।

(2) पूर्वोत्तरा दिक्
पूर्वस्याश्चोत्तरस्याश्च दिशयोरन्तरालम्—पूर्ववत्।

(3) उत्तरपश्चिमा (पूर्ववत्)।
(4) पश्चिमदक्षिणा (पूर्ववत्)।

सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः—सर्वनाम स्त्रीशब्दों को वृत्तिमात्र में पुँवद्भाव होता है। रूढि के लिए नाम का ग्रहण किया गया है। भाव यह है कि 'दिङ्नामानि' के स्थान पर केवल 'दिक्' शब्द के पाठ से भी काम चल जाता है, तदपि 'नाम' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि पूर्वोक्त समास दिशावाची रूढि शब्दों से ही होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—
ऐन्द्रयाश्च कौबेर्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्।

(450) तत्र तेनेदमिति सरूपे *27* (846)

तत्रेति सप्तम्यन्तं गृह्यते, तेनेति तृतीयान्तम्। सरूपग्रहणं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। तत्रेति सप्तम्यन्ते सरूपे पदे तेनेति च तृतीयान्ते इदमित्येतस्मिन्नर्थे समस्येते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। इतिकरणश्चेह विवक्षार्थो लौकिकमर्थमनुसारयति। ततो ग्रहणं प्रहरणं कर्मव्यतीहारो युद्धं च समासार्थ इति सर्वमितिकरणाल्लभ्यते। यत्तत्रेति निर्दिष्टं ग्रहणं चेत्तद्भवति, यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति, यदिदमिति निर्दिष्टं युद्धं चेत्तद्भवति। केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि। कचाकचि। दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं वृत्तं दण्डादण्डि। मुसलामुसलि। 'इच् कर्मव्यतीहारे' (5.4.127) इति इच् समासान्तः, स चाव्ययम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.135) इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। सरूपग्रहणं किम्? हलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं वृत्तम्।

अर्थ—'तत्र' यहाँ सप्तम्यन्त अर्थ लिया जाता है। 'तेन' के द्वारा 'तृतीयान्त' का ग्रहण होता है। 'सरूप' पद का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है।

सप्तम्यन्त तृतीयान्त सरूप सुबन्तों का परस्पर 'यह' इस अर्थ में समास विकल्प से होता है तथा वह बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

सूत्रस्थ 'इति' पद विवक्षार्थ है, जो लौकिक अर्थ का अनुसरण कराता है। इस प्रकार समास का अर्थ है—ग्रहण, प्रहरण, कर्मव्यतीहार और युद्ध। यह अर्थ सूत्र में 'इति' पद के योग से प्राप्त होता है।

जहाँ 'तत्र' (अर्थात् सप्तम्यन्त) से निर्दिष्ट है, वह यदि 'ग्रहण' होता है। जहाँ 'तेन' (अर्थात् तृतीयान्त) से निर्दिष्ट है, वह यदि 'प्रहरण' होता है।
जहाँ 'इदम्' से निर्दिष्ट है, वह यदि 'युद्ध' होता है।

उदा० (1) केशाकेशि
केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्—समास हुआ,
केश सुप् केश सुप् → केशकेश—'अन्येषामपि दृश्यते'—
केशाकेश इच्—इच् कर्मव्यतीहारे (5.4.127), चूँकि 'इच्' का पाठ 2.1.17 में है। अतः अव्ययीभाव संज्ञा हुई, 'अव्ययीभावश्च' से अव्ययसंज्ञा, 'अव्ययादाप्०' से सुप् लुक्,
केशाकेशि सु → केशाकेशि।

(2) कचाकचि
कचेषु कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्—पूर्ववत्।
(3) दण्डादण्डि
दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्—पूर्ववत्।

सरूप अर्थात् सरूप सुबन्तों का ही समास होता है—
(4) हलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम्
यहाँ 'हल' व 'मुसल' में सरूपता नहीं है। अतः समास नहीं हुआ।

(451) तेन सहेति तुल्ययोगे *28* (848)

सहेत्येतच्छब्दरूपं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति तृतीयान्तेन सह समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। सह पुत्रेणागतः सपुत्रः। सच्छात्रः। सकर्मकरः। तुल्ययोग इति किम्? सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी। विद्यमानैरेव दशभिः पुत्रैर्भारं वहतीत्यर्थः। कथं सकर्मकः, सलोमकः, सपक्षक इति, न ह्यत्र तुल्ययोगो गम्यते? किं तर्हि, विद्यमानता? प्रायिकं तुल्ययोगे इति विशेषणम्, अन्यत्रापि समासो दृश्यते।

अर्थ—तुल्ययोग में वर्त्तमान 'सह' इस अव्यय का तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है और वह बहुव्रीहि समास होता है।

तुल्य = समान। योग = सम्बन्ध।

उदा० (1) सपुत्रः
पुत्रेण सह—समास हुआ,
सह पुत्र—'सह' का पूर्वनिपात,
सपुत्र—'वोपसर्जनस्य' के द्वारा विकल्प से 'स' आदेश,
सपुत्रः—सु।

(2) सह पुत्रः
पक्ष में 'सह' ही रहा।

(3) सच्छात्रः (पूर्ववत्)।
(4) सकर्मकरः (पूर्ववत्)।

तुल्य अर्थात् **समान सम्बन्ध** की दशा में ही पूर्वोक्त समास होता है—

सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी—यहाँ तुल्ययोग नहीं होने से समास नहीं हुआ।

शङ्का होती है कि सकर्मकः सलोमकः तथा सपक्षकः में तुल्य योग नहीं है। तब समास कैसे हुआ ?

यहाँ विद्यमानता है। अतः समास नहीं होना चाहिए। समाधान यह है कि 'तुल्ययोगे' विशेषण प्रायिक है। अतः अन्यत्र भी समास हो गया है। आचार्य पाणिनि का सूत्रपाठ यहाँ ज्ञापक है—द्र०—विभाषा सपूर्वस्य, सपूर्वायाः प्रथमायाः, सपूर्वाच्च आदि।

इन स्थलों पर तुल्ययोगता न होने पर आचार्य ने समास किया है।

(452) चार्थे द्वन्द्वः *29* (9०1)

अनेकमिति वर्त्तते। अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्त्तमानं समस्यते, द्वन्द्वसंज्ञश्च समासो भवति। समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः। तत्र समुच्चयान्वाचययोरसामर्थ्यान्नास्ति समासः। इतरेतरयोगे समाहारे च समासो विधीयते। प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च धवखदिरपलाशाः। वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम्। वाग्दृषदम्। द्वन्द्वप्रदेशाः-'द्वन्द्वे च' (1.1.31) इत्येवमादयः।

अर्थ—'अनेकम्' पद का अनुवर्त्तन है।

'च' के अर्थों में वर्त्तमान अनेक सुबन्त पदों का परस्पर समास विकल्प से होता है और वह द्वन्द्व संज्ञक होता है।

'च' के चार अर्थ बताए गए हैं—

(क) समुच्चय,
(ख) अन्वाचय,
(ग) इतरेतरयोग,
(घ) समाहार।

समुच्चय तथा अन्वाचय अर्थों में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता है। अतः इतरेतरयोग में तथा समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास होता है।

उदा० (1) प्लक्षन्यग्रोधौ
प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च—इतरेतरयोग अर्थ में समास हुआ,
प्लक्ष न्यग्रोध औ—द्विवचन की विवक्षा में 'औ' हुआ।
प्लक्षन्यग्रोधौ—रूप सिद्ध हुआ।

(2) धवखदिरपलाशाः
धवश्च खदिरश्च पलाशश्च—पूर्ववत्,
धवखदिरपलाशाः—बहुवचन में 'जस्' हुआ।

(3) वाक्त्वचम्
वाक् च त्वक् च—समास,
वाच् त्वच् टच्—'टच्' हुआ,
वाक् त्वच् सु—सः नपुँसकम्, सु, अमादेश,
वाक्त्वचम्।

(4) वाग्दृषदम्
वाक् च दृषच्च—समास हुआ,
वाच् दृषत् → वाक् दृषद्—कुत्व, समासान्त प्रत्यय,
वाग्दृषदम्—जश्त्व, सु।

समाहार द्वन्द्व का निम्नलिखित तीन प्रकार से विग्रह प्रदर्शित किया जाता है—

समस्तपद—पाणिपादम्।
विग्रह—पाणी च पादौ च तेषां समाहारः।
पाणी च पादौ चैषां समाहारः।
पाणी च पादौ च समाहृताः।

(453) उपसर्जनं पूर्वम् *30* (654)

समासे इति वर्त्तते। उपसर्जनसंज्ञकं समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। पूर्ववचनं परप्रयोगनिवृत्त्यर्थम्। अनियमो हि स्यात्। द्वितीया-कष्टश्रितः। तृतीया-शङ्कुलाखण्डः। चतुर्थी-यूपदारु। पञ्चमी-वृकभयम्। षष्ठी-राजपुरुषः। सप्तमी-अक्षशौण्डः।

अर्थ—'समासे' पद का अनुवर्त्तन है।

समास की दशा में उपसर्जनसंज्ञक पद का प्रथम प्रयोग होता है। परप्रयोग न हो—इसके लिए 'पूर्व' पद का प्रयोग है, अन्यथा अव्यवस्था हो जाती है कि किसका पूर्व और किसका पश्चात् प्रयोग हो ?

उदा० (1) कष्टश्रित:

2.1.24 पर सिद्धि देखें। 'कष्ट' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर पूर्वनिपात होता है।

(2) शङ्कुलाखण्ड:

2.1.30 पर सिद्धि देखें। 'शङ्कुला' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्वनिपात होता है।

(3) यूपदारु

2.1.36 पर सिद्धि देखें। 'यूप' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर पूर्वनिपात होता है।

(4) वृकभयम्

2.1.37 पर सिद्धि देखें। 'वृक' शब्द की उपर्सर्जनसंज्ञा होकर इसका पूर्वनिपात होता है।

(5) राजपुरुष:

2.2.8 पर सिद्धि देखें। 'राजन्' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर उसका पूर्वनिपात होता है।

(6) अक्षशौण्ड:

2.1.40 पर सिद्धि देखें। 'अक्ष' शब्द की उपसर्जन- संज्ञा होकर इसका पूर्वनिपात होता है।

(454) राजदन्तादिषु परम् *31* (902)

पूर्वनिपाते प्राप्ते परप्रयोगार्थं वचनम्। राजदन्तादिषु परमुपसर्जनं प्रयोक्तव्यम्। न केवलमुपसर्जनस्य, अन्यस्यापि यथालक्षणं विहितस्य पूर्वनिपातस्यापवादः। परनिपातो विधीयते। दन्तानां राजा राजदन्तः। वनस्याग्रे अग्रेवणम्, निपातनादलुक्। राजदन्तः। अग्रेवणम्। लिप्तवासितम्। नग्नमुषितम्। सिक्तसम्मृष्टम्। मृष्टलुञ्चितम्। अवक्लिन्नपक्वम्। अर्पितोप्तम्। उप्तगाढम्। पूर्वकालस्य परनिपातः। उलूखलमुसलम्। तण्डुलकिण्वम्। दृषदुपलम्। आरग्वायनबन्धकी। चित्ररथबाह्लीकम्। आवन्त्यश्मकम्। शूद्रार्यम्। स्नातकराजानौ। विष्वक्सेनार्जुनौ। अक्षिभ्रुवम्। दारगवम्। शब्दार्थौ। धर्मार्थौ। कामार्थौ। अनियमश्चात्रेष्यते। अर्थशब्दौ। अर्थधर्मौ। अर्थकामौ। तत्कथम्? वक्तव्यमिदम्–*धर्मादिषूभयमिति* (ग०सू०)। वैकारिकतम्। गजवाजम्। गोपालधानीपूलासम्। पूलासककरण्डम्। स्थूलपूलासम्। उशीरबीजम्। सिञ्जास्थम्। चित्रास्वाती। भार्यापती। जायापती। जम्पती। दम्पती। जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते। पुत्रपती। पुत्रपशू। केशश्मश्रू। श्मश्रुकेशौ। शिरोबीजम्। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। आद्यन्तौ। अन्तादी। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ।

अर्थ—पूर्वनिपात प्राप्त होने पर परनिपात की व्यवस्था की जा रही है। राजदन्तादि गणपठित शब्दों में उपसर्जनसंज्ञक शब्द का परनिपात होता है।

इस गण में कुछ शब्द तत्पुरुष समास के हैं तथा कुछ द्वन्द्व समास के हैं।

राजदन्तादि गण में पठित शब्दों में न केवल उपसर्जनसंज्ञक शब्द का परनिपात होता है, अपितु लक्षणानुसार विहित अन्य पूर्वनिपात के अपवादस्वरूप यह परनिपात है।

उदा० (1) राजदन्त:

दन्तानां राजा—समास, 'दन्त' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' से इसका पूर्वनिपात प्राप्त हुआ,

राजन् दन्त—प्रकृत सूत्र से परनिपात हुआ, 'न्' का लोप,

राजदन्त:—सु।

(2) अग्रेवणम्

वनस्याऽग्रे—समास, 'वन' शब्द का परनिपात, निपातन से विभक्ति का अलुक्,

अग्रेवणम्—णत्व व सु ('वनं पुरगामिश्रका०' से णत्व)।

(3) लिप्तवासितम् (पूर्ववत्)।

(4) नग्नमुषितम्

'मुषित' शब्द का परनिपात।

(5) सिक्तसम्मृष्टम् (पूर्ववत्)।

(6) मृष्टलुञ्चितम्

'लुञ्चित' शब्द का परनिपात।

(7) अवक्लिन्नपक्वम्

'अल्पाच्तरम्' से 'पक्व' का पूर्वनिपात था।

(8) अर्पितोप्तम् (पूर्ववत्)।

(9) उप्तगाढम् (पूर्ववत्)।

(10) उलूखलमुसलम्

'अल्पाच्तरम्' से 'मुसल' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(11) तण्डुलकिण्वम् (पूर्ववत्)।

(12) दृषदुपलम्

'अजाद्यदन्तम्' से 'उपल' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(13) आरग्वायनबन्धकी

'बन्धकी' का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(14) चित्ररथबाह्लीकम्

'बाह्लीक' का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(15) आवन्त्यश्मकम्

'अश्मक' का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(16) शूद्रार्यम् (पूर्ववत्)।

(17) स्नातकराजानौ (पूर्ववत्)।

(18) विष्वक्सेनार्जुनौ (पूर्ववत्)।

(19) अक्षिभ्रुवम्

3.4.77 पर देखें (अचतुरविचतुर०)।

(20) दारगवम्

3.4.77 पर देखें (अचतुरविचतुर०)।

उपर्युक्त उदाहरणों में अल्पाच्तरम् से कहीं 'द्वन्द्वे घि' से तथा कहीं 'अजाद्यदन्तम्' से पूर्वनिपात का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।[1] सर्वत्र प्रकृत सूत्र से परनिपात हुआ।

(21) शब्दार्थौ

शब्दार्थौ शब्दश्च अर्थश्च—'शब्द' का पूर्व निपात।

(22) अर्थशब्दौ

शब्दश्च अर्थश्च—इच्छानुसार दोनों में से किसी एक को पूर्व में प्रयुक्त किया जाता है। तब 'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(23) धर्मार्थौ

'धर्म' शब्द का पूर्वनिपात।

(24) अर्थधर्मौ

'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात।

(25) कामार्थौ

'काम' शब्द का पूर्वनिपात।

(26) अर्थकामौ

'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात।

(27) वैकारिकतम् (पूर्ववत्)।

(28) गजवाजम्

'गज' शब्द का पूर्वनिपात।

(29) गोपालधानीपूलासम्

'पूलास' का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(30) पूलासकरण्डम्

'करण्ड' का पूर्वनिपात प्राप्त था।

(31) स्थूलपूलासम्

'स्थूल' का पूर्वनिपात।

(32) उशीरबीजम्

'उशीर' का पूर्वनिपात।

(33) सिञ्जास्थम् (पूर्ववत्)

(34) चित्रास्वाती

'चित्रा' पद का पूर्वनिपात।

(35) भार्यापती

'भार्या' शब्द का पूर्वनिपात।

(36) जम्पती

'जाया च पतिश्च—जाया' का पूर्वनिपात।

(37) जम्पती

'जाया' को निपातन से 'जम्' भाव।

(38) दम्पती

'जाया' को निपातन से 'दम्' भाव।

(39) पुत्रपती

'पुत्र' शब्द का पूर्वनिपात।

(40) पुत्रपशू

'पुत्र' शब्द का पूर्वनिपात।

(41) केशश्मश्रू

'केश' का पूर्वनिपात।

(42) श्मश्रुकेशौ

'श्मश्रु' का पूर्वनिपात।

(43) शिरोबीजम्

'शिरस्' का पूर्वनिपात।

(44) सर्पिर्मधुनी

उभयत्र नियम से 'सर्पिस्' का पूर्वनिपात।

(45) मधुसर्पिषी

'मधु' शब्द का पूर्वनिपात।

1. न्यास 2.2.31 क्वचिदल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातः प्राप्नोति, क्वचिद् घ्यन्तत्वात्।

(46) आद्यन्तौ
आदिश्चाऽन्तश्च—उभयत्र निपात।

(47) अन्तादी
अन्तश्चाऽऽदिश्च—उभयत्र निपात।

(48) गुणवृद्धी
गुणश्च वृद्धिश्च—उभयत्र निपात।

(49) वृद्धिगुणौ
वृद्धिश्च गुणश्च—उभयत्र निपात।

(455) द्वन्द्वे घि *32* (903)

पूर्वमिति वर्त्तते। द्वन्द्वे समासे घ्यन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। पटुगुप्तौ। मृदुगुप्तौ। अनेकप्राप्तावेकस्य नियमः, शेषे त्वनियमः। पटुमृदुशुक्लाः। पटुशुक्लमृदवः। द्वन्द्व इति किम्? विस्पष्टपटुः। घीति किम्? सखिसुतौ, सुतसखायौ।

अर्थ—'उपसर्जनं पूर्ववम्' से मण्डूकप्लुतिन्यायेन 'पूर्वम्' पद का अनुवर्त्तन होता है।

द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक शब्द का पूर्वनिपात होता है।

उदा० (1) पटुगुप्तौ
पटुश्च गुप्तश्च—'शेषो घ्यसखि' से 'पटु' शब्द की घिसंज्ञा, इसका पूर्वनिपात।

(2) मृदुगुप्तौ
पूर्ववत्। 'मृदु' शब्द का पूर्वनिपात।

यदि द्वन्द्व समास में अनेक घिसंज्ञक हों तो एक का पूर्वनिपात होता है तथा शेष पदों के विषय में कोई नियम नहीं होता है—

(3) पटुमृदुशुक्लाः
पटु व मृदु की घिसंज्ञा। 'पटु' का पूर्वनिपात। 'मृदु' तथा 'शुक्ल' पदों के निपात के विषय में उभयत्र नियम लगकर 'मृदु' का पूर्वनिपात हुआ।

(4) पटुशुक्लमृदवः
पक्ष में 'शुक्ल' पद का पूर्वनिपात हुआ।

द्वन्द्व अर्थात् द्वन्द्व समास में ही घिसंज्ञक का पूर्वनिपात होता है—

(5) विस्पष्टपटुः
विस्पष्टं पटुः—'मयूरव्यंसकादयश्च' से तत्पुरुष हुआ, द्वन्द्व नहीं होने से घिसंज्ञक 'पटु' शब्द का पूर्वनिपात नहीं हुआ।

घि अर्थात् घिसंज्ञक पद का ही पूर्वनिपात होता है—

(6) सखिसुतौ
सखा च सुतश्च—'शेषो घ्यसखि' से 'सखि' शब्द की घिसंज्ञा का निषेध होने से पूर्वनिपात में उभयत्र नियम (अर्थात् कामचारिता) लागू होता है; 'सखि' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(7) सुतसखायौ
पक्ष में 'सुत' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(456) अजाद्यदन्तम् *33* (904)

द्वन्द्व इति वर्त्तते। अजाद्यदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशकम्। *बहुष्वनियमः*। अश्वरथेन्द्राः। इन्द्ररथाश्वाः। *द्वन्द्वे घ्यजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन*। इन्द्राग्नी। इन्द्रवायू। तपरकरणं किम्? अश्वावृषौ, वृषाश्वे इति वा।

अर्थ—'द्वन्द्वे' पद का अनुवर्त्तन है। 'अजादि' शब्द 'अदन्त' का विशेषण है। जिसके आदि में अच् वर्ण हो तथा अन्त में ह्रस्व अकार हो, उस शब्द का द्वन्द्व समास में पूर्वनिपात होता है।

उदा० (1) उष्ट्रखरम्
उष्ट्रश्च खरश्च—'उष्ट्र' शब्द अजादि है तथा अदन्त भी है। अतः इसका पूर्वनिपात हुआ।

(2) उष्ट्रशशकम् (पूर्ववत्)।

बहुष्वनियमः—द्वन्द्व समास में अनेक अजाद्यदन्त शब्द हों तो किसी एक का पूर्वनिपात करके शेष के विषय में कामचारिता होती है—

(3) अश्वरथेन्द्राः
अश्वश्च रथश्चेन्द्रश्च—यहाँ 'अश्व' तथा 'इन्द्र' दो शब्द अजाद्यन्त हैं। अतः 'अश्व' का पूर्वनिपात करके शेष के विषय में कामचारिता हुई।

(4) अश्वेन्द्ररथाः (पूर्ववत्)।

(5) इन्द्ररथाश्वाः
'इन्द्र' शब्द का पूर्वनिपात करके शेष के विषय में कामचारिता हुई।

(6) इन्द्राश्वरथाः (पूर्ववत्)।

द्वन्द्वे घ्यन्तादजाद्यन्तं विप्रतिषेधेन—यदि द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक व अजाद्यदन्त का युगपत् प्रयोग हो तो 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' नियम से अजाद्यदन्त का पूर्वनिपात होता है—

(7) इन्द्राग्नी

इन्द्रश्चाऽग्निश्च—'इन्द्र' शब्द अजादि व अदन्त है तथा 'अग्नि' शब्द की घिसंज्ञा है। तब 'इन्द्र' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(8) इन्द्रवायू

पूर्ववत् 'इन्द्र' शब्द का पूर्वनिपात।

तपरकरण—'अदन्त' पद में तपरकरण का फल है कि ह्रस्व अकार है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द का ही पूर्वनिपात होता है—

(9) अश्वावृषौ

अश्वा च वृषश्च—'अश्वा' शब्द अजादि है; परन्तु अदन्त नहीं है। अतः इसका पूर्वनिपात न होकर कामचारिता हुई।

(10) वृषाश्वे

वृषा चाऽश्वा च—कामचारिता।

(457) अल्पाच्तरम् *34* (905)

द्वन्द्व इति वर्त्तते। अल्पाच्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। धवखदिरपलाशाः। बहुष्वनियमः। शङ्खदुन्दुभिवीणाः। वीणाशङ्खदुन्दुभयः। *ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणां पूर्वनिपातो वक्तव्यः* (म०भा०)। हेमन्तशिशिरवसन्ताः। चित्रास्वाती। कृत्तिकारोहिण्यौ। समानाक्षराणामिति किम्? ग्रीष्मवसन्तौ। *लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। कुशकाशम्। शरशादम्। *अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। मातापितरौ। श्रद्धामेधे। दीक्षातपसी। *वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः* (म०भा०)। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। समानाक्षराणामित्यत्र नास्ति। *भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो वक्तव्यः* (म०भा०)। युधिष्ठिरार्जुनौ। *संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः* (म०भा०)। द्वित्राः। त्रिचतुराः। नवतिशतम्।

अर्थ—'द्वन्द्वे' पद का अनुवर्त्तन है।

द्वन्द्व समास में अपेक्षाकृत अल्प अच् वाले शब्द का पूर्वनिपात होता है।

उदा० (1) प्लक्षन्यग्रोधौ

प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च—'प्लक्ष' द्व्यच् तथा 'न्यग्रोध' त्र्यच् है। अतः 'प्लक्ष' का पूर्वनिपात हुआ।

(2) धवखदिरपलाशाः

धवश्च खदिरश्च पलाशश्च—'धव' शब्द में दो अच् हैं। 'खदिर' शब्द में तीन अच् हैं तथा 'पलाश' शब्द में भी तीन अच् हैं। तब अल्पाच्तर 'धव' का पूर्वनिपात हुआ।

बहुष्वनियमः—(यदि द्वन्द्व समास में) अपेक्षाकृत अल्प अच् वाले शब्द अनेक हों तो (उनके पूर्वनिपात के विषय में) कामचारिता होती है—

(3) शङ्खदुन्दुभिवीणाः

शङ्खश्च दुन्दुभिश्च वीणा च—'दुन्दुभि' शब्द तीन अचों वाला है तथा शेष सभी शब्द दो अच् वाले हैं। अतः किसी एक अल्पाच्तर (शङ्ख) का पूर्वनिपात करके शेष में कामचारिता हुई।

(4) वीणाशङ्खदुन्दुभयः

कामचारिता।

(5) शङ्खवीणादुन्दुभयः

कामचारिता।

ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणां पूर्वनिपातो वक्तव्यः—जिन ऋतुवाचक व नक्षत्रवाचक शब्दों के अचों की संख्या समान हो तो उन शब्दों के द्वन्द्व समास में उनके आनुपूर्वी क्रम के अनुसार पूर्वनिपात होता है—

(6) हेमन्तशिशिरवसन्ताः

हेमन्तश्च शिशिरश्च वसन्तश्च—यहाँ ऋतुवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ। सभी समस्यमान शब्दों में अचों की संख्या समान होने से 'अल्पाच्तरम्' नियम की प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। तब उन ऋतुओं की आनुपूर्वी के अनुसार तद्वाचक शब्दों का पूर्व-परनिपात हुआ।

(7) चित्रास्वाती

नक्षत्रवाची शब्दों का द्वन्द्व हुआ 'अल्पाच्तरम्' से पूर्वनिपात का निर्णय नहीं हो सकता। आनुपूर्वी के अनुसार 'चित्रा' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(8) कृत्तिकारोहिण्यौ

कृत्तिका च रोहिणी च—नक्षत्रवाची शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ। समस्यमान पदों के अचों की संख्या समान है। अतः उनके प्रसिद्ध क्रम का अनुसारण कर पूर्व-परनिपात हुआ।

समानाक्षराणाम्० जिन शब्दों में अचों की संख्या समान हो, वहाँ आनुपूर्वी क्रम से पूर्व-परनिपात की व्यवस्था होती है। यथा—

(9) ग्रीष्मवसन्तौ

ग्रीष्मश्च वसन्तश्च—द्वन्द्व समास हुआ। ऋतुवाची शब्दों में समास की दशा में आनुपूर्वी क्रम से 'वसन्त' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, परन्तु समस्यमान पदों में अचों की संख्या समान नहीं है। अत: आनुपूर्व्य का नियम प्रवृत्त नहीं होता है। 'अल्पाच्तरम्' से 'ग्रीष्म' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्—(द्वन्द्व समास में) लघुसंज्ञक अच् वाले शब्द का पूर्वनिपात होता है—

(10) कुशकाशम्

कुशश्च काशश्च—द्वन्द्व समास हुआ, 'कुश' के उकार की 'ह्रस्वं लघु' से लघुसंज्ञा हुई तथा 'काश' के अकार की 'दीर्घञ्च' से गुरुसंज्ञा हुई। तब 'कुश' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(11) शरशादम्

शरश्च शादश्च—लघुसंज्ञक अच् वाले 'शर' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

अभ्यर्हितञ्च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्—(द्वन्द्व समास में) अधिक पूज्य के वाचक शब्द का पूर्वनिपात होता है—

(12) मातापितरौ

माता च पिता च—समास हुआ, 'आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणाम् मातेति—' तथा 'पितुर्दशगुणं माता गौरवेणाऽतिरिच्यते' इत्यादि स्मृतिवचनों के आधार पर माता पिता की अपेक्षा अधिक पूज्य है। अत: 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात,

मातापितृ—आनङ् आदेश,

मातापितरौ—द्विवचन की विवक्षा में 'औ'।

(13) श्रद्धामेधे

श्रद्धा च मेधा च—पूर्ववत् 'श्रद्धा' शब्द का पूर्वनिपात।

(14) दीक्षातपसी

दीक्षा च तपश्च—पूर्ववत्।

वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः—(ब्राह्मण आदि) वर्णवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास हो तो श्रेष्ठता के क्रम से पूर्वनिपात होता है—

(15) ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः

ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च विट् च शूद्रश्च—वर्णों की श्रेष्ठता के आधार पर सर्वप्रथम 'ब्राह्मण' शब्द का निपात, तदनु क्षत्रिय, विश् तथा शूद्र शब्दों का प्रयोग हुआ।

समानाक्ष—यहाँ समानाक्षर नियम लागू नहीं होता है, अपितु जन्मकृत श्रेष्ठता के आधार पर पूर्वनिपात होता है।[1]

भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो वक्तव्यः—(द्वन्द्व समास में) बड़े भाई के नाम का पूर्वनिपात होता है—

(16) युधिष्ठिरार्जुनौ

अर्जुनश्च युधिष्ठिरश्च—समास हुआ, 'अल्पाच्तरम्' से 'अर्जुन' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'युधिष्ठिर' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

सङ्ख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः—(द्वन्द्व समास में) अपेक्षाकृत अल्पसंख्या का पूर्वनिपात होता है—

(17) द्वित्राः

द्वौ वा त्रयो वा—समास हुआ, अपेक्षाकृत अल्प संख्या (द्वि) का पूर्वनिपात हुआ,

(18) त्रिचतुराः

त्रयो वा चत्वारो वा—पूर्ववत्।

(19) नवतिशतम्

नवतिश्च शतञ्च—पूर्ववत्।

(458) सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ *35* (898)

सर्वोपसर्जनत्वाद्बहुव्रीहेरनियमे प्राप्ते नियमार्थं वचनम्। सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहिसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। विशेषणम्-चित्रगुः, शबलगुः। *सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। सर्वश्वेतः। सर्वकृष्णः। द्विशुक्लः। द्विकृष्णः। अनयोरेव मिथः सम्प्रधारणायां परत्वात्संख्यायाः पूर्वनिपातः। द्व्यन्यः। त्र्यन्यः। *वा प्रियस्य पूर्वनिपातः* (म०भा०)। गुडप्रियः। प्रियगुडः। *सप्तम्याः पूर्वनिपाते प्राप्ते गड्वादिभ्यः सप्तम्यन्तं परम्* (म०भा०)। गड्डुकण्ठः। गडुशिराः। कथं वहेगडुः ? प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येया।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में सभी पद गौण होते हैं। अत: पूर्वनिपात के विषय में अव्यवस्था प्राप्त होने पर नियम किया जा रहा है।

बहुव्रीहि समास में जो सप्तम्यन्त और विशेषणवाची शब्द, उसका पूर्वनिपात होता है।

1. न्यास—आनुपूर्व्यञ्च वर्णानां जन्मकृतमिति लोकव्यवहारे प्रसिद्धम्।

उदा० (1) कण्ठेकालः
कण्ठे स्थितः कालो यस्य सः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास हुआ, सप्तम्यन्त पद (कण्ठे) का पूर्वनिपात हुआ। हलदन्तात् सप्तम्याः—से अलुक्,
कण्ठेकालः—सु।

प्रकृत सूत्र के द्वारा सप्तम्यन्त पद के पूर्वनिपात की व्यवस्था की गई है। इससे ज्ञापित होता है कि व्यधिकरण बहुव्रीहि समास भी होता है।

(2) उरसिलोमा (पूर्ववत्)

(3) चित्रगुः
चित्रा गावो यस्य सः—विशेषणवाची शब्द (चित्र) का पूर्वनिपात हुआ।

(4) शबलगुः (पूर्ववत्)।

सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्—(बहुव्रीहि समास में) सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दों का पूर्वनिपात होता है—

(5) सर्वश्वेतः
सर्वः श्वेतो यस्य सः—'सर्व' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(6) सर्वकृष्णः
सर्वः कृष्णो यस्य सः—पूर्ववत्।

(7) द्विशुक्लः
द्वौ शुक्लौ यस्य सः—समास हुआ, संख्यावाची शब्द (द्वि) का पूर्वनिपात।

(8) द्विकृष्णः
द्वौ कृष्णौ यस्य सः—पूर्ववत्।

अनयोरेव—सर्वनामसंज्ञक व संख्यावाचक शब्दों का परस्पर समास होने पर परत्व (शब्दजन्य) के द्वारा संख्यावाचक शब्द का पूर्वनिपात होता है—

(9) द्व्यन्यः
द्वौ अन्यौ यस्य सः—समास हुआ, संख्यावाची शब्द (द्वि) का पूर्वनिपात।

(10) त्र्यन्यः
त्रयोऽन्ये यस्य सः—पूर्ववत्।

वा प्रियस्य पूर्वनिपातः—(बहुव्रीहि समास में) 'प्रिय' शब्द के पूर्वनिपात में कामचारिता होती है—

(11) गुडप्रियः
गुडः प्रियो यस्य सः—समास हुआ, 'प्रिय' शब्द का पूर्वनिपात विकल्प से हुआ।

(12) प्रियगुडः
पूर्वनिपात में रूप बना।

सप्तम्याः पूर्वनिपाते प्राप्ते गड्वादिभ्यः सप्तम्यन्तं परम्—(बहुव्रीहि समास में) सप्तम्यन्त पद के पूर्वनिपात प्राप्त होने पर 'गडु' आदि शब्दों के साथ समास की दशा में सप्तम्यन्त का परनिपात होता है—

(13) गडुकण्ठः
गडुः कण्ठे यस्य सः—सप्तम्यन्त (कण्ठे) पद का पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा परनिपात हुआ।

(14) गडुशिराः
गडुः शिरसि यस्य सः—पूर्ववत्।
यहाँ दोनों स्थलों पर अलुक् न हुआ।

(15) वहेगडुः
यहाँ सप्तम्यन्त पद का पूर्वनिपात हुआ है। प्रकृति वार्त्तिक में 'वा' पद का अनुवर्त्तन कर इसे व्यवस्थित विभाषा मान लिया जाता है। अतः यहाँ सप्तम्यन्त का परनिपात नहीं हुआ।

(459) निष्ठा *36* (899)

निष्ठान्तं च बहुव्रीहिसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। कृतकटः। भिक्षितभिक्षिः। अवमुक्तोपानत्कः। आहूतसुब्रह्मण्यः। ननु च विशेषणमेवात्र निष्ठा? नैष नियमः, विशेषण-विशेष्यभावस्य विवक्षानिबन्धनत्वात्। कटे कटेन कृतमिति वा विग्रहीतव्यम्। *निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकाल-सुखादिभ्यः परवचनम्* (म०भा०)। शार्ङ्गजग्धी। पला-ण्डुभक्षिती। मासजाता। संवत्सरजाता। सुखजाता। दुःखजाता। कथं कृतकटः, भुक्तौदनः? प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येया। *प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अस्युद्यतः। दण्डपाणिः। कथ-मुद्यतगदः, उद्यतासिः? प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येया।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त शब्द का पूर्वनिपात होता है।

उदा० (1) कृतकटः
कृतः कटो येन सः—समास हुआ, 'कृत' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(2) भिक्षितभिक्षि:
भिक्षिता भिक्षिर्येन स:—पूर्ववत्।

(3) अवमुक्तोपानत्क:
अवमुक्तोपानद् येन स:—'अवमुक्त' शब्द का पूर्वनिपात, स्वार्थ में 'क' हुआ,
अवमुक्तोपानत्क:—सु।

(4) आहूतसुब्रह्मण्य:
आहूतं सुब्रह्मण्यं येन स:—पूर्ववत्।

ननु—शङ्का होती है कि निष्ठाप्रत्ययान्त शब्द तो विशेषण होता है, जिसका पूर्वनिपात से ही सिद्ध था। तब प्रकृत सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समाधान यह है कि 'कटे कटेन वा कृतम्' इस प्रकार विग्रह करने पर 'कृत' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त नहीं था। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा कहा गया है।

निष्ठाया: पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्य: परवचनम्—जातिवाचक, कालवाचक और सुख आदि शब्दों का निष्ठान्त सुबन्त के साथ समास होने पर निष्ठान्त शब्द का परनिपात होता है—

(5) शार्ङ्गजग्धी
जग्ध: शार्ङ्गो यया सा—समास हुआ, 'निष्ठा' के द्वारा 'जग्ध' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा परनिपात हुआ,
शार्ङ्गजग्ध ङीप्—स्त्रीत्व की विवक्षा में,
शार्ङ्गजग्धी—सु, सुलुक्।

(6) पलाण्डुभक्षिती
पलाण्डुर्भक्षितो यया सा—पूर्ववत्।

(7) मासजाता
मासो जातो यस्या: सा—पूर्ववत् समास व परनिपात,
मास जात टाप्—स्त्रियाम्, अजाद्यतष्टाप्,
मासजाता—सु, सुलुक्।

(8) संवत्सरजाता (पूर्ववत्)।

(9) सुखजाता
सुखं जातं यस्या: सा—पूर्ववत्।

(10) दु:खजाता
दु:खं जातं यस्या: सा—पूर्ववत्।

(11) कृतकट:
यहाँ 'कृत' पद का परनिपात प्राप्त हुआ। पूर्ववत् 'वा' पद का अध्याहार कर व्यवस्थितविभाषा मान लेंगे। तब परनिपात नहीं हुआ।

(12) भुक्तौदन:
'कृतकट:' की तरह जानना चाहिए।

प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्—(बहुव्रीहि समास में) प्रहरण अर्थ वाले शब्द से पर निष्ठान्त और सप्तम्यन्त शब्द होते हैं—

(13) अस्युद्यत:
उद्यतोऽसिर्यस्य स:—पूर्ववत् समास, प्रहरणवाची 'असि' से पर क्तप्रत्ययान्त 'उद्यत' है।

(14) दण्डपाणि:
दण्ड: पाणौ यस्य स:—समास हुआ, प्रहरणार्थक शब्द (दण्ड) से पर सप्तम्यन्त (पाणि) हुआ।

(15) उद्यतगद:
व्यवस्थितविभाषावशात् 'उद्यत' का परनिपात नहीं हुआ।

(16) उद्यताऽसि:
व्यवस्थित विभाषा से परनिपात नहीं हुआ।

(460) वाऽऽहिताग्न्यादिषु *37* (900)

निष्ठेति पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते। आहिताग्न्यादिषु निष्ठान्तं पूर्वं वा प्रयोज्यम्। अग्न्याहित:। आहिताग्नि:। जातपुत्र:। पुत्रजात:। जातदन्त:। जातश्मश्रु:। तैलपीत:। घृतपीत:। ऊढभार्य:। गतार्थ:। आकृतिगणश्चायम्। तेन गड्डुकण्ठप्रभृतय इहैव द्रष्टव्या:।

अर्थ—'निष्ठा' सूत्र के द्वारा पूर्वनिपात प्राप्त होने पर विकल्प किया जा रहा है।

बहुव्रीहि समास में आहिताग्न्यादि गण में पठित निष्ठा प्रत्ययान्त शब्द का पूर्वनिपात विकल्प से होता है। पक्ष में परनिपात होता है।

उदा० (1) अग्न्याहित:
आहिता अग्नयो येन स:—समास हुआ, 'आहित' शब्द का पूर्वनिपात नहीं हुआ।

(2) आहिताग्नि:
पक्ष में पूर्वनिपात हुआ।

(3) जातपुत्र:

जातः पुत्रो यस्य सः—समास हुआ, 'जात' शब्द का पूर्वनिपात।

(4) पुत्रजातः
'जात' शब्द का परनिपात।
(5) जातदन्तः
जाता दन्ता यस्य सः—पूर्ववत्।
(6) जातश्मश्रुः
जातः श्मश्रुर्यस्य सः—पूर्ववत्।
(7) तैलपीतः
पीतं तैलं येन सः—पूर्ववत्।
(8) घृतपीतः
पीतं घृतं येन सः—पूर्ववत्।
(9) ऊढभार्यः
ऊढा भार्या येन सः—पूर्ववत्।
(10) गतार्थः
गतोऽर्थो यस्य सः—पूर्ववत्।
यह एक आकृतिगण है।

(461) कडाराः कर्मधारये *38* (751)

गुणशब्दानां विशेषणत्वात्पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते। कडारादयः शब्दाः कर्मधारये समासे वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः। कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारः। कडार। गडुल। काण। खञ्ज। कुण्ठ। खञ्जर। खलति। गौर। वृद्ध। भिक्षुक। पिङ्गल। तनु। वटर। कर्मधारय इति किम्? कडारपुरुषो ग्रामः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अर्थ—गुण शब्दों के विशेषण होने से उनका पूर्वनिपात प्राप्त होता है। उसका विकल्प कहा जा रहा है।

कर्मधारय समास में 'कडारा' आदि शब्दों का पूर्वनिपात विकल्प से होता है।

उदा० (1) कडारजैमिनिः
कडारश्चाऽसौ जैमिनिः—समास हुआ, 'कडार' का पूर्वनिपात हुआ। शेष उदाहरण मूल में देखे जा सकते हैं।

कर्मधारय० अर्थात् कर्मधारय समास में ही पूर्वनिपात होता है—

(2) कडारपुरुषो ग्रामः
कडाराः पुरुषा यस्मिन् सः—बहुव्रीहि समास हुआ, कर्मधारय न होने से 'कडार' का पूर्वनिपात विकल्प से नहीं हुआ।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



द्वितीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(462) अनभिहिते *1* (536)

अनभिहित इत्यधिकारोऽयं वेदितव्यः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनभिहित इत्येवं तद्वेदितव्यम्। अनभिहिते अनुक्ते अनिर्दिष्टे कर्मादौ विभक्तिर्भवति। केनानभिहिते? तिङ्-कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम् (म० भा०)। वक्ष्यति–'कर्मणि द्वितीया' (2.3.2)–कटं करोति, ग्रामं गच्छति। अनभिहित इति किम्? तिङ्–क्रियते कटः। कृत्–कृतः कटः। तद्धितः–शत्यः शतिकः (5.1.21)। समासः–प्राप्तमुदकं यं ग्रामं प्राप्तोदको ग्रामः। परिसंख्यानं किम्? कटं करोति, भीष्ममुदारं दर्शनीयम् (म० भा०)। 'बहुषु बहुवचनम्' (1.4.21) इत्येवमादिना संख्या वाच्यत्वेन विभक्तीनामुपदिष्टाः, तत्र विशेषणार्थमिदमारभ्यते–अनभिहितकर्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिषु द्वितीयादयो वेदितव्या (म० भा०) इति।

अर्थ—'अनभिहिते' यह अधिकार जानना चाहिए। हम यहाँ से जो भी कहेंगे, वह सब 'अनभिहित में' ऐसा जानना चाहिए। यह अधिकार इस पाद की समाप्तिपर्यन्त जाता है।

अनुक्त में अर्थात् कर्म आदि के अनिर्दिष्ट रहने पर (द्वितीया आदि) विभक्तियाँ होती हैं।

केनान—किसके द्वारा अनुक्त रहने पर (द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं)? कारक प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास—इन चार के द्वारा उक्त होता है। (उक्त होने पर कारक में 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' के द्वारा प्रथमा होती है तथा अनुक्त रहने पर 'कर्मणि द्वितीया' आदि के द्वारा द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं)। इनका परिगणन किया जा रहा है। आगे हम कहेंगे—

कर्मणि—कर्मणि द्वितीया अर्थात् अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है। यथा—'कटं करोति' यहाँ 'कट' अनुक्त है। अतः द्वितीया हुई। इसी प्रकार 'ग्रामं गच्छति' में जानना चाहिए।

अनभिहिते० अर्थात् अनुक्त रहने पर ही द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं—

(क) तिङ् के द्वारा उक्त कारक—'क्रियते कटः' यहाँ कर्मवाच्य में लट् लकार है। अतः कर्म तिङ् के द्वारा वाच्य है। कर्म उक्त हुआ। तिङ् के साथ सामानाधिकरण्य होने से कर्म में प्रथमा हुई। कर्म अनुक्त नहीं है। अतः द्वितीया नहीं हुई।

(ख) कृत् के द्वारा उक्त कारक—'कृतः कटः' यहाँ कर्म में कृत् (क्त) का प्रयोग है। कृत् के द्वारा कर्म उक्त है। कर्म के अनुक्त न रहने से इसमें द्वितीया नहीं हुई। तब प्रथमा हुई।

(ग) तद्धित के द्वारा उक्त कारक—शत्यः (शतेन क्रीतः) 'तेन क्रीतम्' से 'यत्' हुआ। यहाँ 'यत्' के द्वारा कर्म उक्त है। अतः कर्म के अनुक्त न होने से द्वितीया नहीं हुई। तब प्रथमा हुई। 'तेन क्रीतम्' के अधिकार में 'शताच्च उन्यतावशतेः' से 'यत्' व 'ठन्' होता है। 'ठन्' से 'शतिकः' बनता है। इसमें पूर्ववत् प्रथमा हुई है।

(घ) समास के द्वारा उक्त कारक—'प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः' यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है। कर्म उक्त है। उसके अनुक्त न होने से द्वितीया नहीं हुई, प्रथमा हुई।

परिसङ्ख्यानम्—परिगणन का क्या फल है? 'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्'—यहाँ द्वितीया के द्वारा कर्म उक्त है, परन्तु यह तिङ्, कृत्, तद्धित अथवा समास के द्वारा अभिहित नहीं है। अतः 'भीष्मम्' आदि पदों में द्वितीया हुई है।

बहुषु—इस प्रकार विभक्तियों के वाच्य अर्थ के रूप में संख्या निर्दिष्ट है ऐसे स्थलों पर विशेषणार्थ यह वचन है—जिनके कर्म आदि आश्रयों का कथन नहीं किया गया है, उन एकत्वादि अर्थों में द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं।

विशेष—विभक्ति के दो अर्थ होते हैं—(क) संख्या तथा (ख) कारक। प्रथम पक्ष के समर्थक विद्वान् 'बहुषु बहुवचनम्' के द्वारा विभक्ति का अर्थ 'वचन' को मानते हैं। इस पक्ष में प्रकृत सूत्र विशेषणार्थ है।

(463) कर्मणि द्वितीया *2* (537)

द्वितीयादयः शब्दाः पूर्वाचार्यैः सुपां त्रिकेषु स्मर्यन्ते, तैरेवात्र व्यवहारः। कर्मणि कारके या संख्या तत्र द्वितीया विभक्तिर्भवति। कटं करोति। ग्रामं गच्छति।

*** उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।**
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥*

(म० भा०)

उभयतो ग्रामम्। सर्वतो ग्रामम्। धिग्देवदत्तम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो ग्रामम्। *अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेषु च दृश्यते* (म० भा०)। अभितो ग्रामम्। परितो ग्रामम्। समया ग्रामम्। निकषा ग्रामम्। हा देवदत्तम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् (म०भा०)।

अर्थ—सुप् प्रत्ययों के तीन-तीन के समुदाय के लिए प्राचीन वैयाकरणों ने द्वितीया आदि शब्दों का प्रयोग किया है। उन्हीं के द्वारा यहाँ (अर्थात् पाणिनीय व्याकरण में) व्यवहार होता है। यथा—

सु, औ, जस्—प्रथमा; अम्, औट्, शस्—द्वितीया इत्यादि। कर्म कारक में जो संख्या अर्थ है, उसमें द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—कटं करोति, ग्रामं गच्छति।

उभसर्व—तस् प्रत्ययान्त 'उभ'[1] तथा 'सर्व' शब्दों (उभयतः, सर्वतः) के योग में द्वितीया होती है। 'धिक्' के योग में द्वितीया होती है। आम्रेडितान्त (अर्थात् जिन्हें द्वित्व कर दिया गया है ऐसे) उपर्युपरि, अध्यधि तथा अधोऽधः शब्दों के योग में द्वितीया होती है। इनसे अन्यत्र[2] भी द्वितीया उपलब्ध होती है। यथा—

उदा० (1) उभयतो ग्रामम्

'उभयतः' के योग में 'ग्राम' शब्द से द्वितीया हुई।

(2) सर्वतो ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(3) धिग् देवदत्तम् (पूर्ववत्)।

(4) उपर्युपरि ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(5) अध्यधि ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(6) अधोऽधो ग्रामम् (पूर्ववत्)।

अभितः—अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति—इनके योग में भी द्वितीया होती है। यथा—

(7) अभितो ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(8) परितो ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(9) समया ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(10) निकषा ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(11) हा देवदत्तम् (पूर्ववत्)।

(12) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिद् (पूर्ववत्)।

1. यद्यपि मूल में 'उभ' ऐसा पाठ है, तथापि इसके द्वारा 'उभय' शब्द गृहीत होता है।

2. 'अन्यत्र' पद के द्वारा अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति आदि शब्दों का ग्रहण होता है। द्र०—महा० 2.3.2

(464) तृतीया च होश्छन्दसि *3* (3394)

कर्मणीति वर्त्तते। द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीया विधीयते, चशब्दात्सा च भवति। छन्दसि विषये जुहोतेः कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति, द्वितीया च। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। छन्दसीति किम्? यवागूमग्निहोत्रं जुहोति (शां श्रौ० 3.12.16)।

अर्थ—'कर्मणि' पद का अनुवर्तन है। द्वितीया प्राप्त होने पर तृतीया का विधान किया जा रहा है और वह भी (अर्थात् द्वितीया भी) होती है।

वेद के विषय में 'हु' धातु के कर्म में तृतीया विभक्ति होती है तथा द्वितीया भी होती है।

उदा० (1) यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति (काठ० 6.3)

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को 'छन्दस्' की परिधि में रखा गया है। 'हु' धातु के कर्म 'यवागू' में द्वितीया प्राप्त हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा तृतीया व द्वितीया दोनों विभक्तियाँ हुईं।

(2) यवागूमग्निहोत्रं जुहोति (शां० श्रौ० 3.12.16) पक्ष में द्वितीया हुई।

अर्थात् वेद के विषय में ही तृतीया होती है—

(3) यवागूमग्निहोत्रं जुहोति

यह लौकिक प्रयोग है। वेद का विषय न होने से तृतीया नहीं हुई। 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया हुई है।

(465) अन्तरान्तरेण युक्ते *4* (545)

द्वितीया स्वर्यते, न तृतीया। अन्तराऽन्तरेणशब्दौ निपातौ साहचर्याद् गृह्येते। आभ्यां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति। षष्ठ्यपवादोऽयं योगः। तत्रान्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे। अन्तरेणशब्दस्तु तच्च विनार्थं च। अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः। अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः (म०भा०)। अन्त-रेण पुरुषकारं न किञ्चिल्लभ्यते। युक्तग्रहणं किम्? अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च स्रुघ्नस्य प्राकारः।

अर्थ—'द्वितीया' इसकी अनुवृत्ति है, 'तृतीया' की नहीं। 'अन्तरा' तथा 'अन्तरेण' के द्वारा साहचर्यवशात् 'अन्तरा' व 'अन्तरेण' निपातशब्दों का ग्रहण होता है। इन दोनों के योग में द्वितीया होती है। यह नियम षष्ठी का अपवाद है।

'अन्तरा' शब्द आधेयप्रधान मध्य अर्थ को कहता है तथा

'मध्ये' पद का वाचक है। 'अन्तरेण' शब्द इस अर्थ को (अर्थात् 'मध्ये' अर्थ को) तथा 'विना' अर्थ को कहता है।

उदा० (1) अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः

'अन्तरा' के योग में 'त्वाम्' तथा 'माम्' में द्वितीया हुई है। इसका योग 'कमण्डलु' से नहीं है। अतः इसमें द्वितीया नहीं हुई।

(2) अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः (पूर्ववत्)।

(3) अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चिल्लभ्यते

'अन्तरेण' का योग 'पुरुषकार' से है। अतः इसमें द्वितीया हुई।

युक्त अर्थात् 'अन्तरा' व 'अन्तरेण' के **योग में ही** द्वितीया होती है—

(4) अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रं च स्रुघ्नस्य प्राकारः

यहाँ 'अन्तरा' का योग 'तक्षशिला' व 'पाटलिपुत्र' से है। अतः इन दोनों से द्वितीया हुई। चूँकि 'स्रुघ्न' से 'अन्तरा' का योग नहीं है। अतः द्वितीया नहीं हुई।

(466) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे *5* (558)

कालशब्देभ्योऽध्वशब्देभ्यश्च द्वितीया विभक्तिर्भवति अत्यन्त-संयोगे गम्यमाने। क्रियागुणद्रव्यैः साकल्येन कालाध्वनोः सम्बन्धोऽत्यन्तसंयोगः। मासमधीते। संवत्सरमधीते। मासं कल्याणी। संवत्सरं कल्याणी। मासं गुडधानाः। संवत्सरं गुडधानाः। अध्वनः खल्वपि–क्रोशमधीते, योजनमधीते। क्रोशं कुटिला नदी, योजनं कुटिला नदी (म०भा०)। क्रोशं पर्वतः, योजनं पर्वतः। अत्यन्तसंयोग इति किम्? मासस्य द्विरधीते, क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।

अर्थ—कालवाची और मार्गवाची शब्दों से द्वितीया होती है, यदि अत्यन्त संयोग का अर्थ गम्यमान हो तो।

गुण, क्रिया या द्रव्य के साथ काल या मार्ग का जो सम्पूर्ण सम्बन्ध होता है, उसे 'अत्यन्त संयोग' कहते हैं। सार यह है कि जब कोई क्रिया कुछ समय तक निरन्तर होती रहे अथवा कुछ दूरी तक निरन्तर होती रहे, तब कालवाची व मार्गवाची शब्दों में द्वितीया होती है।

उदा० (1) मासमधीते

यहाँ कालवाची 'मास' शब्द का क्रिया (अधीते) के साथ अत्यन्त संयोग (= निरन्तरता) है। तब 'मासम्' यहाँ द्वितीया हुई।

(2) संवत्सरम् अधीते—पूर्ववत् द्वितीया।

क्रिया के साथ अत्यन्त संयोग है।

(3) मासं कल्याणी

यहाँ कालवाची 'मास' शब्द का गुण (कल्याणी) के साथ अत्यन्त संयोग है। अतः द्वितीया हुई।

(4) संवत्सरं कल्याणी (पूर्ववत्)।

(5) मासं गुडधानाः

यहाँ कालवाची 'मास' शब्द का द्रव्य (गुडधाना) के साथ अत्यन्त संयोग है; अतः द्वितीया हुई।

(6) संवत्सरं गुडधानाः (पूर्ववत्)।

(7) क्रोशमधीते

यहाँ 'क्रोश' के साथ क्रिया 'अधीते' का अत्यन्त संयोग है।

(8) योजनमधीते (पूर्ववत्)।

(9) क्रोशं कुटिला नदी

यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' शब्द के साथ गुण 'कुटिला' का अत्यन्त संयोग है। 'क्रोशम्' में द्वितीया हुई।

(10) क्रोशं पर्वतः

यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' के साथ द्रव्य (पर्वत) का अत्यन्त संयोग है। क्रोशम्—द्वितीया हुई।

(11) योजनं पर्वतः (पूर्ववत्)।

अत्यन्त० अर्थात् कालवाची व मार्गवाची शब्द का **अत्यन्त-संयोग** होने पर ही द्वितीया होती है—

(12) मासस्य द्विरधीते

(= महीने में केवल दो बार पढता है) यहाँ अत्यन्त संयोग गम्यमान नहीं है। अतः द्वितीया नहीं हुई। षष्ठी हुई।

(13) क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः

(= कोस के एक भाग में पर्वत है) यहाँ निरन्तरता अर्थ नहीं है। अतः द्वितीया नहीं है।

(467) अपवर्गे तृतीया *6* (563)

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति वर्त्तते। अपवर्गः फल-प्राप्तौ सत्यां क्रियापरिसमाप्तिः। अपवर्गे गम्यमाने कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया विभक्तिर्भवति। मासेनानुवाकोऽधीतः। संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः। अध्वनः–क्रोशेनानुवाकोऽधीतः, योजनेनानुवाकोऽधीतः। अपवर्ग इति

किम् ? क्रोशमधीतोऽनुवाकः । मासमधीतः । कर्तृव्यावृत्तौ फल-सिद्धेरभावात् तृतीया न भवति । मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः (म०भा०) ।

अर्थ—पूर्व सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। क्रिया की समाप्ति पर फल प्राप्ति को 'अपवर्ग' कहते हैं।

क्रियासमाप्ति पर फल की प्राप्ति की दशा में कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों से तृतीया होती है; अत्यन्त संयोग गम्यमान हो तो।

उदा० (1) मासेनाऽनुवाकोऽधीतः (= मास भर निरन्तर अध्ययन के पश्चात् अनुवाक समाप्त हुआ)

अष्टकादि वेद में कुछ मन्त्रों के समूह का नाम 'अनुवाक' है। यहाँ कालवाची 'मास' शब्दों के साथ क्रिया (अधीतः) की निरन्तरता है। फल की प्राप्ति भी हुई है। अतः 'मासेन' यहाँ तृतीया हुई।

(2) संवत्सरेणाऽनुवाकोऽधीतः (पूर्ववत्)।

(3) क्रोशेनाऽनुवाकोऽधीतः (= कोस भर चलते-चलते अनुवाक पढ़ लिया)

यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' शब्द के साथ क्रिया 'अधीतः' की निरन्तरता है। फल की प्राप्ति भी हुई है। अतः 'क्रोशेन' यहाँ तृतीया हुई।

(4) योजनेऽनुवाकोऽधीतः (पूर्ववत्)।

अपवर्गे० अर्थात् फल की प्राप्ति की दशा में ही तृतीया होती है—

(5) क्रोशमधीतोऽनुवाकः
क्रोशम्—द्वितीया हुई।

(6) मासमधीतः
मासम्—द्वितीया हुई।

अन्तिम दो उदाहरणो में फल प्राप्ति का अभाव है। इनका अर्थ है कि मास भर अथवा कोस भर पढ़ता रहा; परन्तु समझ में कुछ नहीं आया।

(468) सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये *7* (643)

कालाध्वनोरिति वर्त्तते। कारकयोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यां सप्तमीपञ्चम्यौ विभक्ती भवतः। अद्य भुक्त्वा देव-दत्तो द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता (म०भा०)। त्र्यहे त्र्यहाद्वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्ये कालः। इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे लक्ष्यं विद्ध्यति, क्रोशाल्लक्ष्यं विद्ध्यति (म०भा०)। कर्तृकर्मणोः कारकयोः कर्मापादानयोः कर्माधिकरणयोर्वा मध्ये क्रोशः। संख्यातानुदेशो न भवति, अस्वरितत्वात्।

अर्थ—'कालाध्वनोः' का अनुवर्त्तन है।

दो कारकों के मध्य में अवकाश की सूचना देने वाले कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों में पञ्चमी व सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

उदा० (1) अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे भोक्ता, द्व्यहाद् भोक्ता (= देवदत्त आज खाकर दो दिन बाद खायेगा)

'देवदत्त' एक ही कर्त्ता कारक है, दो कारक नहीं। प्रथम दिन एक शक्ति है तथा दूसरे दिन दूसरी (कारक) शक्ति है। कर्त्ता और उसके भोजन करने के मध्य की अवधि ही समय का अवकाश है। द्व्यहे—सप्तमी हुई। द्व्यहात्—पञ्चमी हुई।

(2) त्र्यहे =त्र्यहाद्वा भोक्ता (पूर्ववत्)।

(3) इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे लक्ष्यं विद्ध्यति, क्रोशाल्लक्ष्यं विद्ध्यति (= यहाँ पर ही बैठा हुआ एक कोस पर लक्ष्यवेध कर सकता है)

यहाँ कर्त्ता व कर्म के मध्य मार्गवाची 'क्रोश' शब्द देश का अवकाश है। अतः क्रोशे—सप्तमी हुई। क्रोशात्—पञ्चमी हुई। यहाँ संख्यात अनुदेश नहीं है। कारण कि स्वरित प्रतिज्ञा नहीं है।

विशेष—'कारक' शब्द का अर्थ है—कर्तृत्व आदि शक्ति से युक्त। अतः कारकों की एक शक्ति होती है। उस शक्ति के आधार पर ही उसे 'कारक' कहा जाता है। उस शक्ति और शक्तिमान् (= कारक) में कोई भेद नहीं होता है। तब 'कारकमध्ये' का अर्थ है—दो कारकों की शक्तियों के बीच।

(469) कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया *8* (548)

कर्मप्रवचनीयैर्युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति। अनुर्लक्षणे (1.4.84)। शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत्। आगस्त्यम-न्वसिञ्चत् प्रजाः।

अर्थ—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्द के योग में द्वितीया होती है—

उदा० (1) शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्

'अनुर्लक्षणे' से 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। प्रकृत सूत्र से द्वितीया हुई।

(2) आगस्त्यमन्वसिञ्चत् प्रजाः (पूर्ववत्)।

(470) यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी *9* (645)

कर्मप्रवचनीययुक्त इति वर्त्तते। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं कर्मप्रवचनीयैर्युक्ते तत्र सप्तमी विभक्तिर्भवति। उप (1.4.87) खार्य्यां द्रोणः। उपनिष्के कार्षापणम्। यस्य चेश्वरवचनमिति स्वस्वामिनोर्द्वयोरपि पर्यायेण सप्तमी विभक्तिर्भवति। अधि (1.4.97) ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्त (म० भा०) इति। द्वितीयापवादो योगः।

अर्थ—'कर्मप्रवचनीययुक्ते' का अनुवर्त्तन है।

जिससे अधिक हो और जिसका सामर्थ्य है, उस शब्द से कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है।

उदा० (1) उपखार्य्यां द्रोणः (= द्रोण खारी से अधिक है)
'उप' की 'उपोधिके च' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'खार्य्याम्' यहाँ सप्तमी हुई।

(2) उपनिष्के कार्षापणम् (पूर्ववत्)।

(3) अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः
'अधि' की 'अधिरीश्वरे' से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। 'ब्रह्मदत्त' शब्द से सप्तमी हुई।

(471) पञ्चम्यपाङ्परिभिः *10* (598)

अप, आङ्, परि–इत्येतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति। अप (1.4.89) त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। परि (1.4.88) त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। अपेन साहचर्यात्परेर्वर्जनार्थस्य ग्रहणम्। तेनेह न भवति–वृक्षं परि (1.4.90) विद्योतते विद्युत्।

अर्थ—अप, आङ् और परि—इन कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा० (1) अपत्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः
'अपपरी वर्जने' से 'अप' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई। तब पञ्चमी हुई।

(2) आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः
'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' के द्वारा समास प्राप्त होता है।

(3) परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः
'अपपरी वर्जने' से 'परि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हुई।

'अप' के साहचर्यवशात् 'परि' यह वर्जन अर्थ में गृहीत है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(4) वृक्षं परि विद्योतते विद्युत्
यहाँ पञ्चमी नहीं हुई।

(472) प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् *11* (600)

मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः। दत्तस्य प्रतिनिर्यातनं प्रतिदानम्। यस्मात्प्रतिनिधिर्यतश्च प्रतिदानं तत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते पञ्चमी विभक्तिर्भवति। अभिमन्युरर्जुनतः प्रति (1.4. 92) । प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति। माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति (1.4.92)। ननु च प्रतिनिधिप्रतिदाने कर्मप्रवचनीययुक्ते, न तु यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने? नैष दोषः, सम्बन्धसम्बन्धात्तस्यापि योगोऽस्त्येव।

अर्थ—जो मुख्य के समान होता है, उसे 'प्रतिनिधि' कहते हैं। दिए हुए का वापिस लौटाना 'प्रतिदान' कहलाता है। जिससे प्रतिनिधित्व हो तथा जिससे प्रतिदानता हो, उससे कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा० (1) अभिमन्युरर्जुनतः प्रति
यहाँ अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। अतः 'अर्जुन' से पञ्चमी विभक्ति हुई।

(2) प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति (पूर्ववत्)।

(3) माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति (= तिलों से माषों को बदलता है)—
'तिल' से 'माषों' को बदलना इष्ट है। अतः 'तिलेभ्यः' पञ्चमी हुई।

ननु च—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान पदार्थवाची का ही कर्मप्रवचनीय के साथ योग रहता है, न कि उनका जिनका प्रतिनिधि है और जिनका प्रतिदान है। इसमें कोई दोष नहीं है। प्रतिनिधि और प्रतिदान का मुख्य और पूर्वगृहीत पदार्थ के साथ सम्बन्ध रहता है। अतः इनके द्वारा सम्बन्ध हो जाने से कर्मप्रवचनीय का योग हो जाता है।

(473) गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि *12* (585)

गत्यर्थानां धातूनां चेष्टाक्रियाणां परिस्पन्दक्रियाणां कर्मणि कारकेऽध्ववर्जिते द्वितीयाचतुर्थ्यौ भवतः। ग्रामं गच्छति। ग्रामाय गच्छति। ग्रामं व्रजति। ग्रामाय व्रजति। गत्यर्थग्रहणं किम्? ओदनं पचति। कर्मणीति किम्? अश्वेन व्रजति। चेष्टायामिति किम्? मनसा पाटलिपुत्रं गच्छति। अनध्वनीति किम्? अध्वानं गच्छति। अध्वनीत्यर्थग्रहणम् (म० भा०)–पन्थानं गच्छति, मार्गं गच्छति।

आस्थित-प्रतिषेधश्चायं विज्ञेयः (म० भा०)। आस्थितः सम्प्राप्तः, आक्रान्त उच्यते। यत्र तु उत्पथेन पन्थानं गच्छति तत्र भवितव्यमेव चतुर्थ्या-पथे गच्छतीति (म० भा०)। द्वितीयाग्रहणं किम्? न चतुर्थ्येव विकल्प्येत, अपवाद-विषयेऽपि यथा स्यात्-ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्ता। कृद्योग-लक्षणा षष्ठी न भवति।

अर्थ—'चेष्टायाम्' पद 'गत्यर्थकर्मणि' का विशेषण है।

गति जिसमें शारीरिक व्यापार हो, की दशा में गत्यर्थक धातु के कर्म में द्वितीया व चतुर्थी होती है यदि कर्म मार्गवाची नहीं हों। गम्, चल्, इण् या तथा व्रज् आदि धातुओं का अर्थ 'गति' है।

उदा० (1) ग्रामं गच्छति

गत्यर्थक 'गम्' धातु है, इस धातु का कर्म 'ग्राम' है, जो मार्ग-वाची नहीं है, शारीरिक व्यापार भी है। अतः कर्म 'ग्राम' से द्वितीया हुई।

(2) ग्रामाय गच्छति

पूर्ववत् चतुर्थी हुई।

(3) ग्रामं व्रजति

पूर्ववत् द्वितीया।

(4) ग्रामाय व्रजति

चतुर्थी हुई।

गत्यर्थ० अर्थात् गति अर्थ वाले धातु के कर्म से ही द्वितीया व चतुर्थी होती है—

(5) ओदनं पचति

'पच्' धातु गत्यर्थक नहीं है। इसका कर्म 'ओदन' है, जो मार्गवाची नहीं है। तब 'ओदन' से द्वितीया व चतुर्थी नहीं हुई। 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया हुई।

कर्मणि० अर्थात् गत्यर्थक धातु के कर्म में ही द्वितीया व चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं—

(6) अश्वेन व्रजति

'व्रज्' गत्यर्थक धातु है। 'अश्व' करण है, कर्म न होने से द्वितीया व चतुर्थी नहीं हुई।

चेष्टायाम् अर्थात् शारीरिक व्यापार होने की दशा में ही कर्म से द्वितीया व चतुर्थी होती है—

(7) मनसा पाटलिपुत्रं गच्छति

गत्यर्थक 'गम्' धातु है, परन्तु शारीरिक व्यापार नहीं हो रहा है। अतः द्वितीया व चतुर्थी विभक्तियाँ नहीं हुई।

अनध्वनि अर्थात् कर्म के मार्गवाची न होने की दशा में ही कर्म से द्वितीया व चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं—

(8) अध्वानं गच्छति

गत्यर्थक 'गम्' धातु है। शारीरिक व्यापार है। इसका कर्म 'अध्वन्' मार्गवाची है। अतः द्वितीया व चतुर्थी विभक्तियाँ नहीं हुई। सामान्य द्वितीया हुई है।

'अध्वन्' शब्द के पर्यायशब्दों का ग्रहण इष्ट है। अतः निम्नलिखित में भी द्वितीया व चतुर्थी नहीं होती है—

(9) पन्थानं गच्छति।

(10) मार्गं गच्छति।

आस्थित—अध्वन् के प्रतिषेध को आस्थित का प्रतिषेध मानना चाहिए। 'आस्थित' का अर्थ है—सम्प्राप्त (अर्थात् आक्रान्त)। जहाँ विपरीत मार्ग से जाता है, वहाँ कर्म में चतुर्थी होती ही है—

(10) पथे गच्छति

द्वितीया० अर्थात् सूत्र में द्वितीया के ग्रहण का प्रयोजन है कि अपवादविषय में भी द्वितीया हो जाय। यथा—

(11) ग्रामाय गन्ता

चतुर्थी हुई है।

(12) ग्रामं गन्ता

कृत् प्रत्यय का योग होने से 'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी नहीं हुई।

(474) चतुर्थी सम्प्रदाने *13* (570)

सम्प्रदाने कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। उपाध्यायाय गां ददाति। माणवकाय भिक्षां ददाति। देवदत्ताय रोचते। पुष्पेभ्यः स्पृहयति इत्यादि। *चतुर्थीविधाने तादर्थ्ये उप-संख्यानम्* (म० भा०)। यूपाय दारु। कुण्डलाय हिर-ण्यम्। रन्धनाय स्थाली। अवहननायोलूखलम्। *क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या* (म० भा०)। मूत्राय कल्पते यवागूः। क्लृपीत्यर्थनिर्देशः। मूत्राय सम्पद्यते यवागूः, मूत्राय जायते यवागूः। *उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्त-व्या* (म० भा०)।

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

***हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या* (म०भा०)। गोभ्यो हितम्। अरोचकिने हितम्।**

अर्थ—अनुक्त सम्प्रदानसंज्ञक कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदा० (1) उपाध्यायाय गां ददाति
'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' के द्वारा 'उपाध्याय' की सम्प्रदान संज्ञा, प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उपाध्याय' से चतुर्थी विभक्ति हुई।

(2) माणवकाय भिक्षां ददाति (पूर्ववत्)।
(3) देवदत्ताय रोचते
'रुच्यर्थानां' से 'देवदत्त' की सम्प्रदान संज्ञा, प्रकृत सूत्र के द्वारा चतुर्थी हुई।

(4) पुष्पेभ्यः स्पृहयति
'स्पृहेरीप्सितः' से 'पुष्प' की सम्प्रदान संज्ञा तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा चतुर्थी हुई।

चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसंख्यानम्—'तादर्थ्य' में चतुर्थी होती है। भाव यह है कि जिस अर्थ के लिए कोई काम किया जाता है, उस प्रयोजन में चतुर्थी होती है। यह दो प्रकार से होता है—

(क) जिस वस्तु के निर्माण में किसी द्रव्य का प्रयोग होता हो, उस द्रव्यवाची शब्द से चतुर्थी होती है—

(5) यूपाय दारु
'यूप' प्रकृति तथा 'दारु' विकृति है। 'यूप' शब्द से चतुर्थी हुई।

(6) कुण्डलाय हिरण्यम् (पूर्ववत्)।

(ख) जिस प्रयोजन के लिए कोई कार्य किया जाय, उस प्रयोजनवाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है—

(7) मुक्तये हरिं भजति
यहाँ 'मुक्ति' प्रयोजन है। इसके लिए हरिस्मरण है। अतः चतुर्थी हुई। मुक्ति 'उपकार्य' तथा हरि 'उपकारक' है।

(8) रन्धानाय स्थाली (पूर्ववत्)।
(9) अवहननायोलूखलम् (पूर्ववत्)।

क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या—'क्लृप्' (= उत्पन्न होना, सम्पन्न होना) धातु के प्रयोग में और उसके समानार्थक (सम्, पद, भू, जन् आदि) धातुओं के प्रयोग में जिसका सम्पादन होता है, उसके वाचक शब्द से चतुर्थी होती है—

(10) मूत्राय कल्पते यवागू
'क्लृप्' धातु के योग में 'मूत्र' से चतुर्थी हुई।
(11) उच्चाराय कल्पते यवागू (पूर्ववत्)।
(12) मूत्राय सम्पद्यते यवागू (पूर्ववत्)।
(13) मूत्राय जायते यवागू (पूर्ववत्)।

उत्पातेन ज्ञाप्यमाने चतुर्थी वक्तव्या—उत्पात के द्वारा ज्ञापित वस्तु के वाचक शब्द से चतुर्थी होती है। प्राणियों के लिये शुभ या अशुभ के सूचक भौतिक विकार को उत्पात कहते हैं—

(14) वाताय कपिला विद्युत्
'वात' ज्ञापित विकार है। 'कपिला' उत्पात है। अतः 'वाताय' यहाँ चतुर्थी हुई।

(15) आतपायाति लोहिनी (पूर्ववत्)।
(16) पीता वर्षाय विज्ञेया (पूर्ववत्)।
(17) दुर्भिक्षाय सिता भवेत् (पूर्ववत्)।

अन्तिम चार उदाहरणों को काशिकाकार ने श्लोकबद्ध कर दिया है।

हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या—'हित' शब्द के योग में चतुर्थी होती है—

(18) गोभ्यो हितम्
'गो' से चतुर्थी हुई।
(19) अरोचकिने हितम् (पूर्ववत्)।

(475) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः *14* (581)

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य, सोऽयं क्रियार्थोपपदः। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (3.3.10) इत्येष विषयो लक्ष्यते। क्रियार्थोपपदस्य च स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। द्वितीयापवादोऽयं योगः। एधेभ्यो व्रजति। पुष्पेभ्यो व्रजति। क्रियार्थोपपदस्येति किम्? प्रविश पिण्डीम्। प्रविश तर्पणम्। भक्षिरत्र स्थानी, न तु क्रियार्थोपपदः। कर्मणीति किम्? एधेभ्यो व्रजति शकटेन। स्थानिन इति किम्? एधानाहर्तुं व्रजति।

अर्थ—क्रिया के लिए जो क्रिया, वह है उपपद जिसकी, उसे 'क्रियार्थोपपद' कहते हैं। क्रिया जिसका प्रयोजन हो, उसे 'क्रियार्था क्रिया' कहते हैं। 'क्रियार्थोपपदस्य' तथा 'स्थानिनः' पदों में विशेषण-विशेष्यभाव है। 'स्थानी' का अर्थ होता है—अप्रयु-

ज्यमान। 'तुमुन् ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' यह विषय ही प्रकृत सूत्र के द्वारा लक्षित होता है।

क्रियार्था क्रिया जिसका उपपद है, उस अप्रयुज्यमान क्रिया के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदा० (1) एधेभ्यो व्रजति

यहाँ एधाहरण क्रिया के लिए व्रजनरूप क्रिया की गई है। 'व्रजति' पद तुमुन् प्रत्ययान्त 'आहर्तुम्' पद का उपपद है। 'आहर्तुम्' का प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं है, अपितु इसका अर्थ छिपा हुआ है। अतः 'एधेभ्यः' यहाँ चतुर्थी हुई।

(2) पुष्पेभ्यो व्रजति (पूर्ववत्)।

क्रियार्थोपप० अर्थात् **क्रियार्था क्रिया है उपपद** जिसका, उस क्रिया के कर्म में चतुर्थी होती है—

(3) प्रविश पिण्डिम्

यहाँ 'भक्षि' धातु अप्रयुज्यमान है; परन्तु क्रियार्थोपपद नहीं है। अतः चतुर्थी नहीं हुई।

कर्मणि अर्थात् अप्रयुज्यमान क्रिया के कर्म में ही चतुर्थी होती है—

(4) एधेभ्यो व्रजति शकटेन

अप्रयुज्यमान क्रिया 'आहरण' का कर्म 'एध' है तथा 'शकट' नहीं है। अतः 'शकट' से चतुर्थी नहीं हुई।

स्थानिनः अर्थात् **अप्रयुज्यमान क्रिया** के कर्म में चतुर्थी होती है—

(5) एधानाहर्तुं व्रजति

यहाँ आहरण क्रिया प्रयुज्यमान है। अतः इसके कर्म 'एध' से चतुर्थी नहीं हुई।

(476) तुमर्थाच्च भाववचनात् *15* (582)

तुमुना समानार्थस्तुमर्थः। तुमर्थभाववचनप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाच्चतुर्थी विभक्तिर्भवति। 'भाववचनाश्च' (3.3.11) इति वक्ष्यति, तस्येदं ग्रहणम्। पाकाय व्रजति। त्यागाय व्रजति। भूतये व्रजति। सम्पत्तये व्रजति। तुमर्थादिति किम्? पाकः, त्यागः, रागः। भाववचनादिति किम्? कारको (3.3.10) व्रजति।

अर्थ—तुमुन् के समान अर्थ वाले को 'तुमर्थ' कहते हैं। भाव अर्थ में कहने के लिए 'घञ्' आदि जिन भाववाचक प्रत्ययों का विधान 'तुमुन्' के अर्थ में होता है, वे प्रत्यय हैं अन्त में जिनके, ऐसे शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है। 'भाववचनाश्च' (3.3.11) सूत्र आगे कहा जायेगा। इसके द्वारा भाव अर्थ में 'घञ्' आदि प्रत्यय होते हैं। उसी का यहाँ ग्रहण है।

उदा० (1) पाकाय व्रजति

'पाकाय' का अर्थ है—पक्तुम्। यहाँ तुमुन् के अर्थ को 'घञ्' प्रत्यय के द्वारा सम्पादित किया जा रहा है। अतः 'पाक' शब्द से चतुर्थी हुई।

(2) त्यागाय व्रजति (पूर्ववत्)।

(3) भूतये व्रजति (पूर्ववत्)।

तुमर्थाच्च अर्थात् **तुमर्थक** भाववचन प्रत्यय जिसके अन्त में है, उससे चतुर्थी होती है—

(4) पाकः

'पच्' से 'घञ्' करके 'पाकः' बनता है। यहाँ भाववचन प्रत्यय तो है, परन्तु वह तुमुन् के अर्थ में नहीं है। अतः चतुर्थी नहीं हुई।

(5) त्यागः (सपूर्ववत्)।

(6) रागः (सपूर्ववत्)।

भाववचना० अर्थात् तुमर्थक **भाववाची** प्रत्यय जिसके अन्त में है, उस शब्द से चतुर्थी होती है—

(7) कारको व्रजति

'कृ' से 'ण्वुल्' हुआ। यहाँ तुमर्थक प्रत्यय तो है, परन्तु वह भाववाची नहीं है। अतः चतुर्थी नहीं हुई।

(477) नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं-वषड्योगाच्च *16* (583)

नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषट्–इत्येतैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। नमो देवेभ्यः (मै० 1.2.13)। स्वस्ति प्रजाभ्यः। स्वाहाऽग्नये (तै० 1.8.13.1)। स्वधा पितृभ्यः (मै० 1.2.13)। अलं मल्लो मल्लाय (म० भा०)। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्–प्रभुर्मल्लो मल्लाय, शक्तो मल्लो मल्लाय (म० भा०)। वषडग्नये। वषडिन्द्राय (ऋ० 7.97.7)। चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थः, तेनाशीर्विवक्षायामपि षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति–स्वस्ति गोभ्यो भूयात्, स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यः (म० भा०)।

अर्थ—नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् तथा वषट्— इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदा० (1) नमो देवेभ्यः
'नमस्' के योग में 'देव' से चतुर्थी हुई।

(2) स्वस्ति प्रजाभ्यः
'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' से चतुर्थी हुई।

(3) स्वाहाऽग्नये
'स्वाहा' के योग में 'अग्नि' से चतुर्थी हुई।

(4) स्वधा पितृभ्यः
'स्वधा' के योग में 'पितृ' से चतुर्थी हुई।

(5) अलं मल्लो मल्लाय
'अलम्' का अर्थ है—पर्याप्त।[1] इसी अर्थ में 'अलम्' के योग में 'मल्लाय' यहाँ चतुर्थी हुई है।

(6) प्रभुर्मल्लो मल्लाय (पूर्ववत्)।

आचार्य पाणिनि के सूत्रपाठ से ज्ञापित होता है कि आचार्य को 'पर्याप्त' अर्थ में 'अलम्' शब्द के समानार्थक 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में चतुर्थी व षष्ठी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं—

(क) तस्मै प्रभवति 5.1.101—चतुर्थी हुई है।
(ख) स एषां ग्रामणीः 5.2.78—षष्ठी हुई है।

इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का निम्नलिखित पद्य (नै० 1.49) भी द्रष्टव्य है—

प्रभुर्बुभुषुर्भुवनत्रयस्य।

(7) शक्तो मल्लो मल्लाय (पूर्ववत्)।
(8) वषडग्नये
'वषट्' के योग में 'अग्नि' शब्द से चतुर्थी हुई।

(9) वषडिन्द्राय (पूर्ववत्)।

चकारः—चकार का योग समुच्चय के अर्थ में हुआ है। तब आशीर्वाद की विवक्षा में षष्ठी का बाध करके चतुर्थी ही होती है—

(10) स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।
यहाँ आशीर्वाद अर्थ में 'स्वस्ति' के योग में चतुर्थी हुई है।

(11) स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यः।

सूत्रोक्त सभी पद अव्यय हैं। तदपि 'स्वस्ति' शब्द का अव्यय तथा अनव्यय—दोनों रूपों में प्रयोग प्राप्त होता है—

(12) स्वस्तिर्भवतु ते सदा।

कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति—इस प्रकार दो प्रकार की विभक्तियाँ होती हैं। उपपद के योग में होने वाली विभक्ति को 'उपपद विभक्ति' कहते हैं। कारक विभक्ति उपपद विभक्ति से बलवान् होती है। यथा—

'नमः' के योग में चतुर्थी उपपद विभक्ति होती है, परन्तु नमस् पूर्वक 'कृ' धातु तथा 'नमस्य' (क्यजन्त) धातु के प्रयोग में कारक विभक्ति उपपद विभक्ति का बाध करके द्वितीया विभक्ति होती है—

नमस्यामो देवान्।
गुरुं नमस्करोति देवः।

(478) मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु *17* (584)

मन्यतेः कर्मणि मन्यकर्मणि। मन्यकर्मणि प्राणिवर्जिते विभाषा चतुर्थी विभक्तिर्भवति अनादरे गम्यमाने। अनादरस्तिरस्कारः। न त्वां तृणं मन्ये, न त्वां तृणाय मन्ये। न त्वां बुसं मन्ये, न त्वां बुसाय मन्ये। मन्यतिग्रहणं किम्? न त्वां तृणं चिन्तयामि। विकरणनिर्देशः किमर्थः? न त्वां तृणं मन्वे। अनादर इति किम्?

अश्मानं दृषदं मन्ये मन्ये काष्ठमुलूखलम्।
अन्धायास्तं सुतं मन्ये यस्य माता न पश्यति॥

अप्राणिष्विति किम्? न त्वां श्रृगालं मन्ये। *यदेतदप्राणिष्विति तदनावादिष्विति वक्तव्यम्* (म०भा०)। व्यवस्थितविभाषा च ज्ञेया। न त्वां नावं मन्ये। यावत्तीर्णं न नाव्यम्। न त्वामन्नं मन्ये। यावन्न भुक्तं श्राद्धम्। प्राणिषु तूभयम्-न त्वां काकं मन्ये (म०भा०)। न त्वां श्रृगालं मन्ये। इह चतुर्थी द्वितीया च भवतः-न त्वां श्वानं मन्ये। न त्वां शुने मन्ये (म०भा०)। युष्मदः कस्मान्न भवति चतुर्थी, एतदपि हि मन्यतेः कर्म? व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादेव न भवति।

अर्थ—'मन्' धातु का जो कर्म है, वह 'मन्यकर्म' कहलाता है। यदि 'मन्' धातु का कर्म प्राणिवाची न हो तो उस कर्म में चतुर्थी विभक्ति विकल्प से होती है, अनादर अर्थ गम्यमान हो तो।

1. 'अलम्' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा—
(क) निषेध अर्थ—अलं महीपाल तव श्रमेण (रघु०)।
(ख) शोभा अर्थ में—श्रीमन्त आचार्यपदम् अलङ्कुर्वन्ति।
(ग) पर्याप्त अर्थ—अलं रामो रावणाय।

उदा० (1) न त्वां तृणं मन्ये

'मन्' धातु का कर्म 'तृण' है, जो प्राणिवाची नहीं है। अनादर अर्थ में 'तृण' से चतुर्थी विकल्प से हुई। पक्ष में द्वितीया हुई।

(2) न त्वां तृणाय मन्ये

चतुर्थी हुई।

(3) न त्वां बुसं मन्ये (पूर्ववत्)।

(4) न त्वां बुसाय मन्ये (पूर्ववत्)।

मन् धातु दिवादिगण व तनादिगण में पठित है। सूत्र में 'मन्य' इस प्रकार निर्देश से यहाँ दिवादिगणी 'मन्' का ग्रहण होता है।

मन्यते अर्थात् 'मन्' धातु के कर्म में चतुर्थी होती है—

(5) न त्वां तृणं चिन्तयामि

यहाँ 'मन्' धातु का प्रयोग नहीं है, उसके समानार्थक 'चिन्त्' धातु का प्रयोग है। अतः चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई।

अनादरे अर्थात् तिरस्कार अर्थ गम्यमान हो तो चतुर्थी विभक्ति होती है—

(6) अश्मानं दृषदं मन्ये

यहाँ अनादर अर्थ नहीं है। अतः चतुर्थी नहीं हुई।

(7) मन्ये काष्ठमुलूखलम् (पूर्ववत्)।

(8) तं सुतं मन्ये (पूर्ववत्)।

अन्तिम तीन उदाहरणों को काशिकाकार ने श्लोकबद्ध कर दिया है।

अप्रणिषु अर्थात् कर्म प्राणिवाचि न हो तो चतुर्थी विकल्प से होती है—

(9) न त्वां श्रृगालं मन्ये

यहाँ 'मन्' धातु का कर्म प्राणिवाची है। अतः तिरस्कार अर्थ रहते भी चतुर्थी नहीं हुई।

यदेतदप्राणिष्विति तदनावादिष्विति वक्तव्यम्—जहाँ 'मन्' धातु का कर्म 'नौ' आदि का वाचक न हो; वहाँ ही चतुर्थी विकल्प से होती है। यह व्यवस्थित विभाषा है। महाभाष्यकार के अनुसार 'नावादि' के द्वारा नौ, काक, अन्न, शुक व श्रृगाल—इन शब्दों का ग्रहण होता है—

(10) न त्वां नावं मन्ये

द्वितीया हुई।

(11) न त्वामन्नं मन्ये (पूर्ववत्)।

(12) न त्वां काकं मन्ये

द्वितीया हुई।

(13) न त्वां श्रृगालं मन्ये

द्वितीया हुई।

(14) न त्वां श्वानं मन्ये

द्वितीया हुई।

(15) न त्वां शुने मन्ये

चतुर्थी हुई।

युष्मदः—अब शङ्का होती है कि 'त्वाम्' यहाँ चतुर्थी क्यों नहीं हुई ? यह भी 'मन्' धातु का कर्म है। समाधान यह है कि व्यवस्थित विभाषा के कारण यहाँ चतुर्थी नहीं होती है।

(479) कर्तृकरणयोस्तृतीया *18* (561)

कर्त्तरि करणे च कारके तृतीया विभक्तिर्भवति। देवदत्तेन कृतम्। यज्ञदत्तेन भुक्तम्। करणे–दात्रेण लुनाति, परशुना छिनत्ति। *तृतीयाविधाने प्रकृत्यादीनामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। प्रकृत्याऽभिरूपः। प्रकृत्या दर्शनीयः। प्रायेण याज्ञिकः। प्रायेण वैयाकरणः। गार्ग्योऽस्मि गोत्रेण। समेन धावति। विषमेण धावति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। पञ्चकेन पशून् क्रीणाति। सहस्रेण पशून् क्रीणाति (म०भा०)।

अर्थ—अनुक्त कर्त्ता व करण में तृतीया होती है।

कर्मवाच्य व भाववाच्य में कर्त्ता अनुक्त तथा कर्तृवाच्य में उक्त रहता है।

उदा० (1) देवदत्तेन कृतम्

'देवदत्त' कर्त्ता है, जो अनुक्त है। तृतीया हुई।

(2) यज्ञदत्तेन भुक्तम्

अनुक्त कर्त्ता में तृतीया हुई।

(3) दात्रेण लुनाति

करण में तृतीया हुई।

(4) परशुना छिनत्ति (पूर्ववत्)।

तृतीयाविधाने प्रकृत्यादीनामुपसंख्यानम्—प्रकृति आदि शब्दों में तृतीया होती है—

(5) प्रकृत्याऽभिरूपः

'प्रकृति' से तृतीया हुई।

(6) प्रकृत्या दर्शनीयः (पूर्ववत्)।
(7) प्रायेण याज्ञिकः (पूर्ववत्)।
(8) प्रायेण वैयाकरणः (पूर्ववत्)।
(9) गार्ग्योऽस्मि गोत्रेण (पूर्ववत्)।
(10) समेन धावति (पूर्ववत्)।
(11) विषमेण धावति (पूर्ववत्)।
(12) द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (पूर्ववत्)।
(13) पञ्चकेन पशून् क्रीणाति (पूर्ववत्)।
(14) सहस्रेण पशून् क्रीणाति (पूर्ववत्)।

(480) सहयुक्तेऽप्रधाने *19* (564)

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति। पुत्रेण सहागतः पिता। पुत्रेण सह गोमान्। पितुरत्र क्रियादि-सम्बन्धः शब्देनोच्यते, पुत्रस्य तु प्रतीयमान इति तस्या-प्राधान्यम्। सहार्थेन योगे तृतीयाविधानात्पर्यायप्रयोगेऽपि भवति–पुत्रेण सार्द्धमिति। विनापि सहशब्देन भवति, 'वृद्धो यूना' (1.2.65) इति निपातनात्। अप्रधान इति किम्? शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः।

अर्थ—'सह' अव्यय तथा सह के वाचक शब्दों के योग में अप्रधान में तृतीया होती है।

उदा० (1) पुत्रेण सहागतः पिता
'सह' अव्यय के योग में 'पुत्र' शब्द से तृतीया हुई।

(2) पुत्रेण सह गोमान् (पूर्ववत्)।
(3) पुत्रेण सार्द्धम्
पूर्ववत तृतीया हुई।

सहार्थेन—सहवाची के योग में विधान किए जाने से पर्याय शब्दों के योग में भी तृतीया होती है। 'सह' शब्द के अप्रयुज्यमान रहते भी तृतीया होती है। यहाँ आचार्य का निम्नलिखित सूत्रपाठ ज्ञापक है—

(4) वृद्धो यूना
यहाँ 'सह' शब्द अर्थतः उपलब्ध होता है।

अप्रधाने अर्थात् गौण शब्द में ही तृतीया होती है—

(5) शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः
यहाँ 'गौ' प्रधान है तथा 'शिष्य' अप्रधान है। अतः तृतीया हुई। 'उपाध्याय' के अप्रधान न रहने से इसमें तृतीया नहीं होती है।

(481) येनाङ्गविकारः *20* (565)

अङ्गशब्दोऽत्राङ्गसमुदाये शरीरे वर्त्तते, येनेति च तदवयवो हेतुत्वेन निर्दिश्यते। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया विभक्तिर्भवति। अक्ष्णा काणः। पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः। अवयवधर्मेण समुदायो व्यपदिश्यते। अङ्गविकार इति किम्? अक्षि काणमस्य (म० भा०)।

अर्थ—यहाँ 'अङ्ग' शब्द अङ्गों के समुदायरूप 'शरीर' के अर्थ में है। 'येन' इस प्रकार उसके अवयव का हेतु होने के कारण निर्देश है।

(शरीर के) जिस विकृत अङ्ग के द्वारा (शरीर का) विकार होता है, उस अवयववाची शब्द से तृतीया होती है।

उदा० (1) अक्ष्णा काणः
काणत्व एक विकार है, जो 'अक्षि' अवयव के द्वारा लक्षित होता है। अतः 'अक्ष्णा' यहाँ तृतीया हुई।

(2) पादेन खञ्जः (पूर्ववत्)।
(3) पाणिना कुण्ठः (पूर्ववत्)।

अवयव धर्म से समुदाय का व्यपदेश किया जाता है।

अङ्गविकार अर्थात् जिसके द्वारा **अङ्गविकार** लक्षित हो, उसके वाचक शब्द से तृतीया होती है—

(4) अक्षि काणमस्य
यहाँ केवल अङ्गविकार सूचित किया गया है तथा 'काणत्व' रूप शरीर का विकार लक्षित नहीं है। अतः तृतीया नहीं हुई।

(482) इत्थम्भूतलक्षणे *21* (566)

कञ्चित्प्रकारं प्राप्त इत्थम्भूतः, तस्य लक्षणमित्थम्भूत-लक्षणम्, ततस्तृतीया विभक्तिर्भवति। अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् (म० भा०)। छात्रेणोपाध्यायम्। शिखया परिव्राजकम्। इह न भवति–कमण्डलुपाणिश्छात्र इति, लक्षणस्य समासेऽन्तर्भूतत्वात्। इत्थम्भूत इति किम्? वृक्षं प्रति विद्योतनम्।

अर्थ—वह इस प्रकार है—यह इथम्भूत कहलाता है। इसका कथन ही इत्थम्भूत लक्षण कहलाता है।

'वह इस प्रकार है'—इस प्रकार कथन की दशा में लक्षणवाची शब्द से तृतीया होती है।

उदा० (1) अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्

यहाँ 'कमण्डलु' के द्वारा उसका छात्रत्व प्रतीत होता है। अतः लक्षणवाची 'कमण्डलु' शब्द से तृतीया हुई।

(2) छात्रेणोपाध्यायम् (पूर्ववत्)।
(3) शिष्यया परिव्राजकम् (पूर्ववत्)।
(4) कमण्डलुपाणिश्छात्रः
यहाँ सामान्य कथन है, लक्षण का कथन नहीं है तथा लक्षण का समास में अन्तर्भाव हो गया है; अतः तृतीया नहीं हुई।

इत्थम्भूत अर्थात् वह इस प्रकार हैं—इस प्रकार कथन होने पर ही तृतीया होती है—

वृक्षं प्रति विद्योतनम्
यहाँ 'वह इस प्रकार है' इस प्रकार कथन नहीं है। अतः तृतीया नहीं हुई।

(483) संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि *22* (567)

सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि कारके द्वितीयायां प्राप्तायामन्यतरस्यां तृतीया विभक्तिर्भवति। पित्रा सञ्जानीते। पितरं सञ्जानीते। मात्रा सञ्जानीते। मातरं सञ्जानीते (म० भा०)।

अर्थ—'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' धातु के अनुक्त कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है। पक्ष में द्वितीया होती है।

उदा० (1) पित्रा सञ्जानीते
तृतीया हुई।
(2) पितरं सञ्जानीते
द्वितीया हुई।
(3) मात्रा सञ्जानीते (पूर्ववत्)।
(4) मातरं सञ्जानीते (पूर्ववत्)।

(484) हेतौ *23* (568)

फलसाधनयोग्यः पदार्थो लोके हेतुरुच्यते। तद्वाचिनस्तृतीया विभक्तिर्भवति। धनेन कुलम्। कन्यया शोकः। विद्यया यशः।

अर्थ—लोक में फलसाधन के योग्य पदार्थ को 'हेतु' कहते हैं। हेतुवाची शब्द में तृतीया होती है।

उदा० (1) धनेन कुलम्
कुलीनता में 'धन' हेतु है। इससे तृतीया हुई।
(2) कन्यया शोकः (पूर्ववत्)।
(3) विद्यया यशः (पूर्ववत्)।

विशेष—1. इस सूत्र में 'फल' को हेतु कहा गया है—
(4) अध्ययनेन वसति
यहाँ अध्ययन 'गुरुकुल निवास' का 'फल' व 'हेतु' दोनों है। जहाँ मात्र 'फल' का कथन ही इष्ट हो, वहाँ चतुर्थी होती है—

(5) अध्ययनाय वसति
यहाँ केवल फलकथन है।

2. महर्षि पतञ्जलि के अनुसार क्रिया के श्रूयमाण अथवा गम्यमान रहते—दोनों दशाओं में तृतीया विभक्ति होती है—

(6) अलं महीपाल, तव श्रमेण (रघु०)
यहाँ क्रिया साक्षात् श्रूयमाण नहीं है; अपितु 'तव श्रमेण साध्यं नास्ति' इस प्रकार अर्थातः उपलब्ध होता है। तब यहाँ तृतीया हो गई।

(485) अकर्तर्यृणे पञ्चमी *24* (601)

हेताविति वर्त्तते। कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुस्ततः पञ्चमी विभक्तिर्भवति। तृतीयापवादो योगः। शताद् बद्धः। सहस्राद् बद्धः। अकर्त्तरीति किम्? शतेन बन्धितः। शतमृणं च भवति, प्रयोजकत्वाच्च कर्तृसंज्ञकम्।

अर्थ—'हेतौ' का अनुवर्त्तन है। यह तृतीया का अपवाद है। यदि ऋणवाची शब्द स्वयं कर्त्ता न होकर किसी कार्य का हेतु हो तो उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा० (1) शताद् बद्धः
'शत' शब्द ऋण का परिमाण है। यह कर्त्ता से भिन्न है। परन्तु बन्धनरूप क्रिया का हेतु है। अतः इससे पञ्चमी हुई।

(2) सहस्राद् बद्धः (पूर्ववत्)।

अकर्त्तरीति अर्थात् स्वयं कर्त्ता न हो तो ऋणवाची शब्द से पञ्चमी होती है—

(3) शतेन बन्धितः
यहाँ 'शत' उत्तमर्ण को अधमर्ण के बन्धन के लिए प्रेरित करता है। अतः प्रेरक कर्त्ता हुआ। तब पञ्चमी नहीं हुई।

(486) विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् *25* (602)

हेताविति वर्त्तते। गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे विभाषा पञ्चमी विभक्तिर्भवति। जाड्याद् बद्धः। जाड्येन बद्धः। पाण्डित्यान् मुक्तः। पाण्डित्येन मुक्तः। गुणग्रहणं किम्? धनेन कुलम्। अस्त्रियामिति किम्? बुद्ध्या मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः।

अर्थ—'हेतौ' का अनुवर्त्तन है।

हेतुवाची तथा गुणवाची शब्दों से पञ्चमी विभक्ति विकल्प से होती है, यदि स्त्रीलिङ्ग शब्द न हो तो।

उदा० (1) जाड्याद् बद्धः
'जाड्य' गुणवाचक है। पञ्चमी हुई।

(2) जाड्येन बद्धः
पक्ष में तृतीया हुई।

(3) पाण्डित्याद् मुक्तः
पञ्चमी हुई।

(4) पाण्डित्येन मुक्तः
तृतीया हुई।

गुणग्रहणं अर्थात् गुणवाची शब्द से ही पञ्चमी होती है—

(5) धनेन कुलम्
'धन' गुणवाची नहीं है। अतः पञ्चमी नहीं हुई।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में पञ्चमी नहीं होती है—

(6) बुद्ध्या मुक्तः
'बुद्धि' स्त्रीलिङ्ग है। अतः पञ्चमी नहीं हुई।

(7) प्रज्ञया मुक्तः
पञ्चमी नहीं हुई।

(487) षष्ठी हेतुप्रयोगे *26* (607)

हेतोः प्रयोगो हेतुप्रयोगः। हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति। अन्नस्य हेतोर्वसति।

अर्थ—हेतु के प्रयोग को 'हेतुप्रयोग' कहते हैं।

हेतु शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य होने पर हेतु के द्योतक शब्द से तथा हेतु शब्द से (अर्थात् दोनों से) षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा० (1) अन्नस्य हेतोर्वसति
यहाँ 'अन्न' शब्द तथा 'हेतु' शब्द—दोनों में षष्ठी हुई है।

(488) सर्वनाम्नस्तृतीया च *27* (608)

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया विभक्तिर्भवति षष्ठी च। पूर्वेण षष्ठ्यामेव प्राप्तायामिदमुच्यते। कस्य हेतोर्वसति। केन हेतुना वसति। यस्य हेतोर्वसति। येन हेतुना वसति। *निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्* (म०भा०)। किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन वसति। कस्मै निमित्ताय वसति। कस्मान्निमित्ताद्वसति। कस्य निमित्तस्य वसति। कस्मिन्निमित्ते वसति। एवं कारणहेत्वोरप्युदाहार्यम्। अर्थग्रहणं चैतत्। पर्यायोपादानं तु स्वरूपविधिर्मा विज्ञायीति। तेनेहापि भवति–किं प्रयोजनं वसति। केन प्रयोजनेन वसति। कस्मै प्रयोजनाय वसति। कस्मात्प्रयोजनाद् वसति। कस्य प्रयोजनस्य वसति। कस्मिन् प्रयोजने वसति।

अर्थ—हेतु शब्द के प्रयोग में तथा हेतु के विशेषणवाची सर्वनामसंज्ञक शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य होने पर तृतीया विभक्ति होती है तथा षष्ठी भी होती है।

पूर्व सूत्र के द्वारा षष्ठी के प्राप्त होने पर यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) कस्य हेतोर्वसति
सर्वनाम शब्द (किम्) से तथा हेतु शब्द से षष्ठी हुई।

(2) केन हेतुना वसति
दोनों में तृतीया हुई।

(3) यस्य हेतोर्वसति (पूर्ववत्)।

(4) येन हेतुना वसति (पूर्ववत्)।

निमित्तकारणहेतुषु—निमित्त, कारण तथा हेतु आदि शब्दों के प्रयोग में पूर्वोक्त स्थिति में प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं—

(5) किं निमित्त वसति ?
द्वितीया हुई।

(6) केन निमित्तेन ?
तृतीया हुई।

(7) कस्मै निमित्ताय वसति ?
चतुर्थी हुई।

(8) कस्मान्निमित्ताद् वसति ?
पञ्चमी हुई।

(9) कस्य निमित्तस्य वसति ?
षष्ठी हुई।

(10) कस्मिन् निमित्ते वसति ?
सप्तमी हुई।

इसी प्रकार 'कारण' व 'हेतु' के सम्बन्ध में जानना चाहिए—

(11) कं कारणं वसति ?

(12) केन कारणेन वसति ?

(13) कस्मै कारणाय वसति ?

(14) कस्मात् कारणाद् वसति ?
(15) कस्य कारणस्य वसति ?
(16) कस्मिन् कारणे वसति ?
(17) कं हेतुं वसति ?
(18) केन हेतुना वसति ?
(19) कस्मै हेतवे वसति ?
(20) कस्माद् हेतोः वसति ?
(21) कस्य हेतोः वसति ?
(22) कस्मिन् हेतौ वसति ?

अर्थग्रहणम्—यहाँ पर अर्थ का ग्रहण है। पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण इसलिए किया गया है कि स्वरूपविधि न समझी जाय। यथा—

(23) केन प्रयोजनेन वसति ?
(24) कस्मै प्रयोजनाय वसति ?
(25) कस्मात् प्रयोजनात् वसति ?
(26) कस्य प्रयोजनस्य वसति ?
(27) कस्मिन् प्रयोजने वसति ?

(489) अपादाने पञ्चमी *28* (587)

अपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति। ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। वृकेभ्यो बिभेति। अध्ययनात्पराजयते। *पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। प्रासादमारूह्य प्रेक्षते, प्रासादात् प्रेक्षते। *अधिकरणे चोपसंख्यानम्* (म० भा०)। आसने उपविश्य प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते, शयनात् प्रेक्षते। *प्रश्नाख्यानयोश्च पञ्चमी वक्तव्या* (म० भा०)। कुतो भवान् ? पाटलिपुत्रात्। *यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी वक्तव्या* (म० भा०)। गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि। कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे। *तद्युक्तात्काले सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)। कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे। *अध्वनः प्रथमा सप्तमी च वक्तव्या* (म० भा०)। गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु वा।

अर्थ—अनुक्त अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा० (1) ग्रामाद् आयाति
'ध्रुवमपायेऽपादानम्' से ग्राम की अपादान संज्ञा हुई। प्रकृत सूत्र से पञ्चमी हुई।

(2) पर्वताद् अवरोहति
पूर्ववत् पञ्चमी।

(3) वृकेभ्यो बिभेति
'भीत्रार्थानां भयहेतुः' से अपादानसंज्ञा।

(4) अध्ययनात् पराजयते
'पराजेरसोढः' से अपादान संज्ञा।

पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसङ्ख्यानम्—ल्यप् तथा ल्यबर्थक (क्त्वा) प्रत्यय के लोप होने पर उन क्रियाओं के कर्म में पञ्चमी होती है।

(5) प्रासादात् प्रेक्षते
प्रासादम् आरुह्य प्रेक्षते—इस अर्थ में 'ल्यप्' प्रत्यय का लोप हुआ है। 'प्रासादात्' पद से 'ल्यप्' का अर्थ गम्यमान है। अतः कर्म 'प्रासाद' से पञ्चमी हुई।

अधिकरणे चोपसङ्ख्यानम्—ल्यप् तथा ल्यबर्थक (क्त्वा) प्रत्यय के लोप होने पर उन क्रियाओं के अधिकरण में पञ्चमी होती है—

(6) आसनात् प्रेक्षते
आसने उपविश्य प्रेक्षते—यहाँ 'ल्यप्' का अर्थ गम्यमान है। तब अधिकरण 'आसन' से पञ्चमी हुई।

(7) शयनात् प्रेक्षते (पूर्ववत्)।

प्रश्नाऽऽख्यानयोश्च पञ्चमी वक्तव्या—प्रश्न तथा आख्यान (= उत्तर देना)—इनसे पञ्चमी होती है—

(8) पाटलिपुत्रात्
किसी ने प्रश्न किया—कुतो भवान् ? (= आप कहाँ से आये हो ?)। तब आगन्तुक ने उत्तर दिया—पाटलिपुत्रात्। यहाँ पञ्चमी हुई।

यतश्चाऽध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी वक्तव्या—जिस अवधि से मार्ग और काल के परिमाण का ज्ञान होता है, उस अवधि वाचक शब्द से पञ्चमी होती है—

(9) गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि
'गवीधुमत्' अवधिभूत है। अतः इससे पञ्चमी हुई।

(10) कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे
पूर्ववत् पञ्चमी हुई।

तद् युक्तात् काले सप्तमी वक्तव्या—जिस काल की अवधि से काल का परिमाण बताया जाय, उस पञ्चम्यन्त शब्द से अन्वित कालवाची शब्द से केवल सप्तमी होती है—

(11) कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे

'कार्त्तिकी' इस काल की अवधि से काल का परिमाण बताया जा रहा है। तब पञ्चम्यन्त (कार्त्तिक्याः) शब्द से अन्वित कालवाची शब्द (मास) से सप्तमी हुई।

अध्वनः प्रथमा सप्तमी च वक्तव्या—जिसके द्वारा मार्ग की अवधि से मार्ग का परिमाण बताया जाए, उस पञ्चम्यन्त शब्द से अन्वित मार्गवाची शब्द से प्रथमा व सप्तमी होती है—

(12) गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि

प्रथमा हुई।

(13) गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु

सप्तमी हुई।

विशेष—1. कारके अर्थात् अपादानसंज्ञक कारक से ही पञ्चमी होती है—

(14) वृक्षस्य पत्रं पतति

'वृक्ष' की अपादान संज्ञा नहीं है। अतः इससे पञ्चमी नहीं हुई। जन्य-जनक सम्बन्धवशात् षष्ठी हुई।

2. 'अनभिहिते' अर्थात् अनुक्त अपादान कारक से ही पञ्चमी होती है—

(15) भीमः

बिभेत्यस्मादिति भीमः—यहाँ 'भीमादयोऽपादाने' से अपादान अर्थ में 'मक्' प्रत्यय हुआ है। यहाँ अपादान कारक उक्त है। अतः पञ्चमी नहीं हुई।

(490) अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते *29* (595)

अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि–इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। तेन पर्यायप्रयोगेऽपि भवति। अन्यो देवदत्तात्। भिन्नो देवदत्तात्। अर्थान्तरं देवदत्तात्। विलक्षणो देवदत्तात्। आराच्छब्दो दूरान्तिकार्थे वर्त्तते। तत्र 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' (2.3.34) इति प्राप्ते पञ्चमी विधीयते। आराद्देवदत्तात्। आराद्यज्ञदत्तात्। इतर इति निर्दिश्यमानस्य प्रतियोगी पदार्थ उच्यते। इतरो देवदत्तात्। ऋते इति अव्ययं वर्जनार्थे। ऋते देवदत्तात्। ऋते यज्ञदत्तात्। दिक्शब्दः पूर्वो ग्रामात् पर्वतः। उत्तरो ग्रामात्। पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्तः। उत्तरो ग्रीष्मो वसन्तात्। दिक्शब्द इत्यत्र शब्दग्रहणं देशकालवृत्तिनापि दिक्शब्देन योगे यथा स्यात्, इतरथा हि दिग्वृत्तिनैव स्यात्–इयमस्याः पूर्वेति। इह तु न स्यात्–अयमस्मात् पूर्वः काल इति। अञ्चूत्तरपद–प्राग् ग्रामात्। प्रत्यग् ग्रामात् (म०भा०)। ननु चायमपि दिक्शब्द एव? 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' (2.3.30) इति वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपकर्षः। आच्–दक्षिणा ग्रामात्। उत्तरा ग्रामात्। आहि–दक्षिणाहि ग्रामात्। उत्तराहि ग्रामात्।

अर्थ—अन्यय, आरात्, इतर, ऋते, दिक् शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् प्रत्ययान्त तथा आहि प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

'अन्य' के द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है। अतः इतर, भिन्न तथा पर आदि शब्दों के योग में भी पञ्चमी होती है।

उदा० (1) अन्यो देवदत्तात्

'अन्य' के योग में पञ्चमी हुई।

(2) भिन्नो देवदत्तात्

पञ्चमी हुई।

(3) अर्थान्तरं देवदत्तात्

पञ्चमी हुई।

(4) विलक्षणो देवदत्तात्

पञ्चमी हुई।

आरात् शब्द के दो अर्थ हैं—दूर तथा निकट। यहाँ दूरान्तिकवाची शब्दों से वैकल्पिक षष्ठी के प्राप्त होने पर पञ्चमी का विधान किया जा रहा है।

(5) आराद् देवदत्तात्

पञ्चमी हुई।

(6) आराद् यज्ञदत्तात्

पञ्चमी हुई।

'इतर' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—अन्य तथा नीच। यहाँ 'अन्य' अर्थ में 'इतर' शब्द का ग्रहण है। इसका पृथक् पाठ प्रपञ्चार्थक है।

(7) इतरो देवदत्तात्

'ऋते' यह अव्यय 'वर्जन' अर्थ में होता है।

(8) ऋते देवदत्तात्

पञ्चमी हुई।

(9) ऋते यज्ञदत्तात्

पञ्चमी हुई।

'दिक् शब्द' के द्वारा उन सभी शब्दों का ग्रहण इष्ट है, जिनका प्रयोग रूढि रूप में दिशा के अर्थ में होता है। ये दिशावाची तथा कालवाची होते हैं। चूँकि पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण— इन शब्दों का प्रयोग ही दिशा के अर्थ में रूढ है; अतः यहाँ इन चार शब्दों का ही ग्रहण होता है।

यहाँ दिशा के पर्याय (ककुभ्, काष्ठा आदि) तथा दिशाओं के नाम (वारुणी, ऐन्द्री आदि) का ग्रहण नहीं होता है। यथा—

(10) पूर्वो ग्रामात् (पूर्ववत्)।
(11) उत्तरो ग्रामात् (पूर्ववत्)।
(12) पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः (पूर्ववत्)।
(13) उत्तरो ग्रीष्मो वसन्तात् (पूर्ववत्)।
(14) इयमस्याः पूर्वा
यहाँ पञ्चमी हुई।

(15) अयमस्मात् पूर्वः कालः
पञ्चमी हुई।

यदि 'दिक् शब्द' इस प्रकार 'शब्द' का योग न होता तथा केवल 'दिक्' शब्द का पाठ होता तो यहाँ पञ्चमी प्राप्त नहीं होती। जिसके उत्तरपद में 'अञ्चु' धातु है, उसे अञ्चूत्तरपद कहते हैं।

(16) प्राग् ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

(17) प्रत्यग् ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

आगे 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' कहा जायेगा। उसी का यह पहले अपकर्षण है।

'आच्' तथा 'आहि' प्रत्ययान्त शब्द दिशावाची हैं—

(18) दक्षिणा ग्रामात्
'दक्षिण' शब्द से 'आच्' होकर 'दक्षिणा' बनता है।
(19) उत्तरा ग्रामात् (पूर्ववत्)।
(20) दक्षिणाहि ग्रामात्
'आहि' प्रत्यय से 'दक्षिणाहि' बनता है।
(21) उत्तराहि ग्रामात् (पूर्ववत्)।

विशेष—'प्रभृति' तथा 'आरभ्य'—इन अव्ययों के योग में पञ्चमी होती है—

(22) जन्मनः प्रभृति
पञ्चमी हुई।

(23) जन्मन आरभ्य
पञ्चमी हुई।

(491) षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन *30* (609)

'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (5.3.28) इति वक्ष्यति, तस्येदं ग्रहणम्। अतसर्थेन प्रत्ययेन युक्ते षष्ठी विभक्तिर्भवति। दक्षिणतो ग्रामस्य। उत्तरतो ग्रामस्य। पुरो ग्रामस्य। पुरस्ताद् ग्रामस्य। उपरि ग्रामस्य। उपरिष्टाद् ग्रामस्य (म०भा०)।

अर्थ—'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' यह आगे कहा जायेगा। उसी का ग्रहण यहाँ है।
अतसर्थ प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी होती है।

उदा० (1) दक्षिणतो ग्रामस्य
'दक्षिण' से 'अतसुच्' हुआ। इसके योग में षष्ठी हुई।

(2) उत्तरतो ग्रामस्य (पूर्ववत्)।

(3) पुरस्ताद् ग्रामस्य
'दिक्शब्देभ्यः—' के द्वारा अतसर्थक 'अस्ताति' प्रत्यय होकर 'पुरस्तात्' बनता है।

(4) उपरि ग्रामस्य
'उपर्युप०' के द्वारा 'ऊर्ध्व' शब्द को 'उप' आदेश तथा 'रिल्' प्रत्यय होकर 'उपरि' शब्द बनता है। इसके योग में षष्ठी हुई।

(5) उपरिष्टाद् ग्रामस्य
'उपर्युप०' के द्वारा 'ऊर्ध्व' शब्द को 'उप' आदेश तथा 'रिष्टातिल्' प्रत्यय हुआ। षष्ठी विभक्ति हुई।

अष्टाध्यायी में अतसर्थ प्रत्ययों में प्रथम 'अस्ताति' प्रत्यय (5.3.27) का विधान है; तत्पश्चात् 'अतसुच्' प्रत्यय (5.3.28) का विधान है। 'अस्ताति' की अपेक्षा 'अतसुच्' में मात्रालाघव है। अंतः आचार्य पाणिनि ने 'अस्तादर्थ' ऐसा न कहकर 'अतसर्थ' इस प्रकार कहा है।

(492) एनपा द्वितीया *31* (610)

'एनबन्यतरस्यामदूरे पञ्चम्याः' (5.3.35) इति वक्ष्यति। तेन युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति। पूर्वेण षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनम्। दक्षिणेन ग्रामम्। उत्तरेण ग्रामम्। षष्ठ्यपीष्यते। दक्षिणेन ग्रामस्य। उत्तरेण ग्रामस्य। तदर्थं योगविभागः कर्तव्यः।

अर्थ—आगे 'एनबन्यतरस्यामदूरे०' सूत्र का पाठ किया जायेगा। 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। पूर्व सूत्र के द्वारा षष्ठी प्राप्त होने पर यह विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) दक्षिणेन ग्रामम्
'दक्षिण' शब्द से 'एनप्' किया। 'दक्षिणेन' के योग में द्वितीया हुई।

(2) उत्तरेण ग्रामम्, ग्रामस्य
पूर्ववत् द्वितीया।
यहाँ षष्ठी भी होती है।

(3) दक्षिणेन ग्रामं, ग्रामस्य
षष्ठी हुई।

(4) उत्तरेण ग्रामं, ग्रामस्य
षष्ठी हुई।
इसके लिए योगविभाग किया जाना चाहिए। यथा—

(क) एनपा (षष्ठी[1])—एनप् प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी होती है।

(ख) द्वितीया (एनपा[2])— एनप् प्रत्ययान्त शब्द के योग में द्वितीया होती है।

(493) पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् *32* (603)

पञ्चमीग्रहणमनुवर्त्तते। पृथक्, विना, नाना—इत्येतैर्योगे तृतीया विभक्तिर्भवति, अन्यतरस्यां पञ्चमी च। पृथग् देवदत्तेन, पृथग् देवदत्तात्। विना देवदत्तेन, विना देवदत्तात्। नाना देवदत्तेन, नाना देवदत्तात्। पृथग्विनानानाभिरिति योगविभागो द्वितीयार्थः।

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
विना हस्तिकृतान् दोषान् केनेमौ पातितौ द्रुमौ॥

अर्थ—'पञ्चमी' का ग्रहण होता है।
पृथक्, विना तथा नाना—इन शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है तथा पक्ष में पञ्चमी होती है।

उदा० (1) पृथग् देवदत्तेन
तृतीया हुई।

(2) पृथग् देवदत्तात्
पञ्चमी हुई।

(3) विना देवदत्तेन
तृतीया हुई।

(4) विना देवदत्तात्
पञ्चमी हुई।

(5) नाना देवदत्तेन
तृतीया हुई।

(6) नाना देवदत्तात्
पञ्चमी हुई।

प्रकृत सूत्र का योगविभाग द्वितीया के लिए किया गया है, ताकि द्वितीया भी हो जाय—

(7) विना वातम्
'विना' के योग में द्वितीया हुई।
(8) विना वर्षम् (पूर्ववत्)।
(9) विना विद्युत् प्रपतनम् (पूर्ववत्)।
(10) विना हस्तिकृतान् दोषान् (पूर्ववत्)।

'पृथक्' शब्द के द्वारा स्वरूप व अर्थ दोनों का ग्रहण होता है। तब पृथक्' शब्द के पर्यायशब्दों के योग में भी पञ्चमी, तृतीया विभक्तियाँ होती हैं। यथा—

(11) ऋते ज्ञानात्।
(12) ऋते ज्ञानेन।
(13) ऋते ज्ञानम्।
(14) हिरुङ् देवात्।

(494) करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य *33* (604)

स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय—इत्येतेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यः करणे कारकेऽन्यतरस्यां तृतीया भवति। पञ्चम्यत्र पक्षे विधीयते, तृतीया तु करण इत्येव सिद्धा। यदा तु धर्ममात्रं करणतया विवक्ष्यते न द्रव्यम्, तदा स्तोकादीनामसत्त्ववचनता। स्तोकान्मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः। अल्पान्मुक्तः, अल्पेन मुक्तः। कृच्छ्रान्मुक्तः। कृच्छ्रेण मुक्तः। कतिपयान्मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः। असत्त्ववचनस्येति किम्? स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः। करण इति किम्? क्रियाविशेषणे कर्मणि मा भूत्—स्तोकं मुञ्चति।

अर्थ—जो द्रव्यवाची न हों, ऐसे स्तोक, अल्प, कृच्छ्र तथा

1. पूर्व सूत्र से अनुवृत्त।
2. अनुवृत्त।

कतिपय—इन शब्दों से करण में तृतीया विकल्प से होती है तथा पक्ष में पञ्चमी होती है।

तृतीया करण कारक में सिद्ध ही थी। जब करण होने से धर्ममात्र की विवक्षा हो तथा द्रव्य की विवक्षा न हो, तब 'स्तोक' आदि शब्दों की अद्रव्यता कही जाती है।

उदा० (1) स्तोकेन मुक्तः
तृतीया हुई।

(2) स्तोकान्मुक्तः
पञ्चमी हुई।

(3) अल्पेन मुक्तः
पूर्ववत् तृतीया।

(4) अल्पान्मुक्तः
पूर्ववत् पञ्चमी।

(5) कृच्छ्रेण मुक्तः
पूर्ववत् तृतीया।

(6) कृच्छ्रान्मुक्तः
पूर्ववत् पञ्चमी।

(7) कतिपयेन मुक्तः
पूर्ववत् तृतीया।

(8) कतिपयान्मुक्तः
पूर्ववत् पञ्चमी।

असत्त्व० अर्थात् जहाँ **सत्त्व अर्थ न हो**, वहाँ स्तोक आदि शब्दों से तृतीया विकल्प से होती है—

(9) स्तोकेन विषेण हतः
स्तोक' यहाँ द्रव्यवाची है। अतः करण में केवल तृतीया हुई; पक्ष में पञ्चमी नहीं हुई।

(10) अल्पेन मधुना मत्तः
पूर्ववत् तृतीया हुई।

करणे अर्थात् करण में तृतीया होती है—इसका आशय यह है कि क्रियाविशेषण की दशा में न हो—

(11) स्तोकं मुञ्चति
'स्तोकम्' क्रियाविशेषण है। अतः तृतीया नहीं हुई।

(495) दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् *34* (611)

पञ्चम्यनुवर्त्तते। दूरान्तिकार्थैः शब्दैर्योगे षष्ठी विभक्तिर्भवत्यन्तरस्यां पञ्चमी च। दूरं ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य (म०भा०)। विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य। अन्तिकं ग्रामात्, अन्तिकं ग्रामस्य। अभ्याशं ग्रामात्। अभ्याशं ग्रामस्य। अन्यतरस्यांग्रहणं पञ्चम्यर्थम्, इतरथा हि तृतीया पक्षे स्यात्।

अर्थ—'पञ्चमी का अनुवर्त्तन है।

दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प से होती है तथा पक्ष में पञ्चमी होती है।

उदा० (1) दूरं ग्रामस्य
षष्ठी हुई।

(2) दूरं ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

(3) विप्रकृष्टं ग्रामस्य
षष्ठी हुई।

(4) विप्रकृष्टं ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

(5) अन्तिकं ग्रामस्य
षष्ठी हुई।

(6) अन्तिकं ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

(7) अभ्याशं ग्रामस्य
षष्ठी हुई।

(8) अभ्याशं ग्रामात्
पञ्चमी हुई।

सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद के द्वारा 'पञ्चमी' का अपकर्षण होता है; अन्यथा पक्ष में तृतीया हो जाती।

दूरम्, आरात् आदि दूरवाची शब्द हैं। अन्तिकम्, समीपम् तथा अभ्याशम् समीपवाची शब्द हैं। अतः इन सभी के योग में पूर्ववत् षष्ठी व पञ्चमी होती है।

(496) दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च *35* (605)

पञ्चम्यनुवर्त्तते। दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यो द्वितीया विभक्तिर्भवति, चकारात्पञ्चमी तृतीयापि समुच्चीयते। दूरं ग्रामस्य, दूराद् ग्रामस्य, दूरेण ग्रामस्य (म०भा०)।

अन्तिकं ग्रामस्य, अन्तिकाद् ग्रामस्य, अन्तिकेन ग्रामस्य। प्रातिपदिकार्थे विधानम्। असत्त्ववचनग्रहणं चानुवर्त्तते। सत्त्वशब्देभ्यो यथायथं विभक्तयो भवन्ति। दूरः पन्थाः। दूराय पथे देहि, दूरस्य पथः स्वम्।

अर्थ—'पञ्चमी' का अनुवर्त्तन है।

दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से द्वितीया होती है तथा तृतीया व पञ्चमी भी होती है। चकार के द्वारा तृतीया व पञ्चमी का अनुवर्त्तन होता है।

उदा० (1) दूरं ग्रामस्य
'दूर' शब्द से द्वितीया हुई।

(2) दूराद् ग्रामस्य
'दूर' शब्द से पञ्चमी हुई।

(3) दूरेण ग्रामस्य
'दूर' शब्द से तृतीया हुई।

(4) अन्तिकं ग्रामस्य
पूर्ववत् द्वितीया।

(5) अन्तिकाद् ग्रामस्य
पूर्ववत् पञ्चमी।

(6) अन्तिकेन ग्रामस्य
पूर्ववत् तृतीया।

यह प्रातिपदिक के अर्थ में विधान है। यहाँ 'असत्त्ववचन' (अर्थात् द्रव्यवाची को छोड़कर) पद का भी अनुवर्त्तन होता है। द्रव्यवाची शब्दों से यथाविहित विभक्तियाँ होती हैं—

(7) दूरः पन्थाः
प्रथमा हुई।

(8) दूराय पथे देहि
चतुर्थी हुई।

(9) दूरस्य पथः स्वम्
षष्ठी हुई।

(497) सप्तम्यधिकरणे च *36* (633)

सप्तमी विभक्तिर्भवत्यधिकरणे कारके, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यश्च। कटे आस्ते। शकटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। दूरान्तिकार्थेभ्यः खल्वपि। दूरे ग्रामस्य, अन्तिके ग्रामस्य, अभ्याशे ग्रामस्य। दूरान्तिकार्थेभ्यश्चतस्रो विभक्तयो भवन्ति, द्वितीयातृतीयापञ्चमीसप्तम्यः। *सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। अधीती व्याकरणे। परिगणिती याज्ञिके। आम्नाती छन्दसि। *साध्वसाधुप्रयोगे च सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)। साधुर्देवदत्तो मातरि। असाधुः पितरि। *कारकार्हाणां चाकारकत्वे सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)। ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते। ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते। *कारकार्हाणां चकारकत्वे सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)। दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते। वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति। *तद्विपर्यासे च सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)। ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुञ्जते। ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति। *निमित्तात्कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या* (म० भा०)।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥
(म० भा०)

अर्थ—अनुक्त अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है तथा दूरवाची व समीपवाची शब्दों में सप्तमी होती है।

उदा० (1) कटे आस्ते
'कट' की 'आधारोऽधिकरणम्' से अधिकरण संज्ञा, प्रकृत सूत्र से सप्तमी हुई।

(2) शकटे आस्ते
पूर्ववत् सप्तमी।

(3) स्थाल्यां पचति
पूर्ववत् सप्तमी।
दूर तथा अन्तिक अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी होती है—

(4) दूरे ग्रामस्य (पूर्ववत्)।
(5) अन्तिके ग्रामस्य (पूर्ववत्)।
(6) अभ्याशे ग्रामस्य (पूर्ववत्)।

दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से चार विभक्तियाँ होती हैं—द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी तथा सप्तमी।

सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्—क्तप्रत्ययान्त शब्दों से 'इन्' प्रत्यय करके निष्पन्न शब्द के कर्म में सप्तमी होती है—

(7) अधीती व्याकरणे
'अधीत' क्तप्रत्ययान्त शब्द है। इसके इष्टादिवर्ग में होने से

'इष्टादिभ्यश्च' से कर्तृवाच्य में 'इन्' हुआ। अधीती (= अधीतवान्) शब्द निष्पन्न हुआ। इसके कर्म 'व्याकरण' में सप्तमी हुई।

(8) परिगणिती याज्ञिके

'परिगणित' शब्द क्तप्रत्ययान्त है। इसका कर्म 'याज्ञिक' है। सप्तमी हुई।

(9) आम्नाती छन्दसि
पूर्ववत् 'छन्दस्' शब्द में सप्तमी हुई।

साध्वसाधुप्रयोगे च सप्तमी वक्तव्या—'साधु' और 'असाधु' शब्दों के योग में जिसके प्रति तद् तद् व्यवहार का प्रदर्शन हो, उससे सप्तमी होती है—

(10) साधुर्देवदत्तो मातरि
'मातृ' शब्द से सप्तमी हुई।

(11) असाधुः पितरि
पूर्ववत् सप्तमी।

कारकार्हाणां चकारकत्वे सप्तमी वक्तव्या—जो कारक बनने योग्य हो, उसके कारक बनने पर उससे सप्तमी होती है—

(12) ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते
'ऋद्ध' कारकयोग्य है। इसके कारक बनने पर सप्तमी हुई।

(13) ब्राह्मणेषु तरत्सु वृषला आसते
पूर्ववत् सप्तमी।

अकारकार्हाणां च कारकत्वे सप्तमी वक्तव्या—जो कारक बनने योग्य न हो, उसके कारक बनने पर उस शब्द से सप्तमी होती है—

(14) दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते
सप्तमी हुई।

(15) वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति
पूर्ववत् सप्तमी।

1. **तद्विर्यासे च सप्तमी वक्तव्या**—जो कारक बनने योग्य हो० उसके कारक बनने पर उससे सप्तमी होती है—

(16) ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुञ्जते
सप्तमी हुई।

(17) ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति
पूर्ववत् सप्तमी।

निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या—जिस निमित्त से कोई क्रिया की जाती है, यदि वह निमित्त उस क्रिया के कर्म से युक्त हो तो उसमें सप्तमी विभक्ति होती है—

(18) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति

'चर्मन्' निमित्त है। 'द्वीपिन्' कर्म है। कर्म और निमित्त में समवाय सम्बन्ध होने से निमित्त कर्म से युक्त है। अतः निमित्त (चर्मन्) से सप्तमी हुई।

(19) दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्
पूर्ववत् सप्तमी।

(20) केशेषु चमरीं हन्ति
पूर्ववत् सप्तमी।

(21) सीम्नि पुष्कलको हतः
पूर्ववत् सप्तमी।

(498) यस्य च भावेन भावलक्षणम् *37*
(634)

सप्तमीति वर्त्तते। भावः क्रिया। यस्य च भावेन यस्य च क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततो भाववतः सप्तमी विभक्तिर्भवति। प्रसिद्धा च क्रिया क्रियान्तरं लक्षयति। गोषु दुह्यमानासु गतः। गोषु दुग्धास्वागतः। अग्निषु हूयमानेषु गतः। अग्निषु हुतेष्वागतः (म० भा०)। भावेनेति किम्? यो जटाभिः स भुङ्क्ते। पुनर्भावग्रहणं किम्? यो भुङ्क्ते स देवदत्तः।

अर्थ—'सप्तमी' पद का अनुवर्त्तन है। 'भाव' का अर्थ है—क्रिया। लक्षण = सूचन। जिसकी क्रिया के द्वारा कोई अन्य क्रिया लक्षित हो तो उस भाववान् (अर्थात् क्रियावान्) से सप्तमी होती है। प्रसिद्ध क्रिया अन्य क्रिया को सूचित करती है।

क्रिया दो प्रकार की होती है—कर्तृनिष्ठ व कर्मनिष्ठ। सूत्र का सार यह है कि जिस क्रिया (कर्तृनिष्ठ अथवा कर्मनिष्ठ) के द्वारा अन्य क्रिया का होना सूचित हो, उस क्रिया में तथा उसके कर्ता व कर्म में सप्तमी होती है।

उदा० (1) गोषु दुह्यमानासु गतः
यह कर्मनिष्ठ क्रिया का उदाहरण है। 'गो' में तथा 'दुह्यमाना' में सप्तमी हुई है।

(2) गोषु दुग्धास्वागतः
यह कर्मनिष्ठ क्रिया का उदाहरण है। पूर्ववत् सप्तमी हुई है।

(3) अग्निषु हूयमानेषु गतः
कर्मनिष्ठ क्रिया है।

(4) अग्निषु हुतेष्वागतः
कर्मनिष्ठ क्रिया है।

भावेन॰ अर्थात् जिस **क्रिया के** द्वारा अन्य क्रिया का होना सूचित हो; वहाँ सप्तमी होती है—

(5) यो जटाभिः सः भुङ्क्ते (= जो जटा वाला है, वह खा रहा है) यहाँ 'जटा' क्रिया नहीं है; अपितु ज्ञापक है। अतः सप्तमी नहीं हुई।

सूत्र में पुनः 'भाव' शब्द के ग्रहण का फल है कि जहाँ क्रिया के द्वारा **अन्य क्रिया** को सूचित किया जाय, वहाँ ही सप्तमी होती है—

(6) यो भुङ्क्ते स देवदत्तः
यहाँ भक्षणरूप क्रिया के द्वारा अन्य क्रिया सूचित नहीं हो रही है, अपितु द्रव्य (देवदत्त) सूचित किया जा रहा है। अतः सप्तमी विभक्ति नहीं हुई।

पाठकों की सुविधा के लिए भावलक्षण के प्रयोगों की रचना नीचे समझाई जा रही है—

जब शतृ या शानच् प्रत्ययान्त शब्द का लिङ्ग, वचन तथा कारक क्रिया के कर्त्ता से भिन्न किसी अन्य कर्त्ता के अनुरूप होते हैं, तब वह वाक्यखण्ड 'भावे' कहलाता है। यथा—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' यहाँ 'विकारहेतौ सति' यह स्वतन्त्र वाक्यखण्ड है तथा 'विक्रियन्ते येषां न चेतांसि' इस उपवाक्य की रचना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः प्रथम वाक्यखण्ड (विकारहेतौ सति) 'भावे' कहलाता है। इसमें जो सप्तमी हुई है, वह भावलक्षण सप्तमी कहलाती है।

यदि दोनों वाक्यों का कर्त्ता एक ही हो तो 'भावे' का प्रयोग नहीं होता है। यथा—

रावणं हत्वा श्रीरामोऽयोध्यां प्रत्यावर्त्तत—यहाँ 'भावे' का प्रयोग नहीं होता है, अपितु 'क्त्वा' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

'भावे' के प्रयोग में कर्तृनिष्ठ व कर्मनिष्ठ दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—

कर्तृवाच्य के वाक्यखण्डों में 'शतृ' या 'क्तवतु' का प्रयोग होता है तथा कर्मवाच्य के वाक्यखण्डों में 'शानच्' तथा 'क्त' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। ध्यातव्य है कि यदि पहले वाक्यखण्ड की क्रिया की समाप्ति के पश्चात् दूसरे वाक्यखण्ड की क्रिया हुई हो तो वहाँ 'क्त' तथा 'क्तवतु' प्रत्ययों का प्रयोग होता है एवं यदि दोनों उपवाक्यों की क्रियाएँ साथ-साथ हो रही हों तो वहाँ 'शतृ' व 'शानच्' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। यथा—

(क) कर्तृनिष्ठ क्रिया के प्रयोग
1. पौरवे वसुमतीं शासति (श॰ 1.21)
2. कपिषु लङ्कां गृहीतवत्सु रामोऽयोध्यां प्रत्यावर्त्तत।
3. रामे शासति मेदिनीम् (कुन्द॰ 1.26)।

(ख) कर्मनिष्ठ क्रिया के प्रयोग
1. कपिभिर्लङ्कायां गृहीतायां रामोऽयोध्यां प्रत्यावर्त्तत।
2. गोषु दुह्यमानासु गतः।
3. गोषु दुग्धासु गतः।
4. तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने (रघु॰ 2.14)।
5. ब्राह्मणेष्वधीयानेषु देवो गतः।

(499) षष्ठी चानादरे *38* (635)

पूर्वेण सप्तम्यां प्राप्तायां षष्ठी विधीयते, चकारात् सापि भवति। अनादराधिके भावलक्षणे भाववतः षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः। रुदतः प्राव्राजीत्। रुदति प्राव्राजीत्, क्रोशतः प्राव्राजीत्, क्रोशति प्राव्राजीत्। क्रोशन्तमनादृत्य प्रव्रजित इत्यर्थः।

अर्थ—पूर्वसूत्र के द्वारा सप्तमी प्राप्त होने पर षष्ठी का विधान किया जा रहा है। 'चकार' के ग्रहण से सप्तमी भी होती है। जिस क्रिया से दूसरी क्रिया सूचित होती हो, वहाँ षष्ठी व सप्तमी—दोनों विभक्तियाँ होती हैं, यदि अनादर गम्यमान हो।

उदा॰ (1) रुदतः प्राव्राजीत्
यहाँ 'रोते हुए' का अपेक्षारूप अनादर अर्थ गम्यमान है तथा 'रोदन' क्रिया के द्वारा क्रियान्तर (प्रव्रजन) सूचित होता है। अतः षष्ठी हुई।

(2) रुदति प्राव्राजीत्
पक्ष में सप्तमी हुई।

(3) क्रोशतः प्राव्राजीत्।
षष्ठी हुई।

(4) क्रोशति प्राव्राजीत्
सप्तमी हुई।

(500) स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च *39* (636)

षष्ठीसप्तम्यौ वर्त्तेते। स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत-इत्येतैर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः। गवां स्वामी, गोषु स्वामी। गवामीश्वरः, गोष्वीश्वरः। गवामधिपतिः, गोष्वधिपतिः। गवां दायादः, गोषु दायादः। गवां साक्षी, गोषु साक्षी। गवां प्रतिभूः, गोषु प्रतिभूः। गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पक्षे सप्तमीविधानार्थं वचनम्।

अर्थ—'षष्ठी' व 'सप्तमी' की अनुवृत्ति है।

स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू तथा प्रसूत—इन शब्दों के योग में षष्ठी व सप्तमी—दोनों विभक्तियाँ होती हैं—

उदा० (1) गवां स्वामी
'स्वामी' के योग में षष्ठी हुई।

(2) गोषु स्वामी
सप्तमी हुई।

(3) गवामीश्वरः
षष्ठी हुई।

(4) गोष्वीश्वरः
सप्तमी हुई।

(5) गवामधिपतिः
षष्ठी हुई।

(6) गोष्वधिपतिः
सप्तमी हुई।

(7) गवां दायादः
षष्ठी हुई।

(8) गोषु दायादः
सप्तमी हुई।

(9) गवां साक्षी (पूर्ववत्)।
(10) गोषु साक्षी (पूर्ववत्)।
(11) गवां प्रतिभूः (पूर्ववत्)।
(12) गोषु प्रतिभूः (पूर्ववत्)।
(13) गवां प्रसूतः (पूर्ववत्)।
(14) गोषु प्रसूतः (पूर्ववत्)।

षष्ठी प्राप्त होने पर सप्तमी के विधान के लिए यह सूत्र है।

(501) आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् *40* (637)

षष्ठीसप्तम्यौ वर्त्तेते। आयुक्तोः व्यापारितः, कुशलः निपुणः, ताभ्यां योगे आसेवायां गम्यमानायां षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः। आसेवा तात्पर्यम्। आयुक्तः कटकरणस्य। आयुक्तः कटकरणे। कुशलः कटकरणस्य। कुशलः कटकरणे। आसेवायामिति किम्? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः। तत्र सप्तम्येवाधिकरणे भवति।

अर्थ—'षष्ठी' व 'सप्तमी' का अनुवर्त्तन है। आयुक्त = नियुक्त। आसेवा = तत्परता या एकनिष्ठता।

आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं, यदि 'आसेवा' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) आयुक्तः कटकरणस्य
षष्ठी हुई।

(2) आयुक्तः कटकरणे
सप्तमी हुई।

(3) कुशलः कटकरणस्य
षष्ठी हुई।

(4) कुशलः कटकरणे
सप्तमी हुई।

आसेवा० अर्थात् आसेवा अर्थ में ही षष्ठी व सप्तमी होती है—

(5) आयुक्तो गौः शकटे
यहाँ 'आसेवा' अर्थ नहीं है। अतः षष्ठी न हुई।

'आयुक्त' का एक अर्थ 'ईषद् युक्त' भी है। इस अर्थ में अधिकरण कारकवशात् सप्तमी ही होती है।

(502) यतश्च निर्धारणम् *41* (638)

षष्ठीसप्तम्यौ वर्त्तेते। जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्। यतो निर्धारणं ततः षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः। मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः। मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः। गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। गोषु कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः। अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः।

अर्थ—'षष्ठी' व 'सप्तमी' दोनों का अनुवर्त्तन है। जाति, गुण या क्रिया के आधार पर समुदाय से किसी एक को पृथक् करना 'निर्धारण' कहलाता है।

जिससे निर्धारण हो, उससे षष्ठी विभक्ति होती है तथा सप्तमी भी होती है।

उदा० (1) मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः
मानवमात्र एक समुदाय है तथा 'क्षत्रिय' एक वर्णविशेष है, जो उस समुदाय का ही अंश है। जाति के आधार पर निर्धारण हुआ है।

(2) मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः
सप्तमी हुई।

(3) गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा
गुण के आधार पर निर्धारण हुआ। षष्ठी हुई।

(4) गोषु कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा
सप्तमी हुई।

(5) अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः
क्रिया के आधार पर निर्धारण हुआ है।

(6) अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः
सप्तमी हुई।

(503) पञ्चमी विभक्ते *42* (639)

'यतश्च निर्धारणम्' इति वर्तते। षष्ठीसप्तम्यपवादो योगः। विभागः विभक्तम्। यस्मिन्निर्धारणाश्रये विभक्तमस्यास्ति ततः पञ्चमी विभक्तिर्भवति। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः, आढ्यतराः।

अर्थ—'यतश्च निर्धारणम्' का अनुवर्तन है। यह षष्ठी और सप्तमी का अपवाद है। विभक्त = विभाग, भेद।

दो वस्तुओं में से किसी एक का निर्धारण हो तो अवधिभूत से पञ्चमी होती है।

जिसका निर्धारण किया जाता है, उसे 'निर्धार्यमाण' तथा जिससे निर्धारण करना इष्ट है, उसे 'निर्धारणावधि' कहते हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ निर्धार्यमाण तथा निर्धारणावधि—दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं तथा उनमें अंशांऽशिसम्बन्ध नहीं होता है।

उदा० (1) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः
यहाँ 'माथुर' निर्धार्यमाण है तथा 'पाटलिपुत्र' निर्धारणावधि है। पञ्चमी हो गई।

(2) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः
पूर्ववत् पञ्चमी।

(504) साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः *43* (640)

साधु निपुण–इत्येताभ्यां योगेऽर्चायां गम्यमानायां सप्तमी विभक्तिर्भवति, न चेत् प्रतिः प्रयुज्यते। मातरि साधुः। पितरि साधुः। मातरि निपुणः। पितरि निपुणः। अर्चायामिति किम्? साधुर्भृत्यो राज्ञः। तत्त्वकथने न भवति। अप्रतेरिति किम्? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। *अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। साधुर्देवदत्तो मातरं परि, मातरमनु (म०भा०)।

अर्थ—सत्कार गम्यमान हो तो 'साधु' तथा 'निपुण' शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है, यदि 'प्रति' का प्रयोग न हो।

उदा० (1) मातरि साधुः
सप्तमी हुई।

(2) पितरि साधुः
सप्तमी हुई।

(3) मातरि निपुणः
सप्तमी पूर्ववत्।

(4) पितरि निपुणः
पूर्ववत् सप्तमी।

अर्चाया अर्थात् सत्कार गम्यमान हो तो सप्तमी होती है—

(5) साधुर्भृत्यो राज्ञः
यहाँ सत्कार अर्थ नहीं है। अतः सप्तमी नहीं हुई। सम्बन्ध में षष्ठी हुई।

अप्रते० अर्थात् यदि 'प्रति' का प्रयोग न हो तो सप्तमी होती है—

(6) साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति
यहाँ 'प्रति' का प्रयोग होने से सप्तमी नहीं हुई। 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होने से इसके योग में द्वितीया हुई है।

अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्—'प्रति' आदि शब्दों का प्रयोग न हो तो सप्तमी होती है—

(7) साधुर्देवदत्तो मातरम् अनु
'अनु' कर्मप्रवचनीय है। अतः 'मातृ' से सप्तमी नहीं हुई।

(505) प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च *44* (641)

प्रसित, उत्सुक–इत्येताभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति,

चकारांत्सप्तमी च। प्रसितः प्रसक्तः, यस्तत्र नित्यमेवाबद्धः स प्रसितशब्देनोच्यते। केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः। केशैरुत्सुकः। केशेषूत्सुकः।

अर्थ—'प्रसित' तथा 'उत्सुक'—इन शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी होती है।

प्रसित = आसक्त।

उदा० (1) केशैः प्रसितः (= सदा बालों को सम्भालने में लगा रहता है) तृतीया हुई।

(2) केशेषु प्रसितः—सप्तमी हुई।

(3) केशैरुत्सुकः—तृतीया।

(4) केशेषूत्सुकः—सप्तमी।

(506) नक्षत्रे च लुपि *45* (642)

तृतीयासप्तम्यावनुवर्तेते। लुबन्तान्नक्षत्रशब्दात् तृतीया-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः। पुष्येण (4.2.3,4) पायसमश्नीयात्। पुष्ये पायसमश्नीयात्। मघाभिः पललौदनम्। मघासु पललौदनम्। नक्षत्र इति किम्? पञ्चालेषु (4.3.69,81) वसति। लुपीति किम्? मघासु ग्रहः। इह कस्मान्न भवति–अद्य पुष्यः, अद्य कृत्तिका? (म०भा०) अधिकरणे इति वर्त्तते, वचनं तु पक्षे तृतीयाविधानार्थम्।

अर्थ—'तृतीया' तथा 'सप्तमी' का अनुवर्त्तन हो रहा है।

लुबन्त नक्षत्रवाची शब्द से तृतीया व सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

उदा० (1) पुष्येण पायसम् अश्नीयात्

'नक्षत्रेण युक्तः कालः' के द्वारा नक्षत्रवाची शब्द से 'अण्' हुआ। 'लुबविशेषे' से 'अण्' का लोप हुआ। तदपि प्रत्यय का अर्थ विद्यमान रहता है। 'पुष्य' से तृतीया हुई।

(2) पुष्ये पायसम् अश्नीयात्

पक्ष में सप्तमी हुई।

(3) मघाभिः पललौदनम्

पूर्ववत् तृतीया हुई।

(4) मघासु पललौदनम्

सप्तमी हुई।

नक्षत्रे अर्थात् नक्षत्रवाची शब्द से ही तृतीया व सप्तमी होती हैं—

(5) पञ्चालेषु वसति

'पञ्चाल' नक्षत्रवाची नहीं है। यहाँ प्रत्यय का लुक् जनपदवाची शब्द से हुआ है। अतः केवल सप्तमी हुई।

लुपीति अर्थात् प्रत्यय का लोप होने पर ही तृतीया व सप्तमी होती हैं—

(6) मघासु ग्रहः

यहाँ 'अण्' नहीं हुआ। तब 'अण्' का लुप् भी नहीं हुआ; केवल सप्तमी हुई।

(7) अद्य पुष्यः, अद्य कृत्तिका

यहाँ तृतीया आदि विभक्तियाँ नहीं होती हैं। कारण कि यहाँ 'अधिकरणे' इस पद का अनुवर्त्तन है।

(507) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा *46* (532)

प्रातिपदिकार्थः–सत्ता। लिङ्गम्–स्त्रीलिङ्गपुँल्लिङ्गनपुंसकानि। परिमाणं–द्रोणः, खारी, आढकम् (म०भा०)। वचनम्–एकत्वद्वित्वबहुत्वानि। मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे वचनमात्रे प्रथमा विभक्तिर्भवति। प्रातिपदिकार्थमात्रे–उच्चैः, नीचैः। लिङ्गग्रहणं किम्? कुमारी, वृक्षः, कुण्डम् (म०भा०) इत्यत्रापि यथा स्यात्। परिमाणग्रहणं किम्? द्रोणः, खारी, आढकम् इत्यत्रापि यथा स्यात्। वचनग्रहणं किम्? एकत्वादिषूक्तेष्वपि यथा स्यात्–एकः, द्वौ, बहवः (म० भा०)। प्रातिपदिकग्रहणं किम्? निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकत्वमुक्तम्, ततोऽपियथा स्यात्–प्रलम्बते अध्यागच्छति।

अर्थ—प्रातिपदिकार्थ = सत्ता। लिङ्ग तीन हैं—स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग व नपुँसक लिङ्ग। द्रोण, खारी व आढक—ये परिमाण हैं। वचन तीन होते हैं—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन। सूत्र में पठित 'मात्र' शब्द का सभी पदों के साथ सम्बन्ध है।

प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिङ्गमात्र आधिक्य में, परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

प्रातिपदिक के अर्थ को 'प्रातिपदिकार्थ' कहा जाता है। यह किसी शब्द का वाच्यार्थ होता है। इसका लक्षण ग्रन्थों में इस प्रकार दिया जाता है—

जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियतरूपेण प्रतीति होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं।[1] यथा—

1. नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः।

'गो' शब्द का उच्चारण करते ही सास्नालाङ्गूलवान् पशुविशेष के स्वरूप की उपस्थिति होती है, वह ही उस 'गो' प्रातिपदिक का अर्थ है। तब केवल प्रातिपदिकार्थ को अभिलक्षित कर 'गो' शब्द से प्रथमा विभक्ति होती है—गौः।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार जब तक शब्द में सुप् (या तिङ्) प्रत्यय का योग नहीं होता है, तब तक वह अपने नियत अर्थ को नहीं कह सकता।

किसी शब्द से केवल लिङ्ग या केवल परिमाण का बोध नहीं होता है, अपितु प्रातिपदिकार्थ व लिङ्ग दोनों का ज्ञान होता है। अतः 'लिङ्गमात्रे' का अर्थ यह है कि प्रातिपदिकार्थ से अधिक लिङ्गमात्र में (प्रथमा होती है)। यथा—

'बाल' शब्द पुंस्त्वविशिष्ट 'बाल' रूप प्रातिपदिकार्थ को कहता है। 'कन्या' शब्द स्त्रीत्वविशिष्ट 'कन्या' रूप प्रातिपदिकार्थ को कहता है तथा 'पत्र' शब्द नपुंसकत्वविशिष्ट 'पत्र' रूप प्रातिपदिकार्थ को कहता है। लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—

(क) अलिङ्ग—अव्यय पद का कोई लिङ्ग नहीं होता—उच्चैः, शनैः।

(ख) नियतलिङ्ग—कुछ शब्दों का लिङ्ग नियत होता है। यथा—शिशुः, लता तथा पुष्पम्।

(ग) अनियतलिङ्ग—कुछ शब्दों का लिङ्ग नियत नहीं होता यथा—तटः, तटी, तटम्।

अलिङ्ग तथा नियतलिङ्ग शब्दों के प्रातिपदिकार्थ में लिङ्ग का ग्रहण हो जाता है, परन्तु अनियत लिङ्ग शब्दों के प्रातिपदिकार्थ में लिङ्ग का ग्रहण नहीं होता। अतः अनियतलिङ्ग शब्दों से लिङ्गाधिक्य के बोध के लिए प्रथमा का प्रयोग होता है।

शब्द से प्रातिपदिकार्थ व परिमाण दोनों का ज्ञान हुआ करता है। 'परिमाणमात्रे' का अर्थ है—परिमाण के आधिक्यमात्र में (प्रथमा होती है)।

उदा० (1) उच्चैः
प्रथमा हुई, 'सु' आया, 'सु' का लुक् हुआ।

(2) नीचैः
पूर्ववत् प्रथमा हुई।

(3) तटः
लिङ्गाधिक्यमात्र में प्रथमा हुई।

(4) तटी (सपूर्ववत्)।
(5) तटम् (सपूर्ववत्)।

(6) द्रोणो व्रीहिः

परिमाणसामान्य अर्थ में द्रोण शब्द से प्रथमा हुई है। 'द्रोणः' का 'व्रीहिः' के साथ विशेष्य-विशेषणभाव है। 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ है—द्रोणरूप सामान्य परिमाण से परिच्छिन्न अर्थात् मापा गया 'व्रीहि'। 'वचन' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि एकत्व आदि में भी प्रथमा होती है। प्राचीन वैयाकरण 'वचन' शब्द के द्वारा 'एक' आदि संख्याओं का ग्रहण करते थे। आचार्य ने उसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है।

(7) एकः
प्रथमा हुई।

(8) द्वौ
द्वि औ—प्रथमा हुई तथा द्विवचन की विवक्षा में 'औ' हुआ।
द्व औ—द्वौ—त्यदादीनामः, वृद्धिरेचि।

(9) बहवः
बहु जस् → बहवः।

प्रातिपदिकार्थ अर्थात् प्रातिपदिक का ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि अनर्थक निपात का जो प्रातिपदिक संज्ञा होना कहा गया है, वहाँ भी प्रथमा हो जाय। यथा—

(10) प्रलम्बते
यहाँ हो गया है।

(11) अध्यागच्छति (पूर्ववत्)।

(508) सम्बोधने च *47* (533)

आभिमुख्यकरणं सम्बोधनम्, तदधिके प्रातिपदिकार्थे प्रथमा न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते। सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति। हे देवदत्त। हे देवदत्तौ। हे देवदत्ताः।

अर्थ—आभिमुख्यकरण को 'सम्बोधन' कहते हैं। वहाँ प्रथमा की प्राप्ति नहीं होती है। अतः नियम किया जा रहा है।

सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

उदा० (1) हे देवदत्त
देवदत्त सु—'एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बुद्धि संज्ञा हुई, 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से लोप,
हे देवदत्त—रूप बना।

(509) साऽऽमन्त्रितम् *48* (411)

सम्बोधने या प्रथमा तदन्तं शब्दरूपमामन्त्रितसंज्ञं भवति।

तथा चैवोदाहृतम्। आमन्त्रितप्रदेशाः–'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (8.1.72) इत्येवमादयः।

अर्थ—सम्बोधन में जो प्रथमा होती है, तदन्त शब्दस्वरूप की 'आमन्त्रित' संज्ञा होती है।

इस संज्ञा का प्रयोजन है—'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवद्' इत्यादि।

(510) एकवचनं सम्बुद्धिः *49* (192)

आमन्त्रितप्रथमाया यदेकवचनं तत्सम्बुद्धिसंज्ञं भवति। हे पटो। हे देवदत्त। सम्बुद्धिप्रदेशाः–'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (6.1.69) इत्येवमादयः।

अर्थ—आमन्त्रितसंज्ञक प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

उदा० (1) हे पटो
पटु सु—प्रथमा की विवक्षा में 'सु' हुआ,
पटो स्—'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हुआ,
हे पटो—एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः।

(2) हे देवदत्त (पूर्ववत्)।

(511) षष्ठी शेषे *50* (606)

कर्मादिभ्यो योऽन्यः प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिसम्बन्धादिः शेषः, तत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति। राज्ञः पुरुषस्य गृहम्। पशोः पादः। पितुः पुत्रः।

अर्थ—जहाँ कर्म आदि कारक तथा प्रतिपदिकार्थ विवक्षित न हो, वह 'शेष' कहलाता है। शेष में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा० (1) राज्ञः पुरुषः
यहाँ न तो प्रातिपदिकार्थ है, न ही कर्म आदि कोई कारक विवक्षित है। अतः शेष में षष्ठी विभक्ति हुई।

(2) पशोः पादः (पूर्ववत्)।
(3) पितुः पुत्रः (पूर्ववत्)।

(512) ज्ञोऽविदर्थस्य करणे *51* (612)

जानातेरविदर्थस्याज्ञानार्थस्य करणे कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। सर्पिषो जानीते। मधुनो जानीते। सर्पिषा करणेन प्रवर्तत इत्यर्थः। प्रवृत्तिवचनो जानातिरविदर्थः। अथवा मिथ्याज्ञानवचनः। सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वा। चित्तभ्रान्त्या तदात्मना सर्वमेव ग्राह्यं प्रतिपद्यते। मिथ्याज्ञानमज्ञानमेव। अविदर्थस्येति किम्? स्वरेण पुत्रं जानाति।

अर्थ—'ज्ञान' अर्थ नहीं है जिसका, ऐसे 'ज्ञा' धातु से करण कारक में षष्ठी विभक्ति होती है

उदा० (1) सर्पिषो जानीते (= अज्ञानवश घी मान लेता है)।

'अकर्मकाच्च' से आत्मनेपद हुआ। 'ज्ञा' धातु का करण 'सर्पिष्' है। कारक विवक्षाधीन होता है और यहाँ करण विवक्षित नहीं है। अतः शेष में षष्ठी हुई।

(2) मधुनो जानीते (पूर्ववत्)।

यहाँ 'प्रवृत्ति' अर्थ का वाचक 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान नहीं है अथवा यह धातु मिथ्या ज्ञान का वाचक है। घी में अनुरक्त है या प्रतिहत है। चित्त के भ्रमवश सभी को ग्रहण योग्य मान लेता है।

अविदर्थ० अर्थात् ज्ञान अर्थ से भिन्न 'ज्ञा' धातु के करण में षष्ठी होती है—

(3) स्वरेण पुत्रं जानाति
यहाँ 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'जानना' है। अतः षष्ठी नहीं हुई। तब तृतीया विभक्ति हुई।

विशेष—जहाँ शेष में षष्ठी होती है, वहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत सूत्र का प्रयाजन यह है कि वहाँ पूर्वोक्त समास नहीं होता—
सर्पिषो ज्ञानम्।

(513) अधीगर्थदयेशां कर्मणि *52* (613)

शेष इति वर्त्तते। अधीगर्थाः स्मरणार्थाः। 'दय दानगतिरक्षणेषु', (धा०पा० 481) 'ईश ऐश्वर्ये' (धा०पा० 1021)–एतेषां कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति। मातुरध्येति। मातुः स्मरति। सर्पिषो दयते। सर्पिष ईष्टे। मधुन ईष्टे। कर्मणीति किम्। मातुर्गुणैः स्मरति। शेष इति किम्? मातरं स्मरति।

अर्थ—'शेषे' का अनुवर्त्तन है। अधिपूर्वक 'इक्' धातु का अर्थ है—स्मरण करना। स्मरण अर्थ में 'इक्' से पूर्व 'अधि' का प्रयोग नित्य होता है।

स्मरण करना है अर्थ, जिसका ऐसे अधिपूर्वक 'इक्' धातु (दान व दया करना अर्थ वाले), 'दय्' धातु तथा (ऐश्वर्य अर्थ वाले) 'ईश्' धातु—इनके कर्म में शेष में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा॰ (1) मातुरध्येति

अधि पूर्वक 'इक्' धातु 'स्मरण करना' अर्थ में है। अतः इस-के कर्म में षष्ठी हुई है।

(2) मातुः स्मरति—पूर्ववत् षष्ठी हुई।

(3) सर्पिषो दयते (पूर्ववत्)।

(4) सर्पिष इष्टे (पूर्ववत्)।

कर्मणि अर्थात् कर्म में ही षष्ठी होती है—

(5) मातुर्गुणैः स्मरति

स्मरण अर्थ में 'स्मृ' धातु का प्रयोग है। 'गुण' शब्द 'स्मृ' धातु का कर्म नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

शेषे अर्थात् शेष विवक्षित होने पर ही कर्म में षष्ठी होती है—

(6) मातरं स्मरति

यहाँ शेष विवक्षित नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

(514) कृञः प्रतियत्ने *53* (614)

सतो गुणान्तराधानं प्रतियत्नः। करोतेः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते प्रतियत्ने गम्यमाने षष्ठी विभक्तिर्भवति। एधोदकस्योपस्कुरुते। शस्त्रपत्रस्योपस्कुरुते। प्रतियत्न इति किम्? कटं करोति। कर्मणीति किम्? एधोदकस्योपस्कुरुते प्रज्ञया। शेष इत्येव–एधोदकमुपस्कुरुते।

अर्थ—नवीन गुण को धारण करना 'प्रतियत्न' कहलाता है। 'कृ' धातु के कर्म में शेष की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है, यदि 'प्रतियत्न' अर्थ गम्यमान हो।

उदा॰ (1) एधोदकस्योपस्कुरुते (= ईंधन जल के गुण को बदलता है)

यहाँ 'प्रतियत्न' अर्थ है। 'कृ' धातु का कर्म 'एधोदक' है। इसमें षष्ठी हुई।

(2) शस्त्रपत्रस्योपस्कुरुते

पूर्ववत् षष्ठी हुई।

प्रतियत्ने अर्थात् प्रतियत्न अर्थ गम्यमान होने पर ही षष्ठी होती है—

(3) कटं करोति

यहाँ 'प्रतियत्न' अर्थ नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

कर्मणि अर्थात् कर्म में ही षष्ठी होती है—

(4) एधोदकस्योपस्कुरुते प्रज्ञया

'प्रतियत्न' अर्थ गम्यमान है, 'कृ' धातु का भी प्रयोग है, परन्तु 'प्रज्ञा' कर्म नहीं है। अतः इससे षष्ठी नहीं हुई।

शेषे अर्थात् शेष विवक्षित होने पर ही षष्ठी होती है—

(5) एधोदकम् उपस्कुरुते

'कृ' धातु का प्रयोग है। 'प्रतियत्न' अर्थ गम्यमान है, परन्तु शेष विवक्षित नहीं है। अतः कर्म में षष्ठी नहीं हुई, द्वितीया हुई।

(515) रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः *54* (615)

रुजार्थानां धातूनां भाववचनानां भावकर्तृकाणां ज्वरि-वर्जितानां कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्ति-र्भवति। चौरस्य रुजति रोगः। चौरस्यामयत्यामयः। रुजार्थानामिति किम्?

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।
जीव पुत्रक मा मैवं तपः साहसमाचर॥

भाववचनानामिति किम्? नदी कुलानि रुजति (म॰ भा॰)। अज्वरेरिति किम्? चौरं ज्वरयति ज्वरः। *अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम्* (म॰भा॰)। चौरं सन्तापयति तापः। शेष इत्येव–चौरं रुजति रोगः।

अर्थ—रुजार्थक भाववचन व भावकर्तृक धातुओं के कर्म में शेष की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है, ज्वर् धातु को छोड़ कर।

भाव = भाववाचक (अर्थात् घञ् आदि) प्रत्यय जिसके अन्त में हैं। भाववचन = वह धातु जिसका भाव (अर्थात् धात्वर्थ) ही 'वचन' (अर्थात् कर्त्ता) हो।

उदा॰ (1) चौरस्य रुजति रोगः

'रुज्' धातु का अर्थ 'व्याधि' है। यह धातु धात्वर्थ को व्यक्त कर रहा है अर्थात् इस धातु का कर्त्ता भाववाचक संज्ञा 'रोग' है। तब शेष की विवक्षा में इस धातु के कर्म 'चौर' से षष्ठी हुई।

(2) चौरस्याऽऽमयत्यामयः—पूर्ववत् षष्ठी हुई।

रुजार्था अर्थात् रुजार्थक धातु के कर्म से ही षष्ठी होती है—

(3) एति जीवन्तम् आनन्दः

'आनन्द' शब्द भावार्थक प्रत्यय से निष्पन्न है, परन्तु 'एति' पीड़ावाची नहीं है। अतः इस धातु के कर्म से षष्ठी नहीं हुई।

भाववचन० अर्थात् जहाँ धात्वर्थ का कथन हो, ऐसे धातु के कर्म में षष्ठी होती है—

(4) नदी कूलानि रुजति

रुजार्थक धातु का प्रयोग है, परन्तु धात्वर्थ का कथन नहीं है। अत: षष्ठी नहीं हुई।

अज्वरेः अर्थात् ज्वर धातु को छोड़कर शेष धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है—

(5) चौरं ज्वरयति ज्वरः,

भाववाची प्रत्यय से निष्पन्न 'ज्वर' शब्द है, रुजार्थक धातु का भी प्रयोग है; परन्तु 'ज्वर' के कर्म 'चौर' से षष्ठी नहीं हुई।

अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम्—ज्वर् तथा सन्तापि (सम् तप् णिच्) धातुओं के कर्म में षष्ठी नहीं होती है—

(6) चौरं सन्तापयति तापः

यहाँ 'सन्तापि' धातु के कर्म में षष्ठी नहीं हुई।

शेषे अर्थात् शेष विवक्षित रहते ही षष्ठी होती है—

चौरं रुजति रोगः

यहाँ शेष विवक्षित नहीं है। अत: 'चौर' में षष्ठी नहीं हुई।

(516) आशिषि नाथः *55* (616)

'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' (धा०पा० 6,7) पठ्यते, तस्याशीः-क्रियस्य कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्ति-र्भवति। सर्पिषो नाथते। मधुनो नाथते। आशिषीति किम्? माणवकमुपनाथति, अङ्ग पुत्रकाधीष्व।

अर्थ—धातुपाठ में 'नाथ्' तथा 'नाध्' का पाठ निम्नलिखित चार अर्थों में प्राप्त होता है—

1. याच्ञा, 2. उपताप, 3. ऐश्वर्य तथा 4. आशीर्वाद।

आशीर्वाद अर्थ में 'नाथ्' धातु के कर्म में शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा० (1) सर्पिषो नाथते

आशीर्वाद अर्थ में षष्ठी हो गई है। आशीर्वाद अर्थ में 'नाथ्' धातु आत्मनेपदी होता है।

(2) मधुनो नाथते (पूर्ववत्)।

अर्थात् **आशीर्वाद** अर्थ में ही शेष में षष्ठी होती है—

(3) माणवकम् उपनाथति

यहाँ आशीर्वाद अर्थ नहीं है। अत: कर्म में षष्ठी नहीं हुई।

(517) जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् *56* (617)

जासि, निप्रहण, नाट, क्राथ, पिष्-इत्येतेषां धातूनां हिंसाक्रियाणां कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। 'जसु हिंसायाम्' (धा०पा० 1669), 'जसु ताडने' (धा०पा० 1719) इति च चुरादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम् न दैवादिकस्य 'जसु मोक्षणे' (धा०पा० 1212) इत्यस्य। चौरस्योज्जासयति। वृषलस्योज्जासयति। निप्रहण इति संघातविगृहीतविपर्यस्तस्य ग्रहणम्। चौरस्य निप्रहन्ति। चौरस्य निहन्ति। चौरस्य प्राणिहन्ति। चौरस्योन्नाटयति। वृषलस्योन्नाटयति। चौरस्य क्राथयति। वृषलस्य क्राथयति। निपातनाद्वृद्धिः। अयं हि घटादौ पठ्यते-'क्रथ क्नथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः' (धा०पा० 799-802) इति, तत्र 'घटादयो मितः' (धा०पा० 763-822) इति मित्संज्ञायां 'मितां ह्रस्वः' (6.4.92) इति ह्रस्वत्वं स्यात्। चौरस्य पिनष्टि। वृषलस्य पिनष्टि। हिंसायामिति किम्? धानाः पिनष्टि। शेष इत्येव-चौरमुज्जासयति। एषामिति किम्? चौरं हिनस्ति। निप्रहण इति किम्? चौरं विहन्ति।

अर्थ—जासि, निप्रहण्, नट्, क्रथ् तथा पिष्—इन हिंसार्थक धातुओं के कर्म में शेष के विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

'जसु हिंसायाम्, जसु ताडने'—इस प्रकार 'जस्' धातुओं का चुरादिगण में दो बार पाठ उपलब्ध होता है। सूत्र में 'जासि' निर्देश (णिच् युक्त) से यहाँ चुरादिगणी 'जस्' धातु का ही ग्रहण होता है। अत: दैवादिक 'जसु मोक्षणे' यहाँ गृहीत नहीं है।

'हन्' धातु के दो अर्थ हैं—गति, हिंसा। सूत्र में 'नाट' इस प्रकार णिच्-युक्त निर्देश से चुरादिगणी 'नट्' हिंसार्थक धातु यहाँ गृहीत होता है। 'पिष्' के दो अर्थ हैं—पीसना और हिंसा करना। यहाँ हिंसार्थक 'पिष्' धातु का ही ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) चोरस्योज्जासयति

षष्ठी हो गई।

(2) वृषलस्योज्जासयति (पूर्ववत्)।

(3) चौरस्य निप्रहन्ति

'निप्रहण्' का संघात रूप में प्रयोग है। इसका प्रयोग विगृहीत रूप में तथा विपर्यस्त रूप में भी इष्ट है।

(4) चौरस्य निहन्ति
विगृहीत रूप में प्रयोग।

(5) चौरस्य प्रहन्ति
विगृहीत रूप में प्रयोग।

(6) चौरस्य प्रणिहन्ति
विपर्यस्त रूप में प्रयोग।

(7) चौरस्योन्नाटयति
षष्ठी हुई।

(8) चौरस्य क्राथयति
निपातन से वृद्धि होती है। इसका घटादि में पाठ है। तब 'घटादयो मित:' से मित् संज्ञा तथा 'मितां ह्रस्व:' से ह्रस्वादेश प्राप्त था।

(9) वृषलस्य क्राथयति
षष्ठी हुई।

(10) चौरस्य पिनष्टि
षष्ठी हुई।

(11) वृषलस्य पिनष्टि

हिंसार्थ० अर्थात् **हिंसार्थक** जस् आदि धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है—

(12) धाना: पिनष्टि
यहाँ हिंसार्थक 'पिष्' का प्रयोग नहीं है। अत: षष्ठी नहीं हुई।
शेष अर्थात् **शेष** विवक्षित होने पर ही कर्म में षष्ठी होती है—

(13) चौरम् उज्जासयति
यहाँ शेष अर्थ नहीं है। अत: षष्ठी नहीं हुई।
एषाम् अर्थात् जासि आदि धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है—

(14) चौरं हिनस्ति
यहाँ हिंसार्थक 'हिंस्' धातु है। अत: षष्ठी नहीं हुई।

निप्रहण अर्थात् नि तथा प्र पूर्वक **हन्** धातु के कर्म में षष्ठी होती है—

(15) चौरं विहन्ति
'हन्' धातु से पूर्व नि तथा प्र नहीं हैं। अत: षष्ठी नहीं हुई।

(518) व्यवहृपणोः समर्थयोः *57* (618)

व्यवहृ, पण-इत्येतयोः समर्थयोः समानार्थयोः कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे च समानार्थत्वमनयोः। शतस्य व्यवहरति। सहस्रस्य व्यवहरति। शतस्य पणते। सहस्रस्य पणते। आयप्रत्ययः कस्मान्न भवति? स्तुत्यर्थस्य पणतेरायप्रत्यय इष्यते। समर्थयोरिति किम्? शलाकां व्यवहरति। गणयतीत्यर्थः। ब्राह्मणान् पणायते। स्तौतीत्यर्थः। शेष इत्येव-शतं पणते।

अर्थ—'वि' तथा 'अव' पूर्वक तुल्यार्थक 'हृ' तथा 'पण्' धातुओं के कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी होती है।

'द्यूत' तथा 'क्रय-विक्रय' अर्थों में ये धातु समानार्थक हैं।

उदा० (1) शतस्य व्यवहरति
'शत' शब्द से षष्ठी हुई।

(2) सहस्रस्य व्यवहरति
षष्ठी हुई।

(3) शतस्य पणते
षष्ठी हुई।

(4) सहस्रस्य पणते
षष्ठी हुई।

आय—आय प्रत्यय क्यों नहीं होता है? इसका समाधान यह है कि स्तुति अर्थ वाले 'पण्' धातु से 'आय' होता है। यथा—'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय:' से स्तुति अर्थ वाली 'पण्' धातु से होता है।

समर्थयो अर्थात् **समानार्थक** 'हृ' तथा 'पण्' धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है—

(5) शलाकां व्यवहरति
यहाँ 'क्षेपण' अर्थ है। अत: षष्ठी नहीं हुई।

(6) ब्राह्मणान् पणायते
स्तुति अर्थ होने से 'पण्' से 'आय' हुआ। षष्ठी नहीं हुई।

(519) दिवस्तदर्थस्य *58* (619)

व्यवहृपणिसमानार्थस्य दीव्यतेः कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति। शतस्य दीव्यति। सहस्रस्य दीव्यति। तदर्थस्येति किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—व्यवहारवाची 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। 'तदर्थ' का अर्थ है—पूर्वोक्त सूत्र (पा० 2.3.57) में पठित तुल्यार्थक 'व्यवहृ' तथा 'पण्' अर्थ वाला।

उदा० (1) शतस्य दीव्यति
व्यवहार अर्थ में 'दिव्' धातु के कर्म 'शत' से षष्ठी हुई।

(2) सहस्रस्य दीव्यति
पूर्ववत् षष्ठी हुई।

तदर्थस्येति अर्थात् व्यवहारार्थक 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी होती है—

(3) ब्राह्मणं दीव्यति (= ब्राह्मण की प्रशंसा करता है)
यहाँ व्यवहार अर्थ नहीं है। अत: षष्ठी नहीं हुई।

पूर्व के दोनों सूत्रों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए था; परन्तु दोनों का पृथक्-पृथक् पाठ उत्तरवर्ती शास्त्र में अनुवर्तन के लिए है।

(520) विभाषोपसर्गे *59* (620)

दिवस्तदर्थस्य (2.3.58) इति नित्यं षष्ठ्यां प्राप्तायां सोपसर्गस्य विकल्प उच्यते। उपसर्गे सति दिवस्तदर्थस्य कर्मणि कारके विभाषा षष्ठी विभक्तिर्भवति। शतस्य प्रतिदीव्यति। सहस्रस्य प्रति-दीव्यति। शतं प्रतिदीव्यति। सहस्रं प्रतिदीव्यति। उपसर्गस्येति किम्? शतस्य दीव्यति। तदर्थस्येत्येव-शलाकां प्रतिदीव्यति।

अर्थ—'दिवस्तदर्थस्य' का अनुवर्त्तन हो रहा है। नित्य षष्ठी प्राप्त होने पर उपसर्गयुक्त दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी का विधान किया जा रहा है।

व्यवहारार्थक उपसर्गयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी विकल्प से होती है, पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया होती है।

उदा० (1) शतस्य प्रतिदीव्यति
'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'दिव्' धातु के कर्म 'शत' से षष्ठी विभक्ति विकल्प से हुई।

(2) शतं प्रतिदीव्यति
पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया हुई।

(3) सहस्रस्य प्रतिदीव्यति
षष्ठी हुई।

(4) सहस्रं प्रतिदीव्यति
यथाप्राप्त द्वितीया हुई।

उपसर्ग० अर्थात् सोपसर्ग धातु से वैकल्पिक षष्ठी होती है—

(5) शतस्य दीव्यति
यहाँ उपसर्ग नहीं है।

तदर्थ० अर्थात् तदर्थ को षष्ठी होती है—

(6) शलाकां प्रतिदीव्यति
षष्ठी नहीं हुई।

(521) द्वितीया ब्राह्मणे *60* (3395)

ब्राह्मणविषये प्रयोगे दिवस्तदर्थस्य कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति। गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः (मै०सं० 1.6.11.56)। अनुपसर्गस्य षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनम्। सोपसर्गस्य तु छन्दसि व्यवस्थित-विभाषयापि सिद्ध्यति।

अर्थ—ब्राह्मण के विषय में व्यवहारवाची 'दिव्' धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

'ब्राह्मण' शब्द के द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होता है। पूर्व सूत्र से षष्ठी प्राप्त थी।

उदा० (1) गामस्य तदहः सभायां दीव्येयु: (मै० सं० 1.6.11)
'गाम्' पद में द्वितीया है। काशिका में संहिताभाग से उदाहरण दिखाया गया है।

(2) गां दीव्यध्वमिति (शत० 5.4.4.23)
यह उदाहरण काशिका में नहीं है।

सोपसर्ग—सोपसर्ग में द्वितीया विभक्ति वेद के विषय में व्यवस्थित विभाषा के द्वारा भी सिद्ध हो जाती है।

विशेष—सूत्र में 'ब्राह्मणे' पद के निर्देश के द्वारा प्रकृत सूत्र विहित द्वितीया विभक्ति के प्रयोगों को ब्राह्मण ग्रन्थों तक सीमित कर दिया गया है; तदपि एतादृश द्वितीयाघटित प्रयोग संहिता-ग्रन्थों (मै० सं० 1.6.11) में भी प्राप्त होते हैं। अत: 'ब्राह्मणे' पद का प्रयोग चिन्तनीय है।

इसका समाधान यह है कि आचार्य को 'ब्राह्मण' शब्द के द्वारा सम्भवत: गद्यमय रचनाओं का ग्रहण इष्ट हो। फलत: 'ब्राह्मण' शब्द के द्वारा पादहीन कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों का भी ग्रहण हो सकेगा; परन्तु इस प्रकार का अर्थ किसी भी टीकाकार ने नहीं दर्शाया है।

(522) प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने *61* (621)

प्रेष्य इति इष्यतेर्दैवादिकस्य लोण्मध्यमपुरुषस्यैकवचनम्, तत्साहचर्याद् ब्रुविरपि तद्विषय एव गृह्यते। प्रेष्यब्रुवोर्हविषः

कर्मणः षष्ठी विभक्तिर्भवति देवतासम्प्रदाने सति। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रे3ष्य (का०श्रौ०सू० 6.6.26)। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि3 (का०श्रौ०सू० 6.6.20)। प्रेष्यब्रुवोरिति किम्? अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि (का०श्रौ०सू० 6.6.23)। हविष इति किम्? अग्नये गोमयानि प्रेष्य (शत० 12.5.2.3)। देवतासम्प्रदान इति किम्? माणवकाय पुरोडाशं प्रेष्य। *हविषः प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य3 (का०श्रौ०सू० 6.6.23)।

अर्थ—दैवादिक 'इष्' धातु के लोट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन में 'प्रेष्य' रूप बनता है। उसके साहचर्यवशात् 'ब्रू' धातु का भी उसी विषय में ग्रहण होता है अर्थात् 'ब्रूहि' पद का ग्रहण होता है।

देवता सम्प्रदान है जिसका, उस क्रिया के वाचक प्रेष्य और ब्रू धातुओं का जो कर्म 'हवि' है, उसके वाचक शब्द से षष्ठी होती है।

उदा० (1) अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसः प्रे3ष्य

'हवि' का समर्पण या प्रेषण अग्नि देवता के लिए है। 'प्रेष्य' के कर्म 'वपा' तथा 'मेदस्' हविर्वाचक है। अतः इसमें षष्ठी हुई।

(2) अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसो अनुब्रू3हि (पूर्ववत्)।

प्रेष्य० अर्थात् प्रेष्य तथा ब्रूहि के कर्म में षष्ठी होती है—

(3) अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि
यहाँ षष्ठी नहीं हुई।

हविष० अर्थात् हविर्वाचक शब्द से ही षष्ठी होती है—

(4) अग्नये गोमयान् प्रेष्य
यहाँ 'प्रेष्य' है, इसका कर्म 'गोमय' है, जो हविर्वाचक नहीं है। अतः इससे षष्ठी नहीं हुई।

देवता० अर्थात् **देवता है सम्प्रदान** जिसका, ऐसे 'प्रेष्य' तथा 'ब्रूहि' धातु के कर्म से षष्ठी होती है—

(5) माणवकाय पुरोडाशं प्रेष्य
'माणवक' देवतावाची नहीं है। अतः 'पुरोडाश' से षष्ठी नहीं हुई।

हविषः प्रस्थितस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः—प्रस्थित हविर्वाचक शब्द से षष्ठी नहीं होती है। यथा—

(6) इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रे3ष्य
यहाँ षष्ठी नहीं हुई।

(523) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि *62* (3396)

छन्दसि विषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठी विभक्तिर्भवति बहुलम्। पुरुषमृगश्चन्द्रमसः (वा०सं० 24.35)। पुरुषमृगश्चन्द्रमसे। गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्। ते वनस्पतिभ्यः (वा०सं० 24.35)। बहुलग्रहणं किम्? कृष्णो रात्र्यै। हिमवतो हस्ती (वा०सं० 24.30)। *षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या* (म०भा०)। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते। या दतो धावति तस्यै श्यावदन्। या नखानि कृन्तति तस्यै कुनखी। याऽङ्क्ते तस्यै काणः। याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा। या केशान् प्रलिखति तस्यै खलतिः (तै०सं० 2.5.1.6)। अहल्यायै जारः (शत० 3.3.1.19)।

अर्थ—वेद के विषय में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति बहुलता से होती है।

उदा० (1) पुरुषमृगश्चन्द्रमसः
'चन्द्रमसः' में षष्ठी हुई।

(2) पुरुषमृगश्चन्द्रमसे
पक्ष में षष्ठी नहीं हुई।

(3) गोधाकालकादार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्
षष्ठी हुई।

(4) गोधाकालकादार्वाघाटस्ते वनस्पतिभ्यः
षष्ठी नहीं हुई।

बहुल—'बहुल' ग्रहण सभी विधियों के व्यभिचारार्थ है—

(5) कृष्णो रात्र्यै
सप्तमी के अर्थ में बहुलकात् चतुर्थी हो गई है।

(6) हिमवतो हस्ती
बाहुलकात् षष्ठी हुई।

षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या—षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी होती है।

(7) या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते (तै० सं० 2.5.1.6)
'तस्यै' में षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी हुई है।

(8) या दतो धावति तस्यै श्यावदन् (पूर्ववत्)।

(9) या नखानि कृन्तति तस्यै कुनखः (सपूर्ववत्)।

(10) याऽअङ्क्ते तस्यै काणः (पूर्ववत्)।

(11) याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा (पूर्ववत्)।
(12) या केशान् प्रलिखति तस्यै खलतिः (पूर्ववत्)।
(13) अहल्याये जारः (शत० 3.3.1.9)।

(524) यजेश्च करणे *63* (3397)

यजेर्धातोः करणे कारके छन्दसि बहुलं षष्ठी विभक्ति-र्भवति। घृतस्य यजते (शत० 4.4.2.4)। घृतेन यजते। सौम्यमस्य यजते (शत० 4.4.2.5)। सोमेन यजते।

अर्थ—वेद के विषय में 'यज्' धातु के करण में बहुलता से षष्ठी होती है।

उदा० (1) घृतस्य यजते (शत० 4.4.2.4)
षष्ठी हुई।

(2) घृतेन यजते
बाहुलकात् तृतीया हुई।

(3) सोमस्य यजते
षष्ठी हुई।

(4) सोमेन यजते
वाहुलकात् तृतीया हुई।

(525) कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे *64* (622)

'छन्दसि बहुलम्' इति निवृत्तम्। कृत्वोऽर्थानां प्रत्ययानां प्रयोगे कालेऽधिकरणे षष्ठी विभक्तिर्भवति। पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते। द्विरह्नोऽधीते। कृत्वोऽर्थग्रहणं किम्? अह्नि शेते, रात्रौ शेते। प्रयोगग्रहणं किम्? अहनि भुक्तम्। गम्यते हि द्विस्त्रिश्चतुर्वेति, न त्वप्रयुज्यमाने भवति। कालग्रहणं किम्? द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते। अधिकरण इति किम्? द्विरह्नो भुङ्क्ते। शेष इत्येव-द्विरहन्यधीते।

अर्थ—'छन्दसि' तथा 'बहुलम्' पदों की निवृत्ति हो गई है। 'कृत्वसुच्' तथा उसके समानार्थक प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के प्रयोग में कालवाची अधिकरण में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा० (1) पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते
'कृत्वसुच्' प्रत्यय होकर 'पञ्चकृत्वः' बनता है। इससे युक्त कालवाची शब्द 'अहन्' से षष्ठी हुई।

(2) द्विरह्नोऽधीते
पूर्ववत् षष्ठी हुई।

कृत्वोऽर्थ० अर्थात् कृत्वसुच् तथा समानार्थक प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के अधिकरण में षष्ठी होती है—

(3) अहनि शेते
कृत्वसुच् का प्रयोग नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

प्रयोग० अर्थात् कृत्वसुच् अर्थक प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के प्रयोग में ही कालवाची अधिकरण से षष्ठी होती है—

(4) अहनि भुक्तम्
यहाँ षष्ठी नहीं हुई।

गम्यते—दिन में दो बार, तीन बार या चार बार खाने का ज्ञान प्रकरणादि के आधार पर हो जाता है; परन्तु कृत्वसुच् के अर्थ में किसी प्रत्यय का प्रयोग न होने के कारण षष्ठी विभक्ति नहीं होती है।

काल० अर्थात् कालवाची अधिकरण शब्द से षष्ठी होती है—

(5) द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते
'पात्री' शब्द कालवाची नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

अधिकरणे अर्थात् अधिकरण से षष्ठी होती है—

(6) द्विरह्नो भुङ्क्ते
'अहन्' अधिकरण नहीं है। अतः सम्बन्ध में षष्ठी हुई।

शेषे अर्थात् शेष विवक्षित होने पर ही षष्ठी होती है—

(7) द्विरहन्यधीते
शेष विवक्षित नहीं है। अतः षष्ठी नहीं हुई।

(526) कर्तृकर्मणोः कृति *65* (623)

कृत्प्रयोगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति। भवतः शायिका। भवत आसिका। कर्मणि-अपां स्रष्टा, पुरां भेत्ता (ऋ० 8.17.14), वज्रस्य भर्त्ता (तै०सं० 1.4.28.1)। कर्तृकर्मणोरिति किम्? शस्त्रेण भेत्ता। कृतीति किम्? तद्धितप्रयोगे मा भूत्-कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् (म०भा०)। शेष इति निवृत्तम्, पुनः कर्मग्रहणात्। इतरथा हि कर्तरि च कृतीति ब्रूयात्।

अर्थ—अर्थ द्वारा कृत् प्रत्ययान्त शब्द के साथ योग होने पर (अनुक्त) कर्त्ता या कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा० (1) भवतः शायिका
'शायिका' में 'ण्वुल्' प्रत्यय हुआ है। इसके योग में कर्त्ता 'भवत्' शब्द से षष्ठी हुई।

(2) भवतः आसिका (पूर्ववत्)।

(3) अपां स्रष्टा

'स्रज् तृ' होकर 'स्रष्टा' बनता है। इसके योग में कर्म 'अप्' शब्द से षष्ठी हुई।

(4) पुरां भेत्ता (पूर्ववत्)।

(5) वज्रस्य भर्त्ता (पूर्ववत्)।

कर्तृकर्म० अर्थात् कर्त्ता व कर्म से ही षष्ठी होती है—

(6) शस्त्रेण भेत्ता

'भेत्ता' कृत्प्रत्ययान्त शब्द है। इसके करण 'शास्त्र' से षष्ठी नहीं हुई।

कृति अर्थात् कृत्प्रत्ययान्त के योग में ही षष्ठी होती है—

(7) कृतपूर्वी कटम्

यहाँ तद्धितान्त शब्द का योग होने से षष्ठी नहीं हुई।

(8) भुक्तपूर्वी ओदनम् (पूर्ववत्)।

शेषे अर्थात् शेष विवक्षित होने पर ही षष्ठी होती है—इसकी निवृत्ति हो गई है; क्योंकि पुनः 'कर्म' शब्द का ग्रहण किया गया है।

(527) उभयप्राप्तौ कर्मणि *66* (624)

पूर्वेण षष्ठी प्राप्तां नियम्यते। उभयप्राप्ताविति बहुव्रीहिः। उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति सोऽयमुभयप्राप्तिः, तत्र कर्मण्येव षष्ठी विभक्तिर्भवति, न कर्तरि। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन। रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन। साधु खलु पयसः पानं यज्ञदत्तेन। बहुव्रीहिविज्ञानादिह नियमो न भवति–आश्चर्यमिदमोदनस्य नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इति। *अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्। चिकीर्षा देवदत्तस्य कटस्य। *शेषे विभाषा* (म०भा०)। अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोर्ग्रहणात् तदपेक्षया शेषः स्त्रीप्रत्यय एव गृह्यते। विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः, पाणिनिना वा (म०भा०)। केचिदविशेषेणैव विभाषामिच्छन्ति–शब्दानामनुशासनमाचार्येण, आचार्यस्येति वा।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा प्राप्त षष्ठी का नियमन किया जा रहा है। 'उभयप्राप्तौ' पद में बहुव्रीहि समास है। यथा—उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति सा।

कृत् प्रत्ययान्त शब्द के योग में कर्त्ता व कर्म दोनों में युगपत् षष्ठी विभक्ति प्राप्त होने की दशा में अनुक्त कर्म में ही षष्ठी होती है।

उदा० (1) आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन

'दुह् घञ्' भाव में प्रत्यय होकर 'दोहः' शब्द बनता है। 'अगोप' शब्द 'दुह्' धातु का कर्त्ता है तथा 'गो' शब्द इसका कर्म है। 'कर्तृकर्मणोः कृति' से दोनों में षष्ठी प्राप्त हुई। तब अनुक्त कर्म 'गो' से षष्ठी हुई।

(2) रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन

पूर्ववत् अनुक्त कर्म (ओदन) से षष्ठी हुई।

(3) साधु खलु पयसः पानं यज्ञदत्तेन (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहि०—बहुव्रीहि समास जानने के कारण यह सूत्र यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है। पाक के साथ 'ओदन' कर्म का तथा प्रादुर्भाव के साथ 'ब्राह्मण' कर्त्ता का योग है। सारं यह है कि कर्त्ता व कर्म—दोनों का किसी एक के साथ योग नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। कर्त्ता व कर्म दोनों में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी होती है।

अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्—यदि 'अक' तथा 'अ' में अन्त होने वाले कृत् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में हो तो पूर्वोक्त षष्ठी अर्थात् केवल अनुक्त कर्म में नहीं होती है—

(4) भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्

भिद् ण्वुल्—भेदक। 'अक' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग 'भेदिका' के योग में प्रकृत सूत्र से अनुक्त कर्म 'काष्ठ' शब्द से षष्ठी प्राप्त हुई; परन्तु निषेध होकर कर्त्ता (देवदत्त) तथा कर्म (काष्ठ) दोनों में षष्ठी हुई।

(5) चिकीर्षा देवदत्तस्य कटस्य

'कृ सन्—चिकीर्ष' धातु निष्पन्न हुआ। 'अङ्' प्रत्यय करके स्त्रीत्व में 'टाप्' करने पर 'चिकीर्षा' बना, जिसके अन्त में 'अ' प्रत्यय है तथा यह शब्द स्त्रीलिङ्ग भी है। पूर्ववत् कर्त्ता व कर्म दोनों में षष्ठी हुई।

शेषे—शेष के विवक्षित होने पर अर्थात् 'अक' व 'अ' प्रत्ययान्त शब्द से युक्त कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी होती है। पक्ष में तृतीया होती है—

(6) विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः

यहाँ क्तिन् प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी हुई है।

(7) विचित्रा हि कृतिः पाणिनिना

पक्ष में तृतीया हुई।

कुछ विद्वान् सामान्य रूप से ही अर्थात् विना किसी लिङ्ग की विशेषता के विकल्प स्वीकार करते हैं। यथा—

(8) शब्दानाम् अनुशासनम् आचार्यस्य
षष्ठी।

(2) शब्दानाम् अनुशासनम् आचार्येण
पक्ष में तृतीया।

(528) क्तस्य च वर्तमाने *67* (625)

'न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनाम्' इति (2.3.69) प्रतिषेधे प्राप्ते पुनः षष्ठी विधीयते। क्तस्य वर्त्तमानकालविहितस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति। राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। क्तस्येति किम्? ओदनं पचमानः। वर्तमान इति किम्? ग्रामं गतः। *नपुंसके भाव उपसंख्यानम्* (म० भा)। छात्रस्य हसितम्। मयूरस्य नृत्तम्। कोकिलस्य व्याहृतम् (म० भा)। *शेषविज्ञानात् सिद्धम्* (म० भा)। तथा च कर्तृविवक्षायां तृतीयाऽपि भवति–छात्रेण हसितमिति।

अर्थ—'न लोकाव्ययनिष्ठा०' सूत्र के द्वारा निषेध प्राप्त होने पर पुनः षष्ठी का विधान किया जा रहा है।

वर्त्तमान काल में विहित क्तप्रत्यय के प्रयोग में अनुक्त कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति होती है।

क्तप्रत्यय सामान्यतः भूतकाल में होता है, परन्तु 'मति-बुद्धिपूजार्थे०' के द्वारा वर्त्तमान में क्त होता है।

उदा० (1) राज्ञां मतः
'न लोकाव्यय०' से निषेध प्राप्त हुआ। तब षष्ठी हुई।

(2) राज्ञां बुद्धः (पूर्ववत्)।
(3) राज्ञां पूजितः (पूर्ववत्)।

क्तस्ये० अर्थात् क्त प्रत्यय के प्रयोग में ही षष्ठी होती है—
(4) ओदनं पचमानः
'पच्' से वर्त्तमान में 'शानच्' हुआ, जो क्त नहीं है। अतः 'ओदन' से षष्ठी नहीं हुई।

वर्त्तमाने अर्थात् वर्तमान काल में विहित क्तप्रत्यय के योग में षष्ठी होती है—

(5) ग्रामं गतः
'गम्' से भूतकाल के अर्थ में क्तप्रत्यय हुआ है। अतः 'ग्रामम्' यहाँ षष्ठी नहीं हुई।

नपुँसक लिङ्ग में भाव में विहित क्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी होती है—

(6) छात्रस्य हसितम्
'हस्' धातु से भाव में क्त हुआ। षष्ठी हुई।

(7) मयूरस्य नृत्तम् (पूर्ववत्)।
(8) कोकिलस्य व्याहृतम् (पूर्ववत्)।

शेष के विज्ञान से यह सिद्ध ही है। कर्त्ता की विवक्षा में तृतीया भी होती है—

(9) छात्रेण हसितम्
तृतीया हुई।

(529) अधिकरणवाचिनश्च *68* (626)

'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' (3.4.76) इति वक्ष्यति, तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति। अयमपि प्रतिषेधापवादो योगः। इदमेषामासितम्। इदमेषां शयितम्। इदमहेः सृप्तम् (म० भा०)। इदं वनकपेर्यातम्। इदमेषां भुक्तम्। इदमेषामशितम्। द्विकर्मकाणां प्रयोगे कर्तरि कृति द्वयोरपि षष्ठी, द्वितीयावत्–नेताऽश्वस्य ग्रामस्य चैत्रः। अन्ये प्रधाने कर्मण्याहुः, तदा–नेता अश्वस्य ग्रामं चैत्रः।

अर्थ—आगे 'क्तोऽधिकरणे च' सूत्र का पाठ किया जायेगा। इसके द्वारा अधिकरण में क्त प्रत्यय कहा जायेगा। अधिकरण-वाची क्तप्रत्ययान्त शब्द के योग में कर्त्ता में षष्ठी होती है। यह भी प्रतिषेध व अपवाद में विधान है।

उदा० (1) इदम् एषाम् आसितम्
'कर्तृकर्मणोः कृति' से कर्त्ता में बाहुलकात् षष्ठी प्राप्त हुई; जिसका 'न लोकाव्यय निष्ठा—'के द्वारा निषेध हो गया। तब षष्ठी हुई।

(2) इदम् एषां शयितम् (पूर्ववत्)।
(3) इदम् अहेः सृप्तम् (पूर्ववत्)।
(4) इदं वनकपेर्यातम् (पूर्ववत्)।
(5) इदम् एषां भुक्तम् (पूर्ववत्)।
(6) इदम् एषाम् अशितम् (पूर्ववत्)।

द्विकर्मकाणां—द्विकर्मकों के प्रयोग में कर्त्ता अर्थ में कृत् प्रत्ययान्त शब्द के योग में दोनों में द्वितीया के समान षष्ठी होती है—

(7) नेता अश्वस्य ग्रामस्य चैत्रः
उभयत्र षष्ठी हुई।

अन्य विद्वानों के अनुसार मुख्य कर्म में षष्ठी होती है—

(8) नेता अश्वस्य ग्रामं चैत्रः
'अश्वस्य' यहाँ षष्ठी हुई है।

(530) न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् *69* (627)

'कर्तृकर्मणोः कृति' (2.3.35) इति षष्ठी प्राप्ता प्रतिषिद्ध्यते। ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन्– इत्येतेषां प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति। ल इति शतृशानचौ (3.2.124) कानच्क्वसू (3.2.106,107) किकिनौ (3.2.181) च गृह्यन्ते–ओदनं पचन्। ओदनं पचमानः। ओदनं पेचानः। ओदनं पेचिवान्। पपिः सोमम् ददिर्गाः (ऋ० 6.23.4)। उ–कटं चिकीर्षुः (3.2.168)। ओदनं बुभुक्षुः (म०भा)। कन्यामलङ्करिष्णुः (3.2.136)। इष्णुचोऽपि प्रयोगे निषेधः। उक–आगामुकं (3.2.124) वाराणसीं रक्ष आहुः। *उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः* (म०भा)। दास्याः कामुकः। अव्यय–कटं कृत्वा।ओदनं भुक्त्वा (3.4.21)। *अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः* (म०भा)। व्युष्टायां पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (3.4.16)। (का०सं० 8.3) पुरा क्रूरस्यं विसृपों विरप्शिन् (3.1.17)। (तै०सं० 1.1.9.3) निष्ठा–ओदनं भुक्तवान्। देवदत्तेन कृतम्। खलर्थ–ईषत्करः (3.3.126) कटो भवता। ईषत्पानः (3.3.128) सोमो भवता। तृन्निति प्रत्याहारग्रहणं 'लटः शतृशानचौ' (3.2.124) इत्यारभ्य आ तृनो नकारात्। तेन शानन्–चानश्–शतृ–तृनामपि प्रतिषेधो भवति (म०भा)–सोमं पवमानः (3.3.128)। नडमाघ्नानः (3.2.129)। अधीयन् (3.2.130) पारायणम्। कर्त्ता (3.2.134) कटान्। वदिता जनापवादान्। *द्विषः शतुर्वा वचनम्* (म०भा)। चौरं द्विषन्। चौरस्य द्विषन्।

अर्थ—'कर्तृकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध किया जा रहा है। ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ एवं तृन्— इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है।

ल उ उक—यहाँ सर्वप्रथम सवर्णदीर्घ (ऊक) होकर गुणादेश (लोक) होता है।

(क) 'ल' पद के द्वारा लट् आदि दश लकारों का ग्रहण होता है। यहाँ लकारों के साक्षात् प्रयोग का अभाव होने के कारण इसके द्वारा लादेशों का ग्रहण होना चाहिए। लादेश ये हैं—तिप् आदि अट्ठारह प्रत्यय, शतृ-शानच् प्रत्यय तथा कानच्–क्वसु-कि-किन् आदि कृत् प्रत्यय। यहाँ 'ल' पद के द्वारा शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि तथा किन्—इन छः लादेशों का ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) ओदनं पचन्
'पच्' से शतृ करके 'पचन्' बनता है। इसके योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी प्राप्त हुई। षष्ठी का निषेध हुआ।

(2) ओदनं पचमानः
'पच्' से 'शानच्' हुआ। इसके योग में पूर्ववत् षष्ठी का निषेध हुआ।

(3) ओदनं पेचानः
'पच्' से 'कानच्' हुआ। पूर्ववत्।

(4) ओदनं पेचिवान्
'पच्' से क्वसु होकर 'पेचिवान्' बनता है। इसके योग में षष्ठी का निषेध होता है।

(5) पपिः सोमम्
'पा' से 'कि' होकर 'पपिः' बनता है।

(6) ददिर्गाः
'दा' से 'किन्' होकर 'ददिः' बनता है।

उ का अर्थ है—उकारान्त कृदन्त शब्द। यहाँ 'उ' के द्वारा 'सनाशंसभिक्षः उः' के द्वारा विहित 'उ' प्रत्यय तथा 'अलङ्कृञ् निराकृञ्०' के द्वारा विहित 'इष्णुच्' प्रत्यय का ग्रहण होता है।

(7) कटं चिकीर्षुः
'कृ' से सन् होकर 'चिकीर्ष' धातु बनता है। उससे 'उ' प्रत्यय होकर 'चिकीर्षुः' बनता है। इसके योग में षष्ठी का निषेध हुआ।

(8) ओदनं बुभुक्षुः (पूर्ववत्)।

(9) कन्याम् अलङ्करिष्णुः
'इष्णुच्' प्रत्यय हुआ है। इसके योग में पूर्ववत् षष्ठी का निषेध हो गया।

उक—इसके द्वारा 'लषपतपदस्था—' से विहित 'उकञ्' प्रत्यय का ग्रहण होता है। तदन्त विधि होकर 'उक' का अर्थ होता है—उकान्त कृदन्त शब्द।

(10) आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः
पूर्ववत् षष्ठी का निषेध हो गया।

उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः—'कम्' धातु से 'उकञ्' प्रत्यय हो तो षष्ठी का निषेध नहीं होता है—

(11) दास्याः कामुकः

यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा षष्ठी का निषेध प्राप्त हुआ। तब प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा षष्ठी-प्रतिषेध का निषेध हुआ। यथाप्राप्त षष्ठी हो गई।

अव्यय—अव्यय पद के द्वारा कृत् प्रत्ययान्त अव्ययसंज्ञक शब्दों का ग्रहण होता है। 'कृन्मेजन्तः' तथा 'क्त्वातोसुन्कसुनः' के द्वारा कृत् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्ययसंज्ञा होती है।

(12) कटं कृत्वा

कृ क्त्वा—कृत्वा। अव्ययसंज्ञा। प्रकृत सूत्र के द्वारा षष्ठी का निषेध हुआ।

(13) ओदनं भुक्त्वा (पूर्ववत्)।

अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः—तोसुन् व कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी का प्रतिषेध नहीं होता है—

(14) पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः

उद् पूर्वक 'इण्' धातु से 'तोसुन्' हुआ। 'उदेतोः' के योग में षष्ठी का प्रतिषेध हुआ। प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा प्रतिषेध का निषेध हुआ।

(15) पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्

विपूर्वक 'सृप्' धातु से 'कसुन्' हुआ। पूर्ववत् षष्ठीप्रतिषेध का निषेध हो गया।

निष्ठा—'क्तक्तवतू निष्ठा' के द्वारा क्त एवं क्तवतु प्रत्यया की निष्ठासंज्ञा होती है। तदन्त विधि होकर 'निष्ठा' पद के द्वारा क्तप्रत्ययान्त एवं क्तवतु प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है। यथा—

(16) ओदनं भुक्तवान्

'भुज् से क्तवतु प्रत्यय होकर 'भुक्तवान्' बनता है। षष्ठी का निषेध हुआ।

(17) देवदत्तेन कृतम्

पूर्ववत् षष्ठी।

खलर्थ—'खलर्थ' का अर्थ है—खल् प्रत्यय तथा खल् वाची (युच् आदि) प्रत्यय। तदन्त विधि होकर यहाँ खलर्थक प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है।

(18) ईषत्करः कटो भवता

'ईषत्॰' 3.3.126 के द्वारा 'खल्' हुआ। पूर्ववत् षष्ठी का निषेध हो गया।

(19) ईषत्पानः सोमो भवता

'आतो युच्' से 'युच्' हुआ है।

तृन्—'तृन्' एक प्रत्यय है, जिसका विधान आचार्य ने 'तृन्' 3.2.135 के द्वारा किया है; परन्तु आचार्य पतञ्जलि[1] तथा काशिकाकार आदि विद्वान् 'तृन्' के द्वारा तृन् प्रत्याहार[2] का ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार यह प्रत्याहार 'शतृशानचौ' में 'शतृ' के 'तृ' से लेकर 'तृन्' के इत्संज्ञक अन्त्य वर्ण 'नकार' तक बनता है। इस प्रकार 'तृन्' प्रत्याहार शतृ, शानच्, शानन्, चानश् और तृन्—इन पाँच कृत् प्रत्ययों की संज्ञा है।

(20) सोमं पवमानः

'पू' धातु से 'शानच्' हुआ। 'पवमानः' के योग में षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध हो गया।

(21) तटम् आध्मानः

'चानश्' हुआ।

(22) अधीयन् पारायणम्

शतृ हुआ है।

(23) कर्त्ता कटान्

तृन् हुआ है।

(24) वदिता जनापवादान् (पूर्ववत्)।

द्विषः शतुर्वा वचनम्—शतृ प्रत्ययान्त 'द्विषत्' शब्द के योग में षष्ठी का निषेध विकल्प से होता है।

(25) चौरं द्विषन्

षष्ठी का निषेध हुआ।

(26) चौरस्य द्विषन्

पक्ष में षष्ठी हुई।

विशेष—प्रकृत सूत्र के द्वारा क्रिया गया षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध कारकषष्ठी (अर्थात् कृद्योगलक्षणा षष्ठी) का प्रतिषेध है। शेष की विवक्षा में तो षष्ठी विभक्ति निर्बाध होती ही है। यथा—

देवस्य कुर्वन्, देवलोकस्य जिष्णुः।

(531) अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः *70* (628)

अकस्य भविष्यति काले विहितस्येनस्तु भविष्यति चाध-

1. महा॰ 2.3.69
2. काशि॰–2.3.69 तृन्निति प्रत्याहारग्रहणम्।

मण्यें च विहितस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति। कटं कारको (3.3.10) व्रजति। ओदनं भोजको व्रजति। इनः खल्वपि–ग्रामं गमी (3.3.3)। ग्रामं गामी। आधमर्ण्ये–शतं दायी (3.3.170)। सहस्रं दायी (म० भा०)। भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति किम्? यवानां लावकः (3.1.133)। सक्तूनां पायकः। अवश्यंकारी (3.3.170) कटस्य। इह कस्मान्न भवति–वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शक इति? भविष्यदधिकारे विहितस्याकस्येदं ग्रहणम्।

अर्थ—भविष्यत् काल और आधमर्ण्य अर्थों में विहित 'अक' प्रत्यय और 'इन्' प्रत्यय, तदन्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है।

यहाँ दो प्रत्यय (अक, इन्) हैं तथा दो ही अर्थ (भविष्यत् काल और आधमर्ण्य) हैं, तदपि यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है। सार यह है कि उक्त दोनों प्रत्यय सूत्रोक्त दोनों अर्थों में पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) कटं कारको व्रजति

'तुमुन्ण्वुलौ०' के द्वारा 'ण्वुल्' हुआ। यह 'भविष्यति गम्यादयः' से भविष्यत् काल में विहित है। अतः षष्ठी का निषेध हुआ।

(2) ओदनं भोजको व्रजति (पूर्ववत्)।

(3) ग्रामं गमी

यहाँ 'इन्' हुआ है। पूर्ववत् षष्ठी विभक्ति का निषेध हो गया।

(4) ग्रामं गामी

'आवश्यकाध०' से 'णिनि' हुआ।

(5) शतं दायी (पूर्ववत्)।

(6) सहस्रं दायी (पूर्ववत्)।

भविष्य० अर्थात् भविष्यत् काल और आधमर्ण्य अर्थों में ही विहित 'अक' प्रत्यय और 'इन्' प्रत्यय, तदन्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है—

(7) यवानां लावकः

सामान्य कर्ता अर्थ में 'अक' हुआ है; अतः षष्ठी का निषेध नहीं हुआ है।

(8) सक्तूनां पायकः (पूर्ववत्)।

(9) अवश्यंकरी कटस्य

पूर्ववत् षष्ठी का निषेध नहीं हुआ।

इह—निम्नलिखित प्रयोगों में षष्ठी का प्रतिषेध नहीं हुआ—

(10) वर्ष शतस्य पूरकः

(11) पुत्रपौत्राणां दर्शकः

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में 'अक' कालसामान्य में हुआ है। सूत्र में भविष्यत् के अधिकार में विहित 'अक' का ही ग्रहण है। अतः षष्ठी का प्रतिषेध नहीं हुआ।

(532) कृत्यानां कर्तरि वा *71* (629)

'कर्तृकर्मणोः कृति' (2.3.65) इति नित्यं षष्ठी प्राप्ता कर्त्तरि विकल्प्यते। कृत्यानां प्रयोगे कर्त्तरि वा षष्ठी विभक्तिर्भ-वति, न कर्मणि। भवता कटः कर्तव्यः। भवतः कटः कर्तव्यः। कर्त्तरीति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम् (म० भा०)। *उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठ्याः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। क्रष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन। नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन।

अर्थ—'कर्तृकर्मणोः कृति' के द्वारा नित्य षष्ठी के प्राप्त होने पर यह कर्ता में विकल्प कहा जा रहा है।

कृत्यप्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा कर्म में नहीं होती है।

'कृत्याः' सूत्र के द्वारा कृत्य प्रत्ययों का अधिकार चलता है, जो 'ण्वुल्तृचौ' पर्यन्त जाता है। तव्यत्, तव्य, अनीयर्, यत्, ण्यत्, क्यप् तथा केलिमर्—ये सात प्रत्यय 'कृत्य' कहलाते हैं। ये भाव तथा कर्म में होते हैं।

उदा० (1) भवता कटः कर्त्तव्यः

तव्यत् प्रत्यय होकर 'कर्त्तव्यः' शब्द बनता है। इसके योग में कर्ता (भवत्) से पक्ष में तृतीया हुई।

(2) भवतः कटः कर्त्तव्यः

पूर्ववत् षष्ठी हुई।

अर्थात् कर्त्ता में ही षष्ठी होती है—

(3) गेयो माणवकः साम्नाम्

'भव्यगेय प्रवचनी०' के द्वारा कर्त्ता अर्थ में 'यत्' हुआ। कर्म में षष्ठी का विकल्प नहीं हुआ।

उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठ्या प्रतिषेधो वक्तव्यः—कर्त्ता व कर्म—दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त हो तो उभयत्र षष्ठी का निषेध होता है—

(4) क्रष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन
यहाँ षष्ठी का निषेध हुआ।

(5) नेतव्या ग्रामम् अजा देवदत्तेन (पूर्ववत्)।

(533) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् *72* (630)

तुल्यार्थैः शब्दैर्योगे तृतीया विभक्तिर्भवत्यन्यतरस्यां पक्षे षष्ठी च, तुलोपमाशब्दौ वर्जयित्वा। शेषविषये तृतीयाविधानात् तया मुक्ते षष्ठ्येव भवति–तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य। सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य। अतुलोपमाभ्यामिति किम्? तुला देवदत्तस्य नास्ति। उपमा कृष्णस्य न विद्यते। वेति वर्तमानेऽन्यतरस्यांग्रहणमुत्तरसूत्रे तस्य चकारेणानुकर्षणार्थम्। इतरथा हि तृतीयानुकृष्यते।

अर्थ—तुल्यार्थक शब्दों के योग में शेष विवक्षित होने पर तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है, तुला और उपमा शब्दों को छोड़कर। पक्ष में षष्ठी होती है।

शेष विषय में तृतीया का विधान होने से उसके द्वारा मुक्त हो जाने पर षष्ठी ही होती है।

उदा० (1) तुल्यो देवदत्तेन
तृतीया हुई।

(2) तुल्यो देवदत्तस्य
पक्ष में षष्ठी हुई।

(3) सदृशो देवदत्तेन (पूर्ववत्)।
(4) सदृशो देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।

अतुलोप० अर्थात् तुला व उपमा शब्दों को छोड़कर तृतीया होती है—

(5) तुला देवदत्तस्य नास्ति
'तुला' शब्द के योग में तृतीया नहीं हुई।

(6) उपमा कृष्णस्य न विद्यते (पूर्ववत्)।

वेति—कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र से 'वा' पद का अनुवर्तन उपलब्ध रहने पर भी प्रकृत सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद के ग्रहण की क्या आवश्यकता थी ? इसका समाधान यह है कि उत्तर शास्त्र में विकल्प के लिए 'अन्यतरस्याम्' पद का ग्रहण किया गया है, ताकि उत्तरसूत्र में चकार के द्वारा विकल्प का अनुकर्षण हो सके।

(534) चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः *73* (631)

आशिषि गम्यमानायाम् आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित–इत्येतैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। चकारो विकल्पानुकर्षणार्थः। शेषे चतुर्थीविधानात्तया मुक्ते षष्ठी विभक्तिर्भवति। *अत्रायुष्यादीनां पर्यायग्रहणं कर्त्तव्यम्*। आयुष्यं देवदत्ताय भूयात्। आयुष्यं देवदत्तस्य भूयात्। चिरं जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात्। मद्रं देवदत्ताय भूयात्। मद्रं देवदत्तस्य। भद्रं देवदत्ताय, भद्रं देवदत्तस्य। कुशलं देवदत्ताय, कुशलं देवदत्तस्य। निरामयं देवदत्ताय, निरामयं देवदत्तस्य। सुखं देवदत्ताय, सुखं देवदत्तस्य। शं देवदत्ताय, शं देवदत्तस्य। अर्थो देवदत्ताय, अर्थो देवदत्तस्य। प्रयोजनं देवदत्ताय, प्रयोजनं देवदत्तस्य। हितं देवदत्ताय, हितं देवदत्तस्य। पथ्यं देवदत्ताय, पथ्यं देवदत्तस्य। आशिषीति किम्? आयुष्यं देवदत्तस्य तपः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ गम्यमान हो तो आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ तथा हित—इन शब्दों के योग में शेष की विवक्षा में चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्ति होती है। शेष में चतुर्थी के विधान से उससे मुक्त होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

अत्रायुष्यादीनां पर्यायग्रहणं कर्त्तव्यम्—यहाँ आयुष्य आदि शब्दों के पर्याय शब्दों का भी ग्रहण होता है।

उदा० (1) आयुष्यं देवदत्ताय भूयात्
चतुर्थी हुई।

(2) आयुष्यं देवदत्तस्य भूयात्
षष्ठी हुई।

(3) चिरं जीवितं देवदत्ताय भूयात् (पूर्ववत्)।
(4) चिरं जीवितं देवदत्तस्य भूयात् (पूर्ववत्)।
(5) मद्रं देवदत्ताय भूयात् (पूर्ववत्)।
(6) मद्रं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(7) भद्रं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(8) भद्रं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(9) कुशलं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(10) कुशलं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(11) निरामयं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।

(12) निरामयं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(13) सुखं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(14) सुखं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(15) शं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(16) शं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(17) अर्थो देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(18) अर्थो देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(19) प्रयोजनं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(20) प्रयोजनं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(21) हितं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(22) हितं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।
(23) पथ्यं देवदत्ताय (पूर्ववत्)।
(24) पथ्यं देवदत्तस्य (पूर्ववत्)।

आशिषि अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही चतुर्थी होती है—

(25) आयुष्यं देवदत्तस्य तपः
यहाँ आशीर्वाद अर्थ नहीं है; अतः चतुर्थी नहीं हुई।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां द्वितीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



द्वितीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(535) द्विगुरेकवचनम् *1* (731)

द्विगुः समास एकवचनं भवति। एकस्य वचनमेकवचनम्। एकस्यार्थस्य वाचको भवतीत्यर्थः। तदनेन प्रकारेण द्विग्वर्थस्यैकवद्भावो विधीयते, द्विग्वर्थ एकवद्भवतीति। समाहारद्विगोश्चेदं ग्रहणं, नान्यस्य। पञ्चपूलाः समाहृताः पञ्चपूली। दशपूली। द्विग्वर्थस्यैकत्वादनुप्रयोगेऽप्येकवचनं भवति–पञ्चपूलीयं शोभनेति।

अर्थ—द्विगु समास एकवचन होता है।

एकत्व को एकवचन कहते हैं। इसका अर्थ है कि द्विगु एकत्व अर्थ का वाचक होता है। अतः इस प्रकार से द्विगु अर्थ के एकवत् भाव का विधान किया जा रहा है। यहाँ समाहार द्विगु का ग्रहण है, अन्य (अर्थात् तद्धितार्थविषयक द्विगु) का नहीं।

उदा॰ (1) पञ्चपूली

पञ्च पूलाः समाहृताः—समास हुआ,

पञ्चन् जस् पूल जस्—'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' से द्विगुसंज्ञा व 'द्विगुरेकवचनम्' से एकवद्भाव, तब 'द्व्येकयोर् द्विवचनैक॰' से एकवचन,

पञ्चन् पूल—'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नलोप,

पञ्चपूल—'अकारान्तोत्तर॰' से स्त्रीलिङ्ग हुआ,

पञ्चपूली—'स्त्रियाम्, द्विगोः, सु हुआ, सु का लुक्।

द्विग्वर्थ—द्विग्वर्थ का एकवद्भाव होने से अनुप्रयोग में भी एकवचन होता है। यथा—पञ्चपूलीयँ शोभनेति।

(536) द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् *2* (906)

एकवचनमिति वर्त्तते। अङ्गशब्दस्य प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्त्या त्रीणि वाक्यानि सम्पद्यन्ते। प्राण्यङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति, तथा तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च। प्राण्यङ्गानां तावत्–पाणिपादम्, शिरोग्रीवम्। तूर्याङ्गानाम्–मार्दङ्गिकपाणविकम्, वीणावादकपरिवादकम्। सेनाङ्गानाम्–रथिकाश्वारोहम्, रथिकपादातम्। हस्त्यश्वादिषु परत्वात् पशुद्वन्द्वे विभाषयैकवद् (2.4.12) भवति। इतरेतरयोगे समाहारे च द्वन्द्वो विहितः, तत्र समाहारस्यैकत्वात्सिद्धमेवैकवचनम्। इदं तु प्रकरणं विषयविभागार्थम्–प्राण्यङ्गादीनां समाहार एव द्वन्द्वः, दधिपयआदीनामितरेतरयोग एव (2.4.14), वृक्षमृगादीनाम् (२.४.१२) उभयत्रेति।

अर्थ—'एकवचनम्' का अनुवर्त्तन है। अङ्ग शब्द का प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। अतः तीन वाच्य होते हैं।

प्राणी के अङ्ग, वाद्य के अङ्ग तथा सेना के अङ्गवाची शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है।

उदा॰ (क) प्राण्यङ्ग—

(1) पाणिपादम्

पाणी च पादौ च एषां समाहारः—'चाऽर्थे द्वन्द्वः' से समास हुआ,

पाणिपाद—प्रकृत सूत्र से एकवद्भाव, 'स नपुंसकम्' से नपुंसक,

पाणिपाद सु → पाणिपादम्—सु हुआ।

(2) शिरोग्रीवम्

शिरश्च ग्रीवा च अनयोः समाहारः—समास हुआ,

शिरस् ग्रीवा—नपुँसक, ह्रस्वादेश,

शिरोग्रीवम्—सु।

(ख) तूर्याङ्ग—

(3) मार्दङ्गिकपाणविकम् (पूर्ववत्)।

(4) वीणावादकपरिवादकम्

वीणा च वादकश्च परिवादकश्च (पूर्ववत्)।

(ग) सेनाङ्ग—

(5) रथिकाऽश्वारोहम्

रथिकाश्चाऽश्वारोहाश्च—पूर्ववत् समास आदि,

रथिकाऽश्वारोहम्—सु।

(6) रथिकपादातम् (पूर्ववत्)।

हस्त्यश्वादिषु—'हस्त्यश्व' आदि के विषय में पर होने के कारण पशुओं के नामों के द्वन्द्व में विकल्प से एकवचन होता है। द्वन्द्व समास इतरेतरयोग में तथा समाहार में कहा गया है। तब समाहार के एकत्व होने से उसमें एकवद्भाव सिद्ध ही है। यह प्रकरण विषयों के विभाग के लिए है।

प्राण्यङ्गादी—यहाँ प्राणी के अङ्गों के साथ प्राणी के अङ्गों

का, तूर्यांगों का तूर्यांगों के साथ तथा सेना के अङ्गों का सेना के अङ्गों के साथ ही समाहार द्वन्द्व होता है। अत: निम्नलिखित में समाहार द्वन्द्व नहीं होता है—

(7) मार्दङ्गिकाश्वारोहौ
मार्दङ्गिकश्चाऽश्वारोहश्च—इतरेतरयोग हुआ।

'दधिपय' आदि में इतरेतर योग होता है। वृक्षमृगादि का दोनों प्रकार से होता है।

(537) अनुवादे चरणानाम् *3* (902)

चरणशब्दः शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्तते। चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति, अनुवादे गम्यमाने। प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्त्तनमात्रमनुवादः। उदगात्कठकालापम्। प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम् (म० भा०)। कठकालापादीनामुदयप्रतिष्ठे प्रमाणान्तरावगते यदा पुनः शब्देनानूद्येते तदैवमुदाहरणम्। यदा तु प्रथमत एवोपदेशस्तदा प्रत्युदाहरणम्। अनुवादे इति किम्? उदगुः कठकालापाः। प्रत्यष्ठुः कठकौथुमाः। *स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। स्थेणोरिति किम्? अनन्दिषुः कठकालापाः। अद्यतन्यामिति किम्? उद्यन्ति कठकालापाः।

अर्थ—चरण शब्द शाखानिमित्तक है।

अनुवाद अर्थ गम्यमान हो तो चरणवाची शब्दों का जो द्वन्द्व, उसे एकवद्भाव होता है।

अन्य प्रमाण के द्वारा जाना गया जो अर्थ, उसका संकीर्तनमात्र 'अनुवाद' कहलाता है।

उदा० (1) उदगात् कठकालापम्
पूर्ववत् एकवद्भाव हुआ।

(2) प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् (पूर्ववत्)।

अर्थात् अनुवाद अर्थ में ही द्वन्द्व एकवत् होता है—

(3) उदगुः कठकालापाः
यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ।

(4) प्रत्यष्ठुः कठकौथुमाः (पूर्ववत्)।

स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम्—लुङन्त स्था धातु तथा लुङन्त इण् धातु—इनके प्रयोग में ही पूर्वोक्त एकवद्भाव होता है।

(5) उदगात् कठकालापम्
'उदगात्' प्रयोग 'इण्' के लुङ् का है।

(6) प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्
स्था धातु के लुङ् में 'प्रत्यष्ठात्' बनता है।

स्थेणो० अर्थात् **स्था** तथा **इण्** धातुओं के प्रयोग में ही एकवद्भाव होता है—

(7) अनन्दिषुः कठकालापाः
यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ।

अद्यतन्याम् अर्थात् लुङन्त स्था व इण् के प्रयोग में ही एकवद्भाव होता है—

(8) उद्यन्ति कठकालापाः
लुङ् का प्रयोग नहीं है। अत: एकवद्भाव नहीं हुआ।

(538) अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् *4* (908)

अध्वर्युवेदे यस्य क्रतोर्विधानं सोऽध्वर्युक्रतुः। अध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति। अध्वर्युक्रतुरनपुंसकं द्वन्द्व इति गौणो निर्देशः। अर्काश्वमेधम्। सायाह्नातिरात्रम्। अध्वर्युक्रतुरिति किम्? इषुवज्रौ, उद्भिद्बलभिदौ। अनपुंसकमिति किम्? राजसूयवाजपेये। इह कस्मान्न भवति–दर्शपौर्णमासौ? क्रतुशब्दः सोमयागेषु रूढः।

अर्थ—अध्वर्युवेद में जिस क्रतु का विधान होता है, उसे अध्वर्युक्रतु कहते हैं।

अध्वर्यु में विहित यज्ञवाची शब्दों में द्वन्द्व समास एकवत् होता है। यदि वे शब्द नपुंसक लिङ्ग में न हों।

'अध्वर्युक्रतुरनपुंसकं द्वन्द्वः'—यह गौण का निर्देश है। 'क्रतु' में अध्वर्यु का अन्वय नहीं हो सकता। अत: अध्वर्यु क्रतु का विशेषण नहीं हो सकता। तब मुख्यार्थ के सम्भव न होने पर 'अध्वर्यु' का गौण अर्थ 'यजुर्वेद' ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) अर्काश्वमेधम्
'अर्क' यज्ञ और 'अश्वमेध' यज्ञ। समास हुआ। 'अजाद्यदन्तम्' में 'अर्क' शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

(2) सायाह्नातिरात्रम् (पूर्ववत्)।

अध्वर्यु० अर्थात् यजुर्वेद में विहित यज्ञवाची शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है—

(3) इषुवज्रौ
'इषु' तथा 'वज्र' शब्दों का सामवेद में प्रयोग है। अत: एकवद्भाव नहीं हुआ।

(4) उद्भिद्बलभिदौ (पूर्ववत्)।

अनपुंसक अर्थात् नपुंसक से भिन्न यज्ञवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवद्भाव होता है—

(5) राजसूयवाजपेये

'राजसूय' तथा 'वाजपेय' दोनों शब्द यजुर्वेद में विहित यज्ञों के वाचक हैं; परन्तु नपुसँक होने से इनका द्वन्द्व समास एकवत् नहीं हुआ।

इह—(6) दर्शश्च पौर्णमासश्च—दर्शपौर्णमासौ

यहाँ दोनों शब्द यजुर्वेद में विहित यज्ञों के वाचक हैं तथा नपुँसकलिङ्ग भी नहीं है। अत: एकवद्भाव होना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि सूत्रस्थ 'ऋतु' शब्द 'सोमयज्ञ' के अर्थ में ही रूढ है। अत: यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ।

(539) अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् *5* (909)

अध्ययनेन निमित्तेन येषामविप्रकृष्टा प्रत्यासन्ना आख्या तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति। पदकक्रमकम्। क्रमकवार्त्तिकम्। सम्पाठः पदानां क्रमस्य च प्रत्यासन्नः। अध्ययनत इति किम्? पितापुत्रौ। अविप्रकृष्टाख्यानामिति किम्? याज्ञिक-वैयाकरणौ।

अर्थ—अध्ययन के निमित्त से जिनका सामीप्य है, उनके वाचक शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है।

उदा० (1) पदकक्रमकम्

पदकश्च क्रमकश्च—समास हुआ, वेद में प्रथम पदपाठ तथा पश्चात् क्रमपाठ हुआ करता है। इस प्रकार अध्ययन के निमित्त सामीप्य का आरोप हुआ, एकवद्भाव हुआ।

पदकक्रमकम्—सु।

(2) क्रमकवार्त्तिकम् (पूर्ववत्)।

अध्ययनतः अर्थात् **अध्ययन के निमित्त** से जिनका सामीप्य है, उनके द्वन्द्व में ही एकवचन होता है—

(3) पितापुत्रौ

यहाँ सामीप्य तो है, परन्तु वह अध्ययन के निमित्त नहीं है। अत: एकवद्भाव नहीं हुआ।

अविप्रकृष्ट० अर्थात् सामीप्य की दशा में ही एकवद्भाव होता है—

(4) याज्ञिकवैयाकरणौ

'याज्ञिक' तथा 'वैयाकरण' इनमें अध्ययनगत सामीप्य नहीं है। अत: एकवद्भाव नहीं हुआ।

(540) जातिरप्राणिनाम् *6* (910)

जातिवाचिनां शब्दानां द्वन्द्व एकवद्भवति, प्राणिनो वर्ज-यित्वा। आराशस्त्रि। धानाशष्कुलि। जातिरिति किम्? नन्दकपाञ्चजन्यौ। अप्राणिनामिति किम्? ब्राह्मणक्षत्रिय-विट्शूद्राः। नञिवयुक्तन्यायेन (व्या०प० 65) द्रव्य-जातीनामयमेकवद्भावो, न गुणक्रियाजातीनाम्–रूपरसगन्ध-स्पर्शाः, गमनाकुञ्चनप्रसारणानि। जातिपरत्वे च जाति-शब्दानामयमेकवद्भावो विधीयते, न नियतद्रव्यविवक्षायाम्-इह कुण्डे बदराऽऽमलकानि तिष्ठन्तीति।

अर्थ—प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है। यहाँ 'जाति:' पद षष्ठी विभक्ति के अर्थ का बोधक है।

उदा० (1) आराशस्त्रि

'आरा' तथा 'शस्त्री' शब्द प्राणिवाचक नहीं है; बल्कि जाति-वाचक हैं। अत: द्वन्द्व समास में एकवद्भाव हुआ।

(2) धानाशष्कुलि (पूर्ववत्)।

जातिरि० अर्थात् जातिवाचक शब्दों के द्वन्द्व में ही एकवचन होता है—

(3) नन्दकपाञ्चजन्यौ

'नन्दक' तथा 'पाञ्चजन्य' शब्द प्राणिभिन्न हैं, परन्तु जातिवाचक नहीं हैं। अत: एकवचन नहीं हुआ।

अप्राणिना० अर्थात् प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों के द्वन्द्व में ही एकवचन होता है—

(4) ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा:

यहाँ सभी पद जातिवाचक है तथा प्राणिवाचक होने से एकवचन नहीं हुआ।

नञिव—नञ् युक्त तथा इवयुक्त पद अपने समान के बोधक होते हैं। यथा 'अब्राह्मणम् आनय' यहाँ नञ्युक्त पद 'अब्राह्मण' अपने समान (अर्थात् क्षत्रिय आदि) का बोध कराता है। ब्राह्मण द्रव्य है तथा क्षत्रिय द्रव्य है। अत: 'अब्राह्मण' के द्वारा ब्राह्मण-भिन्न द्रव्य (क्षत्रिय) का ही ग्रहण होता है, अद्रव्य (पत्थर आदि) का नहीं।

तब 'अप्राणिनाम्' कहने से प्राणिभिन्न द्रव्य जाति का ही ग्रहण होता है; गुणजाति व क्रियाजाति का नहीं।

(5) रूपरसगन्धस्पर्शा:

रूपञ्च रसश्च गन्धश्च स्पर्शश्च—सभी पद गुण हैं। ये द्रव्यवृत्ति जाति नहीं हैं। अत: एकवद्भाव नहीं हुआ।

(6) गमनाकुञ्चनप्रसारणानि

गमनञ्च आकुञ्चनञ्च प्रसारणञ्च—सभी क्रियाएँ हैं। क्रियावृत्ति जाति का द्वन्द्व हुआ। द्रव्यवृत्ति जाति न होने से एकवद्भाव नहीं हुआ।

जाति—जाति की प्रधानता होने पर जातिवाचक शब्दों का यह एकवद्भाव किया जाता है, नियत द्रव्य की विवक्षा में नहीं। यथा—

इह कुण्डे बदरामलकानि तिष्ठन्ति—यहाँ बदर तथा आमलक शब्द नियत द्रव्य के लिए प्रयुक्त हैं। एकवद्भाव नहीं हुआ। व्यक्ति के आश्रय से बहुवचन हो गया।

(541) विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः *7* (911)

विशिष्टलिङ्गानां भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां शब्दानां देशवाचिनां च ग्रामवर्जितानां द्वन्द्व एकवद्भवति। नद्यवयवो द्वन्द्वो नदीत्युच्यते। देशावयवश्च देशः। नदी देश इत्यसमासनिर्देश एवायम्। उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। गङ्गाशोणम्। देशः खल्वपि–कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्, कुरुकुरुजाङ्गलम्। विशिष्टलिङ्ग इति किम्? गङ्गायमुने, मद्रकेकयाः। नदी देश इति किम्? कुक्कुटमयूर्यौ। अग्रामा इति किम्? जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ। नदीग्रहणमदेशत्वात्। जनपदो हि देशः। तथा च पर्वतानां ग्रहणं न भवति–कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने। *अग्रामा इत्यत्र नगराणां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। इह मा भूत्–मथुरा च पाटलिपुत्रं च मथुरापाटलिपुत्रम्। *उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। सौर्यं च नगरं, केतवतं च ग्रामः सौर्यकेतवते।

अर्थ—भिन्न लिङ्ग वाले नदीवाची और देशवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है, परन्तु ग्रामवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन नहीं होता है।

नदी के अवयव को 'नदी' तथा देश के अवयव को 'देश' कहा गया है। 'नदी देशः' यहाँ समासरहित निर्देश है।

उदा० (क) देश०

(1) उद्ध्येरावति

उद्ध्यश्चेरावती च—समास हुआ, भिन्न लिङ्ग होने से एकवद् भाव,

उद्ध्य इरावति—ह्रस्व हुआ,

उद्ध्येरावति—गुणादेश, सु, सुलुक्।

(2) गङ्गाशोणम्

गङ्गा च शोणश्च—पूर्ववत्,

गङ्गाशोणम्—एकवद्भाव, सु।

(ख) देश०

(3) कुरुकुरुक्षेत्रम्

कुरवश्च कुरुक्षेत्रम्—समास व भिन्न लिङ्ग होने से एकवद्भाव,

कुरुकुरुक्षेत्रम्—सु।

(4) कुरुकुरुजाङ्गलम् (पूर्ववत्)।

विशिष्ट लिङ्ग अर्थात् भिन्न लिङ्ग होने पर ही द्वन्द्व समास एकवचन होता है—

(5) गङ्गायमुने

गङ्गा च यमुना च—दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग (अर्थात् समान लिङ्ग वाले) हैं। अतः समास में एकवद्भाव नहीं हुआ,

गङ्गायमुने—इतरेतरयोग हुआ, औ, 'औ' को 'शी' आदेश हुआ।

(6) मद्रकेकयाः (पूर्ववत्)।

नदीदेशो० अर्थात् नदीवाची व देशवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है—

(7) कुक्कुटमयूर्यौ

कुक्कुटश्च मयूरी च—'कुक्कुट' पुँल्लिङ्ग तथा 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है। दोनों भिन्नलिङ्ग हैं; परन्तु न तो देशवाची हैं, न ही नदीवाची। अतः एकवद्भाव नहीं हुआ,

कुक्कुटमयूर्यौ—औ।

अग्रामाः अर्थात् ग्रामवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन नहीं होता है।

(8) जाम्बवशालुकिन्यौ

जाम्बवश्च शालुकिनी च—भिन्न लिङ्ग हैं; परन्तु ग्रामवाची होने से एकवद्भाव नहीं हुआ,

जाम्बवशालुकिन्यौ—औ।

नदी०—नदी का ग्रहण इसलिए किया गया है कि वह देश नहीं है। जनपद को देश कहा जाता है। अतः पर्वतों का ग्रहण नहीं होता है। यथा—

(9) कैलासगन्धमादने

कैलासश्च गन्धमादनञ्च—ये भिन्नलिङ्ग हैं, परन्तु पर्वतवाची हैं। अतः एकवद्भाव नहीं हुआ,

कैलासगन्धमादने—औ हुआ।

अग्रामा इत्यत्र नगराणां प्रतिषेधो वक्तव्यः—'अग्रामाः' के प्रकरण में नगरों के वाचक शब्दों के द्वन्द्व में एकवद्भाव होता है—

(10) मथुरापाटलिपुत्रम्
मथुरा च पाटलिपुत्रश्च—समास हुआ, दोनों पद नगरवाची हैं, अतः एकवद्भाव हुआ,
मथुरापाटलिपुत्र—नपुँसक, सु,
मथुरापाटलिपुत्रम्—रूप बना।

उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः—ग्राम तथा नगर—इन दोनों का द्वन्द्व होने पर 'ग्राम' के कारण एकवद्भाव नहीं होता है—

(11) सौर्यकेतवते
सौर्यश्च नगरं केतवतश्च ग्रामः—समास हुआ,
सौर्यकेतवत औ—एकवद्भाव नहीं हुआ,
सौर्यकेतवते—शीभाव।

(542) क्षुद्रजन्तवः *8* (912)

अपचितपरिमाणः क्षुद्रः। क्षुद्रजन्तुवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति। दंशमशकम्। यूकालिक्षम्। क्षुद्रजन्तव इति किम्? ब्राह्मणक्षत्त्रियौ।

क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादथवा क्षुद्र एव यः।
शतं वा प्रसृतौ येषां केचिदानकुलादपि॥

'आ नकुलादपी' तीयमेव स्मृतिः प्रमाणम्, इतरासां तद्विरोधात्।

अर्थ—अत्यन्त लघुकाय को 'क्षुद्र' कहते हैं।

लघुकाय जन्तुओं के वाचक शब्दों के द्वन्द्व में एकवद्भाव होता है।

उदा० (1) दंशमशकम्
दंशाश्च मशकाश्च एषां समाहारः—समास हुआ, एकवद्भाव,
दंशमशकम्—सु।

(2) यूकालिक्षम्
यूकाश्च लिक्षाश्च—एकवद्भाव, ह्रस्व,
यूकालिक्षम्—सु।

क्षुद्र० अर्थात् क्षुद्र जीवों के वाचक शब्दों के द्वन्द्व में ही एकवद्भाव होता है।

(3) ब्राह्मणक्षत्त्रियौ
ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च—ये क्षुद्र जन्तु नहीं हैं। अतः एकवद्भाव नहीं हुआ,
ब्राह्मणक्षत्त्रियौ—औ।

क्षुद्र—'क्षुद्रजन्तु' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

जिसके शरीर में हड्डी न हो या आकार में छोटा हो या जो आधी अञ्जलि में सौ जीव आ जायँ—इस प्रकार नेवला से छोटे सभी जीव 'क्षुद्र जन्तु' कहलाते हैं।

कुछ लोग नकुल आदि को भी क्षुद्र ही मानते हैं। यहीं स्मृति-ग्रन्थों का भी प्रमाण है; क्योंकि इसका अन्य वचनों के साथ विरोध है।

(543) येषां च विरोधः शाश्वतिकः *9* (913)

विरोधो वैरम्, शाश्वतिको नित्यः। येषां शाश्वतिको विरोधस्तद्वाचिनां शब्दानां द्वन्द्व एकवद्भवति। मार्जारमूषकम्। अहिनकुलम्। शाश्वतिक इति किम्? गौपालिशालङ्कायनाः कलहायन्ते। चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थः। तेन पशुशकुनिद्वन्द्वे विरोधिनामनेन नित्यमेकवद्भावो भवति-अश्वमहिषम्, श्वशृगालम्, काकोलूकम्।

अर्थ—विरोध = वैर। शाश्वतिक = नित्य।

जिन प्राणियों का स्वाभाविक (= जन्मजात) वैर होता है, तद्वाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है।

उदा० (1) मार्जारमूषकम्
मार्जारश्च मूषकश्च—नित्य विरोध होने से एकवचन,
मार्जारमूषक सु—एकवचन में 'सु',
मार्जारमूषकम्—अमादेश।

(2) श्वशृगालम्
श्वा च शृगालश्च—पूर्ववत्,
श्वशृगाल—'नलोपः प्राति०' से नलोप,
श्वशृगालम्—सु।

(3) अहिनकुलम् (पूर्ववत्)।

शाश्वतिक० अर्थात् नित्य वैर की दशा में ही द्वन्द्व में एकवचन होता है—

(4) गौपालिशालङ्कायनाः कलहायन्ते
'गौपालि' तथा 'शालङ्कायन' दोनों में अस्थायी विरोध है, स्वाभाविक वैर नहीं है। अतः एकवचन नहीं हुआ।

चकारः—चकार का पाठ समुच्चय के लिए है। तब पशु व शकुनि आदि के द्वन्द्व में इसके द्वारा नित्य एकवचन होता है। यथा—

(5) गोव्याघ्रम्

गावश्च व्याघ्राश्च—समास हुआ, शाश्वतिक विरोध होने से एकवद्भाव प्राप्त हुआ, परशास्त्र होने से 'विभाषा वृक्षमृग०' (2.4.12) के द्वारा विकल्प से एकवद्भाव हुआ, प्रकृत सूत्र में चकार के योग से नित्य एकवचन होकर रूप बना।

गोव्याघ्रम्—सु।

(6) काकोलूकम्

काकश्चोलूकश्च—समास हुआ, एकवद्भाव की प्राप्ति, 'विभाषा वृक्षमृग०' के द्वारा वैकल्पिक एकवद्भाव की प्राप्ति, प्रकृत सूत्र से नित्य एकवचन,

काकोलूकम्—सु।

(544) शूद्राणामनिरवसितानाम् *10* (914)

निरवसानं बहिष्करणम्। कुतो बहिष्करणम्? पात्रात्। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुद्ध्यति ते निरवसिताः (म०भा०), न निरवसिताः अनिरवसिताः। अनिरवसित-शूद्रवाचिनां शब्दानां द्वन्द्व एकवद्भवति। तक्षायस्कारम्। रजकतन्तुवायम्। अनिरवसितानामिति किम्? चण्डाल-मृतपाः।

अर्थ—निरवसित का अर्थ है—'बहिष्कृत'। बहिष्कार कहाँ से? पात्रों से बहिष्कार (जानना चाहिए)। जिन लोगों के भोजन करने पर मार्जन आदि संस्कार के द्वारा भी पात्र शुद्ध न हो सकें, उन लोगों को 'निरवसित' कहा जाता है।

अनिरवसित शूद्रवाची शब्दों के द्वन्द्व से एकवचन होता है।

उदा० तक्षाऽयस्कारम्

पूर्ववत् समास व एकवद्भाव हुआ।

अर्थात् **अबहिष्कृत** शूद्रवाची शब्दों के द्वन्द्व में एकवचन होता है—

(2) चण्डालमृतपाः

'चण्डाल' व 'मृतपा' शूद्रवाची शब्द हैं तथा ये निरवसित भी हैं। अतः एकवद्भाव नहीं हुआ।

(545) गवाश्वप्रभृतीनि च *11* (915)

गवाश्वप्रभृतीनि कृतैकवद्भावानि द्वन्द्वरूपाणि साधूनि भवन्ति। गवाश्वम्। गवाविकम्। गवैडकम्। अजाविकम्। अजैडकम्। कुब्जवामनम्। कुब्जकैरातकम्। पुत्रपौत्रम्। श्वचण्डालम्। स्त्रीकुमारम्। दासीमाणवकम्। शाटीपिच्छकम्। उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशम्। मूत्रशकृत्। मूत्र-पुरीषम्। यकृन्मेदः। मांसशोणितम्। दर्भशरम्। दर्भ-पूतीकम्। अर्जुनशिरीषम्। तृणोपलम्। दासीदासम्। कुटीकुटम्। भागवतीभागवतम्। *गवाश्वप्रभृतिषु यथो-च्चारितं द्वन्द्ववृत्तम्* (म०भा०)। रूपान्तरे तु नायं विधिर्भ-वति–गोऽश्वम्, गोऽश्वौ। पशुद्वन्द्वविभाषैव भवति।

अर्थ—(एकवद्भाव के प्रकरण में) 'गवाश्वम्' इस प्रकार द्वन्द्व में एकवद्भावयुक्त शब्द साधु होते हैं।

उदा० (1) गवाश्वम्

गावश्चाऽश्वाश्च—समास हुआ, 'विभाषा वृक्षमृगपशु०' के द्वारा वैकल्पिक एकवद्भाव प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा नित्य एकवद्भाव हुआ,

गो अश्व—'सर्वत्र विभाषा गोः' से वैकल्पिक प्रकृतिभाव प्राप्त होकर 'गो अश्व' तथा 'गोऽश्व' रूपों की प्राप्ति हुई, प्रकृत सूत्र के द्वारा वैकल्पिक प्रकृतिभाव का अभाव निपातनसिद्ध है—

गवाश्वम्—सु।

(2) दासीदासम्

दासी च दासश्च—'पुमान् स्त्रिया' के द्वारा 'दास' शब्द का एकशेष प्राप्त होता है; परन्तु प्रकृत सूत्र 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र का बाधक है,

दासीदासम्—एकशेष का निपातन से बाध हुआ। शेष उदाहरण मूल में देखे जा सकते हैं।

गवाश्व—सूत्रोक्त 'गवाश्व' आदि के द्वारा यथोच्चारित में ही एकवद्भाव होता है। सार यह है कि 'गवाश्व' इस स्वरूप की दशा में ही उक्त विधि प्रवृत्त होती है। अन्य स्वरूप की दशा में यह विधि नहीं होती है। यथा—

(3) गोऽश्वम्

यहाँ प्रकृतिभाव का अभाव नहीं हुआ।

(4) गोऽश्वौ

यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ।

पशुवाची शब्दों का द्वन्द्व विकल्प से एकवत् होता है।

(546) विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशु-शकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् *12* (916)

वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्व-

वडव, पूर्वापर, अधरोत्तर-इत्येतेषां विभाषैकवद्भवति। प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः। रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः। कुशकाशम्, कुशकाशाः। व्रीहियवम्, व्रीहियवाः। दधिघृतम्, दधिघृते। गोमहिषम्, गोमहिषाः। तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः। अश्ववडवम्, अश्ववडवौ। पूर्वापरम्, पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे। *बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम्* (म० भा०)। एषां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवद्भवति, न द्विप्रकृतिः। बदरामलके। रथिकाश्वरोहौ। प्लक्षन्यग्रोधौ। रुरुपृषतौ। हंसचक्रवाकौ। यूकालिक्षे। व्रीहियवौ। कुशकाशौ।

अर्थ—वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर तथा अधरोत्तर—इनके वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में विकल्प से एकवद्भाव होता है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

उदा० (1) प्लक्षन्यग्रोधम्

प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च—समास हुआ, वैकल्पिक एकवद्भाव हुआ, सु आया,

प्लक्षन्यग्रोधम्—रूप बना। इनके प्राणिभिन्न होने से 'जातिरप्राणिनाम्' के द्वारा नित्य एकवद्भाव प्राप्त था। अत: प्राप्तविभाषा हुई।

(2) प्लक्षन्यग्रोधाः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(3) रुरुपृषतम्

'रुरु' तथा पृषत' मृगवाची हैं। इनके द्वन्द्व में एकवद्भाव प्राप्त नहीं था। विकल्प कह दिया। अत: अप्राप्त विभाषा हुई।

(4) रुरुपृषताः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(5) कुशकाशम्

तृणवाची 'कुश' व 'काश' शब्दों में समास हुआ। प्राणिभिन्न होने से नित्य एकवद्भाव प्राप्त था। तब प्राप्त का विकल्प हुआ।

(6) कुशकाशाः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(7) व्रीहियवम्

'जातिरप्राणिनाम्' से नित्य एकवद्भाव प्राप्त था। अब विकल्प कह दिया है। अत: प्राप्त विभाषा हुई।

(8) व्रीहियवाः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(9) दधिघृतम्

पूर्ववत् नित्य एकवद्भाव प्राप्त था। विकल्प हो गया। प्राप्त विभाषा हुई।

(10) दधिघृते

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(11) गोमहिषम्

पशुवाची 'गो' तथा 'महिष' के द्वन्द्व में एकवद्भाव प्राप्त नहीं था। विकल्प कह दिया गया। अत: अप्राप्त विभाषा हुई।

(2) गोमहिषाः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(13) तित्तिरिकपिञ्जलम्

शकुनिवाची 'तित्तिरि' एवं 'कपिञ्जल' का समास हुआ। यहाँ एकवद्भाव प्राप्त नहीं था। विकल्प कह दिया गया। अत: अप्राप्त विभाषा हुई। 'मृग' व 'शकुनि' शब्दों के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि मृगवाची का मृगवाची के साथ तथा शकुनिवाची का शकुनिवाची के साथ द्वन्द्व होने पर ही एकवद्भाव होता है। इसके विपरीत होने पर एकवद्भाव नहीं होता। यथा—

रुरुशुकाः

यहाँ मृगवाची का शकुनिवाची के साथ समास है।

(14) तित्तिरिकपिञ्जलाः

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(15) अश्ववडवम्

पूर्ववद् एकवद्भाव हुआ।

(16) अश्ववडवौ

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ। 'पूर्ववदश्ववडवौ' के द्वारा रूप बना।

(17) पूर्वापरम्

अप्राप्त विभाषा है। विकल्प से एकवद्भाव हुआ।

(18) पूर्वापरे

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(19) अधरोत्तरम् (पूर्ववत्)।

(20) अधरोत्तरे

पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

सूत्रस्थ 'पूर्वापर' तथा 'अधरोत्तर' इस प्रकार के निर्देश से

ज्ञापित होता है कि न्यासान्तर (अर्थात् भिन्न प्रकार) की दशा में एकवद्भाव नहीं होता है—

(21) पूर्वोत्तरौ
एकवद्भाव नहीं हुआ।

(22) अधराऽपरौ
एकवद्भाव नहीं हुआ।

बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम्—फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य तथा तृण—इन शब्दों के बहुवचन प्रकृतिक द्वन्द्व से ही एकवद्भाव होता है; द्विवचनप्रकृतिक द्वन्द्व में एकवद्भाव नहीं होता। विग्रह की अवस्था में बहुवचन सूचित करने वाले शब्द बहुवचनप्रकृतिक कहलाते हैं।

(23) बदरामलके
बदरश्चाऽऽमलकश्च—फलवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व है। एकवद्भाव नहीं हुआ।

(24) बदरामलम्
बदराणि च आमलकानि च—बहुप्रकृतिक द्वन्द्व है। अतः एकवद्भाव हो गया है।

(25) रथिकाऽश्वारोहौ
सेना के अङ्गवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व है।

(26) रथिकाऽश्वारोहम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व हुआ।

(27) प्लक्षन्यग्रोधौ
वनस्पतिवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व है।

(28) प्लक्षन्यग्रोधम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व में एकवद्भाव हुआ।

(29) रुरुपृषतौ
मृगवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व हुआ।

(30) रुरुपृषतम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व।

(31) हंसचक्रवाकौ
शकुनिवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व हुआ।

(32) हंसचक्रवाकम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व।

(33) यूकालिक्षे
क्षुद्र जन्तुवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व हुआ।

(34) यूकालिक्षम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व।

(35) व्रीहियवौ
धान्यवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व।

(36) व्रीहियवम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व।

(37) कुशकाशौ
तृणवाची शब्दों का द्विप्रकृतिक द्वन्द्व।

(38) कुशकाशम्
बहुप्रकृतिक द्वन्द्व।

(547) विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि *13* (917)

परस्परविरुद्धं विप्रतिषिद्धम्। विप्रतिषिद्धार्थानां शब्दानामनधिकरणवाचिनामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति। विभाषानुकर्षणार्थश्चकारः। शीतोष्णम्, शीतोष्णे। सुखदुःखम्, सुखदुःखे। जीवितमरणम्, जीवितमरणे। विप्रतिषिद्धमिति किम्? कामक्रोधौ। अनधिकरणवाचीति किम्? शीतोष्णे उदके।

अर्थ—परस्पर विरुद्ध को 'विप्रतिषिद्ध' कहते हैं।

परस्पर जो विरुद्ध, उनके वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव विकल्प से होता है तथा द्रव्यवाची के द्वन्द्व समास में नहीं होता है।

सूत्र में चकार 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति के लिए है। 'चूँकि अधिकरण किसी द्रव्य का ही होता है। अतः 'अधिकरणवाची' का अर्थ 'द्रव्यवाची' किया गया है।

उदा० (1) शीतोष्णम्
शीतश्चोष्णश्च—प्रकृतिविरुद्ध का समास होने से वैकल्पिक एकवद्भाव प्राप्त हुआ।

(2) शीतोष्णे
पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(3) सुखदुःखम् (पूर्ववत्)।

(4) सुखदुःखे
पक्ष में एकवद्भाव नहीं हुआ।

(5) जीवितमरणम्
एकवद्भाव हुआ।

(6) जीवितमरणे
एकवद्भाव नहीं हुआ।

विप्रतिषि० अर्थात् प्रकृतिविरुद्ध वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में ही वैकल्पिक एकवद्भाव होता है—

(7) कामक्रोधौ
ये प्रकृतिविरुद्ध नहीं हैं। अतः एकवद्भाव नहीं हुआ।

अनधिक० अर्थात् द्रव्यवाची को छोड़कर एकवद्भाव होता है—

(8) शीतोष्णे उदके
अधिकरणवाची होने से एकवद्भाव नहीं हुआ।

(548) न दधिपयआदीनि *14* (918)

यथायथमेकवद्भावे प्राप्ते प्रतिषेध आरभ्यते। दधिपयआदीनि शब्दरूपाणि नैकवद्भवन्ति। दधिपयसी। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। ब्रह्मप्रजापती। शिववैश्रवणौ। स्कन्दविशाखौ। परिव्राट्कौशिकौ। प्रवर्ग्योपसदौ। शुक्लकृष्णौ। इध्माबर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः। दीक्षातपसी। श्रद्धातपसी। मेधातपसी। अध्ययनतपसी। उलूखलमुसले। आद्यावसाने। श्रद्धामेधे। ऋक्सामे। वाङ्मनसे।

अर्थ—एकवद्भाव के प्राप्त होने पर निषेध किया जा रहा है। 'दधिपयसी' आदि शब्दस्वरूप में एकवद्भाव नहीं होता है। यह एक गुण है। इसमें पठित शब्दों में एकवद्भाव नहीं होता है।

उदा० (1) दधिपयसी
दधि च पयश्च—व्यञ्जनवाची होने से 'विभाषा वृक्षमृगपशु०' के द्वारा वैकल्पिक एकवद्भाव प्राप्त था।
दधिपयसी—औ, शी आदेश।
अन्य उदाहरण मूल में देखें।

(549) अधिकरणैतावत्त्वे च *15* (919)

'न' इति वर्त्तते। अधिकरणं वर्त्तिपदार्थः, स हि समासस्यार्थस्याधारः, तस्यैतावत्त्वे परिमाणे गम्यमाने द्वन्द्वो नैकवद्भवति। यथायथमेकवद्भावः प्राप्तः प्रतिषिध्यते। दश दन्तोष्ठाः। दश मार्दङ्गिकपाणविकाः।

अर्थ—निषेध का अनुवर्त्तन हो रहा है। अधिकरण के 'यह इतना है' इस प्रकार परिमाण गम्यमान होने पर द्वन्द्व समास में एकवद्भाव नहीं होता है।
प्राप्त एकवद्भाव का यह निषेध है।

उदा० (1) दश दन्तोष्ठाः
यहाँ समस्यमान पद 'दन्त' तथा 'ओष्ठ' के अर्थ द्वन्द्व समास के अधिकरण हैं। 'दश' पद के द्वारा उन अधिकरणों का परिमाण सूचित हो रहा है। 'द्वन्द्वश्च प्राणि०' के द्वारा एकवद्भाव की प्राप्ति हुई, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया।

(2) दश मार्दङ्गिकपाणविकाः
पूर्ववत् एकवद्भाव का निषेध हो गया।

(550) विभाषा समीपे *16* (920)

अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपे विभाषा द्वन्द्व एकवद्भवति। उपदशं दन्तोष्ठम्। उपदशा दन्तोष्ठाः। उपदशं मार्दङ्गिकपाणविकम्। उपदशा मार्दङ्गिकपाणविकाः। अव्ययस्य संख्ययाऽव्ययीभावोऽपि विहितो (2.1.6) बहुव्रीहिरपि (2.2.25)। तत्रैकवद्भावपक्षेऽव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यते, इतरत्र बहुव्रीहिः (म०भा०)।

अर्थ—अधिकरण का परिमाण का समीप अर्थ गम्यमान हो तो द्वन्द्व समास में विकल्प से एकवद्भाव होता है।

उदा० (1) उपदशं दन्तोष्ठम्
'दश' अधिकरण का परिमाण है। 'उपदश' न्यूनाधिक परिमाण (अर्थात् लगभग परिमाण) है। अतः वैकल्पिक एकवद्भाव हुआ।

(2) उपदशा दन्तोष्ठाः
एकवद्भाव नहीं हुआ।

(3) उपदशं मार्दङ्गिकपाणविकम्
एकवद्भाव हुआ।

(4) उपदशाः मार्दङ्गिकपाणविकाः
एकवद्भाव नहीं हुआ।

अव्ययस्य—अव्यय का संख्यावाचक के साथ अव्ययीभाव (द्र०—अव्ययं विभक्ति०—2.1.6) किया गया है तथा बहुव्रीहि (द्र०—सङ्ख्ययाऽव्ययासन्न०—2.3.25) भी। तब एकवद्भाव पक्ष में अव्ययीभाव का अनुप्रयोग होता है तथा एकवद्भाव न होने पर बहुव्रीहि का अनुप्रयोग होता है।

(551) स नपुंसकम् *17* (821)

यस्यायमेकवद्भावो विहितः स नपुंसकलिङ्गो भवति

द्विगुर्द्वन्द्वश्च। पञ्चगवम्। दशगवम्। द्वन्द्वः खल्वपि–पाणिपादम्, शिरोग्रीवम्। परलिङ्गतापवादो योगः। *अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते* (म०भा०)। पञ्चपूली। दशरथी। *वाऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः* (म० भा०)। पञ्चखट्वम्। पञ्चखट्वी। *अनो नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम्* (म०भा०) पञ्चतक्षम्। पञ्चतक्षी। *पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। पञ्चपात्रम्। चतुर्युगम्। त्रिभुवनम्।

अर्थ—एकवद्भाव नपुंसकलिङ्ग होता है। एकवद्भाव द्विगु तथा द्वन्द्व में ही कहा गया है।

उदा० (1) पञ्चगवम्
पञ्चानां गवां समाहारः—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' से समास, सुप् का लुक्, 'नलोपः प्रातिपदिका०' से नलोप,
पञ्च गो टच्—सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः, द्विगुरेकवचनम्, गोरतद्धितलुकि आदि लगकर,
पञ्चगवम्—स नपुंसकम्, सु।

(2) दशगवम्
दशानां गवां समाहारः—पूर्ववत्।

(3) पाणिपादम्
पाणी च पादौ चैषां समाहारः—'चार्थे द्वन्द्वः' से समास हुआ,
पाणिपादम्—सु।

(4) शिरोग्रीवम्
शिरश्च ग्रीवा च—समास हुआ प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् का लुक्, एकवद्भाव अब परवत् लिङ्गता प्राप्त हुई, उसे बाध कर नपुँसकलिङ्ग हुआ,
शिरोग्रीवम्—ह्रस्व, सु।

अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते—जिस द्विगु का उत्तरपद अकारान्त हो, वह स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है—

(5) पञ्चपूली
पञ्चानां पूलानां समाहारः—समास हुआ, संख्यापूर्वो द्विगुः, द्विगुरेकवचनम्, स नपुंसकम् का बाध होकर प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा स्त्रीलिङ्गता, 'द्विगोः' से 'ङीप्'—

(6) दशरथी
दशानां रथानां समाहारः—पूर्ववत्।

वाऽऽबन्तः स्त्रियामिष्टः—यदि द्विगु में आबन्त शब्द को ह्रस्वादेश होकर अकारान्त के रूप में उत्तरपद प्राप्त हुआ हो तो वह द्विगु विकल्प से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। पक्ष में नपुंसक लिङ्ग होता है—

(7) पञ्चखट्वी
पञ्चानां खट्वानां समाहारः—समास हुआ, 'न्' का लोप,
पञ्चखट्वा—विकल्प से स्त्रीलिङ्गता, 'गोस्त्रियोरुप०' से ह्रस्वादेश, 'द्विगोः' से 'ङीप्',
पञ्चखट्वी—सु, सुलुक्।

(8) पञ्चखट्वम्
पक्ष में नपुंसकलिङ्ग हुआ।

अनो नलोपश्च वा च द्विगुः स्त्रियाम्—'अन्' अन्त वाला शब्द जिसके उत्तरपद में हो, वह स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से द्विगु होता है तथा 'अन्' के नकार का लोप होता है—

(9) पञ्चतक्षी
पञ्चानां तक्षाणां समाहारः—पूर्ववत् सभी कार्य,
पञ्चतक्षन्—'तक्षान्' के नकार का लोप,
पञ्चतक्षी—'द्विगोः' से ङीप्।

(10) पञ्चतक्षम्
पक्ष में नपुंसकलिङ्ग हो गया है।

पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः—जिस द्विगु के उत्तरपद में 'पात्र' आदि शब्द हों, वह स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता है।

(11) पञ्चपात्रम्
पञ्चानां पात्राणां समाहारः—पूर्ववत् सभी कार्य, स्त्रीलिङ्गता प्राप्त हुई, निषेध हुआ,
पञ्चपात्रम्—सु।

(12) चतुर्युगम्
चतुर्णां युगानां समाहारः—पूर्ववत् सभी कार्य,
चतुर्युगम्—सु।

(13) त्रिभुवनम्
त्रयाणां भुवनानां समाहारः—पूर्ववत् सभी कार्य,
त्रिभुवनम्—सु।

(552) अव्ययीभावश्च *18* (651)

अव्ययीभावश्च समासो नपुंसकलिङ्गो भवति। अधिस्त्रि। उपकुमारि। उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गतैव प्राप्ताऽन्यपदार्थप्रधानस्याभिधेयलिङ्गता, अत इदमुच्यते। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। *पुण्य-

सुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्यते* (म०भा०)। **पुण्याहम्। सुदिनाहम्। *पथः संख्याव्ययादेः क्लीबतेष्यते*** (म० भा०)। **त्रिपथम्। चतुष्पथम्। विपथम्। सुपथम्। *क्रियाविशेषणानां च क्लीबतेष्यते*। मृदु पचति। शोभनं पचति।**

अर्थ—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है।

उदा० (1) अधिस्त्रि
स्त्रीष्विति—'अव्ययं विभक्तिसमीप०' के द्वारा समास हुआ, अव्ययीभाव संज्ञा हुई,
अधिस्त्री—नपुंसक लिङ्ग हुआ,
अधिस्त्रि—ह्रस्व, सु, सु का लुक्।

(2) उपकुमारि
कुमार्याः समीपम्—पूर्ववत् सभी कार्य,
उपकुमारी—नपुंसकलिङ्ग, ह्रस्व,
उपकुमारि—सु, सु का लुक्।

(3) उन्मत्तगङ्गम्
उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे—पूर्ववत्,
उन्मत्तगङ्गम्—ह्रस्व, सु।

पूर्व—पूर्व पदार्थ प्रधान (अर्थात् अव्ययीभाव) की अलिङ्गता प्राप्त है। अन्य पदार्थ प्रधान (अर्थात् बहुव्रीहि समास) की अभिधेयलिङ्गता प्राप्त है। अत: क्लीबता के लिए यह नियम किया जा रहा है। अनुक्त समुच्चय के ग्रहण के लिए 'चकार' का पाठ है।

पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्यते—'पुण्य' तथा 'सुदिन' शब्दों से परे 'अहन्' शब्द रहते, समस्त पद से नपुँसकलिङ्ग होता है—

(4) पुण्याहम्
पुण्यञ्च तदहः—समास हुआ, टच्, नपुंसकलिङ्गता हुई,
पुण्य अहन् — पुण्याऽह् अ—सु,
पुण्याऽहम्—रूप बना।

(5) सुदिनाऽहम्
सुदिनञ्च तदहः—पूर्ववत्।

पथः सङ्ख्याऽव्ययादेः क्लीबतेष्यते—यदि पूर्व पद में कोई संख्या अथवा अव्यय हो और उत्तर पद में 'पथ' शब्द हो तो उसे नपुंसकलिङ्ग होता है—

(6) त्रिपथम्
त्रयाणां पन्थाः—समास हुआ, 'ऋक्पूरब्धूः पथा०' से समासान्त,
त्रिपथिन् टच् — त्रिपथ् अ—नपुंसकलिङ्गता,
त्रिपथम्—सु।

(7) चतुष्पथम्
चतुर्णां पन्थाः—पूर्ववत्।

(8) विपथम्
विरूपः पथः—पूर्ववत्। 'प्रादयो गताद्यर्थे०' से समास।

(9) सुपथम्
शोभनः पन्थाः—पूर्ववत्।

क्रियाविशेषणानां च क्लीबतेष्यते—क्रिया के जो विशेषण, उनसे भी नपुंसकलिङ्गता होती है। यथा—

(10) मृदुः पचति।
(11) शोभनं पचति।

(553) तत्पुरुषोऽनञ् कर्मधारयः *19* (822)

अधिकारोऽयमुत्तरसूत्रेषूपतिष्ठते। नञ्समासं कर्मधारयं च वर्जयित्वाऽन्यस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र। वक्ष्यति– 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (2.4.25) इति। ब्राह्मणसेनम्। ब्राह्मणसेना। तत्पुरुष इति किम्? दृढसेनो राजा। अनञिति किम्? असेना। अकर्मधारय इति किम्? परमसेना (म०भा०)।

अर्थ—यह अधिकार है, जिसका अनुवर्त्तन उत्तरवर्त्ती सूत्रों में होता है।

नञ् तत्पुरुष तथा कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर शेष तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता होती है। ऐसा अधिकार जानना चाहिए।

इससे आगे 'विभाषा सेनासुरा०' (2.4.25) सूत्र का पाठ किया जायेगा, वहाँ तक इसका अधिकार है।

उदा० (1) ब्राह्मणसेनम्
ब्राह्मणानां सेना—समास हुआ,
ब्राह्मणसेना—नपुंसकलिङ्गता, ह्रस्वादेश,
ब्राह्मणसेनम्—सु।

(2) ब्राह्मणसेना (पक्ष में)।

तत्पुरुष अर्थात् तत्पुरुष समास से ही नपुंसकलिङ्गता होती है—

(3) दृढसेनो राजा

दृढा सेना यस्य सः—बहुव्रीहि समास हुआ, तत्पुरुष न होने से नपुंसकलिङ्गता नहीं हुई,

दृढसेना—ह्रस्व, सु,

दृढसेनः—विशेष्यानुसार लिङ्गता।

अनञ्० अर्थात् नञ्तत्पुरुष को छोड़कर नपुंसकलिङ्गता नहीं होती—

(4) असेना

न सेना—नञ् समास हुआ, नपुंसकलिङ्गता नहीं हुई।

अनञ्कर्म० अर्थात् **कर्मधारय समास** को छोड़कर क्लीबता होती है—

(5) परमसेना

परमा चाऽसौ सेना—कर्मधारय समास हुआ। अतः क्लीबता नहीं हुई।

(554) संज्ञायां कन्थोशीनरेषु *20* (823)

संज्ञायां विषये कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, सा चेत् कन्था उशीनरेषु भवति। सौशमिकन्थम्। आह्वरकन्थम्। संज्ञायामिति किम्? वीरणकन्था। उशीनरेष्विति किम्? दाक्षिकन्था। परवल्लिङ्गतापवाद इदं प्रकरणम्।

अर्थ—संज्ञा के विषय में 'कन्था' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से क्लीबता होती है, यदि वह 'कन्था' उशीनर जनपदसम्बन्धी हो।

कन्था = नगर।

उदा० (1) सौशमिकन्थम्

सुशमस्याऽपत्यानि—तस्याऽपत्यम्, अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्यय तथा बहुवचन में 'जस्'—

सौशुमयः—रूप बना,

सौशमीनां कन्था—समास हुआ, क्लीबता हुई, ह्रस्व होकर,

सौशमिकन्थम्—सु।

(2) आह्वरकन्थम् (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा के विषय में ही क्लीबता होती है—

(3) वीरणकन्था

वीरणानां कन्था—उत्तर पद में 'कन्था' शब्द है, तत्पुरुष समास भी है, परन्तु संज्ञा गम्यमान नहीं है,

वीरणकन्था—क्लीबता नहीं हुई, सु, सुलुक्।

उशीनर० अर्थात् **उशीनर** जनपदसम्बन्धी हो तो क्लीबता होती है—

(4) दाक्षिकन्था

दाक्षीणां कन्था—सूत्रोक्त सभी शर्तें हैं, परन्तु यह उशीनर जनपद से सम्बन्धित नहीं है। अतः क्लीबता नहीं हुई—

दाक्षिकन्था—सु, सुलक्।

यह प्रकरण परवल्लिङ्गता का अपवाद है।

(555) उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् *21* (824)

उपज्ञायत इत्युपज्ञा, उपक्रम्यत इत्युपक्रमः। उपज्ञा च उपक्रमश्च उपज्ञोपक्रमम्। तदन्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति तदाद्याचिख्यासायां तयोरुपज्ञोपक्रमयोरादेराचिख्यासायां गम्यमानायाम्। आख्यातुमिच्छा आचिख्यासा। यद्युपज्ञेयस्योपक्रम्यस्य चार्थस्यादिराख्यातुमिष्यते तत एतद्भवति। पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतमकालकं व्याकरणम्। व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्। आद्योपक्रमं प्रासादः। नन्दोपक्रमाणि मानानि। दर्शनीयोपक्रमं सुकुमारम्। उपज्ञोपक्रममिति किम्? वाल्मीकिश्लोकाः। तदाद्याचिख्यासायामिति किम्? देवदत्तोपज्ञो रथः, यज्ञदतोपक्रमो रथः।

अर्थ—नई सूझ को 'उपज्ञा' कहते हैं। किसी कार्य के प्रारम्भ करने को 'उपक्रम' कहते हैं।

यदि समस्त पद के द्वारा उपज्ञेय व उपक्रम्य का प्रथम कर्त्ता विवक्षित हो तो 'उपज्ञा' व 'उपक्रम' हैं अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता होती है; परन्तु नञ् तत्पुरुष व कर्मधारय तत्पुरुष से नहीं होती है।

उदा० (1) पाणिन्युपज्ञम् अकालकं[1] (व्याकरणम्)।

पाणिनेरुपज्ञा—समास हुआ, क्लीबता हुई,

पाणिन्युपज्ञम्—'इको यणचि' से यणादेश, सु।

(2) व्याड्युपज्ञम् (पूर्ववत्)।

(3) आद्योपक्रमं प्रासादः (पूर्ववत्)।

(4) नन्दोपक्रमाणि मानानि (पूर्ववत्)।

(5) दर्शनीयोपक्रमं सुकुमारम् (पूर्ववत्)।

उपज्ञोप० अर्थात् **'उपज्ञा'** व **'उपक्रम'** है अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष से क्लीबता होती है—

(6) वाल्मीकिश्लोकाः

1. आकालापकम् इत्यपि उपलभ्यते संस्करणान्तरे।

यहाँ उत्तर पद में न तो 'उपज्ञो' है और न ही 'उपक्रम' है। अतः क्लीबता नहीं हुई।

आचिख्यासा अर्थात् आचिख्यासा अर्थ में ही पूर्वोक्त क्लीबता होती है—

(7) देवदत्तोपज्ञो रथः
यहाँ नपुंसकलिङ्गता नहीं हुई।

(8) यज्ञदत्तोपक्रमो रथः (पूर्ववत्)।

(556) छाया बाहुल्ये *22* (825)

'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (2.4.25) इति विभाषां वक्ष्यति, नित्यार्थमिदं वचनम्। छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति बाहुल्ये गम्यमाने। पूर्वपदार्थधर्मो बाहुल्यम्। शलभादीनां हि बहुत्वं गम्यते। शलभच्छायम्। इक्षुच्छायम्। बाहुल्य इति किम्? कुड्यच्छाया।

अर्थ—'विभाषा सेनासुराच्छाया॰' सूत्र के द्वारा विभाषा कही जायेगी। यहाँ नित्य विधान किया जा रहा है।

बहुत्व गम्यमान हो तो 'छाया' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता होती है, नञ् तत्पुरुष तथा कर्मधारय तत्पुरुष से नहीं होती है।

उदा॰ (1) शलभच्छायम्
शलभानां छाया—समास हुआ, उत्तर पद में 'छाया' शब्द है, नपुंसकलिङ्गता हुई।
शलभ तुक् छाया—तुक् आगम, स्तोः श्चुना श्चुः,
शलभच्छायम्—ह्रस्व, सु, अम् आदेश।

(2) इक्षुच्छायाम्
इक्षूणां छाया—पूर्ववत्।

अर्थात् बहुत्व गम्यमान होने पर ही क्लीबता होती है—

(3) कुड्यच्छाया
यहाँ बहुत्व गम्यमान नहीं है। अतः नपुंसकलिङ्गता नहीं हुई।

(557) सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा *23* (826)

सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, सा चेत्सभा राजपूर्वाऽमनुष्यपूर्वा च भवति। इनसभम्। ईश्वरसभम्। इह कस्मान्न भवति? राजसभा। पर्यायवचनस्यैवेष्यते, तदुक्तम्–'जितपर्यायस्यैव राजाद्यर्थम्' (म॰भा॰) इति। अमनुष्यपूर्वा–रक्षःसभम्, पिशाचसभम्। इह कस्मान्न भवति–काष्ठ-सभा? अमनुष्यशब्दो रूढिरूपेण रक्षः-पिशाचादिष्वेव वर्त्तते। राजामनुष्यपूर्वेति किम्? देवदत्त-सभा।

अर्थ—'राजन्' शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसा 'सभा' शब्द है उत्तर पद में जिसके, उस तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता होती है परन्तु 'सभा' शब्द से पूर्व 'मनुष्य' शब्द हो तो उक्त नपुंसकलिङ्गता नहीं होती है।

उदा॰ (1) इनसभम्
इनस्य सभा—समास हुआ, क्लीबता हुई,
इनसभ सु—ह्रस्वादेश,
इनसभम्—सु।
'राजन्' शब्द के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता, अपितु इसके पर्यायशब्दों का ग्रहण होता है।

(2) ईश्वरसभम् (पूर्ववत्)।

(3) राजसभा
चूँकि 'राजन्' के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता; अतः यहाँ नपुंसकलिङ्गता नहीं हुई। कहा भी गया है—राजा आदि के लिए जित् पर्याय का ग्रहण होता है।

(4) रक्षःसभम्
यहाँ मनुष्यभिन्न 'रक्षस्' पूर्व पद में है। अतः नपुंसकलिङ्गता हुई।

(5) पिशाचसभम् (पूर्ववत्)।

अमनुष्य॰ अर्थात् मनुष्य नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसा 'सभा' शब्द उत्तर पद में हो तो क्लीबता होती है—

(6) देवदत्तसभा
यहाँ 'सभा' शब्द से पूर्व 'देवदत्त' है। अतः क्लीबता नहीं हुई। 'अमनुष्य' पद में रूढि अर्थ है। अतः इसके द्वारा पिशाच आदि का ग्रहण होता है।

(558) अशाला च *24* (827)

अशाला च या सभा तदन्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति। संघातवचनोऽत्र सभाशब्दो गृह्यते। स्त्रीसभम्। दासीसभम्। दासीसंघात इत्यर्थः। अशालेति किम्? अनाथसभा। अनाथकुटीत्यर्थः।

अर्थ—'शाला' अर्थ को छोड़कर शेष अर्थ में विद्यमान जो 'सभा' शब्द, तदन्त तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता होती है। यहाँ संघात अर्थ में 'सभा' शब्द का ग्रहण है।

उदा० (1) स्त्रीसभम्

स्त्रीणां सभा—संघात अर्थ में 'सभा' शब्द है। समास आदि सभी कार्य हुए,

स्त्रीसभम्—नपुंसकलिङ्गता, ह्रस्वत्व, सु।

(2) दासीसभम्

दासीनां सभा—पूर्ववत्।

अशाला अर्थात् शाला अर्थ को छोड़ कर शेष अर्थ में जो 'सभा' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से क्लीबता होती है—

(3) अनाथसभा

अनाथां सभा—यहाँ 'शाला' अर्थ में 'सभा' शब्द प्रयुक्त है। अत: क्लीबता नहीं हुई।

(559) विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् *25* (828)

सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा–इत्येवमन्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति विभाषा। ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना। यवसुरम्, यवसुरा। कुड्यच्छायम्, कुड्यच्छाया। गोशालम्, गोशाला। श्वनिशम्, श्वनिशा।

अर्थ—सेना, सुरा, छाया, शाला व निशा—ये शब्द हैं उत्तर पद में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से नपुंसकलिङ्गता विकल्प से होती है।

उदा० (1) ब्राह्मणसेनम्

नपुंसकलिङ्गता।

(2) ब्राह्मणसेना

पक्ष में परवल्लिङ्गता।

(3) यवसुरम् (पूर्ववत्)।

(4) यवसुरा (परवल्लिङ्गता)।

(5) कुड्यच्छायम् (पूर्ववत् नपुंसकलिङ्गता)।

(6) कुड्यच्छाया (परवल्लिङ्गता)।

(7) गोशालम् (पूर्ववत् नपुंसकलिङ्गता)।

(8) गोशाला (परवल्लिङ्गता)।

(9) श्वनिशम् (पूर्ववत् नपुंसकलिङ्गता)।

(10) श्वनिशा (परवल्लिङ्गता)।

(560) परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः *26* (812)

समाहारद्वन्द्वे नपुंसकलिङ्गस्य विहितत्वाद् इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येदं ग्रहणम्। परस्य यल्लिङ्गं तद्भवति द्वन्द्वस्य तत्पुरुषस्य च। उत्तरपदलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोर्विधीयते। कुक्कुटमयूर्याविमे, मयूरीकुक्कुटाविमौ। तत्पुरुषस्य–अर्द्धं पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली, अर्द्धकोशातकी, अर्द्धनखरञ्जनी। *द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। द्विगुः–पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः (4.2.16,4.1.18)। प्राप्तो जीविकाम् प्राप्तजीविकः। आपन्नो जीविकाम् आपन्नजीविकः (2.2.4) (म०भा०)। अलं जीविकायै अलञ्जीविकः। गतिसमासः–निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः (वा० 94)।

अर्थ—समाहार द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्गता का विधान होने से यहाँ इतरेतर योग द्वन्द्व का ग्रहण होता है।

(इतरेतर योग) द्वन्द्व में तथा तत्पुरुष समास में परवत् (अर्थात् उत्तर पद के लिङ्ग के समान) लिङ्ग होता है।

उदा० (1) कुक्कुटमयूर्यौ

कुक्कुटश्च मयूरी च—समास हुआ, पूर्वनिपात का अभाव होने से कामचारिता हुई, उत्तरपद में स्त्रीलिङ्ग है। अत: समस्त पद में भी परवत् (= उत्तर पद के समान) लिङ्ग हुआ,

कुक्कुटमयूर्यौ—औ, यण्।

(2) मयूरीकुक्कुटौ

पूर्वोक्त स्थल में 'मयूरी' शब्द के पूर्वनिपात की दशा में उत्तर पद 'कुक्कुट' के लिङ्ग के समान लिङ्ग होकर रूप बनता है।

(3) अर्द्धपिप्पली

अर्द्धं पिप्पल्याः—समास हुआ, परवत् लिङ्गता हुई,

अर्द्धपिप्पली—सु, सुलुक्।

(4) अर्द्धकोशातकी (पूर्ववत्)।

(5) अर्द्धनखरञ्जनी (पूर्ववत्)।

द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः—द्विगु समास में, प्राप्त व आपन्न एवं अलम् हैं पूर्व में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास में तथा गतिसंज्ञक समास में परवल्लिङ्गता नहीं होती, बल्कि इनमें विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है। 'द्विगु' पद के द्वारा तद्धितार्थ के विषय में होने वाला द्विगु ही गृहीत होता है, समाहारार्थक द्विगु नहीं। समाहार अर्थ में 'स नपुंसकम्' से द्विगु एकवत् होकर नपुंसक लिङ्ग हो जाता है।

(6) पञ्चकपालः

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—तद्धितार्थ में संख्या का समास हुआ, सुप् का लुक्, 'न्' का लोप, 'संस्कृतं भक्षाः' से 'अण्',

पञ्चकपाल अण्—संख्यापूर्वो द्विगुः, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक्, प्रत्ययलक्षण के द्वारा आदिवृद्धि का 'न लुमताङ्गस्य' निषेध, अब 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' के द्वारा 'कपाल' के अनुसार क्लीबता प्राप्त हुई। प्रकृत वार्त्तिक ने निषेध कर दिया। तब विशेष्य (पुरोडाश) के अनुसार लिङ्ग हुआ। सु हुआ।

पञ्चकपालः—रूप बना।

(7) प्राप्तजीविकः

प्राप्तो जीविकाम्—यहाँ 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' से समास,

प्राप्तजीविका—'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' से 'जीविका' की उपसर्जन संज्ञा, 'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से ह्रस्वादेश, प्राप्त परवल्लिङ्गता का निषेध, विशेष्यानुसार लिङ्गता,

प्राप्तजीविकः—सु।

(8) आपन्नजीविकः

आपन्नो जीविकाम्—पूर्ववत् समास होकर,

आपन्नजीविक—प्राप्त परवल्लिङ्गता का वार्त्तिक के द्वारा निषेध, विशेष्यानुसार लिङ्ग,

आपन्नजीविकः—सु।

(9) अलंजीविकः

अलम् जीविकायै—प्रकृत वार्त्तिक से ज्ञापित होता है कि 'अलम्' का समास होता है, अतः समास हुआ, 'अलम्' शब्द का पूर्वनिपात भी ज्ञापकसिद्ध है,

अलम् जीविका—एकविभक्ति चापूर्वनिपाते, गोस्त्रियोरुपसर्ज० आदि लगकर,

अलम् जीविक—परल्लिङ्गता का निषेध, विशेष्यानुसार लिङ्गता, मोऽनुस्वारः, वाऽपदान्तस्य,

अलंजीविकः, अलञ्जीविकः—सु।

(10) अलङ्कुमारिः (युवा)

पूर्ववत्।

(11) निष्कौशाम्बिः

निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—समास हुआ,

निष्कौशाम्बि—परवल्लिङ्गता का निषेध होकर विशेष्यानुसार लिङ्गता,

निष्कौशाम्बिः—सु।

(561) पूर्ववदश्ववडवौ *27* (813)

अश्ववडवयोर्विभाषैकवद्भाव उक्तः, तत्रैकवद्भावादन्यत्र परवल्लिङ्गतायां प्राप्तायामिदमारभ्यते। अश्ववडवयोः पूर्ववल्लिङ्गं भवति। अश्वश्च वडवा चाश्ववडवौ। अर्थातिदेशश्चायम्, न निपातनम्। तत्र द्विवचनमतन्त्रम्, वचनान्तरेऽपि पूर्ववल्लिङ्गता भवति–अश्ववडवान्, अश्ववडवैरिति।

अर्थ—अश्ववडव का विकल्प से एकवद्भाव (विभाषा वृक्षमृग०) कहा गया है। वहाँ एकवद्भाव से अतिरिक्त परवल्लिङ्गता के प्राप्त होने पर नियम किया जा रहा है।

अश्व तथा वडवा शब्दों का समास होने पर पूर्व पद के अनुसार लिङ्ग होता है।

उदा० (1) अश्ववडवौ

अश्वश्च वडवा च—समास हुआ, 'विभाषा वृक्षमृगपशु०' के द्वारा 'टाप्' की निवृत्ति हुई, विकल्प से एकवद्भाव हुआ, एकवद्भाव पक्ष में 'स नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग होकर 'अश्ववडवम्' बनता है तथा एकवद्भाव अभाव पक्ष में,

अश्ववडव—प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्ववत् (अर्थात् 'अश्व' के अनुसार लिङ्गता हुई,

अश्ववडवौ—औ।

अर्थाति—यह अर्थातिदेश है; निपातन नहीं है। यहाँ द्वित्व की विवक्षा में द्विवचनबोधक प्रत्यय (औ) हुआ है। अन्य वचन में भी पूर्ववल्लिङ्गता तो होती ही है।

(2) अश्ववडवान्

अश्ववडव शस्—द्वितीया बहुवचन में,

अश्ववडवान्—रूप बना।

(3) अश्ववडवैः

'भिस्' में रूप बनता है।

(562) हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि *28* (3399)

'पूर्ववत्' इति वर्तते। हेमन्तशिशिरौ, अहोरात्रे–इत्येतयोश्छन्दसि विषये पूर्ववल्लिङ्गं भवति। हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामि (तै०सं० 1.6.2.3)। अहोरात्रे इदं ब्रूमः (अथ० 1.16.5)। परवल्लिङ्गतापवादो योगः। अर्थातिदेशश्चायं न निपातनम्, तेन द्विवचनमतन्त्रम्, वचनान्तरेऽपि पूर्ववल्लिङ्गता भवति। पूर्वपक्षाश्चितयः, अपरपक्षाः पुरीषम्, अहोरात्राणीष्टकाः (तै०सं० 3.11.4.1)। छन्दसीति किम्? दुःखे हेमन्तशिशिरे, अहोरात्राविमौ पुण्यौ। छन्दसि लिङ्गव्यत्यय उक्तः, तस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—'पूर्ववत्' का अनुवर्त्तन है।

वेद के विषय में हेमन्त व शिशिर शब्दों का समास करने पर तथा अहन् व रात्रि शब्दों का समास करने पर पूर्ववत् लिङ्गता होती है।

उदा० (1) हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामि (तै० सं० 1.6.2.3)
हेमन्तश्च शिशिरश्च—'चार्थे द्वन्द्वः' से समास,
हेमन्तशिशिरौ—'हेमन्त' पुंल्लिङ्ग होता है, पूर्ववल्लिङ्गता होकर।
लोक में परवल्लिङ्गता होकर 'हेमन्तशिशिरे' बनता है।

(2) अहोरात्रे इदं ब्रूमः
अहश्च रात्रिश्च—समास होकर, पुंस्त्व की प्राप्ति हुई, प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्ववल्लिङ्गता (क्लीबता) होकर,
अहोरात्रे—औ।
लोक में 'अहोरात्रौ' बनता है।

यह परवल्लिङ्गता का अपवाद है। यह अर्थातिदेश है; निपातन नहीं है। अतः द्विवचन का प्रयोग अविवक्षित है। अन्य वचनों में भी पूर्ववल्लिङ्गता होती ही है।

(3) अहोरात्राणि
बहुवचन में रूप बनता है।

छन्दसि अर्थात् वेद में ही उक्त पूर्ववल्लिङ्गता होती है—
(4) (दुःखे) हेमन्तशिशिरे
लोक में परवल्लिङ्गता हुई।

(5) अहोरात्रौ पुण्यौ
लोक में पुंस्ता हुई।

'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परि०) के अनुसार वेद में सभी विधियाँ विकल्प से प्रवृत्त होती हैं। उसी का यह प्रपञ्च है।

(563) रात्राह्नाहाः पुंसि *29* (814)

कृतसमासान्तानां निर्देशः। रात्र, अह्न, अह-इत्येते पुंसि भाष्यन्ते। परवल्लिङ्गतया स्त्रीनपुंसकयोः प्राप्तयोरिदं वचनम्। द्विरात्रः। त्रिरात्रः। चतूरात्रः। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। मध्याह्नः। द्व्यहः। त्र्यहः। *अनुवाकादयः पुंसीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अनुवाकः। शंयुवाकः (आश्व०श्रौ० 1.10.11)। सूक्तवाकः (ऋ० 10.88.7)।

अर्थ—(समस्त पद में) रात्र, अह्न और अह—ये शब्द हैं जिस द्वन्द्व व तत्पुरुष के अन्त में, उससे पुंस्त्व होता है। परवल्लिङ्गता के नियम से स्त्रीत्व व नपुंसकत्व के प्राप्त होने पर यह विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) द्विरात्रः
द्वे रात्री समाहृते—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे०' समास, 'अहः-सर्वैकदेश०' से 'अच्'—
द्विरात्रि अच्—यस्येति च, परवल्लिङ्गता का बाध, प्रकृत सूत्र के द्वारा पुंस्त्व,
द्विरात्र् अ—सु हुआ,
द्विरात्रः—रूप बना।

(2) त्रिरात्रः
तिस्रः रात्रयः—समास, पुंवद्भाव आदि होकर,
त्रिरात्रः—अच्, पुंस्त्व, सु।

(3) चतूरात्रः
चतस्रो रात्रयः—पूर्ववत् समास आदि,
चतुर् रात्रि अच्—यस्येति च,
चतु रात्र—रो रि, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः,
चतूरात्र—परवल्लिङ्गता का बाध, पुंस्त्व,
चतूरात्रः—सु।

संख्यापूर्व रात्र्यन्त शब्द तत्पुरुष समास नपुँसकलिङ्ग में होता है (द्र०—संख्यापूर्वा रात्रिः—लिङ्गा० 131)। अतः द्विरात्रम्, त्रिरात्रम् व चतूरात्रम् प्रयोग बनते हैं। यहाँ पुंस्त्व का बाध हो जाता है। प्रकृत सूत्र 'प्रतिप्रसव' समाहार द्विगु में ही प्रवृत्त होता है।[1]

(4) अहोरात्रौ
'जातिप्राणिनाम्' से एकवद्भाव हुआ। तब 'अहोरात्रम्' बनता है।

इतरेतरयोग द्वन्द्व समास की विवक्षा में द्विवचन व बहुवचन (यथेष्ट वचन) होता है। अहोरात्र औ—अहोरात्रौ।
बहुवचन में 'अहोरात्राः'।
यह उदाहरण काशिका में नहीं है।

(4) पूर्वाह्णः
अह्नः पूर्वो भागः—'पूर्वापराधरो०' से समास, 'राजाहः सखि०' से 'टच्', 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' से 'अह्न'—
पूर्वाह्णः—'अह्नोऽदन्तात्' से णत्व, पुंस्त्व, सु।

(5) अपराह्णः

1. ल०श०—प्रतिप्रसवलाघवानुरोधाच्च समाहारद्विगावेव प्रवर्त्तते।

अह्नः अपरो भागः—पूर्ववत् समास आदि,
अपराह्णः—णत्व, सु।

(6) मध्याह्नः
मध्य अहन्—पूर्ववत् समास आदि, अह्न आदेश, अकः सवर्णे दीर्घः,
मध्याह्न—पुंस्त्व, सु होकर,
मध्याह्नः—रूप बना।

(7) द्व्यहः
द्वे अहनी समाहृते—समास, 'राजाऽहः०' से 'अच्', 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' से 'अह्न' आदेश की प्राप्ति, 'न संख्याव्ययादेः०' से निषेध, 'नस्तद्धिते' से टिलोप, पुंस्त्व सु।

(8) त्र्यहः
त्रीणि अहानि समाहृतानि—समास आदि पूर्ववत्,
त्र्यहः—पुंस्त्व, सु।

अनुवाकादयः पुंसीति वक्तव्यम्—अनुवाक आदि शब्द पुँल्लिङ्ग में होते हैं—
(9) अनुवाकः
समास, पुंस्त्व तथा सु होकर रूप बनता है।
(10) शंयुवाकः (पूर्ववत् पुंस्त्व)।
(11) सूक्तवाकः (पूर्ववत्)।

(564) अपथं नपुंसकम् *30* (815)

अपथशब्दो नपुंसकलिङ्गो भवति। अपथमिदम्। अपथानि गाहते मूढः। इह कस्मान्न भवति-अपथो देशः, अपथा नगरी? तत्पुरुष इति वर्त्तते।

अर्थ—(नञ् तत्पुरुष समास से निष्पन्न) 'अपथ' शब्द नपुंसकलिङ्ग में होता है।

उदा० (1) अपथम्
न पन्थाः—नञ् समास हुआ,
न पथिन् → अ पथिन्—'ऋक्पूरब्धू०' से 'अ',
अ पथिन् अ—टिलोप,
अ पथ् अ—क्लीबता होकर,
अपथम्—सु।

(2) अपथानि (पूर्ववत् क्लीबता)।

इह—'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से परोक्षतः 'तत्पुरुष' पद का अनुवर्त्तन होता है। कारण कि द्वन्द्व समास में तो 'अपथ' शब्द सम्भव नहीं होता है। इसका फल यह है कि प्रकृत सूत्र का कार्य तत्पुरुष समास तक सीमित है। बहुव्रीहि समासघटित 'अपथ' शब्द में पूर्वोक्त क्लीबता नहीं होती—

(3) अपथो देशः
अविद्यमानः पन्था यस्य सः—बहुव्रीहि होने से विशेष्यानुसार लिङ्ग हुआ।

(4) अपथा नगरी (पूर्ववत्)।

विशेष—1. 'अपथः' (बहुव्रीहि समासघटित) पद में क्लीबता की अप्राप्ति का अन्य समाधान इस प्रकार है—

समासान्त 'अ' प्रत्यय वैकल्पिक है। प्रकृत सूत्र में 'अपथ' इस प्रकार समासान्त प्रत्यययुक्त निर्देश से ज्ञापित होता है कि 'पथिन्' शब्द से समासान्त 'अ' न होने के पक्ष में क्लीबता नहीं होती। तब 'अपथो देशः' यहाँ क्लीबता न होकर विशेष्यानुसार लिङ्ग हुआ।

2. 'अपथं०' सूत्र में समासान्त प्रत्यययुक्त निर्देश से ज्ञापित होता है कि समासान्त प्रत्यय के अभावपक्ष में समास चाहे तत्पुरुष हो या बहुव्रीहि हो, 'अपथ' शब्द से क्लीबता नहीं होती। तब—

न पन्थाः—अपन्थाः रूप बनता है। 'पथो विभाषा' से समासान्त प्रत्यय का विकल्प हुआ। समासान्त पक्ष में 'अपथम्' बनता है।

(565) अर्धर्चाः पुंसि च *31* (816)

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भाष्यन्ते। अर्धर्चः (तै०सं० 6.3.11.3), अर्धर्चम् (तै०सं० 2.5.7.4)। गोमयः (ऋ० 10.62.2), गोमयम् (शत० 12.9.2.3)। शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिङ्गता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते। यथा-पद्मशङ्खशब्दौ निधिवचनौ पुंल्लिङ्गौ, जलजे उभयलिङ्गौ। भूतशब्दः पिशाचे उभयलिङ्गः, क्रियाशब्दस्याभिधेयवल्लिङ्गम्। सैन्धवशब्दो लवणे उभयलिङ्गः, यौगिकस्याभिधेयवल्लिङ्गम्। सारशब्द उत्कर्षे पुंल्लिङ्गः, न्यायादनपेते (2.1.38) नपुंसकम्-नैतत्सारमिति। धर्म इत्यपूर्वे पुंल्लिङ्गः, तत्साधने नपुंसकम्-'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० 1.164.43)। अर्द्धर्च। गोमय। कषाय। कार्षापण। कुतप। कपाट। शङ्ख। गूथ। यूथ। ध्वज। कबन्ध। पद्म। गृह। सरक। कंस। दिवस। यूप। अन्धकार। दण्ड। कमण्डलु। मण्ड। भूत। द्वीप। द्यूत। चक्र। धर्म। कर्मन्। मोदक। शतमान। यान। नख। नखर। चरण। पुच्छ। दाडिम।

हिम। रजत। सक्तु। पिधान। सार। पात्र। घृत। सैन्धव। औषध। आढक। चषक। द्रोण। खलीन। पात्रीव। षष्टिक। वार। बाण। प्रोथ। कपित्थ। शुष्क। शील। शुल्ब। सीधु। कवच। रेणु। कपट। सीकर। मुसल। सुवर्ण। यूप। चमस। वर्ण। क्षीर। कर्ष। आकाश। अष्टापद। मङ्गल। निधन। निर्यास। जृम्भ। वृत्त। पुस्त। क्ष्वेडित। शृङ्ग। शृङ्खल। मधु। मूल। मूलक। शराव। शाल। वप्र। विमान। मुख। प्रग्रीव। शूल। वज्र। कर्पट। शिखर। कल्क। नाट। मस्तक। वलय। कुसुम। तृण। पङ्क। कुण्डल। किरीट। अर्बुद। अङ्कुश। तिमिर। आश्रम। भूषण। इल्कस। मुकुल। वसन्त। तडाग। पिटक। विटङ्क। माष। कोश। फलक। दिन। दैवत। पिनाक। समर। स्थाणु। अनीक। उपवास। शाक। कर्पास। चषाल। खण्ड। दर। विटप। रण। बल। मल। मृणाल। हस्त। सूत्र। ताण्डव। गाण्डीव। मण्डप। पटह। सौध। पार्श्व। शरीर। फल। छल। पुर। राष्ट्र। विश्व। अम्बर। कुट्टिम। मण्डल। ककुद। तोमर। तोरण। मञ्चक। पुङ्ख। मध्य। बाल। वल्मीक। वर्ष। वस्त्र। देह। उद्यान। उद्योग। स्नेह। स्वर। सङ्गम। निष्क। क्षेम। शूक। छत्र। पवित्र। यौवन। पानक। मूषिक। वल्कल। कुञ्ज। विहार। लोहित। विषाण। भवन। अरण्य। पुलिन। दृढ। आसन। ऐरावत। शूर्प। तीर्थ। लोमश। तमाल। लोह। दण्डक। शपथ। प्रतिसर। दारु। धनुष्। मान। तङ्क। वितङ्क। मव। सहस्र। ओदन। प्रवाल। शकट। अपराह्ण। नीड। सकल। अर्धर्चादिः।

अर्थ—अर्द्धर्च आदि गणपठित शब्द पुँल्लिङ्ग व नपुंसक लिङ्ग दोनों में होते हैं।

उदा० (1) अर्द्धर्चः
ऋचोऽर्द्धम्—'अर्धं नपुंसकम्' से वैकल्पिक समास, समास पक्ष में,
ऋच् अर्द्ध—'अर्द्ध' शब्द का पूर्वनिपात, आद् गुणः,
अर्द्धर्च—'ऋक्पूरब्धू०' से 'अ',
अर्द्धर्च—परवल्लिङ्गता का बाध, पुंस्त्व,
अर्द्धर्चः—सु।
(2) अर्द्धर्चम्
पक्ष में नपुंसक हुआ।

इस गण में समस्त पद तथा असमस्त पद—दोनों प्रकार के प्रयोगों का पाठ है।

यह द्विलिङ्गता शब्दरूप पर आश्रित है। कहीं-कहीं अर्थभेद से भी द्विलिङ्गता उपलब्ध होती है। यथा—

पद्म व शङ्ख शब्द 'निधि' अर्थ में पुँल्लिङ्ग हैं तथा 'कमल' अर्थ में उभयलिङ्गी हैं। 'पिशाच' अर्थ में भूत शब्द उभयलिङ्गी है। क्रियाशब्द की लिङ्गता अभिधेय के अनुसार होती है। 'लवण' अर्थ में सैन्धव शब्द उभयलिङ्गी होता है।

यौगिकस्य—यौगिक शब्दों का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। सार शब्द उत्कर्ष अर्थ में पुँल्लिङ्ग तथा न्यायानपेत अर्थ में नपुँसक लिङ्ग होता है। यथा—नैतत् सारमिति। 'अपूर्व' अर्थ में धर्म शब्द पुँल्लिङ्ग होता है तथा उसके साधनरूप अर्थ में नपुंसक होता है। यथा—तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।

इस गण के शेष उदाहरण मूल में देखें।

(566) इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ *32* (350)

आदेशः कथनम्। अन्वादेशोऽनुकथनम्। इदमोऽन्वादेशविषयस्याशादेशो भवत्यनुदात्तस्तृतीयादौ विभक्तौ परतः। आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम्। अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथो अस्मै शाटकमपि देहि। अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्, अथो अस्य प्रभूतं स्वम्। अशादेशवचनं साकच्कार्थम् (म०भा०)– इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता, अथो आभ्यामहरप्यधीतम्। नेह पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः, किं तर्हि? एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशः। तेनेह न भवति–देवदत्तं भोजय, इमं च यज्ञदत्तमिति।

अर्थ—कथन को आदेश कहते हैं। अनुकथन (अर्थात् कथन के पश्चात् कथन) को अन्वादेश कहते हैं।

सार यह है कि किसी कार्य, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, का पुनः ग्रहण अन्य कार्य को बताने के लिए किया जाय तो वह 'अन्वादेश' कहलाता है। यथा—

अनेन छात्रेण संस्कृतम् अधीतम्—यहाँ 'छात्रेण' इसका उल्लेख हो चुका है। 'एनं ज्योतिश्शास्त्रम् अध्यापय' यहाँ ज्योतिषाध्ययन के लिए भी पुनः उसी का ग्रहण है। अतः दूसरी बार उसका ग्रहण 'अन्वादेश' कहलाता है।

इदमो—अन्वादेश में वर्त्तमन 'इदम्' शब्द को अनुदात्त 'अश्' आदेश होता है, तृतीयादि विभक्ति परे रहते।

'अश्' के शकार की इत् संज्ञा होने से यह शित् है। तब 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' के द्वारा सर्वादेश होता है। यद्यपि 'अश्' आदेश करने पर भी स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तदपि स्वर का अन्तर अवश्य होता है।

सामान्यतः 'ऊडिम्पदा०' से उदात्त होता है। 'अश्' आदेश अनुदात्त होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से विभक्ति को भी अनुदात्त होता है।

उदा० (1) आभ्यामहरप्यधीतम्

आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता—यह आदेश (अर्थात् सामान्य कथन) है।

अथो आभ्यामहरप्यधीतम्—यह अन्वादेश हुआ, 'अश्' आदेश हुआ, 'अश्' अनुदात्त हुआ, 'भ्याम्' भी अनुदात्त हुआ।

(2) अथो अस्मै शाटकमपि देहि

अस्मै छात्राय कम्बलं देहि—सामान्य कथन है। शेष कार्य पूर्ववत्।

(3) अथो अस्य प्रभूतं स्वम्

अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्—सामान्य कथन है। शेष कार्य पूर्ववत्।

अशादेश—अकच् सहित कार्य के लिए 'अश्' आदेश का ग्रहण किया गया है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'इदम् भ्याम्' इस स्थिति में 'आभ्याम्' रूप 'अश्' आदेश के विना भी निष्पन्न हो जाता है।[1] अतः प्रकृत सूत्र में 'अश्' पद व्यर्थ है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पतञ्जलि ने कहा कि अकच् सहित इदम् के लिए अश् आदेश कहा गया है। यथा—

'अव्ययसर्वनाम्नः०' के द्वारा 'इदम्' को 'अकच्' हुआ, 'अनाऽप्यकः' से 'इद्' के स्थान पर 'अन' आदेश न होने से 'हलि च' की प्रवृत्ति नहीं होती है। दकार को मकार होकर 'इमक' बनता है। तब 'इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता'—यह सामान्य कथन हुआ। 'अथो आभ्यामहरप्यधीतम्' यह अन्वादेश हुआ। इसके लिए 'अश्' आदेश की चरितार्थता है।

पुनः शङ्का होती है कि 'हलि लोपः' से हलादि विभक्ति में 'इद्' भाग का लोप होकर 'अ' शेष रहता है। अजादि विभक्ति परे रहते 'इद्' भाग का लोप प्रसक्त नहीं होता। अतः प्रकृत सूत्र का प्रयोजन यह है कि अजादि विभक्ति में भी 'अश्' आदेश होता है।

इसका समाधान यह है कि अजादि विभक्ति परे रहते सर्वत्र हलादि आदेश (स्मै आदि) होते हैं। अतः 'हलि लोपः' की प्रवृत्ति अवश्य होती है। तब प्रकृत सूत्र का प्रयोजन पूर्वोक्तवत् (अर्थात् अकच् युक्त इदम् के लिए 'अश्' का विधान है) जानना चाहिए।

नेहि—किसी के द्वारा पश्चात् उच्चारणमात्र को अन्वादेश नहीं कहा जाता; अपितु पूर्व में शब्द के द्वारा प्रतिपादित अभिधेय का द्वितीय प्रतिपादन 'अन्वादेश' कहलाता है। अतः निम्नलिखित में 'अश्' आदेश नहीं होता—

देवदत्तं भोज्य, इमं च यज्ञदत्तमिति।

(567) एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ *33*
(1962)

अन्वादेशे अनुदात्तः इति वर्तते। एतदोऽन्वादेशविषयस्य अशादेशो भवति अनुदात्तस्त्रतसोः परतः, तौ चापि त्रतसावनुदात्तौ भवतः। एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे। अतस्माच्छात्राच्छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व। सर्वाऽनुदात्तं पदं भवति। 'एतदोऽश्' (5.3.2) इत्यशादेशे लब्धे पुनर्वचनमनुदात्तार्थम्।

अर्थ—अन्वादेशे, अनुदात्तः—इन दो पदों का अनुवर्त्तन है।

'त्र' तथा 'तस्' प्रत्ययों के परे रहते अन्वादेश में विद्यमान 'एतद्' शब्द को 'अश्' अनुदात्त होता है तथा 'त्र' व 'तस्' प्रत्यय भी अनुदात्त होते हैं।

उदा० (1) एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः—आदेशवाक्य है।
अथो अत्र युक्ता अधीमहे—अन्वादेशवाक्य है।

'अत्र' में 'त्र' प्रत्यय का प्रयोग है। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अश्' सर्वादेश हुआ। 'अश्' अनुदात्त हुआ। 'लिति' के द्वारा पूर्व को उदात्त स्वर की प्राप्ति थी।

(2) एतस्माच्छात्राच्छन्दोऽधीष्व—आदेशवाक्य है।
अथो अतो व्याकरणमधीष्व—अन्वादेशवाक्य है।

'एतदोऽश्' (पा० 5.3.5) के द्वारा 'एतद्' को 'अश्' होता है। तब यहाँ 'अश्' आदेश व्यर्थ हो जाता है। इसका समाधान यह है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अश्' आदेश सम्पूर्ण पद को अनुदात्त करने के लिए कहा गया है।

1. त्यदादीनामः, हलि लोपः आदि लग कर।

(568) द्वितीयाटौस्स्वेनः *34* (351)

अन्वादेशे अनुदात्तः इति वर्त्तते। द्वितीया, टा, ओस्– इत्येतेषु परत इदमेतदोरन्वादेशविषययोरेनशब्द आदेशो भवति अनुदात्तः। इदमो मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवृत्तिः। इमं त्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय। अनेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्। अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्। एतदः खल्वपि–एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय। एतेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अतो एतनयोः प्रसूतं स्वम्। *एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्* (म०भा०)। प्रक्षालयैनत्। परिवर्त्तयैनत्। इह कस्मान्न भवति–अयं दण्डो हरानेन। एतमातं ङितं विद्यादिति? यत्र किञ्चिद् विधाय वाक्यान्तरेण पुनरन्यदुपदिश्यते सोऽन्वादेशः। इह तु वस्तुनिर्देशमात्रं कृत्वा एकमेव विधानम्।

अर्थ—अन्वादेशे, अनुदात्तः—इन पदों का अनुवर्त्तन है।

द्वितीया विभक्ति (अर्थात् अम्, औट्, शस्), टा तथा ओस् विभक्ति के परे रहते 'इदम्' तथा 'एतद्' शब्दों के स्थान पर 'एन' अनुदात्त होता है अन्वादेश में।

'इदम्' का अनुवर्त्तन मण्डूकप्लुति न्याय से होता है।

सामान्य दशा में	अन्वादेश की दशा में
इदम् अम्	एनम्
इदम् औ	एनौ
इदम् शस्	एनान्
इदम् टा	एनेन
इदम् ओस्	एनयोः

इसी प्रकार 'एतद्' के विषय में भी जानना चाहिए।

उदा० (1) इमं छन्दोऽध्यापय—सामान्य वाक्य।
अथो एनं व्याकरणमध्यापय—अन्वादेश वाक्य।
'इदम्' को 'अम्' परे रहते अन्वादेश में 'एन' हुआ।

(2) अनेन छात्रेण रात्रिरधीता—सामान्य वाक्य।
अथो एनेनाऽहरप्यधीतम्—अन्वादेश।
'टा' परे रहते 'एन' आदेश।

(3) अनयोश्छात्रयोश्शोभनं शीलम्—सामान्य वाक्य।
अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्—अन्वादेश।
'ओस्' परे रहते 'इदम्' को 'एन्' आदेश।

इसी प्रकार 'एतद्' शब्द को 'एन' आदेश होता है।

(4) एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय।
अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय।

(5) एतेन छात्रेण रात्रिरधीता।
अथो एनेनाऽहरप्यधीतम्।

(6) एतयोश्छात्रयोश्शोभनं शीलम्।
अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।

एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्—अन्वादेश में नपुंसक एकवचन में 'एनत्' आदेश होता है—

(7) कुण्डमिदमानय प्रक्षालयैनत्
'कुण्ड' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। 'एनत्' हो गया।

(8) परिवर्त्तयैनत्
'एनत्' हो गया।

निम्नलिखित स्थल पर नहीं होता—

(9) अयं दण्डः हराऽनेन
यहाँ अन्वादेश नहीं है। वस्तुमात्र का निर्देश करके एक का ही विधान है।

(10) एतमातं ङितं विद्यात्
पूर्ववत् जानना चाहिए।

(569) आर्धधातुके *35* (2432)

आर्धधातुके इत्यधिकारोऽयं 'ण्यक्षत्त्रियार्षञितः यूनि लुगणिञो' (2.4.58) इति यावत्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तदार्धधातुके वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'हनो वध लिङि' (1.4.42)–वध्यात्। आर्धधातुक इति किम्? हन्यात्। विषयसप्तमी चेयं न परसप्तमी। तेनार्धधातुकविवक्षायामादेशेशु कृतेषु पश्चाद्यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति–भव्यम्, प्रवेयम्, आख्येयम्।

अर्थ—यह अधिकार है, जो 'ण्यक्षत्त्रियार्ष०' (2.4.57) सूत्रपर्यन्त चलता है। यहाँ से आगे जो कुछ कहा जायेगा, वह आर्धधातुक के विषय में जानना चाहिए। आगे 'हनो वध लिङि' आदि सूत्रों का पाठ किया जायेगा।

आर्धधा० अर्थात् आर्धधातुक के विषय में ही कार्य होता है—

उदा० (1) हन्यात्
हन् तिप् (लिङ्निमित्तक)—विधिलिङ् में 'तिप्' हुआ,
हन् यासुट् त्—यासुट् परस्मैपदे०, इतश्च, आर्धधातुक न होने से 'हन्' को 'वध' नहीं हुआ,
हन्यात्—'स्कोः संयोगाद्योः०' से 'स्' का लोप।

'आर्धधातुके' पद में विषय सप्तमी है; परसप्तमी नहीं है। अतः आर्धधातुक की विवक्षा में आदेशों के कर लेने के पश्चात् यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं।

(2) भव्यम्
अस् → भू यत्—आर्धधातुक की विवक्षा में 'अस्तेर्भूः' से 'भू' आदेश, 'अचो यत्' से 'यत्',
भो यत्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण,
भव्य—'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' से अवादेश,
भव्यम्—सु।

(3) प्रवेयम्
प्र अज् → प्र वी यत्—'अजेर्व्यघञपोः' से 'वी',
प्रवेयम्—पूर्ववत् यत्, गुण, सु।

(4) आख्येयम्
आ चक्षिङ् → आ ख्या—'चक्षिङः ख्याञ्',
आ ख्या यत् → आख्येयम्—पूर्ववत् यत्, 'ईद्यति' से ईदादेश, गुण, सु।

(570) अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति *36*
(3080)

अदो जग्धिरादेशो भवति ल्यपि परतः, तकारादौ च किति प्रत्यये। प्रजग्ध्य। विजग्ध्य। जग्धः। जग्धवान्। इकार उच्चारणाऽर्थः, नानुबन्धः। तेन नुम्न भवति। एवं वच्यादीनामपि। इह कस्मान्न भवति-अन्नम्? 'अन्नाण्णः' (4.4.85) इति निपातनात्।

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्ति कितीति ल्यबुच्यते।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम्॥
(म०भा०)

तीति किम्? अद्यते। कितीति किम्? अत्तव्यम्।

अर्थ—ल्यप् प्रत्यय तथा तकारादि कित् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'अद्' धातु को 'जग्धि' आदेश होता है।

'जग्धि' में इकार उच्चारणार्थ है। अतः 'इदितो नुम् धातोः' की प्रवृत्ति नहीं होती।

उदा० (1) प्रजग्ध्य
प्र अद् क्त्वा—उपसर्गाः क्रियायोगे, ते प्राग्धातोः, समानकर्तृकयोः, कुगतिप्रादयः, समासेऽनञ्पूर्वे० आदि लग कर,
प्रजग्ध्य—जग्धि सु, सुलुक्।

(2) विजग्ध्य
वि अद् क्त्वा—पूर्ववत्,
विजग्ध्य—पूर्ववत् जग्धि।

(3) जग्धः
अद् क्त—क्तक्तवतू निष्ठा, जग्धि आदेश,
जग्ध् त—'झषस्तथोर्धोऽधः' से तकार को धकार, 'झलां जश् झशि' से पूर्व धकार को दकार, 'झरो झरि सवर्णे' से दकार का लोप, सु।

(4) जग्धवान्
अद् क्तवतु—पूर्ववत्,
जग्ध् तवत् → जग्ध् धवत् → जग्द्धवत्— 'झषस्तथो०' से धत्व, जश्त्व,
जग्धवत् सु—दकारलोप, सु,
जग्धवान्—सुलोप, रूप बना।

इह—'अन्नम्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'जग्धि' आदेश नहीं हुआ। 'अन्नाण्णः' (4.4.85) से ज्ञापित होता है कि यहाँ जग्ध् आदेश नहीं होता। यहाँ निपातनात् 'जग्धि' आदेश का अभाव है।

जग्धौ—शङ्का होती है कि 'प्रजग्ध्य' आदि स्थलों पर 'प्र अद् क्त्वा' इस दशा में ही 'अद्' को 'जग्धि' आदेश हो जायेगा। कारण कि 'ल्यप्' दो पदों की अपेक्षा रखता है; अतः बहिरङ्ग है। 'जग्धि' आदेश केवल 'क्त्वा' की अपेक्षा रखता है; अतः अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग बलवान् होता है। अतः सूत्र में 'ल्यप्' का ग्रहण व्यर्थ है।

इसके समाधान के लिए निम्नलिखित कारिका दी गई है—

यद्यपि अन्तरङ्ग होने से कित् तकारादि प्रत्यय परे रहते 'जग्धि' आदेश सिद्ध ही है, तदपि सूत्र में 'ल्यप्' पद का ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि ल्यप् के द्वारा अन्तरङ्ग विधि का बाध होता है। तब 'जग्धि' आदेश को बाध कर प्रथम 'ल्यप्' होता है।

तीति अर्थात् तकारादि प्रत्यय परे रहते 'जग्धि' आदेश होता है—

(5) अद्यते

अद् यक् त—कर्मवाच्य में लकार हुआ, प्र०पु० एकव० का प्रत्यय हुआ, सार्वधातुकसंज्ञा, सार्वधातुके यक्,

अद्यते—'यक्' कित् है, परन्तु तकारादि नहीं है। अत: 'जग्धि' आदेश नहीं हुआ।

कितीति अर्थात् कित् प्रत्यय परे रहते 'जग्धि' आदेश होता है—

(6) अत्तव्यम्

अद् तव्यत्—आर्धधातुकसंज्ञा, तकारादि प्रत्यय है, परन्तु कित् नहीं है, अत: 'जग्धि' नहीं हुआ,

अत् तव्यत्—खरि च,

अत्तव्यम्—सु।

(571) लुङ्सनोर्घस्लृ *37* (2427)

लुङि सनि च परतोऽदो घस्लृ आदेशो भवति। लृदित्करणमङर्थम्। लुङि–अघसत्, अघसताम्, अघसन्। सनि–जिघत्सति, जिघत्सतः, जिघत्सन्ति। *घस्लृभावेऽच्युपसंख्यानम्* (म०भा०)। प्रात्तीति प्रघसः।

अर्थ—आर्धधातुक विषय में लुङ् और सन् प्रत्ययों के परे रहते 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' आदेश होता है।

'घस्लृ' को लृदित् करने का फल यह है कि 'पुषादिद्युता०' से लुङ् में 'अङ्' हो जाय।

उदा० (क) लुङि—

(1) अघसत्

अद् लुङ्—धातोः लुङ्, 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा, घस्लृ आदेश,

अद् घस् तिप्—तिप्, अट्, इतश्च, च्लि लुङि,

अ घस् अङ् त्—'पुषादिद्युता०' से 'अङ्',

अघसत्—रूप बना।

(2) अघसताम्

अद् तस्—लुङ्स्थानिक 'तस्',

अ घस् ताम्—पूर्ववत्, 'तस्थस्थमिपां' से 'ताम्',

अघसताम्—अङ्।

(3) अघसन्

अद् झि—पूर्ववत्,

अद् घस् अन्ति—झोऽन्तः, इतश्च, संयोगान्तस्य लोपः,

अघस् अ अन्—अतो गुणे,

अघसन्—रूप बना।

(ख) सनि

(4) जिघत्सति

अद् सन्—'धातोः कर्मणः समानकर्तृका०' से सन्, आर्धधातुक संज्ञा, घस्लृ आदेश,

घस् सन् → घस् घस् स—द्वित्व, 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्' की प्राप्ति, 'एकाच उपदेशे' निषेध,

घ घस् स—हलादिः शेषः, अभ्यासे चर्च, कुहोश्चुः, सन्यतः, सः स्यार्धधातुके से सकार को तकार, धातुसंज्ञा,

जिघत्सति—तिप्, शप्, अतो गुणे।

(5) जिघत्सतः

अद् सन्—पूर्ववत्,

जिघत्स—धातुसंज्ञा, लकारोत्पत्ति,

जिघत्सतः—तस् प्रत्यय।

(6) जिघत्सन्ति

जिघत्स झि—पूर्ववत्,

जिघत्सन्ति—झोऽन्तः, अतो गुणे।

घस्लृभावेऽच्युपसङ्ख्यानम्—घस्लृभाव करने पर अच् परे रहने पर भी यह आदेश होता है—

(7) प्रघसः

प्रात्ति → प्र अद् अच्—'नन्दिग्रहिपचा०' से 'अच्',

प्र घस् अ—प्रातिपदिकसंज्ञा,

प्रघसः—सु।

(572) घञपोश्च *38* (3236)

घञि अपि च परतोऽदो घस्लृ आदेशो भवति। घासः। प्रघसः। 'उपसर्गेऽदः' (3.3.59) इत्यप्।

अर्थ—आर्धधातुक के विषय में 'घञ्' और 'अप्' प्रत्ययों के परे रहते 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' आदेश होता है।

उदा० (1) घासः

अद् घञ्—'भावे', लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्,

घस् अ—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,

घासः—प्रातिपदिकसंज्ञा, सु।

(2) प्रघसः

प्र अद् अप्—'उपसर्गेऽदः' से 'अप्', घस्लृ,

प्रघसः—प्रातिपदिक संज्ञा, सु।

(573) बहुलं छन्दसि *39* (3398)

छन्दसि विषये बहुलमदो घस्लृ आदेशो भवति। घस्तांन्नूनम् (वा०सं० 21.43)। सग्धिश्च मे (वा०सं० 18.9)। न च भवति–आत्तामुद्य मध्यतो मेदु उद्भृतम् (वा०सं० 11.43)। अन्यतरस्यांग्रहणमेव कस्मान्न क्रियते, तदेवोत्तरार्थमपि भविष्यति? कार्यान्तरार्थं बहुलग्रहणम्। घस्तामित्यत्रोपधालोपो न भवति।

अर्थ—वेद के विषय में 'अद्' धातु के स्थान पर 'घस्लृ' आदेश बहुलता से होता है।

उदा० (1) घस्तान्नूनम् (यजु० 21.43)।
अद् तस्—लुङ्स्थानिक, 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्', 'घस्लृ' आदेश, च्लि, 'मन्त्रे घसह्वरणश०' से लुक्,
घस् ताम्—'बहुलं छन्दस्यमाङ्०' से अडभाव,
घस्ताम्—रूप बना।

(2) सग्धिश्च मे (यजु० 18.9)
अद् क्तिन् → घस् क्तिन्—स्त्रियाँ क्तिन्, लशक्वतद्धिते, बाहुलकात् 'जग्धि',
घ् स् ति — घ् स् धि—घसिभसोर्हलि०, एकाचो बशो०
घ् धि → ग् धि—झलो झलि०, खरि च,
ग्धि:—प्रातिपदिकसंज्ञा, सु।
समाना ग्धि:—'पूर्वापरप्रथम०' से समास,
समाना ग्धि—'गोस्त्रियोरुप०' से ह्रस्वादेश,
समान ग्धि—समानस्य छन्दसि०
सग्धि:—प्रातिपदिकसंज्ञा, सु।

(3) आत्तामद्य मध्यत: (वा० सं० 11.43)
अद् तस्—घस्लृ आदेश बाहुलकात् नहीं हुआ,
आट् अद् ताम्—आट्, खरि च,
आत्ताम्—रूप बना।

अन्यतर—प्रश्न यह है कि प्रकृत सूत्र में 'बहुलम्' के स्थान पर 'अन्यतरस्याम्' का पाठ होना चाहिए। इष्टसिद्धि के साथ-साथ 'अन्यतरस्याम्' पद का अग्रिम सूत्र में अनुवर्त्तन भी हो जाता है।

इसका समाधान यह है कि सभी विधियों के व्यभिचारार्थ आचार्य ने 'बहुलम्' पद का प्रयोग किया है। यथा—

'घस्ताम्' इस स्थल पर 'घसिभसोर्हलि च' से उपधालोप प्राप्त होता है, जिसकी बाहुलकात् अप्राप्ति होती है।

(574) लिट्यन्यतरस्याम् *40* (2424)

लिटि परतोऽदोऽन्यतरस्यां घस्लादेशो भवति। जघास। जक्षतुः। जक्षुः। आद। आदतुः। आदुः।

अर्थ—आर्धधातुक के विषय में लिट् परे रहते 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) जघास
अद् तिप्—लिट्स्थानिक प्रत्यय, वैकल्पिक 'घस्', 'णल्' आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य, चुटू,
जघस् अ—अत उपधाया:,
जघास—रूप बना।

(2) आद
पक्ष में 'घस्' नहीं हुआ, णल् आदि होकर 'आद' रूप बनता है।

(3) जक्षतु:
अद् तस्—लिट्स्थानिक 'घस्' 'णलतुसुस्०' से 'अतुस्',
घस् अतुस्—द्वित्व तथा उपधालोप की युगपत् प्राप्ति हुई, परत्व के कारण उपधालोप प्रवृत्त हुआ, 'द्विर्वचनेऽचि' से प्रथम द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ज घस् अतुस्—'गमहनजन०' से उपधालोप, 'शासिवसिघसी०' से से षत्व, 'खरि च' से ककार,
जक्ष् अतुस् — जक्षतु:।

(4) आदतु:
पक्ष में 'घस्' आदेश नहीं हुआ। पूर्ववत् 'अतुस्' आदि होकर रूप बनता है।

(5) जक्षु:
अद् झि—लिट्स्थानिक, पूर्ववत् सभी कार्य,
जघ्स् उस् → जक्ष् उस्—पूर्ववत्,
जक्षु:—विसर्ग।

(6) आदु:
पक्ष में 'घस्' नहीं हुआ।

(575) वेञो वयिः *41* (2411)

लिट्यन्यतरस्यामिति वर्त्तते। वेञो वयिरादेशो भवति अन्यतरस्यां लिटि परतः। इकार उच्चारणार्थः। उवाय, ऊयतुः, ऊयुः। पक्षे–ऊवतुः, ऊवुः। 'लिटि वयो यः' (6.1.38) इति यकारस्य सम्प्रसारणं प्रतिषिध्यते।

'वश्चास्यान्यतरस्यां किति' (6.1.39) इति वकारो विधीयते–ववौ, ववतुः, ववुः। 'वेञः' (6.1.40) इति सम्प्रसारणं न भवति।

अर्थ—'लिट्यन्यतरस्याम्' पदों का अनुवर्त्तन है। आर्धधातुक के विषय में लिट् परे रहते 'वेञ्' के स्थान पर 'वयि' आदेश विकल्प से होता है। 'वयि' का इकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) उवाय

वे लिट् → वे णल्—णलतुसुस्थल्०, एचोऽयवायावः, द्वित्व,

वय् वय् अ → ववय् अ—अभ्यास कार्य, 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च,

उवय् अ → उवाय—अत उपधायाः।

(2) ववौ

वे णल् → वा अ—'वयि' अभाव पक्ष में आदेच उपदेशे० से आत्व,

वा वा अ → व वा औ—आत औ णलः, द्वित्व, अभ्यासकार्य,

ववौ—वृद्धिरेचि।

(3) ऊयतुः

वे अतुस् → वय् अतुस्—'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित्, 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' से सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, 'लिटि वयो यः' से निषेध, 'व्' का सम्प्रसारण हुआ,

उय् अतुस् → उय् उय् अतुस्—द्वित्व, अभ्यास कार्य,

उ उयतुस्—अकः सवर्णे दीर्घः,

ऊयतुः—विसर्ग हुआ। वय् आदेशपक्ष तथा 'व्' आदेश अभावपक्ष में रूप बना।

(4) ऊवतुः

उय् अतुस्—इस दशा में 'वश्चाऽस्याऽन्यत०' से 'य्' को वैकल्पिक 'व्' हुआ, 'व्' आदेशपक्ष में द्वित्व,

उव् उव् अतुस्—अभ्यासकार्य, सवर्णदीर्घ,

ऊवतुः—'वय्' आदेशपक्ष तथा 'य्' को 'व्' आदेशपक्ष में रूप बना।

(5) ववतुः

वे अतुस्—'वय्' आदेश अभावपक्ष में, पूर्ववत् आत्व,

वा वा अतुस्—द्वित्व, 'ह्रस्वः' से ह्रस्वादेश,

ववतुः—'आतो लोप इटि—' से आकारलोप।

(6) ऊयुः

व झि → वे उस्—'णलतुसुस्थल्०' से 'उस्', वय् आदेश,

वय् उस् → उय् उस्—पूर्ववत् सम्प्रसारण, अभ्यासकार्य,

ऊयुः—सवर्णदीर्घ।

(7) ऊवुः

वय् → उय् उस्—'ऊवतुः' की तरह,

उव् उव् उस्—'य्' को वैकल्पिक 'व्',

ऊवुः—अकः सवर्णे दीर्घः।

(8) ववुः

वे उस् → वा उस्—'ववतुः' की तरह,

ववा उस् → ववुः।

(576) हनो वध लिङि *42* (2433)

हन्तेर्धातोर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङिः परत आर्धधातुके। वध्यात्। वध्यास्ताम्। वध्यासुः। अकारान्तश्चायमादेशः, तत्राकारस्य लोपो भवति (6.4.48)। तस्य स्थानि-वद्भावादवधीदिति हलन्तलक्षणा वृद्धिः (7.2.3) न भवति।

अर्थ—आर्धधातुक विषय में लिङ् प्रत्यय परे रहते 'हन्' के स्थान पर 'वध' आदेश होता है।

विधिलिङ् सार्वधातुक होता है तथा आशीर्लिङ् 'लिङाशिषि' के द्वारा आर्धधातुकसंज्ञक होता है। अतः प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति आशीर्लिङ् में ही होती है।

उदा० (1) वध्यात्,

हन् → वध लिङ्—आशीर्लिङ् की विवक्षा में 'वध' आदेश हुआ, लिङ् आया,

वध तिप् → वध् ति—अतो लोपः से अकार की निवृत्ति, 'इतश्च' से इकार का लोप, 'यासुट् परस्मै०' से 'यासुट्',

वध् यासुट् त्—हलन्त्यम्, उपदेशेऽज०, 'लिङाशिषि' से 'यास्त्' की आर्धधातुकसंज्ञा,

वध् यास् स् त्—अनुबन्धलोप,

वध् यास्त्—'स्कोः संयोगाद्यो०' से 'स्' का लोप,

वध्यात्—'स्' का लोप।

(2) वध्यास्ताम्

वध् यासुट् ताम्—पूर्ववत् यासुट् आदि होकर,

वध्यास्ताम्—'स्कोः संयोगा०' की प्रवृत्ति नहीं हुई।

(3) वध्यासुः

वध झि—पूर्ववत् सभी कार्य होते हैं, 'झेर्जुस्' से 'जुस्' होता है, 'चुटू' से 'ज्' की इत्संज्ञा होकर—

वध्यासुः—रूप बनता है।

अकारान्तो—'वध' यह अकारान्त आदेश है। यहाँ अकार का लोप हो जाता है। अकारान्त आदेश करने के दो प्रयोजन हैं—

(क) इट् के निषेध की अप्राप्ति—

अ वध स् त्—लुङ् में तिप्, इकारलोप, सिच्, अनुबन्ध-लोप, अट् आगम, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से इट् आगम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते०'

अ वध इ स् ई त्—अब 'एकाच उपदेशेऽनु०' से इट् निषेध की प्राप्ति हुई, जो 'वध' के अनेकाच् होने से प्रवृत्त नहीं हुआ,

अवधीत्—अतो लोपः, इट ईटि।

(ख) वृद्धि का वारण—

अ वध इ स् ई त्—पूर्वोक्त दशा में अकारलोप, सिच् का लोप हुआ,

अ वध् इ ई त्—सिच् के लोप को सिद्ध मानकर सवर्णदीर्घ हुआ, 'अतो हलादेर्लघोः' के द्वारा वैकल्पिक हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त हुई, 'अचः परस्मिन्०' के द्वारा अकारलोप के स्थानिवत् होने से प्राप्त वृद्धि का वारण होकर—

अवधीत्—रूप बना।

(577) लुङि च *43* (2434)

लुङि च परतो हनो वध इत्ययमादेशो भवति। अवधीत्। अवधिष्टाम्। अवधिषुः। योगविभाग उत्तरार्थः, आत्मनेपदेषु लुङि विकल्पो यथा स्याल्लिङि मा भूत्।

अर्थ—आर्धधातुक लुङ् परे रहते 'हन्' के स्थान पर 'वध' आदेश होता है।

उदा० (1) अवधीत्

वध लुङ्—लुङ् की विवक्षा में 'वध' आदेश, लुङ् आया,

वध त्—तिप्, इतश्च, च्लि, च्लेः सिच्, अट्,

अ वध स् त्—अनुबन्ध लोप, वलादिक इट्, ईट्,

अवध इ स् ईत्—अनुबन्धलोप, 'अतो लोपः' से अकारलोप,

अवधीत्—इट ईटि, सिच् लोप के सिद्ध होने से सवर्णदीर्घ, हलन्तलक्षणा वृद्धि का वारण (द्र०—2.4.42 विशेष)।

(2) अवधिष्टाम्

अ वध इट् सिच् ताम्—'तस्' को 'ताम्' होता है, शेष कार्य पूर्ववत्, अकारलोप,

अवधिष् ताम्—'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य,

अवधिष्टाम्—ष्टुना ष्टुः।

(3) अवधिषुः

अ वध् इ स् जुस्—'झि' को 'जुस्' होता है, शेष कार्य पूर्ववत् होकर—

अवधिषुः—'चुटू' से 'ज्' की इत्संज्ञा।

योग—'हनो वध लिङि' तथा 'लुङि च'—इन दोनों सूत्रों के स्थान पर 'हनो वध लिङ्लुङोः' इस प्रकार एक सूत्र से काम चल जाता है, परन्तु आचार्य ने इनका योगविभाग उत्तरवर्ती शास्त्र में अनुवृत्ति के लिए किया है। योगविभाग कर देने पर आत्मनेपद लिङ् में विकल्प नहीं होता है।

(578) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् *44* (2696)

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। आत्मनेपदेषु परतो हनो लुङ्यन्यतरस्यां वध इत्ययमादेशो भवति। आवधिष्ट। आवधिषाताम्। आवधिषत। न च भवति-आहत, आहसाताम्, आहसत।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा (वध' आदेश के) नित्य प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है। आर्धधातुक के विषय में आत्मनेपद लुङ् प्रत्यय परे रहते 'हन्' के स्थान पर 'वध' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) आवधिष्ट

आ वध त—'आङो यमहनः' से आत्मनेपद संज्ञा हुई, आर्धधातुक विषय में 'वध' हुआ, लकार हुआ, एकव० में 'त' हुआ,

आ वध स् त—च्लि लुङि, च्लेः सिच्, अनुबन्धलोप,

आ वध् इ स् त—अतो लोपः, आर्धधातुकस्येड्० लग कर,

आ अवधिष् त—अट्, षत्व,

आवधिष्ट—सवर्णदीर्घ, ष्टुना ष्टुः।

(2) आहत

पक्ष में 'वध' आदेश नहीं हुआ, अनुनासिक का लोप होकर रूप बनता है।

(3) आवधिषाताम्

आ वध् इट् सिच् आ ताम्—पूर्ववत् सभी कार्य,

आवधिषाताम्—अट्, षत्व।

(4) आहसाताम्

आ हन् सिच् आताम्—पक्ष में 'वध' आदेश नहीं हुआ,

आ अ हस् आताम्—अट्—

आहसाताम्—रूप बना।

(5) आवधिषत

आ अट् वध् इट् सिच् झ—पूर्ववत् सभी कार्य,
आवधिस् अत—आत्मनेपदेष्वनतः,
आवधिष् अत—षत्व होकर,
आवधिषत—रूप बना।

(6) आहसत

आ हन् स् अत—'आत्मनेपदेष्वनतः' आदि लग कर, अनुनासिकलोप, अट्,
आहसत—सवर्णदीर्घ।

(579) इणो गा लुङि *45* (2428)

इणः 'गा' इत्ययमादेशो भवति लुङि परतः। अगात्। अगाताम्। अगुः। लुङीति वर्त्तमाने पुनर्लुङ्ग्रहणम् 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (2.4.44) इत्येतन्मा भूत्। इह त्वविशेषेण नित्यं च भवति-अगात्, अगायि भवता। *इण्वदिक इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अध्यगात्। अध्यगाताम्। अध्यगुः।

अर्थ—आर्धधातुक लुङ् के विषय में 'इण्' धातु के स्थान पर 'गा' आदेश होता है।

उदा० (1) अगात्

गा लुङ्—लुङ् की विवक्षा में 'गा' हुआ, लुङ् हुआ।
गा तिप्—तिप् के इकार का लोप, सिच्,
गा स् त्—अनुबन्धलोप, अट्,
अ गा स् त्—'गातिस्थाघुपा०' से 'सिच्' का लोप,
अगात्—रूप बना।

(2) अगाताम्

गा लुङ्—लुङ् की विवक्षा में 'गा' हुआ,
अट् गास् तस्—'तस्' आदेश, 'गतिस्था०' से सिच् लोप,
अगा ताम्—'हलन्त्यम्' से 'ट्' की इत्संज्ञा,
अगाताम्—रूप बना।

(3) अगुः

गा झि—गाङ्, लुङ् झि, सिच्,
आ गा झि—सिच् लुक्, झेर्जुस्, चुटू,
अ गा उस्—उस्यपदान्तात्,
अगुः—रूप बना।

लुङीति—यहाँ 'लुङि' पद की अनुवृत्ति प्राप्त होने पर भी सूत्र में पुनः 'लुङ्' के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि आत्मनेपद प्रत्यय के परे रहते विकल्प से 'गा' आदेश न हो।

इह० यहाँ सामान्यतया नित्य होता है—

(4) अगात् (पूर्ववत्)।

(5) अगायि

गा त—गाङ्, लुङ्, त, च्लि, अट्,
अ गा च्लि त—'चिण् भावकर्मणोः' से 'चिण्', आतो युक्चिण्कृतोः' से 'युक्',
अ गा युक् चिण् त—चिणो लुक्,
अगाय् इ—अनुबन्धलोप,
अगायि—रूप बना।

इण्वदिक इति वक्तव्यम्—'इण्' के समान ही 'इक्' धातु होता है। सार यह है कि जिस प्रकार 'इण्' को लुङ् में 'गा' आदेश होता है, उसी प्रकार 'इक्' के स्थान पर भी होता है। 'इक्' धातु स्मरणार्थक है तथा अधिपूर्वक ही प्रयुक्त होता है।

(6) अध्यगात्

अधि अगात्—अधिपूर्वक 'इक्' धातु से लुङ् की विवक्षा में 'गाङ्' हुआ, लुङ् आदि होकर रूप बना—
अध्यगात्—यणादेश।

(7) अध्यगाताम्

अधि इक्—पूर्ववत् 'गाङ्' आदि होकर—
अधि अगाताम्—यणादेश,
अध्यगाताम्—रूप बना।

(8) अध्यगुः

अधि इक्—पूर्ववत् कार्य होकर 'अगुः' बना—
अध्यगुः—यणादेश।

विशेष— 'लुङि' में विषयसप्तमी है। अतः लुङ् की विवक्षा में ही 'गा' आदेश हो जाता है। तब लुङ् के समय धातु के अजादि न रहने से 'आट्' नहीं होता।

(580) णौ गमिरबोधने *46* (2607)

णौ परत इणोऽबोधनार्थस्य गमिरादेशो भवति। इकार उच्चारणार्थः। गमयति। गमयतः। गमयन्ति। अबोधने इति किम्? प्रत्याययति, इण्वदिकः (वा० 167) इत्येव-अधिगमयति।

अर्थ—ज्ञान अर्थ को छोड़ कर अन्य अर्थ में 'इण्' धातु के स्थान पर 'गमि' आदेश होता है, आर्धधातुक णिच् के परे रहते। 'गमि' में इकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) गमयति
इ णिच्—'गम्' आदेश हुआ,
गम् इ—'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा, लट् लकार, तिप्, शप्,
गमि शप् तिप्—अनुबन्धलोप, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण, अयादेश,
गमयति—रूप बना।

(2) गमयतः
गमि तस्—पूर्ववत्,
गमयतः—शप् आदि।

(3) गमयन्ति
गमि झि—पूर्ववत्,
गमयन्ति—झोऽन्तः, शप्, अय्।

अबोधने अर्थात् ज्ञान अर्थ को छोड़ कर अन्य अर्थ में 'इण्' धातु के स्थान 'गा' आदेश होता है।

(4) प्रत्याययति
प्रति इ णिच्—ज्ञान अर्थ में 'इण्' है, अतः 'गा' नहीं हुआ।
प्रति इ इ—चुटू, हलन्त्यम्,
प्रति ऐ इ—वृद्धि,
प्रति आयि—आयादेश,
प्रत्यायि—यणादेश, धातुसंज्ञा, लकार,
प्रत्याययति—तिप्, शप्, गुण।

(581) सनि च *47* (2615)

सनि परत इणोऽबोधानार्थस्य गमिरादेशो भवति। जिगमिषति। जिगमिषतः। जिगमिषन्ति। अबोधन इत्येव-अर्थान् प्रतीषिषति। इण्वदिक इत्येव-अधिजिगमिषति। योगविभाग उत्तरार्थः, 'इङश्च' (1.4.48) इति सन्येव यथा स्यात्।

अर्थ—'ज्ञान' अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में वर्त्तमान 'इण्' धातु के स्थान पर 'गमि' आदेश होता है, आर्धधातुक 'सन्' परे रहते।

उदा० (1) जिगमिषति
इ सन् → गमि सन्—'गमि' हुआ, इकार की निवृत्ति,
गम् गम् सन् → गगम् स—द्वित्व, सन्यङोः, अभ्यासकार्य,
जगम् इ स—कुहोश्चुः, इट्, 'सन्यतः' से इकार,
जिगमिष—धातुसंज्ञा, लट्, तिप्,
जिगमिषति—शप्, अतो गुणे।

(2) जिगमिषतः
पूर्ववत् सभी कार्य।

(3) जिगमिषन्ति
झोऽन्तः। शेष पूर्ववत्।

अवबोधने अर्थात् ज्ञान अर्थ को छोड़कर शेष अर्थ में 'गम्' आदेश होता है—

(4) प्रतीषिषति अर्थान्
प्रति इ सन्—ज्ञान अर्थ में 'इ' है। अतः 'गा' नहीं हुआ,
प्रति इ स् इ।

इण्वद०—'इण्' धातु के समान 'इक्' होता है।

(5) अधिजिगमिषति
अधिपूर्वक 'इक्' से 'सन्' हुआ। पूर्ववत् सभी कार्य होकर रूप बनता है।

प्रस्तुत सूत्र का पृथक् पाठ उत्तर शास्त्र में अनुवृत्ति के लिए किया गया है। ताकि सन् में ही इङ् के स्थान पर 'गा' हो।

(582) इङश्च *48* (1616)

इङश्च सनि परतो गमिरादेशो भवति। अधिजिगांसते। अधिजिगांसेते। अधिजिगांसन्ते।

अर्थ—'इङ्' धातु के स्थान पर 'गमि' आदेश होता है, आर्धधातुक 'सन्' प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) अधिजिगांसते
अधि इङ् सन्—'गमि' आदेश, द्वित्व, सन्यङोः,
अधि गम् गम् स—अभ्यासकार्य, सन्यतः,
अधिजिगम् स—'अज्झनगमां—' से उपधावृद्धि,
अधिजिगाम् स—'नश्चाऽपदान्त०' से अनुस्वार,
अधिजिगांस त—पूर्ववत् सनः, त, शप्,
अधिजिगांसते—आतो गुणे, टित आत्मनेपदानां०।

(2) अधिजिगांसेते
'आताम्' में पूर्ववत् सभी कार्य हुए।

(3) अधिजिगांसन्ते
पूर्ववत् सभी कार्य।

(583) गाङ् लिटि *49* (2459)

गाङादेशो भवतीङो लिटि परतः। अधिजगे। अधिजगाते। अधिजगिरे। गाङोऽनुबन्धग्रहणं विशेषणार्थम्,

'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (1.2.1) इत्यत्रास्य ग्रहणं यथा स्यात्। न हि स्थानिवद्भावेन गाङिति रूपं लभ्यते।

अर्थ—(आर्धधातुक के विषय में) लिट् प्रत्यय परे रहते 'इङ्' के स्थान पर 'गाङ्' आदेश होता है। 'गाङ्' के ङकार की इत्संज्ञा होती है।

(1) अधिजगे
अधि इङ् → अधि गा लिट्—'गाङ्' आदेश, लिट्,
अधि गा त—'लिटस्तझयोरेश्०' से 'एश्',
अधि गा गा ए—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
अधि ज ग् ए—आतो लोप इटि च,
अधिजगे—रूप बना।

(2) अधिजगाते
'आताम्' में रूप बनता है।

(3) अधिजगिरे
पूर्ववत् सभी कार्य होकर रूप बना। 'लिटस्तझयोरेश्०' से 'इरेच्' हुआ।

गाङो—प्रश्न है कि 'इङ्' के स्थान पर होने वाला आदेश स्थानिवद्भाव से ङित् हुआ होता है। तब 'गाङ्' को ङित् करण व्यर्थ है।

समाधान यह है कि 'गाङ्' को ङित् करण का प्रयोजन है कि 'गाङ्कुटादिभ्यो०' में केवल इस 'गाङ्' (प्रकृत सूत्र के द्वारा आदिष्ट) का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं।

(584) विभाषा लुङ्लृङोः *50* (2460)

लुङि लृङि च परत इङो विभाषा गाङादेशो भवति। आदेशपक्षे 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (1.2.1) इति ङित्वं 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (6.4.66) इतीत्वम्। अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। न च भवति–अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत। लृङि खल्वपि–अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त। न च भवति–अध्यैष्यत, अध्यै-ष्येताम्, अध्यैष्यन्त।

अर्थ—'इङ्' के स्थान पर 'गाङ्' आदेश विकल्प से होता है, लुङ् व लृङ् प्रत्यय परे रहते।

आदेशपक्ष में 'गाङ्कुटादिभ्यो०' से ङित्व होता है तथा 'घुमास्थागापा०' के द्वारा ईत्व होता है।

उदा० (1) अध्यगीष्ट
गाङ् लुङ्—लुङ् की विवक्षा में वैकल्पिक 'गाङ्' हुआ,
गा त → गा स् त—लुङ्, त, च्लि, सिच्, अनुबन्धलोप,
गी स् त—'गाङ्कुटादिभ्य०' से 'सिच्' ङिद्वत् हुआ, हलादि आर्धधातुक परे रहते 'घुमास्थागापा०' से ईत्व,
गीष् त—'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व, अट्,
अध्यगीष्ट—इको यणचि।

(2) अध्यगीषाताम्
अ गा स् आताम्—पूर्ववत् सभी कार्य,
अध्यगीषाताम्—ईत्व, षत्व, यण्।

(3) अध्यगीषत
अ गा स् झ—पूर्ववत् सभी कार्य, आत्मनेपदेष्व०
अध्यगीषत—ईत्व, यण्।

(4) अध्यैष्ट
इ त—गाङ् अभाव पक्ष में 'आडजादीनाम्' से 'आट्', सिच्,
आ इ स् त—'ह्रस्वादङ्गात्' के असिद्ध होने से आर्धधातुक गुण,
आ ए स् त—'आटश्च' से वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व,
ऐष्ट—उपसर्गपूर्वक,
अध्यैष्ट—रूप बना।

(5) अध्यैषाताम्
पक्ष में 'गाङ्' आदेश नहीं हुआ। शेष कार्य 'अध्यैष्ट' के समान।

(6) अध्यैषत
'झ' में पूर्ववत्।

(7) अध्यगीष्यत
गा स्य त—वैकल्पिक 'गाङ्' हुआ, 'गाङ्कुटादिभ्य०' से 'स्य' ङिद्वत्, 'घुमास्था०' से ईत्व,
अधि अ गी ष्यत—अट्, षत्व,
अध्यगीष्यत—यणादेश।

(8) अध्यैष्यत
गाङ् अभाव पक्ष में आट्, धातु को आर्धधातुक गुण, 'आटश्च' से वृद्धि, षत्व हुआ।

(585) णौ च संश्चङोः *51* (2601)

इङो गाङ् विभाषेति वर्त्तते। णावितीङपेक्षया परसप्तमी, संश्चङोरिति च ण्यपेक्षया। णौ सन्परे चङ्परे च परत इङो विभाषा गाङादेशो भवति। अधिजिगापयिषति। न च भवति—अध्यापिपयिषति। चङि खल्वपि–अध्यजीगपत्, अध्यापिपत्।

अर्थ—इङः, गाङ्, विभाषा—इन पदों का अनुवर्त्तन है। 'णौ' में इङ् की अपेक्षा परसप्तमी है तथा 'संश्चङोः' में 'णि' की अपेक्षा परसप्तमी है।

सन् परे है जिसके अथवा चङ् परे है जिसके, ऐसे 'णि' के परे रहते 'इङ्' के स्थान पर 'गाङ्' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) अधिजिगापयिषति

अधि इङ् णिच्—'हेतुमति च' से 'णिच्' अनुबन्धलोप, धातुसंज्ञा,

अधि इ इ सन्—धातोः कर्मणः समानकर्तृका०, अब 'इङ्' से परे णिच् है, णिच् से परे सन् है, 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश विकल्प से हुआ,

अधि गा इ स—'अर्त्तिह्रीव्ली०' से 'पुक्', 'आर्धधातुकस्येड्०' से 'इट्',

अधि गा प् इ इट् स—अनुबन्धलोप, 'सन्यङोः' से द्वित्व,

अधि गाप् गाप् इ इ स—ह्रस्वः, कुहोश्चुः,

अधि ज गाप् इ इ स—'सन्यतः' से अकार को इकार, 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुक गुण,

अधि जिगापे इस—अयादेश, षत्व, धातुसंज्ञा, लट्, तिप्,

अधिजिगापयिष ति—शप्,

अधिजिगापयिषति—अतो गुणे।

(2) अध्यापिपयिषति

अधि इ णिच् सन्—'गाङ्' अभाव पक्ष में 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, अनुबन्धलोप,

अधि ऐ इ स—'क्रीङ्जीनां०' से आत्व,

अधि आ इ स—पूर्ववत् पुक्, इट्,

अधि आ प् इ इ स—आर्धधातुक गुण, अयादेश

अधि आपयिस—सन्यङोः, अजादेर्द्वितीयस्य, 'द्विर्वचनेऽचि' से रूपातिदेश,

अधि आ पि पय् इस—यणादेश, षत्व, धातुसंज्ञा,

अधि आ पिपयिष—तिप् शप्,

अध्यापिपयिषति—अतो गुणे, यणादेश।

(3) अध्यजीगपत्

अधि इङ् णिच् लुङ्—पूर्ववत् णिच्, धातुसंज्ञा, लुङ्,

अधि इ इ चङ् ल्—अनुबन्धलोप, च्लि, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः० से 'चङ्', अब धातु 'इङ्' से परे णिच् है, णिच् से परे 'चङ्' है, 'इङ्' को 'गाङ्' विकल्प से हुआ,

अधि गा इ अ ल्—पूर्ववत् पुक्, 'णेरनिटि' से णिच् का लुक्, 'णौ चङ्युपधाया०' से ह्रस्व,

अधि ग प् अ ल्—'चङि' से द्वित्व, अभ्यासकार्य,

अधि ज गप् अ ल्—लघु धात्वक्षर परे रहते अभ्यास को 'सन्वल्लघुनि०' से सन्वद्भाव, 'सन्यतः' से अभ्यास को इकार,

अधि जि गप ल्—दीर्घो लघोः, तिप्, अट्,

अधि अ जी गप ति—इको यणचि।

अध्यजीगपत्—इको यणचि।

(4) अध्यापिपत्

अधि इङ् णिच्—'गाङ्' अभाव पक्ष में, वृद्धि, आत्व, पुक्, धातुसंज्ञा,

अधि ऐ इ → अधि आ प् इ—लुङ् च्लि, चङ्,

अधि आपि चङ् त्—णिलोप, उपधाह्रस्व, द्वित्व,

अधि अप् अ त्—द्वितीय एकाच् सम्भव नहीं, अतः रूपातिदेश किया,

अधि अ पि प् अ त्—आडजादीनाम्, आटश्च,

अधि आ अपिपत् → अधि आ पिपत्—यणादेश,

अध्यापिपत्—रूप बना।

(586) अस्तेर्भूः *52* (2470)

अस्तेर्धातोर्भू इत्ययमादेशो भवति आर्धधातुके। भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। इह कस्मान्न भवति–ईहामास, ईहामासतुः, ईहामासुः ? 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (3.1.40) इति प्रत्याहारग्रहणेनास्तेर्ग्रहणसामर्थ्यात्। तथा चोच्यते–'अनुप्रयोगे तु भुवाऽस्त्यबाधनं स्मरन्ति कर्तुर्वचनान् मनीषिणः'–इति।

अर्थ—आर्धधातुक विषय में 'अस्' के स्थान पर 'भू' आदेश होता है। 'भू' अनेकाल् है। अतः सर्वादेश होता है।

उदा० (1) भविता

अस् लुट्—आर्धधातुक संज्ञा, 'भू' आदेश, तिप्,

भू तिप् → भू तास् ति—स्यतासी लृलुटोः,

भू तास् डा—लुटः प्रथमस्य डारौरसः,

भू इ तास् आ—आर्धधातुक इट्, आर्धधातुक गुण,

भो इ त् आ—टि का लोप,

भविता—अवादेश।

(2) भवितुम्

अस् तुमुन्—'धातोः' के अधिकार में 'तुमुन्' हुआ, आर्धधातुक संज्ञा, 'भू' आदेश,

भू तुम्—वलादिक इट्, प्रातिपदिक संज्ञा, अव्ययसंज्ञा, सु,
भवितुम्—सु का लुक्,
भवितुम्—रूप बना।

(3) भवितव्यम्
तव्यत्, पूर्ववत् सभी कार्य।

(4) ईहामास
ईह् आम् आस् अ—लिट् में आम्, लिट् का लुक्, अस् का अनुप्रयोग, णल्, प्रकृत सूत्र से 'भू' आदेश प्राप्त हुआ; परन्तु 'कृञ्चाऽनुप्रयुज्यते०' में 'कृञ्' प्रत्याहार का ग्रहण होने से यहाँ 'भू' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि 'अस्' यहाँ धातुमात्र न होकर 'कृञ्' प्रत्याहार का संज्ञी है।

(5) ईहामासतुः
पूर्ववत् 'भू' आदेश नहीं हुआ।

(6) ईहामासुः (पूर्ववत्)।

विशेष—'अस्तेः' के द्वारा 'अस्' धातु के साथ 'शितप्' का निर्देश है। इससे सूचित होता है कि यहाँ 'असु क्षेपणे' धातु का ग्रहण नहीं है, अन्यथा आचार्य 'अस्तेः' के स्थान पर 'अस्यतेः' का प्रयोग करते।

(587) ब्रुवो वचिः *53* (2453)

ब्रुवो वचिरादेशो भवति आर्धधातुकविषये। इकार उच्चारणार्थः। वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्। स्थानिवद्भावेन कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदं भवति–ऊचे, वक्ष्यते।

अर्थ—आर्धधातुक के विषय में 'ब्रू' धातु को 'वचि' आदेश होता है। इकार उच्चारणार्थ है। अनेकाल् होने से 'वचि' सर्वादेश होता है।

उदा० (1) वक्ता
वच्—'तृच्' की विवक्षा में 'वचि' आदेश हुआ,
वच् तृच्—चकार को कुत्व (ककार) हुआ,
वक् तृ सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
वक्ता—रूप बना।

(2) वक्तुम्
वच्—पूर्ववत्।
वच् तुमुन् → वक्तुम्।

(3) वक्तव्यम्
वच् तव्यत्—पूर्ववत्,
वक्तव्यम्—सु।

स्थानिवद्भाव के द्वारा क्रियाफल के कर्तृगामी होने से आत्मनेपद होता है। यथा—

(4) ऊचे
वच् त—लिट् स्थानिक 'त', 'एश्' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से किद्वत्, 'वचिस्वपियजादी०' से सम्प्रसारण,
उच् ए—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
उ उच् ए → ऊचे—सवर्णदीर्घ।

(5) वक्ष्यते
वच् स्य त—लृट् में 'स्य', कुत्व,
वक् ष्य त—षत्व,
वक्ष्यते—टित आत्मनेपदानां टेरे।

(588) चक्षिङः ख्याञ् *54* (2436)

चक्षिङः ख्याञादेशो भवत्यार्धधातुके। आख्याता। आख्यातुम्। आख्यातव्यम्। स्थानिवद्भावेन नित्यमात्मनेपदं न भवति, ञकारानुबन्धकरणसामर्थ्यात्। आख्यास्यति। आख्यास्यते। *क्शादिरप्ययमादेश इष्यते*। आक्शाता। आक्शातुम्। आक्शातव्यम्। *वर्जने प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। दुर्जनाः सञ्चक्ष्याः। वर्जनीया इत्यर्थः। *असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः* (वा० 10)। नृचक्षा रक्ष (अथ० 8.3.10)। हिंसार्थोऽत्र धातुः। अने खल्वपि–विचक्षणः पण्डितः। *बहुलं संज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम्* (वा०11)। अन्नवधकगात्रविचक्षणाजिराद्यर्थम्।

अर्थ—आर्धधातुक के विषय में 'चक्षिङ्' धातु के स्थान पर ख्याञ्' आदेश होता है।

उदा० (1) आख्याता
आ ख्या—तृच् की विवक्षा में 'चक्षिङ्' को 'ख्याञ्' हुआ,
आ ख्या तृ सु—तृच् हुआ, सु।
आख्याता—रूप बना।

(2) आख्यातुम्—'तुमुन्' में बनता है।

(3) आख्यातव्यम्—'तव्यत्' में बनता है।

स्थानि—स्थानी (चक्षिङ्) ङित् है। अतः आदेश (ख्याञ्) भी स्थानिवद्भाव होकर इससे नित्य आत्मनेपद (अनुदात्तङित आत्मनेपदम्) होना चाहिए, परन्तु 'ख्याञ्' आदेश के ञित् करने का फल यह है कि 'ख्याञ्' से दोनों पद होते हैं।

क्शादिरप्ययमादेश इष्यते—कुछ विद्वानों के अनुसार 'चक्षिङ्' को 'क्शा' आदेश भी होता है—

(4) आक्शाता (पूर्ववत्)।

(5) आक्शातुम् (पूर्ववत्)।

(6) आक्शातव्यम् (पूर्ववत्)।

वर्जने प्रतिषेधो वक्तव्यः—'वर्जन' अर्थ में 'ख्या' आदेश नहीं होता है—

(7) सञ्चक्ष्याः

सम् चक्षिङ् ण्यत्—'वर्जन' अर्थ में 'ख्या' आदेश नहीं हुआ,

सम् चक्ष् य—अनुबन्धलोप, चुटू, हलन्त्यम्,

सञ्चक्ष्य—अनुस्वार, अनुस्वारस्य ययि०,

सञ्चक्ष्याः—'जस्' हुआ।

असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः—'अस्' और 'अन्' प्रत्ययों में 'ख्या' आदेश नहीं होता है—

(8) नृचक्षाः

नृ चक्ष् असुन्—'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उणा०) से 'असुन्', 'नृन्' से समास, प्रातिपदिक संज्ञा,

नृ चक्षस् सु—'अत्वसन्तस्य—' से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादि लोप,

नृ चक्षास् → नृचक्षाः—रूप बना।

(9) विचक्षणः

वि चक्ष् ल्युट्—'ख्या' नहीं हुआ,

विचक्षणः—सु।

बहुलं सञ्ज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम्—सञ्ज्ञा तथा वेद में पूर्वोक्त आदेश (जग्धि, गाङ्, ख्या आदि) बहुलता से होते हैं। यह अन्न, वधक, गात्र, विचक्षण तथा अजिर आदि प्रयोगों के लिए कहा गया है—

(क) अन्नम्—अद् क्त—'अदो जग्धिः०' से प्राप्त 'जग्धि' नहीं हुआ। 'रदाभ्यां निष्ठातो०' से नत्व हुआ। सु हुआ।

(ख) वधकम्—हन् ण्वुल्—'हनो वध लिङि' (अर्थात् वध आदेश लिङ् में ही हो) से 'वध' प्राप्त नहीं हुआ। बाहुलकात् 'वध' हुआ। 'अतो लोपः' से अकारलोप, अकारलोप के स्थानिवद्भाव होने से 'अत उपधायाः' की प्रवृत्ति नहीं हुई।

(ग) गात्रम्—इण् ष्ट्रन्—'इणो गा लुङि' की प्राप्ति नहीं हुई, तदपि बाहुलकात् 'गा' आदेश हुआ।

(घ) विचक्षणः—'वि चक्ष्' से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से 'ल्युट्' अथवा 'अनुदात्तेतश्च०' से 'युच्' हुआ। 'चक्षिङः ख्याञ्' से 'ख्या' आदेश प्राप्त हुआ; परन्तु बाहुलकात् नहीं हुआ।

(ङ) अजिरम्—'अज् किरच्' यहाँ 'अजेर्व्यघञपोः' से 'वी' होना चाहिए। बाहुलकात् नहीं हुआ।

(589) वा लिटि *55* (2437)

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। लिटि परतश्चक्षिङः ख्याञादेशो वा भवति। आचख्यौ। आचख्यतुः। आचख्युः। न च भवति-आचचक्षे, आचचक्षाते, आचचक्षिरे।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य 'ख्या' आदेश प्राप्त होने पर यहाँ विकल्प कहा जा रहा है।

लिट् आर्धधातुक के परे रहते 'चक्षिङ्' धातु के स्थान पर विकल्प से 'ख्याञ्' आदेश होता है।

उदा० (1) आचख्यौ

आ चक्ष् लिट्—विकल्प से 'ख्या' हुआ,

आ ख्या णल्—आत औ णलः, द्वित्व,

आ ख ख्या औ → आ च ख्या औ—कुहोश्चुः,

आचख्यौ—रूप बना।

(2) आचचक्षे

आ चक्ष् त—'ख्या' अभाव पक्ष में, एश्, द्वित्व,

आ च चक्ष् ए—अभ्यासकार्य,

आचचक्षे—रूप बना।

(3) आचख्यतुः

आ ख्या अतुस्—पूर्ववत् ख्या, द्वित्व, अभ्यास कार्य,

आ च ख्या अतुस्—आतो लोप इटि च,

आचख्यतुः—विसर्ग।

(4) आचचक्षाते

आ चक्ष् आताम्—'ख्या' अभाव पक्ष में,

आचचक्षाते—द्वित्व आदि पूर्ववत्।

(5) आचख्युः

आ ख्या उस्—'ख्या' आदेश,

आ च ख्या उस्—द्वित्व,

आचख्युः—'आतो लोप इटि च'।

(6) आचचक्षिरे

आ चक्ष् झ—'ख्या' अभावपक्ष,

आ च चक्ष इरेच्—'इरेच्' आदेश, द्वित्व,

आचचक्षिरे—रूप बना।

(590) अजेर्व्यघञपोः *56* (2292)

अजेर्धातोर्वीत्ययमादेशो भवत्यार्धधातुके परतो घञपौ

वर्जयित्वा। प्रवायकः (3.1.133)। प्रवयणीयः (3.1.96)। अघञपोरिति किम्? समाजः, उदाजः (3.3.18)। अपि तु-समाजः, उदजः। 'समुदोरजः पशुषुः' (3.3.69) इत्यप्। दीर्घोच्चारणं किम्? प्रवीताः। *घञपोः प्रतिषेधे क्यप उपसंख्यानम्* (म० भा०)। समज्या (3.3.99)। *वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते*। प्रवेता। प्राजिता। प्रवेतुम्। प्राजितुम् (म० भा०)।

अर्थ—आर्धधातुक के विषय में 'अज्' धातु को विकल्प से 'वी' आदेश होता है, परन्तु 'घञ्' तथा 'अप्' प्रत्ययों में नहीं होता।

उदा० (1) प्रवायकः
प्र वी ण्वुल्—'ण्वुल्' की विवक्षा में 'वी' हुआ, 'ण्वुल्' आया, वृद्धि, प्रातिपदिकसंज्ञा,
प्रवै अक → प्रवायक—आयादेश,
प्रवायकः—सु।

(2) प्रवयणीयः
प्र वी अनीयर्—'वी' हुआ, गुण, अयादेश,
प्र वय् अनीय—णत्व, सु,
प्रवयणीयः—विसर्ग।

अघञपो० अर्थात् घञ् तथा अप् को छोड़कर 'वी' आदेश होता है—

(3) समाजः
सम् अज् घञ्—'वी' नहीं हुआ 'घञ्' में,
समाज—अत उपधायाः;
समाजः—सु।

(4) उदाजः—सु।
उद् अज् घञ्—पूर्ववत्।

(5) समजः
सम् अज् अप्—'अप्' में 'वी' नहीं हुआ, 'समुदोरजः पशुषु' से अप् हुआ,
समजः—सु।

(6) उदजः
उद् अज् अप्—पूर्ववत्।

दीर्घोच्चा—'वी' इस प्रकार दीर्घादेश करने का फल यह है कि 'प्र वी क्त' इस दशा में 'प्रवीताः' रूप प्राप्त हो सके। यदि ह्रस्व इकारवान् 'वी' आदेश करते तो यहाँ 'प्रवीताः' रूप प्राप्त नहीं होता।

घञपोः प्रतिषेधे क्यप उपसङ्ख्यानम्—क्यप् परे रहते भी 'अज्' का 'वी' आदेश नहीं होता है—

(7) समज्या
सम् अज् क्यप्—'वी' आदेश नहीं हुआ,
समज्या—टाप्, सु।

वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते—वलादि आर्धधातुक के विषय में 'वी' आदेश विकल्प से होता है—

(8) प्रवेता
प्र वी तृच्—'वी' पाक्षिक हुआ,
प्रवेतृ—गुण,
प्रवेता—सु।

(9) प्राजिता
पक्ष में 'वी' नहीं हुआ।

(10) प्रवेतुम्
तुमुन् में पाक्षिक 'वी' आदेश।

(11) प्राजितुम्
पक्ष में 'वी' नहीं हुआ।

विशेष—1. धातुपाठ में 'अज्' उदात्त है, जिसका प्रयोजन वलादि आर्धधातुक को 'इट्' का आगम करना है। अतः आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में 'अज्' वलादि आर्धधातुक में ही होगा, वलादिभिन्न में नहीं। भाव यह है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा उक्त विकल्प सार्वत्रिक नहीं है, अपितु विषयभेद से व्यवस्थित है। घञ् व अप् का पर्युदास निषेध है। अतः इन दो प्रत्ययों में निषेध होता है। ल्युट् और वलादि आर्धधातुक में विकल्प से होगा तथा शेष आर्धधातुक में नित्य होगा।[1] इसका सार इस प्रकार है—'अज्' धातु के स्थान पर 'वी' आदेश

1. वलादि आर्धधातुक में विकल्प से होता है,
2. घञ् व अप् में बिल्कुल नहीं होता है,
3. ल्युट् में विकल्प से होता है,
4. इट् के कारण वलादि आर्धधातुक के वलादि न रहने पर नित्य होता है। यथा—लिट् के व, म प्रत्ययों में।

विवाय—लिट् में नित्य 'वी' आदेश हुआ। द्वित्व आदि होकर रूप बना। वी वी अ। वि वी अ। वि वै अ। वि वाय् अ।

1. क्षी० तं०—उदात्तत्वं त्वार्धधातुके वलादौ 'वी' भावस्यानित्यत्वे लिङ्गम्।

विव्यतुः तथा विव्युः में नित्य 'वी' आदेश।

वी अतुस्। वी वी अतुस्। अतुस् कित्। आर्धधातुक गुण का निषेध। अचि श्नु० से इयङ् की प्राप्ति। एरनेकाचोऽसं०। यण्। विव्य् अतुस्।

इस दशा में 'व्' से परे हल् (य्) है। 'व्' की उपधा (इ) को 'उपधायां च' से दीर्घ की प्राप्ति। अचः परस्मिन्०। 'अच्' के आदेश (य्) स्थानिवद्भाव (अर्थात् ई) हुआ। अतः 'व्' के हल्परक न रहने से दीर्घ नहीं हुआ। विव्यतुः।

विवयिथ, विवेथ, आजिथ। 'थल्' में व्यवस्थित विभाषा के कारण प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक 'वी' आदेश। 'वी' आदेशपक्ष में—

वी वी थल्। वि वी थ। एकाच् व अनुदात्त होने से वलादि इट् का निषेध। एकाच उपदेशे०। अचस्ता० द्वारा निषेध। 'ऋतो भारद्वाजस्य' के द्वारा पाक्षिक इट्। वि वी इट् थ। आर्धधातुक गुण। विवयिथ।

इट् अभावपक्ष में—विवेथ।

'वी' आदेश अभावपक्ष में—

अज् थल्। वलादिक इट्। अ अज् इथ। अतः आदेः। आ अज् इथ। आजिथ।

2. प्रस्तुत सूत्र में अधिकृत 'आर्धधातुके' पद में विषयसप्तमी है। यदि परसप्तमी मानेंगे तो 'अज्' से 'यङ्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होगा। कारण कि, परसप्तमी मानने की दशा में 'यङ्' परे हुये विना 'वी' आदेश नहीं होगा तथा 'वी' आदेश के विना 'अज्' धातु के अजादि होने के कारण 'यङ्' नहीं हो सकेगा। अतः विषयसप्तमी मानना होगा। 'वी यङ् → वेवीयते।

(591) वा यौ *57* (3292)

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। यु इति ल्युटो ग्रहणम्। यौ परभूते अजेर्वा वी इत्ययमादेशो भवति। प्रवयणो दण्डः। प्राजनो दण्डः। प्रवयणमानय। प्राजनमानय।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य ('वी' आदेश) प्राप्त होने पर यहाँ विकल्प कहा जा रहा है। 'यु' के द्वारा 'ल्युट्' का ग्रहण किया गया है।

'यु' के परे रहते 'अज्' धातु के स्थान पर 'वी' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) प्रवयणः

प्र अज् ल्युट्—'वी' आदेश विकल्प से हुआ,

प्र वी अन—अनुबन्धलोप, हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते, युवोरनाकौ आदि लग कर,

प्रवयन—गुण, अयादेश

प्रवयणः—'कृत्यचः' से णत्व, सु।

(2) प्राजनः

प्र अज् ल्युट्—'वी' नहीं हुआ,

प्राजनः—सु।

विशेष—काशिकाकार[1] व भट्टोजिदीक्षित[2] प्रभृति विद्वान् 'वा यौ' के द्वारा विकल्पविधि मानकर सूत्रार्थ करते है; परन्तु महर्षि पतञ्जलि[3] 'वा' पद को प्रथमान्त (वाः) मानकर सूत्रार्थ करते हैं। महाभाष्य के अनुसार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(औणादिक) 'युच्' परे रहते 'अज्' धातु के स्थान पर 'वा' आदेश होता है। यथा—

(3) वायुः

अज् युच्—'यजिमनिशुन्धि' (उ०सू० 3.20) के द्वारा 'युच्' हुआ, 'वा' आदेश होकर—

वायुः—सु।

ध्यातव्य है कि 'युच्' प्रत्यय में 'यु' निरनुनासिक है। अतः इसे 'अन' आदेश ('युवोरनाकौ' से) नहीं होता है।[4]

(592) ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः *58* (1276)

ण्यादयो गोत्रप्रत्ययाः। ण्यान्तात् क्षत्रियगोत्राद् आर्षाद् ञितश्च परयोरणिञोर्यूनि लुग्भवति। ण्यान्तात्तावत्–'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (4.1.151), 'तस्माद्यूनि इञ्' (4.1.95)। तस्य लुक्। कौरव्यः पिता। कौरव्यः पुत्रः। ननु च कौरव्यशब्दस्तिकादिषु पठ्यते, ततः फिञा भवितव्यम्–कौरव्यायणिरिति? क्षत्रियगोत्रस्य तत्र ग्रहणं 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' (4.1.172) इत्यनेन विहितस्य। इदं तु ब्राह्मण-

1. काशि० 2.4.57
2. वै० सि० कौ० सूत्र—3292
3. महा 2.4.1 नेयं विभाषा। किं तर्हि? आदेशो विधीयते। वा इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः।
4. देखें—अष्टाध्यायी (चन्द्रलेखा हिन्दी टीका)—पं० ईश्वरचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली—सूत्र 7.1.1. की व्याख्या।

गोत्रम्। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (4.1.151) इति ण्यः। क्षत्रिय-'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (4.1.114) इत्यण्। तस्माद्यूनि इञ्। तस्य लुक्। श्वाफल्कः पिता। श्वाफल्कः पुत्रः। आर्ष-ऋष्यण् (4.1.111), तस्माद्यूनि इञ्, तस्य लुक्। वासिष्ठः पिता। वासिष्ठः पुत्रः। ञित्-'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' (4.1.104), तस्माद्यूनि इञ्, तस्य लुक्। बैदः पिताः। बैदः पुत्रः। अणः खल्वपि-'तिकादिभ्यः फिञ्' (4.1.154)। तस्माद्यूनि 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (4.1.83)। तस्य लुक्। तैकायनिः पिता। तैकायनिः पुत्रः। एतेभ्य इति किम्? 'शिवादिभ्योऽण्' (3.1.112)। तस्माद् यूनि 'अत इञ्' (4.1.95)। तस्य न लुग्भवति। कौहडः पिता। कौहडिः पुत्रः। यूनीति किम्? वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (4.1.151) इति ण्यः, तस्मात् 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (4.2.111) इति शैषिकोऽण्। तस्य लुग्न भवति। अणिञोरिति किम्? दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः। *अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसंख्यानम्* (म०भा०)। बौधिः पिता। बौधिः पुत्रः। जाबालिः पिता। जाबालिः पुत्रः। औदुम्बरिः पिता। औदुम्बरिः पुत्रः (म०भा०)। भाण्डीजङ्घिः पिता। भाण्डीजङ्घिः पुत्रः। साल्वावयवलक्षण इञ् (4.1.173)। तस्मात्फक् (4.1.101)। तस्य लुक्। पैलादिदर्शनात् सिद्धम्।

अर्थ—'णि' आदि गोत्रप्रत्यय हैं।

ण्यान्त गोत्रप्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची गोत्रप्रत्ययान्त, ऋषिवाची गोत्रप्रत्ययान्त तथा ञित् गोत्रप्रत्ययान्त—इन शब्दों से युवापत्य में प्राप्त 'अण्' व 'इञ्' प्रत्ययों का लुक् होता है।

उदा० (ण्यान्तात्)

(1) कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः

कुरोरपत्यम्—तस्याऽपत्यम्, 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से गोत्रापत्य में 'ण्य' हुआ,

कुरु ङस् ण्य—'अपत्यं पौत्रप्रभृति०' से गोत्रसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुपो धातु०, चुटू,

कुरु ण्य → कुरो य—यचि भम्, ओर्गुणः,

कौरो य—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि,

कौरव्यः—वान्तो यि प्रत्यये, सु।

यह गोत्रापत्य (अर्थात् पौत्र आदि) को कहता है। युवाऽपत्य की अपेक्षा से पिता हुआ। कौरव्यः पिता।

पूर्ववत् 'कौरव्य' से युवापत्य को कहने के लिए 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ। 'जीवति तु वंश्ये युवा।' प्रकृत सूत्र से 'इञ्' का लुक् हुआ। कौरव्यः पुत्रः।

ननु च—'कौरव्य' शब्द का तिकादिगण में पाठ है। अतः 'तिकादिभ्यः फिञ्' से 'फिञ्' होना चाहिए। यथा—कौरव्यायणिः।

इसका समाधान यह है कि तिकादिगण में क्षत्रिय गोत्र का ग्रहण है। वहाँ 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' से ण्य' होता है तथा यहाँ 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से 'ण्य' हुआ है।

(क्षत्रिय)

(2) श्वाफल्कः पिता, श्वाफल्कः पुत्रः

श्वफल्क अण्—'ऋष्यन्धकवृष्णि०' से 'अण्'—

श्वाफल्कः—आदिवृद्धि, सु

'श्वाफल्कः पिता' हुआ।

पूर्ववत् 'इञ्' हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय का लोप हुआ। 'श्वाफल्कः पुत्रः' हुआ।

(ऋषि)

(3) वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः

'अण्' हुआ, पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'वासिष्ठः पिता' हुआ।

पूर्ववत् 'इञ्' हुआ, लुक् हुआ। तब 'वासिष्ठ पुत्रः' हुआ।

(ञित्)

(4) बैदः पिता, बैदः पुत्रः

'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्यो०' से 'अञ्' होकर 'बैदः पिता' हुआ। तब पूर्ववत् इञ् व प्रत्यय का लुक् होकर 'बैदः पुत्रः' हुआ।

तिकादिभ्यः—'तिकादिभ्यः फिञ्' से 'फिञ्' होता है।

(5) तैकायनिः पुत्रः

तिक फिञ्—'तिकादिभ्यः फिञ्'—

तैकायनिः—सु।

इससे 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' हुआ, प्रकृत सूत्र से लुक् हुआ, तब 'तैकायनिः पुत्रः' बना।

एतेभ्यः अर्थात् **ण्यान्त गोत्र प्रत्ययान्त** आदि शब्दों से ही 'अण्' व 'इञ्' का लुक् होता है—

(6) कौहडः पिता, कौहडिः पुत्रः

'शिवादिभ्योऽण्' से 'अण्' होकर 'कौहडः पिता' हुआ। इससे पूर्ववत् 'इञ्' हुआ, परन्तु इसका लुक् नहीं होता है। तब 'कौहडिः पुत्रः' हुआ।

यूनीति० अर्थात् **युवाऽपत्य में** हुए प्रत्ययों का लुक् होता है—

(7) वामरथाः

वामरथ ण्य—'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से गोत्रापत्य में,

वामरथ्यः—सु।

वामरथ्यस्य छात्राः—'कण्वादिभ्यो०' से शैषिक अर्थ में 'अण्'—

वामरथ्य अण्—'अण्' का लुक् नहीं हुआ,

वामरथ् अ → वामरथाः—जस् होकर।

अणिञो० अर्थात् अण् व इञ् का लुक् होता है—

(8) दाक्षायणः

दक्ष इञ्—गोत्राऽपत्य में 'अत इञ्' से 'इञ्',

दाक्षि फक्—युवाऽपत्य में 'यञिञोश्च' से 'फक्'—

दाक्षायणः—'फक्' का लुक् नहीं हुआ।

अब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसङ्ख्यानम्—अब्राह्मण गोत्रमात्र से युव प्रत्यय का लुक् होता है—

(9) बौधिः पिता, बौधिः पुत्रः

यहाँ युवप्रत्यय का लुक् हुआ।

(10) जाबालिः पिता, जाबालि पुत्रः (पूर्ववत्)।

(11) औदुम्बरिः पिता, औदुम्बरिः पुत्रः (पूर्ववत्)।

(12) भाण्डीजङ्घिः पिता, भाण्डीजङ्घिः पुत्रः (पूर्ववत्)।

यहाँ साल्वावयव लक्षण 'इञ्' हुआ है। उससे 'फक्' होता है। पैलादि गण में दृष्टिगोचर होने से सिद्ध ही हैं।

(593) पैलादिभ्यश्च *59* (1084)

'पैल' इत्येवमादिभ्यो युवप्रत्ययस्य लुग्भवति। 'पीलाया वा' (4.1.118) इत्यण्। तस्मादणो द्व्यच (4.1.156) इति फिञ्। तस्य लुक्। पैलः पिता। पैलः पुत्रः। अन्ये पैलादय इञन्ताः, तेभ्यः 'इञः प्राचाम्' (1.4.60) इति लुकि सिद्धेऽप्रागर्थः पाठः। पैल। शालङ्कि। सात्यकि। सात्यकामि। दैवि। औदमज्जि। औदव्रजि। औदमेधि। औदबुद्धि। दैवस्थानि। पैङ्गलायनि। राणायनि। रौहक्षिति। भौलिङ्गि। औद्राहमानि। औज्जिहानि। 'तद्राजाच्चाणः' (ग०सू० 21)। आकृतिगणोऽयम्।

अर्थ—गोत्रवाची पैल आदि गणपठित शब्दों से युवाऽपत्य में विहित प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) पैलः पिता, पैलः पुत्रः

पीला अण्—गोत्राऽपत्य में 'पीलाया वा' से 'अण्'—

पैलः—युवाऽपत्य में 'अणो द्व्यचो०' से 'फिञ्',

पैल फिञ्—लुक् हुआ,

पैलः—पिता व पुत्र दोनों अर्थ।

पैलादि गण में पठित शेष शब्द इञ् प्रत्ययान्त है। 'इञः प्राचाम्' के द्वारा युवाऽपत्यार्थक प्रत्यय का लुक् हो जाता है। अतः प्राग्देशीय गोत्र से भिन्न का ग्रहण करने के लिए इन शब्दों का पाठ यहाँ किया गया है।

पैलादि गण आकृतिगण है।

(594) इञः प्राचाम् *60* (1085)

गोत्रे य इञ् तदन्ताद्युवप्रत्ययस्य लुग्भवति। गोत्रविशेषणं प्राग्ग्रहणं न विकल्पार्थम्। पान्नागारेरपत्यं युवा। 'यञिञोश्च' (4.1.101) इति फक्। तस्य लुक्। पान्नागारिः पिता। पान्नागारिः पुत्रः। मान्थरैषणिः पिता। मान्थरैषणिः पुत्रः। प्राचामिति किम्? दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः।

अर्थ—प्राग्देश वाले गोत्राऽपत्य में विहित 'इञ्' प्रत्यय है अन्त में जिसके, उस शब्द से युवाऽपत्यार्थक प्रत्यय का लुक् होता है। 'प्राचाम्' पद का ग्रहण विकल्प के लिए नहीं है।

उदा० (1) पान्नागारि पिता, पान्नागारिः पुत्रः

पन्नगारि इञ्—गोत्राऽपत्य में 'अत इञ्'—

पान्नागारिः—पिता अर्थ हुआ। अब युवाऽपत्य में 'यञिञोश्च' से 'फक्'—

पान्नागारि फक्—लुक् हो गया,

पान्नागारिः—पुत्र अर्थ हुआ।

(2) मान्थरैषणिः पिता, पुत्रः

यहाँ गोत्राऽपत्य में 'इञ्' प्रत्यय हुआ।

तब युवाऽपत्य में विहित 'फक्' प्रत्यय का लुक् होकर रूप बनता है।

प्राचाम्० अर्थात् प्राग्देशीय गोत्र में विहित प्रत्ययान्त शब्द से युवाऽपत्य प्रत्यय का लुक् होता है—

दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः

दक्ष इञ्—'अत इञ्',

दाक्षिः—पिता अर्थ हुआ,

दाक्षायणः—चूँकि 'दक्ष' पूर्व का नहीं है। अतः विहित 'फक्' का लुक् नहीं हुआ।

(595) न तौल्वलिभ्यः *61* (1086)

अनन्तरेण प्राप्तो लुक् प्रतिषिध्यते। तौल्वल्यादिभ्यः

परस्य युवप्रत्ययस्य न लुग्भवति। तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। तौल्वलि। धारणि। रावणि। पारणि। दैलीपि। दैवलि। दैवमित्रि। दैवयज्ञि। प्रावाहणि। मान्धातकि। आनुहारति। श्वाफल्कि। आनुमति। आहिंसि। आयुधि। नैमिषि। आसिबन्धकि। बैकि। पौष्करसादि। वैरकि। वैलकि। वैहति। वैकर्णि। कारेणुपालि। कामालि।

अर्थ—प्राप्त लुक् का निषेध किया जा रहा है।

गोत्रवाची तौल्वलि आदि शब्दों से विहित युवाऽपत्यार्थक प्रत्यय का लुक् नहीं होता है।

उदा० (1) तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनः पुत्रः

तौल्वलिः—गोत्राऽपत्य में 'इञ्' हुआ,

तौल्वलि फक्—युवाऽपत्य में 'यञिञोश्च' से 'फक्' हुआ, 'फक' का लुक् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ,

तौल्वलायनः—पुत्र अर्थ में।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(596) तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् *62* (1193)

'ते तद्राजाः' (4.1.172), 'ञ्यादयस्तद्राजा' (5.3.119) इति वक्ष्यति, तस्य तद्राजसंज्ञस्य प्रत्ययस्य बहुषु वर्त्तमानस्य अस्त्रीलिङ्गस्य लुग्भवति, तेनैव चेत्तद्राजेन कृतं बहुत्वं भवति। अङ्गाः। वङ्गाः। पुण्ड्राः। सुह्माः। मगधाः (4.1.171)। लोहध्वजाः। व्रीहिमन्तः (5.3.111)। तद्राजस्येति किम्? औपगवाः। बहुष्विति किम्? आङ्गः। तेनैवग्रहणं किम्? प्रियो वाङ्गो येषां त इमे प्रियवाङ्गाः (म०भा०)। अस्त्रियामिति किम्? आङ्ग्यः स्त्रियः (म०भा०)।

अर्थ—ते तद्राजाः, ञ्यादयस्तद्राजाः—इन सूत्रों का पाठ आगे किया जायेगा।

बहुत्व अर्थ में तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है, यदि वह बहुत्व उसी तद्राजसंज्ञक प्रत्यय के द्वारा किया गया हो, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में वह लुक् नहीं होता।

उदा० (1) अङ्गाः

अङ्गस्याऽपत्यानि बहूनि—'द्व्यञ्मगध०' से 'अण्'

अङ्ग अण्—'तद्राजाः' से 'अण्' की तद्राजसंज्ञा,

आङ्ग सु—आदिवृद्धि, सु,

आङ्गः—एकवचन का रूप।

आङ्गौ—द्विवचन का रूप।

अङ्गाः—'अण्' का लुक् होकर बहुवचन का रूप।

(2) वङ्गाः (पूर्ववत्)।

(3) पुण्ड्राः (पूर्ववत्)।

(4) मगधाः (पूर्ववत्)।

(5) लोहध्वजाः (पूर्ववत्)।

(6) व्रीहिमताः (पूर्ववत्)।

तद्राज० अर्थात् तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का ही लुक् होता है—

(7) औपगवाः

उपगोरपत्यम्—तस्याऽपत्यम् आदि लगकर,

औपगवः—एकवचन में बनता है।

औपगवाः—तद्राजसंज्ञक न होने से लुक् नहीं हुआ। बहुवचन में रूप बना।

बहुषु अर्थात् बहुत्व अर्थ में जो तद्राजसंज्ञक, उसका लुक् होता है—

(8) आङ्गः

अङ्गस्याऽपत्यम्—पूर्ववत्,

आङ्गः—यहाँ बहुवचन नहीं है। अतः प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

तेनैव अर्थात् उस तद्राजसंज्ञक के द्वारा ही बहुत्व किया गया हो तो प्रत्यय का लुक् होता है—

(9) प्रियबाङ्गाः

प्रियो बाङ्गो येषां त इमे—यहाँ बहुत्व तो है, परन्तु बहुव्रीहि समास है। अतः तद्राजसंज्ञक प्रत्यय के द्वारा बहुत्व नहीं होने के कारण लुक् नहीं हुआ।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता है—

(10) आङ्ग्यः

अङ्गस्याऽपत्यं स्त्री—पूर्ववत् 'अण्' आदि होकर,

आङ्गी—'टिड्ढाऽण्०' से 'ङीप्'—

आङ्ग्यः—बहुवचन में 'जस्' हुआ। स्त्रीलिङ्ग होने से लुक् नहीं हुआ।

(597) यस्कादिभ्यो गोत्रे *63* (1146)

बहुषु तेनैवास्त्रियामिति सर्वमनुवर्तते। यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य गोत्रप्रत्ययस्य बहुषु वर्त्तमानस्यास्त्रीलिङ्गस्य लुग्भवति, तेनैव चेद् गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं भवति। प्रत्ययविधेश्चान्यत्र लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणमित्यनन्त-

रापत्येऽपि लुग्भवत्येव–यस्काः, लभ्याः। बहुष्वित्येव–यास्कः। तेनैवेत्येव–प्रिययास्कः। अस्त्रियामित्येव–यास्क्यः स्त्रियः। गोत्र इति किम्? यास्काश्छात्राः। यस्क। लभ्य। दुह्य। अयःस्थूण। तृणकर्ण। एते पञ्च शिवादिषु पठ्यन्ते। ततः परेभ्यः षड्भ्य इञ्। सदामत्त। कम्बलभार। बहिर्योग। कर्णाटक। पिण्डीजङ्घ। बकसक्थ। ततः परेभ्यश्चतुर्भ्यो 'गृष्ट्यादिभ्यश्च' (4.1.136) इति ढञ्। बस्ति। कुद्रि। अजबस्ति। मित्रयु। ततः परभ्यो द्वादशभ्यः इञ्। रक्षोमुख। जङ्घारथ। मन्थक। उत्कास। कटुक। मन्थक। पुष्करसत्। विषपुट। उपरिमेखल। क्रोष्टुमान्। क्रोष्टुपाद। शीर्षमाय। पुष्करसच्छब्दाद् बाह्वादिपाठादिञ्। खरपशब्दो नडादिषु पठ्यते। ततः फक्। पदक। वर्मक। एताभ्याम् 'अत इञ्' (4.1.92)। भलन्दनशब्दात् 'शिवादिभ्योऽण्' (4.1.112)। भडिल। भण्डिल। भडित। भण्डित। एतेभ्यश्चतुर्भ्यः 'अश्वादिभ्यः फञ्' (4.1.110)।

अर्थ—'बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इस सम्पूर्ण सूत्रांश का अनुवर्तन होता है।

बहुत्व अर्थ में यस्कादि गणपठित शब्दों से विहित गोत्र प्रत्यय का लुक् होता है, स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता है, यदि वह बहुत्व उस गोत्र प्रत्यय से ही किया गया हो।

प्रत्ययविधि से अन्यत्र लौकिक गोत्र का ग्रहण होता है। अतः अनन्तराऽपत्य में भी लुक् विधि होती है।

उदा० (1) यस्काः
यस्क अण्—पूर्ववत् कार्य होकर—
यास्कः—एकवचन में रूप बना।
यस्काः—बहुत्व की विवक्षा में प्रत्यय का लुक् हुआ।

बहुषु अर्थात् बहुत्व में ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(2) यस्कः
यहाँ बहुत्व अर्थ नहीं है। अतः प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

तेनैव० अर्थात् उस प्रत्यय के द्वारा बहुत्व किया जाय तो ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(3) प्रिययास्काः
प्रियो यस्को येषाम्—यहाँ बहुत्व उस प्रत्यय के द्वारा नहीं है। अतः लुक् नहीं हुआ।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में प्रत्यय का लुक् नहीं होता है।

(4) यास्क्यः
यास्कः—'यस्क' से 'अण्' होकर बना—
यास्की—स्त्रीत्व में 'ङीप्' हुआ।
यास्क्यः—बहुत्व है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग होने से लुक् नहीं हुआ।

गोत्रे अर्थात् गोत्र अर्थ में विहित प्रत्यय का ही लुक् होता है—

(5) यास्काश्छात्राः
यस्कस्येमे छात्रा—इस अर्थ में 'तस्येदम्' से 'अण्' हुआ। यहाँ गोत्राऽपत्य न होने से लुक् नहीं हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

पुष्करसत् शब्द का बाह्वादि गण में पाठ है। अतः 'इञ्' होता है। खरप शब्द का नडादि गण में पाठ होने से 'नडादिभ्यः फक्' से 'फक्' होता है।

पदक तथा वर्मक से 'अत इञ्' से इञ् होता है। भलन्दन शब्द से 'शिवादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है। भडिल, भण्डिल, भडित, भण्डित—इन चार शब्दों से 'अश्वादिभ्यः फञ्' से 'फञ्' होता है।

(598) यञञोश्च *64* (1908)

बहुषु तेनैवास्त्रियां (2.4.62) गोत्र (2.4.63) इति चानुवर्तते। यञोऽञश्च गोत्रप्रत्ययस्य बहुषु वर्तमानस्यास्त्रीलिङ्गस्य लुग्भवति। 'गर्गादिभ्यो यञ्' (4.1.105)। गर्गाः। वत्साः। अञः खल्वपि–'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' (4.1.104)। विदाः। उर्वाः। बहुष्वित्येव–गार्ग्यः, बैदः। तेनैवेत्येव–प्रियागार्ग्याः, प्रियबैदाः। अस्त्रियामित्येव–गार्ग्यः स्त्रियः, बैद्यः स्त्रियः। गोत्र इत्येव–'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' (4.3.10)–द्वैप्याः। 'उत्सादिभ्योऽञ्' (4.1.86)–औत्साश्छात्राः। *यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसंख्यानम्* (म०भा०)। गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम्, गर्गकुलं वा। गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम्, गर्गकुलं वा। एवं बैदस्य कुलं बैदकुलम्, बिदकुलं वा। बैदयोः कुलं बैदकुलम्, बिदकुलं वा। यञादीनामिति किम्? आङ्गकुलम्। एकद्वयोरिति किम्? गर्गाणां कुलं गर्गकुलम्। तत्पुरुष इति किम्? गार्ग्यस्य समीपमुपगार्ग्यम्। षष्ठ्या इति किम्? परमगार्ग्यः (म०भा०)।

अर्थ—बहुषु, तेनैव, अस्त्रियाम् तथा गोत्रे—इन चार पदों का यहाँ अनुवर्तन है।

गोत्रार्थक यञन्त तथा अञन्त के अवयव 'यञ्' और 'अञ्' का लुक् होता है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता, यदि इन प्रत्ययों के द्वारा बहुत्व किया जाए।

उदा० (1) गर्गाः
गर्ग यञ्—'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्'—
गार्ग्यः—एकवचन में रूप बना।
गर्गाः—बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(2) वत्साः
वात्स्यः—'यञ्' होकर—
वत्साः—पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(3) बिदाः
बिद अञ्—'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' हुआ—
बैदः—एकवचन में रूप बना,
बिदाः—बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हो गया। प्रत्ययलक्षण के आश्रय से प्राप्त वृद्धि का 'न लुमताङ्गस्य' से निषेध हो जाता है।

(4) उर्वाः
इसी प्रकार 'अञ्' प्रत्यय का लुक् होकर 'उर्वाः' बनता है।

बहुषु अर्थात् बहुत्व में ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(5) गार्ग्यः
एकवचन में 'गार्ग्यः' बनता है। बहुत्व न होने से प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(5) बैदः
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

तेनैव अर्थात् उन विहित प्रत्ययों के द्वारा बहुवचन कहा जाय तो प्रत्यय का लुक् होता है—

(6) प्रियगार्ग्याः
प्रियो गार्ग्यो येषां ते—पूर्ववत् प्रत्यय का लुक नहीं हुआ।

(7) प्रियबैदाः (पूर्ववत्)।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में प्रत्यय का लुक् नहीं होता है—

(8) गार्ग्यः स्त्रियः
गार्गी—स्त्रीलिङ्ग में एकवचन में रूप,
गार्ग्यः—बहुत्व में स्त्रीलिङ्ग होने से प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(9) बैद्यः स्त्रियः (पूर्ववत्)।

गोत्रे० अर्थात् गोत्र अपत्य में ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(10) द्वैप्याः
द्वीप यञ्—'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' से रूप बना। चूँकि 'यञ्' गोत्रापत्य अर्थ में नहीं है। अतः बहुत्व में इसका लुक् नहीं हुआ।

(11) औत्साश्छात्राः
'उत्सादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' होकर रूप बनता है। प्रत्यय का लुक् पूर्ववत् नहीं होता है।

यञादीनामेकद्वयोर्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसङ्ख्यानम्—एकत्व या द्वित्व में षष्ठी के साथ तत्पुरुष समास में 'यञ्' आदि का लुक् विकल्प से होता है—

(12) गार्ग्यस्य कुलम्—गार्ग्यकुलम् यहाँ लुक् नहीं हुआ।
(13) गर्गकुलम्—यहाँ लुक् हुआ है।
इसी प्रकार 'गार्ग्ययोः कुलम्' यहाँ द्वित्व में पाक्षिक लुक् होकर रूप बनते हैं।

(14) बैदकुलम्
लुक् नहीं हुआ।

(15) बिदकुलम्
लुक् हुआ।
द्वित्व में विग्रह इस प्रकार होता है—बैदयोः कुलम्।

यञादीना० अर्थात् 'यञ्' व अञ् का ही लोप होता है—

(16) आङ्गकुलम्
यहाँ 'अण्' प्रत्यय है, जो न तो 'यञ्' है और न ही 'अञ्' है। अतः लुक् नहीं हुआ।

एकद्वयो० अर्थात् एकत्व या द्वित्व में तत्पुरुष होने पर प्रत्यय का लुक् होता है—

(17) गर्गकुलम्
गर्गाणां कुलम्—यहाँ पाक्षिक लुक् नहीं हुआ।

तत्पुरुषे अर्थात् तत्पुरुष में ही पूर्वोक्त लुक् होता है—

(18) गार्ग्यम्
गार्ग्यस्य समीपम्—लुक् नहीं हुआ। अव्ययीभाव समास है, तत्पुरुष नहीं।

षष्ठ्याः अर्थात् षष्ठी तत्पुरुष में ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(19) परमगार्ग्यः
यहाँ समानाधिकरण तत्पुरुष है; षष्ठी तत्पुरुष नहीं है। अतः लुक् नहीं हुआ।

(599) अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च *65* (1147)

अत्र्यादिभ्यः परस्य गोत्रप्रत्यस्य बहुषु लुग्भवति। अत्रिशब्दात् 'इतश्चानिञः' (4.1.122) इति ढक्। इतरेभ्यः ऋष्यण् (4.1.114)–अत्रयः, भृगवः, कुत्साः, वसिष्ठाः, गोतमाः, अङ्गिरसः। बहुष्वित्येव–आत्रेयः भार्गवः। तेनैवेत्येव–प्रियात्रेयाः, प्रियभार्गवाः। अस्त्रियामिति किम्? आत्रेय्यः स्त्रियः।

अर्थ—अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम तथा अङ्गिरस्—इन शब्दों से विहित गोत्राऽपत्य प्रत्यय का लुक् होता है, बहुत्व गम्यमान हो तो; परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता।

उदा० (1) अत्रयः
अत्रि ढक्—'इतश्चानिञः' से 'ढक्',
आत्रेयः—एकवचन में।
अत्रयः—बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हुआ।
आत्रेयौ, आत्रेयः में लुक् नहीं हुआ।

(2) कुत्साः
'ऋष्यन्धक०' से 'अण्'। कौत्सः।
पूर्ववत् लुक्।

(3) वसिष्ठाः—पूर्ववत् 'अण्' तथा उसका लुक्।
(4) गोतमाः 'वसिष्ठाः' की तरह।
(5) अङ्गिरसः—अण्। लुक्।

बहुषु अर्थात् बहुत्व गम्यमान हो तो प्रत्यय का लुक् होता है—

(6) आत्रेयः
अत्रि ढक्—एकवचन में
आत्रेयः—बहुत्व न होने से लुक् नहीं हुआ।

(7) भार्गवः (पूर्ववत्)।

तेनैव अर्थात् उन प्रत्ययों के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो तो प्रत्यय का लुक् होता है—

(8) प्रियात्रेयाः
प्रिय आत्रेयो येषां ते—यहाँ बहुत्व तो है; परन्तु वह गोत्रापत्य प्रत्यय के द्वारा नहीं किया गया है। अतः लुक् नहीं हुआ।

(9) प्रियभार्गवाः
पूर्ववत् लुक् नहीं हुआ।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में प्रत्यय का लुक् नहीं होता है—

(10) आत्रेय्यः
'आत्रेयः' से 'ङीप्' होकर 'आत्रेयी' बनता है। बहुत्व में प्रत्यय का लुक् न होकर रूप बनता है।

(600) बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु *66* (1148)

बह्वचः प्रातिपदिकाद् य इञ् विहितः प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च वर्तते तस्य बहुषु लुग्भवति। पन्नागाराः। मन्थरैषणाः (4.1.95)। भरतेषु खल्वपि–युधिष्ठिराः, अर्जुनाः (4.1.96)। बह्वच इति किम्? वैकयः, पौष्ययः। प्राच्यभरतेष्विति किम्? बालाकयः (4.1.96), हास्तिदासयः (4.1.95)। भरताः प्राच्या एव, तेषां पुनर्ग्रहणं ज्ञापनार्थम्–अन्यत्र प्राग्ग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति, तेन 'इञः प्राचाम्' (2.4.60) इति भरतानां युवप्रत्ययस्य लुग्न भवति–आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः (4.1.101) पुत्रः।

अर्थ—अनेक अच् वाले शब्द से प्राच्य गोत्र तथा भरत गोत्र में विहित 'इञ्' प्रत्यय का लुक् होता है, यदि उस प्रत्यय के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो।

उदा० (1) पन्नागाराः
पन्नागार इञ्—'अत इञ्' से गोत्रापत्य प्रत्यय हुआ,
पान्नागारिः—एकवचन में रूप हुआ,
पन्नागाराः—बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(2) मन्थरैषणाः—पूर्ववत् लुक्।

(3) युधिष्ठिराः
यहाँ भरतगोत्र में विहित प्रत्यय का लुक् हो गया है।

(4) अर्जुनाः

बह्वचः अर्थात् बह्वच् से विहित प्रत्यय का लुक् होता है—

(5) वैकयः
विकस्य गोत्राऽपत्यानि—'विक' बह्वच् नहीं है। अतः प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(6) पौष्ययः
पूर्ववत् बह्वच् न होने से प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

प्राच्य० अर्थात् प्राच्य गोत्र व भरत गोत्र में विहित प्रत्यय का लुक् होता है—

(7) बालाकयः

यहाँ न तो प्राच्य गोत्र है, न ही भरत गोत्र है। अत: प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(8) हस्तिदासय:
पूर्ववत् लुक् नहीं हुआ।

तेषाम्—पुन: 'भरत' के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अन्यत्र प्राच्यों के ग्रहण से भरतों का ग्रहण नहीं होता है। इस कारण 'इञ: प्राचाम्' सूत्र के द्वारा भरतों के युवप्रत्यय का लुक् नहीं होता। यथा—

(9) आर्जुनि: पिता आर्जुनायन: पुत्र:
अर्जुनस्य गोत्राऽपत्यम्—'अत इञ्' से 'इञ्',
आर्जुनि:—पिता अर्थ हुआ।
आर्जुने: युवाऽपत्यम्—'यञिञोश्च' से 'फक्',
आर्जुनायन:—रूप बना।

(601) न गोपवनादिभ्य: *67* (1149)

गोपवनादिभ्य: परस्य प्रत्ययस्य लुग्न भवति। विदाद्यन्तर्गणोऽयम्। ततोऽञो (4.1.104) गोत्रप्रत्ययस्य 'यञञोश्च' (2.4.64) इति लुक् प्राप्त: प्रतिषिध्यते। गौपवना:। शैग्रवा:। गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। अश्व। अवतान। श्यामाक। श्वापर्ण। एतावन्त एवाष्टौ गोपवनादय:। परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठ:। ते हि चतुर्थे बिदादिषु (4.1.104) पठ्यन्ते। तेभ्यश्च बहुषु लुग्भवत्येव-हरिता:, किंदासा इति।

अर्थ—गोपवनादि शब्दों से विहित गोत्राऽपत्य प्रत्यय का लुक् होता है, यदि उसी प्रत्यय के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो।

गोपवनादिगण विदादिगण का उपगण है। तब गोत्रप्रत्यय 'अञ्' का 'यञञोश्च' से जो लुक् प्राप्त होता है, उसका निषेध हो जाता है।

उदा० (1) गौपवना:
गोपवन अञ्—'अनृष्यानन्तर्ये०' से 'अञ्' हुआ,
गौपवना:—प्राप्त लुक् का निषेध हो गया।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

एतावन्त:—पूर्वोक्त आठ शब्द ही गोपवनादिगण में पठित हैं। शेष हरित आदि शब्दों का जो पाठ प्राप्त होता है, वह प्रामादिक है। ये चारो बिदादिगण में पठित हैं। अत: बहुत्व गम्यमान होने पर इनसे प्रत्यय का लुक् होता ही है।

(602) तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे *68* (1150)

तिकादिभ्य: कितवादिभ्यश्च द्वन्द्वे गोत्रप्रत्ययस्य बहुषु लुग्भवति। तैकायनयश्च कैतवायनयश्च–'तिकादिभ्य: फिञ्' (4.1.154), तस्य लुक्–तिककितवा:। वाङ्करयश्च भाण्डीरथयश्च–'अत इञ्' (4.1.95), तस्य लुक्–वङ्कर-भण्डीरथा:। औपकायनाश्च लामकायनाश्च–'नडादिभ्य: फक्' (4.1.99), तस्य लुक्–उपकलमका:। पाफकयश्च नारकयश्च–'अत इञ्', तस्य लुक्–पफकनरका:। वाकनखयश्च श्वागुदपरिणद्धयश्च–अत इञ्', तस्य लुक्–वकनख-श्वगुदपरिणद्धा:। उब्जशब्दादत इञ्, ककुभशब्दाच्छिवादिभ्योऽण् (4.1.112), तयोर्लुक्–औब्जयश्च काकुभाश्च उब्जककुभा:। लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च–'अत इञ्', तस्य लुक्–लङ्कशान्तमुखा:। उरसशब्दस्तिकादिषु पठ्यते, तत: फिञ्, लङ्कटशब्दादिञ्, तयोर्लुक्–औरसायनयश्च लाङ्कटयश्च उरसलङ्कटा:। भ्राष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च–'अत इञ्', तस्य लुक्–भ्रष्टककपिष्ठला:। कार्ष्णाजिनयश्च कार्ष्णसुन्दरयश्च–'अत इञ्', तस्य लुक्–कृष्णाजिनकृष्णसुन्दरा:। आग्निवेश्यश्च दासेरकयश्च–अग्निवेशशब्दाद् 'गर्गादिभ्यो यञ्' (4.1.105), दासेरकशब्दात् 'अत इञ्', तयोर्लुक्–अग्निवेशदासेरका:।

अर्थ—तिकादि गणपठित व कितवादि गणपठित शब्दों से द्वन्द्व समास की दशा में विहित गोत्रापत्य प्रत्यय का लुक् होता है, यदि उसी प्रत्यय के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो।

उदा० (1) तिककितवा:
तैकायनि:—'तिकादिभ्य: फिञ्' से 'फिञ्' होकर रूप बनता है।
कैतवायनि:—पूर्ववत् 'फिञ्',
तैकायनयश्च कैतवायनयश्च—चार्थे द्वन्द्व:,
तिककितवा:—बहुत्व में प्रत्यय लुक्।

(2) वङ्करभण्डीरथा:
वाङ्करि:—'अत इञ्'—
भाण्डीरथि—पूर्ववत्।
वाङ्करयश्च भाण्डीरथयश्च—पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(3) उपकलमका:
औपकायन:—नडादिभ्य: फक्
लामकायन:—पूर्ववत्।
प्रत्यय का लुक्।

(4) पफकनरकाः
पाफकिः—अत इञ्। नारकिः—पूर्ववत्।

(5) बकनखश्वगुदपरिणद्धाः
बाकनखिः—अत इञ्। श्वागुदपरिणद्धिः।
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(6) उब्जककुभाः
औब्जिः—'उब्ज' से 'इञ्' हुआ।
काकुभः—'शिवादिभ्योऽण्' से अण्।
औब्जयश्च काकुभाश्च—द्वन्द्व, प्रत्यय का लुक्।

(7) लङ्कशान्तमुखाः
लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च—'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ है।
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(8) उरसलङ्कटाः
औरसायनिः—तिकादिभ्यः फिञ्।
लाङ्कटिः—अत इञ्।
औरसायनयश्च लाङ्कटयश्च—चार्थे द्वन्द्वः।
प्रत्यय का लुक्।

(9) भ्राष्टककपिष्ठलाः
भ्राष्टकिः—'इञ्' होकर रूप बना।
कापिष्ठालिः—इञ्।
द्वन्द्व समास, प्रत्यय कां लुक्।

(10) कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः
कार्ष्णाजिनिः—'इञ्' हुआ।
कार्ष्णसुन्दरिः—इञ्।
द्वन्द्व हुआ, प्रत्यय का लुक्।

(11) अग्निवेशदासेरकाः
आग्नवेश्यः—गर्गादिभ्यो यञ्।
दासेरकिः—अत इञ्।
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(603) उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे *69* (1151)

'उपक' इत्येवमादिभ्यः परस्य गोत्रप्रत्ययस्य बहुषु लुग्भवति, अन्यतरस्यां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च। अद्वन्द्वग्रहणं द्वन्द्वाधिकारनिवृत्त्यर्थम् (म० भा०)। एतेषां च मध्ये त्रयो द्वन्द्वास्तिककितवादिषु पठ्यन्ते-उपकलमकाः, भ्रष्टककपिष्ठलाः, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः इति। तेषां पूर्वेण नित्यमेव लुग्भवति। अद्वन्द्वे त्वनेन विकल्पः-उपकाः, औपकायनाः। लमकाः, लामकायनाः। भ्रष्टकाः, भ्राष्टकयः। कपिष्ठलाः, कापिष्ठलयः। कृष्णाजिनाः, कार्ष्णाजिनयः। कृष्णसुन्दराः, कार्ष्णसुन्दरय इति। परिशिष्टानां च द्वन्द्वेऽद्वन्द्वे च विकल्प इति। पण्डारक। अण्डारक। गड्डुक। सुपर्यक। सुपिष्ठ। मयूरकर्ण। खारीजङ्घ। शलावल। पतञ्जल। कण्ठेरणि। कुषीतक। काशकृत्स्न। निदाघ। कलशीकण्ठ। दामकण्ठ। कृष्णपिङ्गल। कर्णक। पर्णक। जटिलक। वधिरक। जन्तुक। अनुलोम। अर्द्धपिङ्गलक। प्रतिलोम। प्रतान। अनभिहित।

अर्थ—उपकादि शब्दों से विहित गोत्राऽपत्यार्थक प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है, द्वन्द्व समास में तथा अद्वन्द्व में भी, यदि उस प्रत्यय के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो।

'अद्वन्द्व' पद के द्वारा 'द्वन्द्व' का प्रतिषेध नहीं किया गया है, अपितु पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'द्वन्द्वे' पद की निवृत्ति की गई है।

उपकादिगण तिककितवादिगण का उपगण है। इसमें निम्नलिखित तीन शब्दों का पाठ हैं—

उपकलमक, भ्रष्टककपिष्ठल और कृष्णाजिनकृष्णसुन्दर। इनके प्रत्यय का पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य लुक् प्राप्त होता है। अद्वन्द्व की दशा में यहाँ विकल्प कह दिया गया है।

उदा० (1) उपकाः
औपकायनः—'फक्' हुआ,
अद्वन्द्व में लुक् हुआ।

(2) औपकायनः
प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(3) लमकाः
अद्वन्द्व में 'फक्' प्रत्यय का लुक्।

(4) लामकायनः
लुक् अभाव।

(5) भ्रष्टकाः
भ्रष्टक इञ्—प्रत्यय का लुक् हुआ।

(6) भ्राष्टकयः
लुक् नहीं हुआ।

(7) कपिष्ठलाः
लुक् हुआ।

(8) कापिष्ठलयः
लुक् नहीं हुआ।

(9) कृष्णाजिनाः
प्रत्यय का लुक्।

(10) कार्ष्णाजिनयः
'इञ्' प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(11) कृष्णसुन्दरा
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(12) कार्ष्णसुन्दरयः
'इञ्' हुआ। लुक् नहीं हुआ।

शेष के द्वन्द्व और अद्वन्द्व दोनों दशाओं में विकल्प होता है। आगे उदाहरण मूल में देखें।

(604) आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् *70* (1152)

आगस्त्यकौण्डिन्ययोर्गोत्रप्रत्यययोरणो यञश्च बहुषु लुग्भवति, परिशिष्टस्य च प्रकृतिभागस्य यथासंख्यमगस्तिकुण्डिनच् इत्येतावादेशौ भवतः। अगस्तयः। कुण्डिनाः। चकारः स्वरार्थः। मध्योदात्तो हि कुण्डिनीशब्दस्तदादेशोऽपि तथा स्यात्। अगस्त्यशब्दादृष्यण् (4.1.114)। कुण्डिनीशब्दाद्गर्गादित्वाद्यञ् (4.1.105)। तयोः 'गोत्रेऽलुगचि' (4.1.89) इति लुकि प्रतिषिद्धे आगस्तीयाश्छात्रा इति वृद्धलक्षणश्छो (4.2.114) भवति। कौण्डिन्ये त्वणैव भवितव्यम्–'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (4.2.111) इति। तत्र विशेषो नास्ति–कौण्डिनाश्छात्राः।

अर्थ—आगस्त्य तथा कौण्डिन्य शब्दों से विहित गोत्रापत्यार्थक प्रत्यय का लुक् होता है, यदि उस प्रत्यय के द्वारा किया गया बहुत्व गम्यमान हो तथा परिशिष्ट प्रकृतिभाग (अगस्त्य व कुण्डिनी) को यथासंख्य करके 'अगस्ति' व 'कुण्डिनच्' आदेश होते हैं।

'कुण्डिनच्' में चकार स्वर के लिए है।

उदा० (1) अगस्तयः

अगस्त्यस्य गोत्राऽपत्यानि बहूनि—तस्यापत्यम् तथा ऋष्यन्धक० के द्वारा 'अण्',

आगस्त्य—'अण्' का लुक् तथा 'अगस्ति' आदेश,

अगस्ति जस्—बहुत्व में

अगस्तयः—गुण आदि।

आगस्त्यः—एकवचन में।

(2) कुण्डिनाः

कुण्डिनी यञ्—गर्गादिभ्यो यञ्—

कौण्डिन्यः—एकवचन में।

कुण्डिन जस्—बहुत्व में 'यञ्' का लुक् तथा प्रकृति को 'कुण्डिनच्' आदेश,

कुण्डिनाः—सवर्णदीर्घ।

तयो—मध्योदात्त 'कुण्डिनी' शब्द का 'कुण्डिनच्' आदेश भी उसी प्रकार अन्तोदात्त हो सके। कुण्डम् अस्ति अस्याः—इस अर्थ में 'इनि' प्रत्यय (अत इनिठनौ) करके स्त्रीत्व में ङीप् होता है। पित् होने से यह अनुदात्त है। तब गोत्रप्रत्यय का लुक् तथा 'कुण्डिनच्' आदेश होता है। 'ऋष्यन्धक' से गोत्र अर्थ में 'अगस्त्य' से 'अण्' होता है तथा 'गर्गादिभ्यो यञ्' से गोत्र अर्थ में 'कुण्डिनच्' शब्द से 'यञ्' होता है। इन दोनों शब्दों से 'तस्य छात्राः' अर्थ में 'छ' प्रत्यय की विवक्षा में 'गोत्रेऽलुगचि' से गोत्र प्रत्यय का लुक् का निषेध होता है। तब 'आगस्त्य' से वृद्धसंज्ञा होकर 'वृद्धाच्छः' से 'छ' होता है—आगस्तीयाः (जस् में)।

कौण्डिन्यस्य छात्राः—यहाँ 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' से 'अण्' ही होना चाहिए। अतः—'कौण्डिनाः छात्राः' बनता है।

(605) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः *71* (650)

सुपो विभक्तेर्धातुसंज्ञायाः प्रातिपदिकसंज्ञायाश्च लुग्भवति। 'तदन्तर्गतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (परि० 90)। धातोस्तावत्–पुत्रीयति, घटीयति (3.1.32)। प्रातिपदिकस्य–कष्टश्रितः, राजपुरुषः (1.2.46)। धातुप्रातिपदिकयोरिति किम्? वृक्षः, प्लक्षः (1.2.45)।

अर्थ—धातुसंज्ञक और प्रतिपादिकसंज्ञक शब्द के अवयवस्वरूप सुप् का लुक् होता है।

उदा० (1) पुत्रीयति

आत्मनः पुत्रम् इच्छति—"पुत्र' की प्रातिपदिक संज्ञा,

पुत्र अम् क्यच्—सुप आत्मनः क्यच्, सनाद्यन्ता धातवः प्रकृत सूत्र से 'अम्' का लुक्,

पुत्र क्यच्—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते,

पुत्र य—'क्यचि च' से ईत्व, धातोः, तिप्,

पुत्रीय अ ति—सार्वधातुक संज्ञा, कर्त्तरि शप्, अतो गुणे,

पुत्रीयति—रूप बना।

(2) घटीयति (पूर्ववत्)।

(3) कष्टश्रितः

कष्टं श्रितः—'द्वितीया श्रितातीत०' से समास, प्रातिपदिक-संज्ञा,

कष्ट अम् श्रित सु—सुप् लुक्, प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण रही,
कष्टश्रित—सु होकर
कष्टश्रितः—रूप बना।

(4) राजपुरुषः
राजन् ङस् पुरुष सु—पूर्ववत् सुप् लुक् तक सभी कार्य,
राजपुरुष—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य,
राजपुरुषः—सु।

धातु० अर्थात् धातुसंज्ञक व प्रातिपदिक संज्ञक के अवयव स्वरूप सुप् का लुक् होता है—

(5) वृक्षः
'वृक्षः' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा होता है। यह न तो धातु है; न ही प्रातिपदिक। अतः इसके अवयवस्वरूप सुप् 'सु' का लुक् नहीं होता है।

(6) प्लक्षः (पूर्ववत्)।

(606) अदिप्रभृतिभ्यः शपः *72* (2423)

अदिप्रभृतिभ्य उत्तरस्य शपो लुग्भवति। अत्ति। हन्ति। द्वेष्टि।

अर्थ—अदादि गण में पठित धातु से पर 'शप्' का लुक् होता है।

उदा० (1) अत्ति
अद् लट् → अद् तिप्—धातोः, वर्त्तमाने लट् आदि लगकर,
अद् शप् ति—तिङ्शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्,
अद् ति—शप् का लुक्, लुक्श्लुलुपः, न लुमताङ्गस्य,
अत्ति—खरि च।

(2) हन्ति
हन् शप् तिप्—पूर्ववत् लुक्,
हन्ति—रूप बना।

(3) द्वेष्टि
द्विष् शप् तिप्—पूर्ववत्,
द्विष् ति—लुक्, सार्वधातुकार्धधातु०,
द्वेष् ति—ष्टुना ष्टुः
द्वेष्टि—रूप बना।

(607) बहुलं छन्दसि *73* (3400)

छन्दसि विषये शपो बहुलं लुग्भवति। अदिप्रभृतिभ्य उक्तस्ततो न भवत्यपि। 'वृत्रं हनति', (ऋ० 8.89.3) अहिः शयते (ऋ० 1.32.5)। अन्येभ्यश्च भवति-त्राध्वं नो देवाः (ऋ० 2.29.6)।

अर्थ—वेद में शप् का लुक् बहुलता से होता है।

उदा० (1) (वृत्रं) हनति (वा० सं० 33.96)
हन् शप् तिप्—'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से 'शप्' का लुक् प्राप्त हुआ, बाहुलकात् नहीं हुआ,
हनति—रूप बना।

(2) (अहिः) शयते (ऋ० 1.32.5)
पूर्ववत् 'शप्' का लुक् नहीं हुआ।

(3) त्राध्वं नो देवाः (यजु० 33.51)
त्रै ध्वम्—यह धातु भ्वादिगणी है, 'शप्' हुआ, बाहुलकात् 'शप्' का लुक् हुआ।
त्रा ध्वम्—'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व,
त्राध्वम्—रूप बना।

'बहुलम्' व 'छन्दसि' पदों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया एक समीक्षात्मक अध्ययन—प. ईश्वरचन्द्र, परिमल प्रकाशन, शक्तिनगर, नई दिल्ली (भूमिका भाग)।

(608) यङोऽचि च *74* (2650)

यङो लुग्भवति अचि प्रत्यये परतः। चकारेण बहुलग्रहणमनुकृष्यते, न तु छन्दसीति, तेन छन्दसि भाषायां च यङो लुग्भवति। लोलुवः। पोपुवः। सनीस्रंसः। दनीध्वंसः (3.1.134)। बहुलग्रहणादनच्यपि भवति-शाकुनिको लालपीति, दुन्दुभिर्वावदीति (7.3.94)।

अर्थ—'अच्' प्रत्यय के परे रहते 'यङ्' का बहुलता से लुक् होता है। सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा 'बहुलम्' पद का अनुवर्त्तन होता है तथा 'छन्दसि' पद का नहीं। अतः वेद तथा लोक दोनों में 'यङ्' का लुक् होता है।

'अच्' एक प्रत्यय है। 'अज्विधिः सर्वधातुभ्यः' (वा०) के द्वारा कर्त्ता अर्थ में सभी धातुओं से होता है।

उदा० (1) लोलुवः
लू यङ् → लोलूय—धातुसंज्ञा,
लोलू अ—अच् हुआ, 'यङ्' का लुक् प्राप्त हुआ,
अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा यकारोत्तरवर्त्ती अकार का लुक् प्राप्त हुआ; परन्तु लुक् वचन से सम्पूर्ण 'यङ्' का लुक् हुआ,

लोलुव—आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, 'न धातुलोप आर्धधातुके' से निषेध, 'अचि श्नुधातु०' से उवङ्,

लोलुवः—सु।

विस्तृत प्रक्रिया के लिए (1.1.4) का उदाहरण भाग देखें।

(2) पोपुवः (पूर्ववत्)।

(3) सनीस्रंसः

स्रंस् यङ् → सनीस्रंस् य—धातुसंज्ञा, 'न लुमताङ्गस्य' के द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होने से 'अनिदितां हल उपधाया०' की प्रवृत्ति नहीं हुई, 'नीग् वञ्चुस्रंसु०' के द्वारा 'नीक्'—

सनीस्रंसः—अच्, लुक्, सु।

(4) दनीध्वंसः

ध्वंस् यङ् → दनीध्वंस्य—पूर्ववत् यङ् लुक्।

(5) लालपीति

लप् यङ् → लालप्य—'दीर्घोऽकितः' से उपधादीर्घ, धातुसंज्ञा, लकार, तिप्,

लालप् तिप्—अच् परे न होने पर भी बाहुलकात् 'यङ्' का लुक् हुआ,

लालपीति—'यङो वा' से ईट्।

(6) वावदीति—पूर्ववत् अच् के परे न रहते भी बाहुलकात् 'यङ्' का लुक् हुआ।

(609) जुहोत्यादिभ्यः श्लुः *75* (2489)

शबनुवर्तते, न यङ्। जुहोत्यादिभ्य उत्तरस्य शपः श्लुर्भवति। लुकि प्रकृते श्लुविधानं द्विर्वचनार्थम् (6.1.10)। जुहोति। बिभर्त्ति। नेनेक्ति।

अर्थ—'शप्' का अनुवर्तन है; 'यङ्' का नहीं। जुहोत्यादि गण के धातुओं से परे 'शप्' का 'श्लु' होता है।

पूर्व शास्त्र से 'लुक्' पद का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी द्वित्व कार्य के लिए श्लु का विधान किया गया है।

उदा० (1) जुहोति

हु तिप्—धातोः, वर्त्तमाने लट् आदि लगकर,

हु शप् तिप्—शप्,

हु ति—श्लु हुआ, 'श्लौ' के द्वारा द्वित्व,

हु हु ति → झु हु ति—कुहोश्चुः,

जु हु ति → जुहोति—अभ्यासे चर्च, गुण 'न लुमताङ्गस्य' के द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध।

(2) बिभेति

भी शप् तिप्—पूर्ववत्।

भी भी ति → भि भी ति → बिभीति → बिभेति → अभ्यासकार्य तथा गुण।

(3) नेनेक्ति

निज् शप् तिप् → निज् ति—श्लु,

निनिज् ति—द्वित्व, अभ्यासकार्य,

ने निज् ति—निजां त्रयाणां गुणः, श्लौ,

ने नेज् ति—पुगन्तलघूपधस्य

नेनेक्ति—चोः कुः। खरि च।

(610) बहुलं छन्दसि *76* (3401)

छन्दसि विषये बहुलं शपः श्लुर्भवति। यत्रोक्तं तत्र न भवति, अन्यत्रापि भवति। जुहोत्यादिभ्यस्तावन्न भवति-दाति प्रियाणि (ऋ० 4.8.3), धाति देवम् (ऋ० 7.90.3)। अन्येभ्यश्च भवति-पूर्णा विवष्टि (ऋ० 7.16.11), जनिमा विवक्ति (ऋ० 9.97.7)।

अर्थ—वेद में जुहोत्यादिगण के धातु से शप् का श्लुत्व बहुलता से होता है।

बहुलता का अभिप्राय यह है कि जहाँ विधान किया गया है, वहाँ नहीं होता तथा जहाँ विधान नहीं किया गया है, वहाँ भी हो जाता है। जुहोत्यादिगण में पठित धातु से भी यदा-कदा नहीं होता है।

उदा० (1) दाति

दा तिप् → दा शप् तिप्—श्लुत्व नहीं हुआ।

(2) धाति (पूर्ववत्)

(3) विवष्टि

वश् शप् तिप्—अदादिगणी धातु 'वश्' से पर 'शप्' का लुक् प्राप्त हुआ, बाहुलकात् श्लुत्व हुआ,

वश् वश् ति → व वश् ति—अभ्यास कार्य,

विवष्टि—ष्टुना ष्टुः।

(4) विवक्ति

वच् ति → विवक्ति—बाहुलकात् श्लुत्व हुआ।

(611) गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु *77* (2223)

लुगनुवर्त्तते, न श्लुः। गाति, स्था, घु, पा, भू-इत्येतेभ्यः परस्य सिचो लुग्भवति परस्मैपदेषु परतः। अगात्। अस्थात्। घु-अदात्, अधात्। अपात्। अभूत्।

***गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्* (म०भा०)। गायतेः पातेश्च न भवति–अगासीन्नटः (म०भा०), अपासीन्नृपः। परस्मैपदेष्विति किम्? अगासातां ग्रामौ देवदत्तेन।**

अर्थ—'लुक्' पद का अनुवर्त्तन है, 'श्लु' का नहीं। गा, स्था, घुसंज्ञक धातु, पा और भू—इन धातुओं से पर सिच् प्रत्यय का लुक् होता है, परस्मैपद प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) अगात्
इण् → गा लुङ्—इणो गा लुङि,
अ गा सिच् त्—तिप्, इतश्च, च्लि लुङि, च्लेः सिच्,
अगात्—सिच् का लोप।

(2) अस्थात्
स्था तिप्—लुङ्,
अस्थात्—शेष सभी कार्य पूर्ववत्।

(3) अदात्
दा तिप्—लुङ्, तिप्, दाधाघ्वदाप्,
अदात्—शेष सभी कार्य पूर्ववत्।

(4) अधात् (पूर्ववत्)।
(5) अपात् (सपूर्ववत्)।
(6) अभूत् (पूर्ववत्)।

गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्—

1. सूत्रस्थ 'गाति' शब्द में 'श्तिप्' के द्वारा धातु का निर्देश है। अतः गा स्तुतौ (जु० प०) तथा गाङ् गतौ (भ्वा० अ०) का ग्रहण होना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'गा' स्वरूप 'गै' तथा 'इण्' धातुओं का भी होता है। गै शब्दे (भ्वा० प०) को 'आदेच उपदेशे०' से आकार आदेश होता है। इण् गतौ (अदा० प०) के स्थान पर 'इणो गा लुङि' के द्वारा 'गा' आदेश होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के वचनप्रामाण्य से यहाँ 'इण्' का ग्रहण है। 'गै' धातु से पर 'सिच्' का लुक् नहीं होता है। यथा—अगासीत्।
अट् गै त् → अ गा त् → अगा सिच् त्।
अ गा स् त् → अगास् ईत् → अगासीत्।

2. 'पा' भी दो धातु हैं—
पा पाने (भ्वा० प०)।
पा रक्षणे (अदा० प०)।

भाष्यवचन के प्रामाण्य से यहाँ 'पा पाने' का ही ग्रहण होता है। 'पा रक्षणे' से पर सिच् का लुक् नहीं होता; यथा—अपासीत्।
अट् पा सिच् ई त् → अपासीत्।

परस्मैपदेषु० अर्थात् परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ही सिच् का लुक् होता है—

(3) अगासाताम्
इण् आताम्—कर्म में लुङ्, द्वि० का प्रत्यय,
अट् गा आताम्—अट्,
अ गा स् आताम्—सिच्, परस्मैपद प्रत्यय न होने के कारण सिच् का लुक् नहीं हुआ।
अगासाताम्।

(612) विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः *78* (2376)

घ्रा, धेट्, शा, छा, सा–इत्येतेभ्य उत्तरस्य सिचः परस्मैपदेषु विभाषा लुग्भवति। धेटः पूर्वेण प्राप्ते विभाषार्थं वचनम्। परिशिष्टानामप्राप्ते। अघ्रात्, अघ्रासीत्। अधात्, अधासीत्। अशात्, अशासीत्। अच्छात्, अच्छासीत्। असात्, असासीत्। परस्मैपदेष्वित्येव–अघ्रासातां सुमनसौ देवदत्तेन।

अर्थ—घ्रा, धेट्, शो, छो तथा षो—इन धातुओं से पर सिच् का लुक् विकल्प से होता है, परस्मैपद प्रत्यय परे रहते।

धेट् की 'दाधाघ्वदाप्' से घुसंज्ञा होती है। पूर्व सूत्र के द्वारा धेट् से पर सिच् का लुक् नित्य प्राप्त होता है। इस सूत्र के द्वारा विकल्प कह दिया गया है।

शेष धातुओं से पर सिच् का लुक् प्राप्त नहीं था। तब विकल्प कह दिया है। अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

उदा० (1) अघ्रात्
घ्रा लुङ्—लादेश, च्लि, सिच्, अट्,
अ घ्रा स् त्—वैकल्पिक सिच् लोप,
अघ्रात्—रूप बना।

(2) अघ्रासीत्
अ घ्रा स् ई त्—सिच् लुक् के अभावपक्ष में 'ईट्', 'यमरमनमातां०' से 'सक्', ईट्, इट्, सिच् का लोप,
अघ्रासीत्—'इट ईटि' से सिच् लुक्।

(3) अधात्
'अघ्रात्' की तरह।

(4) अघ्रासीत्
'अघ्रासीत्' की तरह।

(5) अशात्
शो तिप्—लुङ्, लादेश, आत्व, अट्,
अ शा त्—सिच्
अशात्—सिच् लुक्।

(6) अशासीत् (पूर्ववत्)।

(7) अच्छात्
'अशात्' की तरह, 'छे च' से 'तुक्' तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व।

(8) अच्छासीत्
'अशासीत्' की तरह।

(9) असात्
षो → सो—धात्वादेः षः सः।
शेष पूर्ववत्।

(10) असासीत्
'अशासीत्' की तरह।

परस्मै० अर्थात् **परस्मैपद** प्रत्यय परे रहते ही सिच् का लुक् होता है—

(11) अघ्रासाताम्
घ्रा आताम्—कर्म में लुङ्, आताम्, सिच्, अट्
अ घ्रा स् आताम्—परस्मैपद परे न होने से सिच् लुक् नहीं हुआ।
अघ्रासाताम्—रूप।

विशेष—काशिकाकार के द्वारा 'सुमनसौ' में द्विवचन का प्रयोग किया जाना ज्ञापित करता है कि 'अप्सुमनस् समासिकतानवर्षाणां बहुत्वं च' (लिङ्गा० 29) नियम प्रायिक है।

(613) तनादिभ्यस्तथासोः *79* (2547)

तनादिभ्य उत्तरस्य सिचस्तथासोः परतो विभाषा लुग्भवति। अतत। अतथाः। अतनिष्ट। अतनिष्ठाः। असात्। असाथाः। असनिष्ट। असनिष्ठाः। 'जनसनखनां सञ्झलोः' (6.4.42) इत्यात्वम्। थासा साहचर्यादात्मनेपदस्य तशब्दस्य ग्रहणम्, परस्मैपदे न भवति–अतनिष्ट यूयम् (म०भा०)।

अर्थ—'त' तथा 'थास्' प्रत्यय परे रहते तनादिगणी धातु से पर सिच् का विकल्प से लुक् होता है।

उदा० (1) अतत
तन् त—लुङ्, लादेश,
अट् तन् सिच् त—अट्, सिच्,
अ तन् त—सिच् का पाक्षिक लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' से 'त' ङिद्वत्, 'अनुदात्तोपदेश०' के द्वारा नकारलोप,
अतत—रूप।

(2) अतनिष्ट
अतन् स् त—लुक् अभाव पक्ष में, इट्,
अ तन् इ ष् त—आदेशप्रत्यययोः,
अतनिष्ट—ष्टुना ष्टुः।

(3) अतथाः
तन् थास्—लुङ्, लादेश,
अ तन् स् थास्—पाक्षिक सिच् लुक्, पूर्ववत् 'न्' का लोप,
अतथाः—विसर्ग।

(4) अतनिष्ठाः
अतन् स् थास्—लुक् अभाव पक्ष में,
अतन् इ स् थास्—लट्,
अतनिष्ठाः—पूर्ववत् षत्व, ष्टुत्व।

(5) असात
सन् त—'जनसनखनाम्' से आत्व,
अ सा स् त—सिच्,
असात—पाक्षिक लुक्।

(6) असनिष्ट
अ सन् इ स् त—लुक् अभाव पक्ष,
पूर्ववत्।

(7) असाथाः
अ सन् स् थास्—पूर्ववत्, आत्व,
असाथाः—सिच् लुक्।

(8) असनिष्ठाः
असन् इ स् थास्—लुक् अभाव पक्ष में इट्, षत्व, ष्टुत्व।

थासा—शङ्का होती है कि सूत्रस्थ 'त' के द्वारा आत्मनेपद प्रत्यय (प्र० पु० एकव०) का ग्रहण हो या परस्मैपद प्रत्यय (म० पु० बहुव० के 'थ' के स्थान पर आदेशभूत) का।

समाधान यह है कि 'तथासोः' इस प्रकार 'थास्' के साहचर्यवशात् 'त' के द्वारा आत्मनेपद प्रत्यय का ही ग्रहण होता है। परस्मैपद में सिच् का लुक् प्राप्त नहीं होता है। यथा—
अतनिष्ट यूयम्।

(614) मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमि-जनिभ्यो लेः *80* (3402)

मन्त्रविषये घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृच्, कृ, गमि, जनि–इत्येतेभ्य उत्तरस्य लेर्लुग्भवति। घस–अक्षन्नमीमदन्त पितरः (तै०सं० 1.8.5.3)। ह्वरेति 'ह्वृ कौटिल्ये' (धा०पा० 931)–माह्वर्मित्रस्य त्वा। नश–धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य (ऋ० 1.18.3)। वृ इति वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम्–सुरुचो वेन आवः (वा०सं० 13.3)। दह–मा न आधक् (ऋ० 6.61.14)। आदिति आकारान्तग्रहणम्, 'प्रा पूरणे' (धा०पा० 1061)–आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् (ऋ० 1.115.1)। वृच्–मा नो अस्मिन्महाधने परावर्क् भारभृद्यथा (ऋ० 8.75.12)। कृ–अक्रन् कर्म कर्मकृतः (तै०सं० 1.8.3.3)। गमि–सद्यः पुष्टिं निरुन्धानासो अग्मन् (ऋ० 1.132.7)। जनि–अज्ञत वा अस्य दन्ताः (ऐ०ब्रा० 7.14.2)। ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्। मन्त्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।

अर्थ—'लेः' के द्वारा 'च्लि' का ग्रहण होता है।

मन्त्र के विषय में घस्, ह्वृ, णश, वृ, दह, आकारान्त धातु, वृज्, कृ, गमि तथा जनि धातुओं से पर 'च्लि' का लुक् होता है।

उदा० (1) अक्षन्नमीमदन्त पितरः (ऋ० 1.82.2)
घस् झि—लुङ्, लादेश,
अ घस् स् अन्ति—अट्, झोऽन्तः, च्लि,
अघस् अन्त—लुक्, इतश्च,
अघ् स् अन्—उपधालोप, संयोगान्तलोप,
अक्षन्—कु क्, ष् हुआ।

(2) मा ह्वार् मित्रस्य (वा० सं० 1.9)
ह्वृ कौटिल्ये—पूर्ववत् अट्, च्लि लुक्,
अ ह्वृ त्—वृद्धि,
अह्वार्—संयोगान्तलोप,

(3) प्रणङ् मर्त्तस्य (ऋ० 1.18.3)
प्र णश् → प्र नश् च्लि ति—इतश्च, च्लि का लुक्,
प्र नश् त् → प्रनष् → प्रनक्—व्रश्चभ्रस्ज०, झलां जशोऽन्ते,
प्रणङ्—यरोऽनुनासिकेऽनु०।

(4) (सुरुचो वेन) आवः (वा० सं. 13.3)
'वृ' के द्वारा वृङ् व वृञ् दोनों का ग्रहण होता है।
आङ् वृ च्लि सिप्—च्लि का लुक्,
आ अट् वर् स्—गुण, इतश्च, अट्,
आवरः—हल्ङ्याब्भ्यः०, सवर्णदीर्घ।

(5) आधक् (ऋ० 6.61.14)
आङ् दह् च्लि सिप्—इतश्च, च्लि का लुक्,
आ दह् स्—हकार को घकार, दकार को धकार, एकाचो बशो भष्०, दादेर्धातोर्घः,
आधघ् स्—खरि च, हल्ङ्याब्भ्यो०,
आधक्—पूर्ववत्।

(6) आ प्रा द्यावापृथिवी (ऋ० 1.115.1)
आ प्रा च्लि तिप्—च्लि का लुक्,
आप्रा—पूर्ववत्।

(7) परावर्क (ऋ० 8.75.12)
परा वृज् च्लि तिप्—पूर्ववत् च्लि का लुक्, इतश्च, अपृक्त हल् का लुक्,
परावर्क्—चोः कुः।

(8) अक्रन् (मा० सं० 3.47)
अट् कृ च्लि झि—झोऽन्तः, इतश्च, च्लि का लुक्,
अ कृ अन्त्—संयोगान्तलोप,
अक्रन्—यणादेश।

(9) अग्मन् (ऋ० 1.121.7)
अट् गम् च्लि झि—पूर्ववत्,
अग्मन्—गमहनजन० से उपधालोप, पूर्ववत् सभी कार्य।

(10) अज्ञत (ऐ० ब्रा० 7.14.15)
अट् जन् च्लि झ—उपधालोप, आत्मनेपदेष्वनतः,
अ ज् न् अ त—स्तोः श्चुना श्चुः,
अज्ञत—पूर्ववत्।

मन्त्र—उपर्युक्त 'अज्ञत' प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस पर काशिकाकार कहते हैं कि यद्यपि 'मन्त्र' शब्द के द्वारा मन्त्रसंहिताओं का ही ग्रहण होता है, परन्तु प्रकृत सूत्रघटित रूपों की प्राप्ति ब्राह्मणग्रन्थों में भी होती है। श्री हरदत्तमिश्र लिखते हैं कि उक्त प्रयोग मन्त्रसंहिताओं में प्रचुरतः प्राप्त होते हैं। अतः सूत्र में 'मन्त्रे' पद का ग्रहण है।[1] इस विषय में पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लिखते हैं कि 'ब्राह्मण' और 'उपनिषदों' में प्राप्त विशिष्ट वचनों का भी 'मन्त्र' शब्द के द्वारा ग्रहण होता है।[2]

1. वै० सि० कौ० की वैदिकी प्रक्रिया (सुबो०) सूत्र
2. अष्टाध्यायी भाष्य (जिज्ञासु)—सूत्र 6.1.204. पृ० 86.

पूर्व शास्त्र से 'सिचः' पद का अनुवर्त्तन सम्भव होने पर भी प्रस्तुत सूत्र में 'लेः' पद का ग्रहण सिच् कार्य की निवृत्ति तथा उत्तर शास्त्र में अनुवर्त्तन के लिये है।[1]

(615) आमः *81* (2238)

आमः परस्य लेर्लुग् भवति। ईहांचक्रे। ऊहांचक्रे। ईक्षांचक्रे।

अर्थ—'आम्' से पर 'लि' का लुक् होता है।

यहाँ 'लि' के द्वारा सामर्थ्य व शात् 'लिट्' का ग्रहण होता है।

उदा० (1) ईहाञ्चक्रे

ईह् लिट्—'आम्' हुआ,

ईह् आम् लिट्—लिट् का लुक् हुआ,

ईहाम्—'कृदतिङ्' के द्वारा लिट् की कृत्संज्ञा हुई, प्रत्यय-लक्षण के द्वारा 'ईहाम्' कृदन्त हुआ, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति,

ईहाम् सु—न्यासकार के अनुसार 'आम्' का स्वरादि गण में पाठ होने से[2] इसकी अव्ययसंज्ञा[3] हुई, 'सु' का लुक् हुआ[4], परन्तु न्यासकार यहाँ भ्रान्त हैं,[5] पुनः 'आमः' के द्वारा 'सु' का लुक्, पदसंज्ञा, 'कृ' का अनुप्रयोग, लिट् लादेश,

ईहाम् कृ ए—पदसंज्ञा होने से मोऽनुस्वारः, वा पदान्तस्य आदि लगकर,

ईहाञ्चक्रे, ईहांचक्रे—दो रूप बनते हैं।

(2) ऊहाञ्चक्रे, ऊहांचक्रे—पूर्ववत् दो रूप बनते हैं।

(3) ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षांचक्रे पूर्ववत्।

विशेष—काशिकाकार, काशिका के टीकाकार (न्यासकार व पदमञ्जरीकार) तथा भट्टोजिदीक्षित सभी विद्वानों ने प्रकृत सूत्र में 'लेः' पद का अनुवर्त्तन किया है, परन्तु लघुकौमुदीकार श्री वरदराज

1. न्यास० 2.4.80 सिच् कार्यस्य निवृत्त्यर्थम् उत्तरार्थञ्च।
2. न्यास० 2.4.81 आमः स्वरादिपाठादव्ययत्वम्।
3. स्वरादिनिपातमव्ययम्—पा०
4. अव्ययादाप्सुपः—पा०
5. स्वरादिगण में 'अम्' के साहचर्यवशात् 'आम्' के द्वारा तद्धित प्रत्यय 'आम्' का ग्रहण होता है (द्र०—काशि० पद० 1.1.39.) कुछ विद्वान् 'ईहाम्' की 'कृन्मेजन्तः' से अव्ययसंज्ञा करके 'सु' का लुक् करते हैं। यह भी उचित नहीं है। 'ईहाम्' प्रत्ययलक्षण के द्वारा न तो मकारान्त है और न ही एजन्त है। अतः अव्ययसंज्ञा करना चिन्तनीय है।

ने यहाँ 'लेः' की अनुवृत्ति न मानकर 'आम्' से पर सामान्यतः सभी का लुक् किया है, जो कहीं अधिक सार्थक प्रतीत होता है।[1]

प्रकृत सूत्र में 'लेः' का अनुवर्त्तन करने पर 'ईहाम् सु' इस दशा में 'सु' का लुक् नहीं हो सकता। अव्ययसञ्ज्ञा न होने से 'अव्ययादाप्सुपः' की भी प्रवृत्ति नहीं होती है।

(616) अव्ययादाप्सुपः *82* (452)

अव्ययादुत्तरस्यापः सुपश्च लुग्भवति। तत्र शालायाम्। यत्र शालायाम्। सुपः खल्वपि–कृत्वा, हृत्वा।

अर्थ—अव्यय शब्द से पर 'आप्' तथा सुप् प्रत्ययों का लुक् होता है। आप् के द्वारा स्त्रीलिङ्ग प्रत्ययों (चाप्, डाप्, टाप्) का ग्रहण होता है।

(1) अत्र शालायाम्

'अत्र' विशेषण तथा 'शालायाम्' विशेष्य है। तब 'अत्र' से 'टाप्' हुआ। 'अत्र' की अव्ययसंज्ञा है। इससे 'टाप्' का लुक् हुआ।

(2) यत्र शालायाम्—पूर्ववत् 'टाप्' का लुक्।

(3) कृत्वा

कृ क्त्वा—लशक्वतद्धिते, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु,

कृत्वा सु—'क्त्वातोसुन्कसुनः' से अव्ययसंज्ञा,

कृत्वा—सु का लुक्।

(4) हृत्वा (पूर्ववत्)।

(617) नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः *83* (657)

पूर्वेण लुक् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। अदन्तादव्ययीभावादुत्तरस्य सुपो न लुग्भवति, अमादेशस्तु तस्य सुपो भवत्यपञ्चम्याः। एतस्मिन् प्रतिषिद्धे पञ्चम्याः श्रवणमेव भवति। उपकुम्भं तिष्ठति। उपकुम्भं पश्य। उपमणिकं तिष्ठति। उपमणिकं पश्य। अत इति किम्? अधिस्त्रि, अधिकुमारि। अपञ्चम्या इति किम्? उपकुम्भादानय।

अर्थ—पूर्व सूत्र से लुक् प्राप्त था। यहाँ निषेध किया जा रहा है। अदन्त अव्ययीभाव समास से पर सुप् का लुक् नहीं होता है, परन्तु पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर शेष सुप् विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

1. ल० सि० कौ०, सूत्र-471

सुप् के स्थान पर होने से स्थानिवद् भाव के कारण 'अम्' आदेश की विभक्ति संज्ञा होती है। तब 'हलन्त्यम्' के द्वारा 'म्' की इत्संज्ञा प्राप्त हुई, 'न विभक्तौ तुस्माः' के द्वारा इत्संज्ञा का निषेध हुआ। 'तु' पद का 'पञ्चमी' इस पद के साथ सम्बन्ध है। अतः पञ्चमी में न तो सुप् का लुक् होता है और न ही 'अम्' आदेश होता है। पञ्चमी यथावत् रहती है। सूत्र का सार इस प्रकार है—

(1) अदन्त अव्ययीभाव से पर सुप् का लुक् न हो,

(2) अदन्त अव्ययीभाव से पर सुप् के स्थान पर 'अम्' आदेश हो,

(3) अदन्त अव्ययीभाव से पर पञ्चमी का न तो लुक् होता है और न ही इसे 'अम्' आदेश होता है।

उदा० (1) उपकुम्भं तिष्ठति

कुम्भस्य समीपम्—'समीप' अर्थ में समास हुआ,

उपकुम्भ—प्रातिपदिकसंज्ञा, एकवचन में 'सु' हुआ, अव्यय-संज्ञा,

उपकुम्भ सु—'अव्ययादाप्सुपः' से सु का लुक् प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ, 'अम्' आदेश,

उपकुम्भम्—अमि पूर्वः।

(2) उपकुम्भं पश्य

पूर्ववत् समास होकर द्वितीया एकव० में 'अम्' हुआ, लुक् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ, 'अम्' आदेश हुआ, पूर्वरूप।

(3) उपमणिकं तिष्ठति

पूर्ववत् 'सु' को 'अम्' हुआ।

(4) उपमणिकं पश्य

पूर्ववत्—अम्।

अतः अर्थात् अदन्त अव्ययीभाव से ही 'अम्' होता है—

(5) अधिहरि

हरौ इति—विभक्ति अर्थ में समास हुआ,

अधिहरि सु—पूर्ववत् 'सु' हुआ, 'सु' का लुक् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ, चूँकि प्रातिपदिक अदन्त नहीं है; अतः निषेध नहीं हुआ, लुक् हुआ।

अधिहरि—'अम्' भी नहीं हुआ।

अपञ्चम्या अर्थात् अदन्त अव्यय से पर **पञ्चमी** विभक्ति के स्थान पर न तो 'अम्' आदेश होता है और न ही सुप् का लुक् होता है—

(6) उपकुम्भाद् आनय

उपकुम्भ ङसि—पूर्ववत् समास, पञ्चमी की विवक्षा में 'ङसि' हुआ,

उपकुम्भात्—लुक् प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से लुक् का निषेध, 'टाङसिङसामिनात्०' से 'आत्'।

(618) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् *84* (658)

पूर्वेण नित्यमम्भावे प्राप्ते वचनमिदम्। तृतीयासप्तम्यो-र्विभक्त्योर्बहुलमम्भावो भवति अव्ययीभावे। उपकुम्भेन कृतम्। उपकुम्भं कृतम्। उपकुम्भे निधेहि। उपकुम्भं निधेहि। *सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससंख्यावयवेभ्यो नित्यम-मिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। सुमद्रम्। सुमगधम्। उन्म-त्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। एकविंशति भारद्वाजम् (म० भा०)। बहुलवचनात् सिद्धम्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा 'अम्' भाव के नित्य प्राप्त होने पर यह विधान किया जा रहा है।

अदन्त अव्ययीभाव से पर तृतीया व सप्तमी विभक्तियों के स्थान पर 'अम्' आदेश बहुलता से होता है।

'बहुलम्' पद के द्वारा अनेकविध कार्य प्रवृत्त होता है।

उदा० (1) उपकुम्भेन कृतम्

उपकुम्भ टा—समास होकर 'टा' आया, 'अव्ययादाप्—' से लुक् प्राप्त हुआ, 'नाऽव्ययीभाव०' के द्वारा 'अम्' भाव प्राप्त हुआ,

उपकुम्भेन—प्रकृत सूत्र से 'अम्' नहीं हुआ।

(2) उपकुम्भं कृतम्

बाहुलकात् अम् भाव हो गया है।

(3) उपकुम्भे निधेहि

उपकुम्भ ङि—प्रत्यय का लुक् प्राप्त हुआ, निषेध होकर 'अम्' भाव प्राप्त हुआ, बाहुलकात् अम् नहीं हुआ,

उपकुम्भे—आद् गुणः।

(4) उपकुम्भं निधेहि

'ङि' को 'आम्' हुआ है।

यह प्रयोग काशिका में नहीं है।

सप्तम्या ऋद्धिनदीसमाससङ्ख्याऽवयवेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्—ऋद्धि, नदी समास तथा संख्या अव्यय से पर सप्तमी को नित्य 'अम्' होता है।

(5) सुमद्रम्
मद्राणां समृद्धिः—समास होकर,
सुमद्र ङि—नित्य 'अम्' हुआ,
सुमद्रम्—रूप बना।

(6) सुमगधम्
मगधानां समृद्धिः—समास,
सुमगध ङि—नित्य 'अम्' हुआ,
सुमगधम्—रूप बना।

(7) उन्मत्तगङ्गम्
उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् (पूर्ववत्)।

(8) एकविंशतिभारद्वाजम्
पूर्ववत् सप्तमी को नित्य 'अम्' भाव।

उपर्युक्त चारो प्रयोग बाहुलकात् सिद्ध हैं। अतः वार्त्तिक इसकी व्याख्या ही है।

नित्य अम्भाव होकर 'उन्मत्तगङ्गम्' बन गया। पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के अनुसार अदन्त अव्ययीभाव समास की दशा में सुप् विभक्तियों में रूप इस प्रकार रहेंगे—

विभक्ति	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्रथमा	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
द्वितीया	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
तृतीया	उपकृष्णम्, उपकृष्णेन	उपकृष्णम्, उपकृष्णाभ्याम्	उपकृष्णम् उपकृष्णैः
चतुर्थी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
पञ्चमी	उपकृष्णात्	उपकृष्णाभ्यम्	उपकृष्णेभ्यः
षष्ठी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम् उपकृष्णम्,	उपकृष्णम् उपकृष्णम्,
सप्तमी	उपकृष्णम्, उपकृष्णे	उपकृष्णयोः	उपकृष्णेषु
सम्बो०	हे उपकृष्ण	हे उपकृष्णम्	हे उपकृष्णम्

(619) लुटः प्रथमस्य डारौरसः *85* (2188)

लुडादेशस्य प्रथमपुरुषस्य परस्मैपदस्यात्मनेपदस्य च डा, रौ, रस्-इत्येते आदेशा भवन्ति यथासंख्यम्। कर्त्ता। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। आत्मनेपदस्य—अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः। प्रथमस्येति किम्? श्वः कर्त्तासि, श्वोऽध्येतासे।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥
समाप्तश्चाऽयं द्वितीयोऽध्यायः॥2॥

अर्थ—लुट् के प्रथम पुरुष में (तिप्, तस् तथा झि के स्थान पर) क्रमशः डा, रौ तथा रस् आदेश होते हैं।

उदा० (1) कर्त्ता
कृ लुट्—लुट्, लादेश, एकवचन में 'तिप्',
कृ तिप्—'स्यतासी ऌलुटोः' से 'तासि', 'आर्धधातुकं शेषः' से 'तासि' की आर्धधातुकसंज्ञा,
कृ तासि तिप्—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इडागम प्राप्त हुआ, इट् का निषेध, अनुबन्धलोप, 'डा',
कृतास् डा—'चुटू' से डकार की इत्संज्ञा, डित्करणसामर्थ्य से टि (आस्) का लोप,
कृत् आ—आर्धधातुक गुण, अचो रहाभ्यां द्वे,
कर्त्ता—रूप बना।

(2) कर्त्तारौ
कृ तस्—पूर्ववत् कार्य,
कृ तास् रौ—पूर्ववत्,
कृ ता रौ—'रि च' से 'स्' का लोप, गुण,
कर्त्तारौ—द्वित्व।

(3) कर्त्तारः
कृ झि—पूर्ववत्,
कृ तास् रस्—पूर्ववत्,
कर्त्तारः—'रि च' आदि लगकर।

(4) अध्येता
अधि इ त—आत्मनेपद में 'त' हुआ,
अधि इ तास् डा—तास्, 'त' को 'डा'—
अधि इ त् आ—गुण,
अध्येता—यणादेश।

(5) अध्येतारौ
अधि इ तास् आताम्—तास्,
अधि इ तास् रौ—पूर्ववत्,
अध्येतारौ—रि च।

(6) अध्येतारः
अधि इ झ—पूर्ववत्।

अधि इ तास् रस्—पूर्ववत्,
अध्येतारः—रि च।

प्रथम० अर्थात् प्रथम पुरुष में ही 'डा' आदि आदेश होते हैं—

(7) कर्त्तासि
कृ सिप्—लुट्, सिप्, 'सिप्' प्रथम पुरुष का नहीं है, अतः 'डा' आदि आदेश नहीं हुए,
कृ तास् सि—गुण, सकारलोप
कर्त्तासि—द्वित्व।

विशेष—1. सूत्रस्थ 'डा' में डकार अनुबन्ध के दो प्रयोजन हैं—प्रथम, अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है।

द्वितीय, टिलोप होता है। कारण कि सर्वादेश के लिए तो कोई दूसरा अनुबन्ध भी हो सकता था; लेकिन डित् करने का प्रयोजन टिलोप ही है।

2. परस्मैपद व आत्मनेपद के आधार पर प्रथम के छः प्रत्यय होते हैं और इनके स्थान पर आदेश तीन ही होते हैं। तब यथासंख्य भी नहीं होता है। इन छः प्रत्ययों में तीन-तीन प्रत्यय क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनसञ्ज्ञक हैं तथा डा, रौ, रस् भी क्रमशः एकार्थक, द्व्यर्थक व बह्वर्थक हैं। अतः अर्थकृत सादृश्य के आधार पर एकार्थक (तिप्। त) को एकार्थक 'डा' द्व्यर्थक (तस्। आताम्) को द्व्यर्थक 'रौ' तथा बह्वर्थक (झि। झ) को बह्वर्थक 'रस्' होता है।[1]

इसका दूसरा समाधान इस प्रकार है—
डा च रौ च रस् च डारौरसः (इतरेतरद्वन्द्वः)।
डारौरसश्च डारौरसश्च—डारौरसः (एकशेषः)।
एकशेष मान लेने पर आदेश भी छः हो जाते हैं। तब यथासंख्य हो जाता है।

1. महा० 2.4.85 स्थानेऽन्तरतमेन व्यवस्था भविष्यति। कुत आन्तर्यम् ? अर्थतः एकार्थस्यैकार्थो द्व्यर्थस्य द्व्यर्थो बह्वर्थस्य बह्वर्थः।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
द्वितीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।
समाप्तश्चाऽयं द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥



अथ
तृतीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(620) प्रत्ययः *1* (180)

अधिकारोऽयम्। प्रत्ययशब्दः संज्ञात्वेनाधिक्रियते। आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः प्रत्यय-संज्ञास्ते वेदितव्याः, प्रकृत्युपपदोपाधिविकारागमान् वर्ज-यित्वा। वक्ष्यति–'तव्यत्तव्यानीयरः' (6.1.96)। कर्त्त-व्यम्। करणीयम्। तैत्तिरीयम्। प्रत्ययप्रदेशाः–'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (1.1.62) इत्येवमादयः।

अर्थ—यह अधिकार है। संज्ञा के रूप में इसका अधिकार है। पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक यहाँ से आगे जो-जो हम कहेंगे उस-उस की 'प्रत्यय' संज्ञा जाननी चाहिए; प्रकृति, उपपद, उपाधि, विकार (अर्थात् आदेश) तथा आगम को छोड़कर।

आगे 'तव्यत्तव्यानीयरः' आदि सूत्रों का पाठ किया जायेगा।

उदा० (1) कर्त्तव्यम्

कृ तव्यत्—धातोः, तव्यत्तव्यानीयरः, प्रत्ययः, परश्च (अग्रिम सूत्र) लगकर,

कर्त्तव्य—आर्धधातुक संज्ञा, गुण, अचो रहाभ्यां द्वे,

कर्त्तव्यम्—प्रातिपदिक, नपुँसक प्रथमा एकवचन।

(2) करणीयम्

कृ अनीयर्—पूर्ववत्,

करणीय—'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व,

करणीयम्—सु।

(3) तैत्तिरीयम् (पूर्ववत्)।

(621) परश्च *2* (181)

अयमप्यधिकारो योगे उपतिष्ठते, परिभाषा वा। परश्च स भवति धातोर्वा प्रातिपदिकाद्वा यः प्रत्ययसंज्ञः। कर्तव्यम्। तैत्तिरीयम्। चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थः, तेनोणादिषु परत्वं न विकल्प्यते।

अर्थ—यह अधिकार प्रत्येक योग में होता है अथवा परिभाषा के रूप में अधिकार जानना चाहिए। जो प्रत्ययसंज्ञक शब्द है, वह धातु या प्रातिपदिक से परे होता है।

उदा० (1) कर्त्तव्यम् (पूर्ववत्)।

(2) तैत्तिरीयम्

यह अधिकार भी पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक चलता है। चकार पुनः इसी के समुच्चय के लिए है। अतः 'अण्' आदि के विषय में परत्व विधि नहीं होती।

(622) आद्युदात्तश्च *3* (3708)

अयमप्यधिकारः, परिभाषा वा। आद्युदात्तश्च स भवति यः प्रत्ययसंज्ञः। अनियतस्वरप्रत्ययप्रसङ्गेऽनेकाक्षु च प्रत्ययेषु देशस्यानियमे सति वचनमिदमादेरुदात्तार्थम्। क॒र्तव्यं॑म्। तै॒त्तिरीयं॑म्।

अर्थ—यह अधिकार है अथवा परिभाषा जानना चाहिए। जिस शब्द की प्रत्ययसंज्ञा होती है, वह आदि उदात्त होता है। जिस प्रत्यय का स्वर नियत नहीं है, उसके प्रसङ्ग में तथा अनेक अचों में प्रत्ययों के विषय में देश का अनियम होने पर आद्युदात्त किया जा रहा है।

उदा० (1) क॒र्तव्यम्

कृ तव्यत्—प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तव्यत्' आद्युदात्त हुआ। शेष अचों से 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' से अनुदात्त हुआ—

क॒र्तव्यं॑म्—'उदात्तादनुदात्तस्य०' से उदात्त से पर अनुदात्त को स्वरित हुआ।

(2) तै॒त्ति॒रीयं॑म् (पूर्ववत्)।

(623) अनुदात्तौ सुप्पितौ *4* (3709)

पूर्वस्यायमपवादः। सुपः पितश्च प्रत्यया अनुदात्ता भवन्ति। दृषदौ, दृषदः। पितः खल्वपि—पचंति, पठंति।

अर्थ—यह पूर्व नियम का अपवाद है। सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं।

उदा० (1) दृषदः

दृषद् जस्—चुटू, अनुदात्त हुआ,

दृषदः—पूर्ववत् स्वरित हुआ।

(2) दृषदः

पूर्ववत् 'ङस्' अनुदात्त हुआ।

(3) पचंति
पच् शप् तिप्—तिप्-शप् दोनों पित् हैं, अतः अनुदात्त,
पचंति—उदात्त से पर स्वरित।

(4) पठंति (पूर्ववत्)।

(624) गुप्तिज्किद्भ्यः सन् *5* (2393)

'गुप गोपने' (धा०पा० 971), 'तिज निशाने' (धा०पा० 972), 'कित निवासे' (धा०पा० 994) एतेभ्यो धातुभ्यः सन्प्रत्ययो भवति। प्रत्ययसंज्ञा चाधिकृतैव। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। *निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते, अन्यत्र यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति*। गोपायति। तेजयति। सङ्केतयति। गुपादिष्वनुबन्धकरणमात्मनेपदार्थम् (म०भा०)।

अर्थ—गुप गोपने (= छिपाना), तिज निशाने (= तीक्ष्ण करना) तथा कित निवासे (= निवास करना)—इन धातुओं से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। प्रत्ययसंज्ञा का अधिकार है।

उदा० (1) जुगुप्सते
गुप् सन्—'सन्यङोः' से द्वित्व, अभ्यासकार्य,
गुप् गुप् सन् — गुगुप् स—हलादिः शेषः, कुहोश्चुः,
जुगुप्स त—धातुसंज्ञा, वर्त्तमाने लट्, पूर्ववत् सनः,
जुगुप्स शप् त—शप्, अतो गुणे,
जुगुप्सते—टित आत्मनेपदानां टेरे।

(2) तितिक्षते
तिज् तिज् सन्—पूर्ववत्,
ति तिक् स—चोः कुः, खरि च, आदेशप्रत्यययोः,
तितिक्षते—धातुसंज्ञा, त, शप्।

(3) चिकित्सति
कि कित् सन्—द्वित्व, हलादिशेष,
चिकित्सति—कुहोश्चुः, तिप्, शप्।

निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते अन्यत्र यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति—गुप् आदि धातुओं से क्रमशः निन्दा, क्षमा व चिकित्सा करना—इन अर्थों में सन् होता है तथा अन्य धातुओं से यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं—

जुगुप्सते = निन्दा करता है,
तितिक्षते = क्षमा करता है,
चिकित्सति = व्याधि का प्रतीकार करता है।

(4) गोपायति
गुप् धातु का धातुपाठ में तीन स्थलों पर पाठ प्राप्त होता है—
गुप व्याकुलत्वे (दि०), गुप् रक्षणे (भ्वा०), गुप रक्षणे (भ्वा०)।

तिज निशाने (भ्वा)। कित् निवासे (भ्वा०)। अतः कित् के साहचर्य से सूत्रस्थ 'गुप्' व 'तिज्' के द्वारा भ्वादिगणी धातुओं का ग्रहण होता है। गुप् का भ्वादिगण में दो बार पाठ है। ऊदन्त गुपू धातु से 'आय' प्रत्यय का विधान होने से यहाँ उसका ग्रहण नहीं होता। द्र०—गुपूधूप०। अतः केवल गुप (जिसका अकार अनुदात्त व इत्सञ्ज्ञक है) का ग्रहण इष्ट है।

गुपू → गुप् आय—'गुपूधूपविच्छिपणि०' से आय,
गोपाय तिप्—गुण, धातुसंज्ञा, तिप्,
गोपायति—शप्।

(5) तेजयति
तिज् णिच्—हेतुमति च,
तेजि तिप्—गुण, धातुसंज्ञा, तिप्,
तेजयति—शप्।

(6) सङ्केतयति
सम् कित् णिच्—पूर्ववत्,
संकेतयति—अनुस्वार,
सङ्केतयति—परसवर्ण।

गुप् आदि धातुओं में अनुबन्ध आत्मनेपद के लिए किया गया है। इसका अकार अनुदात्त व इत्संज्ञक है।

विशेष—'सन्' के नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा की गई है। सकारोत्तरवर्त्ती अकार का अनुनासिक पाठ न होने से इस की इत्संज्ञा नहीं होती। इसे इत्संज्ञक न करने का फल निम्नलिखित स्थल पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है—

प्रति इ सन्—'सन्यङोः' से द्वित्व, अजादि होने से द्वितीय एकाच् को द्वित्व होना है, यदि अकार की इत् संज्ञा कर देते हैं तो 'प्रति इ स्' इस दशा में द्वितीय एकाच् न होने से द्वित्व नहीं हो सकेगा,[1]
प्र ति इ स स—इट्, सवर्णदीर्घ,
प्रती स इस—तिप्, शप्,
प्रतीषिषति—षत्व, षत्व।

(625) मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य *6* (2394)

'मान पूजायाम्' (धा०पा० 973), 'बध बन्धने' (धा०पा० 974), 'दान् अवखण्डने' (धा०पा० 995),

1. पद० 3.1.5

'शान् अवतेजने' (धा०पा० 996) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सन्प्रत्ययो भवति, अभ्यासस्य चेकारस्य दीर्घादेशो भवति। मीमांसते। बीभत्सते। दीदांसते। शीशांसते। उत्तरसूत्रे वाग्रहणं सर्वस्य शेषो विज्ञायते, तेन क्वचिन्न भवत्यपि- मानयति, बाधयति, दानयति, निशानयति। *अत्रापि सन्नर्थविशेष इष्यते*। मानेर्जिज्ञासायम्। बधेर्वैरूप्ये। दानेरार्जवे। शानेर्निशाने।

अर्थ—मान् बध, दान् तथा शान् धातुओं से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होता है तथा अभ्यास के विकार को दीर्घ होता है।

'सन्यतः' से अभ्यास के अकार को इकार किया जाना ही अभ्यासविकार है।

उदा० (1) मीमांसते
मान् सन्—सन्यङोः,
मि मान् स—द्वित्व, हलादिशेष, सन्यतः,
मी मान् स त—अभ्यासदीर्घ, धातुसंज्ञा, त,
मीमांसते—शप्, अनुस्वार।

'मीमांस' इस दशा में 'ह्रस्वः' से अभ्यास को पुनः ह्रस्वादेश की प्राप्ति हुई, परन्तु वचनसामर्थ्य से ह्रस्वादेश नहीं हुआ।

(2) बीभत्सते
बि बध् स—सन्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, सन्यतः,
बी भध् स—'एकाचो बशो०', 'खरि च', दीर्घ—
बीभत्सते—त, शप्।

(3) दीदांसते
दि दान् स—पूर्ववत्,
दीदांसते—अभ्यास को दीर्घ, अनुस्वार, त।

(4) शीशांसते
शि शान् स—पूर्ववत्,
शीशांसते—पूर्ववत्।

उत्तरसूत्रे—'धातोः कर्मणः०' में 'वा' ग्रहण का फल यह है कि मान् आदि से पूर्वोक्त अर्थों से अतिरिक्त अर्थों में सन् नहीं भी होता है—

(5) मानयति
मान् णिच्—धातुसंज्ञा, तिप्,
मानयति—शप्।

(6) बाधयति
बध् णिच्—अत उपधायाः,
बाधयति—पूर्ववत्।

(7) दानयति
दान् णिच्—पूर्ववत्।

(8) निशानयति
नि शान् णिच्—पूर्ववत्।

अत्रापि०—प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित सन् अर्थविशेष में ही होता है—

(क) मीमांसते	=	जिज्ञासा करता है,
(ख) बीभत्सते	=	चित्त विकृत होता है,
(ग) दीदांसते	=	अनुकूल होता है,
(घ) शीशांसते	=	तीक्ष्ण करता है।

विशेष—पतञ्जलि के अनुसार 'दीर्घश्चाभ्यासस्य' पद का पदच्छेद इस प्रकार होता है—'दीर्घः च आभ्यासस्य'।

अभ्यासस्य विकार आभ्यासः। 'सन्यतः' के द्वारा अभ्यास के अकार के स्थान पर इकार होता है। यह इकारादेश ही अभ्यास का विकार है। इसे ही दीर्घ किया जाता है। यदि 'दीर्घश्चाभ्यासस्य' का पदच्छेद 'दीर्घः च अभ्यासस्य' इस प्रकार करते हैं तो सूत्र का अर्थ होता है—अभ्यास को दीर्घादेश हो। इस दशा में 'सन्यतः' की प्रवृत्ति न होकर तथा दीर्घ होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है। यथा—

मान् सन् → मा मान् स → म मान् स → मामांसते।

(626) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा *7*(2608)

इषिकर्म यो धातुरिषिणैव समानकर्तृकस्तस्मादिच्छायामर्थे वा सन्प्रत्ययो भवति। कर्मत्वं समानकर्तृकत्वञ्च धातोरर्थद्वारकम्। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति। जिहीर्षति। धातुग्रहणं किम्? सोपसर्गादुत्पत्तिर्मा भूत्-प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत्। कर्मण इति किम्? करणान्मा भूत्- गमनेनेच्छति। समानकर्तृकादिति किम्? देवदत्तस्य भोजनमिच्छति यज्ञदत्तः। इच्छायामिति किम्? कर्तुं जानाति। वावचनाद्वाक्यमपि भवति। धातोरिति विधानादत्र सन आर्धधातुकसंज्ञा भवति, न पूर्वत्र। *आशङ्कायामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। आशङ्के पतिष्यति कूलम्। पिपतिषति नदीकूलम्। श्वा मुमूर्षति। *इच्छासन्नन्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। चिकीर्षितुमिच्छति। विशेषणं किम्? जुगुप्सिषते, मीमांसिषते।

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

(म॰भा॰)

अर्थ—'इष' धातु का कर्म बने हुए समानकर्तृक (अर्थात् समान कर्त्ता वाले) धातु से 'इच्छा' अर्थ में 'सन्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में वाक्य भी रहता है।

उदा॰ (1) चिकीर्षति

कर्त्तुम् इच्छति—इस अर्थ में 'सन्' हुआ, 'इष' धातु का कर्म है—'कर्त्तुम्'। 'कर्त्तुम्' में कृ धातु का तथा 'इच्छति' में इष धातु का एकसमान कर्त्ता है। अतः कृ धातु समानकर्तृक हुआ,

कृ सन्—अज्झनगमां सनि, द्वित्व, अभ्यास कार्य, इको झल्, क्क्ङति च,

कृ कृ स → कृ किर् स—ऋत इद्धातोः,

कर् कीर् स—हलि च, उरत्, हलादिः शेषः,

क कीर् स → कि कीर् स—सन्यतः,

चिकीर् स → चिकीर्ष—कुहोश्चुः, आदेशप्रत्यययोः, धातुसंज्ञा,

चिकीर्षति—तिप्, शप्।

(2) जिहीर्षति

हृ सन्—पूर्ववत् द्वित्व,

हृ हृ स → ह हिर् स → झ हृ स—उरत्, कुहोश्चुः,

जिहीर्षति—अभ्यासे चर्च, सन्यतः आदि।

धातु॰ अर्थात् धातु से ही सन् होता है—

(3) प्राचिकीर्षत्

प्रकर्त्तुम् ऐच्छत्—यहाँ 'सन्' प्रत्यय कृ धातु से होता है, उपसर्ग से नहीं होता।

कर्मणः अर्थात् इष् धातु का जो **कर्म**, उससे सन् होता है—

गमनेनेच्छति—यहाँ 'गमन' कर्म नहीं है, अपितु करण है। अतः सन् नहीं हुआ।

समान॰ अर्थात् 'इष्' धातु का जो कर्त्ता, उस क्रिया का भी **समान कर्त्ता** हो तो धातु से सन् होता है—

देवदत्तस्य भोजनमिच्छति यज्ञदत्तः—यहाँ इष् धातु का कर्त्ता 'यज्ञदत्त' तथा भोजनरूप क्रिया का कर्त्ता 'देवदत्त' है। समानकर्तृकता न होने से सन् नहीं हुआ।

इच्छायाम् अर्थात् **इच्छा अर्थ** में ही सन् होता है—

कर्त्तुं जानाति—यहाँ इच्छा अर्थ नहीं है। अतः सन् नहीं हुआ।

वा॰—'वा' के ग्रहण से पक्ष में वाक्य भी रहता है। धातु से विधान होने के कारण 'सन्' की आर्धधातुक संज्ञा होती है। पा॰ 3.1.5,6 के द्वारा विहित सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती है। अतः वहाँ इट् भी नहीं होता है।

आशङ्कायामुपसङ्ख्यानम्—आशङ्का अर्थ में भी सन् होता है—शङ्के पतिष्यति कूलम्—पिपतिषति कूलम्। यहाँ आशङ्का अर्थ है। अतः सन् हुआ है।

आशङ्के श्वा मरिष्यति-श्वा मुमूर्षति—पूर्ववत् सन् हुआ।

(4) पिपतिषति

पत् सन्→ प पत् इ स→ पिपतिषति।

(5) मुमूर्षति

मृ→ मृ सन्→ मुमूर्षति—अज्झनगमां सनि, उदोष्ठ्यपूर्वस्य, द्वित्व, अभ्यासकार्य, तिप्।

इच्छासन्नन्तात् प्रतिषेधो वक्तव्यः—इच्छा अर्थ में विहित सन् प्रत्यय, तदन्त से सन् नहीं होता है—

चिकीर्षितुम् इच्छति—यहाँ इच्छा अर्थ में सन् होकर 'चिकीर्षितुम्' बनता है। तब पुनः इच्छा अर्थ में सन् नहीं हुआ।

विशेषणम् अर्थात् **इच्छा** में विहित सन्, तदन्त से पुनः सन् नहीं होता है—

(6) जुगुप्सिषते

जुगुप्स—यहाँ सन् इच्छा अर्थ में नहीं होता है। अतः पुनः सन् होकर रूप बना,

जुगुप्स इ स त→ जुगुप्सिषते।

(7) मीमांसिषते (पूर्ववत्)।

शैषिकान्॰—कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

शैषिक प्रत्ययान्त शब्द से सरूप शैषिक तथा मतुबर्थीय प्रत्ययान्त शब्द से सरूप मतुबर्थीय प्रत्यय नहीं होता है। इसी प्रकार सन् प्रत्ययान्त धातु से सन् भी नहीं होता है।

विशेष—सन्नन्त प्रक्रिया के लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(क) सन् आर्धधातुक प्रत्यय है। सर्वप्रथम इट् का निर्णय करें।

(ख) धातुसंज्ञा करके तथा सम्पूर्ण धातु को द्वित्व करके अभ्यास कार्य करें।

(ग) अन्त में लकार की उत्पत्ति करके लकारसम्बन्धी कार्य करें।

(627) सुप आत्मनः क्यच् *8* (2657)

कर्मण, इच्छायां वेत्यनुवर्त्तते। इषिकर्मण एषितुरेवात्मसम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे वा क्यच्प्रत्ययो भवति। आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति। सुब्ग्रहणं किम्? वाक्यान्मा भूत्–महान्तं पुत्रमिच्छति (म०भा०)। आत्मन इति किम्? राज्ञः पुत्रमिच्छति। ककारो 'नः क्ये' (1.4.15) इति सामान्यग्रहणार्थः। चकारस्तदविघातार्थः। *क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। इदमिच्छति। उच्चैरिच्छति। नीचैरिच्छति। *छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। मा त्वा वृका अघायवो विदन् (वा०सं० 4.34)।

अर्थ—'कर्मणः' तथा 'इच्छायाम्' पदों का अनुवर्त्तन हो रहा है। इष् धातु का जो कर्म, उसके आत्मसम्बन्धी सुबन्त से पर क्यच् प्रत्यय इच्छा अर्थ में विकल्प से होता है। पक्ष में वाक्य रहता है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की तथा 'हलन्त्यम्' से चकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) पुत्रीयति

आत्मनः पुत्रम् इच्छति—इस अर्थ में 'क्यच्' हुआ,

पुत्र अम् क्यच्—धातु संज्ञा, सुपो धातुप्राति०

पुत्र य—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः', 'अकृत सार्वधातु०' से दीर्घ, 'क्यचि च'—

पुत्रीय—लकार, आत्मनेपद का निमित्त न रहने से 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद हुआ,

पुत्रीयति—शप्, अतो गुणे।

यहाँ 'इष्' धातु का कर्मभूत 'पुत्र' शब्द है। 'पुत्रम्' अभीष्ट वस्तु का वाचक सुबन्त है। इससे क्यच् हुआ।

सुब्० अर्थात् **सुबन्त से** क्यच् प्रत्यय होता है। इसका फल यह है कि वाक्य से क्यच् नहीं होता। यथा—

महान्तं पुत्रम् इच्छति—यहाँ नहीं हुआ।

आत्मनः अर्थात् **आत्मसम्बन्धी** जो सुबन्त, उससे क्यच् होता है—

यज्ञः पुत्रम् इच्छति—यहाँ आत्मसम्बन्धी इच्छा नहीं है। अतः क्यच् नहीं हुआ।

ककारः—'क्यच्' में 'क्' अनुबन्धसामान्य के ग्रहण के लिए हैं। सार यह है कि 'नः क्ये' के द्वारा 'क्यङ्' व 'क्यच्' दोनों का सामान्यतया ग्रहण हो जाता है।

चकारः 'क्यच्' में चकार अनुबन्ध उसके अविघात के लिए जोड़ा गया है। चकार जोड़ देने से 'क्यच्' प्रत्यय दो अनुबन्धों वाला हो जाता है। यदि 'च्' अनुबन्ध का योग नहीं करते तो 'क्य' यह एक अनुबन्ध वाला हो जायेगा। तब 'नः क्ये' के द्वारा केवल 'क्यच्' का ही ग्रहण हो पाता है; 'क्यङ्' का ग्रहण नहीं होता।[1]

'च्' अनुबन्ध का दूसरा प्रयोजन यह है कि 'क्यचि च' के द्वारा ईत्व का विधान हो जाता है।

कुछ विद्वानों के अनुसारा 'च्' अनुबन्ध स्वर के लिए जोड़ा गया है; परन्तु यह उचित नहीं है। कारण कि 'धातोः' पा० 6.1.156 से धातुसंज्ञक शब्द आद्युदात्त होता ही है। तब स्वर के लिए 'च्' अनुबन्ध का पाठ व्यर्थ है।

क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधो वक्तव्यः—मकारान्त और अव्यय शब्दों से 'क्यच्' प्रत्यय नहीं होता है—

इदम् इच्छति—इदम् मकारान्त सुबन्त है। क्यच् नहीं हुआ।

उच्चैर् इच्छति—उच्चैः एक अव्यय है। अतः क्यच् नहीं हुआ।

नीचैरिच्छति—क्यच् नहीं हुआ।

छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्—वेद के विषय में अन्य की इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है—

(2) मा त्वा वृका अघायवो विदन् (वा० सं० 4.34)

पाप की इच्छा दूसरों के लिए हुआ करती है। अतः वेद के विषय में 'अघ' से 'क्यच्' हुआ।

विशेष—क्यच् के ककार व चकार की इत् संज्ञा व लोप करके 'य' अजन्त रूप अवशिष्ट रहता है। सार्वधातुक प्रत्ययों में 'अतो लोपः' से अकारलोप होकर रूप बनते हैं। यथा—

(3) पुत्रीयति

पुत्रीय शप् तिप्—पूर्ववत् सभी कार्य होकर—

पुत्रीयति—पररूप।

(4) पुत्रीयिता

पुत्रीय डा—लुट्, डा,

पुत्रीय इट् तास् आ—तास्, इट्,

पुत्रीयिता—टि 'आस्' का लोप, अतो लोपः।

'क्यच्' को अजन्त करने का फल निम्नलिखित में दृष्टिगोचर होता है।

1. एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य (परि०)।

(5) मृद्याञ्चकार
आत्मनो मृदम् इच्छति स्म—'क्यच्' हुआ,
मृद् य लिट्—अनुबन्धलोप, धातुसंज्ञा, लिट्,
मृद् याम् कृ णल्—आम्, कृ का अनुप्रयोग, लिट्, णल्,
मृद्याञ्चकार—द्वित्व आदि होकर।

यदि 'क्यच्' के अकार की इत् संज्ञा करते हैं तो इस स्थल पर 'मृद्य्' यह एकाच् धातु निष्पन्न होता है। इसके अनेकाच् न होने से 'आम्' प्राप्त नहीं होता।

(628) काम्यच्च *9* (2663)

सुबन्तात्कर्मण आत्मेच्छायां काम्यच् प्रत्ययो भवति। आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति। वस्त्रकाम्यति। योगविभाग उत्तरत्र क्यचोऽनुवृत्त्यर्थः। ककारस्येत्संज्ञा प्रयोजनाभावान्न भवति (म० भा०), चकारादित्वाद्वा काम्यचः। उपयट्काम्यति (म० भा०)।

अर्थ—आत्मसम्बन्धी सुबन्त कर्म से इच्छा अर्थ में 'काम्यच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

इसके 'च्' की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) पुत्रकाम्यति
आत्मनः पुत्रम् इच्छति—'काम्यच्' हुआ,
पुत्रकाम्यच्—लकार, तिप्,
पुत्रकाम्यति—शप्।

(2) वस्त्रकाम्यति (पूर्ववत्)।

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के पृथक् पाठ का प्रयोजन 'क्यच्' पद का आगे सूत्रों में अनुवर्त्तन करना है। 'काम्यच्' के ककार की प्रयोजन के अभाव के कारण इत् संज्ञा नहीं होती है।

(3) उपयट् काम्यति
यदि 'काम्यच्' के ककार की इत् संज्ञा करते हैं तो 'काम्यच्' के कित् होने से यहाँ सम्प्रसारण होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है। अतः ककार की इत् संज्ञा नहीं होती है।

(629) उपमानादाचारे *10* (2664)

क्यजनुवर्त्तते, न काम्यच्। उपमानात् कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे वा क्यच्प्रत्ययो भवति। आचारक्रियायाः प्रत्ययार्थत्वात्तदपेक्षयैवोपमानस्य कर्मता। पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्। प्रावारीयति कम्बलम्। *अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। प्रासादीयति कुड्ये। पर्यङ्कीयति मञ्चके।

अर्थ—यहाँ 'क्यच्' का अनुवर्त्तन होता है, 'काम्यच्' का नहीं। उपमानवाची कर्मभूत सुबन्त से आचार अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

आचार क्रिया के द्वारा प्रत्यय का अर्थ होने से तदपेक्षया उपमान की कर्मता कही जाती है।

उदा० (1) पुत्रीयति छात्रम्
पुत्रम् इवाचरति छात्रम्—आचार अर्थ में 'क्यच्' हुआ,
पुत्रीयति—पूर्ववत्।

(2) प्रावारीयति कम्बलम्
प्रावार क्यच्—आचार अर्थ में,
प्रावारीयति—क्यच्।

अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्—अधिकरणवाची सुबन्त से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय विकल्प से होता है—

(4) प्रासादीयति कुड्ये
कुड्ये प्रासादे इवाचरति—'क्यच्' हुआ,
प्रासादीयति—पूर्ववत् ईत्व, तिप् आदि।

(5) पर्यङ्कीयति मञ्चके
मञ्चके पर्यङ्क इवाचरति—पूर्ववत्।

(630) कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च *11* (2665)

आचार इत्यनुवर्त्तते। उपमानात्कर्त्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे वा क्यङ् प्रत्ययो भवति, सकारस्य च लोपो भवति। अन्वाचयशिष्टः सलोपः, तदभावेऽपि क्यङ् भवत्येव। श्येन इवाचरति काकः श्येनायते। कुमुदं पुष्करायते। सलोपविधावपि वाग्रहणं सम्बध्यते, सा च व्यवस्थितविभाषा भवति। ओजायते। अप्सरायते (म० भा०)। पयायते। पयस्यते। *ओजसोऽप्सरसोर्नित्यं* (म० भा०) *पयसस्तु विभाषया* (जैनेन्द्र सू. 2.1.91)।

सलोपविधौ च कर्त्तुरिति स्थानषष्ठी (1.1.49) सम्पद्यते, तत्रालोऽन्त्यनियमे सति हंसायते (1.1.52), सारसायते इति सलोपो न भवति। *आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः* (म० भा०)। अवगल्भते, अवगल्भायते। क्लीबते, क्लीबायते। होडते, होडायते। *सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके* (म० भा०)। अश्व इवाचरति अश्वायते। गर्दभायते। अश्वति। गर्दभति।

अर्थ—'आचारे' पद का अनुवर्त्तन है। उपमानवाची कर्मभूत सुबन्त पद से आचरण अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है तथा सकारान्त शब्द के सकार का लोप विकल्प से होता है।

सकार का लोप अन्वाचयशिष्ट है। अत: इसके अभाव में भी 'क्यङ्' प्रत्यय होता ही है।

उदा० (1) श्येनायते
श्येन इवाचरति—'क्यङ्' हुआ, 'अकृतसार्वधातु०' से दीर्घ,
श्येनायते—धातुसंज्ञा, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद।

(2) पुष्करायते
पुष्कर क्यङ्—पूर्ववत्।

'वा' पद का सम्बन्ध सलोप विधि के साथ भी होता है। सलोप के विषय में व्यवस्थित विभाषा होती है। ओजस् तथा अप्सरस् शब्दों के सकार का नित्य लोप होता है, पयस् के सकार का विकल्प से लोप होता है।

(3) ओजायते
ओज इवाचरति—नित्य सलोप,
ओजायते—दीर्घ।

(4) अप्सरायते
अप्सरा इवाचरति—पूर्ववत् नित्य सलोप।

(5) पयायते
पयस् यङ्—वैकल्पिक सलोप,
पयायते—दीर्घ।

(6) पयस्यते
सलोप नहीं हुआ।

सलोपविधौ०—सूत्रस्थ 'कर्त्तुः' पद में पञ्चमी है। सलोप विधि में इसे षष्ठ्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है। स्थानषष्ठी होने से अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य सकार का ही लोप होता है; जो अन्त्य नहीं है, उस सकार का लोप नहीं होता है—

(7) हंसायते
यहाँ सलोप नहीं होता है।

(8) सारसायते
यहाँ भी अनन्त्य सकार का लोप नहीं हुआ।

आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः—आचार अर्थ में अवगल्भ, क्लीब तथा होड—इनसे 'क्विप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'क्विप्' का सर्वापहार लोप होता है। यथा—

(9) अवगल्भते
अवगल्भ इवाचरति—'क्विप्' हुआ,
अवगल्भ क्विप्—'हलन्त्यम्' से पकार की, 'लशक्वतद्धिते' से ककार की और 'उपदेशेऽजनुना०' से इकार की इत् संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप होता है,
अवगल्भ व्—'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से वकार की अपृक्त संज्ञा, 'वेरपृक्तस्य' से लोप,
अवगल्भते—लकार, त, शप्।

(10) अवगल्भायते
अवगल्भाय—पक्ष में क्विप् नहीं हुआ, क्यङ् हुआ,
अवगल्भायते—त, शप्।

(11) क्लीबते
क्विप् हुआ।

(12) क्लीबायते
पक्ष में क्यङ् हुआ।

(13) होडते*
क्विप् हुआ।

(14) होडायते*
क्विप् नहीं हुआ, क्यङ् हुआ।

सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके—कुछ आचार्यों के मत में उपमानवाची सभी प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् होता है।

क्विप् पाक्षिक होता है। तब पक्ष में क्यङ् भी होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि क्विप् प्रत्यय सुबन्त से नहीं होता, अपितु प्रातिपदिक से होता है। अत: 'सुपो धातुप्रातिपदिक०' से सुप् लुक् की आवश्यकता भी नहीं होती और पदकार्य भी नहीं होता है—

(15) अश्वति
अश्व इवाचरति—क्विप् हुआ।

(16) अश्वायते
पक्ष में क्यङ् हुआ।

(17) गर्दभति
क्विप् हुआ।

(18) गर्दभायते
पक्ष में क्यङ् हुआ।

(19) राजानति*
राजेवाऽऽचरति—क्विप् हुआ, पदकार्य (नकारलोप) नहीं हुआ,
राजन् शप् तिप्—तिप्, शप्,

* काशिकायां रूपमिदं न प्रदर्शितम्।

राजानति—रूप बना।

(20) त्वचति*
त्वगिवाऽऽचरति—क्विप् हुआ, पदकार्य (कुत्व) भी नहीं हुआ,
त्वच् अ ति—तिप्, शप्,
त्वचति—रूप बना।

(21) कृष्णाति* नटः
कृष्ण क्विप्—होकर रूप बनता है। चूँकि क्विप् प्रातिपदिक से होता है; अतः यहाँ कर्म सुबन्त से क्विप् मानना भूल है। तब 'कृष्णाति नटम्' के स्थान पर कृष्णति नटः' प्रयोग शुद्ध है।

(631) भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः*12*
(2667)

भृश इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽच्व्यन्तेभ्यो भुवि भवत्यर्थे क्यङ्प्रत्ययो भवति, हलन्तानां च लोपः। अच्वेरिति प्रत्येकमभिसम्बध्यते। किमर्थं पुनरिदमुच्यते, यावता भवतियोगे च्विर्विधीयते, तेनोक्तार्थत्वाच्च्व्यन्तेभ्यो न क्यङ् भविष्यति (म० भा०)? तत्सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थं तर्हि च्विप्रतिषेधः क्रियते। अभूततद्भावविषयेभ्यो भृशादिभ्यः क्यङ्प्रत्ययः। अभृशो भृशो भवति भृशायते। शीघ्रायते। भृश। शीघ्र। मन्द। चपल। पण्डित। उत्सुक। उन्मनस्। अभिमनस्। सुमनस्। दुर्मनस्। रहस्। रेहस्। शश्वत्। बृहत्। वेहत्। नृषत्। शुधि। अधर। ओजस्। वर्चस्। भृशादिः। अच्वेरिति किम्? भृशीभवति।

अर्थ—अच्व्यन्त भृश आदि शब्दों से 'भू' का अर्थ (= होना) विवक्षित हो तो विकल्प से 'क्यङ्' होता है और उन भृशादि शब्दों में जो हलन्त शब्द हैं, उनके हल् का लोप होता है।

'अच्वेः' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। अच्व्यन्त का अर्थ है—जो च्वि प्रत्ययान्त नहीं है। च्वि प्रत्यय अभूततद्भाव अर्थ में होता है। हल् लोप विधि में भी 'वा' पद का ग्रहण होता है और वह व्यवस्थित विभाषा कही गई है। अतः हल् का लोप अन्वाचयशिष्ट है अर्थात् कहीं नित्य है तो कहीं पाक्षिक है।

किमर्थं०—'अच्वेः' का पाठ किसलिए किया जा रहा है? जहाँ 'भवति' के योग में च्वि प्रत्यय का विधान किया जाता है, उसके द्वारा अर्थ के कहे जाने के कारण च्वि प्रत्ययान्त से क्यङ् नहीं होगा। उसके सादृश्य की प्रतिपत्ति के लिए निश्चय ही च्विप्रत्यय का प्रतिषेध किया जा रहा है। अभूततद्भाव विषय वाले भृशादि शब्दों से क्यङ् प्रत्यय होता है।

* काशिकायां रूपमिदं न प्रदर्शितम्।

उदा० (1) भृशायते
अभृशो भृशो भवति—अभूततद्भाव अर्थ है; परन्तु च्वि प्रत्यय का योग नहीं है, 'होना' अर्थ में 'क्यङ्' हुआ,
भृश क्यङ्—अनुबन्ध लोप, दीर्घ,
भृशायते—लकार, त।

(2) शीघ्रायते
अशीघ्रं शीघ्रं भवति—पूर्ववत् क्यङ्,
शीघ्रायते—पूर्ववत्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

अच्वेः अर्थात् अच्वि प्रत्ययान्त भृशादि शब्दों से 'क्यङ्' होता है—

(3) भृशीभवति
च्विप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'क्यङ्' नहीं होता है। 'कृभ्वस्ति०' से 'च्वि' हुआ है।

(632) लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्*13*
(2668)

लोहितादिभ्यो डाजन्तेभ्यश्च भवत्यर्थे क्यष् प्रत्ययो भवति। लोहितायति, लोहितायते। डाजन्तेभ्यः-पटपटायति, पटपटायते। लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृषादिष्वितराणि। यानि लोहितादिषु पठ्यन्ते तेभ्यः क्यङेव, अपरिपठितेभ्यस्तु क्यषेव भवति-वर्मायति। वर्मायते, निद्रायति, निद्रायते। करुणायति, करुणायते। कृपायति, कृपायते। आकृतिगणोऽयम्। तथा च ककारः सामान्यग्रहणाऽर्थोऽनुबध्यते-'नः क्ये' (1.4.15) इति। न हि पठितानां मध्ये नकारान्तः शब्दोऽस्ति। कृभ्वस्तिभिरिव क्यषापि योगे डाज् भवतीत्येतदेव वचनं ज्ञापकम्। अच्वेरित्यनुवृत्तेरभूततद्भावे क्यष् विज्ञायते। लोहित। नील। हरित। पीत। मद्र। फेन। मन्द। लोहितादिः।

अर्थ—जो च्वि प्रत्ययान्त नहीं हैं, ऐसे लोहित आदि शब्दों से तथा 'डाच्' प्रत्ययान्त शब्दों से 'क्यष्' प्रत्यय विकल्प से होता है, 'भू' धातु के अर्थ में।

'वा क्यषः' से परस्मैपद विकल्प से होता है तथा पक्ष में आत्मनेपद होता है।

उदा० (1) लोहितायति
अलोहितो लोहितो भवति—'क्यष्' हुआ,
लोहिताय—लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्, दीर्घ,
लोहितायति—'वा क्यषः' से परस्मैपद।

(2) लोहितायते
पक्ष में आत्मनेपद हुआ।

(3) पटपटायति
अपटपटा पटपटा भवति—इस अर्थ में 'डाच्' हुआ,
पटपटाय—क्यष् हुआ,
पटपटायति—तिप्।

(4) पटपटायते।
पक्ष में आत्मनेपद हुआ।

लोहित०—लोहित तथा डाच् प्रत्ययान्त से 'क्यष्' होता है। भृशादि में दूसरे जो लोहितादि में पढ़े गए हैं, उनसे 'क्यङ्' ही होता है। जो अन्य पढ़े गये हैं, उनसे 'क्यष्' ही होता है। यथा—

(5) वर्मायति
वर्म क्यष्—पूर्ववत्,
वर्म्मायति—तिप्।

(6) वर्म्मायते
पक्ष में आत्मनेपद हुआ।

(7) निद्रायति (पूर्ववत्)।
(8) निद्रायते (पूर्ववत्)।
(9) करुणायति
परस्मैपद।

(10) करुणायते
पक्ष में आत्मनेपद।

(11) कृपायति
परस्मैपद।

(12) कृपायते
पक्ष में आत्मनेपद।

यह एक आकृतिगण है। 'क्यष्' में ककार अनुबन्ध का फल यह है कि 'नः क्ये' के द्वारा सामान्यरूपेण सभी (क्यच्, क्यङ्, क्यष्) का ग्रहण हो सके। लोहितादि गण में नकारान्त शब्द का पाठ नहीं है। तब कृभ्वस्ति की तरह क्यष् के योग में डाच् होता है—ऐसा इससे ज्ञापित होता है। 'अच्वेः' ऐसा न कहने के कारण अभूततद्भाव में भी 'क्यष्' होता है।

(633) कष्टाय क्रमणे *14* (2670)

क्यङनुवर्त्तते, न क्यष्। कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात्क्रमणेऽर्थेऽनार्जवे क्यङ् प्रत्ययो भवति। कष्टाय कर्मणे क्रामति कष्टायते। अत्यल्पमिदमुच्यते। *सत्रकष्टकक्षकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। कण्वचिकीर्षा पापचिकीर्षा, तस्यामेतेभ्यः क्यङ् प्रत्ययो भवति। सत्रायते। कष्टायते। कक्षायते। कृच्छ्रायते। गहनायते। कण्वचिकीर्षायामिति किम्? अजः कष्टं क्रामति (म० भा०)।

अर्थ—'क्यङ्' का अनुवर्त्तन हो रहा है, 'क्यष्' का नहीं। 'कुटिलता' अर्थ गम्यमान रहते चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से परे क्यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है।

'कष्टाय' यहाँ चतुर्थी का निर्देश होने से चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से क्यङ् होता है। यहाँ 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' से चतुर्थी हुई है।

उदा० (1) कष्टायते
कष्टाय कर्मणे क्रामति—'क्यङ्' हुआ,
कष्ट ङे क्यङ्—सुप् लुक्, अनुबन्ध लोप,
कष्टायते—अकृतसार्वधातु०, त, शप्।

सत्रकष्टकक्षकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम्—पाप करने की इच्छा अर्थ में सत्र, कष्ट, कक्ष, कृच्छ्र तथा गहन—इन शब्दों से 'क्यङ्' होता है—

(2) सत्रायते
सत्र क्यङ्—पूर्ववत्।

(3) कष्टायते (पूर्ववत्)।
(4) कक्षायते (पूर्ववत्)।
(5) कृच्छ्रायते (पूर्ववत्)।
(6) गहनायते (पूर्ववत्)।

कण्वचिकी० अर्थात् पाप की इच्छा अर्थ में ही 'क्यङ्' होता है—

(7) अजः कष्टं क्रामति

यहाँ पाप की इच्छा अर्थ नहीं है। अतः क्यङ् नहीं हुआ।

(634) कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः *15* (2671)

रोमन्थशब्दात्तपःशब्दाच्च कर्मणो यथाक्रमं वर्तिचरोरर्थयोः क्यङ् प्रत्ययो भवति। रोमन्थं वर्त्तयति रोमन्थायते गौः। *हनुचलन इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–कीटो रोमन्थं वर्त्तयति। *तपसः परस्मैपदं च* (म० भा०)। तपश्चरति तपस्यति।

अर्थ—वर्त्ति (= आवृत्ति) तथा चरि (= आचरण) अर्थों में यथासंख्य करके रोमन्थ तथा तप कर्मों से क्यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) रोमन्थायते
रोमन्थं वर्त्तयति—'क्यङ्' हुआ,
रोमन्थ क्यङ्—अकृत्सार्वधातुकयोः
रोमन्थायते—त, शप्।

(2) तपस्यति
पूर्ववत्। 'तपसः परस्मैपदं च' (वा०) के द्वारा परस्मैपद हुआ।

हनुचलन इति वक्तव्यम्—हनुचलन की प्रतीति होने पर ही 'रोमन्थ' से 'क्यङ्' होता है—

(3) कीटो रोमन्थं वर्त्तयति
यहाँ हनुचलन अर्थ नहीं है। अतः 'क्यङ्' नहीं हुआ।

(635) वाष्पोष्मभ्यामुद्वमने *16* (2672)

कर्मण इति वर्त्तते। वाष्पशब्दाद् ऊष्मशब्दाच्च कर्मण उद्वमनेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति। वाष्पमुद्वमति वाष्पायते। ऊष्मायते। *फेनाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। फेनमुद्वमति फेनायते।

अर्थ—'कर्मणः' पद का अनुवर्त्तन है। उद्वमन अर्थ में कर्मभूत वाष्प तथा ऊष्म शब्दों से 'क्यङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) वाष्पायते
वाष्पम् उद्वमति—क्यङ् हुआ,
वाष्पायते—दीर्घ, त, शप्।

(2) ऊष्मायते
पूर्ववत्। ऊष्मन् क्यङ्। नः क्ये। नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य। उद्वमन अर्थ में फेन शब्द से 'क्यङ्' होता है—

(3) फेनायते
फेनम् उद्वमति।

(636) शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे *17* (2673)

शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ-इत्येतेभ्यः करणे करोत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति। शब्दं करोति शब्दायते। वैरायते। कलहायते। अभ्रायते। कण्वायते। मेघायते। *सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सुदिनायते। दुर्दिनायते। नीहारायते। *अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाकष्टाग्रहणं कर्तव्यम्* (म०भा०)। अटायते। अट्टायते। शीकायते। कोटायते। पोटायते। सोटायते। कष्टायते।

अर्थ—'करना' अर्थ गम्यमान हो तो शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व तथा मेघ—इन कर्मभूत शब्दों से 'क्यङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) शब्दायते
शब्दं करोति—क्यङ् हुआ।

(2) वैरायते (पूर्ववत्)।
(3) कलहायते (पूर्ववत्)।
(4) अभ्रायते (पूर्ववत्)।
(5) कण्वायते (पूर्ववत्)।
(6) मेघायते (पूर्ववत्)।

सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्—पूर्वोक्त (अर्थात् 'करना') अर्थ में सुदिन, दुर्दिन तथा नीहार—इन शब्दों से 'क्यङ्' होता है—

(7) सुदिनायते
सुदिनं करोति—पूर्ववत्।

(8) दुर्दिनायते
दुर्दिनं करोति—क्यङ् हुआ।

(9) नीहारायते
क्यङ् हुआ।

अट्टाशीकाकोटापोटासोटाकष्टाग्रहणं कर्त्तव्यम्—पूर्वोक्त अर्थ में अट्टा, शीका, कोटा, पोटा, सोटा तथा कष्टा—इन शब्दों से भी 'क्यङ्' होता है—

(10) अट्टायते (पूर्ववत्)।
(11) शीकायते (पूर्ववत्)।
(12) कोटायते (पूर्ववत्)।
(13) पोटायते (पूर्ववत्)।
(14) सोटायते (पूर्ववत्)।
(15) कष्टायते (पूर्ववत्)।

(637) सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् *18* (2674)

कर्मग्रहणमनुवर्त्तते। सुख इत्येवमादिभ्यः कर्मभ्यो वेदनायामर्थेऽनुभवे क्यङ् प्रत्ययो भवति, वेदयितुश्चेत्कर्त्तुः

सम्बन्धीनि सुखादीनि भवन्ति। सुखं वेदयते सुखायते। दुःखायते। कर्तृग्रहणं किम्? सुखं वेदयति प्रसाधको देवदत्तस्य (म०भा०)। सुख। दुःख। तृप्त। गहन। कृच्छ्र। अस्र। अलीक। प्रतीप। करुण। कृपण। सोढ। सुखादिः।

अर्थ—'कर्म' का अनुवर्त्तन है। 'वेदना' अर्थ गम्यमान हो तो कार्य के सम्बन्धी सुखादि कर्मभूत शब्दों से 'क्यङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है। भाव यह है कि जिसे सुख हो, वही सुख आदि का अनुभव करे तो 'क्यङ्' होता है।

उदा० (1) सुखायते
सुखं वेदयते—क्यङ्, अकृत्सार्वधातुकयो०,

(2) दुःखायते

कर्तृग्रह० अर्थात् कर्त्तासम्बन्धी होने की दशा में ही 'क्यङ्' होता है—सुखं वेदयति प्रसाधको देवदत्तस्य। यहाँ 'देवदत्त' को सुख हो रहा है तथा सुख के अनुभव को करने वाला 'प्रसाधक' है। अत: दोनों के भिन्न-भिन्न होने के कारण 'क्यङ्' नहीं हुआ। सुखादि शब्दों का परिगणन मूल में देखें।

(638) नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् *19* (2675)

करण इति वर्त्तते। नमस्, वरिवस्, चित्रङ् इत्येतेभ्यो वा क्यच्प्रत्ययो भवति करणविशेषे पूजादौ। नमसः पूजायाम्–नमस्यति देवान्। वरिवसः परिचर्यायाम्–वरिवस्यति गुरून्। चित्रङ् आश्चर्ये-चित्रीयते। ङकार आत्मनेपदार्थः।

अर्थ—'करणे' पद का अनुवर्त्तन है। 'करना' अर्थ में कर्मभूत नमस्, वरिवस् तथा चित्रङ् शब्दों से 'क्यच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

'क्यच्' प्रत्ययान्त शब्द से आत्मनेपद का निमित्त उपस्थित न रहने से परस्मैपद संज्ञा होती है, परन्तु 'चित्रङ्' शब्द में 'ङ्' अनुबन्ध जोड़ने का फल आत्मनेपद संज्ञा करना है।

उदा० (1) नमस्यति देवान्
नमः करोति देवान्—'क्यच्' हुआ,
नमस् य अ तिप्—तिप् शप्।

(2) वरिवस्यति
वरिवः करोति गुरून्।

(3) चित्रीयते
चित्रं करोति—'क्यच्' हुआ।

(639) पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् *20* (2676)

करण इति वर्तते। पुच्छ, भाण्ड, चीवर इत्येतेभ्यो णिङ् प्रत्ययो भवति करणविशेषे। *पुच्छादुदसने पर्यसने वा*। उत्पुच्छयते। परिपुच्छयते। *भाण्डात् समाचयने*। सम्भाण्डयते। *चीवरादर्जने परिधाने वा*। सञ्चीवरयते भिक्षुः। ङकार आत्मनेपदार्थः। णकारः सामान्यग्रहणार्थः–'णेरनिटि' (6.4.51) इति।

अर्थ—'करणे' पद का अनुवर्त्तन हो रहा है। 'करना' अर्थ गम्यमान हो तो कर्मभूत पुच्छ, भाण्ड तथा चीवर शब्दों से 'णिङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

'चुटू' से णकार की तथा 'हलन्त्यम्' से ङकार की इत्संज्ञा होती है। ङित् होने से आत्मनेपद प्रत्यय होता है। ङित् करने का दूसरा प्रयोजन यह है कि 'णेरनिटि' के द्वारा णिच् के साथ णिङ् का भी ग्रहण हो जाए।

पुच्छादुदसने पर्यसने वा—पुच्छ शब्द से उदसन (= ऊपर की ओर चलाना) अथवा पर्यसन (= चारो ओर चलाना)—इन अर्थों में प्रत्यय होता है।

उदा० (1) उत्पुच्छयते
पुच्छम् उदस्यति—'णिङ्' हुआ।

(2) परिपुच्छयते
पुच्छं पर्यस्यति—'णिङ्' हुआ।

भाण्डात् समाचयने—'समाचयन' अर्थ में 'भाण्ड' शब्द से णिङ् होता है—

(3) सम्भाण्डयते
भाण्डानि समाचिनोति—'णिङ्' हुआ।

चीवरादर्जने परिधाने वा—अर्जन अथवा परिधान अर्थ में 'चीवर' शब्द से 'णिङ्' होता है—

(4) सञ्चीवरयते
चीवराणि समर्जयति—पूर्ववत्।

(640) मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् *21* (2677)

मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तूस्त–इत्येतेभ्यः करणे णिच् प्रत्ययो भवति। मुण्डं करोति मुण्डयति। मिश्रयति। श्लक्ष्णयति। लवणयति। व्रताद्-

भोजने तन्निवृत्तौ च–पयो व्रतयति, वृषलान्नं व्रतयति। वस्त्रात्समाच्छादने–संवस्त्रयति। हलिं गृह्णाति हलयति। कलिं गृह्णाति कलयति। हलिकल्योरदन्तत्वनिपातनं सन्वद्भाव-प्रतिषेधार्थम्। अजहलत्। अचकलत् (म०भा०)। कृतं गृह्णाति कृतयति। तूस्तानि विहन्ति वितूस्तयति केशान्। विशदीकरोतीत्यर्थः।

अर्थ—कर्मभूत मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत तथा तूस्त—इन शब्दों से 'करोति' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) मुण्डयति
मुण्डं करोति—णिच् हुआ।

(2) मिश्रयति (पूर्ववत्)।
(3) श्लक्ष्णयति (पूर्ववत्)।
(4) लवणयति (पूर्ववत्)।
(5) व्रतयति पयः (पूर्ववत्)।
(6) संवस्त्रयति (पूर्ववत्)।
(7) हलयति
हलिं गृह्णाति

(8) कलयति
कलिं गृह्णाति।

(9) कृतयति
कृतं गृह्णाति।

(10) वितूस्तयति
तूस्तानि विहन्ति।

हल व कल को निपातन से अदन्त किया गया है, जिसका प्रयोजन यह है कि सन्वद्भाव का प्रतिषेध होता है। यथा—

(11) अजहलत्
हल् णिच् लुङ् → हल् इ तिप्—लुङ्, तिप्,
ह हल् णिच् चङ् त्—णिच्, चङ्, णिलोप, द्वित्व,
अजहलत्—अभ्यासकार्य, अट्, 'सन्यतः' की प्रवृत्ति नहीं हुई।

(12) अचकलत् (पूर्ववत्)।

(641) धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् *22* (2629)

एकाज् यो धातुर्हलादिः क्रियासमभिहारे वर्त्तते तस्माद्यङ् प्रत्ययो भवति। पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। पुनः पुनः पचति पापच्यते। यायज्यते। भृशं ज्वलति जाज्वल्यते। देदीप्यते। धातोरिति किम्? सोपसर्गा-दुत्पत्तिर्मा भूत्–भृशं प्राटति (म०भा०)। एकाच इति किम्? भृशं जागर्ति। हलादेरिति किम्? भृशमीक्षते (म०भा०)। *सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम्* (म०भा०)। सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। अटाट्यते। अरार्यते। अशाश्यते। प्रोर्णोनूयते। भृशं शोभते भृशं रोचते (म०भा०) इत्यत्र नेष्यते, अनभिधानात्।

अर्थ—एक अच् वाला जो हलादि धातु, उससे 'यङ्' प्रत्यय विकल्प से होता है, क्रियासमभिहार अर्थ में।

क्रियासमभिहार का अर्थ है—बार-बार होना या अत्यधिक होना।

उदा० (1) पापच्यते
पुनः पुनः पचति—धातुसंज्ञा, यङ्, 'सन्यङोः' से द्वित्व,
प पच् य—'यङ्' की आर्धधातुक संज्ञा, दीर्घोऽकितः,
पापच्य—धातुसंज्ञा, ङित् होने से आत्मनेपद,
पापच्यते—त, शप्।

(2) यायज्यते
पूर्ववत् यङ्।

(3) जाज्वल्यते
भृशं ज्वलति—यङ्, द्वित्व,
ज ज्वल् य → जाज्वल् य—पूर्ववत्,
जाज्वल्यते—धातुसंज्ञा, लकार।

(4) देदीप्यते
दीप् यङ् — दी दीप् य—यङ् द्वित्व,
देदीप्यते—गुण।

धातोः अर्थात् धातु से 'यङ्' होता है—
तब उपसर्ग से उक्त प्रत्यय नहीं होता।

एकाचः अर्थात् एक अच् वाले धातु से 'यङ्' होता है—
भृशं जागर्त्ति
जागृ धातु हलादि है, परन्तु एकाच् नहीं है। अतः यङ् नहीं हुआ।

हलादेः अर्थात् हलादि धातु से 'यङ्' होता है—
भृशमीक्षते

ईक्ष् धातु एकाच् है, परन्तु हलादि नहीं है। अतः यङ् नहीं हुआ।

सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम्—सूचि, सूत्रि, मूत्रि, अटि, अर्त्ति, अश् तथा ऊर्ण धातुओं से यङ् होता है—

(5) सोसूच्यते

पुनः पुनः सूचयति—चुरादिगण में पाठ होने से णिजन्त 'सूचि' के द्व्यच् होने से 'यङ्' की प्राप्ति नहीं थी, प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा यङ् हुआ,

सूच् इ यङ्—णिच् का लोप, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
सोसूच्य—गुण, धातुसंज्ञा, लकार,
सोसूच्यते—त, शप्।

(6) सोसूत्र्यते

पूर्ववत् अप्राप्ति होने पर 'यङ्' हुआ।

(7) मोमूत्र्यते (पूर्ववत्)।

(8) अटाट्यते

अट ट्य—'अट्' के अजादि होने से 'यङ्' प्राप्त नहीं था, 'ट्य' को द्वित्व,

अटाट्यते—अभ्यासकार्य, लकार।

(9) अरार्यते

'ऋ' एकाच् तो है, परन्तु हलादि न होने से इससे 'यङ्' अप्राप्त था। तब यङ् हुआ।

ऋ यङ् — अर् य—'यङि च' से गुण,
अरार् य—'र्य' को द्वित्व, अभ्यास कार्य,
अरार्यते—धातुसंज्ञा।

(10) अशाश्यते

अश् यङ्—हलादि न होने से 'यङ्' प्राप्त नहीं था,
अशाश्य—'श्य' को द्वित्व, अभ्यासकार्य,
अशाश्यते—पूर्ववत्।

(11) प्रोर्णोनूयते

ऊर्णु यङ्—द्व्यच् है। अतः एकाच् न होने से 'यङ्' प्राप्त नहीं था, 'न न्द्राः संयोगादयः' से संयोगादि रेफ को द्वित्व नहीं हुआ, निमित्त (रेफ) के हट जाने पर 'णु' को 'नु' हुआ, 'नु' को द्वित्व हुआ,

ऊर् नु नु य—अभ्यास को गुणादेश, दीर्घ,
ऊर् नो नूय—णत्व, धातुसंज्ञा, त, शप्,
ऊर्णोनूयते—उपसर्ग,
प्रोर्णोनूयते—रूप बना।

(642) नित्यं कौटिल्ये गतौ *23* (2634)

गतिवचनाद्धातोः कौटिल्ये गम्यमाने नित्यं यङ् प्रत्ययो भवति। कुटिलं क्रामति चङ्क्रम्यते। दन्द्रम्यते। नित्यग्रहणं विषयनियमार्थम्–गतिवचनान्नित्यं कौटिल्य एव यङ् भवति, न तु क्रियासमभिहारे–भृशं क्रामति।

अर्थ—कुटिलगमन अर्थ गम्यमान हो तो गति अर्थ वाले धातु से नित्य 'यङ्' प्रत्यय होता है (यह समभिहार अर्थ में नहीं होता)।

उदा० (1) चङ्क्रम्यते

कुटिलं क्रामति—इस अर्थ में 'यङ्' हुआ,
क्रम् क्रम् य → कक्रम् य—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
च नुक् क्रम् य—कुहोश्चुः, 'नुगतो०' से 'नुक्' आगम,
चङ्क्रम्यते—नश्चाऽपदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, धातुसंज्ञा, त।

(2) दन्द्रम्यते

द्रम् यङ्—पूर्ववत् सभी कार्य।

अर्थात् नित्य पद के ग्रहण से गत्यर्थ धातु से कुटिलगमन अर्थ में ही 'यङ्' होता है—

भृशं क्रामति—यहाँ क्रियासमभिहार अर्थ है। अतः 'यङ्' नहीं हुआ।

(643) लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् *24* (2635)

लुप, सद, चर, जप, जभ, दह, दश, गृ–इत्येतेभ्यो भावगर्हायां (धात्वर्थगर्हायां) यङ् प्रत्ययो भवति। गर्हितं लुम्पति लोलुप्यते। एवम्–सासद्यते, चञ्चूर्यते, जञ्जप्यते, जञ्जभ्यते, दन्दह्यते, दन्दश्यते, निजेगिल्यते। भावगर्हायामिति किम्? साधु जपति। भावग्रहणं किम्? साधनगर्हायां मा भूत्–मन्त्रं जपति वृषलः। नित्यग्रहणं विषयनियमार्थमनुवर्त्तते–एतेभ्यो नित्यं भावगर्हायामेव भवति, न तु क्रियासमभिहारे–भृशं लुम्पति।

अर्थ—लुप्, सद् चर्, जप्, जभ्, दह्, दश् तथा गृ धातुओं से 'यङ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) लोलुप्यते

गर्हितं लुम्पति—गर्हित अर्थ में 'यङ्' हुआ,

लु लुप् य → लोलुप्य—द्वित्व, अभ्यास को गुण,
लोलुप्यते—त, शप्।

(2) सासद्यते (पूर्ववत्)।

(3) चञ्चूर्यते
अभ्यास को नुक् आगम, 'चरफलोश्च' से।

(4) जञ्जप्यते
'जपजभदहदश०' से अभ्यास को 'नुक्'।

(5) जञ्जभ्यते (पूर्ववत्)।
(6) दन्दह्यते (पूर्ववत्)।
(7) दन्दश्यते (पूर्ववत्)।
(8) निजेगिल्यते
गृ यङ् → गिर् य—यङ्, ऋत इद् धातोः,
गि गिर् य—द्वित्व, हलादिशेष,
जिगिर् य → जिगिल्य—कुहोश्चुः, 'ग्रो यङि' से लत्व,
निजेगिल्यते—गुण, उपसर्ग।

गर्हा० अर्थात् धातु की निन्दा अर्थ में ही यङ् होता है। तब साधन की निन्दा अर्थ गम्यमान होने पर यङ् नहीं होता है; यथा—
मन्त्रं जपति वृषलः—यङ् नहीं हुआ।

सूत्र में 'नित्य' पद का ग्रहण विषय के नियमार्थ अनुवर्त्तन है। सूत्रोक्त धातुओं से भावगर्हा अर्थ में नित्य 'यङ्' होता है तथा क्रियासमभिहार अर्थ में नहीं होता है। यथा—
भृशं लुम्पति।

(644) सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् *25* (2563)

सत्यादिभ्यश्चूर्णपर्यन्तेभ्यश्चुरादिभ्यश्च णिच् प्रत्ययो भवति। सत्यमाचष्टे सत्यापयति। *अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः* (म०भा०)। अर्थमाचष्टे अर्थापयति। वेदापयति। आपुग्वचनसामर्थ्याट्टिलोपो न भवति। पाशाद्विमोचने–विपाशयति। रूपाद्दर्शने–रूपयति। वीणयोगपगायति–उपवीणयति। तूलेनानुकुष्णाति–अनुतूलयति। श्लोकैरुपस्तौति–उपश्लोकयति। सेनयाऽभियाति–अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि–अनुलोमयति। त्वचं गृह्णाति–त्वचयति। अकारान्तस्त्वचशब्दः। वर्मणा संनह्यति–संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति–वर्णयति। चूर्णैरवध्वंसयति–अवचूर्णयति। चुरादिभ्यः स्वार्थे–चोरयति, चिन्तयति। स्वाभाविकत्वादर्थाभिधानस्य यथास्वं प्रत्ययार्था निर्दिश्यन्ते।

अर्थ—सत्य, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच्, वर्मन्, वर्ण और चूर्ण—इन प्रातिपदिकों से तथा चुरादिगणी धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सत्यापयति
सत्यम् आचष्टे—णिच् हुआ,
सत्याप णिच्—धातुसंज्ञा, लकार,
सत्यापयति—तिप्, शप्।

'सत्य' शब्द से 'णिच्' करने पर निपातन से 'आपुक्' आगम होता है। अतः सूत्र में 'सत्याप' ऐसा निपातनयुक्त निर्देश है। 'सत्याप' में अकार उच्चारणार्थ है। 'अर्थ' तथा 'वेद' शब्दों से भी 'आपुक्' होता है।

(2) अर्थापयति
अर्थम् आचष्टे—पूर्ववत्।

(3) वेदापयति
वेदम् आचष्टे।

'आपुक्' वचन के सामर्थ्य के कारण 'टिलोप भी नहीं होता।

(4) विपाशयति
पाशं विमुञ्चति—पूर्ववत्।

(5) रूपयति
रूपं पश्यति।

(6) उपवीणयति
वीणयोपगायति।

(7) अनुतूलयति
तूलेनानुकुष्णाति।

(8) उपश्लोकयति
श्लोकैरुपस्तौति।

(9) अभिषेणयति
सेनयाऽभियाति।

(10) अनुलोमयति
लोमान्यनुमार्ष्टि।

(11) त्वचयति
त्वचं गृह्णाति। 'त्वच' यह अदन्त नपुँसक शब्द गृहीत है।

(12) संवर्मयति
वर्मणा सन्नह्यति।

(13) वर्णयति
वर्णं गृह्णात।

(14) अवचूर्णयति
चूर्णैर् अवध्वंसयति।

(15) चोरयति
चुर् णिच्—स्वार्थ में णिच् हुआ।

(16) चिन्तयति
चिन्त् णिच्—स्वार्थ में।

यद्यपि सूत्र में अर्थविशेष का उल्लेख नहीं है, तदपि लोकप्रसिद्धि के आधार पर अर्थ दिखाया गया है।

विशेष—1. प्रकृत सूत्र में 'धातोः' पद का अनुवर्त्तन किया गया है। इसका सम्बन्ध 'सत्य' आदि शब्दों के साथ नहीं होता है। कारण कि 'सत्य' आदि बारह शब्द प्रातिपदिक हैं। इनसे 'णिच्' होने के पश्चात् ही धातुसंज्ञा होती है। 'धातोः' पद का 'चुरादिभ्यः' के साथ सम्बन्ध है। यदि इस पद का अनुवर्त्तन न किया जाता तो चुर् आदि धातुओं से परे णिच् की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा न हो सकेगी। फलतः लघूपधगुण नहीं होगा। 'धातोः' ऐसा कह कर विधान होने से 'णिच्' की आर्धधातुक संज्ञा हो जाती है।

2. धातु के अर्थ में प्रातिपदिक से परे 'णिच्' प्रत्यय बहुलता से हो और वह इष्ठन् प्रत्यय के समान हो अर्थात् इष्ठन् प्रत्यय के परे रहते जो जो कार्य होते हैं, वे सभी उक्त णिच् प्रत्यय के परे रहते हों।[1]

यह णिच् 'तत्करोति' तथा 'तदाचष्टे' अर्थों में होता है। यह अतिदेशसूत्र है।

इष्ठन् परे रहते निम्नलिखित कार्य होते हैं—

(क) पुंवद्भाव—'पट्वी + इष्ठन्'—यहाँ 'भस्याढे तद्धिते' (वा०) से पुंवद्भाव होकर 'टेः' से टिलोप व स्त्रीत्व में टाप् करके—पटु इष्ठ—पट् इष्ठ—पटिष्ठा बनता है।

उदाहरण—

(1) घटं करोति—घटयति। गणसूत्र से णिच् हुआ। यह इष्ठवत् हुआ। भसञ्ज्ञा होकर 'यस्येति च' से अकारलोप। घट इ—घट् इ। अब 'अत उपधाया' से उपधावृद्धि की प्राप्ति हुई। अकारलोप को स्थानिवद्भाव होने से उपधावृद्धि नहीं हुई। अचः परस्मिन पूर्वविधौ। लट्, तिप्, शप्, गुण होते हैं।

(2) पट्वीम् आचष्टे—पट्वी णिच्। इष्ठवत् होने से पुंवद्भाव। पटु णिच्। टेः। पट् इ। पटिशप् तिप् पटयति।

(ख) रभाव—'दृढ + इष्ठन्' इस दशा में 'र ऋतो—' से रभाव होता है—द्रढिष्ठ + सु—द्रढिष्ठः।

(3) दृढं करोति—द्रढ णिच्। इष्ठवत्। रभाव। द्रढयति।

(ग) टिलोप—अतिशयेन साधुः—साधिष्ठः। 'टेः' से टिलोप हुआ।

(घ) विन् व मतुप् का लुक्—'स्रग्विन् + इष्ठन्' इस दशा में 'विन्मतोर्लुक्' से 'विन्' का लुक् हुआ। स्रज् इष्ठ—स्रजिष्ठ—स्रजिष्ठः।

(4) स्रग्विणम् आचष्टे—'विन्' का लुक्। स्रजयति।

इसी प्रकार—गोमान् इष्ठन्—गविष्ठः।

(ङ) यणादि लोप व पूर्वभाग को गुण—'स्थूल इष्ठन्' इस दशा में यणादि भाग (ल) का लोप तथा पूर्व भाग (ऊ) को गुण हुआ। स्थू इष्ठ स्थविष्ठ—स्थविष्ठः।

(5) श्रीमन्तं करोति—मतुप् लुक्। श्रावयति। वृद्धि।

(च) 'प्रियस्थिर' के द्वारा प्रिय, स्थिर व स्फिर आदि शब्दों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ आदि आदेश हो जाते हैं।

(6) स्थूलम् आचष्टे—यणादि लोप। स्थवयति।

(7) प्रियम् आचष्टे—प्र इ—प्रा इ (अचो ञ्णिति) पुगागम। प्राप् इ। प्रापयति।

(छ) 'यचि भम्' से भसञ्ज्ञा होती है।

(645) हेतुमति च *26* (2576)

हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकः, तदीयो व्यापारः प्रेषणादिलक्षणो हेतुमान्, तस्मिन्नभिधेये धातोर्णिच् प्रत्ययो भवति। कटं कारयति। ओदनं पाचयति। *तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयतीत्याद्यर्थम्* (म०भा०)। सूत्रं करोति-सूत्रयति। *आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति णिच् कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्(म०भा०)। आख्यानात्कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यः, तदाचष्टे इत्येतस्मिन्नर्थे कृल्लुक्, प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवति। कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति। वलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति। राजाऽऽगमनमाचष्टे राजानमागमयति (म०भा०)। *आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्* (म०भा०)। आरात्रि विवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति। *चित्रीकरणे

1. प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (गणसूत्रम्)। द्र०—पा० धा०—चुरादिगण।

प्रापि* (म० भा०)। उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयते सूर्यमुद्गमयति। *नक्षत्रयोगे ज्ञि* (म० भा०)। पुष्ययोगं जानाति पुष्येण योजयति। मघाभिर्योजयति।

अर्थ—स्वतन्त्र कर्त्ता का प्रयोजक 'हेतु' कहलाता है। उसका प्रेषण आदि व्यापार 'हेतुमत्' कहलाता है।

प्रयोजक के व्यापार प्रेषण आदि के वाच्य होने पर धातु से णिच् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) कारयति कटम्
कृ णिच् → कार् इ—णिच् हुआ, वृद्धि हुई,
कारयति—लकार, तिप्, शप्।

(2) पाचयति ओदनम्
पच् णिच् → पाचि—णिच्, अत उपधायाः,

तत्करोतीत्युपसङ्ख्यानम्—'उसे करता है'—इस अर्थ में प्रातिपदिक से परे णिच् प्रत्यय होता है—

(3) सूत्रयति
सूत्रं करोति।

आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति णिच् कृल्लुक् प्रकृति-प्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्—इतिवृत्तवाचक कृदन्त शब्द से 'उसे कहता है' इस अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है, कृत् प्रत्यय का लुक् होता है, प्रकृति अपने मूल रूप को प्राप्त करती है तथा कारक अपने मूल रूप में ही रहता है।

आख्यानवाची कृदन्त से णिच् प्रत्यय होता है। उसे कहता है—इस अर्थ में कृत् प्रत्यय का लुक् होता है, प्रकृति मूल रूप को प्राप्त कर लेती है तथा कारक भी मूल रूप में रहता है।

(4) घातयति कंसम्
कंसवधम् आचष्टे—णिच् हुआ,
कंसवध णिच्—'हनश्च वधः' से 'वध' हुआ था।
कंसं हन् णिच्—'वध' अपनी मूल प्रकृति को प्राप्त करके 'अप्' प्रत्यय का लुक्
घान् इ—अत उपधायाः, हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु,
घात् इ—हनस्तोऽचिण्णलोः,
घातयति—लकार।

कंसस्य वधः तम्—कर्म कारण था, णिच् की दशा में भी कर्म कारक रहा।

(5) बन्धयति बलिम्
बलिबन्धम् आचष्टे—पूर्ववत्।

(6) राजानम् आगमयति
राजागमनम् आचष्टे—पूर्ववत्।

आङ्लोपश्च कालाऽत्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्—काल के अत्यन्त संयोग में मर्यादा की प्रतीति में 'आङ्' का लोप होता है तथा शेष कार्य पूर्ववत् होते हैं—

(7) रात्रिं विवासयति
आरात्रिविवासम् आचष्टे—'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' से समास होकर 'आरात्रिविवासम्' बनता है, णिच् हुआ, 'आङ्' का लुक्, कृत् प्रत्यय 'घञ्' का लुक् तथा धातु मूल रूप को प्राप्त,
विवस् णिच्—उपधावृद्धि, लकार, तिप्, शप् आदि,
विवासयति—कारक प्रकृतिवत् हुआ।

चित्रीकरणे प्रापि—'आश्चर्य करना' अर्थ में 'उसे प्राप्त करता है' इस अर्थ में कृदन्त से णिच् होता है तथा सभी कार्य पूर्ववत् होते हैं—

(8) सूर्यम् उद्गमयति
सूर्योद्गमनं सम्भावयते—णिच् हुआ, पूर्ववत् सभी कार्य हुआ।

नक्षत्रयोगे ज्ञि—नक्षत्रयोग में 'जानता है' इस अर्थ में णिच् होता है तथा शेष सभी कार्य पूर्ववत् होते हैं—

(9) पुष्येण योजयति
पुष्ययोगं जानाति—णिच् हुआ, घञ् का लुक्, धातु का मूल रूप, उपधागुण,
योज् इ—लकार, तिप्, शप्,
योजयति—पूर्ववत्।

(646) कण्ड्वादिभ्यो यक् *27* (2678)

कण्डूञ् इत्येवमादिभ्यो यक् प्रत्ययो भवति। द्विविधाः कण्ड्वादयो धातवः प्रातिपदिकानि च। तत्र धात्वधिकाराद्धातुभ्य एव प्रत्ययो विधीयते, न प्रातिपदिकेभ्यः। तथा च गुणप्रतिषेधार्थः ककारोऽनुबध्यते—

**धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः॥ (म.भा.)**

कण्डूञ्-कण्डूयति। कण्डूयते। ञित्त्वात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (1.3.72) इत्यात्मनेपदम्। कण्डूञ्। मन्तु। हृणीङ्। वल्गु। अस्मनस्। महीङ्। लेट्। लोट्।

इरस्। इरज्। इरञ्। द्रवस्। मेधा। कुसुभ। मगध। तन्तस्। पम्पस्। सुख। दुःख। सपर। अरर। भिषज्। भिष्णज्। इषुध। चरण। चुरण। भुरण। तुरण। गद्गद। एला। केला। खेला। लिट्। लोट्।

अर्थ—कण्ड्वादि धातुओं से 'यक्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

कण्ड्वादि धातु तथा प्रातिपदिक दोनों होते हैं। यहाँ 'धातोः' का अधिकार होने से कण्ड्वादि धातुओं का ही ग्रहण होता है। 'यक्' के ककार की इत्संज्ञा होती है। इसे कित् करने का फल गुण का निषेध करना है।

धातुप्रकरणा०—कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

'यक्' को कित् गुणनिषेध के लिए है। इससे ज्ञापित होता है कि 'कण्ड्वादि' पद के द्वारा कण्ड्वादि धातुओं का ही ग्रहण होता है, प्रातिपदिकों का नहीं। प्रातिपदिक से पर 'यक्' की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती; ऐसी स्थिति में आर्धधातुकगुण की प्राप्ति ही नहीं होगी तो निषेध कैसा ? इस दशा में 'यक्' को कित् करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ कण्ड्वादि धातुओं का ही ग्रहण होता है।

दूसरे, 'यक्' परे रहते 'अकृत्सार्वधातुकयोः०' से दीर्घादेश प्राप्त ही है तो 'कण्डू' आदि के दीर्घ स्वरान्त पाठ का क्या फल है ? यह दीर्घ उच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'कण्डू' आदि प्रातिपदिक तथा धातु दोनों हैं। प्रातिपदिक 'कण्डू' आदि से 'यक्' नहीं होता है। ऐसी स्थिति में दीर्घादेश भी प्राप्त नहीं होगा। अतः सूत्र में दीर्घ उच्चारण है।

उदा० (1) कण्डूयति
कण्डू यक्—धातुसंज्ञा, गुणनिषेध, 'स्वरितञितः०' से परस्मैपद,
कण्डूयति—रूप बना।

(2) कण्डूयते—
आत्मनेपद हुआ।

(647) गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः *28* (2303)

'गुपू' रक्षणे' (धा०पा० 395), 'धूप् सन्तापे' (धा०पा० 396), 'विच्छ गतौ' (धा०पा० 1424), 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' (धा०पा० 439), 'पन च' इत्येतेभ्यो धातुभ्य आयप्रत्ययो भवति। गोपायति। धूपायति। विच्छायति। पणायति। पनायति। स्तुत्यर्थेन पनिना साहचर्यात्तदर्थः पणिः प्रत्ययमुत्पादयति न व्यवहारार्थः। शतस्य पणते, सहस्रस्य पणते। अनुबन्धश्च केवले चरितार्थः, तेनायप्रत्ययान्तान्नात्मनेपदं भवति।

अर्थ—गुप्, धूप्, विच्छ, पणि तथा पनि धातुओं से स्वार्थ में[1] 'आय' प्रत्यय होता है।

'आय' की आर्धधातुक संज्ञा होती है। 'आय' प्रत्यय अदन्त है। इसे अदन्त करने का फल 'गोपायति' आदि प्रयोगों में स्वर-व्यवस्था है।

उदा० (1) गोपायति
गुप् आय—धातुसंज्ञा, गुण,
गोपाय—तिप्, शप्,
गोपायति—अतो गुणे।

(2) धूपायति (पूर्ववत्)।
(3) विच्छायति (पूर्ववत्)।
(4) पणायति (पूर्ववत्)।
(5) पनायति (पूर्ववत्)।

स्तुति०—स्तुति अर्थ वाले 'पनि' धातु के साहचर्यवशात् तदर्थक 'पणि' धातु से 'आय' प्रत्यय होता है; व्यवहारार्थक 'पण्' से नहीं। यथा—

(6) शतस्य पणते
यहाँ 'आय' नहीं हुआ।

(7) सहस्रस्य पणते
'आय' नहीं हुआ।

केवल (मूल धातु) में 'अनुबन्ध चरितार्थ हो चुका है, आत्मनेपद का विधान करा चुका है। अतः 'आय' प्रत्ययान्त से आत्मनेपद नहीं होता।

(648) ऋतेरीयङ् *29* (2422)

ऋतिः सौत्रो धातुर्घृणायां वर्तते, तत ईयङ् प्रत्ययो भवति। ङकार आत्मनेपदार्थः। ऋतीयते। ऋतीयेते। ऋतीयन्ते। 'ऋतेश्छङ्' इति सिद्धे ईयङ्वचनं ज्ञापनार्थम्- धातुविहितानां प्रत्ययानामायन्नादयो न भवन्तीति।

अर्थ—'ऋति' धातु सौत्र धातु है; जिसका अर्थ 'घृणा करना' है। इसका 'इक्' के द्वारा निर्देश है।[2]

1. अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति (परि०)।
2. इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे।

'ऋति' धातु से स्वार्थ में 'ईयङ्' प्रत्यय होता है। 'ईयङ्' को ङित् आत्मनेपद के लिए किया गया है।

उदा० (1) ऋतीयते
ऋत् ईयङ् → ऋतीय—धातुसंज्ञा, लकार,
ऋतीयते—आत्मनेपद।

(2) ऋतीयेते
ऋतीयङ् आताम्—प्र०पु० द्वि०,
ऋतीयेते—रूप बना।

(3) ऋतीयन्ते
'झ' प्रत्यय, 'झोऽन्तः' से अन्त आदेश।

ऋते०—ऋतेरीयङ् के स्थान पर 'ऋतेश्छङ्' का पाठ करने में लाघव होता है। 'आयनेय···' से 'छ' को 'ईय' होकर इष्टसिद्धि भी हो जाती है; परन्तु 'छङ्' के स्थान पर 'ईयङ्' पाठ करके आचार्य ज्ञापित करते हैं कि धातु से विहित 'फ' आदि प्रत्ययों को 'आयन' आदि आदेश नहीं होते।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'ईयङ्' इस प्रकार दीर्घ उच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ 'ऋत्' धातु है; 'ऋति' नहीं।

(649) कमेर्णिङ् *30* (2310)

कमेर्धातोर्णिङ् प्रत्ययो भवति। णकारो वृद्ध्यर्थः। ङकार आत्मनेपदार्थः। कामयते। कामयेते। कामयन्ते।

अर्थ—'कम्' धातु से स्वार्थ में 'णिङ्' प्रत्यय होता है। णकार की 'चुटू' से तथा ङकार की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा होती है। ङित्करण आत्मनेपद के लिए है तथा णित्करण वृद्धि के लिए है।

उदा० (1) कामयते
कम् णिङ् → कामि त—धातुसंज्ञा, त,
कामयते—शप्।

(2) कामयेते
प्र० पु० द्वि०।

(3) कामयन्ते
प्र० पु० बहुव०, झोऽन्तः।

णकारो—'कमु' का उकार अनुनासिक व अनुदात्त है। अनुदात्तेत् होने से लिट् आदि लकारों में 'कमु' धातु आत्मनेपदी होता है। 'आयादय आर्धधातुके वा' से णिङ् के पक्ष व अभाव-पक्ष में दो-दो रूप बनते हैं—

चकमे, कामयाञ्चक्रे।

धातु के उदित् होने से क्त्वा में 'ऊदितो वा' से वैकल्पिक 'इट्' होकर कमित्वा तथा कान्त्वा दो रूप बनते हैं।

(650) आयादय आर्धधातुके वा *31* (2305)

आर्धधातुकविषये आर्धधातुकविवक्षायामायादयः प्रत्यया वा भवन्ति। गोप्ता, गोपायिता। अर्तिता, ऋतीयिता। कमिता, कामयिता। नित्यं प्रत्ययप्रसङ्गे तदुत्पत्तिरार्धधातुकविषये विकल्प्यते, तत्र यथायथं प्रत्यया भवन्ति–गुप्तिः, गोपाया।-

अर्थ—आर्धधातुक की विवक्षा में 'आय' आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

'आयादयः' के द्वारा आय, ईयङ् और णिङ् का ग्रहण होता है।

उदा० (1) गोपायिता
गुप् लुट्—धातोः, अनद्यतने लुट्, पाक्षिक आय, आर्धधातुक संज्ञा,
गुप् आय ल्—स्यतासी लृलुटोः, लुटः प्रथमस्य०,
गुप् आय तास् डा—टिलोप, गुण, इट्, अकारलोप,
गोपाय् इत् आ — गोपायिता।

(2) गोपिता
गुप् तास् डा—पक्ष में 'आय' नहीं हुआ, 'स्वरतिसूति०' से पाक्षिक इट्,
गोपिता—गुण, टिलोप।

(3) गोप्ता
गुप् तास् डा—'आय' अभाव, इट् अभाव,
गोप्ता—गुण।

(4) ऋतीयिता
ऋत् लुट् → ऋत् ईयङ् ल्—पाक्षिक ईयङ्,
ऋतीयिता—इट्, अकारलोप।

(5) अर्तिता
ऋत् तास् डा—ईयङ् अभाव, टिलोप,
अर्तिता—गुण।

(6) कामयिता
कम् आय तास् डा—पाक्षिक आय,
कामयिता—इट्।

(7) कमिता
कम् इ तास् डा—आय अभाव।

यथायथं०—पूर्ववर्ती तीन सूत्रों (गुपूधूपविच्छि०, ऋतेरीयङ्, कमेर्णिङ्) से विहित नित्य प्रत्ययों के प्रसङ्ग में आर्धधातुक के विषय में उक्त प्रत्यय विकल्प से होते हैं। सार यह है कि 'आयादय आर्धधातुके वा' में विषयसप्तमी होने से विवक्षामात्र में 'आय' हो जाता है। पश्चात् जो प्रत्यय होता है, वह भी होता है। यथा—

(क) गुप्तिः
गुप् क्तिन्—गुप्तिः बनता है।

(ख) गोपाया
गोपाय—'आय' हुआ,
गोपाय अ—'अप्रत्ययात्' से 'अ' हुआ,
गोपाया—बनता है।

(651) सनाद्यन्ता धातवः *32* (2304)

सन् आदिर्येषां ते सनादयः, सनादयोऽन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः। सनाद्यन्ताः समुदाया धातुसंज्ञा भवन्ति। प्रत्ययग्रहणपरिभाषयैव पदसंज्ञायामन्तवचनेन लिङ्गेन प्रतिषिद्धा सती पुनरिहान्तवचनेन प्रतिप्रसूयते। चिकीर्षति। पुत्रीयति। पुत्रकाम्यति।

अर्थ—'सन्' आदि में है जिसके, उसे 'सनादि' कहते हैं। सन् आदि प्रत्यय हैं अन्त में जिसके, उसकी धातुसंज्ञा होती है।

प्रत्यय०—प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम् (परि०) अर्थात् प्रत्यय के ग्रहण के विषय में तदन्तविधि होती है। अतः प्रकृत सूत्र में 'सनाद्यन्ताः' इस प्रकार 'अन्त' पद का ग्रहण व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि 'संज्ञा के विधान में प्रत्ययग्रहण में तदन्त विधि नहीं होती—यह परिभाषा 'सुप्तिङन्तं पदम्' में चरितार्थ होकर सूचित करती है कि प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध होता है। प्रकृत सूत्र में 'अन्त' ग्रहण के द्वारा उसी परिभाषा का प्रतिप्रसव होता है।

उदा० (1) चिकीर्षति
कृ सन् → चिकीर्ष—सन्, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
चिकीर्षति—सन्नन्त होने से धातुसंज्ञा, तिप्, शप्।

(2) पुत्रीयति
पुत्रम् आत्मन इच्छति—'सुप आत्मनः क्यच्' से 'क्यच्',
पुत्रीय—क्यजन्त होने से धातुसंज्ञा,
पुत्रीयति—तिप्, शप्।

(3) पुत्रकाम्यति
पुत्रकाम्यच् → पुत्रकाम्य—धातुसंज्ञा,
पुत्रकाम्यति—तिप्, शप्।

विशेष—'सनादि' के द्वारा 'सन्' से लेकर 'णिङ्' पर्यन्त बारह प्रत्ययों (सन्, क्यच्, क्यङ्, काम्यच्, क्यष्, क्विप्, णिङ्, णिच्, यङ्, यक्, आय, ईयङ्) का ग्रहण होता है। भाव यह है कि जिस समुदाय के अन्त में इन बारह प्रत्ययों में से कोई भी एक प्रत्यय होता है, उस समुदाय की 'धातु' संज्ञा होती है।

(652) स्यतासी ऌलुटोः *33* (2186)

ऌरूपमुत्सृष्टानुबन्धं सामान्यमेकमेव, तस्मिन् लुटि च परतो धातोर्यथासंख्यं स्यतासी प्रत्ययौ भवतः। करिष्यति। अकरिष्यत्। श्वः कर्त्ता। इदित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थम् (6.4.24)–मन्ता, संगन्ता।

अर्थ—'ऌ' यह अनुबन्धरहित सामान्य निर्देश है। ऌ (अर्थात् ऌट् व ऌङ् तथा लुट् के परे रहते धातु से यथासंख्य करके 'स्य' तथा 'तासि' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) करिष्यति
कृ ऌट्—'स्य' हुआ, तिप्,
कृ स्य ति—इट्, गुण, षत्व,
करिष्यति—रूप बना।

(2) अकरिष्यत
कृ ऌङ्—ऌङ्, त स्य, इट्,
कृ इ स्य त—गुण, अट्, षत्व,
अकरिष्यत—रूप बना।

(3) अकरिष्यत्
परस्मैपद में रूप बनता है।

(4) कर्त्ता
कृ लुट् → कृ तासि तिप्—स्यतासी०—
कृ तास् डा—लुटः प्रथमस्य०—
कृ त् आ—अनुबन्धलोप, टिलोप,
कर्त्ता—सार्वधातुकार्धधातु०।

इदित्०—'तासि' प्रत्ययस्थ इकार इत्संज्ञक है। इसका फल अनुनासिकलोप का निषेध है। यथा—

(5) मन्ता

मन् तास् डा—त, तास्, 'डा' आदेश, 'डा' 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हुआ, टिलोप,

मन् त् आ—'अनिदितां हल:०' के द्वारा उपधाभूत 'न्' के लोप की प्राप्ति हुई, अङ्ग के अनिदित् न रहने से अनुनासिक लोप नहीं हुआ,

मन्ता—रूप बना।

(6) सङ्गन्ता

पूर्ववत् अनुनासिक लोप नहीं हुआ।

विशेष—1. 'तासि' में इकार उच्चारणार्थ है। दूसरे कई विद्वान् इकार को अनुनासिक मानकर इसकी इत्सञ्ज्ञा करते हैं।

(क) इत्सञ्ज्ञाविषयक मत—

महर्षि दयानन्द के अनुसार 'तासि' में इकार की इत्सञ्ज्ञा करनी चाहिये।[1] यदि इकार को उच्चारणार्थ मान लिया जाय तो 'हलन्त्यम्' से सकार की इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हो जायेगा।

काशिका के जयादित्यकृत अंश के अनुसार 'तासि' के इकार की इत्संज्ञा होती है (द्र०—प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या—इदित्०)।

(ख) तासि के इकार के इत्संज्ञक न होने के विषय में मत—काशिका के वामन ग्रन्थ में 'तासि' के इकार को अनुनासिक नहीं माना है। इसके अनुसार इकार उच्चारणार्थ है। यहाँ 'मनत् आ' इस दशा में प्रसक्त नकारलोप का समाधान इस प्रकार दिया है—

'मन्तास् डा' इस दशा में 'टेः' (पा० 6.4.143) के द्वारा टिलोप आभीय कार्य है, जो 'अनिदितां हल:०' (पा० 6.4.24) के प्रति असिद्ध है। अतः नकारलोप की प्राप्ति ही नहीं होती है। अतः 'तासि' को अनुनासिकलोप-प्रतिबन्धार्थ इत्करण व्यर्थ है[2]।

2. 'तिप्तस्झि०' (पा० 3.4.75) के द्वारा लकार के स्थान पर तिप् आदि आदेश होते हैं तथा 'स्यतासी ऌलुटोः' (पा० 3.1.33) के द्वारा 'स्य' आदि आदेश होते हैं। अतः पर होने से तिबादि की पहले उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त 'विकरणेभ्यो नियमो बलवान्' इसके अनुसार भी प्रथम तिबादि की उत्पत्ति होती है। तब शप् आदि विकरण होते हैं; जिसे बाध कर 'स्य' आदि होते हैं। अतः 'स्य' तथा 'तासि' शप् आदि के अपवाद हैं।

(653) सिब्बहुलं लेटि *34* (3425)

धातोः सिप् प्रत्ययो भवति बहुलं लेटि परतः। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। न च भवति–पदाति विद्युत् (ऋ० 7.25.1), उदुधिं च्यावयाति (तै०सं० 3.5.5.5)।

अर्थ—लेट् लकार परे रहते धातु से 'सिप्' प्रत्यय बहुलता से होता है।

उदा० (1) जोषिषत्

जुष् लेट्—लिङर्थे लेट्,

जुष् सिप् ल्—सिप्, 'लेटोऽडाटौ' से 'अट्', तिप्,

जुष् स् अ तिप्—आर्धधातुक इट्, इतश्च,

जुष् इ स् अ त्—पुगन्तलघूपधस्य०,

जोषिषत्—षत्व, षत्व।

(2) तारिषत्

तृ सिप् त्—सिप् के णिद्वत् होने से वृद्धि,

तारिस् अत्—इट्, अट्,

तारिषत्—षत्व।

(3) पताति

पत् लेट् → पत् तिप्—बहुल कहने से 'सिप्' नहीं हुआ,

पताति—आट्।

(4) च्यावयाति

सिप् नहीं हुआ।

(654) कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि *35* (2306)

'कासृ शब्दकुत्सायाम्' (धा०पा० 623), ततः प्रत्ययान्तेभ्यश्च धातुभ्य आम् प्रत्ययो भवति लिटि परतोऽमन्त्रविषये। कासाञ्चक्रे। प्रत्ययान्तेभ्यः–लोलूयाञ्चक्रे। अमन्त्र इति किम्? कृष्णो नौं नाव (ऋ० 1.79.2)। *कास्यनेकाच इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम्* (म०भा०)। चुलुम्पाञ्चकार। चकासाञ्चकार। दरिद्राञ्चकार।

आमोऽमित्वमदन्तत्वादगुणत्वं विदेस्तथा।
आस्कासोर्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत्॥

---

1. अष्टाध्यायी भाष्य : महर्षि दयानन्द, सूत्र 3.1.33.
2. पदम० 3.1.33

अन्यथा मन्तास् आ इति स्थिते टिलोपे कृते नकार उपधेत्यात्मनेपदे ङिति परतः 'अनिदिताम्' इति नलोपः प्राप्नोति, तस्य अनिदिताम् इतीदित्वनिबन्धनः प्रतिषेधो यथा स्यात्।

अर्थ—मन्त्रविषय को छोड़कर कास् धातु से तथा प्रत्ययान्त धातु से 'आम्' प्रत्यय होता है, लिट् प्रत्यय परे रहते।

'मन्त्र' का अर्थ है—वेदमन्त्र।

उदा० (1) कासाञ्चक्रे

कास् लिट् → कास् आम् ल्—'आम्' आर्धधातुक कृत् है, 'आम्' से पर लिट् का लावस्था में ही लुक् हुआ, विधान सामर्थ्य से 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है,[1]

कास् आम्—आमः,

कास् आम् कृ—कृञ्चाऽनुप्रयुज्यते०,

कासाम् कृ त—आम्प्रत्ययवत्०, लिटस्तझयो०, यणादेश, द्विर्वचनेऽचि, द्वित्व, अभ्यासकार्य,

कासाम् च क्र् ए—रूपातिदेश

कासाञ्चक्रे—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) लोलूयाञ्चक्रे

लू यङ्—क्रियासमभिहार अर्थ में, लिट्,

लोलूय आम् कृ—पूर्ववत् आम्, लिट् लुक्, अनुप्रयोग, पुनः लिट्,

लोलूयाञ्चक्रे—पूर्ववत्।

अमन्त्रे अर्थात् मन्त्र के विषय को छोड़कर 'आम्' प्रत्यय होता है—

(3) कृष्णो नोनाव

यहाँ 'आम्' नहीं हुआ।

कास्यनेकाच इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम्—कास् धातु तथा चुलुम्प आदि धातुओं से लिट् परे रहते 'आम्' होता है—

(4) चुलुम्पाञ्चकार

चुलुम्प लिट्—यह धातु पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है, वार्त्तिककार के द्वारा पठित है, 'आम्' हुआ,

चुलुम्प आम् कृ त—पूर्ववत् लिट् का लुक्, अनुप्रयोग, त, एश्, द्वित्व आदि,

चुलुम्पाञ्चकार—अनुस्वार, परसवर्ण।

(5) दरिद्राञ्चकार

दरिद्रा लिट्—पूर्ववत् 'आम्' आदि होकर रूप बनता है।

(6) चकासाञ्चकार (पूर्ववत्)।

आमोऽमित्त्व०—कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

(क) **आमोऽमित्त्वम्**—आम् का 'म्' इत्संज्ञक नहीं है, कारण कि—

(ख) **अदन्तत्वात्**—'आम' अदन्त है। (अकार की इत्संज्ञा व लोप होने से मकार अन्त्य नहीं कहा जा सकता। अन्त्य न होने से 'हलन्त्यम्' की प्रवृत्ति नहीं होती)।

(ग) **अगुणत्वं विदेस्तथा**—('आम' के अदन्त होने में दूसरा प्रमाण यह है कि) 'विदाञ्चकार' में गुण का निषेध होता है। (अकार के लोप का स्थानिवद्भाव होने से 'विद्' की उपधा में 'दकार' रहता है तथा अच् न रहने से गुण प्रसक्त नहीं होता।

(घ) **आश्चकासोर्विधानाच्च**—('आम' के अदन्त होने में एक अन्य प्रमाण यह है कि) 'आस्' तथा 'कास्' धातुओं से 'आम्' का विधान किया गया है।

(ङ) **पररूपं कतन्तवत्**—(अब शङ्का होती है कि 'आम' को अदन्त मान लेने पर 'आम अमन्त्रे' यहाँ सवर्णदीर्घ होकर 'आमामन्त्रे' ऐसा सूत्रपाठ होना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि) यहाँ 'कतन्त' (कत अन्त) की तरह पररूप जानना चाहिए।

(655) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः *36*

(2237)

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छतिवर्जितस्तस्माच्च लिटि परत आम्प्रत्ययो भवति। ईह चेष्टायाम् (धा०पा० 632), ऊह वितर्के (धा०पा० 648)—ईहाञ्चक्रे। ऊहाञ्चक्रे। इजादेरिति किम्? ततक्ष, ररक्ष। गुरुमत इति किम्? इयज, उपव। अनृच्छ इति किम्? आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः। *ऊर्णोतेश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। प्रोर्णुनाव। अथवा–

वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।
आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात्॥

(म०भा०)

अर्थ—मन्त्र के विषय को छोड़कर इजादि तथा गुरुमान् जो धातु, उससे पर 'आम्' प्रत्यय होता है, लिट् परे रहते, परन्तु 'ऋच्छ्' से पर 'आम्' नहीं होता।

इजादि = इच् (अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) वर्ण है आदि में जिसके। गुरुमान् = गुरु वर्ण से युक्त धातु।

1. यदि 'म्' को इत् किया जाता है तो मित् होने से 'आम्' अन्त्य अच् से परे होने लगेगा। यथा—का आम् स्। इस स्थिति में 'का आ स्' को सवर्णदीर्घ होकर 'कास्' वैसे का वैसा ही स्वरूप रहता। अतः 'आम्' प्रत्यय का विधान व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'म्' इत्सञ्ज्ञक नहीं है। महाभाष्यकार ने 'आम' ऐसा अदन्त रूप मानकर अकार को अनुनासिक किया है। तब 'म्' अन्त्य में नहीं रहता। यथा—महा० 3.1.35.

उदा० (1) ईहाञ्चक्रे
ईह आम् लिट्—इजादि है, 'दीर्घञ्च' से ईकार की गुरुसंज्ञा हुई, धातु गुरुमान् है, 'आम्' हुआ,
ईहाम् कृ त—लिट् का लुक्, अनुप्रयोग, 'त',
ईहाम् चक्रे—एश्, यणादेश, द्वित्व,
ईहाञ्चक्रे—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) ऊहाञ्चक्रे
पूर्ववत् सभी कार्य।

इजादे—अर्थात् इजादि धातु से पर 'आम्' होता है—

(3) ततक्ष
तक्ष् लिट्—'संयोगे गुरु' से अकार की गुरुसंज्ञा हुई, धातु गुरुमान् तो है परन्तु इजादि नहीं है, अतः 'आम्' नहीं हुआ,
ततक्ष—णल्, द्वित्व अभ्यास कार्य।

गुरुमतो अर्थात् गुरुमान् धातु से 'आम्' होता है—

(4) इयज
यज् लिट्—धातु इजादि तो है, परन्तु गुरुमान् नहीं है। अतः 'आम्' नहीं हुआ,
इयज—रूप बना।

(5) उवप (पूर्ववत्)।

अनृच्छ० अर्थात् ऋच्छ् धातु से 'आम्' नहीं होता है—

(6) आनर्च्छ
ऋच्छ् लिट्—'आम्' नहीं हुआ,
आनर्च्छ—ऋच्छत्यॄताम्, अत आदेः, तस्मान्नुडचि०।

ऊर्णोतेश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः—'ऊर्णु' धातु से 'आम्' नहीं होता है—

(7) ऊर्णुनाव
ऊर्णु लिट्—यह धातु इजादि व गुरुमान् है, प्रकृत सूत्र से 'आम्' प्राप्त हुआ, वार्तिक ने निषेध किया,
ऊर् नु नु णल्—द्वित्व, नन्द्राः संयोगादयः,
ऊर् नु नाव—वृद्धि, आवादेश,
ऊर्णुनाव—णत्व।

महाभाष्यकार ने 'ऊर्णु' को नुवत् माना है, जिसके तीन प्रयोजन हैं, जो कारिकाबद्ध हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

(क) वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो—ऊर्णु धातु को नुवत् कहना चाहिए।

(ख) यङ् प्रसिद्धिः प्रयोजनम्—'ऊर्णु' अनेकाच् है तथा हलादि भी नहीं है। अतः 'धातोरेकाचो हलादेः—' से इसे यङ् प्राप्त नहीं होता। नुवद्भाव होने पर यङ् होकर 'ऊर्णोनूयते' रूप बन जाता है।

(ग) आम् का प्रतिषेध—ऊर्णु धातु इजादि है तथा गुरुमान् भी है। अतः आम् प्राप्त होता है, परन्तु इसे नुवत् मान लेने पर आम् का निषेध हो जाता है—प्रोर्णुनाव।

(घ) इडुपग्रह—अर्थात् इट् का निषेध—'ऊर्णु क्त' इस दशा में 'ऊर्णु' के अनेकाच् होने से 'श्रयुकः किति' की प्रवृत्ति नहीं हो पाती और इट् की निर्बाध प्राप्ति होती है। इसे नुवत् मान लेने पर 'श्रयुकः किति' से इट् का निषेध हो गया। ऊर्णुतः।

इस प्रकार महाभाष्य के अनुसार नुवद्भाव करने पर वार्तिक की जरुरत नहीं रह जाती है।

(656) दयायासश्च *37* (2324)

'दय दानगतिरक्षणेषु' (धा०पा० 481), 'अय गतौ' (धा०पा० 474), 'आस उपवेशने' (धा०पा० 1022) इत्येतेभ्यो लिटि परत आम्प्रत्ययो भवति। दयाञ्चक्रे। पलायाञ्चक्रे। आसाञ्चक्रे।

अर्थ—मन्त्र विषय को छोड़कर लिट् परे रहते दय्, अय् और आस् धातुओं से 'आम्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दयाञ्चक्रे
दय् लिट् → दय् आम् ल्—पूर्ववत्,
दयाम् कृ त—पूर्ववत्,
दलायाञ्चक्रे—पूर्ववत्।

(2) पलायाञ्चक्रे
परा अय् आम् लिट्—'उपसर्गस्यायतौ' से लत्व,
पलायाञ्चक्रे—अनुप्रयोग आदि पूर्ववत्।

(3) आसाञ्चक्रे
आस् आम् कृ त—पूर्ववत्,
आसाञ्चक्रे—पूर्ववत्।

(657) उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् *38* (2341)

'उष दाहे' (धा०पा० 696), 'विद ज्ञाने' (धा०पा० 1065), 'जागृ निद्राक्षये' (धा०पा० 1073) एतेभ्यो लिटि परतोऽन्यतरस्यामाम् प्रत्ययो भवति। ओषाञ्चकार, उवोष। विदाञ्चकार, विवेद। जागराञ्चकार, जजागार। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि गुणो न भवति।

अर्थ—मन्त्र के विषय को छोड़कर उष्, विद् तथा जागृ धातुओं से 'आम्' प्रत्यय विकल्प से होता है, लिट् परे रहते।

उदा० (1) ओषाञ्चकार
उष् लिट्—'उष' में अकार उच्चारणार्थ है,
उष् आम् कृ णल्—पूर्ववत्,
ओषाञ्चकार—लघूपधगुण।

(2) उवोष
उष् लिट्—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ, णल्
उ उष् णल्—द्वित्व,
उव् ओष् अ—अभ्यासस्याऽसवर्णे, लघूपधगुण,
उवोष—रूप बना।

(3) विदाञ्चकार
धातुपाठ में 'विद्' धातु का पाँच स्थलों[1] पर पाठ उपलब्ध होता है। सूत्रोक्त उष् तथा जागृ धातु परस्मैपदी है। अतः इनके साहचर्यवशात् यहाँ परस्मैपदी 'विद्' का ग्रहण इष्ट है, जो केवल आदादिगणी है।
विद् लिट् → विद् आम् ल्—पूर्ववत्,
विदाञ्चकार—'विद्' के अदन्त होने से लघूपधगुण भी नहीं होता है।

(4) विवेद
विद् णल्—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ,
विवेद् अ → विवेद—गुण। अदन्त 'विद' का निपातन नहीं हुआ।

(5) जागराञ्चकार
जागृ आम् कृ णल्—'आम्' आदि,
जागराञ्चकार—गुण आदि।

(6) जजागार
ज जागृ अ—'आम्' नहीं हुआ, द्वित्व,
जजागार—वृद्धि।

(658) भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च *39* (2491)

'ञिभी भये' (धा०पा० 1085), 'ह्री लज्जायाम्' (धा०पा० 1086), 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (धा०पा० 1088), 'हु दानादनयोः' (धा०पा० 1084) इत्येतेभ्यो लिटि परत आम्प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम्, श्लाविव चास्मिन् कार्यं भवति। किं पुनस्तत्? द्वित्वमित्वञ्च। बिभयाञ्चकार, बिभाय। जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय। बिभराञ्चकार, बभार। जुहवाञ्चकार, जुहाव।

अर्थ—मन्त्र के विषय को छोड़कर लिट् प्रत्यय परे रहते भी, ह्री, भृ तथा हु धातुओं से 'आम्' प्रत्यय विकल्प से होता है और वह 'आम्' श्लुवत् होता है।

यह अतिदेश किया जा रहा है। 'श्लुवत्' का अर्थ यह है कि 'आम्' परे रहते वे सभी कार्य होते हैं, जो श्लु के परे रहते होते हैं।

उदा० (1) बिभयाञ्चकार
भी लिट् → भी आम् ल्—'आम्' पाक्षिक हुआ,
भी भी आम् → भि भी आम्—'श्लौ' से द्वित्व,
बिभयाम्—अभ्यासे चर्च, गुण,
बिभयाञ्चकार—शेष कार्य पूर्ववत्।

(2) बिभाय
भी णल् → भी भी णल्—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ,
बिभाय—द्वित्व, वृद्धि, आयादेश।

(3) जिह्रयाञ्चकार
ह्री आम् ल्—आम्, श्लुवत्,
ह्री ह्री आम् ल् → ही ह्री आम् ल्—द्वित्व, हलादि शेष,
हि ह्री आम् ल् → झि ह्री आम् ल्—ह्रस्वः, कुहोश्चुः,
जिह्रयाम् ल्—अभ्यासे चर्च, गुण, अयादेश,
जिह्रयाञ्चकार—शेष पूर्ववत्।

(4) जिह्राय
ह्री णल् → जिह्राय—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ, द्वित्व, वृद्धि तथा आयादेश।

(5) बिभराञ्चकार
भृ आम् ल् → बिभराम् ल्—आम्, श्लुवत्,
बिभराञ्चकार—शेष पूर्ववत्।

(6) बभार
भृ णल्—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ,
भृ भृ णल् → भ भृ अ—द्वित्व, उरत्,
बभार—अभ्यासे चर्च, वृद्धि।

(7) जुहवाञ्चकार
हु आम् ल्—आम श्लुवत्,

1. (क) विद ज्ञाने (अदा०), (ख) विद सत्तायाम् (दि०), (ग) विद्लृ लाभे (तुदा०), (घ) विद विचारणे (रु०), (ङ) विद चेतनाऽऽख्याननिवासेषु (चु०)।

हु हु आम् ल्—द्वित्व,
जुहवाम्—कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च, गुण,
जुहवाञ्चकार—शेष पूर्ववत्।

(8) जुहाव
हु णल्—पक्ष में 'आम्' नहीं हुआ,
जुहाव—द्वित्व, अभ्यासकार्य।

(659) कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि *40* (2239)

आम्प्रत्ययस्य पश्चात् कृञनुप्रयुज्यते लिटि परतः। कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वस्तयो गृह्यन्ते, तत्सामर्थ्या-दस्तेर्भूभावो (2.2.52) न भवति। पाचयाञ्चकार। पाचयाम्बभूव। पाचयामास।

अर्थ—लिट् परे रहते (पूर्वोक्त आम् प्रत्यय के) पश्चात् 'कृञ्' का भी अनुप्रयोग किया जाता है।

'कृञ्' एक प्रत्याहार है। यह 'कृभ्वस्तियोगे०' (5.4.50) के 'कृ' से लेकर 'कृञो द्वितीयतृतीय०' (5.4.58) के 'ञ्' तक ग्रहण किया जाता है। अतः 'कृञ्' के द्वारा कृ, भू तथा अस्—इनका ग्रहण होता है तथा सामर्थ्यवशात् 'अस्' के स्थान पर 'भू' आदेश भी नहीं होता है।

यद्यपि इन दोनों सूत्रों के मध्य 'अभिविधौ सम्पदा च' (5.4.53) में 'सम् पद्' धातु का पाठ भी है; परन्तु 'पद्' धातु एक विशेष अर्थ वाली धातु है तथा 'कृ' आदि सामान्य अर्थ वाले धातु हैं। यहाँ विशेष के पश्चात् समान्य अर्थ वाले धातु का ही अनुप्रयोग हो, अतः 'सम्-पद्' को 'कृञ्' प्रत्याहार में परिगणित नहीं किया जाता है।

पूर्व सूत्र से 'लिटि' का अनुवर्त्तन प्राप्त है। तब प्रकृत सूत्र में 'लिटि' पद के दो बार आने से 'आम्' के पश्चात् क्रमशः लिट् परक कृ, लिट् परक भू तथा लिट् परक अस् का अनुप्रयोग होता है।

उदा० (1) पाचयाञ्चकार
पच् णिच् → पाचि लिट्—अत उपधायाः,
पाचय् आम्—आम्, लिट् का लुक्, गुण,
पाचयाम् कृ लिट्—लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग,
पाचयाञ्चकार—णल्, द्वित्व आदि।

(2) पाचयाम्बभूव
पाचयाम् भू ल्—लिट्परक 'भू' का अनुप्रयोग,
पाचयाम् भूव् भूव् अ—भुवो वुग्०, द्वित्व, हलादि शेष,
पाचयाम् बभूव् अ—भवतेरः, अभ्यासे चर्च,
पाचयाम्बभूव—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) पाचयामास
लिट्परक 'अस्' का अनुप्रयोग होकर रूप बना।

(660) विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् *41* (2465)

विदाङ्कुर्वन्त्वित्येतदन्यतरस्यां निपात्यते। किं पुनरिह निपात्यते? विदेर्लोट्याम्प्रत्ययो गुणाभावो लोटो लुक् कृञश्च लोट्परस्यानुप्रयोगः। अत्र भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु, विदन्तु। इतिकरणः प्रदर्शनार्थः–न केवलं प्रथमपुरुषबहुवचनम्, किं तर्हि, सर्वाण्येव लोड्वचनान्यनुप्रयुज्यन्ते–विदाङ्करोतु, विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुरु, विदाङ्कुरुतमित्यादि।

अर्थ—(लोट् के प्र० पु० बहुव० में) 'विदाङ्कुर्वन्तु' पद का विकल्प से निपात होता है। यहाँ चार कार्यों का निपातन किया गया है—

(क) लोट् के परे रहते 'आम्' प्रत्यय,
(ख) 'आम्' के परे रहते 'पुगन्तलघूपध०' से प्राप्त गुण का निषेध,
(ग) 'आम्' से पर लोट् का लुक्,
(घ) लोडन्त 'कृ' का अनुप्रयोग।

उदा० (1) विदाङ्कुर्वन्तु
पूर्वोक्त चारों कार्य शास्त्रानुसार प्राप्त नहीं है। इनका निपातन किया गया है।

(2) विदन्तु
पक्ष में पूर्वोक्त निपातन कार्य न होकर रूप बनता है।

इति०—इतिकरण का फल यह है कि लोट् के प्रत्येक पुरुष व प्रत्येक वचन में पूर्वोक्त निपातन विकल्प से होते हैं।

(3) विदाङ्करोतु
प्र० पु० एकव० में रूप बनता है।

(4) वेत्तु
पक्ष में 'आम्' आदि नहीं होते हैं।

(5) विदाङ्कुरुतात्
'तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्य०' से पक्ष में 'तातङ्' हुआ।

(6) वित्तात्
'आम्' नहीं हुआ।
इसी प्रकार शेष वचनों में भी जानना चाहिए।

(661) अभ्युत्सादयांप्रजनयाञ्चिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद्विदामक्रन्निति च्छन्दसि *42* (3403)

अभ्युत्सादयामित्येवमादयश्छन्दसि विषयेऽन्यतरस्यां निपात्यन्ते। सदिजनिरमीणां ण्यन्तानां लुङ्याम्प्रत्ययो निपात्यते। चिनोतेरपि तत्रैवाम्प्रत्ययो द्विवर्चनं कुत्वं च। अकरिति चतुर्भिरपि प्रत्येकमनुप्रयोगः सम्बध्यते। पावयाङ्क्रियादिति पवतेः पुनातेर्वा ण्यन्तस्य लिङ्याम् निपात्यते, क्रियादिति चास्यानुप्रयोगः। विदामक्रन्निति विदेर्लुङ्याम् निपात्यते, गुणाभावश्च, अक्रन्निति चास्यानुप्रयोगः। अभ्युत्सादयांमकः (मै०सं० 1.6.5)। अभ्युदसीषददिति भाषायाम्। प्रजनयांमकः (मै०सं० 1.6.10)। प्राजीजनदिति भाषायाम्। चिकयामकः। अचैषीदिति भाषायाम्। रमयामकः (काठक सं० 7.7)। अरीरमदिति भाषायाम्। पावयाङ्क्रियात् (मै०सं० 2.1.3)। पाव्यादिति भाषायाम्। विदामक्रन् (मै०सं० 1.4.7, तै०ब्रा० 1.3.10.3)। अवेदिषुरिति भाषायाम्। (इतिकरणः प्रयोगप्रदर्शनार्थः)।

अर्थ—वेद के विषय में 'अभ्युत्सादयाम्' आदि रूपों का निपातन विकल्प से होता है।

उदा० (1) अभ्युत्सादयामकः (मै० सं० 1.6.5)

अभि उद् सद् णिच्—धातुसंज्ञा, यणादेश,

अभ्युत्सादि आम् कृ—'आम्' का निपातन, 'कृ' का अनुप्रयोग,

अभ्युत्सादयाम् कृ लुङ्—गुण, अयादेश,

अभ्युत्सादयाम् कृ तिप्—च्लि, 'मन्त्रे घसह्वर०' से च्लि लुक्,

अभ्युत्सादयाम् कर्—तिप् का लोप, गुण निपातनसिद्ध,

अभ्युत्सादयामकः—अट्, रेफ को विसर्ग।

(2) अभ्युदसीषदत्

अभ्युद् सादि चङ् त—लोक में, च्लि, चङ्, इतश्च, णेरनिटि, 'चङि' से द्वित्व, अभ्यासकार्य,

अभ्युद् स सद् अ त्—सन्यतः, दीर्घो लघोः आदि लगकर,

अभ्युद् सीसदत्—षत्व, अट्,

अभ्युदसीषदत्—रूप बना।

(3) प्रजनयामकः

प्रजन् णिच् आम्—निपातन से 'आम्',

प्रजनयामकः—पूर्ववत् कृ, लुङ्, च्लि लुक् आदि।

(4) प्राजीजनत्

प्र जनि च्लि त्—लोक में णिच्, च्लि,

प्र जन् जन् अ त्—चङ्, णिलोप, द्वित्व,

प्रजि जन् अत्—सन्यतः,

प्राजीजनत्—'दीर्घो लघोः' से दीर्घ, अट्।

(5) चिकयामकः

चि आम् कृ लुङ्—निपातन से 'आम्', 'कृ' का अनुप्रयोग,

चि कि आम् कृ तिप्—निपातन से द्वित्व व कुत्व,

चिकयामकः—शेष कार्य पूर्ववत्।

(6) अचैषीत्

चि सिच् त्—लोक में सिच्,

अचै स् ई त्—अस्तिसिचोऽपृक्ते—, सिचि वृद्धिः पर०,

अचैषीत्—षत्व।

(7) रमयामकः

रम् णिच् आम् लुङ्—णिच्, निपातन से 'आम्',

रामि आम् ल → रमि आम् ल्—अत उपधायाः, मितां ह्रस्वः,

रमयामकः—शेष कार्य पूर्ववत्।

(8) अरीरमत्

रमि चङ् त—लोक में 'चङ्' हुआ, णिलोप, द्वित्व,

रि रम् अत्—'सन्यतः' से इकार,

अरीरमत्—दीर्घो लघोः, अट्।

(9) पावयाङ्क्रियात्

पू णिच् आम् कृ लिङ्—निपातन से 'आम्',

पावयाम् कृ तिप्—वृद्धि, आवादेश,

पावयाङ्क्रियात्—रूप बना।

(10) पाव्यात्

लोक में रूप बना।

(11) विदामक्रन्

विद् आम् कृ लुङ्—निपातन से 'आम्',

विदामक्रन्—निपातन से गुण का अभाव।

(12) अवेदिषुः

अट् विद् सिच् जुस्—लुङ् 'झ' में, सिच्, झेर्जुस्, अट्,

अवेदिषुः—चुट्, आर्धधातुक इट्, गुण, सिजभ्यस्तविदिभ्यः।

(662) च्लि लुङि *43* (2221)

धातोश्च्लिः प्रत्ययो भवति लुङि परतः। इकार उच्चारणार्थः, चकारः स्वरार्थः (6.1.63)। अस्य सिजादीनादेशान् वक्ष्यति, तत्रैवोदाहरिष्यामः।

अर्थ—लुङ् लकार परे रहते धातु से 'च्लि' प्रत्यय होता है। इकार उच्चारणार्थ है। 'चुटू' से चकार की इत्संज्ञा होती है। चित्करण स्वर के लिए है। 'च्लि' शप् का अपवाद है।

उदा०—इसे सिच् आदि आदेश होते हैं, जो आगे कहे जायेंगे।

(663) च्लेः सिच् *44* (2222)

च्लेः सिजादेशो भवति। इकार उच्चारणार्थः, चकारः स्वरार्थः। अकार्षीत्। अहार्षीत्। आगमानुदात्तत्वं हि प्रत्ययस्वरमिव चित्स्वरमपि बाधेतेति स्थानिन्यादेशे च द्विश्चकारोऽनुबध्यते। *स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा वक्तव्यः* (म०भा०)। अस्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत्, अस्पृक्षत्। अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्। अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्, अकृक्षत्। अत्राप्सीत्, अतार्प्सीत्, अतृपत्। अद्राप्सीत्, अदार्प्सीत्, अदृपत्।

अर्थ—'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश होता है। इकार उच्चारणार्थ है।[1] चकार स्वरार्थ है।

(1) अकार्षीत्
कृ तिप्—लुङ् स्थानिक,
अ कृ च्लि त्—इतश्च, च्लि लुङि, अट्
अ कृ सिच् त्—च्लेः सिच्,
अ कृ स् ई त्—अस्तिसिचोऽपृक्ते०, अनुबन्धलोप,
अकार्षीत्—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, षत्व।

(2) अहार्षीत्
हृ लुङ्—पूर्ववत् सभी कार्य।

आगमानु०—आगम का अनुदात्तत्व प्रत्यय स्वर की तरह चित् स्वर का भी बाध कर लेगा, अतः स्थानी 'च्लि' और आदेश 'सिच्' दोनों में चकार अनुबन्ध लगाया गया है।

1. कुछ विद्वान् 'सिच्' को इदित् मानते हैं। 'सिच्' को इदित् मानने का फल 'अमंस्त' में दृष्टिगोचर होता है—
मन् लुङ्—मन् च्लि त—मन् सिच् त—इस स्थिति में 'त' प्रत्यय के 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने के कारण तथा सकार के इदित् होने से 'अट् मन् स् त' यहाँ 'अनिदितां हलः०' की प्रवृत्ति नहीं होती है। तब नकारलोप न होकर 'अमंस्त' रूप बनता है। यदि सिच् के इकार को उच्चारणार्थ मान लिया जाय तो इसका सकार अनिदित् होकर नकारलोप कर देगा। इस पर पदमञ्जरीकार ने समाधान दिया है कि 'हनः सिच्' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि सिजन्त के अनुनासिक का लोप नहीं होता। यदि यहाँ अनुनासिक लोप की सम्भावना होती तो 'हनः सिच्' में सिच् को कित् करना व्यर्थ हो जाता है।

स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा वक्तव्यः—स्पृश, मृश, कृष्, तृप् तथा दृप्—इन धातुओं से पर 'च्लि को 'सिच्' विकल्प से होता है। धातुपाठ में 'तृप्' धातु का दो बार पाठ प्राप्त होता है—तौदादिक व दैवादिक। यहाँ दैवादिक 'तृप्' का ग्रहण है। यदि तौदादिक 'तृप्' का भी ग्रहण करते हैं तो सिच् के अभावपक्ष में 'च्लि' रहेगा; परन्तु महाभाष्यकार का कथन है कि 'च्लि' का श्रवण कहीं प्राप्त नहीं होता है।[1]

(3) अस्राक्षीत्
अ स्पृश् सिच् तिप्—लुङ्, तिप्, च्लि, प्राप्त 'क्स' को बाधकर पाक्षिक सिच्, अट्,
अ स्प्रश् स् ई त्—अस्तिसिचोऽपृ०, अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य० से पाक्षिक 'अम्'—
अस्राष् सीत्—वदव्रजहल० से वृद्धि, व्रश्चभ्रस्ज० से षकार,
अस्राक् षीत्—षढोः कः सि, षत्व,
अस्राक्षीत्—सिच् व अम् पक्ष में रूप।

(4) अस्पार्क्षीत्
अ स्पृश् स् ई त्—'अम्' अभावपक्ष में 'सिचि वृद्धिः०' से वृद्धि, शेष कार्य पूर्ववत्,
अस्पार्क्षीत्—सिच् पक्ष व अम् अभावपक्ष।

(5) अस्पृक्षत्
अ स्पृश् क्स त्—सिच् अभाव पक्ष में, 'शल इगुपधाद०' से 'क्स'
अ स्पृक् स त्—पूर्ववत् 'श्' को 'ष्', 'ष्' को 'क्'—
अस्पृक्षत्—षत्व।

(7) अम्राक्षीत्
अ मृष् स् त्—लुङ्, प्राप्त क्स को बाधकर सिच् पक्ष, अट्,
अ म्राष् स् ई त्—ईट्, अम् पक्ष, वृद्धि,
अम्राक्षीत्—षढोः कः सि, षत्व।

(8) अमार्क्षीत्
अ मृष् स् ई त्—सिच् पक्ष, अम् अभाव पक्ष,
अमार्क्षीत्—वृद्धि, क्, षत्व।

(9) अमृक्षत्
अ मृष् क्स त्—सिच् अभाव, क्स,
अमृक्षत्—अस्पृक्षत् की तरह।

(10) अक्राक्षीत्

1. महा० 3.1.43. च्लिः क्वाऽपि न श्रूयते।

अ कृष् स् ई त्—प्राप्त 'क्स' को बाध कर सिच् पक्ष, आम् पक्ष, ईट्,
अक्राक्षीत्—अस्राक्षीत् की तरह।

(11) अकार्क्षीत्
अ कार्ष् स् ई त्—सिच्, ईट्, वृद्धि, पूर्ववत् शेष कार्य।

(12) अकृक्षत्
अकृष् क्स त्—अम् अभाव, क्स,
अकृक्षत्—अस्पृक्षत् की तरह।

(13) अत्राप्सीत्,
अ तृप् स् ई त्—प्राप्त 'अङ्' को बाध कर पाक्षिक 'सिच्',
अत्राप् सीत्—अम्, वदव्रजहलन्त०,
अत्राप्सीत्—अट् होकर रूप बना।

(14) अतार्प्सीत्
अ तृप् स् ई त्—पाक्षिक 'सिच्', अम् अभाव,
अ तार्प् सीत्—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु,
अतार्प्सीत्—अट् होकर रूप बना।

(15) अतृपत्
अ तृप् अङ् त—सिच् अभाव, 'पुषादिद्युता०' से 'अङ्'—
अतृपत्—अट् रूप बना।

(16) अद्राप्सीत्
अत्राप्सीत् की तरह।

(17) अदार्प्सीत्
अतार्प्सीत् की तरह।

(18) अदृपत्
अङ् हुआ। अतृपत् की तरह।

विशेष—'च्लि' प्रत्यय को सिच्, चङ्, अङ् आदि आदेश होते हैं। शङ्का होती है कि 'च्लि' के विधान की क्या आवश्यकता थी। सीधे सिच् आदि का विधान किया जा सकता था। समाधान यह है कि 'च्लि' का उत्सर्ग न करके सीधे 'शल इगुपधादनिटः क्सः' का पाठ करते तो 'अनिटः' पद 'धातोः' का विशेषण बनकर सूत्रार्थ इस प्रकार होता—

शल् प्रत्याहार अन्त वाले इक् वर्ण उपधा वाले अनिट् धातु से परे 'क्स' प्रत्यय होता है। तब 'गुह्' धातु के 'स्वरतिसूति०' से वेट् होने के कारण 'क्स' नहीं हो सकेगा। फलतः लुङ् में 'अधुक्षत्' रूप नहीं बन पायेगा। 'च्लि' का उत्सर्ग करने से अनिट् च्लि का विशेषण बन जाता है। तब इट् पक्ष में 'अगूहीत्' तथा अनिट् पक्ष में 'क्स' होकर 'अधुक्षत्' बन जाता है।

(664) शल इगुपधादनिटः क्सः *45* (2336)

शलन्तो यो धातुरिगुपधस्तस्मात्परस्य च्लेरनिटः क्स आदेशो भवति। दुह–अधुक्षत्। लिह–अलिक्षत्। शल इति किम्? अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत्। इगुपधादिति किम्? अधाक्षीत्। अनिट इति किम्? अकोषीत्, अमोषीत्।

अर्थ—शलन्त (= जिसके अन्त में श्, ष्, स्, ह्—इनमें से कोई वर्ण हो) और इगुपध (= जिसकी उपधा में इ, उ, ऋ, ऌ—इनमें से कोई वर्ण हो) धातु से पर अनिट् 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' होता है, लुङ् परे रहते। यह सिच् का अपवाद है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) अधुक्षत्
दुह् च्लि तिप्—लुङ् स्थानिक तिप्, च्लि, दुह् शलन्त व इगुपध है, अतः 'क्स' हुआ, अट्, इतश्च,
अ दुह् क्स त्—'दादेर्धातोर्घ' से 'घ्', 'एकाचो बशो०' से 'ध्',
अधुघ् स त्—खरि च, प्राप्त लघूपधगुण का निषेध,
अधुक्षत्—षत्व।

(2) अलिक्षत्
अ लिह् क्स त्—पूर्ववत्,
अलिक् स त्—हो ढः, षढोः कः सि,
अलिक्षत्—षत्व।

शल० अर्थात् शलन्त धातु से पर च्लि को क्स होता है—

(3) अभैत्सीत्
अट् भिद् च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च, अट्, च्लि, 'क्स' प्राप्त हुआ, 'भिद्' इगुपध तो है परन्तु शलन्त नहीं है, अतः 'क्स' नहीं हुआ, 'सिच्' हुआ,
अ भैद् स् ई त्—ईट्, वृद्धि,
अभैत्सीत्—खरि च।

(4) अच्छैत्सीत्
अ छिद् स् ई त्—पूर्ववत् 'सिच्', ईट्,
अच्छैत्सीत्—वृद्धि, खरि च, 'छे च' से 'तुक्'।

इगुप० अर्थात् इगुपध धातु से पर च्लि को 'क्स' होता है—

(5) अधाक्षीत्
अट् दह् च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च, च्लि, अट्, धातु शलन्त तो है परन्तु इगुपध नहीं है, अतः 'क्स' नहीं हुआ, सिच् हुआ,

अ दघ् स् ई त्—दादेर्धातोर्घः, ईट्,
अधाघ् सीत्—एकाचो बशो भष्०, वृद्धि,
अधाक्षीत्—खरि च, षत्व।

अनिट अर्थात् अनिट च्लि को ही 'क्स' होता है—

(6) अकोषीत्
अट् कुष् इ स् ई त्—लुङ्, तिप्, अट्, च्लि, धातु शलन्त तथा इगुपध है, परन्तु 'च्लि' को इट् प्राप्त है, अतः 'क्स' नहीं हुआ, च्लेः सिच्, इट्, ईट्,
अकोषीत्—गुण, इट् ईटि।

(7) अमोषीत् (पूर्ववत्)।

(665) श्लिष आलिङ्गने *46* (2514)

श्लिषेर्धातोरालिङ्गनक्रियावचनात्परस्य च्लेः क्स आदेशो भवति। आलिङ्गनमुपगूहनं परिष्वङ्गः। अत्र नियमार्थमेतत्। आश्लिक्षत् कन्यां देवदत्तः (म०भा०)। आलिङ्गन इति किम्? समाश्लिषज्जतुकाष्ठम्।

अर्थ—आलिङ्गन अर्थ में वर्त्तमान 'श्लिष्' धातु से पर 'च्लि' को 'क्स' आदेश होता है, लुङ् परे रहते।

अत्र०—'श्लिष्' धातु इगुपध व शलन्त है। अतः 'शल इगुपधाद—' से 'क्स' प्राप्त था। पुनः नियम के लिए यह सूत्रपाठ किया गया है। यह नियम करता है कि 'श्लिष्' से पर च्लि को 'क्स' आदेश करना इष्ट हो तो वह केवल आलिङ्गन अर्थ में ही हो, अन्यत्र न हो।

उदा० (1) आश्लिक्षत्
आ श्लिष् क्स त्—आलिङ्गन अर्थ में 'क्स' हुआ,
आ अ श्लिक् स त्—षढोः कः सि, अट्
आश्लिक्षत्—षत्व।

आलिङ्गने अर्थात् आलिङ्गन अर्थ में ही 'क्स' होता है—
(2) समाश्लिषत्
सम् आ अ श्लिष् अङ् त्—'पुषादिद्युता०' से 'अङ्'—
समाश्लिषत्—रूप बना।

(666) न दृशः *47* (2407)

पूर्वेण क्सः प्राप्तः (3.1.45) प्रतिषिद्ध्यते। दृशेर्धातोः परस्य च्लेः क्सादेशो न भवति। अस्मिन् प्रतिषिद्धे 'इरितो वा' (3.1.57) इत्यङ्सिचौ भवतः-अदर्शत्, अद्राक्षीत्।

अर्थ—पूर्व सूत्र से 'क्स' प्राप्त था। यहाँ निषेध किया जा रहा है। 'दृश्' धातु से पर 'च्लि' को 'क्स' आदेश नहीं होता है, लुङ् परे रहते।

इसके द्वारा निषेध हो जाने पर 'इरितो वा' के द्वारा 'अङ्' व 'सिच्' होते हैं।

उदा० (1) अदर्शत्
दृशिर् → दृश् च्लि तिप्—लुङ्, तिप्, च्लि, 'सिच्' प्राप्त हुआ, उसे बाध कर 'क्स' प्राप्त हुआ, निषेध हुआ, 'इरितो वा' से पाक्षिक 'अङ्'—
अ दृश् अङ् त्—लघूपधगुण का 'क्ङिति च' से निषेध, 'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण,
अदर्शत्—रूप बना।

(2) अद्राक्षीत्
अ दृश् स् ई त्—अङ् अभाव पक्ष में 'क्स' का निषेध होने पर यथाप्राप्त 'सिच्' हुआ,
अ द्राश् सीत्—'सृजिदृशोर्झल्य०' से 'अम्', 'वदव्रजहलन्तस्य०' से वृद्धि,
अद्राक् सीत्—व्रश्चभ्रस्ज, षढोः कः सि,
अद्राक्षीत्—षत्व।

(667) णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् *48* (2312)

सिजपवादश्चङ् विधीयते। ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः, श्रि, द्रु, स्रु इत्येतेभ्यश्च परस्य च्लेश्चङादेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः। ङकारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः, चकारश्चङीति (6.1.11) विशेषणार्थः। अचीकरत्। अजीहरत्। अशिश्रियत्। अदुद्रुवत्। असुस्रुवत्। कर्त्तरीति किम्? अकारयिषातां कटौ देवदत्तेन। *कमेरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। 'आयादय आर्द्धधातुके वा' (3.1.31), इति यदा णिङ् नास्ति तदैतदुपसंख्यानम्-अचकमत। णिङ्पक्षे सन्वद्भावः-अचीकमत।

नाकमिष्टं सुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः॥
(म०भा०)

अर्थ—'सिच्' के अपवादस्वरूप 'चङ्' कहा जा रहा है। णिप्रत्ययान्त धातु, श्रि, द्रु तथा स्रु धातुओं से पर 'च्लि' को 'चङ्' आदेश होता है कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते।

'चङ्' में 'ङ्' अनुबन्ध का पाठ गुण तथा वृद्धि के निषेध के लिए है। चकार का योग 'चङि' इस प्रकार विशेषण के लिए

है, अन्यथा 'अङ्' प्रत्यय में भी द्वित्व होने लगेगा। 'णि' यह निरनुबन्धक निर्देश होने से इसके द्वारा 'णिच्' व 'णिङ्' दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) अचीकरत्

कृ णिच्—हेतुमति च

कारि—अचो ञ्णिति, धातुसंज्ञा,

कारि च्लि तिप्—लुङ, तिप्, च्लि,

अ कार् इ चङ् त्—इतश्च, णिश्रिद्रु०, अट्,

अ कर् अ त्—णेरनिटि, णौ चङ्युपधाया०,

अ कृ कर् अ त्—'चङि' से द्वित्व, 'णौ कृतं स्थानिवद् भवति' (वा) से तथा 'द्विर्वचनेऽचि' से रूपातिदेश,

अ कर् करत्—उरत्, हलादिः शेषः, सन्वल्लघुनि०,

अचीकरत्—सन्यतः, दीर्घो लघोः।

(2) अजीहरत्

हृ णिच्—पूर्ववत् सभी कार्य।

(3) अशिश्रियत्

श्रि चङ् त्—लुङ्, तिप्, चङ्,

शिश्रि अ त्—द्वित्व, अभ्यास कार्य,

अशिश्रियत्—'अचि श्नुधातु०' से इयङ्, अट्।

आत्मनेपद में 'अशिश्रियत' बनता है।

(4) अदुद्रुवत्

'अशिश्रियत्' की तरह सभी कार्य। उवङ् विशेष होता है।

(5) असुस्रुवत् (पूर्ववत्)।

कर्त्तरि अर्थात् **कर्त्रर्थक** लुङ् परे रहते 'चङ्' होता है—

(6) अकारयिषाताम्

यहाँ कर्मवाच्य का प्रयोग है। कर्त्रर्थक लुङ् परे न रहने से चङ् नहीं हुआ।

कमेरुप०—'कम्' धातु से पर 'चङ्' होता है। 'आयादय आर्धधातुके वा' से णिङ् अभाव पक्ष में यह 'चङ्' विधान किया गया है—

(7) अचकमत

कम् त → कम् च्लि त—णिङ् अभाव पक्ष में चङ् प्राप्त नहीं था,

क कम् चङ् त—चङ्, द्वित्व, अभ्यासकार्य,

अचकमत—चङ्परक 'णि' नहीं रहने से सन्वद्भाव भी नहीं हुआ।

(8) अचीकमत

कम् णिङ् लुङ्—'कमेर्णिङ्' स्वार्थ में 'णिङ्' आया, 'आयादय आर्धधातुके वा' से पाक्षिक णिङ् हुआ, णिङ् पक्ष में धातुसंज्ञा, लुङ्।

काम् इ चङ् त—त, अत उपधायाः, च्लि, चङ्,

काम् अ त—'एरनेकाचः०' से प्राप्त यणादेश को बाधकर णिलोप,

चि कम् अ त—णौ चङ्युपधा०, चङि, सन्वल्लघुनि०, सन्यतः,

अचीकमत—दीर्घो लघोः।

नाकमिष्टम्—कारिका का अर्थ इस प्रकार है—.

('अचकमत' के स्थान पर शुद्ध रूप का प्रयोग करने वाले) घोड़ों से युक्त रथों के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करते हैं तथा (इसके स्थान पर) 'अचीकमत' रूप का प्रयोग करने वाले पैदल ही भटकते हैं।

(668) विभाषा धेट्श्व्योः *49* (2375)

'धेट् पाने' (धा०पा० 903), 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (धा०पा० 1011) इत्येताभ्यामुत्तरस्य च्लेर्विभाषा चङादेशो भवति। धेटस्तावत्-अदधत्। सिच्पक्षे-'विभाषा घ्राधेट्' (2.4.78) इति लुक्-अधात्, अधासीत्। श्वयतेः खल्वपि-अशिश्वियत्। अङोऽप्यत्र विकल्पः-अश्वत्, अश्वयीत्। कर्तरीत्येव-अधिषातां गावौ वत्सेन।

अर्थ—धेट् तथा टुओश्वि धातुओं से पर च्लि के स्थान पर 'चङ्' विकल्प से होता है, कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते।

उदा० (1) अदधत्

धे च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च, च्लि,

धा चङ् त्—आदेच उपदेशेऽशिति, पाक्षिक चङ्,

दध् अ त्—द्वित्व, ह्रस्वः, अभ्यासे चर्च, आतो लोप इटि च,

अदधत्—अट्।

(2) अधात्

धा सिच् त्—चङ् अभाव पक्ष में यथाप्राप्त सिच्, 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छा०' से पाक्षिक लुक्,

अधात्—अट्।

(3) अधासीत्

चङ् अभाव तथा सिच् लुक् अभाव पक्ष में ईट् हुआ है,

इट् हुआ तथा सक् हुआ (यमरमनमातां सक् च)—
अ धा स इ स् ईत्—अधासीत्—इट ईटि।

(4) अशिश्वियत्
श्वि चङ् त्—पाक्षिक चङ्,
शिश्विय् अत्—द्वित्व, हलादि शेष, इयङ्, अचि श्नुधातु०,
अशिश्वियत्—अट्।

(5) अश्वत्
श्वि अङ् त्—'जृस्तम्भुम्रुचु०' से पाक्षिक अङ्,
अश्व अ त्—श्वयतेः, अट्,
अश्वत्—पररूप।
चङ् अभाव, अङ् पक्ष।

(6) अश्वयीत्
श्वि इ स् ई त्—अङ् अभाव पक्ष में यथाप्राप्त सिच्, इट्, ईट्, 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से प्राप्त वृद्धि का 'ह्म्यन्तक्षण०' निषेध,
श्वे इ ई त्—सार्वधातुकार्धधातु० से गुण, सिच् लोप,
अश्वयीत्—अयादेश।

कर्त्तरि० अर्थात् कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते 'चङ्' होता है—

(7) अधिषाताम्
धेट् से कर्मवाच्य हुआ। अतः चङ् नहीं हुआ।

(669) गुपेश्छन्दसि *50* (3404)

गुपेः परस्य च्लेश्छन्दसि विषये विभाषा चङादेशो भवति। यत्रायप्रत्ययो नास्ति तत्रायं विधिः। इमान्नो मित्रावरुणौ गृहानजूगुपतम्, युवंम् (मै०सं० 1.5.14) अगौप्तम्, अगौपिष्टम्, अगोपायिष्टमिति वा। भाषायां तु चङन्तं वर्जयित्वा शिष्टं रूपत्रयं भवति।

अर्थ—वेद के विषय में 'गुप्' धातु से पर 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' आदेश विकल्प से होता है, कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते।

जहाँ 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'आय' नहीं होता, वहाँ 'चङ्' किया गया है।

उदा० (1) अजूगुपतम् (मै० सं० 1.5.14)
गुप् थस्—लुङ्स्थानिक,
गुप् च्लि तम्—तस्थस्थमिपां०, गुपूधूपविच्छि०, आयादय आर्धधातुके वा, च्लि,
गु गुप् चङ् तम्—द्वित्व, अभ्यासकार्य, कुहोश्चुः,
अजूगुपतम्—तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य, अट्।

(2) अगौप्तम्
गुप् सिच् तम्—चङ् अभाव में यथाप्राप्त सिच् हुआ,
गौप् स् तम्—आर्धधातुक इट् की प्राप्ति, स्वरतिसूतिसूयति० से पाक्षिक निषेध, निषेधपक्ष में वदव्रजहलन्तस्य० से वृद्धि,
अगौप्तम्—झलो झलि, अट्।

(3) अगोपिष्टम्
गुप् स् तम्—चङ् अभाव तथा इट् निषेध अभावपक्ष में,
अगोपिष्टम्—हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध, लघूपध गुण, अट्, षत्व, ष्टुत्व।

(4) अगोपायिष्टम्
गुप् आय स् तम्—'आय' पक्ष में सिच्, इट्, अतो लोपः,
अगोपायिष्टम्—अट्, षत्व, ष्टुत्व।
प्रथम तीन रूप 'आय' अभाव पक्ष के हैं तथा अन्तिम रूप 'आय' पक्ष का है।

लोक में चङन्त रूप (अजूगुपतम्) को छोड़कर शेष तीन रूप (अगौप्तम्, अगोपिष्टम् अगोपायिष्टम्) होते हैं।

(670) नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः *51* (3405)

'ऊन परिहाणे' (धा०पा० 1889), 'ध्वन शब्दे' (धा०पा० 817), 'इल प्रेरणे' (धा०पा० 1358), 'अर्द गतौ याचने च' (धा०पा० 55)-इत्येतेभ्यो धातुभ्यो ण्यन्तेभ्यः पूर्वेण च्लेश्चङि प्राप्ते छन्दसि विषये न भवति। काममूनयीः (ऋ० 1.3.53)। औनिनत् इति भाषायाम्। मा त्वाग्निर्ध्वनयीत् (ऋ० 1.161.15)। अदिध्वनदिति भाषायाम्। काममैलयीत्। एलिलदिति भाषायाम्। मैनमर्दयीत्। आर्दिददिति भाषायाम्।

अर्थ—ऊन, ध्वन, इल व अर्द—इन ण्यन्त धातुओं से पर 'च्लि' को 'चङ्' पूर्व सूत्र (णिश्रिद्रुस्रु०) से प्राप्त होने पर वेद के विषय में नहीं होता है, कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते।

उदा० (1) ऊनयीः (ऋ० 1.53.3)
ऊन णिच् च्लि सिप्—लुङ् में, चङ् का निषेध,
ऊनि इ स् ई स्—'इतश्च' से इकारलोप, सिच्, ईट्, इट्,
ऊनयीः—सिच् लोप, सवर्णदीर्घ, गुण, अयादेश।

(2) औनिनत्
ऊनि नि चङ् त्—लोक में चङ्, द्वित्व,
ऊनि न् अत्—णिलोप, आट्,
औनिनत्—आटश्च।

(3) ध्वनयीत् (ऋ० 1.162.15)
ध्वन् णिच् इट् स् ई त—सिच्, इट, ईट् आदि होकर,
ध्वनयीत्—पूर्ववत्।
ध्वन धातु अदन्त है। इसका अकारलोप के स्थानिवद् होने से वृद्धि नहीं हुई।

(4) अदिध्वनत्
ध्वन् णिच् चङ् त्—लोक में 'चङ्' हुआ,
द ध्वन् अ त्—णिलोप, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
अदिध्वनत्—सन्यतः, अट्।

(5) ऐलयीः
इल् णिच् इ स् ई स्—सिप्, इतश्च, चङ् का निषेध, सिच्, इट्, ईट्,
ऐलयीत्—सिच् लोप, सवर्णदीर्घ, आट्, वृद्धि।

(6) ऐलिलत्
इल् णिच् चङ् त्—लोक में 'चङ्', णिलोप, द्वित्व,
इलि ल् अत्—आट्,
ऐलिलत्—वृद्धि।

(7) अर्दयीत्
अर्द् णि इ स् ई त्—पूर्ववत्,
अर्दयीत्—पूर्ववत्।

(8) आर्दिदत्
अर्द् णिच् चङ् त्—लोक में चङ्,
आर्दिदत्—शेष कार्य पूर्ववत्।

(671) अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् *52* (2438)

'असु क्षेपणे' (धा०पा. 1210), 'वच परिभाषणे' (धा०पा० 1064) ब्रूञादेशो वा (2.4.53), 'ख्या प्रकथने' (धा०पा० 1061) चक्षिङादेशो वा (2.4.54)- इत्येतेभ्यः परस्य च्लेरङादेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः। अस्यतेः पुषादिपाठादेवाङि सिद्धे पुनर्ग्रहणमात्मनेपदार्थम् (म०भा०) पर्यास्थत, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थन्त। वक्ति-अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्। ख्याति-आख्यत्, आख्यताम्, आख्यन्। कर्त्तरीति किम्? पर्यासिषातां गावो वत्सेन।

अर्थ—कर्तृवाचक लुङ् परे रहते अस्, वच् और ख्या धातुओं से पर च्लि के स्थान पर 'अङ्' आदेश होता है।

'अस्' धातु का पुषादि गण में पाठ होने से लुङ् में 'अङ्' पूर्वतः सिद्ध है, तदपि पुनः 'अङ्' का ग्रहण आत्मनेपद के लिए है। कारण कि 'पुषादिद्युता०' सूत्र केवल परस्मैपद में ही 'अङ्' करता है।

'अस्यति' इस प्रकार श्यन् युक्त निर्देश होने से यहाँ दैवादिक 'अस्' धातु का ग्रहण किया जाता है। 'वक्ति' के द्वारा 'वच परिभाषणे' तथा 'ब्रुवो वचिः'—इन दोनों का ग्रहण होता है। 'ख्याति' पद के द्वारा 'ख्या प्रकथने' धातु का ग्रहण नहीं होता, कारण कि वह केवल सार्वधातुक विषयक है तथा आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर जहाँ 'ख्या' प्राप्त होता है, वहाँ 'चक्षिङः ख्याञ्' द्वारा 'चक्षिङ्' के स्थान पर 'ख्या' आदेश जानना चाहिए। अतः 'चक्षिङः ख्याञ्' वाले 'ख्याञ्' आदेश का ग्रहण होता है।

उदा० (1) पर्यास्थत
अस् च्लि त—'उपसर्गादस्यत्यु०' (वा०) के द्वारा आत्मनेपद,
अस् थुक् अङ् त—अङ्, अङ्गसंज्ञा, 'अस्यतेस्थुक्' से 'थुक्',
आट् अस्थत—आट्, आटश्च,
पर्यास्थत—यणादेश।

(2) पर्यास्थेताम्
आ अस् थ् अ आताम्—द्विव० में 'आताम्', अङ्, थुक्, आट्,
परि आस्थेताम्—आटश्च, यणादेश,
पर्यास्थेताम्—रूप बना।

(3) पर्यास्थन्त
पूर्ववत् सभी कार्य। झोऽन्तः।

(4) अवोचत्
वच् च्लि त्—तिप्, इतश्च, च्लि,
वच् अङ् त्—अङ्, अङ्गसंज्ञा,
व उम् च् अत्—'वच उम्' से 'उम्', आद् गुणः,
अवोचत्—अट्।
आत्मनेपद में—अवोचत।

(5) अवोचताम् (पूर्ववत्)।
(6) अवोचन् (पूर्ववत्)।
(7) आख्यत्
आ ख्या च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च,
आ ख्य् अङ् त्—अङ्, 'आतो लोप इटि' से आकारलोप,
आ अ ख्यत्—अट्,
आख्यत्—अकः सवर्णे दीर्घः।

(8) आख्यताम्
आ ख्या अङ् ताम्—लुङ्, तस्, ताम् आदेश, अङ्,
आख्यताम्—आकारलोप, अट्।

(9) आख्यन्
आ ख्या अङ् अन्ति—पूर्ववत् अङ् आदि, झोऽन्तः,
आ ख्य् अ अन्त्—'इतश्च' से इकारलोप,
आ ख्यन्त्—अतो गुणे,
आख्यन्—संयोगान्तस्य लोपः, अट्, सवर्णदीर्घ।

कर्त्तरि० अर्थात् **कर्त्रर्थक** लुङ् प्रत्यय परे रहते धातु से पर 'च्लि' को 'अङ्' होता है—

(10) पर्यासिषाताम्
अस् आताम्—कर्मवाच्य में लुङ् होने से 'अङ्' नहीं हुआ, यथाप्राप्त 'सिच्' होकर रूप बनता है।

(672) लिपिसिचिह्वश्च *53* (2418)

'लिप उपदेहे' (धा०पा० 1434), 'षिच क्षरणे' (धा०पा० 1435), 'ह्वेञ् स्पर्धायाम्' (धा०पा० 1009)-इत्येतेभ्यश्च परस्य च्लेरङादेशो भवति। अलिपत्। असिचत्। आह्वत्। पृथग्योग उत्तरार्थः।

अर्थ—कर्त्रर्थक लुङ् प्रत्यय परे रहते लिप्, सिच् तथा ह्वे धातुओं से पर 'च्लि' को अङ्' आदेश होता है।

उदा० (1) अलिपत्
लिप् च्लि त्—तिप् (लुङ्), इतश्च, च्लि लुङि,
लिप् अङ् त—अङ् हुआ,
अलिपत्—अट्।

(2) असिचत्
सिच् च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च,
सिच् अङ् त्—पूर्ववत्,
असिचत्—पूर्ववत्।

(3) आह्वत्
ह्वे लुङ् → ह्वा लुङ्—आदेच उपदेशेऽशिति,
ह्वा च्लि त्—च्लि,
आङ् अ ह्वा अ त्—अङ्, अट् आगम, आङ् उपसर्ग,
आ ह्व् अ त्—आतो लोप इटि च, अकः सवर्णे दीर्घः,
आह्वत्—रूप बना।

प्रकृत सूत्र का पृथक् पाठ उत्तरशास्त्र में अनुवर्त्तन के लिए है।

विशेष—1. 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' तथा 'लिपिसिचिह्वश्च'—इन दोनों सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र बना देने की दशा में लाघव होता है, परन्तु 'लिपिसिचिह्वश्च' पद की अनुवृत्ति उत्तरशास्त्र में इष्ट होने के कारण इनका योगविभाग किया गया है।

2. 'लिपिसिचिह्वः' इस पद में समास को लेकर विद्वान् असमञ्जस में हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रश्न अनुत्तरित हैं—

(क) यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व मान लेने पर सूत्र का स्वरूप 'लिपिसिचिह्वाभ्यश्च' होना चाहिये था।

(ख) समाहारद्वन्द्व की दशा में 'लिपिसिचिह्वात्' ऐसा पाठ होना चाहिये था। हरदत्त ने इस झगड़े से बचकर इस प्रकार विग्रह दिखाया है[1]—

लिपिसिचिसहितो ह्वाः तस्मात्—लिपिसिचिह्वः।

कुछ विद्वानों ने यहाँ समाहार द्वन्द्व मानते हुये इसका समाधान इस प्रकार दिया है[2]—
लिपिश्च सिचिश्च ह्वाश्च—लिपिसिचिह्वाः।
यहाँ सौत्र पुंस्त्व (अर्थात् निपातनसिद्ध) हो गया।
तस्मात् लिपिसिचिह्वः।

लिपिसिचिह्वा ङसि—लिपिसिचिह्व् अस्—लिपिसिचिह्वः ('विश्वपः' की तरह)। आतो धातोः। प्रस्तुत सूत्र में चकार का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। यदि चकार पूर्वशास्त्र से अङ् के अनुकर्षण के लिए मान लिया जाय तो 'चाऽनुकृष्टं नोत्तरत्र' परिभाषा के बल पर उत्तरशास्त्र में 'अङ्' का अनुवर्त्तन नहीं हो सकेगा। चकार के योग से ज्ञापित होता है कि 'लिपिसिचिह्वः, का अनुवर्तन केवल 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' तक जाता है। फलतः दोनों सूत्रों के मध्य आचार्य ने चकार को रखा है।

(673) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् *54* (2419)

पूर्वेण प्राप्ते विभाषा आरभ्यते। लिपि सिचि ह्व आत्मनेपदेषु परतश्च्लेरङादेशो भवति अन्यतरस्याम्। 'स्वरितञितः' (1.3.72) इत्यात्मनेपदम्। अलिपत, अलिप्त। असिचत, असिक्त। अह्वत, अह्वास्त।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प का

1. पद० 3.1.53.
2. अष्टाध्यायी भाष्य (प्रथमभाग)—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पा० 3.1.53.

विधान किया जा रहा है। कर्तृवाची लुङ् आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते लिप्, सिच् तथा ह्वा धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश विकल्प से होता है। पक्ष में 'सिच्' होता है।

उदा० (1) अलिपत
लिप् अङ् त—पाक्षिक 'अङ्' हुआ,
अलिपत—अट्।

(2) अलिप्त
पक्ष में 'सिच्' हुआ, 'झलो झलि' से सकारलोप, 'लिङ्सिचाव०' से 'सिच्' के कित् होने से लघूपधगुण का निषेध।

(3) असिचत
सिच् अङ् त—पूर्ववत्,
असिचत—अट्।

(4) असिक्त
अ सिच् स् त—सिच्, अट्,
असिक्त—झलो झलि, चोः कुः।

(5) अह्वत
ह्वे ल् → ह्वा च्लि त—लुङ्, आत्व, च्लि,
ह्वा अङ् त—अङ् आदेश,
अ ह्व अ त—आतो लोप इटि च, अट्,
अह्वत—रूप बना।

(6) अह्वास्त
ह्वे ल्—ह्वा ल्—पक्ष में 'सिच्' हुआ,
ह्वा स् त—अट् होकर,
अह्वास्त—रूप बना।

(674) पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु *55* (2343)

पुषादिभ्यो द्युतादिभ्यः ऌदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परस्य च्लेः परस्मैपदेषु परतोऽङादेशो भवति। पुषादिर्दिवाद्यन्तर्गणो गृह्यते, न भूवादिः, क्र्याद्यन्तर्गणोः वा। पुष-अपुषत्। द्युतादि-अद्युतत्, अश्वितत्। ऌदिद्भ्यः-गम्ऌ-अगमत्, शक्ऌ-अशकत्। परस्मैपदेष्विति किम्? व्यद्योतिष्ट, अलोटिष्ट।

अर्थ—पुष् आदि (दैवादिक) धातुओं, द्युत् आदि धातुओं तथा ऌदित् (= जिनका ऌकार इत् है) धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है, परस्मैपद लुङ् प्रत्यय परे रहते।

पुष् धातु का धातुपाठ में चार बार पाठ उपलब्ध होता है—

(क) भ्वादिगण में,
(ख) दिवादिगण में,
(ग) क्र्यादिगण में,
(घ) चुरादिगण में।

परन्तु सूत्रस्थ 'पुषादि' के द्वारा व्याख्यानवशात् दैवादिक 'पुष्' व उसके उत्तरवर्त्ती (गणसमाप्तिपर्यन्त) धातुओं का ही ग्रहण होता है (पुष् से गृध् पर्यन्त)। यथा—भ्वादिगण में 'पुष्' धातु के पश्चात् 'द्युत्' धातु का पाठ है। यदि यहाँ भौवादिक 'पुष्' से पुषादिगण इष्ट होता तो 'द्युतादि' का पाठ व्यर्थ हो जाता, कारण कि 'द्युत्' आदि धातुओं का समावेश पुषादिगण में ही हो जाता है। क्र्यादिगण में 'पुष्' के पश्चात् केवल चार धातुओं का पाठ प्राप्त होता है। द्र०—
मुष स्तेये,
खच भूतप्रादुर्भावे,
हेठ च,
ग्रह उपादाने।

अतः क्र्यादिगणी 'पुष्' धातु से पुषादिगण मानने में गौरव है; क्योंकि आचार्य इन पाँच धातुओं के लिये 'पुषादि' ऐसा पाठ न करके इन्हें ऌदित करके ही छुट्टी पा लेते।

चौरादिक पुष् आदि का ग्रहण परिभाषाशास्त्रविरुद्ध है। कारण कि 'पुषादिद्युताद्यॢदितः' इस पद में पञ्चमी विभक्ति है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा के अनुसार अव्यवहित का कार्य होता है, जबकि चुरादिगणी धातु और प्रत्यय के मध्य णिच् का व्यवधान रहता है। अतः चुरादिगणी 'पुष्' से उक्त गण नहीं माना जा सकता। द्युत् से लेकर कृप् तक द्युतादिगण माना गया है।

उदा० (क) पुषादि०—
(1) अपुषत्
पुष् अङ् त्—अङ् हुआ,
अपुषत्—अट्।

(ख) द्युतादि०—
(2) अद्युतत् (पूर्ववत्)।
(3) अश्वितत् (पूर्ववत्)।

(ग) ऌदि०—
(4) अगमत्
गम् अङ् त्—'गम्ऌ' ऌदित् धातु है,
अगमत्—अट्।

(5) अशकत् (पूर्ववत्)।

परस्मै० अर्थात् परस्मैपद संज्ञक लुङ् परे रहते ही 'अङ्' होता है—

(6) व्यद्योतिष्ट

द्युत् लुङ्—'द्युद्भ्यो लुङि' से पाक्षिक परस्मैपद होता है, पक्ष में आत्मनेपद हुआ,

द्युत् सिच् त—अङ् नहीं हुआ, यथाप्राप्त सिच् हुआ,

द्योत् इ स् त—इट्, गुण,

अद्योतिष्ट—षत्व, ष्टुत्व, अट्,

व्यद्योतिष्ट—यणादेश

(७) अलोटिष्ट (पूर्ववत्)।

(675) सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च *56* (2382)

'सृ गतौ' (धा०पा० 936), 'शासु अनुशिष्टौ' (धा० पा० 1076), 'ऋ गतौ' (धा०पा० 937)-इत्येतेभ्यः परस्य च्लेरङादेशो भवति। सर्त्ति—असरत्। शास्ति—अशिषत्। अर्त्ति—आरत्। पृथग्योगकरणमात्मनेपदार्थम्—समरन्त (ऋ० 4.19.9)। चकारः परस्मैपदेष्वित्यनुकर्षणार्थः, तच्चोत्तरत्रोपयोगं यास्यति।

अर्थ—कर्त्रर्थक लुङ् परस्मैपद प्रत्यय परे रहते सृ, शास् तथा ऋ धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' होता है।

'शास्' के साहचर्यवशात् जौहोत्यादिक 'सृ' तथा 'ऋ' का ग्रहण होता है। अतः भौवादिक 'सृ' से सिच् होकर 'असार्षीत्' बनता है।

उदा० (1) असरत्

सृ लुङ् → सृ तिप्—तिप्,

सृ च्लि त्—च्लि, इतश्च,

सृ अङ् त्—सार्वधातुकार्ध० से प्राप्त गुण का निषेध, ऋदृशोऽङि गुणः से गुण,

असरत्—अट्।

(2) अशिषत्

शास् च्लि त्—लुङ्, तिप्, च्लि,

शास् अङ् त्—अङ्,

शिस् अ त्—शास इदङ्हलोः,

अशिषत्—शासिवासिघसीनां० से षत्व।

(3) आरत्

ऋ अङ् त्—पूर्ववत् लुङ्, च्लि, अङ्,

अर् अ त्—आर्धधातुक गुण का निषेध, ऋच्छत्यृताम्,

आ अरत्—आट्,

आरत्—आटश्च से वृद्धि।

प्रकृत सूत्र का पृथक् पाठ आत्मनेपद के लिए है अर्थात् इन धातुओं से आत्मनेपद करने के लिए यह नियम किया गया है। यथा—

(4) समरन्त।

'परस्मैपदेषु' इस पद की अनुवृत्ति के लिए चकार का योग है। यह आगे उपयोग में आयेगा।

(676) इरितो वा *57* (2269)

इरितो धातोः परस्य च्लेरङादेशो वा भवति। भिदिर्—अभिदत्, अभैत्सीत्। छिदिर-अच्छिदत्, अच्छैत्सीत्। परस्मैपदेष्वित्येव-अभित्त, अच्छित्त।

अर्थ—इरित् (= 'इर्' है इत् जिसका) धातु से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश विकल्प से होता है, कर्त्रर्थक परस्मैपद लुङ् परे रहते।

उदा० (1) अभिदत्

भिद् अङ् त्—लुङ्, च्लि, पाक्षिक अङ्,

अभिदत्—अट्।

(2) अभैत्सीत्

भिद् सिच् त्—अङ् अभाव पक्ष में सिच्,

भैद् स् ई त्—अस्तिसिचोऽपृक्त०, वदव्रजहलन्त०,

अभैत्सीत्—खरि च, अट्।

(3) अच्छिदत्

'अभिदत्' की तरह सभी कार्य। 'छे च' से तुक् आगम एवं 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व।

(4) अच्छैत्सीत्

'अभैत्सीत्' की तरह। तुक् पूर्ववत्।

परस्मै अर्थात् परस्मैपद प्रत्यय परे रहते ही 'अङ्' होता है—

(5) अभित्त

भिद् त → भिद् च्लि त—आत्मनेपद 'त', च्लि,

भिद् स् त—नित्य सिच्,

अभित्त—झलो झलि, खरि च, अट्।

(6) अच्छित्त

पूर्ववत् सिच्, उसका लोप तथा तुक्।

विशेष—भिदिर् आदि धातुओं के रेफ की 'हलन्त्यम्' से तथा इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक०' से इत्संज्ञा होती है। अब शङ्का होती है कि इदित् होने से 'इदितो नुम् धातोः' से 'नुम्' की प्राप्ति होती है। इसके निवारण के लिए 'इर इत्संज्ञा वाच्या' (वा०) के द्वारा समग्र 'इर' समुदाय की इत्संज्ञा की जाती है।

इसका दूसरा समाधान यह है कि 'गोः पादान्ते' (7.1.57) से 'इदितो नुम् धातोः' (7.1.58) में अन्ते पद का अनुवर्त्तन करके सूत्रार्थ इस प्रकार किया जाता है—'अन्त में जो इत्संज्ञक ह्रस्व इकार, ऐसे धातु से 'नुम्' होता है।' इस अर्थ के अनुसार इरित् धातुओं में इत्संज्ञक इत् के अन्त में न रहने से 'नुम्' आगम नहीं होता है।

(677) जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च *58* (2291)

वेति वर्त्तते। 'जॄष् वयोहानौ' (धा०पा० 1131), 'स्तम्भुः' सौत्रो धातुः, 'म्रुचु म्लुचु गत्यर्थौ' (धा०पा० 195, 196), 'ग्रुचु ग्लुचु स्तेयकरणे' (धा०पा० 197, 198) 'ग्लुञ्चु षस्ज गतौ' (धा०पा० 201, 202), 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (धा०पा० 1011)-इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य च्लेर्वाऽङादेशो भवति। अजरत्, अजारीत्। अस्तभत्, अस्तम्भीत्। अम्रुचत्, अम्रोचीत्। अम्लुचत्, अम्लोचीत्। अग्रुचत्, अग्रोचीत्। अग्लुचत्, अग्लोचीत्। अग्लुञ्चत्, अग्लुञ्चीत्। अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत्। ग्लुचुग्लुञ्चोरेकतरोपादानेऽपि रूपत्रयं सिद्ध्यति, अर्थभेदात्तु द्वयोरुपादानं कृतम्। केचित्तु वर्णयन्ति-द्वयोरुपादानसामर्थ्यात् ग्लुञ्चेरनुनासिकलोपो न भवति-अग्लुञ्चदिति।

अर्थ—'वा' पद का अनुवर्त्तन है। 'जॄ' तथा 'स्तम्भु' सौत्र धातु हैं। कर्त्रर्थक लुङ् प्रत्यय परे रहते जॄ, स्तम्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु और टुओश्वि धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) अजरत्
जॄ अङ् त्—च्लि, पाक्षिक 'अङ्', आर्धधातुक गुण का निषेध,
जर् अ त्—ऋदृशोऽङि गुणः,
अजरत्—अट्।

(2) अजारीत्
जॄ सिच् ई त—पक्ष में सिच्, ईट्,
जार् इ सी त्—इट्, सिचि वृद्धिः परस्मै० से वृद्धि,
अजारीत्—इट ईटि।

(3) अस्तभत्
स्तम्भ् अङ् त्—अङ्,
अस्तभत्—'अनिदितां०' से अनुनासिकलोप।

(4) अस्तम्भीत्—पूर्ववत् सिच्।

(5) अम्रुचत्—पूर्ववत् अङ्।

(6) अम्रोचीत्—सिच्, गुण।

(7) अम्लुचत्—अङ् हुआ।

(8) अम्लोचीत्—सिच्, गुण।

(9) अग्रुचत्—अङ्, अनुनासिक लोप।

(10) अग्रोचीत्—सिच्, गुण।

(11) अग्लुचत्—अङ्।

(12) अग्लोचीत्—सिच्, गुण।

(13) अग्लुञ्चीत्—सिच्।

(14) अश्वत्
श्वि अङ् त्—अङ्, 'श्वयतेरः' से अकार, अट्,
अश्वत्—अतो गुणे।

(15) अश्वयीत्
श्वि इ स् ई त्—अङ् अभावपक्ष में 'विभाषा घ्राधेट्श्वोः' से पाक्षिक 'चङ्', चङ् अभाव में सिच्,
अ श्वे ई त्—इट ईटि, सार्वधातुकार्ध०, इगन्तलक्षणा वृद्धि का 'ह्म्यन्तक्षणश्वस०' से निषेध,
अश्वयीत्—अयादेश।

(16) अशिश्वियत्
शि श्वि अत्—अङ् अभाव, चङ्पक्ष, द्वित्व, हलादि शेष,
अशिश्वियत्—इयङ् आदेश। प्राप्त गुण का निषेध।

'ग्लुचु' तथा 'ग्लुञ्चु'—इन दोनों धातुओं का एकत्र उपादान करने पर भी तीन ही रूप (अग्लुचत्, अग्लोचीत्, अग्लुञ्चीत्) सिद्ध होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार दो का उपादान करने के सामर्थ्य से 'ग्लुञ्चु' के अनुनासिक का लोप नहीं होता—अग्लुञ्चत्।

(678) कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि *59* (3406)

कृ, मृ, दृ, रुहि-इत्येतेभ्यः परस्य च्लेश्छन्दसि विषयेऽङादेशो भवति। शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अथोऽमरत्। अदरदर्थान्। सानुमारुहत् (ऋ० 1.10.2)। अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् (अथर्व० 4.14.3)। छन्दसीति किम्? अकार्षीत्, अमृत, अदारीत्, अरुक्षत्।

अर्थ—कर्त्रर्थक लुङ् परे रहते कृ, मृ, दृ तथा रुह् धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) अकरत्
कृ च्लि त्—लुङ्, च्लि,
अकरत्—अङ्, गुण, अट्,
लोक में सिच् होता है। यथा—
अकार्षीत् (इगन्तलक्षणा वृद्धि)।

(2) अमरत्
'अकरत्' की तरह।
लोक में 'अमृत'। 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् का लोप।

(3) अदरत्
'अकरत्' की तरह।
लोक में अदारीत्'।

(4) आरुहत्
अरुहत्—बनता है। आङ् उपसर्ग के योग में रूप बना।

(5) अरुक्षत्
रुह् क्स त्—लोक में 'अङ्' नहीं हुआ, 'शल इगुपधाद-निट०' से 'क्स',
रुढ् स त्—हो ढः,
रुक् ष त्—षढोः क सि, षत्व,
अरुक्षत्—अट्।

(679) चिण् ते पदः *60* (2513)

'पद गतौ' (धा०पा० 1170) अस्माद्धातोः परस्य च्लेश्चिणादेशो भवति तशब्दे परतः। सामर्थ्यादात्मनेपदैकवचनं गृह्यते। उदपादि सस्यम्। समपादि भैक्षम्। ते इति किम्? उदपत्साताम्, उदपत्सत।

अर्थ—'पद्' धातु से पर 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' आदेश होता है, कर्त्रर्थक लुङ् के 'त' शब्द के परे रहते।

'पद्' धातु आत्मनेपदी है। अतः यहाँ सामर्थ्यवश आत्मनेपद प्र० पु० एकव० का ग्रहण होता है। 'चुटू' से चकार की तथा 'हलन्त्यम्' से 'ण्' की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) उदपादि
पद् च्लि त—लुङ्, त, च्लि,
पद् चिण् त—चिण्, अनुबन्धलोप,
पाद् इ त—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,
अपादि—'चिणो लुक्' से लुक्, अट्,
उदपादि—'उद्' उपसर्ग।

(2) समपादि
अपादि—पूर्ववत्,
समपादि—सम् उपसर्ग।

त इति अर्थात् 'त' प्रत्यय परे रहते ही 'चिण्' होता है—

(3) उदपत्साताम्
पद् च्लि आताम्—'त' परे नहीं है, चिण् नहीं हुआ, सिच् हुआ,
पत् स् आताम्—अनुबन्ध लोप, खरि च,
अपत्साताम्—अट् आगम,
उदपत्साताम्—'उद्' उपसर्ग।

(4) उदपत्सत
पत् च्लि झ—'त' परे नहीं होने से 'चिण्' नहीं हुआ,
उदपत्सत—पूर्ववत्।

(680) दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् *61* (2328)

चिण् ते इति वर्त्तते। 'दीपी दीप्तौ' (धा०पा० 1151), 'जनी प्रादुर्भावे' (धा०पा० 1150), 'बुध अवगमने' (धा०पा० 1173), 'पूरी आप्यायने' (धा०पा० 1152), 'तायृ सन्तानपालनयोः' (धा०पा० 489), 'ओप्यायी वृद्धौ' (धा०पा० 488)–इत्येतेभ्यः परस्य च्लेस्तशब्दे परतोऽन्यतरस्यां चिणादेशो भवति। अदीपि, अदीपिष्ट। अजनि, अजनिष्ट। अबोधि, अबुद्ध। अपूरि, अपूरिष्ट। अतायि, अतायिष्ट। अप्यायि, अप्यायिष्ट।

अर्थ—चिण्, ते—दो पदों का अनुवर्त्तन है।

दीप्, जन्, बुध्, पूरि, ताय् तथा प्याय् धातुओं से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश विकल्प से होता है, कर्त्रर्थक लुङ् 'त' परे रहते।

उदा० (1) अदीपि
दीप् च्लि त—च्लि,
दीप् इ—चिण्, 'त' का लुक्,
अदीपि—अट्।

(2) अदीपिष्ट
दीप् इ स् त—पक्ष में सिच्, इट्,
दीपिष्ट—षत्व, ष्टुत्व,
अदीपिष्ट—अट्।

(3) अजनि
जन् च्लि त—च्लि,
जन् इ त—पाक्षिक चिण्, 'जनिवध्योश्च' से वृद्धिनिषेध,
अजनि—'त' का लुक्, अट्।

(4) अजनिष्ट
'अदीपिष्ट' की तरह सिच्, षत्व तथा ष्टुत्व होकर रूप बनता है।

(5) अबोधि
बुध् चिण् त—पूर्ववत्,
अबोधि—गुण, अट्।

(6) अबुद्ध
बुध् सिच् त—चिण् अभावपक्ष में सिच्,
बुध् ध—'झलो झलि' से सिच् लोप, झषस्तथो०,
बुद्ध—झलां जश् झशि,
अबुद्ध—अट्।

(7) अपूरि
पूर चिण् त—सभी कार्य पूर्ववत्,
अपूरि—पूर्ववत्।

(8) अपूरिष्ट
पूर इ स् त—पक्ष में सिच्, इट्,
पूरिष्ट—षत्व, ष्टुत्व,
अपूरिष्ट—अट्।

(9) अतायि
ताय् चिण् त—पूर्ववत्।
अतायि—अट्।

(10) अतायिष्ट
ताय् इट् सिच् त—पक्ष में सिच्—
पूर्ववत्।

(11) अप्यायि
'अतायि' की तरह।

(12) अप्यायिष्ट
'अतायिष्ट' की तरह।

(681) अचः कर्मकर्त्तरि *62* (2768)

अजन्ताद्धातोः परस्य च्लेः कर्मकर्त्तरि तशब्दे परतश्चिणादेशो भवति। प्राप्तविभाषेयम् (3.1.87)। अकारि कटः स्वयमेव, अकृत कटः स्वयमेव। अलावि केदारः स्वयमेव, अलविष्ट केदारः स्वयमेव। अच इति किम्? अभेदि काष्ठं स्वयमेव। कर्मकर्त्तरीति किम्? अकारि कटो देवदत्तेन।

अर्थ—अजन्त धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्रर्थक लुङ् 'त' शब्द परे रहते। कर्त्ता के समान कर्म की विवक्षा होने पर कर्म कर्त्ता का स्वरूप धारण कर लेता है। फलतः कर्त्ता कर्मवद्भाव को प्राप्त करता है। तब कर्मवाच्य के समान कार्य होते हैं। यह प्राप्तविभाषा है।

उदा० (1) अकारि कटः स्वयमेव
कृ चिण् त—कर्मकर्तृ अर्थ में 'च्लि' को 'चिण्' हुआ,
अकारि—अचो ञ्णिति, चिणो लुक्, अट्।

(2) अकृत
कृ सिच् त—पक्ष में सिच् हुआ,
अकृत—ह्रस्वादङ्गात्।

(3) अलावि केदारः स्वयमेव
लू चिण् त—पूर्ववत्,
अलावि—पूर्ववत्।

(4) अलविष्ट
पक्ष में पूर्ववत् सिच्।

अचः अर्थात् अजन्त धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' होता है—

(5) अभेदि
भिद् त—कर्मकर्त्रर्थक लुङ् परे है, परन्तु अजन्त धातु नहीं है,
अभेदि—रूप बना।

कर्म० अर्थात् **कर्मकर्त्रर्थक** लुङ् परे रहते 'चिण्' होता है—

(6) अकारि कटो देवदत्तेन
कृ त—कर्मकर्त्रर्थक न होने से पाक्षिक चिण् नहीं हुआ,
अकारि—रूप बना।

(682) दुहश्च *63* (2769)

'दुह प्रपूरणे' (धा०पा० 1015) अस्मात्परस्य च्लेश्चिणादेशो भवत्यन्यतरस्याम्। अदोहि गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव। कर्मकर्त्तरीत्येव–अदोहि गौर्गोपालकेन।

अर्थ—दुह् धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्रर्थक लुङ् का 'त' शब्द परे रहते।

उदा० (1) अदोहि गौः स्वयमेव

दुह् चिण् त—'न दुहस्नुनमां०' से चिण् का निषेध, पाक्षिक 'चिण्' हुआ,

अदोहि—चिणो लुक्, गुण, अट्।

(2) अदुग्ध गौः स्वयमेव

दुह् सिच् त—पक्ष में सिच् हुआ,

दुघ् त—झलो झलि, दादेर्धातोर्घः,

दुघ् ध—धकार हुआ (झषस्तथोर्धो०)

अदुग्ध—झलां जश् झशि।

कर्म० अर्थात् **कर्मकर्त्रर्थक** लुङ् परे रहते ही 'चिण्' होता है—

(3) अदोहि गौर्गोपालकेन

यहाँ कर्मकर्त्रर्थक नहीं है। कर्मवाच्य है। अतः नित्य 'चिण्' हुआ।

(683) न रुधः *64* (2770)

'रुधिर् आवरणे' (धा०पा० 1439) अस्मात्परस्य च्लेः कर्मकर्त्तरि चिणा-देशो न भवति। अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव। कर्मकर्त्तरीत्येव-अन्ववारोधि गौर्गोपालकेन।

अर्थ—'रुध्' धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश नहीं होता है, कर्मकर्त्रर्थक लुङ् का 'त' परे रहते।

उदा० (1) अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव

रुध् त—कर्मकर्त्रर्थक 'त' परे है 'चिण् भावकर्मणोः' से 'चिण्' प्राप्त हुआ, उसका निषेध हुआ,

रुध् स् त—सिच् हुआ,

रुध् ध—झलो झलि, झषस्तथोर्धो०,

रुद्ध—झलां जश् झशि,

अन्ववारुद्ध—अट्, अनु तथा अव उपसर्ग।

कर्म० अर्थात् **कर्मकर्त्रर्थक** 'त' परे रहते ही निषेध होता है—

(2) अन्ववारोधि

रुध् चिण् त—कर्मवाच्य है, चिण् का निषेध नहीं हुआ, यथा-प्राप्त चिण् हुआ,

अरोधि—'त' का लुक्, गुण, अट्,

अन्ववारोधि—अनु तथा अव उपसर्ग।

(684) तपोऽनुतापे च *65* (2760)

नेति वर्त्तते। 'तप सन्तापे' (धा०पा० 986) अस्मात्परस्य च्लेश्चिणादेशो न भवति कर्मकर्त्तर्यनुतापे च। अनुतापः पश्चात्तापः, तस्य ग्रहणमकर्मकर्त्रर्थम्, तत्र हि भावकर्मणोरपि प्रतिषेधो भवति-अतप्त तपस्तापसः, अन्ववातप्त पापेन कर्मणा।

अर्थ—'न' का अनुवर्त्तन हो रहा है।

'अनुताप' अर्थ में 'तप्' धातु से उत्तर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश नहीं होता है, कर्मकर्त्रर्थक लुङ् का 'त्' परे रहते।

उसका ग्रहण अकर्मकर्त्रर्थक के लिए है। उस दशा में भावकर्म में भी निषेध होता है। 'तप्' धातु अकर्मक होता है।

उदा० (1) अतप्त तपस्तापसः

तप् सिच् त—चिण् का निषेध हुआ, सिच्,

अतप्त—झलो झलि,

(2) अन्ववातप्त पापेन कर्मणा

अनु अव अतप्त—सिच्, उसका लोप होकर रूप बना। यह कर्मवाच्य में लकार हुआ।

अनुतापे अर्थात् अनुताप अर्थ में 'चिण्' का निषेध होता है—

(3) उदतापि सुवर्णं सुवर्णकारेण

यहाँ अनुताप अर्थ नहीं है, अपितु सामान्य तापन अर्थ है। चिण् का निषेध नहीं हुआ।

(685) चिण् भावकर्मणोः *66* (2758)

धातोः परस्य च्लेश्चिणादेशो भवति भावे कर्मणि तशब्दे परतः। भावे तावत्-अशायि भवता। कर्णाणि खल्वपि-अकारि कटो देवदत्तेन, अहारि भारो यज्ञदत्तेन। चिण्ग्रहणं विस्पष्टार्थम्।

अर्थ—भाव में तथा कर्म में धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश होता है, लुङ् का 'त' शब्द परे रहते।

उदा० (1) अशायि भवता

शी चिण् त—भाव में 'चिण्' हुआ,

शाय् इ त—अचो ञ्णिति, एचोऽयवायावः,

अशायि—चिणो लुक्, अट्।

(2) अकारि कटो देवदत्तेन

कृ चिण् त—कर्म में लकार, शेष कार्य पूर्ववत्,

अकारि—अट्।

(3) अहारि भारो यज्ञदत्तेन (पूर्ववत्)।

चिण् अर्थात् 'चिण् ते पदः' से 'चिण्' की अनुवृत्ति यहाँ प्राप्त है तदपि आचार्य ने अधिक स्पष्टता के लिए पुनः 'चिण्' का पाठ किया है।

वाच्य तीन प्रकार का होता है—

जब क्रिया व कर्त्ता का अधिकरण (= आश्रय) परस्पर समान होता है तो कर्तृवाच्य क्रिया कहलाती है। यथा—
अहं रामायणं पठामि।

जब क्रिया व कर्म का अधिकरण परस्पर समान होता है तो कर्मवाच्य क्रिया कहलाती है। यथा—
मया रामायणं पठ्यते।

जब धात्वर्थमात्र कहा जाता है तो भाववाच्य क्रिया कहलाती है। यथा—

मया सुप्यते।

चूँकि भाववाच्य में लकार का वाच्य धातुप्रोक्त क्रिया होती है, युष्मद् या अस्मद् नहीं। भावार्थ यह है कि भाववाच्य में लकार व युष्मद-अस्मद् में समान अधिकरणत्व नहीं होता है। अतः युष्मद् व अस्मद् के अविषय में 'शेषे प्रथमः' से प्रथम पुरुष का ही प्रयोग होता है।

किञ्च; भाव के अद्रव्य होने के कारण उसमें द्वित्व आदि की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः केवल एकवचन का प्रयोग होता है।

कर्तृवाच्य की अपेक्षा कर्मवाच्य व भाववाच्य में निम्नलिखित चार कार्य विशेष होते हैं—

(क) प्रकृत सूत्र के द्वारा 'चिण्' आदेश,
(ख) 'भावकर्मणोः' सूत्र से आत्मनेपद,
(ग) 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' प्रत्यय,
(घ) 'स्यासिच्—च' से चिण्वद्भाव।

(686) सार्वधातुके यक् *67* (2756)

भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परतो धातोर्यक् प्रत्ययो भवति। आस्यते भवता। शय्यते भवता। कर्मणि–क्रियते कटः, गम्यते ग्रामः। ककारो गुणवृद्धिप्रति-षेधार्थः। यग्विधाने कर्मकर्त्तर्युपसंख्यानम्, विप्रतिषेधाद्धि यकः शपो बलीयस्त्वम्। क्रियते कटः स्वयमेव। पच्यते ओदनः स्वयमेव।

अर्थ—धातु से 'यक्' प्रत्यय होता है, भाव तथा कर्म में विहित सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्संज्ञा होती है। इसके दो प्रयोजन हैं—गुणवृद्धि का निषेध तथा सम्प्रसारण।

उदा० (1) आस्यते भवता
आस् त—'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुकसंज्ञा,
आस्यते—भाव में यक्, टि को एत्व।

(2) शय्यते भवता
शी यक् त—भाव में लकार हुआ, पूर्ववत् यक्,
शय्यते—अयङ् यि क्ङिति, एत्व।

(3) क्रियते कटः
कृ यक् त—कर्म में लकार,
क्रियत—हुआ,
क्रियते—रूप बना।

(4) गम्यते ग्रामः
गम् यक् त—कर्म में लकार हुआ,
गम्यते—रूप बना।

यग्विधाने कर्मकर्त्तर्युपसङ्ख्यानम्—यक् के विधान के विषय में कर्मकर्तृ का भी योग होता है। कर्मकर्तृ अर्थ में सार्वधातुक लकार परे रहते धातु से 'सार्वधातुके यक्' (3.1.67) से 'यक्' तथा 'कर्त्तरि शप्' (3.1.68) से 'शप्'—दोनों की युगपत् प्राप्ति होती है। विप्रतिषेध होने पर परकार्य (शप्) होकर अनिष्ट की प्राप्ति होती है। अतः वार्त्तिक के द्वारा 'कर्मकर्त्ता में 'यक्' का विधान होता है'—ऐसा कहा गया है। यथा—

(5) क्रियते कटः स्वयमेव
यहाँ कर्मकर्त्रर्थक में 'यक्' हुआ।

(6) पच्यते ओदनः स्वयमेव
पूर्ववत् 'यक्' हुआ।

वस्तुतः इस वार्त्तिक की जरूरत नहीं है। यहाँ आचार्य का 'न दुहस्नुनमां यक्चिणोः' सूत्रपाठ ज्ञापक है। इस सूत्र के द्वारा दुह् आदि धातु से कर्मकर्त्ता में यक् व चिण् का प्रतिषेध किया गया है। यदि कर्मकर्त्ता में यक् की प्राप्ति ही नहीं होती है तो प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध क्यों किया गया। अतः यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि कर्मकर्त्ता में कर्मवद्भाव का अतिदेश होने से यक् स्वतःसिद्ध है। वार्त्तिक की कोई जरूरत नहीं है।

2. भाव व कर्म में सार्वधातुक (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) लकारों में 'यक्' होता है। आर्धधातुक (लिट्, लुट्, लृट्, आ० लिङ्, लुङ्, लृङ्) लकारों में 'यक्' नहीं होगा। दोनों तरह के लकारों में 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद नित्य होगा।

(687) कर्त्तरि शप् *68* (2167)

कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतो धातोः शप्प्रत्ययो भवति। पकारः स्वरार्थः (3.1.4), शकारः सार्वधातुकार्थः (3.4.113)। भवति। पचति।

अर्थ—धातु से 'शप्' विकरण होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते। पकार की 'हलन्त्यम्' से तथा शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। शित् होने से 'शप्' की सार्वधातुक संज्ञा होती है तथा इसे पित् स्वर के लिए किया गया है।

उदा० (1) भवति
भू तिप्—धातुसंज्ञा, वर्त्तमाने लट्, तिप्, सार्वधातुक संज्ञा,
भू शप् तिप्—शप्,
भो अ ति—अनुबन्ध लोप, सार्वधातुकार्धधातु० से गुण,
भवति—अवादेश।

(2) पचति
पच् शप् तिप्—पूर्ववत्,
पचति—रूप बना।

(688) दिवादिभ्यः श्यन् *69* (2505)

'दिव' इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्यन्प्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। नकारः स्वरार्थः (6.1.197), शकारः सार्वधातु-कार्थः। दीव्यति। सीव्यति।

अर्थ—दिवादिगण में पठित धातु से पर 'श्यन्' विकरण होता है, सार्वधातुकसंज्ञक कर्त्रर्थक प्रत्यय परे रहते।

शकार व नकार की इत्संज्ञा होती है। शित्करण सार्वधातुक संज्ञा के लिए है तथा नित्करण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' के द्वारा अनुदात्त स्वर के लिए है।

उदा० (1) दीव्यति
दिव् तिप्—पूर्ववत्,
दिव् श्यन् तिप्—सार्वधातुकमपित्, पुगन्तलघूपध०, क्क्ङिति च,
दीव्यति—'हलि च' से दीर्घ हुआ।
(2) सीव्यति (पूर्ववत्)।

(689) वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः *70* (2321)

उभयत्र विभाषेयम्। 'टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ' (धा०पा० 825, 826), 'भ्रमु अनवस्थाने' (धा०पा० 1206), 'भ्रमु चलने' (धा०पा० 851) द्वयोरपि ग्रहणम्, 'क्रमु पादविक्षेपे' (धा०पा० 473), 'क्लमु ग्लानौ' (धा०पा० 1208), 'त्रसी उद्वेगे' (धा०पा० 1118), 'त्रुटी छेदने' (धा०पा० 1376), 'लष कान्तौ' (धा०पा० 889)-इत्येतेभ्यो वा श्यन् प्रत्ययो भवति। भ्राशते, भ्राश्यते। भ्लाशते, भ्लाश्यते। भ्रमति, भ्राम्यति। क्रामति, क्राम्यति। क्लामति, क्लाम्यति। त्रसति, त्रस्यति। त्रुटति, त्रुट्यति। लषति, लष्यति।

अर्थ—यह उभयत्र (अर्थात् प्राप्ताप्राप्त) विभाषा है। भ्रमु अनवस्थाने तथा भ्रमु चलने—इन दोनों धातुओं का यहाँ ग्रहण है।

भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट् तथ लष्—इन धातुओं से 'श्यन्' प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) भ्राश्यते
भ्राश् श्यन् त—पाक्षिक 'श्यन्'—
भ्राश्यते—रूप बना।

(2) भ्राशते
पक्ष में 'शप्' हुआ।

(3) भ्लाश्यते
भ्लाश् श्यन् त—पूर्ववत्,
भ्लाश्यते—पूर्ववत्।

(4) भ्लाशते
भ्लाश् शप् त—पूर्ववत्,
'शप्' में रूप बना।

(5) भ्राम्यति
भ्रम् श्यन् तिप्—'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' से दीर्घादेश,
भ्राम्यति—'श्यन्' में रूप बना।

(6) भ्रमति
'शप्' में रूप बना।

(7) क्राम्यति
क्रम् श्यन् तिप्—पाक्षिक श्यन्,
क्राम्यति—'क्रमः परस्मैपदेषु' से दीर्घ।

(8) क्रामति
शप्, पूर्ववत् दीर्घ।

(9) क्लाम्यति
पाक्षिक श्यन्, 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से दीर्घ।

(10) क्लामति
शप्, पूर्ववत् दीर्घ।

(11) त्रस्यति
'श्यन्' हुआ।

(12) त्रसति
'शप्' हुआ।

(13) त्रुट्यति
'श्यन्'।

(14) त्रुटति
पक्ष में 'तुदादिभ्यः शः' से 'श' हुआ।

(15) लष्यति
'श्यन्'।

(16) लषति
'शप्'।

(690) यसोऽनुपसर्गात् *71* (2521)

'यसु प्रयत्ने' (धा०पा० 1211) दैवादिकः, तस्मान्नित्ये श्यनि प्राप्तेऽनुपसर्गाद्विकल्प उच्यते। यसोऽनुपसर्गाद्वा श्यन्प्रत्ययो भवति। यस्यति, यसति। अनुपसर्गादिति किम्? आयस्यति, प्रयस्यति।

अर्थ—यसु प्रयत्ने धातु दैवादिक है। उससे 'दिवादिभ्यः श्यन्' से नित्य 'श्यन्' की प्राप्ति होने पर उपसर्गरहित धातु से विकल्प कहा जा रहा है।

उपसर्ग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे 'यस्' धातु से 'श्यन्' प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) यस्यति
'श्यन्' हुआ।

(2) यसति
पक्ष में 'शप्' हुआ।

अनुपस० अर्थात् उपसर्गरहित 'यस्' धातु से पाक्षिक 'श्यन्' होता है—

(3) आयस्यति
आ यस् श्यन् तिप्—उपसर्गपूर्वक 'यस्' से 'श्यन्' का विकल्प नहीं हुआ,
आयस्यति—रूप बना।

(4) प्रयस्यति (पूर्ववत्)।

(691) संयसश्च *72* (2522)

सोपसर्गार्थ आरम्भः। सम्पूर्वाच्च यसेर्वा श्यन्प्रत्ययो भवति। संयस्यति, संयसति।

अर्थ—उपसर्ग युक्त के लिए नियम किया जा रहा है।

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'यस्' धातु से 'श्यन्' प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) संयस्यति
सम् यस् श्यन् तिप्—सम्पूर्वक 'यस्' से 'श्यन्' हुआ,
संयस्यति—अनुस्वार हुआ।

(2) संयसति
पक्ष में 'शप्' हुआ।

(692) स्वादिभ्यः श्नुः *73* (2523)

'षुञ् अभिषवे' (धा०पा० 1248) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्नुप्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। सुनोति। सिनोति।

अर्थ—'षु' आदि धातुओं से पर 'श्नु' प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

उदा० सुनोति
षु → सु—धातुसंज्ञा, धात्वादेः षः सः,
सु श्नु तिप्—'शप्' को बाध कर 'श्नु' हुआ,
सुनोति—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'तिप्' के परे रहते गुण हुआ, परन्तु 'सार्वधातुकमपित्' से 'श्नु' के ङिद्वत् हो जाने से 'श्नु' के परे रहते गुण नहीं हुआ।

(2) सिनोति
पूर्ववत् 'श्नु' हुआ।

(693) श्रुवः शृ च *74* (2386)

श्रुवः श्नुप्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन श्रुवः शृ इत्ययमादेशो भवति। शृणोति। शृणुतः। शृण्वन्ति।

अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'श्रु' धातु से 'श्नु' प्रत्यय होता है तथा धातु को 'शृ' आदेश होता है।

उदा० (1) शृणोति
श्रु तिप्—लट्, तिप्, 'शप्' प्राप्त हुआ,
शृ श्नु तिप्—'श्नु' ङिद्वत् है, इसके परे रहते गुण नहीं हुआ,
शृणोति—'ति' के परे रहते गुण हुआ। ऋवर्णान्नस्य णत्वं०।

(2) शृणुतः
श्रु तस्—तस्, शप् प्राप्त हुआ,
शृ श्नु तस्—श्नु, शृ आदेश, 'श्नु' तथा 'तस्' ङिद्वत् हैं,
शृणुतः—गुण कहीं भी नहीं हुआ, णत्व पूर्ववत्।

(3) शृण्वन्ति
शृ श्नु अन्ति—'झोऽन्तः' से 'अन्त' आदेश,
शृण्वन्ति—यणादेश, अचि श्नुधातुभ्रुवां०।

(694) अक्षोऽन्यतरस्याम् *75* (2338)

'अक्षू व्याप्तौ' (धा०पा० 654) भौवादिकः, अस्मादन्यतरस्यां श्नुप्रत्ययो भवति। अक्ष्णोति, अक्षति।

अर्थ—'अक्ष्' धातु से 'श्नु' प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते। पक्ष में 'शप्' होता है।

उदा० (1) अक्ष्णोति
अक्ष् श्नु तिप्—पाक्षिक 'श्नु',
अक्ष्णोति—गुण, णत्व पूर्ववत्।

(2) अक्षति
'शप्' हुआ।

(695) तनूकरणे तक्षः *76* (2339)

'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे' (धा०पा० 655, 656), अस्मात्तनूकरणे वर्त्तमानादन्यतरस्यां श्नुप्रत्ययो भवति। अनेकार्थत्वाद्धातूनां विशेषेणोपादानम्। तक्षति काष्ठम्। तक्ष्णोति काष्ठम्। तनूकरण इति किम्? सन्तक्षति वाग्भिः।

अर्थ—तनूकरण अर्थ में वर्त्तमान 'तक्ष्' धातु से 'श्नु' प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। अतः अर्थविशेष का उपादान किया जा रहा है।

उदा० (1) तक्ष्णोति
तक्ष् श्नु तिप्—पाक्षिक 'श्नु' हुआ,
तक्ष्णोति—गुण, णत्व हुआ।

(2) तक्षति
पक्ष में 'शप्' हुआ।

तनूकरणे अर्थात् **तनूकरण** अर्थ में विद्यमान 'तक्ष्' से पाक्षिक 'श्नु' होता है—

(3) सन्तक्षति वाग्भिः
यहाँ तनूकरण अर्थ नहीं है। अतः 'श्यन्' नहीं हुआ।

(696) तुदादिभ्यः शः *77* (2534)

'तुद व्यथने' (धा०पा० 1282) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः शप्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। शकारः सार्वधातुकसंज्ञार्थः। तुदति। नुदति।

अर्थ—'तुद्' आदि धातुओं से 'श' होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

यह 'शप्' का अपवाद है। 'लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा होने से 'श' की सार्वधातुक संज्ञा हुई। सार्वधातुकमपित्' से यह ङिद्वत् हुआ।

उदा० (1) तुदति
तुद् श तिप्—'शप्' को बाध कर 'श' हुआ।
तुदति—प्राप्त लघूपधगुण का 'क्ङिति च' से निषेध।

(2) नुदति (पूर्ववत्)।

(697) रुधादिभ्यः श्नम् *78* (2543)

'रुधिर् आवरणे' (धा०पा० 1439) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्नम् प्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। मकारो देशविध्यर्थः। शकारः 'श्नान्नलोपः' (6.4.23) इति विशेषणार्थः। रुणद्धि। भिनत्ति।

अर्थ—'रुध्' आदि धातुओं से 'श्नम्' होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

शकार तथा मकार की इत्संज्ञा होती है। मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात् परः' से 'श्नम्' अन्त्य अच् से पर होता है। शित्करण के तीन प्रयोजन हैं—

(क) सार्वधातुक संज्ञा करना,[1]
(ख) 'श्नसोरल्लोपः' से ह्रस्व अकार का लोप करना,
(ग) 'श्नान्नलोपः' में 'श्नम्' का पहचान करना।

1. 'श्नम्' के परे रहते 'रु' आदि की अङ्गसंज्ञा प्राप्त न रहने से गुण की प्राप्ति नहीं होती है। अतः शित्करण का यह प्रयोजन उचित प्रतीत नहीं होता।

उदा० (1) रुणद्धि
रुध् तिप्—धातु संज्ञा, लट्, तिप्,
रु श्नम् ध् ति—'श्नम्' हुआ,
रुनध् धि—झषस्तथोऽर्धो०,
रुनद् धि → रुणद्धि—झलां जश् झशि, अट्कुप्वाङ्०

(2) भिनत्ति
भि श्नम् द् तिप्—'श्नम्' हुआ,
भिनत्ति—खरि च।

(698) तनादिकृञ्भ्य उः *79* (2466)

'तनु विस्तारे' (धा०पा० 1464) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः कृञश्च उप्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। तनोति। सनोति। क्षणोति। कृञः सल्वपि-करोति। तनादिपाठादेव उप्रत्यये सिद्धे करोतेरुपादानं नियमार्थम्-अन्यत् तनादिकार्यं मा भूदिति। 'तनादिभ्यस्तथासोः' (2.4.79) इति विभाषा सिचो लुग् न भवति-अकृत, अकृथाः।

अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते तनादि गण में पठित धातुओं से तथा 'कृ' धातु से 'उ' प्रत्यय होता है।

यह 'शप्' का अपवाद है।

उदा० (1) तनोति
तन् उ तिप्—'उ' हुआ, 'तनु' की अङ्गसंज्ञा,
तनोति—सार्वधातुकार्धधातु० से गुण।

(2) सनोति
सन् उ तिप्—पूर्ववत्,
सनोति—गुण।

(3) क्षणोति (पूर्ववत्)।

(4) करोति
कृ उ तिप्—'उ' हुआ, आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधातु० आदि लगकर,
कर् उ ति—सार्वधातुक गुण,
करोति—रूप बना।

तनादि०—यद्यपि 'कृ' धातु का तनादिगण में पाठ करने से भी 'उ' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है, तदपि 'कृ' का पृथक् ग्रहण नियमार्थ है कि अन्य तनादि कार्य न हों; बल्कि केवल 'उ' विकरण ही हो। इस प्रकार निम्नलिखित प्रयोगों में 'सिच्' का विकल्प से लुक् नहीं होता—

(5) अकृत
कृ स् त—लुङ् स्थानिक 'त', सिच् हुआ,
अकृत—'तनादिभ्यस्तथासोः' से 'सिच्' का पाक्षिक लोप होना था, जो नहीं हुआ, 'ह्रस्वादङ्गात्' से नित्य लोप हुआ।

(6) अकृथाः
कृ स् थास्—पूर्ववत् 'सिच्' का पाक्षिक लुक् प्राप्त होता है, जो नहीं हुआ,
अकृथाः—पूर्ववत्।

विशेष—1. महाभाष्यकार का कथन है कि 'कृ' का पाठ तनादिगण में होने से इसे 'उ' प्रत्यय स्वतःसिद्ध है। अतः सूत्र में 'कृ' का ग्रहण अनावश्यक है[1]; इस विषय में भट्टोजिदीक्षित समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि गणकार्य अनित्य होता है[2]। यथा—

वेद में तो सभी कार्यों की वैकल्पिक प्रवृत्ति होती ही है, अपितु लोक में भी एक गण में पठित धातु से भिन्न गणसम्बन्धी कार्य देखे जाते हैं। श्वस् धातु का अदादिगण में पाठ है, परन्तु इससे यदा-कदा शप् लुक् का अभाव भी प्राप्त होता है। यथा—

न विश्वसेत् (पञ्चतन्त्र का प्रसिद्ध श्लोक)।

(699) धिन्विकृण्व्योर च *80* (2332)

'हिवि धिवि जिवि प्रीणनार्थाः' (धा०पा० 591, 593, 594), 'कृवि हिंसाकरणयोः' (धा०पा० 598)-इत्येतयोर्धात्वोरुप्रत्ययो भवत्यकारश्चान्तादेशः। धिनोति। कृणोति। अतो लोपस्य (6.4.48) स्थानिवद्भावाद् (1.1.57) गुणो न भवति।

अर्थ—कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते धिवि तथा कृवि धातुओं से पर 'उ' प्रत्यय होता है तथा धातु को अकार अन्तादेश होता है।

उदा० (1) धिनोति
धिवि → धिन्व् तिप्—'इदितो नुम् धातोः' से 'नुम्',
धिन् अ उ ति—'उ' विकरण, अकार अन्तादेश,
धिन् उ ति—'अतो लोपः' से अकारलोप, 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' के द्वारा अकारलोप के स्थानिवत् हो जाने से 'उ' को निमित्त मानकर 'धिन्' को लघूपधगुण भी नहीं होता,
धिनोति—'ति'को निमित्त मानकर 'धिनु' अङ्ग को गुण।

1. महा० 3.1.79.
2. देखें—शब्दकौस्तुभ।

(2) कृणोति

कृवि → कृन्व तिप्—पूर्ववत्,

कृन् अ उ ति → कृ नु ति—पूर्ववत्,

कृणोति—गुण, ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्।

(700) क्र्यादिभ्यः श्ना *81* (2554)

'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (धा०पा० 1474) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्नाप्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। शकारः सार्वधातुकसंज्ञार्थः। क्रीणाति। प्रीणाति।

अर्थ—'क्री' आदि धातुओं से पर 'श्ना' विकरण होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

यह 'शप्' का अपवाद है। सार्वधातुक संज्ञा के लिए 'श्ना' को शित् किया गया है।

उदा० (1) क्रीणाति

क्री श्ना, तिप्—'श्ना' हुआ,

क्रीणाति—अट्कुप्वाङ्नुम्०।

(2) प्रीणाति (पूर्ववत्)।

(701) स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च *82* (2555)

आद्याश्चत्वारो धातवः सौत्राः, 'स्कुञ् आप्रवणे' (धा०पा० 1479) इत्येतेभ्यः श्नाप्रत्ययो भवति श्नुश्च। स्तभ्नाति, स्तभ्नोति। स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति। स्कभ्नाति, स्कभ्नोति। स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति। स्कुनाति, स्कुनोति। उदित्त्वप्रतिज्ञानात् सौत्राणामपि धातूनां सर्वार्थत्वं विज्ञायते, नैतद्विकरणविषय-त्वमेव।

अर्थ—प्रारम्भ के चार धातु (स्तम्भु, स्तुम्भु, स्कम्भु तथा स्कुम्भु) सौत्र हैं।

स्तम्भु, स्तुम्भु, स्कम्भु, स्कुम्भु तथा स्कुञ् धातुओं से 'श्ना' तथा 'श्नु' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं, कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) स्तभ्नाति

स्तम्भ् श्ना तिप्—'श्ना' के ङिद्वत् होने से 'अनिदितां हल०' से उपधाभूत अनुनासिक का लोप,

स्तभ् ना ति—अनुबन्ध लोप,

स्तभ्नाति—रूप बना।

(2) स्तभ्नोति

स्तम्भ् श्नु तिप्—पूर्ववत् अनुनासिक लोप,

स्तभ्नोति—गुण।

(3) स्तुभ्नाति

स्तुम्भ् श्ना तिप्—पूर्ववत् अनुनासिकलोप होकर रूप बनता है।

(4) स्तुभ्नोति

पूर्ववत् श्नु, अनुनासिक लोप।

(5) स्कभ्नाति

'श्ना' प्रत्यय।

(6) स्कभ्नोति (पूर्ववत् श्नु)।

(7) स्कुभ्नाति

'श्ना' प्रत्यय।

(8) स्कुभ्नोति

श्नु, गुण।

(9) स्कुनाति

श्ना।

(10) स्कुनोति

श्नु, गुण।

'स्तम्भु' इस प्रकार उदित् पाठ करने से सौत्र धातुओं की भी सर्वार्थता ज्ञात होती है। यह पाठ केवल विकरण के लिए नहीं है। सार यह है कि सूत्रोक्त धातुओं में प्रारम्भिक चार धातुओं को उदित् किया गया है। अतः इन चारो धातुओं के गणसम्बन्धी (श्ना इत्यादि) तथा अन्य सभी कार्य ('उदितो वा' से पाक्षिक इट् आदि) होते हैं।

(702) हलः श्नः शानज्झौ *83* (2557)

हल उत्तरस्य श्नाप्रत्ययस्य शानजादेशो भवति हौ परतः। मुषाण। पुषाण। हल इति किम्? क्रीणीहि। हाविति किम्? मुष्णाति। श्नः इति स्थानिनिर्देश आदेशसम्प्रत्ययार्थः। इतरथा हि प्रत्ययान्तरमेव सर्वविषयं विज्ञायेत।

अर्थ—'हि' प्रत्यय परे रहते हलन्त धातु से पर 'श्ना' प्रत्यय के स्थान पर 'शानच्' आदेश होता है।

शकार तथा चकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) मुषाण

मुष् श्ना सिप्—सिप्, श्ना,

मुष् श्ना हि—सेर्ह्यपिच्च,
मुष् शानच् हि—शानच्, अनुबन्धलोप,
मुषाण—अतो हेः, अट्कुप्वाङ्नुम्० ।

(2) पुषाण (पूर्ववत्)।

हलः अर्थात् हलन्त धातु से पर 'श्ना' को 'शानच्' होता है—

(3) क्रीणीहि
क्री श्ना हि—पूर्ववत् सिप्, हि, अपित् होने से ङिद्वत्,
क्री नी हि—'हि' परे है; परन्तु हलन्त धातु न होने से 'श्ना' को 'शानच्' नहीं हुआ, 'ई हल्यघोः' से ईकार,
क्रीणीहि—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ।

हौ अर्थात् 'हि' परे रहते 'शानच्' होता है—

(4) मुष्णाति
मुष् श्ना तिप्—'हि' परे नहीं है, अतः 'श्ना' को 'शानच्' नहीं हुआ,
मुष्णाति—णत्व ।

श्नः अर्थात् श्ना के स्थान पर ही 'शानच्' होता है; 'श्नः' यह स्थानी का निर्देश है। यदि 'श्नः' इस प्रकार स्थानी का निर्देश न करते तो यह 'शानच्' प्रत्यय 'हि' परे रहते प्रत्येक हलन्त धातु (क्र्यादिगणी से अन्य) से हो जाता।

(703) छन्दसि शायजपि *84* (3432)

छन्दसि विषये श्नः शायजादेशो भवति, शानजपि । गृभाय जिह्वया मधु (ऋ० 8.17.5)। शानचः खल्वपि—बधान देव सवितः (वा०सं० 1.25)।

अर्थ—वेद के विषय में हलन्त धातु से पर 'श्ना' के स्थान पर 'शायच्' प्रत्यय होता है तथा 'शानच्' भी होता है, (कर्तृवाची सार्वधातुक 'हि' प्रत्यय परे रहते) शकार व चकार की इत्संज्ञा होती है।

(1) गृभाय
गृभ् श्ना सिप्—सिप्, श्ना,
गृभ् शायच् हि—हि, शायच्,
गृभाय—अतो हेः ।

(2) बधान
बध् श्ना हि—पूर्ववत् 'हि' आदि, अनुनासिकलोप,
बधान—शानच्, अतो हेः ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में पतञ्जलि ने 'हौ' पद की अनुवृत्ति स्वीकार नहीं की है। वेद में 'शायच्' व 'शानच्' आदेश 'हि' प्रत्यय से भिन्न स्थलों पर भी प्राप्त होते हैं—

शायच् छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् ।[1]

काशिकाकार[2] ने भी पतञ्जलि का ही अनुकरण किया है, परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने प्रकृत सूत्र में 'हि' पद का अनुवर्त्तन किया है; जो हमें उचित प्रतीत होता है।[3] वस्तुतः आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र में 'अपि' पद का प्रयोग 'बहुलम्' के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त किया है। तब 'अपि' पद से सभी विधियों का व्यभिचार प्राप्त होकर 'हि' से भिन्न स्थलों पर भी 'शायच्' व 'शानच्' प्राप्त हो ही जायेंगे।[4]

(704) व्यत्ययो बहुलम् *85* (3433)

यथायथं विकरणाः शबादयो विहिताः, तेषां छन्दसि विषये बहुलं व्यत्ययो भवति । व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिहारः-विषयान्तरे विधानम्, क्वचिद्द्विविकरणता, क्वचित्त्रिविकरणता च । आण्डा शुष्मस्य भेदति (ऋ० 8.40.11)। भिनत्तीति प्राप्ते । स च न मरति । न म्रियत इति प्राप्ते । द्विविकरणता-इन्द्रो वस्तेन नेषतु । नयत्विति प्राप्ते । त्रिविकरणता-इन्द्रेणं युजा तंरुषेम वृत्रम् (ऋ० 7.48.2)। तरेमेति (तीर्यास्मेति) प्राप्ते । बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम् ।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥
(म०भा०)

अर्थ—जो 'शप्' आदि विकरण यथास्थान कहे गए हैं, उनका बहुलता से व्यत्यय प्राप्त होता है, वेद के विषय में।

व्यत्यय अनेक रूपों में प्राप्त होता है—

(क) विषयान्तरे विधानम्—भिन्न विषय में विधान होना,
(ख) द्विविकरणता—दो विकरणों का युगपत् प्राप्त होना,
(ग) त्रिविकरणता—तीन विकरणों का युगपत् प्राप्त होना।

1. महा० 3.1.84.
2. काशि० 3.1.84.
3. वै० सि० कौ० (वै० प्र०), सू०—3.1.84.
4. सङ्गृभायति (ऋ० 1.140.7) लट् स्थानिक 'तिप्' परे रहते 'शायच्'। अस्कभायत् (अथ० 4.1.4) लङ्स्थानिक 'तिप्' परे रहते 'शायच्'।

उदा० (1) भेदति
'रुधादिभ्यः श्नम्' से 'श्नम्' प्राप्त था, परन्तु 'शप्' हो गया।

(2) मरति
'श्यन्' के स्थान पर 'शप्' हुआ।

(3) नेषतु
लोट् प्र० पु० एकव० में 'तिप्' हुआ, 'शप्' प्राप्त था। यहाँ 'सिप्' भी हो गया। नी स् अ ति → नेषतु।

(4) तरुषेम
यहाँ उ, सिप् तथा शप्—ये तीन विकरण होकर रूप बनता है। 'बहुलम्' पद का ग्रहण सभी विधियों के व्यभिचारार्थ हुआ है।

महाभाष्यकार ने प्रकृत सूत्र का योगविभाग करते हुए इस प्रकार अर्थ किया है—

(क) व्यत्ययः (छन्दसि)—वेद में विकरणों का व्यत्यय प्राप्त होता है।

(ख) बहुलम् (छन्दसि)—वेद के विषय में विधियाँ बहुलता से प्राप्त होती हैं।

विधियों का परिगणन कारिका में कर दिया गया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(अ) सुपां व्यत्ययः—वेद में एक सुप् के स्थान पर अन्य सुप् प्राप्त होता है—

युक्ता मातासीद् धुरि **दक्षिणायाः** (ऋ० 1.164.9)
यहाँ 'ङि' के स्थान पर 'ङस्' हुआ है।

(आ) तिङां व्यत्ययः—वेद में एक तिङ् के स्थान पर भिन्न तिङ् प्राप्त होता है—

चषालं मे अश्वयूपाय **तक्षति** (ऋ० 1.162.6)
यहाँ 'झि' के स्थान पर 'तिप्' हुआ है।

(इ) उपग्रहस्य व्यत्ययः—वेद में पद का व्यत्यय प्राप्त होता है—

ब्रह्मचारिण**मिच्छते** (अर्थ० 11.5.17)
यहाँ परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद हो गया।

(ई) लिङ्गस्य व्यत्ययः—वेद के विषय में लिङ्गव्यत्यय प्राप्त होता है—

मधोस्तृप्ता इवासते—यहाँ नपुंसकलिङ्ग के स्थान पर पुँल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ है।

(उ) नराणां व्यत्ययः—वेद में पुरुष के विषय में व्यत्यय प्राप्त होता है—

अधा स वीरैर्दशभि**र्वियूयाः** (ऋ० 7.104.15)
प्रथम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का प्रयोग हुआ है।

(ऊ) कालस्य व्यत्ययः—वेद में लकार के सम्बन्ध में भी व्यत्यय प्राप्त होता है—

श्वोऽग्निमाधास्यमानेन (काठ० 8.12)
लट् के स्थान पर लृट् का प्रयोग हुआ है।

(ऋ) वर्णव्यत्ययः—वेद के विषय में वर्ण का व्यत्यय प्राप्त होता है—

त्रिष्टुभौजः **शुभितमुग्रवीरम्**
धकार के स्थान पर भकार हुआ है।

(ऋ) अचां व्यत्ययः—वेद में स्वरवर्ण का व्यत्यय प्राप्त होता है—

मा पत्नयो **गर्भिणयः**—दीर्घ ईकार के स्थान पर ह्रस्व इकार हुआ है।

(ए) स्वरव्यत्ययः—वेद में स्वरविषयक व्यत्यय प्राप्त होता है—

अश्ववतीं सोमवतीम्—
यहाँ 'अन्तोऽवत्याः' (6.1.220) से अन्तोदात्त प्राप्त था; परन्तु प्रकृतिस्वर ही रहता है।

(ऐ) कर्तृव्यत्ययः—वेद में कर्त्ता आदि कारकों में विहित तद्धित तथा कृत् प्रत्ययों का व्यत्यय प्राप्त होता है—

आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः—सम्प्रदान में करण कारक हुआ है।
अन्नदाय—यहाँ 'अण्' के स्थान पर 'अच्' प्रत्यय हुआ है।

(ओ) यङ् व्यत्ययः—'यङ्' एक प्रत्याहार है। 'सार्वधातुके यक्' से लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' पर्यन्त सूत्रों के द्वारा विहित सभी प्रत्ययों का ग्रहण 'यङ्' के द्वारा होता है। इस प्रत्याहार में सामान्यतः सभी विकरण आ जाते हैं। इस प्रकार वेद में सभी विकरणों का व्यत्यय प्राप्त होता है।

विशेष—प्रस्तुत सूत्र का सार यह है कि वेद में दृष्टानुविधि होती है अर्थात् वेद में जिस प्रकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, उसी रूप में उस प्रयोग की साधुता स्वीकार कर ली जाती है। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में ग्यारह बार 'बहुलं छन्दसि' का पाठ करके इसी आशय को प्रकट किया है।

(705) लिङ्याशिष्यङ् *86* (3434)

आशिषि विषये यो लिङ् तस्मिन् परतश्छन्दसि विषयेऽङ् प्रत्ययो भवति। शपोऽपवादः। 'छन्दस्युभयथा' (3.4.117) इति लिङः सार्वधातुकसंज्ञाप्यस्ति। स्थागागमिवचिविदिशकिरुहयः प्रयोजनम्। स्था–उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम्। गा—अञ्जसा सत्यमुपगेयम् (तै०सं० 1.2.10.2)। गमि–गृह गमेम (ऋ० 10.40.11) जानतो गृहान्। वचि—मंत्रं वोचेमाग्नये (ऋ० 1.74.1)। विदि–विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् (अथ० 19.4.2)। शकि—व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् (आश्व०श्रौ० 8.14.1)। रुहि—स्वर्गं लोकमारुहेयम्। *दृशेरग्वक्तव्यः* (म०भा०)। पितरं च दृशेयं मातरं च (ऋ० 1.24.1)।

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में विद्यमान लिङ् सार्वधातुक भी होता है। प्रकृत सूत्र का प्रयोजन स्था, गा, गम्, वच्, विद्, शक् तथा रुह्—इन धातुओं से ही 'अङ्' करना है।

उदा० (1) उपस्थेयम्
उपस्था यासुट् अम्—छन्दस्युभयथा, यासुट्,
उप स्था अङ् या अम्—अङ्, लिङः सलोपो०,
उपस्थेयम्—अतो येयः, आतो लोप इटि च, आद् गुणः।

(2) उपगेयम् (तै० सं० 1.2.10.2)
उप गा यासुट् अम्—आदेच उपदेशेऽशिति, पूर्ववत् शेष,
उपगेयम्—अङ्, सलोप, अतो येयः।

(3) गमेम (ऋ० 10.40.11)
गम् अङ् यासुट् मस्—यासुट्, अङ्,
गमेम—लिङः सलोपो०, इय् आदि, नित्यं ङितः।

(4) वोचेम (यजु० 3.11)
वच् अङ् यासुट् मस्—पूर्ववत्
वोचेम—वच उम्, शेष पूर्ववत्।

(5) विदेयम् (शौ० सं० 19.4.2)
विद् अङ् यास् अम्—सभी पूर्ववत्,
विदेयम्—पूर्ववत्।

(6) शकेयम् (वा० सं० 1.5)
शक् अङ् यास् अम्—सभी पूर्ववत्।
शकेयम्—पूर्ववत्।

(7) आरुहेयम् (पूर्ववत्)।

दृशेरग्वक्तव्यः—वेद में आशीर्वाद अर्थ में वर्त्तमान लिङ् प्रत्यय परे रहते 'दृश्' धातु से 'अक्' होता है—

(8) दृशेयम् (ऋ० 1.24.1)
दृश् अक् यासुट् अम्—पूर्ववत्,
दृशेयम्—पूर्ववत् 'ऋदृशोऽङि गुणः' से जो गुण प्रसक्त था, उसे रोकने के लिए 'अक्' किया गया है।

(706) कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः *87* (2766)

कर्मणि क्रिया कर्म, कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवद्भवति (म०भा०)। यस्मिन् कर्मणि कर्तृभूतेऽपि तद्वत्क्रिया लक्ष्यते यथा कर्मणि, स कर्ता कर्मवद् भवति- कर्माश्रयाणि कार्याणि प्रतिपद्यते। 'कर्तरि शप्' (2.1.68) इति कर्तृग्रहणमिहानुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते। यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम्। भिद्यते काष्ठं स्वयमेव। अभेदि काष्ठं स्वयमेव। कारिष्यते कटः स्वयमेव। वत्करणं स्वाश्रयमपि यथा स्यात्–भिद्यते कुसूलेनेति। अकर्मकाणां भावे लः सिद्धो भवति। 'लिङ्याशिष्यङ्' (3.1.86) इति द्विलकारको निर्देशः, तत्र लानुवृत्तेर्लान्तस्य कर्त्ता कर्मवद्भवतीति कुसूलाद् द्वितीया न भवति। कर्मणेति किम्? करणाधिकरणाभ्यां तुल्यक्रियस्य मा भूत्– साध्वसिश्छिनत्ति, साधु स्थाली पचति। धात्वधिकारात्समाने धातौ कर्मवद्भावः, इह न भवति–पचत्योदनं देवदत्तः, राध्यत्योदनः स्वयमेवेति। कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्त्ता कर्मवद्भवति, न कर्त्तृस्थभावकानां न वा कर्तृस्थक्रियाणाम्–

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया।
मासासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया॥

अर्थ—कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् होता है।

भाव यह है कि कर्म के कर्त्ता बन जाने पर यदि उसी प्रकार की क्रिया लक्षित हो, जिस प्रकार कर्म से होती है तो उस कर्त्ता में कर्माश्रित सभी कार्य होते हैं।

'कर्त्तरि शप्' से अनुवृत्त 'कर्त्तरि' पद को प्रथमान्त में विपरिणत कर लिया जाता है।

कर्मवत् करने के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—
(क) 'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' होता है,
(ख) 'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद होता है,
(ग) 'चिण् भावकर्मणोः' से 'चिण्' होता है,
(घ) 'स्यसिच्०' के द्वारा चिण्वद्भाव होता है।

उदा० (1) भिद्यते काष्ठं स्वयमेव
भिद् यक् त—पूर्वोक्त कार्य होकर रूप बनता है।

(2) अभेदि
भिद् चिण् त—चिण्, 'त' का लुक्, अट्।

(3) कारिष्यते
कृ णिच् स्य त—वृद्धि, षत्व होकर रूप बना।

वत्करण—अर्थात् वत्करण के द्वारा स्वाश्रय कार्य भी होते हैं—

(4) भिद्यते कुसूलेन

अकर्मकाणां—अकर्मक धातु से भाव में लकार सिद्ध होता है। 'लिङ्याशिष्यङ्' यहाँ दो लकारों का निर्देश है। तब लकार की अनुवृत्ति के कारण लकारान्त कर्त्ता कर्म के समान होता है। अतः 'कुसूल' शब्द से द्वितीया नहीं होती है।

कर्मणेति अर्थात् **कर्म में स्थित** तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता ही कर्म के समान होता है। भाव यह है कि करण तथा अधिकरण में स्थित तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् नहीं होता है। यथा—

(5) साध्वसिश्छिनत्ति
यहाँ कर्म में स्थित तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता नहीं है, अपितु करण में स्थित तुल्य क्रिया वाला है। अतः कर्मवद्भाव नहीं हुआ।

(6) साधु स्थाली पचति
पूर्ववत् कर्मवद्भाव नहीं हुआ। यहाँ कर्त्ता अधिकरण में स्थित तुल्य क्रिया वाला है।

धात्वधि—'धातु' पद का अधिकार होने से समान क्रिया की दशा में ही कर्मवद्भाव होता है। तब निम्नलिखित में नहीं होता है—

(7) पचत्योदनं देवदत्तः।
(8) राध्यति ओदनः स्वयमेव।

कर्मस्थ—कर्म में स्थित भाव वालों का तथा कर्म में स्थित क्रिया वालों का कर्त्ता कर्मवद्भाव होता है तथा कर्त्ता में स्थित भाव वालों और कर्त्ता में स्थित क्रिया वालों का कर्मवद्भाव नहीं होता है।

कर्मस्थः—पच् धातु का भाव कर्म में स्थित होता है और भिद् धातु की क्रिया कर्म में स्थित रहने वाली है। 'मासम् आस्ते' इत्यादि में भाव कर्त्ता में स्थित होता है तथा गम् धात्वर्थ क्रिया भी कर्त्ता में स्थित होता है।

(707) तपस्तपःकर्मकस्यैव *88* (2771)

'तप सन्तापे' (धा०पा० 986), अस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति, स च तपःकर्मकस्यैव, नान्यकर्मकस्य। क्रियाभेदाद्विध्यर्थमेतत्। उपवासादीनि तपांसि तापसं तपन्ति। दुःखयन्तीत्यर्थः। स तापसस्त्वगस्थिभूतः स्वर्गाय तपस्तप्यते। अर्जयतीत्यर्थः। पूर्वेणाप्राप्तः कर्मवद्भावो विधीयते-तप्यते तपस्तापसः, अतप्त तपस्तापसः। तपःकर्मकस्यैवेति किम्? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः।

अर्थ—'तपस्' कर्म वाले 'तप्' धातु का कर्त्ता कर्मवत् होता है। यह क्रियाविशेष के विषय में विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) (उपवासादीनि) तपांसि तापसं तपन्ति। (स) तापसः (त्वगस्थिभूतः स्वर्गाय) तपस्तप्यते।

यहाँ 'तप्' धातु कर्मस्थ क्रिया नहीं है। अतः कर्मवद्भाव प्राप्त नहीं था। प्रकृत सूत्र के द्वारा कर्मवद्भाव हुआ।

(2) अतप्त तपस्तापसः (पूर्ववत्)।

तपःकर्म० अर्थात् **तपः कर्मवाले** धातु से ही कर्त्ता में कर्मवद्भाव होता है—

(3) उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः
'तप्' धातु का कर्म 'तपस्' नहीं, अपितु 'सुवर्ण' है। अतः कर्मवद्भाव नहीं हुआ।

(708) न दुहस्नुनमां यक्चिणौ *89* (2767)

दुह, स्नु, नम्-इत्येतेषां कर्मकर्तरि यक्चिणौ कर्मवद्भावापदिष्टौ न भवतः। दुहेरनेन यक् प्रतिषिध्यते। चिण् तु 'दुहश्च' (3.1.63) इति पूर्वमेव विभाषितः। दुग्धे गौः स्वयमेव। अदुग्ध गौः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव। प्रस्नुते गौः स्वयमेव, प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव। नमते दण्डः स्वयमेव, अनंस्त दण्डः स्वयमेव। *यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्* (म० भा०)। कारयति कटं देवदत्तः। कारयते कटः स्वयमेव। अचीकरत्कटं देवदत्तः। अचीकरत कटः स्वयमेव। उत्पुच्छयते गां गोपः। उत्पुच्छयते गौः स्वयमेव। उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव। श्रथ्नाति ग्रन्थं देवदत्तः। श्रथ्नीते ग्रन्थः स्वयमेव। अश्रन्थिष्ट ग्रन्थः स्वयमेव। ग्रथ्नाति श्लोकं देवदत्तः। ग्रथ्नीते श्लोकः स्वयमेव। अग्रन्थिष्ट श्लोकः स्वयमेव। ब्रवीति श्लोकं देवदत्तः। ब्रूते श्लोकः स्वयमेव। अवोचच्छ्लोकं देवदत्तः। अवोचत श्लोकः स्वयमेव।

आत्मनेपदविधानेऽकर्मकाणाम्–आहन्ति माणवकं देवदत्तः, आहते माणवकः स्वयमेव। आवधिष्ट माणवकः स्वयमेव, आहतेति वा। विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव। व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव।

अर्थ—दुह, स्नु तथा नम् धातुओं के कर्त्ता के कर्मवत् हो जाने पर कर्मवद्भाव में विहित 'यक्' व चिण्' नहीं होते हैं।

'दुहश्च' सूत्र के द्वारा 'त' प्रत्यय परे रहते 'चिण्' का विकल्प कहा गया है। यहाँ दुह से 'यक्' का प्रतिषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) दुग्धे गौः स्वयमेव

दुह् शप् त—'भावकर्मणोः' से आत्मनेपद, 'यक्' नहीं हुआ, अदिप्रभृतिभ्यः शपः,

दुघ् ध—दादेर्धातोर्घः, तकार को धकार,

दुग्धे—झलां जश् झशि, एत्व।

(2) अदोहि गौः स्वयमेव

दुह् चिण् त—'दुहश्च' से पाक्षिक 'चिण्' हुआ,

अदोहि—'त' का लुक्।

चिण् अभाव पक्ष में 'क्स' हुआ। लुग्वा दुहदिह०। अदुग्ध।

(3) नमते दण्डः स्वयमेव

नम् शप् त—'यक्' नहीं हुआ।

(4) अनंस्त दण्डः स्वयमेव

अनम् स् त—'चिण्' नहीं हुआ।

यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूआत्मनेपदाकर्मकाणामुपसङ्ख्यानम्—णिप्रत्ययान्त, श्रन्थ, ग्रन्थ्, ब्रू तथा आत्मनेपद में अकर्मक धातु—इनसे भी 'यक्' तथा 'चिण्' का निषेध होता है, कर्मवद्भाव में।

(5) कारयते कटः स्वयमेव

कृ णिच् शप् त—णिजन्त धातु से 'यक्' का निषेध हुआ,

कारयते—वृद्धि, गुण, अयादेश।

(6) अचीकरत् कटः स्वयमेव

कृ णिच् चङ् तिप्—णिजन्त धातु होने से 'चिण्' का प्रतिषेध हुआ,

अचीकरत्—द्वित्वादि।

(7) उत्पुच्छयते गौः स्वयमेव

पूर्ववत् 'यक्' नहीं हुआ।

(8) उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव।

पूर्ववत् 'चिण्' नहीं हुआ। चङ् हुआ।

(9) श्रथ्नीते ग्रन्थः स्वयमेव

'यक्' नहीं हुआ।

(10) अश्रन्थिष्ट ग्रन्थः स्वयमेव

'चिण्' नहीं हुआ।

(11) ग्रथ्नीते श्लोकः स्वयमेव

'यक्' नहीं हुआ।

(12) अग्रन्थिष्ट श्लोकः स्वयमेव

'चिण्' नहीं हुआ।

(13) ब्रूते श्लोकः स्वयमेव

'यक्' का निषेध।

(14) अवोचत श्लोकः स्वयमेव

प्राप्त 'चिण्' का निषेध।

आत्मने०—आत्मनेपद के विधान में अकर्मक धातु से भी यक् व चिण् का निषेध होता है—

(15) आहते माणवकः स्वयमेव

'यक्' नहीं हुआ।

(16) आवधिष्ट माणवकः स्वयमेव

'चिण्' नहीं हुआ। 'सिच्' हुआ।

(17) विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव (पूर्ववत्)।

(18) व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव (पूर्ववत्)।

(709) कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च *90* (2772)

'कुष निष्कर्षे' (धा०पा० 1519), 'रञ्ज रागे' (धा० पा० 1168) अनयोर्धात्वोः कर्मकर्तरि प्राचामाचार्याणां मतेन श्यन् प्रत्ययो भवति परस्मैपदं च। यगात्मनेपदयोरपवादौ। कुष्यति पादः स्वयमेव। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव। प्राचां ग्रहणं विकल्पार्थम्–कुष्यते, रज्यते। व्यवस्थितविभाषा चेयम्, तेन लिङ्लिङोः स्यादिविषये च न भवतः–चुकुषे पादः स्वयमेव, ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव। कोषिषीष्ट पादः स्वयमेव, रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव। कोषिष्यते पादः स्वयमेव, रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव। अकोषि पादः स्वयमेव, अरञ्जि वस्त्रं स्वयमेव (म०भा०)।

अर्थ—प्राचीन आचार्यों के मत में कुष् तथा रञ्ज् धातुओं से 'श्यन्' प्रत्यय तथा परस्मैपद होता है, कर्मवद्भाव में। पक्ष में आत्मनेपद होता है। यह 'यक्' विकरण तथा आत्मनेपदत्व का अपवाद है।

उदा० (1) कुष्यति पादः स्वयमेव
यहाँ 'यक्' तथा आत्मनेपद प्राप्त था। 'श्यन्' तथा परस्मैपद हुआ।

(2) कुष्यते पादः स्वयमेव
पक्ष में 'यक्' तथा आत्मनेपद हुआ।

(3) रज्यति वस्त्रं स्वयमेव
पूर्ववत् 'श्यन्' तथा परस्मैपद हुआ।

(4) रज्यते वस्त्रं स्वयमेव
पक्ष में 'यक्' तथा आत्मनेपद हुआ।

व्यवस्थित०—यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः लिट्, लिङ् तथा स्य आदि विषयों में 'श्यन्' तथा परस्मैपद नहीं होते हैं—

(5) चुकुषे पादः स्वयमेव
कुष् लिट्—व्यवस्थित विभाषा होने से परस्मैपद नहीं हुआ।
चुकुष् ए—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
चुकुषे—रूप बना।

(6) ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव
र रञ्ज् ए—पूर्ववत् परस्मैपद नहीं हुआ,
ररञ्जे—रूप।

(7) कोषिषीष्ट पादः स्वयमेव
कुष् इट् सीयुट् सुट् त—परस्मैपद नहीं हुआ, यकारलोप, षत्व,
कोषिषीष्ट—गुण, ष्टुत्व।

(8) रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव
रञ्ज् सीय् स् त—पूर्ववत्,
र ङ् क् षी ष् त—कुत्व, परसवर्ण, यलोप, षत्व,
रङ्क्षीष्ट—ष्टुत्व।

(9) कोषिष्यते पादः स्वयमेव
लृट् लकार में 'स्य' हुआ, परस्मैपद नहीं हुआ, इट्, गुण।

(10) रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव (पूर्ववत्)।

(11) अकोषि पादः स्वयमेव
'चिण्' हुआ।

(710) धातोः *91* (2829)

धातोरित्ययमधिकारो वेदितव्यः। आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो धातोरित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'तव्यत्तव्यानीयरः' (3.1.96) इति। कर्त्तव्यम्। करणीयम्। धातुग्रहणमनर्थकम्, यङ्विधौ धात्वधिकारात् (म०भा०)। कृदुपसर्गसंज्ञार्थं तर्हि अस्मिन् धात्वधिकारे ते यथा स्याताम्, पूर्वत्र मा भूतामिति। आर्धधातुकसंज्ञार्थं च द्वितीयं धातुग्रहणं कर्तव्यम्, धातोरित्येवं विहितस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्–लूभ्याम्, लूभिरिति।

अर्थ—तृतीय अध्याय की समाप्ति तक इस पद का अधिकार है। यहाँ से लेकर आगे जो-जो हम कहेंगे, वह सब 'धातु से पर होता है' ऐसा जानना चाहिए। आगे 'तव्यत्तव्यानीयरः' आदि कहे जायेंगे।

उदा० (1) कर्त्तव्यम्
कृ तव्यत्—भूवादयो धातवः, धातोः, तव्यत्तव्यानीयरः, प्रत्ययः, परश्च,
कर् तव्य—हलन्त्यम्, आर्धधातुकं शेषः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः, कृत्तद्धितसमासाश्च, अचो रहाभ्यां०,
कर्त्तव्यम्—सु।

(2) करणीयम्
कृ अनीयर् → करणीयम्—गुण, णत्व, विभक्तिकार्य।

धातु०—'धातोरेकाचो हलादेः०—यङ्' इस शास्त्र से 'धातोः' पद का अनुवर्त्तन प्राप्त है, तब प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है? (समा०) यह 'धातोः' अधिकार कृत् तथा उपपद संज्ञाओं के लिए है अर्थात् इसके अधिकार में कृत् व उपपद संज्ञाएँ होती हैं तथा इस अधिकार से पूर्ववर्त्ती शास्त्र में ये संज्ञाएँ नहीं होती। 'धातोः' सूत्र के पाठ का दूसरा प्रयोजन है—आर्धधातुक संज्ञा करना। सार यह है कि इस 'धातोः' के अधिकार में ही विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है, अन्यत्र कहे गए प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती।

धातो० अर्थात् धातुसंज्ञक शब्द से ही होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(2) लूभ्याम्
लू भ्याम्—'लू' की धातुसंज्ञा नहीं है तथा 'भ्याम्' धातु के अधिकार में पठित नहीं है।
लूभ्याम्—यहाँ नहीं हुआ।

(3) लूभिः (पूर्ववत्)।

विशेष—धातु से पर तीन प्रकार के प्रत्यय होते हैं—

(क) तिङ्—धातु से 'तिङ्' प्रत्यय जुड़ कर तिङन्त (= क्रिया पद) बनाते हैं। यथा—पचति।

(ख) कृत्—'तिङ्' को छोड़कर शेष प्रत्यय, जो धातु से जुड़ते हैं, कृत् कहलाते हैं। यथा—ण्वुल्, तृच्, क्त्वा आदि। कृदन्त शब्द की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

(ग) विकरण—'धातोः' इस सूत्र से पूर्व धातु से 'शप्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है। चूँकि ये 'धातोः' इस अधिकार में विहित नहीं हैं। अतः 'कृदतिङ्' की प्रवृत्ति नहीं होती है तथा 'शप्' आदि प्रत्ययों से युक्त पच, पठ आदि की प्रातिपदिक संज्ञा भी नहीं होती है।

(711) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् *92* (781)

तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे तृतीये यत्सप्तमीनिर्दिष्टं तदुपपदसंज्ञं भवति। वक्ष्यति–'कर्मण्यण्' (3.2.1) कुम्भकारः। स्थग्रहणं सूत्रेषु सप्तमीनिर्देशप्रतिपत्त्यर्थम्, इतरथा हि सप्तमी श्रूयते यत्र तत्रैव स्यात्–स्तम्बेरमः, कर्णेजप (म० भा०) इति। यत्र वा सप्तमीश्रुतिरस्ति, 'सप्तम्यां जनेर्डः' (3.2.97) इति–उपसरजः, मन्दुरज इति। स्थग्रहणात्तु सर्वत्र भवति। गुरुसंज्ञाकरण-मन्वर्थसंज्ञाविज्ञाने सति समर्थपरिभाषाव्यापारार्थम्–पश्य कुम्भं करोति कटमिति प्रत्ययो न भवति। उपपदप्रदेशाः–'उपपदमतिङ्' (2.2.19) इत्येवमादयः।

अर्थ—धात्वधिकार में सप्तमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट पद की 'उपपद' संज्ञा होती है। आगे 'कर्मण्यण्' आदि सूत्रों का पाठ है।

उदा० (1) कुम्भकारः
कुम्भं करोति—'कर्मण्यण्' में 'कर्मणि' पद सप्तम्यन्त है। अतः कर्म के द्वारा वाच्य 'कुम्भ' शब्द की उपपद संज्ञा हुई, कर्मण्यण्' से 'अण्' हुआ,
कुम्भ कृ अण्—अचो ञ्णिति, प्रातिपदिक संज्ञा,
कुम्भकारः—सु।

सूत्र में 'स्थ' पद का ग्रहण सूत्रों में सप्तमी के निर्देश-ज्ञान के लिए है; अन्यथा सप्तमी जहाँ उपलब्ध होती है, वहाँ उपपद संज्ञा हो जायेगी।

(2) स्तम्बेरमः
स्तम्बे रमते—यहाँ सप्तमी सुनाई पड़ती है, अतः केवल यहाँ ही उपपद संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं,
स्तम्बेरमः—विभक्ति कार्य।

(3) कर्णेजपः
कर्णे जपति—विभक्ति लुक् है, यहाँ भी पूर्ववत् जानना चाहिए, अथवा जिस सूत्र में सप्तमी सुनाई पड़ेगी, वहाँ ही उपपद संज्ञा होगी। यथा—'सप्तम्यां जनेर्डः'। तब केवल यहाँ पर ही उपपद संज्ञा होती—

(4) उपसरजः
सप्तम्यन्त उपपद रहते 'जन्' से 'ड' हुआ है। सूत्र में 'स्थ' का ग्रहण करने से सर्वत्र उपपद संज्ञा होती है।

(5) मन्दुरजः (पूर्ववत्)।

(712) कृदतिङ् *93* (374)

अस्मिन् धात्वधिकारे तिङ्वर्जितः प्रत्ययः कृत्संज्ञको भवति। कर्तव्यम्। करणीयम्। अतिङिति किम्? चीयात्, स्तूयात्। कृत्प्रदेशाः–'कृत्तद्धितसमासाश्च' (1.2.46) इत्येवमादयः।

अर्थ—इस धात्वधिकार में विहित तिङ् वर्जित (अर्थात् तिङ् को छोड़कर) प्रत्यय की 'कृत्' संज्ञा होती है।

उदा० (1) कर्त्तव्यम्
कृ तव्यत्—'तव्यत्' की कृत् संज्ञा हुई,
कर्त्तव्यम्—प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सु' हुआ।

(2) करणीयम्
कृ अनीयर्—पूर्ववत्।

अतिङिति अर्थात् तिङ् को छोड़कर शेष की कृत् संज्ञा होती है—

(3) चीयात्
यहाँ धातु से तिङ् 'तिप्' हुआ है, जिसकी कृत्संज्ञा नहीं होती है। यदि इसकी कृत् संज्ञा करते हैं तो 'चीयात्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति हो जाया करेगी। इसके अतिरिक्त 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ भी नहीं हो पाता। यहाँ ध्यातव्य है कि 'यासुट्' भी तिङ् मान लिया गया है।

(4) स्तूयात् (पूर्ववत्)।

(713) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् *94* (2830)

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसमानरूपोऽपवादप्रत्ययो वा बाधको भवति स्त्र्यधिकारविहितप्रत्ययं वर्जयित्वा। ण्वुल्तृचौ (3.1.133) इत्युत्सर्गौ, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (3.1.135) इत्यपवादः, तद्विषये ण्वुल्तृचावपि भवतः–विक्षेपकः, विक्षेप्ता, विक्षिपः (म० भा०)। असरूप इति किम्? 'कर्मण्यण्' (3.2.1) इत्युत्सर्गः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (3.2.3) इत्यपवादः स नित्यं बाधको भवति–गोदः,

कम्बलदः । नानुबन्धकृतमसारूप्यम् (व्या०प० 15)। अस्त्रियामिति किम् ? 'स्त्रियां क्तिन्' (3.3.94) इत्युत्सर्गः, 'अ प्रत्ययात्' (3.3.102) इत्यपवादः, स बाधक एव भवति-चिकीर्षा, जिहीर्षा ।

अर्थ—धात्वधिकार में असमान रूप वाला अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प से होता है, स्त्र्यधिकार में विहित प्रत्ययों को छोड़कर। यह परिभाषासूत्र है तथा सामान्यतया उत्सर्गापवाद-विषयक सिद्ध होता है। अतः 'उत्सर्गस्य बाधकः' इसका अध्याहार किया जाता है।

सूत्र का सार इस प्रकार है—

अपवाद और उत्सर्ग का असमान रूप होना चाहिए। असरूपता का निर्णय अनुबन्धों का लोप करने के पश्चात् करना चाहिए। यथा—'कर्मण्यण्' से विहित 'अण्' उत्सर्ग है तथा 'आतोऽनुपसर्गे कः' से विहित 'क' अपवाद है। अनुबन्धों (ण्, क्) का लोप करने के पश्चात् दोनों प्रत्ययों (अण् व क) का स्वरूप एक समान हो जाता है। तब इनके असरूप होने से यहाँ प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है।

'ण्वुल्तृचौ' उत्सर्ग है तथा 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' अपवाद है। इनके अनुबन्धों का लोप करने पर स्वरूप असमान रहता है। अतः पक्ष में ण्वुल् तथा तृच् भी होते हैं। भाव यह है कि उत्सर्ग और अपवाद के सरूप होने पर उत्सर्ग का नित्य बाध होता है।

उदा० (1) विक्षेपकः
वि क्षिप् ण्वुल्—युवोरनाकौ, गुण,
विक्षेपकः—सु।

(2) विक्षेप्ता
वि क्षिप् तृच्—पूर्ववत्,
विक्षेप्ता—सु।

(3) विक्षिपः
वि क्षिप् क—'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्संज्ञा, कित् होने से लघूपध गुण का निषेधः,
विक्षिपः—सु।

असरूप अर्थात् **असरूप** की दशा में ही उत्सर्ग का पाक्षिक बाध होता है—

(4) गोदः
गो दा क—'कर्मण्यण्' से 'अण्' प्राप्त हुआ, 'आतोऽनुपसर्गे कः' से 'क' हुआ, दोनों सरूप हैं, अतः नित्य बाध हुआ, गोदः—आतो लोप इटि च, सु।

(5) कम्बलदः (पूर्ववत्)।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्र्यधिकार में सूत्रोक्त पाक्षिक बाध नहीं होता है; नित्य बाध होता है; यथा—'स्त्रियां क्तिन्' उत्सर्ग है तथा 'अप्रत्ययाद्' अपवाद है। यद्यपि दोनों असरूप हैं, तदपि स्त्र्यधिकार में पठित होने के कारण उत्सर्ग का नित्य बाध होता है—

(6) चिकीर्षा
कृ सन् → चिकीर्ष अ टाप् → चिकीर्षा।
सु तथा सुलुक् हो गया है।

(7) जिहीर्षा (पूर्ववत्)।

(714) कृत्याः प्राङ् ण्वुलः *95* (2831)

'ण्वुल्तृचौ' (3.1.133) इति वक्ष्यति, प्रागेतस्माण्ण्वुल्संशब्दनाद् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कृत्यसंज्ञकास्ते वेदितव्याः। तत्रैवोदाहरिष्यामः। कृत्यप्रदेशाः:- 'कृत्यैरधिकार्थवचने' (2.1.33), 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' (2.3.71) इत्येवमादयः।

अर्थ—'ण्वुल्तृचौ' सूत्र का पाठ आगे किया जायेगा। यहाँ से लेकर 'ण्वुल्तृचौ' (3.1.113) सूत्रपर्यन्त जिन-जिन प्रत्ययों का विधान किया जायेगा, उन-उन की कृत्य संज्ञा होती है। इस अधिकार में 'ण्वुल्तृचौ' नहीं आता है। उससे पूर्व तक जानना चाहिए।

कृत्य संज्ञा के फल हैं—

(क) कृत्यैरधिकार्थवचने (2.1.32),
(ख) कृत्यानां कर्त्तरि वा (2.3.71),

यह एकसंज्ञा अधिकार में नहीं आता है। अतः यहाँ कृत्य व कृत् दोनों संज्ञाएँ होती हैं।

काशिका के पदमञ्जरी टीकाकार हरदत्त[1] ने तथा भट्टोजि दीक्षित[2] प्रभृति विद्वानों ने केवल 'कृत्याः' इतना सूत्र का स्वरूप माना है। तत्त्वबोधिनीकार ने 'प्राङ्ण्वुलः' को प्रक्षेप माना है।[3]

1. पदम० 3.1.95.
2. वै० सि० कौ०—सूत्र 2831.
3. वै० सि० कौ० (तत्त्व०) सूत्र 2831—वृत्तिकारस्तु सूत्रे प्राग् ण्वुल इति प्रचिक्षेप।

(715) तव्यत्तव्यानीयरः *96* (2834)

धातोरिति (3.1.91) वर्तते। धातोस्तव्यत्, तव्य, अनीयर् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तकाररेफौ स्वरार्थौ। कर्तव्यम्। कर्तव्यंम्। करणीयम्। *वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च* (म०भा०)। वास्तव्यः। *केलिमर उपसंख्यानम्* (म०भा०)। पचेलिमा माषाः। भिदेलिमानि काष्ठानि। कर्मकर्तरि चायमिष्यते।

अर्थ—'धातोः' का अनुवर्त्तन है। धातु से तव्य, तव्यत् तथा अनीयर् प्रत्यय होते हैं।

तव्यत् के तकार एवं अनीयर् के रेफ की इत्संज्ञा होती है। तित् तथा रित् स्वर के लिए किया गया है। 'तित्स्वरितम्' से स्वरित स्वर तथा 'उपोत्तमं रिति' से मध्योदात्त होता है।

उदा० (1) कर्त्तव्यम्
भाव में 'तव्यत्' हुआ (सामान्ये नपुँसकम्)।

(2) कर्त्तव्यम्
यहाँ 'तव्य' हुआ है।

(3) करणीयम्
'अनीयर्' हुआ। गुण हुआ। सु हुआ।

वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च—'वस्' धातु से 'तव्यत्' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है तथा वह णिद्वत् होता है—

(4) वास्तव्यः
वस् तव्यत्—अत उपधायाः,
वास्तव्यः—सु।

केलिमर उपसङ्ख्यानम्—धातु से 'केलिमर्' होता है। ककार व रेफ की इत् संज्ञा होती है—

(5) पचेलिमाः
पच् केलिमर्—अनुबन्ध लोप,
पचेलिमाः—बहुवचन में 'जस्'।

(6) भिदेलिमानि
भिद् केलिमर्—पूर्ववत्,
भिदेलिमानि—'जस्' को 'शि'।
यह प्रत्यय कर्मकर्त्ता में होता है।

(716) अचो यत् *97* (2842)

अजन्ताद्धातोर्यत्प्रत्ययो भवति। तकारः 'यतोऽनावः' (6.1.213) इति स्वरार्थः। गेयम्। पेयम्। चेयम्। जेयम्। अज्ग्रहणं किम्? यावता हलन्ताण्ण्यतं वक्ष्यति, अजन्तभूतपूर्वादपि यथा स्यात्-दित्स्यम्, धित्स्यम् (म० भा०)। *तकि-शसि-चति-यति-जनीनामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। तकि—तक्यम्। शसि—शस्यम्। चति—चत्यम्। यति—यत्यम्। जनि—जन्यम्।। *हनो वा वध च* (म०भा०)। वध्यम्। घात्यम्।

अर्थ—अजन्त धातु से 'यत्' प्रत्यय होता है। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। तकार की इत्संज्ञा होती है। 'तव्यत्' तथा 'यत्' असरूप हैं। अतः यह 'तव्यत्' का विकल्प से बाध करता है।

उदा० (1) गेयम्
गै यत् → गा यत्—अङ्ग संज्ञा, ईद्यति,
गीय → गेयम्—आर्धधातुक संज्ञा।
—पक्ष में गातव्यम्, गानीयम् भी।

(2) पेयम्
पा यत्—पेयम्

(3) चेयम्
चि यत्—गुण, सु।

(4) जेयम्
जि यत्—गुण, सु।

अज्ग्र० अर्थात् अजन्त धातु से ही 'यत्' होता है। इसका भाव यह है कि जो पहले अजन्त रहा हो, ऐसे धातु से भी 'यत्' होता है। हलन्त धातु से तो 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् कहा ही जायेगा—

(5) दित्स्यम्
दा सन्—सन्यङोः, 'सनि मीमाघु०' से 'अ' को 'इस्', 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से अभ्यासलोप, सः स्यार्द्ध०
दित्स् य—अतो लोपः, पहले धातु अजन्त था, परन्तु अब हलन्त है, तदपि 'यत्' हो गया,
दित्स्यम्—सु।

(6) धित्स्यम् (पूर्ववत्)।

तकिशसिचतियतिजनीनामुपसङ्ख्यानम्—तकि, शसि, चति, यति तथा जनि धातुओं से 'यत्' होता है—

(7) तक्यम्—तक् यत्।
(8) शस्यम्—शस् यत्।
(9) चत्यम्—चत् यत्।
(10) यत्यम्—यत् यत्।
(11) जन्यम्—जन् यत्।

हनो वा वध च—'हन्' से 'यत्' प्रत्यय विकल्प से होता है तथा 'वध' आदेश होता है। 'यत्' प्रत्यय की दशा में ही 'वध' आदेश होता है—

(12) वध्यम्
हन् यत्—वध यत्—पाक्षिक 'यत्' तथा 'वध' आदेश,
वध्यम्—अकारलोप, सु।

(13) घात्यम्
हन् ण्यत्—पक्ष में 'ण्यत्' हुआ,
हत् य—हनस्तोऽचिण्णलोः,
घत् य → घात् य—हो हन्ते०, अत उपधायाः,
घात्यम्—सु।

(717) पोरदुपधात् *98* (2844)

पवर्गान्ताद्धातोरकारोपधाद्यत्प्रत्ययो भवति। ण्यतोऽपवादः। शप्-शप्यम्। लभ्-लभ्यम्। पोरिति किम्? पाक्यम्, वाक्यम्। अदुपधादिति किम्? कोप्यम्, गोप्यम्। तपरकणं तत्कालार्थम्-आप्यम्।

अर्थ—पवर्गान्त तथा ह्रस्व अकार उपधावाले धातु से 'यत्' होता है। जिस धातु के अन्त में प् फ् ब् भ् म् में से कोई एक वर्ण हो, उसे पवर्गान्त धातु कहते हैं। यह 'ऋहलोर्ण्यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) शप्यम्
शप् यत्—उपधा में अकार तथा अन्त में पकार है।

(2) जप्यम् (पूर्ववत्)।

पोरि० अर्थात् पवर्गान्त धातु से ही 'यत्' होता है—

(2) पाक्यम्
पच् ण्यत्—ह्रस्व अकार उपधा में है, परन्तु पवर्गान्त नहीं है, अतः 'यत्' नहीं हुआ,
पाक्यम्—कुत्व, उपधावृद्धि, सु।

(4) वाक्यम्
वच् ण्यत्—अत उपधाया, चजोः कु घिण्ण्यतोः,
वाक्यम्—सु।

अदुपधा० अर्थात् **ह्रस्व अकार है उपधा में** जिसके, ऐसे धातु से 'यत्' होता है—

(5) कोप्यम्
पकारान्त धातु है, परन्तु उपधा में अकार नहीं है।

(6) गोप्यम् (पूर्ववत्)।

'अत्' में तपरकरण तत्काल के लिए है अर्थात् उपधा में ह्रस्व अकार होने पर ही 'यत्' होता है—

(7) आप्यम्
आप् ण्यत्—धातु पवर्गान्त है; परन्तु उपधा में ह्रस्व अकार नहीं है, अतः 'यत्' नहीं हुआ,
आप्यम्—सु।

(718) शकिसहोश्च *99* (2847)

'शक्लृ शक्तौ (धा०पा० 1262), 'षह मर्षणे' (धा०पा० 853) अनयोर्धात्वोर्यत्प्रत्ययो भवति। शक्यम्। सह्यम्।

अर्थ—शक् तथा सह् धातुओं से 'यत्' होता है।

उदा० (1) शक्यम्
शक् यत्—'ण्यत्' प्राप्त हुआ, 'यत्' हुआ,
शक्यम्—सु।

(2) सह्यम् (पूर्ववत्)।

(719) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे *100* (2848)

'गद व्यक्तायां वाचि' (धा०पा० 52), 'मदी हर्षे' (धा०पा० 1209), 'चर गतिभक्षणयोः' (धा०पा० 559), 'यम उपरमे' (धा०पा० 985) इत्येतेभ्यश्चानुपसर्गेभ्यो यत्प्रत्ययो भवति। गद्यम्। मद्यम्। चर्यम्। यम्यम्। अनुपसर्ग इति किम्? प्रगाद्यम्, प्रमाद्यम्। यमेः पूर्वेणैव सिद्धेऽनुपसर्गनियमार्थं वचनम्। *चरेराङि चागुरौ* (म०भा०)। आचार्यो देशः। अगुराविति किम्? आचार्य उपनेता।

अर्थ—गद, मद, चर् तथा यम्—इन उपसर्गरहित धातुओं से 'यत्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) गद्यम्
गद् यत्—'यत्' हुआ,
गद्यम्—सु।

(2) मद्यम् (पूर्ववत्)

(3) चर्यम् (पूर्ववत्)।

(4) यम्यम् (पूर्ववत्)।

अनुप० अर्थात् उपसर्गरहित से ही 'यत्' होता है—

(5) प्रगाद्यम्
प्र गद् ण्यत्—उपसर्गपूर्वक होने से 'यत्' नहीं हुआ,
प्रगाद्यम्—सु।

(6) प्रमाद्यम् (पूर्ववत् 'ण्यत्')।

यमेः पूर्वेणैव सिद्धेऽनुपसर्गनियमार्थं वचनम्—'यम्' से पूर्व सूत्र 'पोरदुपधात्' के द्वारा 'यत्' के प्राप्त रहते यह उपसर्गरहित के लिए नियम किया जा रहा है कि 'यम्' से 'यत्' करना हो तो उपसर्गरहित 'यम्' से ही 'यत्' होता है। सोपसर्ग 'यम्' से 'ण्यत्' होता है।

चरेराङि चाऽगुरौ—आङ् पूर्वक 'चर्' धातु से 'यत्' होता है, परन्तु 'गुरु' अर्थ होने पर 'यत्' नहीं होता है—

(7) आचर्यो देशः
आ चर् यत्—'देश' अर्थ है, 'यत्' हुआ,
आचर्यः—सु।

अगुरा० अर्थात् **'गुरु' अर्थ को छोड़कर** ही 'चर्' से 'यत्' होता है—

(8) आचार्य उपनेता
आ चर् ण्यत्—'गुरु' अर्थ है। अतः 'यत्' नहीं हुआ,
आचार्यः—सु।

(720) अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु *101* (2849)

अवद्य, पण्य, वर्या—इत्येते शब्दा निपात्यन्ते, गर्ह्यपणितव्यानिरोध इत्येतेष्वर्थेषु यथासंख्यम्। अवद्यमिति निपात्यते, गर्ह्यं चेत्तद्भवति। अवद्यं पापम्। अनुद्यमन्यत्-'वदः सुपि क्यप् च' (3.1.106)। पण्यमिति निपात्यते, पणितव्यं चेत्तद्भवति। पण्यः कम्बलः। पण्या गौः। पाण्यमन्यत्। वर्येति स्त्रियां निपात्यते, अनिरोधश्चेद्भवति। अनिरोधोऽप्रतिबन्धः। शतेन वर्या। सहस्रेण वर्या। वृत्याऽन्या। स्त्रीलिङ्गनिर्देशः किमर्थः? वार्या ऋत्विजः।

अर्थ—गर्ह्य, पणितव्य तथा अनिरोध अर्थों में यथासंख्य करके अवद्य, पण्य तथा वर्या—इन यत् प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अवद्यं पापम्
वद् यत्—'यत्' हुआ,
अवद्यम्—सु।
अन्यत्र 'अनुद्यम्' होता है—वदः सुपि क्यप् च।

(2) पण्यम्
पण् यत् → पण्यम्।
अन्यत्र 'पाण्यम्' बनता है।

(3) वर्या
वृ यत्—यह स्त्रीलिङ्ग में निपातित है।
वर्या—सु, सुलुक्।

(721) वह्यं करणम् *102* (2850)

वहेर्धातोः करणे यत्प्रत्ययो निपात्यते। वहत्यनेनेति वह्यं शकटम्। करण इति किम्? वाह्यमन्यत्।

अर्थ—करण अर्थ में 'वह्' धातु से 'यत्' करके 'वह्य' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) वह्यम्
वहत्यनेन → वह् यत् → वाह्यम्।
करणे अर्थात् **करण** अर्थ में ही 'वह्य' होता है—

(2) वाह्यम्
वह् ण्यत् → वाह्यम्।

(722) अर्यः स्वामिवैश्ययोः *103* (2851)

'ऋ गतौ' (धा०पा० 1099) अस्माण्ण्यति प्राप्तेः स्वामिवैश्ययोरभिधेय-योर्यत्प्रत्ययो निपात्यते। अर्यः स्वामी। अर्यो वैश्यः। 'यतोऽनाव' (6.1.213) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते। *स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्* (म०भा०)। स्वामिवैश्ययोरिति किम्? आर्यो ब्राह्मणः।

अर्थ—'अर्य' शब्द का निपातन किया जाता है, 'स्वामी' तथा 'वैश्य' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) अर्यः स्वामी
ऋ यत्—'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' प्राप्त था, निपातन से 'यत्' हुआ,
अर्यः—गुण, सु।
(2) अर्यो वैश्यः (पूर्ववत्)।

स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्—'स्वामी' अर्थ रहने पर 'अर्य' अन्तोदात्त होता है। 'यतोऽनाव' से आद्युदात्तत्व प्राप्त था,

(3) अर्यः
अन्तोदात्त हुआ।

स्वामि अर्थात् **स्वामी** तथा **वैश्य** अर्थ होने पर ही 'अर्य' शब्द का निपातन होता है—

(4) आर्यो ब्राह्मणः
यहाँ न तो स्वामी अर्थ है, न ही वैश्य अर्थ है। अतः 'यत्' नहीं हुआ।

(723) उपसर्या काल्या प्रजने *104* (2852)

उपसर्येति निपात्यते, काल्या चेत्प्रजने भवति। उपपूर्वात्सर्तेर्यत्प्रत्ययः। प्राप्तकाला = काल्या। प्रजनः = प्रजननम्, प्रथमगर्भग्रहणम्। गर्भग्रहणे प्राप्तकाला—उपसर्या गौः, उपसर्या वडवा। काल्या प्रजन इति किम्? उपसार्या शरदि मथुरा।

अर्थ—प्रथम गर्भग्रहण का समय है जिसका—इस अर्थ में 'उपसर्या' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) उपसर्या
उप सृ यत्—गुण, टाप्,
उपसर्या—सु, सुलुक्।

काल्या० अर्थात् प्रथम गर्भ धारण का काल है जिसका ऐसा अर्थ होने पर ही 'यत्' होता है—

(2) उपसार्या मथुरा
यहाँ 'यत्' नहीं हुआ, 'ण्यत्' हुआ।

(724) अजर्यं सङ्गतम् *105* (2853)

अजर्यमिति निपात्यते सङ्गतं चेद्भवति। जीर्यतेर्नञ्पूर्वात्सङ्गते सङ्गमने कर्तरि यत्प्रत्ययो निपात्यते। न जीर्यतीत्यजर्यम्, अजर्यमार्यसङ्गतम्। अजर्यं नोऽस्तु सङ्गतम्। सङ्गतमिति किम्? अजरिता कम्बलः।

अर्थ—सङ्गत अर्थ में 'अजर्य' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अजर्यम्
नञ् जॄ यत्—निपातन से,
अजर्यम्—सु।

सङ्गत० अर्थात् सङ्गत अर्थ में ही उक्त निपातन होता है—
(2) अजरिता कम्बलः
यहाँ 'यत्' नहीं हुआ।

(725) वदः सुपि क्यप् च *106* (2854)

अनुपसर्ग इति वर्तते। वदेर्धातोः सुबन्ते उपपदे अनुपसर्गे क्यप् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च। ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्मवद्यम्। सत्योद्यम्। सत्यवद्यम्। सुपीति किम्? वाद्यम्। अनुपसर्ग इत्येव-प्रवाद्यम्।

अर्थ—'अनुपसर्गे' पद का अनुवर्त्तन होता है।

सुबन्त उपपद रहते उपसर्गरहित 'वद्' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय तथा 'यत्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) ब्रह्मोद्यम्
ब्रह्मन् वद् क्यप्—'वचिस्वपियजा०' से सम्प्रसारण,
ब्रह्म उद् य—नलोप,
ब्रह्मोद्यम्—गुण, सु।

(2) ब्रह्मवद्यम्
'यत्' पक्ष में।

(3) सत्यवद्यम् (पूर्ववत्)।

सुपि अर्थात् सुबन्त उपपद रहते ही 'क्यप्' व 'यत्' होते हैं—

(4) वाद्यम्
वद् ण्यत्—सुबन्त उपपद पूर्व में नहीं है। अतः 'क्यप्' नहीं हुआ,
वाद्यम्—अत उपधायाः, सु।

अनुपसर्गे अर्थात् अनुपसर्ग 'वद्' से 'क्यप्' होता है।
(5) प्रवाद्यम्
प्र वद् ण्यत्—उपसर्गपूर्वक 'वद्' से 'क्यप्' नहीं हुआ।

(726) भुवो भावे *107* (2855)

सुप्यनुपसर्ग इत्यनुवर्त्तते। भवतेर्धातोः सुबन्त उपपदेऽनुपसर्गे भावे क्यप् प्रत्ययो भवति। यत्तु नानुवर्त्तते। ब्रह्मभूयं गतः, ब्रह्मत्वं गतः। देवभूयं गतः, देवत्वं गतः। भावग्रहणमुत्तरार्थम् (म०भा०)। सुपीत्येव-भव्यम्। अनुपसर्ग इत्येव-प्रभव्यम्।

अर्थ—सुपि, अनुपसर्गे—पदों का अनुवर्त्तन हो रहा है। सुबन्त उपपद रहते उपसर्गरहित 'भू' धातु से 'क्यप्' होता है, भाव अर्थ में।

उदा० (1) ब्रह्मभूयं गतः
ब्रह्मन् भू क्यप्—गुण का निषेध,
ब्रह्मभूयम्—सु।

(2) देवभूयम् (पूर्ववत्)।

'भावे' पद का ग्रहण उत्तरवर्ती शास्त्र में अनुवर्तन के लिए है।

सुपि अर्थात् सुबन्त उपपद रहते ही 'क्यप्' होता है—

(3) भव्यम्
सुबन्त उपपद नहीं रहते 'क्यप्' नहीं हुआ, 'यत्' हुआ।

अनुपस० अर्थात् उपसर्गरहित 'भू' से 'क्यप्' होता है—

(4) प्रभव्यम्
उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु से 'क्यप्' नहीं हुआ, 'यत्' हुआ।

(727) हनस्त च *108* (2856)

सुप्यनुपसर्ग इति वर्तते, भाव इति च। हन्तेर्धातोः सुबन्त उपपदेऽनुपसर्गे भावे क्यप् प्रत्ययो भवति, तकारश्चान्तादेशः। ब्रह्महत्या। अश्वहत्या। सुपीत्येव–घातः। ण्यत्तु भावे न भवति, अनभिधानात्। अनुपसर्ग इत्येव–प्रघातो वर्तते।

अर्थ—'सुपि' 'भावे' तथा 'अनुपसर्गे' पदों का अनुवर्तन होता है। सुबन्त उपपद रहते अनुपसर्ग 'हन्' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय तथा तकार अन्तादेश होता है, भाव अर्थ में।

उदा० (1) ब्रह्महत्या
ब्रह्मन् हन् क्यप्—'क्यप्' हुआ,
ब्रह्मन् हत् य टाप्—स्त्रीत्व में 'टाप्',
ब्रह्महत्या—नलोप, सु, सुलुक्।

(2) अश्वहत्या (पूर्ववत्)।

सुपि अर्थात् सुबन्त उपपद रहते ही 'हन्' से 'क्यप्' होता है—

(3) घातः
हन् घञ्—'क्यप्' नहीं हुआ,
घात् अ—हो हन्ते—,
घातः—सु।
भाव में 'ण्यत्' नहीं होता है।

अनुपस० अर्थात् उपसर्गरहित 'हन्' से 'क्यप्' होता है—

(4) प्रघातः
प्र हन् ण्यत्—'क्यप्' नहीं हुआ,
प्रघातः—सु।

(728) एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् *109* (2857)

सुप्यनुपसर्गे भाव इति निवृत्तम्। सामान्येन विधानमेतत्। एति, स्तु, शास्, वृ, दृ, जुष्–इत्येतेभ्यः क्यप् प्रत्ययो भवति। इत्यः। स्तुत्यः। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः। क्यबिति वर्तमाने पुनः क्यब्ग्रहणं बाधकबाधनार्थम्, 'ओरावश्यके' (3.2.125) इति ण्यतं बाधित्वा क्यबेव भवति–अवश्यस्तुत्यः। वृग्रहणे वृञो ग्रहणमिष्यते, न वृङः–वार्या ऋत्विजः। *शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। शस्यम्। शंस्यम्। दुह्यम्। दोह्यम्। गुह्यम्। गोह्यम्। *आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। आज्यं घृतम्। कथमुपेयम्? एरेतद्रूपम्, न इणः।

अर्थ—सुपि, अनुपसर्गे तथा भावे—इन पदों का अनुवर्तन नहीं है। यह सामान्य विधान है।

इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ तथा जुष्—इन धातुओं से 'क्यप्' प्रत्यय होता है।

'य्' की 'हलन्त्यम्' से तथा 'क्' की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। 'क्यप्' को पित् तुक् आगम के लिए किया गया है तथा कित् वृद्धि के निषेध के लिए है।

'वृ' के द्वारा 'वृञ्' का ग्रहण होता है, 'वृङ्' का नहीं।

उदा० (1) इत्यः
इ क्यप्—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्।
इत्यः—सु।

(2) स्तुत्यः (पूर्ववत्)।

(3) शिष्यः
'शास इदङ्हलोः' से इदङ्, 'शासिवसिघसीनां०' से षत्व।

(4) वृत्यः (पूर्ववत्)।

(5) आदृत्यः (पूर्ववत्)।

(6) जुष्यः (पूर्ववत्)।

क्यबिति०—यद्यपि पूर्वशास्त्र से 'क्यप्' का अनुवर्तन हो रहा है, तदपि पुनः 'क्यप्' पद का ग्रहण बाधक के बाध के लिए है। 'ओरावश्यके' से प्राप्त 'ण्यत्' का बाध प्रकृत सूत्र से हो जाता है तथा सूत्रोक्त 'इण्' आदि धातुओं से 'क्यप्' ही होता है।

(7) अवश्यस्तुत्यः (पूर्ववत्)।

शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्—शंस्, दुह् तथा गुह्—इन धातुओं से विकल्प से 'क्यप्' होता है—

(8) शस्यम्
शंस् क्यप्—अनुनासिकलोप,
शस्यम्—सु।

(9) शंस्यम्—पक्ष में 'ण्यत्' हुआ।
(10) दुह्यम्—'क्यप्' हुआ।
(11) दोह्यम्—पक्ष में 'ण्यत्', गुण।
(12) गुह्यम्—क्यप्।
(13) गोह्यम्—ण्यत्।

आङ्पूर्वादञ्जेः सञ्ज्ञायामुपसङ्ख्यानम्—आङ्पूर्वक 'अञ्ज' धातु से 'क्यप्' होता है, सञ्ज्ञा अर्थ में। यथा—

(14) आज्यम्
आ अञ्ज् क्यप्—अनुनासिक का बाहुलकात् लोप,
आज्यम्—सु।

कुत्व का प्रसङ्ग होने के कारण 'क्यप्' किया गया है, अन्यथा 'ण्यत्' में भी 'आज्यम्' रूप ही बनता है।

अब प्रश्न उठता है कि 'उपगेयम्' रूप किस प्रकार सिद्ध होता है? वस्तुतः 'ईङ् गतौ' से 'यत्' होकर 'उपेयम्' रूप बनता है।[1] यदि 'यण्' से 'क्यप्' करते हैं तो 'इत्य' बनता है।

(729) ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः *110* (2859)

ऋकारोपधाच्च धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति, क्लृपिचृती वर्जयित्वा। वृतुवृत्यम्। वृधु-वृद्ध्यम्। अक्लृपिचृते-रिति किम्? कल्प्यम्, चर्त्यम्। तपरकरणं किम्? 'कृत संशब्दने' (धा०पा० 1654)-ण्यदेव भवति, कीर्त्यम्। *पाणौ सृजेर्ण्यद्वक्तव्यः*। पाणिसर्ग्या रज्जुः। *समवपूर्वाच्च*। समवसर्ग्या।

अर्थ—ह्रस्व ऋकार है उपधा में जिसके, ऐसे धातु से 'क्यप्' होता है तथा क्लृप् व चृत् को नहीं होता है।

उदा० (1) वृत्यम्
वृत् क्यप्—'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' प्राप्त था,
वृत्यम्—सु।

(2) वृद्ध्यम्
वृध् क्यप्—पूर्ववत्।

अक्लृपि अर्थात् **क्लृप्** तथा **चृत्** से 'क्यप्' नहीं होता है—

(3) कल्प्यम्
क्लृप् ण्यत्—'क्यप्' नहीं हुआ, गुण, लपरत्व,
कल्प्यम्—सु।

(4) चर्त्यम्
चृत् ण्यत्—पूर्ववत्।

ऋद् अर्थात् **ह्रस्व ऋकार है** उपधा में जिसके, ऐसे धातु से 'क्यप्' होता है—

(5) कीर्त्यम्
कृत् णिच् य—उपधा में ह्रस्व ऋकार नहीं है, 'क्यप्' नहीं हुआ, णिच् हुआ, णिलोप,
कीर्त् य—ऋत इद् धातोः, हलि च,
कीर्त्यम्—सु।

पाणौ सृजेर्ण्यद्वक्तव्यः—'पाणि' उपपद रहते 'सृज्' धातु से 'ण्यत्' होता है—

(6) पाणिसर्ग्या
पाणि सृज् ण्यत्—'सृज्' के ऋदुपध होने से 'क्यप्' प्राप्त हुआ, इसका बाध कर 'ण्यत्' हुआ,
पाणि सर्ज् य—गुण,
पाणिसर्ग्या—कुत्व, टाप्, सु, सुलुक्।

समवपूर्वाच्च—सम् तथा अवपूर्वक 'सृज्' धातु से 'ण्यत्' होता है—

(7) समवसर्ग्या—पूर्ववत् सभी कार्य।

(730) ई च खनः *111* (2860)

खनेर्धातोः क्यप् प्रत्ययो भवतीकारश्चान्तादेशः। खेयम्। दीर्घनिर्देशः प्रश्लेषार्थः। तत्र द्वितीय इकारो 'ये विभाषा' (6.4.43) इत्यात्वबाधनार्थः।

अर्थ—'खन्' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होता है तथा ईकार अन्तादेश होता है।

उदा० (1) खेयम्
खन् क्यप् → ख ई य—क्यप्, ईकार,
खेयम्—सु।

1. उप ई यत् → उप एय → उपेय → उपेयम् (एङि पररूपम्)।

दीर्घ०—शङ्का होती है कि 'खेय' शब्द ह्रस्व इकार अन्तादेश करने पर भी सिद्ध हो जाता है, तब दीर्घ इकार का निर्देश किसलिए है ? इसका समाधान यह है कि 'ई' में दो इकारों का प्रश्लेष है। इ + इ = ई। प्रथम इकार से अन्तादेश हुआ तथा द्वितीय इकार से 'ये विभाषा' से प्राप्त आत्व का बाध होता है, अन्यथा पक्ष में 'खायम्' भी प्राप्त होता है। प्रश्लेष का प्रयोजन यह है कि इकार अन्तादेश नित्य होता है तथा आत्व कभी भी नहीं होता।

(731) भृञोऽसंज्ञायाम् *112* (2861)

भृञो धातोरसंज्ञायां विषये क्यप् प्रत्ययो भवति। भृत्याः कर्मकराः। भर्तव्या इत्यर्थः। असंज्ञायामिति किम् ? भार्यो नाम क्षत्रियः। *सम्पूर्वाद्विभाषा*। सम्भृत्याः, सम्भार्या वा।

संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्या प्रसिद्ध्यति।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिद्ध्यति॥
(म० भा०)

अर्थ—भृञ् धातु से 'क्यप्' होता है, संज्ञा के विषय को छोड़कर।

उदा० (1) भृत्यः
भृ क्यप्—तुक् आगम,
भृत्यः—सु।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा के विषय में 'क्यप्' नहीं होता है—

(2) भार्यः
भृ ण्यत्—संज्ञा गम्यमान होने से 'क्यप्' नहीं हुआ,
भार्यः—सु।

सम्पूर्वाद् विभाषा—सम् पूर्वक 'भृ' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय विकल्प से होता है—

(3) सम्भृत्याः
सम् भृत् क्यप्—पाक्षिक 'क्यप्',
सम्भृत्याः—जस्।

(4) सम्भार्याः
'ण्यत्' होकर रूप बनता है।

सञ्ज्ञायां कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

'भार्यः क्षत्रियः' इस पुँल्लिङ्ग में सूत्रोक्त संज्ञा में प्रतिषेध चरितार्थ होता है। यह निषेध स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्त नहीं होगा और 'क्यप्' होगा। तब सूत्रकार के मत में 'भार्या' शब्द सिद्ध नहीं होता है। भाव यह है कि लोक में देखा जाता है कि देवदत्त द्वारा भरण पोषण न किए जाने पर भी 'यह देवदत्त की भार्या है'—ऐसा व्यवहार होता है। तब 'भार्या' शब्द में संज्ञा गम्यमान है। संज्ञा गम्यमान होने से 'क्यप्' प्रवृत्त ही नहीं होता; परन्तु 'सञ्ज्ञायां समजनिषदनिपत०' से 'क्यप्' हो ही जायेगा। अतः 'भार्या' शब्द सिद्ध नहीं होता है।

इसका समाधान कारिका के उत्तरार्ध में दिया गया है। 'सञ्ज्ञायां समजनिषदनिपत०' के द्वारा विधीयमान 'क्यप्' में 'स्त्रियाम्' तथा 'भावे' दोनों का अधिकार है। तब इस सूत्र से होने वाला 'क्यप्' भाव अर्थ में होता है, कर्म अर्थ में नहीं। तब 'भ्रियते या सा भार्या' यहाँ कर्म अर्थ में 'ण्यत्' होकर 'भार्या' शब्द सिद्ध हो जाता है।

(732) मृजेर्विभाषा *113* (2862)

मृजेर्धातोर्विभाषा क्यप् प्रत्ययो भवति। ऋदुपधत्वात् प्राप्तविभाषेयम्। परिमृज्यः, परिमार्ग्यः।

अर्थ—मृज् धातु से 'क्यप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'मृजि' में इक् धातुनिर्देश के लिए है। 'मृज्' के ऋदुपध होने से 'क्यप्' प्रत्यय नित्य प्राप्त था। अतः यह प्राप्तविभाषा हुई।

उदा० (1) परिमृज्यः
परि मृज् क्यप्—पाक्षिक 'क्यप्' हुआ, 'मृजेर्वृद्धिः' से प्राप्त वृद्धि,
परि मृज्य—निषेध,
परिमृज्यः—सु।

(2) परिमार्ग्यः
परि मृज् ण्यत्—पक्ष में,
परि मार्ज् य—'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि,
परिमार्ग्यः—चजोः कुः घिण्ण्यतोः, सु।

(733) राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः *114* (2865)

राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य-इत्येते शब्दाः क्यपि निपात्यन्ते। राज्ञा सोतव्यः, राजा वा इह सूयते राजसूयः क्रतुः। सूसर्तिभ्यां क्यप्, सर्त्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुडागमः-सरति सुवति वा सूर्यः। मृषापूर्वस्य वदतेः पक्षे इति प्राप्ते नित्यं क्यब् निपात्यते-मृषोद्यम्। रोचतेऽसौ रुच्यः, कर्तरि क्यप्। गुपेरादेः कत्वं

च संज्ञायाम्-कुप्यम्। गोप्यमन्यत्। कृष्टे पच्यन्ते कृष्टपच्याः। कर्मकर्त्तरि निपातनम्। न व्यथते अव्यथ्यः।

अर्थ—क्यप् प्रत्ययान्त राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य तथा अव्यथ्य—इन शब्दों का निपातन होता है।

उदा० (1) राजसूयः
राज्ञा इह सूयते—कर्म व अधिकरण में 'क्यप्' हुआ,
राजन् सु क्यप्—नलोप, प्राप्त तुक् का निषेध, दीर्घादेश,
राजसूयः—सु।

(2) सूर्यः
सरति, सुवति
सु अथवा सृ क्यप्—निपातनात् उकार आदेश,
सुर् य—उरण् रपरः,
सूर्यः—दीर्घ।

(3) मृषोद्यम्
मृष वद् क्यप्—पक्ष में 'वदः सुपि क्यप् च' से 'यत्' प्राप्त था,
मृषा उद् य—सम्प्रसारण,
मृषोद्यम्—गुण, सु।

(4) रुच्यः
रुच् क्यप्—निपातन से 'क्यप्',
रुच्य—प्राप्त गुण का निषेध,
रुच्यः—सु

(5) कुप्यम्
गुप् क्यप्—निपातन से गकार को ककार,
कुप्य—गुण का निषेध,
कुप्यम्—सु।
कुछ विद्वानों के मत में 'गोप्यम्' होता है।

(6) कृष्टपच्याः
कृष्टपच् क्यप्—निपातन से संज्ञा में 'क्यप्' हुआ,
कृष्टपच्याः—जस्।

(7) अव्यथ्यः
न व्यथ् क्यप्—पूर्ववत्।

(734) भिद्योद्ध्यौ नदे *115* (2866)

भिदेरुज्झेश्च क्यब् निपात्यते नदेऽभिधेये, उज्झेर्धत्वं च। भिनत्ति कूलं भिद्यः। उज्झत्युदकम् उद्ध्यः। नद इति किम्? भेत्ता उज्झिता।

अर्थ—भिद्य और उद्ध्य शब्दों का निपातन किया जाता है, नदी अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) भिद्यः
भिनत्ति कूलम्—'क्यप्' निपातन से हुआ,
भिद् क्यप्—गुण का निषेध,
भिद्यः—सु।

(2) उद्ध्यः
उन्द् क्यप्—निपातन से 'क्यप्',
उद्ध्य—निपातन से अनुनासिकलोप, दकार का धकार,
उद्ध्यः—सु।
काशिकाकार ने 'उज्झ्' से सिद्धि दिखाई है।

नद इति अर्थात् 'नदी' अर्थ गम्यमान हो तो निपातन से 'क्यप्' होता है—

(3) भेत्ता
यहाँ नदी अर्थ नहीं है।

(4) उज्झिता (पूर्ववत्)।

(735) पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे *116* (2867)

पुषेः सिधेश्चाधिकरणे क्यब् निपात्यते नक्षत्रेऽभिधेये। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था इति पुष्यः। सिद्ध्यन्त्यस्मिन्निति सिद्ध्यः। नक्षत्र इति किम्? पोषणं, सेधनम्।

अर्थ—(अधिकरण अर्थ में) पुष्य तथा सिद्ध्य शब्दों का निपातन किया जाता है, 'नक्षत्र' अर्थ वाच्य हो तो।

उदा० (1) पुष्यः
पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः—'क्यप्' निपातन से हुआ,
पुष् क्यप् सु—रूप बना।

(2) सिद्ध्यः
सिद्ध्यन्त्यस्मिन्—पूर्ववत्।

नक्षत्रे अर्थात् नक्षत्र अर्थ गम्यमान हो तो 'क्यप्' होता है—
(3) पोषणम्
'नक्षत्र' अर्थ न होने पर 'क्यप्' नहीं हुआ।

(4) सेधनम् (पूर्ववत्)।

(736) विपूयविनीयजित्या मुञ्ज-कल्कहलिषु *117* (2868)

विपूय, विनीय, जित्य-इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मुञ्ज-कल्क-हलि इत्येतेष्वर्थेषु बोध्येषु। विपूर्वात्पवतेर्न-

यतेश्च तथा जयतेर्यति (3.1.97) प्राप्ते कर्मणि क्यब् निपात्यते-विपूयो मुञ्जः। विपाव्यमन्यत्। विनीयः कल्कः। विनेयमन्यत्। जित्यो हलिः। जेयमन्यत्।

अर्थ—मुञ्ज, कल्क तथा हलि अर्थों में यथासंख्य करके विपूय, विनीय तथा जित्य शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) विपूयः
वि पू क्यप्—'अचो यत्' से 'यत्' प्राप्त था,
विपूयः—सु।

(2) विनीयः
वि नी क्यप्—यत् प्राप्त था।

(3) जित्यः
जि क्यप्—पूर्ववत्, 'यत्' प्राप्त था,
जित्यः—तुक्, सु।

मुञ्ज० अर्थात् मुञ्ज आदि अर्थों में ही 'क्यप्' होता है—
(4) विपव्यम्
यत् हुआ।

(5) विनेयम्—पूर्ववत् 'यत्' हुआ।
(6) जेयम्—'यत्' हुआ।

(737) प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि *118* (2869)

प्रति, अपि इत्येवम्पूर्वाद् ग्रहेः क्यप् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। मत्तस्य न प्रतिगृह्यम् (का०सं० 14.5)। तस्मान्नापि गृह्यम् (का०सं० 27.3)। छन्दसीति किम्? प्रतिग्राह्यम्, अपिग्राह्यम् (3.1.124)।

अर्थ—वेद के विषय में प्रति तथा अपि उपसर्गपूर्वक 'ग्रह्' धातु से 'क्यप्' होता है।

उदा० (1) प्रतिगृह्यम् (तै० ब्रा० 1.3.2.7)
क्यप् हुआ।

(2) अपिगृह्यम् (काठ० सं० 14.5)
क्यप् हुआ।

छन्दसि अर्थात् वेद में ही पूर्वोक्त 'क्यप्' होता है—

(3) प्रतिग्राह्यम्
लोक में 'क्यप्' नहीं हुआ।

(4) अपिग्राह्यम् (पूर्ववत्)।

(738) पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च *119* (2870)

पदेऽस्वैरिणि बाह्यायां पक्ष्ये चार्थे ग्रहेर्धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति। पदे तावत्-प्रगृह्यं पदम्, यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विहिता। अवगृह्यं पदम्, यस्यावग्रहः क्रियते। अस्वैरी परतन्त्रः। गृह्यका इमे। गृहीतका इत्यर्थः। बाह्यायाम्-ग्रामगृह्या सेना, नगरगृह्या सेना। ग्रामनगराभ्यां बहिर्भूतेत्यर्थः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादन्यत्र न भवति-पक्षे भवः पक्ष्यः, वासुदेवगृह्याः, अर्जुनगृह्याः। तत्पक्षाश्रिता इत्यर्थः।

अर्थ—पद, अस्वैरी, बाह्य तथा पक्ष्य—इन अर्थों में 'ग्रह्' धातु से 'क्यप्' होता है।

उदा० (1) प्रगृह्यं पदम्
यहाँ 'क्यप्' हुआ है।

(2) अवगृह्यं पदम् (पूर्ववत्)।
(3) गृह्यका इमे (पूर्ववत्)।
(4) ग्रामगृह्या सेना (पूर्ववत्)।
(5) नगरगृह्या सेना (पूर्ववत्)।
(6) वासुदेवगृह्याः (पूर्ववत्)।
(7) अर्जुनगृह्याः (पूर्ववत्)।

(739) विभाषा कृवृषोः *120* (2871)

कृञो वृषेश्च विभाषा क्यप् प्रत्ययो भवति। करोतेर्ण्यति प्राप्ते (3.1.124) वर्षतेर्ऋदुपधत्वान्नित्ये क्यपि प्राप्ते (3.1.110) विभाषाऽऽरभ्यते। कृत्यम्। कार्यम्। वृष्यम्। वर्ष्यम्।

अर्थ—कृ तथा वृष् धातुओं से 'क्यप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'कृ' से 'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' प्राप्त था तथा 'वृष्' से 'ऋदुपधा०' से 'क्यप्' प्राप्त था। यहाँ विकल्प कह दिया है। अतः प्राप्तविभाषा हुई।

उदा० (1) कृत्यम्
कृ क्यप्—तुक्।

(2) कार्यम्—ण्यत् हुआ।
(3) वृष्यम्—क्यप् हुआ।
(4) वर्ष्यम्—ण्यत् हुआ।

(740) युग्यं च पत्रे *121* (2873)

युग्यमिति निपात्यते, पत्रं चेत्तद्भवति। पतत्यनेनेति पत्रं वाहनमुच्यते। युग्यो गौः। युग्योऽश्वः। युग्यो हस्ती।

युजेः क्यप् कुत्वं च निपात्यते। पत्रे इति किम्? योग्यमन्यत्।

अर्थ—पत्र अर्थात् वाहन अर्थ गम्यमान हो तो 'युग्य' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) युग्यो गौः
योक्तुम् अर्हः—'क्यप्' हुआ,
युग्यः—निपातन से कुत्व।

(2) युग्योऽश्वः (पूर्ववत्)।

पत्रे अर्थात् वाहन अर्थ में ही 'क्यप्' होता है—

(3) योग्यम्—'क्यप्' नहीं हुआ।

(741) अमावस्यदन्यतरस्याम् *122* (2874)

अमाशब्दः सहार्थे वर्त्तते, तस्मिन्नुपपदे वसेर्द्धातोः कालेऽधिकरणे ण्यत्प्रत्ययो भवति, तत्रान्यतरस्यां वृद्ध्यभावो निपात्यते। सह वसतोऽस्मिन् काले सूर्याचन्द्रमसाविति अमावस्या, अमावास्या। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् 'अमावास्याया वा' (4.3.30) इत्यत्रामावस्याशब्दस्यापि ग्रहणं भवति।

**अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम्।
तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिद्ध्यति॥
(म०भा०)**

अर्थ—'अमा' शब्द 'सह' अर्थ में है। 'अमावस्यत्' शब्द का विकल्प से निपातन किया जाता है। यहाँ 'अमा' पूर्वक 'वस्' धातु से अधिकरण अर्थ में 'ण्यत्' परे रहते पाक्षिक वृद्धि का निपातन किया गया है।

उदा० (1) अमावस्या
सह वसतोऽस्मिन् काले सूर्यचन्द्रमसौ—ण्यत् हुआ,
अमा वस् ण्यत्—नित्य वृद्धि प्राप्त थी,
अमावस्या—वृद्धि अभावपक्ष में।

(2) अमावास्या
वृद्धि पक्ष में रूप बनता है।

'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस परिभाषा के द्वारा 'अमावास्या वा' के द्वारा 'अमावस्या' शब्द का भी ग्रहण होता है।

अमा वस् ण्यत्—इस दशा में वृद्धि का पाक्षिक अभाव हुआ। 'अमावस्या' में वृद्धि का अभाव हुआ, तब 'अमावास्याया वा' के द्वारा 'अमावस्या' शब्द का ग्रहण नहीं होगा।

अमा०—वार्तिककार कहता है कि 'अमा वस् ण्यत्' इस दशा में वृद्धि के अभाव का निपातन करता हूँ। इस प्रकार तद्धितवृत्ति (अर्थात् वुन् तथा अण्) हो जाती है और दोनों का स्वर भी सिद्ध हो जाता है।

कारिका में 'अमावसोः' तथा 'ण्यतोः' इस प्रकार द्विवचन का निर्देश दोनों शब्दरूपों को ध्यान में रखकर किया है (द्र०—पदम०)।

(742) छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्य-मर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्य-ब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि *123* (3407)

निष्टर्क्यादयः शब्दाश्छन्दसि विषये निपात्यन्ते। यदिह लक्षणेन अनुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्। निष्टर्क्य इति—'कृती छेदने' (धा०पा० 1436) इत्यस्मान्निस्पूर्वात् क्यपि प्राप्ते ण्यत्, आद्यन्तविपर्ययश्च, निसश्च षत्वं निपात्यते—निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः (ऐ०आ० 5.1.3)। देवशब्दः उपपदे ह्वयतेर्जुहोतेर्वा क्यप्, दीर्घस्तुगभावश्च—देवहूयः (श० ब्रा० 2.1.3.2)। प्रपूर्वादुत्पूर्वाच्च नयतेः क्यप्—प्रणीयः (श०ब्रा० 3.1.3.1), उन्नीयः (श०ब्रा० 3.5.16.12)। उत्पूर्वाच्छिषेः क्यप्—उच्छिष्यम् (मै०सं० 3.9.2)। 'मृङ् प्राणत्यागे' (धा०पा० 1404), 'स्तृञ् आच्छादने' (धा०पा० 1253), आभ्यां यत् प्रत्ययः। मर्यः (तै०आ० 1.3.2), स्तर्या (श०ब्रा० 2.1.2.10)—स्त्रियामेव निपातनम्, 'ध्वृ हूर्छने' (धा०पा० 940) ध्वर्यः। खनेर्यत्—खन्या (तै०सं० 7.4.13.1)। एतस्मादेव ण्यत्—खान्यः। देवशब्द उपपदे यजेर्यत्—देवयज्या (ऋ० 10.30.21)। स्त्रीलिङ्गनिपातनम्। आङ्पूर्वात्पृच्छेः क्यप्—आपृच्छ्यः (ऋ० 1.60.2)। प्रतिपूर्वात्सीव्यतेः क्यप् षत्वं च—प्रतिषीव्यः (मा०श्रौ० 2.2.2.35)। ब्रह्मण्युपपदे वदेर्ण्यत्—ब्रह्मवाद्यम् (तै०सं० 2.5.8.3)। भवतेः स्तौतेश्च ण्यत् आवादेशश्च भवति—भाव्यम् (अथ० 13.1.54), स्ताव्यः। उपपूर्वस्य चिनोतेर्ण्यदायादेशौ—उपचाय्यपृडम् हिरण्यदक्षिणा (का० सं० 11.1)। पृडे चोत्तरपदे निपातनमेतत्। *हिरण्य इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। हिरण्यादन्यत्र उपचेयपृडमेव।

**निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात्।
ण्यदायादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ॥**

ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः ।
ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यबौ ण्यद्विधिश्चतुः ॥
(म० भा०)

अर्थ—वेद में 'निष्टर्क्य' आदि शब्द निपातनसिद्ध हैं। जो लक्षण के द्वारा सिद्ध न हो, उसको निपातनसिद्ध जानना चाहिए।

उदा० (1) निष्टर्क्यम् (तै० सं० 6.1.7.2)
निस् कृत्[1] ण्यत्—लघूपध गुण,
निष् कर्त् य—षत्व,
निष्टर्क्यम्—वर्णविपर्यय, ष्टुत्व।

(2) देवहूयः
देव हु क्यप्—निपातन से 'क्यप्',
देवहूयः—तुक् आगम का अभाव, दीर्घादेश।
'ह्वे' धातु से भी यह शब्द निष्पन्न होता है।

(3) प्रणीयः
प्र नी·क्यप्—'क्यप्' निपातन से,
प्रणीयः—णत्व, सु।

(4) उन्नीयः
उद् नी क्यप्—यत् प्राप्त था।

(5) उच्छिष्यः (मै० सं० 3.9.2)
उद् शिष् क्यप्—निपातन से 'क्यप्',
उत् छिष् य—शश्छोऽटि,
उच्छिष्यः—सु।

(6) मर्यः—मृ क्यप्।
(7) स्तर्यः—स्तृ क्यप्।
(8) अध्वर्यः
ध्वृ क्यप्—'क्यप्' हुआ,
न ध्वर्यः—नञ् समास।

(9) खन्या (तै० सं० 7.4.13.1)
खन् क्यप्—निपातन से 'क्यप्' हुआ,
खन्य टाप्—स्त्रीत्व में 'टाप्',।
खन्या—सु, सुलुक्

(10) खान्यः
खन् ण्यत्—पूर्ववत्।

(11) देवयज्या (ऋ० 10.30.21)
देव यज् क्यप्—सम्प्रसारण का अभाव।
देवयज्या—टाप्।

(12) आपृच्छ्यः (ऋ० 1.60.2)
आ प्रच्छ् क्यप्—सम्प्रसारण।

(13) प्रतिषीव्यः
प्रति सीव् क्यप्—षत्व,
प्रतिषीव्यः—सु।

(14) ब्रह्मवाद्यम् (तै सं० 2.5.8.3)
ब्रह्मन् वद् ण्यत्—नकारलोप, उपधावृद्धि,
ब्रह्मवाद्यम्—सु।

(15) भाव्यः
भू ण्यत्।

(16) स्ताव्यः
स्तु ण्यत्।

(17) उपचाय्यपृडाः
उप चि ण्यत्—निपातन से ण्यत् तथा आय् आदेश,
उपचाय्यपृडाः—जस्।

हिरण्य इति वक्तव्यम्—यह शब्द 'हिरण्य' अर्थ में होता है। अन्यत्र 'उपचेयपृडम्' बनता है।

निष्टर्क्ये—प्रस्तुत सूत्र में निपातित शब्दों में होने वाले निपातन कार्यों को दो कारिकाओं में निबद्ध किया गया है। इनका अर्थ इस प्रकार है—

(क) 'निष्टर्क्य' में वर्णव्यत्यय तथा षत्व का निपातन किया जाता है।

(ख) 'उपचाय्य' में 'ण्यत्' तथा आयादेश निपातित हैं।

(ग) 'ण्यत्' का निपातन केवल एक स्थान (निष्टर्क्य) पर, 'क्यप्' का निपातन चार स्थलों (देवहूय, प्रणीय, उन्नीय, उच्छिष्य) पर तथा यत् का निपातन चार स्थलों (मर्यः, स्तर्या, ध्वन्यः, खन्यः) पर होता है।

(घ) एक (खान्यः) से 'ण्यत्' विधि, एक (देवयज्या) से यविधि, दो (आपृच्छ्यः तथा प्रतिषीव्य) से 'क्यप्' तथा चार (ब्रह्मवाद्यः, भाव्यः, स्ताव्यः, उपचाय्यपृडम्) में 'ण्यत्' का निपातन किया गया है। इस प्रकार दोनों कारिकाओं का सार है।

1. मोनियर महोदय के अनुसार 'तर्क्' धातु है। द्र०—Monier Dictionery, pp. 563.

(743) ऋहलोर्ण्यत् *124* (2872)

पञ्चम्यर्थे षष्ठी, ऋवर्णान्ताद्धातोर्हलन्ताच्च ण्यत्प्रत्ययो भवति। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्। वाक्यम्। पाक्यम्।

अर्थ—यहाँ पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी है। ऋकारान्त और हलन्त धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है। ण् तथा त् की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) कार्यम्
कृ ण्यत्—'अचो' यत्' से 'यत्' प्राप्त था,
कार् य—अचो ञ्णिति,
कार्यम्—सु।

(2) हार्यम् (पूर्ववत्)।

(3) धार्यम्
धृ ण्यत् → धार्यम्।

(4) वाक्यम्
वच् ण्यत्—उपधावृद्धि,
वाक्यम्—कुत्व, सु।

(5) पाक्यम्
पच् ण्यत्—पूर्ववत्।

(744) ओरावश्यके *125* (2886)

अवश्यम्भव आवश्यकम्। उवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत् प्रत्ययो भवत्यावश्यके द्योत्ये। यतोऽपवादः। लाव्यम्। पाव्यम्। आवश्यके इति किम्? लव्यम्। आवश्यके द्योत्य इति चेत् स्वरसमासानुपपत्तिः-आवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यमिति? नैष दोषः, मयूरव्यंसकादित्वात् (2.1.72) समासः, उत्तरपदप्रकृतिस्वरे च यत्नः करिष्यते।

अर्थ—'आवश्यक' अर्थ में उवर्णान्त धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) लाव्यम्
लू ण्यत्—वृद्धि, आव् आदेश
लाव् य—सु।

(2) पाव्यम् (पूर्ववत्)।

आवश्यके अर्थात् 'आवश्यक' अर्थ गम्यमान होने पर ही 'ण्यत्' होता है—

(3) लव्यम्
यहाँ 'आवश्यक' अर्थ नहीं है। अतः 'ण्यत्' नहीं हुआ।

आवश्यके०—आवश्यक अर्थ में—इस प्रकार कहने पर स्वर तथा समास की अनुपपत्ति होती है। यथा—अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्।

'आवश्यक' को उपपद मान लेने 'उपपदमतिङ्' से समास तथा 'गतिकारकोपपदात्०' से प्रकृतिस्वर भी उपपन्न हो जाता है; परन्तु 'आवश्यक अर्थ रहने पर'—ऐसा अर्थ करने पर उक्त दोनों कार्य नहीं होते।

(समा०) समास तो मयूरव्यंसकादि गण में पाठ मान लेने पर हो जायेगा तथा उत्तरपद के प्रकृतिस्वर का निपातन कर लिया जायेगा। इस प्रकार दोनों कार्य हो जायेंगे।

(745) आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च *126* (2887)

आङ्पूर्वात्सुनोतेः यु, वपि, रपि, लपि, त्रपि, चम्-इत्येतेभ्यश्च ण्यत् प्रत्ययो भवति। यतोऽपवादः। आसाव्यम्। याव्यम्। वाप्यम्। राप्यम्। लाप्यम्। त्राप्यम्। आचाम्यम्। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। दभि—दाभ्यम्।

अर्थ—आङ् पूर्वक सु धातु, यु, वप्, रप्, लप्, त्रप् तथा चम्—इन धातुओं से 'ण्यत्' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) आसाव्यम्
आ सु ण्यत्—ण्यत्,
आ सौ य—'धातोस्तन्निमित्त०' से वान्तादेश,
आसाव्य सु—सु।

(2) याव्यम्—पूर्ववत् ण्यत् आदि।

(3) वाप्यम्—पूर्ववत्। 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि।

(4) राप्यम्—पूर्ववत्। उपधावृद्धि।

(5) लाप्यम्—उपधावृद्धि।

(6) त्राप्यम्—पूर्ववत्।

(7) आचाम्यम्—पूर्ववत्।

अनुक्त समुच्चय के लिए चकार का ग्रहण है। यथा—

(8) दाभ्यम्
दभ् ण्यत्—पूर्ववत्।

(746) आनाय्योऽनित्ये *127* (2888)

आनाय्य इति निपात्यते अनित्येऽभिधेये। नयतेराङ्-पूर्वाण्ण्यदायादेशौ निपात्येते। आनाय्यो दक्षिणाग्निः।

रूढिरेषा, तस्मादनित्यविशेषे दक्षिणाग्नावेवावतिष्ठते, तस्य चानित्यत्वं नित्यमजागरणात्। यश्च गार्हपत्यादानीयते दक्षिणाग्निराहवनीयेन सहैकयोनिस्तत्रैतन्निपातनं न दक्षिणाग्निमात्रे, तस्य हि योनिर्विकल्प्यते-वैश्यकुलाद्वित्तवतो भ्राष्ट्राद्वा गार्हपत्याद्वेति (पार० गृ० 1.2.3)।

आनाय्योऽनित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत्।
एकयोनौ तु तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत्॥
(म० भा०)

अर्थ—'अनित्य' अर्थ में 'आनाय्य' शब्द निपातनसिद्ध है। यज्ञ की तीन प्रकार की अग्नियाँ होती हैं—गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि। अन्तिम को 'आनाय्य' भी कहते हैं।

उदा० (1) आ नी ण्यत्—ण्यत् तथा आयादेश का निपातन,
आ नै य → आनाय्य सु → आनाय्यः।

तस्माद०—यज्ञ में दक्षिणाग्नि का संस्कार दो प्रकार से किया जाता है—
(क) गार्हपत्य के द्वारा,
(ख) वैश्यकुल या भ्राष्ट्र आदि से लाकर।

गार्हपत्य अग्नि का स्थान नियत नहीं होता। वैश्यकुल इत्यादि से लाई गई अग्नि का स्थान नियत होता है। अतः गार्हपत्य अग्नि के द्वारा दक्षिणाग्नि का संस्कार किए जाने की दशा में प्रकृत सूत्र के द्वारा निपातित किया जाता है।

आनाय्यो०—'आनाय्यः' यह यदि अनित्य है, तो घटादि में प्रयुक्त होता है—इस प्रकार नहीं कहा जा सकता। कारण कि, दक्षिणाग्निविशिष्ट में ही यह शब्द निपातित है।

'आनाय्यः' को एकयोनि अथवा उससे भिन्न जानना चाहिए।

(747) प्रणाय्योऽसम्मतौ *128* (2889)

अविद्यमाना सम्मतिरस्मिन्नित्यसम्मतिः। सम्मननं सम्मतिः, सम्मतता पूजा। प्रणाय्य इति निपात्यतेऽसम्मतावभिधेये। प्रणाय्यश्चोरः। असम्मताविति किम्? प्रणेयोऽन्यः। यद्येवं कथमेतत्–'ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्यायान्तेवासिने, नान्यस्मै कस्मैचन' (छा० उप० 3.10.5.6) इति? सम्मतिरभिलाषोऽप्युच्यते, तदभावेन निष्कामतया असम्मतिरन्तेवासी भवति, तस्मै निष्कामाय मोक्षार्थं यतमानायान्तेवासिने प्रणाय्याय ब्रह्म प्रब्रूयादिति युज्यते।

अर्थ—अपूजित अर्थ में 'प्रणाय्य' शब्द निपातनसिद्ध है।

(1) प्रणाय्यः
चोर निन्दित होता है। अतः उसे 'प्रणाय्य' कहा जाता है। प्र पूर्वक 'नी' से 'ण्यत्' होकर रूप बनता है। उपसर्गादसमा० से णत्व हुआ।

असम्मतौ अर्थात् अपूजित अर्थ में ही 'ण्यत्' होता है—

(2) प्रणेयः
अपूजित अर्थ नहीं है। अतः 'ण्यत्' नहीं हुआ।

यदि ऐसा कहा जायेगा तो 'प्रणाय्याः' (छां० उप० 3.10.5.6) किस प्रकार साधु होगा? 'सम्मति' का अर्थ 'अभिलाष' भी है। अभाववशात् निष्काम हो जाने से अन्तेवासी 'असम्मति' होता है। अभिलाषरहित मोक्ष के लिए यत्न करने वाले प्रणाय्य अन्तेवासी के लिए वेद का यह उपदेश है—यह उचित ही है।

(748) पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु *129* (2890)

पाय्यादयः शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं माने, हविषि, निवासे, सामिधेन्यां चाभिधेयायाम्। पाय्य इति–माङो ण्यत् प्रत्ययः आदेः पत्वं च निपात्यते माने। पाय्यं मानम्। मेयमन्यत्। सम्पूर्वान्नयतेर्ण्यदायादेशावुपसर्गदीर्घत्वं च निपात्यते–सान्नाय्यं हविः (तै० सं० 7.5.103)। सन्नेयमन्यत्। रूढित्वाच्च हविर्विशेष एवाऽवतिष्ठते। निपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यदायादेशावादिकुत्वं च निपात्यते–निकाय्यो निवासः। निचेयमन्यत्। धाय्येति धाञो ण्यत् प्रत्ययो निपात्यते सामिधेनी चेत्सा भवति–धाय्या सामिधेनी। धेयमन्यत्। सामिधेनीशब्द ऋग्विशेषस्य वाचकः, तत्र च धाय्येति न सर्वा सामिधेन्युच्यते। किं तर्हि? काचिदेव। रूढिशब्दो ह्ययम्। तथा चासामिधेन्यामपि दृश्यते–'धाय्याः शंसत्यग्निर्नेता त्वं सोमक्रतुभिः' (ऐ० ब्रा० 12.7) इति।

अर्थ—मान, हवि, निवास तथा सामिधेनी—इन अर्थों में यथासंख्य करके पाय्य, सान्नाय्य, निकाय्य तथा धाय्य शब्द निपातन सिद्ध हैं।

उदा० (1) पाय्यम्
मा ण्यत्—ण्यत् तथा मकार को पकार निपातन से,
पा युक् य—आतो युक् चिण् कृतोः,
पाय्यम्—सु।

(2) सान्नाय्यम्

सम् नी ण्यत्—ण्यत्, वृद्धि, आयादेश तथा उपसर्ग को दीर्घादेश ये कार्य निपातन से होते हैं,

साम् नाय्य—अनुस्वार, परसवर्ण,

सान्नाय्यम्—सु।

अन्यत्र 'सन्नेयम्' होता है।

(3) निकाय्यः

नि चि ण्यत्—ण्यत्, चकार को ककार तथा आयादेश निपातन से होकर,

निकाय्यः—सु।

अन्यत्र 'निचेयः' बनता है।

(4) धाय्या

धा ण्यत्—ण्यत्,

धाय्या—युक्, टाप्, सु, सुलुक्।

अन्यत्र 'धेयम्' होता है।

'धाय्या' रूढि शब्द है।

(749) क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ *130* (2891)

कुण्डपाय्य, सञ्चाय्य इत्येतौ शब्दौ निपात्येते क्रतावभिधेये। कुण्डशब्दे तृतीयान्त उपपदे पिबतेर्धातोरधिकरणे यत्प्रत्ययो निपात्यते युक्च। कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोम इतिकुण्डपाय्यः (ऋ० 8.17.13) क्रतुः। 'यतोऽनावः' (6.1.213) इति स्वरः। सम्पूर्वाच्चिनोतेर्ण्यदायादेशौ निपात्येते-सञ्चीयतेऽस्मिन् सोम इति सञ्चाय्यः क्रतुः। क्रताविति किम्? कुण्डपानम्, सञ्चेयः।

अर्थ—कुण्डपाय्य तथा सञ्चाय्य शब्दों का निपातन किया जाता है यदि 'क्रतु' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) कुण्डपाय्यः क्रतुः

कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोम—तृतीयान्त 'कुण्डेन' के उपपद रहते अधिकरण अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का निपातन,

कुण्ड पा यत्—'युक्' निपातन से हुआ,

कुण्डपाय्यः—सु। 'यतोऽनावः' से स्वर हुआ।

(2) सञ्चाय्यः क्रतुः

सम् चि ण्यत्—'सञ्चीयतेऽस्मिन्' इस अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय तथा आयादेश का निपातन,

सञ्चाय्यः—अनुस्वार, पूर्वसवर्ण, सु।

क्रतौ अर्थात् क्रतु अर्थ गम्यमान हो तो पूर्वोक्त शब्दों का निपातन होता है—

(3) कुण्डपानम्

निपातन से 'यत्' नहीं हुआ।

(4) सञ्चेयः

निपातन नहीं हुआ।

(750) अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः *131* (2892)

परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अग्नावभिधेये। पर्युपपूर्वाच्चिनोतेर्ण्यदायादेशौ निपात्येते-परिचाय्यः (तै०सं० 5.4.11), उपचाय्यः (मै०सं० 3.4.7)। सम्पूर्वाद्वहेः सम्प्रसारणं दीर्घत्वं च निपात्यते-समूह्यं चिन्वीत पशुकामः (तै०सं० 5.4.11)। अग्नाविति किम्? परिचेयम्, उपचेयम्, संवाह्यम्।

अर्थ—'अग्नि' अर्थ गम्यमान हो तो परिचाय्य, उपचाय्य तथा समूह्य शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) परिचाय्यः

परि चि ण्यत्—निपातन से 'ण्यत्' तथा आयादेश,

परिचाय्यः—सु।

(2) उपचाय्यः

उप चि ण्यत्—पूर्ववत्।

(3) समूह्यः

सम् वह् ण्यत्—सम्प्रसारण तथा दीर्घादेश निपातन से,

समूह्यः—सु।

अग्नौ अर्थात् अग्नि अर्थ गम्यमान हो तो पूर्वोक्त शब्दों का निपातन होता है—

(4) परिचेयम्

निपातन से प्राप्त 'ण्यत्' व आयादेश नहीं हुए।

(5) उपचेयम् (पूर्ववत्)

(6) संवाह्यम् (पूर्ववत्)।

(751) चित्याग्निचित्ये च *132* (2893)

चित्यशब्दोऽग्निचित्याशब्दश्च निपात्येते। चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः। अग्निचयनमेवाग्निचित्या (श०ब्रा०

19.15.7)। भावे यकारप्रत्ययस्तुक् च, तेनान्तोदात्तत्वं भवति। अग्नावित्येव-चेयमन्यद्।

अर्थ—'चित्य' तथा 'अग्निचित्या' शब्द निपातनसिद्ध हैं, 'अग्नि' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) चित्यः
चीयतेऽसौ—भाव में 'य' प्रत्यय तथा 'तुक्' निपातनसिद्ध। अथवा कर्म में 'क्यप्' माना जा सकता है।

(2) अग्निचित्या,
अग्निचयनमेव—भाव में यकार तथा तुक्,
अग्निचित्या—टाप्, सु, सुलुक्।

अग्नौ अर्थात् अग्नि अर्थ गम्यमान होने पर ही पूर्वोक्त शब्दों का निपातन किया जाता है। अन्यत्र 'चेयम्' बनता है।

(752) ण्वुल्तृचौ *133* (2895)

धातोरिति वर्त्तते। सर्वधातुभ्यो ण्वुल्तृचौ प्रत्ययौ भवतः। कारकः। कर्त्ता। हारकः। हर्त्ता। चकारः सामान्यग्रहणार्थः-'तुश्छन्दसि'(5.3.59), 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (6.4.154) इति।

अर्थ—सभी धातुओं से 'ण्वुल्' तथा 'तृच्' होते हैं। ये 'कर्त्तरि कृद्०' से कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

उदा० (1) कारकः
कृ ण्वुल्—धातोः, चुटू, लशक्वतद्धिते,
कार् अक—'अचो ञ्णिति' से अङ्ग को वृद्धि, 'युवोरनाकौ' से 'अक' आदेश,
कारकः—प्रातिपदिक संज्ञा, सु।

(2) कर्त्ता
कृ तृच्—हलन्त्यम्, आर्धधातुक संज्ञा, सार्वधातुकार्ध० से गुण,
कर्त्ता—सु।

(3) हारकः
हृ ण्वुल्—पूर्ववत्।

(4) हर्त्ता (पूर्ववत्)।

चकारः 'तृच्' में चकार का योग सामान्य के ग्रहण के लिए है। ताकि 'तुश्छन्दसि' (5.3.59) तथा 'तुरिष्ठेमयस्सु' (6.4.154) के द्वारा सामान्यतः 'तृच्' व 'तृन्' दोनों का ग्रहण हो सके।

(753) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः *134* (2896)

प्रत्येकमादिशब्दः सम्बध्यते। त्रिभ्यो गणेभ्यस्त्रयः प्रत्यया यथासंख्यं भवन्ति। नन्द्यादिभ्यो ल्युः, ग्रहादिभ्यो णिनिः, पचादिभ्योऽच्। नन्दिग्रहिपचादयश्च न धातुपाठतः सन्निविष्टा गृह्यन्ते, किं तर्हि? नन्दनरमणेत्येवमादिषु प्रातिपदिकगणेषु अपोद्धृत्य ये पठ्यन्ते ते निर्दिश्यन्ते। *नन्दिवाशिमदिदूषिसाधिवर्द्धिशोभिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्*। नन्दनः। वाशनः। मदनः। दूषणः। साधनः। वर्द्धनः। शोभनः। रोचनः। *सहितपिदमेः संज्ञायाम्* (ग०सू० 3)। सहनः। तपनः। दमनः। जल्पनः। रमणः। दर्पणः। संक्रन्दनः। सङ्कर्षणः। संहर्षणः। जनार्दनः। यवनः। मधुसूदनः। विभीषणः। लवणः। निपातनाण्णत्वम्। वित्तविनाशनः। कुलदमनः। शत्रुदमनः। इति नन्द्यादिः। ग्रह। उत्सह। उद्दस। उद्भास। स्था। मन्त्र। सम्मर्द। ग्राही। उत्साही। उद्दासी। उद्भासी। स्थायी। मन्त्री। सम्मर्दी। *रक्षश्रुवसवपशां नौ* (ग०सू० 24)। निरक्षी। निश्रावी। निवासी। निवापी। निशायी। *याचिव्याहृसंव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम्* (ग०सू० 25)। अयाची। अव्याहारी। असंव्याहारी। अव्राजी। अवादी। अवासी। *अचामचित्तकर्तृकाणाम्* (ग०सू० 26)। प्रतिषिद्धानामित्येव। अकारी। अहारी। अविनायी। अविशायी। *विशयी विषयी देशे* (ग०सू० 27)। विशयी, विषयी देशः। *अभिभावी भूते* (ग०सू० 28)। अभिभावी। अपराधी। उपरोधी। परिभावी। परिभवी। इति ग्रह्यादिः यादिः। पच। वच। वप। वद। चल। शल। तप। पत। नदट्। भषट्। वस। गरट्। प्लवट्। चरट्। तरट्। चोरट्। ग्राहट्। जर। मर। क्षर। क्षम। सूदट्। देवट्। मोदट्। सेव। मेष। कोप। मेधा। नर्त्त। व्रण। दर्श। दंश। दम्भ। जारभरा। श्वपच। पचादिराकृतिगणः।

अज्विधिः सर्वधातुभ्यः पठ्यन्ते च पचादयः।
अण्बाधनार्थमेव स्यात् सिध्यन्ति श्वपचादयः॥

अर्थ—नन्दि आदि, ग्रहादि तथा पचादि धातुओं से यथासंख्य करके ल्यु, णिनि तथा अच् प्रत्यय होते हैं।

स्थानी शब्द न होकर गण हैं, जो संख्या में तीन हैं तथा उनसे पर विहित प्रत्यय भी तीन हैं। अतः यथासंख्य नियम प्रवृत्त होता

है। तब नन्दिगण में पठित धातुओं से ल्यु, ग्रहादि गणपठित धातुओं से णिनि तथा पचादि गणपठित धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है।

नन्दि—नन्दि आदि गण पाणिनीय धातुपाठ में पठित नहीं हैं, अपितु ये प्रातिपदिक रूप में पठित हैं। सूत्र में प्रकृति का निर्देश कर दिया गया है।

नन्दिवासि० अर्थात् नन्द्, वश्, मद्, दुष्, साध्, वृध्, शुभ् तथा रुच्—इन णिच् प्रत्ययान्त धातुओं से 'ल्यु' प्रत्यय संज्ञा गम्यमान होने पर होता है—

उदा० (1) नन्दन
नदि → नन्द् णिच् ल्यु—इदितो नुम् धातोः,
नन्दन—युवोरनाकौ, णेरनिटि,
नन्दनः—सु।

(2) वाशनः
वाश् णिच् ल्यु—पूर्ववत्।

(3) मदनः
मद् णिच् ल्यु—पूर्ववत्।

(4) दूषणः
दूष् णिच् ल्यु—पूर्ववत्,
दूषणः—णत्व।

(5) साधनः
साध् णिच् ल्यु—पूर्ववत्।

(6) वर्द्धनः
वृध् णिच् ल्यु—पूर्ववत्,
वर्ध्ध् अन—आर्धधातुक गुण, अचो रहाभ्यां द्वे,
वर्द्धनः—झलां जश् झशि, सु।

(7) शोभनः
शुभ् णिच्—आर्धधातुक गुण।

(8) रोचनः
रुच् णिच् ल्यु—आर्धधातुक गुण।

सहितपिदमेः सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा अर्थ गम्यमान रहते सह, तप् तथा दम् धातुओं से 'ल्यु' होता है—

(9) सहनः
सह् ल्यु—पूर्ववत्।

(10) तपनः
तप् ल्यु—पूर्ववत्।

(11) दमनः
दम् ल्यु—पूर्ववत्।
शेष नन्द्यादि मूल में देखिए।

(12) ग्राही
ग्रह् णिनि—चुट्, उपदेशेऽजनुना० से नकारोत्तरवर्त्ती इकार की इत्संज्ञा, अत उपधायाः से उपधावृद्धि,
ग्राहिन् सु—प्रातिपदिक संज्ञा,
ग्राही—सु।

(13) उत्साही (पूर्ववत्)।
शेष ग्रहादि मूल में देखिए।

रक्षश्रुवसवपशां नौ—'नि' उपसर्गपूर्वक रक्ष्, श्रु, वस्, वप् तथा शो धातुओं से 'णिनि' होता है—

(14) निरक्षी
नि रक्ष् णिनि—पूर्ववत्।

(15) निश्रावी
नि श्रु णिनि—वृद्धि, शेष पूर्ववत्।

(16) निवासी—पूर्ववत्। अत उपधायाः।
(17) निवापी (पूर्ववत्)।
(18) निशायी—पूर्ववत् णिनि।

याचिव्याहृसंव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम्—निषेध अर्थ वाले याचि, व्यापूर्वक हृ, सम् व्यापूर्वक हृ, व्रज्, वद् तथा वस्—इन धातुओं से 'णिनि' प्रत्यय होता है—

(19) अयाची
अ याच् णिनि—पूर्ववत्।

(20) अव्याहारी
नञ् व्या हृ णिनि।

(21) असंव्याहारी
नञ् सम् व्या हृ णिनि।

(22) अव्राजी
नञ् व्रज् णिनि—अत उपधायाः।

(23) अवादी
नञ् वद् णिनि।

(24) अवासी
नञ् वस् णिनि।

अचाम०—निषेध अर्थ में तथा अचित्तकर्तृक अर्थ वाले अजन्त धातुओं से 'णिनि' होता है—

(25) अकारी—नञ् कृ णिनि।
(26) अहारी—नञ् हृ णिनि।
शेष मूल में देखिए।

(27) पचः
पच् अच्—पचः।

(28) वपः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखिए।

अज्विधिः—सभी धातुओं से 'अच्' का विधान है। अण् का बाध करने के लिए तथा अनुबन्ध लगाने के लिए पचादि गण का पाठ किया गया है। यथा—'नदट्' यह टित् है। इससे स्त्रीत्व में 'ङीप्' होता है। इसी प्रकार 'श्वपचः' में 'कर्मण्यण्' से 'अण्' प्राप्त था, उसका बाध होकर 'अच्' होता है। तब 'श्वपचा' आदि सिद्ध होते हैं। यदि पचादिगण का पाठ न किया जाता तो यहाँ 'अण्' होकर स्त्रीत्व में 'ङीप्' प्राप्त होता।

(754) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः *135* (2897)

इगुपधेभ्यो जानातेः प्रीणातेः किरतेश्च कप्रत्ययो भवति। विक्षिपः। विलिखः। बुधः। कृशः। जानातीति ज्ञः। प्रीणातीति प्रियः। किरतीति किरः। देवसेवमेषादयः पचादौ पठितव्याः।

अर्थ—जिसकी उपधा में इक् वर्ण (इ, उ, ऋ, लृ) है, ऐसे धातु से, ज्ञा धातु से, प्री धातु से तथा कृ धातु से 'क' होता है।

उदा० (1) विक्षिपः
वि क्षिप् क—लशक्वतद्धिते, प्राप्त गुण का निषेध,
विक्षिप् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
विक्षिपः—सु।

(2) विलिखः
वि लिख् क—पूर्ववत्।

(3) बुधः
बुध् क—पूर्ववत्।

(4) कृशः
कृश् क—पूर्ववत्।

(5) ज्ञः
ज्ञा क—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप,
ज्ञ्, अ → ज्ञः—सु।

(6) प्रियः
प्री क → प्रियङ् अ—'अचिश्नुधातुभ्रुवां०' से 'इयङ्',
प्रियः—सु।

(7) किरः
कॄ क → किर् अ—ऋत इद्धातोः, उरण् रपरः,
किरः

देव, सेव तथा मेष आदि शब्दों का पाठ पचादि गण में होना चाहिए।

(755) आतश्चोपसर्गे *136* (2898)

आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः उपसर्ग उपपदे कप्रत्ययो भवति। णस्यापवादः। प्रस्थः। सुग्लः। सुम्लः।

अर्थ—उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है। यह 'ण' प्रत्यय का अपवाद है। 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) प्रस्थः
प्र स्था क—'क' हुआ,
प्र स्थ् अ सु—आतो लोप इटि च, सु।

(2) सुग्लः
सु ग्लै क—आदेच उपदेशेऽशिति,
सु ग्ला क—आतो लोप इटि च,
सुग्लः—सु।

(3) सुम्लः
सु म्लै क—पूर्ववत्।

(756) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः *137* (2899)

पादिभ्यो धातुभ्य उपसर्ग उपपदे शप्रत्ययो भवति। उत्पिबः। विपिबः। उज्जिघ्रः। विजिघ्रः। उद्धमः। विधमः। धेट्-उद्धयः। विधयः। उत्पश्यः। विपश्यः। उपसर्ग इति केचिन्नाऽनुवर्तयन्ति-पश्यतीति पश्यः (छां०उ० 7.28.2)। *जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। व्याघ्रः।

अर्थ—उपसर्ग उपपद रहते पा, घ्रा, ध्मा, धेट् तथा दृश् धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से शकार इत्संज्ञक होता है। 'धेट्' धातु को आत्व होकर यह आकारान्त

धातु बन जाता है। इस प्रकार सूत्रोक्त सभी धातु आकारान्त होने से इनसे पूर्व उपसर्ग उपपद रहते 'आतश्चोपसर्गे' से 'क' प्राप्त होता है। उसी का यह अपवाद है।

उदा० (1) उत्पिबः
उद् पा श—सार्वधातुक संज्ञा, शप्,
उद् पिब शप् अ—'पाघ्राध्मास्था०' से पिबादेश,
उत्पिबः—खरि च, सु।

(2) विपिबः (पूर्ववत्)

(3) उज्जिघ्रः
उद् घ्रा शप् श—पूर्ववत्,
उद् जिघ्र अ अ—स्तोः श्चुना श्चुः,
उज्जिघ्रः—'अतो गुणे' से दो बार पररूप।

(4) विजिघ्रः (पूर्ववत्)।

(5) उद्धमः
उद् ध्मा श → उद् धम शप् श—पूर्ववत्।

(6) विधमः
वि ध्मा श—पूर्ववत्।

(7) उद्धयः
उद् धे श → उद् धय् शप् श—अयादेश,
उद्धयः—सु।

(8) विधयः
वि धे शप् श—पूर्ववत्।

(9) उत्पश्यः
उद् दृश् श → उद् पश्य शप् श—पूर्ववत्,
उत्पश्यः—सु।

(10) विपश्यः (पूर्ववत्)।

उपसर्गे अर्थात् **उपसर्गपूर्वक** पा आदि धातुओं से 'श' होता है। कुछ लोग 'उपसर्गे' पद का अनुवर्त्तन नहीं मानते। अनुपसर्ग की दशा में 'श्वाद्व्याघ्रास्नुसंस्रवती०' से 'ण' प्राप्त होता है।

जिघ्रतेः सञ्ज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः—संज्ञा गम्यमान हो तो 'घ्रा' धातु से 'श' प्रत्यय नहीं होता है—

(11) व्याघ्रः
वि आ घ्रा क—संज्ञा अर्थ होने से 'श' नहीं हुआ, 'आतश्चोपसर्गे' से 'क' हुआ,
व्याघ्रः—सु।

(757) अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च *138* (2900)

अनुपसर्गेभ्यो लिम्पादिभ्यः शप्रत्ययो भवति। लिम्पतीति लिम्पः। विन्दतीति विन्दः। धारयतीति धारयः। पारयतीति पारयः। वेदयतीति वेदयः। उदेजयतीत्युदेजयः। चेतयतीति चेतयः। सातिः सौत्रो धातुः—सातयः। साहयः। अनुपसर्गादिति किम्? प्रलिपः। प्रविदः। *नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। निलिम्पा नाम देवाः। *गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्* (म० भा०)। गोविन्दः। अरविन्दः।

अर्थ—उपसर्ग उपपद न रहते लिप्, विद्, णिच् प्रत्ययान्त धृ, पृ, (चुरादि गणी) विद्, उद् पूर्वक एज्, चित, साति तथा सह् धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) लिम्पः
लिपि → लिम्प्—इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण,
लिम्प् शप् श—सु होकर रूप बना।

(2) विन्दः
विन्द् शप् श—पूर्ववत्।

(3) धारयः
धारयति → धृ णिच् श—पूर्ववत्।

(4) पारयः
पारयति → पृ णिच् श—पूर्ववत्।

(5) वेदयः
वेदयति → विद् णिच् शं—पूर्ववत्।

(6) उदेजयः
उदेजयति → उद् एजि श—पूर्ववत्।

(7) चेतयः
चेतयति → चित् णिच् श—पूर्ववत्।

(8) सातयः
साति सौत्र धातु है।

(9) साहयः (पूर्ववत्)।

अनुपसर्गा अर्थात् **उपसर्गरहित पूर्वोक्त धातुओं से 'श' होता है**—

(10) प्रलिपः
प्र लिप् क—उपसर्ग होने से 'श' नहीं हुआ, 'क' हुआ,
प्रलिपः—सु।

नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम्—नि उपसर्गपूर्वक पूर्वक 'लिम्प्' धातु से 'श' होता है—

(11) निलिम्पा:
नि लिम्प् शप् श → निलिम्पा:—श, जस् हुआ।

गवादिषु विन्देः सञ्ज्ञायाम्—'गो' आदि उपपद रहते 'विन्द' धातु से 'श' प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में—

(12) गोविन्द:
गो विन्द् श—'कर्मण्यण्' से 'अण्' प्राप्त हुआ, उसे बाध कर 'श' हुआ,
गोविन्द:—शप्, पररूप, सु।

(13) अरविन्द:
अर विन्द् शप् श—पूर्ववत्।

(758) ददातिदधात्योर्विभाषा *139* (2901)

दाञो धाञश्च विभाषा शप्रत्ययो भवति। णस्यापवादः। ददः। दायः। दधः। धायः। अनुपसर्गादित्येव-प्रदः, प्रधः।

अर्थ—यदि उपसर्ग पूर्व में न हो तो दा तथा धा धातुओं से 'श' प्रत्यय विकल्प से होता है।

यह 'ण' का अपवाद है। यहाँ 'श्याद्व्यधा०' से 'ण' प्राप्त था।

उदा० (1) दद:
दा शप् श—'ण' को बाध कर 'श' हुआ, शप्,
ददा अ—श्लु हुआ, 'श्लौ' से द्वित्व, ह्रस्वादेश,
दद:—'श्नाऽभ्यस्तयोरात:' से आकारलोप, सु।

(2) दाय:
दा ण—पक्ष में 'श' नहीं हुआ, 'ण' हुआ,
दाय:—'आतो युक् चिण्कृतो:' से 'युक्', सु।

(3) दध:
धा शप् श—पूर्ववत् श्लुत्व,
धा धा अ—द्वित्व,
दध:—आल्लोप, सु।

(4) धाय:—पूर्ववत् ण, युक्।

अनुपसर्गा० अर्थात् उपसर्गरहित दा व धा धातुओं से 'श' होता है—

(5) प्रद:
प्र दा क—उपसर्गपूर्वक 'दा' से 'श' नहीं हुआ, 'आतश्चोपसर्गे क:' से 'क' हुआ,
प्रद् अ—लशक्वतद्धिते, आकारलोप,
प्रद:—सु।

(6) प्रध: (पूर्ववत्)।

(759) ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः *140* (2902)

इतिशब्द आद्यर्थः। 'ज्वल दीप्तौ' (धा०पा० 805) इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः 'कस गतौ' (धा०पा० 861) इत्येवमन्तेभ्यो विभाषा णप्रत्ययो भवति। अचोऽपवादः। ज्वालः। ज्वलः। चालः। चलः। अनुपसर्गादित्येव-प्रज्वलः। *तनोतेर्णस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्* (म०भा०)। अवतनोतीत्यवतानः।

अर्थ—'आदि' अर्थ में 'इति' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'ज्वल्' (भ्वा० पृ० 18/572) से लेकर 'कस्' (भ्वा० पृ० 18/599) पर्यन्त सभी उपसर्गरहित धातुओं से 'ण' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'चुटू' से णकार की इत्संज्ञा होती है। पचादिगण में होने से इन धातुओं से 'अच्' प्राप्त था। अत: पक्ष में 'अच्' होता है।

उदा० (1) ज्वाल:
ज्वल् ण—चुटू, अत उपधाया:,
ज्वाल् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
ज्वाल:—सु।

(2) ज्वल:
ज्वल् अच्—पक्ष में 'ण' नहीं हुआ, 'अच्' हुआ 'अजपि सर्वधातुभ्य:' (वा०)।
ज्वल:—सु।

(3) चाल:
चल् ण—पूर्ववत्।

(4) चल:
चल् अच्—पूर्ववत्।

अनुपसर्गा अर्थात् अनुपसर्ग ज्वल् आदि धातुओं से 'ण' होता है—

(5) प्रज्वल:

प्रज्वल् अच्—उपसर्गपूर्वक होने से 'ज्वल्' से 'ण' नहीं हुआ। यथाप्राप्त 'अच्' हुआ।

तनोतेर्ण उपसङ्ख्यानम्—तन् धातु से 'ण' होता है—

(6) अवतानः

अवतनोतीति—इन अर्थ में 'ण' होकर तथा उपधावृद्धि होकर रूप बनता है।

(760) श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसावहृलिह-श्लिषश्वसश्च *141* (2903)

अनुपसर्गादिति, विभाषा चेति निवृत्तम्। श्यैङ्, आकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यः, व्यध, आस्रु, संस्रु, अतीण्, अवसा, अवहृ, लिह, श्लिष, श्वस—इत्येतेभ्यश्च णप्रत्ययो भवति। अकारान्तत्वादेव श्यायतेः प्रत्यये सिद्धे पुनर्वचनं बाधकबाधनार्थम्। उपसर्गे कं (3.1.136) बाधित्वाऽयमेव भवति। अवश्यायः, प्रतिश्यायः। दायः। धायः। व्याधः। आस्रावः। संस्रावः। अत्यायः। अवसायः। अवहारः। लेहः। श्लेषः। श्वासः।

अर्थ—यहाँ 'अनुपसर्गात्' तथा 'विभाषा' पदों का अनुवर्त्तन नहीं होता है। श्यैङ् धातु, आकारान्त धातु, व्यध् धातु, आङ् पूर्वक स्रु; सम् पूर्वक स्रु, अति पूर्वक इण्, अव पूर्वक षो, अव पूर्वक हृ, लिह्, श्लिष तथा श्वस्—इनसे 'ण' प्रत्यय होता है।

'श्यैङ्' धातु 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकारान्त हो जाता है। तब 'ण' प्रत्यय के सिद्ध होने पर भी पुनः 'श्यैङ्' का पाठ बाधक के बाध के लिए है। उपसर्ग की दशा में 'आतश्चोपसर्गे०' से 'क' प्राप्त था। अतः 'क' को बाध कर 'ण' ही हो—इसलिए 'श्यैङ्' का पाठ पृथक् किया गया है।

उदा० (1) अवश्यायः
अव श्यै → अव श्या—आदेच उपदेशे०,
अव श्या ण—'ण' हुआ, चुटू,
अव श्या युक् अ—आतो युक् चिण् कृतोः,
अवश्यायः—सु।

(2) प्रतिश्यायः
प्रति श्या य् अ—पूर्ववत्,
प्रतिश्यायः—सु।

(3) दायः
दा युक् ण—पूर्ववत्,
दायः—सु।

(4) धायः
धा युक् ण—पूर्ववत्।

(5) व्याधः
व्यध् ण—अत उपधायाः,
व्याधः—सु।

(6) आस्रावः
आ स्रु ण—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि,
आ स्रौ अ → आस्रावः—आवादेश।

(7) संस्रावः
सम् स्रौ ण—पूर्ववत्,
संस्रावः—'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार।

(8) अत्यायः
अति इ ण—पूर्ववत्,
अति ऐ अ → अत्यायः—सु।

(9) अवसायः
अव षो → अव सो ण—धात्वादेः षः सः, ण,
अव सा युक् अ—आत्व, युक्,
अवसायः—सु।

(10) अवहारः
अव हृ ण—वृद्धि,
अवहारः—सु।

(11) लेहः
लिह् ण—पुगन्तलघूपधस्य च, लघूपध गुण,
लेहः—सु।

(12) श्लेषः
श्लिष् ण—लघूपध गुण,
श्लेषः—सु।

(13) श्वासः
श्वस् ण—अत उपधायाः,
श्वासः—सु।

(761) दुन्योरनुपसर्गे *142* (2904)

दुनोतेर्नयतेश्चानुपसर्गे णप्रत्ययो भवति। दुनोतीति दावः। नयतीति नायः। अनुपसर्ग इति किम्? प्रदवः, प्रणयः।

अर्थ—उपसर्ग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे 'दु' तथा 'नी' धातुओं से 'ण' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दावः
दु ण—चुटू, अचो ञ्णिति,
दो अ—एचोऽयवायावः,
दावः—सु।

(2) नायः
नी श—पूर्ववत्।

अनुपसर्ग० अर्थात् अनुपसर्ग धातु से ही 'ण' होता है—

(3) प्रदवः
प्र दु अच्—'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दु' से 'ण' नहीं हुआ, तब पचादि होने से 'अच्' हुआ,
प्रदवः—आर्धधातुक गुण, आवादेश, सु।

(4) प्रणयः
पूर्ववत् अच्, गुण, अयादेश, णत्व।

(762) विभाषा ग्रहः *143* (2905)

विभाषा ग्रहेर्धातोर्णप्रत्ययो भवति। अचोऽपवादः (3.1.134)। ग्राहः, ग्रहः—व्यवस्थितविभाषा चेयम्, जलचरे नित्यम्–ग्राहः। ज्योतिषि नेष्यते, तत्र ग्रह एव। *भवतेश्चेति वक्तव्यम्*। भवतीति भावः, भवः।

अर्थ—'ग्रह्' धातु से 'ण' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'अच्' का अपवाद है। अतः पक्ष में 'अच्' होता है।

उदा० (1) ग्राहः
ग्रह् ण—अत उपधायाः,
ग्राहः—सु।

(2) ग्रहः
ग्रह् अच्—'ण' अभाव पक्ष में 'अच्' हुआ।

यह व्यवस्थित विभाषा है। 'जलचर' अर्थ में नित्य 'ण' होता है—ग्राहः। 'नक्षत्र' अर्थ में 'ण' नहीं होता—ग्रहः।

भवतेश्चेति वक्तव्यम्—'भू' धातु से 'ण' प्रत्यय विकल्प से होता है—

(3) भावः
भवतीति → भू ण—अचो ञ्णिति,
भावः—आवादेश, सु।

(4) भवः
भू अच्—पक्ष में 'अच्' हुआ।

(763) गेहे कः *144* (2906)

ग्रहेर्धातोः कप्रत्ययो भवति गेहे कर्त्तरि। गृहं वेश्म, तात्स्थ्याद् दाराश्च। गृह्णन्तीति गृहा दाराः, गृहाणि वेश्मानि।

अर्थ—'ग्रह्' धातु से 'क' प्रत्यय होता है, यदि 'गेह' कर्त्ता अभिधेय हो।

उदा० (1) गृहम्
ग्रह् क—'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की इत्संज्ञा,
गृह् अ—'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण,

(2) गृहाः
गृह्णन्ति इति—गृहाः अर्थात् दाराः।

(3) गृहाणि = वेश्मानि।

अमरकोश में 'गृह' शब्द को एकवचन में नपुँसक तथा बहुवचन में पुँल्लिङ्ग माना है।[1]

(764) शिल्पिनि ष्वुन् *145* (2907)

धातोः ष्वुन् प्रत्ययो भवति शिल्पिनि कर्त्तरि। *नृतिखनिरञ्जिभ्यः परिगणनं कर्त्तव्यम्* (म०भा०)। नर्त्तकः। खनकः। रजकः। नर्त्तकी। खनकी। रजकी। रञ्जेरनुनासिकलोपश्च।

अर्थ—'शिल्प' कर्त्ता अर्थ हो तो धातु से 'ष्वुन्' होता है। 'षः प्रत्ययस्य' से षकार की तथा 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा होती है। 'वु' शेष रहता है। 'युवोरनाकौ' से 'अक' आदेश होता है।

काशिका में 'नृत्' आदि तीन धातुओं से 'ष्वुन्' कहा है।[2]

उदा० नर्त्तकः
नृत् ष्वुन्—अनुबन्धलोप, लघूपध गुण,
नर्त् अक—'अचो रहाभ्यां द्वे' से तकार को द्वित्व,
नर्त्तकः—सु।

(2) खनकः
खन् ष्वुन्—पूर्ववत्,
खनकः—सु।

(3) रजकः
रञ्ज् ष्वुन्—रजकरजनरजःसूपसङ्ख्यानम् (वा०),

1. अमर०
2. काशि० 3.1.145—नृतिखनिरञ्जिभ्यः परिगणनं कर्त्तव्यम्।

रजकः—सु।

(4) नर्त्तकी
नर्त्तक ङीष्—'टाप्' को बाध कर 'षिद्गौरादिभ्यश्च',
नर्त्तकी—सु, सुलोप।

(5) खनकी
खनक ङीष्—पूर्ववत्,
खनकी—पूर्ववत्।

(6) रजकी (पूर्ववत्)।

(765) गस्थकन् *146* (2908)

गायतेस्थकन्प्रत्ययो भवति शिल्पिनि कर्त्तरि। गाथकः। गाथिका।

अर्थ—'गै' धातु से 'थकन्' प्रत्यय होता है, यदि शिल्पी कर्त्ता अर्थ हो तो। 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा होती है।

गै ङस्—इस दशा में 'आदेच उपदेशे०' से आत्व होकर तथा 'आतो धातोः' से आकारलोप होकर 'गः' पद बनता है। सूत्र में इसी का पाठ है। चूँकि शिल्प के साथ 'गै' धातु का ही सम्बन्ध होता है; अतः 'गः' पद के द्वारा 'गै' धातु का ग्रहण होता है, 'गाङ्' का नहीं।

उदा० (1) गाथकः
गै थकन्—आत्व,
गाथकः—सु।

(2) गाथिका
गाथक टाप्—'अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्', 'प्रत्ययस्थात्०' से इकार आदेश,
गाथिका—सु, सुलुक्।

(766) ण्युट् च *147* (2909)

चकारेण 'ग' इत्यनुकृष्यते। गायतेर्ण्युट् प्रत्ययो भवति। शिल्पिनि कर्त्तरि। गायनः। गायनी। योगविभाग उत्त-रार्थः।

अर्थ—चकार के द्वारा 'गः' पद का अनुवर्त्तन होता है। 'गै' धातु से 'ण्युट्' प्रत्यय होता है, यदि शिल्पी कर्त्ता अर्थ हो तो।

'चुटू' से णकार की तथा 'हलन्त्यम्' से टकार की इत्संज्ञा होती है। शेष 'यु' रहता है। 'युवोरनाकौ' से इसे 'अन' आदेश होता है।

उदा० (1) गायनः
गै ण्युट् → गायन—'ण्युट्' हुआ,
गायनः—सु।

(2) गायनी
गायन ङीप्—टित् प्रत्ययान्त होने से 'टिड्ढाण्०' से 'ङीप्' हुआ,
गायनी—सु, सुलुक्।

उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

(767) हश्च व्रीहिकालयोः *148* (2910)

चकारेण ण्युडनुकृष्यते। जहातेर्जिहातेश्च धातोर्ण्युट्—प्रत्ययो भवति, व्रीहौ काले च कर्त्तरि। हायना नाम व्रीहयः, जहत्युदकमिति कृत्वा। काले–हायनः संवत्सरः, जिहीते भावानिति कृत्वा।

अर्थ—चकार से 'ण्युट्' का अनुवर्त्तन होता है। 'हा' धातु से 'ण्युट्' प्रत्यय होता है, 'व्रीहि' तथा 'काल' कर्त्ता अर्थों में।

'हा ङस्' इस दशा में 'आतो धातोः' से आकारलोप होकर 'हः' पद बनता है। अतः 'हः' पद के द्वारा 'हा' धातु का ग्रहण होता है।

उदा० (1) हायना नाम व्रीहयः
जहत्युदकमिति—ण्युट्, युक् होकर रूप बनता है।

(2) हायनः संवत्सरः
जहाति भावानिति—पूर्ववत् सभी कार्य।

(768) प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् *149* (2911)

प्रु, सृ, लू–इत्येतेभ्यो धातुभ्यः समभिहारे वुन् प्रत्ययो भवति। प्रवकः। सरकः। लवकः। समभिहारग्रहणेनात्र साधुकारित्वं लक्ष्यते। साधुकारिणि वुन्विधानात्सकृदपि यः सुष्ठु करोति तत्र भवति, बहुशो यो दुष्टं करोति तत्र न भवति।

अर्थ—प्रु, सृ तथा लू—इन धातुओं से 'वुन्' प्रत्यय होता है, समभिहार अर्थ गम्यमान हो तो। 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा होती है। 'समभिहार' का अर्थ है—ठीक-ठीक कार्य करना।

'प्रुसृल्वः' पद में पञ्चमी के स्थान पर प्रथमा हुई है।[1]

1. पद० 3.1.149.

उदा० (1) प्रवकः
प्रु वुन्—'वुन्' हुआ,
प्रो अक—गुण,
प्रवकः—सु।

(2) सरकः
सृ वुन्—युवोरनाकौ,
सरकः—गुण, सु।

(3) लवकः
लू वुन्—पूर्ववत्।

साधुकारी अर्थ में 'वुन्' का विधान होने से जो एक बार भी ठीक-ठीक करता है तो वहाँ 'वुन्' होता है। जो बार-बार बुरी तरह से करता है, वहाँ 'वुन्' प्रत्यय नहीं होता।

(769) आशिषि च *150* (2912)

आशिषि गम्यमानायां धातुमात्राद् वुन् प्रत्ययो भवति। जीवतात् जीवकः। नन्दतात् नन्दकः। आशीः प्रार्थना-विशेषः, सा चेह क्रियाविषयः–अमुष्याः क्रियायाः कर्त्ता भवेदित्येवमाशास्यते।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ गम्यमान हो तो धातुमात्र से 'वुन्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) जीवकः
जीवतात्—इस अर्थ में 'वुन्' हुआ,
जीव् अक—युवोरनाकौ,
जीवकः—सु।

(2) नन्दकः
नन्दतात्—पूर्ववत्।

प्रार्थनाविशेष को आशीर्वाद कहते हैं। वह क्रिया का विषय है। इस क्रिया का यह कर्त्ता हो—इस प्रकार आशा की जाती है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
तृतीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्त।



तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः

(770) कर्मण्यण् *1* (2913)

त्रिविधं कर्म-निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। सर्वत्र कर्मण्युपपदे धातोरणप्रत्ययो भवति। निर्वर्त्यं तावत्-कुम्भकारः, नगरकारः। विकार्यम्-काण्डलावः, शरलावः। प्राप्यम्-वेदाध्यायः, चर्चापाठः। ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोतीत्यत्र न भवति, अनभिधानात् (म० भा०)। *शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्* (म० भा०)। मांसशीलः। मांसशीला। मांसकामः। मांसकामा। मांसभक्षः। मांसभक्षा। कल्याणाचारः। कल्याणाचारा। *ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। सुखप्रतीक्षः। सुखप्रतीक्षा। बहुक्षमः। बहुक्षमा।

अर्थ—कर्म तीन प्रकार का होता है—निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य। धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते। 'कृदतिङ्' से 'अण्' की कृत् संज्ञा है। 'कर्त्तरि कृत्' से 'अण्' कर्त्ता अर्थ में होता है।

(क) निर्वर्त्यम् कर्म—

उदा० (1) कुम्भकारः

कुम्भं करोति—लौकिक विग्रह,

कुम्भ अम् कृ—अलौकिक विग्रह, 'भूवादयो धातवः' से 'कृ' की धातुसंज्ञा, 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से 'कुम्भ' की उपपदसंज्ञा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च—इन सभी के अधिकार में प्रकृत सूत्र से 'अण्',

कुम्भ अम् कृ अण्—'हलन्त्यम्' से णकार की इत्संज्ञा, 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि, 'कार' की 'कृदतिङ्' से कृत् संज्ञा।

कुम्भ कार—'उपपदमतिङ्' से समास, प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुप् का लुक्, प्रतिपदिक संज्ञा अक्षुण्ण रही, अतः 'सु' आया,

कुम्भकारः—विसर्ग हुआ।

इस शब्द की प्रक्रिया निम्न प्रकार से भी सम्भव है—

कुम्भ कृ अण्—पूर्ववत् धातुसंज्ञा, उपपदसंज्ञा, अण्,

कुम्भ कार—वृद्धि,

कुम्भस्य कारः—'कार' के योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से 'कुम्भ' कर्म में षष्ठी, 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इस परिभाषा के द्वारा समास, पूर्ववत् सुप् (ङस्) का लुक्,

कुम्भकारः—शेष कार्य पूर्ववत्।

(2) नगरकारः (पूर्ववत्)।

(ख) विकार्यं कर्म—

(3) काण्डलावः

काण्डं लुनाति → काण्ड लू अण्—सभी कार्य पूर्ववत्,

काण्डलावः—सु।

(4) शरलावः (पूर्ववत्)।

(ग) प्राप्यं कर्म—

(5) वेदाध्यायः

वेदम् अधीते → वेद अधि इ अण्—पूर्ववत्,

वेदाध्यायः—सु।

(6) चर्चापाठः

चर्चां पठति—पूर्ववत्।

ग्रामं—अभिधान न होने से निम्नलिखित स्थलों पर 'अण्' नहीं होता—

ग्रामं गच्छति,

आदित्यं पश्यति,

हिमवन्तं शृणोति।

शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्—शीलि, कामि, भक्षि तथा आचरि—इनसे 'ण' प्रत्यय होता है तथा पूर्वपद को प्रकृतिस्वर भी होता है—

(7) मांसशीलः

मांसं शीलयति → मांस शील् ण—प्रातिपदिकसंज्ञा,

मांसशीलः—सु।

(8) मांसशीला—स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ।

(9) मांसकामः

मांसं कामयते—पूर्ववत्।

(10) मांसकामा—'टाप्' हुआ।

(11) मांसभक्षः
मांसं भक्षयति—पूर्ववत्।

(12) मांसभक्षा—'टाप्' हुआ।

(13) कल्याणाचारः
कल्याणम् आचरति—पूर्ववत्।

(14) कल्याणाचारा—'टाप्' हुआ।

ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम्—ईक्ष् तथा क्षम् धातुओं से भी 'ण' होता है—

(15) सुखप्रतीक्षः
सुखं प्रतीक्षते—पूर्ववत्।

(16) सुखप्रतीक्षा—'टाप्' हुआ।

(17) बहुक्षमः
बहु क्षमते—पूर्ववत्।

(18) बहुक्षमा—'टाप्' हुआ।

(771) ह्वावामश्च *2* (2914)

'ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च' (धा०पा० 1009), 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (धा०पा० 1007), 'माङ् माने' (धा०पा० 1089) इत्येतेभ्यश्च कर्मण्युपपदेऽण् प्रत्ययो भवति। कप्रत्ययापवादः। स्वर्गह्वायः। तन्तुवायः। धान्यमायः।

अर्थ—कर्म उपपद रहते ह्वे, वे तथा मा धातुओं से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'आतोऽनुपसर्गे कः' से 'क' प्राप्त था। यह उसका अपवाद है।

उदा० (1) स्वर्गह्वायः
स्वर्गं ह्वयति → स्वर्ग ह्वे अण्—'आदेच उपदेशेऽशिति'
स्वर्ग ह्वा युक् अण्—आतो युक् चिण् कृतोः,
स्वर्गह्वायः—सु।

(2) तन्तुवायः
तन्तून् वयति → तन्तु वे अण्—पूर्ववत्,
तन्तुवायः—सु।

(3) धन्यमायः
धान्यं मायते → धान्य मा अण्—पूर्ववत्,
धान्यमायः—युक्, सु।

(772) आतोऽनुपसर्गे कः *3* (2915)

आकारान्तेभ्योऽनुपसर्गेभ्यः कर्मण्युपपदे कप्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। गोदः। कम्बलदः। पार्ष्णित्रम्। अङ्गुलित्रम्। अनुपसर्ग इति किम्? गोसन्दायः, वडवासन्दायः (3.2.1)।

अर्थ—उपसर्ग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) गोदः
गां ददाति → गो दा क—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप,
गोदः—सु।

(2) कम्बलदः
कम्बलं ददाति—पूर्ववत्,
कम्बलदः—सु।

(3) पार्ष्णित्रम्
पार्ष्णिं त्रायते → पार्ष्णि त्रै क—पूर्ववत्,
पार्ष्णित्रम्—सु।

(4) अङ्गुलित्रम्
अङ्गुलि त्रै क—पूर्ववत्।
अङ्गुलित्रम्—सु।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित आकारान्त धातु से ही 'क' होता है—

(5) गोसन्दायः
गां सन्ददाति → गो सम् दा अण्—उपसर्गपूर्वक होने से 'क' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ।

(6) वडवासन्दायः (पूर्ववत्)।

(773) सुपि स्थः *4* (2916)

सुबन्त उपपदे तिष्ठतेः कप्रत्ययो भवति। समस्थः। विषमस्थः। अत्र योगविभागः कर्त्तव्यः—'सुपीति'। सुप्याकारान्तेभ्यः कप्रत्ययो भवति। द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः। पादपः। कच्छपः। ततः—'स्थः' इति। स्थश्च सुपि कप्रत्ययो भवति। किमर्थमिदम्? कर्तरि पूर्वयोगः, अनेन भावेऽपि यथा स्यात्—आखूनामुत्थानम् आखूत्थः, शलभोत्थः। इत उत्तरं कर्मणीति (3.2.1), सुपीति च द्वयमप्यनुवर्त्तते। तत्र सकर्मकेषु धातुषु कर्मणीत्येतदुपतिष्ठते, अन्यत्र सुपीति।

अर्थ—सुप् प्रत्ययान्त शब्द के उपपद रहते 'स्था' धातु से 'क' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) समस्थः
समे तिष्ठति → सम् स्था क—आतो लोप इटि च,
समस्थः—सु।

(2) विषमस्थः (पूर्ववत्)।

अत्र—प्रकृत सूत्र का योगविभाग किया जाना चाहिये। यथा—

(क) सुपि (आतः कः)—अर्थात् सुबन्त उपपद रहते आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है। यथा—

द्वाभ्यां पिबतीति—द्विपः।
कच्छपः, पादपः, अङ्घ्रिपः।

(ख) स्थः (कः सुपि)—अर्थात् सुबन्त उपपद रहते स्था धातु से क प्रत्यय होता है। यथा—

शलभोत्थः।

योगविभाग का प्रयोजन है—'सुपि' यह अंश 'कर्तरि कृत्' से कर्त्ता अर्थ में हो जाता है। 'स्थः' इस सूत्रांश से स्था धातु से भाव अर्थ में भी कप्रत्यय होता है। यथा—

शलभानाम् उत्थानम्—शलभोत्थः।

इत उत्तरं०—यहाँ से आगे 'कर्मणि' तथा 'सुपि'—इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन होता है। तब सकर्मक धातुओं के विषय में 'कर्मणि' पद उपस्थित हो जाता है तथा अन्यत्र (अर्थात् अकर्मक धातुओं के विषय में) 'सुपि' पद उपस्थित होता है।

(774) तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः *5* (2919)

तुन्दशोकयोः कर्मणेरुपपदयोः परिमृजापनुदोर्धात्वोः कप्रत्ययो भवति। तुन्दपरिमृज आस्ते। शोकापनुदः पुत्रो जातः (म० भा०)। *आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अलसस्तुन्दपरिमृज उच्यते। तुन्दपरिमार्ज एवान्यः। सुखस्याहर्त्ता शोकापनुदः। शोकापनोद एवान्यः। *कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्* (म० भा०)। मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। नखमुचानि धनूंषि। काकगुहास्तिलाः। कौ मोदते कुमुदम्।

अर्थ—तुन्द तथा शोक कर्म उपपद रहते यथासंख्य करके परिपूर्वक 'मृज्' तथा अपपूर्वक 'नुद्' धातु से 'क' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) तुन्दपरिमृजः
तुन्दं परिमार्ष्टि → तुन्द परिमृज् क—लघूपधगुण का निषेध,
तुन्दपरिमृजः—सु।

(2) शोकापनुदः
शोकम् अपनुदति—पूर्ववत्।

आलस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम्—पूर्वोक्त प्रत्यय आलस्य तथा सुखाहरण अर्थों में होता है।

कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम्—मूल विभुज आदि शब्दों में 'क' प्रत्यय होता है—

(3) मूलविभुजः
मूलानि विभुजति—'क' हुआ।

(4) नखमुचानि
नखानि मुञ्चन्ति—'क' हुआ, 'जस्' में रूप बना।

(5) काकगुहाः (पूर्ववत्)।

(6) कुमुदम्
कौ मोदते—पूर्ववत्।

हरदत्त व भट्टोजि दीक्षित इसे आकृतिगण मानते हैं।[1] उनके अनुसार इस गण में अन्य शब्दों का भी समावेश होता है—

(7) महीध्र—महीं धरतीति।
(8) कुध्र—पूर्ववत् 'क'।
(9) गिलः—पूर्ववत् 'क'।

(775) प्रे दाज्ञः *6* (2920)

सोपसर्गार्थ आरम्भः। ददातेर्जानातेश्च धातोः प्रेणोपसृष्टात् कर्मण्युपपदे कप्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। सर्वप्रदः। पथिप्रज्ञः। प्र इति किम्? गोसन्दायः।

अर्थ—सोपसर्ग धातुओं से 'क' प्रत्यय किया जा रहा है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दा' तथा 'ज्ञा' धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है, यदि कर्म उपपद हो। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) सर्वप्रदः
सर्व प्र दा क—आकारलोप,
सर्वप्रदः—सु।

(2) पथिप्रज्ञः
पथिन् प्र ज्ञा क—आकारलोप,

1. पदम० 3.2.6—आकृतिगणश्चाऽयम्।
वै० सि० कौ० सूत्र 2919—आकृतिगणोऽयम्।

पथिप्रज्ञः—नकारलोप।

प्रे अर्थात् प्र उपसर्गपूर्वक 'दा' तथा 'ज्ञा' से 'क' होता है—

(3) गोसन्दाय:

गो सम् दा—दा से पूर्व 'प्र' नहीं है, 'क' नहीं हुआ, यथाप्राप्त 'अण्' हुआ,
गोसन्दायः—युक्, सु।

(776) समि ख्यः *7* (2921)

सोपसर्गार्थ आरम्भः। कर्मण्युपपदे कप्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। गां सञ्चष्टे गोसंख्यः।

अर्थ—सोपसर्ग धातु के लिए नियम किया जा रहा है। सम् पूर्वक ख्या धातु से 'क' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते। यह 'अण्' का अपवाद है। 'चक्षिङः ख्याञ्' से जो 'ख्याञ्' आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है। 'ख्या प्रकथने' धातु यहाँ इष्ट नहीं है।

उदा० (1) गोसङ्ख्य:
गां सञ्चष्टे—गो सम् ख्या क—'ख्या' आदेश,
गोसङ्ख्यः—आतो लोप इटि च, सु।

(777) गापोष्टक् *8* (2922)

कर्मण्यनुपसर्ग इति वर्त्तते। गायतेः पिबतेश्च धातोः कर्मण्युपपदेऽनुपसर्गे टक् प्रत्ययो भवति। कस्यापवादः। शक्रं गायति शक्रगः। सामगः। शक्रगी। सामगी। *सुराशीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। सुरापः। सुरापी। शीधुपः। शीधुपी। सुराशीध्वोरिति किम्? क्षीरपा ब्राह्मणी। पिबतेरिति किम्? सुरां पातीति सुरापा। अनुपसर्ग इत्येव-शक्रसङ्गायः। सामसङ्गायः। *बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्* (म० भा०)। या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति (म० भा०)।

अर्थ—कर्मणि तथा अनुपसर्गे—इन दो पदों का अनुवर्त्तन है। गै तथा पा धातुओं से 'टक्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद हो तो। यह 'क' का अपवाद है।

'चुटू' से टकार की तथा 'हलन्त्यम्' से ककार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) शक्रग:
शक्रं गायति → शक्र गै टक्—आत्व, आकारलोप,
शक्रगः—सु।

(2) सामगः
साम गायतीति—पूर्ववत्।

(3) शक्रगी
शक्रग ङीप्—'टिड्ढाण्०' से 'ङीप्'।

(4) सामगी—पूर्ववत् 'ङीप्'।

सुराशीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम्—सुरा तथा शीधु उपपद रहते 'पा' धातु से 'टक्' होता है—

(5) सुरापः
सुरां पिबति → सुरा पा टक्—पूर्ववत्,
सुरापः—सु।

(6) सुरापी—पूर्ववत् 'ङीप्'।

(7) शीधुपः
शीधु पा टक्—पूर्ववत्।
शीधुपः—सु।

(8) शीधुपी—पूर्ववत् 'ङीप्'।

सुराशीध्वोः अर्थात् सुरा तथा शीधु उपपद रहते 'पा' से 'टक्' होता है—

(9) क्षीरपा ब्राह्मणी
क्षीरं पिबति—'पा' का उपपद न तो 'सुरा' है, न ही 'शीधु' है; अतः 'टक्' नहीं हुआ। 'क' हुआ, स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ।

पिबते० अर्थात् सुरा तथा शीधु उपपद रहते पा धातु से ही 'टक्' होता है—

(10) सुरापा—सुरां पातीति
सुरा उपपद है, परन्तु 'पा पाने' धातु नहीं है। अतः 'टक्' नहीं हुआ।

अनुपसर्गे अर्थात् अनुपसर्ग गै तथा पा धातुओं से 'टक्' होता है—

(11) शक्रसङ्गायः
शक्र सम् गै अण्—'गै' से पूर्व उपसर्ग होने से 'टक्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ।

(12) सामसङ्गायः—पूर्ववत् 'अण्'।

बहुलं छन्दसीति वक्तव्यम्—वेद के विषय में 'क' प्रत्यय बहुलता से होता है—

(13) सुरापा—'क' हो गया है।
(14) सुरापी—'टक्' हुआ है।

(778) हरतेरनुद्यमनेऽच् *9* (2923)

हरतेर्धातोरनुद्यमने वर्त्तमानात् कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । उद्यमनमुत्क्षेपणम् । अंशं हरतीत्यंशहरः । रिक्थहरः । अनुद्यमन इति किम् ? भारहारः । *अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुःषु ग्रहेरुपसंख्यानम्* (म० भा०) । शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः ।*सूत्रे च धार्यर्थे* (म० भा०) । सूत्रग्रहः । सूत्रं धारयतीत्यर्थः । सूत्रग्राह एवान्यः ।

अर्थ—अनुद्यमन अर्थ में वर्त्तमान हृ धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते । यह 'अण्' का अपवाद है ।

'उद्यमन' का अर्थ है—ऊपर को उछालना ।

उदा० (1) अंशहरः
अंशं हरति—'अच्' हुआ,
अंश हृ अच्—गुण, सु,
अंशहरः—रूप बना ।

(2) रिक्थहरः (पूर्ववत्) ।

अनुद्यमने अर्थात् अनुद्यमन अर्थ में वर्त्तमान 'हृ' से अच् होता है—

(3) भारहारः
भारं हरति—यहाँ 'उद्यमन' अर्थ है, अतः 'अच्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ,
भारहारः—वृद्धि, सु ।

अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु 'ग्रहेरुपसङ्ख्यानम्—शक्ति, लांगल, अंकुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी तथा धनुष्—इन उपपदों के रहते 'ग्रह्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है—

(4) शक्तिग्रहः
शक्ति ग्रह् अच्—पूर्ववत् ।

(5) लांगलग्रहः—लाङ्गल ग्रह् अच् ।
(6) अङ्कुशग्रहः—अङ्कुश ग्रह् अच् ।
(7) यष्टिग्रहः—यष्टि ग्रह् अच् ।
(8) तोमरग्रहः—तोमर ग्रह् अच् ।
(9) घटग्रहः—घट ग्रह् अच् ।
(10) घटीग्रहः—घटी ग्रह् अच् ।
(11) धनुर्ग्रहः—धनुष् ग्रह् अच् ।

सूत्रे च धार्यर्थे—धारण अर्थ में 'सूत्र' उपपद रहते 'ग्रह्' धातु से 'अच्' होता है—

(12) सूत्रग्रहः
सूत्र ग्रह् अच्—पूर्ववत्,
सूत्रग्रहः—सु ।

(13) सूत्रग्राहः
सूत्र ग्रह् अण्—धारण अर्थ नहीं है, 'अच्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ,
सूत्रग्राहः—अत उपधायाः ।

(779) वयसि च *10* (2924)

वयसि गम्यमाने हरतेः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति । उद्यमनार्थोऽयमारम्भः । कालकृता शरीरावस्था यौवनादिर्वयः । यदुद्यमनं क्रियमाणं सम्भाव्यमानं वा वयो गमयति तत्रायं विधिः । अस्थिहरः श्वा । कवचहरः क्षत्रियकुमारः ।

अर्थ—अवस्था गम्यमान हो तो कर्म उपपदपूर्वक 'हृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है । 'उद्यमन' अर्थ के लिए यह नियम बनाया गया है । यदि उद्यमन सम्भाव्यमान हो और अवस्था व्यतीत हो रही हो तो यह विधि होती है ।

उदा० (1) अस्थिहरः
अस्थि हृ अच्—गुण,
अस्थिहरः—सु ।

(2) कवचहरः (पूर्ववत्) ।

(780) आङि ताच्छील्ये *11* (2925)

आङ्पूर्वाद्धरतेः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति ताच्छील्ये गम्यमाने । ताच्छील्यं तत्स्वभावता । पुष्पाहरः । फलाहरः । पुष्पाद्याहरणे स्वाभाविकी फलानपेक्षा प्रवृत्तिरस्येत्यर्थः । ताच्छील्य इति किम् ? भारमाहरतीति भाराहारः ।

अर्थ—'उस प्रकार का स्वभाव होना'—इस अर्थ में वर्त्तमान आङ्पूर्वक 'हृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद हो तो ।

उदा० (1) पुष्पाहरः
पुष्प आ हृ अच्—गुण,
पुष्पाहरः—सवर्णदीर्घ, सु ।

(2) फलाहर:
फल आ हृ अच्—पूर्ववत्।

पुष्प अथवा फल के आहरण में इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है—ऐसा जानना चाहिए।

ताच्छील्ये अर्थात् उस प्रकार का स्वभाव होना—इस अर्थ में ही 'अच्' होता है—

(3) भाराहार:
यहाँ तत्स्वभावता अर्थ गम्यमान नहीं है। अत: 'अच्' नहीं हुआ। 'अण्' हुआ।

(781) अर्ह: *12* (2926)

'अर्ह पूजायाम्' अस्माद्धातो: कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवाद:। स्त्रीलिङ्गे विशेष:। पूजार्हा। गन्धार्हा। मालार्हा।

अर्थ—कर्म उपपद रहते 'अर्ह्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है। यह 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। स्त्रीलिङ्ग में विशेष है।

उदा० (1) पूजार्हा
पूजाम् अर्हति → पूजा अर्ह् अच्—'अच्' हुआ,
पूजार्ह—स्त्रीत्व में 'टाप्',
पूजार्हा—सु, सुलुक्।
(2) गन्धार्हा (पूर्ववत्)।
(3) मालार्हा (पूर्ववत्)।

(782) स्तम्बकर्णयो रमिजपो: *13* (2927)

स्तम्ब, कर्ण इत्येतयो: सुबन्तयोरुपपदयोर्यथासंख्यं रमिजपोर्धात्वोरच् प्रत्ययो भवति। रमेरकर्मकत्वाज्जपे: शब्दकर्मकत्वात् कर्म न सम्भवतीति सुपीत्येतदिहाभिसम्बध्यते। *हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। स्तम्बे रमते इति स्तम्बेरम: हस्ती। कर्णे जपतीति कर्णेजप: सूचक:। हस्तिसूचकयोरिति किम्? स्तम्बे रन्ता, कर्णे जपिता मशक:।

अर्थ—स्तम्ब और कर्ण उपपद रहते यथासंख्य करके रम् तथा जप् धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है।

'रम्' धातु अकर्मक है तथा 'जप्' शब्दकर्मक होने से इनका कर्म सम्भव नहीं है। अत: यहाँ 'सुपि' पद का सम्बन्ध होता है।

हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्—पूर्वोक्त प्रत्यय 'हाथी' तथा 'सूचक' अर्थों में होता है।

उदा० (1) स्तम्बेरम:
स्तम्बे रमते—'अच्' हुआ,
स्तम्बे रम् अच्—'तत्पुरुषे कृति०' के द्वारा सुप् का अलुक्,
स्तम्बेरम:—यह शब्द हाथी के लिए रूढ हो गया है।
(2) कर्णेजप:
कर्णे जपति—'अच्' हुआ,
कर्णे जप् अच्—विभक्ति का अलुक्,
कर्णेजप—पूर्ववत्,
कर्णेजप:—सु। चुगलखोर अर्थ में रूढ हो गया है।

हस्तिसूच० अर्थात् हस्ती तथा सूचक अर्थों में ही 'अच्' होता है—

(3) स्तम्बेरन्ता
यहा 'हस्ती' अर्थ नहीं है। अत: 'अच्' प्रत्यय नहीं हुआ। 'तृच्' हुआ।

(4) कर्णे जपिता—पूर्ववत् 'अच्' नहीं हुआ।

(783) शमि धातो: संज्ञायाम् *14* (2928)

शम्युपपदे धातुमात्रात्संज्ञायां विषयेऽच् प्रत्ययो भवति। शङ्कर:। शम्भव:। शंवद:। धातुग्रहणं किम्, यावता धातोरिति वर्त्तत एव? शमि संज्ञायामिति सिद्धे धातुग्रहणं कृञो हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थम् (म०भा०)–शङ्करा नाम परिव्राजिका, शङ्करा नाम शकुनिका, तच्छीला च।

अर्थ—'शम्' अव्यय के उपपद रहते धातुमात्र से 'अच्' प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में।

उदा० (1) शङ्कर:
शम् कृ अच्—आर्धधातुक गुण,
शङ्कर:—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) शम्भव:
शम् भू अच्—गुण, अवादेश,
शम्भव:—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) शंवद:
शम् व द् अच्—नश्चाऽपदान्तस्य झलि,
शंवद:—सु।

धातुग्रहण—इस प्रकरण में 'धातो:' पद का अधिकार है, तदपि सूत्र में पुन: 'धातो:' पद का पाठ है। सूत्र में 'धातो:' पद

के ग्रहण का प्रयोजन 'हेतु' आदि अर्थों में 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय का निषेध करना है।[1]

(784) अधिकरणे शेतेः *15* (2929)

सुपीति सम्बध्यते। शेतेर्धातोरधिकरणे सुबन्त उपपदेऽच् प्रत्ययो भवति। खे शेते खशयः। गर्तशयः। *पार्श्वादिषूपसंख्यानम्* (म०भा०)। पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशयः। उदरशयः। पृष्ठशयः। *दिग्धसहपूर्वाच्च* (म०भा०)। दिग्धेन सह शेते दिग्धसहशयः। *उत्तानादिषु कर्तृषु* (म०भा०)। उत्तानः शेते उत्तानशयः। अवमूर्द्धा शेते अवमूर्द्धशयः। *गिरौ डश्छन्दसि* (म०भा०)। गिरौ शेते गिरिशः (मै०सं० 2.9.2)।

अर्थ—'सुपि' पद का सम्बन्ध होता है। अधिकरणवाची सुबन्त उपपद रहते 'शी' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) खशयः
खे शेते—'अच्' हुआ, गुण,
खशयः—अयादेश, सु।

(2) गर्त्तशयः
गर्त्त शी अच्—पूर्ववत्।

पार्श्वादिषूपसङ्ख्यानम्—पार्श्व आदि उपपद रहते 'शी' धातु से 'अच्' होता है—

(3) पार्श्वशयः
पार्श्वाभ्यां शेते—पूर्ववत्।

(4) उदरशयः (पूर्ववत्)।
(5) पृष्ठशयः (पूर्ववत्)।
पार्श्वादि एक आकृतिगण है।

दिग्धसहपूर्वाच्च—'दिग्धसह' उपपदपूर्वक 'शी' धातु से 'अच्' होता है—

(6) दिग्धसहशयः
दिग्धेन सह शेते—पूर्ववत् 'अच्' हुआ।

उत्तानादिषु कर्तृषु—उत्तान आदि कर्त्ता उपपद रहते 'शी' धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है—

(7) उत्तानशयः
उत्तानः शेते—पूर्ववत् 'अच्' हुआ।

(8) अवमूर्द्धशयः
अवमूर्द्धा शेते—पूर्ववत् 'अच्' हुआ।

गिरौ डश्छन्दसि—'गिरि' उपपद रहते 'ड' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

(9) गिरिशः
गिरौ शेते—'ड' हुआ, 'चुटू' से डकार की इत् संज्ञा,
गिरि शी ड — गिरि श् अ—टिलोप,
गिरिशः—सु।

(785) चरेष्टः *16* (2930)

अधिकरण इति वर्त्तते। चरेर्धातोरधिकरणे सुबन्त उपपदे टप्रत्ययो भवति। कुरुषु चरतीति कुरुचरः। मद्रचरः। कुरुचरी। मद्रचरी। प्रत्ययान्तरकरणं ङीबर्थम्।

अर्थ—'अधिकरणे' पद की अनुवृत्ति है।

अधिकरणवाची सुबन्त उपपद रहते 'चर्' धातु से 'ट' होता है।

'चुटू' से टकार की इत्संज्ञा होती है। टित् होने से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' होता है।

उदा० (1) कुरुचरः
कुरुषु चरति—'ट' हुआ,
कुरुचर् ट—टकार का लोप,
कुरुचरः—सु।

(2) मद्रचरः
मद्रेषु चरति—पूर्ववत्,
मद्रचरः—सु।

(3) कुरुचरी
कुरीचर ङीप्—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्',
कुरुचरी—सु, सुलुक्।

(4) मद्रचरी—पूर्ववत् 'ङीप्'।

प्रत्ययान्त० अर्थात् प्रत्यय 'ट' को टित् करने का प्रयोजन यह है कि 'टिड्ढाण्०' से स्त्रीत्व में ङीप् होता है।

(786) भिक्षासेनादायेषु च *17* (2931)

अनधिकरणार्थ आरम्भः। भिक्षा, सेना, आदाय इत्येतेषूपपदेषु चरेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायचरः।

1. न्यास 3.2.14.

अर्थ—अधिकरण से भिन्न स्थल के लिए यह नियम बनाया जा रहा है। भिक्षा, सेना तथा आदाय—इन सुबन्तों के उपपद रहते 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

(1) भिक्षाचरः
भिक्षा चर् ट—पूर्ववत्,
भिक्षाचरः—सु।

(2) सेनाचरः
सेना चर् ट—पूर्ववत्।

(3) आदायचरः
आदाय चर् ट—पूर्ववत्।

विशेष—1. सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। उनके अनुसार सह चरतीति—सहचरः शब्द की साधुता अनुक्त—समुच्चय के द्वारा ही प्रदर्शित की जा सकती है, परन्तु 'सहचर' और 'शनैश्चर' आदि शब्दों की सिद्धि पचाद्यच् मानकर की जा सकती है। सुप् सुपा समास हो गया; क्योंकि पचादिगण में 'चरट्' ऐसा (टित्) पाठ है। इस प्रकार 'सहचरी' आदि की साधुता भी सिद्ध हो जाती है।

(787) पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः *18* (2932)

पुरस्, अग्रतस्, अग्रे—इत्येतेषूपपदेषु सर्त्तेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। पुरः सरतीति पुरःसरः। अग्रतःसरः। अग्रेसरः।

अर्थ—पुरस्, अग्रतस् तथा अग्र उपपदों के रहते 'सृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पुरःसरः
पुरः सरति → पुरस् सृ अच्—गुण,
पुरःसरः—विसर्ग, सु।

(2) अग्रतस्सरः
अग्रतः सरति—पूर्ववत्।

(3) अग्रेसरः
अग्रे सरति—पूर्ववत्।

(788) पूर्वे कर्त्तरि *19* (2933)

पूर्वशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे सर्त्तेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। पूर्वः सरतीति पूर्वसरः। कर्त्तरीति किम्? पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः।

अर्थ—कर्तृवाची पूर्व उपपद रहते 'सृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

(1) पूर्वसरः
पूर्वः सरति—पूर्ववत् गुण आदि।

कर्त्तरि अर्थात् कर्तृवाची उपपद रहते 'अच्' होता है—

(2) पूर्वसारः
पूर्वं देशं सरति—यहाँ कर्तृवाची 'पूर्व' शब्द उपपद नहीं है, अतः 'अच्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ।

(789) कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु *20* (2934)

कर्मण्युपपदे करोतेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति हेतौ ताच्छील्ये आनुलोम्ये च गम्यमाने। हेतुरैकान्तिकं कारणम्। ताच्छील्यं तत्स्वभावता। आनुलोम्यमानुकूलता। हेतौ तावत्-शोककरी कन्या, यशस्करी विद्या, कुलकरं धनम्। ताच्छील्ये-श्राद्धकरः, अर्थकरः। आनुलोम्ये-प्रैषकरः, वचनकरः। एतेष्विति किम्? कुम्भकारः, नगरकारः।

अर्थ—हेतु, तत्स्वभावता तथा आनुलोम्य—इन अर्थों में वर्तमान 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते।

उदा० (क) हेतौ—

(1) शोककरी
शोक कृ ट—चुटू, गुण,
शोककरी—स्त्रीत्व में 'ङीप्' हुआ, सु, सुलुक्।

(2) यशस्करी
यशस् कृ ट—पूर्ववत्,
यशस्करी—ङीप्।

(3) कुलकरम्
कुल कृ ट—पूर्ववत्,
कुलकरम्—गुण, सु।

(ख) ताच्छील्ये—

(4) श्राद्धकरः
श्राद्ध कृ ट—पूर्ववत्।

(5) अर्थकरः (पूर्ववत्)।

(ग) आनुलोम्ये—

(6) प्रैषकरः—पैष कृ ट।

(7) वचनकरः—वचन कृ ट।

एते० अर्थात् हेतु आदि अर्थों में ही 'ट' होता है—

(8) कुम्भकारः

यहाँ सूत्रोक्त कोई भी अर्थ नहीं है। अतः 'ट' नहीं हुआ। सामान्य 'अण्' हो गया है।

(9) नगरकारः—पूर्ववत् 'अण्'।

(790) दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु *21* (2935)

कर्मणि, सुपीति च द्वयमप्यनुवर्त्तते, तत्र यथायोगं सम्बन्धः। दिवादिषूपपदेषु करोतेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः। दिवाशब्दोऽधिकरणवचनः सुपीत्यस्य विशेषणम्, दिवा करोति प्राणिनश्चेष्टायुक्तानिति दिवाकरः। विभां करोतीति विभाकरः। निशाकरः। प्रभाकरः। भास्करः। सकारस्य निपातनाद्विसर्जनीयजिह्वामूलीयौ न भवतः। कारकरः। अन्तकरः। अनन्तकरः। आदिकरः। बहुकरः। नान्दीकरः। किंकरः। लिपिकरः। लिबिकरः। बलिकरः। भक्तिकरः। कर्तृकरः। चित्रकरः। क्षेत्रकरः। संख्या–एककरः, द्विकरः, त्रिकरः। जङ्घाकरः। बाहुकरः। अहस्करः। यत्करः। तत्करः। धनुष्करः। अरुष्करः। *किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्* (म०भा०)। किंकरा। यत्करा। तत्करा। बहुकरा। अथवाऽजादिषु पाठः करिष्यते।

अर्थ—'कर्मणि' तथा 'सुपि'—इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन है। यहाँ जिसका जिसके साथ सम्बन्ध हो, वैसा जानना चाहिए।

दिवा, विभा, निशा, प्रभा, भास्, कार, अन्त, अनन्त, आदि, बहु, नान्दी, किम्, लिपि, लिबि, बलि, भक्ति, कर्तृ, चित्र, क्षेत्र, संख्या, जंघा, बाहु, अहस्, यत्, तद्, धनुस्, अरुष्—इन यथायोग सुबन्त अथवा कर्म उपपद के रहते 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है।

अहेतु आदि अर्थों के लिए नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) दिवाकरः

दिवा करोति—'दिवा' शब्द अधिकरणवाची है, अतः यहाँ 'सुपि' पद का सम्बन्ध होता है,

दिवा कृ ट—गुण,

दिवाकरः—सु।

(2) विभाकरः—विभा कृ ट।

(3) निशाकरः—निशा कृ ट।

(4) प्रभाकरः—प्रभा कृ ट।

(5) भास्करः—भास् कृ ट।

सकार के निपातन से विसर्जनीय तथा जिह्वामूलीय नहीं होते हैं।

(6) कारकरः—कार कृ ट।

(7) अन्तकरः—अन्त कृ ट।

(8) अनन्तकरः—अनन्त कृ ट।

(9) आदिकरः—आदि कृ ट।

(10) बहुकरः—बहु कृ ट।

(11) नान्दीकरः—नान्दी कृ ट।

(12) किङ्करः—किम् कृ ट।

(13) लिपिकरः—लिपि कृ ट।

(14) लिबिकरः—लिबि कृ ट।

(15) भक्तिकरः—भक्ति कृ ट।

(16) कर्तृकरः—कर्तृ कृ ट।

(17) चित्रकरः—चित्र कृ ट।

(18) क्षेत्रकरः—क्षेत्र कृ ट।

(19) सङ्ख्याकरः—सङ्ख्या कृ ट।

(20) एककरः—एक कृ ट।

(21) द्विकरः—द्वि कृ ट।

(22) त्रिकरः—त्रि कृ ट।

(23) जङ्घाकरः—जङ्घा कृ ट।

(24) बाहुकरः—बाहु कृ ट।

(25) अहस्करः—अहस् कृ ट।

(26) यत्करः—यत् कृ ट।

(27) तत्करः—तत् कृ ट।

(28) धनुष्करः—धनुस् कृ ट।

(29) अरुष्करः—अरुष् कृ ट।

किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्—किम्, यद्, तद् और बहु—इनके उपपद रहते 'अच्' प्रत्यय होता है। यथा—

(30) किङ्करा

किम् कृ अच्—'अच्' हुआ,

किङ्कर टाप्—स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ,

किङ्करा—सु, सुलुक्।

(31) यत्करा

यद् कृ अच्—पूर्ववत्।

(32) तत्करा (पूर्ववत्)।
(33) बहुकरा (पूर्ववत्)।

अथवा इन शब्दों का अजादि गण में पाठ किया जा सकता है, जिससे 'टाप्' हो जाता है।

(791) कर्मणि भृतौ *22* (2936)

कर्मणीति स्वरूपग्रहणम्। कर्मवाचिनि कर्मशब्द उपपदे करोतेष्टप्रत्ययो भवति, भृतौ गम्यमानायाम्। भृतिः वेतनम्, कर्मनिर्वेशः। कर्म करोतीति कर्मकरः। भृतक इत्यर्थः। भृताविति किम्? कर्मकारः।

अर्थ—'कर्मणि' इसके स्वरूप का ग्रहण होता है।

कर्मवाची 'कर्म' शब्द के उपपद रहते 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है, भृति (= वेतन) गम्यमान हो तो।

उदा० (1) कर्मकरः
कर्म करोति—'ट' हुआ, गुण हुआ।
कर्मकरः—सु।

भृतौ० अर्थात् वेतन गम्यमान हो तो 'ट' होता है—

(2) कर्मकारः
यहाँ 'वेतन' अर्थ नहीं हैं। अतः 'ट' नहीं हुआ। सामान्य 'अण्' हुआ।

(792) न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु *23* (2937)

शब्दादिषूपपदेषु करोतेष्टप्रत्ययो न भवति। हेत्वादिषु प्राप्तः प्रतिषिद्ध्यते। शब्दकारः। श्लोककारः। कलहकारः। गाथाकारः। वैरकारः। चाटुकारः। सूत्रकारः। मन्त्रकारः। पदकारः।

अर्थ—'शब्द' आदि कर्मभूत उपपद रहते 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय नहीं होता है। 'हेतु' आदि अर्थों में 'ट' प्राप्त था, उसका निषेध किया जा रहा है। तब यथाप्राप्त 'अण्' हुआ।

उदा० (1) शब्दकारः
शब्दं करोति—'ट' का निषेध हुआ,
शब्दकारः—अण्, वृद्धि।

(2) श्लोककारः
श्लोक कृ अण्—पूर्ववत्।

(3) कलहकारः (पूर्ववत्)।

(4) गाथाकारः—गाथा कृ अण्।
(5) वैरकारः—वैर कृ अण्।
(6) चाटुकारः—पूर्ववत्।
(7) सूत्रकारः (पूर्ववत्)।
(8) मन्त्रकारः (पूर्ववत्)।
(9) पदकारः (पूर्ववत्)।

(793) स्तम्बशकृतोरिन् *24* (2938)

स्तम्ब, शकृत् इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोरिन् प्रत्ययो भवति। *व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। स्तम्बकरिः व्रीहिः। शकृत्करिर्वत्सः। व्रीहिवत्सयोरिति किम्? स्तम्बकारः। शकृत्कारः।

अर्थ—कर्मभूत स्तम्ब व शकृत् उपपद रहते 'कृ' धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है।

व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्—व्रीहि तथा बछड़ा अर्थों में यथासंख्य स्तम्ब व शकृत् उपपद रहते 'इन्' होता है अर्थात् व्रीहि अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' धातु से 'इन्' होता है, स्तम्ब कर्म उपपद रहते तथा बछड़ा अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' धातु से 'इन्' होता है, शकृत् कर्म उपपद रहते।

उदा० (1) स्तम्बकरिर्व्रीहिः
स्तम्ब कृ इन्—गुण, प्रातिपदिक संज्ञा,
स्तम्बकरिः—सु।

(2) शकृत्करिर्वत्सः (पूर्ववत्)।

व्रीहिवत्स० अर्थात् व्रीहि तथा वत्स अर्थों में ही 'इन्' होता है—

(3) स्तम्बकारः—'इन्' नहीं हुआ।
(4) शकृत्कारः—'इन्' नहीं हुआ।

(794) हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ *25* (2939)

दृति, नाथ इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः हरतेर्धातोः पशौ कर्त्तरि इन् प्रत्ययो भवति। दृतिं हरति दृतिहरिः पशुः। नाथहरिः पशुः। पशाविति किम्? दृतिहारः, नाथहारः।

अर्थ—'पशु' कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान 'हृ' धातु से 'इन्' होता है, दृति तथा नाथ कर्म उपपद रहते।

उदा० (1) दृतिहरिः पशुः
दृतिं हरति—'इन्' हुआ,
दृतिहरिः—सु।

(2) नाथहरिः पशुः (पूर्ववत्)।

पशौ अर्थात् पशु कर्तृवाची अर्थ होने पर ही 'इन्' होता है—

(3) दृतिहारः—'इन्' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ।

(4) नाथहारः (पूर्ववत्)।

(795). फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च *26* (2940)

फलेग्रहिः, आत्मम्भरिः इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। फलशब्दस्य उपपदस्यैकारान्तत्वमिन् प्रत्ययश्च ग्रहेर्निपात्यते। फलानि गृह्णातीति फलेग्रहिर्वृक्षः। आत्मन् शब्दस्य उपपदस्य मुमागम इन् प्रत्ययश्च भृञो निपात्यते। आत्मानं बिभर्ति आत्मम्भरिः। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। कुक्षिम्भरिः, उदरम्भरिः।

अर्थ—(इन प्रत्ययान्त) फलेग्रहि तथा आत्मम्भरि शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) फलेग्रहिः

फले ग्रह् इन्—निपातन से 'इन्' प्रत्यय तथा उपपद 'फल' को एकारान्तता हुई,

फलेग्रहिः—सु।

(2) आत्मम्भरिः

आत्म मुम् भृ इन्—निपातन से 'इन्' प्रत्यय तथा 'मुम्' आगम हुआ।

चकार के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है। यथा—

(3) कुक्षिम्भरिः (पूर्ववत्)।

(4) उदरम्भरिः (पूर्ववत्)।

(796) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् *27* (3408)

'वन षण सम्भक्तौ' (धा०पा० 463, 464), 'रक्ष पालने' (धा०पा० 658), 'मथे विलोडने' (धा०पा० 42)-इत्येतेभ्यः कर्मण्युपपदे छन्दसि विषये इन् प्रत्ययो भवति। ब्रह्म॒ वनिं॑ त्वा क्षत्र॒वनिं॑म् (तै०सं० 1.3.1.2)। गो॒सनिं॑ यौ वाचमुदेयम् (अथ० 3.20.10)। पथिरक्षी श्वानौ (अथ० 8.1.9)। हविर्मथीनाम् (ऋ० 7.104.20)।

अर्थ—कर्मभूत उपपद रहते वन्, षण्, रक्ष् और मथ् धातुओं से 'इन्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) ब्रह्मवनिम्—ब्रह्म वन् इन्।

(2) गोसनिम् (अथ० 3.20.10)

गो षण् → गो सन् इन्—पूर्ववत्।

(3) पथिरक्षी—पथिन् रक्ष् इन्।

(4) हविर्मथीनाम् (ऋ० 7.104.20)

हविस् मथ् इन्—पूर्ववत्।

(797) एजेः खश् *28* (2941)

'एजृ कम्पने' (धा०पा० 234) इत्यस्माण्यन्तात्कर्मण्युपपदे खश् प्रत्ययो भवति। खकारोऽयं मुमर्थः। शकारः सार्वधातुकसंज्ञार्थः। अङ्गमेजयति अङ्गमेजयः। जनमेजयः। *खश्प्रत्यये वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजधेट्तुदजहातीनामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। वातमजा मृगाः। शुनिन्धयः। तिलन्तुदः। शर्द्धञ्जहा माषाः।

अर्थ—णिच् प्रत्ययान्त 'एज्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते। 'खश्' के शकार की 'हलन्त्यम्' से तथा खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। खकार अनुबन्ध का प्रयोजन 'मुम्' आगम करना है तथा शकार अनुबन्ध का प्रयोजन 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा करना है। इसके अतिरिक्त 'णेरनिटि' की अप्रवृत्ति भी इसका एक प्रयोजन है।

उदा० (1) अङ्गमेजयः

अङ्गम् एजयति—'खश्' हुआ,

अङ्ग मुम् एजि शप् खश्—कर्त्तरि शप्, अरुर्द्विषदजन्तस्य से मुम्,

अङ्गम् एजे अ—'अतो गुणे' से पररूप, 'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण,

अङ्गमेजयः—सु।

(2) जनमेजयः

जनान् एजयति—पूर्ववत्।

खश्प्रत्यये वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजधेट्तुदजहातीनामुपसङ्ख्यानम्—वात, शुनी, तिल और शर्द्ध—इन उपपदों के रहते यथासंख्य करके अज्, धेट्, तुद् और हा धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है। यथा—

(3) वातमजाः

वातम् अजन्ति—खश् हुआ, मुम् हुआ,

वातमजाः—जस् हुआ।

(4) शुनिन्धयः
शुनीं धयति—पूर्ववत् खश्, मुम्। 'खित्यनव्यय०' से ह्रस्वादेश।

(5) तिलन्तुदः
तिलान् तुदति—पूर्ववत्।

(6) शर्द्धञ्जहाः
शर्द्धं जहति—पूर्ववत् खश्, मुम्, जस्।

(798) नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः *29* (2944)

नासिकास्तनयोः कर्मणोरुपपदयोर्ध्माधेटोर्धात्वोः खश् प्रत्ययो भवति। यथासंख्यमत्र नेष्यते। *स्तने धेटः* (म० भा०)। स्तनन्धयः। *नासिकायां तु ध्मश्च धेटश्च* (म० भा०)। नासिकन्धमः। नासिकन्धयः। तच्चैतन्नासिकास्तनयोरिति लक्षणव्यभिचारचिह्नादल्पाच्तरस्यापूर्वनिपातनाल्लभ्यते। धेटष्टित्वात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति–स्तनन्धयी।

अर्थ—कर्मभूत नासिका तथा स्तन उपपद रहते ध्मा तथा धेट् धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है।

यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है।

स्तने धेटः—स्तन उपपद रहते 'धेट्' धातु से 'खश्' होता है।

उदा० (1) स्तनन्धयः
स्तनं धयति—खश् हुआ,
स्तन म् धे शप् खश्—शप्, मुम् आगम,
स्तनं धय् अ—'अतो गुणे' से पररूप, 'नश्चाऽपदान्तस्य०' से अनुस्वार, अयादि आदेश,
स्तनन्धयः—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।

नासिकायां तु ध्मश्च धेटश्च—नासिका उपपद रहते ध्मा तथा धेट् धातुओं से 'खश्' होता है—

(2) नासिकन्धमः
नासिकां धमति—खश्, सार्वधातुक संज्ञा,
नासिका धम शप् खश्—शप्, धम आदेश,
नासिक म् धम् अ अ—मुम्, 'खित्यनव्ययस्य' से ह्रस्वादेश,
नासिकन्धम—अतो गुणें, अनुस्वार, परसवर्ण,
नासिकन्धमः—सु।

(3) नासिकन्धयः
नासिकां धयति—पूर्ववत् खश्, शप्, मुम्, ह्रस्वादेश,
नासिकन्धयः—अयादेश, अनुस्वार, परसवर्ण।

तच्चैतन्नासि—नासिका च स्तनश्च—इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर 'अल्पाच्तरम्' से 'स्तन' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त होता है, परन्तु 'नासिका' शब्द का पूर्वनिपात लक्षणव्यभिचार से ज्ञात होता है कि यहाँ उपपद और धातु में यथासंख्य नियम लागू नहीं होता। अतः नासिका व स्तन इन दोनों उपपदों के रहते पर्यायेण ध्मा व धेट्—इन दोनों धातुओं से 'खश्' होता है।

(4) स्तनन्धयी
स्तनन्धय—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'धेट्' के टित् होने से—'टिड्ढाऽण्०' से 'ङीप्' हुआ।

(799) नाडीमुष्ट्योश्च *30* (2945)

नाडी, मुष्टि इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्ध्माधेटोः खश् प्रत्ययो भवति। अत्रापि घ्यन्तस्यापूर्वनिपातो लक्षणव्यभिचारचिह्नम्, तेन संख्यातानुदेशो न भवति। नाडिन्धमः। मुष्टिन्धमः। नाडिन्धयः। मुष्टिन्धयः। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः–घटिन्धमः, घटिन्धयः, खरिन्धमः, खरिन्धयः (म० भा०), वातन्धमः पर्वतः, वातन्धयः।

अर्थ—कर्मभूत नाडी और मुष्टि उपपद रहते ध्मा तथा धेट् धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है।

यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता।

नाडी च मुष्टिश्च—इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर घिसञ्ज्ञक 'मुष्टि' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त होता है। परन्तु लक्षणव्यभिचारवशात् 'नाडी' शब्द का पूर्वनिपात हुआ है।

उदा० (1) नाडिन्धमः
नाडीं धमति—खश्, सार्वधातुक संज्ञा, शप्, मुम्,
नाडी मुम् ध्मा शप् खश्—धम आदेश, अनुस्वार, परसवर्ण,
नाडिन्धमः—ह्रस्वादेश, सु।

(2) मुष्टिन्धमः
मुष्टिं धमति—पूर्ववत्,
मुष्टिन्धमः—सु।

(3) नाडिन्धयः
नाडीं धयति—खश् आदि पूर्ववत्,
नाडिन्धयः—ह्रस्वादेश।

(4) मुष्टिन्धयः
मुष्टिं धयति—पूर्ववत्।

अनुक्त०—चकार का योग अनुक्त समुच्चय के लिए है। अतः निम्नलिखित स्थलों पर भी 'खश्' होता है—

(5) घटिन्धमः
घटि म् धम शप् खश्—पूर्ववत्,
घटिन्धमः—सु।

(6) घटिन्धयः
घटि धे शप् खश्—पूर्ववत्।

(7) खारिन्धमः
खारि म् ध्मा शप् खश्—पूर्ववत्,
खारिन्धमः—पूर्ववत्।

(8) खारिन्धयः
खारि म् धेट् शप् खश्—पूर्ववत्।
खारिन्धयः—सु।

(9) वातन्धमः
वात् म् ध्मा शप् खश्—पूर्ववत्।

(10) वातन्धयः
वात म् धे शप् खश्—पूर्ववत्।

(800) उदि कूले रुजिवहोः *31* (2946)

'रुजो भङ्गे' (धा०पा० 1417), 'वह प्रापणे' (धा०पा० 1005) इत्येताभ्यामुत्पूर्वाभ्यां कूले कर्मण्युपपदे खश् प्रत्ययो भवति। कूलमुद्रुजतीति कूलमुद्रुजो रथः। कूलमुद्वहः।

अर्थ—उद् पूर्वक रुज् तथा वह् धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है, कर्मभूत 'कूल' उपपद रहते।

उदा० (1) कूलमुद्रुजः
कूलम् उद्रुजति—खश्, सार्वधातुक संज्ञा,
कूल म् उद् रुज् शप् खश्—शप्, मुम्,
कूलमुद्रुजः—सु।

(2) कूलमुद्वहः
कूलम् उद्वहति—पूर्ववत्।

(801) वहाभ्रे लिहः *32* (2947)

वह, अभ्र इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः लिहेर्धातोः खश् प्रत्ययो भवति। वहं लेढीति वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहो वायुः।

अर्थ—कर्मभूत वह तथा अभ्र उपपद रहते 'लिह्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वहंलिहः
वहं लेढि—खश् आदि पूर्ववत्,
वह लिह् शप् खश्—पूर्ववत्,
वहंलिहः—मुम्, अनुस्वार, पररूप।

(2) अभ्रंलिहः
अभ्र म् लिह् शप् खश्—पूर्ववत्।

(802) परिमाणे पचः *33* (2948)

परिमाणं प्रस्थादि, तस्मिन् कर्मण्युपपदे पचेः खश् प्रत्ययो भवति। प्रस्थं पचति प्रस्थम्पचा स्थाली। द्रोणम्पचः। खारिम्पचः कटाहः।

अर्थ—परिमाणवाची कर्म उपपद रहते पच् धातु से 'खश्' होता है।

उदा० (1) प्रस्थम्पचा (स्थाली)
प्रस्थं पचति—'प्रस्थ' परिमाणवाची कर्म है, इसके उपपद रहते 'पच्' से 'खश्' हुआ,
प्रस्थ म् पच् शप् खश्—पूर्ववत्,
प्रस्थम्पच—अनुस्वार, परसवर्ण, पररूप,
प्रस्थम्पचा—स्त्रीत्व में टाप्, सु, सुलुक्।

(2) द्रोणम्पचः (पूर्ववत्)।

(3) खारिम्पचः (कटाहः)
खारी म् पच् शप् खश्—पूर्ववत्,
खारिम्पचः—ह्रस्वादेश, सु।

(803) मितनखे च *34* (2949)

मित, नख इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचेः खश्प्रत्ययो भवति। अपरिमाणार्थ आरम्भः। मितं पचति मितम्पचा ब्राह्मणी। नखम्पचा यवागूः।

अर्थ—कर्मभूत मित तथा नख उपपद रहते 'पच्' धातु से 'खश्' होता है। परिमाण से भिन्न अर्थ में नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) मितम्पचा (ब्राह्मणी)
मितं पचति—खश् आदि पूर्ववत्,
मितम्पचा—स्त्रीत्व में 'टाप्'।

(2) नखम्पचा (यवागूः)
नख म् पच् शप् खश्—पूर्ववत्।

(804) विध्वरुषोस्तुदः *35* (2950)

विधु, अरुष् इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः तुदेर्धातोः खश्प्रत्ययो भवति। विधुन्तुदो राहुः। अरुन्तुदः।

अर्थ—कर्मभूत विधु तथा अरुष् उपपद रहते तुद् धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) विधुन्तुदः
विधुं तुदति—खश् आदि,
विधु म् तुद् श खश्—'श' प्रत्यय, पूर्ववत्।
विधुन्तुदः—अनुस्वार, परसवर्ण आदि।

(2) अरुन्तुदः
अरु तुदति—खश् आदि,
अरु म् स् तुद् श खश्—मुम्, श आदि,
अरुम् तुद् अ—संयोगान्तस्य लोपः, अतो गुणे,
अरुन्तुदः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(805) असूर्यललाटयोर्दृशितपोः *36* (2951)

असूर्य, ललाट इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः दृशितपोर्धात्वोः खश्प्रत्ययो भवति। असूर्यम्पश्या राजदाराः। ललाटन्तप आदित्यः। असूर्य इति चासमर्थसमासोऽयम्, दृशिना नञः सम्बन्धात्। सूर्यं न पश्यन्तीति। गुप्तिपरं चैतत्—एवं नाम गुप्ता यदपरिहार्यदर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्तीति।

अर्थ—कर्मभूत असूर्य तथा ललाट उपपद रहते दृश् तथा तप् धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है।

'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' से यथासंख्य नियम लागू होता है।

उदा० (1) असूर्यम्पश्याः (राजदाराः)
सूर्यं न पश्यन्ति—खश् आदि,
नञ् सूर्य दृश् खश्—मुम्, शप्, पश्यादेश,
असूर्यम्पश्याः—अनुस्वार, परसवर्ण, जस्।

(2) ललाटन्तपः (आदित्यः)
ललाटं तपति—खश् शप्, मुम्,
ललाटन्तपः—अनुस्वार, परसवर्ण।

यद्यपि दृश् धातु के साथ नञ् का सम्बन्ध होने से 'असूर्य' इसमें सामर्थ्य न होने पर भी समास हो गया है। विग्रह इस प्रकार है—

सूर्यं न पश्यन्तीति—असूर्यम्पश्या।

यह प्रयोग गुप्तिपरक है। सूर्य के दर्शन को टाला नहीं जा सकता, तदपि अन्तःपुर की रानियाँ उसे देख नहीं पाती हैं।

(806) उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च *37* (2952)

उग्रम्पश्य, इरम्मद, पाणिन्धम इत्येते शब्दा निपात्यन्ते। उग्रं पश्यतीत्युग्रम्पश्यः। इरया माद्यतीतीरम्मदः। पाणयो ध्मायन्ते एष्विति पाणिन्धमाः पन्थानः।

अर्थ—उग्रम्पश्य, इरम्मद तथा पाणिन्धम—ये खश् प्रत्ययान्त शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) उग्रम्पश्यः
उग्रं पश्यति—खश्, शप्, पश्यादेश, मुम्,
उग्रम्पश्यः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) इरम्मदः
इरया माद्यति → इरा म् मद् खश्—निपातन से 'श्यन्' का अभाव,
इरम्मदः—ह्रस्वादेश।

(3) पाणिन्धमाः (पन्थानः)
पाणयो ध्मायन्ते एषु/अत्र—पूर्ववत्,
पाणिन्धमाः—जस्।

(807) प्रियवशे वदः खच् *38* (2953)

प्रिय, वश इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्वदेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति। प्रियं वदतीति प्रियंवदः। वशंवदः। चकारः 'खचि ह्रस्वः' (6.4.94) इति विशेषणार्थः। खकारो मुमर्थः। प्रत्ययान्तरकरणमुत्तरार्थम्। *खच्-प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम्* (म०भा०)। मितङ्गमो हस्ती। मितङ्गमा हस्तिनी। *विहायसो विह च* (म०भा०)। विहायसा गच्छति विहङ्गमः। *खच्च डिद्वा वक्तव्य* (म०भा०)। विहङ्गः। विहङ्गमः। *डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः* (म०भा०)। विहगः।

अर्थ—प्रिय तथा वश कर्म उपपद रहते 'वद्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) प्रियंवदः
प्रियं वदति—खश्,
प्रिय म् वद् शप् खश्—पूर्ववत्।
प्रियंवदः—अनुस्वार।

(2) वशंवदः
वशं वदति—पूर्ववत्।

सूत्रस्थ 'खच्' में चकार अनुबन्ध का प्रयोजन यह है कि 'खचि ह्रस्वः' में 'खच्' का ग्रहण हो सके। खकार अनुबन्ध का प्रयोजन मुम् आगम है। खश् के स्थान पर 'खच्' किया गया है, ताकि उत्तरशास्त्र में अनुवर्त्तन किया जा सके।

खच् प्रकरणे गमः सुप्युपसङ्ख्यानम्—सुबन्त उपपद रहते 'गम्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है—

(3) मितङ्गमः
मितं गच्छति—खच्, मुम् आदि,
मित् म् गम् अ—शित् न होने से गच्छ आदेश नहीं हुआ,
मितङ्गमः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(4) मितङ्गमा
मितङ्गम टाप्—स्त्रीत्व में,
मितङ्गमा—सु, सुलुक्।

विहायसो विह च—विहायस् शब्द के स्थान पर 'विह' होता है तथा इसके उपपद रहते 'गम्' धातु से 'खच्' होता है—

(5) विहङ्गमः
विहायसा गच्छति—विह आदेश, खच् प्रत्यय,
विहङ्गमः—मुम् आदि पूर्ववत्।

खच्च डिद्वा वक्तव्यः—खच् प्रत्यय डित् विकल्प से होता है—

(6) विहङ्गः
विहायस् गम् खच्—डित् पक्ष में टिलोप, विह आदेश,
विह म् ग् अ → विहङ्गः—मुम् सु।

(7) विहङ्गमः
विहायस् गम् खच—डित् अभाव पक्ष में मुम्, विहादेश,
विहङ्गमः—पूर्ववत्।

डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः—विहायस् शब्द के स्थान पर विहादेश तथा इसके उपपद रहते 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है।

(8) विहगः
विहायस् गम् ड—डित् होने से टिलोप,
विह ग् अ—खित् न होने से मुम् नहीं हुआ,
विहगः—सु।

(808) द्विषत्परयोस्तापेः *39* (2954)

द्विषत्परयोः कर्मणोरुपपदयोस्तापेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति। 'तप दाहे' (धा०पा० 1819) चुरादिः, 'तप सन्तापे' (धा०पा० 986) भ्वादिः, द्वयोरपि ग्रहणम्। द्विषन्तं तापयति द्विषन्तपः। परन्तपः। द्विषत्पर-योरिति द्वितकारको निर्देशः, तेन स्त्रियां न भवति-द्विषतीं तापयति द्विषतीतापः।

अर्थ—'द्विषत्' तथा 'पर' कर्म उपपद रहते ण्यन्त 'तप्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है।

णिच् प्रत्ययान्त 'तापि' धातु का पञ्चमी एकवचन में 'तापेः' रूप बनता है।

धातुपाठ में 'तप्' धातु का दो बार पाठ उपलब्ध होता है—
(क) तप सन्तापे (चु०),
(ख) तप दाहे (भ्वा०)।
यहाँ दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) द्विषन्तपः
द्विषन्तं तापयति—'खच्' हुआ, मुम् हुआ,
द्विषत् तापि खच्—मुम्, 'णेरनिटि' से 'णिच्' का लोप, संयोगान्तलोप,
द्विषन्तपः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) परन्तपः
परं तापयति—पूर्ववत्।

द्विषत्०—'द्विषत्परयोः' यहाँ दो तकारों वाला निर्देश है। तब तकारान्त जो 'द्विषत्' शब्द, उससे पर 'तप्' धातु से 'खच्' होता है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में 'खच्' नहीं होता। यथा—

द्विषतीं तापयति—द्विषतीतापः। यहाँ तकारान्त (द्विषत्) शब्द नहीं है, अपितु ङीबन्त है। अतः 'खच्' नहीं हुआ।

(809) वाचि यमो व्रते *40* (2956)

वाक्शब्दे कर्मण्युपपदे यमेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति व्रते गम्यमाने। व्रत इति शास्त्रितो नियम उच्यते। वाचंयम आस्ते। व्रत इति किम्? वाग्यामः।

अर्थ—कर्मवाची 'वाच्' उपपद रहते 'यम्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है, 'व्रत' गम्यमान रहते।

उदा० (1) वाचंयमः
वाचं यच्छति—'खच्' हुआ,
वाच् यम् खच्—'वाचंयमपुरन्दरौ च' से अमन्तता,
वाचंयमः—सु।

व्रते अर्थात् **व्रत** अर्थ में वर्त्तमान 'यम्' से 'खच्' होता है—

(2) वाग्यामः
वाच् यम् अण्—'व्रत' अर्थ न होने से 'खच्' नहीं हुआ।

(810) पूःसर्वयोर्दारिसहोः *41* (2958)

पुर, सर्व इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्यथासंख्यं दारिसहोर्धात्वोः खच् प्रत्ययो भवति। पुरं दारयति पुरन्दरः। सर्वंसहो राजा। *भगे च दारेरिति वक्तव्यम्*। भगन्दरः।

अर्थ—कर्मवाची पुर् तथा सर्व उपपद रहते यथासंख्य करके ण्यन्त 'दृ' धातु तथा 'सह्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पुरन्दरः
पुरं दारयति—'खच्' हुआ, आर्धधातुक संज्ञा, गुण,
पुर दृ णिच् खच्—'वाचंयमपुरन्दरौ' से अमन्तता, णिलोप,
पुरम दर् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
पुरन्दरः—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(2) सर्वंसहः
सर्वं सहते—खच्, 'अरुर्द्विषद०' से मुम्,
सर्व म् सह् खच्—अनुस्वार,
सर्वंसहः—सु।

भगे च दारेरिति वक्तव्यम्—भग उपपद रहते 'दारि' (दृ णिच्) से 'खच्' होता है—

(3) भगन्दरः
भगं दारयति—'खच्' हुआ,
भगन्दरः—पूर्ववत्।

(811) सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः *42* (2959)

सर्व, कूल, अभ्र, करीष इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कषेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति। सर्वं कषति सर्वङ्कषः खलः। कूलङ्कषा नदी। अभ्रङ्कषो गिरिः। करीषङ्कषा वात्या।

अर्थ—कर्मवाची सर्व, कूल, अभ्र तथा करीष उपपद रहते 'कष्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सर्वङ्कषः
सर्वं कषति—'खच्' हुआ, मुम् आगम, अनुस्वार,
सर्वङ्कषः—परसवर्ण, सु।

(2) कूलङ्कषा (नदी)
कूल म् कष् खच् टाप्—पूर्ववत्,
कूलङ्कषा—सु, सुलुक्।

(3) अभ्रङ्कषः
अभ्र म् कष् खच्—पूर्ववत्,
अभ्रङ्कषः—सु।

(4) करीषङ्कषा (वात्या)
करीष म् कष् अ—पूर्ववत्,
करीषङ्कषा—टाप्।

(812) मेघर्त्तिभयेषु कृञः *43* (2960)

मेघ, ऋति, भय इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कृञः खच् प्रत्ययो भवति। मेघङ्करः। ऋतिङ्करः। भयङ्करः। उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति। अभयङ्करः।

अर्थ—कर्मभूत मेघ, ऋति तथा भय उपपद रहते 'कृञ्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) मेघङ्करः
मेघं करोति → मेघ म् कृ खच्—मुम् आदि,
मेघङ्करः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) ऋतिङ्करः
ऋति म् कृ खच्—पूर्ववत्,
ऋतिङ्करः—गुण आदि।

(3) भयङ्करः
भय म् कृ खच्—पूर्ववत्।

उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति—भय आदि शब्दों के उपपद रहते तथा भय आदि शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे शब्द के उपपद रहते भी 'कृ' धातु से 'खच्' होता है—

(4) अभयङ्करः
अभयम् कृ खच्—पूर्ववत्।

(813) क्षेमप्रियमद्रेऽण् च *44* (2961)

क्षेम, प्रिय, मद्र इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु करोतेरण् प्रत्ययो

भवति चकारात्खच्च। क्षेमकारः। क्षेमङ्करः। प्रियकारः। प्रियङ्करः। मद्रकारः। मद्रङ्करः। वेति वक्तव्ये पुनरण्ग्रहणं हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थम्।

अर्थ—कर्मवाची क्षेम, प्रिय तथ मद्र उपपद रहते 'कृ' से 'अण्' प्रत्यय होता है तथ पक्ष में 'खच्' भी होता है।

उदा० (1) क्षेमकारः
क्षेमं करोति → क्षेम कृ अण्—'अचो ञ्णिति' से वृद्धि,
क्षेमकार् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
क्षेमकारः—सु।

(2) क्षेमङ्करः
क्षेम म् कृ खच्—पक्ष में खच्, मुम्, गुण,
क्षेमङ्करः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) प्रियकारः—प्रिय कृ अण्।

(4) प्रियङ्करः
प्रियम् कृ खच्—पक्ष में 'खच्'।

(5) मद्रकारः
मद्र कृ अण्।

(6) मद्रङ्करः
मद्र म् कृ खच्—पक्ष में 'खच्'।

वेति०—प्रकृत सूत्र में 'वा' पद का ग्रहण करने से भी 'खच्' प्रत्यय तथा पक्ष में 'अण्' प्राप्त होता है; परन्तु यहाँ पुनः 'अण्' पद का ग्रहण हेतु आदि अर्थों में प्राप्त 'ट' प्रत्यय के निषेध के लिए है।

(814) आशिते भुवः करणभावयोः *45* (2962)

अत्र सुपीत्युपतिष्ठते। आशितशब्दे सुबन्ते उपपदे भवतेर्धातोः करणे भावे चार्थे खच् प्रत्ययो भवति। आशितो भवत्यनेन आशितम्भव ओदनः। भावे-आशितस्य भवनम् आशितम्भवं वर्त्तते।

अर्थ—यहाँ 'सुपि' पद का सम्बन्ध है।

सुबन्त 'आशित' उपपद रहते 'भू' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है, भाव तथा करण अर्थों में।

उदा० (1) आशितम्भवः
आशितो भवत्यनेन—करण में 'खच्' हुआ,
आशित म् भू खच्—मुम् आदि,
आशितम्भवः—गुण, अवादेश।

(2) आशितम्भवम्
आशितस्य भवनम्—भाव में 'खच्' हुआ।
'कर्त्तरि कृत्' से कर्त्ता अर्थ में ही 'खच्' प्राप्त था।

(815) संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः *46* (2963)

कर्मणीति सुपीति च प्रकृतं संज्ञावशाद्यथासम्भवं सम्बध्यते। भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सहि, तपि, दम-इत्येतेभ्यो धातुभ्यः संज्ञायां विषये खच्प्रत्ययो भवति। विश्वम्भरा वसुन्धरा। रथन्तरं साम। पतिंवरा कन्या। शत्रुञ्जयो हस्ती। युगन्धरः पर्वतः। शत्रुंसहः। शत्रुन्तपः। अरिन्दमः। संज्ञायामिति किम्? कुटुम्बं बिभर्त्तीति कुटुम्बभारः।

अर्थ—'कर्मणि' तथा 'सुपि'—इन दोनों पदों का संज्ञावशात् यथासम्भव सम्बन्ध है। कर्मवाची या सुबन्त उपपद रहते भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सहि, तपि तथा दम्—इन धातुओं से 'खच्' प्रत्यय होता है, संज्ञा गम्यमान रहते।

उदा० (1) विश्वम्भरा
विश्वं बिभर्ति—खच्, मुम्,
विश्व म् भृ खच्—गुण, अनुस्वार, परसवर्ण,
विश्वम्भरा—टाप्, सु।

(2) वसुन्धरा
वसु म् धृ खच्—पूर्ववत्।

(3) रथन्तरम् (साम)
रथेन तरति—पूर्ववत्,
रथ म् तॄ खच्।

(4) पतिंवरा (कन्या)
पतिं वृणुते—पूर्ववत्,
पति म् वृ खच्।

(5) शत्रुञ्जयः
शत्रून् जयति—पूर्ववत्,
शत्रु म् जि खच्—गुण, परसवर्ण आदि।

(6) युगन्धरः
युगं धारयति—पूर्ववत्, णिलोप,
युग म् धृ खच्—परसवर्ण आदि।

(7) शत्रुंसहः
शत्रून् सहते—पूर्ववत्,
शत्रु म् सह् खच्।

(8) शत्रुन्तपः
शत्रुं तपति—पूर्ववत्।

(9) अरिन्दमः
अरीन् दमयति—पूर्ववत्।

सञ्ज्ञायाम्० अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो 'खच्' होता है—

(10) कुटुम्बभारः
कुटुम्बं बिभर्त्ति—संज्ञा गम्यमान नहीं है, अतः 'खच्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ,
कुटुम्बभारः—वृद्धि।

(816) गमश्च *47* (2964)

गमेर्धातोः सुप्युपपदे संज्ञायां विषये खच्प्रत्ययो भवति। सुतङ्गमो नाम यस्य सौतङ्गमिः पुत्रः। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—सुबन्त उपपद रहते 'गम्' धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) सुतङ्गमः
सुतं गच्छति—खच्, मुम्,
सुत म् गम् खच्—अनुस्वार, परसवर्ण,
सुतङ्गमः—सु।

(2) सौतङ्गमिः
सुतङ्गमस्य पुत्रः—'अत इञ्' से 'इञ' हुआ,
सौतङ्गमिः—आदिवृद्धि।

योगविभाग उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए है।

(817) अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः *48* (2965)

संज्ञायामिति नानुवर्त्तते। अन्त, अत्यन्त, अध्वन्, दूर, पार, सर्व, अनन्त इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु गमेर्डप्रत्ययो भवति। अन्तगः। अत्यन्तगः। अध्वगः। दूरगः। पारगः। सर्वगः। अनन्तगः। डकारष्टिलोपार्थः, डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यादिति। *डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। सर्वत्रगः। पन्नगः। *उरसो लोपश्च* (म०भा०)। उरसा गच्छतीत्युरगः। *सुदुरोरधिकरणे* (म०भा०)। सुखेन गच्छत्यस्मिन्निति सुगः। दुर्गः। *निरो देशे* (म०भा०)। निर्गो देशः। अपर आह-*डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यत इति* (म० भा०)। स्त्र्यगारगः। ग्रामगः। गुरुतल्पगः।

अर्थ—'सञ्ज्ञायाम्' पद की अनुवृत्ति नहीं है।

अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व तथा अनन्त—इन कर्मवाची उपपदों के रहते 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है।

डकार की 'चुटू' से इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) अन्तगः
अन्तं गच्छति → अन्त गम् ड
अन्तगः—टिलोप।

(2) अत्यन्तगः
अत्यन्त ग् अ सु—पूर्ववत्।

(3) अध्वगः
अध्व गम् ड—पूर्ववत्,
अध्वगः—सु।

(4) दूरगः
दूर गम् ड—पूर्ववत्,
दूरगः—सु।

(5) पारगः
पार गम् ड—पूर्ववत्।

(6) सर्वगः
सर्व गम् ड—पूर्ववत्।

(7) अनन्तगः
अनन्त गम् ड—पूर्ववत्।

डकार अनुबन्ध टिलोप के लिए है। डित् परे रहते भसंज्ञा प्राप्त न रहते भी अनुबन्धकरणसामर्थ्य से टिलोप हो जाता है।

डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसङ्ख्यानम्—सर्वत्र व पन्न उपपदों के रहते 'गम्' से 'ड' प्रत्यय होता है—

(8) सर्वत्रगः
सर्वत्र गम् ड—पूर्ववत्।

(9) पन्नगः
पन्न गम् ड—पूर्ववत्,

उरसो लोपश्च—'उरस्' के 'स्' का लोप होता है—

(10) उरगः
उरसा गच्छति—'ड' हुआ,
उर ग् अ—टिलाप, सलोप।

सुदुरोरधिकरणे—सु और दुर् उपपद रहते अधिकरण अर्थ में गम् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है—

(11) सुगः
सुखेन गच्छति → सु गम् ड।

(12) दुर्गः
दुःखेन गच्छति → दुर् गम् ड।

निरो देशे—निर् उपपद रहते 'गम्' से 'ड' प्रत्यय होता है, देश अर्थ में—

(13) निर्गो देशः
निर्गम्यतेऽस्मिन् देशे—निर् गम् ड।

डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यत इति—जो पहले कहे जा चुके हैं, उनसे अन्य उपपद रहते भी 'गम्' धातु से 'ड' होता है—

(14) स्त्र्यगारगः
स्त्र्यगारं गच्छति—स्त्र्यगार गम् ड।

(15) ग्रामगः
ग्राम गम् ड।

(10) गुरुतल्पगः
गुरु तल्प गम् ड।

(818) आशिषि हनः *49* (2966)

ड इति वर्त्तते। आशिषि गम्यमानायां हन्तेर्धातोः कर्मण्युपपदे डप्रत्ययो भवति। तिमिं वध्यात्तिमिहः। शत्रुहः। आशिषीति किम्? शत्रुघातः। *दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम्* (म० भा०)। दारावुपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण् प्रत्ययो भवति अन्तस्य च टकारादेशो भवति संज्ञायां विषये। दारु आहन्ति दार्वाघाटः। *चारौ वा* (म० भा०)। आङ्पूर्वाद्धन्तेश्चारावुपपदेऽण् अन्तस्य वा टकारादेशः। चार्वा-घाटः। चार्वाघातः। *कर्मणि समि च* (म० भा०)। कर्मण्युपपदे सम्पूर्वाद्धन्तेरणप्रत्ययोऽन्तस्य च वा टकारादेशः। वर्णान् संहन्ति वर्णसंघाटः, वर्णसंघातः। पदानि संहन्ति पदसंघाटः, पदसंघातः।

अर्थ—'ड' की अनुवृत्ति है।

कर्मवाची उपपद रहते हन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, आशीर्वाद गम्यमान हो तो।

उदा० तिमिहः
तिमिं वध्यात् (ते पुत्रः)—'ड' हुआ,
तिमि हन् ड—टिलोप,
तिमि ह् अ—प्रातिपदिक संज्ञा,
तिमिहः—सु।

(2) शत्रुहः
शत्रुं वध्यात्—पूर्ववत्।

आशिषि अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही 'हन्' से 'ड' होता है—

(3) शत्रुघातः
शत्रु हन् अण्—आशीर्वाद गम्यमान नहीं है, अतः 'ड' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ—
शत्रु हत् अ—'हनस्तोऽचिण्णमुलोः' से तकार,
शत्रु हात् अ—अत उपधायाः, 'हो हन्ते०' से कुत्व,.
शत्रुघातः—सु।

दारावाहनोऽणन्तस्य च टः सञ्ज्ञायाम्—संज्ञा के विषय में 'दारु' उपपद रहते आङ् पूर्वक हन् धातु से 'अण्' होता है तथा 'ट' अन्तादेश होता है—

(4) दार्वाघाटः
दारु आहन्ति—'दारु' उपपद रहते,
दारु आ हन् अण्—'अण्' हुआ,
दार्वा घट् अ—'ट' अन्तादेश, कुत्व,
दार्वाघाटः—अत उपधायाः, सु।

चारौ वा—संज्ञा के विषय में 'चारु' उपपद रहते आङ्पूर्वक हन् धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा 'ट' अन्तादेश विकल्प से होता है—

(5) चार्वाघाटः
चारु आहन्ति—पूर्ववत्,
चार्वाघाटः—सु।

(6) चार्वाघातः
पक्ष में 'ट' अन्तादेश नहीं हुआ।

कर्मणि समि च—कर्मवाची उपपद रहते सम्पूर्वक 'हन्' धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा टकार अन्तादेश विकल्प से होता है—

(7) वर्णसङ्घातः

वर्णान् संहन्ति—अण्, टकार अन्तादेश अभाव,
वर्ण सम् हन् अण्—तकार अन्तादेश, कुत्व,
वर्णसङ्घातः—अनुस्वार, परसवर्ण, उपधावृद्धि।

(8) पदसङ्घातः
पद सम् हन् अण्—पूर्ववत्।

(819) अपे क्लेशतमसोः *50* (2967)

अपपूर्वाद्धन्तेः क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोर्डप्रत्ययो भवति। क्लेशापहः पुत्रः। तमोपहः सूर्यः। अनाशीरर्थ आरम्भः।

अर्थ—अपपूर्वक 'हन्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, क्लेश तथा तमस् कर्म उपपद रहते।

उदा० (1) क्लेशाऽपहः
क्लेशम् अपहन्ति → क्लेश अपहन् ड—
क्लेश अप ह् अ—टिलोप,
क्लेशाऽपहः—अकः सवर्णे दीर्घः।

(2) तमोऽपहः
तमस् अप हन् ड—पूर्ववत्।

आशीर्वाद से भिन्न अर्थ के लिए नियम किया जा रहा है।

(820) कुमारशीर्षयोर्णिनिः *51* (2968)

हन इति वर्त्तते। कुमार, शीर्ष इत्येतयोरुपपदयोः हन्तेर्णिनिः प्रत्ययो भवति। कुमारघाती। शीर्षघाती। निपातनाच्छिरसः शीर्षभावः।

अर्थ—'हनः' का अनुवर्त्तन है। कर्मवाची कुमार तथा शीर्ष उपपद रहते 'हन्' धातु से णिनि प्रत्यय होता है। प्रत्यय के नकारोत्तरवर्ती इकार की तथा णकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) कुमारघाती
कुमारं हन्ति—'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से उपपद संज्ञा,
कुमार हन् णिनि—'उपपदमतिङ्' से समास,
कुमारघातिन्—अत उपधायाः, हनस्तोऽचिण्०, हो हन्ते०
कुमारघाती—सु।

(2) शीर्षघाती
'शिरस्' को निपातन से 'शीर्ष' आदेश।

(821) लक्षणे जायापत्योष्टक् *52* (2969)

हन्तेर्जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोर्लक्षणवति कर्त्तरि टक् प्रत्ययो भवति। जायाघ्नो ब्राह्मणः। पतिघ्नी वृषली। अथ वा लक्षणे द्योत्ये टक् प्रत्ययः।

अर्थ—कर्मवाची जाया और पति उपपद रहते हन् धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है यदि हन् धातु का लक्षणवान् कर्त्ता अभिधेय हो।

'हलन्त्यम्' से ककार की तथा 'चुटू' से टकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) जायाघ्नः
जायां हन्ति → जाया हन् टक्,
जाया घन् अ—'हो हन्तेः' से कुत्व,
जाया घन् अ—'गमहनजन०' से उपधालोप,
जायाघ्नः—सु।

(2) पतिघ्नी
पतिं हन्ति → पति हन् टक्,
पतिघ्न ङीप्—पूर्ववत् कुत्व, उपधालोप, स्त्रीत्व में ङीप्,
पतिघ्नी—सु, सुलुक्।

(822) अमनुष्यकर्तृके च *53* (2970)

अमनुष्यकर्तृके वर्त्तमानाद्धन्तेर्धातोः कर्मण्युपपदे टक् प्रत्ययो भवति। जायाघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्नी पाणिरेखा। श्लेष्मघ्नं मधु। पित्तघ्नं घृतम्। अमनुष्यकर्तृके इति किम्? आखुघातः शूद्रः। इह कस्मान्न भवति-चौरघातो हस्ती? 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इति बहुलवचनादण् भवति।

अर्थ—जिस हन् धातु का कर्त्ता 'मनुष्य' नहीं है, ऐसे 'हन्' धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है, कर्म उपपद रहते।

उदा० (1) पतिघ्नी (पाणिरेखा)
पतिं हन्ति → पति हन् टक्,
पति घन् अ—कुत्व,
पति घ्न् अ—उपधालोप,
पतिघ्नी—टिड्ढाऽण्०' से 'ङीप्'।

(2) श्लेष्मघ्नं (मधु)
श्लेष्माणं हन्ति—पूर्ववत्।

(3) पित्तघ्नं (घृतम्)
पूर्ववत्।

अमनुष्य० अर्थात् मनुष्य नहीं है कर्त्ता जिसका, ऐसे हन् धातु से 'टक्' होता है—

(4) आखुघातः (शूद्रः)
यहाँ मनुष्य कर्त्ता है। अतः 'टक्' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ।

निम्नलिखित में 'टक्' नहीं होता है। यथा—

(5) चौरघाती
'कृत्यल्युटो बहुलम्' से बाहुलकात् 'अण्' हो गया है।

(823) शक्तौ हस्तिकपाटयोः *54* (2971)

शक्तौ गम्यमानायां हस्तिकपाटयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् प्रत्ययो भवति। मनुष्यकर्तृकार्थ आरम्भः। हस्तिनं हन्तुं शक्तः हस्तिघ्नो मनुष्यः। कं पाटयति प्रविशत इति कपाटघ्नश्चौरः। शक्ताविति किम्? विषेण हस्तिनं हन्ति—हस्तिघातः।

अर्थ—कर्मवाची हस्ती तथा कपाट उपपद रहते 'हन्' धातु से 'टक्' प्रत्यय होता है, 'शक्ति' गम्यमान हो तो।

मनुष्य से भिन्न शब्द के कर्त्ता रहते यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) हस्तिघ्नः (मनुष्यः)
हस्तिनं हन्तुं शक्तः—हस्तिन् हन् टक्,
हस्तिघ्न् अ—उपधालोप, कुत्व।
हस्तिघ्नः—नकारलोप, सु।

(2) कपाटघ्नः (चौरः)
पूर्ववत्।

शक्ता अर्थात् शक्ति गम्यमान हो तो 'हन्' से 'टक्' होता है—

(3) हस्तिघातः
विषेण हस्तिनं हन्ति—यहाँ 'शक्ति' अर्थ नहीं है, अतः 'टक्' नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ,
हस्तिन् घत् अण्—तकारान्तादेश, कुत्व,
हस्तिन् घात् अ—अत उपधायाः, नकारलोप,
हस्तिघातः—सु।

(824) पाणिघताडघौ शिल्पिनि *55* (2972)

पाणिघ, ताडघ इत्येतौ शब्दौ निपात्येते शिल्पिनि कर्तरि। पाणि, ताड इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्धातो कः प्रत्ययो भवति, तस्मिंश्च परतो हन्तेष्टिलोपो घत्वं च निपात्यते। पाणिघः। ताडघः। शिल्पिनीति किम्? पाणिघातः, ताडघातः। *राजघ उपसंख्यानम्* (म०भा०)। राजानं हन्ति राजघः।

अर्थ—शिल्पी कर्त्ता वाच्य हो तो पाणिघ व ताडघ शब्द निपातनसिद्ध होते हैं।

उदा० (1) पाणिघः
पाणिभ्यां हन्ति—'पाणिभ्याम्' सुबन्त उपपद रहते 'हन्' धातु से निपातन से 'क' हुआ,
पाणि हन् क—निपातन से टिलोप तथा घत्व,
पाणि ह् अ — पाणिघः—सु।

(2) ताडघः (पूर्ववत्)।

शिल्पिनि अर्थात् शिल्पी कर्त्ता वाच्य हो तो पूर्वोक्त निपातन किया जाता है—

(3) पाणिघातः
यहा शिल्पी कर्त्ता वाच्य नहीं है, अतः निपातन से 'क' प्रत्यय नहीं हुआ, सामान्य 'अण्' हुआ।

(4) ताडघातः
पूर्ववत् 'अण्' हुआ।

राजघ उपसङ्ख्यानम्—'राजघ' शब्द निपातनसिद्ध है—

(5) राजघः
राजानं हन्ति—पूर्ववत्।

(825) आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् *56* (2973)

आढ्यादिषु कर्मसूपपदेषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु करोतेर्धातोः करणे कारके ख्युन्प्रत्ययो भवति। च्वेर्विकल्पेन विधानाद् द्विविधाश्च्व्यर्थाः-च्व्यन्ता अच्व्यन्ताश्च। तत्र च्व्यन्ताः पर्युदस्यन्ते। अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनेन आढ्यङ्करणम्। सुभगङ्करणम्। स्थूलङ्करणम्। पलितङ्करणम्। नग्नङ्करणम्। अन्धङ्करणम्। प्रियङ्करणम्। च्व्यर्थेष्विति किम्? आढ्यं तैलेन कुर्वन्ति। अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः। प्रकृतेरविवक्षायामभूतप्रादुर्भावेऽपि प्रत्युदाहरणं भवति। अच्वाविति किम्? आढ्यीकुर्वन्त्यनेन। ननु च ख्युना मुक्ते ल्युटा भवितव्यम्, न च ल्युटः ख्युनश्च विशेषोऽस्ति (म०भा०), तत्र किं प्रतिषेधेन? एवं तर्हि प्रतिषेधसामर्थ्यात् ख्युन्यसति ल्युडपि न भवति, तेन ल्युटोऽप्ययमर्थतः प्रतिषेधः। उत्तरार्थश्च च्विप्रतिषेधः क्रियते।

अर्थ—कर्मभूत, च्वि प्रत्यय से रहित परन्तु च्वि प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध तथा

प्रिय—इन उपपदों के रहते करण अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' धातु से 'ख्युन्' प्रत्यय होता है।

ख्युन् के नकार की 'हलन्त्यम्' से तथा खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। शेष 'यु' रहता है। 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश होता है। खित् करने का प्रयोजन 'मुम्' आगम करना है। करण अर्थ में विहित होने से नपुँसक लिङ्ग होता है।

च्वि के विकल्प से विधान होने से च्वि के अर्थ वाले दो प्रकार के होते हैं—च्वि प्रत्ययान्त तथा जो च्वि प्रत्ययान्त नहीं हैं। यहाँ च्वि प्रत्ययान्त का निषेध है (तथा जो च्वि प्रत्यय के अर्थ में है, उसका ग्रहण है)।

उदा० (1) आढ्यङ्करणम्

अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्त्यनेन → आढ्य कृ ख्युन्, 'कृभ्वस्ति०' से च्वि प्राप्त था,

आढ्य म् कृ अन—अनुस्वार, परसवर्ण,

आढ्यङ्करणम्—गुण, णत्व।

(2) सुभगङ्करणम् (पूर्ववत्)।

(3) स्थूलङ्करणम्

स्थूल म् कृ ख्युन्—पूर्ववत्।

(4) पलितङ्करणम् (पूर्ववत्)।

(5) नग्नङ्करणम् (पूर्ववत्)।

(6) अन्धङ्करणम् (पूर्ववत्)।

(7) प्रियङ्करणम् (पूर्ववत्)।

च्व्यर्थेषु अर्थात् च्वि अर्थ में वर्त्तमान आढ्य आदि के उपपद रहते 'ख्युन्' होता है—

आढ्यं तैलेन कुर्वन्ति—यहाँ च्वि अर्थ नहीं है, अतः 'ख्युन्' नहीं हुआ। प्रकृति के कथित न होने से अभूतप्रादुर्भाव में भी प्रत्युदाहरण होता है।

अच्वौ अर्थात् च्विप्रत्ययान्त न होने पर ही 'ख्युन्' होता है—आढ्यीकुर्वन्त्यनेन—यहाँ च्वि प्रत्ययान्त 'आढ्यी' उपपद है, अतः 'ख्युन्' नहीं हुआ।

तब 'ख्युन्' के न होने पर 'ल्युट्' होना चाहिए, परन्तु ल्युट् का ख्युन् से कोई विशेष नहीं है। तब निषेध किसलिए ? तब प्रतिषेध किए जाने के सामर्थ्य से ख्युन् के न होने पर ल्युट् भी नहीं होता है। ल्युट् का भी अर्थ से प्रतिषेध होता है। च्वि प्रत्यय का निषेध उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए है।

(826) कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ *57*

(2974)

आढ्यादिषु सुबन्तेषूपपदेषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु भवतेर्धातोः कर्त्तरि कारके खिष्णुच्, खुकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यम्भविष्णुः, आढ्यम्भावुकः। सुभगम्भविष्णुः, सुभगम्भावुकः। स्थूलम्भविष्णुः, स्थूलम्भावुकः। पलितम्भविष्णुः, पलितम्भावुकः। नग्नम्भविष्णुः, नग्नम्भावुकः। अन्धम्भविष्णुः, अन्धम्भावुकः। प्रियम्भविष्णुः, प्रियम्भावुकः। कर्त्तरीति किम् ? करणे मा भूत्। च्व्यर्थेष्वित्येव-आढ्यो भविता। अच्वावित्येव-आढ्यीभविता।

उदात्तत्वाद् भुवः सिद्धमिकारादित्वमिष्णुचः।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्यते॥

(म०भा०)

अर्थ—च्वि प्रत्यय से रहित, परन्तु च्वि के अर्थ में विद्यमान (पूर्वोक्त) आढ्य आदि सुबन्त उपपदों के रहते कर्त्ता अर्थ में वर्तमान 'भू' धातु से खिष्णुच् तथा खुकञ् प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं। 'खिष्णुच्' के चकार की 'हलन्त्यम्' से व खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। 'खुकञ्' के ञकार व खकार की इत् संज्ञा पूर्ववत् होती है। दोनों प्रत्ययों को 'मुम्' आगम के लिए खित् किया गया है। खुकञ् को ञित् वृद्धिकार्य के लिए किया गया है।

'कर्त्तरि कृत्' से पूर्वोक्त दोनों प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं, तदपि प्रकृत सूत्र में पुनः 'कर्त्तरि' पद का ग्रहण पूर्वशास्त्र से प्राप्त 'करणे' पद के निषेध के लिए है।

उदा० (1) आढ्यम्भविष्णुः

अनाढ्यं आढ्यो भवति—च्वि प्रत्यय नहीं है, च्वि अर्थ है, आढ्य म् भू खिष्णुच्—गुण, अनुस्वार, परसवर्ण,

आढ्यम्भविष्णुः—सु।

(2) आढ्यम्भावुकः

पूर्वोक्त स्थिति में 'खुकञ्' हुआ, वृद्धि आदेश हुआ, 'मुम्' आदि पूर्ववत्।

(3) सुभगम्भविष्णुः—सुभगम् भू खिष्णुच्।

(4) सुभगम्भावुकः—सुभग म् भू खुकञ्।

(5) स्थूलम्भविष्णुः—स्थूल म् भू खिष्णुच्।

(6) स्थूलम्भावुकः—स्थूल म् भू खुकञ्।

(7) पलितम्भविष्णुः—पलित म् भू खिष्णुच्।
(8) पलितम्भावुकः—पलित म् भू खुकञ्।
(9) नग्नम्भविष्णुः—नग्न म् भू खिष्णुच्।
(10) नग्नम्भावुकः—नग्न म् भू खुकञ्।
(11) अन्धम्भविष्णुः—अन्ध म् भू खिष्णुच्।
(12) अन्धम्भावुकः—अन्ध म् भू खुकञ्।
(13) प्रियम्भविष्णुः—प्रिय म् भू खिष्णुच्।
(14) प्रियम्भावुकः—प्रिय म् भू खुकञ्।

च्व्यर्थेषु अर्थात् अभूततद्भाव अर्थ में ही पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

(15) आढ्यो भविता
च्वि अर्थ न होने से पूर्वोक्त कोई भी प्रत्यय नहीं हुआ।

अच्वौ अर्थात् च्वि प्रत्ययान्त न होने पर ही पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

(16) आढ्यीभविता
यहाँ च्वि प्रत्ययान्त 'आढ्यी' उपपद है। अतः पूर्वोक्त प्रत्यय नहीं होते हैं।

उदात्त०—'भू' धातु उदात्त है। इससे पर 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इट् निषेध उपलब्ध नहीं है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से इट् आगम निर्बाध प्राप्त होता है। तब 'भू' से 'खिष्णुच्' के स्थान पर 'ख्स्नु' करने से लाघव होता है तथा इट् आगम होकर 'इष्णु' ही रहता है।

(समा०) 'कृत्योकेष्णुच्०' (6.2.160) के द्वारा नञ् से उत्तर कृत्य, उक, इष्णुच् अन्त वाले शब्द उदात्त होते हैं। इस सूत्र में 'इष्णुच्' यह प्रतिपदोक्त है तथा इट् आगमयुक्त 'ख्स्नु' वाला 'इष्णुच्' लाक्षणिक है। चूँकि प्रतिपदोक्त व लाक्षणिक के विषय में प्रतिपदोक्त ही लिया जाता है—इस वचन के आधार पर 'कृत्योकेष्णुच् चार्वादयश्च' सूत्र के द्वारा प्रतिपदोक्त 'इष्णुच्' का ही ग्रहण होता है; लाक्षणिक 'इष्णुच्' (इट्युक्त ख्स्नु) का नहीं। तब 'अनाढ्यम्भविष्णुः' इस स्थल पर 'कृत्योकेष्णुच्०' के द्वारा अन्तोदात्तता हो जाय—इसके लिए सूत्र में 'इष्णुच्' का पाठ किया गया है।

(827) स्पृशोऽनुदके क्विन् *58* (432)

स्पृशेर्धातोरनुदके सुबन्त उपपदे क्विन्प्रत्ययो भवति। ननु च सकर्मकत्वात्स्पृशेः कर्मण्येवोपपदं प्राप्नोति? नैष दोषः, कर्तरीति पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते, तत्कर्तृप्रचयार्थं विज्ञायते-सुबन्तमात्रे चोपपदे कर्तृप्रचयो लभ्यते। घृतं स्पृशति घृतस्पृक्। मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक्। जलेन स्पृशति जलस्पृक्। अनुदक इति किम्? उदकस्पर्शः। नकारः 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (8.2.62) इति विशेषणार्थः।

अर्थ—स्पृश् धातु से 'क्विन्' होता है, यदि 'उदक' शब्द को छोड़कर अन्य सुबन्त उपपद हो तो।

क्विन् में इकार उच्चारणार्थ है। नकार की 'हलन्त्यम्' से तथा ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। इन सभी का 'तस्य लोपः' से लोप हो जाने पर 'व्' शेष रहता है। अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से इसकी अपृक्त संज्ञा होकर 'वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'क्विन्' का सर्वापहार लोप होता है।

ननु च०—स्पृश् धातु के सकर्मक होने से उससे 'कर्मणि' पद का सम्बन्ध होता है तथा यहाँ कर्मवाची उपपद होना चाहिए, परन्तु यहाँ यह दोष नहीं है। यहाँ 'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से आ रही है। अतः कर्तृप्रत्यय के लिए यह जानना चाहिए। सुबन्तमात्र उपपद रहते कर्तृप्रत्यय प्राप्त होता है।

उदा० (1) घृतस्पृक्
घृतं स्पृशति → घृत स्पृश् क्विन्—सर्वापहारलोप,
घृतस्पृश् स—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
घृतस्पृश्—हल्ङ्यादिलोप,
घृतस्पृग्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः,[1] झलां जशोऽन्ते,
घृतस्पृग्,—क्—वाऽवसाने।

(2) मन्त्रस्पृक्
मन्त्रेण स्पृशति—पूर्ववत्।

(3) जलस्पृग्
जलेन स्पृशति—पूर्ववत्।

अनुद० अर्थात् उदक शब्द को छोड़कर अन्य उपपद हो तो 'क्विन्' होता है—

(4) उदकस्पर्शः
यहाँ 'क्विन्' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ है।

क्विन् में 'न्' अनुबन्ध का प्रयोजन यह है कि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' में इसका ग्रहण हो सके; अन्यथा 'क्वि' के द्वारा क्विन् व क्विप् दोनों का ग्रहण हो जाता है।

1. घृतस्पृश्—इस दशा में 'व्रश्चभ्रस्ज०' से षकार, 'झलां जशोऽन्ते' से डकार, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' से गकार होकर भी रूप बनता है।

(828) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च *59* (373)

ऋत्विगादयः पञ्च शब्दाः क्विन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। अपरे त्रयो धातवो निर्दिश्यन्ते। ऋतुशब्द उपपदे यजेर्धातोः क्विन् प्रत्ययो निपात्यते-ऋतौ यजति, ऋतुं वा यजति, ऋतुप्रयुक्तो वा यजति ऋत्विक्। रूढिरेषा यथाकथञ्चिदनुगन्तव्या। धृषेः क्विन् प्रत्ययो द्विर्वचनमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते-धृष्णोतीति दधृक्। सृजेः कर्मणि क्विन् अमागमश्च निपात्यते—सृजन्ति तामिति स्रक्। दिशेः कर्मणि क्विन्निपात्यते—दिशन्ति तामिति दिक्। उत्पूर्वात्स्निहेः क्विन्नुपसर्गान्तलोपः षत्वं च निपात्यते—उष्णिक्। अञ्चु, युजि, क्रुञ्च इत्येतेषां धातूनां क्विन् प्रत्ययो भवति। निपातनैः सह निर्देशादत्रापि किञ्चिदलाक्षणिकं कार्यमस्ति। अञ्चतेः सुबन्तमात्र उपपदे क्विन्प्रत्ययो भवति-प्राङ्, प्रत्यङ्, उदङ्। युजेः क्रुञ्चेश्च केवलादेव—युङ्, युञ्जौ, युञ्जः। सोपपदात्तु 'सत्सूद्विष' (3.2.61) इत्यादिना क्विप् भवति—अश्वयुक्, अश्वयुजौ, अश्वयुजः। क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः। नलोपः कस्मान्न भवति? निपातनसाहचर्यात्।

अर्थ—ऋत्विग् आदि क्विन् प्रत्ययान्त पाँच शब्द निपातनसिद्ध हैं। शेष तीन धातुओं का निर्देश है। चूँकि इन शब्दों का पाठ क्विन्-प्रकरण में किया गया है, अतः ये क्विन् प्रत्ययान्त निपातित हैं। 'युजि' पद में इक्निर्देश नहीं है, अपितु युजिर् धातु का अनुकरण है। अतः यहाँ 'युज समाधौ' का ग्रहण नहीं होता; अपितु 'युजिर् योगे' का ग्रहण होता है।

उदा० (1) ऋत्विग्

ऋतौ ऋतुं वा यजति—'ऋतु' उपपद रहते 'यज्' से निपातनात् 'क्विन्' हुआ,

ऋतु यज् क्विन्—सर्वापहार लोप,

ऋतु इअ ज्—सम्प्रसारण, पूर्वरूप,

ऋत्विज् सु—यणादेश, सु,

ऋत्विज्—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से सकारलोप,

ऋत्विग्—'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' (8.2.62) से कुत्व तथा 'चोः कुः' (8.2.30) से भी कुत्व युगपत् प्राप्त होते हैं, पर होने से प्रथम 'क्विन् प्रत्ययस्य०' से कुत्व हुआ, अन्त में 'चोः कुः' से भी कुत्व हुआ,

ऋत्विग्, क्—वाऽवसाने।

(2) दधृग्

धृष् क्विन्—निपातन से क्विन् प्रत्यय, द्विर्वचन,

धृष् धृष् क्विन्—अभ्यासकार्य, हलादिः शेषः, उरत्, हलादिः शेषः, अभ्यासे चर्च,

दधृष्—सर्वापहार लोप,

दधृड्—झलां जशोऽन्ते,

दधृग्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः,

दधृग्, क्—वाऽवसाने।

(3) स्रक्

सृजन्ति ताम् → सृज् क्विन्—निपातन से कर्म कारक में क्विन् तथा 'अम्' आगम,

सृ अम् ज्—सर्वापहार लोप,

स्रज् सु—हल्ङ्यादि लोप,

स्रक्—कुत्व।

(4) दिक्

दिशन्ति ताम्—निपातन से कर्म कारक में क्विन्,

दिश् क्विन् → दिश्—सर्वापहार लोप,

दिश् स् → दिश्—हल्ङ्यादि लोप,

दिश् → दिष्—व्रश्चभ्रस्ज०,

दिड् → दिग्—झलां जशोऽन्ते, क्विन् प्रत्ययस्य कुः,

दिग्, दिक्—वाऽवसाने।

(5) उष्णिग्

उद् स्निह् क्विन्—निपातन से क्विन्, उपसर्गान्त का लोप, सर्वापहार लोप

उस्निह् → उष्निह्—निपातन से षत्व,

उष्णिह् सु—ष्टुत्व, सु, हल्ङ्यादिलोप,

उष्णिह् → उष्णिघ्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः,

उष्णिग्, क्—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

अञ्चु०—अञ्चु, युजि तथा क्रुञ्च—इन धातुओं से क्विन् प्रत्यय होता है। निपातनों के साथ निर्देशन से यहाँ कुछ लाक्षणिक कार्य भी होते हैं। यथा—

(क) सुबन्तमात्र के उपपद रहते 'अञ्च्' धातु से 'क्विन्' होता है—

(6) प्राङ्

प्र अञ्च् क्विन्—सर्वापहार लोप,

प्र अच्—प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'अनिदितां हल उपधायाः०' से अनुनासिकलोप, सन्ध्यभाव की दशा में ही प्रातिपदिक संज्ञा,

प्र अच् सु—सु,
प्र अ नुम् च् स्—'उगिदचां०' से 'नुम्', हल्ङ्यादिलोप,
प्र अ न्—अनुबन्धलोप, संयोगान्तस्य लोपः,
प्र अङ्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः,
प्राङ्—अकः सवर्णे दीर्घः।

(7) प्रत्यङ्
प्रति अञ्च् क्विन्—सभी कार्य 'प्राङ्' की तरह।

उपपदरहित युज् तथा क्रुञ्च् धातुओं से ही 'क्विन्' होता है।

(8) युङ्
युज् क्विन् → युज्—सर्वापहार लोप,
यु नुम् ज्—सु, सुलुक्, 'युजेरसमासे' से 'नुम्',
युन् → युङ्—संयोगान्तस्य लोपः, क्विन् प्रत्ययस्य०।

(9) युञ्जौ
युज् औ—प्रथमा द्विवचन में 'औ',
युन् ज् औ—नुम् पूर्ववत्,
युञ्जौ—नश्चाऽपदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि०।

(10) युञ्जः
युज् जस्—नुम्, 'चुटू' से जकार की इत् संज्ञा,
युञ्जः—विसर्ग।

उपपदपूर्वक धातु से 'सत्सूद्विष०' के द्वारा 'क्विप्' होता है—

(11) अश्वयुक्
अश्व युज् क्विन्—सर्वापहार लोप,
अश्व युज् स् → अश्वयुज्—सु, हल्ङ्यादि लोप,
अश्वयुग्,—क्—कुत्व, वाऽवसाने।

(12) अश्वयुजौ
अश्वयुज् औ → अश्वयुजौ।

(13) अश्वयुजः
'जस्' में रूप बनता है।

(14) क्रुङ्
क्रुञ्च् क्विन्—सर्वापहार लोप,
क्रुञ्च् स् → क्रुञ्च्—सु, हल्ङ्यादि लोप,
क्रुन्—संयोगान्तस्य लोपः,
क्रुन्—निमित्ताऽपाये नैमित्तिक०, 'अनिदितां हल उपधायाः०' से प्राप्त अनुनासिकलोप का निपातन से निषेध,
क्रुङ्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः।

(829) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च *60*
(429)

त्यदादिषूपपदेषु दृशेर्धातोरनालोचनेऽर्थे वर्तमानात् कञ् प्रत्ययो भवति चकारात्क्विन् च। त्यादृक्, त्यादृशः। तादृक्। तादृशः। यादृक्। यादृशः। कञो ञकारो विशेषणार्थः-'ठक् ठञ् कञ्' (4.1.15) इति। अनालोचन इति किम्? तं पश्यति तद्दर्शः। तादृगादयो हि रूढिशब्द-प्रकाराः, नैवात्र दर्शनक्रिया विद्यते। *समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सदृक्। सदृशः। अन्यादृक्। अन्यादृशः। *दृशेः क्सश्च वक्तव्यः* (म०भा०)। यादृक्षः। तादृक्षः। अन्यादृक्षः। कीदृक्षः।

अर्थ—'देखना' अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्तमान दृश् धातु से 'कञ्' प्रत्यय तथा 'क्विन्' प्रत्यय होते हैं, यदि 'त्यद्' आदि सुबन्त उपपद हों।

उदा० (1) त्यादृक्
स्य इव पश्यति — त्यद् दृश् क्विन्—'आ सर्वनाम्नः' से 'आ',
त्य आ दृश्—क्विन् का सर्वापहार लोप, सु, सु का लोप,
त्यादृष् → त्यादृड्—व्रश्चभ्रस्ज०, झलां जशोऽन्ते, क्विन् प्रत्ययस्य०,
त्यादृग्, क्—वाऽवसाने।

(2) त्यादृशः
त्यद् दृश् कञ्—अनुबन्धलोप, आकार अन्तादेश,
त्य आ दृश् अ—अकः सवर्णे दीर्घः,
त्यादृश—प्रातिपदिक संज्ञा,
त्यादृशः—सु।

(3) तादृक्
स इव पश्यति—क्विन् हुआ, आकार, जश्त्व आदि,
तादृक्—पूर्ववत्।

(4) तादृशः
तद् दृश् कञ्—पूर्ववत्।

(5) यादृक्
य इव पश्यति—क्विन्, 'त्यादृक्' की तरह,

(6) यादृशः
यद् दृश् कञ्—'तादृशः' की तरह।

'कञ्' में ञकार विशेषण के लिए जोड़ा गया है। यथा—ठक्, ठञ्, कञ्।

अनालो० अर्थात् दर्शन अर्थ से भिन्न अर्थ में 'दृश्' धातु से 'कञ्' होता है—

(7) तद्दर्शः

तं पश्यति—यहाँ 'दर्शन' अर्थ है, अतः 'कञ्' नहीं हुआ।

तादृक् आदि रूढि शब्द प्रकार वाले हैं। अतः यहाँ दर्शन क्रिया नहीं है।

समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्—समान तथा अन्य उपपद रहते भी 'कञ्' तथा 'क्विन्' प्रत्यय होते हैं—

(8) सदृक्

समान दृश् क्विन्—क्विन् का सर्वापहारलोप, समान को 'स' आदेश,

सदृश् → सदृष्—'त्यादृक्' की तरह।

सदृड् → सदृग्—पूर्ववत्।

(9) सदृशः

समान दृश कञ्—'तादृशः' की तरह।

(10) अन्यादृक्

अन्य दृश् क्विप्—'तादृक्' की तरह,

अन्यादृक्—पूर्ववत्।

(11) अन्यादृशः

अन्य दृश् कञ्—'तादृशः' की तरह।

दृशेः क्सश्च वक्तव्यः—'दृश्' धातु से 'क्स' भी होता है—

(12) यादृक्षः

यद् दृश् क्स—आकार अन्तादेश, लशक्वतद्धिते,

यादृश् स—षत्व, डत्व, कुत्व,

यादृक् ष—मूर्धन्य आदेश,

यादृक्षः—सु।

(13) तादृक्षः

तद् दृश् क्स—'यादृक्षः' की तरह।

(14) अन्यादृक्षः

अन्य दृश् क्स—पूर्ववत्।

(15) कीदृक्षः

किम् दृश् क्स—'व्रश्चभ्रस्ज०' से षत्व, कत्व, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व,

किम् दृक्ष—'दृशे चेति वक्तव्यम्' तथा 'इदङ्किमोरीश्की' (6.3.90)

कीदृक्षः—विभक्तिकार्य।

(830) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् *61* (2975)

सुपीत्यनुवर्त्तते। कर्मग्रहणं तु 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (3.2.58) इत्यतः प्रभृति न व्याप्रियते। सदादिभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे उपसर्गेऽप्यनुपसर्गेऽपि क्विप्प्रत्ययो भवति। उपसर्गग्रहणं ज्ञापनार्थम्-अन्यत्र सुब्ग्रहणे उपसर्गग्रहणं न भवतीति, 'वदः सुपि क्यप् च' (3.1.106) इति। 'सू' इति द्विषासाहचर्यात् सूतेरादादिकस्य (धा०पा० 1032) ग्रहणं न सुवतेस्तौदादिकस्य (धा० पा० 1409)। 'युजिर् योगे' (धा०पा० 1445), 'युज समाधौ' (धा०पा० 1178), द्वयोरपि ग्रहणम्। 'विद ज्ञाने' (धा०पा० 1065), 'विद सत्तायाम्' (धा०पा० 1172), 'विद विचारणे' (धा०पा० 1451), त्रयाणामपि ग्रहणम्, न लाभार्थस्य विदेः (धा०पा० 1433), अकारस्य विवक्षितत्वात्। सत्-शुचिषत्, अन्तरिक्षसत् (ऋ० 4.40.5), उपसत् (तै०सं० 6.2.3.2)। सूः-अण्डसूः, शतसूः, प्रसूः (तै०सं० 4.7.3.2)। द्विष-मित्रद्विट्, प्रद्विट्। द्रुह-मित्रध्रुक् (मै०सं० 4.3.4)। प्रध्रुक्। दुह-गोधुक्, प्रधुक्। युज्-अश्वयुक्, प्रयुक्। विद-वेदवित्, प्रवित्, ब्रह्मवित्। भिद-काष्ठभित्, प्रभित्। छिद-रज्जुच्छिद्, प्रच्छिद्। जि-शत्रुजित्, प्रजित्। नी-सेनानीः, प्रणीः, ग्रामणीः, अग्रणीः। कथमत्र णत्वम्? 'स एषां ग्रामणीः' (5.2.78) इति निपातनात्। नयतेः 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (8.4.3) इति णत्वम्। राज-राट्, विराट्, सम्राट्। 'मो राजि समः क्वौ' (8.2.35) इति मत्वम्। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (3.2.178), 'क्विप् च' (3.2.76) इति सामान्येन वक्ष्यति, तस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—'सुपि' पद का अनुवर्त्तन है। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' यहाँ से लेकर 'कर्मणि' पद व्यापृत नहीं होता है।

सुबन्त उपपद रहते सद्, सू, द्विष, द्रुह, दुह, युज, विद, भिद, छिद्, जि, नी तथा राज्—इन धातुओं से उपसर्ग तथा अनुपसर्ग दोनों दशाओं में 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

उपसर्ग०—सूत्र में 'उपसर्गे' पद ज्ञापित करता है कि अन्यत्र सुबन्त उपपद रहते सोपसर्ग धातु से प्रत्यय नहीं होता है। यथा—

'वदः सुपि क्यप् च' के द्वारा सुबन्त उपपद रहते (अनुपसर्ग) वद् धातु से 'क्यप्' होता है। 'अपि' पद के द्वारा 'अनुपसर्ग' अर्थ गृहीत होता है।

'सू' धातु का धातुपाठ में दो बार पाठ उपलब्ध होता है—

(क) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (अदा० पृ० 25/24),
(ख) षू प्रेरणे (तुदा० पृ० 39/117)।

द्विष् के साहचर्य से यहाँ तौदादिक 'सू' धातु गृहीत नहीं है, अपितु आदादिक 'सू' धातु गृहीत है।

'युज' के द्वारा 'युजिर् योगे' तथा 'युज समाधौ'—इन दोनों का ग्रहण होता है।

'विद' के द्वारा 'विद प्रज्ञाने' 'विद सत्तायाम्' तथा 'विद विचारणे'—इन तीनों का ग्रहण होता है। 'विद' में अकार अनुबन्ध जोड़ दिए जाने से यहाँ लाभार्थक 'विद' धातु गृहीत नहीं है।

उदा० (क) सत्—

(1) शुचिषत्
शुचौ सीदति → शुचि सद् क्विप्—सर्वापहार लोप,
शुचिषद् सु—'पूर्वपदात्—' से षत्व, सु,
शुचिषद्—सुलुक्।

(2) अन्तरिक्षसत्
अन्तरिक्षे सीदति—पूर्ववत्।

(3) उपसत् (पूर्ववत्)।

(ख) सूः—

(4) अण्डसूः
अण्डं सूते → अण्ड सू क्विप्—सर्वापहार लोप,
अण्डसूः—सु।

(5) शतसूः
शतं सूते—पूर्ववत्,
शतसूः—सु।

(6) प्रसूः
प्रकृष्टरूपेण सूते—पूर्ववत्,
प्रसूः—सु।

(ग) द्विष—

(7) मित्रद्विट्
मित्रं द्वेष्टि → मित्र द्विष् क्विप्—सर्वापहार लोप
मित्रद्विष् स्—सु, सुलुक्,
मित्रद्विड्—झलां जशोऽन्ते,
मित्रद्विड्,-ट्—वाऽवसाने।

(8) प्रद्विट्
प्र द्विष् क्विप्—पूर्ववत्,
प्रद्विड्,-ट्—पूर्ववत्।

(घ) द्रुह—

(9) मित्रध्रुक्,
मित्राय द्रुह्यति → मित्रद्रुह् क्विप्—सर्वापहार लोप,
मित्रद्रुह् स् → मित्रद्रुह्—सु, सुलुक्,
मित्रद्रुघ्—'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' से वैकल्पिक घत्व,
मित्रध्रुघ्—'एकाचो बशो भष्०' से धकार,
मित्रध्रुग्—झलां जशोऽन्ते,
मित्रध्रुग्, क्—वावसाने।
मित्रद्रुढ्—घत्व अभाव पक्ष में 'हो ढः' से 'ढ्' हुआ,
मित्रध्रुढ्—एकाचो बशो भष्०,
मित्रध्रुड्, ट—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

(10) प्रध्रुक्
प्र द्रुह् क्विप्—पूर्ववत्,
प्रध्रुग्, क्—पूर्ववत्।

(ङ) दुह—

(11) गोधुक्
गां दोग्धि → गो दुह् क्विप्—सर्वापहार लोप,
गोदुघ्—सु, सुलुक्, दाऽऽदेर्घातोर्घः,
गोधुग्,-क्—एकाचो बशो भष्०, झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

(12) प्रधुक्
प्र दुह् क्विप्—पूर्ववत्।

(च) युज्—

(13) अश्वयुक्
अश्वयुज् क्विप्—सर्वापहार लोप, सु, सुलुक्,
अश्व युज्—'असमासे' कहने से 'युजेरसमासे' की प्रवृत्ति नहीं हुई,
अश्वयुग्, क्—कुत्व, वाऽवसाने।

(14) प्रयुक्
प्र युज् क्विन्—पूर्ववत्,
प्रयुग्,-क्—पूर्ववत्।

(छ) विद—

(15) वेदवित्
वेद विद् स्—क्विप्, सर्वापहारलोप, सु,
वेदविद्—सु लुक्,
वेदविद्,-त्—वाऽवसाने।

(16) प्रवित्
प्र विद् क्विप्—पूर्ववत्।

(17) ब्रह्मवित् (पूर्ववत्)।

(ज) भिद—
(18) काष्ठभित्
काष्ठं भिनत्ति—क्विप्, सर्वापहार लोप, सु, सुलुक्,
काष्ठभिद्—वाऽवसाने।

(19) प्रभित्
प्र भिद् क्विप्—पूर्ववत्।

(झ) छिद—
(20) रज्जुच्छिद्
रज्जुं छिनत्ति—क्विप्, सर्वापहार लोप, सु, सुलुक्,
रज्जुत् छिद्—'छे च' से 'तुक्',
रज्जुच्छिद्,-त्—स्तोः श्चुना श्चुः, वाऽवसाने।

(21) प्रच्छिद्
प्र छिद् क्विप्—पूर्ववत्।

(ञ) जि—
(22) शत्रुजित्
शत्रुं जयति—क्विप्, सर्वापहार लोप,
शत्रु जि—प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'ह्रस्वस्य पिति०' से 'तुक्',
शत्रुजित्—सु, सुलुक्।

(23) प्रजित्—प्र जि क्विप्।

(ट) नी—
(24) सेनानीः
सेनां नयति—क्विप्, सर्वापहार लोप,
सेनानी सु—सु,
सेनानीः—विसर्ग।

(25) प्रणीः
प्र नी क्विप्—पूर्ववत्।

(26) ग्रामणीः
निपातनात् णत्व।

(27) अग्रणीः
'उपसर्गादसमासेऽपि' से णत्व।
यहाँ णत्व कैसे हुआ ?

(समा०) 'स एषां ग्रामणीः' आचार्य के इस वचन के द्वारा णत्व निपातन सिद्ध है। 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' के द्वारा 'नी' से णत्व होता है।

(ठ) राज्—
(28) राट्
राजत इति → राज्—क्विप्, सर्वापहार लोप, सु, सुलुक्,
राष् → राड्—व्रश्चभ्रस्ज०, झलां जशोऽन्ते,
राड्,-ट्—वाऽवसाने।

(29) विराट्
वि राज् क्विप्—पूर्ववत्,
विराड्,-ट्—वाऽवसाने।

(30) सम्राट्
सम् राज् क्विप्—पूर्ववत्,
सम्राट्—षत्व, डत्व, पाक्षिक चर्त्व।
'मो राजि समः क्वौ' से मकार हुआ है।

आगे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र का पाठ किया जायेगा। उसी का यह प्रपञ्च है।

(831) भजो ण्विः *62* (2976)

उपसर्गे सुपीति वर्त्तते। भजेर्धातोः सुबन्त उपपदे उपसर्गेऽप्यनुपसर्गेऽपि ण्विप्रत्ययो भवति। अर्धं भजते अर्द्धभाक्। उपसर्गेऽपि—प्रभाक्।

अर्थ—'सुपि' तथा 'उपसर्गेऽपि'—इन पदों की अनुवृत्ति है। सोपसर्ग तथा अनुपसर्ग—इन दोनों दशाओं में 'भज्' धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है, सुबन्त उपपद रहते।

'उपदेशेऽजनुनासिक०' से इकार की तथा 'चुटू' से णकार की इत्संज्ञा होती है। शेष 'व' बचता है। उसकी अपृक्त संज्ञा होकर लोप हो जाता है। इस प्रकार 'ण्वि' का सर्वापहार लोप होता है।

उदा० (1) अर्द्धभाक्
अर्धं भजते → अर्ध भज् ण्वि—सर्वापहार लोप,
अर्ध भाज्—अत उपधायाः,
अर्ध भाग्—चोः कुः,
अर्द्धभाग्,-क्—अचो रहाभ्यां द्वे, झलां जश् झशि, वाऽवसाने।

(2) प्रभाक्
प्र भज् ण्वि—पूर्ववत्।

(832) छन्दसि सहः *63* (3409)

उपसर्गे सुपीत्येव। छन्दसि विषये सहेर्धातोः सुबन्त

उपपदे ण्विप्रत्ययो भवति। तुराषाट् (ऋ० 3.48.4)। जलाषाट्। 'सहेः साडः सः' (8.3.56) इति षत्वम्, 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.137) इति दीर्घत्वम्।

अर्थ—उपसर्गे तथा सुपि—दोनों पदों का अनुवर्त्तन है। सुबन्त उपपद रहते 'सह्' धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) तुराषाट् (ऋ० 3.48.4)
तुरं सहते → तुर सह् ण्वि—सर्वापहार लोप,
तुरासाह् सु—अत उपधायाः, अन्येभ्योऽपि दृश्यते, सुलुक्,
तुराषाढ्—सहेः साडः सः, हो ढः,
तुराषाड्,-ट्—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

(833) वहश्च *64* (3410)

वहेर्धातोश्छन्दसि विषये सुबन्त उपपदे ण्विप्रत्ययो भवति। प्रष्ठवाट्। दित्यवाट्। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—वेद के विषय में सुबन्त उपपद रहते 'वह्' धातु से 'ण्वि' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) प्रष्ठवाट्
प्रष्ठ वह् ण्वि—सर्वापहार लोप,
प्रष्ठ वाह्—अत उपधायाः,
प्रष्ठवाढ्—हो ढः,
प्रष्ठवाड्—झलां जशोऽन्ते,
प्रष्ठवाड्,-ट्—वाऽवसाने।

(2) दित्यवाट् (मै० सं० 3.11.11)
पूर्ववत्।

योगविभाग उत्तरशास्त्र के लिए है।

(834) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् *65* (3411)

कव्य, पुरीष, पुरीष्य-इत्येतेषु उपपदेषु छन्दसि विषये वहेर्धातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति। कव्यवाहनः पितॄणाम् (तै० सं० 2.5.8.6)। पुरीषवाहनः (वा०सं० 11.44)। पुरीष्यवाहनः (मै०सं० 2.7.4)।

अर्थ—कव्य, पुरीष तथा पुरीष्य सुबन्त उपपद रहते 'वह्' धातु से 'ञ्युट्' होता है, वेद के विषय में।

टकार व ञकार की 'चुटू' से इत्संज्ञा होती है। शेष 'यु' बचता है। 'युवोरनाके' से इसे 'अन' आदेश होता है।

उदा० (1) कव्यवाहनः (यजु० 19.65)
कव्य वह् ञ्युट् → कव्य वह् यु—अनुबन्ध लोप,
कव्यवाह् अन—युवोरनाकौ, अत उपधायाः,
कव्यवाहनः—सु।

(2) पुरीषवाहणः (वा०सं० 11.44)
'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि' से णत्व हुआ।

(3) पुरीष्यवाहनः (मै०सं० 2.7.4)
पूर्ववत्।

(835) हव्येऽनन्तःपादम् *66* (3412)

हव्यशब्दे उपपदे छन्दसि विषये वहेर्धातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति, अनन्तःपादं चेद्वहिर्वर्तते। अग्निश्च हव्यवाहनः (अथ० 7.20.1)। अनन्तःपादमिति किम्? हव्यवाडग्निरजरः पिता नः (ऋ० 5.4.2)।

अर्थ—वेद के विषय में 'हव्य' सुबन्त उपपद रहते 'वह्' धातु से 'ञ्युट्' प्रत्यय होता है, यदि 'वह्' धातु पाद के मध्य में वर्त्तमान न हो। यहाँ 'पाद' शब्द से ऋक्पाद का ही ग्रहण होता है।

उदा० (1) (दूतश्च) हव्यवाहनः (ऋ० 6.16.23)
हव्य वह् ञ्युट्—पाद के मध्य में नहीं होने से 'ञ्युट्' हुआ,
हव्यवाहनः—शेष कार्य पूर्ववत्।

अनन्तः पादम् अर्थात् यदि वह् धातु पाद के मध्य में न हो तो पूर्वोक्त प्रत्यय होता है—

(2) हव्यवाडग्निरजरः पिता नः (ऋ० 5.4.2)
यहाँ पाद के मध्य में स्थित होने से 'ञ्युट्' नहीं हुआ, 'ण्वि' हुआ है।

(836) जनसनखनक्रमगमो विट् *67* (3413)

छन्दसि, उपसर्गे, सुपीत्यनुवर्त्तते। 'जन जनने' (धा०पा० 1106), 'जनी प्रादुर्भावे' (धा०पा० 1150) द्वयोरपि ग्रहणम्। तथा 'षणु दाने' (धा०पा० 1465), 'वन षण संभक्तौ' (धा०पा० 463, 64), द्वयोरपि ग्रहणम्। जनादिभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे छन्दसि विषये विट् प्रत्ययो भवति। टकारः सामान्यग्रहणाविघातार्थः 'वेरपृक्तस्य' (6.1.67) इति, विशेषणार्थश्च 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (6.4.41) इति। जन—अब्जाः। गोजाः (ऋ० 4.40.5)। सन—गोषा इन्द्रो

नृषा अंसि (ऋ० 9.2.10)। खन—विसुखा (ऋ० 6.1.2), कूपखाः। क्रम—दधिक्राः (ऋ० 4.38.10)। गम—अग्रेगा उन्नेतॄणाम् (तै०सं० 1.3.6.1)।

अर्थ—सुबन्त उपपद रहते जन्, सन्, खन्, क्रम् तथा गम्—इन धातुओं से 'विट्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

टकार व इकार की इत् संज्ञा होकर लोप होता है। वकार की अपृक्त संज्ञा होकर लोप होता है।

'जन' के द्वारा 'जन जनने' तथा 'जनी प्रादुर्भावे'—दोनों धातुओं का ग्रहण होता है।

'सन' के द्वारा 'षणु दाने' तथा 'षण सम्भक्तौ'—दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) अब्जाः
अप्सु जायते → अप् जन् विट्—सर्वापहार लोप,
अब् जन्—जश्त्व,
अब् ज आ—'विड्वनोरनु०' से आत्व,
अब्जाः—सु।

(2) गोजाः
गोषु जायते—पूर्ववत्,
गोजाः—सु।

(3) गोषाः
गाः (इन्द्रियाणि) सनोति—पूर्ववत्।

(4) विसखाः
विस खन् विट्—पूर्ववत्,
विसखाः—सु।

(5) कूपखाः
कूप् खन् विट्—पूर्ववत्,
कूपखाः—सु।

(6) दधिक्राः
दधि क्रम् विट्—पूर्ववत्।
दधिक्राः—सु।

(7) अग्रेगाः
अग्र गम् विट्—पूर्ववत्।

(837) अदोऽनन्ने *68* (2977)

छन्दसीति निवृत्तम्। अदेर्धातोरनन्ने सुप्युपपदे विट् प्रत्ययो भवति। आममत्ति आमात्। सस्यात्। अनन्न इति किम्? अन्नादः।

अर्थ—'अन्न' से भिन्न कोई सुबन्त उपपद रहते 'अद्' धातु से 'विट्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) आमात्
आमम् अत्ति—आम अद् विट्—सर्वापहार लोप,
आमाद्—अकः सवर्णे दीर्घः,
आमाद्,-त्—वाऽवसाने।

(2) सस्यात्
सस्यम् अत्ति—पूर्ववत्।

अनन्ने अर्थात् अन्न से अतिरिक्त सुबन्त उपपद रहते 'विट्' होता है—

(3) अन्नादः
अन्नम् अत्ति—'अन्न' उपपद होने से 'विट्' नहीं हुआ, औत्सर्गिक 'अण्' हुआ,
अन्न अद् अण्—सवर्ण दीर्घ,
अन्नादः—सु।

(838) क्रव्ये च *69* (2978)

क्रव्यशब्द उपपदे अदेर्धातोर्विट् प्रत्ययो भवति। क्रव्यमत्ति क्रव्यात्। पूर्वेणैव सिद्धे वचनमसरूपबाधनार्थम्, तेनाण्न भवति। कथं तर्हि क्रव्यादः? कृत्तविकृत्तशब्दे उपपदेऽण्, तस्य च पृषोदरादिपाठात् क्रव्यभावः। कृत्तविकृत्तपक्वमांसभक्षः क्रव्याद उच्यते। आममांसभक्षः क्रव्यादिति।

अर्थ—क्रव्य शब्द उपपद रहते 'अद्' धातु से 'विट्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) क्रव्यात्
क्रव्यम् अत्ति → क्रव्य अद् विट्—पूर्ववत्।
यह प्रयोग पूर्वसूत्र से साध्य था, तदपि असरूप के बाध के लिए यह वचन है। अतः 'अण्' नहीं होता है, वचनसामर्थ्यवशात्। तब निम्नलिखित प्रयोग किस प्रकार साधु है—

(2) क्रव्यादः
कृत्तविकृत्त अद् अण्—यहाँ 'क्रव्य' उपपद न होने से 'विट्' नहीं हुआ, पृषोदरादि में पाठ होने से क्रव्य-भाव हुआ है, तब 'अण्' हुआ,
क्रव्यादः—सवर्णदीर्घ, सु।

(839) दुहः कब् घश्च *70* (2979)

दुहेर्धातोः सुप्युपपदे कप्प्रत्ययो भवति घकारश्चान्तादेशः। कामदुघा धेनुः। अर्थदुघा। धर्मदुघा।

अर्थ—सुबन्त उपपद रहते 'दुह्' धातु से 'कप्' प्रत्यय होता है तथा घकार अन्तादेश होता है।

उदा० (1) कामदुघा
कामं दोग्धि → काम दुह् कप्—'कप्' हुआ, लशक्वतद्धिते,
कामदुघ् अ टाप्—घकार अन्तादेश, टाप्,
कामदुघा—सु, सुलुक्।
(2) अर्थदुघा (पूर्ववत्)।

(840) मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् *71* (3414)

श्वेतवह, उक्थशस्, पुरोडाश इत्येतेभ्यो ण्विन् प्रत्ययो भवति मन्त्रे विषये। धातूपपदसमुदाया निपात्यन्ते अलाक्षणिककार्यसिद्ध्यर्थम्, प्रत्ययस्तु विधीयत एव। श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहेर्धातोः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययो भवति। श्वेता एनं वहन्ति श्वेतवा इन्द्रः। उक्थशब्दे कर्मणि करणे वा उपपदे शंसतेर्धातोर्ण्विन् प्रत्ययो भवति, नलोपश्च निपात्यते। उक्थानि शंसति, उक्थैर्वा संसति उक्थशा यजमानः (ऋ० 4.2.16)। 'दाशृ दाने' (धा०पा० 882) इत्येतस्य पुरःपूर्वस्य डत्वम्, कर्मणि च प्रत्ययः। पुरो दाशन्त एनं पुरोडाः (ऋ० 3.28.2)। *श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्* (म०भा०)। श्वेतवोभ्याम्। श्वेतवोभिः। पदस्येति किम्? श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः।

अर्थ—मन्त्रसंहिताओं के विषय में श्वेतवह, उक्थशस् तथा पुरोडाश्—इनका निपातन किया जाता है।

सूत्र में धातुओं तथा उपपदों के समुदाय का निपातन किया जाता है, अलाक्षणिक कार्यों की सिद्धि के लिए। प्रत्यय का विधान तो किया ही जाता है।

उदा० (1) श्वेतवाः
श्वेता एनं वहन्ति → श्वेत वह् ण्विन्—कर्तृवाची 'श्वेत' शब्द के उपपद रहते 'वह्' धातु से कर्मकारक में 'ण्विन्' हुआ,
श्वेत वह् डस्—'श्वेतवहादीनां डस् पदस्य च' (महा० ३.२.७१ वा०) से डस् हुआ, श्वेत व् अस्—'चुटू' से डकार की इत्संज्ञा, 'डित्यभस्याऽपि टेर्लोपः' (वा) से टिलोप,
श्वेत व् अस् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
श्वेतवास् स्—'अत्वसन्तस्य०' से उपधादीर्घ,
श्वेतवाः—सु लुक्।
(2) उक्थशाः
उक्थानि (उक्थैर्वा) शंसति—कर्मवाची (अथवा करणवाची) उक्थ उपपदपूर्वक 'शंस्' धातु से 'ण्विन्',
उक्थ शंस् ण्विन्—निपातन से नकारलोप, 'डस्' आदेश,
उक्थ शस् डस्—पूर्ववत् टिलोप, उपधादीर्घ,
उक्थशाः—सुलुक्।
(3) पुरोडाः
पुरो दाशन्त एनम्—कर्मवाची 'पुरस्' उपपदपूर्वक 'दाश्' धातु से 'ण्विन्' हुआ,
पुरस् डाश् डस्—पूर्ववत् डस्, दाश् के दकार के स्थान पर निपातन से डकार,
पुरोडाः—पूर्ववत् टिलोप आदि।

श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्—श्वेतवह् आदि से विहित 'ण्विन्' के स्थान पर 'डस्' होता है, पदसंज्ञा के विषय में,

(4) श्वेतवोभ्याम्
श्वेत वह् ण्विन् भ्याम्—पदसंज्ञा हुई, 'डस्' हुआ,
श्वेत व् डस् भ्याम्—टिलोप,
श्वेतवोभ्याम्—रुत्व, उत्व।
(5) श्वेतवोभिः
श्वेत वह् ण्विन् भिस्—पूर्ववत्।

पदस्य अर्थात् पदसंज्ञा के विषय में ही 'डस्' होता है—

(6) श्वेतवाहौ
श्वेत वह् ण्विन् औ—पदसंज्ञा का विषय नहीं है, अतः 'डस्' नहीं हुआ,
श्वेतवाह् औ—सर्वापहार लोप, अत उपधायाः,
श्वेतवाहौ—रूप बना।

(841) अवे यजः *72* (3415)

अवे उपपदे यजेर्धातोर्ण्विन् प्रत्ययो भवति मन्त्रे विषये। त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—मन्त्र के विषय में 'अव' उपपद रहते 'यज्' धातु से 'ण्विन्' होता है।

उदा० (1) अवयाः (शौ० सं० 2.35.01)
अव यज् ण्विन् → अव यज् डस्—पूर्ववत्,
अव य् अस् → अवयास् स्—सु, उपधादीर्घ,
अवयाः—सु लुक्।

(842) विजुपे छन्दसि *73* (3417)

उप उपपदे यजेश्छन्दसि विषये विच् प्रत्ययो भवति। उपयड्भीरूर्ध्वं वहन्ति। उपयड्भ्याम्। छन्दोग्रहणं ब्राह्मणार्थम्। विचश्चित्करणं सामान्यग्रहणाविघातार्थम्–'वेरपृक्तस्य' (6.1.67) इति। किमर्थमिदमुच्यते, यावता 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (3.2.75) इति यजेरपि विच् सिद्ध एव? यजेर्नियमार्थमेतत्—उपयजेश्छन्दस्येव, न भाषायामिति।

अर्थ—वेद के विषय में 'उप' उपपदपूर्वक 'यज्' धातु से 'विच्' प्रत्यय होता है।

'विच्' के चकार व इकार की इत्संज्ञा होती है। शेष 'व्' का भी लोप हो जाता है।

उदा० (1) उपयड्भिः (तै० सं० 6.4.1.1)
उप यज् विच्—सर्वापहार लोप,
उप यज् भिस्—पदसंज्ञा,
उपयष् भिस्—व्रश्चभ्रस्ज०,
उपयड्भिः—झलां जशोऽन्ते।

(2) उपयड्भ्याम् (पूर्ववत्)।

छन्दे०—'छन्दस्' पद का ग्रहण ब्राह्मणग्रन्थों के लिए है। सामान्य ग्रहण का विघात न हो—इसके लिए विच् में चकार अनुबन्ध जोड़ा गया है।

'वेरपृक्तस्य' में यह किसलिए कहा जा रहा है? (समा०) जितने से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' के द्वारा 'यज्' से भी 'विच्' सिद्ध ही है। यज् धातु से नियम के लिए इसका पाठ किया गया है। इसके द्वारा नियम किया जा रहा है कि उपपूर्वक यज् से 'विच्' प्रत्यय वेद में ही होता है; भाषा में नहीं होता।

(843) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च *74* (3418)

छन्दसीति वर्त्तते, सुपि, उपसर्गेऽपीति च। आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः सुप्युपपदे छन्दसि विषये मनिन्, क्वनिप्, वनिप् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। चकाराद्विज् भवति। सुदामा (ऋ० 6.20.7)। अश्वत्थामा। क्वनिप्–सुधीवा, सुपीवा। वनिप्—भूरिदावा (ऋ० 9.87.4), घृतपावा (अथ० 13.10.24)। विच् खल्वपि–कीलालपाः (ऋ० 10.91.14), शुभंयाः (ऋ० 4.3.6), रामस्योपदाः।

अर्थ—'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति है। वेद के विषय में सुबन्त उपपद रहते आकारान्त धातु से मनिन्, क्वनिप्, वनिप् तथा विच् प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं।

'मनिन्' के अन्त्य नकार की इत्संज्ञा होकर उसका लोप होता है। इकार उच्चारणार्थ है। 'मन्' शेष रहता है। इसी प्रकार 'क्वनिप्' में इकार उच्चारणार्थ है, इसके पकार (हलन्त्यम् से) तथा ककार (लशक्वतद्धिते से) की इत् संज्ञा होती है। 'वन्' शेष रहता है। 'वनिप्' का भी वन् शेष रहता है। 'क्वनिप्' के कित् होने से इसके परे रहते 'घुमास्था०' के द्वारा ईत्व होता है तथा प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होता है। 'विच्' का सर्वापहारी लोप होता है।

उदा० (क) मनिन्—
(1) सुदामा (ऋ० 6.20.7)
शोभनं ददाति → सु दा मनिन्—अनुबन्ध लोप,
सु दा मन् सु—आर्धधातुक वलादिक 'इट्' प्राप्त हुआ, 'नेड्वशि कृति' निषेध, सु,
सुदामा—सर्वनामस्थाने चा०, हल्ङ्याब्भ्यो०, नलोपः प्राति०।

(2) अश्वत्थामा
अश्व इव तिष्ठति → अश्व स्था मन्—अनुबन्ध लोप,
अश्व त् था मन्—पृषोदरादि होने से सकार को तकार,
अश्वत्थामा—पूर्ववत् सु आदि।

(ख) क्वनिप्—
(3) सुधीवा
सु धा क्वनिप्—अनुबन्ध लोप,
सु धी वन्—ईत्व, प्रातिपदिक संज्ञा,
सुधीवा—सु, उपधादीर्घ आदि।

(4) सुपीवा
सु पा क्वनिप्—पूर्ववत्।

(ग) वनिप्—
(5) भूरिदावा
भूरि ददाति → भूरि दा वनिप्—पूर्ववत्,
भूरिदावा—विभक्तिकार्य।

(6) घृतपावा
घृतं पिबति—'वनिप्' हुआ।

(घ) विच्—
(7) कीलालपाः

कीलालं पिबति—'विच्', सर्वापहारी लोप,
कीलालपा सु—सु,
कीलालपाः—विभक्तिकार्य।

(8) शुभंयाः
शुभं याति—'विच्' हुआ।

(844) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते *75* (2980)

छन्दसीति निवृत्तम्। अन्येभ्योऽपि धातुभ्योऽनाकारान्तेभ्यो मनिन्, क्वनिप्, वनिप् इत्येते प्रत्यया दृश्यन्ते विच्च। सुशर्मा। क्वनिप्–प्रातुरित्वां (ऋ० 1.125.1), प्रातरित्वानौ (काठ०सं० 30.1)। वनिप्–विजावाग्रे (ऋ० 3.1.23)। अग्रेगावा (मै०सं० 4.14.9)। विच् खल्वपि–रेंडुशि पर्णं नयेः (वा०सं० 6.18)। अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। निरुपपदादपि भवति–धीवां (अथ० 3.5.6), पीवा (मै०सं० 2.51)। दृशिग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्।

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन नहीं है। आकारान्त से अतिरिक्त अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् तथा विच् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) सुशर्मा
शोभनं शृणाति → सु शृ मनिन्—गुण, अनुबन्धलोप,
सु शर् मन् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
सुशर्मा—विभक्तिकार्य।

(2) प्रातरित्वा
प्रातर् इण् क्वनिप्—अनुबन्धलोप, गुणनिषेध,
प्रातर् इ त् वन्—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्,
प्रातरित्वा—विभक्तिकार्य।

(3) प्रातरित्वानौ
प्रातरित्वन् औ—प्रथमा द्विवचन,
प्रातरित्वानौ—विभक्तिकार्य।

(4) विजावा
वि जन् वनिप्—पकार व इकार की इत्संज्ञा,
वि ज आ वन्—आकार अन्तादेश,
विजावा—विभक्तिकार्य।

(5) अग्रेगावा
अग्रे गम् वनिप्—अनुबन्धलोप,
अग्रे गा आ वन्—सु,
अग्रेगावा—विभक्तिकार्य।

(6) रेट्
रिष् विच्—सर्वापहारी लोप, गुण,
रेष् सु → रेष्—सु, सुलुक्,
रेड्—झलां जशोऽन्ते।

'अपि' पद सभी उपाधियों के व्यभिचारार्थ प्रयुक्त हुआ है। अतः उपपदरहित धातु से भी 'मनिन्' आदि होते हैं।

(7) धीवा (अथ० 3.5.6)
धा वनिप्—अनुबन्धलोप,
धीवन् सु—सु,
धीवा—विभक्तिकार्य।

(8) पीवा (मै० सं० 2.5.1)
पा वनिप्—प्रातिपदिक संज्ञा, ईत्व,
पीवा—सु।

'दृश्यते' पद का अभिप्राय यह है कि जैसा भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता हो, उसकी साधुता मान ली जाय।

(845) क्विप् च *76* (2983)

सर्वधातुभ्यः सोपपदेभ्यो निरुपपदेभ्यश्च छन्दसि भाषायां च क्विप् प्रत्ययो भवति। उखायाः स्रंसते उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहाद् भ्रश्यति वाहाभ्रट्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.137) इति दीर्घः।

अर्थ—उपपदपूर्वक तथा उपपदरहित—दोनों अवस्थाओं में तथा वेद में व भाषा में—दोनों स्थलों पर धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। 'क्विप्' में इकार उच्चारणार्थ है। पकार तथा ककार की इत्संज्ञा होती है। शेष 'व्' का भी लोप हो जाता है।

कित् करने से गुण व वृद्धि का निषेध होता है तथा उपधाभूत अनुनासिक का लोप होता है।

उदा० (1) उखास्रत्
उखायाः स्रंसते → उखा स्रंस् क्विप्—सर्वापहारी लोप,
उखा स्रस्—अनुनासिकलोप, सु, सुलुक्,
उखास्रद्—'वसुस्रंसु०' से दकार,
उखास्रद्,-त्—वाऽवसाने।

(2) पर्णध्वत्

पर्णाद् ध्वंसते[1]—क्विप्, सर्वापहारी लोप, अनुनासिकलोप,
पर्णध्वस्—सु, सुलुक्,
पर्णध्वद्,-त्—वाऽवसाने।

(3) वाहाभ्रट्
वाहाद् भ्रंशते—पूर्ववत्, 'व्रश्चभ्रस्ज०' से षकार, झलां जशोऽन्ते से डकार, वाऽवसाने—
वाहाभ्रड्,-ट्—विभक्तिकार्य होकर।
'वाहाभ्रट्' में 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ हुआ है।

(846) स्थः क च *77* (2987)

सुप्युपसर्गेऽपीति च वर्तते। 'स्था' इत्येतस्माद्धातोः सुप्युपपदे कप्रत्ययो भवति, क्विप् च। किमर्थमिदमुच्यते, यावता 'सुपि स्थः' (3.2.4) इति कः सिद्ध एव? 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (3.2.178) इति क्विप्, बाधकबाधनार्थं पुनर्वचनम्। शमि धातोः संज्ञायाम् (3.2.14) अचं बाधते-शंस्थः, शंस्थाः।

अर्थ—'सुपि' तथा 'उपसर्गेऽपि'—इन पदों का अनुवर्त्तन हो रहा है। सुबन्त उपपद रहते उपसर्गपूर्वक तथा उपसर्ग के विना भी 'स्था' धातु से 'क' तथा 'क्विप्' प्रत्यय होते हैं। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा होती है। प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है? 'सुपि स्थः' से 'क' प्रत्यय सिद्ध ही है। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से 'क्विप्' भी होता है।

(समा०) बाधक के बाध के लिए यह वचन है। शम् धातु से संज्ञा के विषय में प्राप्त अच् का बाध होता है।

उदा० (1) संस्थः
सम् स्था क—लशक्वतद्धिते, आतो लोप इटि च,
सम् स्थ् अ—सु, अनुस्वार,
संस्थः—विभक्तिकार्य।

(2) संस्थाः
सम् स्था क्विप्—सर्वापहारी लोप,
संस्थाः—सु, अनुस्वार।

(847) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये *78* (2988)

अजातिवाचिनि सुबन्त उपपदे ताच्छील्ये गम्यमाने धातोर्णिनिप्रत्ययो भवति। उष्णभोजी। शीतभोजी। अजाताविति किम्? ब्राह्मणानामन्त्रयिता। ताच्छील्य इति किम्? उष्णं भुङ्क्ते कदाचित्। सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणमुपसर्गनिवृत्त्यर्थम्। *उत्प्रतिभ्यामाङि सर्त्तेरुपसंख्यानम्* (म० भा०)। उदासारिण्यः। प्रत्यासारिण्यः। *साधुकारिणि च* (म० भा०)। साधुकारी। साधुदायी। *ब्रह्मणि वदः* (म० भा०)। ब्रह्मवादिनो वदन्ति (तै०सं० 2.5.4.1)।

अर्थ—यदि कर्त्ता का स्वभाव द्योत्य हो तो जात्यर्थ से भिन्न सुबन्त उपपद रहते धातु से पर 'णिनि' प्रत्यय होता है।

कृत् संज्ञक होने से यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। नकारोत्तरवर्त्ती इकार की तथा णकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) उष्णभोजी
उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः[1] → उष्ण भुज् णिनि—अनुबन्धलोप,
उष्ण भोज् इन्—पुगन्तलघूपधस्य च,
उष्णभोजी—सु, सौ च, 'स्' का लोप।

(2) शीतभोजी
शीत भुज् णिनि—पूर्ववत्।

अजातौ अर्थात् जाति से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान सुबन्त उपपद रहते धातु से 'णिनि' होता है—

ब्राह्मणान् आमन्त्रयते तच्छील इति ब्राह्मणान् आमन्त्रयिता—यहाँ जातिवाची 'ब्राह्मण' शब्द उपपद है, अतः 'णिनि' नहीं हुआ।

ताच्छील्य० अर्थात् तत्स्वभावता द्योत्य होने पर 'णिनि' होता है—

उष्णं भुङ्क्ते कदाचित्—यहाँ तत्स्वभावता नहीं है। अतः पूर्वोक्त प्रत्यय नहीं हुआ।

सुपि—'सुपि' पद का अधिकार होने पर भी पुनः 'सुपि' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'उपसर्गे' पद की निवृत्ति हो जाय।

उत्प्रतिभ्यामाङि सर्त्तेरुपसङ्ख्यानम्—उद् तथा प्रति से पर आङ्पूर्वक 'सृ' धातु से 'णिनि' होता है—

(3) उदासारिण्यः
उद् आ सृ णिनि—वृद्धि आदेश,

---

1. पर्णानि ध्वसंते इति हरदत्तः।

1. इसका निम्न प्रकार से भी विग्रह प्रदर्शित किया जाता है—
(क) उष्णं भोक्तुं शीलः,
(ख) उष्णं भोक्तुं शीलम् अस्य,
(ग) उष्णं भुङ्क्त एवं शीलः,

उदासारिन्—स्त्रीत्व में 'टिड्ढाऽण्०' से 'ङीप्',
उदासारिणी जस्—यणादेश।

(4) प्रत्यासारिण्यः
प्रति आ सृ णिनि—पूर्ववत्।

साधुकारिणि च—साधुकारी अर्थ में 'णिनि' होता है—

(5) साधुकारी
साधु कृ णिनि—वृद्धि आदेश, विभक्तिकार्य।

(6) साधुदायी
साधु दा णिनि—'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्',
साधुदायी—विभक्तिकार्य।

ब्रह्मणि वदः—ब्रह्म उपपद रहते 'वद्' धातु से 'णिनि' होता है—

(7) ब्रह्मवादी
ब्रह्म वद् णिनि—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,
ब्रह्मवादिन् सु—विभक्तिकार्य।

(848) कर्त्तर्युपमाने *79* (2989)

कर्तृवाचिनि उपमान उपपदे धातोर्णिनिप्रत्ययो भवति। उपपदकर्त्ता प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुरुपमानम्। उष्ट्र इव क्रोशति उष्ट्रक्रोशी। ध्वाङ्क्षरावी। अताच्छील्यार्थ आरम्भः, जात्यर्थो वा। कर्त्तरीति किम्? अपूपानिव भक्षयति माषान्। उपमान इति किम्? उष्ट्रः क्रोशति।

अर्थ—उपमानवाची कर्त्ता उपपद रहते धातु से 'णिनि' होता है। उपपद कर्त्ता प्रत्ययार्थ कर्त्ता का उपमान होता है।

उदा० (1) उष्ट्रक्रोशी
उष्ट्र इव क्रोशति—'णिनि' हुआ,
उष्ट्रक्रोशी—सु, विभक्तिकार्य।

(2) ध्वाङ्क्षरावी
ध्वाङ्क्ष इव रौति—पूर्ववत्।

यह सूत्रपाठ तत्स्वभावता से भिन्न स्थल के लिए है अथवा जाति अर्थ के लिए है।

कर्त्तरि अर्थात् **कर्तृवाची** उपपद रहते ही 'णिनि' होता है—

अपूपानिव भक्षयति माषान्
यहाँ 'णिनि' नहीं हुआ।

उपमाने अर्थात् **उपमानवाची** उपपद रहते ही 'णिनि' होता है—

उष्ट्रः क्रोशति—सामान्य अर्थ है तथा उपमानवाची उपपद नहीं होने से 'णिनि' नहीं हुआ।

(849) व्रते *80* (2990)

व्रत इति शास्त्रितो नियम उच्यते। व्रते गम्यमाने सुबन्त उपपदे धातोर्णिनिः प्रत्ययो भवति। समुदायोपाधिश्चायम्, धातूपपदप्रत्ययसमुदायेन व्रतं गम्यते। स्थण्डिलशायी। अश्राद्धभोजी। कामचारप्राप्तौ नियमः-सति शयने स्थण्डिल एव शेते नान्यत्र, सति भोजने अश्राद्धमेव भुङ्क्ते न श्राद्धमिति। व्रते इति किम्? स्थण्डिले शेते देवदत्तः। अताच्छील्यार्थ आरम्भः, जात्यर्थो वा।

अर्थ—'व्रत' गम्यमान होने पर सुबन्त उपपद रहते धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है। 'व्रत' यह प्रकृति-प्रत्ययसमुदाय की उपाधि है।

धातु, उपपद तथा प्रत्यय के समुदाय के द्वारा 'व्रत' जाना जाता है।

उदा० (1) स्थण्डिलशायी
स्थण्डिले शायितुं व्रतम् अस्य—'व्रत' अर्थ गम्यमान है,
स्थण्डिल शी णिनि—वृद्धि आदेश,
स्थण्डिलशायी—विभक्तिकार्य।

(2) अश्राद्धभोजी
सति भोजनेऽश्राद्धमेव भुङ्क्ते—'णिनि' हुआ,
कामचारिता की प्रवृत्ति प्राप्त होने पर नियम होता है—यदि सोना है तो स्थण्डिल पर ही सोना है, अन्यत्र नहीं। यदि भोजन करना है तो अश्राद्ध भोजन ही करता है, अन्य नहीं।

व्रते अर्थात् व्रत गम्यमान रहते 'णिनि' होता है—

स्थण्डिले शेते देवदत्तः—यहाँ सामान्य शयन है तथा सङ्कल्प अर्थ गम्यमान नहीं है। अतः 'णिनि' नहीं हुआ।

यह तत्स्वभावता से भिन्न अर्थ के लिए पाठ किया गया है। अथवा यह जाति अर्थ के लिए है।

(850) बहुलमाभीक्ष्ण्ये *81* (2991)

आभीक्ष्ण्ये गम्यमाने धातोर्बहुलं णिनिः प्रत्ययो भवति। आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम्, तात्पर्यमासेवा, ताच्छील्यादन्यत्। काषायपायिणो गान्धाराः। क्षीरपायिण उशीनराः। सौवीरपायिणो बाह्लीकाः। बहुलग्रहणात् कुल्माषखाद इत्यत्र न भवति।

अर्थ—'पुनः-पुनः' अर्थ गम्यमान हो तो धातु से 'णिनि' प्रत्यय बहुलता से होता है। आभीक्ष्ण्य का अर्थ—'आसेवा' है। यह तत्स्वभावता से भिन्न है।

उदा० (1) कषायपायिणः

कषाय पा णिनि—युक्, जस्, विभक्तिकार्य।

(2) क्षीरपायिणः

क्षीर पा णिनि—पूर्ववत्।

(3) सौवीरपायिणः

सौवीर पा णिनि—पूर्ववत्,

(4) कुल्माषखादः

कुल्माष खाद्—सूत्र में 'बहुलम्' का ग्रहण होने से सूत्र की चतुर्विध प्रवृत्ति होती है, तब प्रकृत स्थल पर बाहुलकात् 'णिनि' नहीं हुआ,

कुल्माषखादः—विभक्तिकार्य।

(851) मनः *82* (2992)

सुपीति वर्त्तते। मन्यतेः सुबन्त उपपदे णिनिप्रत्ययो भवति। दर्शनीयमानी। शोभनमानी। बहुलग्रहणानुवृत्तेर्मन्यतेर्ग्रहणं न मनुतेः, उत्तरसूत्रे हि खश्प्रत्यये विकरणकृतो विशेषः स्यात्।

अर्थ—यहाँ 'सुपि' पद का अनुवर्त्तन है।

सुबन्त उपपद रहते 'मन्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है। यहाँ दैवादिक 'मन्' धातु का ग्रहण होता है; तनादिगणी 'मन्' का नहीं।

उदा० (1) दर्शनीयमानी

दर्शनीयं मन्यते—'णिनि' हुआ,

दर्शनीय मन् णिनि—अनुबन्धलोप,

दर्शनीय मान् इन्—अत उपधायाः,

दर्शनीयमानिन् सु—सु,

दर्शनीयमानी—विभक्तिकार्य।

अगले सूत्र 'आत्ममाने खश्च' में 'खश्' प्रत्यय कहा गया है। अतः दोनों धातुओं में विकरणगत विशेषता देखी जाती है।[1] सार यह है कि दैवादिक 'मन्' से 'खश्' करने पर 'दिवादिभ्यः श्यन्' से 'श्यन्' होता है तथा तनादिगणी 'मन्' से 'खश्' करने पर 'उ' विकरण होता है। दूसरे के मानने में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है, स्वयं को मानने में नहीं। यथा—

देवः कृष्णं दर्शनीयं मन्यते—कृष्णस्य देवः दर्शनीयमानी यहाँ कृद्योग में षष्ठी हुई है।

(852) आत्ममाने खश्च *83* (2993)

आत्मनो मननमात्ममानः। आत्ममाने वर्त्तमानान्मन्यतेः सुप्युपपदे खश्प्रत्ययो भवति, चकाराण्णिनिश्च। यदा प्रत्ययार्थः कर्ताऽऽत्मानमेव दर्शनीयत्वादिना धर्मेण युक्तं मन्यते तदाऽयं विधिः। दर्शनीयमात्मानं मन्यते दर्शनीयम्मन्यः, दर्शनीयमानी। पण्डितम्मन्यः, पण्डितमानी। आत्ममान इति किम्? दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः। अतः सार्वकालिका विधयो वेदितव्याः।

अर्थ—'अपने आपको मानना' आत्ममान कहलाता है। आत्ममान अर्थ गम्यमान हो तो सुबन्त उपपद रहते 'मन्' धातु से 'खश्' तथा 'णिनि' प्रत्यय होते हैं। सार यह है कि यदि मन् धातु का कर्त्ता उस धातु का कर्म भी हो तो सुबन्त उपपदपूर्वक 'मन्' धातु से पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं।

ये दोनों प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं। 'खश्' के शकार की 'हलन्त्यम्' से तथा खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) दर्शनीयम्मन्यः

दर्शनीयम् आत्मानं मन्यते—इस अर्थ में 'खश्' हुआ,

दर्शनीय मुम् मन् श्यन् अ—अनुबन्धलोप, दिवादिभ्यः श्यन्, मुम् आगम,

दर्शनीयम्मन्यः—अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य।

(2) दर्शनीयमानी

दर्शनीय मन् णिनि—पूर्वोक्त अर्थ में 'णिनि' हुआ, अनुबन्धलोप,

दर्शनीयमानिन् सु—अत उपधायाः, सु,

दर्शनीयमानी—विभक्तिकार्य।

(3) पण्डितम्मन्यः

पण्डितम् आत्मानं मन्यते—पूर्ववत् 'खश्' आदि।

(4) पण्डितमानी

पूर्ववत् 'णिनि' हुआ।

आत्ममाने अर्थात् आत्ममान अर्थ में वर्तमान मन् धातु से पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

1. न्यास 3.2.82. मन्यतेः खशि कृते दिवादित्वाच्छ्यन् भवति, मनुतेस्तु तनादित्वादुप्रत्ययः।

दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः—यहाँ 'खश्' आदि प्रत्यय नहीं हुए। कृद्योग में षष्ठी हुई है। सार्वकालिक विधियाँ जाननी चाहिए।

(853) भूते *84* (2995)

भूत इत्यधिकारो 'वर्त्तमाने लट्' (3.2.123) इति यावत्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भूत इत्येवं तद्वेदितव्यम्। धात्वधिकाराच्च धात्वर्थे भूत इति विज्ञायते। वक्ष्यति-'करणे यजः' (3.2.85)। अग्निष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी। भूत इति किम्? अग्निष्टोमेन यजते।

अर्थ—भूते यह एक अधिकार है। 'वर्त्तमाने लट्' पर्यन्त इसका अधिकार चलता है। इससे आगे जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे सभी भूतकाल में होते हैं। 'धातोः' इसका अधिकार होने से 'धातु के अर्थ में भूतकाल में', ऐसा जानना चाहिए। आगे 'करणे यज्ञः' आदि सूत्रों का पाठ किया जायेगा।

उदा० (1) अग्निष्टोमयाजी
अग्निष्टोमेन इष्टवान्—भूतकाल में 'करणे यजः' से 'णिनि'—
अग्निष्टोम यज् णिनि—अनुबन्धलोप, अत उपधायाः,
अग्निष्टोमयाजी—सु, विभक्तिकार्य।

भूत अर्थात् भूतकाल में ही प्रत्यय जानना चाहिए—

अग्निष्टोमेन यजते—यहाँ नहीं हुआ। यहाँ भूतकाल अर्थ नहीं है।

(854) करणे यजः *85* (2996)

णिनिरनुवर्त्तते, न खश्। यजतेर्धातोः करण उपपदे णिनिप्रत्ययो भवति भूते। अग्निष्टोमयाजी। अग्निष्टोमः फलभावनायां करणं भवति।

अर्थ—'णिनि' का अनुवर्त्तन होता है; 'खश्' का नहीं। करण उपपद रहते 'यज्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है, भूतकाल अर्थ में।

उदा० (1) अग्निष्टोमयाजी
सिद्धि पूर्वसूत्र पर देखें।

(855) कर्मणि हनः *86* (2997)

कर्मणि उपपदे हन्तेर्धातोर्णिनिप्रत्ययो भवति भूते काले। पितृव्यघाती। मातुलघाती। कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यम्, इह मा भूत्-चौरं हतवान्।

अर्थ—कर्म उपपद रहते भूतकाल में वर्त्तमान 'हन्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पितृव्यघाती
पितृव्यं हतवान्—'णिनि' हुआ,
पितृव्य हन् णिनि—अत उपधायाः, हो हन्ते०, हनस्त०,
पितृव्यघाती—सु, विभक्तिकार्य।

(2) मातुलघाती
मातुलं हतवान्—पूर्ववत्।

इस सूत्र की प्रवृत्ति कुत्सित अर्थ में होती है। यथा—
चौरं हतवान्—यहाँ कुत्सित अर्थ न होने से 'णिनि' नहीं हुआ।

(856) ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् *87* (2998)

कर्मणीति वर्त्तते। ब्रह्मादिषु कर्मसूपपदेषु हन्तेर्धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति भूते। ब्रह्महा। भ्रूणहा। वृत्रहा। किमर्थमिदमुच्यते, यावता सर्वधातुभ्यः क्विब्विहित एव? ब्रह्मादिषु हन्तेः क्विब्वचनं नियमार्थम्; चतुर्विधश्चात्र नियम इष्यते-ब्रह्मादिष्वेव हन्तेर्नान्यस्मिन्नुपपदे-पुरुषं हतवानिति; ब्रह्मादिषु हन्तेरेव नान्यस्मात्स्यात्-ब्रह्माधीतवानिति; ब्रह्मादिषु हन्तेर्भूतकाले क्विबेव नान्यः प्रत्ययः; तथा भूतकाल एव नान्यस्मिन्। ब्रह्माणं हन्ति, हनिष्यति वेति। तदेतद्वक्ष्यमाण-बहुलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षणाल्लभ्यते।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्त्तन है। ब्रह्म, भ्रूण तथा वृत्र—इन कर्मवाची उपपदों के रहते भूतकाल के अर्थ में 'हन्' धातु से 'क्विप्' होता है।

उदा० (1) ब्रह्महा
ब्रह्मन् हन् क्विप्—सर्वापहारी लोप,
ब्रह्म हन् सु—नलोपः प्रातिपदिका०, सु, 'सौ च' से दीर्घ,
ब्रह्महा—सुलोप, नलोप।

(2) भ्रूणहा
भ्रूण हन् क्विप्—पूर्ववत्,
भ्रूणहा—विभक्तिकार्य।

(3) वृत्रहा
वृत्र हन् क्विप्—पूर्ववत्,
वृत्रहा—विभक्ति कार्य।

किमर्थमिद०—सभी धातुओं से 'क्विप्' प्राप्त ही है। तब प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है?

(समा०) ब्रह्मन् आदि उपपद रहते 'हन्' धातु से 'क्विप्' होता है—यह नियम किया जा रहा है। इसके द्वारा निम्नलिखित प्रकार से नियम किया जाता है—

(क) **ब्रह्मादिष्वेव** अर्थात् ब्रह्मन् आदि उपपदों के रहते हन् धातु से 'क्विप्' होता है, अन्य उपपदों के रहते नहीं—

(4) पुरुषं हतवान्
यहाँ 'ब्रह्मन्' आदि से भिन्न उपपद है। अतः 'क्विप्' नहीं हुआ।

(ख) **ब्रह्मादिषु हन्तेरेव**—ब्रह्मन् आदि उपपद रहते हन् धातु से ही 'क्विप्' होता है; अन्य धातु से नहीं—

(5) ब्रह्माधीतवान्
ब्रह्मन् उपपद है, परन्तु 'हन्' धातु नहीं है। अतः 'क्विप्' नहीं हुआ।

(ग) **ब्रह्मादिषु हन्तेर्भूतकाले क्विबेव**—ब्रह्मन् आदि उपपद रहते भूतकाल में हन् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय ही होता है; अन्य प्रत्यय नहीं।

(घ) **तथा भूतकाल एव**—भूतकाल में ही 'हन्' से 'क्विप्' प्रत्यय होता है; अन्य काल में नहीं—

ब्रह्माणं हन्ति, ब्रह्माणं हनिष्यति—यहाँ भूतकाल नहीं है। अतः 'क्विप्' नहीं हुआ।

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अग्रिम सूत्र से 'बहुलम्' पद के पूर्वशास्त्र में अपकर्षण से प्राप्त होता है।

(857) बहुलं छन्दसि *88* (3419)

पूर्वेण नियमादप्राप्तः क्विब्विधीयते। छन्दसि विषये उपपदान्तरेऽपि हन्तेर्बहुलं क्विप्प्रत्ययो भवति। मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्। पितृहा (छा० 7.152)। न भवति—पितृघातः, मातृघातः।

अर्थ—पूर्व शास्त्र के द्वारा नियम करने से प्राप्त न होने पर 'क्विप्' का विधान किया जा रहा है।

वेद के विषय में 'कर्म उपपद रहते हन्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय बहुलता से होता है, भूतकाल में।

'बहुलम्' के ग्रहण से सभी विधियों का व्यभिचार प्राप्त होता है।

(क) ब्रह्मन् आदि से अतिरिक्त उपपद रहते 'हन्' से 'क्विप्'—

उदा० (1) मातृहा
मातरं हतवान्—ब्रह्मन् आदि पूर्वोक्त उपपद नहीं हैं, तदपि प्रत्यय हो गया है,
मातृ हन् क्विप्—सर्वापहारी लोप,
मातृहा—विभक्तिकार्य।

(2) पितृहा (पै० सं० 19.46.14)
पितरं हतवान्—पूर्ववत्।

(ख) क्विप् नहीं होता है—

(3) मातृघातः
मातृ हन् अण्—बाहुलकात् 'क्विप्' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ।
मातृ हान् अ—अत उपधायाः,
मातृघात् अ—हनस्तः०, हो हन्ते०,
मातृघातः—विभक्तिकार्य।

(858) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः *89* (2999)

कर्मणीति वर्त्तते, तदसम्भवात् सुशब्दं वर्जयित्वा परिशिष्टानां विशेषणं भवति। स्वादिषु कर्मसूपपदेषु करोतेर्धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति। सुकृत्। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। पुण्यकृत्। अयमपि नियमार्थ आरम्भः, त्रिविधश्चात्र नियम इष्यते—धातुनियमं वर्जयित्वा कालोपपदप्रत्ययनियमः। धातोरनियतत्वादन्यस्मिन्नप्युपपदे भवति शास्त्रकृत्, भाष्यकृत्।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्त्तन है। उसके सम्भव न होने से 'सु' शब्द को छोड़कर शेष शब्दों का इससे सम्बन्ध होता है।

भूतकाल में कर्मवाची सु, कर्म, पाप, मन्त्र और पुण्य—इन उपपदों के रहते 'कृ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सुकृत्
सुष्ठु कृतवान्—क्विप्, सर्वापहारी लोप, तुक्,
सुकृत्—सु, सुलोप।

(2) कर्मकृत्
कर्म.कृ क्विप्—पूर्ववत्,
कर्मकृत्—पूर्ववत्।

(4) पापकृत्
पाप कृत्—पूर्ववत्।

(5) मन्त्रकृत्—मन्त्र कृ क्विप्।

(6) पुण्यकृत्—पुण्य कृ क्विप्।

अयमपि—यह भी नियम के लिए किया जा रहा है। यहाँ धातुनियम को छोड़कर तीन प्रकार का नियम किया जाता है—

(क) कालनियम—भूतकाल में ही क्विप् होता है; अन्य काल में नहीं।

(ख) उपपदनियम—सु आदि उपपद रहते ही क्विप् प्रत्यय होता है; अन्य उपपद रहते नहीं होता।

(ग) प्रत्ययनियम—क्विप् प्रत्यय ही होता है; अन्य प्रत्यय नहीं होता।

धातोर०—धातु के नियत न होने से अन्य उपपद के रहते भी प्रत्यय होता है।

(7) शास्त्रकृत्
शास्त्र कृ क्विप्—पूर्ववत्।

(8) भाष्यकृत्
भाष्य कृ क्विप्—पूर्ववत्।

(859) सोमे सुञः *90* (3000)

कर्मणीति वर्त्तते। सोमे कर्मण्युपपदे सुनोतेर्धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति। सोमसुत्। सोमसुतौ। सोमसुतः। अयमपि नियमार्थ आरम्भः, चतुर्विधश्चात्र नियम इष्यते-धातु-कालोपपदप्रत्ययविषयः।

अर्थ— 'कर्मणि' पद का अनुवर्त्तन है। सोमकर्मवाची उपपद रहते 'षु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है, भूतकाल अर्थ में।

उदा० (1) सोमसुत्
सोमं सूतवान् → सोम षु क्विप्—धात्वादेः षः सः, 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप,
सोमसुत् स्—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्, सु,
सोमसुत्—सु का लोप।

(2) सोमसुतौ
सोमसुत् औ—पूर्ववत्।

(3) सोमसुतः
सोमसुत् जस्।
यह भी नियमार्थ वचन है। यह पूर्ववत् चार प्रकार से नियम करता है—

(क) धातुनियम—कर्मवाची 'सोम' उपपद रहते 'षु' धातु से ही 'क्विप्' होता है।

(ख) कालनियम—कर्मवाची 'सोम' उपपद रहते 'षु' धातु से भूतकाल में ही 'क्विप्' होता है।

(ग) उपपदनियम—कर्मवाची 'सोम' उपपद रहते ही 'षु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है।

(घ) प्रत्ययनियम—कर्मवाची 'सोम' उपपद रहते 'षु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय ही होता है।

(860) अग्नौ चेः *91* (3001)

कर्मणीत्येव। अग्नौ कर्मण्युपपदे चिनोतेर्धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति। अग्निचित्। अग्निचितौ। अग्निचितः। अत्रापि पूर्ववच्चतुर्विधो नियम इष्यते।

अर्थ—कर्मवाची 'अग्नि' उपपद रहते 'चि' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है, भूतकाल में।

उदा० (1) अग्निचित्
अग्निम् अचैषीत्—पूर्ववत्।

(2) अग्निचितौ
अग्निचित् औ।

(3) अग्निचितः
अग्निचित् जस्।
यहाँ पर भी पूर्ववत् चार प्रकार से नियम किया जाता है।

(861) कर्मण्यग्न्याख्यायाम् *92* (3002)

चेः, कर्मणीति वर्त्तते। कर्मण्युपपदे चिनोतेः कर्मण्येव कारके क्विप् प्रत्ययो भवति अग्न्याख्यायाम् धातूपपद-प्रत्ययसमुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते। श्येन इव चीयते श्येनचित्। कङ्कचित्। आख्याग्रहणं रूढिसम्प्रत्ययार्थम्-अग्न्यर्थो हीष्टकाचय उच्यते श्येनचिदिति।

अर्थ—'चेः' तथा 'कर्मणी'—इन पदों का अनुवर्त्तन है। कर्म कारक में कर्मवाची उपपद रहते 'चि' धातु से 'क्विप्' होता है, अग्नि की आख्या गम्यमान हो तो। सार यह है कि धातु, उपपद तथा प्रत्यय के समुदाय से यदि अग्नि की आख्या गम्यमान हो तो 'क्विप्' होता है।

उदा० (1) श्येनचित्
श्येन इव चीयते—कर्मकारक में 'क्विप्' हुआ,
पूर्ववत् 'तुक्' आदि।

(2) कङ्कचित् (पूर्ववत्)।

रूढि के सम्प्रत्यय के लिए 'आख्या' का ग्रहण है। अग्नि की आख्या इष्टकाचय कहलाता है।

(862) कर्मणीनिर्विक्रियः *93* (3003)

कर्मण्युपपदे विपूर्वात्क्रीणातेर्धातोरिनिप्रत्ययो भवति। कर्मणीति वर्त्तमाने पुनः कर्मग्रहणं कर्तुः कुत्सानिमित्ते कर्मणि यथा स्यात्, कर्ममात्रे मा भूत्–सोमविक्रयी, रसविक्रयी। इह न भवति–धान्यविक्रायः।

अर्थ—कर्मवाची उपपद रहते विपूर्वक क्री धातु से 'इनि' प्रत्यय होता है, भूतकाल में। 'इनि' का नकारोत्तरवर्ती इकार उच्चारणार्थ है।

'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी पुनः प्रकृत सूत्र में 'कर्मणि' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि कर्त्ता की कुत्सा के निमित्त में कर्म में ही पूर्वोक्त प्रत्यय होता है; कर्ममात्र में नहीं होता।

उदा० (1) सोमविक्रयी
सोमं विक्रीतवान्—'इनि' हुआ, विभक्तिकार्य।

(2) रसविक्रयी (पूर्ववत्)।
निम्नलिखित में 'इनि' नहीं होता—

(3) धान्यविक्रायः
यहाँ 'इनि' नहीं हुआ, 'अण्' हुआ।

(863) दृशेः क्वनिप् *94* (3004)

कर्मणीत्येव। दृशेर्धातोः कर्मण्युपपदे क्वनिप् प्रत्ययो भवति। मेरुदृश्वा। परलोकदृश्वा। 'अन्येऽभ्योऽपि दृश्यते' (3.2.75) इति क्वनिपि सिद्धे पुनर्वचनं प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति है। कर्मवाची उपपद रहते 'दृश्' धातु से 'क्वनिप्' होता है, भूतकाल में।

क्वनिप् के ककार व पकार की इत्संज्ञा होती है। इकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) मेरुदृश्वा
मेरुं दृष्टवान्—क्वनिप्, अनुबन्धलोप,
मेरु दृश् वन् सु—सु,
मेरुदृश्वा—विभक्तिकार्य।

(2) परलोकदृश्वा (पूर्ववत्)।

'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' के द्वारा 'क्वनिप्' सिद्ध ही है। तदपि पुनः 'क्वनिप्' का ग्रहण करने से अन्य प्रत्यय की निवृत्ति होती है। सार यह है कि प्रकृत सूत्र में पुनः 'क्वनिप्' का पाठ होने से औत्सर्गिक 'अण्' नहीं होता।

(864) राजनि युधिकृञः *95* (3005)

कर्मणीत्येव। राजन्शब्दे कर्मण्युपपदे युध्यतेः करोतेश्च क्वनिप् प्रत्ययो भवति। ननु च युधिरकर्मकः? अन्तर्भावितण्यर्थः सकर्मको भवति। राजयुध्वा। राजानं योधितवानित्यर्थः। राजकृत्वा।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्त्तन है। कर्मवाची 'राजन्' शब्द उपपद रहते युध् तथा कृ धातुओं से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है, भूतकाल में।

युध् धातु अकर्मक है। तब इससे पूर्व कर्मवाची उपपद किस प्रकार सम्भव है? (समा) अन्तर्भावित ण्यन्त युध् से कर्मवाची उपपद होता है।

उदा० (1) राजयुध्वा
राजानं योधितवान् → राजन् युध् णिच् क्वनिप्—
राजन् युध् वन्—अनुबन्धलोप, 'निष्ठायां सेटि' से णिलोप,
राज युध्वन् सु—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, सु,
राजयुध्वा—विभक्तिकार्य।

(2) राजकृत्वा
राजानं कृतवान् → राजन् कृ क्वनिप्—
राज कृत् वन्—नकारलोप, तुक्,
राजकृत्वा—सु, विभक्तिकार्य।

(865) सहे च *96* (3006)

सहशब्दे चोपपदे युधिकृञोर्धात्वोः क्वनिप्प्रत्ययो भवति। असत्त्ववाचित्वान्नोपपदं कर्मणा विशेष्यते। सहयुध्वा। सहकृत्वा।

अर्थ—'सह' उपपद रहते युध् तथा कृ धातुओं से क्वनिप् प्रत्यय होता है, भूतकाल में।

सत्त्ववाची न होने से उपपद का कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

उदा० (1) सहयुध्वा
सह युद्धवान्, सह युध्यते स्म—'क्वनिप्' हुआ,
सह युध् वन्—सु,
सहयुध्वा—विभक्तिकार्य।

(2) सहकृत्वा
सह कृतवान्—पूर्ववत्।

(866) सप्तम्यां जनेर्डः *97* (3007)

सप्तम्यन्त उपपदे जनेर्धातोर्डः प्रत्ययो भवति। उपसरे जातः उपसरजः। मन्दुरजः।

अर्थ—सप्तम्यन्त उपपद रहते जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, भूतकाल में। डकार की 'चुटू' से इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) उपसरजः
उपसरे जातः → उपसर जन् ड—'ड' हुआ,
उपसर ज् अ—टिलोप,
उपसरजः—सु।

(2) मन्दुरजः
मन्दुरा जन् ड—पूर्ववत् (ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' से ह्रस्व)।

(3) सरसिजम्[1]
सरसि जातम् → सरसि जन् ड—सुप् का लुक् प्राप्त हुआ, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से अलुक्,
सरसि ज् अ सु—टिलोप,
सरसिजम्—विभक्तिकार्य।

(4) सरोजम्[2]
सरसि जन् ड—इस दशा में विभक्ति के अलुक् अभावपक्ष में टिलोप होकर—
सरस् ज् अ—रुत्व, उत्व, गुणादेश,
सरोजम्—सु, विभक्तिकार्य।

(867) पञ्चम्यामजातौ *98* (3008)

पञ्चम्यन्त उपपदे जातिवर्जिते जनेर्डः प्रत्ययो भवति। बुद्धिजः। संस्कारजः। दुःखजः। अजाताविति किम्? हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः।

अर्थ—जातिवाची से अतिरिक्त पञ्चम्यन्त उपपद रहते 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) बुद्धिजः
बुद्धेर्जातः → बुद्धि जन् ड—पूर्ववत्,
बुद्धि ज् अ सु—टिलोप, विभक्तिकार्य।

(2) संस्कारजः
संस्कारेभ्यो जातः—पूर्ववत्।

(3) दुःखजः
दुःखाद् जातः—पूर्ववत्।

अजातौ अर्थात् जातिवाची से भिन्न उपपद रहते 'जन्' से 'ड' होता है—

हस्तिनो जातः—यहाँ जातिवाची पञ्चम्यन्त उपपद (हस्तिनः) है, अतः 'ड' प्रत्यय नहीं हुआ है।

इसी प्रकार 'अश्वाज्जातः' में जानना चाहिए।

(868) उपसर्गे च संज्ञायाम् *99* (3009)

उपसर्गे चोपपदे जनेर्डः प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये। समुदायोपाधिः संज्ञा। अथेमा मानवीः प्रजाः।

अर्थ—संज्ञा के विषय में उपसर्ग उपपदपूर्वक जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, भूतकाल के अर्थ में।

उदा० (1) प्रजाः
प्र जाताः → प्र जन् ड—टिलोप,
प्र ज् अ जस्—जस् प्रत्यय,
प्रजाः—विभक्तिकार्य।
'प्रजा' इस प्रकृति-प्रत्ययसमुदाय के द्वारा संज्ञा अभिहित है।

(869) अनौ कर्मणि *100* (3010)

अनुपूर्वाद् जनेः कर्मण्युपपदे डः प्रत्ययो भवति। पुमांसमनुजातः पुमनुजः। स्त्र्यनुजः।

अर्थ—कर्मवाची उपपद रहते अनुपूर्वक जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है, भूतकाल में।

उदा० (1) पुमनुजः
पुमांसम् अनु जातः → पुंस् अनु जन् ड—टिलोप,
पुम् अनु ज् अ—प्रत्ययलक्षणेन पदसंज्ञा, संयोगान्त लोप,
पुमनुजः—सु।

(2) स्त्र्यनुजः
स्त्रियम् अनु जातः—पूर्ववत्।

(870) अन्येष्वपि दृश्यते *101* (3011)

अन्येष्वप्युपपदेषु कारकेषु जनेर्डप्रत्ययो दृश्यते। सप्तम्यामित्युक्तमसप्तम्यामपि दृश्यते। न जायते इत्यजः। द्विर्जाता द्विजाः। पञ्चम्यामजातौ (3.2.98) इत्युक्तं

1-2. दोनों उदाहरण काशिका में नहीं हैं।

जातावपि दृश्यते। ब्राह्मणजो धर्मः। क्षत्रियजं युद्धम्। उपसर्गे च संज्ञायाम् (3.2.99) इत्युक्तम्, असंज्ञायामपि दृश्यते-अभिजाः, परिजाः केशाः। 'अनौ कर्मणि' (3.2.100) इत्युक्तमकर्मण्यपि दृश्यते-अनु जातः अनुजः। अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः। तेन धात्वन्तरादपि भवति कारकान्तरेऽपि-परितः खाता परिखा, आखा।

अर्थ—पूर्वोक्त उपपदों से अतिरिक्त उपपद रहते तथा अतिरिक्त कारकों में भी जन् धातु से 'ड' प्रत्यय देख जाता है। सप्तम्यन्त उपपद रहते—ऐसा कहा गया है। तब असप्तम्यन्त उपपद रहते भी जन् धातु से 'ड' प्रत्यय दिखाई पड़ता है।

उदा० (1) अजः
न जायते → अ जन् ड—पूर्ववत्।

(2) द्विजः
द्विर्जातः—पूर्ववत्।

'पञ्चम्यामजातौ' के द्वारा अजातिवाची उपपद रहते 'ड' कहा गया है। तब जातिवाची उपपद रहते भी 'ड' प्राप्त होता है—

(3) ब्राह्मणजः
ब्राह्मणाज् जातः—जातिवाची 'ब्राह्मण' उपपद रहते 'ड' हुआ,
ब्राह्मण जन् ड—पूर्ववत् टिलोप,
ब्राह्मणजः—विभक्तिकार्य।

(4) क्षत्रियजम्
क्षत्रिय जन् ड—पूर्ववत्।

'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम्' से संज्ञा में 'ड' कहा गया है। तब असंज्ञा में भी 'ड' उपलब्ध होता है—

(5) अभिजाः
अभितो जायन्ते—असंज्ञा के विषय में 'ड' हुआ,
अभि जन् ड जस्—पूर्ववत्।

(6) परिजाः
परितो जायन्ते—पूर्ववत्।

'अनौ कर्मणि' से कर्म में 'ड' प्रत्यय कहा गया है। तब अकर्म में भी यह प्रत्यय प्राप्त होता है—

(7) अनुजः
अनु जातः → अनु जन् ड—पूर्ववत्।

सूत्र में 'अपि' पद का योग है। इसका प्रयोग सभी विधियों के व्यभिचार के लिए हुआ है। यथा—

(क) धात्वन्तर से 'ड' देखा जाता है—

(8) परिखा
परितः खाता—'जन्' से प्रत्यय कहा गया है, यहाँ धात्वन्तर (खन्) से 'ड' हुआ है,

(9) आखा
समन्तात् खाता—पूर्ववत्।

(871) निष्ठा *102* (3013)

'क्तक्तवतू निष्ठा' (1.1.26) इत्युक्तम्, स निष्ठासंज्ञकः प्रत्ययो भूते भवति। कृतम्। कृतवान्। भुक्तम्। भुक्तवान्। निष्ठा-यामितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः, संज्ञायां क्तक्तवतू भाव्येते, सतोश्चानयोः संज्ञया भाव्यम्? नैष दोषः। भाविनी संज्ञा विज्ञायते, स भूते भवति यस्योत्पन्नस्य निष्ठेत्येषा संज्ञा भवति। सामर्थ्यात् क्तक्तवत्वोर्विधानमेतत्। *आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या* (म० भा०)। प्रकृतः कटं देवदत्तः। प्रकृतवान् कटं देवदत्तः।

अर्थ—'क्तक्तवतू निष्ठा' के द्वारा क्त तथा क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है।

निष्ठासंज्ञक प्रत्यय भूतकाल में होता है। 'तयोरेव कृत्यक्त-खलर्थाः' से क्तप्रत्यय भाव तथा कर्म में होता है। 'कर्त्तरि कृत्' से क्तवतु प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। 'कृदतिङ्' से इन दोनों की कृत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) कृतम्
कृ क्त → कृ त सु—लशक्वतद्धिते,
कृतम्—विभक्तिकार्य।

(2) कृतवान्
कृ क्तवतु → कृ तवत्—ककार व उकार की इत्संज्ञा,
कृतवान्—विभक्तिकार्य।

(3) भुक्तम्
भुज् क्त—पूर्ववत् कुत्व,
भुक् त सु—विभक्तिकार्य।

(4) भुक्तवान्
भुज् क्तवतु—पूर्ववत्।

निष्ठा में इतरेतराश्रय होने से अप्रसिद्धि होती है। सार यह है कि संज्ञा में क्त व क्तवतु विहित हैं तथा विद्यमान क्त व क्तवतु की निष्ठा संज्ञा होती है। इस प्रकार दोनों का इतरेतराश्रय होता है। तब दोनों की अनिष्पत्ति होने लगेगी।

यह दोष नहीं है। भाविनी संज्ञा का ज्ञान किया जाता है—वह भूतकाल अर्थ में होता है, उत्पन्न हुए जिसकी 'निष्ठा' यह संज्ञा की जाती है। सामर्थ्यवशात् क्त एवं क्तवतु का यह विधान है।

आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या आदि कर्म में निष्ठा होती है—

(5) प्रकृतः कटं देवदत्तः
प्रपूर्वक कृ धातु से 'क्त' हुआ।

(6) प्रकृतवान् कटं देवदत्तः
क्तवतु हुआ।

(872) सुयजोर्ङ्वनिप् *103* (3091)

सुनोतेर्यजतेश्च ङ्वनिप् प्रत्ययो भवति। सुत्वा। यज्वा।

अर्थ—भूतकाल में षु और यज् धातुओं से 'ङ्वनिप्' प्रत्यय होता है। इसके पकार की 'हलन्त्यम्' से, ङकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा इकार की 'उपदेशोऽजनुनासिक०' से इत्संज्ञा होती है। पित् होने से तुक् आगम होता है तथा ङित् होने से गुण आदि का निषेध होता है।

उदा० (1) सुत्वा
सुतवान् → षु → सु ङ्वनिप्—धात्वादेः षः सः,
सु वन् → सु त् वन्—तुक्,
सुत्वा—विभक्तिकार्य।

(2) यज्वा
इष्टवान् → यज् ङ्वनिप्—पूर्ववत्।

(873) जीर्यतेरतृन् *104* (3092)

भूत (3.2.84) इति वर्त्तते। जीर्यतेरतृन् प्रत्ययो भवति भूते। जरन्। जरन्तौ। जरन्तः। वाऽसरूपेण निष्ठा-जीर्णः, जीर्णवानिति।

अर्थ—'भूते' का अनुवर्त्तन है। भूत काल में 'जॄ' धातु से 'अतृन्' प्रत्यय होता है। इसके नकार व ऋकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) जरन्
जॄ अतृन्—गुण,
जर् अत् सु—सु, 'उगिदचां०' से 'नुम्',
जरन् त् स्—हल्ङ्यादि लोप, संयोगान्तस्य लोपः,
जरन्—रूप बना।

(2) जरन्तौ
जरत् औ—प्रथमा द्विवचन में,
जरन्तौ—नुम्।

(3) जरन्तः
जरत् जस्—प्रथमा बहुवचन।

'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' से 'अतृन्' प्रत्यय 'निष्ठा' का पाक्षिक बाध करता है। तब पक्ष में 'निष्ठा' से क्त तथा क्तवतु भी होता है—

(4) जीर्णः
जॄ क्त → जिर् त → जीर्णः ऋत—इद्०, रदाभ्यां०।

(5) जीर्णवान्
जॄ क्तवतु → जीर्णवान्।

(874) छन्दसि लिट् *105* (3093)

भूत इत्येव। छन्दसि विषये धातोर्लिट् प्रत्ययो भवति। अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (वा०सं० 8.9)। अहं द्यावापृथिवी आततान (तै०ब्रा० 1.2.1.33)। ननु च 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (3.4.6) इति सामान्येन लिड् विहित एव? धातुसम्बन्धे स विधिः, अयं त्वविशेषेण।

अर्थ—'भूते' का अनुवर्त्तन हो रहा है। (छन्दस् अर्थात्) वेद के विषय में धातु से लिट् प्रत्यय होता है, भूतकाल में।

लिट् के टकार व इकार की इत्संज्ञा होती है। केवल 'ल्' मात्र उच्चारणसामर्थ्य से शेष रहता है।

उदा० (1) ददर्श (वा०सं० 8.9)
दृश् लिट् → दृश् ल्—लिट् हुआ, तिप्,
दृश् तिप् → दृश् णल्—णलतुसुस्०, द्वित्व,
दृ दृश् अ → द दृश् अ—हलादिः शेषः, उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः
द दर्श् अ—पुगन्तलघूपधस्य च,
ददर्श—रूप बना।

(2) आततान (तै०ब्रा० 1.2.1.33)
आ तन् ल् → आ तन् तिप्—पूर्ववत्,
आ त तन् णल् → आ त तान् अ—द्वित्व, अत उपधायाः,
आततान—शेष पूर्ववत्।

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' के द्वारा लिट् का विधान सामान्य रूप से किया गया है। वह विधि तो धातु के सम्बन्ध में है तथा यह तो अविशेष के रूप में है।

(875) लिटः कानज् वा *106* (3094)

छन्दसि लिटः कानजादेशो भवति वा । अग्निं चिक्यानः (मै०सं० 3.3.9)। सोमं सुषुवाणः (मै०सं० 4.4.10)। वरुणं सुषुवाणः (तै०सं० 2.1.9.1)। न च भवति–अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (वा०सं० 8.9), अहं द्यावापृथिवी आततान (तै०ब्रा० 1.2.1.33)। लिड्ग्रहणं किम्, न पूर्वस्यैव प्रकृतस्यादेशविधाने विभक्तिविपरिणामो भविष्यति? लिड्मात्रस्य यथा स्यात्, योऽपि परोक्षे विहितस्तस्याप्ययमादेशो भवति ।

अर्थ—वेद के विषय में भूतकाल में धातु से विहित लिट् प्रत्यय के स्थान पर 'कानच्' प्रत्यय विकल्प से होता है। चकार व ककार की इत् संज्ञा होती है। 'तङानावात्मनेपदम्' से 'कानच्' की आत्मनेपद संज्ञा होती है।

उदा० (1) चिक्यानः (तै० सं० 5.2.3.6)
चि लिट्—कर्तृविवक्षा में 'छन्दसि लिट्' से 'लिट्',
चि कानच्—क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर पाक्षिक 'कानच्', स्थानिवद्भाव से लिट्वत् हुआ,
चि चि आन—लिटि धातोरनभ्यासस्य,
चि कि आन—'विभाषा चेः' से 'की' आदेश, यण् प्राप्त हुआ, इसे बाध कर इयङ् प्राप्त हुआ, इसे बाधकर 'एरनेकाचः०' से यणादेश,
चिक्यान सु—विभक्तिकार्य।

(2) सुषुवाणः
षु → सु लिट् → सु आन—पूर्ववत्,
सुषुवान—उवङ्, षत्व,
सुषुवाणः—णत्व, विभक्तिकार्य।

(3) ददर्श
'कानच्' विकल्प से होता है। अतः पक्ष में लिट् हुआ।

(4) आततान
लिट् हुआ।

लिड्० अर्थात् 'छन्दसि लिट्' से 'लिट्' पद का अनुवर्त्तन करके विभक्ति विपरिणाम से उसे षष्ठ्यन्त 'लिटः' पद बनाकर काम बन जाता है। तब प्रकृत सूत्र में 'लिटः' पद की क्या आवश्यकता है ? इस विषय में दो समाधान हैं—

(क) प्रकृत सूत्र में 'लिटः' पद के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि मात्र पूर्वसूत्र से प्राप्त लिट् के स्थान पर ही उक्त कानच् आदेश न हो; अपितु लिट् मात्र के स्थान पर हो। सार यह है कि उक्त कानच् आदेश 'छन्दसि लिट्' से प्राप्त 'लिट्' तथा 'परोक्षे लिट्' से प्राप्त लिट्'—दोनों स्थानों पर हो जाय। एतदर्थ प्रकृत सूत्र में पुनः 'लिटः' पद का ग्रहण किया गया है।[1]

(ख) यदि प्रकृत सूत्र में 'लिटः' पद का ग्रहण न होता तो उक्त कानच् आदेशस्वरूप न होकर धातु से परे स्वतन्त्र के रूप में गृहीत होते, जिसमें सबसे बड़ा दोष उपस्थित होता कि कानच् परे रहते धातु को द्वित्वादि नहीं होता।[2] अपि च, 'अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् विधि व प्रतिषेध निकट में हुआ करता है, दूर में नहीं। फलतः उक्त कानच् आदेश 'परोक्षे लिट्' से विहित लिट् के स्थान पर नहीं होता है।[3]

विशेष—प्रकृत सूत्र के द्वारा 'कानच्' अग्रिम सूत्र 'क्वसुश्च' से 'क्वसु' प्रत्यय 'छन्दसि लिट्' से प्राप्त लिट् के स्थान पर होते हैं। अतः इन दोनों प्रत्ययों को वैदिक मानना चाहिए—
छान्दसौ कानच्क्वसू[4]
तदपि क्वसुप्रत्ययान्त शब्द लोक में भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। यथा—
तस्थिवांसम्, द्र०—रघु० 5.61.
अधिजग्मुषः, द्र०—रघु० 5.34.

(876) क्वसुश्च *107* (3095)

छन्दसि लिटः क्वसुरादेशो भवति। जक्षिवान् (अथ० 4.7.3)। पपिवान् (ऋ० 1.61.7)। न च भवति–अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (वा०सं० 8.9)। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—वेद के विषय में धातु से विहित 'लिट्' के स्थान पर 'क्वसु' प्रत्यय विकल्प से होता है।

स्थानिवद्भाव से क्वसु भी लिट् हुआ। तब इसके परे रहते द्वित्वादि कार्य होते हैं।

उदा० (1) जक्षिवान्
अद् वस्—लशक्वतद्धिते
घस् वस्—'लिट्यन्यतरस्याम्'
घ घस् वस्—द्वित्व, हलादिः शेषः,
झ घस् वस्—कुहोश्चुः,

1. काशि० 3.2.106. लिण्मात्रस्य यथा स्यात्।
2. न्यास 3.2.107.
3. पद० 3.2.107.
वै० सि० कौ०, सूत्र—3094.
4. महा० 3.2.107.

ज घ् स् वस्—अभ्यासे चर्च, असंयोगाल्लिट् कित्, गमहन० से उपधालोप, 'खरि च' से घकार को चर्त्व प्राप्त हुआ, 'स्थानिवदादेशो०' से स्थानिवद्भाव प्रतिषेध, 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवद्भाव, चर्त्व नहीं हुआ, 'न पदान्तद्विर्वचन०' से पुनः स्थानिवद्भाव का निषेध, चर्त्व (क्) हुआ,

जक् स् वस्—'शासिवसिघसीनां०' से षत्व,

जक्ष् इ वस् सु—'वस्वेकाजाद्० से इट्, सु,

जक्षिवान्—विभक्तिकार्य।

(2) पपिवान् (ऋ० 1.61.7)

पा लिट् → पा क्वसु → प पा वस्—पूर्ववत्

प पा इ व स्—इट्,

पपिवस् सु—आतो लोप इटि च, सु,

पपिवान्—विभक्तिकार्य।

(3) ददर्श

क्वसु नहीं हुआ।

योगविभाग उत्तरवर्ती शास्त्र के लिए किया गया है।

(877) भाषायां सदवसश्रुवः *108* (3097)

सद, वस, श्रु–इत्येतेभ्यः परस्य लिटो भाषायां विषये वा क्वसुरादेशो भवति। आदेशविधानादेश लिडपि तद्विषयोऽनुमीयते। उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् (म०भा०)। तेन मुक्ते यथाप्राप्तं प्रत्यया भवन्ति। उपासदत्। उपासीदत्। उपससाद। अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्। अन्ववात्सीत्। अन्ववसत्। अनूवास। उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्। उपाश्रौषीत्। उपाशृणोत्। उपशुश्राव। लुङ्लङ्विषयेऽपि परस्तादनुवृत्तेः क्वसुर्भवति।

अर्थ—लौकिक प्रयोग के विषय में भूतकाल में सद्, वस् तथा श्रु धातु से लिट् विकल्प से होता है तथा लिट् के स्थान पर नित्य 'क्वसु' होता है। आदेश का विधान होने से ही लिट् का भी अनुमान किया जाता है।

उदा० (1) उपसेदिवान्

उप सद् क्वसु → उपसेदि वस्—अभ्यासलोप इत्यादि,

उपसेदिवान्—विभक्तिकार्य।

(2) उपससाद

लिट् में द्वित्व आदि होकर रूप बनता है।

प्रकृत सूत्र के द्वारा सामान्य भूत तथा विशेष भूत—दोनों में लिट् किया जाता है। पक्ष में क्रमशः लुङ् व लङ् भी होते हैं।

(3) उपासदत्

लुङ् में च्लि, अङ् आदि होकर।

(4) उपासीदत्

लङ्, शप्, अट् होकर।

(5) अनूषिवान्

अनु वस् क्वसु → अनु व वस् वस्—द्वित्व,

अनु उ उस् वस्—'वचिस्वपियजा०' से द्वितीय वकार का सम्प्रसारण तथा 'लिट्यभ्यासस्योभ०' से प्रथम वकार का सम्प्रसारण,

अनूषिवान्—'शासिवसि०' से षत्व, दो बार सवर्णदीर्घ।

(6) अनूवास

अनु वस् लिट्—सम्प्रसारण आदि,

अनु उ वस् अ—उपधादीर्घ, सवर्णदीर्घ।

(7) अन्ववात्सीत्

वस् लुङ् → वस् सिच् ई त्—अस्तिसिचोऽपृक्ते,

वास् स् ई त्—'वदव्रजहलन्तस्याचः' से वृद्धि,

अ वात् सीत्—'सः स्यार्धधातुके' से तकार, अट्,

अन्ववात्सीत्—यणादेश।

(8) अन्ववसत्

वस् लङ् → वस् अ तिप्—शप्,

अनु अवसत्—इतश्च,

अन्ववसत्—यणादेश।

(9) उपशुश्रुवान्

श्रु क्वसु → शु श्रु वस्—द्वित्व, हलादिः शेषः,

उपशुश्रुवान्—सु, अभ्यासकार्य।

(10) उपशुश्राव

श्रु श्रु णल् → शु श्रौ अ—पक्ष में लिट्, णल्, द्वित्व, वृद्धि,

उपशुश्राव—आवादेश।

(11) उपाश्रौषीत्

श्रु लुङ् → अ श्रु स् ई त्—अट्, सिच्, ईट्,

अश्रौषीत्—वृद्धि, षत्व,

उपाश्रौषीत्—सवर्णदीर्घ।

(12) उपाशृणोत्

श्रु लङ्—शृ आदेश, शप्, शप् को बाध कर 'श्नु',

अ शृ नु त्—लशक्वतद्धिते, 'नु' को गुण,
उपाशृणोत्—'सार्वधातुकमपित्' से 'श्नु' ङित् हुआ।

(878) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च *109* (3098)

उपेयिवान्, अनाश्वान्, अनूचान इत्येते शब्दा निपात्यन्ते। उपपूर्वादिणः क्वसुः, द्विर्वचनमभ्यासदीर्घत्वम् (7.4.69), तत्सामर्थ्यादेकादेशप्रतिबन्धः, तत्र 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (7.2.67) इत्यनेकाच्त्वादिण् न प्राप्नोति, स निपात्यते, अभ्यासस्य श्रवणं धातुरूपस्य यणादेशः (6.4.81)- उपेयिवान्। क्रादिनियमात्प्राप्तश्च 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति प्रतिषिद्धः, स पुनरिद् प्रतिप्रसूयते, तेनाजादौ न भवति- उपेयुषः, उपेयुषा। न चात्रोपसर्गस्तन्त्रम्। अन्योपसर्ग-पूर्वान्निरुपसर्गात्तु भवत्येव-समीयिवान्, ईयिवान्। वावचनानुवृत्तेश्च पूर्ववल्लुङादयोऽपि भवन्ति-उपागात्, उपैत्, उपेयाय। अश्नातेर्नञ्पूर्वात् क्वसुर्निपात्यते, इडभावश्च-अनाश्वान्, नाशीत्, नाश्नात्, नाश। वचेरनु-पूर्वात् कर्त्तरि कानज्निपात्यते-अनूचानः, अन्ववोचत्, अन्वब्रवीत्, अनूवाच।

अर्थ—उपेयिवान्, अनाश्वान् तथा अनूचान शब्द निपातनसिद्ध हैं। इनमें पक्ष में लिट् होकर 'क्वसु' प्रत्यय नित्य होता है। विकल्प होने से पक्ष में यथाप्राप्त लुङ् तथा लङ् भी होते हैं।

उदा० (1) उपेयिवान्
उप इ क्वसु—द्वित्व, 'दीर्घ इणः' से अभ्यास को दीर्घ,
उप ई इ वस्—यणादेश का निपातन, 'वस्वेकाजा०' से क्रादि-नियम से प्राप्त इट् का निषेध, पुनः निपातन से इट्,
उप ई य् इ वस् सु—सु,
उपेयिवान्—विभक्तिकार्य।

अभ्यास दीर्घ तथा उसके सामर्थ्य से एकादेश का प्रतिबन्ध हुआ, अनेकाच् होने से 'वस्वेकाजा०' से इट् का निषेध इट् का निपातन हुआ है। क्रादि नियम से प्राप्त 'इट्' का 'वस्वेकाजादा०' से प्रतिषेध हुआ। तब इट् का पुनः प्रतिप्रसव हुआ है।

(2) उपेयुषः
उप ई य् वस् शस्—द्वितीया बहुव०, भसंज्ञा, सम्प्रसारण,
उप ई य् उस् अस्—सम्प्रसारणाच्च,
उपेयुषः—आदेशप्रत्यययोः।

(3) उपेयुषा
उप ई य् वस् टा—तृतीया एकव०, भसंज्ञा, सम्प्रसारण,
उपेयुषा—मूर्धन्यादेश।

यहाँ उपसर्ग 'उप' प्रधान नहीं है। कारण कि उप से अतिरिक्त अन्य उपसर्ग के उपपद रहते भी क्वसु होता है तथा उपसर्ग के न रहते भी क्वसु होता है—

(4) समीयिवान्
सम् इ क्वसु—पूर्ववत्।

(5) ईयिवान्
इ क्वसु—पूर्ववत्।

(6) उपेयाय
उप इ लिट् → उप इयाय—द्वित्व, इयङ् वृद्धि।

(7) उपागात्
इ लुङ् → गा तिप्—इणो गा लुङि,
अ गा त्—च्लि, सिच्, गातिस्थाघुपा०,
उपागात्—सवर्णदीर्घ।

(8) उपैत्
इ लङ् → इ तिप्—शप्, शप् का लुक्,
उपैत्—वृद्धि।

(9) अनाश्वान्
नञ् अश् क्वसु—निपातन से इट् का अभाव, द्वित्व,
न अ अश् वस् — न आश् वस्—नलोपो०,
अन् आश् वस्—तस्मान्नुडचि०,
अनाश्वान्—सु, विभक्तिकार्य।

(10) नाश
न आश् लिट्—पक्ष में लिट्,
न अ अश् अ—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
नाश—एकादेश।

(11) नाशीत्
न अश् लुङ् → न अश् इ स् ई त्—सिच्, इट्, ईट्,
नाशीत्—इट ईटि, सवर्णदीर्घ।

(12) नाश्नात्
न अश् लङ् → न अश् श्ना त्—क्र्यादिभ्यः श्ना,
नाश्नात्—लशक्वतद्धिते।

(13) अनूचानः
वच् कानच्—निपातन से 'कानच्'—
उ उच् आन—सम्प्रसारण, वचिस्वपियजा०, द्वित्व, अभ्यास-कार्य,

अनु ऊचान—सवर्णदीर्घ,
अनूचानः—सु, विभक्तिकार्य।

(14) अनूवाच
अनु वच् लिट्—पक्ष में,
अनु उ वच् णल्—अत उपधायाः,
अनूवाच—सवर्णदीर्घ।

(15) अन्ववोचत्
वच् लुङ् → वच् त्—उम् आगम, अट्,
अनु अवोचत्—गुणादेश,
अन्ववोचत्—यणादेश।

(16) अन्वब्रवीत्
ब्रू लङ्—अट्, शप्, शप् लुक्,
अ ब्रो ई त्—ब्रुव ईट्, गुण, अट्,
अब्रवीत्—अवादेश,
अन्वब्रवीत्—यणादेश।

(879) लुङ् *110* (2218)

भूत इत्येव। भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्लुङ् प्रत्ययो भवति। अकार्षीत्। अहार्षीत्। *वसतेर्लुङ् रात्रिविशेषे जागरणसन्ततौ वक्तव्यः* (म०भा०)। क्व भवानुषितः? अहमत्रावात्सम्।

अर्थ—सामान्य भूत में धातु से लुङ् प्रत्यय होता है।

पूर्ववत् उकार तथा ङकार की इत्संज्ञा होती है तथा वचनसामर्थ्य से लकार शेष रहता है।

उदा० (1) अकार्षीत्
कृ लुङ् → कृ ल् → कृ त्—इतश्च,
कृ च्लि त् → कृ स् त्—च्लि लुङि, च्लेः सिच्,
अ कृ स् ई त्—अट्, ईट्,
अकार्षीत्—वृद्धि, षत्व।

वसतेर्लुङ् रात्रिविशेषे जागरणसन्ततौ वक्तव्यः—रात्रिविशेष में पूरी तरह जागते रहने पर वस् धातु से लुङ् प्रत्यय होता है—

(2) उषितः
वस् क्त—सम्प्रसारण, इट्, षत्व।

(3) अवात्सम्
वस् मिप्—अमादेश, (तस्थस्थमिपां०),
अ वस् स् अम्—अट्, सिच्,

अवास् स् अम्—वदव्र-जहलन्तस्याऽचः,
अवात्सम्—'सः स्यार्धधातुके' से तकार।

(880) अनद्यतने लङ् *111* (2205)

भूत इत्येव। अनद्यतन इति बहुव्रीहिनिर्देशः। अविद्यमानाद्यतने भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति। अकरोत्। अहरत्। बहुव्रीहिनिर्देशः किमर्थः? अद्य ह्यो वा अभुंक्ष्महीति व्यामिश्रे मा भूत् (म०भा०)। *परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः*। अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनो माध्यमिकामिति।

अर्थ—'भूते' का अनुवर्त्तन है। अनद्यतनः अविद्यमानोऽद्यतनः इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। यह दो प्रकार का होता है—परोक्ष व अपरोक्ष। परोक्ष अनद्यतन में लिट् होता है। अविद्यमान अद्यतन भूत काल में लङ् प्रत्यय होता है। तब अद्यतन, व्यामिश्र, सामान्य भूत तथा आतिदेशिक भूतवत् काल के अर्थ में लङ् नहीं होता है।

(1) अकरोत्
कृ लङ् —कृ त्—तनादिकृञ्भ्य उः,
कर् उ त्—गुण,
अकरोत्—गुण, अट्।

(2) अहरत्
हृ लङ् → हृ शप् त्—कर्त्तरि शप्,
अहरत्—सार्वधातुकार्धधातु० से गुण।

परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः—लोक में प्रसिद्ध तथा प्रयोग करने वाले की अनुभूति का विषय होने पर धातु से लङ् प्रत्यय होता है। सार यह है कि जिसके सम्मुख वाक्य का प्रयोग हो रहा हो, उसने घटना को नहीं देखा हो; परन्तु प्रयोग करने वाला उसे देख सकता है तथा वह घटना लोक में ही प्रसिद्ध है, तब धातु से लङ् प्रत्यय होता है—

(3) अरुणत्
रुध् लङ् → रुध् ल् → रुध् त्—इतश्च,
रु श्नम् ध् त्—रुधादिभ्यः श्नम्, मिदचोऽन्त्यात् परः,
रु न ध् —तकार का लोप, अट्,
अरुणत्—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने, णत्व।

(881) अभिज्ञावचने लृट् *112* (2773)

अभिज्ञा स्मृतिः, तद्वचने उपपदे भूतानद्यतने लृट्प्रत्ययो भवति। लङोऽपवादः। अभिजानासि देवदत्त। कश्मीरेषु

वत्स्यामः। वचनग्रहणं पर्यायार्थम्-अभिजानासि, स्मरसि, बुध्यसे, चेतयसे इति।

अर्थ—स्मृतिवाची उपपद रहते अनद्यतन भूतकाल में धातु से लृट् प्रत्यय होता है। यह लङ् का अपवाद।

उदा० (1) अभिजानासि देवदत्तः कश्मीरेषु वत्स्यामः

स्मृतिवाचक 'अभिजानासि' पद का प्रयोग हुआ है। अतः 'वस्' से लृट् हुआ।

'वचन' ग्रहण के द्वारा पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है। यथा—

(2) स्मरसि देवदत्तः·····।

(3) बुध्यसे·····।

(4) चेतयसे·····।

(882) न यदि *113* (2774)

यच्छब्दसहितेऽभिज्ञावचन उपपदे लृट् प्रत्ययो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते। अभिजानासि देवदत्त! यत्कश्मीरेष्ववसाम। वासमात्रं स्मर्यते, न त्वपरं किञ्चिल्लक्ष्यते। तेनोत्तरसूत्रस्य नायं विषयः।

अर्थ—'यद्' शब्दसहित स्मृतिवाची उपपद रहते अनद्यतन भूत में धातु से लृट् प्रत्यय नहीं होता। 'अनद्यतने लङ्' से लङ् होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा लृट् प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया गया है।

उदा० (1) अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेष्ववसाम

'वस्' से लङ् हुआ।

वस् लङ् → वस् मस्—शप्, दीर्घ,

अ वसामस्—अट्,

अवसाम—आतो ङितः।

(883) विभाषा साकाङ्क्षे *114* (2775)

यदीति नानुवर्त्तते। उभयत्र विभाषेयम्। अभिज्ञावचने उपपदे यच्छब्दसहिते केवले च विभाषा लृट् प्रत्ययो भवति साकाङ्क्षश्चेत्प्रयोक्ता। लक्ष्यलक्षणयोः सम्बन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा भवति। अभिजानासि देवदत्त? कश्मीरेषु वत्स्यामः, तत्रौदनं भोक्ष्यामहे? अभिजानासि देवदत्त? मगधेषु वत्स्यामः, तत्रौदनं भोक्ष्यामहे? यदि खल्वपि अभिजानासि देवदत्त! मगधेषु वत्स्यामः, यत्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे? अभिजानासि देवदत्त! यत्कश्मीरेष्ववसाम, यत्तत्रौदनमभुञ्ज्महि? वासो लक्षणम्, भोजनं लक्ष्यम्।

अर्थ—यदि प्रयोक्ता साकांक्ष हो तो स्मृतिवाची उपपद रहते धातु से विकल्प से लृट् प्रत्यय होता है, भूतकाल में। (चाहे 'यत्' का प्रयोग हो अथवा न हो)।

यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा अर्थात् उभयत्र विभाषा है। लक्ष्य तथा लक्षण के सम्बन्ध में प्रयोक्ता की आकांक्षा होती है।

उदा० (1) अभिजानासि देवदत्त मगधेषु वत्स्यामः, तत्रौदनं भोक्ष्यामहे—यहाँ यह बताने की आकांक्षा है कि हम मगध में रहते थे तथा भात खाते थे। अतः प्रयोक्ता साकांक्ष है। लृट् हो गया। पक्ष में लङ् हुआ।

(2) अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु अवसाम यत्तत्रौदनम् अभुञ्ज्महि—यहाँ 'यत्' का प्रयोग है। पूर्ववत् पाक्षिक लृट् हुआ। पक्ष में लङ् हुआ।

यहाँ 'वास' लक्षण है तथा 'भोजन' लक्ष्य है।

(884) परोक्षे लिट् *115* (2171)

भूतानद्यतन इति वर्त्तते, तस्य विशेषणं परोक्षग्रहणम्, भूतानद्यतनपरोक्षेऽर्थे वर्तमानाद्धातोर्लिट् प्रत्ययो भवति। ननु च धात्वर्थः सर्वः परोक्ष एव? सत्यमेतत्, अस्ति तु लोके धात्वर्थेनापि कारकेषु प्रत्यक्षाभिमानः, स यत्र नास्ति तत्परोक्षमित्युच्यते। चकार। जहार। उत्तमविषयेऽपि चित्तव्याक्षेपात् परोक्षता सम्भवत्येव। तद्यथा–सुप्तोऽहं किल विललाप। *अत्यन्तापह्नवे च लिड् वक्तव्यः*। कलिङ्गेषु स्थितोऽसि? नाहं कलिङ्गान् जगाम। दक्षिणापथं प्रविष्टोऽसि? नाहं दक्षिणापथं प्रविवेश।

अर्थ—भूते तथा अनद्यतने—इन पदों की अनुवृत्ति है। इसका विशेषण परोक्ष पद का ग्रहण है। अनद्यतन परोक्ष भूत में धातु से लिट् प्रत्यय होता है।

भूत पाँच प्रकार का बताया गया है—[1]

अद्यतन, अनद्यतन, व्यामिश्र, सामान्य तथा भविष्यद् विषयक आशंसा अर्थ में आतिदेशिक भूतवत् (द्र०—3.3.132)। प्रथम चार भेद मुख्य हैं तथा अन्तिम भेद गौण है।

(क) अद्यतन—अद्यतन का अर्थ है—आज का। भारतीय परम्परानुसार ब्राह्ममुहूर्त्त से लेकर शयनपर्यन्त अद्यतन काल कहलाता है।

(ख) अनद्यतन—3.2.111 पर व्याख्या देखें।

1. मा० धा० पृ० 5—भूतः पञ्चविधस्तत्र।

(ग) **व्यामिश्र**—अद्यतन व अनद्यतन के मेल से बने काल को व्यामिश्र कहते हैं। यथा—मैंने आज और कल दही खाया।

(घ) **सामान्य**—जहाँ केवल 'व्यतीत होना' प्रकट होता हो, उसे सामान्य भूत कहते हैं।

(ङ) **भूतवत्**—यह लृङ् (हेतुहेतुमद्भाव) से विपरीत होता है। यथा—

गुरुश्चेदागमद् वयमध्यगीष्महि (=यदि गुरु जी आ जायँ तो हम पढ़ें)। महाभाष्य में 'परोक्ष' शब्द के अर्थ के विषय में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं।

सामान्यतः जिस क्रिया का दर्शन न हो सके, उसे परोक्षकाल में घटित माना जाता है।

ननु—सभी धात्वर्थ परोक्ष ही होता है। अतः 'परोक्षे' की क्या आवश्यकता है ? यह सत्य है। लोक में धात्वर्थ के द्वारा कारकों में प्रत्यक्षाभिमान अर्थात् मिथ्याज्ञान होता है। ऐसा जहाँ वह नहीं रहता है, वहाँ 'परोक्षे' ऐसा कहा जाता है।

उदा० (1) चकार
कृ लिट् → कृ ल्—लिट् हुआ,
कृ तिप् → कृ णल्—णल् हुआ,
कृ कृ अ—द्विर्वचनेऽचि, द्वित्व, उरत्, उरण् रपरः,
क कार् अ → चकार—अचो ञ्णिति, कुहोश्चुः।

(2) जहार
हृ णल्—पूर्ववत्।
उत्तम विषय में भी चित्त व्यापेक्ष के कारण परोक्षता सम्भव है—

(3) विललाप
लप् लिट् → ल लप् णल्—द्वित्वादि,
विललाप—अत उपधायाः।

अत्यन्तापह्नवे च लिड् वक्तव्यः—अत्यधिक अपलाप के विषय में लिट् प्रत्यय होता है। अपलाप का अर्थ है—कोरा झूठ। यथा—

कलिङ्गेषु स्थितोऽसि = क्या तुम कलिङ्ग में रहे हो ?
नाऽहं कलिङ्गं जगाम = मैं कलिङ्ग कभी गया भी नहीं।
अपलाप में लिट् हो गया है।

इसी प्रकार—
दक्षिणापथं प्रविष्टोऽसि ?
नाऽहं दक्षिणापथं प्रविवेश।

(885) हशश्वतोर्लङ् च *116* (2776)

भूतानद्यतनपरोक्षेऽर्थे लिटि प्राप्ते हशश्वतोरुपपदयोर्लङ् प्रत्ययो भवति चकाराल्लिट् च। इति हाकरोत्, इति ह चकार। शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार।

अर्थ—अनद्यतन व परोक्ष भूतकाल में 'ह' तथा 'शश्वत्' उपपद रहते धातु से लङ् प्रत्यय तथा लिट् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) इति हाऽकरोत्
कृ लङ्—पूर्ववत् कार्य होकर,
अकरोत्—रूप बनता है।

(2) शश्वदकरोत्
पूर्ववत् लङ्।

(3) शश्वच्चकार
पक्ष में लिट् हुआ।

(886) प्रश्ने चासन्नकाले *117* (2777)

भूतानद्यतनपरोक्ष इति वर्त्तते। तस्य विशेषणमेतत्। प्रष्टव्यः प्रश्नः। आसन्नकाले पृच्छ्यमाने भूतानद्यतपरोक्षेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लङ्लिटौ प्रत्ययौ भवतः। कश्चित् कञ्चित्पृच्छति–अगच्छद्देवदत्तः ? जगाम देवदत्त ? अयजद्देवदत्तः ? इयाज देवदत्तः ? प्रश्न इति किम् ? जगाम देवदत्तः। आसन्नकाल इति किम् ? भवन्तं पृच्छामि, जघान कंसं किल वासुदेवः।

अर्थ—भूते अनद्यतने तथा परोक्षे—इनकी अनुवृत्ति है। समीपकालिक प्रश्न गम्यमान रहते अनद्यतन, परोक्ष, भूत में धातु से लङ् व लिट् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) अगच्छद् देवदत्तः किम् ?
आसन्न प्रश्न गम्यमान होने पर लङ् हुआ।

(2) जगाम देवदत्तः किम् ?
पूर्ववत् लिट् हुआ।

(3) अयजद् देवदत्तः किम् ?
लङ् हुआ।

(4) इयाज देवदत्तः किम् ?
लिट् हुआ।

प्रश्ने अर्थात् प्रश्न गम्यमान होने पर ही लङ् व लिट् होते हैं—

जगाम देवदत्तः—यहाँ प्रश्न नहीं है, सामान्य कथन है।

आसन्न० अर्थात् समीपकालिक प्रश्न गम्यमान हो तो लङ् व लिट् होते हैं—

भवन्तं पृच्छामि, जघान कंसं किल वासुदेव—
यहाँ समीपकालिक प्रश्न नहीं है।

(887) लट् स्मे *118* (2778)

भूतानद्यतनपरोक्ष इति वर्त्तते। स्मशब्द उपपदे भूतानद्यतनपरोक्षे लट् प्रत्ययो भवति। लिटोऽपवादः। नलेन स्म पुराधीयते। ऊर्णया स्म पुराधीयते।

अर्थ—भूते, अनद्यतने तथा परोक्षे—इनकी अनुवृत्ति है। अनद्यतन, परोक्ष, भूत में 'स्म' उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय होता है। यह लिट् का अपवाद है।

उदा० (1) नलेन स्म पुरा धीयते
'स्म' उपपद रहते लट् प्रत्यय हुआ।

(2) ऊर्णया स्म पुरा धीयते।

(888) अपरोक्षे च *119* (2779)

अपरोक्षे च भूतानद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद्धातोः स्म उपपदे लट् प्रत्ययो भवति। एवं स्म पिता ब्रवीति। इति स्मोपाध्यायः कथयति।

अर्थ—अपरोक्ष, अनद्यतन, भूत काल में 'स्म' उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) एवं स्म पिता ब्रवीति
अपरोक्ष, अनद्यतन, भूत में 'स्म' उपपद रहते लट् हुआ।

(2) इति स्मोपाध्यायः कथयति।

(889) ननौ पृष्टप्रतिवचने *120* (2780)

अनद्यतने परोक्ष इति निवृत्तम्। भूतसामान्ये विधिरयम्। ननुशब्द उपपदे प्रश्नपूर्वके प्रतिवचने भूतेऽर्थे लट् प्रत्ययो भवति। लुङोऽपवादः। अकार्षीः कटं देवदत्त? ननु करोमि भोः। अवोचस्तत्र किञ्चिद्देवदत्त? ननु ब्रवीमि भोः। पृष्टप्रतिवचन इति किम्? नन्वकार्षीन्माणवकः।

अर्थ—अनद्यतने तथा परोक्षे—इनकी अनुवृत्ति नहीं है। यह भूतसामान्य में विधान है। 'ननु' उपपद रहते पृष्टप्रतिवचन अर्थ में तथा भूत अर्थ में धातु से लट् प्रत्यय होता है। यह लुङ् का बाधक है।

पूछे जाने पर जो उत्तर दिया जाय, उसे पृष्टप्रतिवचन कहते हैं।

उदा० (1) प्रश्न—अकार्षीः कटं देवदत्तः किम्?
उत्तर—ननु करोमि भोः
'ननु' उपपद रहते लट् हुआ।

(2) प्रश्न—अवोचस्तत्र किञ्चिद् देवदत्तः किम्?
उत्तर—ननु ब्रवीमि भोः
पूर्ववत् लट् हुआ।

पृष्टप्रति० अर्थात् पृष्टप्रतिवचन गम्यमान रहते ही लट् होता है—

नन्वकार्षीन्माणवकः
यहाँ पृष्टप्रतिवचन न होने से लट् नहीं हुआ।

(890) नन्वोर्विभाषा *121* (2781)

भूत इत्येव। नशब्दे नुशब्दे चोपपदे पृष्टप्रतिवचने विभाषा लट् प्रत्ययो भवति भूते। अकार्षीः कटं देवदत्त? न करोमि भोः। नाकार्षम्। अहं नु करोमि। अहं न्वकार्षम्।

अर्थ—'भूते' का अनुवर्त्तन है। पृष्टप्रतिवचन अर्थ गम्यमान रहते भूतकाल में 'न' तथा 'नु' उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय विकल्प से होता है।

यहाँ लुङ् प्राप्त था। पाक्षिक लट् हुआ।

उदा० (1) अकार्षीः कटं देवदत्त, न करोमि भोः
यहाँ पृष्टप्रतिवचन है। 'न' उपपद है। पाक्षिक लट् हुआ।

(2) नाऽकार्षम्
पक्ष में लुङ् हुआ।

(3) अहं नु करोमि
'नु' उपपद है। पाक्षिक लट् हुआ।

(4) अहं न्वकार्षम्
पक्ष में लुङ् हुआ।

(891) पुरि लुङ् चास्मे *122* (2782)

अनद्यतनग्रहणमिह मण्डूकप्लुत्यानुवर्त्तते। पुराशब्द उपपदे स्मशब्दवर्जिते भूतानद्यतनेऽर्थे विभाषा लुङ् प्रत्ययो भवति लट् च। ताभ्यां मुक्ते पक्षे यथाविषयमन्येऽपि प्रत्यया भवन्ति। वसन्तीह पुरा छात्राः। अवात्सुः पुरा छात्राः। अवसन्निह पुरा छात्राः। ऊषुरिह पुरा छात्राः। अस्म इति किम्? नलेन स्म पुराधीयते।

अर्थ—प्रकृत सूत्र में मण्डूकप्लुति न्याय से 'अनद्यतने' का अनुवर्त्तन है। अनद्यतन भूतकाल में 'पुरा' उपपद रहते धातु से विकल्प से लुङ् होता है तथा लट् भी होता है, परन्तु 'स्म' उपपद रहते नहीं होता। लुङ् अभाव पक्ष में लङ् व लिट् भी होते हैं। अतः चार रूप बनते हैं।

उदा० (1) वसन्तीह पुरा छात्राः
लट् हुआ।

(2) अवात्सुः पुरा छात्राः
वस् लुङ् → वस् ल्—पाक्षिक लुङ्,
वस् झि → वस् जुस्—झेर्जुस्, सिच्, चुट्,
अ वात् स् उस्—अट्, उपधावृद्धि, तकार,
अवात्सुः—रूप बना।

(3) अवसन्निह पुरा छात्राः
वस् लङ् → वस् झि—लुङ् अभाव पक्ष में लङ्,
अवस् अ अन्त्—इतश्च, झोऽन्तः,
अवसन्—संयोगान्तस्य लोपः।

(4) ऊषुरिह पुरा छात्राः
वस् लिट् → वस् झि—लुङ् अभाव पक्ष में लिट्,
वस् उस् → उ उस् उस्—णलतुसुस्०, सम्प्रसारण, द्वित्व, हलादि शेष,
ऊस् उस्—सवर्णदीर्घ,
ऊषुः—षत्व।

अस्मे अर्थात् स्म उपपद न रहते धातु से लुङ् व लट् होते हैं—

(5) नलेन स्म पुरा धीयते
'स्म' उपपद रहते लुङ् नहीं हुआ। 'लट् स्मे' से लट् हुआ।

(892) वर्त्तमाने लट् *123* (2151)

आरब्धोऽपरिसमाप्तश्च वर्त्तमानः, तस्मिन् वर्त्तमानेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। पचति। पठति।

अर्थ—वर्त्तमान काल में विद्यमान धातु से लट् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पचति
पच् लट्—भूवादयो धातवः, वर्त्तमाने लट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च,
पच् तिप्—प्र०पु० एकव० में 'तिप्', हलन्त्यम्, तिङ्शित्०,
पचति—कर्त्तरि शप्।

(2) पठति
पठ् शप् तिप्—पूर्ववत्।

विशेष—लट् के टकार व अकार की इत् संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। 'ल्' शेष रहता है। 'लशक्वतद्धिते' से 'ल्' की इत् संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु प्रयोजनाभाव से इसकी इत् संज्ञा नहीं होती। इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(क) लित् करण का प्रयोजन 'लिति' सूत्र से प्रत्यय से पूर्व विद्यमान अच् को उदात्त करना है। परन्तु इसका यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कारण कि लकार के लित् करण से उदात्तता करने पर लिट् के आदेशस्वरूप णल् को लित् करना व्यर्थ हो जाएगा।[1]

(ख) लट् आदि के लकार की इत् सञ्ज्ञा व लोप कर देने पर 'लस्य' 'लः परस्मैपदम्' तथा 'लः कर्मणि च भावे०' आदि सूत्रों में 'ल्' वर्ण का उच्चारण नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य पाणिनि को लट् इत्यादि में लित् करना इष्ट नहीं है।

इसी प्रकार लिट्, लुट् आदि में भी जानना चाहिए।

(893) लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे *124* (3100)

लटः शतृशानचावित्येतावादेशौ भवतः अप्रथमान्तेन चेत्तस्य सामानाधिकरण्यं भवति। पचन्तं देवदत्तं पश्य। पचमानं देवदत्तं पश्य। पचता कृतम्। पचमानेन कृतम्। अप्रथमासमानाधिकरणे इति किम्? देवदत्तः पचति। लडिति वर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणमधिकविधानार्थम्; क्वचित् प्रथमासमानाधिकरणेऽपि भवति—सन् ब्राह्मणः, अस्ति ब्राह्मणः विद्यते ब्राह्मणः, विद्यमानो ब्राह्मणः। जुह्वत्, जुहोति। अधीयानः, अधीते। *माङ्याक्रोशे*। मा पचन्। मा पचमानः। केचिद् विभाषाग्रहणमनुवर्त्तयन्ति, 'नन्वोर्विभाषा' (3.2.121) इति। सा च व्यवस्थिता। तत्र यथादर्शनं प्रयोगा नेतव्याः।

अर्थ—जो प्रथमान्त नहीं है (अर्थात् जो द्वितीयान्त आदि है)। ऐसे पद के साथ यदि लट् का सामानाधिकरण्य हो तो लट् के स्थान पर शतृ व शानच् प्रत्यय होते हैं।

शतृ के शकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा ऋकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत् संज्ञा होती है। 'अत्' शेष रहता है।

1. महा० 3.4.77. इत्कार्याभावादेवेत्सञ्ज्ञा न भविष्यति।

शित् होने के कारण 'शतृ' की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक सञ्ज्ञा होती है। तब शप् आदि विकरण होते हैं।

शतृ परस्मैपदी धातु से होता है, कारण कि इसमें आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं है।

ऋकार उक् प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। अतः शतृ उगित् हुआ। इसके दो फल हैं—

'उगिदचां—' से नुम् आगम करना,
'उगितश्च' से स्त्रीत्व में ङीप् करना।

शानच् के चकार व शकार की इत् सञ्ज्ञा होती है। शित् होने से यहाँ भी शप् आदि होते हैं। 'तङानावात्मनेपदम्' से शानच् की आत्मनेपद सञ्ज्ञा होती है। अतः आत्मनेपदी धातु से ही होता है। लट् के स्थान पर आदिष्ट होने के कारण स्थानिवद् भाव से शतृ व शानच् की कृत् सञ्ज्ञा व प्रत्ययसञ्ज्ञा होती है।

उदा० (1) पचन्तं देवदत्तं पश्य

पच् लट्—'देवदत्तम्' द्वितीयान्त पद है, यह जिस अधिकरण को कहता है, पच् से वर्त्तमान में विहित लट् प्रत्यय उसी अधिकरण को कहता है, लट् व द्वितीयान्त पद का सामानाधिकरण्य हुआ,

पच् शतृ—लट् के स्थान पर 'शतृ' हुआ,
पच् शप् अत्—तिङ् शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्,
पचत् अम्—द्वितीया एकवचन की विवक्षा,
पचन्तम्—नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) पचमानं देवदत्तं पश्य

पच् शानच्—पूर्वोक्त स्थिति में आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' हुआ,
पच् शप् आन—शप्,
पच म् आन सु—'आने मुक्' से मुगागम, सु,
पचमानः—विभक्तिकार्य।

(3) पचता कृतम्

तृतीयान्त पद के साथ सामानाधिकरण्य है। पचत् टा — पचता।

(4) पचमानेन कृतम्

पूर्वोक्त स्थिति में 'शानच्' हो गया।

अप्रथमा० अर्थात् **जो प्रथमान्त नहीं हैं,** ऐसे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने पर लट् के स्थान पर शतृ व शानच् होते हैं—

(5) देवदत्तः पचति

लट् लकार है, परन्तु उसका प्रथमान्त पद (देवदत्तः) के साथ सामानाधिकरण्य होने से शतृ अथवा शानच् नहीं हुआ।

'लट् स्मे' सूत्र से 'लट्' की अनुवृत्ति उपलब्ध होने पर भी पुनः लट् पद का ग्रहण अधिक विधान के लिए है। कहीं-कहीं प्रथमा के समानाधिकरण की दशा में भी लट् के स्थान पर पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

(6) सन् ब्राह्मणः

अस् लट् → अस् शतृ—प्रथमान्त 'ब्राह्मणः' पद के साथ लट् का सामानाधिकरण्य है, तदपि 'शतृ' हो गया है,
अस् शप् अत्—शप्, शप् का लुक्,
असत् → सत्—अकार का लोप,
सन्—सु, विभक्तिकार्य।

ध्यातव्य है कि प्रथमान्त के सामानाधिकरण्य की दशा में पक्ष में लट् के स्थान पर तिङन्त का भी प्रयोग होता है—

अस्ति ब्राह्मणः, विद्यते ब्राह्मणः

इसी प्रकार—

(7) जुह्वत्

हु शतृ → हु अत्—शप्, श्लु, 'श्लौ' से द्वित्व,
जुहु अत्—कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
जुह्वत्—यण्, विभक्तिकार्य।

(8) जुहोति

पक्ष में तिङन्त पद रहता है।

(9) अधीयानः

अधि इङ् ल् → अधि ई शानच्—शप्, शप् का लुक्,
अधि इय् आन—अचि श्नुधातु० से इयङ्,
अधीयानः—अकः सवर्णे दीर्घः, सु।

(10) अधीते

पक्ष में तिङन्त पद भी होता है।

माङ्याक्रोशे—आक्रोश अर्थ में माङ् उपपद रहते लट् के स्थान पर शतृ व शानच् होते हैं—

(11) मा पचन्

माङ् उपपद है, आक्रोश अर्थ है। शतृ हुआ—
पच् शप् शतृ—सु होकर रूप बनता है।

(12) मा पचमानः

पूर्ववत्। पच् शप् मुक् शानच् सु।
कुछ लोग यहाँ 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन करते हैं—

'नन्वोर्विभाषा' से। यह व्यवस्थित विभाषा है। तब जैसा प्रयोग दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार उसकी साधुता कर ली जाती है।

(894) सम्बोधने च *125* (3102)

प्रथमासमानाधिकरणार्थ आरम्भः। सम्बोधने च विषये लटः शतृशानचौ प्रत्ययौ भवतः। हे पचन्। हे पचमान।

अर्थ—प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य के लिए नियम किया जा रहा है। सम्बोधन के विषय में वर्त्तमान में जो लट्, उसके स्थान पर धातु से शतृ व शानच् प्रत्यय होते हैं।

'सम्बोधने च' (2.3.47) से सम्बोधन में प्रथमा होती है। अतः 'लटः शतृशानचा०' से यहाँ शतृ व शानच् की प्राप्ति नहीं थी।

उदा० (1) हे पचन्

पच् शतृ → पच् शप् अत् → पचत् सु → पचन्।

(2) हे पचमान (पूर्ववत्)।

(895) लक्षणहेत्वोः क्रियायाः *126* (3103)

लक्ष्यते चिह्न्यते येन तल्लक्षणम्। जनको हेतुः। धात्वर्थविशेषणं चैतत्। लक्षणे हेतौ चार्थे वर्त्तमानाद्धातोः परस्य लटः शतृशानचावादेशौ भवतः, तौ चेल्लक्षणहेतू क्रियाविषयौ भवतः। लक्षणे-शयाना भुञ्जते यवनाः, तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः। हेतौ-अर्जयन् वसति, अधीयानो वसति। लक्षणहेत्वोरिति किम्? पचति, पठति। क्रियाया इति किम्? द्रव्यगुणयोर्मा भूत्-यः कम्पते सोऽश्वत्थः, यदुत्प्लवते तल्लघु, यन्निषीदति तद् गुरु। लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्।

अर्थ—जिससे लक्षित होता है, उसे लक्षण कहते हैं। जनक को हेतु कहते हैं। ये धात्वर्थ के विशेषण हैं। लक्षण तथा हेतु अर्थ में वर्त्तमान धातु से लट् के स्थान पर शतृ व शानच् प्रत्यय होते हैं। यदि वे लक्षण तथा हेतु क्रिया के विषय हों।

उदा० (क) लक्षणे—

(1) शयाना भुञ्जते

शी शानच्—शयनक्रिया लक्षण और भोजनक्रिया लक्ष्य है।

शी आन—अनुबन्ध लोप, शप्, शप् का लुक्,

शे आन—'शीङः सार्वधातुके' से गुण,

शयानाः—अयादेश, जस्।

(2) तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः

स्था शतृ—लक्षण अर्थ में शतृ, तिष्ठ आदेश,

तिष्ठन्तः—जस् विभक्ति।

(ख) हेतौ—

(3) अर्जयन् वसति

अर्ज् णिच् शतृ—अर्जन हेतु है तथा वास लक्ष्य है। शतृ हुआ।

अर्जयत् सु → अर्जयन्।

(4) अधीयानो वसति

पूर्ववत्। शानच् हुआ।

लक्षणहेत्वो अर्थात् लक्षण तथा हेतु अर्थों में वर्त्तमान धातु से विहित लट् के स्थान पर शतृ व शानच् होते हैं—

(5) पचति

यहाँ न तो लक्षण अर्थ है, न ही हेतु अर्थ है। अतः लट् के स्थान पर पूर्वोक्त प्रत्यय नहीं हुए।

(6) पठति (पूर्ववत्)।

क्रियायाः अर्थात् लक्षण व हेतु—इनके क्रिया के विषय होने पर ही पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं। इसका सार यह है कि लक्षण तथा हेतु—ये द्रव्य और गुण के विषय नहीं होने चाहिए। यथा—

यः कम्पते सोऽश्वत्थः—यहाँ लक्षण 'कम्पन' है, जो क्रिया का विषय नहीं है, अपितु द्रव्य (अश्वत्थ) का विषय है।

इसी प्रकार 'यदुत्प्लवते तल्लघु' यहाँ उत्प्लवन लक्षण है, जो क्रिया का विषय नहीं है, अपितु गुण (लघुता) का विषय है। अतः पूर्वोक्त दोनों स्थलों पर शतृ व शानच् नहीं होते हैं।

इसी प्रकार 'यन्निषीदति तद् गुरु' में भी जानना चाहिए।

'लक्षणहेत्वोः' यहाँ 'हेतु' शब्द के अल्पाच्तर होने से इसका पूर्वनिपात प्राप्त था परन्तु 'लक्षणहेत्वोः' ऐसा निर्देश पूर्वनिपात के व्यभिचार में ज्ञापक है।

(896) तौ सत् *127* (3106)

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ भवतः। तौ ग्रहणमुपाध्यसंसर्गार्थम्। शतृशानज्मात्रस्य संज्ञा भवति। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। ब्राह्मणस्य कुर्वाणः। ब्राह्मणस्य करिष्यन्। ब्राह्मणस्य करिष्यमाणः। सत्प्रदेशाः-'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्य' (2.2.11) इत्येवमादयः।

अर्थ—शतृ व शानच्—इन दोनों की सत् संज्ञा होती है। 'तौ' पद के द्वारा 'लटः शतृशानचाव०' से अनुवृत्त 'शतृशानचौ' के स्वरूप का निर्देश किया गया है। इसका सार यह है कि 'तौ' का ग्रहण 'लटः' आदि उपाधियों से रहित 'शतृशानचौ' के निर्देश के लिए है। यदि पूर्वसूत्र से उपाधिसहित 'शतृशानचौ' पद का अनुवर्तन करते हैं तो लट् के स्थान पर आदेशभूत शतृ व शानच् की ही सत् संज्ञा हो पायेगी तथा ऌट् के स्थान पर आदेशभूत शतृ व शानच् की सत् संज्ञा नहीं हो सकेगी।

उदा० (1) ब्राह्मणस्य कुर्वाणः
कृ शानच्—सत् संज्ञा, लशक्वत०, हलन्त्यम्
कृ उ आन—तनादिकृञ्भ्य उः,
कुर्वाणः—णत्व, सु।

(2) ब्राह्मणस्य करिष्यन्
कृ ऌट् → कृ शतृ—ऌट् शेषे च, तौ सत्,
कृ स्य शतृ—स्यतासी०,
करिस्य अत्—ऋद्धनोः स्ये,
करिष्यन्—मूर्धन्यादेश, सु।

(3) ब्राह्मणस्य करिष्यमाणः
कृ शानच्—पूर्ववत्,
कृ इ स्य म् आन—स्य, इट्, आने मुक्, मुक्,
करिष्यमाणः—मूर्धन्यादेश, सु।

(897) पूङ्यजोः शानन् *128* (3108)

पूङो यजेश्च धातोः शानन् प्रत्ययो भवति। पवमानः। यजमानः। यदि प्रत्ययाः शानजादयो न लादेशाः, कथं सोमं पवमानो नडमाघ्नान इति षष्ठीप्रतिषेधः? तृन्निति प्रत्याहारनिर्देशात्। क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः? 'लटः शतृ' (3.2.124) इत्यतः प्रभृति आ तृनो नकारात्। *द्विषः शतुर्वा वचनम्* (म०भा०)। चौरस्य द्विषन्। चौरं द्विषन्।

अर्थ—वर्तमान काल में पूङ् तथा यज् धातु से 'शानन्' प्रत्यय होता है। 'शानन्' के अन्त्य नकार तथा शकार की इत् संज्ञा होती है। शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा होती है तथा शप् आदि विकरण होते हैं।

(1) पवमानः
पू शानन् → पो शप् आन—सार्वधातुकार्धधातु०,
पो शप् म् आन—मुक्, हलन्त्यम्, लशक्वत०,
पवमानः—अवादेश, सु।

(2) यजमानः
यज् शप् शानन्—पूर्ववत्।

यदि—शानन् लट् के स्थान पर विहित न होने से लादेश नहीं है, अपितु प्रत्यय है। तब 'सोमं पवमानः' इस स्थल पर 'न लोकाऽव्यय०' से समास का निषेध होता है। कारण कि 'न लोकाव्यय०' सूत्रस्थ 'तृन्' प्रत्यय नहीं, अपितु प्रत्ययप्रत्याहार है। इस प्रत्ययप्रत्याहार के अन्तर्गत 'लटः शतृशानचाव०' के 'तृ' से लेकर 'तृन्' (पा० 3.2.135) के इत्संज्ञक 'न्' तक कहे गए सभी प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

द्विषः शतुर्वा वचनम्—द्विष् से पर शतृ का षष्ठीनिषेध विकल्प से होता है—

(3) चोरस्य द्विषन्
प्रतिषेध नहीं हुआ।

(4) चोरं द्विषन्
प्रतिषेध हुआ।

(898) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् *129* (3109)

ताच्छील्यं तत्स्वभावता। वयः शरीरावस्था यौवनादिः। शक्तिः सामर्थ्यम्। ताच्छील्यादिषु धातोश्चानश् प्रत्ययो भवति। ताच्छील्ये तावत्-कतीह मुण्डयमानाः, कतीह भूषयमाणाः। वयोवचने-कतीह कवचं पर्यस्यमानाः, कतीह शिखण्डं वहमानाः। शक्तौ-कतीह निघ्नानाः, कतीह पचमानाः (म०भा०)।

अर्थ—ताच्छील्य का अर्थ है—तत्स्वभावता। शरीर की यौवन आदि अवस्था को 'वय' कहते हैं। सामर्थ्य को 'शक्ति' कहते हैं।

तत्स्वभावता, शरीर की (यौवनादि) अवस्था तथा सामर्थ्य अर्थों में धातु से 'चानश्' प्रत्यय होता है, वर्तमान काल में।

चानश् के चकार व शकार की इत् संज्ञा होती है। 'चानश्' को चित् स्वर के लिए किया गया है तथा शित् सार्वधातुक संज्ञा के लिए।

उदा० (क) ताच्छील्ये—
(1) (कतीह) मुण्डयमानाः
मुण्ड णिच्—'तत्करोति तदाचष्टे' से 'णिच्', 'णाविष्ठवत्०' से टि का लोप, धातुसंज्ञा, चानश्,

मुण्ड् इ आन—शप्, मुक्,
मुण्डय् अ म् आन—प्रातिपदिक संज्ञा, जस्,
मुण्डयमानाः—विभक्तिकार्य।

(2) (कतीह) भूषयमाणाः
पूर्ववत् चानश्।

(ख) वयोवचने—

(3) (कतीह कवचं) पर्यस्यमानाः
परि अस् चानश्—पूर्ववत्,
परि अस् श्यन् आन जस्—श्यन्, विभक्तिकार्य।

(4) (कतीह शिखण्डं) वहमानाः
वह् शप् मुक् चानश् जस्—पूर्ववत्।

(ग) शक्तौ—

(5) (कतीह) निघ्नानाः
हन् चानश् → घ्न् आन—शप्, शप् लुक्, 'हो हन्तेः०' घत्व 'गमहन०' उपधालोप
निघ्नानाः—जस्

(6) (कतीह) पचमानाः
पच् शप् मुक् चानश्—पूर्ववत्,
पचमानाः—जस्।

(899) इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि *130* (3110)

इङो धारेश्च धात्वोः शतृप्रत्ययो भवति अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि। अकृच्छ्रः सुखसाध्यो यस्य कर्तुर्धात्वर्थः सोऽकृच्छ्री। अधीयन् पारायणम्। धारयन्नुपनिषदम्। अकृच्छ्रिणीति किम्? कृच्छ्रेणाधीते, कृच्छ्रेण धारयति।

अर्थ—वर्त्तमान काल में इङ् तथा धारि (धृ णिच्) धातु से शतृ प्रत्यय होता है, यदि जिसके लिए क्रिया कष्टसाध्य न हो, ऐसा कर्त्ता वाच्य हो। जिस कर्त्ता का धात्वर्थ सुखसाध्य हो, उसे अकृच्छ्री कर्त्ता कहते हैं। 'धृ' धातु से 'हेतुमति च' से णिच् हुआ है।

उदा० (1) अधीयन् पारायणम्
अधि इ शतृ—पारायण को सरलता से करने वाला—यह अर्थ गम्यमान है, शतृ हुआ, इङ्-धातु ङित् है, अतः इससे आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' प्राप्त होता है। परन्तु यह शतृ लादेश न होने से यहाँ हो गया है।

अधि इय् अत्—अचि श्नुधातु०,
अधीयन्—सु, विभक्तिकार्य।

(2) धारयन्नुपनिषदम्
धृ णिच् शतृ—पूर्ववत् सभी कार्य।

अकृच्छ्रिणि—कर्त्ता के लिए क्रिया के **कष्टसाध्य न होने पर** ही पूर्वोक्त शतृ होता है—
कृच्छ्रेणाऽधीते
कृच्छ्रेण धारयति—यहाँ शतृ नहीं हुआ।

(900) द्विषोऽमित्रे *131* (3111)

अमित्रः शत्रुः। अमित्रे कर्त्तरि द्विषेर्धातोः शतृप्रत्ययो भवति। द्विषन्, द्विषन्तौ, द्विषन्तः। अमित्रे इति किम्? द्वेष्टि भार्या पतिम्।

अर्थ—अमित्र का अर्थ है—शत्रु। वर्त्तमान काल में द्विष् धातु से शतृ प्रत्यय होता है, यदि शत्रु कर्त्ता वाच्य हो।

उदा० (1) द्विषन्
द्विष् शतृ—शप्, शप् लुक्,
द्विषन्—सु।

(2) द्विषन्तौ
द्विषत् औ—प्रथमा द्विव०,
द्विषन्तौ—नुम्।

(3) द्विषन्तः
प्रथमा बहुवचन में।

अमित्रे अर्थात् शत्रु कर्त्ता वाच्य होने पर ही 'द्विष्' से शतृ होता है—
द्वेष्टि भार्यां पतिः
यहाँ शत्रु कर्त्ता वाच्य नहीं है। अतः शतृ नहीं हुआ।

(901) सुञो यज्ञसंयोगे *132* (3112)

यज्ञेन संयोगो यज्ञसंयोगः। यज्ञसंयुक्तेऽभिषवे वर्त्तमानात् सुनोतेर्धातोः शतृप्रत्ययो भवति। सर्वे सुन्वन्तः, सर्वे यजमानाः सत्रिण उच्यन्ते। संयोगग्रहणं प्रधानकर्तृप्रतिपत्त्यर्थम्, याजकेषु मा भूत्। यज्ञसंयोग इति किम्? सुनोति सुराम्।

अर्थ—यज्ञ के साथ जो संयोग, उसे यज्ञसंयोग कहते हैं। यज्ञ के साथ संयुक्त अभिषव अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में 'षु' धातु से शतृ प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सुन्वन्तः (सर्वे)
षु → सु शतृ—शप् प्राप्त हुआ, श्नु हुआ,
सु नु अत् → सुन्वत्—'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने से 'सु' अङ्ग को गुण नहीं हुआ,
सुन्वन्तः—जस्।

सूत्र में 'संयोग' पद का ग्रहण प्रधान कर्त्ता के ज्ञान के लिए है। तब याजक के विषय में नहीं होता है।

यज्ञसंयोगे अर्थात् यज्ञ के साथ संयुक्त अर्थ में ही पूर्वोक्त शतृ प्रत्यय होता है—

(2) सुनोति सुराम्
यहाँ यज्ञ का संयोग अर्थ नहीं है। अतः शतृ नहीं हुआ।
सु श्नु तिप्—'तिप्' के परे रहते 'सुनु' को गुण।

(902) अर्हः प्रशंसायाम् *133* (3113)

प्रशंसा स्तुतिः। अर्हतेर्धातोः प्रशंसायां शतृप्रत्ययो भवति। अर्हन्निह भवान् विद्याम्। अर्हन्निह भवान् पूजाम्। प्रशंसायामिति किम्? अर्हति चौरो वधम्।

अर्थ—प्रशंसा का अर्थ है—स्तुति। प्रशंसा अर्थ में वर्त्तमान 'अर्ह्' धातु से शतृ प्रत्यय होता है, वर्त्तमान काल में।

उदा० (1) अर्हन्निह भवान् विद्याम्
अर्ह् शतृ → अर्हन्।
(2) अर्हन्निह भवान् पूजाम् (पूर्ववत्)।

(903) आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु *134* (3114)

'भ्राजभास' (3.2.177) इति क्विपं वक्ष्यति। आ एतस्मात् क्विप्संशब्दाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तच्छीलादिषु कर्तृषु ते वेदितव्याः। अभिविधौ चायमाङ्, तेन क्विपोऽप्ययमर्थनिर्देशः। तदिति धात्वर्थः शीलादिविशेषणत्वेन निर्दिश्यते, तच्छीलो यः स्वभावतः फलनिरपेक्षस्तत्र प्रवर्त्तते। तद्धर्मा तदाचारः, यः स्वधर्मे ममायमिति प्रवर्त्तते, विनापि शीलेन। तत्साधुकारी यो धात्वर्थं साधु करोति। उत्तरत्रैवोदाहरिष्यामः।

अर्थ—'भ्राजभासधुर्विद्युतो०' के द्वारा 'क्विप्' कहा जायेगा। यहाँ से लेकर उक्त 'क्विप्' पर्यन्त जो-जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे सभी तत्स्वभावता, तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्त्ता में होते हैं—ऐसा जानना चाहिए। सूत्र में जो 'आङ्' है, वह अभिविधि अर्थ में है। अतः क्विप् विधायक सूत्र भी इसकी परिधि में आ जाता है। इसकी परिधि में आने वाले सभी सूत्र कृत् प्रकरण में पठित हैं। अतः इनके द्वारा विहित प्रत्यय 'कृदतिङ्' से कृत् संज्ञक होकर 'कर्त्तरि कृत्' से कर्त्ता अर्थ में होते हैं। तदपि प्रकृत सूत्र के द्वारा उक्त अधिकारवशात् ये प्रत्यय तच्छील आदि विशेष कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

(क) तच्छील कर्त्ता—जो कर्त्ता स्वभावतः फल की अपेक्षा किए विना क्रिया में प्रवृत्त होता है।

(ख) तद्धर्मा कर्त्ता—जो कर्त्ता स्वभाव न होने पर भी 'यह मेरा है' इस प्रकार अपने धर्म में क्रिया में प्रवृत्त होता है।

(ग) तत्साधुकारी कर्त्ता—जो कर्त्ता स्वभाव व कुलाचार न होने पर भी अच्छी प्रकार क्रिया करता है।

उदारहण आगे कहे जायेंगे।

(904) तृन् *135* (3115)

सर्वधातुभ्यस्तृन् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। तकारः स्वरार्थः। तच्छीले तावत्–कर्ता कटान्, वदिता जनापवादान्। तद्धर्मणि–मुण्डयितारः श्राविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम्, अन्नमपहर्त्तार आह्वरका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे, उन्नेतारस्तौल्वलायना भवन्ति पुत्रे जाते। तत्साधुकारिणि–कर्त्ता कटम्, गन्ता खेटम्। *तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्य* (म०भा०)। होता। पोता। अनुपसर्गस्येति किम्? उद्गाता, प्रतिहर्त्ता–तृजेव भवति। स्वरे विशेषः। *नयतेः षुक् च* (म०भा०)। नेष्टा। *त्विषेर्देवतानामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च* (म०भा०)। त्वष्टा। *क्षदेश्च नियुक्ते* (म०भा०)। क्षत्ता। क्वचिदधिकृत उच्यते। *छन्दसि तृच्च* (म०भा०)। क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यः (वा०सं० 16.26)। स्वरे विशेषः।

अर्थ—तच्छील, तद्धर्मा तथा तत्साधुकारी कर्त्ता अर्थ में व वर्त्तमान काल में धातु से 'तृन्' प्रत्यय होता है।

नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है। नित् स्वर के लिए है।

(क) तच्छीले—
उदा० (1) कर्त्ता कटान्
कृ तृन्—आर्धधातुक संज्ञा, सार्वधातुकार्धधातु०,
कर्तृ सु → कर्त्ता—अचो रहाभ्यां द्वे।
'कर्तृकर्मणोः कृति बहुलम्' से प्राप्त षष्ठी का 'न लोकाव्यय०' के द्वारा निषेध हुआ है। सामान्य द्वितीया हो गई है।

(ख) तद्धर्मणि—

(2) मुण्डयितारः

मुण्ड णिच् तृन्—'तत्करोति तदाचष्टे' से 'णिच्', 'णाविष्ठवत्०' से टिलोप, इट्,

मुण्डयितारः—जस् विभक्ति।

(3) अपहर्त्तारः

अप हृ तृन्—पूर्ववत् 'जस्' में।

(ग) तत्साधुकारिणि—

(4) उन्नेतारः

उद् नी तृन् → उन्नेतृ जस् → पूर्ववत्।

तृन्विधावृत्विक्षु चाऽनुपसर्गस्य—ऋत्विक् आदि के सम्बन्ध में उपसर्गरहित धातु से 'तृन्' होता है—

(5) होता

हु तृन्—आर्धधातुक, गुण,

होता—सु।

(6) पोता

पू तृन्—पूर्ववत्।

अनुपसर्ग० अर्थात् उपसर्गरहित धातु से 'तृन्' होता है—

(7) उद्गाता

उद् गै तृच्—सोपसर्ग होने से 'तृन्' नहीं हुआ। तृन् व तृच् में स्वर का अन्तर है।

(8) प्रतिहर्त्ता

प्रति हृ तृच्—पूर्ववत्।

नयतेः षुक् च—नी धातु से 'तृन्' प्रत्यय तथा 'षुक्' आगम होते हैं—

(9) नेष्टा

नी षुक् तृन्—अनुबन्धलोप,

नेष्टा—ष्टुना ष्टुः, विभक्तिकार्य।

त्विषेर्देवतानामकारश्चोपधायाः अनिट्त्वं च—देवता अर्थ में 'त्विष्' धातु से 'तृन्' प्रत्यय होता है तथा उपधाभूत 'इ' के स्थान पर अकार होता है—

(10) त्वष्टा

त्विष् तृन् → त्वष् तृ → त्वष्टा—सु आदि।

क्षदेश्च नियुक्ते—अधिकृत अर्थ में 'क्षद्' धातु से 'तृन्' होता है—

(11) क्षत्ता

क्षद् तृन् → क्षत्ता—खरि च, विभक्तिकार्य।

वेद के विषय में 'तृच्' भी होता है—

(12) क्षत्तृभ्यः (वा० सं० 16.26)

क्षद् तृच् → क्षत्तृ भ्यस्—क्षत्तृभ्यः।

केवल स्वर का अन्तर है।

(905) अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद-रुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच् *136* (3116)

अलंकृञादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु इष्णुच् प्रत्ययो भवति। अलङ्करिष्णुः। निराकरिष्णुः। प्रजनिष्णुः। उत्पचिष्णुः। उत्पतिष्णुः। उन्मदिष्णुः। रोचिष्णुः। अपत्रपिष्णुः। वर्त्तिष्णुः। वर्द्धिष्णुः। सहिष्णुः। चरिष्णुः। *अलंकृञो मण्डनार्थाद्युचः पूर्वविप्रतिषेधेनेष्णुज्वक्तव्यः*।

अर्थ—वर्तमान काल में तच्छील आदि (पूर्वोक्त) अर्थों में अलम् पूर्वक कृ, निर् व आङ् पूर्वक कृ, प्रपूर्वक जन्, उद् पूर्वक पच्, उद् पूर्वक पत्, उद् पूर्वक मद्, रुचि, अपपूर्वक त्रप्, वृत्, वृध्, सह् तथा चर्—इनसे 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है। चकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) अलङ्करिष्णुः

अलम् कृ इष्णुच्—आर्धधातुक गुण,

अलंकरिष्णु—अनुस्वार,

अलङ्करिष्णुः—परसवर्ण, सु।

(2) निराकरिष्णुः

निर् आ कृ इष्णुच्—पूर्ववत्।

निराकरिष्णुः—सु।

(3) प्रजनिष्णुः

प्र जन् इष्णुच्—पूर्ववत्।

(4) उत्पचिष्णुः

उद् पच् इष्णुच्—खरि च, सु।

(5) उत्पतिष्णुः

उद् पत् इष्णुच्—पूर्ववत्।

(6) उन्मदिष्णुः

उद् मद् इष्णुच्—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा,

उन्मदिष्णुः—सु।

(7) रोचिष्णुः
रुच् इष्णुच्—लघूपध गुण।
रोचिष्णुः—सु।

(8) अपत्रपिष्णुः
अप त्रप् इष्णुच्—पूर्ववत्।

(9) वर्त्तिष्णुः
वृत् इष्णुच्—लघूपध गुण, अचो रहाभ्यां द्वे,
वर्त्तिष्णुः—सु।

(10) वर्द्धिष्णुः
वृध् इष्णुच्—पूर्ववत् गुण, धकार को द्वित्व,
वर्ध् ध् इष्णु—झलां जश् झशि,
वर्द्धिष्णुः—सु।

(11) सहिष्णुः
सह् इष्णुच्।

(12) चरिष्णुः
चर् इष्णुच्—पूर्ववत्।

अलङ्कृञो मण्डनार्थाद्युचः पूर्वविप्रतिषेधेनेष्णुज्वक्तव्यः—भूषण (= सजाना) अर्थ में अलम् पूर्वक कृ धातु से 'युच्' के स्थान पर 'इष्णुच्' होता है, पूर्वविप्रतिषेध से।

(13) अलङ्करिष्णुः
अलम् कृ इष्णुच्—'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' से 'युच्' प्राप्त था।

(906) णेश्छन्दसि *137* (3117)

ण्यन्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु इष्णुच् प्रत्ययो भवति। दृषदं धारयिष्णवः (शा०आ० 12.2)। वीरुधः पारयिष्णवः (ऋ० 10.97.3)।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान काल में ण्यन्त धातु से 'इष्णुच्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) धारयिष्णवः (शां० आ० 12.2)
धृ णिच् इष्णुच्—गुण, अयादेश,
धारयिष्णु जस्—विभक्तिकार्य।

(2) पारयिष्णवः (ऋ० 10.97.3)
पृ णिच् इष्णुच्—पूर्ववत्।

(907) भुवश्च *138* (3118)

भवतेर्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिष्विष्णुच् प्रत्ययो भवति। भविष्णुः (मै०सं० 1.8.1)। योगविभाग उत्तरार्थः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः—भ्राजिष्णुना लोहितचन्दनेन।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में 'भू' धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) भविष्णुः
भू इष्णुच्—आर्धधातुक गुण,
भविष्णुः—सु।

योगविभाग उत्तर शास्त्र के लिए है। चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है।

(2) भ्राजयिष्णुना
भ्राज णिच् इष्णुच्—गुण, अयादेश,
भ्राजयिष्णुना—तृ० एकवचन।

(908) ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः *139* (3119)

छन्दसीति निवृत्तम्। ग्ला, जि स्था—इत्येतेभ्यो धातुभ्यश्चकाराद् भुवश्च तच्छीलादिषु क्स्नुः प्रत्ययो भवति। ग्लास्नुः। जिष्णुः। स्थास्नुः। भूष्णुः। गिच्चायं प्रत्ययो न कित्, तेन स्थ ईकारो न भवति। 'क्ङिति च' (1.1.5) इत्यत्र गकारोऽपि चर्त्वभूतो निर्दिश्यते, तेन गुणो न भवति। 'श्र्युकः किति' (7.2.11) इत्यत्रापि गकारो निर्दिश्यते, तेन भुव इड् न भवति।

क्स्नोर्गित्वान्न स्थ ईकारः कङितोरीत्वशासनात्।
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः॥
(म०भा०)

***दंशेश्छन्दस्युपसंख्यानम्* (म०भा०)। दंक्ष्णवः पशवः। (वा०सं० 15.3)**

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन नहीं है। तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्तमान काल में ग्ला, जि, स्था तथा भू धातु से 'क्स्नु'[1] प्रत्यय होता है। ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। 'क्क्ङिति च' से गुण का निषेध होता है।

उदा० (1) ग्लास्नुः
ग्ला स्नुः—सु, विभक्तिकार्य

(2) जिष्णुः

1. अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ में 'क्स्नु' के स्थान पर 'ग्स्नु' पाठ प्राप्त होता है।

जि स्नु—'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध हुआ,

जिष्णुः—रषाभ्यां नो णः समानपदे।

(3) स्थास्नुः

स्था स्नु—पूर्ववत्।

(4) भूष्णुः

भू स्नु—पूर्ववत्। णत्व। 'श्र्युकः किति'। इट् निषेध।

यह प्रत्यय गित् 'ग्स्नु' है; कित् 'क्स्नु' नहीं है। अतः 'घुमास्था०' के द्वारा स्था को ईकार आदेश नहीं होता है।

'क्क्ङिति च' इस सूत्र में चर्त्वभूत गकार का भी प्रश्लेष है। अतः गित् परे रहते भी गुण का निषेध होता है।

क्स्नो०—महाभाष्य में एक निम्नलिखित कारिका प्राप्त होती है—

(क) क्स्नोर्गित्त्वान्न स्थ ईकारः अर्थात् क्स्नु प्रत्यय गित् है। अतः 'घुमास्था०' के द्वारा स्था के आकार को ईकार नहीं होता।

(ख) कङितोरीत्वशासनात् कारण कि उक्त ईत्वविधान कित् ङित् प्रत्यय परे रहते किया गया है।

(ग) गुणाऽभावस्त्रिषु स्मार्यः अर्थात् कित्, गित् तथा ङित्—इन तीनों के परे रहते गुणनिषेध तो होता ही है। भाव यह है कि 'क्ङिति च' सूत्र में चर्त्वभूत गकार का भी निर्देश है।

(घ) श्र्युकोऽनित्त्वं गकोरितोः अर्थात् 'श्र्युकः किति' सूत्र के द्वारा गित व कित् के परे रहते इट् का निषेध होता है।

दंशेश्छन्दस्युपसङ्ख्यानम्—वेद के विषय में 'दंश्' धातु से 'क्स्नु' प्रत्यय होता है—

(5) दङ्क्ष्णवः

दंश् क्स्नु → दंश् स्नु—व्रश्चभ्रस्ज० से,

दंष् स्नु → दंक् स्नु—षढोः कः सि,

दङ्क् स्नु—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः,

दङ् क् ष्णु—आदेशप्रत्यययोः, ष्टुना ष्टुः,

दङ्क्ष्णवः—जस्।

(909) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः *140* (3120)

त्रसादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु क्नुः प्रत्ययो भवति। त्रस्नुः। गृध्नुः। धृष्णुः। क्षिप्नुः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में त्रस्, गृध्, धृष् तथा क्षिप् धातुओं से 'क्नु' प्रत्यय होता है।

'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) त्रस्नुः

त्रस् क्नु → त्रस् नु—अनुबन्धलोप,

त्रस्नुः—सु।

(2) गृध्नुः

गृध् क्नु—पूर्ववत्,

गृध् नु → गुणनिषेध।

(3) धृष्णुः

धृष् क्नु—अनुबन्धलोप, कित् होने से गुण नहीं हुआ,

धृष्णुः—सु।

(4) क्षिप्नुः

पूर्ववत् गुणनिषेध।

(910) शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् *141* (3121)

इति शब्द आद्यर्थे। शमादिभ्यो धातुभ्योऽष्टाभ्यस्तच्छीलादिषु घिनुण् प्रत्ययो भवति। 'शम उपशमे' (धा०पा० 1202) इत्यतः प्रभृति 'मदी हर्षे' (धा०पा० 1209) इत्येवमन्तः शमादिर्दिवाद्यन्तर्गणः। घकार उत्तरत्र कुत्वार्थः। उकार उच्चारणार्थः। णकारो वृद्ध्यर्थः। शमी। तमी। दमी। श्रमी। भ्रमी। क्षमी। क्लमी। प्रमादी। उन्मादी। अष्टाभ्य इति किम्? असिता।

अर्थ—'इति' शब्द 'आदि' अर्थ में प्रयुक्त है। तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में 'शम्' आदि आठ धातुओं से 'घिनुण्' प्रत्यय होता है।

'घिनुण्' के णकार की 'हलन्त्यम्' से तथा घकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत् संज्ञा होती है। उकार उच्चारणार्थ है। णित् वृद्धि के लिए तथा घित् कुत्व के लिए किया गया है।

शम उपशमे (धा० पा० 1202) से लेकर मदी हर्षे (धा० पा० 1209) तक आठ धातु शमादि कहलाते हैं। यह दिवादिगण का एक अन्तर्गण है। ये आठ धातु इस प्रकार हैं—

(क) शम उपशमे,

(ख) तमु काङ्क्षायाम्

(ग) दमु उपरमे,

(घ) श्रमु तपसि खेदे च,

(ङ) भ्रमु अनवस्थाने,
(च) क्षमूष् सहने,
(छ) क्लमु ग्लानौ,
(ज) मदी हर्षे।

मदी हर्षे को छोड़कर शेष सात धातु मकारान्त व उदात्तोपदिष्ट हैं।

उदा० (1) शमी
शम् घिनुण् → शम् इन्—अनुबन्धलोप,
शमिन् सु—सु,
शमी—विभक्तिकार्य।

(2) तमी—तम् घिनुण्।
(3) दमी (पूर्ववत्)।
(4) श्रमी—श्रम् घिनुण्।
(5) भ्रमी—भ्रम् घिनुण्।
(6) क्लमी (पूर्ववत्)।
(7) प्रमादी
प्र मद् घिनुण्—अत उपधायाः।
(8) उन्मादी
उद् मद् घिनुण्—अत उपधायाः।

अष्टाभ्यः अर्थात् आठ धातुओं से ही 'घिनुण्' होता है—

(9) असिता
अस् तृ → अस् इ तृ → असिता—विभक्तिकार्य।
यहाँ 'घिनुण्' नहीं हुआ।

(911) सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च *142* (3122)

घिनुणनुवर्त्तते। सम्पृचादिभ्यो धातुभ्यो घिनुण् भवति तच्छीलादिषु। 'पृची सम्पर्के' (धा०पा० 1463) इति रुधादिर्गृह्यते न त्वदादिः, लुग्विकरणत्वात्। परिदेविर्भ्वादिर्गृह्यते-'देवृ देवने' (धा०पा० 500) इति। 'क्षिप प्रेरणे' (धा०पा० 1122,1286) दिवादिस्तुदादिश्च सामान्येन गृह्यते। 'युज समाधौ' (धा०पा० 1178) दिवादिः, 'युजिर् योगे' (धा०पा० 1445) रुधादिः, द्वयोरपि ग्रहणम्। 'रञ्ज रागे' (धा०पा० 1168) इत्यस्य निपातनादनुनासिकलोपः। सम्पर्की। अनुरोधी। आयामी। आयासी। परिसारी। संसर्गी। परिदेवी। संज्वारी। परिक्षेपी। परिराटी। परिवादी। परिदाही। परिमोही। दोषी। द्वेषी। द्रोही। दोही। योगी। आक्रीडी। विवेकी। त्यागी। रागी। भागी। अतिचारी। अपचारी। आमोषी। अभ्याघाती।

अर्थ—'घिनुण्' का अनुवर्त्तन है। तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में सम् पूर्वक पृच्, अनुपूर्वक रुध, आङ् पूर्वक यम्, आङ् पूर्वक यस्, परिपूर्वक सृ, सम् पूर्वक सृज्, परिपूर्वक देव, सम् पूर्वक ज्वर्, परिपूर्वक क्षिप्, परिपूर्वक रट्, परिपूर्वक वद्, परिपूर्वक दह्, परिपूर्वक मुह्, दुष्, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, आङ् पूर्वक क्रीड्, विपूर्वक विच्, त्यज्, रञ्ज्, भञ्ज्, अतिपूर्वक चर्, अपपूर्वक चर्, आपूर्वक मुष्, अभि व आङ् पूर्वक हन्—इन धातुओं से 'घिनुण्' होता है।

यहाँ 'पृची सम्पर्के' रुधादिगणी का ग्रहण होता है; आदादिक का नहीं। 'देवृ देवने' स्वादिगणी तथा क्षिप दैवादिक व तौदादिक दोनों का ग्रहण होता है। दैवादिक युज तथा रुधादिगणी युजिर् दोनों धातुओं का ग्रहण होता है।

उदा० (1) सम्पर्की
सम् पृच् घिनुण्—अनुस्वार, परसवर्ण, लघूपधगुण,
सम्पर्की—कुत्व, सु।

(2) अनुरोधी
अनु रुध् घिनुण्—लघूपध गुण।

(3) आयामी
आ यम् घिनुण्—अत उपधायाः

(4) आयासी
आ यस् घिनुण्—अत उपधायाः।

(5) परिसारी
परि सृ घिनुण्—वृद्धि (अचो ञ्णिति),
परिसारी—विभक्तिकार्य।

(6) संसर्गी
सम् सृज् घिनुण्—लघूपधगुण, अनुस्वार,
संसर्ज् इन्—कुत्व,
ससंर्गी—सु।

(7) परिदेवी—परि देव् घिनुण्।
(8) सञ्ज्वारी
सम् ज्वर् घिनुण्—अनुस्वार, अत उपधायाः।

(9) परिक्षेपी
परि क्षिप् घिनुण्—लघूपध गुण।

(10) परिराटी
परि रट् घिनुण्—उपधावृद्धि।

(11) परिवादी
परि वद् घिनुण्—उपधावृद्धि।

(12) परिदाही
परि दह् घिनुण्—उपधावृद्धि।

(13) परिमोही
परि मुह् घिनुण्—लघूपध गुण।

(14) दोषी
दुष् घिनुण्—लघूपध गुण।

(15) द्वेषी
द्विष्—पूर्ववत्।

(16) द्रोही
द्रुह् घिनुण्—लघूपध गुण।

(17) दोही—दुह् घिनुण्।

(18) योगी
युज् घिनुण्—लघूपध गुण, कुत्व।

(19) आक्रीडी—आक्रीड् घिनुण्।

(20) विवेकी
वि विच् घिनुण्—कुत्व, गुण।

(21) त्यागी
त्यज् घिनुण्—अत उपधायाः, कुत्व।

(22) रागी
रञ्ज् घिनुण् → रज् इन्—निपातन से अनुनासिकलोप, रागी—अत उपधायाः।

(23) भागी
भज् घिनुण्—अत उपधायाः, कुत्व।

(24) अतिचारी—अति चर् घिनुण्।

(25) अपचारी
अप चर् घिनुण्—अत उपधायाः।

(26) आमोषी
आ मुष् घिनुण्—लघूपध गुण।

(27) अभ्याघाती
अभि आ हन् घिनुण्—हो हन्तेः०, हनस्तः०,
अभि आ घत् इन्—अत उपधायाः, इको यणचि,
अभ्याघाती—विभक्तिकार्य।

(912) वौ कषलसकत्थस्रम्भः *143* (3123)

'कष हिंसार्थः' (धा०पा० 685), 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' (धा०पा० 715), 'कत्थ श्लाघायाम्' (धा०पा० 37), 'स्रम्भु विश्वासे' (धा०पा० 757), इत्येतेभ्यो धातुभ्यो विशब्द उपपदे घिनुण् प्रत्ययो भवति। विकाषी। विलासी। विकत्थी। विस्रम्भी।

अर्थ—कष हिंसार्थक है। लस श्लेषण तथा क्रीडा अर्थों में है। कत्थ प्रशंसा अर्थ में है। स्रम्भ् विश्वास अर्थ में है।

तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में विपूर्वक कष, लस, कत्थ तथा स्रम्भ धातुओं से 'घिनुण्' होता है।

उदा० (1) विकाषी
वि कष् घिनुण्—अत उपधायाः।

(2) विलासी
वि लस् घिनुण्—पूर्ववत्।

(3) विकत्थी—वि कत्थ् घिनुण्।

(4) विस्रम्भी—वि स्रम्भ् घिनुण्।

(913) अपे च लषः *144* (3124)

'लष कान्तौ' (धा०पा० 889) अस्माद्धातोरप उपपदे चकाराद् वौ च घिनुण् भवति। अपलाषी। विलाषी।

अर्थ—तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में अपपूर्वक तथा विपूर्वक लष धातु से 'घिनुण्' होता है।

उदा० (1) अपलाषी
अप लष् घिनुण्—उपधावृद्धि।

(2) विलाषी
वि लष् घिनुण्—अत उपधायाः।

(914) प्रे लपसृद्रुमथवदवसः *145* (3125)

प्र उपपदे लपादिभ्यो घिनुण् भवति। प्रलापी। प्रसारी। प्रद्रावी। प्रमाथी। प्रवादी। प्रवासी। वस इति 'वस निवासे' इत्यस्य ग्रहणम्, नाच्छादनार्थस्य, लुग्विकरणत्वात्।

अर्थ—तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान में प्रपूर्वक लप्, सृ, द्रु, मथ, वद तथा वस् धातुओं से 'घिनुण्' होता है।

'वस' के द्वारा 'वस निवासे' का ग्रहण होता है; 'वस आच्छादने' का नहीं।

उदा० (1) प्रलापी
प्र लप् घिनुण्—अत उपधायाः।

(2) प्रसारी
प्र सृ घिनुण्—अचो ञ्णिति,
प्र सार् इन्—उरण् रपरः,
प्रसारी—विभक्तिकार्य।

(3) प्रद्रावी
प्र द्रु घिनुण्—वृद्धि।

(4) प्रमाथी
प्र मथ् घिनुण्—उपधावृद्धि।

(5) प्रवादी (पूर्ववत्)।

(6) प्रवासी (पूर्ववत्)।

(915) निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादिव्याभाषासूयो वुञ् *146* (3126)

निन्दादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु वुञ् प्रत्ययो भवति। पञ्चम्यर्थे प्रथमा। 'क्लिश उपतापे' (धा०पा० 1162), 'क्लिश विबाधने' (धा०पा० 1523) द्वयोरपि ग्रहणम्। निन्दकः। हिंसकः। क्लेशकः। खादकः। विनाशकः। परिक्षेपकः। परिराटकः। परिवादकः। व्याभाषकः। असूयकः। ण्वुलैव सिद्धे वुञ्विधानं ज्ञापनार्थम्-ताच्छीलिकेषु वासरूपन्यायेन तृजादयो न भवन्तीति (म०भा०)।

अर्थ—तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में निन्द, हिंस, क्लिश, खाद, विपूर्वक नाशि (नश् णिच्), परिपूर्वक क्षिप्, परिपूर्वक रट्, परिपूर्वक वादि (वद् णिच्), वि तथा आपूर्वक भाष् तथा असूय (कण्ड्वादि०) धातुओं से 'वुञ्' प्रत्यय होता है।

ञकार की इत् संज्ञा होती है। ञित् वृद्धि के लिए किया गया है। 'वु' को 'युवोरनाकौ' से 'अक' होता है।

'क्लिश' के द्वारा 'क्लिश उपतापे' तथा 'क्लिश विबाधने' दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) निन्दकः
निन्द् वुञ् → निन्दकः—विभक्तिकार्य।

(2) हिंसक—हिंस् वुञ्।

(3) क्लेशकः
क्लिश् वुञ्—लघूपध गुण।

(4) खादकः—खाद् वुञ्।

(5) विनाशकः
वि नाश् णिच् वुञ्—'णेरनिटि' से 'णिच्' का लोप,
विनाशकः—अत उपधायाः।

(6) परिक्षेपकः
परि क्षिप् वुञ्—लघूपध गुण।

(7) परिराटकः
परि रट् वुञ्—अत उपधायाः।

(8) परिवादकः
परि वद् वुञ्—पूर्ववत्।

(9) व्याभाषकः
वि आ भाष् वुञ्—यणादेश।

(10) असूयकः
असूय् वुञ्—पूर्ववत्। 'अतो लोपः'से अकारलोप हुआ।

यद्यपि पूर्वोक्त 'निन्द्' आदि धातुओं से 'ण्वुल्' करके भी इष्टसिद्धि सम्भव है, तदपि 'वुञ्' के विधान से ज्ञापित होता है कि तच्छील आदि अर्थों में 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' के द्वारा विकल्प से बाधक नहीं होता है। तब पक्ष में 'तृच्' आदि की प्राप्ति नहीं होती।

(916) देविक्रुशोश्चोपसर्गे *147* (3127)

देवयतेः क्रुशेश्चोपसर्गे उपपदे वुञ् प्रत्ययो भवति। आदेवकः। परिदेवकः। आक्रोशकः। परिक्रोशकः। उपसर्ग इति किम्? देवयिता, क्रोष्टा।

अर्थ—तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में सोपसर्ग देवि (दिव् णिच्) तथा क्रुश् धातु से 'वुञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) आदेवकः
आ दिव् णिच् वुञ्—'णेरनिटि' से 'णिच्' का लोप,
आदेवकः—लघूपध गुण।

(2) परिदेवकः
परि दिव् णिच् वुञ्—पूर्ववत्।

(3) आक्रोशकः—आ क्रुश् वुञ्।
(4) परिक्रोशकः (पूर्ववत्)।

उपसर्गे अर्थात् सोपसर्ग धातु से ही 'वुञ्' होता है—

(5) देवयिता
दिव् णिच् तृच्—सोपसर्ग न होने से 'वुञ्' नहीं हुआ, 'तृच्' हुआ।

(6) क्रोष्टा
क्रुश् तृच्—पूर्ववत्।

(917) चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् *148* (3128)

चलनार्थेभ्यः शब्दार्थेभ्यश्चाकर्मकेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु युच् प्रत्ययो भवति। चलनः। चोपनः। शब्दार्थेभ्यः-शब्दनः, रवणः। अकर्मकादिति किम्? पठिता विद्याम्।

अर्थ—तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में अकर्मक चलन अर्थ वाले धातुओं से व शब्द अर्थ वाले धातुओं से 'युच्' प्रत्यय होता है। चकार की इत् संज्ञा होती है। 'युवोरनाकौ' से 'यु' को 'अन' आदेश होता है।

उदा० (1) चलनः
चल् युच्—'अन' आदेश,
चलनः—विभक्तिकार्य।

(2) चोपनः
चुप् युच्—लघूपध गुण।

(3) शब्दनः
शब्द् युच्—पूर्ववत्।

(4) रवणः
रु युच् → रो अन—सार्वधातुकार्धधातु०,
रवणः—अवादेश, सु।

अकर्मकात् अर्थात् अकर्मक धातु से ही 'युच्' होता है—

(5) पठिता विद्याम्
धातु अकर्मक नहीं है। अतः 'युच्' नहीं हुआ।

(918) अनुदात्तेतश्च हलादेः *149* (3129)

अनुदात्तेद्यो धातुर्हलादिरकर्मकः ततश्च युच् प्रत्ययो भवति। वर्त्तनः। वर्द्धनः। अनुदात्तेत इति किम्? भविता। हलादेरिति किम्? एधिता। आदिग्रहणं किम्? जुगुप्सनः, मीमांसनः। अकर्मकादित्येव-वसिता वस्त्रम्।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में व वर्त्तमान काल में अनुदात्तेत् (जिसका अनुदात्तयुक्त अच् इत् संज्ञक है), हलादि (= जिसके आदि में हल् है) तथा अकर्मक धातु से 'युच्' होता है।

उदा० (1) वर्त्तनः
वृत् युच्—'वृत्' अनुदात्तेत् व हलादि है, लघूपध गुण,
वर्त्तनः—अचो रहाभ्यां द्वे।

(2) वर्द्धनः
वृध् युच् → वर्ध् ध् अन—पूर्ववत्, द्वित्व,
वर्द्धनः—झलां जश् झशि।

अनुदात्तेत् अर्थात् जिसका अनुदात्तयुक्त अच् इत् है, ऐसे धातु से 'युच्' होता है—

(3) भविता
भू इट् तृच—'भू' हलादि व अकर्मक है; परन्तु अनुदात्तेत् नहीं है,
भविता—'युच्' नहीं हुआ।

हलादेः अर्थात् हलादि धातु से 'युच्' होता है—

(4) एधिता
एध् इ तृच्—एध अनुदात्तेत् व अकर्मक है, परन्तु हलादि नहीं है, अतः 'युच्' नहीं हुआ।

'आदि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि हलन्त धातु से ही 'युच्' प्रत्यय होता है, हलादि से नहीं—

(5) जुगुप्सनः
'जुगुप्स' हलादि है, परन्तु यदि सूत्र में केवल 'हल्' रहेगा तो तदन्तविधि हो जाने से यह केवल हलन्त से ही होगा; प्रस्तुत अजन्त उदाहरणों में नहीं हो सकेगा। अतः 'आदि' पद के ग्रहण से हलादि से ही होता है, हलन्त से नहीं।

(6) मीमांसनः (पूर्ववत्)।

अकर्मकात् अर्थात् अकर्मक होने पर ही 'युच्' होता है—

(7) वसिता वस्त्रम्
वस् इट् तृच्—'वस्' अनुदात्तेत् व हलादि है; परन्तु अकर्मक नहीं है, अतः 'युच्' नहीं हुआ।

(919) जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः *150* (3130)

जुप्रभृतिभ्यो धातुभ्यो युच् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। जु इति सौत्रो धातुः। जवनः। चङ्क्रमणः। दन्द्रमणः। सरणः। गर्द्धनः। ज्वलनः। शोचनः। लषणः। पतनः। पदनः। चलनार्थानां पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्थमिह, ज्ञापनार्थं च पदिग्रहणमन्ये वर्णयन्ति–ताच्छीलिकेषु मिथो वाऽसरूपविधिर्नास्तीति, तेनालंकृञस्तृन्न भवति–अलङ्कर्त्तेति। तथाहि–पदेरुकञा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचोऽसरूपत्वात्समावेशो भवेदेव, किमनेन विधानेन? ज्ञापनार्थं पुनर्विधीयते, प्रायिकं चैतज्ज्ञापनम्। क्वचित्समावेश इष्यत एव–गन्ता खेटं विकत्थनः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में जु, चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, सृ, गृधि, ज्वल, शुच, लष, पत तथा पद—इन धातुओं से 'युच्' होता है। 'जु' सौत्र धातु है। 'क्रम्' से यङ् प्रत्यय होकर 'चङ्क्रम्य' तथा 'द्रम्' से यङ् प्रत्यय करके 'दन्द्रम्य' धातु बनता है।

उदा० (1) जवनः
जु युच् → जो अन—आर्धधातुक गुण,
जवनः—अवादेश, सु।

(2) चङ्क्रमणः
चङ्क्रम युच् → पूर्ववत्। यस्य हलः।

(3) दन्द्रमणः
दन्द्रम्य युच्—यस्य हलः।

(4) सरणः
सृ युच्—आर्धधातुक गुण,
सरणः—अट्कुप्वाङ्नुम्०।

(5) गर्द्धनः
गृध् युच्—आर्धधातुक गुण, अचो रहाभ्यां द्वे,
गर्ध् ध् अन—झलां जश् झशि,
गर्द्धनः—विभक्तिकार्य।

(6) ज्वलनः—ज्वल् युच्।

(7) शोचनः
शुच् युच्—लघूपध गुण।

(8) लषणः
लष् युच्—णत्व।

(9) पतनः
पत् युच्—पतनः।

(10) पदनः
पद् युच्—पदनः।

चलना०—चलनवाची धातुओं का तथा 'पद' धातु का ग्रहण सकर्मक के लिए है। अन्य आचार्यों का मत है कि 'पद' धातु के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि तच्छील आदि अर्थों में परस्पर वाऽसरूप विधि नहीं होती। तब अलम् पूर्वक कृ धातु से 'तृन्' आदि नहीं होते हैं। यथा—'अलङ्कर्त्ता' रूप साधु नहीं है। इससे 'इष्णुच्' होकर 'अलङ्करिष्णु' साधु प्रयोग निष्पन्न होता है।

तथा हि—यह इस प्रकार होता है—'पद' धातु से विशेष विहित 'उकञ्' के साथ सामान्य विहित 'युच्' का असरूप होने से समावेश हो ही जाता है। तब यह विधान व्यर्थ सिद्ध होता है।

(समा०) यह विधान ज्ञापन के लिए है। ज्ञापन प्रायिक है। कई स्थलों पर समावेश अभीष्ट ही है। यथा—गन्ता खेटं विकत्थनः। यहाँ गम् से तृच् तथा विपूर्वक कत्थ् से युच् हुआ है। इस प्रकार उभय प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों का युगपत् प्रयोग प्राप्त होता है।

(920) क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च *151* (3131)

'क्रुध कोपे' (धा०पा० 1190), 'मडि भूषायाम्' (धा०पा० 1588)–इत्येतदर्थेभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो भवति। क्रोधनः। रोषणः। मण्डनः। भूषणः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में क्रोधवाची तथा मण्डनवाची धातुओं से 'युच्' होता है।

उदा० (1) क्रोधनः
क्रुध् युच्—लघूपधगुण।

(2) रोषणः
रुष् युच्—लघूपध गुण, णत्व।

(3) मण्डनः
मण्ड् युच्—मण्डनः।

(4) भूषणः
भूष् युच्—णत्व।

(921) न यः *152* (3132)

यकारान्ताद्धातोर्युच् प्रत्ययो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिद्ध्यते। क्नूयिता। क्ष्मायिता।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में यकारान्त धातु से 'युच्' नहीं होता है।

पूर्व सूत्र (अनुदात्तेत्०) से प्राप्त होने पर 'युच्' का प्रतिषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) क्नूयिता
क्नूय् इट् तृन्—औत्सर्गिक 'तृन्' हुआ,
क्नूयिता—सु

(2) क्ष्मायिता (पूर्ववत्)।

(922) सूददीपदीक्षश्च *153* (3133)

सूद, दीप, दीक्ष—इत्येतेभ्यश्च युच् प्रत्ययो न भवति। अनुदात्तेत्वात्प्राप्तः प्रतिषिद्ध्यते। सूदिता। दीपिता। दीक्षिता। ननु च दीपेर्विशेषविहितो रप्रत्ययो दृश्यते 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' (3.2.167) इति, स एव बाधको भविष्यति, किं प्रतिषेधेन? वाऽसरूपेण युजपि प्राप्नोति। ताच्छीलिकेषु च वाऽसरूपविधिर्नास्तीति प्रायिकमेतदित्युक्तम्। तथा च समावेशो दृश्यते-कम्रा युवतिः, कमना युवतिः, कम्प्रा शाखा, कम्पना शाखेति। सूदेर्युचि प्रतिषिद्धे कथं मधुसूदनो रिपुसूदन इति? अनित्योऽयं प्रतिषेध इति योगविभागाद्विज्ञायते, अथवा मधुसूदनादयो नन्द्यादिषु द्रक्ष्यन्ते। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इति ल्युडन्तो वा।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में सूद, दीप तथा दीक्ष धातुओं से 'युच्' प्रत्यय नहीं होता है।

अनुदात्तेत् होने से 'युच्' प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) सूदिता
सूद् इट् तृन्—'युच्' नहीं हुआ,
सूदिता—सु।

(2) दीपिता—दीप् इट् तृन्।

(3) दीक्षिता—दीक्ष् इट् तृन्।

ननु च—'नमिकम्पिस्म्य०' के द्वारा 'दीप्' धातु से 'र' प्रत्यय सिद्ध है। तब 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' से 'र' का पाक्षिक बाध होकर पक्ष में 'युच्' न हो, इसलिए प्रकृत सूत्र के द्वारा 'युच्' का निषेध किया गया है।

तच्छील आदि अर्थों में वाऽसरूप विधि नहीं होती—यह प्रायिक है—ऐसा कहा गया है और यहाँ पर समावेश दिखाई पड़ता है।

(4) कम्रा युवतिः
कम्र टाप्—'कम्' से 'र' हुआ, 'टाप्' हुआ,
कम्रा—सु, सुलुक्।

(5) कमना युवतिः
कम् युच् टाप्—'अन' आदेश होकर रूप बनता है।

(6) कम्प्रा शाखा—पूर्ववत् 'र'।

(7) कम्पना शाखा—'युच्' हुआ।

सूद् धातु से 'युच्' का प्रतिषेध हो जाने पर निम्नलिखित में 'युच्' किस प्रकार होता है—

(8) मधुसूदनः
मधु सूद् युच्—
'युच्' का प्रतिषेध अनित्य है। अतः 'युच्' हो गया।

(9) रिपुसूदनः (पूर्ववत्)।

योगविभाग से ज्ञात होता है कि 'मधुसूदन' आदि का 'नन्दि' आदि में पाठ किया जायेगा। अथवा 'कृत्यलुटो बहुलम्' से 'ल्युट्' होता है।

(923) लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् *154* (3134)

लषादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु उकञ् प्रत्ययो भवति। अपलाषुकं वृषलसङ्गतम्। प्रपातुका गर्भा भवन्ति। उपपादुकं सत्त्वम्। उपस्थायुका एनं पशवो भवन्ति। प्रभावुकमन्नं भवति। प्रवर्षुकाः पर्जन्याः। आघातुकं कापालिकस्य शूलम्। कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति। आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः। किंशारुकं तीक्ष्णमाहुः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में लष, पत, पद, स्था, भू, वृष, हन, कम, गम तथा शॄ धातुओं से 'उकञ्' प्रत्यय होता है।

'उकञ्' के ञकार की इत्संज्ञा होती है। ञित् होने से वृद्धि आदेश होता है।

उदा० (1) अपलाषुकम्
अपलष् उकञ्—अत उपधायाः।
अपलाषुकम्—सु।

(2) प्रपातुका (गर्भा)
प्र पत् उकञ् टाप्—स्त्रीत्व में 'टाप्'।

(3) उपपादुकम् (सत्त्वम्)
उप पद् उकञ् सु—पूर्ववत्।

(4) उपस्थायुकाः (पशवः)
उप स्था उकञ्—आतो युक् चिण् कृतोः,
उपस्थाय् उक जस्—विभक्तिकार्य।

(5) प्रभावुकम् (अन्नम्)
प्र भू उकञ्—अचो ञ्णिति,
प्रभावुकम्—सु।

(6) प्रवर्षुकाः (पर्जन्याः)
प्र वृष् उकञ्—लघूपधगुण,
प्र वर्ष् उक जस्—विभक्तिकार्य।

(7) आघातुकम् (शूलम्)
आ हन् उकञ्—हनस्त०, हो हन्ते०, अत उपधायाः,
आघातुकम्—विभक्तिकार्य।

(8) कामुकाः (स्त्रियः)
कम् उकञ्—अत उपधायाः, टाप्,
कामुका जस्—विभक्तिकार्य।

(9) आगामुकम् (रक्षः)
आ गम् उकञ्—पूर्ववत्।

(10) किंशारुकम् (तीक्ष्णम्)
किम् शॄ उकञ्—वृद्धि।

(924) जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् *155* (3135)

जल्पादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु षाकन् प्रत्ययो भवति। षकारो ङीषर्थः। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः। वराकी।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्तमान काल में जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ठ तथा वृङ् धातुओं से 'षाकन्' होता है। इसके षकार व नकार की इत् संज्ञा होती है। षित् करण 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' करने के लिए है।

उदा० (1) जल्पाकः
जल्प् षाकन्—षः प्रत्ययस्य,
जल्पाकः—सु।

(2) भिक्षाकः—भिक्ष् षाकन्।

(3) कुट्टाकः—कुट्ट षाकन्।

(4) लुण्टाकः—लुण्ट् षाकन्।

(5) वराकः
वृ षाकन् → वराकः—गुण।

(6) वराकी
वराक ङीष्—स्त्रीत्व में 'ङीष्', सु, सुलुक्।

(925) प्रजोरिनिः *156* (3136)

प्रपूर्वाज्जवतेस्तच्छीलादिषु कर्तृषु इनिप्रत्ययो भवति। प्रजवी। प्रजविनौ।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्तमान काल में प्र पूर्वक 'जु' धातु से 'इनि' प्रत्यय होता है। नकारोत्तरवर्ती इकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) प्रजवी
प्र जु इनि → प्र जो इन्—सार्वधातुकार्धधा०,
प्रजविन् सु—अवादेश,
प्रजवी—विभक्तिकार्य।

(2) प्रजविनौ
प्रजविन् औ—प्रथमा द्विवचन।

(926) जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च *157* (3137)

'जि जये' (धा०पा० 1408), 'दृङ् आदरे' (धा०पा० 223), 'क्षि क्षये' (धा०पा० 1412), 'क्षि निवासगत्योः' (धा०पा० 561) इति द्वयोरपि ग्रहणम्। प्रसू इति-'षू प्रेरणे' (धा०पा० 1409) इत्यस्य ग्रहणम्। जिप्रभृतिभ्यो धातुभ्य इनिः प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। जयी। दरी। क्षयी। विश्रयी। अत्ययी। वमी। अव्यथी। अभ्यमी। परिभवी। प्रसवी।

अर्थ—'जि जये' तथा 'दृङ् आदरे' का ग्रहण है। 'क्षि क्षये' तथा 'क्षि निवासगत्योः' दोनों का ग्रहण इष्ट है। 'षू प्रेरणे' ही गृहीत है।

तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में जि, दृ, क्षि, विपूर्वक श्री, इण्, वम्, नञ् पूर्वक व्यथ, अभिपूर्वक अम्, परिपूर्वक भू तथा प्रपूर्वक षू—इन धातुओं से 'इनि' होता है।

उदा० (1) जयी
जि इनि—आर्धधातुक गुण,
जयी—सु।

(2) दरी
दृ इनि—गुण,
दरी—सु।

(3) क्षयी
क्षि इनि—पूर्ववत् गुण।

(4) विश्रयी
वि श्री इनि—पूर्ववत् गुण।

(5) अत्ययी
अति इण् इनि—अत्ययी।

(6) वमी
वम् इनि—वमी।

(7) अव्यथी
अ व्यथ् इनि—'नञ्' का नकार एवं ञकार का लोप।

(8) अभ्यमी—अभि अम् इनि।
(9) परिभवी—परि भू इनि।
(10) प्रसवी—प्र सू इनि।

(927) स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् *158* (3138)

'स्पृह ईप्सायाम्' (धा०पा० 1872), 'गृह ग्रहणे' (धा०पा० 1900), 'पत गतौ' (धा०पा० 1862)-चुरादावदन्ताः पठ्यन्ते, 'दय दानगतिरक्षणेषु' (धा०पा० 481), 'द्रा कुत्सायां गतौ' (धा०पा० 1055), निपूर्वस्तत्पूर्वश्च; तदो नकारान्तता च निपात्यते, डुधाञ् (धा०पा० 1093) श्रत्पूर्वः-इत्येतेभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु आलुच् प्रत्ययो भवति। स्पृहयालुः। गृहयालुः। पतयालुः। दयालुः। निद्रालुः। तन्द्रालुः। श्रद्धालुः। *आलुचि शीङो ग्रहणं कर्तव्यम्* (म०भा०)। शयालुः।

अर्थ—स्पृह, गृह तथा पत—ये तीन अदन्त धातु हैं, इनका पाठ चुरादि गण में प्राप्त होता है। इनसे स्वार्थ में 'णिच्' होता है। तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में स्पृहि, गृहि, पति, दय्, निपूर्वक द्रा तथा तन्द्रा—इनसे 'आलुच्' प्रत्यय होता है। चकार की इत् संज्ञा होती है। तद् की नकारान्तता का निपातन किया गया है।

उदा० (1) स्पृहयालुः
स्पृह् णिच्—स्वार्थ में 'णिच्', धातुसंज्ञा,
स्पृहे आलु—गुण, अयादेश,
स्पृहयालुः—सु।

(2) गृहयालुः
गृह् णिच् आलुच्—पूर्ववत्।

(3) पतयालुः
पत् णिच् आलुच्—पूर्ववत्।

(4) दयालु—दय् आलुच्।
(5) निद्रालुः—नि द्रा आलुच्।
(6) तन्द्रालुः—तत् द्रा—निपातन से नकार,
तन् द्रा आलुच्—पूर्ववत्।

(7) श्रद्धालुः
श्रत् पूर्वक 'धा' से भी 'आलुच्' होता है।

आलुचि शीङो ग्रहणं कर्त्तव्यम्—शी धातु से भी 'आलुच्' होता है—

(8) शयालुः
शी आलुच्—गुण,
शयालुः—अयादेश, सु।

(928) दाधेट्सिशदसदो रुः *159* (3139)

दा, धेट्, सि, शद, सद-इत्येतेभ्यो रुः प्रत्ययो भवति। दारुः। धारुर्वत्सो मातरम्। 'न लोकाव्यय' (2.3.69) इत्युकार-प्रश्लेषात् षष्ठी न भवति। सेरुः। शद्रुः। सद्रुः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में दा, धेट्, सि, शद् तथा सद् धातुओं से 'रु' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दारुः—दा रु सु।

(2) धारुः (वत्सो मातरम्)
धे रु → धा रु—आदेच उपदेशेऽशिति,
'न लोकाव्यय०' में उकार का प्रश्लेष होने से यहाँ षष्ठी का निषेध हो गया।

(3) सेरुः
सी रु—गुण,
सेरुः—विभक्तिकार्य।

(4) शद्रुः
शद् रु—पूर्ववत्।

(5) सद्रुः
सद् रु—पूर्ववत्।

(929) सृघस्यदः क्मरच् *160* (3140)

सृ, घसि, अद्-इत्येतेभ्यो धातुभ्यः तच्छीलादिषु कर्तृषु क्मरच् प्रत्ययो भवति। सृमरः। घस्मरः। अद्मरः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्तमान काल में सृ, घस् तथा अद् धातु से 'क्मरच्' प्रत्यय होता है।

प्रत्यय के ककार व चकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) सृमरः
सृ क्मरच्—कित् होने से गुणनिषेध,
सृमरः—सु।

(2) घस्मरः—घस् क्मरच्।
(3) अद्मरः—अद्मर सु।

(930) भञ्जभासमिदो घुरच् *161* (3141)

भञ्ज, भास, मिद-इत्येतेभ्यो घुरच् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। भङ्गुरं काष्ठम्। घित्वात् कुत्वम्। भासुरं ज्योतिः। मेदुरः पशुः। भञ्जेः कर्मकर्त्तरि प्रत्ययः, स्वभावात्।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में भञ्ज, भास, और मिद् धातुओं से 'घुरच्' होता है।

घकार की 'लशक्वतद्धिते' से तथा चकार की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) भङ्गुरम् (काष्ठम्)
भञ्ज् घुरच्—'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से कुत्व,
भन् ग् उर—निमित्त के हट जाने से नैमित्तिक (ञ्) के स्थान पर 'न्'—
भङ्गुरम्—नश्चाऽपदान्तस्य झलि; अनुस्वारस्य ययि०।

(2) भासुरम् (ज्योतिः)
भास् घुरच्।

(3) मेदुरः
मिद् घुरच्—गुण।

(931) विदिभिदिच्छिदेः कुरच् *162* (3142)

ज्ञानार्थस्य (धा०पा० 1065) विदेर्ग्रहणं न लाभाद्यर्थस्य (धा०पा० 1433), स्वभावात्। विदादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु कुरच् प्रत्ययो भवति। विदुरः पाण्डुरः। भिदुरं काष्ठम्। छिन्दुरा रज्जुः। भिदिच्छिदोः कर्मकर्त्तरि प्रयोगः। *व्यधेः सम्प्रसारणं कुरच्च वक्तव्यः*। विधुरः।

अर्थ—यहाँ ज्ञानार्थक 'विद्' का ग्रहण है; लाभार्थक 'विद्' का नहीं।

तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में विद्, भिद् और छिद् धातुओं से 'कुरच्' प्रत्यय होता है।

चकार व ककार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) विदुरः—विद् कुरच्।
(2) भिदुरः—भिद् कुरच्।
(3) छिदुरः—छिद् कुरच्।
'कुरच्' के कित् होने से गुणनिषेध होता है।
भिदि और छिदि का कर्मकर्तृ में प्रयोग है।

व्यधेः सम्प्रसारणं कुरच्च वक्तव्यः—व्यध् धातु से 'कुरच्' प्रत्यय होता है तथा सम्प्रसारण भी होता है—

(4) विधुरः
व्यध् कुरच्—सम्प्रसारण, पूर्वरूप,
विध् उर सु—विभक्तिकार्य।

(932) इणनशिजसर्त्तिभ्यः क्वरप् *163* (3143)

इण, नश, जि, सर्त्ति-इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु क्वरप् प्रत्ययो भवति। पकारस्तुगर्थः। इत्वरः। इत्वरी। नश्वरः। नश्वरी। जित्वरः। जित्वरी। सृत्वरः। सृत्वरी। 'नेड्वशि कृति' (7.2.8) इतीट्प्रतिषेधः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में इण, णश, जि तथा सृ—इन धातुओं से 'क्वरप्' प्रत्यय होता है। पकार तथा ककार की इत् संज्ञा होती है।

स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाऽणञ्०' से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'क्वरप्' को पित् तुगागम के लिए किया गया है।

उदा० (1) इत्वरः
इ क्वरप्—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्,
इत्वरः—सु।

(2) इत्वरी
इत्वर ङीप् सु—सुलुक्।

(3) नश्वरः
णश → नश् वर—णो नः,
नश्वरः—पूर्ववत्।

(4) नश्वरी (पूर्ववत्)।
(5) जित्वरः—जि तुक् क्वरप्।
(6) जित्वरी—'ङीप्' हुआ।
(7) सृत्वरः—पूर्ववत् 'तुक्'।
(8) सृत्वरी—'ङीप्' हुआ।
'नेड्वशि कृति' से इट् का निषेध हो गया।

(933) गत्वरश्च *164* (3144)

गत्वर इति निपात्यते। गमेरनुनासिकलोपः क्वरप् प्रत्ययश्च। गत्वरः, गत्वरी।

अर्थ—'गत्वर' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) गत्वरः
गम् क्वरप्—निपातन से अनुनासिकलोप,
गत्वरः—तुक् आगम।

(2) गत्वरी—'ङीप्' हुआ।

(934) जागरूकः *165* (3145)

जागर्त्तेरूकः प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। जागरूकः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में 'जागृ' धातु से 'ऊक' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) जागरूकः
जागृ ऊक → जागर् ऊक—गुण,
जागरूकः—सु।

(935) यजजपदशां यङः *166* (3146)

यजादीनां यङन्तानामूकः प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। यायजूकः। जञ्जपूकः। दन्दशूकः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्त्तमान काल में यङ् प्रत्ययान्त, यज्, जप् और दंश्—इन धातुओं से 'ऊक' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) यायजूकः
यज् यङ् → ययज् य—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
यायज्य ऊक—धातुसंज्ञा, ऊक,
यायज् ऊक सु—अतो लोपः, यस्य हलः,
यायजूकः—विभक्तिकार्य।

(2) जञ्जपूकः
जप् यङ् → जञ्जप्य—धातुसंज्ञा,
जञ्जप्य् ऊक—ऊक्, अतो लोपः,
जञ्जपूकः—यस्य हलः, सु।

(3) दन्दशूकः
दंश् यङ् → दन्दश्य—धातुसंज्ञा, पूर्ववत् ऊक, अतो लोपः, यस्य हलः।

विशेष—पञ्चमीनिर्देशाच्च प्रत्ययो विधीयते (महा० 3.1.1) इस वचन से जहाँ पञ्चमी का निर्देश होता है, उससे प्रत्यय का विधान होता है। 'यजजपदशाम्' में षष्ठी है। व्याख्याकारों के अनुसार यहाँ आनन्तर्य में षष्ठी है। अन्ततोगत्वा आनन्तर्य पञ्चम्यर्थ में ही पर्यवसन्न होता है। इस प्रकार व्याख्याकारों ने 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी' लिखकर पल्ला झाड़ लिया है।

रामशङ्कर भट्टाचार्य (पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन—पृ०76) लिखते हैं कि किसी प्राक् पाणिनीय सूत्रों को आचार्य ने अविकल रूपेण ग्रहण कर लिया होगा। अतः-यत्र कुत्र पञ्चमी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग प्राप्त होता है।

(936) नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः *167* (3147)

नम्यादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु रः प्रत्ययो भवति। नम्रं काष्ठम्। कम्प्रा शाखा। स्मेरं मुखम्। अजस्रं जुहोति। कम्रा युवतिः। हिंस्रं रक्षः। दीप्रं काष्ठम्। अजस्रमिति 'जसु मोक्षणे' (धा०पा० 1212) नञ्पूर्वो रप्रत्ययान्तः क्रियासातत्ये वर्त्तते।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में नम्, कम्प्, स्मि, नञ् पूर्वक जस्, कम्, हिंस् तथा दीप्—इन धातुओं से 'र' होता है।

उदा० (1) नम्रः—नम् र सु।

(2) कम्रः—कम् र सु।
(3) स्मेरः
स्मि र → स्मेरः।
(4) अजस्रम्
नञ् जस् र—क्रिया की निरन्तरता अर्थ में 'र' प्रत्यय,
अजस्रम्—सु।
(5) कम्रा (युवतिः)—कम् र टाप् सु।
(6) हिंस्रम् (रक्षः)—हिंस् र सु।
(7 दीप्रम् (काष्ठम्)—दीप् र सु।

(937) सनाशंसभिक्ष उः *168* (3148)

सन्निति सन्प्रत्ययान्तो गृह्यते, न सनिर्धातुः, अनभिधानाद्व्याप्तिन्यायाद्वा। सन्नन्तेभ्यो धातुभ्य आशंसेर्भिक्षेश्च तच्छीलादिषु कर्तृषु उः प्रत्ययो भवति। चिकीर्षुः। जिहीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः। 'आङः शसि इच्छायाम्' (धा०पा० 629) इत्यस्य ग्रहणम्, न शंसेः स्तुत्यर्थस्य (धा०पा० 728)।

अर्थ—'सन्' के द्वारा सन् प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है; 'सनि' धातु गृहीत नहीं है। अभिधान न होने से अथवा व्याप्ति न्यायवशात्। गणपाठ में गर्गादिगण (1005) में 'विजिगीषु' पाठ प्राप्त होता है। यह पाठ ज्ञापित करता है कि 'सन्' के द्वारा सन्नन्त धातु का ग्रहण होता है, न कि 'सन्' धातु का।

सन् प्रत्ययान्त धातु से, आङ् पूर्वक शंस् धातु से तथा भिक्ष् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है, तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में।

उदा० (1) चिकीर्षुः
कृ सन् → कृ स—अज्झनगमां सनि, आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, इको झल्, क्क्ङिति च से गुणनिषेध,
कीर् स—ऋत इद् धातोः, उरण् रपरः, हलि च,
कीर् कीर् ष—आदेशप्रत्यययोः, सन्यङोः, हलादिः शेषः, ह्रस्वः,
चिकीर्ष उ सु—कुहोश्चुः, धातु संज्ञा, उ, अतो लोपः, सु।
(2) आशंसुः
आ शंस् उ—'आङः शसि इच्छायाम्' का यहाँ ग्रहण है, स्तुतिवाची 'शंस्' धातु का नहीं।
(3) भिक्षुः
भिक्ष् उ सु—विभक्तिकार्य।

(938) विन्दुरिच्छुः *169* (3149)

विदेर्नुमागम इषेश्छत्वमुकारश्च प्रत्ययो निपात्यते तच्छीलादिषु कर्तृषु। वेदनशीलो विन्दुः। एषणशील इच्छुः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थों में तथा वर्तमान काल में विन्दु तथा इच्छु शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) विन्दुः
विद् उ—निपातन से 'उ',
विन्दुः—निपातन से 'नुम्'।
(2) इच्छुः
इष् उ—निपातन से 'उ',
इछ् उ—निपातनात् षकार को छकार,
इच्छुः—'छे च' से 'तुक्', सु।

(939) क्याच्छन्दसि *170* (3150)

क्य इति क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणम्। क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः (मै०सं० 2.6.12)। संस्वेदयुः (मै०सं० 4.12.2.44)। सुम्नयुः (ऋ० 1.79.10)। छन्दसीति किम्? मित्रीयिता। 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (7.4.35) इति प्रतिषेधान्न दीर्घः।

अर्थ—'क्य' के द्वारा क्यच्, क्यङ् तथा क्यष्—इन तीनों का सामान्य रूप से ग्रहण होता है।

वेद के विषय में तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में क्यच्, क्यङ् व क्यष् प्रत्ययान्त धातुओं से 'उ' होता है।

उदा० (1) मित्रयुः (मै० सं० 2.6.12)
मित्र क्यच्—सुप आत्मनः क्यच्, धातुसंज्ञा,
मित्र य उ—'क्यचि च' से ईत्व प्राप्त हुआ, 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' से निषेध हुआ,
मित्रयुः—सु।
(2) संस्वेदयुः (मै० सं० 4.12.2)
सम् स्वेद क्यच्—पूर्ववत्।
(3) सुम्नयुः
सुम्नय उ → सुम्नयु सु।
छन्दसि अर्थात् वेद के विषय में ही 'उ' प्रत्यय होता है—

(4) मित्रीयिता
मित्र क्यच्—क्यचि च,
मित्रीय इ तृन्—लौकिक प्रयोग होने से 'उ' नहीं हुआ, 'तृन्' हुआ,
मित्रीयिता—सु।

(940) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च *171* (3151)

आकारान्तेभ्यः ऋवर्णान्तेभ्यश्च गम, हन, जन इत्येतेभ्यश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु किकिनौ प्रत्ययौ भवतः, लिड्वच्च तौ भवतः। आदिति दकारो मुखसुखार्थः, न त्वयं तपरः। मा भूत्तादपि परस्तपर इति ऋकारे तत्कालग्रहणम्। पपिः सोमम् ददिर्गाः (ऋ० 6.23.4)। दुदथुः मित्रावरुणा ततुरिः (ऋ० 4.39.2)। मित्रावरुणौ ततुरिः। दूरे ह्यध्वा जगुरिः (ऋ० 1.108.1)। जग्मिर्युवा (ऋ० 7.20.1)। जघ्निर्वृत्रम् (ऋ० 9.61.20)। जज्ञिर्बीजम् (तै०सं० 7.5.20.1)। अथ किमर्थं कित्त्वम्, यावता 'असंयोगाल्लिट् कित्' (1.2.5) इति कित्त्वं सिद्धमेव? 'ऋच्छत्यृताम्' (7.4.11) इति लिटि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते, तस्यापि बाधनार्थं कित्त्वम्। *किकिनावुत्सर्गः, छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्* (म० भा०)। सेदिः (तै०सं० 4.22.1)। नेमिः (ऋ० 2.5.3)। *भाषायां धाञ्कृञ्सृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ* (म०भा०)। दधिः। चक्रिः। सस्रिः। जज्ञिः। जग्मिः। नेमिः। *सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ* (म०भा०)। 'दीर्घोऽकितः' (7.4.83)। सासहिः। वावहिः। चाचलिः। पापतिः।

अर्थ—वेद में तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्तमान काल में आकारान्त धातु, ऋकारान्त धातु, गम्, हन् तथा जन्—इन धातुओं से 'कि' तथा 'किन्' प्रत्यय होते हैं और ये प्रत्यय लिट्वत् होते हैं।

'आत्' में तकार मुखसुखार्थ है, न कि तपरकरण के लिए। कारण कि, 'आ' के द्वारा इसके सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है। अतः आकार का तपरकरण व्यर्थ है। 'तात्परो यस्तपरः' परिभाषा से ऋकार को भी तपर नहीं किया जाता है।

कि तथा किन् में स्वर का अन्तर है। इनके ककार की इत्संज्ञा होती है। किन् के नकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) पपिः (ऋ० 6.2.3.4)
पा कि → लिट्वत् होने से द्वित्व (लिटि धातोरनभ्या०), आतो लोप इटि च,
पा प् इ → प पा इ—रूपातिदेश, अभ्यासकार्य,
पपिः—सु।

(2) ददिः (ऋ० 1.15.10)
दा कि (अथवा किन्)—पूर्ववत्।

(3) ततुरिः (शत० 1.8.1.22)
तॄ कि → तुर् कि—बहुलं छन्दसि,
तॄ तुर् इ—लिड्वत्, रूपातिदेश,
तर् तुर् इ—उरत्, उरण् रपरः, हलादिः शेषः,
ततुरिः—सु।

(4) जगुरिः (ऋ० 10.10.8.1)
गॄ कि → जगॄ इ—द्वित्व,
जगुरिः—उत्व।

(5) जग्मिः (ऋ० 7.20.1)
गम् कि—लिड्वत्, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ज ग्म् इ—गमहनजन०,
जग्मिः—सु।

(6) जघ्निः (ऋ० 9.61.20)
हन् कि → झ हन् इ—लिड्वत्, द्वित्व, कुहोश्चुः,
ज ह् न् इ—गमहनजन० से उपधालोप,
जघ्निः—कुत्व।

(7) जज्ञिः (तै० सं० 7.5.20.1)
जन् कि → ज जन् इ—द्वित्व, हलादिः शेषः,
ज ज् न् इ—उपधालोप, स्तोः श्चुना श्चुः,
जज्ञिः—सु।

अथ—कि व किन् को कित् किसलिए किया गया है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' के द्वारा ये स्वतः किद्वत् हैं ही।

(समा०) 'ऋच्छत्यृताम्' (7.4.11) से लिट् करने पर गुण के निषेध का विषय प्रारम्भ होता है। उसके बाध के लिए कित् किया गया है।

किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्—वेद में 'सद्' आदि धातुओं से भी कि अथवा किन् दृष्टिगोचर होते हैं। अतः कि व किन् को औत्सर्गिक मानना चाहिए।

(8) सेदिः (तै० सं० 4.2.2.1)
सद् किन्—लिड्वत्, अभ्यासलोप व एत्व,
सेदिः—सु।

(9) नेमिः (ऋ० 2.5.3)
नम् कि → नेमिः—पूर्ववत्।

भाषायां धाञ् कृञ् सृज् निगमिनमिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ—लौकिक प्रयोग में धाञ्, कृञ्, सृ, जनि, गमि तथा नमि धातुओं से कि व किन् होते हैं—

(10) दधिः
धा कि → ध धा इ → द धा इ—आतो लोप इटि च।

(11) चक्रिः
कृ कि → कृ कृ इ → च कृ इ—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
चक्रिः—सु।

(12) सस्रिः
सृ कि—द्वित्व, अभ्यासकार्य।

(13) जज्ञिः
जन् कि—ज ज् न् इ—उपधालोप, श्चुत्व।

(14) जग्मिः
गम् कि → जग् म् इ—पूर्ववत्।

(15) नेमिः
नम् कि—पूर्ववत्।

सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ—यङन्त सह, वह, चल् व पत् धातुओं से 'कि' व 'किन्' होते हैं। यङ् करने पर 'दीर्घोऽकितः' से दीर्घादेश होता है—

(16) सासहिः
सह् यङ् कि—धातुसंज्ञा, कि,
सासहिः—सु।

(17) वावहिः
वह् यङ् कि—पूर्ववत्।

(18) चाचलिः (पूर्ववत्)।

(19) पापतिः
पत् यङ् कि—पूर्ववत्।

(941) स्वपितृषोर्नजिङ् *172* (3152)

छन्दसीति निवृत्तम्। स्वपेस्तृषेश्च तच्छीलादिषु कर्तृषु नजिङ् प्रत्ययो भवति। स्वप्नक्। तृष्णक्। *धृषेश्चेति वक्तव्यम्*। धृष्णक्।

अर्थ—'छन्दसि' पद का अनुवर्तन नहीं होता। तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में स्वप् तथा तृष् धातुओं से 'नजिङ्' प्रत्यय होता है। 'नजिङ्' के इकार व ङकार की इत्संज्ञा होती है। इसे ङित् गुण के प्रतिषेध के लिए किया गया है।

उदा० (1) स्वप्नक्
स्वप् नजिङ् → स्वप्नज्—'चोः कुः' से कुत्व,
स्वप्नग्, क्—वाऽवसाने।

(2) तृष्णक्
तृष् नजिङ्—पूर्ववत्।

धृषेश्चेति वक्तव्यम्—धृष् धातु से भी 'नजिङ्' होता है—

(3) धृष्णक्
धृष् नजिङ्—पूर्ववत्।

(942) शृवन्द्योरारुः *173* (3153)

'शॄ हिंसायाम्' (धा०पा० 1489), 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' (धा०पा० 11)–इत्येताभ्यां धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्तृष्वारुः प्रत्ययो भवति। शरारुः। वन्दारुः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में व वर्त्तमान काल में शृ तथा वदि धातुओं से 'आरु' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) शरारुः
शॄ आरु → शर् आरु—गुण,
शरारुः—सु।

(2) वन्दारुः
वदि → व न् द् आरु—इदितो नुम्
वन्दारुः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(943) भियः क्रुक्लुकनौ *174* (3154)

'ञिभी' भये (धा०पा० 1085)। अस्माद्धातोः तच्छीलादिषु कर्तृषु क्रुक्लु-कनौ प्रत्ययौ भवतः। भीरुः। भीलुकः। *क्रुकन्नपि वक्तव्यः* (म०भा०) भीरुकः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में 'भी' धातु से 'क्रु' तथा 'क्लुकन्' प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं।

'क्रु' के ककार की इत्संज्ञा होती है। 'क्लुकन्' के प्रथम ककार की इत्संज्ञा होती है। नकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) भीरु
भी क्रु—अनुबन्धलोप,
भीरुः—सु।

(2) भीलुकः
भी क्लुकन्—अनुबन्धलोप,
भीलुकः—सु।

क्रुकन्नपि वक्तव्यः—भी धातु से 'क्रुकन्' प्रत्यय भी होता है—

(3) भीरुकः
भी क्रुकन्—अनुबन्धलोप,
भीरुकः—सु।

(944) स्थेशभासपिसकसो वरच् *175* (3155)

'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (धा०पा० 929), 'ईश ऐश्वर्ये' (धा०पा० 1021), 'भासृ दीप्तौ' (धा०पा० 624), 'पिसृ पेसृ गतौ' (धा०पा० 719, 720), 'कस गतौ' (धा०पा० 861)–इत्येतेभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु वरच् प्रत्ययो भवति। स्थावरः। ईश्वरः। भास्वरः। पेस्वरः। विकस्वरः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में तथा वर्त्तमान काल में स्था, ईश्, भास्, पिस् तथा कस् धातुओं से 'वरच्' प्रत्यय होता है।

'वरच्' के चकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) स्थावरः—स्था वरच्।
(2) ईश्वरः—ईश् वरच्।
(3) पेस्वरः
पिस् वरच्—गुण।
(4) विकस्वरः—वि कस् वरच्।

(945) यश्च यङः *176* (3156)

'या प्रापणे' (धा०पा० 1050)। अस्माद्यङन्तात्तच्छीलादिषु कर्तृषु वरच् प्रत्ययो भवति। यायावरः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में व वर्त्तमान काल में यङ् प्रत्ययान्त 'या' धातु से 'वरच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) यायावरः
या यङ् → याया य—सन्यङोः, धातु संज्ञा,
यायाय—ह्रस्वः,
यायाय वरच्—दीर्घोऽकितः, आर्धधातुकं शेषः,
यायावरः—अतो लोपः, लोपो व्योर्वलि, सु।

(946) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् *177* (3157)

भ्राजादिभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्तृषु क्विप् प्रत्ययो भवति। विभ्राट्। विभ्राजौ। विभ्राजः। भाः। भासौ। भासः। धूः। धुरौ। धुरः। विद्युत्। विद्युतौ। विद्युतः। ऊर्क्। ऊर्जौ। ऊर्जः। पूः। पुरौ। पुरः। जवतेर्दीर्घश्च निपात्यते। जूः। जुवौ। जुवः। ग्रावस्तुत्। ग्रावस्तुतौ। ग्रावस्तुतः। किमर्थमिदमुच्यते, यावताऽन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (3.2.75), 'क्विप् च' (3.2.76) इति क्विप्सिद्ध एव? ताच्छीलिकैर्बाध्यते, वाऽसरूपविधिर्नास्तीत्युक्तम्। अथ तु प्रायिकमेतत्, ततस्तस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में व वर्त्तमान काल में भ्राज्, भास्, धुर्व, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्रावन् उपपदपूर्वक स्तु धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। क्विप् का सर्वापहार लोप होता है।

उदा० (1) विभ्राट्
विभ्राज् क्विप्—सर्वापहारी लोप, प्रातिपदिक संज्ञा,
विभ्राज् स् → विभ्राज्—सु, सुलुक्,
विभ्राष्—व्रश्चभ्रस्ज०, झलां जशोऽन्ते,
विभ्राड्,-ट्—वाऽवसाने।

(2) विभ्राजौ
विभ्राज् औ—पूर्ववत्।

(3) विभ्राजः
वि भ्राज् अस्—पूर्ववत्।

(4) भाः
भास् क्विप् → भास्—सर्वापहारी लोप,
भाः—सु, सुलुक्।

(5) भासौ—भास् औ।
(6) भासः—भास् जस्।
(7) धूः
धुर्व् क्विप्—सर्वापहारी लोप, प्रत्ययलक्षण से 'राल्लोपः' से वकारलोप,
धूः—सु, 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' से धातुत्व अक्षुण्ण रहता है, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से उपधादीर्घ, विभक्तिकार्य।

(8) धुरौ—धुर् औ।
(9) धुरः—धुर् जस्।
(10) विद्युत्
वि द्युत् क्विप्—पूर्ववत्
विद्युत्।
(11) विद्युतौ—विद्युत् औ।
(12) विद्युतः—विद्युत् जस्।
(13) ऊर्क्
ऊर्ज् णिच् क्विप्—स्वार्थ में णिच्, णिच् का लोप, क्विप्, क्विप् का सर्वापहारी लोप, सु, सु का लुक्,
ऊर्ग्—'रात्सस्य' से संयोगान्त लोप का निषेध, चोः कुः।
(14) ऊर्जौ—ऊर्ज् औ।
(15) ऊर्जः—ऊर्ज् जस्।
(10) पूः
पॄ क्विप् → पॄ—सर्वापहारी लोप, सार्वधातुकार्धधातु०, क्क्ङिति च, ॠत इद् धातोः, उदोष्ठ्यपूर्वस्य, सु,
पुर् → पूः—सुलुक्, विभक्तिकार्य।
(17) पुरौ—पुर् औ।
(18) पुरः—पुर् जस्।
(19) जूः
जु क्विप्—सर्वापहारी लोप,
जु सु—अग्रिम सूत्र से 'दृश्यते' पद का आकर्षण करके दीर्घत्व का निपातन।
(20) जुवौ
जु औ—उवङ् आदेश।
(21) जुवः
जु जस्—उवङ् आदेश।
(22) ग्रावस्तुत्
ग्रावन् स्तु क्विप्—सर्वापहारी लोप, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य,
ग्राव स्तु त्—प्रत्ययलक्षण से तुक्, सु, सु का लुक्।
ग्रावस्तुत्—विभक्तिकार्य।
(23) ग्रावस्तुतौ—ग्रावस्तुत् औ।
(24) ग्रावस्तुतः—ग्रावस्तुत् जस्।

किमर्थ०—अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते तथा क्विप् च—इन सूत्रों के द्वारा 'क्विप्' सिद्ध होने पर प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है? वह क्विप् तच्छील आदि अर्थों में विहित प्रत्ययों से बाधित हो जाता है। यहाँ 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' यह विधि लागू नहीं होती है। यह कहा जा चुका—यह निषेध प्रायिक है, नित्य नहीं। इसका समाधान यह है कि प्रकृत सूत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' का प्रपञ्च है।

(947) अन्येभ्योऽपि दृश्यते *178* (3158)

अन्येभ्योऽपि धातुभ्यस्ताच्छीलिकेषु क्विप् प्रत्ययो दृश्यते। युक्। छित्। भित्। दृशिग्रहणं विध्यन्तरोपसंग्रहार्थम्। क्वचिद्दीर्घः। क्वचिद्द्विर्वचनम्। क्वचित्सम्प्रसारणम्। तथा चाह-*क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च* (म० भा०)। वचि—वाक्। प्रच्छि—शब्दप्राट्। आयतस्तूः। कटप्रूः। जूः। श्रीः। जुग्रहणेनात्र नार्थः, भ्राजादिसूत्र (3.2.177) एव गृहीतत्वात्। *द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च* (म० भा०)। दिद्युत्। जगत्। *जुहोतेर्दीर्घश्च* (म० भा०)। जुहूः। *दॄ भय इत्यस्य ह्रस्वश्च द्वे च* (म० भा०)। ददृत्। *ध्यायतेः सम्प्रसारणं च* (म० भा०)। धीः।

अर्थ—तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में व वर्त्तमान काल में (पूर्व सूत्रोक्त धातुओं से) अतिरिक्त धातुओं से भी 'क्विप्' प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है।

उदा० (1) युक्
युज् क्विप्—सर्वापहारी लोप,
युज् स्—सु, लुक्,
युग्,-क् —चोः कुः।
(2) छित्
छिद् क्विप्—पूर्ववत्,
छिद् स्—पूर्ववत्,
छिद्,-त्—विभक्तिकार्य।
(3) भित्
भिद् क्विप्—पूर्ववत्।

'दृश्यते' पद के ग्रहण से अन्य विधियाँ भी प्रवृत्त होती हैं। कहीं दीर्घ होता है, कहीं द्विर्वचन होता है तथा कहीं सम्प्रसारण का अभाव होता है।

क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च—वच्, प्रच्छ्, आयतस्तु, कटप्रु, जु तथा श्री—इनसे क्विप् प्रत्यय होता है, दीर्घ होता है तथा सम्प्रसारण का अभाव होता है—

(4) वाक्

वच् क्विप्—सर्वापहारी लोप, सु, लुक्,

वाग्,-क्—दीर्घादेश।

(5) शब्दप्राट्

शब्द प्रच्छ् क्विप्—पूर्ववत् सर्वापहारी लोप, दीर्घ, सु, लुक्,

शब्दप्राष्—व्रश्चभ्रस्ज०,

शब्दप्राड्—झलां जशोऽन्ते,

शब्दप्राड्,-ट्—वाऽवसाने।

(6) आयतस्तूः

आयत स्तु क्विप्—पूर्ववत् दीर्घ आदेश आदि।

(7) कटप्रूः

कटं प्रवते → कट प्रु क्विप्—पूर्ववत्,

कटप्रूः—दीर्घादेश।

(8) जूः

जु क्विप् → जूः—पूर्ववत्।

(9) श्रीः

श्रि क्विप्—पूर्ववत्।

भ्राज् आदि का सूत्र में ही पाठ है।

द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च—द्युत्, गम् और हु धातुओं से 'क्विप्' तथा द्वित्व होता है—

(10) दिद्युत्

द्युत् क्विप् → द्युत् द्युत्—सर्वापहारी लोप, द्वित्व,

दि द्युत् स्—'द्युतिस्वाप्योः०' से सम्प्रसारण, सु,

दिद्युत्—सुलुक्।

(11) जगत्

गम् क्विप् → जगत्—सर्वापहारी लोप, द्वित्व, गमः क्वौ, तुक्,

जगत् स् → जगत्—सु, सुलुक्।

जुहोतेर्दीर्घश्च—'हु' धातु को दीर्घादेश होता है—

(12) जुहूः

हु क्विप् → जुहू—सर्वापहारी लोप, द्वित्व, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च, दीर्घ,

जुहूः—सु।

दृभय इत्यस्य ह्रस्वश्च द्वे च—'दृ भये' धातु को ह्रस्वादेश तथा द्वित्व होता है—

(13) ददृत्

दृ क्विप् → दृ → दृ दृ → ददृत् तुक्,

ददृत्—सु, सुलुक्।

ध्यायतेः सम्प्रसारणं च—'ध्यै' का सम्प्रसारण होता है—

(14) धीः

ध्यै क्विप् → ध् इ ऐ—सर्वापहारी लोप, सम्प्रसारण, पूर्वरूप,

धि → धी स्—'हलः' से दीर्घादेश,

धीः—विभक्तिकार्य।

(948) भुवः संज्ञान्तरयोः *179* (3159)

भवतेर्धातोः संज्ञायामन्तरे च गम्यमाने क्विप् प्रत्ययो भवति। विभूर्नाम कश्चित्। अन्तरे-प्रतिभूः। धनिका-धमर्णयोरन्तरे यस्तिष्ठति स प्रतिभूरुच्यते।

अर्थ—संज्ञा तथा अन्तर अर्थ गम्यमान रहते वर्त्तमान काल में धातु से 'क्विप्' होता है।

उदा० (1) विभूः

वि भू क्विप्—संज्ञा अर्थ में 'क्विप्' हुआ,

विभूः—सर्वापहारी लोप, सु।

(2) प्रतिभूः

प्रति भू क्विप्—अन्तर अर्थ में 'क्विप्' हुआ, शेष पूर्ववत्। धनिक तथा ऋणी के मध्य जो होता है, उसे 'प्रतिभू' कहते हैं।

(949) विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् *180* (3160)

भुव इति वर्त्तते। वि, प्र, सम् इत्येवम्पूर्वाद्भवतेर्डुप्रत्ययो भवति, न चेत् संज्ञा गम्यते। विभुः सर्वगतः। प्रभुः स्वामी। सम्भुर्जनिता। असंज्ञायामिति किम्? विभूर्नाम कश्चित्। *डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। मितं द्रवति मितद्रुः। शम्भुः।

अर्थ—'भुवः' पद का अनुवर्त्तन है। वर्तमान काल में वि, प्र तथा सम् पूर्वक 'भू' धातु से 'डु' प्रत्यय है, यदि संज्ञा गम्यमान न हो।

डकार की इत् संज्ञा 'चुटू' से होती है। इसके डित् होने से इसके परे रहते टिलोप होता है।

उदा० (1) विभुः
वि भू डु—चुट्टू, टिलोप,
विभुः—विभक्तिकार्य।

(2) प्रभुः
प्र भू डु—पूर्ववत्।

(3) सम्भुः
सम् भू डु—पूर्ववत्।

असञ्ज्ञा० अर्थात् संज्ञा गम्यमान न रहते 'डु' होता है—

(4) विभूः
यह संज्ञा है, किसी का नाम है। अतः 'डु' नहीं हुआ। सामान्य 'क्विप्' हुआ।

डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसङ्ख्यानम्—मितद्रु आदि शब्दों से भी 'डु' होता है—

(5) मितद्रुः
मितं द्रवति → मित द्रु डु—पूर्ववत् टिलोप,
मितद्रुः—विभक्तिकार्य।

(6) शम्भुः
शम् भू डु—पूर्ववत्।

(950) धः कर्मणि ष्ट्रन् *181* (3161)

धयतेर्दधातेश्च कर्मणि कारके ष्ट्रन् प्रत्ययो भवति। षकारो ङीषर्थः। धयन्ति तां दधति वा भैषज्यार्थमिति धात्री। स्तनदायिनी आमलकी चोच्यते।

अर्थ—वर्त्तमान काल में व कर्म कारक में धेट् तथा धाञ् धातुओं से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है। 'षः प्रत्ययस्य' से षकार की तथा 'हलन्त्यम्' से नकार की इत् संज्ञा होती है। 'ष' की निवृत्ति होने पर 'ट्र' के स्थान पर 'त्र' हो जाता है। षित् स्त्रीत्व में 'ङीष्' के लिए किया गया है।

उदा० (1) धात्री
धयन्ति ताम्
दधति तां भैषज्यार्थम् } दोनों प्रकार के विग्रह[1] की दशा में 'ष्ट्रन्' हुआ, अनुबन्धलोप,

धा त्र—'आदेच उपदेशेऽशिति' धेट् की दशा में आत्व,
धात्री—षिद् गौरादिभ्यश्च, यस्येति च, सु, सुलुक्।

1. कर्मकारक में प्रत्यय का विधान होने से निम्नलिखित विग्रह भी रहता है—
धीयतेऽसौ।

(951) दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे *182* (3162)

'दाप् लवने' (धा०पा० 1060), 'णीञ् प्रापणे' (धा०पा० 902), 'शसु हिंसायाम्' (धा०पा० 727), 'यु मिश्रणे' (धा०पा० 1034), 'युजिर् योगे' (धा०पा० 1445), 'ष्टुञ् स्तुतौ' (धा०पा० 1044), 'तुद व्यथने' (धा०पा० 1282), 'षिञ् बन्धने' (धा०पा० 1249), 'षिचिर् क्षरणे' (धा०पा० 1435), 'मिह सेचने' (धा०पा० 993), 'पत्लृ गतौ' (धा०पा० 846), 'दंश दशने' (धा०पा० 990), 'णह बन्धने' (धा०पा० 1167) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणे कारके ष्ट्रन्प्रत्ययो भवति। दान्त्यनेनेति दात्रम्। नेत्रम्। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्रम्। दंष्ट्रा। अजादित्वात् टाप्, न ङीप्। दंशेरनुनासिकलोपेन निर्देशो ज्ञापनार्थः–क्ङितोऽन्यस्मिन्नपि प्रत्यये नलोपः क्वचिद्भवतीति। तेन ल्युट्यपि भवति–दशनम्, नद्ध्री।

अर्थ—वर्त्तमान काल में, करण कारक में दाप् (लवने), णीञ् (प्रापणे), शसु (हिंसायाम्), यु (मिश्रणे), युजिर् (योगे), ष्टुञ् (स्तुतौ), तुद् (व्यथने) षिञ् (बन्धने), षिचिर् (क्षरणे), मिह (सेचने), पत्लृ (गतौ), दंश (दशने) तथा णह (बन्धने)—इन धातुओं से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दात्रम्
दान्त्यनेन—'ष्ट्रन्' हुआ,
दात्रम्—सु।

(2) नेत्रम्
नी ष्ट्रन्—आर्धधातुक गुण,
नेत्रम्—सु।

(3) शस्त्रम्
शस् त्र—आर्धधातुक वलादिक इट् का 'तितुत्र०' से निषेध।
शस्त्रम्—सु।

(4) योत्रम्
यु त्र—गुण,
योत्रम्—सु।

(5) योक्त्रम्
युज् त्र—गुण,
योक्त्रम्—चोः कुः, सु।

(6) स्तोत्रम्
स्तु त्र—गुण,
स्तोत्रम्—सु।

(7) तोत्त्रम्
तुद् त्र → तोद् त्र—गुण,
तोत्त्रम्—खरि च, सु।

(8) सेत्रम्
षि → सि त्र—गुण,
सेत्रम्—सु।

(9) सेक्त्रम्
षिच् → सिच् त्र—गुण,
सेक्त्रम्—चोः कुः, सु।

(10) मेढ्रम्
मिह् त्र → मेह् त्र—लघूपधगुण,
मेढ् ढ्र—हो ढः, झषस्तथो०, ढो ढे लोपः,
मेढ्रम्—सु।

(11) पत्रम्
पतन्त्यनेन → पत् त्र—'तितुत्र०' से इट् का निषेध,
पत्रम्—सु।

(12) दंष्ट्रा
दंश् त्र → दंष् त्र—व्रश्चभ्रस्ज०,
दंष्ट्र टाप्—ष्टुना ष्टुः, स्त्रीत्व की विवक्षा में अजादि गण में पाठ होने से 'टाप्' हुआ, 'षिद् गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' प्राप्त था,
दंष्ट्रा—सु, सुलुक्।

सूत्रस्थ 'दश' पद के द्वारा अनुनासिक लोप का निर्देश किया गया है। इस निर्देश से ज्ञापित होता है कि क्वचित् कित् व ङित् प्रत्यय परे न रहते भी 'दंश्' के अनुनासिक का लोप होता है। यथा—

(13) दशनम्
दंश् ल्युट्—ल्युट् न तो कित् है, न ही ङित् है; तदपि अनुनासिकलोप हो गया है,
दश् अन सु—युवोरनाकौ,
दशनम्—विभक्तिकार्य।

कुछ विद्वानों का मत है कि सूत्र में 'दश' (दंश् शप्) में 'शप्' का निर्देश है। तब दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' से अनुनासिकलोप होता है। 'दंश् ल्युट्' में पृषोदरादि गण में होने से अनुनासिक लोप हुआ है।

(14) नद्ध्री
नह्यतेऽनेन → नह् त्र → नध् त्र—नहो धः,
नध् ध्र—झषस्तथो०,
नद् ध्र—झलां जश् झशि,
नद्ध्री—स्त्रीत्व में ङीप्, सु, सुलुक्।

(952) हलसूकरयोः पुवः *183* (3164)

पू इति पूङ्पूञोस्सामान्येन ग्रहणम्। अस्माद्धातोः करणे कारके ष्ट्रन् प्रत्ययो भवति, तच्चेत्करणं हलसूकरयोरवयवो भवति। हलस्य पोत्रम्। सूकरस्य पोत्रम्। मुखमुच्यते।

अर्थ—'पू' के द्वारा पूङ् व पूञ्—इन दोनों का ग्रहण होता है। वर्त्तमान में तथा करण कारक में 'पू' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है, यदि करण कारक हल व सूकर का अवयव हो।

उदा० (1) पोत्रम् (हलस्य)
पू त्र → पोत्रम्—सु।

(2) पोत्रम् (सूकरस्य)
पूर्ववत्।

(953) अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः *184* (3165)

'ऋ गतौ' (धा०पा० 1099), 'लूञ् छेदने' (धा०पा० 1484), 'धू विधूनने' (धा०पा० 1399), 'षू प्रेरणे' (धा०पा० 1409), 'खनु अवदारणे' (धा०पा० 879), 'षह मर्षणे' (धा०पा० 853), 'चर गतिभक्षणयोः' (धा०पा० 559)-इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणे कारके इत्रप्रत्ययो भवति। अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

अर्थ—वर्त्तमान में तथा करण कारक में ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् तथा चर्—इन धातुओं से 'इत्र' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अरित्रम्
ऋच्छति, इयर्त्ति वाऽनेन → ऋ इत्र—आर्धधातुक गुण,
अर् इत्र सु—विभक्तिकार्य।

(2) लवित्रम्
लुनात्यनेन → लू इत्र—गुण,
लवित्रम्—सु।

(3) धवित्रम्—धू इत्र।

(4) खनित्रम्—खन् इत्र।

(5) सहित्रम्—सह् इत्र।
(6) चरित्रम्—चर् इत्र।

(954) पुवः संज्ञायाम् *185* (3166)

पूङ्पूञोः सामान्येन ग्रहणम्। पवतेर्धातोः करणे कारके इत्रप्रत्ययो भवति, समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। दर्भः पवित्रम्। बर्हिष्पवित्रम्।

अर्थ—करण कारक में पू धातु से 'इत्र' प्रत्यय होता है, संज्ञा अर्थ में।

उदा० (1) पवित्रम्
पवते/पुनाति वाऽनेन → पू इत्र—गुण,
पवित्रम्—सु।

संज्ञा अर्थ में 'इत्र' हुआ है। 'पवित्र' का अर्थ है—जल, वायु, अग्नि।

(955) कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः *186* (3167)

पुव इति वर्त्तते। पुवः करणे कर्त्तरि च इत्रप्रत्ययो भवति। ऋषिदेवतयोर्यथासंख्यं सम्बन्धः, ऋषौ करणे देवतायां कर्त्तरि। पूयतेऽनेनेति पवित्रोऽयमृषिः। देवतायाम्—अग्निः पवित्रं स मा पुनातु। वायु सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रम्, ते मा पुनन्तु (निरुक्त 5.5)।

अर्थ—वर्त्तमान काल में व करण कारक में तथा कर्त्ता कारक में यथासंख्य करके 'ऋषि' व 'देवता' अर्थ गम्यमान होने पर 'पू' धातु से 'इत्र' प्रत्यय होता है।

सार यह है कि करण कारक में 'ऋषि' अर्थ तथा कर्त्ता कारक में 'देवता' अर्थ गम्यमान रहते 'पू' धातु से 'इत्र' होता है।

उदा० (1) पवित्रः
पूयतेऽनेनेति—पवित्रोऽयमृषिः
पूर्ववत् गुण हुआ।

(2) पवित्रम्
पवित्रम् अग्निः—पूर्ववत्।

(956) ञीतः क्तः *187* (3088)

ञि इद्यस्यासौ ञीत्। ञीतो धातोर्वर्त्तमानेऽर्थे क्तप्रत्ययो भवति। भूते निष्ठा विहिता, वर्त्तमाने न प्राप्नोतीति विधीयते। 'ञिमिदा स्नेहने' (धा०पा० 1244)—मिन्नः। ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः। ञिधृषा—धृष्टः।

अर्थ—'ञि' इत् यस्याऽसौ 'ञीत्' अर्थात् जिसका 'ञि' इत् संज्ञक हो, उसे 'ञीत्' कहते हैं।

वर्त्तमान काल में 'ञीत्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है। 'क्त' प्रत्यय भूतकाल में प्राप्त था।

उदा० (1) मिन्नः
ञिमिदा → मिद् क्त—आदिर्ञिटुडवः,
मिद् न—रदाभ्यां निष्ठातो नः०, वलादिक इट् प्राप्त हुआ, 'आदितश्च' से निषेध हुआ,
मिन्नः—सु।

(2) क्ष्विण्णः
ञिक्ष्विदा → क्ष्विद् क्त—पूर्ववत्, णत्व आदि।

(3) धृष्टः
धृष् क्त → धृष्टः—ष्टुना ष्टुः।

(957) मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च *188* (3089)

मतिरिच्छा, बुद्धिर्ज्ञानम्, पूजा सत्कारः, इत्येतदर्थेभ्यश्च धातुभ्यो वर्त्तमानार्थे क्तप्रत्ययो भवति। राज्ञां मतः। राज्ञामिष्टः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां ज्ञातः। राज्ञां पूजितः। राज्ञामर्चितः। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः—

शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि।
रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि॥
हृष्टतुष्टौ तथा कान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृतः पूर्ववत्स्मृतः॥
(म०भा०)

कष्ट इति भविष्यति काले। अमृत इति पूर्ववत्। वर्त्तमान इत्यर्थः। तथा—सुप्तः, शयितः, आशितः, लिप्तः, तृप्तः, इत्येवमादयोऽपि वर्त्तमाने द्रष्टव्याः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अर्थ—वर्त्तमान काल में मति अर्थ वाले, बुद्धि अर्थ वाले तथा पूजा अर्थ वाले धातुओं से 'क्त' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) राज्ञां मतः
मन् क्त → मतः—नकार का लोप, 'क्तस्य च वर्त्तमाने' से षष्ठी हुई, 'क्तेन च पूजायाम्' से षष्ठी समास का प्रतिषेध हुआ।

(2) राज्ञामिष्टः (पूर्ववत्)।

(3) राज्ञां बुद्धः

पूर्ववत्। झषस्तथो०। झलां जशोऽन्ते।

(4) राज्ञां ज्ञातः (पूर्ववत्)।

(5) राज्ञां पूजितः (पूर्ववत्)।

(6) राज्ञामर्चितः (पूर्ववत्)।

चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है। यथा—

(7) शीलितः

शील् क्त—इट्।

(8) रक्षितः—पूर्ववत्।

(9) क्षान्तः

क्षम् क्त—'अनुनासिकस्य क्विझलोः०' से दीर्घ, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अनुस्वार, परसवर्ण।

(9) आक्रुष्टः

आङ् क्रुष् क्त—ष्टुना ष्टुः।

(10) जुष्टः

जुष् क्त—पूर्ववत्।

(11) रुष्टः

रुष् क्त—पूर्ववत्।

(12) रुषितः—इट् हो गया है।

(13) अभिव्याहृतः

अभि वि आ हृ क्त।

(14) हृष्टः

हृष् क्त—ष्टुना ष्टुः।

(15) तुष्टः

तुष् क्त—ष्टुना ष्टुः।

(16) क्रान्तः

क्रम् क्त—अनुनासिकस्य क्विझलोः०, अनुस्वार, परसवर्ण।

(17) संयतः

सम् यम् क्त—अनुस्वार, अनुनासिकलोप।

(18) उद्यतः

उद् यम् क्त—अनुनासिकलोप।

(19) कष्टम्

कष् क्त—ष्टुत्व।

(20) अमृतः

न म्रियते → नञ् मृ क्त—अमृतः।

(21) सुप्तः

स्वप् क्त—वर्त्तमान काल अर्थ में,

सुप् त—लशक्व०, वचिस्वपि० से सम्प्रसारण, सु।

(22) शयितः

शीङ् क्त—इट्, अनुबन्धलोप,

शे इ त—गुण, अय्, सु।

(23) आशितः

आश् इट् क्त।

(24) लिप्तः

लिप् क्त सु।

(25) तृप्तः (पूर्ववत्)।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(958) उणादयो बहुलम् *1* (3169)

वर्त्तमान इत्येव, संज्ञायामिति च। उणादयः प्रत्यया वर्त्तमानेऽर्थे संज्ञायां विषये बहुलं भवन्ति। यतो विहितास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति। केचिदविहिता एव प्रयोगत उन्नीयन्ते। 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उ० सू० 1.1) कारुः, वायुः, पायुः, जायुः, मायुः, स्वादुः, साधुः आशुः।

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥1॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यत्र पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥2॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥3॥ (म० भा०)

अर्थ—'वर्त्तमाने' तथा 'सञ्ज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन है। वर्त्तमान के अर्थ में व संज्ञा के विषय में उणादि प्रत्यय बहुलता से होते हैं। (बहुलम्' कहने से) जिस-जिससे 'उण्' आदि प्रत्यय विहित हैं, उससे अतिरिक्त से भी होते हैं। कुछ जो विहित नहीं हैं, वे प्रयोगों से जाने जाते हैं। 'कृवापाजिमि०' (उ० सू०) से 'उण्' कहा गया है।

उदा० (1) कारुः
करोतीति → कृ उण्—अचो ञ्णिति,
कारुः—सु।

(2) वायुः
वातीति → वा युक् उण्—आतो युक् चिण्कृतोः,
वायुः—सु।

(3) पायुः
पातीति—पूर्ववत् 'युक्'।

(4) जायुः
जि उण् → जै उण्—वृद्धि,
जायुः—आयादेश, सु।

(5) मायुः
मि उण्—पूर्ववत्।

(6) स्वादुः
स्वद् उण्—अत उपधायाः।

(7) साधुः
साध् उण्।

(8) आशुः
अश् उण्—अत उपधायाः,
आशुः—सु।

बाहुलकं—कुछ प्रकृतियों से उण् आदि प्रत्ययों का विधान दृष्टिगोचर होता है, उन उण् आदि (जो अन्य शास्त्रों में विहित हैं) प्रत्ययों का समुच्चय प्रायः देखा जाता है। वहाँ सूत्र के द्वारा कार्यों का प्रत्यक्ष विधान नहीं किया गया है। इसके लिए 'बहुलम्' पद का ग्रहण है। चूँकि वेद में होने वाले और रूढि से बनने वाले प्रसिद्ध संज्ञाशब्दों के साधुत्व के लिए 'बहुलम्' पद का पाठ किया गया है; अतः सभी प्रकृतियों से उणादि का विधान नहीं किया गया है तथा सभी प्रत्ययों का समुच्चय भी नहीं है और न ही सभी कार्यों का विधान ही किया गया है।

व्याख्या—प्रश्न यह है कि अन्य आचार्यों की तरह पाणिनि ने भी प्रकृतियों एवं कार्यों का निर्देश न करके एक बार 'बहुलम्' का पाठ करके ही पल्ला क्यों झाड़ लिया? इसका समाधान यह है कि

(क) प्रकृतेः अर्थात् अन्य शास्त्रकारों ने भी थोड़ी ही प्रकृतियों का उल्लेख किया है।

(ख) प्राय० अर्थात् उन उण् प्रत्ययों का भी अंशतः समुच्चय कर लिया गया है, पूर्णतः निर्देश नहीं है।

(ग) कार्य० अर्थात् अन्य शास्त्रकारों ने भी सभी कार्यों का निर्देश नहीं किया है। तब आचार्य ने 'बहुलम्' इस एक तीर से अनेक लक्ष्यों का वेध कर दिया तो क्या अनुचित कर दिया? उन्होंने नैगम व रूढि शब्दों की साधुता के लिए 'बहुलम्' का ग्रहण किया है।

नाम च०—निरुक्ताचार्यों ने सभी संज्ञाशब्दों को धातु व प्रत्यय से निष्पन्न स्वीकार किया है। व्याकरण शास्त्र में भी शकट के पुत्र शाकटायन ने उक्त धातुवाद को माना है। आचार्य पाणिनि के मत में दो पक्ष हैं—व्युत्पत्तिपक्ष व अव्युत्पत्तिपक्ष। जो प्रकृति आदि से विहित नहीं है, उसकी ऊहा (अर्थात् प्रकृति व प्रत्यय की कल्पना) कर लेनी चाहिए।

सञ्ज्ञासु०—पूर्व में जो ऊहा की बात कही गई है, वह सर्वत्र लागू नहीं होती, अपितु केवल प्रसिद्ध संज्ञाशब्दों के विषय में ही होती है। संज्ञाशब्दों में उपयुक्त धातु की कल्पना कर लेनी चाहिए तथा उससे परे प्रत्ययों की भी कल्पना करनी चाहिए। तत्पश्चात् (गुण-वृद्धि आदि) विभिन्न कार्यों के अनुसार अनुबन्धों की कल्पना करनी चाहिए। इस उणादि में यही अनुशासन है।

(959) भूतेऽपि दृश्यन्ते *2* (3170)

पूर्वत्र वर्त्तमानाधिकाराद् भूतार्थमिदं वचनम्। भूते काले उणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते। वृत्तमिदं वर्त्म। चरितं तदिति चर्म। भसितं तदिति भस्म। दृशिग्रहणं प्रयोगानुसारार्थम्।

अर्थ—पूर्व शास्त्र से 'वर्त्तमाने' का अधिकार है। अब भूतकाल के अर्थ में प्रत्यय का विधान किया जाता है। भूतकाल के अर्थ में भी उणादि प्रत्यय दृष्टिगोचर होते हैं।

उदा० (1) वर्त्म
वृत्तमिदम् → वृत् मनिन्
वर्त्मन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) चर्म
चरितं तदिति—मनिन्।

(3) भस्म
भसितं तदिति—मनिन्।

'दृश्यन्ते' पद का प्रयोजन यह है कि एतादृश अन्य प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं।

'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ० सू० 4.145) से 'मनिन्' हुआ है।

(960) भविष्यति गम्यादयः *3* (3171)

भविष्यति काले गम्यादयः शब्दाः साधवो भवन्ति। प्रत्ययस्यैव भविष्यत्कालता विधीयते, न प्रकृतेः। गमी ग्रामम्। आगामी। प्रस्थायी। प्रतिरोधी। प्रतिबोधी। प्रतियोधी। प्रतियोगी। प्रतियायी। आयायी। भावी। *अनद्यतन उपसंख्यानम्* (म० भा०)। श्वो गमी ग्रामम्।

अर्थ—भविष्यत् काल के अर्थ में 'गमी' आदि शब्द उणादि प्रत्ययों से निष्पन्न हैं। भविष्यत् काल का कथन प्रत्यय से कहा गया है, प्रकृति से नहीं।

उदा० (1) गमी
गम् इन्—'सु' हुआ।

(2) आगामी
आङ् गम् इन्—णित् होने से उपधावृद्धि।

(3) प्रस्थायी
प्र स्था युक् इन्।

(4) प्रतिरोधी
प्रति रुध् इन्—गुण।

(5) प्रतिबोधी
प्रति बुध् इन्—गुण।

(6) प्रतियोधी
प्रति युध् इन्—लघूपधगुण।

(7) प्रतियोगी
प्रति युज् इन्—गुण, कुत्व।

(8) प्रतियायी
प्रति या युक् इन्।

(9) आयायी
आङ् या युक् इन्।

(10) भावी
भू णिनि—वृद्धि।

अनद्यतन उपसङ्ख्यानम्—अनद्यतन भविष्यत् काल अर्थ में भी 'गमी' आदि शब्द साधु हैं—

(11) गमी (श्वो ग्रामम्)
पूर्ववत्।

(961) यावत्पुरानिपातयोर्लट् *4* (2783)

भविष्यतीत्येव। यावत्पुराशब्दयोर्निपातयोरुपपदयोर्भविष्यति काले धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। यावद् भुङ्क्ते। पुरा भुङ्क्ते। निपातयोरिति किम्? यावद्दास्यति तावद्भोक्ष्यते। करणभूतया पुरा व्रजिष्यति।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्त्तन है। 'यावत्' तथा 'पुरा' निपातसंज्ञक शब्दों के उपपद रहते भविष्यत् काल के अर्थ में धातु से लट् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) यावद् भुङ्क्ते
लट् हुआ, शप् को बाधकर 'श्नम्', अकार का लोप।

(2) पुरा भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

निपातयोः अर्थात् निपातसंज्ञक उपपद रहते ही धातु से लट् प्रत्यय होता है—

(3) यावद् दास्यति तावद् भोक्ष्यते

यहाँ 'यावद्' शब्द की निपातसंज्ञा नहीं है। अतः लट् प्रत्यय नहीं हुआ।

(4) करणभूतया पुरा व्रजिष्यति

'पुरा' उपपद निपात नहीं है। अतः धातु से लट् प्रत्यय नहीं हुआ।

(962) विभाषा कदाकर्ह्योः *5* (2784)

कदा, कर्हि इत्येतयोरुपपदयोर्विभाषा भविष्यति काले धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। कदा भुङ्क्ते। कदा भोक्ष्यते। कदा भोक्ता। कर्हि भुङ्क्ते। कर्हि भोक्ष्यते। कर्हि भोक्ता।

अर्थ—भविष्यत् काल के अर्थ में 'कदा' तथा 'कर्हि' के उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में लुट् व लृट् होते हैं।

उदा० (1) कदा भुङ्क्ते ?
लट् हुआ।

(2) कदा भोक्ष्यते ?
पक्ष में लृट्—भुज् स्य त—भोज् स्य त—भोग् स्य त (चोः कुः)।

(3) कदा भोक्ता ?
लुट् हुआ।

(4) कर्हि भुङ्क्ते ?
लट्।

(5) कर्हि भोक्ष्यते ?
लृट्।

(6) कर्हि भोक्ता
लुट्।

(963) किंवृत्ते लिप्सायाम् *6* (2785)

विभाषेति वर्त्तते। किमो वृत्तं किंवृत्तम्। वृत्तग्रहणेन तद्विभक्त्यन्तं प्रतीयात्। डतरडतमौ चेति परिसंख्यानं स्मर्यते। किंवृत्ते उपपदे लिप्सायां भविष्यति काले धातोर्विभाषा लट् प्रत्ययो भवति। लिप्सा लब्धुमिच्छा, प्रार्थनाभिलाषः। कं भवन्तो भोजयन्ति। कं भवन्तो भोजयितारः। लब्धुकामः पृच्छति–कतरो भिक्षां दास्यति, ददाति, दाता वा। कतमो भिक्षां दास्यति, ददाति, दाता वा। लिप्सायामिति किम्? कः पाटलिपुत्रं गमिष्यति।

अर्थ—'विभाषा' पद का अनुवर्तन है। लिप्सा अर्थ में, भविष्यत् काल में तथा किंवृत्त उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय विकल्प से होता है।

'किंवृत्त' पद के द्वारा 'किम्' शब्द की सभी विभक्तियों सहित पद तथा डतर-डतम प्रत्ययान्त 'कतर' 'कतम' शब्दों का भी ग्रहण होता है।

(1) कं भवान् भोजयति ?
लट्।

(2) कं भवान् भोजयिता ?
लुट्।

(3) कं भवान् भोजयिष्यति ?
लृट्।

(4) कतरो भिक्षां ददाति ?
लट्। श्लु, द्वित्व।

(5) कतरो भिक्षां दास्यति ?
लृट्।

(6) कतरो भिक्षां दाता ?
लुट्।

(7) कतमो भिक्षां ददाति ?
लट्।

(8) कतमो भिक्षां दास्यति ?
लृट्।

(9) कतमो भिक्षां दाता ?
लुट्।

लिप्सायाम् अर्थात् लिप्सा अर्थ गम्यमान रहते ही लट् होता है—

(10) कः पाटलिपुत्रं गमिष्यति ?
यहाँ लिप्सा अर्थ नहीं है, अपितु सामान्य प्रश्न है। अतः लट् नहीं हुआ।

(964) लिप्स्यमानसिद्धौ च *7* (2786)

विभाषेत्येव। लिप्स्यमानात्सिद्धिर्लिप्स्यमानसिद्धिः। लिप्स्यमानसिद्धौ गम्यमानायां भविष्यति काले धातोर्विभाषा लट् प्रत्ययो भवति। अकिंवृत्तार्थोऽयमारम्भः। यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति। यो भक्तं दास्यति स स्वर्गं

गमिष्यति। यो भक्तं दाता स स्वर्गं गन्ता (म०भा०)। लिप्स्यमानाद् भक्तात् स्वर्गसिद्धिमाचक्षाणो दातारं प्रोत्साहयति।

अर्थ—'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है। 'लिप्स्यमान (अर्थात् चाही गई) वस्तु से उपलब्धि' अर्थ गम्यमान हो तो भविष्यत् काल में धातु से लट् प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति

लट् हुआ।

(2) यो भक्तं दास्यति स स्वर्गं गमिष्यति

लृट् हुआ।

(3) यो भक्तं दाता स स्वर्गं गन्ता

लुट् हुआ।

यहाँ 'भक्त' लिप्स्यमान है। उससे स्वर्ग की प्राप्तिरूप उपलब्धि गम्यमान है।

(965) लोडर्थलक्षणे च *8* (2787)

लोडर्थः प्रैषादिर्लक्ष्यते येन स लोडर्थलक्षणो धात्वर्थः, तत्र वर्त्तमानाद्धातोर्भविष्यति काले विभाषा लट् प्रत्ययो भवति। उपाध्यायश्चेदागच्छति, उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, उपाध्यायश्चेदागन्ता, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व, अथ त्वं व्याकरणमधीष्व। उपाध्यायागमनमध्ययनप्रैषस्य लक्षणम्।

अर्थ—जिसके द्वारा प्रैष आदि लोट् का अर्थ लक्षित होता है, वह लोडर्थलक्षण धात्वर्थ कहलाता है। लोडर्थलक्षण गम्यमान हो तो धातु से लट् प्रत्यय विकल्प से होता है, भविष्यत् काल में।

उदा० (1) उपाध्यायश्चेदागच्छति, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व

यहाँ उपाध्याय का आगमन अध्ययनरूप प्रेरणा का लक्षण है। अतः पाक्षिक लट् हुआ।

(2) उपाध्यायश्चेदागमिष्यति

लृट् हुआ।

(3) उपाध्यायश्चेदागन्ता

लुट् हुआ।

(966) लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके *9* (2788)

भविष्यति, विभाषा, लोडर्थलक्षण इति सर्वमनुवर्त्तते। ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके भविष्यति काले लोडर्थलक्षणार्थे वर्त्तमानाद्धातोर्विभाषा लिङ् प्रत्ययो भवति, चकारात्लट् च। ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद्भव ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकः। निपातनात् समासः, उत्तरपदवृद्धिश्च। भविष्यतश्चैतद्विशेषणम्। ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात्= उपरि मुहूर्त्तस्य, उपाध्यायश्चेदागच्छेत्, उपाध्ययश्चेदागच्छति, उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, उपाध्यायश्चेदागन्ता, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व, अथ त्वं व्याकरणमधीष्व।

अर्थ—भविष्यति, विभाषा तथा लोडर्थलक्षणे—इन पदों का अनुवर्त्तन है। यदि मुहूर्त्त से अधिक के भविष्यत्काल का कथन हो तो लोडर्थलक्षण गम्यमान रहते धातु से भविष्यत् काल में लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है और लट् भी होता है। लिङ् के अभावपक्ष में भविष्यत् होता है।

मुहूर्त्त का प्रमाण दो घड़ी का होता है। यहाँ लिङ्, लट्, लृट्, तथा लुट्—ये चार प्रत्यय होते हैं।

मुहूर्तात् ऊर्ध्वं भवः—ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकः—निपातन से समास तथा उत्तरपद की वृद्धि हुई है।

उदा० (1) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् उपाध्यायश्चेदागच्छेत् अथ त्वं छन्दोऽधीष्व

लिङ् हुआ।

(2) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् चेदागच्छति अथ त्वं छन्दोऽधीष्व

लट् हुआ।

(3) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् चेदागमिष्यति अथ त्वं छन्दोऽधीष्व

लृट् हुआ।

(4) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् चेदागन्ता अथ त्वं छन्दोऽधीष्व

लुट् हुआ।

(967) तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् *10* (3175)

भविष्यतीत्येव। क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे धातोर्भविष्यति काले तुमुन्ण्वुलौ प्रत्ययौ भवतः। भोक्तुं व्रजति। भोजको व्रजति। भुजिक्रियार्थो व्रजिरत्रोपपदम्। क्रियायामिति किम्? भिक्षिष्य इत्यस्य जटाः। क्रियार्थायामिति किम्? धावतस्ते पतिष्यति दण्डः। अथ किमर्थं ण्वुल् विधीयते, यावता 'ण्वुल्तृचौ' (3.1.133) इति सामान्येन विहित एव, सोऽस्मिन्नपि विषये भविष्यति? लृटा क्रियार्थोपपदेन बाध्येत। वासरूपविधिना सोऽपि भविष्यति? एवं तर्ह्येतज्ज्ञाप्यते—क्रियायामुपपदे क्रियार्थायां वासरूपेण तृजादयो न भवन्तीति। तेन कर्त्ता व्रजति, विक्षिपो व्रजतीत्येवमादि निवर्त्यते।

अर्थ— 'भविष्यति' का अनुवर्त्तन है। क्रियार्थ क्रिया के उपपद रहते भविष्यत् के अर्थ में धातु से 'तुमुन्' तथा 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं।

किसी क्रिया की सिद्धि के लिए जब दूसरी क्रिया की जाती है तो वह दूसरी क्रिया क्रियार्था क्रिया कहलाती है।

तुमुन् के नकार तथा मकारोत्तरवर्त्ती उकार की इत्संज्ञा होती है। यह मकारान्त है। अत: तुमुन्नन्त शब्द की 'कृन्मेजन्त:' से अव्ययसंज्ञा होती है। 'ण्वुल्' के णकार (चुटू) और लकार (हलन्त्यम्) की इत्संज्ञा होती है। शेष 'वु' रहता है। 'युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक' आदेश होता है।

उदा० (1) भोक्तुं व्रजति

भुज् तुमुन्—व्रजनरूप क्रिया क्रियार्था क्रिया है। इसके उपपद रहते 'तुमुन्' हुआ।

भोक्तुम्—गुण, कुत्व,

भोक्तुम्—प्रातिपदिक संज्ञा, सु, अव्ययसंज्ञा, 'अव्ययादाप् सुप:'।

(2) भोजको व्रजति

पूर्ववत्। 'ण्वुल्', लघूपधगुण।

क्रियायाम् अर्थात् क्रियार्था **क्रिया के** उपपद रहते ही धातु से पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

भिक्षिष्य इत्यस्य जटा:—यहाँ नहीं हुआ।

क्रियार्थायाम् अर्थात् **क्रियार्था** क्रिया के उपपद रहते ही धातु से पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

धावतस्ते पतिष्यति दण्ड:

यहाँ क्रिया है, परन्तु वह क्रियार्थ नहीं है। अत: प्रत्यय नहीं हुआ।

अथ०—'ण्वुल् तृचौ' के द्वारा 'ण्वुल्' प्राप्त है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ण्वुल्' का विधान किया जाना व्यर्थ है।

(समा०) 'ण्वुल् तृचौ' के द्वारा सामान्य रूप से कहे गये 'ण्वुल्' का क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते 'ऌट्' के द्वारा बाध होकर वाऽसरूप विधि के द्वारा वह भी हो जाता है। अत: प्रकृत सूत्र में 'ण्वुल्' के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते वाऽसरूप विधि के द्वारा 'तृच्' आदि नहीं होते हैं। तब 'कर्त्ता व्रजति' तथा 'विक्षिप: व्रजति' आदि रूप भी उपपन्न नहीं होते हैं।

(968) भाववचनाश्च *11* (3180)

भविष्यतीत्येव। 'भावे' (3.3.18) इति प्रकृत्य ये घञादयो विहि-तास्ते च भाववचना: भविष्यति काले क्रियायामुपपदे क्रियार्थायां भवन्ति। किमर्थमिदम्, यावता विहिता एव ते। क्रियार्थोपपदे विहितेनास्मिन् विषये तुमुना बाध्येरन्। वाऽसरूपविधिश्चात्र नास्तीत्युक्तम्। अथ वचनग्रहणं किमर्थम्? वाचका यथा स्यु:। कथञ्च वाचका भवन्ति? याभ्य: प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन विहिता यदि ताभ्यस्तथैव भवन्ति, नासामञ्जस्येनेति। पाकाय व्रजति। भूतये व्रजति। पुष्टये व्रजति।

अर्थ—'भविष्यति' पद का अनुवर्त्तन है। क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते धातु से भाववचन प्रत्यय होते हैं, भविष्यत् काल में।

'भावे' इस वचन के द्वारा जो (घञ् आदि) प्रत्यय भाव अर्थ में कहे गए हैं, वे भाववचन प्रत्यय कहलाते हैं। जब 'भावे' के अधिकार में घञ् आदि प्रत्यय कहे जा चुके हैं तो प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है? (समा०) प्रकृत सूत्र के द्वारा भाववाची प्रत्ययों के विधान का प्रयोजन यह है कि क्रियार्था के उपपद रहते विहित प्रत्यय के द्वारा इस विषय में इनका बाध हो जाता है। वाऽसरूप विधि यहाँ नहीं होती—यह कहा जा चुका है।

अथ०—'भाववचनाश्च' में 'वचन' पद के ग्रहण का क्या फल है? (समा०) ताकि वे प्रत्यय भाव के वाचक हों। जिन प्रकृतियों से जिस विशेषण के द्वारा प्रत्ययों का विधान किया गया है, यदि उन प्रकृतियों से वे उसी प्रकार हो जाते हैं; असामञ्जस्य से नहीं।

उदा० (1) पाकाय व्रजति

पच् घञ्—व्रजनरूप क्रियार्था क्रिया है, इसके उपपद रहते 'घञ्' भाववाची प्रत्यय हुआ,

पाक:—अत उपधाया:, कुत्व, सु।

(2) भूतये व्रजति

भू क्तिन्—पूर्ववत्, कित् होने से गुण नहीं हुआ,

भूति ङे—गुण, अयादेश।

(3) पुष्टये व्रजति

पुष् क्तिन् ङे—पूर्ववत्।

(969) अण् कर्मणि च *12* (3181)

भविष्यतीत्येव। चकार: सन्नियोगार्थ:। धातोरणप्रत्ययो भवति भविष्यति काले कर्मण्युपपदे क्रियायां च क्रियार्था-

याम्। 'कर्मण्यण्' (3.2.1) इति सामान्येन विहितो वाऽसरूपविधेरभावात् ण्वुला बाधितः पुनरण्विधीयते, सोऽपवादत्वाद् ण्वुलं बाधते, परत्वात् कादीन्। तेनापवादविषयेऽपि भवत्येव–काण्डलावो व्रजति, अश्वदायो व्रजति, गोदायो व्रजति, कम्बलदायो व्रजति।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्त्तन है। चकार का ग्रहण सन्नियोग के लिए है।

भविष्यत् काल में क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते तथा कर्मवाची शब्द के उपपद रहते धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'कर्मण्यण्' के द्वारा सामान्यतः विहित 'ण्वुल्' के द्वारा वाऽसरूप विधि के अभाव से अण् का बाध हो जाता है। तब प्रकृत सूत्र के 'अण्' का विधान किया जा रहा है। वह अपवाद होने से 'ण्वुल्' का बाध करता है तथा परत्व होने से 'क' आदि का बाध करता है। तब अपवाद विषय में भी होता ही है।

उदा० (1) काण्डलावो व्रजति

काण्डं लुनाति → काण्ड लू अण्—वृद्धि, 'गमन' क्रियार्था क्रिया है। अतः 'ण्वुल्' प्राप्त था, 'काण्ड' कर्मवाची उपपद है, अतः 'अण्' हुआ,

काण्डलाव् अ—आवादेश,

काण्डलावः—सु।

(2) अश्वदायो व्रजति

अश्व दा युक् अण्—आतो युक् चिण्०,

अश्वदाय् अ—अनुबन्धलोप,

अश्वदायः—सु।

(3) गोदायो व्रजति

गो दा य् अ—पूर्ववत्,

गोदायः—सु।

(4) कम्बलदायो व्रजति

पूर्ववत् 'युक्' आदि।

(970) लृट् शेषे च *13* (2193)

भविष्यतीत्येव। शेषः क्रियार्थोपपदादन्यः। शेषे शुद्धे भविष्यति काले, चकारात् क्रियायां चोपपदे क्रियार्थायां धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति। करिष्यामीति व्रजति। हरिष्यामीति व्रजति। शेषे खल्वपि—करिष्यति, हरिष्यति।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्त्तन है। क्रियार्थ उपपद से जो भिन्न है, उसे 'शेष' कहा गया है। शुद्ध भविष्यत् काल में तथा क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते धातु से लृट् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) करिष्यामीति व्रजति

यहाँ क्रियार्थ क्रिया 'व्रजन' है। 'कृ' से लृट् प्रत्यय हुआ। स्य, इट्, षत्व आदि होकर रूप बना।

(2) हरिष्यामीति व्रजति (पूर्ववत्)।

शेष में विधान होने से करिष्यति, हरिष्यति—इस प्रकार क्रियार्था क्रिया के उपपद न रहने पर भी लृट् होता है।

(971) लृटः सद्वा *14* (3107)

लृटः स्थाने सत्संज्ञौ शतृशानचौ वा भवतः। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन यथा लटः शतृशानचौ तथाऽस्यापि भवतः। अप्रथमासमानाधिकरणादिषु नित्यम्, अन्यत्र विकल्पः–करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य, करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य। हे करिष्यन्, हे करिष्यमाण। अर्जयिष्यमाणो वसति। प्रथमासमानाधिकरणे विकल्पः–करिष्यन् देवदत्तः, करिष्यमाणो देवदत्तः, करिष्यति, करिष्यते।

अर्थ—लृट् के स्थान पर सत्संज्ञक प्रत्यय विकल्प से होते हैं। 'तौ सत्' से शतृ व शानच् की सत् संज्ञा होती है। यह व्यवस्थित विभाषा है अर्थात् किसी स्थल पर नित्य होता है—

प्रथमासामानाधिकरण्य को छोड़ कर शेष समानाधिकरण में, प्रत्यय तथा उत्तरपद के परे रहते सम्बोधन, लक्षण तथा हेतु में नित्य सत्संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

किसी स्थल पर विकल्प होता है। अतः व्यवस्थित विभाषा है।

उदा० (1) करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य

कृ लृट् → कृ स्य शतृ—स्यतासी लृलुटोः,

करिस्य अत्—मूर्धन्य, अम्,

करिष्यन्तम्—विभक्तिकार्य।

(2) करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य

कृ स्य शानच्—पूर्ववत्, मुक्, अम्, णत्व,

करिष्यमाणम्—विभक्तिकार्य।

(3) हे करिष्यन्

पूर्ववत् शतृ।

(4) हे करिष्यमाण

पूर्ववत् शानच्।

(5) अर्जयिष्यमाणो वसति

अर्ज् णिच् स्य शानच्—इट्, गुण, अयादेश,

अर्जयिष्यमाणः—षत्व, सु।

प्रथमा समानाधिकरण में विकल्प होता है—

(5) करिष्यन् देवदत्तः
शतृ हुआ।

(6) करिष्यति
पक्ष में शतृ नहीं हुआ, लृट् रहा।

(7) करिष्यमाणो देवदत्तः
शानच् हुआ।

(8) करिष्यते
पक्ष में शानच् नहीं हुआ, लृट् रहा।

(972) अनद्यतने लुट् *15* (2185)

भविष्यतीत्येव। भविष्यदनद्यतनेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लुट् प्रत्ययो भवति। लृटोऽपवादः। श्वः कर्त्ता। श्वो भोक्ता। अनद्यतन इति बहुव्रीहिनिर्देशः। तेन व्यामिश्रे न भवति–अद्य श्वो वा भविष्यतीति। *परिदेवने श्वस्तनी भविष्यदर्थे वक्तव्या* (म० भा०)। इयं नु कदा गन्ता, यैवं पादौ निदधाति। अयं नु कदाऽध्येता, य एवमनभियुक्तः।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्त्तन है। अनद्यतन भविष्यत् काल में वर्त्तमान धातु से लुट् प्रत्यय होता है। यह लृट् का अपवाद है।

उदा० (1) श्व कर्त्ता
कृ लुट् → कृ तिप्—लादेश,
कृ डा—लुटः प्रथमस्य डारौरसः, चुटू,
कृ तास् आ—स्यतासी लृलुटोः, इट् का निषेध,
कर्त्ता—टिलोप, अचो रहाभ्यां द्वे।

(2) श्व भोक्ता
भुज् तास् डा—पूर्ववत्, लघूपधगुण,
भोक्ता—कुत्व।

'अनद्यतन' में बहुव्रीहि समास है। तब व्यामिश्र भविष्यत् में लुट् नहीं होता है।

(3) अद्य श्वो वा भविष्यति
यहाँ लुट् नहीं हुआ।

परिदेवने श्वस्तनी भविष्यदर्थे वक्तव्या—परिदेवन अर्थ में भविष्यत् काल में लुट् होता है—

(4) इयं नु कदा गन्ता, यैवं पादौ निदधाति
यहाँ परिदेवन अर्थ है। अतः लुट् हुआ।

(5) अयं नु कदाऽध्येता, य एवमनभियुक्तः
पूर्ववत् लुट् हुआ।

'श्वस्तनी' लुट् के लिए पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।

(973) पदरुजविशस्पृशो घञ् *16* (3182)

भविष्यतीति निवृत्तम्। इत उत्तरं त्रिष्वपि कालेषु प्रत्ययाः। पदादिभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। पद्यतेऽसौ पादः। रुजत्यसौ रोगः। विशत्यसौ वेशः। *स्पृश उपताप इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। स्पृशतीति स्पर्श उपतापः। ततोऽन्यत्र पचाद्यच् भवति–स्पर्शो देवदत्तः। स्वरे विशेषः।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्त्तन नहीं है। इससे आगे तीनों कालों में प्रत्यय होते हैं। पद, रुज, विश तथा स्पृश धातुओं से 'घञ्' होता है।

उदा० (1) पादः
पद्यतेऽसौ → पद् घञ्—लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्,
पाद् अ—उपधावृद्धि,
पादः—सु।

(2) रोगः
रुजत्यसौ → रुज् घञ्—अनुबन्धलोप,
रोज् अ—लघूपधगुण,
रोगः—कुत्व, सु।

(3) वेशः
विशत्यसौ → विश् घञ्—पूर्ववत्।

स्पृश उपताप इति वक्तव्यम्—रोग अर्थ में 'स्पृश्' से 'घञ्' होता है—

(4) स्पर्शः
स्पृशतीति → स्पृश् घञ्—लघूपधगुण।

इससे अतिरिक्त पचादि होने से 'अच्' होता है। यथा—स्पृश् अच्—स्पर्शः। केवल स्वर का अन्तर है।

(974) सृ स्थिरे *17* (3183)

सर्त्तेर्धातोः स्थिरे कर्त्तरि घञ् प्रत्ययो भवति। स्थिर इति कालान्तरस्थायी पदार्थ उच्यते। स चिरं तिष्ठन् कालान्तरं सरतीति धात्वर्थस्य कर्त्ता युज्यते। चन्दनसारः। खदिरसारः। स्थिर इति किम्? सर्त्ता, सारकः। *व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अतीसारो व्याधिः। विसारो मत्स्यः। सारो बलम्।

अर्थ—स्थिर कर्त्ता वाच्य हो तो सृ धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है। जो पदार्थ कालान्तर तक स्थायी रहे, वह स्थिर कहलाता है।

उदा० (1) चन्दनसारः
चन्दनस्य सारः → चन्दन सृ घञ्—वृद्धि,
चन्दनसारः—सु।

स्थिर० अर्थात् **स्थिर** कर्त्ता वाच्य होने पर ही धातु से 'घञ्' होता है।

(2) सर्त्ता
सृ तृच्—स्थिर कर्त्ता वाच्य नहीं है, अतः 'घञ्' नहीं हुआ।
सर्त्ता—सु।

(3) सारकः
सृ ण्वुल्—'घञ्' नहीं हुआ।

व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्—व्याधि, मत्स्य तथा बल—इन अर्थों में 'घञ्' प्रत्यय होता है—

(4) अतीसारो व्याधिः
अति सृ णिच् घञ्—'व्याधि' अर्थ में,
अति सार् अ—णिच् का लोप, वृद्धि,
अतीसारः—उपसर्ग को दीर्घादेश, सु।

(5) विसारो मत्स्यः
वि सृ घञ्।

(6) सारो बलम्
सृ घञ्।

(975) भावे *18* (3184)

भावे वाच्ये धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। पाकः। त्यागः। रागः। क्रियासामान्यवाची भवतिः, तेनार्थनिर्देशः क्रियमाणः सर्वधातुविषयः कृतो भवति। धात्वर्थश्च धातुनैवोच्यते। यस्तस्य सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते। पुंल्लिङ्गैकवचनं चात्र न तन्त्रम्, लिङ्गान्तरे वचनान्तरेऽपि चात्र प्रत्यया भवन्त्येव-पक्तिः, पक्वम्, पचनम्। पाकौ, पाका इति।

अर्थ—भाव अर्थ गम्यमान रहते धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पाकः
डुपचष् → पच्—भूवादयो धातवः, आदिर्ञिटुडवः, हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनुनासिक इत्,

पच् घञ्—धातोः, भावे, प्रत्ययः, परश्च, लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्,
पाच् अ—अत उपधायाः,
पाकः—चजोः कु घिण्ण्यतोः, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु।

(2) त्यागः
त्यज् घञ् → त्याज् अ—पूर्ववत्,
त्यागः—सु।

(3) रागः
रञ्ज् घञ्—पूर्ववत्।

क्रिया सामान्यवाची है। तब किया जाता हुआ अर्थनिर्देश सभी धातुओं का विषय होता है। धातु का अर्थ धातु के द्वारा कहा जाता है। जो उसका सिद्धता नामक धर्म है, वहाँ 'घञ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया जाता है। यहाँ पुँल्लिङ्ग एकवचन मुख्य नहीं है। अन्य लिङ्गों तथा अन्य वचनों में भी प्रत्यय होते हैं।

(4) पक्तिः
पच् क्तिन्—लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्, कुत्व,
पक्तिः—सु।

(5) पचनम्
पच् ल्युट्—युवोरनाकौ,
पचनम्—सु।

(6) पाकौ
पाक औ—पाकौ।

(7) पाकाः (पूर्ववत्)।

(976) अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् *19* (3186)

कर्त्तृवर्जिते कारके संज्ञायां विषये धातोर्घञ् भवति। प्रास्यन्ति तं प्रासः। प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः। आहरन्ति तस्माद्रसमित्याहारः। मधुराहारः। तक्षशिलाहारः। अकर्त्तरीति किम्? मिषत्यसौ मेषः। संज्ञायामिति किम्? कर्त्तव्यः कटः। चकारः संज्ञाव्यभिचारार्थः। को भवता दायो दत्तः, को भवता लाभो लब्धः। कारकग्रहणं पर्युदासे न कर्त्तव्यम्? तत्क्रियते प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समासोऽस्तीति ज्ञापनार्थम् 'आदेच उपदेशेऽशिति' (6.1.145) इति। इत उत्तरं भावे, अकर्त्तरि च कारके इति च द्वयमनुवर्त्तते।

अर्थ—कर्त्ता से अतिरिक्त कारक में धातु से 'घञ्' होता है, संज्ञा के विषय में।

उदा० (1) प्रासः
प्रास्यन्ति तम् → प्र अस् घञ्—अत उपधायाः।

(2) प्रसेवः
प्रसीव्यन्ति तं → प्रसेवः—गुण।

(3) आहारः
आहरन्ति तस्माद्रसः—आ हृ घञ्—वृद्धि।

अकर्त्त० अर्थात् **कर्त्ता अर्थ से अतिरिक्त कारक में ही धातु** से 'घञ्' होता है—

(4) मेषः
मिषत्यसौ → मिष् घञ्।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् **संज्ञा गम्यमान** हो तो धातु से 'घञ्' होता है—

(5) कर्त्तव्यः घटः
संज्ञा न होने से 'घञ्' नहीं हुआ।

संज्ञा के व्यभिचार के लिए चकार का ग्रहण है। यथा—
को भवता दायो दत्तः ?
को भवता लाभो लब्धः ?

पर्युदास-निषेध होने से 'कारके' इस पद की क्या आवश्यकता है ? प्रसज्य प्रतिषेध में भी समास होता है—इसके ज्ञापन के लिए यह है। यथा—आदेच उपदेशेऽशिति। इससे आगे भावे, अकर्त्तरि तथा कारके—इन पदों का अनुवर्त्तन है।

(977) परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः *20* (3190)

परिमाणाख्यायां गम्यमानायां सर्वेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। एकस्तण्डुलनिचायः। द्वौ शूर्पनिष्पावौ (म०भा०)। 'कॄ विक्षेपे' (धा०पा० 1410)–द्वौ कारौ, त्रयः काराः। सर्वग्रहणमपोऽपि बाधनार्थम्। पुरस्तादपवादन्यायेन (व्या०प० 9) ह्यचमेव बाधेत, नापम्। परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः। आख्याग्रहणं रूढिनिरासार्थम्, तेन संख्यापि गृह्यते, न प्रस्थाद्येव। घञनुक्रमणमजपोर्विषये, स्त्रीप्रत्ययास्तु न बाध्यन्ते–एका तिलोच्छ्रित्तिः, द्वे प्रसूती। *दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च* (म०भा०)। दारयन्तीति दाराः। जरयन्तीति जाराः।

अर्थ—सभी धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है, परिमाण का कथन वाच्य हो तो।

उदा० (1) निचायः
निचीयते यः सः → नि चि घञ्—वृद्धि,
निचायः—आयादेश, सु।

(2) निष्पावौ
निर् पू घञ्—ॠदोरप्, इदुदुपधस्य० 'अप्' प्राप्त था, निष्पावौ—खरवसानयो०, औ।

(3) कारौ
कॄ घञ् → कार् औ—कारौ।

(4) काराः
कॄ घञ् → कार जस्—काराः।

'सर्व' का ग्रहण 'अप्' के बाध के लिए है। पुरस्ताद् अपवाद नियम के बल पर 'अच्' का ही बाध होता था, 'अप्' का नहीं।

परिमाणा० अर्थात् **परिमाण का कथन वाच्य** होने पर ही धातु से 'घञ्' होता है—

(5) निश्चयः
निर् चि अप्—'घञ्' नहीं हुआ।

'आख्या' पद का ग्रहण रूढि के निराकरण के लिए है। इससे संख्या का भी ग्रहण होता है। स्त्रीप्रत्ययों का बाध नहीं होता। यथा—

(6) एका तिलोच्छित्तिः
(7) द्वे प्रसूती।

दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च—कर्त्ता अर्थ में दार व जार शब्द घञ् प्रत्ययान्त हैं तथा इनमें णिलोप होता है—

(8) दाराः
दारयन्ति → दॄ णिच् घञ् → दार् अ—वृद्धि, णिलोप, दाराः—जस्।

(9) जाराः
जरयन्ति—पूर्ववत् णिलोप, वृद्धि।

यहाँ ध्यातव्य है कि णिलोप के स्थानिवत् होने से 'णि' को निमित्त मान कर वृद्धि होती है।

(978) इङश्च *21* (3191)

इङो धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। अचोऽपवादः। अध्यायः। उपेत्यास्मादधीते उपाध्यायः। *अपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीप्* (म०भा०)। उपाध्याया, उपाध्यायी। *शॄ वायुवर्णनिवृत्तेषु* (म०भा०)। शारो वायुः। शारो वर्णः। शारो निवृत्तम्।

गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः । (म० भा०)

अर्थ—कर्त्ता से अतिरिक्त कारक वाच्य रहते संज्ञा के विषय में इङ् धातु से घञ् प्रत्यय भाव में होता है। यह अच् का अपवाद है।

उदा० (1) अध्यायः
अधीयते यः सः → अधि इङ् घञ्—कर्मकारक में भाव में 'घञ्' हुआ,
अधि ऐ अ → अधि आय् अ—वृद्धि, आय्,
अध्यायः—सु।

(2) उपाध्यायः
उपेत्याऽधीतेऽस्मादिति—अपादान कारक में 'घञ्' हुआ,
उप अधि इ घञ्—पूर्ववत् वृद्धि, आय्।

अपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीप्—अपादान में स्त्रीत्व में 'घञ्' प्रत्यय होता है तथा 'ङीष्' प्रत्यय विकल्प से होता है—

(3) उपाध्यायी
उपाध्याय ङीष्—पाक्षिक 'ङीष्' हुआ।

(4) उपाध्याया
उपाध्याय टाप्—पक्ष में 'टाप्' हुआ।

शॄ वायुवर्णनिवृत्तेषु—वायु, वर्ण तथा निवृत्त अर्थों में 'शॄ' धातु से 'घञ्' होता है—

(5) शारो वायुः
(6) शारो वर्णः
(7) शारो निवृत्तम्
सर्वत्र 'घञ्' हुआ है।

बैल के समान वस्त्रादि-विहीन व्यक्ति शिशिर ऋतु में कृश हो जाता है।

(979) उपसर्गे रुवः *22* (3192)

उपसर्ग उपपदे रौतेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। अपोऽपवादः। सरावः। उपरावः। उपसर्ग इति किम्? रवः।

अर्थ—उपसर्ग उपपद रहते 'रु' धातु से घञ् प्रत्यय होता है, कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा संज्ञा में। 'ऋदोरप्' से 'अप्' प्राप्त था।

उदा० (1) संरावः
सम् रु घञ्—वृद्धि, आवादेश,
संरावः—अनुस्वार।

(2) उपरावः
उप रु घञ्।

उपसर्गे अर्थात् उपसर्ग उपपद रहते ही 'घञ्' होता है—

(3) रवः
रु अप्—'घञ्' नहीं हुआ, 'अप्' हुआ।

(980) समि युद्रुदुवः *23* (3194)

समि उपपदे यु, द्रु, दु इत्येतेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। संयावः। सन्द्रावः। सन्दावः। समीति किम्? प्रयवः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा संज्ञा के विषय में सम् पूर्वक यु, द्रु, तथा दु धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है, भाव में।

उदा० (1) संयावः
सम् यु घञ्—वृद्धि,
संयावः—अनुस्वार।

(2) सन्द्रावः
सम् द्रु घञ्—वृद्धि,
सन्द्रावः—अनुस्वार, परसवर्ण।

(3) सन्दावः
सम् दु घञ्—पूर्ववत्।

समि अर्थात् सम् उपसर्गपूर्वक धातु से 'घञ्' होता है—

(4) प्रयवः
प्र यु अप्—घञ् नहीं हुआ।

(981) श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे *24* (3195)

श्रि, णी, भू इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽनुपसर्गेभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। अजपोरपवादः। श्रायः। नायः। भावः। अनुपसर्गे इति किम्? प्रश्रयः, प्रणयः, प्रभवः। कथं प्रभावो राज्ञः? प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमासो भविष्यति। कथं च नयो राज्ञः? 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इत्यज् भविष्यति।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में उपसर्ग-रहित श्रि, नी तथा भू धातुओं से 'घञ्' होता है, भाव में।

श्रि तथा नी से 'अच्' तथा 'भू' से 'अप्' प्राप्त था।

उदा० (1) श्राय:
श्रि घञ्—वृद्धि, आय्।

(2) नाय:
नी घञ्—पूर्ववत्।

(3) भाव:
भू घञ्—पूर्ववत्।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित श्रि आदि धातुओं से 'घञ्' होता है—

(4) प्रश्रय:
प्र श्रि अच्—उपसर्ग उपपद रहते 'घञ्' नहीं हुआ।

(5) प्रणय: (पूर्ववत्)।
(6) प्रभव: (पूर्ववत्)।

तब 'प्रभाव:' शब्द किस प्रकार साधु है ? (समा०) प्रकृष्टो भाव: इस प्रकार प्रादि समास हो जायेगा।

तब 'नय:' शब्द किस प्रकार साधु है ?

(समा०) 'कृत्यल्युटो०' से 'अच्' हो जाता है।

(982) वौ क्षुश्रुव: *25* (3196)

वावुपपदे क्षु, श्रु इत्येताभ्यां धातुभ्यां घञ् प्रत्ययो भवति। अपोऽपवाद:। विक्षाव:। विश्राव:। वाविति किम्? क्षव:, श्रव:।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में वि-पूर्वक क्षु तथा श्रु धातु से 'घञ्' होता है, भाव में।

'ऋदोरप्' से 'अप्' प्राप्त था।

उदा० (1) विक्षाव:
वि क्षु घञ्—वृद्धि, आवादेश।

(2) विश्राव:
पूर्ववत् वृद्धि आदि।

वौ अर्थात् वि उपसर्ग रहते घञ् होता है—

(3) क्षव:
क्षु अप्—उपसर्ग उपपद नहीं है। अत: घञ् नहीं हुआ।

(4) श्रव:
पूर्ववत् 'अप्'।

(983) अवोदोर्नियः *26* (3197)

अव, उत् इत्येतयोरुपपदयोर्नयतेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। अवनाय:। उन्नाय:। कथमुन्नय: पदार्थानाम्? 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इत्यज् भविष्यति।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में अव एवं उद् उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'घञ्' होता है, भाव में।

उदा० (1) अवनाय:
अव नी घञ्—वृद्धि, आयादेश,
अवनाय:—सु।

(2) उन्नाय:
उद् नी घञ्—पूर्ववत्।

तब 'उन्नय:' की साधुता कैसे सिद्ध होती है ?

(समा०) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से 'अच्' होता है।

(984) प्रे द्रुस्तुस्रुव: *27* (3198)

प्रशब्द उपपदे द्रु, स्तु, स्रु इत्येतेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। प्रद्राव:। प्रस्ताव:। प्रस्राव:। प्र इति किम्? द्रव:, स्तव:, स्रव:।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में प्र-पूर्वक द्रु, स्तु व स्रु धातुओं से 'घञ्' होता है, भाव में।

उदा० (1) प्रद्राव:
प्र द्रु घञ्—वृद्धि, आवादेश।

(2) प्रस्ताव: (पूर्ववत्)।
(3) प्रस्राव: (पूर्ववत्)।

प्रे अर्थात् प्र उपसर्गपूर्वक धातु से ही 'घञ्' होता है—

(4) द्रव:
'प्र' उपसर्ग उपपद न रहने से 'घञ्' नहीं हुआ। अप् हुआ।

(5) स्तव: (पूर्ववत्)।
(6) स्रव: (पूर्ववत्)।

(985) निरभ्यो: पूल्वो: *28* (3199)

पू इति पूङ्पूञो: सामान्येन ग्रहणम्। 'लूञ् छेदने'। यथासंख्यमुपसर्गसम्बन्ध:। निरभिपूर्वयो: पूल्वोर्धात्वोर्घञ् प्रत्ययो भवति। निष्पाव:। अभिलाव:। निरभ्योरिति किम्? पव:, लव:।

अर्थ—'पू' के द्वारा पूङ् व पूञ्—इन दोनों धातुओं का ग्रहण होता है। यहाँ उपसर्गों और धातुओं में यथासंख्यक सम्बन्ध है।

कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में निर् पूर्वक 'पू' से तथा अभि पूर्वक लू से घञ् प्रत्यय होता है, भाव में।

उदा० (1) निष्पावः
निर् पू घञ्—वृद्धि, 'इदुदुपधस्य०' से षत्व,

(2) अभिलावः
अभि लू घञ्।

निरभ्यः अर्थात् निर् तथा अभि उपसर्गपूर्वक धातु से 'घञ्' होता है—

(3) पवः
पू अप्—'घञ्' नहीं हुआ, औत्सर्गिक 'अप्' हुआ।

(4) लवः (पूर्ववत्)।

(986) उन्न्योर्ग्रः *29* (3200)

'गॄ शब्दे', 'गॄ निगरणे' द्वयोरपि ग्रहणम्। उन्न्योरुपपदयोः गॄ इत्येतस्माद्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। उद्गारः समुद्रस्य। निगारो देवदत्तस्य। उन्न्योरिति किम्? गरः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कर्ता के अर्थ में व संज्ञा में उद् व नि उपसर्गपूर्वक 'गॄ' धातु से 'घञ्' होता है, भाव में।

गॄ शब्दे तथा गॄ निगरणे—इन दोनों का यहाँ ग्रहण है।

उदा० (1) उद्गारः
उद् गॄ घञ्—वृद्धि, उरण् रपरः,
उद्गारः—सु।

(2) निगारः
नि गॄ घञ्—पूर्ववत्।

उन्न्योः अर्थात् उद् व नि पूर्वक धातु से ही 'घञ्' होता है—

(3) गरः
गॄ अप्—घञ् नहीं हुआ, औत्सर्गिक 'अप्' हुआ।

(987) कॄ धान्ये *30* (3201)

उन्न्योरिति वर्त्तते। कॄ इत्येतस्माद्धातोरुन्न्योरुपपदयोर्घञ् प्रत्ययो भवति धान्यविषयश्चेद्धात्वर्थो भवति। विक्षेपार्थस्य किरतेर्ग्रहणं न हिंसार्थस्य, अनभिधानात्। उत्कारो धान्यस्य। निकारो धान्यस्य। धान्य इति किम्? भैक्ष्योत्करः, पुष्पनिकरः।

अर्थ—'उन्न्योः' का अनुवर्त्तन है।

कर्तृभिन्न कारक में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में उद् व निपूर्वक कॄ धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है, 'धान्य' के विषय में।

यहाँ 'कॄ विक्षेपे' का ग्रहण है, 'कॄ हिंसायाम्' का नहीं।

उदा० (1) उत्कारः
उद् कॄ घञ्—वृद्धि, रपरत्व।

(2) निकारः
नि कॄ घञ्—पूर्ववत्।

धान्ये अर्थात् धान्य के विषय में ही धातु से 'घञ्' होता है—

(3) भैक्ष्योत्करः
उद् कॄ अप्—धान्य का विषय न होने से 'घञ्' नहीं हुआ।

(4) पुष्पनिकरः
पूर्ववत् 'अप्' हुआ।

(988) यज्ञे समि स्तुवः *31* (3202)

यज्ञविषये प्रयोगे सम्पूर्वात् स्तौतेर्घञ् प्रत्ययो भवति। संस्तावश्छन्दोगानाम्। समेत्य स्तुवन्ति यस्मिन् देशे छन्दोगाः स देशः संस्तावः इत्युच्यते। यज्ञ इति किम्? संस्तवश्छात्रयोः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में सम् पूर्वक स्तु धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है, यज्ञविषय का प्रयोग होने पर।

उदा० (1) संस्तावः
समेत्य संस्तुवन्ति यस्मिन् देशे—यहाँ 'करणाधिकरणयोश्च' से ल्युट् प्राप्त था,
सम् स्तु घञ्—वृद्धि,
संस्तावः—अनुस्वार।

यज्ञ० अर्थात् यज्ञ के विषय में ही धातु से 'घञ्' होता है—

(2) संस्तवः (छात्रयोः)
सम् स्तु अप्—घञ् नहीं हुआ।

(989) प्रे स्त्रोऽयज्ञे *32* (3203)

'स्तृञ् आच्छादने' (धा०पा० 1253), अस्माद्धातोः प्रशब्दे उपपदे घञ् प्रत्ययो भवति, न चेद्यज्ञविषयः प्रयोगो भवति। शङ्खप्रस्तारः। अयज्ञ इति किम्? बर्हिष्प्रस्तरः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में प्र पूर्वक स्तॄ धातु से 'घञ्' होता है, यज्ञ के विषय को छोड़कर ।

उदा० (1) शङ्खप्रस्तारः
प्र स्तॄ घञ्—वृद्धि, उरण् रपरः ।

(2) मणिप्रस्तारः (पूर्ववत्) ।

अयज्ञे अर्थात् **यज्ञ के विषय को छोड़कर** ही धातु से 'घञ्' होता है—

(3) बर्हिष्प्रस्तरः
प्र स्तॄ अप्—'घञ्' नहीं हुआ, 'अप्' हुआ ।

(990) प्रथने वावशब्दे *33* (3204)

'स्तॄञ् आच्छादने' (धा०पा० 1253), अस्माद्धातोर्विशब्द उपपदे घञ् प्रत्ययो भवति प्रथने गम्यमाने, तच्चेत् प्रथनं शब्दविषयं न भवति । प्रथनं विस्तीर्णता । पटस्य विस्तारः । प्रथन इति किम् ? तृणविस्तरः । अशब्द इति किम् ? विस्तरो वचसाम् ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में 'विस्तार' अर्थ वाच्य हो तो 'वि' पूर्वक 'स्तॄ' धातु से 'घञ्' होता है; परन्तु शब्द के विषय में नहीं होता ।

उदा० (1) (पटस्य) विस्तारः
वि स्तॄ घञ्—'शब्दविषयक विस्तार' गम्यमान नहीं है, अतः 'घञ्' हुआ,
विस्तारः—वृद्धि ।

प्रथने अर्थात् विस्तार अर्थ गम्यमान रहते ही धातु से 'घञ्' होता है—

(2) तृणविस्तरः (= तिनकों का आच्छादन)
वि स्तॄ अप्—यहाँ 'विस्तीर्णता' अर्थ गम्यमान नहीं है, अतः 'घञ्' नहीं हुआ ।

अशब्द अर्थात् **शब्द का विषय न हो तो** धातु से 'घञ्' होता है—

(3) विस्तरो वचसाम्,
यहाँ शब्द का विषय है, अतः 'घञ्' नहीं हुआ ।

(991) छन्दोनाम्नि च *34* (3205)

वौ स्त्रः इति वर्त्तते । विपूर्वात्स्तृणातेश्छन्दोनाम्नि घञ् प्रत्ययो भवति । वृत्तमत्र छन्दो गृह्यते, यस्य गायत्र्यादयो विशेषाः, न मन्त्रब्राह्मणम्, नामग्रहणात् । विष्टारपंक्तिश्छन्दः । विष्टारबृहतीच्छन्दः । विष्टारपंक्तिशब्दोऽत्र छन्दोनाम, न घञन्तं शब्दरूपम्, तत्र त्ववयवत्वेन तद्वृत्तिः । छन्दोनाम्नीत्यधिकरणसप्तम्येषा ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में छन्द का नाम गम्यमान रहते विपूर्वक स्तॄ धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है । 'छन्दस्' के द्वारा वृत्त अर्थ गृहीत होता है; मन्त्र-ब्राह्मणात्मक 'छन्दस्' का ग्रहण नहीं होता ।

उदा० (1) विष्टारः
वि स्तॄ घञ्—वृद्धि, 'छन्दोनाम्नि च' (पा० 8.3.94) से षत्व ।

(992) उदि ग्रहः *35* (3207)

उद्युपपदे ग्रहेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति । अपोऽपवादः । उद्ग्राहः । *छन्दसि निपूर्वादपीष्यते स्रुगुद्यमननिपातनयोः* (म०भा०) । हकारस्य भकारः । उ॒द्ग्रा॒भं च॑ निग्रा॒भं च॒ ब्रह्मं दे॒वा अ॑वीवृधन् (वा०सं० 17.64) ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में उद् उपसर्गपूर्वक 'ग्रह्' धातु से 'घञ्' होता है ।

उदा० (1) उद्ग्राहः
उद् ग्रह् घञ्—'ग्रहवृदृ—' से 'अप्' प्राप्त था ।

छन्दसि निपूर्वादपीष्यते स्रुगुद्यमननिपातनयोः—वेद के विषय में स्रुक् के उन्नयन तथा निपातन अर्थों में निपूर्वक 'ग्रह्' से 'घञ्' प्रत्यय होता है—

(2) उद्ग्राभम् (वा० सं० 17.64)
उद् ग्रह् घञ्—'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (वा०) से भकार हुआ,
उद् ग्राभ् अ—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,
उद्ग्राभम्—विभक्ति कार्य ।

(3) निग्राभम् (पूर्ववत्) ।

(993) समि मुष्टौ *36* (3208)

ग्रह इत्येव । सम्युपपदे ग्रहेर्धातोर्घञ् भवति, मुष्टिविषयश्चेद्धात्वर्थो भवति । मुष्टिरङ्गुलिसन्निवेशः । अहो मल्लस्य संग्राहः । अहो मुष्टिकस्य संग्राहः । दृढमुष्टिताऽऽख्यायते । मुष्टाविति किम् ? संग्रहो धान्यस्य ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में सम् पूर्वक ग्रह् धातु से 'घञ्' होता है, 'मुष्टि' अर्थ वाच्य हो तो।

उदा० (1) सङ्ग्राहः
सम् ग्रह् घञ्—'मुष्टि' अर्थ वाच्य है, पूर्ववत् 'अप्' प्राप्त था, 'घञ्' हो गया,
सङ्ग्राहः—अत उपधायाः, अनुस्वार, परसवर्ण।

मुष्टौ अर्थात् मुष्टि अर्थ गम्यमान रहते ही धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है—

(2) सङ्ग्रहो (धान्यस्य)
सम् ग्रह् अप्—यहाँ 'मुष्टि' अर्थ गम्यमान नहीं है, अतः 'घञ्' नहीं हुआ, 'अप्' हुआ।

(994) परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः *37* (3209)

परिशब्दे निशब्दे चोपपदे यथासंख्यं नियः इणश्च धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। अचोऽपवादः। द्यूताभ्रेषयोः अत्रापि यथासंख्यमेव सम्बन्धः। द्यूतविषयश्चेन्नयतेरर्थः, अभ्रेषविषयश्चेदिणर्थः। पदार्थानामनपचारो यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः। द्यूते तावत्-परिणायेन शारान् हन्ति। समन्तान्नयनेन। अभ्रेषे-एषोऽत्र न्यायः। द्यूताभ्रेषयोरिति किम्? परिणयः, न्ययं गतः पापः।

अर्थ—परि तथा नि उपसर्गपूर्वक यथासंख्यक नी व इण् धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है, यदि द्यूत तथा अभ्रेष का विषय हो।

उदा० (1) परिणायेन (शारान् हन्ति)
परि नी घञ्—'द्यूत' का विषय है, अतः 'घञ्' हुआ, 'उपसर्गाद०' से णत्व होता है,
परिणाय टा—वृद्धि, टाङसिङसामिनात्०।

(2) (एषोऽत्र) न्यायः
नि इण् घञ्—पूर्ववत् वृद्धि आदि।

द्यूताभ्रेष० अर्थात् द्यूत तथा अभ्रेष के अर्थ में ही 'घञ्' होता है—

(3) परिणयः
परि नी अप्—विवाह अर्थ है, घञ् नहीं हुआ।

(4) न्ययः
नि इण् अप्—विनाश अर्थ है, घञ् नहीं हुआ।

(995) परावनुपात्यय इणः *38* (3210)

परिशब्द उपपदे इणो धातोर्घञ्प्रत्ययो भवति अनुपात्यये गम्यमाने। क्रमप्राप्तस्यानतिपातोऽनुपात्ययः, परिपाटी। तव पर्यायः। मम पर्यायः। अनुपात्यय इति किम्? कालस्य पर्ययः। अतिपात इत्यर्थः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में व भाव में 'क्रम' वाच्य रहते परिपूर्वक इण् धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पर्यायः
परि इण् घञ् → परि ऐ अ—'एरच्' से 'अच्' प्राप्त था, घञ् हो गया, वृद्धि,
पर्यायः—इको यणचि, सु।

अनुपात्य अर्थात् क्रम गम्यमान होने पर ही 'इण्' से 'घञ्' होता है—

(2) (कालस्य) पर्ययः
परि इण् अच्—घञ् नहीं हुआ, अच् हुआ।

(996) व्युपयोः शेतेः पर्याये *39* (3211)

वि, उप इत्येतयोरुपपदयोः शेतेर्धातोर्घञ् भवति पर्याये गम्यमाने। तव विशायः। मम विशायः। तव राजोपशायः। तव राजानमुपशयितुं पर्याय इत्यर्थः। पर्याय इति किम्? विशयः, उपशयः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व भाव में 'पर्याय' वाच्य रहते वि तथा उप उपसर्गपूर्वक शी धातु से 'घञ्' होता है।

उदा० (1) विशायः (= सोने की बारी)
वि शी घञ्—वृद्धि, आयादेश,
विशायः—सु।

(2) उपशायः
उप शी घञ्—पूर्ववत्।

पर्याये अर्थात् क्रम अर्थ गम्यमान रहते ही शी धातु से घञ् होता है—

(3) विशयः (= सन्देह)
यहाँ 'अच्' हुआ है।

(4) उपशयः (= पास में सोना)
पूर्ववत्।

(997) हस्तादाने चेरस्तेये *40* (3212)

हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति, न चेत्स्तेयं चौर्यं भवति। हस्तादानग्रहणेन प्रत्यासत्तिरादेयस्य लक्ष्यते। पुष्पप्रचायः। फलप्रचायः। हस्तादान इति किम्? वृक्षशिखरे फलप्रचयं करोति। अस्तेय इति किम्? पुष्पप्रचयश्चौर्येण। *उच्चयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः*। उच्चयः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में चि धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है यदि 'हाथ से ग्रहण करना' अर्थ गम्यमान हो तथा 'चोरी' अर्थ न हो।

उदा० (1) पुष्पप्रचायः
प्र चि घञ्—वृद्धि, आयादेश,
प्रचायः—सु।

(2) फलप्रचायः (पूर्ववत्)।

हस्तादाने अर्थात् हाथ से ग्रहण करना अर्थ गम्यमान रहते चि धातु से 'घञ्' होता है—

(3) (वृक्षशिखरे) फलप्रचयं करोति
यहाँ हाथ से ग्रहण करना अर्थ नहीं है, अतः 'घञ्' नहीं हुआ, तब 'अच्' हुआ, गुण हुआ।

अस्तेये अर्थात् अस्तेय अर्थ में ही 'चि' से 'घञ्' होता है—

(4) पुष्पप्रचयश्चौर्येण
यहाँ स्तेय अर्थ गम्यमान है। अतः 'घञ्' नहीं हुआ।
'उच्चय' शब्द में 'घञ्' नहीं होता है—

(5) उच्चयः
उद् चि अच्—आर्धधातुक गुण, 'खरि च' से चर्त्व,
उत् चे अ—स्तोः श्चुना श्चुः, अयादेश,
उच्चयः—सु।

(998) निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः *41* (3213)

चेरित्येव। निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः, चीयतेऽसौ चितिः, पाण्यादिसमुदायः शरीरम्, राशीकरणमुपसमाधानम्, इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् प्रत्ययो भवति, धातोरादेश्च ककार आदेशः। निवासे तावत्–चिखल्लिनिकायः। चितौ–आकायमग्निं चिन्वीत। शरीरे–अनित्यकायः। उपसमाधाने–महागोमयनिकायः। एतेष्विति किम्? चयः। इह कस्मान्न भवति–महान् काष्ठनिचयः? बहुत्वमत्र गम्यते। नोपसमाधानम्।

अर्थ—'चेः' का अनुवर्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में 'चि' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है तथा 'चि' धातु के आदि वर्ण (चकार) के स्थान पर 'क' होता है, यदि निवास, चिति, शरीर तथा उपसमाधान अर्थ गम्यमान हो।

निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः अर्थात् जिसमें लोग रहते हैं, उसे निवास कहते हैं। चीयतेऽसौ चितिः अर्थात् जो चुना जाय। हाथ आदि के समुदाय को शरीर कहते हैं। एकत्रित करने को उपसमाधान कहते हैं।

उदा० (1) निकायः
नि चि घञ् → नि कि अ—आदि वर्ण को ककार,
नि कै अ → निकायः—वृद्धि।

(2) आकायः
आ चि घञ्—पूर्ववत्,
आकायः—वृद्धि, आयादेश।

(3) कायः
चि घञ् → कि अ → कै अ—वृद्धि,
कायः—सु।

(4) महागोमयनिकायः (पूर्ववत्)।

एतेषु—निवास आदि अर्थों में ही पूर्वोक्त कार्य होते हैं—

(5) चयः
चि अच् → चयः—घञ् नहीं हुआ।

(6) काष्ठनिचयः
यहाँ बहुत्व का कथन है, राशिकरण वाच्य नहीं है। अतः घञ् नहीं हुआ।

(999) सङ्घे चानौत्तराधर्ये *42* (3214)

चेरित्येव। प्राणिनां समुदायः सङ्घः। स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति–एकधर्मसमावेशेन, औत्तराधर्येण वा। तत्र औत्तराधर्यपर्युदासादितरो गृह्यते। सङ्घे वाच्ये चिनोतेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति आदेश्च कः। भिक्षुकनिकायः। ब्राह्मणनिकायः। वैयाकरणनिकायः। अनौत्तराधर्ये इति किम्? सूकरनिचयः। प्राणिविषयत्वात् सङ्घस्येह न भवति–कृताकृतसमुच्चयः, प्रमाणसमुच्चयः।

अर्थ—'चेः' का अनुवर्तन है। प्राणियों के समुदाय को संघ कहते हैं। वह दो प्रकार से होता है। प्रथम एक धर्म के समावेश के द्वारा तथा द्वितीय ऊपर नीचे स्थिति के आधार पर।

कर्त्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में अनौत्तराधर्य संघ अर्थ गम्यमान रहते 'चि' धातु से 'घञ्' होता है तथा अदि वर्ण (चकार) के स्थान पर ककार आदेश होता है।

उदा० (1) भिक्षुकनिकायः
नि चि घञ् → नि कि अ—पूर्ववत्,
निकायः—सु।
(2) ब्राह्मणनिकायः (पूर्ववत्)।
(3) वैयाकरणनिकायः (पूर्ववत्)।

अनौत्तराधर्ये अर्थात् अनौत्तराधर्य अर्थ गम्यमान रहते धातु से 'घञ्' होता है—

(4) सूकरनिचयः
यहाँ प्राणियों का विषय होने से औत्तराधर्य अर्थ है। अतः 'घञ्' नहीं हुआ।

(1000) कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् *43* (3215)

कर्म क्रिया, व्यतिहारः परस्परं करणम्। कर्मव्यतिहारे गम्यमाने धातोर्णच्प्रत्ययो भवति स्त्रीलिङ्गे भावे वाच्ये। चकारो विशेषणार्थः, 'णचः स्त्रियामञ्' (5.4.14) इति। व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्यावहासी वर्त्तते। स्त्रियामिति किम्? व्यतिपाको वर्त्तते। बाधकविषयेऽपि क्वचिदिष्यते—व्यावचोरी, व्यावचर्ची। इह न भवति—व्यतीक्षा, व्यतीहा वर्त्तते, व्यात्युक्षी भवति। तदेतद्वैचित्र्यं कथं लभ्यते? 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इति भवति।

अर्थ—कर्म का अर्थ है—क्रिया। परस्पर अदला-बदली को व्यतिहार कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग में धातु से 'णच्' प्रत्यय होता है, यदि क्रिया का व्यतिहार गम्यमान हो। यह भाव में होता है।

'णच्' के णकार तथा चकार की इत्संज्ञा होती है। 'णच्' को चित् विशेषण के लिए किया गया है, ताकि 'णचः स्त्रियामञ्' (5.4.74) में इसका ग्रहण हो सके।

उदा० (1) व्यावक्रोशी
क्रुश् णच् → क्रोश अ—लघूपधगुण,
वि अव क्रोश् अ—कर्मव्यतिहार अर्थ में 'कुगतिप्रादयः' से समास,
व्यवक्रोश् अ अञ्—'णचः स्त्रियामञ्' से 'अञ्',
व्यावक्रोश अ—आदिवृद्धि , तद्धितेष्वचामादेः,

व्यावक्रोश ङीप्—टिड्ढाऽण्०,
व्यावक्रोशी—विभक्तिकार्य।
(2) व्यावलेखी (पूर्ववत्)।
(3) व्यावहासी (पूर्ववत्)।

स्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीत्व में ही धातु से 'णच्' होता है—

(4) व्यतिपाकः
यहाँ भाव प्रत्यय पुँल्लिङ्ग में है। अतः 'णच्' नहीं हुआ; घञ् हुआ। बाधक के विषय में भी कहीं-कहीं होता है—

(5) व्यावचोरी
वि अव चुर् णच्—पूर्ववत्।
(6) व्यावचर्ची
वि अव चर्च् णच्—पूर्ववत्।
(7) व्यतीक्षा
यहाँ 'णच्' नहीं हुआ।
(8) व्यतीहा (पूर्ववत्)।
(9) व्यात्युक्षी (पूर्ववत्)।

पूर्वोक्त स्थलों (नं० 7 से नं० 9 तक) पर 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से होता है।

(1001) अभिविधौ भाव इनुण् *44* (3218)

अभिविधिरभिव्याप्तिः, क्रियागुणाभ्यां कार्त्स्न्येन सम्बन्धः। अभिविधौ गम्यमाने धातोर्भावे इनुण् भवति। साङ्कूटिनम्, सांराविणम्, सान्द्राविणं वर्त्तते। अभिविधाविति किम्? सङ्कोटः, संरावः, सन्द्रावः। भाव इति वर्त्तमाने पुनर्भावग्रहणं वासरूपनिरासार्थम्, तेन घञ् न भवति। ल्युटा तु समावेश इष्यते—सङ्कूटनं वर्त्तते। तत्कथम्? 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इति।

अर्थ—अभिव्याप्ति को अभिविधि कहते हैं। क्रिया तथा गुण के द्वारा कार्त्स्न्य के साथ सम्बन्ध होता है।

अभिव्याप्ति अर्थ गम्यमान रहते भाव में धातु से 'इनुण्' प्रत्यय होता है। णकार तथा उकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) साङ्कूटिनम्
सम् कूट् इनुण्—कुगतिप्रादयः, प्रातिपदिकसंज्ञा, अणिनुणः,
सम् कूटिन् अण्—'नस्तद्धिते' से टिलोप की प्राप्ति, 'इनण्यनपत्ये' से निषेध,

साम् कूटिन्—तद्धितेष्वचामादेः, मोऽनुस्वारः,
साङ्कूटिनम्—परसवर्ण, सु ।

(2) सांराविणम्
सम् रु इनुण्—पूर्ववत् ।

(3) सान्द्राविणम्
सम् द्रु इनुण्—पूर्ववत् ।

अभिविधौ अर्थात् **अभिव्याप्ति** अर्थ गम्यमान रहते ही 'इनुण्' होता है—

(4) सङ्कोटः
सम् कुद् घञ्—इनुण् नहीं हुआ, घञ् हुआ है ।

(5) संरावः
घञ् हुआ ।

भाव इति यद्यपि 'भावे' पद का अधिकार है, तदपि प्रकृत सूत्र में 'भावे' का ग्रहण किया गया है । यह वाऽसरूप विधि की निवृत्ति के लिए है । अतः पक्ष में घञ् नहीं होता । 'ल्युट्' का समावेश होता है ।

(6) सङ्कूटिनम्
सम् कूट् इन्—'कृत्यल्युटो बहुलम्' से हुआ है ।

(1002) आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः *45* (3220)

दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्याद् घञनुवर्त्तते, नानन्तर इनुण् । अव, नि इत्येतयोरुपपदयोर्ग्रहेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति आक्रोशे गम्यमाने । आक्रोशः शपनम् । अवग्राहो हन्त ते वृषल भूयात् । निग्राहो हन्त ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अवग्रहः पदस्य, निग्रहश्चोरस्य ।

अर्थ—दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्य से 'घञ्' का अनुवर्त्तन है । पश्चात् 'इनुण्' का नहीं ।

कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में व संज्ञा के विषय में तथा भाव में अव तथा नि उपसर्गपूर्वक 'ग्रह्' से 'घञ्' प्रत्यय होता है, यदि आक्रोश अर्थ गम्यमान हो ।

उदा० (1) अवग्राहः
अव ग्रह् घञ्—अत उपधायाः ।

(2) निग्राहः
नि ग्रह् घञ्—पूर्ववत् ।

आक्रोशे अर्थात् **आक्रोश** अर्थ गम्यमान रहते ही ग्रह् से घञ् होता है—

(3) अवग्रहः (पदस्य)
अवग्रह अप्—आक्रोश अर्थ नहीं है, 'घञ्' नहीं हुआ ।

(4) निग्रहश्चोरस्य (पूर्ववत्) ।

(1003) प्रे लिप्सायाम् *46* (3221)

ग्रह इत्येव । प्रशब्द उपपदे ग्रहेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति लिप्सायां गम्यमानायाम् । पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः पिण्डार्थी । स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी । लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य ।

अर्थ—'ग्रहः' का अनुवर्त्तन है । कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में प्र उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से घञ् प्रत्यय होता है, लिप्सा अर्थ गम्यमान रहते ।

उदा० (1) पात्रप्रग्राहः
प्र ग्रह् घञ्—अत उपधायाः,

(2) स्रुवप्रग्राहः (पूर्ववत्) ।

लिप्सायाम् अर्थात् **लिप्सा** गम्यमान रहते 'घञ्' होता है—
(3) प्रग्रहो (देवदत्तस्य)
प्र ग्रह् अप्—यहाँ लिप्सा अर्थ नहीं है, घञ् नहीं हुआ, 'ग्रहवृद्०' से 'अप्' हुआ ।

(1004) परौ यज्ञे *47* (3222)

परिशब्द उपपदे ग्रहेर्घञ् प्रत्ययो भवति यज्ञविषयश्चेत्प्रत्ययान्ताभिधेयः स्यात् । उत्तरपरिग्राहः । अधरपरिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक में तथा भाव में परिपूर्वक ग्रह् धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है, यज्ञ के विषय में ।

उदा० (1) (उत्तरः) परिग्राहः
परि ग्रह् घञ्—उपधावृद्धि ।

यज्ञे अर्थात् **यज्ञ के विषय** में ही 'घञ्' होता है—
(2) परिग्रहो (देवदत्तस्य)
परि ग्रह् अप्—यज्ञ का विषय न होने से घञ् नहीं हुआ, तब 'अप्' हुआ ।

(1005) नौ वृ धान्ये *48* (3223)

वृ इति वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम् । निशब्द उपपदे वृ इत्येतस्माद्धातोर्धान्यविशेषेऽभिधेये घञ् प्रत्ययो भवति । अपोऽपवादः । नीवारा नाम व्रीहयो भवन्ति । धान्य इति किम् ? निवरा कन्या ।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में निपूर्वक वृ धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है, धान्यविशेष अर्थ गम्यमान रहते। 'वृ' के द्वारा वृङ् व वृञ् दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) निवाराः
नि वृ घञ्—'ग्रहवृदृ०' से 'अप्' प्राप्त था, 'उपसर्गस्य०' से दीर्घादेश।

धान्ये अर्थात् धान्य अर्थ वाच्य होने पर ही 'घञ्' होता है—

(2) निवरा कन्या
नि वृ अप्—घञ् नहीं हुआ।

(1006) उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः *49* (3224)

उच्छब्द उपपदे श्रयत्यादिभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। अजपोरपवादः। उच्छ्रायः। उद्यावः। उत्पावः। उद्द्रावः। कथं 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' इति? वक्ष्यमाणं विभाषाग्रहणमिह सिंहावलोकितन्यायेन सम्बध्यते।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उद् पूर्वक श्रि, यु, पू तथा द्रु धातुओं से 'घञ्' होता है।

उदा० (1) उच्छ्रायः
उद् श्रि घञ् → वृद्धि, शश्छोऽटि, स्तोः श्चुना श्चुः आदि, उच्छ्रायः—विभक्तिकार्य।

(2) उद्यावः
उद् यु घञ्—पूर्ववत्।
उद्यावः—वृद्धि, सु।

(3) उत्पावः
उद् पू घञ्—खरि च।

(4) उद्द्रावः
उद् द्रु घञ्—वृद्धि।

(5) समुच्छ्रयः
अग्रिम सूत्र में कही जाने वाले 'विभाषा' पद की सिंहावलोकित न्याय से अनुवृत्ति होने से पक्ष में 'अप्' हो गया है।

(1007) विभाषाऽऽङि रुप्लुवोः *50* (3225)

आङि उपपदे रौतेः प्लवतेश्च विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति। आरावः, आरवः। आप्लावः, आप्लवः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में आङ् उपसर्ग पूर्वक 'रु' तथा 'प्लु' धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) आरावः
आ रु घञ्—वृद्धि, आवादेश। 'उपसर्गे रुवः' से नित्य 'घञ्' प्राप्त था।

(2) आरवः
आ रु अप्—पक्ष में 'अप्' हुआ।

(3) आप्लावः
आ प्लु घञ्—पूर्ववत्।

(4) आप्लवः
आ प्लु अप्।

(1008) अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे *51* (3226)

विभाषेति वर्त्तते। अव उपपदे ग्रहेर्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति विभाषा वर्षप्रतिबन्धेऽभिधेये। प्राप्तकालस्य वर्षस्य कुतश्चिन्नि-मित्तादभावो वर्षप्रतिबन्धः। अवग्राहो देवस्य, अवग्रहो देवस्य। वर्षप्रतिबन्ध इति किम्? अवग्रहः पदस्य।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन है। यदि 'वर्षप्रतिबन्ध' अभिधेय हो तो अव उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से 'घञ्' विकल्प से होता है। प्राप्तकाल वर्षा का कहीं भी निमित्त के अभाव को वर्षप्रतिबन्ध कहा जाता है। 'वर्षा का न होना' को वर्षप्रतिबन्ध कहते हैं।

उदा० (1) अवग्राहो देवस्य
अव ग्रह घञ्।

(2) अवग्रहो देवस्य

वर्ष अर्थात् वर्ष प्रतिबन्ध अभिधेय हो तभी 'घञ्' होता है—

(3) अवग्रहः पदस्य
वर्षप्रतिबन्ध अर्थ न होने से घञ् नहीं हुआ।

(1009) प्रे वणिजाम् *52* (3227)

ग्रह इति वर्त्तते। विभाषेत्येव। प्रशब्द उपपदे ग्रहेर्धातोर्विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति, प्रत्ययान्तवाच्यश्चेद्वणिजां सम्बन्धी भवति। वणिक्सम्बन्धेन च तुलासूत्रं लक्ष्यते, न तु वणिजस्तन्त्रम्। तुला प्रगृह्यते येन सूत्रेण स शब्दार्थः।

तुलाप्रग्राहेण चरति, तुलाप्रग्रहेण चरति वणिगन्यो वा। वणिजामिति किम्? प्रग्रहो देवदत्तस्य।

अर्थ—'ग्रहः' का अनुवर्त्तन है। कर्त्तृभिन्न कारक के अर्थ में और भाव में प्र उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से 'घञ्' विकल्प से होता है, यदि वणिक् सम्बन्धी प्रत्ययान्त गम्यमान हो।

उदा० (1) तुलाप्रग्राहेण
चूँकि तुला का सम्बन्ध वणिक् लोगों से होता है। अतः पाक्षिक 'घञ्' होता है।

(2) तुलाप्रग्रहेण
पक्ष में 'अप्' होता है।

वणिजा० अर्थात् वणिक् अर्थ रहने पर ही धातु से 'घञ्' होता है—

(3) प्रग्रहो देवदत्तस्य
यहाँ 'घञ्' नहीं हुआ।

(1010) रश्मौ च *53* (3228)

ग्रहो विभाषा प्र इति वर्त्तते। प्रशब्द उपपदे ग्रहेर्धातोर्विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति रश्मिश्चेत् प्रत्ययान्तेनाभिधीयते। रथादियुक्तानामश्वादीनां संयमनार्था रज्जुः, सा रश्मिरिह गृह्यते। प्रग्रहः, प्रग्राहः।

अर्थ—ग्रहः, विभाषा तथा प्रे—इन पदों का अनुवर्त्तन है। कर्त्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में प्र उपसर्गपूर्वक ग्रह् धातु से विकल्प से 'घञ्' प्रत्यय होता है, यदि 'घोड़े की लगाम' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) प्रग्राहः
प्र ग्रह् घञ्।

(2) प्रग्रहः
प्र ग्रह् अप्—पक्ष में।

(1011) वृणोतेराच्छादने *54* (3229)

विभाषा, प्र इति वर्त्तते। प्रशब्द उपपदे वृणोतेर्धातोर्विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति, प्रत्ययान्तेन चेदाच्छादनविशेष उच्यते। प्रावारः, प्रवरः। आच्छादन इति किम्? प्रवरा गौः।

अर्थ—विभाषा, प्रे—इन पदों का अनुवर्त्तन है। यदि आच्छादनविशेष अर्थ गम्यमान हो तो प्र उपसर्गपूर्वक वृ धातु से 'घञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) प्रावारः
प्र वृ घञ्।

(2) प्रवरः
प्र वृ अप्—पक्ष में।

आच्छादने अर्थात् आच्छादन अर्थ गम्यमान रहते धातु से 'घञ्' होता है—

(3) प्रवरा गौः
यहाँ आच्छादन अर्थ नहीं होने से घञ् नहीं हुआ।

(1012) परौ भुवोऽवज्ञाने *55* (3230)

विभाषेत्येव। परिशब्दे उपपदे भवतेर्धातोर्विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति अवज्ञाने गम्यमाने। अवज्ञानमसत्कारः। परिभावः, परिभवः। अवज्ञान इति किम्? सर्वतो भवनं परिभवः।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन है। तिरस्कार अर्थ गम्यमान रहते परिपूर्वक भू धातु से घञ् प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) परिभावः
परि भू घञ्।

(2) परिभवः
परि भू अप्।

अवज्ञाने अर्थात् तिरस्कार अर्थ गम्यमान रहते भू धातु से घञ् होता है—

(3) परिभवः
इसका अर्थ है—चारो ओर से होना। अतः घञ् नहीं हुआ।

(1013) एरच् *56* (3231)

भावे (3.3.18), अकर्त्तरि च कारके (3.3.19) इति प्रकृतमनुवर्त्तते यावत् 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इति। इवर्णान्ताद्धातोर्भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामच् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। चकारो विशेषणार्थः- 'अन्तः' (6.2.143) 'थाऽथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (6.2.144) इति। चयः। अयः। जयः। क्षयः। *अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। *नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्* (म०भा०)। भयम्। वर्षम्। *जवसवौ छन्दसि वक्तव्यौ* (म०भा०)। ऊर्वोरस्तु मे जवः (पै०सं०20.36.7)। पञ्चौदनसवः (पै०सं० 8.19.3)।

अर्थ—भावे, अकर्त्तरि कारके—पदों का अनुवर्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में इवर्णान्त धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है। यह घञ् का अपवाद है। चकार की इत्संज्ञा है तथा यह विशेषण के लिए है। ताकि 'थाथघञ्क्ताज०' से इसका ग्रहण हो सके तथा 'अच्' व 'अ' प्रत्यय में अन्तर किया जा सके।

उदा० (1) चयः
चि अच् → चे अ → चयः।

(2) अयः
इ अच् → अयः।

(3) जयः
जि अच् → जयः। करण कारक में 'अच्' हुआ है।

(4) क्षयः
क्षि अच्। अधिकरण में 'अच्' हुआ है।

अज्विधौ भयादीनामुपसङ्ख्यानम्—भय आदि शब्दों में अच् प्रत्यय होता है। यह नपुँसक में क्त आदि की निवृत्ति के लिए होता है। 'घाजन्तश्च' (लिङ्गा० 2.3.) से अच् प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग होता है।

(5) भयम्
भि अच्—पूर्ववत् गुण।

(6) वर्षम्
पूर्ववत् 'अच्'।

जवसवौ छन्दसि वक्तव्यौ—वेद में 'जव' तथा 'सव' शब्दों में 'अच्' होता है—

(7) जवः (पै० सं० 20.36.7)
(8) सवः (पै० सं० 8.19.3)

(1014) ऋदोरप् *57* (3232)

ऋकारान्तेभ्य उवर्णान्तेभ्यश्च अप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। पित्करणं स्वरार्थम्। करः। गरः। शरः। उवर्णान्तेभ्यः—यवः, स्तवः, लवः, पवः। दकारो मुखसुखार्थः। मा भूत्तादपि परस्तपरः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में ऋकारान्त व उकारान्त धातु से अप् प्रत्यय होता है। यह घञ् का अपवाद है। अप् के पकार की इत्संज्ञा होती है। अप् को पित् स्वर के लिए किया गया है।

'ऋत्' पद में तकार तपरता के लिए नहीं, अपितु मुखसुखार्थ है।[1] ध्यातव्य है कि यहाँ 'तात्परः' तथा 'तः परो यस्मात्' इन दोनों में से कोई भी परिभाषा लागू नहीं होती।

उदा० (क) ऋदन्तेभ्यः—
(1) करः
कृ अच् → करः—गुण।

(2) गरः
गृ अच् → गरः—पूर्ववत्।

(3) शरः
शृ अच् → शरः।

(ख) उवर्णान्तेभ्यः—
(4) यवः
यु अच्—गुण।

(5) लवः
लू अच्।

(6) पवः
पू अच्—गुण।

(1015) ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च *58* (3234)

ग्रहादिभ्यो धातुभ्योऽप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। निश्चिनोतेस्त्वचोऽपवादः। ग्रहः। वरः। दरः। निश्चयः। गमः। निश्चिग्रहणं स्वरार्थम् (6.2.139)। *वशिरण्योरुपसंख्यानम्* (म० भा०)। वशः। रणः। *घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्* (म० भा०)। प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः पर्वतस्य। प्रस्नात्यस्मिन्प्रस्नः। प्रपिबत्यस्यामिति प्रपा। आविध्यन्ति तेनेत्याविधः। विहन्यन्तेऽस्मिन्निति विघ्नः। आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम्।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में ग्रह, वृ, दृ, निर् पूर्वक चि तथा गम्—इन धातुओं से 'अप्' होता है। यह भी घञ् का अपवाद है। निर् पूर्वक चि धातु से 'अच्' प्राप्त था, यहाँ 'अप्' होता है।

उदा० (1) ग्रहः
ग्रह् अप्।

(2) वरः
वृ अप्—गुण।

(3) दरः

1. न्यास 3.3.57.

दृ अप्—गुण।

(4) निश्चयः

निर् चि अप्—यहाँ 'अच्' प्राप्त था, स्वर के लिए 'अप्' हुआ।

(5) गमः

गम् अप्।

वशिरण्योरुपसङ्ख्यानम्—वश् तथा रण् धातुओं से 'अप्' होता है—

(6) वशः

वश् अप्।

(7) रणः

रण् अप्।

घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्—घञ् के अर्थ में स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन् तथा युध् धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है। घञ् के निम्नलिखित अर्थ हैं—

(क) कर्तृभिन्न कारक,
(ख) भाव,
(ग) संज्ञा।

(8) प्रस्थः

प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति → प्र स्था क—आतो लोप इटि च,
प्रस्थ् अ सु—सु।

(9) प्रस्नः

प्रस्नात्यस्मिन् → प्र स्ना क—पूर्ववत्।

(10) प्रपा

प्रपिबत्यस्यामिति—प्र पा क टाप् इत्यादि।

(11) आविधः

आविध्यन्ति तेनेति—पूर्ववत्।

(12) विघ्नः

विहन्यन्तेऽस्मिन्निति → वि हन् क—लशक्वतद्धिते,
वि ह् न् अ → विघ्नम्—सु।

(13) आयुधम्

आयुध्यतेऽनेन—आ युध् क।

(1016) उपसर्गेऽदः *59* (3235)

अबित्येव। उपसर्ग उपपदेऽदेर्धातोरप् प्रत्ययो भवति। विघसः। प्रघसः। उपसर्ग इति किम्? घासः।

अर्थ—'अप्' इसका अनुवर्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उपसर्ग उपपद रहते अद् धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) विघसः

वि अद् अप् → वि घस्लृ अप्—घञपोश्च,
विघसः—सु।

(2) प्रघसः

प्र अद् अप्—पूर्ववत्।

उपसर्गे अर्थात् उपसर्ग उपपद रहते धातु से 'अप्' होता है—

(3) घासः

अद् घञ् → घस् अ—घञपोश्च, अप् नहीं हुआ,
घासः—सु।

(1017) नौ ण च *60* (3237)

निशब्द उपपदे अदेर्धातोर्णः प्रत्ययो भवति, चकारादप् च। न्यादः। निघसः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के उत्तर में तथा भाव में नि उपसर्ग रहते अद् धातु से 'ण' तथा 'अप्' प्रत्यय होते हैं। यह घञ् का अपवाद है।

उदा० (1) न्यादः

नि अद् ण—चुटू, अत उपधायाः,
न्यादः—सु।

(2) निघसः

नि अद् अप्—घञपोश्च।

(1018) व्यधजपोरनुपसर्गे *61* (3238)

व्यध, जप इत्येतयोरनुपसर्गयोरप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। व्यधः। जपः। अनुपसर्ग इति किम्? आव्याधा, उपजापा।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उपसर्गरहित व्यध् तथा जप् धातुओं से 'अप्' होता है।

उदा० (1) व्यधः

व्यध् अप्।

(2) जपः

जप् अप्।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्ग रहित व्यध् व जप् से 'अप्' होता है—

(3) आव्याधा
आ व्यध् घञ्—'अप्' नहीं हुआ, घञ् हुआ, उपधावृद्धि, आव्याधा—टाप्, सु।

(4) उपजापा
उप जप् घञ्—पूर्ववत्।

(1019) स्वनहसोर्वा *62* (3239)

अनुपसर्ग इत्येव। स्वनहसोरनुपसर्गयोर्वा अप् प्रत्ययो भवति। स्वनः, स्वानः। हसः, हासः। अनुपसर्ग इति किम्? प्रस्वानः, प्रहासः।

अर्थ—'अनुपसर्गे' का अनुवर्त्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उपसर्गरहित स्वन् व हस् धातुओं से विकल्प से 'अप्' होता है, पक्ष में 'भावे' के द्वारा 'घञ्' होता है।

उदा० (1) स्वनः
स्वन् अप्।

(2) स्वानः
स्वन् घञ्।

(3) हसः
हस् अप्।

(4) हासः
हस् घञ्।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित स्वन् व हस् धातुओं से पाक्षिक 'अप्' होता है—

(5) प्रस्वानः
प्र स्वन् घञ्।

(6) प्रहासः
प्र हस् घञ्।

(1020) यमः समुपनिविषु च *63* (3240)

अनुपसर्गे, वा इति वर्त्तते। सम्, उप, नि, वि- इत्येतेषूपपदेषु अनुपसर्गेऽपि यमेर्वा अप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। संयमः, संयामः। उपयमः, उपयामः। नियमः, नियामः। वियमः, वियामः। अनुपसर्गात् खल्वपि-यमः, यामः।

अर्थ—'अनुपसर्गे' तथा 'वा' पदों का अनुवर्त्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में सम्, उप, नि तथा वि उपसर्ग रहते तथा उपसर्गरहित होने पर भी यम् धातु से 'अप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह घञ् का अपवाद है।

उदा० (1) संयमः
सम् यम् अप्—अनुस्वार।

(2) संयामः
सम् यम् घञ्—पक्ष में घञ्,
संयामः—अनुस्वार, सु।

(3) उपयमः
उप यम् अप् सु।

(4) उपयामः
उप यम् घञ्—अत उपधायाः।

(5) नियमः
नि यम् अप् सु।

(6) नियामः
नि यम् घञ्—उपधावृद्धि।

(7) वियमः
वि यम् अप्।

(8) वियामः
वि यम् घञ्—अत उपधायाः।

(9) यमः
उपसर्गरहित 'यम्' से भी पाक्षिक 'अप्' हुआ।

(10) यामः (पूर्ववत्)—घञ्, उपधावृद्धि।

(1021) नौ गदनदपठस्वनः *64* (3241)

अबित्येव। निशब्द उपपदे गद, नद, पठ, स्वन इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वा अप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। निगदः, निगादः। निनदः, निनादः। निपठः, निपाठः। निस्वनः, निस्वानः।

अर्थ—'अप्' का अनुवर्त्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में नि उपसर्ग रहते गद, नद, पठ तथा स्वन धातुओं से 'अप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'घञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) निगदः
नि गद् अप्।

(2) निगादः

नि गद् घञ्—अत उपधायाः।

(3) निनदः

नि नद् अप्।

(4) निनादः

नि नद् घञ्—अत उपधायाः।

(5) निपठः

नि पठ् अप।

(6) निपाठः

नि पठ् घञ्।

(7) निस्वनः

नि स्वन् अप्।

(8) निस्वानः

नि स्वन् घञ्।

(1022) क्वणो वीणायां च *65* (3242)

नौ, वाऽनुपसर्ग इति वर्त्तते। क्वणतेर्धातोर्निपूर्वादनुपसर्गाच्च वीणायां वा अप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। सोपसर्गार्थं वीणाया ग्रहणम्। निक्वणः निक्वाणः। अनुपसर्गात्—क्वणः, क्वाणः। वीणायां खल्वपि–कल्याणप्रक्वणा वीणा। एतेष्विति किम्? अतिक्वाणो वर्त्तते।

अर्थ—नौ, वा, अनुपसर्गे—इन पदों का अनुवर्त्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में निपूर्वक क्वण् धातु से विकल्प से 'अप्' प्रत्यय होता है, वीणा अर्थ गम्यमान हो तो। घञ् का अपवाद है। सोपसर्ग के लिए 'वीणा' अर्थ का ग्रहण है।

उदा० (1) निक्वणः

नि क्वण् अप्।

(2) निक्वाणः

नि क्वण् घञ्।

अनुपसर्गात् अर्थात् उपसर्गरहित क्वण् से पाक्षिक 'अप्' होता है—

(3) क्वणः

क्वण् अप्।

(4) क्वाणः

क्वण् घञ्।

एतेष्विति—इनमें ही पाक्षिक 'अप्' होता है—

(5) अतिक्वाणः

अति क्वण् घञ्—अत उपधायाः।

(1023) नित्यं पणः परिमाणे *66* (3243)

'पण व्यवहारे स्तुतौ च' (धा०पा० 439) अस्माद्धातोर्नित्यमप् प्रत्ययो भवति परिमाणे गम्यमाने। नित्यग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम्। मूलकपणः। शाकपणः। संव्यवहाराय मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्बध्यते तस्येदमभिधानम्। परिमाण इति किम्? पाणः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'पण्' धातु से नित्य 'अप्' होता है, 'परिमाण' गम्यमान रहते। विकल्प की निवृत्ति के लिए 'नित्यं' पद का ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) मूलकपणः

मूलक पण् अप्।

(2) शाकपणः

शाक पण् अप्।

परिमाणे अर्थात् परिमाण अर्थ गम्यमान रहते 'अप्' होता है—

(3) पाणः

पण् घञ्—'अप्' नहीं हुआ, 'घञ्' हुआ है।

(1024) मदोऽनुपसर्गे *67* (3244)

मदेर्धातोरनुपसर्गादप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। विद्यामदः। धनमदः। कुलमदः। अनुपसर्ग इति किम्? उन्मादः, प्रमादः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उपसर्गरहित 'मद्' धातु से 'अप्' होता है। यह घञ् का अपवाद है।

उदा० (1) विद्यामदः

विद्या मद् अप्। विद्यया मदः—समास हुआ।

(2) धनमदः

धन मद् अप्।

(3) कुलमदः (पूर्ववत्)।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित मद् धातु से 'अप्' होता है—

(4) उन्मादः

उद् मद् घञ्—उपसर्ग उपपद रहते 'अप्' नहीं हुआ, 'घञ्' हो गया, 'यरोऽनुनासिकेऽनु०' से अनुनासिक।

(5) प्रमादः

प्र मद् घञ्—पूर्ववत्।

(1025) प्रमदसम्मदौ हर्षे *68* (3245)

प्रमद, सम्मद-इत्येतौ शब्दौ निपात्येते हर्षेऽभिधेये। कन्यानां प्रमदः। कोकिलानां सम्मदः। हर्ष इति किम्? प्रमादः, सम्मादः। प्रसम्भ्यामिति नोक्तम्, निपातनं रूढ्यर्थम्।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में संज्ञा में तथा भाव में प्रमद व सम्मद शब्द निपातनसिद्ध है, 'हर्ष' अर्थ वाच्य रहते।

उदा० (1) (कन्यानां) प्रमदः

प्रमद् अप्—निपातन से 'अप्' हुआ।

(2) कोकिलानां सम्मदः (पूर्ववत्)।

हर्षे अर्थात् हर्ष गम्यमान रहते पूर्वोक्त शब्द साधु कहे गए हैं।

(3) प्रमादः

प्र मद् घञ्—'हर्ष' अर्थ वाच्य न होने से 'अप्' नहीं हुआ, तब औत्सर्गिक 'घञ्' हुआ।

(4) सम्मादः

पूर्ववत् 'घञ्' हुआ।

प्रकृत सूत्र के स्थान पर 'प्रसम्भ्याम्' ऐसा पाठ करने से भी इष्टसिद्धि हो जाती है; परन्तु संज्ञा का कथन करने के लिए निपातन किया गया है।

(1026) समुदोरजः पशुषु *69* (3246)

समुदोरुपपदयोरजतेर्धातोः पशुविषये धात्वर्थे अप् प्रत्ययो भवति। घञोऽपवादः। 'अज गतिक्षेपणयोः' (धा०पा० 230) इति पठ्यते, स सम्पूर्वः समुदाये वर्त्तते, उत्पूर्वश्च प्रेरणे। समजः पशूनाम्, समुदाय इत्यर्थः। उदजः पशूनाम्, प्रेरणमि-त्यर्थः। पशुष्विति किम्? समाजो ब्राह्मणानाम्, उदाजः क्षत्रियाणाम्।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में सम् व उद् उपसर्गपूर्वक 'अज्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है, पशु-विषय की प्रतीति होने पर। यह घञ् का अपवाद है। अज् धातु का गति तथा क्षेपण—इन दो अर्थों में पाठ उपलब्ध होता है। सम् पूर्वक अज् समुदाय अर्थ में होता है तथा उद् पूर्वक अज् प्रेरण अर्थ में होता है।

उदा० (1) समजः पशूनाम् (= पशुओं का लहड़ा)

सम् अज् अप्।

(2) उदजः पशूनाम् (= पशुओं का प्रेरण)

उद् अज् अप्।

पशुषु अर्थात्—पशु-विषय की प्रतीति होने पर ही 'अप्' प्रत्यय होता है—

(3) समाजो ब्राह्मणानाम्

सम् अज् घञ्—यहाँ पशु का विषय नहीं है, अतः अप् नहीं हुआ।

(4) उदाजः क्षत्रियाणाम्

उद् अज् घञ्—यहाँ भी पूर्ववत् जानना चाहिए।

(1027) अक्षेषु ग्लहः *70* (3247)

ग्लह इति निपात्यते अक्षविषयश्चेद्धात्वर्थो भवति। ग्रहेरप् सिद्ध एव, लत्वार्थं निपातनम्। अक्षस्य ग्लहः। अक्षेष्विति किम्? ग्रहः पादस्य। अन्ये ग्लहिं प्रकृत्यन्त-रमाहुः, ते घञं प्रत्युदाहरन्ति-ग्लाह इति।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'ग्लह' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'पाशा' अर्थ गम्यमान हो।

यद्यपि 'ग्रह' धातु से 'ग्रहवृदृ०' से 'अप्' सिद्ध ही था। यहाँ केवल लत्व का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) ग्लहः (अक्षस्य)

ग्रह् अप्—लत्व निपातन से,

ग्लहः—सु।

अक्षेषु अर्थात् अक्ष अर्थ वाच्य रहते ही 'अप्' व लत्व होता है—

(2) ग्रहः पादस्य

ग्रह् अप्—अप् हुआ, परन्तु लत्व नहीं हुआ।

(3) ग्लाहः

जो लोग 'ग्रह्' के स्थान पर 'ग्लह्' इस प्रकृति की कल्पना करते हैं; उनके अनुसार प्रकृत सूत्र के द्वारा केवल 'अप्' प्रत्यय का निपातन किया जाता है तथा प्रत्युदाहरण में 'घञ्' होता है।

(1028) प्रजने सर्त्तेः *71* (3248)

सर्त्तेर्धातोः प्रजने विषये अप् प्रत्ययो भवति। घञो-ऽपवादः। प्रजनं प्रथमं गर्भग्रहणम्। गवामुपसरः। पशूनामुपसरः। स्त्रीगवीषु पुंगवानां गर्भाधानाय प्रथममुपसरणमुच्यते।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में भाव में व सृ धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है, प्रजन अर्थ गम्यमान रहते। यह 'घञ्' का अपवाद है। प्रथम बार गर्भग्रहण को 'प्रजन' कहते हैं।

उदा० (1) उपसरः (गवाम्)
उप सृ अ—'गर्भग्रहण के लिए प्रथम बार गमन' अर्थ वाच्य है, अतः 'अप्' हुआ, गुण।

(2) उपसरः (पशूनाम्) (पूर्ववत्)।

(1029) ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु *72* (3249)

नि, अभि, उप, वि-इत्येतेषु उपपदेषु ह्वयतेर्धातोः सम्प्रसारण-मप् प्रत्ययश्च भवति। घञोऽपवादः। निहवः। अभिहवः। उपहवः। विहवः। एतेष्विति किम्? प्रह्वायः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में नि, अभि, उप तथा वि उपसर्गपूर्वक ह्वे धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा धातु को सम्प्रसारण होता है। यह घञ् का अपवाद है।

उदा० (1) निहवः
नि ह्वे अप् → नि हु अ—सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च,
निहवः—गुण, अवादेश।

(2) अभिहवः
अभि ह्वे अप्—पूर्ववत्।

(3) उपहवः
उप ह्वे अप्।

(4) विहवः
वि ह्वे अप्।

एतेषु अर्थात् नि आदि उपसर्गपूर्वक ह्वे धातु से 'अप्' होता है—

(5) प्रह्वायः
प्र ह्वे घञ्—सूत्रोक्त कोई भी उपसर्ग उपपद न होने से 'अप्' नहीं हुआ।

(1030) आङि युद्धे *73* (3250)

आङि उपपदे ह्वयतेर्धातोः सम्प्रसारणमप् प्रत्ययश्च भवति युद्धेऽभिधेये। आहूयन्तेऽस्मिन्नित्याहवः। युद्ध इति किम्? आह्वायः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में आङ्पूर्वक ह्वे धातु से 'अप्' प्रत्यय तथा धातु को सम्प्रसारण होता है, 'युद्ध' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) आहवः
आहूयन्तेऽस्मिन्निति → आ ह्वे अप्—पूर्ववत् सम्प्रसारण,
आ हु अ → आहवः—गुण।

युद्धे अर्थात् युद्ध अर्थ गम्यमान रहते 'अप्' होता है—

(2) आह्वायः
आ ह्वे घञ् → आ ह्वा अ—अप् नहीं हुआ, आदेच उपदेशेऽशिति,
आह्वायः—आतो युक् चिण् कृतोः।

(1031) निपानमाहावः *74* (3251)

आङ्पूर्वस्य ह्वयतेर्धातोः सम्प्रसारणमप् प्रत्ययो वृद्धिश्च निपात्यते निपानं चेदभिधेयं भवति। निपिबन्त्यस्मिन्निति निपानमुदकाधार उच्यते। आहावः पशूनाम्। कूपोपसरेषु य उदकाधारस्तत्र हि पानाय पशव आहूयन्ते। निपानमिति किम्? आह्वायः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में आङ्पूर्वक ह्वे धातु से 'आहाव' शब्द निपातित किया जाता है, यदि 'तालाब' अर्थ गम्यमान न हो।

उदा० (1) आहावः
आ ह्वे अप्—निपातन से 'अप्' होता हैं,
आ हु अप्—निपातन से सम्प्रसारण,
आ हौ अ—निपातन से वृद्धि,
आहावः—आव्, सु।

निपाने अर्थात् निपान अर्थ गम्यमान रहते 'अप्' आदि होते हैं—

(2) आह्वायः
आ ह्वे घञ्—निपात अर्थ न रहने पर 'अप्' नहीं हुआ।

(1032) भावेऽनुपसर्गस्य *75* (3252)

अनुपसर्गस्य ह्वयतेः सम्प्रसारणमप् प्रत्ययश्च भवति

भावेऽभिधेये। हवः। हवें हवे सु हवं शूरमिन्द्रम् (ऋ० 6.47.11)। अनुपसर्गस्येति किम्? आह्वायः। भावग्रहणम् 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (3.3.19) इत्यस्य निरासार्थम्।

अर्थ— भाव में उपसर्गरहित ह्वे धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा धातु को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) हवः
ह्वे अप् → हु अप्—गुण, अवादेश।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित धातु से 'अप्' होता है—
(2) आह्वायः
आ ह्वे घञ्—उपसर्गपूर्वक होने से 'अप्' नहीं हुआ, 'घञ्' हुआ।

प्रकृत सूत्र में 'भावे' का अनुवर्त्तन प्राप्त होने पर भी पुनः 'भावे' पद का ग्रहण 'अकर्तरि कारके' तथा 'सञ्ज्ञायाम्' पदों के निरास के लिए है।

(1033) हनश्च वधः *76* (3253)

भावेऽनुपसर्गस्येति वर्त्तते। हन्तेर्धातोरनुपसर्गे भावे अप् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च वधादेशः, स चान्तोदात्तः। तत्रोदात्तनिवृत्तिस्वरेणाप उदात्तत्वं भवति। वधश्चोराणाम्। वधो दस्यूनाम्। भाव इत्येव-घातः। अनुपसर्गस्येत्येव-प्रघातः, विघातः। चकारो भिन्नक्रमत्वान्नादेशेन सम्बध्यते, किं तर्हि? प्रकृतेन प्रत्ययेन, अप् च, यश्चापरः प्राप्नोति। तेन घञपि भवति-घातो वर्त्तते।

अर्थ—भावे तथा अनुपसर्गस्य—इन पदों का अनुवर्तन है। भाव में उपसर्गरहित 'हन्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा 'हन्' के स्थान पर 'वध' आदेश होता है। वध आदेश अदन्त व अन्तोदात्त होता है। तब उदात्तनिवृत्ति स्वर के द्वारा अप् भी उदात्त होता है।

उदा० (1) वधः
हन् अप् → वध अ—अतो लोपः,
वध् अ → वधः—सु।

भाव अर्थात् भाव में ही हन् को वध आदेश होता है—
(2) घातः
हन् घञ्—यहाँ भाव अर्थ नहीं है, अतः 'अप्' नहीं हुआ।
घत् अ → घातः—हनस्तः०, हो हन्ते०।

अनुपसर्गे अर्थात् उपसर्गरहित धातु से ही 'अप्' होता है—
(3) प्रघातः
प्र हन् घञ्—उपसर्ग उपपद रहते 'अप्' नहीं हुआ।
(4) विघातः
वि हन् घञ्—पूर्ववत्।

चकारो०—प्रश्न यह है कि चकार 'ह्वेञ्' का समुच्चायक होना चाहिए।

(समा०) चकार भिन्न क्रम वाला है। अतः 'वध' के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

(प्रश्न) इसका किसके साथ सम्बन्ध है?

(समा०) प्रकृत प्रत्यय के साथ है। अप् च—इस प्रकार। इसका अर्थ हुआ कि धातु से 'अप्' होता है और दूसरा प्रत्यय भी होता है। यथा—घातो वर्त्तते—यहाँ 'घञ्' होता है। घञ् के पक्ष में वधादेश नहीं होता है। वध आदेश तो सन्नि-योगवशात् अप् पक्ष में ही होता है।

(1034) मूर्तौ घनः *77* (3254)

हन इत्येव। मूर्तिः काठिन्यम्। मूर्तावभिधेयायां हन्तेरप् भवति घनश्चादेशः। अभ्रघनः। दधिघनः। कथं घनं दधीति? धर्मशब्देन धर्मी भण्यते।

अर्थ—'हनः' का अनुवर्त्तन है। हन् धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को घन आदेश होता है, यदि 'काठिन्य' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) अभ्रघनः
अभ्र हन् अप् → अभ्र घन अ—घनादेश,
अभ्रघनः—सु।
(2) दधिघनः (पूर्ववत्)।

(1035) अन्तर्घनो देशे *78* (3255)

अन्तःपूर्वाद्धन्तेरप् प्रत्ययो घनादेशश्च भवति देशेऽभिधेये। अन्तर्घनः। संज्ञीभूतो वाहीकेषु देशविशेष उच्यते। अन्ये णकारं पठन्ति-अन्तर्घणो देश इति, तदपि ग्राह्यमेव। देश इति किम्? अन्तर्घातोऽन्यः।

अर्थ—'अन्तर्घन' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'देश' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) अन्तर्घनः

अन्तर् हन् अप्—घनादेश, सु आदि।
यह एक देश का नाम है।
कुछ लोग 'अन्तर्घण:' स्वीकार करते हैं।

देशे अर्थात् देश अर्थ में ही अप् आदि होते हैं—
अन्तर्घात:
अन्तर् हन् घञ्—'देश' अर्थ न होने से निपातन नहीं हुआ।

(1036) अगारैकदेशे प्रघण: प्रघाणश्च *79* (3256)

प्रपूर्वस्य हन्तेः प्रघण, प्रघाण इत्येतौ शब्दौ निपात्येते अगारैकदेशे वाच्ये। प्रघणः, प्रघाणः। द्वारप्रकोष्ठो बाह्य उच्यते। अगारैकदेश इति किम्? प्रघातोऽन्यः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में प्रघण तथा प्रघाण शब्द निपातनसिद्ध हैं, यदि 'गृह का एक देश' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) प्रघण:
प्र हन् अप् → प्र घन अ—अप् प्रत्यय तथा घनादेश निपातन से,
प्रघण:—'पूर्वपदात्' से णत्व हुआ।

(2) प्रघाण:
प्र हन् अप्—वृद्धि व घन आदेश निपातन से,

अगारैक० अर्थात् 'घर का एक भाग' अर्थ गम्यमान रहते पूर्वोक्त शब्दों का निपातन होता है—

(3) प्रघात:
प्र हन् घञ्—यहाँ 'घर का एक भाग' अर्थ वाच्य नहीं है, अत: निपातन नहीं हुआ।
प्र घत् अ—हनस्त:, हो हन्ते०,
प्रघात:—अत उपधाया:।

(1037) उद्घनोऽत्याधानम् *80* (3257)

उत्पूर्वस्य हन्तेरुद्घन इति निपात्यतेऽत्याधानं चेद्भवति। उद्घनः, यस्मिन् काष्ठे स्थापयित्वा अन्यानि काष्ठानि तक्ष्यन्ते तदभिधीयते। उद्घातोऽन्यः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'उद्घन' शब्द निपातनसिद्ध है, 'अत्याधान' अर्थ गम्यमान रहते।

किसी काष्ठ को फाड़ते समय जो नीचे आलम्बनस्वरूप रखा जाता है, उसे 'अत्याधान' कहते हैं।

उदा० (1) उद्घन:
उद्हन्यन्ते काष्ठानि यस्मिन् स:—विग्रह,
उद् हन् अप्—निपातन से अप्, घनादेश,
उद्घन:—विभक्तिकार्य।

अत्याधाने अर्थात् अत्याधान अर्थ गम्यमान रहते पूर्वोक्त निपातन होता है—

(2) उद्घात:
यहाँ 'अप्' का निपातन नहीं हुआ, 'घञ्' हुआ है।

(1038) अपघनोऽङ्गम् *81* (3258)

अपपूर्वस्य हन्तेरपघन इति निपात्यते अङ्गं चेत्तद्भवति। अपघनोऽङ्गम्। अवयवो न सर्वः एकदेशः, किं तर्हि? पाणिः पादश्चाभिधीयते। अपघातोऽन्यः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'अपघन' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'अंग' अर्थ गम्यमान हो।

अवयव एकदेश को कहते हैं, समग्र को नहीं। यथा—हाथ व पैर—ये शरीर के अवयव हैं।

उदा० (1) अपघन:
अपहन्यतेऽनेन → अप हन् अप्—निपातन से 'अप्' व घनादेश,
अपघन:—सु।

अङ्गम् अर्थात् अंग अर्थ गम्यमान रहते ही 'अप्' प्रत्यय व घनादेश का निपातन होता है—

(2) अपघात:
यहाँ 'अप्' नहीं हुआ, 'घञ्' हुआ है।

(1039) करणेऽयोविद्रुषु *82* (3259)

हन इति वर्त्तते। अयस्, वि, द्रु इत्येतेषूपपदेषु हन्तेर्धातोः करणे कारकेऽप् प्रत्ययो भवति घनादेशश्च। अयो हन्यतेऽनेनेत्ययोघनः। विघनः। द्रुघनः। द्रुघण इति केचिदुदाहरन्ति। कथं णत्वम्? अरीहणादिषु पाठात्, 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (8.4.3) इति वा।

अर्थ—'हनः' का अनुवर्त्तन है। करण कारक में अयस्, वि तथा द्रु उपपद रहते 'हन्' से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को घनादेश होता है।

उदा० (1) अयोघन:

अयो हन्यतेऽनेन → अयस् हन् अप्—पूर्ववत्,
अयोघनः—सु।

(2) द्रुघनः (पूर्ववत्)।

(3) द्रुघणः

कुछ लोग यहाँ णत्व स्वीकार करते हैं। अरीहणादि गण में इसका पाठ होने से णत्व होता है अथवा 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः' से णत्व होता है।

(1040) स्तम्बे क च *83* (3260)

करणे, हन इति वर्त्तते। स्तम्बशब्द उपपदे करणे कारके हन्तेः कः प्रत्ययो भवति। चकारादप्, तत्र घनादेशः। स्तम्बघ्नः। स्तम्बघनः। *स्त्रियां स्तम्बघ्ना, स्तम्बघना इति इष्यते*। करण इत्येव-स्तम्बघातः।

अर्थ—करणे तथा हनः—इन पदों का अनुवर्त्तन है। करण कारक में स्तम्ब उपपद रहते 'हन्' धातु से 'क' तथा 'अप्' प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं तथा प्रकृति को 'घन' आदेश होता है।

उदा० (1) स्तम्बघनः
स्तम्बो हन्यतेऽनेन—'अप्' हुआ,
स्तम्ब घन अ सु—पूर्ववत्।

(2) स्तम्बघ्नः
स्तम्ब घन् क—पूर्ववत्, हो हन्ते०,
स्तम्बघ्नः—गमहनजन०

स्त्रियां स्तम्बघ्ना स्तम्बघना इति इष्यते—स्त्रीत्व में स्तम्बघ्ना व स्तम्बघना शब्द होते हैं। यह करण कारक में ही होता है। यथा—

(3) स्तम्बघातः
यहाँ करण अर्थ नहीं है। अतः 'अप्' नहीं होता है।

(1041) परौ घः *84* (3261)

करणे हन इत्येव। परिशब्द उपपदे हन्तेर्धातोरप् प्रत्ययो भवति करणे कारके घशब्दश्चादेशः। परिहन्यतेऽनेनेति परिघः। पलिघः (8.2.22)।

अर्थ—करणे तथा हनः—इनका अनुवर्त्तन है। करण कारक में परिपूर्वक 'हन्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'घ' आदेश होता है।

उदा० (1) परिघः
परिहन्यतेऽनेन → परि घ अप्—घादेश, अप् प्रत्यय,
परिघः—सु।

(2) पलिघः
परि घ अप्—'परेश्च घाङ्कयोः' से पाक्षिक लत्व हुआ।

(1042) उपघ्न आश्रये *85* (3263)

उपपूर्वस्य हन्तेरप् प्रत्यय उपधालोपश्च निपात्यते। आश्रयशब्दः सामीप्यं प्रत्यासत्तिं लक्षयति। पर्वतोपघ्नः। ग्रामोपघ्नः। आश्रय इति किम्? पर्वतोपघात एवान्यः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'उपघ्न' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'सामीप्य' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) पर्वतोपघ्नः
पर्वतेनोपहन्यते → पर्वत उप हन् अप्—निपातन से 'अप्',
उप ह्न् अ—निपातन से उपधालोप,
पर्वतोपघ्नः—कुत्व, सु।

(2) ग्रामोपघ्नः
ग्राम उप हन् अप्—पूर्ववत्।

आश्रये अर्थात् आश्रय (= सामीप्य) अर्थ गम्यमान रहते ही धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है—

(3) उपघातः
उप हन् घञ्—यहाँ 'सामीप्य' अर्थ नहीं है, अतः 'अप्' नहीं है।

(1043) सङ्घोद्घौ गणप्रशंसयोः *86* (3264)

समुदोरुपपदयोर्हन्तेर्धातोरप् प्रत्ययो भवति टिलोपो घत्वं च निपात्यते यथासंख्यं गणेऽभिधेये प्रशंसायां गम्यमानायाम्। सङ्घः पशूनाम्। उद्घो मनुष्याणाम्। गणप्रशंसयोरिति किम्? सङ्घातः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में गण तथा प्रशंसा अर्थ गम्यमान रहते यथासंख्यक संघ तथा उद्घ शब्द निपातनसिद्ध हैं।

सार यह है कि गण अर्थ में 'संघ' तथा प्रशंसा अर्थ में 'उद्घ' का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) सङ्घः
संहननं पशूनाम् → सम् हन् अप्—निपातन से 'अप्',
सम् ह् अ—निपातन से टिलोप,
सम् घ् अ—निपातन से कुत्व,
सङ्घः—सु।

(2) उद्घः
उद्हन्यते → उद् हन् अप्—पूर्ववत् अप्, टिलोप,
उद्घः—कुत्व, सु।

गणे अर्थात् गण तथा प्रशंसा अर्थों में ही पूर्वोक्त निपातन होते हैं—

(3) सङ्घातः
यहाँ अप्, टिलोप आदि नहीं होते। 'घञ्' हुआ।

(1044) निघो निमितम् *87* (3265)

निघ इति निपूर्वाद्धन्तेरप् प्रत्ययष्टिलोपो घत्वं च निपात्यते निमितं चेदभिधेयं भवति। समन्तान्मितं निमितम्। समारोहपरिणाहम्। निघा वृक्षाः। निघाः शालयः। निमितमिति किम्? निघातः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'निघ' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'निमित' अर्थ गम्यमान हो।

निमितम्—समन्तात् मितम् अर्थात् जो सब प्रकार से बराबर हो।

उदा० (1) निघाः (वृक्षाः)
नि हन् अप्—पूर्ववत् अप्, टिलोप, घ आदेश निपातन से,
निघ् अ → निघः।

(2) निघाः (शालयः)
पूर्ववत्।

निमितम् अर्थात् निमित अर्थ गम्यमान रहते 'निघ' शब्द का निपातन होता है—

(3) निघातः
यहाँ 'अप्' नहीं हुआ, 'घञ्' हुआ।

(1045) ड्वितः क्त्रिः *88* (3266)

भावेऽकर्त्तरि च कारक इति वर्त्तते। डु इद्यस्य तस्माद् ड्वितो धातोः क्त्रिः प्रत्ययो भवति। 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' (4.4.20) इति वचनात् केवलो न प्रयुज्यते। 'डुपचष् पाके' (धा०पा० 997)–पाकेन निर्वृत्तम् पक्त्रिमम्। डुवप् बीजसन्ताने (धा०पा० 1004)–उप्त्रिमम्। डुकृञ्–कृत्रिमम्।

अर्थ—'डु' है इत् जिसका, ऐसे धातु से 'क्त्रि' प्रत्यय होता है, भाव अर्थ में।

काशिकाकार के अनुसार यहाँ 'अकर्त्तरि कारके' का भी अनुवर्त्तन प्राप्त है। चूँकि क्त्रिप्रत्ययान्त शब्द लोक में भाव अर्थ में ही प्राप्त होते हैं, अतः 'अकर्त्तरि च कारके' का यहाँ सम्बन्ध नहीं है। 'क्त्रि' के ककार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। गुण के निषेध तथा सम्प्रसारणविधि के लिए इसे कित् किया गया है। 'आदिर्ञिटुडवः' से ञि, टु तथा डु—इन समग्र वर्णसमुदायों की इत्संज्ञा हुआ करती है।

उदा० (1) पक्त्रिमम्
डुपचष्—धातुसंज्ञा, क्त्रि,
पच् त्रि → पक् त्रि—'चोः कुः' से कुत्व,
पक्त्रिमम्—क्त्रेर्मम् नित्यम्, सु।

(2) उप्त्रिमम्
डुवप् → वप् क्त्रि—पूर्ववत्,
उप्त्रिमम्—सम्प्रसारण, विभक्तिकार्य।

(3) कृत्रिमम्
डुकृञ्—पूर्ववत्।

(1046) ट्वितोऽथुच् *89* (3267)

टु इद्यस्य तस्मात् ट्वितो धातोरथुच् प्रत्ययो भवति भावादौ। टुवेपृ कम्पने (धा०पा० 367)–वेपथुः। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (धा०पा० 1011)–श्वयथुः। टुक्षु शब्दे (धा०पा० 1037)–क्षवथुः।

अर्थ—'टु' है इत् जिसका, ऐसे धातु से 'अथुच्' प्रत्यय होता है, भाव अर्थ में।

उदा० (1) वेपथुः
टुवेपृ → वेप् अथुच्—अनुबन्धलोप,
वेपथुः—सु।

(2) श्वयथुः
टुओश्वि → श्वि अथु—गुण,
श्वयथुः—सु।

(3) क्षवथुः
टुक्षु—पूर्ववत् गुण आदि।

(1047) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् *90* (3268)

भावेऽकर्त्तरि च कारक इति वर्त्तते। यजादिभ्यो धातुभ्यो नङ् प्रत्ययो भवति। ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः। यज्ञः।

याच्ञा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्ष्णः। प्रच्छेर-सम्प्रसारणं ज्ञापकात् 'प्रश्ने चासन्नकाले' (3.2.117) इति।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक अर्थ में तथा भाव में यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् तथा रक्ष् धातुओं से 'नङ्' प्रत्यय होता है।

'हलन्त्यम्' से ङकार की इत्संज्ञा होती है। ङित् करण के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

(क) गुण का निषेध,
(ख) वृद्धि का प्रतिषेध,

(ग) 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से 'च्छ्' के स्थान पर 'श्' आदेश, 'नङन्तः' (लिङ्ग० 39) के द्वारा नङ्प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग होता है। 'याच्ञा स्त्रियाम्' (लिङ्ग० 40) से केवल 'याच्ञा' शब्द स्त्रीलिङ्ग होता है।

उदा० (1) यज्ञः
यज् नङ् → यज् ञ—हलन्त्यम्, स्तोः श्चुना श्चुः,
यज्ञः—सु।

(2) याच्ञा
याचनम् → याच् नङ् टाप्—विभक्तिकार्य।

(3) यत्नः
यत् नङ्—पूर्ववत्।

(4) विश्नः
विच्छनम् → विच्छ् नङ्—आर्धधातुक की विवक्षा में 'गुपूधूपविच्छि०' से पाक्षिक 'आय' प्राप्त हुआ, चूँकि प्रकृत सूत्र में आय प्रत्ययान्त 'विच्छ्' का ग्रहण नहीं है, अतः यहाँ आय अभाव पक्ष में 'नङ्' हुआ,
विच्छ् न—वलादिक इट् की प्राप्ति, 'नेड्वशि कृति' से निषेध,
विश् न—'च्छ्वोः शूडनु०' से 'श्', प्राप्त लघूपधगुण का 'क्क्ङिति च' से निषेध, 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व प्राप्त हुआ, 'शात्' से निषेध,
विश्नः—सु।

(5) प्रश्नः
प्रच्छनम्—पूर्ववत् 'श्' आदेश, श्चुत्व का निषेध, 'ग्रहिज्या-वयि०' से प्राप्त सम्प्रसारण का 'प्रश्ने चासन्नकाले' से निषेध[1],
प्रश्नः—विभक्तिकार्य।

1. 'प्रश्ने' पद के निर्देश से ज्ञापित होता है कि आचार्य को नङ् परे रहते 'प्रच्छ्' धातु को सम्प्रसारण इष्ट नहीं है।

(6) रक्ष्णः
रक्षणम् → रक्ष् नङ्—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से णत्व।

(1048) स्वपो नन् *91* (3269)

स्वपेर्धातोर्नन् प्रत्ययो भवति। नकारः स्वरार्थः (6.1.197)। स्वप्नः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में 'स्वप्' धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है। नित्करण स्वर के लिए है।

उदा० (1) स्वप्नः
स्वपनम् → स्वप् नङ् — स्वप्नः।

सम्प्रसारण की निवृत्ति के लिए 'स्वप्' का पृथक् पाठ किया गया है।

(1049) उपसर्गे घोः किः *92* (3270)

भावेऽकर्त्तरि च कारक इति वर्त्तते। उपसर्गे उपपदे घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति। कित्करणमातो लोपार्थम् (6.4.64)। प्रदिः। प्रधिः। अन्तर्द्धिः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में उपसर्ग उपपद रहते 'घु' संज्ञा वाले धातु से 'कि' प्रत्यय होता है।

'कि' प्रत्यय को कित् करने का फल आकार का लोप करना है।

उदा० (1) प्रदिः
प्रदीयते इति → प्र दा कि—लशक्वतद्धिते,
प्र द् इ—आतो लोप इटि च,
प्रदिः—सु।

(2) प्रधिः
प्रधीयन्ते काष्ठानि अस्मिन् (वाचस्पत्ये)—अधिकरण में 'कि',
प्रान्ते धीयते इति (क्षीरस्वामी)—कर्म में 'कि',
प्रधीयतेऽनेनेति (भानुजीदीक्षित)—करण में 'कि',
प्र धा कि → प्रधिः

(3) अन्तर्द्धिः
अन्तर्द्धानम्—पूर्ववत् सभी कार्य, 'अचो रहाभ्यां द्वे' से द्वित्व। 'क्यन्तो घुः' से पुँल्लिङ्गता होती है।

(1050) कर्मण्यधिकरणे च *93* (3271)

घोरित्येव। कर्मण्युपपदे घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति अधिकरणे कारके। जलं धीयतेऽस्मिन्निति

जलधिः । शरधिः । अधिकरणग्रहणमर्थान्तरनिरासार्थम् । चकारः प्रत्ययानुकर्षणार्थः ।

अर्थ—अधिकरण कारक में कर्म उपपद में घुसंज्ञक धातु से 'कि' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) जलधिः
जलं धीयतेऽस्मिन्निति → जल धा कि—पूर्ववत् आकारलोप,
जलधिः—सु।

(2) शरधिः
शरा धीयन्तेऽस्मिन्—पूर्ववत्।
अन्य अर्थ के निरास के लिए 'अधिकरण' का ग्रहण है।

(1051) स्त्रियां क्तिन् *94* (3272)

भावेऽकर्त्तरि च कारक इति वर्त्तते। स्त्रीलिङ्गे भावादौ धातोः क्तिन् प्रत्ययो भवति। घञजपामपवादः। कृतिः। चितिः। मतिः। *क्तिन्नाबादिभ्यश्च वक्तव्यः* (म० भा०)। आबादयः प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्याः। आप्तिः। राद्धिः। दीप्तिः। स्रस्तिः। ध्वस्तिः। आस्तिः। लब्धिः। *श्रुयजिस्तुभ्यः करणे* (म०भा०)। श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः। इष्टिः। स्तुतिः। *ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः* (म० भा०)। ग्लानिः। म्लानिः। ज्यानिः। हानिः। *ऋकारल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्भवति इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। कीर्ण्णिः। जीर्ण्णिः। शीर्ण्णिः। लूनिः। पूनिः। *सम्पदादिभ्यः क्विप्* (म०भा०)। सम्पत्। विपत्। प्रतिपत्। *क्तिन्नपीष्यते*। सम्पत्तिः। विपत्तिः।

अर्थ—भावे, अकर्त्तरि च कारके—इनका अनुवर्त्तन है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में तथा भाव में, स्त्रीलिङ्ग में धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है। ककार तथा नकार की इत् संज्ञा है। यह घञ्, अच् तथा अप् का अपवाद है।

उदा० (1) कृतिः
कृ क्तिन्—अनुबन्धलोप, प्राप्त गुण का निषेध,
कृतिः—सु।

(2) चितिः (पूर्ववत्)।

(3) मतिः
मन् क्तिन्—'अनुदात्तोपदेश०' से अनुनासिक लोप।

क्तिन्नाबादिभ्यश्च वक्तव्यः—आप् आदि धातुओं से क्तिन् होता है। आप् आदि का निर्णय प्रयोग देखकर करना चाहिए—

(4) आप्तिः
आप् क्तिन्—पूर्ववत्।

(5) राद्धिः
राध् क्तिन्—झषस्तथोर्धो०, झलां जश् झशि,
राद्धिः—सु।

(6) दीप्तिः
गुणनिषेध।

(7) स्रस्तिः (पूर्ववत्)।

(8) ध्वस्तिः
ध्वस् क्तिन्।

(9) लब्धिः
लभ् क्तिन्—झषस्तथोर्धो०, झलां जश् झशि,
लब्धिः—सु।

श्रुयजिस्तुभ्यः करणे—श्रु, यजि तथा स्तु धातुओं से करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होता है—

(10) श्रुतिः
श्रूयतेऽनेनेति → श्रु क्तिन्—गुण का प्रतिषेध,
श्रुतिः—सु।

(11) इष्टिः
इज्यतेऽनया → यज् क्तिन्—'वचिस्वपियजादी०' से सम्प्रसारण,
इष्टिः—व्रश्चभ्रस्ज०, ष्टुना ष्टुः।

(12) स्तुतिः
स्तूयतेऽनया—पूर्ववत् गुणनिषेध।

ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः—ग्लै, म्लै, ज्या तथा हा—इन धातुओं से स्त्रीलिंग में 'नि' प्रत्यय होता है—

(13) ग्लानिः
ग्लै → ग्ला नि—आदेच उपदेशेऽशिति,
ग्लानिः—सु।

(14) म्लानिः (पूर्ववत्)।

(15) ज्यानिः
ज्या नि सु।

(16) हानिः
हा नि सु।

ऋकारल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम्—ऋकारादि तथा लू आदि धातुओं से विहित क्तिन् प्रत्यय निष्ठावत्

होता है। सार यह है कि प्रकृत धातु से परे क्तिन् के रहते वे सभी कार्य होते हैं, जो 'क्त' के परे रहते होते हैं।

(17) कीर्णिः
कॄ क्तिन् → किर् ति—ॠत इद्धातोः,
कीर् ति — कीर्णिः—हलि च, रदाभ्यां निष्ठातो०, रषाभ्यां नो णः०, सु।

(18) गीर्णिः
गॄ क्तिन्—पूर्ववत्।

(19) जीर्णिः
जॄ क्तिन्—पूर्ववत्।

(20) शीर्णिः
शॄ क्तिन्—लशक्व०, ॠत इद्०, नत्व।

(21) लूनिः
लू क्तिन्—अनुबन्धलोप,
लूनिः—सु।

(22) यूनिः
यु क्तिन्—यूनिः—दीर्घ।

सम्पदादिभ्यः क्विप्—सम् पूर्वक पद आदि प्रकृतियों से 'क्विप्' होता है—

(23) सम्पत्
सम् पद् क्विप्—सर्वापहारीलोप, सु।

(24) विपत्
वि पद् क्विप्।

(25) प्रतिपत्
प्रति पद् क्विप् सु।

क्तिन्नपीष्यते—सम् पूर्वक पद् आदि प्रकृतियों से क्तिन् भी होता है—

(26) सम्पत्तिः
सम् पद् क्तिन्—खरि च।
सम्पत्तिः—सु।

(27) विपत्तिः
वि पद् क्तिन्—पूर्ववत्।

(1052) स्थागापापचो भावे *95* (3273)

स्त्रियामिति वर्तते। स्थादिभ्यो धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् प्रत्ययो भवति। अङोऽपवादस्य (3.3.106, 3.3.104) बाधकः। प्रस्थितिः। उद्गीतिः। सङ्गीतिः। प्रपीतिः। सम्पीतिः। पक्तिः। भावग्रहणमर्थान्तरनिरासार्थम्। कथमवस्था, संस्थेति? 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (1.1.34) इति ज्ञापकात् नात्यन्ताय बाधा भवतीति।

अर्थ—भाव तथा स्त्रीलिङ्ग में स्था, गा, पा तथा पच् धातुओं से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है। यह अङ् अपवाद का बाधक है।

उदा० (1) प्रस्थितिः
प्र स्था क्तिन्—इकार,
प्रस्थितिः—सु।

(2) उद्गीतिः
उद् गा क्तिन्—'घुमास्था०' से ईत्व।

(3) सङ्गीतिः
सम् गा क्तिन्—पूर्ववत्।

(4) प्रपीतिः
प्र पा क्तिन्—पूर्ववत्।

(5) सम्पीतिः
सम् पा क्तिन्।

(6) पक्तिः
पच् क्तिन्—'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' से प्राप्त 'अङ्' को बाध कर क्तिन् हुआ।
'चोः कुः' से कुत्व।
अन्य अर्थों के निरास के लिए 'भाव' का ग्रहण है।

(7) अवस्था
अव स्था अङ् → अवस्था—स्त्रीत्व में 'टाप्',
अवस्था—सु, सुलुक्।
'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' सूत्र से ज्ञापित होता है कि उक्त क्तिन् प्रत्यय 'अङ्' का आत्यन्तिक रूप से बाध नहीं करता है।

(8) संस्था
सम् स्था अङ्—पूर्ववत्।

(1053) मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः *96* (3420)

भावे, स्त्रियामिति वर्त्तते। मन्त्रे विषये वृषादिभ्यो धातुभ्यः क्तिन् प्रत्ययो भवति उदात्तः। प्रकृतिप्रत्यययोर्विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः। कस्मादेवं कृतम्? वैचित्र्यार्थम्।

वृष्टिः (ऋ० 1.38.8)। इष्टिः (ऋ० 4.4.7)। पुक्तिः (ऋ० 4.24.5)। मुतिः (ऋ० 1.141.1)। वित्तिः (वा०सं० 18.14)। भूतिः (वा०सं० 18.14)। वीतिः (अथ० 20.59.3)। रातिः (ऋ० 1.34.1)। सर्वत्र सर्वधातुभ्यः सामान्येन विहित एव क्तिन्, उदात्तार्थं वचनम्। इषेस्तु 'इच्छा' (3.3.101) इति निपातनं वक्ष्यति, ततः क्तिन्नपि विधीयते, मन्त्रादन्यत्रादिरुदात्तः।

अर्थ—मन्त्रसंहिताओं के विषय में स्त्रीलिङ्ग में तथा भाव में वृष्, इष्, पच्, मन्, विद्, भू, वी तथा रा—इन धातुओं से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है और वह उदात्त होता है।

प्रकृति तथा प्रत्यय का विभक्तिविपरिणाम के द्वारा सम्बन्ध होता है। यह किस प्रकार किया गया है ? विचित्रता के लिए किया गया है।

उदा० (1) वृष्टिः (ऋ० 1.38.8)
वृष् क्तिन्—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते, ष्टुना ष्टुः,
वृष्टिः—सु।

(2) इष्टिः (ऋ० 4.4.7)
इष् क्तिन्—पूर्ववत्,
इष्टिः—सु।

(3) पक्तिः (ऋ० 4.24.5)
पच् क्तिन्—कुत्व,
पक्तिः—सु।

(4) मतिः (ऋ० 1.141.1)
मन् क्तिन्—अनुनासिकलोप,
मतिः—सु।

(5) वित्तिः
विद् क्तिन्—खरि च,
वित्तिः—सु।

(6) भूतिः
भू क्तिन्—सु।

(7) वीतिः (वीतये—शौ० सं० 20.69.3)
वी क्तिन्—पूर्ववत्।

(8) रातिः (ऋ० 1.34.1)
रा क्तिन्—पूर्ववत्।

सर्वत्र०—सभी धातुओं से सामान्य 'क्तिन्' हुआ है, उदात्त स्वर के लिए प्रकृत सूत्र का पाठ किया गया है। इष् को इच्छा यह निपातन आगे कहा जायेगा। उससे क्तिन् भी होता है। मन्त्रसंहिता से अन्यत्र आदि उदात्त होता है।

(1054) ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च *97* (3274)

मन्त्र इति नानुवर्त्तते। ऊत्यादयः शब्दा निपात्यन्ते। उदात्त इति वर्त्तते। अवतेः 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (6.4.20) इति ऊठ्। ऊतिः। स्वरार्थं वचनम्। यौतेर्जवतेश्च दीर्घत्वं निपात्यते। यूतिः। जूतिः। सातिः, स्यतेरित्वा-भावोऽपि निपात्यते, सनोतेर्वा 'जनसनखनाम्' (6.4.42) इत्वात्वे कृते स्वरार्थं निपातनम्। हन्तेर्हिनोतेर्वा-हेतिः। कीर्त्तयतेः-कीर्त्तिः।

अर्थ—स्त्रीलिङ्ग में व भाव में ऊति, यूति, जूति, साति, हेति व कीर्ति—ये शब्द निपातनसिद्ध हैं।

ये सभी शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त व अन्तोदात्त हैं।

उदा० (1) ऊतिः
अव् क्तिन्—'ज्वरत्वरस्रिव्यवि०' से उपधा व वकार के स्थान पर 'ऊठ्' आदेश,
ऊ ति सु—विभक्तिकार्य।

(2) यूतिः
यु क्तिन्—दीर्घ हुआ।

(3) जूति (पूर्ववत्)।

(4) सातिः
सा क्तिन्—'द्यतिस्यति०' से प्राप्त इत्व का बाध।

कुछ विद्वान् 'सन्' धातु को 'जनसनखनाम्०' से आत्व करके रूप सिद्ध करते हैं।

(5) हेतिः
हन् क्तिन्—निपातन से एत्व, 'अनुदात्तोपदेश०' से अनुनासिकलोप,
हेति सु—विभक्तिकार्य।

कुछ विद्वान् स्वादिगणी 'हि' धातु से रूप निष्पन्न करते हैं।

(6) कीर्त्तिः
कृत् णिच् क्तिन्—णेरनिटि,
किर् ति—उपधायाश्च,
कीर्त्तिः—उपधायाश्च, अचो रहाभ्यां द्वे।

(1055) व्रजयजोर्भावे क्यप् *98* (3275)

उदात्त इत्येव। व्रजयजोर्धात्वोः स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् प्रत्ययो भवति उदात्तः। क्तिनोऽपवादः। व्रज्या। इज्या। णित्करणमुत्तरत्र तुगर्थम्।

अर्थ—स्त्रीलिंग में तथा भाव में व्रज् तथा यज् धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होता है और वह उदात्त होता है। क्तिन् का अपवाद है। क्यप् में 'प्' अनुबन्ध उत्तरवर्ती शास्त्र में तुक् आगम के लिए जोड़ा गया है।

उदा० (1) व्रज्या
व्रज् क्यप्—अनुबन्धलोप,
व्रज्या—टाप्, सु।

(2) इज्या
यज् क्यप्—सम्प्रसारण (वचिस्वपि०),
इज् य टाप् सु—विभक्तिकार्य।

(1056) संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्-शीङ्भृञिणः *99* (3276)

भाव इति न स्वर्यते। पूर्व एवात्रार्थाधिकारः। समजादिभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां क्यप् प्रत्ययो भवति उदात्तः संज्ञायां विषये। समजन्त्यस्यामिति समज्या। निषद्या। निपत्या। मन्या। विद्या। सुत्या। शय्या। भृत्या। इत्या। कथं तदुक्तम्–'स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिद्ध्यति' (म०भा०) इति? भावाधिकारो भावव्यापारो वाच्यत्वेन विवक्षितो न तु शास्त्रीयोऽधिकारः।

अर्थ—पूर्ववत् 'स्त्रियाम्' इस अर्थ का अधिकार है। कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में तथा स्त्रीलिंग में सम् पूर्वक अज्, नि-पूर्वक षद्, निपूर्वक पत्, मन्, विद्, सु, शी, भृ तथा इण्—इन धातुओं से 'क्यप्' होता है और वह उदात्त होता है।

उदा० (1) समज्या
समजन्त्यस्यामिति → सम् अज् क्यप्—अनुबन्धलोप,
समज्या—टाप्, सु।

(2) निषद्या
नि सद् क्यप्—पूर्ववत्,
निषद्या—टाप्, सु।

(3) निपत्या
नि पत् क्यप्—पूर्ववत्।

(4) मन्या
मन् क्यप् टाप्।

(5) विद्या
विद् क्यप् टाप्।

(6) सुत्या
सु तुक् क्यप्—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्।

(7) शय्या
शी क्यप्—अयङ् यि क्ङिति।

(8) भृत्या
भृ तुक् क्यप्।

(9) इत्या
इण् क्यप् → इ तुक् य टाप्।

कथं तदुक्तम्—यह किसलिए कहा गया है कि स्त्रीत्व में भावाधिकार है, जिससे 'भार्या' शब्द सिद्ध होता है। भावाधिकार अर्थात् भावव्यापार कहा गया है, न कि शास्त्रीय अधिकार।

(1057) कृञः श च *100* (3277)

करातेर्धातोः स्त्रियां शः प्रत्ययो भवति चकारात् क्यप् च। योगविभागोऽत्र कर्त्तव्यः, क्तिन्नपि यथा स्यात्। क्रिया। कृत्या। कृतिः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा में, स्त्रीलिंग में तथा भाव में 'कृ' धातु से 'श' प्रत्यय होता है और 'क्यप्' भी होता है। प्रकृत सूत्र का योगविभाग किया जाना चाहिए—

(क) कृञः अर्थात् 'कृ' धातु से 'क्यप्' होता है,

(ख) श च अर्थात् 'कृ' से 'श' प्रत्यय होता है तथा 'क्तिन्' भी होता है।

वावचनं कर्त्तव्यं क्तिन्नर्थम्—क्तिन् के लिए विकल्प से 'श' प्रत्यय होता है। तब पक्ष में 'क्तिन्' भी होता है।

उदा० (1) क्रिया
कृ श → कृ अ—लशक्वतद्धिते,
कृ यक् अ → क्रिया—सार्वधातुके यक्, रिङ्शयग्०, टाप्, सु।

(2) कृत्या
कृ क्यप् → कृत् य—तुक्,
कृत्या—टाप्, सु।

(3) कृतिः
कृ क्तिन् → कृ ति—प्राप्त गुण का निषेध,
कृतिः—सु।

(1058) इच्छा *101* (3278)

इषेर्धातोः शः प्रत्ययो यगभावश्च निपात्यते। इच्छा। *परिचर्यापरिसर्यामृगयाऽटाट्यानामुपसंख्यानम्* (म० भा०)। परिचर्या। परिसर्या। मृगया। अटाट्या। *जागर्तेरकारो वा* (म० भा०)। जागरा। जागर्या।

अर्थ—स्त्रीलिंग में तथा भाव में 'इच्छा' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) इच्छा
इष् श—'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' प्राप्त हुआ, निपातन से 'यक्' का अभाव,
इच्छ् अ टाप्—इषुगमियमां०, स्तोः श्चुना श्चुः, विभक्तिकार्य।

परिचर्यापरिसर्यामृगयाऽटाट्यानामुपसङ्ख्यानम्—परिचर्या, परिसर्या, मृगया तथा अटाट्या शब्दों में 'श' प्रत्यय होता है—

(2) परिचर्या
परि चर् श—लशक्वतद्धिते,
परि चर् यक् अ—यक्,
परिचर्या—टाप्, सु।

(3) परिसर्या
परि सृ यक् श—पूर्ववत्,
परिसर्या—निपातन से गुण, टाप्।

(4) मृगया
मृग यक् श—अकारलोप का अभाव निपातन से,
मृगया—पूर्ववत्।

(5) अटाट्या
अट् श—निपातन से द्वित्व,
अ टाट् यक् अ—यक्,
अटाट्या—टाप्, सु।

जागर्त्तेरकारो वा—जागृ धातु से विकल्प से 'अ' होता है। पक्ष में 'श' होता है।

(6) जागरा
जागृ अ → जागर् अ—आर्धधातुक गुण,
जागरा—टाप्,
जागरा—विभक्तिकार्य।

(7) जागर्या
जागृ श—पूर्ववत् यक्, टाप् आदि।

(1059) अ प्रत्ययात् *102* (3279)

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययो भवति। क्तिनोऽपवादः। चिकीर्षा। जिहीर्षा। पुत्रीया। पुत्रकाम्या। लोलूया। कण्डूया।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा में, स्त्रीलिंग में तथा भाव अर्थ में प्रत्ययान्त धातु से 'अ' प्रत्यय होता है। यह 'क्तिन्' का अपवाद है। 'सनाद्यन्ता धातवः' से सन् आदि जो प्रत्यय, तदन्त की धातुसंज्ञा होती है, उसी का यहाँ ग्रहण है। चूँकि 'ण्यासश्रन्थो युच्' से णिच् प्रत्ययान्त से 'युच्' कहा गया है, अतः णिच् प्रत्ययान्त धातुसंज्ञक शब्द से 'अ' नहीं होता।

उदा० (1) चिकीर्षा
कृ सन् → चिकीर्ष—धातुसंज्ञा, अ प्रत्यय, आर्धधातुकसंज्ञा,
चिकीर्ष् अ टाप्—अतो लोपः, टाप्,
चिकीर्षा—विभक्तिकार्य।

(2) जिहीर्षा
हृ सन् → जिहीर्ष अ टाप्—पूर्ववत्,
जिहीर्षा—सु।

(3) पुत्रीया
आत्मनः पुत्रस्यैषणम् → पुत्र क्यच्—सुप आत्मनः क्यच्,
पुत्रीय अ—धातुसंज्ञा, अ, अकारलोप,
पुत्रीया—टाप्, सु।

(4) पुत्रकाम्या
पुत्र काम्यच्—काम्यच्च, शेष पूर्ववत्,
पुत्रकाम्य अ टाप्—टाप् आदि,
पुत्रकाम्या—सु।

(5) लोलूया
लोलूय—यङन्त धातु से 'अ' हुआ,
लोलूय् अ—अ, अकारलोप,
लोलूया—टाप्, सु।

(6) कण्डूया
कण्डूय अ टाप्—पूर्ववत्।

(1060) गुरोश्च हलः *103* (3280)

हलन्तो यो धातुर्गुरुमान् ततः स्त्रियामकारः प्रत्ययो भवति। क्तिनोऽपवादः। कुण्डा। हुण्डा। ईहा। ऊहा। गुरोरिति किम्? भक्तिः। हल इति किम्? नीतिः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में हलन्त व गुरुमान् जो धातु, उससे 'अ' प्रत्यय होता है। यह क्तिन् का अपवाद है।

उदा० (1) कुण्डा
कुण्ड् अ—हलन्त है, 'संयोगे गुरु' से गुरुमान् है,
कुण्ड टाप्—टाप्,
कुण्डा—सु।

(2) हुण्डा
हुण्ड् अ टाप्—पूर्ववत्।

(3) ईहा
ईह् अ—हलन्त है, 'दीर्घञ्च' से गुरुमान् है,
ईह टाप्—टाप्,
ईहा—सु।

(4) ऊहा
ऊह् अ टाप्—दीर्घञ्च।

गुरोः अर्थात् गुरुमान् जो धातु, उससे 'अ' प्रत्यय होता है—

(5) भक्तिः
भज् क्तिन्—हलन्त है, परन्तु गुरुमान् नहीं है; अतः 'अ' नहीं हुआ।

हलः अर्थात् हलन्त जो धातु, उससे 'अ' प्रत्यय होता है—

(6) नीतिः
नी क्तिन्—गुरुमान् है, परन्तु हलन्त नहीं है; अतः 'अ' नहीं हुआ।

[1]**निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम्**—निष्ठा में जो सेट् धातु, उस (हलन्त व गुरुमान्) धातु से 'अ' होता है—

(7) आप्तिः
आप् क्तिन्—हलन्त है, गुरुमान् है; परन्तु निष्ठा में सेट् नहीं है, अतः 'अ' नहीं हुआ।

(1061) षिद्भिदादिभ्योऽङ् *104* (3281)

षिद्भ्यो भिदादिभ्यश्च स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। गणपठितेषु भिदादिषु निष्कृष्य प्रकृतयो गृह्यन्ते। जृष्-जरा। त्रपूष्-त्रपा। भिदादिभ्यः खल्वपि-भिदा, छिदा, विदा, क्षिपा। *गुहा गिर्योषध्योः* (म० भा०)। श्रद्धा। मेधा। गोधा। आरा। हारा। कारा। क्षिया। तारा। धारा। लेखा। रेखा। चूडा। पीडा। वपा। वसा। मृजा। *क्रपेः सम्प्रसारणं च* (ग० सू० 36)। कृपा। *भिदा विदारणे* (म० भा०)। भित्तिरन्या। *छिदा द्वैधीकरणे* (म० भा०)। छित्तिरन्या। *आरा शस्त्र्याम्* (म० भा०)। आर्त्तिरन्या। *धारा प्रपाते* (म० भा०)। धृतिरन्या।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में षित् (षकार है इत् जिसका) धातु से तथा भिदादि धातुओं से 'अङ्' होता है। ङकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (क) षिद्भ्यः—

(1) जरा
जृष्—'हलन्त्यम्' से षकार की इत्संज्ञा, षित् होने से 'अङ्' हुआ,
जॄ अ → जर् अ—'ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण, उरण् रपरः,
जर टाप् सु—टाप्, विभक्तिकार्य।

(2) त्रपा
त्रपूष्—पूर्ववत् अङ्, टाप्, सु।

(ख) भिदादिभ्यः—

(3) भिदा
भिद् अङ् टाप् सु।

(4) छिदा
छिद् अङ् टाप् सु।

(5) विदा
विद् अ टाप् सु।

(6) क्षिपा
क्षिप्—पूर्ववत्

(7) गुहा
गुह्—पूर्ववत्।

(8) श्रद्धा
श्रद्धा—पूर्ववत्।

(9) मेधा
मेध्—पूर्ववत्।

1. महा० 3.3.94. (वा०)

(10) आरा (पूर्ववत्)।
(11) हारा (पूर्ववत्)।
(12) कारा (पूर्ववत्)।
(13) क्षिया
क्षि अङ्—इयङ् आदेश।

(14) तारा (पूर्ववत्)।
(15) धारा (पूर्ववत्)।
(16) लेखा (पूर्ववत्)।
(17) रेखा (पूर्ववत्)।
(18) चूडा
चूड् अ टाप्।

(19) पीडा
पीड् अङ् टाप्।

(20) वपा
वप् अ टाप्।

(21) वसा
वस् अ टाप्।

(22) मृजा
मृज् अ टाप्।

(23) कृपा
क्रप् अङ्—सम्प्रसारण हुआ, शेष पूर्ववत्।

(24) भिदा
विदारण अर्थ में रूप बनता है।

(25) भित्ति
अन्य अर्थ में 'क्तिन्' होकर बनता है।

(26) छिदा
द्वैधीकरण अर्थ में।

(27) छित्तिः
अन्य अर्थ में 'क्तिन्' होता है।

(28) आरा
'शस्त्री' अर्थ में होता है।

(29) आर्त्तिः
अन्य अर्थ में 'क्तिन्' होकर रूप बनता है।

(30) धारा
प्रपात अर्थ में होता है।

(31) धृतिः
अन्य अर्थ में 'क्तिन्' होकर बनता है।

(1062) चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च *105* (3282)

'चिति स्मृत्याम्' (धा०पा० 1536), 'पूज पूजायाम्' (धा०पा० 1643), 'कथ वाक्यप्रबन्धे' (धा०पा० 1852), 'कुबि आच्छादने' (धा०पा० 1656), 'चर्च अध्ययने' (धा०पा० 1713), चुरादिः—इत्येतेभ्यो धातुभ्यो युचि प्राप्ते स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा। चर्च्चा। चकाराद्युजपि भवति—चिन्तना।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में चिन्त्, पूज्, कथ्, कुम्ब् तथा चर्च् धातुओं से 'अङ्' प्रत्यय होता है। ये सभी धातु चुरादि गण में पठित हैं। अतः 'ण्यासश्रन्थो युच्' से 'युच्' प्राप्त था।

उदा० (1) चिन्ता
चिन्त् अङ् टाप्—विभक्तिकार्य। 'णेरनिटि' से णिच् का लोप।

(2) पूजा
पूज् णिच् अ टाप्—पूर्ववत्।

(3) कथा
कथ् णिच् अ टाप्।

(4) कुम्बा
नुम्, शेष पूर्ववत्।

(5) चर्चा
चर्च् णिच् अङ् टाप्।

(6) चिन्तना
पक्ष में 'युच्' हुआ।

(7) पूजना—युच्।
(8) कथना—युच्।
(9) कुम्बना (पूर्ववत्)।
(10) चर्चना (पूर्ववत्)।

(1063) आतश्चोपसर्गे *106* (3283)

आकारान्तेभ्यो धातुभ्य उपसर्गे उपपदे स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। क्तिनोऽपवादः। प्रदा। उपदा। प्रधा। उपधा। *श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिः*। श्रद्धा। अन्तर्द्धा।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में उपसर्ग उपपद रहते आकारान्त धातु से 'अङ्' होता है। यह 'क्तिन्' का अपवाद है।

उदा० (1) प्रदा
प्र दा अङ्—अङ्, टाप्, सवर्णदीर्घ,
प्रदा—विभक्तिकार्य।

(2) उपदा
उप दा अ टाप्—पूर्ववत्।

(3) प्रधा
प्र धा अ टाप्।

(4) उपधा
उप धा अ टाप्।

श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिः—श्रत् तथा अन्तर् को उपसर्ग मान कर इनके उपपद रहते धातु से 'अङ्' होता है।

(5) श्रद्धा
श्रत् धा अङ् टाप्।

(6) अन्तर्द्धा
अन्तर् धा अङ् टाप्—अचो रहाभ्यां द्वे।

(1064) ण्यासश्रन्थो युच् *107* (3284)

ण्यन्तेभ्यो धातुभ्य, आस, श्रन्थ इत्येताभ्यां च स्त्रियां युच्प्रत्ययो भवति। अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा। आसना। श्रन्थना। कथमास्या? ऋहलोर्ण्यद्भविष्यति। वाऽसरूपप्रतिषेधश्च स्त्रीप्रकरणविषयस्यैवोत्सर्गापवादस्य। श्रन्थिः क्र्यादिर्गृह्यते 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' (धा०पा० 1511) इति। न चुरादिः 'श्रन्थ ग्रन्थसन्दर्भे' (धा०पा० 1839-40) इति, ण्यन्तत्वेनैव सिद्धत्वात्। *घट्टिवन्दिविदिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। घट्टना। वन्दना। वेदना। घट्टेस्तौदादिकस्य ग्रहणम्-'घट्ट चलने' (धा०पा० 259) इति। चौरादिकस्य 'घट्ट संवरणे' (धा०पा० 1631) इत्यस्य न ग्रहणम्, तस्य णेरित्येव सिद्धत्वात्। *इषेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्यः* (म०भा०)। अध्येषणा। अन्वेषणा। *परेर्वा* (म०भा०)। पर्येषणा, परीष्टिः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञाविषय में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अर्थ में ण्यन्त ('णि' है अन्त में जिसके) धातु से, आस् धातु से तथा श्रन्थ् धातु से 'युच्' प्रत्यय होता है। यह 'अ' प्रत्यय का अपवाद है। चकार की इत्संज्ञा होती है। शेष 'यु' रहता है। इसे 'युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश होता है।

'णि' के द्वारा 'णिच्' व 'णिङ्' का ग्रहण होता है। 'णिच्' प्रत्यय हेतुमत् में तथा चुरादिगणी धातु से स्वार्थ में होता है। 'णिङ्' प्रत्यय केवल स्वार्थ में होता है।

'अप्रत्ययात्' के द्वारा ण्यन्त धातु से 'अ' प्रत्यय प्राप्त होता है। आस् तथा श्रन्थ् धातु गुरुमान् व हलन्त हैं। अतः इनसे 'गुरोश्च हलः' से 'अ' प्राप्त था।

उदा० (1) कारणा
कृ णिच् युच्—वृद्धि, णिच् का लोप, अन आदेश,
कारन टाप्—टाप्, णत्व, विभक्तिकार्य।

(2) हारणा
हृ णिच् युच्।

(3) आसना
आस् युच्—पूर्ववत्।

(4) श्रन्थना
श्रन्थ् युच्—पूर्ववत्।

(5) आस्या
आस् ण्यत्—'ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' हो गया है। स्त्री प्रकरण विषय रूप उत्सर्ग अपवाद का वासरूप निषेध होता है।

यहाँ क्र्यादिगणी 'श्रन्थ्' धातु (श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः) का ग्रहण किया गया है; चुरादिगणी (श्रन्थ ग्रन्थसन्दर्भे) धातु का नहीं। कारण कि चुरादिगणी तो ण्यन्त होने से उसका 'ण्यन्त पद के द्वारा ही 'युच्' सिद्ध था। तब पृथक् निर्देश की क्या आवश्यकता है?

घट्टिवन्दिविदिभ्य उपसङ्ख्यानम्—घट्टि, वन्दि तथा विदि धातुओं से भी 'युच्' प्रत्यय होता है। यहाँ तौदादिक घट्ट धातु का ग्रहण है; चौरादिक का नहीं।

(6) घट्टना
घट्ट युच् टाप्।

(7) वन्दना
वन्द् युच्—इदितो नुम् धातोः।

(8) वेदना
विद् युच्—लघूपधगुण।

इषेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्यः—इच्छा से अतिरिक्त अर्थ वाले 'इष्' धातु से 'युच्' होता है—

(9) अध्येषणा
अधि इष् युच्—इच्छा अर्थ नहीं है, 'युच्' हुआ।

(10) अन्वेषणा
अनु इष् युच्—पूर्ववत्।

परेर्वा—परि उपसर्ग उपपद रहते 'इष्' धातु से विकल्प से 'युच्' होता है। पक्ष में 'क्तिन्' होता है।

(11) पर्येषणा
परि इष् युच्—लघूपधगुण, इको यणचि,
पर्येषणा—णत्व, टाप्, सु।

(12) परीष्टिः
परि इष् क्तिन्—सवर्णदीर्घ, ष्टुना ष्टुः,
परीष्टिः—सु।

(1065) रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् *108* (3285)

रोगाख्यायां गम्यमानायां धातोर्बहुलं ण्वुल् प्रत्ययो भवति। क्तिन्नादीनामपवादः। आख्याग्रहणं रोगस्य चेत् प्रत्ययान्तेन संज्ञा भवति। बहुलग्रहणं व्यभिचारार्थम्। प्रच्छर्दिका। प्रवाहिका। विचर्चिका। न च भवति–शिरोर्त्तिः। *धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः* (म०भा०)। आशिका, शायिका वर्त्तते। *इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। भिदिः। छिदिः। पचतिः। पठतिः। *वर्णात्कारः* (म०भा०)। निर्देश इति प्रकृतम्। अकारः। इकारः। *रादिफः* (म०भा०)। रेफः। *मत्वर्थाच्छः* (म०भा०)। अकारलोपश्च। मत्वर्थीयः। *इणजादिभ्यः* (म०भा०)। आजिः। आतिः। आदिः। *इक् कृष्यादिभ्यः* (म०भा०)। कृषिः। किरिः।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अर्थ में धातु से ण्वुल् प्रत्यय बहुलता से होता है, रोगविशेष की संज्ञा में।

यह पूर्वोक्त क्तिन् आदि सभी प्रत्ययों का अपवाद है। 'बहुलम्' पद के द्वारा सभी विधियों का व्यभिचार प्राप्त होता है।

उदा० (1) प्रच्छर्दिका (= वमन)
प्र छर्द् णिच् ण्वुल्—णेरनिटि, टाप्, प्रत्ययस्थात् पूर्वस्या०,
प्रच्छर्दिका—छे च, स्तोः श्चुना श्चुः, सु।

(2) प्रवाहिका (पेचिश)
प्र वह् ण्वुल्—अत उपधायाः,
प्रवाहिका—पूर्ववत्।

(3) विचर्चिका (= दाद)
वि चर्च् ण्वुल्—पूर्ववत्।

(4) शिरोर्त्तिः
शिरस् ऋ क्तिन्—'बहुलम्' कहने से 'ण्वुल्' नहीं हुआ।

धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः—धातु के अर्थ का निर्देश करने में 'ण्वुल्' होता है—

(5) आशिका (= भोजन)
अश् ण्वुल् टाप्।

(6) शायिका (= शयन)
शी ण्वुल् टाप्।

इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे इति वक्तव्यम्—धातु का निर्देश करने में इक् व श्तिप् प्रत्यय होते हैं—

(7) भिदिः
भिद् इक् सु।

(8) छिदिः
छिद् इक्।

(9) पचतिः
पच् श्तिप्—शप् हुआ।

(10) पठतिः
पठ् श्तिप्—शप् हुआ।

वर्णात्कारः—वर्ण के अनुकरण में 'कार' प्रत्यय होता है—

(11) अकारः
अ कार—विभक्तिकार्य।

(12) इकारः
इ कार—पूर्ववत्।

रादिफः—वर्णनिर्देश के विषय में 'र' से 'इफ' प्रत्यय होता है—

(13) रेफः
र इफ—आद् गुणः।

मत्वर्थाच्छः—'मत्वर्थ' शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है।

(14) मत्वर्थीयः

मत्वर्थ छ—भसंज्ञा न होने से निपातन से 'अ' का लोप होता है;

मत्वर्थ ईय—ईयादेश।

इञजादिभ्यः—'अज्' आदि धातुओं से 'इञ्' प्रत्यय होता है—

(15) आजिः
अज् इञ्—अत उपधायाः।

(16) आतिः
अत् इञ्—पूर्ववत्।

(17) आदिः
अद् इञ्—पूर्ववत्।

इक् कृष्यादिभ्यः—'कृषि' आदि धातुओं से 'इक्' होता है—

(18) कृषिः
कृष् इक्—कृषिः।

(19) किरिः
कृ इक् → किर् इ—किरिः।

(1066) संज्ञायाम् *109* (3286)

संज्ञायां विषये धातोर्ण्वुल् प्रत्ययो भवति। उद्दालकपुष्पभञ्जिका। वरणपुष्पप्रवाहिका। अभ्यूषखादिका। आचोषखादिका। शालभञ्जिका। तालभञ्जिका।

अर्थ—कर्त्तृ भिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में, स्त्रीलिंग में तथा भाव अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) उद्दालकपुष्पभञ्जिका
ण्वुल्, टाप्।

(2) वरणपुष्पप्रवाहिका
अथवा वरणपुष्पप्रचायिका

(3) अभ्यूषखादिका (पूर्ववत्)।

(4) आचोषखादिका (पूर्ववत्)।

(5) शालभञ्जिका (पूर्ववत्)।

(6) तालभञ्जिका (पूर्ववत्)।

(1067) विभाषाख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् च *110* (3287)

पूर्वं परिप्रश्नः, पश्चादाख्यानम्। सूत्रेऽल्पाच्तरस्य पूर्वनिपातः। परिप्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धातोरिञ् प्रत्ययो भवति; चकाराद् ण्वुलपि। विभाषाग्रहणात् परोऽपि यः प्राप्नोति सोऽपि भवति। कां त्वं कारिमकार्षीः? कां कारिकामकार्षीः? कां क्रियामकार्षीः? कां कृत्यामकार्षीः? कां कृतिमकार्षीः? सर्वां कारिमकार्षम्। सर्वां कारिकामकार्षम्। सर्वां क्रियामकार्षम्। सर्वां कृत्यामकार्षम्। सर्वां कृतिमकार्षम्। कां गणिमजीगणः? कां गणिकामजीगणः? कां गणनामजीगणः? सर्वां गणिमजीगणम्। सर्वां गणिकाम्। सर्वां गणनाम्। एवम्–कां याजिम्, कां याजिकाम्, कां याचिम्, कां याचिकाम्, कां पाचिम्, कां पाचिकाम्; कां पचाम्, कां पक्तिम्, कां पाठिम्, कां पाठिकाम्, कां पठितिम् इति द्रष्टव्यम्। आख्यानपरिप्रश्नयोरिति किम्? कृतिः, हृतिः।

अर्थ—कर्त्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अर्थ में धातु से 'इञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है तथा ण्वुल् प्रत्यय भी होता है; उत्तर तथा परिप्रश्न गम्यमान रहते। पक्ष में यथाप्राप्त सभी प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) कारिः
कृ इञ्—अचो ञ्णिति,
कारिः—सु।

(2) कारिका
कृ ण्वुल्—ण्वुल्, अक आदेश, वृद्धि,
कारिका—टाप्, सु।

(3) क्रिया
कृ श—यक्, रिङ्।

(4) कृत्या
कृ क्यप्—तुक्।

(5) कृतिः
कृ क्तिन्—सु।

(6) गणिः
गण् इञ्।

(7) गणना
गण् युच्।

(8) गणिका
गण् ण्वुल् टाप्।

(9) याजिः
यज् इञ्।

(10) याज्ञिका
यज् ण्वुल् टाप्।

(11) याचिः
याच् इञ्।

(12) याचिका
याच् ण्वुल्।

(13) पचा
पच् अ टाप्।

(14) पाठिः
पठ् इञ्।

(15) पाठिका
पठ् ण्वुल् टाप्।

आख्यान अर्थात् **आख्यान** व **परिप्रश्न** अर्थ गम्यमान रहते पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

(16) कृतिः
यहाँ 'इञ्' नहीं हुआ। क्तिन् हुआ।

(17) हृतिः
इञ् नहीं हुआ। पूर्ववत् क्तिन्।

(1068) पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् *111* (3288)

पर्यायः परिपाटीक्रमः, अर्हणमर्हः, तद्योग्यता, ऋणं तद् यत्परस्य धार्यते, उत्पत्तिर्जन्म, इत्येतेष्वर्थेषु धातोर्ण्वुच् प्रत्ययो भवति। क्तिन्नादीनामपवादः। पर्याये तावत्— भवतः शायिका, भवतोऽग्रग्रासिका। अर्हे—अर्हति भवानिक्षुभक्षिकाम्। ऋणे—इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकाम्। उत्पत्तौ–इक्षुभक्षिका मे उदपादि, ओदनभोजिका, पयःपायिका। विभाषेत्येव–चिकीर्षोत्पद्यते। ण्वुलि प्रकृते प्रत्ययान्तरकरणं स्वरार्थम्।

अर्थ—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में पर्याय, अर्ह, ऋण तथा उत्पत्ति—इन अर्थों में धातु से 'ण्वुच्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में 'अप्रत्ययात्' से 'अ' होता है। यह क्तिन् आदि का अपवाद है।

पर्याय का अर्थ है—परिपाटी-क्रम। अर्ह का अर्थ है—अर्हण। ऋण उसे कहते हैं जो दूसरे का कुछ धारण किया जाय। उत्पत्ति का अर्थ है—जन्म।

उदा० (क) पर्याये—
(1) (भवतः) शायिका
शी ण्वुच्—वृद्धि, टाप्।

(2) (भवतोऽ)ग्रग्रासिका
अग्र ग्रस् ण्वुच् टाप्।

(ख) अर्हे—
(3) इक्षुभक्षिका—ण्वुच्।

(ग) ऋणे—
(4) इक्षुभक्षिका (पूर्ववत्)।
(5) ओदनभोजिका—ण्वुच् टाप्।
(6) पयःपायिका (पूर्ववत्)।

(घ) उत्पत्तौ—
(7) इक्षुभक्षिका (पूर्ववत्)।
(8) ओदनभोजिका
ण्वुच्, टाप्।
(9) पयःपायिका (पूर्ववत्)।
(10) चिकीर्षा
विभाषा कथन से पक्ष में 'अ' होता है।
ण्वुल् व ण्वुच् में स्वर का अन्तर है।

(1069) आक्रोशे नञ्यनिः *112* (3289)

विभाषेति निवृत्तम्। आक्रोशः शपनम्। आक्रोशे गम्यमाने नञ्युपपदे धातोरनिः प्रत्ययो भवति। क्तिन्नादीनामपवादः। अकरणिस्ते वृषल भूयात्। आक्रोश इति किम्? अकृतिस्तस्य कटस्य। नञीति किम्? मृतिस्ते वृषल भूयात्।

अर्थ—कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में, संज्ञा के विषय में तथा स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अर्थ में नञ्पूर्वक धातु से 'अनि' प्रत्यय होता है, आक्रोश अर्थ गम्यमान रहते। यह क्तिन् आदि का अपवाद है।

आक्रोश का अर्थ है—शाप।

उदा० (1) अकरणिस्ते वृषल भूयात्
नञ् कृ अनि—गुण, णत्व आदि,
अकरणिः—सु।

आक्रोशे अर्थात् **आक्रोश** अर्थ गम्यमान रहते धातु से 'अनि' होता है—

(2) अकृतिस्तस्य कटस्य

यहाँ आक्रोश अर्थ नहीं है। अतः धातु से 'अनि' नहीं हुआ।

नञि अर्थात् नञ् पूर्वक धातु से 'अनि' होता है—

(3) मृतिस्ते वृषल भूयात्

यहाँ आक्रोश अर्थ है; परन्तु धातु से पूर्व 'नञ्' नहीं है। अतः 'अनि' नहीं हुआ।

(1070) कृत्यल्युटो बहुलम् *113* (2841)

भावे अकर्त्तरि च कारक इति निवृत्तम्। कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया ल्युट् च बहुलमर्थेषु भवन्ति, यत्र विहितास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति। भावकर्मणोः कृत्या विहिताः कारकान्तरेऽपि भवन्ति-स्नानीयं चूर्णम्, दानीयो ब्राह्मणः। करणाधिकरणयोर्भावे च ल्युट्, अन्यत्रापि भवति-अपसेचनम्, अवस्रावणम्, राजभोजनाः शालयः, राजाच्छादनानि वासांसि, प्रस्कन्दनम्, प्रपतनम्। बहुलग्रहणादन्येऽपि कृतो यथाप्राप्तमभिधेयं व्यभिचरन्ति—पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः, गले चोप्यते गलेचोपकः।

अर्थ—कृत्यसंज्ञक प्रत्यय तथा ल्युट् प्रत्यय धातु से बहुलता से होते हैं अर्थात् अनेक अर्थों में होते हैं तथा जिस कारक में विहित हैं, उनसे भिन्न कारकों में भी होते हैं।

उदा० (1) स्नानीयं (चूर्णम्)

स्नात्यनेन—करण अर्थ में 'अनीयर्' हुआ, 'तयोरेव कृत्यक्त०' से भाव तथा कर्म में ही कृत्यसंज्ञक प्रत्यय प्राप्त था, बाहुलकात् करण अर्थ में हुआ,

स्ना अनीयर्—हलन्त्यम्, सु।

(2) दानीयो (ब्राह्मणः)

दीयतेऽस्मै—सम्प्रदान में 'अनीयर्' हुआ है।

(3) अपसेचनम्

अपसिच्यते तद्—'ल्युट् च' से ल्युट् भाव अर्थ में होता है तथा 'करणाधिकरणयोश्च' से करण व अधिकरण अर्थ में होता है, यहाँ बाहुलकात् कर्म में हुआ,

अप् सिच् ल्युट्—युवोरनाकौ, लघूपधगुण।

(3) अवस्रावणम्

अवस्राव्यते तद्—पूर्ववत् कर्म में ल्युट् हुआ,

अव स्रु णिच् ल्युट्—णिलोप, वृद्धि,

अवस्रावणम्—सु।

(4) राजभोजनाः

भुज्यन्ते इति—कर्म में ल्युट्।

(5) राजाच्छादनानि

आच्छाद्यते इति—पूर्ववत् कर्म में ल्युट्।

(6) प्रस्कन्दनम्

प्रस्कन्दत्यस्मात्—अपादान में ल्युट्।

(7) प्रपतनम्

पूर्ववत् ल्युट्।

बहुलग्रह०—बहुल पद के ग्रहण से अन्य कृत् प्रत्यय यथाप्राप्त विधि का व्यभिचार करते हैं।

(8) पादहारकः

पादाभ्यां ह्रियते।

(9) गलेचोपकः

गले चोप्यते।

(1071) नपुंसके भावे क्तः *114* (3090)

नपुंसकलिङ्गे भावे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति। हसितम्। सहितम्। जल्पितम्।

अर्थ—नपुँसकत्वविशिष्ट भाव अर्थ में धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है। 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा होती है।

भाव अर्थ में तीन प्रत्यय हुआ करते हैं—

(क) भावसामान्य में 'घञ्',

(ख) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन् व अङ् आदि,

(ग) नपुँसकत्वविशिष्ट भाव में क्त।

इससे ज्ञात होता है कि 'घञ्' प्रत्यय पारिशेष्यात् पुंस्त्वविशिष्ट भाव में अवकाश प्राप्त है।

निष्ठा प्रकरण में विहित 'क्त' भूतकालविशिष्ट भाव में होता है तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा कालसामान्य में 'क्त' का विधान है।

उदा० (1) हसितम्

हस् क्त—आर्धधातुक संज्ञा, वलादिक इट्,

हसितम्—सु।

(2) सहितम् (पूर्ववत्)।

(3) जल्पितम्

जल्प इट् क्त।

(1072) ल्युट् च *115* (3290)

नपुंसकलिङ्गे भावे धातोर्ल्युट् प्रत्ययो भवति। हसनं

छात्रस्य। शोभनम्। जल्पनम्। शयनम्। आसनम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—नपुँसकत्वविंशिष्ट भाव के अर्थ में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। लित्करण स्वर के लिए तथा टित्करण स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय के लिए है।

उदा० (1) हसनम्
हस ल्युट्—लशक्व०, हलन्त्यम्, युवोरना०।

(2) शोभनम्
शुभ् ल्युट्।

(3) जल्पनम्
जल्प् ल्युट्।

(4) शयनम्
शी ल्युट्—गुण।

(5) आसनम्
आस् ल्युट्—पूर्ववत्।

योगविभाग उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए है।

(1073) कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्त्तुः शरीरसुखम् *116* (3291)

येन कर्मणा संस्पृश्यमानस्य कर्त्तुः शरीरसुखमुत्पद्यते तस्मिन् कर्मण्युपपदे धातोर्नपुंसकलिङ्गे भावे ल्युट् प्रत्ययो भवति। पूर्वेणैव सिद्धे प्रत्यये नित्यसमासार्थं वचनम्, उपपदसमासो हि नित्यः समासः। पयःपानं सुखम्। ओदनभोजनं सुखम्। कर्मणीति किम्? तूलिकाया उत्थानं सुखम्। संस्पर्शादिति किम्? अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्। कर्त्तुरिति किम्? गुरोः स्नापनं सुखम्। स्नापयतेर्न गुरुः कर्त्ता, किं तर्हि? कर्म। शरीरग्रहणं किम्? पुत्त्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। सुखं मानसी प्रीतिः। सुखमिति किम्? कण्टकानां मर्दनं दुःखम्। सर्वत्रासमासः प्रत्युदाह्रियते।

अर्थ—जिस कर्म के संस्पर्श से कर्त्ता को शरीर का सुख अनुभव हो, ऐसे कर्म के उपपद रहते धातु से 'ल्युट्' होता है, नपुँसकत्वविशिष्ट भाव अर्थ में। पूर्व सूत्र के द्वारा 'ल्युट्' यहाँ सिद्ध था, परन्तु नित्य समास के लिए यह विधान किया जा रहा है। उपपद समासादि नित्य समास होता है।

उदा० (1) पयःपानं सुखम्
पयस् पा ल्युट्—'दुग्ध' के द्वारा कर्त्ता को शरीरसुख उत्पन्न होता है, अतः 'दुग्ध' के उपपद रहते 'पा' धातु से 'ल्युट्' हुआ,
पयस् पा अन—युवोरनाकौ,
पयःपानम्—सवर्णदीर्घ, सु।

(2) ओदनभोजनं सुखम्
भुज् ल्युट्—पूर्ववत्,
भोजनम्—लघूपधगुण, सु।

कर्मणि अर्थात् **पूर्वोक्त कर्म** के उपपद रहते धातु से 'ल्युट्' होता है—

(3) (तूलिकाया) उत्थानं सुखम्
यहाँ ल्युट् से समास नहीं हुआ।

संस्पर्शात् अर्थात् जिस कर्म के **संस्पर्श** से कर्त्ता को शरीर का सुख अनुभव हो, ऐसे कर्म के उपपद रहते धातु से 'ल्युट्' होता है—

(4) अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्
यहाँ पूर्ववत् ल्युट् का समास नहीं हुआ।

कर्त्तुः अर्थात् **कर्त्ता** को शरीरसुख अनुभव हो तो धातु से 'ल्युट्' होता है—

(5) गुरोः स्नापनं सुखम्
स्नापन क्रिया से कर्त्ता को शरीरसुख प्राप्त नहीं होता, अतः 'ल्युट्' का समास नहीं हुआ। स्नापन क्रिया का कर्त्ता गुरु नहीं है, अपितु कर्म है।

शरीरसुखम् अर्थात् जिससे कर्त्ता को **शरीर** का सुख अनुभव हो, उस धातु से 'ल्युट्' होता है—

(6) पुत्त्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्
यहाँ पुत्र का आलिंगन शरीरसुख के लिए नहीं, अपितु मानसिक सुख के लिए है, अतः ल्युट् का समास नहीं हुआ।

सुखम् अर्थात् **सुख होने पर** ही उक्त प्रत्यय होता है—

(7) कण्टकानां मर्दनं दुःखम्
यहाँ सुख नहीं है। अतः ल्युट् का समास नहीं हुआ।

(1074) करणाधिकरणयोश्च *117* (3293)

करणेऽधिकरणे च कारके धातोर्ल्युट् प्रत्ययो भवति। इध्मप्रव्रश्चनः। पलाशशातनः। अधिकरणे—गोदोहनी, सक्तुधानी।

अर्थ—करण तथा अधिकरण कारक के अर्थ में धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) इध्मप्रव्रश्चनः
प्रव्रश्च्यतेऽनेन—करण अर्थ में ल्युट्, समास हुआ।

(2) पलाशशातनः
पूर्ववत् ल्युट् व समास।

(3) गोदोहनी
दुह्यतेऽस्याम्—अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्', ङीप्।

(4) सक्तुधानी
धीयन्तेऽस्याम्—पूर्ववत्।

(1075) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण *118* (3296)

करणाधिकरणयोरित्येव। पुँल्लिङ्गयोः करणाधिकरणयोरभिधेययोर्धातोर्घः प्रत्ययो भवति, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते। प्रायग्रहणमकात्स्न्र्यार्थम्। दन्तच्छदः। उरश्छदः। पटः। अधिकरणे खल्वपि-एत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः, आलयः। पुंसीति किम्? प्रसाधनम्। संज्ञायामिति किम्? प्रहरणो दण्डः। घकारः 'छादेर्घः' (6.4.96) इति विशेषणार्थः।

अर्थ—करण व अधिकरण कारक के अर्थ में धातु से 'घ' प्रत्यय होता है, पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के गम्यमान रहते। 'प्रायेण' का फल यह है कि क्वचित् 'घ' होता है; क्वचित् नहीं होता।

उदा० (1) दन्तच्छदः
दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेन—करण अर्थ में 'घ' हुआ।
दन्त छद् णिच् घ—स्वार्थ में णिच्, णिच् का लोप, तुक्, छादेर्घेऽद्व्यु० से उपधाह्रस्व।

(2) उरश्छदः
उरस् छद् घ—करण अर्थ में 'घ' हुआ,
उरश्छदः—सु।

(3) घटः
घट् घ—घटः।

(4) आकरः
आकुर्वन्त्यत्र—अधिकरण अर्थ में,
आ कृ घ—गुण, सु।

(5) आलयः
आलीयतेऽस्मिन् → आ ली घ।

पुंसि अर्थात् पुंस्त्वविशिष्ट में ही 'घ' होता है—

(6) प्रसाधनम्
प्रसाध्यतेऽनेन → प्र साध् ल्युट्—'घ' नहीं हुआ,
प्रसाधनम्—ल्युट्, सु।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा गम्यमान रहते धातु से 'घ' प्रत्यय होता है—

(7) प्रहरणः दण्डः
यहाँ संज्ञा गम्यमान रहते 'घ' नहीं हुआ। ल्युट् हुआ।
घकार 'छादेर्घः' के लिए विशेषणार्थ है।

(1076) गोसचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च *119* (3298)

गोचरादयः शब्दा घप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते पूर्वस्मिन्नेवार्थे। 'हलश्च' (3.3.121) इति घञं वक्ष्यति, तस्यायमपवादः। गावश्चरन्त्यस्मिन्निति गोचरः। सञ्चरन्तेऽनेनेति-सञ्चरः। वहन्ति तेन-वहः। व्रजन्ति तेन-व्रजः। व्यजन्ति तेन-व्यजः। निपातनात् 'अजेर्व्यघञपोः' (2.4.56) इति वीभावो न भवति। एत्य तस्मिन्नापणन्त इत्यापणः। निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः-कषः, निकषः।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के विषय में तथा करण व अधिकरण कारकों के अर्थ में गोचर, सञ्चर, वह, व्रज, व्यज, आपण तथा निगम शब्द निपातनसिद्ध हैं। आगे 'हलश्च' के द्वारा 'घञ्' कहा जायेगा। उसका यह अपवाद है।

उदा० (1) गोचरः
गावश्चरन्त्यस्मिन्—अधिकरण कारक के अर्थ में निपातन से 'घ' प्रत्यय हुआ,
गो चर् घ—विभक्तिकार्य।

(2) सञ्चरः
सञ्चरन्तेऽनेन—करण अर्थ में निपातन से 'घ' हुआ,
सम् चर् घ—सु आदि।

(3) वहः
वहन्ति तेन—करण कारक के अर्थ में निपातन से 'घ' हुआ,
वह् घ—सु, लशक्व०।

(4) व्रजः
व्रजन्ति तेन—करण कारक के अर्थ में 'घ'।

(5) व्यजः
व्यजन्ति तेन—पूर्ववत्।

निपातना०—यहाँ 'घ' प्रत्यय तथा 'अजेर्व्यघञपोः' से प्राप्त 'वी' भाव का अभाव निपातन से होता है।

(6) आपणः
एत्य तस्मिन्नापणन्ते—अधिकरण अर्थ में 'घ'।

(7) निगमः
निर्गच्छन्ति तस्मिन्—पूर्ववत्।
चकार के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है। यथा—

(8) कषः
कष् घ।

(9) निकषः
नि कष् घ।

(1077) अवे तृस्त्रोर्घञ् *120* (3299)

अव उपपदे तरतेस्तृणातेश्च धातोः करणाधिकरणयोः संज्ञायां घञ् प्रत्ययो भवति। घस्यापवादः। अकारो वृद्ध्यर्थः, स्वरार्थश्च। घकार उत्तरत्र कुत्वार्थः। अवतारः। अवस्तारः। कथमवतारो नद्याः? न हीयं संज्ञा। प्रायानुवृत्तेरसंज्ञायामपि भवति।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा गम्यमान रहते करण तथा अधिकरण कारकों के अर्थ में 'अव' उपसर्ग उपपद रहते 'तॄ' तथा 'स्तृ' धातुओं से प्रायः 'घञ्' प्रत्यय होता है—

यह 'घ' प्रत्यय का अपवाद है। 'घञ्' में 'ञ्' अनुबन्ध वृद्धि आदेश के लिए तथा स्वर के लिए है। 'घ्' अनुबन्ध उत्तरवर्त्ती शास्त्र में कुत्व के लिए होता है।

उदा० (1) अवस्तारः
अवतरन्त्यनेन—करण अर्थ में 'घञ्' होता है,
अव तॄ घञ्—वृद्धि आदेश,
अवतारः—सु।

अवतरन्त्यस्मिन्—इस प्रकार अधिकरण अर्थ में भी 'घञ्' होता है।

(2) अवस्तारः
अवस्तीर्यन्तेऽनेन—करण अर्थ में 'घञ्' हुआ,
अव स्तृ घञ्—पूर्ववत् वृद्धि आदि।

(1078) हलश्च *121* (3300)

पुंसि संज्ञायाम्, करणाधिकरणयोश्चेति सर्वमनुवर्त्तते। हलन्ताद्धातोः करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्ययो भवति। घस्यापवादः। लेखः। वेदः। वेष्टः। बन्धः। मार्गः। अपामार्गः। वीमार्गः।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा गम्यमान होने पर करण व अधिकरण कारकों के अर्थ में हलन्त धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है। यह 'घ' का अपवाद है।

उदा० (1) लेखः
लिख्यतेऽनेन—करण कारक अर्थ में,
लिख् घञ्—लघूपधगुण।

(2) वेदः
विदन्ति धर्माधर्मौ अनेन—करण कारक में,
विद् घञ्—लघूपधगुण।

(3) वेषः
वेष् घञ्—सु।

(4) बन्धः
बध्यतेऽनेन—बन्ध् घञ्।

(5) मार्गः
मृज् घञ्—मृजेर्वृद्धिः,
मार्ग् अ—कुत्व।

(6) अपामार्गः
अप मृज् घञ्—'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये०' से उपसर्ग को दीर्घ।

(7) वीमार्गः (पूर्ववत्)।

(1079) अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च *122* (3301)

अध्यायादयः शब्दा घञन्ता निपात्यन्ते। पुंसि संज्ञायां घे प्राप्ते घञ् विधीयते। अहलन्तार्थ आरम्भः। अधीयतेऽस्मिन्नित्यध्यायः। नीयतेऽनेनेति न्यायः। उद्युवन्ति अस्मिन्नित्युद्यावः। संह्रियन्तेऽनेनेति संहारः। आध्रियतेऽस्मिन्नित्याधारः। आवयन्त्यस्मिन्नित्यावायः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः-अवहारः।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के गम्यमान रहते करण तथा अधिकरण कारक में अध्याय, न्याय, उद्याव, संहार, आधार तथा आवाय शब्द निपातनसिद्ध हैं।

पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा अर्थ में 'घ' प्राप्त होने पर 'घञ्' का विधान किया गया है।

उदा० (1) अध्यायः

अधीयतेऽस्मिन्—अधिकरण अर्थ में 'घञ्' हुआ,
अधि इ घञ्—वृद्धि, यणादेश,
अध्यायः—विभक्तिकार्य।

(2) न्यायः
नीयतेऽनेन—करण कारक में पूर्ववत्,
नि इ घञ्—वृद्धि।

(3) उद्यावः
उद्युवन्त्यस्मिन्—अधिकरण अर्थ में,
उद् यु घञ्—वृद्धि।

(4) संहारः
संह्रियन्तेऽनेन—करण अर्थ में,
सम् हृ घञ्—वृद्धि, अनुस्वार।

(5) आधारः
आध्रियन्तेऽस्मिन्—अधिकरण में,
आ धृ घञ्—वृद्धि।

(6) आवायः
अवयन्त्यस्मिन्—अधिकरण में,
अव इ घञ्—वृद्धि।

चकारः—चकार के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है।

(7) अवहारः
अव हृ घञ्—वृद्धि।

(1080) उदङ्कोऽनुदके *123* (3302)

उदङ्क इति निपात्यते, अनुदकविषयश्चेद्धात्वर्थो भवति। उत्पूर्वादञ्चतेर्घञ् निपात्यते। ननु च 'हलश्च' (3.3.121) इति सिद्ध एव घञ्? उदके प्रतिषेधार्थमिदं वचनम्-तैलोदङ्कः। अनुदके इति किम्? उदकोदञ्चनः। घः कस्मान्न प्रत्युदाह्रियते? विशेषाभावात्। घञ्यपि थाथादिस्वरेणान्तोदात्त एव।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा गम्यमान रहते करण तथा अधिकरण कारकों में 'उदङ्क' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'उदक' शब्द का विषय न हो तो।

उदा० (1) उदङ्कः
उदच्यतेऽस्मिन् → उद् अञ्च् घञ्—निपातन से,
उद् अन् क् अ—चोः कुः, निमित्त के हट जाने पर नैमित्तिक भी पूर्वावस्था (न्) को प्राप्त,
उदङ्कः—अनुस्वार, परसवर्ण।

यद्यपि 'हलश्च' के द्वारा 'घञ्' प्रत्यय यहाँ सिद्ध ही था, तदपि 'उदक' शब्द का विषय होने पर 'घञ्' के निषेध के लिए यह विधान किया गया है।

(2) तैलोदङ्कः (पूर्ववत्)।

अनुदके अर्थात् 'उदक' विषय को छोड़कर 'उदङ्क' का निपातन किया जाता है—

(3) उदञ्चनः (उदकः)
'उदक' विषय होने से 'घञ्' नहीं हुआ, 'ल्युट्' हुआ।

घः कस्मा—प्रत्युदाहरण की दशा में 'घ' नहीं होता है। क्योंकि कारण का अभाव है। घञ् में भी थाथादिस्वर के द्वारा अन्तोदात्त ही होता है।

(1081) जालमानायः *124* (3303)

आनाय इति निपात्यते जालं चेत्तद्भवति। आङ्पूर्वान्नयतेः करणे घञ् निपात्यते। आनायो मत्स्यानाम्। आनायो मृगाणाम्।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के विषय में व करण कारक में 'आनाय' शब्द निपातनसिद्ध है, यदि 'जाल' अर्थ गम्यमान हो।

(1) आनायः
आनयन्त्यनेन—करण अर्थ में 'घञ्' का निपातन,
आ नी घञ्—वृद्धि,
आनायः—सु।

जालम् अर्थात् 'जाल' अर्थ गम्यमान रहते 'आनाय' शब्द का निपातन किया जाता है—

(2) आनयः
आ नी—यहाँ 'घञ्' नहीं हुआ।

(1082) खनो घ च *125* (3304)

खनतेर्धातोः करणाधिकरणयोर्घः प्रत्ययो भवति, चकाराद् घञ् च। आखनः। आखानः। *डो वक्तव्यः* (म० भा०)। आखः। *डरो वक्तव्यः*। आखरः। *इको वक्तव्यः*। आखनिकः। *इकवको वक्तव्यः*। आखनिकवकः।

अर्थ—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के विषय में करण तथा अधिकरण कारक के अर्थ में 'खन्' धातु से 'घ' प्रत्यय होता है तथा 'घञ्' प्रत्यय भी होता है।

दोनों में 'ञ्' अनुबन्ध का अन्तर है।

उदा० (1) आखनः
आखनन्त्यनेन—करण अर्थ में 'घ' हुआ,
आ खन् घ—विभक्तिकार्य।

(2) आखानः
आ खन् घञ्—'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,
आखानः—सु।

डो वक्तव्यः—'खन्' धातु से 'ड' प्रत्यय होता है—

(3) आखः
आ खन् ड—डित् होने से टिलोप,
आ ख् अ—विभक्तिकार्य।

डरो वक्तव्यः—'खन्' धातु से 'डर' प्रत्यय होता है—

(4) आखरः
आ खन् डर—पूर्ववत् टिलोप,
आ ख् अर—विभक्तिकार्य।

इको वक्तव्यः—'खन्' धातु से 'इक' प्रत्यय होता है—

(5) आखनिकः
आ खन् इक सु—विभक्तिकार्य।

इकवको वक्तव्यः—'खन्' धातु से 'इकवक' प्रत्यय होता है—

(6) आखनिकवकः
आ खन् इकवक सु—पूर्ववत्।

(1083) ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् *126* (3305)

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। ईषत्, दुर्, सु– इत्येतेषूपपदेषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु धातोः खल् प्रत्ययो भवति। कृच्छ्रं दुःखम्, तद् दुरो विशेषणम्। अकृच्छ्रं सुखम्, तदितरयोर्विशेषणम्, सम्भवात्। ईषत्करो भवता कटः। दुष्करः। सुकरः। ईषद्भोजः। दुर्भोजः। सुभोजः। ईषदादिष्विति किम्? कृच्छ्रेण कार्यः कटः। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेष्विति किम्? ईषत्कार्यः। लकारः स्वरार्थः। खित्करणमुत्तरत्र मुमर्थम्।

अर्थ—दुःखवाची 'दुस्' तथा सुखवाची 'ईषत्' या 'सु'—इन उपपदों के रहते धातु से 'खल्' प्रत्यय होता है।

'खल्' के लकार की 'हलन्त्यम्' से तथा खकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होती है। 'ख' अनुबन्ध 'मुम्' आगम के लिए तथा 'ल्' अनुबन्ध स्वर के लिए है। 'कृदतिङ्' से 'खल्' की कृत् संज्ञा है, परन्तु 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से यह प्रत्यय भाव तथा कर्म अर्थ में होता है। सार यह है कि सकर्मक धातु से कर्म में तथा अकर्मक धातु से भाव में होता है।

उदा० (1) ईषत्करो भवता कटः
सुखेन क्रियते—सुखवाची 'ईषत्' उपपद रहते धातु से 'खल्',
ईषत्करः—अनुबन्धलोप, आर्धधातुक गुण।

(2) दुष्करः
दुःखेन क्रियते—दुःखवाची 'दुस्' के उपपद रहते धातु से 'खल्',
दुष्करः—आर्धधातुक गुण, इदुदुपधस्य० से षत्व।

(3) सुकरः
सुखेन क्रियते—पूर्ववत्।

कृद्योग में 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' से कर्त्ता में षष्ठी प्राप्त हुई। 'न लोकाव्ययनिष्ठा०' से निषेध हुआ। अनुक्त होने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया हुई।

(4) ईषद्भोजः
पूर्ववत् 'भुज्' से 'खल्' तथा लघूपधगुण।

(5) दुर्भोजः (पूर्ववत्)।

(6) सुभोजः (पूर्ववत्)।

ईषदादिषु अर्थात् ईषत् आदि उपपदों के रहते ही धातु से 'खल्' होता है—

(7) कृच्छ्रेण कार्यः कटः
यहाँ कृच्छ्र अर्थ है, परन्तु ईषद् आदि कोई उपपद नहीं है, अतः 'खल्' नहीं हुआ।

कृच्छ्राकृच्छ्र० अर्थात् दुःखवाची तथा सुखवाची ईषत् आदि के उपपद रहते 'खल्' होता है—

(8) ईषत्कार्यः
यहाँ 'ईषत्' उपपद है, परन्तु यह दुःखवाची या सुखवाची नहीं है। अतः 'खल्' नहीं हुआ।

विशेष—'उपसर्गात् खलघञोः' (7.1.67) तथा 'न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्' (7.1.68)—इन दो सूत्रों से ज्ञापित होता है कि

ईषत् आदि के उपपद रहते उपसर्गयुक्त धातु से भी 'खल्' हो जाता है। यथा—

दुष्प्रधर्षा (द्र०—रघु० 2.50)।
दुष्प्राय: (द्र०—गी० 6.36)।

(1084) कर्त्तृकर्मणोश्च भूकृञोः *127* (3308)

भवतेः करोतेश्च धातोर्यथासंख्यं कर्त्तरि कर्मणि चोपपदे चकारादीषदादिषु च खल् प्रत्ययो भवति। ईषदाढ्यम्भवं भवता। दुराढ्यम्भवम्। ईषदाढ्यङ्करः। स्वाढ्यङ्करो देवदत्तो भवता। *कर्त्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्–स्वाढ्येन भूयते।

अर्थ—कर्त्ता तथा कर्म उपपद रहते यथासंख्यक भू तथा कृ धातुओं से 'खल्' प्रत्यय होता है तथा सुखवाची 'ईषत्' व 'सु' और दुःखवाची 'दुस्' उपपदों के रहते भी भू तथा कृ धातुओं से 'खल्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) ईषदाढ्यम्भवं भवता
ईषद् आढ्य भू खल्—'अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम्' इस दशा में भाव में 'खल्' हुआ,
ईषद् आढ्य मुम् भो अ—अनुबन्धलोप, अरुर्द्विषदजन्तस्य० से मुम् आगम, आर्धधातुक गुण,
ईषदाढ्यम्भवम्—सु।

(2) दुराढ्यम्भवम्
अनाढ्येन भवता दुराढ्येन शक्यं भवितुम्—इस दशा में दुःखवाची 'दुस्' उपपद रहते भाव में 'खल्' हुआ,
दुर् आढ्य म् भू खल्—पूर्ववत्।

(3) स्वाढ्यङ्करो देवदत्तो भवता
कर्म में 'खल्' हुआ है।

(4) *स्वाढ्यम्भवं भवता
भाव में 'खल्' हुआ।

(5) *ईषदाढ्यङ्करः
कर्म में 'खल्' हुआ।

(6) *दुराढ्यङ्करो देवदत्तो भवता
कर्म में 'खल्' हुआ।

कर्त्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोरिति वक्तव्यम्—प्रकृत सूत्र के द्वारा च्वि अर्थ वाले कर्त्ता व कर्म उपपद रहते यथासंख्य करके भू तथा कृ धातुओं से 'खल्' होता है। अत: निम्नलिखित में नहीं होता—

स्वाढ्येन भूयते।

(1085) आतो युच् *128* (3309)

ईषदादयोऽनुवर्त्तन्ते। कर्त्तृकर्मणोरिति न स्वर्यते। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ईषदादिषूपपदेषु आकारान्तेभ्यो धातुभ्यो युच् प्रत्ययो भवति। खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः। ईषद्दानो गौर्भवता। दुर्दानः। सुदानः।

अर्थ—ईषद् आदि का अनुवर्त्तन है। सुखवाची व दुःखवाची ईषद्, सु व दुस् उपपद रहते आकारान्त धातु से 'युच्' प्रत्यय होता है। चकार की इत्संज्ञा होती है। खलर्थक होने से 'युच्' प्रत्यय कर्म तथा भाव में होता है। यह खल् का अपवाद है।

उदा० (1) ईषत्पानः सोमो भवता
ईषत् पा युच्—युवोरनाकौ,
ईषत्पानः—सु।

(2) दुष्पानः
दुस् पा युच्—पूर्ववत्,
दुष्पानः—सु।

(3) सुपानः
सु पा युच्।

(4) ईषद्दानो गौर्भवता
ईषत् दा युच्।

(5) दुर्दानः
दुस् दा युच्।

(6) सुदानः
सु दा युच्।

(1086) छन्दसि गत्यर्थेभ्यः *129* (3421)

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति। खलोऽपवादः। सूंपसदुनोऽग्निः (तै०सं० 7.5.20.1)। सूपसदनमन्तरिक्षम्।

अर्थ—मन्त्रसंहितओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों के विषय में सुखवाची तथा दुःखवाची ईषत्, सु तथा दुस् उपपदों के रहते गतिवाची धातु से 'युच्' प्रत्यय होता है। यह खल् प्रत्यय का अपवाद है।

* यह प्रयोग काशिका में दिखाया नहीं गया है।

उदा० (1) सूपसदनः
सूप सद् युच्—पूर्ववत्।

(2) सूपसदनम्
पूर्ववत् 'युच्'।

(1087) अन्येभ्योऽपि दृश्यते *130* (3422)

अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो गत्यर्थेभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो दृश्यते। सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् (नि० 11.43)। सुवेदुनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् (ऋ० 10.112.8)। *भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज् वक्तव्यः* (म०भा०)। दुःशासनः। दुर्योधनः। दुर्दर्शनः। दुर्द्धर्षणः। दुर्मर्षणः।

अर्थ—वेद के विषय में सुखवाची तथा दुःखवाची ईषत्, सु तथा दुस् उपपदों के रहते गत्यर्थक से अतिरिक्त धातुओं से भी 'युच्' प्रत्यय देखा जाता है।

(1) सुदोहनाम्
सु दुह् युच्—आकारान्त न होने पर भी 'युच्' हुआ,
सुदोहन टाप् अम्—गुण, टाप् आदि।

(2) सुवेदनाम्
सु विद् युच्—पूर्ववत्।

भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज् वक्तव्यः—लौकिक प्रयोग में शास, युध, दृश, धृष् तथा मृष् धातुओं से युच् प्रत्यय होता है।

(3) दुःशासनः
दुस् शास् युच्—पूर्ववत्। दुःखेन शास्यते।

(4) दुर्योधनः
दुःखेन युध्यते।

(5) दुर्दर्शनः
दुःखेन दृश्यते।

(6) दुर्द्धर्षणः
दुःखेन धृष्यते—युच्, आर्धधातुक गुण,
दुस् धर्ष् युच्—रुत्व, धकार को द्वित्व,
दुर्द्धर्षणः—झलां जश् झशि, णत्व, सु।

(7) दुर्मर्षणः
दुस् मृष् युच्।

(1088) वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा *131* (2789)

समीपमेव सामीप्यम्। ष्यञः स्वार्थिकत्वं ज्ञाप्यते चातुर्व-र्ण्यादिसिद्ध्यर्थम्। वर्त्तमानसमीपे भूते भविष्यति च वर्त्तमानाद् धातोर्वर्त्तमानवत् प्रत्यया वा भवन्ति। 'वर्त्तमाने लट्' (3.3.123) इत्यारभ्य 'उणादयो बहुलम्' (3.3.1) इति यावद् वर्त्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते भूतभविष्यतो-र्विधीयन्ते। कदा देवदत्त आगतोऽसि? अयमागच्छामि। आगच्छन्तमेव मां विद्धि। अयमागमम्। एषोऽस्म्यागतः। कदा देवदत्त गमिष्यसि? एष गच्छामि। गच्छन्तमेव मां विद्धि। एष गमिष्यामि। गन्तास्मि। वत्करणं सर्वसादृश्यार्थम्। येन विशेषणेन वर्त्तमाने प्रत्यया विहिताः प्रकृत्युपपदोपाधिना तथैवात्र भवन्ति। पवमानः। यजमानः। अलङ्करिष्णुः। सामीप्यग्रहणं किम्? विप्रकर्ष-विवक्षायां मा भूत्–परुदगच्छत्पाटलिपुत्रम्? वर्षेण गमिष्यति। यो मन्यते गच्छामीति पदं वर्त्तमाने काल एव वर्त्तते, कालान्तरावगतिस्तु वाक्याद्भवति, न च वाक्यगम्यः कालः पदसंस्कारवेलायामुपयुज्यत इति; तादृशं वाक्यार्थ-प्रतिपत्तारं प्रति प्रकरणमिदं नारभ्यते। तथाच–श्वः करिष्यति, वर्षेण गमिष्यतीति सर्वमुपपद्यते।

अर्थ—वर्त्तमान काल में जो प्रत्यय जिस काल में विहित है, वह प्रत्यय वर्त्तमान के समीपवर्त्ती भूत व भविष्यत् काल में विकल्प से होता है। यहाँ 'वर्त्तमाने लट्' से लेकर 'उणादयो बहुलम्' पर्यन्त विहित प्रत्ययों का ग्रहण इष्ट है।

उदा० (1) कदा देवदत्त, आगतोऽसि?
अयमागच्छामि।

यहाँ प्रश्न भूतकाल में है तथा उत्तर वर्त्तमान काल में दिया जा रहा है। भूत वर्त्तमान काल के अत्यधिक समीप है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'वर्त्तमाने लट्' से लट् हुआ।

(2) अयमागमम्
पक्ष में भूतकाल का प्रत्यय हुआ।

(3) कदा देवदत्त, गमिष्यसि?
एष गच्छामि।

यहाँ प्रश्न भविष्यत् काल में है तथा उत्तर वर्त्तमान काल में दिया जा रहा है। भविष्यत् वर्त्तमान काल के अत्यधिक समीप है, अतः लट् प्रत्यय हुआ।

(4) एष गमिष्यामि
पक्ष में भविष्यत् काल का प्रत्यय हुआ।

वत्कर०—'वर्त्तमानवत्' में 'वत्' प्रत्यय का योग सभी के सादृश्य के लिए है। 'वर्त्तमानवत्' पद का अर्थ यह है कि वर्त्तमान काल की तरह उक्त स्थिति में प्रत्यय होते हैं। यदि इस पद में 'वत्' का योग न होता तो इसका अर्थ होता है कि उक्त स्थिति में वर्त्तमानकालिक प्रत्यय होते हैं। इस अर्थ में महान् दोष उपस्थित होता है कि शास्त्र में वर्त्तमान काल में विहित सभी प्रत्यय सभी धातुओं से हो जायेंगे। यथा—

'पूङ्यजोः शानन्' से होने वाला वर्त्तमानकालिक शानन् प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होने लगता। इसी दोष के निवारणार्थ 'वर्त्तमानवद्' में 'वत्' का प्रयोग किया गया है। वर्त्तमानवत् अर्थात् 'वर्त्तमानकाल की तरह प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ करने पर पूङ् तथा यज् धातु से ही आसन्न भूत व आसन्न भविष्यत् काल में शानन् होगा, अन्य धातुओं से नहीं होगा।

(5) पवमानः
'पूङ्यजोः' से 'शानन्' हुआ।

(6) यजमानः (पूर्ववत्)।

(7) अलङ्करिष्णुः

सामीप्य अर्थात् **समीपवर्त्ती** भूत व भविष्यत् काल में पूर्वोक्त प्रत्यय होता है; दूरवर्त्ती की विवक्षा में पूर्वोक्त प्रत्यय नहीं होता है। इसीलिये परुदगच्छत्—यहाँ नहीं हुआ। वर्षेण गमिष्यति—यहाँ भी नहीं हुआ। जो यह मानता है—'गच्छामि' यह पद वर्त्तमान अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अन्य (अर्थात् समीपवर्त्ती) काल का ज्ञान वाक्य से ही हो जाता है तथ जिसका ज्ञान वाक्य से होता है, वह काल पदसंस्कारवेला में उपयुक्त नहीं हो पाता है—इस प्रकार के वाक्यार्थ के ज्ञाता के लिए इस प्रकरण का प्रारम्भ नहीं किया जा रहा है।

तथा च—श्वः करिष्यति तथा वर्षेण गमिष्यति—ये सभी प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

(1089) आशंसायां भूतवच्च *132* (2790)

वेत्येव। वर्त्तमानसामीप्य इति नानुवर्त्तते। आशंसनमाशंसा, अप्राप्तस्य प्रियार्थस्य प्राप्तुमिच्छा। तस्याश्च भविष्यत्कालो विषयः। तत्र भविष्यति काले आशंसायां गम्यमानायां धातोर्वा भूतवत्प्रत्यया भवन्ति, चकाराद्वर्त्तमानवच्च। उपाध्यायश्चेदागमत्, आगतः, आगच्छति, आगमिष्यति, एते व्याकरणमध्यगीष्महि, एते व्याकरणमधीतवन्तः, अधीमहे, अध्येष्यामहे। सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशाल्लङ्लिटौ न भवतः। आशंसायामिति किम्? आगमिष्यति।

अर्थ—'वा' का अनुवर्त्तन है। अप्राप्त प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा को 'आशंसा' कहते हैं। उसका यह भविष्यत् काल विषय है। आशंसा अर्थ गम्यमान रहते धातु से भूतकाल के समान तथा वर्त्तमान की तरह विकल्प से प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) उपाध्यायश्चेदागमत्
यहाँ भविष्यत् काल के प्रत्यय प्राप्त थे, परन्तु भूतकाल के समान प्रत्यय हुआ।

(2) उपाध्यायश्चेदागच्छति
पक्ष में वर्त्तमान काल के समान प्रत्यय हुआ।

(3) उपाध्यायश्चेदागमिष्यति
पक्ष में भविष्यत् काल के समान प्रत्यय हुआ।

सामान्य का अतिदेश होने पर विशेष का अतिदेश न होने से लङ् व लिट् नहीं होते हैं।

आशंसायाम् अर्थात् **आशंसा** अर्थ में ही वर्त्तमान काल के समान व भूतकाल के समान प्रत्यय होते हैं—

(4) आगमिष्यति
यहाँ नहीं हुआ।

(1090) क्षिप्रवचने लृट् *133* (2791)

आशंसायामित्येव। क्षिप्रवचन उपपदे आशंसायां गम्यमानायां धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति। भूतवच्चेत्यस्यायमपवादः। उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रमागमिष्यति, क्षिप्रं व्याकरणमध्येष्यामहे। वचनग्रहणं पर्यायार्थम्। क्षिप्रम्, शीघ्रम्, आशु, त्वरितम् अध्येष्यामहे। नेति वक्तव्ये लृड्ग्रहणं लुटोऽपि विषये यथा स्यात्-श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे।

अर्थ—'आशंसायाम्' का अनुवर्त्तन है। आशंसा अर्थ गम्यमान रहते शीघ्रवाची शब्द के उपपद रहते धातु से लृट् प्रत्यय होता है। 'भूतवत्' इसका यह अपवाद है।

उदा० (1) उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रमागमिष्यति
क्षिप्र उपपद है, अतः लृट् प्रत्यय हो गया।

वचनग्रहणं०—पर्याय शब्दों का ग्रहण कराने के लिए 'वचन' शब्द का ग्रहण किया गया है। यथा—

शीघ्रम् आगमिष्यति, आशु आगमिष्यति, त्वरितम् आगमिष्यति। 'न' ऐसा कह कर पूर्वसूत्र से प्राप्त का निषेध सम्भव रहने पर भी लृट् का ग्रहण इसलिए किया गया है कि लुट् के विषय में भी लृट् ही हो। यथा—

श्वः क्षिप्रम् अध्येष्यामहे।

यहाँ अनद्यतन भविष्यत् है। लुट् प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र से लृट् हुआ।

(1091) आशंसावचने लिङ् *134* (2792)

आशंसा येनोच्यते तदाशंसावचनम्, तस्मिन्नुपपदे धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। भूतवच्चेत्यस्यायमपवादः। उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय, आशंसेऽवकल्पये युक्तोऽधीयीय, आशंसे क्षिप्रमधीयीय।

अर्थ—जिसके द्वारा आशंसा का कथन होता है, उसे आशंसावचन कहते हैं। आशंसावचन के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। यह 'भूतवत्' इसका अपवाद है। आशंसा अर्थ में भविष्यत् काल प्राप्त था।

उदा० उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय
यहाँ लिङ् प्रत्यय हुआ।

(1092) नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्ध-सामीप्ययोः *135* (2793)

भूतानद्यतने भविष्यदनद्यतने च लङ्लुटौ विहितौ, तयोरयं प्रतिषेधः। अनद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्न भवति, क्रियाप्रबन्धे सामीप्ये च गम्यमाने। क्रियाणां प्रबन्धः सातत्येनानुष्ठानम्। कालानां सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम्। यावज्जीवं भृशमन्नमदात्, भृशमन्नं दास्यति। यावज्जीवं पुत्रोऽध्यापिपत्, यावज्जीवमध्यापयिष्यति। सामीप्ये खल्वपि–येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यामुपाध्यायोऽग्नीनाधित, सोमेनायष्ट, गामदित। येयममावास्याऽऽगामिनी एतस्यामुपाध्यायोऽग्नीनाधास्यते, सोमेन यक्ष्यते, स गां दास्यते। द्वौ प्रतिषेधौ यथाप्राप्तस्याभ्यनुज्ञापनाय।

अर्थ—क्रियाप्रबन्ध तथा सामीप्य के वाच्य होने पर धातु से अनद्यतन की तरह प्रत्ययविधि नहीं होती है।

भूत अनद्यतन तथा भविष्यत् अनद्यतन में लङ् व लुट् का विधान है, उनका यह निषेध है। निरन्तर क्रिया के अनुष्ठान को क्रियाप्रबन्ध कहते हैं। 'सामीप्य' का अर्थ है—तुल्यजातीय काल का व्यवधान न होना।

उदा० (क) क्रियाप्रबन्धे—

(1) यावज्जीवं भृशमन्नमदात्
यहाँ अनद्यतन का निषेध होने से अद्यतन (लुङ्) प्रत्यय होकर रूप बना।

(2) यावज्जीवं भृशमन्नं दास्यति
पूर्ववत् लृट् हुआ।

(3) यावज्जीवं पुत्रोऽध्यापिपत् (पूर्ववत्)।

(4) यावज्जीवम् अध्यापयिष्यति
लृट् हुआ।

(ख) सामीप्ये—

(5) येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यामुपाध्यायः अग्नीन् आधित, सोमेनाऽयष्ट, गामदित
सर्वत्र लुङ् हुआ।

(6) येयं पौणर्समासी अतिक्रान्ता एतस्यामुपाध्यायोऽग्नीनाधास्यते, सोमेन यक्ष्यते, स गां दास्यते
यहाँ लृट् हुआ।

उपर्युक्त दोनों निषेध यथाप्राप्त के अभ्यनुज्ञापन के लिए है।

(1093) भविष्यति मर्यादावचने-ऽवरस्मिन् *136* (2794)

नानद्यतनवदिति वर्त्तते। अक्रियाप्रबन्धार्थमसामीप्यार्थं च वचनम्। भविष्यति काले मर्यादावचने सत्यवरस्मिन् प्रविभागेऽनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति। योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे, तत्र सक्तून् पास्यामः। भविष्यतीति किम्? योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि, तत्र द्विरोदनम् अभुञ्ज्महि, तत्र सक्तूनपिबाम। मर्यादावचन इति किम्? योऽयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे, सक्तून् पातास्मः। अवरस्मिन्निति किम्? योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे, तत्र सक्तून् पातास्मः। इह सूत्रे देशकृता मर्यादा, उत्तरत्र कालकृता। तत्र च विशेषं वक्ष्यति।

अर्थ—'अनद्यतन' का अनुवर्त्तन नहीं है। क्रियाप्रबन्ध व सामीप्य से अतिरिक्त स्थलों के लिए विधान है।

इधर के भाग को लेकर मर्यादा गम्यमान रहते भविष्यत् काल में धातु से अनद्यतन विधि नहीं होती है।

उदा० (1) योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे = जो यह मार्ग पाटलिपुत्र तक गन्तव्य है, उसका जो कौशाम्बी से इधर का भाग है, उसमें दो बार भात खाएँगे—यहाँ पूर्वोक्त मर्यादावचन है, अतः अनद्यतन का निषेध होने से लृट् हुआ।

मर्यादावचने अर्थात् मर्यादा गम्यमान रहते भविष्यत् काल में धातु से अद्यतन विधि होती है—

(2) योऽयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे

यहाँ मार्यादावचन न होने से लृट् नहीं हुआ, लुट् हुआ।

भविष्यति अर्थात् **भविष्यत्** काल में धातु से अनद्यतन विधि नहीं होती है, मर्यादावचन के अर्थ में—

(3) योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि, तत्र द्विरोदनम् अभुञ्ज्महि

यहाँ मर्यादावचन तो है, परन्तु भविष्यत् काल न होने से अनद्यतन विधि नहीं हुई।

अवरस्मिन् अर्थात् **इधर के भाग को लेकर** मर्यादा गम्यमान रहते धातु से अनद्यतन विधि नहीं होती है—

(4) योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे

यहाँ अनद्यतन विधि नहीं हुई।

इस सूत्र में देशकृत मर्यादा है तथा पश्चात् कालकृत मर्यादा है। अब विशेष कहा जायेगा।

(1094) कालविभागे चानहोरात्राणाम् *137* (2795)

भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्निति वर्त्तते। कालमर्यादाविभागे सत्यवरस्मिन् प्रविभागे भविष्यति कालेऽनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति, न चेदहोरात्रसम्बन्धी विभागः, तैस्तेषां च विभागे प्रतिषेधः। पूर्वेणैव सिद्धे वचनमिदमहोरात्रनिषेधार्थम्। योगविभाग उत्तरार्थः। योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे, तत्रौदनं भोक्ष्यामहे। भविष्यतीत्येव-योऽयं वत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि, तत्रौदनमभुञ्ज्महि। मर्यादावचन इत्येव—योऽयं निरवधिकः काल आगामी, तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्रौदनं भोक्तास्महे। अवरस्मिन्नित्येव। परस्मिन् विभाषां (3.3.138) वक्ष्यति। अनहोरात्राणामिति किम्? त्रिविधमुदाहरणम्-योऽयं मास आगामी, तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः, योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी, तस्य योऽवरोऽर्द्धमासः, योऽयं त्रिंशदहोरात्र आगामी, तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्र सक्तून् पातास्मः। सर्वथाऽहोरात्रस्पर्शे प्रतिषेधः।

अर्थ—भविष्यति, मर्यादावचने तथा अवरस्मिन्—इन पदों का अनुवर्तन है। काल को मानकर की जाने वाली मार्यादा के विभाग में इधर का भाग गम्यमान रहते भविष्यत् काल में अनद्यतन के समान विधि नहीं होती है, यदि वह विभाग अहोरात्र के सम्बन्ध में निषेध के लिए विधान किया गया है।

उत्तरवर्ती शास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

उदा० (1) योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे, तत्रौदनं भोक्ष्यामहे = जो यह अगला वर्ष है, उसका जो अगहन पौर्णमासी से इधर का भाग है, उसमें मन लगा कर पढेंगे, तब भात खाएँगे—

यहाँ भविष्यत् काल है, काल को मानकर मर्यादा की गई है तथा वह विभाग अहोरात्र से सम्बद्ध नहीं है, अतः अनद्यतन विधि नहीं हुई।

भविष्य० अर्थात् **भविष्यत्** काल में पूर्वोक्त अनद्यतन विधि का निषेध होता है—

(2) योऽयं वत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि, तत्रौदनमभुञ्ज्महि—

यहाँ भविष्यत् काल नहीं है, शेष शर्तें पूरी हैं, अतः अनद्यतन विधि नहीं हुई।

मर्यादावचने अर्थात् **मर्यादावचन** गम्यमान रहते अनद्यतन विधि नहीं होती है—

(3) योऽयं निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्रौदनं भोक्तास्महे—

यहाँ मर्यादावचन नहीं है, शेष सभी शर्तें पूरी हैं, अतः अनद्यतन विधि नहीं हुई।

अवरस्मिन् अर्थात् **इधर का भाग** गम्यमान रहते धातु से

अनद्यतन विधि नहीं होती है तब परला भाग गम्यमान रहते विकल्प से अनद्यतन विधि का निषेध होता है।

अनहोरात्राणा अर्थात् अहोरात्र से सम्बद्ध न हो तो अनद्यतनविधि नहीं होती है—

(4) योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः तत्र युक्ता अध्येतास्महे (लुट्)।

(5) योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्द्धमासः तत्र युक्ता अध्येतास्महे (लुट्)।

(6) योऽयं त्रिंशदहोरात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रः तत्र युक्ता अध्येतास्महे (लुट्)।

यहाँ उपर्युक्त तीनों प्रत्युदाहरणों (नं० 4.5.6) में अहोरात्र का सम्बन्ध होने से अनद्यतन विधि का निषेध नहीं हुआ।

(1095) परस्मिन् विभाषा *138* (2796)

भविष्यति मर्यादावचने, कालविभागे चानहोरात्राणामिति सर्वमनुवर्त्तते। कालमर्यादाविभागे सति भविष्यति काले परस्मिन् प्रविभागे विभाषाऽनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति, न चेदहोरात्रसम्बन्धी प्रविभागः। अवरस्मिन्वर्जं पूर्वमनुवर्त्तते। अवरस्मिन् पूर्वेण प्रतिषेध उक्तः, सम्प्रति परस्मिन्नप्राप्त एव विकल्प उच्यते। योऽयं संवत्सर आगामी, तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे, अध्येतास्महे, तत्र सक्तून् पास्यामः, तत्र सक्तून् पातास्मः। अनहोरात्राणामित्येव योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी, तस्य यः परः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्र सक्तून् पातास्मः। भविष्यतीत्येव-योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि, तत्रौदनमभुञ्ज्महि। मर्यादावचन इत्येव-योऽयं संवत्सरो निरवधिकः काल आगामी, तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्र सक्तून् पातास्मः। कालविभाग इत्येव-योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, ओदनं भोक्तास्महे। इति सर्वत्रानद्यतनवत् प्रत्यया उदाहार्याः।

अर्थ—भविष्यति, मर्यादावचने, कालविभागे, अनहोरात्राणाम्—इन सबका अनुवर्त्तन है।

समय के विभाग की मर्यादा गम्यमान रहते, उधर वाले विभाग के वाच्य होने पर भविष्यत् काल में अनद्यतन विधि विकल्प से होती है, यदि वह कालकृत विभाग अहोरात्र से सम्बद्ध न हो। 'अवरस्मिन्' को छोड़कर सभी पदों की अनुवृत्ति है। अवर विभाग की दशा में पूर्व सूत्र के द्वारा निषेध किया जा चुका है। अब परला विभाग की दशा में प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

उदा० (1) योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे—

ऌट् हुआ।

(2) योऽयं…अध्येतास्महे

पक्ष में लुट् हुआ।

अनहोरात्रा० अर्थात् अहोरात्र से सम्बद्ध न रहने पर ही विकल्प होता है—

(3) योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे

सभी शर्तें पूरी हैं, परन्तु अहारोत्र से सम्बद्ध होने से विकल्प नहीं हुआ।

भविष्यति अर्थात् भविष्यत् काल में ही अनद्यतन का विकल्प होता है—

(4) योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि

यहाँ भविष्यत् काल नहीं है। अतः विकल्प नहीं हुआ।

मर्यादावचने अर्थात् मर्यादावचन गम्यमान रहते धातु से अनद्यतन विधि का विकल्प होता है—

(5) योऽयं संवत्सरो निरवधिकः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे

सूत्रोक्त सभी शर्तें हैं, परन्तु मर्यादावचन वाच्य नहीं है, अतः अनद्यतन विधि का विकल्प नहीं हुआ।

कालविभाग अर्थात् काल का विभाग होने पर ही विकल्पविधि होती है—

(6) योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे

यहाँ कालकृत विभाग नहीं है, देशकृत विभाग है, अतः अनद्यतन विधि का विकल्प नहीं हुआ।

इस प्रकार सभी स्थलों पर अनद्यतन के समान प्रत्यय हुए हैं।

(1096) लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ *139* (2229)

भविष्यतीत्यनुवर्त्तते। हेतुहेतुमतोर्लिङ् (3.3.156) इत्येवमादिकं लिङो निमित्तम्, तत्र लिङ्निमित्ते भविष्यति काले लृङ् प्रत्ययो भवति क्रियातिपत्तौ सत्याम्। कुतश्चिद्वैगुण्यादनभिनिर्वृत्तिः क्रियायाः क्रियातिपत्तिः। दक्षिणेन चेदायास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्। यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्। अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत्। भविष्यत्कालविषयमेतद्वचनम्। भविष्यदपर्याभवनं च हेतुमत्, तत्र हेतुभूतं च कमलकाह्वानम्। लिङ्गिलिङ्गे बुद्ध्वा तदतिपत्तिं च प्रमाणान्तरादवगम्य वक्ता वाक्यं प्रयुङ्क्ते-यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यदिति। हेतुहेतुमतोराह्वानापर्याभवनयोर्भविष्यत्कालविषययोरतिपत्तिरतो वाक्यादवगम्यते।

अर्थ—'भविष्यति' का अनुवर्तन है। लिङ् का निमित्त होने पर भविष्यत् काल में धातु से लृङ् लकार होता है, यदि क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो। 'अतिपति' का अर्थ है—उल्लंघन या असिद्धि।

उदा० (1) दक्षिणेन चेदायास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्

यहाँ 'आना' कारण है तथा 'पर्याभवन' कार्य है। चूँकि वक्ता को प्रमाणान्तर से निश्चय हो गया है कि क्रिया (पर्याभवन) की असिद्धि होगी, अतः लृङ् हुआ।

(2) यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्

पूर्ववत् लृङ् हुआ।

(3) अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् (पूर्ववत्)।

यह भविष्यत् काल के वाच्य होने पर ही लृङ् होता है। भविष्यत् तथा पर्याभवन का न होना हेतुमान् तथा हेतुभूत है। इसी प्रकार 'कमलक के आह्वान' आदि के विषय में भी जानना चाहिए। लिंगी तथा लिंग का ज्ञान करके तथा क्रिया की असिद्धि को प्रमाणान्तर से जानकर वक्ता इस वाक्य का प्रयोग करता है। यथा—यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत् आदि। हेतु तथा हेतुमान्, भविष्यत् काल के विषयभूत आह्वान व पर्याभवन की असिद्धि का ज्ञान वाक्य से होता है।

(1097) भूते च *140* (2797)

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्ताविति सर्वमनुवर्त्तते। पूर्वेण भविष्यति विहितः, सम्प्रति भूते विधीयते। भूते च काले लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां लृङ्प्रत्ययो भवति। 'उताप्योः' (3.3.152) इत्यारभ्य लिङ्निमित्तेषु विधानमेतत्, प्राक् ततो विकल्पं वक्ष्यति। दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेनादृष्टोऽभविष्यत् तदाऽभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान्, अन्येन पथा स गतः।

अर्थ—लिङ्निमित्ते, लृङ्, क्रियातिपत्तौ—इन सभी का अनुवर्तन है। पूर्व सूत्र के द्वारा भविष्यत् काल में लृङ् के सिद्ध होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा भूत में विधान किया जा रहा है।

क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो लिङ् का निमित्त होने पर भूत की क्रिया वाच्य रहते धातु से 'लृङ्' होता है। 'उताप्योः' यहाँ से लेकर लिङ् के निमित्तों में इसका विधान कहा गया है। इससे पहले विकल्प कहा जायेगा।

दृष्टो०—दृष्टो मया भवत्पुत्रो अन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः

अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत्। तदाऽभोक्ष्यत।

(1098) वोताप्योः *141* (2798)

भूते लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्ताविति सर्वमनुवर्त्तते। वा आ उताप्योः = वोताप्योः। मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ। 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्' (3.3.152) इति वक्ष्यति, प्रागेतस्मात् सूत्रावधेर्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तत्र भूते लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'विभाषा कथमि लिङ् च' (3.3.143)। कथं नाम तत्रभवान् वृषलमयाजयिष्यत्। यथाप्राप्तं च-याजयेत्।

अर्थ—भूते, लिङ्निमित्ते, लृङ्, क्रियातिपत्तौ—इन सबका अनुवर्तन है। यहाँ आङ् मर्यादा अर्थ में है, अभिविधि अर्थ में नहीं। 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्' (3.3.152) इस सूत्र का आगे पाठ किया जायेगा। इस सूत्र से पूर्व तक जितने सूत्रों का पाठ किया जायेगा, उनमें लिङ् का निमित्त होने पर तथा क्रिया की असिद्धि होने पर भूतकाल की क्रिया वाच्य रहते धातु से लृङ् प्रत्यय विकल्प से होता है।

'विभाषा कथमि लिङ् च' सूत्र आगे कहा जायेगा।

उदा० (1) कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयिष्यत्

यहाँ लृङ् हुआ।

(2) तत्र भवान् वृषलं याजयेत्

यथाप्राप्त लिङ् हुआ।

(1099) गर्हायां लडपिजात्वोः *142* (2799)

गर्हा कुत्सेत्यनर्थान्तरम्। गर्हायां गम्यमानायाम् अपिजात्वोरुपपदयोर्धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। वर्त्तमाने लट् (3.2.103) उक्तः कालसामान्ये न प्राप्नोतीति विधीयते। कालविशेषविहिताँश्चापि प्रत्ययानयं परत्वादस्मिन् विषये बाधते। अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति, जातु तत्रभवान् वृषलं याजयति? गर्हामहे, अहो अन्याय्यमेतत्। लिङ्निमित्ताभावादिह क्रियातिपत्तौ लृङ् न भवति।

अर्थ—अपि तथा जातु उपपद रहते धातु से लट् प्रत्यय होता है, यदि निन्दा अर्थ गम्यमान हो।

वर्त्तमान में लट् होता है—यह कहा गया है। तब कालसामान्य में लट् के प्राप्त न रहते विधान किया गया है। कालविशेष में विहित प्रत्ययों को यह लट् प्रत्यय परत्व के कारण बाधित करता है।

उदा० (1) अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति
'अपि' उपपद रहते लट् हुआ।

(2) जातु तत्रभवान् वृषलं याजयति
'जातु' उपपद रहते लट् हुआ।

लिङ् के निमित्त का अभाव होने से यहाँ क्रिया की असिद्धि में लृङ् नहीं होता है।

(1100) विभाषा कथमि लिङ् च *143* (2800)

गर्हायामिति वर्त्तते। कथंशब्दे उपपदे गर्हायां गम्यमानायां धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति चकाराल्लट् च। विभाषाग्रहणं यथास्वं कालविषये विहितानामबाधनार्थम्। कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयति? कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिता? कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? कथं नाम तत्रभवान् वृषलमयाजयत्? कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयाञ्चकार? अत्र लिङ्निमित्तमस्तीति भूतविवक्षायां क्रियातिपत्तौ वा लृङ्। भविष्यद्विवक्षायां सर्वत्र नित्येनैव लृङा भवितव्यम्।

अर्थ—'गर्हायाम्' का अनुवर्त्तन है। कथम् शब्द के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है, निन्दा अर्थ गम्यमान रहते। चकार के ग्रहण से लट् भी होता है। सूत्र में 'विभाषा' पद के ग्रहण के द्वारा अपने-अपने काल में विहित प्रत्ययों का बाध नहीं होता है।

उदा० (1) कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।

(2) कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयति
लट् हुआ।

(3) कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयिता
लुट् हुआ।

(4) कथं नाम तत्रभवान् वृषलमयाजयत्
लङ् हुआ।

(5) कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयाञ्चकार
लिट् हुआ।

यहाँ लिङ् का निमित्त है, अतः भूतकाल की विवक्षा में व क्रिया की असिद्धि में विकल्प से लृङ् होता है। भविष्यत् की विवक्षा में सर्वत्र लृङ् नित्य होता है।

(1101) किंवृत्ते लिङ्लृटौ *144* (2801)

गर्हायामित्येव। विभाषा न स्वर्यते। किंवृत्त उपपदे गर्हायां गम्यमानायां धातोर्लिङ्लृटौ प्रत्ययौ भवतः। सर्वलकाराणामपवादः। लिङ्ग्रहणं लटोऽपरिग्रहार्थम्—को नाम वृषलो यं तत्रभवान् याजयेत्, यं तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? कतरो नाम, कतमो नाम यं तत्र भवान् वृषलं याजयेत्, याजयिष्यति? भूते क्रियातिपत्तौ वा लृङ्। भविष्यति तु नित्यम्—को नाम वृषलो यं तत्रभवानयाजयिष्यत्।

अर्थ—'गर्हायाम्' का अनुवर्त्तन है तथा 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति नहीं है। किंवृत्त उपपद रहते धातु से लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं, निन्दा अर्थ गम्यमान रहते। यह सभी लकारों का अपवाद है। लिङ् का ग्रहण लट् के अपरिग्रह के लिए है।

'किंवृत्त' शब्द के द्वारा सर्वविभक्त्यन्त 'किम्' शब्द तथा डतर व डतम प्रत्ययान्त 'किम्' शब्द का ग्रहण किया जाता है।

उदा० (1) को नाम वृषलो यं तत्रभवान् याजयेत्
लिङ् हुआ।

(2) को नाम वृषलो यं तत्रभवान् याजयिष्यति
लृट् हुआ।

(3) कतरो नाम यं तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।

(4) कतरो''''याजयिष्यति
ऌट् हुआ।

भूतकाल व क्रिया की असिद्धि में ऌङ् विकल्प से होता है। भविष्यत् काल में नित्य ही होता है।

(5) को नाम वृषलो यं तत्रभवान् याजयिष्यत्
ऌङ् हुआ।

(1102) अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि *145* (2802)

गर्हायामिति निवृत्तम्। अनवक्लृप्तिरसम्भावना। अमर्षोऽक्षमा। किंवृत्तेऽकिंवृत्ते चोपपदेऽनवक्लृप्त्यमर्षयोर्धातोर्लिङ्लृटौ प्रत्ययौ भवतः। सर्वलकाराणामपवादः। बह्वचः पूर्वनिपातो लक्षणव्यभिचारचिह्नम्। तेन यथासंख्यं न भवति। अनवक्लृप्तौ तावत्–नावकल्पयामि, न सम्भावयामि, न श्रद्दधे, तत्र भवान्नाम वृषलं याजयेत्? तत्रभवान्नाम वृषलं याजयिष्यति? को नाम वृषलो यं तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? को नाम वृषलो यं तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? अमर्षे–न मर्षयामि तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, याजयिष्यति? को नाम वृषलो यं तत्रभवान् याजयेत्, याजयिष्यति? भूतविवक्षायां तु क्रियात्तिपत्तौ वा ऌङ् भवति। भविष्यति नित्यम्–नावकल्पयामि तत्र भवान्नाम वृषलमयाजयिष्यत्।

अर्थ—'अनवक्लृप्ति' का अर्थ है—असम्भावना। 'अमर्ष' अक्षमा को कहते हैं। किंवृत्त उपपद रहते अथवा इसके उपपद न रहते धातु से कालसामान्य में लिङ् व ऌट् प्रत्यय होते हैं, यदि असम्भावना तथा अक्षमा अर्थ गम्यमान हों। यह सभी लकारों का अपवाद है।

अनेक अच् वाले शब्द (अनवक्लृप्ति) के पूर्व निपात के द्वारा लक्षण का व्यभिचार सूचित होता है। अतः यथासंख्य नियम लागू नहीं होता।

उदा० (क) अनवक्लृप्तौ—
(1) नाऽवकल्पयामि तत्रभवान्नाम वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।

(2) नाऽवकल्पयामि तत्रभवान्नाम वृषलं याजयिष्यति
ऌट् हुआ।

(ख) अमर्षे—
(3) न मर्षयामि तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ्।

(4) न मर्षयामि तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति
ऌट्।

भूतकाल की विवक्षा में क्रिया की असिद्धि में विकल्प से ऌङ् होता है। भविष्यत् काल की विवक्षा में नित्य होता है।

(5) नाऽवकल्पयामि तत्रभवान्नाम वृषलमयाजयिष्यत्
ऌङ् हुआ।

(1103) किंकिलास्त्यर्थेषु ऌट् *146* (2803)

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरिति वर्त्तते। किंकिलशब्दः समुदाय एवोपपदम्। अस्त्यर्थाः अस्तिभवतिविद्यतयः। किंकिलास्त्यर्थेषूपपदेषु अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्धातोर्ऌट् प्रत्ययो भवति। लिङोऽपवादः। किंकिल नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? अस्ति नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? भवति नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति? विद्यते नाम तत्र भवान् वृषलं याजयिष्यति? न श्रद्दधे, न मर्षयामि। लिङ्निमित्तमिह नास्ति, तेन लङ् न भवति।

अर्थ—'अनवक्लृप्त्यमर्षयोः' का अनुवर्त्तन है। 'किंकिल' समुदायरूप शब्द उपपद है। किंकिल (=क्रोध) वाची तथा अस्तिवाची (अस्, भू, विद्) शब्दों के उपपद रहते धातु से ऌट् प्रत्यय होता है, असम्भावना तथा अक्षमा अर्थ गम्यमान रहते। यह लिङ् का अपवाद है।

उदा० (1) किंकिल नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति
ऌट् हुआ।

(2) भवति नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति
ऌट् हुआ।

(3) विद्यते नाम तत्रभवान् वृषलं याजयिष्यति
ऌट् हुआ।
यहाँ लिङ्निमित्त नहीं है। अतः लिङ् नहीं होता है।

(1104) जातुयदोर्लिङ् *147* (2804)

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरित्येव। जातु, यदित्येतयोरुपपदयोरनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। लटोऽपवादः। जातु तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? यन्नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? न श्रद्दधे, न मर्षयामि। *जातुयदोर्लिङ्विधाने यदायद्योरुपसंख्यानम्* (म० भा०)। यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्? यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्? न श्रद्दधे, न मर्षयामि। क्रियातिपत्तौ भूते वा ऌङ्, भविष्यति नित्यम्।

अर्थ—जातु तथा यद् उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, यदि असम्भावना तथा अक्षमा अर्थ गम्यमान हो। यह लृट् का अपवाद है।

उदा० (1) जातु तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, नाऽवकल्पयामि लिङ् हुआ।

(2) जातु तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, न मर्षयामि (पूर्ववत्)।

(3) यन्नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, नाऽवकल्पयामि (पूर्ववत्)।

(4) यन्नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, न मर्षयामि (पूर्ववत्)।

जातुयदोर्लिङ्विधाने यदायद्योरुपसङ्ख्यानम्—यदा और यदि शब्दों के उपपद रहते लिङ् प्रत्यय होता है—

(5) यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् (पूर्ववत्)।
यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् (पूर्ववत्)।

क्रिया की असिद्धि में भूतकाल के अर्थ में विकल्प से लृङ् होता है तथा भविष्यत् काल में नित्य होता है।

(1105) यच्चयत्रयोः *148* (2805)

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरित्येव। यच्च, यत्र इत्येतयोरुपपदयोरनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। लृटोऽपवादः। योगविभाग उत्तरार्थः। यथासंख्यं नेष्यते। यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? यत्र तत्रभवान् वृषलं याजयेत्? क्रियातिपत्तौ यथायथं लृङ् भवति।

अर्थ—यच्च तथा यत्र अव्यय उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, असम्भावना और अक्षमा अर्थ गम्यमान रहते। यह भी लृट् का अपवाद है। उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है। यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है।

उदा० (1) यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।

(2) यत्र तत्रभवान् वृषलं याजयेत् (पूर्ववत्)।
क्रिया की असिद्धि में यथाप्राप्त लृङ् प्रत्यय होता है।

(1106) गर्हायां च *149* (2806)

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरिति निवृत्तम्। गर्हा निन्दा कुत्सेत्यनर्थान्तरम्। यच्च, यत्र इत्येतयोरुपपदयोर्धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति गर्हायां गम्यमानायाम्। सर्वलकाराणामपवादः। यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, यत्र तत्रभवान् वृषलं याजयेद, ऋद्धो वृद्धः सन् ब्राह्मणः गर्हामहे, अहो अन्याय्यमेतत्? क्रियातिपत्तौ यथायथं लृङ् भवति।

अर्थ—यच्च तथा यत्र उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, निन्दा अर्थ गम्यमान रहते। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, गर्हामहे (पूर्ववत्)।
क्रिया की असिद्धि में यथाप्राप्त लृङ् होता है।

(1107) चित्रीकरणे च *150* (2807)

यच्चयत्रयोरित्येव। चित्रीकरणमाश्चर्यमद्भुतं विस्मयनीयम्। यच्च-यत्रयोरुपपदयोश्चित्रीकरणे गम्यमाने धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्। यत्र तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, आश्चर्यमेतत्? क्रियातिपत्तौ यथायथं लृङ् भवति।

अर्थ—यच्च व यत्र—इनका अनुवर्त्तन है। चित्रीकरण का अर्थ है—आश्चर्य। यच्च और यत्र उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, यदि आश्चर्य अर्थ गम्यमान हो। सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) यच्च तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।

(2) यत्र तत्रभवान् वृषलं याजयेत्
लिङ् हुआ।
क्रिया की असिद्धि में यथाप्राप्त लृङ् प्रत्यय होता है।

(1108) शेषे लृडयदौ *151* (2808)

यच्च-यत्राभ्यामन्यत्र चित्रीकरणं शेषः। शेषे उपपदे चित्रीकरणे गम्यमाने धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति, यदिशब्दश्चेन्न प्रयुज्यते। सर्वलकाराणामपवादः। आश्चर्यं चित्रमद्भुतम् अन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति, बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते। अयदाविति किम्? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत, यदि सोऽधीयीत? लिङ्निमित्ताभावादिह लृङ् न भवति।

अर्थ—'आश्चर्य' अर्थ गम्यमान रहते यच्च तथा यत्र से अतिरिक्त कोई उपपद रहते धातु से लृट् प्रत्यय होता है, 'यदि' शब्द का प्रयोग हो तो नहीं होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) अन्धो नाम पर्वतम् आरोक्ष्यते, आश्चर्यमेतत्
यहाँ लृट् हुआ।

(2) बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते (पूर्ववत्)।

अयदाविति अर्थात् 'यदि' शब्द का प्रयोग न हो तो धातु से लृट् होता है—

(3) आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत यदि सोऽधीयीत
'यदि' शब्द का प्रयोग है, अतः लृट् नहीं हुआ।
लिङ् के निमित्त के अभाव से यहाँ लृङ् नहीं होता है।

(1109) उताप्योः समर्थयोर्लिङ् *152* (2809)

उत, अपि इत्येतयोः समर्थयोरुपपदयोर्धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। बाढमित्यस्मिन्नर्थे समानार्थत्वमनयोः। उत कुर्यात्। अपि कुर्यात्। उताधीयीत। अप्यधीयीत। बाढमध्येष्यत इत्यर्थः। समर्थयोरिति किम्? उत दण्डः पतिष्यति, अपि द्वारं धास्यति। प्रश्नः प्रच्छादनं च गम्यते। 'वोताप्योः' (3.3.141) इति विकल्पो निवृत्तः। इतः प्रभृति भूतेऽपि लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ नित्यं लृङ्, भविष्यति तु सर्वत्रैव नित्यः।

अर्थ—यहाँ 'समर्थ' का अर्थ है—समानार्थक। समानार्थक उत तथा अपि उपपदों के रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है। 'उत' तथा 'अपि' अव्यय 'हाँ' अर्थ में समानार्थक है।

उदा० (1) उत कुर्यात्
लिङ् हुआ।

(2) अपि कुर्यात् (पूर्ववत्)।
(3) उताधीयीत (पूर्ववत्)।
(4) अप्यधीयीत (पूर्ववत्)।

समर्थयोः अर्थात् **समानार्थक** उत तथा अपि उपपदों के रहते धातु से लिङ् होता है—

(5) उत दण्डः पतिष्यति
यहाँ प्रश्न है। अतः लिङ् नहीं हुआ।

(6) अपि द्वारं धास्यति (पूर्ववत्)।

वोताप्यो—'वोताप्योः' इस प्रकार विकल्प की निवृत्ति हो गई है। यहाँ से लेकर भूत में भी लिङ् के निमित्त में तथा क्रिया की असिद्धि में नित्य लृङ् होता है। भविष्यत् में तो सर्वत्र नित्य ही होता है।

(1110) कामप्रवेदनेऽकच्चिति *153* (2810)

स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम्। काम, इच्छा-ऽभिलाष इत्यनर्थान्तरम्। तस्य प्रवेदनं प्रकाशनम्। तस्मिन् गम्यमानेऽकच्चित्युपपदे धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। कामो मे भुञ्जीत भवान्। अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान्। अकच्चितीति किम्।

कच्चिज्जीवति ते माता कच्चिजीवति ते पिता।
माराविद! त्वां पृच्छामि कच्चिज्जीवति पार्वती॥

अर्थ—अपने अभिप्राय का प्रकाशन 'कामप्रवेदन' कहलाता है। 'काम' का अर्थ है—इच्छा, अभिलाष। इसी के प्रकाशन को 'प्रवेदन' कहा जाता है। 'अपने अभिप्राय का प्रकाशन'—यह अर्थ गम्यमान हो तथा कच्चित् से अतिरिक्त शब्द उपपद हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) कामो मे भुञ्जीत भवान्
लिङ्।

(2) अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान्
लिङ्।

अकच्चितीति अर्थात् कच्चित् शब्द से अतिरिक्त शब्द के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है—

(3) कच्चिज्जीवति ते माता
यहाँ 'कच्चित्' का प्रयोग है। अतः लिङ् नहीं हुआ। सम्पूर्ण श्लोक मूल में देखें।

(1111) सम्भावनेऽलमिति चेत्सिद्धाप्रयोगे *154* (2811)

लिङित्येव। सम्भावनम्-क्रियासु योग्यताध्यवसानम्, शक्तिश्रद्धानम्, तदिदानीमलमर्थेन विशेष्यते, तच्चेत्सम्भावनं पर्याप्तमवितथं भवति। सिद्धाप्रयोग इत्यलमो विशेषणम्, सिद्धश्चेदलमोऽप्रयोगः। क्व चासौ सिद्धः? यत्र गम्यते चार्थो न चासौ प्रयुज्यते। तदीदृशे सम्भावनोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्? अपि द्रोणपाकं भुञ्जीत? अलमिति किम्? विदेशस्थायी देवदत्तः प्रायेण गमिष्यति ग्रामम्। सिद्धाप्रयोग इति किम्? अलं देवदत्तो हस्तिनं हनिष्यति। क्रियातिपत्तौ भूते भविष्यति च नित्यं लृङ् भवति।

अर्थ—'लिङ्' का अनुवर्त्तन है। अलम् अर्थ के द्वारा क्रियाओं

में योग्यता, अध्यवसान आदि विशेषित होते हैं। 'सिद्धाप्रयोगे' का अर्थ है—अप्रयोग के सिद्ध होने पर। जहाँ अर्थ का ज्ञान होता हो, परन्तु प्रयुक्त न हो तो वहाँ सिद्ध कहलाता है। यदि 'अलम्' शब्द का अप्रयोग सिद्ध हो रहा हो और पर्याप्त विशिष्ट सम्भावना अर्थ गम्यमान हो तो धातु से 'लिङ्' होता है। सार यह है कि यदि 'अलम्' शब्द प्रयुक्त न हो, तदपि उसका अर्थ (= पर्याप्त) गम्यमान हो तो धातु से 'लिङ्' होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्

पर्याप्त विशिष्ट सम्भावना अर्थ गम्य है, 'अलम्' का साक्षात् प्रयोग नहीं है। अतः लिङ् हुआ।

(2) अपि द्रोणपाकं भुञ्जीत (पूर्ववत्)।

अलम् अर्थात् **अलम्** का अर्थ गम्य रहते धातु से लिङ् होता है—

(3) विदेशस्थायी देवदत्तः प्रायेण गमिष्यति ग्रामम्

अलम् का अर्थ गम्यमान नहीं होने से लिङ् नहीं हुआ।

सिद्धाप्रयोग अर्थात् अलम् शब्द का साक्षात् **प्रयोग न होने पर** ही धातु से लिङ् होता है—

अलं देवदत्तो हस्तिनं हनिष्यति

यहाँ 'अलम्' का साक्षात् प्रयोग है, अतः लिङ् नहीं हुआ।

क्रिया की असिद्धि में भूत व भविष्यत् में नित्य लृङ् होता है।

(1112) विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि *155* (2812)

सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे इति सर्वमनुवर्त्तते। सम्भावनमुच्यते येन स सम्भावनवचनः। सम्भावनवचने धातावुपपदे यच्छब्दवर्जिते धातोर्विभाषा लिङ् भवति। पूर्वेण नित्यप्राप्तौ विकल्पार्थं वचनम्। सम्भावयामि भुञ्जीत भवान्, सम्भावयामि भोक्ष्यते भवान्? अवकल्पयामि भुञ्जीत भवान्, भोक्ष्यते भवान्? श्रद्दधे भुञ्जीत भवान्, भोक्ष्यते भवान्? अयदीति किम्? सम्भावयामि यद् भुञ्जीत भवान्।

अर्थ—सम्भावने, अलम्, चेत्, इति, सिद्धाप्रयोगे—इन सभी का अनुवर्त्तन है। जिसके द्वारा सम्भावना कही जाती है, उसे सम्भावनावचन कहते हैं।

सम्भावन अर्थ का वाचक धातु उपपद हो, परन्तु 'यद्' शब्द उपपद न हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि 'अलम्' शब्द का साक्षात् प्रयोग न हो तथा उसका अर्थ गम्यमान हो। पक्ष में लृट् होता है। पूर्वसूत्र के द्वारा लिङ् के नित्य प्राप्त होने पर यहाँ विकल्प कहा गया है।

उदा० (1) सम्भावयामि भुञ्जीत भवान्

लिङ् हुआ।

(2) सम्भावयामि भोक्ष्यते भवान्

लृट् हुआ।

(3) अवकल्पयामि भुञ्जीत भवान्

लिङ् हुआ।

(4) श्रद्दधे भुञ्जीत भवान्

लिङ् हुआ।

(5) श्रद्दधे भोक्ष्यते भवान्

लृट् हुआ।

अयदि अर्थात् **यद्** उपपद के न रहते धातु से लिङ् विकल्प से होता है—

(6) सम्भावयामि यद् भुञ्जीत भवान्

यहाँ यद् उपपद है। अतः विकल्प से लिङ् नहीं हुआ।

(1113) हेतुहेतुमतोर्लिङ् *156* (2813)

हेतुः कारणम्, हेतुमत्फलम्। हेतुभूते हेतुमति चार्थे वर्त्तमानाद् धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। दक्षिणेन चेद्यायान्न शकटं पर्याभवेत्। यदि कमलकमाह्वयेन्न शकटं पर्याभवेत्। दक्षिणेन यानं हेतुः, अपर्याभवनं हेतुमत्। विभाषा चायमिष्यते, भविष्यति च काले। तेन लृडपि भवति–दक्षिणेन चेद्यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति। तत्र विभाषाग्रहणं तावदनन्तरमेवानुवर्तते। लिङिति वर्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहणं कालविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। तेनेह न भवति–हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति। क्रियातिपत्तौ लृङ् भवति।

अर्थ—हेतुहेतुमद्भाव में धातु से लिङ् विकल्प से होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) दक्षिणेन चेद् यायान्न शकटं पर्याभवेत्

यहाँ कारण-कार्यभाव है, अतः पाक्षिक लिङ् हुआ। दक्षिण से गमन हेतु है। अपर्याभवन हेतुमान् है।

(2) दक्षिणेन चेद् यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति

पक्ष में लृट् हो गया है।

विभाषा—भविष्यत् काल में विभाषा होती है। तब ऌट् भी होता है।

यद्यपि पूर्वशास्त्र से 'लिङ्' पद का अनुवर्त्तन सुलभ है, तदपि प्रकृत सूत्र में 'लिङ्' का ग्रहण सूचित करता है कि यह 'लिङ्' कालविशेष में होता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार भविष्यत् काल में ही यह लिङ् होता है। निम्नलिखित स्थलों पर नहीं होता—

(3) हन्तीति पलायते।

(4) वर्षतीति धावति।

क्रिया की असिद्धि में ऌङ् होता है।

विशेष—जिस पक्ष में लिङ् नहीं होता, उस पक्ष में 'ऌट् शेषे च' से ऌट् होता है। चूँकि कारण-कार्यभाव दो में ही सम्भव है, अतः दोनों धातुओं से लिङ् हुआ करता है।

हेतहेतुमद्भाव को प्रकट करने के लिए 'चेत्' अथवा 'यदि' शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

(1114) इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ *157* (2814)

इच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः। सर्वलकाराणामपवादः। इच्छामि भुञ्जीत भवान्। इच्छामि भुङ्क्तां भवान्। कामये। प्रार्थये। *कामप्रवेदन इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–इच्छन् करोति।

अर्थ—इच्छार्थक धातु के उपपद रहते धातु से लिङ् व लोट् प्रत्यय होते हैं। यह सभी लकारों का अपवाद है।

उदा० (1) इच्छामि भुञ्जीत भवान्

लिङ् हुआ।

(2) इच्छामि भुङ्क्तां भवान्

लोट् हुआ।

इसी प्रकार कामये, प्रार्थये आदि इच्छार्थक धातुशब्दों के उपपद रहते भी पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं।

कामप्रवेदन इति वक्तव्यम्—अपने अभिप्राय को प्रकट करने में यह प्रत्यय होता है। अतः यहाँ नहीं होता—

(3) इच्छन् करोति

(1115) समानकर्तृकेषु तुमुन् *158* (3176)

इच्छार्थेषु धातुषु समानकर्तृकेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति। तुमुन्प्रकृत्यपेक्षमेव समानकर्तृकत्वम्। इच्छति भोक्तुम्। कामयते भोक्तुम्। वष्टि भोक्तुम्। वाञ्छति भोक्तुम्। समानकर्तृकेष्विति किम्? देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः। इह कस्मान्न भवति–इच्छन् करोति? अनभिधानात्।

अर्थ—यदि दोनों धातुओं का कर्त्ता समान हो तो इच्छार्थक धातुरूप के उपपद रहते धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय होता है। तुमुन् के नकार तथा मकारोत्तरवर्त्ती उकार की इत् संज्ञा होती है। 'तुम्' शेष बचता है।

उदा० (1) भोक्तुम् इच्छाति

भुज् तुमुन्—'इच्छति' इच्छार्थक धातुरूप है; इसका तथा भोजन क्रिया का एक ही कर्त्ता है, अतः 'तुमुन्' हुआ, अनुबन्धलोप,

भुज् तुम्—आर्धधातुकं शेषः, लघूपधगुण, कुत्व,

भोक्तुम्—सु, अव्यय संज्ञा, सु का लुक्।

(2) भोक्तुं कामयते (पूर्ववत्)।

(3) भोक्तुं वष्टि (पूर्ववत्)।

(4) भोक्तुं वाञ्छति (पूर्ववत्)।

समानकर्तृकेषु अर्थात् दोनों धातुओं का **समान कर्त्ता रहते** धातु से तुमुन् होता है—

(5) देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः

यहाँ भोजनरूप क्रिया का कर्त्ता देवदत्त है तथा इच्छारूप क्रिया का कर्त्ता यज्ञदत्त है, दोनों के कर्त्ता भिन्न-भिन्न होने से तुमुन् नहीं हुआ।

(6) इच्छन् करोति

अभिधान न होने से यहाँ तुमुन् नहीं हुआ।

(1116) लिङ् च *159* (2815)

इच्छार्थेषु समानकर्तृकेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। भुञ्जीयेतीच्छति। अधीयीयेतीच्छति। क्रियातिपत्तौ ऌङ् भवति। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—इच्छार्थक धातुरूप के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, यदि दोनों धातुओं के कर्त्ता समान हों।

उदा० (1) भुञ्जीयेतीच्छति

भुज् लिङ्—लादेश, शप्, श्नम्,

भुञ्जीय—अनुस्वार, परसवर्ण।

क्रिया की आसिद्धि में ऌङ् होता है। योगविभाग उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए किया गया है।

(1117) इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्त्तमाने *160* (2816)

इच्छार्थेभ्यो धातुभ्यो वर्तमाने काले विभाषा लिङ् प्रत्ययो भवति। लटि प्राप्ते वचनम्। इच्छति। इच्छेत्। वष्टि। उश्यात्। कामयते। कामयेत।

अर्थ—इच्छार्थक धातुओं से वर्त्तमान काल में लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में लट् होता है।

उदा० (1) इच्छति
इष् तिप्—लट्, तिप्, इषुगमियमां छः, छे च,
इच्छति—स्तोः श्चुना श्चुः, कर्त्तरि शप्।

(2) इच्छेत्
इष् लिङ्—शप्, इतश्च, छकार, तुक्, श्चुत्व,
इच्छ् अ यासुट् त्—यासुट् परस्मैपदे०, अतो येयः,
इच्छेत्—रूप बना।

(3) वष्टि
वश् तिप्—शप्, अदिप्रभृतिभ्यः शप्,
वष्टि—ष्, ष्टुत्व।

(4) उश्यात्
वश् लिङ्—तिप्, यासुट्, सम्प्रसारण,
उश्यात्—सकारलोप।

(5) कामयते
कम् णिङ् त—लट् प्र० पु० एकव०, अत उपधायाः, शप्,
कामयते—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, टित आत्मने०।

(6) कामयेत
कम् णिङ्—लिङ्, त, 'लिङः सीयुट्' से सीयुट्,
कामयते।

(1118) विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् *161* (2208)

विधिः प्रेरणम्। निमन्त्रणं नियोगकरणम्। आमन्त्रणं कामचारकरणम्। अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः। सम्प्रश्नः सम्प्रधारणम्। प्रार्थनं याच्ञा। विध्याद्यर्थेषु धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। विध्यादयश्च प्रत्ययार्थविशेषणम्। विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु लिङ् प्रत्ययो भवति। विधौ तावत्-कटं कुर्यात्, ग्रामं भवानागच्छेत्। निमन्त्रणे-इह भवान् भुञ्जीत, इह भवानासीत। आमन्त्रणे-इह भवानासीत, इह भवान् भुञ्जीत। अधीष्टे-अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत। सम्प्रश्ने-किं नु खलु भो व्याकरणमधीयीय? प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।

अर्थ—'विधि' का अर्थ है—प्रेरणा। नियोगकरण को 'निमन्त्रण कहते हैं। कामचारिता 'आमन्त्रण' कहलाता है। 'अधीष्ट' का अर्थ है—सत्कारपूर्वक व्यापार। सम्प्रधारण को 'सम्प्रश्न' कहते हैं। याच्ञा को 'प्रार्थन' कहते हैं। विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न तथा प्रार्थन—इन अर्थों में धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। यह सभी लकारों का अपवाद है। विधि आदि प्रत्यय के अर्थ के विशेषण हैं। विधि आदि विशिष्ट कर्तृ आदि अर्थों में लिङ् प्रत्यय होता है।

उदा० (क) विधौ—
(1) कटं कुर्यात्।
(2) ग्रामं भवानागच्छेत्।

(ख) निमन्त्रणे—
(3) इह भवान् भुञ्जीत।
(4) इह भवान् आसीत।

(ग) आमन्त्रणे—
(5) इह भवानासीत।
(6) इह भवान् भुञ्जीत।

(घ) अधीष्टे—
(7) इच्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत्।

(ङ) सम्प्रश्ने—
(8) किं न खलु भो व्याकरणमधीयीय।

(च) प्रार्थने—
भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।

(1119) लोट् च *162* (2194)

लोट् प्रत्ययो भवति धातोर्विध्यादिष्वर्थेषु। योगविभाग उत्तरार्थः। विधौ तावत्-कटं तावद्भवान् करोतु, ग्रामं भवानागच्छतु। निमन्त्रणे-अमुत्र भवानास्ताम्, अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम्। आमन्त्रणे-इह भवान् भुङ्क्ताम्। अधीष्टे-अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवान् अध्यापयतु, माणवकं भवानुपनयताम्। सम्प्रश्ने-किं नु खलु भो व्याकरण-मध्ययै? प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमध्ययै, छन्दोऽध्ययै।

अर्थ—विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् प्रत्यय होता है। उत्तरवर्ती सूत्र के लिए योगविभाग किया गया है।

उदा० (क) विधौ—
(1) कटं तावद्भवान् करोतु
(2) ग्रामं भवान् आगच्छतु।

(ख) निमन्त्रणे—
(3) अमुत्र भवानास्ताम्।
(4) अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम्।

(ग) आमन्त्रणे—
(5) इह भवान् भुङ्क्ताम्।

(घ) अधीष्टे—
(6) अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवान् अध्यापयतु।
(7) माणवकं भवानुपनयताम्।

(ङ) सम्प्रश्ने—
(8) किं नु खलु भो व्याकरणमध्ययै।

(च) प्रार्थने—
(9) भवति मे प्रार्थना व्याकरणमध्ययै।
(10) भवति में प्रार्थना छन्दोऽध्ययै।

(1120) प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च *163* (2817)

प्रेषणं प्रैषः, कामचाराभ्यनुज्ञानमतिसर्गः, निमित्तभूतस्य कालस्यावसरः प्राप्तकालता—इत्येतेष्वर्थेषु धातोः कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया भवन्ति, चकाराल्लोट् च। भवता कटः करणीयः। कर्त्तव्यः। कृत्यः। कार्यः। लोट् खल्वपि-करोतु कटं भवानिह प्रेषितः। भवानतिसृष्टः। भवतः प्राप्तकालः कटकरणे। किमर्थं प्रैषादिषु कृत्या विधीयन्ते, न सामान्येन भावकर्मणोर्विहिता एव ते प्रैषादिष्वन्यत्र च भविष्यन्ति? विशेषविहितेनानेन लोटा बाध्यन्ते, वाऽसरूपविधिना भविष्यन्ति। एवं तर्हि ज्ञापयति—स्त्र्यधिकारात्परेण वाऽसरूपविधिर्नावश्यं भवतीति। विधिप्रैषयोः को विशेषः? केचिदाहुः-अज्ञातज्ञापनं विधिः, प्रेषणं प्रैष इति।

अर्थ—प्रेरणा को 'प्रैष' कहते हैं। कामचारितापूर्वक आज्ञा प्रदान करने को 'अतिसर्ग' कहते हैं। निमित्तभूत काल का अवसर 'प्राप्तकालता' कहलाता है। प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल—इन अर्थों में धातु से कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं तथा लोट् प्रत्यय भी होता है।

उदा० (1) भवता कटः करणीयः
'अनीयर्' हो गया।

(2) भवता कटः कर्त्तव्यः
'तव्यत्' हुआ।

(3) भवता कटः कृत्यः
'क्यप्' हुआ।

(4) भवता कटः कार्यः
'ण्यत्' हुआ।

(5) करोतु कटो भवानिह प्रेषितः
लोट् प्रत्यय हुआ।
(6) करोतु कटो भवानतिसृष्टः (पूर्ववत्)।
(7) भवतः प्राप्तकालः कटकरणे।

किमर्थं···प्रैष इति—प्रैष आदि अर्थों में किसलिए कृत्यादि का विधान किया जाता है। भाव तथा कर्म में सामान्य के द्वारा विहित नहीं हैं। वे प्रत्यय प्रैष आदि में अन्यत्र होते हैं। विशेष विहित होने से इस लोट् प्रत्यय के द्वारा इनका बाध होता है। तब वाऽसरूप विधि के द्वारा हो जायेंगे। इसके द्वारा ज्ञापित होता है कि स्त्री अधिकार से पर के द्वारा वासरूप विधि अवश्य नहीं होती है। विधि तथा प्रेरणा में क्या विशेष है? कुछ विद्वान कहते हैं। अज्ञात के ज्ञापन को 'विधि' तथा प्रेरणा को 'प्रैष' कहा जाता है।

(1121) लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके *164* (2818)

प्रैषादयो वर्त्तन्ते। प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धातोर्लिङ्प्रत्ययो भवति, चकाराद्यथाप्राप्तं च। ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात्=उपरि मुहूर्त्तस्य, भवता खलु कटः कर्त्तव्यः, करणीयः, कार्यः। भवान् खलु कटं कुर्यात्। भवान् खलु करोतु। भवानिह प्रेषितः। भवानतिसृष्टः। भवान् प्राप्तकालः।

अर्थ—प्रैष आदि का अनुवर्त्तन है। प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल—इन अर्थों में मुहूर्त भर से अधिक समय को कहने के लिए धातु से लिङ् तथा (यथाप्राप्त) कृत्य प्रत्यय और लोट् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात् (उपरि मुहूर्त्तस्य) भवता खलु कटः कर्त्तव्यः
यहाँ 'तव्यत्' हुआ।

(2) ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात् (उपरि मुहूर्त्तस्य) भवता खलु करणीयः
अनीयर्' हुआ।

(3) ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात् (उपरि मुहूर्त्तस्य) भवता खलु कार्यः
'ण्यत्' हुआ।

(4) मुहूर्त्तात् भवान् खलु कटं कुर्यात्
लिङ् हुआ।

(5) मुहूर्त्तात् भवान् खलु कटं करोतु
लोट् हुआ।
भवानिह प्रेषितः। भवानिहातिसृष्टः। भवान् प्राप्तकालः।

(1122) स्मे लोट् *165* (2819)

प्रैषादिषूर्ध्वमौहूर्त्तिके इति वर्तते। स्मशब्द उपपदे प्रैषादिषु गम्यमानेषूर्ध्वमौहूर्त्तिकेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति। लिङ्कृत्यानामपवादः। ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवान् कटं करोतु स्म। ग्रामं गच्छतु स्म। माणवकमध्यापयतु स्म।

अर्थ—प्रैषादि तथा ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके—इन सभी का अनुवर्त्तन है। प्रैष, अतिसृष्ट तथा प्राप्तकाल—इन अर्थों में मुहूर्त्त भर से अधिक समय गम्यमान हो तथा 'स्म' उपपद हो तो धातु से लोट् प्रत्यय होता है। यह लिङ् तथा कृत्य प्रत्ययों का अपवाद है।

उदा० (1) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् कटं करोतु स्म
लोट् लकार हुआ।

(2) ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् ग्रामं गच्छतु स्म (पूर्ववत्)।

(3) ऊर्ध्वं मुहूर्तात् भवान् माणवकम् अध्यापयतु स्म (पूर्ववत्)।

(1123) अधीष्टे च *166* (2820)

स्म इति वर्तते। अधीष्टं व्याख्यातम्। स्मशब्द उपपदेऽधीष्टे गम्यमाने धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति। लिङोऽपवादः। अङ्ग स्म राजन् माणवकमध्यापय। अङ्ग स्म राजन्नग्निहोत्रं जुहुधि।

अर्थ—'स्म' का अनुवर्त्तन है। 'अधीष्ट' शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। 'स्म' शब्द के उपपद रहते धातु से लोट् प्रत्यय होता है, अधीष्ट अर्थ गम्यमान रहते। यह लिङ् का अपवाद है।

उदा० (1) अङ्ग स्म राजन् माणवकमध्यापय
'स्म' उपपद रहते धातु से लोट् हुआ।

(2) अङ्ग स्म राजन् अग्निहोत्रं जुहुधि (पूर्ववत्)।

(1124) कालसमयवेलासु तुमुन् *167* (3179)

कालादिषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति। कालो भोक्तुम्। वेला भोक्तुम्। इह कस्मान्न भवति? कालः पचति भूतानीति (मै०उ० 6.15)। प्रैषादिग्रहणमिहाभिसम्बध्यते। इह कस्मान्न भवति–कालो भोजनस्येति? वाऽसरूपेण ल्युडपि भवति। उक्तमिदं स्र्यधिकारात्परत्र वाऽसरूपविधिरनित्य इति।

अर्थ—काल, समय तथा वेला—इनके उपपद रहते धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) कालो भोक्तुम्
भुज् से तुमुन् हुआ।

(2) वेला भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(3) कालः पचति भूतानि
यहाँ 'काल' शब्द उपपद नहीं है, अपितु यहाँ प्रैष आदि का सम्बन्ध है। अतः तुमुन् नहीं हुआ।

(4) कालो भोजनस्य
वाऽसरूप विधिवशात् यहाँ ल्युट् भी होता है। यह कहा जा चुका है कि स्त्री अधिकार से पर वाऽसरूप विधि अनित्य होती है।

(1125) लिङ् यदि *168* (2821)

कालादयोऽनुवर्त्तन्ते। यच्छब्दे उपपदे कालादिषु धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति। तुमुनोऽपवादः। कालो यद् भुञ्जीत भवान्। समयो यद्भुञ्जीत भवान्। वेला यद् भुञ्जीत भवान्।

अर्थ—काल आदि शब्दों का अनुवर्त्तन है। काल, समय व वेला शब्दों के उपपद रहते तथा यद् शब्द के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। यह 'तुमुन्' प्रत्यय का अपवाद है।

उदा० (1) कालो यद् भुञ्जीत भवान्
लिङ् हुआ।

(2) समयो यद् भुञ्जीत भवान्
लिङ्।

(3) वेला यद् भुञ्जीत भवान्
लिङ्।

(1126) अर्हे कृत्यतृचश्च *169* (2822)

अर्हतीत्यर्हः, तद्योग्यः। अर्हे कर्तरि वाच्ये गम्यमाने वा धातोः कृत्यतृचः प्रत्यया भवन्ति, चकाराल्लिङ् च। भवता खलु कन्या वोढव्या, वाह्या, वहनीया। भवान् खलु कन्याया वोढा, भवान् खलु कन्यां वहेत्। भवाने-तदर्हेदिति। अथ कस्मादर्हे कृत्यतृचो विधीयन्ते, यावता सामान्येन विहितत्वादर्हेऽपि भविष्यन्ति? योऽयमिह लिङ् विधीयते तेन बाधा मा भूदिति। वाऽसरूपविधिश्चानित्यः।

अर्थ—'अर्ह' का अर्थ है—योग्य। अर्थवाची कर्त्ता के गम्यमान रहते धातु से कृत्यसंज्ञक प्रत्यय व तृच् होते हैं तथा लिङ् भी होता है।

उदा० (1) भवता खलु कन्या वोढव्या (= यह कन्या आप के द्वारा विवाह करने योग्य है)
वह् तव्यत्—हो ढः, सहिवहोरोद्०, झषस्तथो०,
वोढ् धव्य—ष्टुत्व, ढो ढे लोपः,
वोढव्या—टाप्, सु।

(2) भवता खलु कन्या वाह्या
'ण्यत्' हुआ।

(3) भवतु खलु कन्या वहनीया
वह् अनीयर्—हलन्त्यम्,
वहनीया—टाप्, सुप्।

(4) भवान् खलु कन्या या वोढा
वह् तृच्—हो ढः, सहिवहो०, ष्टुना ष्टुः,
वोढा—ढो ढे लोपः, टाप्, सु।

(5) भवान् खलु कन्यां वहेत्
वह लिङ्—तिप्, इतश्च, शप्, यासुट्,
वहेत्—अतो येयः, यकारलोप।

अथ…नित्यः—'अर्ह' अर्थ में कृत्य व तृच् का विधान किस-लिए किया जा रहा है; जबकि सामान्य विधि के द्वारा विहित होने से यहाँ भी हो जायेंगे। जो यहाँ लिङ् का विधान किया गया है, उससे बाधा न हो। वाऽसरूप विधि अनित्य है।

(1127) आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः *170* (3311)

अवश्यं भाव आवश्यकम्। उपाधिरयं नोपपदम्। अवश्यंभावविशिष्टे आधमर्ण्यविशिष्टे च कर्तरि वाच्ये धातोर्णिनिः प्रत्ययो भवति। अवश्यकङ्कारी। मयूर-व्यंसकादित्वात्समासः। आधमर्ण्ये खल्वपि—शतंदायी, सहस्रंदायी, निष्कंदायी।

अर्थ—आवश्यक अवश्यं के भाव को कहते हैं। यह उपाधि है; उपपद नहीं है। आवश्यक विशिष्ट तथा आधमर्ण्य विशिष्ट कर्त्ता वाच्य होने पर धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अवश्यङ्कारी
अवश्य कृ णिनि—चुटू, उपदेशेऽजनु०, वृद्धि, मयूरव्यंसकादि से समास,
अवश्यङ्कारी—सु।

(2) शतंदायी
शत दा णिनि—अधमर्णता वाच्य है,
शत दा युक् इन्—अनुबन्धलोप, आतो युक् चिण्कृतोः,
शतंदायी—सु।

(3) सहस्रंदायी (पूर्ववत्)।
(4) निष्कदायी (पूर्ववत्)।

(1128) कृत्याश्च *171* (3312)

आवश्यकाधमर्ण्ययोरिति वर्तते। कृत्यसंज्ञकाश्च प्रत्यया आवश्यकाधमर्ण्ययोरुपाधिभूतयोर्धातोर्भवन्ति। भवता खलु अवश्यं कटः कर्त्तव्यः, अवश्यं करणीयः, अवश्यं कार्यः, अवश्यं कृत्यः। आधमर्ण्ये-भवता शतं दातव्यम्, सहस्रं देयम्। किमर्थमिदम्, यावता सामान्येन विहिता अस्मिन्नपि विषये भविष्यन्ति? विशेषविहितेन णिनिना बाध्येरन्। कर्त्तरि णिनिः, भावकर्मणोः कृत्याः, तत्र कुतो बाध-प्रसङ्गः? तत्र केचिदादुः-भव्यगेयादयः कर्तृवाचिनः कृत्याः, त इहोदाहरणमिति।

अर्थ—'अवश्यकाधमर्ण्ययोः' का अनुवर्त्तन है। उपाधिभूत आवश्यक तथा आधमर्ण्यविशिष्ट कर्त्ता के वाच्य रहते धातु से 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) भवता खलु अवश्यं कटः कर्त्तव्यः
'तव्यत्' हुआ। इसी प्रकार कटः करणीयः, कटः कार्यः, कटः कृत्यः आदि रूप बनते हैं।
(2) भवता शतं दातव्यम् (पूर्ववत्)।
(3) भवता सहस्रं देयम् (पूर्ववत्)।

किमर्थ…रणमिति—यद्यपि सामान्य अर्थ में कहे गए कृत्य प्रत्यय यहाँ पर भी हो जायेंगे। विशेष रूप से कथित 'णिनि' के द्वारा बाधित होते हैं। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा पुनः विधान

किया गया है। कर्त्ता वाच्य होने पर 'णिनि' होता है। भाव तथा कर्म में कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं। तब प्रश्न उठता है कि बाध का प्रसंग ही कहाँ उपस्थित होता है।

इस विषय में कुछ कहते हैं। भव्य, गेय आदि कर्तृवाची जो प्रत्यय हैं, वे ही यहाँ उदाहरण हैं।

(1129) शकि लिङ् च *172* (2823)

शकीति प्रकृत्यर्थविशेषणम्। शक्नोत्यर्थोपाधिके धात्वर्थे लिङ् प्रत्ययो भवति, चकारात् कृत्याश्च। भवता खलु भारो वोढव्यः, वहनीयः, वाह्यः। भवान् खलु भारं वहेत्। भवानिह शक्तः। सामान्यविहितानां पुनर्वचनं लिङा बाधा मा भूदिति।

अर्थ—'शकि' यह प्रकृति के अर्थ का विशेषण है। शक्य अर्थ गम्यमान होने पर धातु से लिङ् प्रत्यय तथा कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) भवता खलु भारो वोढव्यः
वह् तव्यत्—हो ढः, सहिवहोरो०, धत्व, ष्टुना ष्टुः,
वोढव्यः—सु।

(2) भवता खलु भारो वहनीयः
'अनीयर्' हुआ।

(3) भवान् खलु भारं वहेत्
शक्यार्थ में लिङ् हुआ।

सामान्य···भूदिति—सामान्य रूप से से कहे गए प्रत्ययों के पुनः विधान का फल यह है कि इनका लिङ् के द्वारा बाध न हो।

(1130) आशिषि लिङ्लोटौ *173* (2195)

आशंसनमाशीः, अप्राप्तस्येष्टस्यार्थस्य प्राप्तुमिच्छा। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः। चिरं जीव्याद् भवान्। चिरं जीवतु भवान्। आशिषीति किम्? चिरं जीवति देवदत्तः।

अर्थ—आशंसन को 'आशीः' कहते हैं। अप्राप्त इष्ट अर्थ को प्राप्त करने की इच्छा ही आशंसा है। यह भी प्रकृति के अर्थ का विशेषण है।

आशीर्वाद विशिष्ट अर्थ में धातु से लिङ् व लोट् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) चिरं जीवतु भवान्
यहाँ लोट् हुआ।

(2) चिरं जीवेत् भवान्
लिङ् हुआ।

आशिषि अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही धातु से लिङ् व लोट् होते हैं—

(3) चिरं जीवति देवदत्तः
यहाँ आशीर्वाद अर्थ नहीं है, अपितु सामान्य कथन है।

(1131) क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम् *174* (3313)

आशिषीत्येव। आशिषि विषये धातोः क्तिच्क्तौ प्रत्ययौ भवतः समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। तनुतात् तन्तिः। सनुतात् सातिः। भवतात् भूतिः। मनुतात् मन्तिः। क्तः खल्वपि—देवा एनं देयासुर्देवदत्तः। सामान्येन विहितः क्तः पुनरुच्यते, क्तिचा बाधा मा भूदिति। चकारो विशेषणार्थः–'न क्तिचि दीर्घश्च' (6.4.39) इति।

अर्थ—'अशिषि' इसका अनुवर्त्तन है। संज्ञा गम्यमान रहते धातु से क्तिच् व क्त प्रत्यय होते हैं, आशीर्वाद के विषय में। 'क्तिच्' के चकार व ककार की इत्संज्ञा होती है। 'क्त' के ककार की इत्संज्ञा होती है।

संज्ञा गम्यमान होने पर ही ये प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) तन्तिः (= लम्बी रस्सी)
तनुतात्—संज्ञा गम्यमान रहते 'क्तिच्' हुआ,
तन् ति—लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्,
तन्तिः—सु।

(2) सातिः (= दान)
सन् क्तिच् → स आ ति—सनः क्तिचि,
सातिः—सु।

(3) भूतिः (= ऐश्वर्य)
भू क्तिच्—पूर्ववत्,
भूतिः—सु।

(4) मन्तिः
मन् क्तिच्—पूर्ववत्,
मन्तिः—सु।

(5) देवा एनं देयासुर्देवदत्तः
दा क्त—यहाँ 'क्त' हुआ, 'दा दद्घोः',
दत्तः—खरि च, सु।

सामान्येन···इति—सामान्य सूत्र के द्वारा 'क्त' कहा जा चुका है, तदपि इसके पुनः विधान का फल यह है कि क्तिच् के द्वारा बाध न हो। 'क्तिच्' में चकार अनुबन्धविशेषण के लिए है, ताकि 'न क्तिचि दीर्घश्च' में ग्रहण हो सके।

(1132) माङि लुङ् *175* (2219)

माङ्युपपदे धातोर्लुङ् प्रत्ययो भवति। सर्वलकाराणामपवादः। मा कार्षीत्। मा हार्षीत्। कथं मा भवतु, तस्य पापं मा भविष्यतीति? असाधुरेवायम्। केचिदाहुः- अङिदपरो माशब्दो विद्यते, तस्यायं प्रयोगः।

अर्थ—माङ् उपपद रहते धातु से लुङ् प्रत्यय होता है। यह सब लकारों का अपवाद है। अतः माङ् के उपपद रहते तीनों कालों (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) में तथा विधि आदि पूर्वोक्त अर्थों में लुङ् होता है।

उदा० (1) (मा) कार्षीत्
कृ लुङ् → कृ तिप्—लुङ् हुआ,
कृ सिच् त्—इतश्च, च्लेः सिच्,
कार् स् ई त्—अस्तिसिचोऽपृ०, वृद्धि, अट् का अभाव,
कार्षीत्—आदेशप्रत्यययोः।

(2) (मा) हार्षीत्
हृ लुङ्—पूर्ववत्।

कथम्···प्रयोगः—'मा भवतु तस्य पापम्' तथा 'मा भविष्यति तस्य पापम्'—इन स्थलों पर लुङ् किस कारण नहीं हुआ? कुछ विद्वान् कहते हैं कि 'मा' उपपद दो प्रकार का है—एक ङित् (माङ्) तथा दूसरा अङित् (मा)। प्रस्तुत दोनों स्थलों पर अङित् (मा) का प्रयोग होने से लुङ् नहीं हुआ।

आचार्य नागेश काशिकाकार से सहमत नहीं हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आशिषि लिङ्लोटौ' से प्रकृत सूत्र में 'लिङ्लोटौ' पद का मण्डूकप्लुति न्याय से अनुवर्त्तन माना है। उनके अनुसार 'माङ्' उपपद रहते धातु से लुङ्, लोट् तथा लिङ् लकार होते हैं। महर्षि जी के द्वारा प्रदर्शित समाधान के द्वारा 'मा ते सङ्गोऽस्तु' (गी० 2.47) तथा 'मा वदेः' (विदु० 3.25) जैसे स्थलों की संगति तो लग जाती है, परन्तु 'मा विनाशं गमिष्यामः' (रा० 7.35.63) जैसे भविष्यत् कालिक प्रयोगों की संगति नहीं हो पाती।

(1133) स्मोत्तरे लङ् च *176* (2220)

स्मशब्दोत्तरे माङ्युपपदे धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति चकाराल्लुङ् च। मा स्म करोत्। मा स्म कार्षीत्। मा स्म हरत्। मा स्म हार्षीत्।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अर्थ—'स्म' अव्यय है उत्तर में जिसके, ऐसे 'माङ्' शब्द के उपपद रहते धातु से लङ् प्रत्यय होता है; चकारात् लुङ् भी होता है।

उदा० (1) मा स्म करोत्
कृ लङ्—'मा स्म' के उपपद रहते लङ् हुआ,
करोत्—माङ् के योग में अट् का निषेध हुआ।

(2) मा स्म कार्षीत्
पक्ष में लुङ् हुआ।

(3) मा स्म हरत्
पूर्ववत् लङ्।

(4) मा स्म हार्षीत्
पूर्ववत् लुङ्।

विशेष—न्यासकार व पदमञ्जरीकार 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'अधिक' स्वीकार करते हैं।[1] अतः 'मा' तथा 'स्म' का व्यवहित प्रयोग होने पर भी लङ् व लुङ् हो जायेंगे।

---

1. **काशि० (न्या०) 3.3.176** स्मशब्द उत्तरमधिकं यस्य माङः स तथोक्तः।
काशि० (पदम०) 3.3.176 अत्रोत्तरशब्द आधिक्यवचनो न दिग्वचनः। तेन पूर्वभूतेऽपि स्मशब्दे भवति।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(1134) धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः *1* (2824)

धात्वर्थे धातुशब्दः। धात्वर्थानां सम्बन्धो धातुसम्बन्धः, विशेषणविशेष्यभावः, तस्मिन् सति अयथाकालोक्ता अपि प्रत्ययाः साधवो भवन्ति। अग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्त्रो जनिता। कृतः कटः श्वो भविता। भावि कृत्यमासीत्। अग्निष्टोमयाजीति भूतकालः, जनितेति भविष्यत्कालः, तत्र भूतः कालो भविष्यत्कालेनाभिसम्बध्यमानः साधुर्भवति। विशेषणं गुणत्वाद्विशेष्यकालमनुरुध्यते, तेन विपर्ययो न भवति। प्रत्ययाधिकारे पुनः प्रत्ययग्रहणमधात्वधिकारविहिता अपि प्रत्ययास्तद्धिता धातुसम्बन्धे सति कालभेदे साधवो यथा स्युरिति—गोमानासीत्, गोमान् भविता। गावो विद्यन्तेऽस्येति वर्तमानविहितो मतुप्, आसीद्, भवितेति सम्बन्धादतीते भविष्यति च साधुर्भवति।

अर्थ—धात्वर्थ में धातु शब्द होता है। धात्वर्थों का सम्बन्ध धातुसम्बन्ध कहलाता है। यह विशेषण-विशेष्यभाव है। दो धातुओं के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्न काल में कहे गए प्रत्यय भी साधु होते हैं।

उदा० (1) अग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्त्रो जनिता
(= इसका अग्निष्टोमयाजी पुत्र होगा)—यहाँ 'अग्निष्टोमेनेष्टवान्' इस विग्रह के अनुसार 'करणे यजः' से भूतकाल में 'णिनि' हुआ। 'जनिता' में भविष्यत् काल है। भिन्न काल होने से दोनों में विरोध हुआ, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा ये दोनों प्रत्यय साधु हैं।

(2) कृतः कटः श्वो भविता (पूर्ववत्)।

विशेषणं····भवति—विशेषण गुण होने के कारण विशेष्य के काल का करता है, इससे विषमता नहीं होती। प्रत्यय के अधिकार में पुनः 'प्रत्यय' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि धात्वधिकार से रहित अन्यत्र कहे गए तद्धित प्रत्यय भी धातु के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्न काल के रहते साधु होते हैं।

(3) गोमान् आसीत्
पूर्ववत् दोनों प्रत्यय साधु हैं।

(4) गोमान् भविता (पूर्ववत्)।

यहाँ 'गावो विद्यन्तेऽस्य' इस विग्रह के अनुसार वर्त्तमान के अर्थ में 'मतुप्' हुआ। 'आसीत्' में भूतकाल में प्रत्यय हुआ। दोनों में विरोध है, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा ये साधु हैं। इसी प्रकार 'भविष्यत्' में 'भविता' भी साधु है।

(1135) क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो हिस्वौ, वा च तध्वमोः *2* (2825)

धातुसम्बन्ध इति वर्तते। पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। समभिहारविशिष्टक्रियावचनाद्धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति सर्वेषु कालेषु। सर्वलकाराणामपवादः। तस्य च लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतः, तध्वंभाविनस्तु वा भवतः। योगविभागोऽत्र कर्तव्यः—क्रियासमभिहारे लोट्, ततो लोटो हिस्वौ। लोडित्येव—लोड्धर्माणौ हिस्वौ भवत इत्यर्थः। तेनात्मनेपदपरस्मैपदत्वं भेदेनावतिष्ठते, तिङ्त्वं च द्वयोरपि भवति। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, इमौ लुनीतः, इमे लुनन्ति। लुनीहि लुनीहीत्येव त्वं लुनासि, युवां लुनीथः, यूयं लुनीथ। अथवा लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ। लुनीहि लुनीहित्येवाहं लुनामि, आवां लुनीवः, वयं लुनीमः। भूते—लुनीहि लुनीहीत्ये-वायमलावीत्, अलाविष्टाम्, अलाविषुः। एवं मध्यमोत्तमयोरुदाहार्यम्। भविष्यति—लुनीहि लुनीहीत्येवायं लविष्यति, लविष्यतः, लविष्यन्ति। एवं मध्यमोत्तमयोरुदाहार्यम्। अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते। अधीष्वाधीष्वेत्येव त्वमधीषे, युवामधीयाथे, यूयमधीध्वे। अथवा—अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे। अधीष्वाधीष्वेत्येवाहमधीये, आवामधीवहे, वयमधीमहे। एवं सर्वेष्वेव लकारेषूदाहार्यम्। क्रियासमभिहाराभिव्यक्तौ द्विर्वचनमयं लोडपेक्षते—*क्रियासमभिहारे द्वे भवत इति* (म०भा०)। यङ्प्रत्ययः पुनरस्मिन्नेवार्थे विधीयमानः स्वयमेव शक्तत्वान्नापेक्षते द्विर्वचनम्।

अर्थ—'धातुसम्बन्धे' का अनुवर्त्तन है। 'समभिहार' का अर्थ है—पौनःपुन्य। यह भी प्रकृति के अर्थ का विशेषण है। धात्वर्थों का परस्पर सम्बन्ध होने पर धातु से सभी कालों में लोट् प्रत्यय होता है, यदि 'क्रिया का बार-बार होना' अर्थ गम्यमान हो। यह सभी लकारों का अपवाद है। इस लोट् प्रत्यय के स्थान पर 'हि'

और 'स्व' आदेश होते हैं तथा 'त' व 'ध्वम्' प्रत्ययों के स्थान पर ('हि' तथा 'स्व') आदेश विकल्प से होते हैं। यहाँ (निम्नलिखित प्रकार से) योगविभाग करना चाहिए—

(क) क्रियासमभिहारे लोट् अर्थात् 'क्रिया का बार-बार होना' अर्थ गम्यमान हो तो धातु से लोट् प्रत्यय होता है।

(ख) लोटो हिस्वौ अर्थात् उस लोट् प्रत्यय के स्थान पर 'हि' तथा 'स्व' आदेश होते हैं, जो 'त' तथा 'ध्वम्' प्रत्ययों में विकल्प से होते हैं।

इस प्रकार आत्मनेपदत्व तथा परस्मैपदत्व होता है।

उदा०

वर्त्तमानकाले	'हि' आदेशस्य प्रयोगाः
अयं लुनीहि लुनीहि इति	अयं लुनाति।
इमौ लुनीहि लुनीहि इति	इमौ लुनीतः।
इमे लुनीहि लुनीहि इति	इमे लुनन्ति।
त्वं भवान् लुनीहि लुनीहि इति	त्वं लुनासि।
युवां भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इति	युवां लुनीथः।
यूयं भवन्तो लुनीहि लुनीहि इति	यूयं लुनीथ।
यूयं भवन्तो लुनीत लुनीत इति	यूयं लुनीथ।
अहं लुनीहि लुनीहि इति	अहं लुनामि।
आवां लुनीहि लुनीहि इति	आवां लुनीवः।
वयं लुनीहि लुनीहि इति	वयं लुनीमः।

भूतकाले	'हि' आदेशस्य प्रयोगाः
अयं लुनीहि लुनीहि इति	अयमलावीत्
इमौ लुनीहि लुनीहि इति	इमावलाविष्टाम्।
इमे लुनीहि लुनीहि इति	इमेऽलाविषुः।
त्वं भवान् लुनीहि लुनीहि इति	त्वमलावीः।
युवां भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इति	युवामलाविष्टाम्।
यूयं भवन्तो लुनीहि लुनीहि इति	यूयमलाविष्ट।
यूयं भवन्तो लुनीत लुनीत इति	यूयमलाविष्ट।
अहं लुनीहि लुनीहि इति	अहमलाविषम्।
आवां लुनीहि लुनीहि इति	आवामलाविष्व।
वयं लुनीहि लुनीहि इति	वयमलाविष्म।

भविष्यत्काले	'हि' आदेशस्य प्रयोगाः
अयं लुनीहि लुनीहि इति	अयं लविष्यति।
इमौ लुनीहि लुनीहि इति	इमौ लविष्यतः।
इमे लुनीहि लुनीहि इति	इमे लविष्यन्ति।
त्वं भवान् लुनीहि लुनीहि इति	त्वं लविष्यसि।
युवां भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इति	युवां लविष्यथः।
यूयं भवन्तो लुनीहि लुनीहि इति	यूयं लविष्यथ।
यूयं भवन्तो लुनीत लुनीत इति	यूयं लविष्यथ।
अहं लुनीहि लुनीहि इति	अहं लविष्यामि।
आवां लुनीहि लुनीहि इति	आवां लविष्यावः।
वयं लुनीहि लुनीहि इति	वयं लविष्यामः।

वर्त्तमानकाले	'स्व' आदेशस्य प्रयोगाः
अयम् अधीष्व अधीष्व इति	अयमधीते।
इमौ अधीष्व अधीष्व इति	इमावधीयाते।
इमे अधीष्व अधीष्व इति	इमेऽधीयते।
त्वं भवान् अधीष्व अधीष्व इति	त्वमधीषे।
युवां भवन्तौ अधीष्व अधीष्व इति	युवामधीयाथे।
यूयं भवन्तोऽधीष्व अधीष्व इति	यूयमधीध्वे।
यूयं भवन्तोऽधीध्वम् अधीध्वम् इति	यूयमधीध्वे।
अहम् अधीष्व अधीष्व इति	अहमधीये।
आवाम् अधीष्व अधीष्व इति	आवामधीवहे।
वयम् अधीष्व अधीष्व इति	वयमधीमहे।

भूतकाले	'स्व' आदेशस्य प्रयोगाः
अयम् अधीष्व अधीष्व इति	अयमध्यगीष्ट।
इमौ अधीष्व अधीष्व इति	इमावध्यगीषाताम्।
इमेऽधीष्व अधीष्व इति	इमेऽध्यगीषत।
त्वं भवान् अधीष्व अधीष्व इति	त्वमध्यगीष्ठाः।
युवां भवन्तौ अधीष्व अधीष्व इति	युवामध्यगीषाथाम्।
यूयं भवन्तो अधीष्व अधीष्व इति	यूयमध्यगीढ्वम्।
यूयं भवन्तोऽधीध्वम् अधीध्वम् इति	यूयमध्यगीढ्वम्।
अहम् अधीष्व अधीष्व इति	अहमध्यगीषि।
आवाम् अधीष्व अधीष्व इति	आवामध्यगीष्वहि।
वयम् अधीष्व अधीष्व इति	वयमध्यगीष्महि।

भविष्यत्काले	'स्व' आदेशस्य प्रयोगाः
अधीष्व अधीष्व इति	अध्येष्यते।
अधीष्व अधीष्व इति	अध्येष्येते।
धीष्व अधीष्व इति	अध्येष्यन्ते।
त्वं भवान् अधीष्व अधीष्व इति	त्वमध्येष्यसे।
युवां भवन्तौ अधीष्व अधीष्व इति	युवामध्येष्येथे।
यूयं भवन्तो अधीष्व अधीष्व इति	यूयमध्येष्यध्वे।
यूयं भवन्तोऽधीध्वम् अधीध्वम् इति	यूयमध्येष्यध्वे।
अहम् अधीष्व अधीष्व इति	अहमध्येष्ये।
आवाम् अधीष्व अधीष्व इति	आवामध्येष्यावहे।
वयम् अधीष्व अधीष्व इति	वयमध्येष्यामहे।

एवं—ऊपर सभी प्रयोग विस्तार से दिखाए गए हैं। सभी लकारों, सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में ये प्रयोग जानने चाहिए। क्रिया के समभिहार की अभिव्यक्ति में लोट् में पद का द्वित्व (लुनीहि लुनीहि) होता है। इसी अर्थ में विधीयमान यङ् प्रत्यय स्वयं शक्त होने के कारण द्वित्व की अपेक्षा नहीं रखता।

(1136) समुच्चयेऽन्यतरस्याम् *3* (2826)

अनेकक्रियाध्याहारः समुच्चयः। समुच्चीयमानक्रियावचनाद्धातोरन्यतरस्यां लोट् प्रत्ययो भवति, तस्य लोटो हिस्वावादेशौ भवतः, तध्वंभाविनस्तु वा भवतः। भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमटेत्येवायमटति, इमावटतः, इमेऽटन्ति। भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमटेत्येव त्वमटसि, युवामटथः, यूयमटथ। अथवा–भ्राष्ट्रमटत, मठमटत, खदूरमटत, स्थाल्यपिधानमटतेत्येव यूयमटथ। भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमटेत्येवाहमटामि, आवामटावः, वयमटामः। अथवा भाष्ट्रमटति, मठमटति, खदूरमटति, स्थाल्यपिधानमटति इत्येवायमटति, इमावटतः, इमेऽटन्ति। भाष्ट्रमटसि, मठमटसि, खदूरमटसि, स्थाल्यपिधानमटसि इत्येव त्वमटसि, युवामटथः, यूयमटथ। भाष्ट्रमटामि, मठमटामि, खदूरमटामि, स्थाल्यपिधानमटामीत्येवाहमटामि, आवामटावः, वयमटामः। छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्वेत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते। छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्वेत्येव त्वमधीषे, युवामधीयाथे, यूयमधीध्वे। अथवा–छन्दोधीध्वम्, व्याकरणमधीध्वम्, निरुक्तमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे। छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्वेत्येवाहमधीये, आवामधीवहे, वयमधीमहे। अथवा छन्दोऽधीते, व्याकरणमधीते, निरुक्तमधीते इत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते। छन्दोऽधीषे, व्याकरणमधीषे, निरुक्तमधीषे इत्येव त्वमधीषे, युवामधीयाथे, यूयमधीध्वे। छन्दोऽधीये, व्याकरणमधीये, निरुक्तमधीये–इत्येवाहमधीये, आवामधीवहे, वयमधीमहे।

अर्थ—अनेक क्रियाओं के अध्याहार को समुच्चय कहा गया है। धात्वर्थों का सम्बन्ध होने पर अनेक क्रियाओं के एक साथ प्रयोग होने पर समुच्चीयमान क्रिया को कहने वाले धातु से लोट् प्रत्यय विकल्प से होता है तथा उस लोट् के स्थान पर 'हिं' व 'स्व' आदेश होते हैं; लेकिन 'त' व 'ध्वम्' के स्थान पर 'हिं' व 'स्व' आदेश विकल्प से होते हैं। पक्ष में 'त' तथा 'ध्वम्' होते हैं।

उदा० (1) भ्राष्ट्रमट मठमट खदूरमट स्थाल्यपिधानमटेति अयमटति

यहाँ लोट् हुआ। लोट् प्रत्यय के स्थान पर 'हिं' आदेश हुआ। 'अतो हेः' से 'हिं' का लुक् हुआ। यह लट् प्र०पु० एकव० का प्रयोग है।

(2) भ्राष्ट्रमटति मठमटति खदूरमटति स्थान्यपिधानमटति इति अयमटति

यहाँ पक्ष में लोट् नहीं हुआ, लट् हुआ।

(3) भ्राष्ट्रमट....इमौ अटतः।

(4) भ्राष्ट्रमतः....इमौ अटतः।

इसी प्रकार इमे अटन्ति, त्वमटसि, युवामटथः—में दो-दो प्रयोग जानना चाहिए।

(5) भ्राष्ट्रमट....यूयमटथ (हि आदेश)।

(6) भ्राष्ट्रमटत....यूयमटथ (हि आदेश अभाव)।

(7) भ्राष्ट्रमटथ....यूयमटथ (लोट् का अभाव)।

मध्यम पुरुष बहुवचन में पूर्वोक्त तीन रूप बनते हैं।

इसी प्रकार उत्तम पुरुष के तीनों वचनों के प्रयोग तथा भूतकाल व भविष्यत् के सभी प्रयोग भी मूल से जानने चाहिए।

(8) छन्दोऽधीष्व व्याकरणमधीष्व निरुक्तमधीष्वेति अयमधीते

यहाँ लोट् हुआ।

(9) छन्दोऽधीते व्याकरणमधीते निरुक्तमधीते इति अयमधीते

लोट् अभाव पक्ष में लट् हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1137) यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् *4* (2827)

पूर्वस्मिन् लोड्विधाने यथाविध्यनुप्रयोगो भवति। यस्माद्धातोर्लोड्विहितस्स एव धातुरनुप्रयोक्तव्यः। धातुसम्बन्धे प्रत्ययविधानाद् अनुप्रयोगः सिद्ध एव। यथाविध्यर्थं तु वचनम्। तथा चैवोदाहृतम्–लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीति। छिनत्तीति नानुप्रयुज्यते। अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते। पठतीति नानुप्रयुज्यते।

अर्थ—पूर्वोक्त लोट् प्रत्यय के विधान में यथाविधि अनुप्रयोग होता है। जिस धातु से लोट् प्रत्यय का विधान किया गया है, उसी का अनुप्रयोग करना चाहिए।

धात्वर्थों का सम्बन्ध होने पर प्रत्यय का विधान होने से अनुप्रयोग सिद्ध ही है। यहाँ यथाविधि के लिए विधान किया जा रहा है। वैसा ही उदाहरण दिया जा चुका है। यथा—

लुनीहि लुनीहीत्येवाऽयं लुनातीति—यहाँ 'लुनीहि' का ही अनुप्रयोग हुआ है; 'छिनत्ति' इसका अनुप्रयोग नहीं होता है।

इसी प्रकार अधीष्वाऽधीष्वेत्येवाऽयमधीते—यहाँ 'अधीष्व' का ही अनुप्रयोग हुआ है; 'पठति' इसका अनुप्रयोग नहीं होता है।

(1138) समुच्चये सामान्यवचनस्य *5* (2828)

द्वितीये लोड्विधाने, समुच्चये सामान्यवचनस्य धातोरनुप्रयोगः कर्त्तव्यः। ओदनं भुङ्क्ष्व, सक्तून् पिब, धानाः खादेत्येवायमभ्यवहरति। सर्वविशेषानुप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम्। लाघवं च लौकिके शब्दव्यवहारे नाद्रियते। भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमटेत्येवायमटतीत्यत्रापि कारकभेदात् क्रियाभेदे सति सामान्यवचनता सम्भवत्येव।

अर्थ—द्वितीय लोट् के विधान में समुच्चय के विषय में सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग करना चाहिए।

उदा० (1) ओदनं भुङ्क्ष्व सक्तून् पिब धाना खादेत्येवाऽयमभ्यवहरति

यहाँ समुच्चीयमान कई धातु हैं। तब सामान्य-वाची धातु का अनुप्रयोग हुआ है।

सर्व····सम्भवत्येव—सभी प्रकार के विशेष अनुप्रयोगों की निवृत्ति के लिए यह विधान किया गया है। लौकिक शब्दव्यवहार की दशा में लाघव की अपेक्षा नहीं होती है।

भ्राष्ट्रमट मठमट खदूरमट स्थाल्यपिधानमटेत्येवाऽयमटति—

यहाँ पर भी कारक का भेद होने से क्रिया का भेद होने पर सामान्यवचनता सम्भव ही है।

(1139) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः *6* (3423)

धातुसम्बन्ध इत्येव। छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया भवन्ति। अन्यतरस्यामिति वर्त्तते। तेनान्येऽपि लकारा यथायथं भवन्ति। लुङ्–शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अहं तेभ्योऽकरं नमः (वा०सं० 16.8)। लङ्–अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः (शां०श्रौ० 5.20.5)। लिट्–अ॒द्या म॒मार॒ (ऋ० 10.55.5)= अद्य म्रियते।

अर्थ—'धातुसम्बन्धे' पद का अनुवर्त्तन है। धातुओं के अर्थों के सम्बन्ध में धातु से लुङ्, लङ् तथा लिट् प्रत्यय विकल्प से होते हैं, वेद के विषय में। 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति है। पक्ष में अन्य प्रत्यय भी यथाप्राप्त होते हैं।

उदा० (क) लुङ्—

(1) शकलाङ्गुष्ठोऽकरत्

लुङ् हो गया।

(2) अहं तेभ्योऽकरं नमः (पूर्ववत्)।

(ख) लङ्—

(3) अग्निमद्य होतारमवृणीताऽयं यजमानः

लङ् हुआ।

(ग) लिट्—

(4) अद्या ममार (शौ० सं० 10.8.32)

मृ लिट्—द्वित्व, वृद्धि आदि।

(1140) लिङर्थे लेट् *7* (3424)

छन्दस्यन्यतरस्यामिति वर्त्तते। लिङर्थे = यत्र लिङ्विधीयते विध्यादिर्हेतुहेतुमतोर्लिङ् (3.3.156) इत्येवमादिस्तत्र, छन्दसि विषयेऽन्तरस्यां लेट् प्रत्ययो भवति। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (ऋ० 1.25.12)। मन्दिषत्। नेता इन्द्रो नेषत् (शा०श्रौ० 7.9.1)। तक्षिषत्। पताति वि॒द्युत् (ऋ० 7.25.1)। प्रजापतिरुदधिं च्यावयाति॒ (तै०सं० 3.5.5.2)।

अर्थ—छन्दसि तथा अन्यतरस्याम्—इन पदों का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में लिङ् के अर्थ में धातु से लेट् प्रत्यय विकल्प से होता है। जहाँ लिङ् का विधान किया जाता है, वहाँ लेट् विकल्प से होता है। लिङ् का विधान विधि आदि अर्थों में तथा हेतुहेतुमद् भाव में किया जाता है।

उदा० (1) जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)

जुष् लेट्—लिङ् के अर्थ में पाक्षिक लेट्, णिद्वद् अभाव,

जुष् इट् स् त्—तिप्, इतश्च, 'सिब्बहुलं लेटि' से 'सिप्', अनुबन्धलोप,

जोष् इ स् अट् त्—'लेटोऽडाटौ' से 'अट्', लघूपधगुण,

जोषिषत्—आदेशप्रत्यययोः।

(2) तारिषत् (ऋ० 1.25.12)

तृ इट् सिप् त्—सभी पूर्ववत्, णित् पक्ष, अट्,

तारिषत्—वृद्धि, षत्व।

(3) मन्दिषत्

मदि → मन् द् सिप् तिप्—इदितो नुम् धातोः, तिप्, सिप्, मन्दिषत्—इट्, अट्, षत्व।

(4) नेषत्
नी सिप् अट् तिप्—पूर्ववत्,
नेषत्—आर्धधातुक गुण।

(5) तक्षिषत्
तक्ष् सिप् तिप्—इट् हुआ,
तक्षिषत्—अट् षत्व।

(6) पताति (ऋ० 7.25.1)
पत् लेट् → पत् तिप्—पूर्ववत्,
पताति—लेटोऽडाटौ।

(7) च्यावयाति
च्यु तिप्—णिद्वत्, अट्,
च्यावयाति—वृद्धि आदि।

(1141) उपसंवादाशङ्कयोश्च *8* (3431)

उपसंवादः परिभाषणम्, कर्त्तव्ये पणबन्धः-यदि मे भवानिदं कुर्याद् अहमपि भवत इदं दास्यामीति। कारणतः कार्यानुसरणं तर्कः उत्प्रेक्षा आशङ्का। उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां छन्दसि विषये लेट् प्रत्ययो भवति। उपसंवादे-अहमेव पशूनामीशै (का०क०सं० 25.1)। मदंग्रा एव वो ग्रंहा गृह्यान्तै (तै०सं० 6.4.7.1) इति। मद्देवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै (तै०सं० 6.4.7.2)। आशङ्कायां च-नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम (ऋ०खि० 10.106.1)। जिह्माचरणेन नरकपात आशङ्क्यते। लिङर्थ एवायाम्, नित्यार्थं तु वचनम्। पूर्वसूत्रेऽन्यतरस्यामिति वर्त्तते।

अर्थ—'तू ऐसा करे तो मैं ऐसा करूँ'—यह व्यवहार पणबन्ध कहलाता है। इसे ही 'उपसंवाद' कहते हैं। उपसंवाद तथा आशंका अर्थ गम्यमान रहते धातु से 'लेट्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (क) उपसंवादे—
(1) अहमेव पशूनामीशे (तै० सं० 6.4.7.1)
ईश् इट्—लेट्, उ० पु० एकव०,
ईशे—रूप बना।

(2) मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै इति
पूर्ववत् लेट् हुआ।

(3) मद्दैवत्यान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै
वच् लेट्—पूर्ववत्।

(ख) आशङ्कायाम्—
(4) नोज्जिह्मायन्तो नरकं पताम
पत् लेट्—पूर्ववत्।

लिङर्थ—यद्यपि यह लिङ् के अर्थ में लेट् प्रत्यय सिद्ध ही था, तदपि नित्य विधि के लिए यह विधान किया जा रहा है।

(1142) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः *9* (3336)

छन्दसीत्येव। तुमुनोऽर्थस्तुमर्थः। तत्र छन्दसि विषये धातोः सयादयः प्रत्यया भवन्ति। तुमर्थो भावः। कथं ज्ञायते? वचनसामर्थ्यात्। तावदयं कर्त्तुरपकृष्यते, न चायमयस्मिन्नर्थे तुमुन्नादिश्यते, अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति (प० 122), स्वार्थश्च धातूनां भाव एव। से-वक्षे रायः। सेन्-ता वामेषे रथानाम् (ऋ० 5.56.3)। असे, असेन्-क्रत्वे दक्षाय जीवसे (अथ० 6.19.2)। स्वरे विशेषः। क्से, कसेन्-प्रेषे भगाय, श्रियसे (तै०सं० 1.2.11.1)। अध्यै, अध्यैन्-कर्मण्युपाचरध्यै (तै०सं० 1.2.11.1)। स्वरे विशेषः। कध्यै-इन्द्राग्नी आहुवध्यै (वा०सं० 3.13)। कध्यैन्-श्रियध्यै। शध्यै, शध्यैन्-पिबध्यै, सह मादयध्यै (वा०सं० 3.13)। तवै-सोममिन्द्राय पातवै (ऋ० 8.69.10)। तवेङ्-दशमे मासि सूतवे (ऋ० 10.184.3)। तवेन्-स्वर्देवेषु गन्तवे (अथ० 9.5.17) कर्त्तवे (ऋ० 9.8620), हर्त्तवे।

अर्थ—'छन्दसि'का अनुवर्त्तन है। तुमुन् प्रत्यय के अर्थ को तुमर्थ कहते हैं। वेद के विषय में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में धातु से, सेन्, असे, असेन्, क्से, क्सेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् तथा तवेन्—ये प्रत्यय होते हैं।

ये प्रत्यय भाव में होते हैं। यह कैसे ज्ञात होता है? वचन-सामर्थ्य से विदित होता है। कर्त्ता के भाव का अपकर्षण होता है। अन्य अर्थ में तुमुन् प्रत्यय का आदेश नहीं होता। जिन प्रत्ययों के अर्थ का निर्देश नहीं किया जाता, वे स्वार्थ में ही होते हैं और धातुओं का स्वार्थ ही 'भाव' कहलाता है।

अनुबन्धलोप कर देने पर प्रथम छः प्रत्ययों का 'से' स्वरूप

शेष रहता है तथा अगले छः प्रत्ययों का 'अध्यै' ऐसा शेष रहता है। 'तवेङ्' तथा 'तवेन्' का 'तवे' शेष रहता है।

'न्' अनुबन्ध आद्युदात्त के स्वर के अनुरोध से है, 'क्' तथा 'ङ्' अनुबन्ध प्राप्त गुण (व वृद्धि) आदेश के निषेध के लिए हैं।

उदा० (1) वक्षे रायः
वच् से → वक् से—कुत्व,
वक्षे—मूर्धन्य आदेश।

(2) ता वामेषे रथानाम् (ऋ० 1.66.3)
इ सेन्—आर्धधातुक गुण,
एषे—मूर्धन्य आदेश।

(3) क्रत्वे दक्षाय जीवसे
यहाँ असे अथवा असेन् प्रत्यय है। केवल स्वर का अन्तर है।

(4) प्रेषे भगाय (यजु० 5.7)
प्र इ क्से—अनुबन्धलोप, मूर्धन्यादेश।

(5) गवामिव श्रियसे (ऋ० 5.59.3)
श्रि क्सेन्—इयङ् आदेश।

(6) कर्मण्युपाचरध्यै (तै० 1.2.11.1)
अध्यै तथा अध्यैन् में स्वर का अन्तर है।
उप आ चर् अध्यै—पूर्ववत्।

(7) इन्द्राग्नी आहुवध्यै (वा० सं० 3.13)
आ हु कध्यै—उवङ् आदेश, शेष पूर्ववत्।

(8) श्रियध्यै
श्रि कध्यैन्—पूर्ववत्।

(9) पिबध्यै (ऋ० 7.92.2)
पा शध्यै—लशक्वतद्धिते, शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा, 'कर्तरि शप्' से 'शप्', पिब आदेश,
पिब अ अध्यै—रूप बना।

(10) सह मादयध्यै (वा० सं० 3.13)
मद् णिच् शध्यैन्—अत उपधायाः, लशक्वतद्धिते,
मादि अध्यै—गुण, अयादेश।

(11) सोममिन्द्राय पातवै (ऋ० 8.69.10)
पा तवै—पूर्ववत्,
पातवै—रूप बना।

(12) दशमे मासि सूतवे (ऋ० 10.184.3)
सू तवेङ्—हलन्त्यम्,
सूतवे—प्राप्त गुण का निषेध।

(13) स्वर्देवेषु गन्तवे (शौ० 9.5.17)
गम् तवेन्—अनुस्वार, परसवर्ण।

(14) कर्त्तवे (ऋ० 9.86.20)
कृ तवेन्—आर्धधातुक गुण।

(15) हर्त्तवे
हृ तवेन्—गुण।

सर्वत्र 'कृन्मेजन्तः' से अव्ययसंज्ञा, 'अव्ययादाप् सुपः' से सुप् का लुक्।

विशेष—सूत्रोक्त कध्यै, कध्यैन्, शध्यै व शध्यैन् को नागेश ने व्यर्थ माना है। नागेश के अनुसार स्वरविषमता का समाधान है। परन्तु नागेश का कथन भ्रान्तिपूर्ण है। पाणिनि के द्वारा पन्द्रह प्रत्ययों का विधान इस बात का परिचायक है कि पाणिनि ने वैदिक शब्दों का अनुशासन अत्यधिक सूक्ष्मता से किया है।

(1143) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै *10* (3437)

तुमर्थे छन्दसीत्येव। प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै इत्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि विषये। प्रपूर्वस्य यातेः कैप्रत्ययः-प्रयै देवेभ्यः (ऋ० 1.421.6), प्रयातुम्। रुहेः इष्यैप्रत्ययः-अपामोषधीनां रोहिष्यै (तै०सं० 1.3.10.2), रोहणाय। व्यथेर्नञ्पूर्वस्य इष्यैप्रत्ययः-अव्यथिष्यै (का० सं० 3.7), अव्यथनाय।

अर्थ—'तुमर्थे' व 'छन्दसि' पदों का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में प्रयै, रोहिष्यै तथा अव्यथिष्यै शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) प्रयै (ऋ० 1.142.6)
प्र या कै—निपातन से 'कै' प्रत्यय, ककार की इत् संज्ञा,
प्रय् ऐ—आतो लोप इटि च,
प्रयै—रूप बना।

(2) रोहिष्यै (ऋ० 2.1.4)
रुह् इष्यै—निपातन से 'इष्यै' प्रत्यय।

(3) अव्यथिष्यै (का० 3.7)
नञ् व्यथ् इष्यै—निपातन से 'इष्यै' प्रत्यय।

(1144) दृशे विख्ये च *11* (3438)

तुमर्थे छन्दसीत्येव। दृशे, विख्ये इत्येतौ छन्दसि विषये निपात्येते। दृशेः के प्रत्ययः-दृशे विश्वाय सूर्यम् (ऋ० 1.50.1) = द्रष्टुम्। विख्ये त्वा हरामि = विख्यातुम्।

अर्थ—'तुमर्थे' व 'छन्दसि' पदों का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में दृशे तथा विख्ये शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) दृशे विख्याय सूर्यम् (वा० सं० 7.41)
दृश् के—निपातन से 'के' प्रत्यय,
दृशे—लशक्वतद्धिते।

(2) विख्ये (ऋ० 10.158.4)
वि ख्या के—निपातन से 'के' प्रत्यय,
वि ख्य् ए—आतो लोप इटि च।

विशेष—भट्टोजिदीक्षित[1] तथा हरदत्त[2] ने 3.4.10.11 सूत्रों के योगविभाग को चिन्त्य माना है। उनके अनुसार दोनों सूत्रों का एकत्र पाठ होना चाहिए था, परन्तु दोनों विद्वान् इस स्थल पर भ्रान्त हैं। 3.4.11 में 'च' का योग अनुक्त समुच्चय के ग्रहण के लिए है। अतः प्रयै (शौ० 20.25.7) तथा प्रख्ये (ऋ० 7.81.4) आदि पदों की साधुता योगविभाग की दशा में सिद्ध होती है। योगविभाग का दूसरा प्रयोजन यह है कि आचार्य की ऐसी शैली रही है। द्र०—धातुपाठ 1.171, वडि विभाजने। मडि च।

(1145) शकि णमुल्कमुलौ *12* (3439)

छन्दीसीत्येव। शक्नोतौ धातावुपपदे छन्दसि विषये तुमर्थे णमुल्कमुल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः। ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् (मै०सं० 1.6.4)। विभक्तुमित्यर्थः। अपलुम्पं नाशक्नोत् (मै०सं० 1.6.5)। अपलोप्तुमित्यर्थः।

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन है। तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में शक् धातु के उपपद रहे धातु से णमुल् व कमुल् प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में।

'णमुल्' के लकार (हलन्त्यम्), उकार (उपदेशेऽज०) तथा णकार (चुटू) की इत् संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'कमुल्' के लकार, उकार तथा ककार (लशक्वतद्धिते) की इत् संज्ञा होती है। 'ण्' अनुबन्ध का प्रयोजन वृद्धि आदेश करना है, 'क्' अनुबन्ध का प्रयोजन गुण व वृद्धि का प्रतिषेध करना है तथा 'ल्' अनुबन्ध स्वर के लिए है।

1. प्रौ० म० 3.4.10—11.
2. पदम० 3.4.10.—11

उदा० (1) अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् (मै० सं० 1.6.4)
वि भज् णमुल्—अत उपधायाः,अनुबन्धलोप,
विभाजम्—अव्यय संज्ञा, सु, सुलुक्।

(2) विपृच्छम् (ऋ० 7.86.3)
वि पृच्छ् अम्—कमुल् हुआ।

(3) अपलुपम्
अप लुप् कमुल्—लघूपधगुण का निषेध।

(1146) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ *13* (3440)

तुमर्थे छन्दसीत्येव। ईश्वरशब्द उपपदे छन्दसि विषये तुमर्थे धातोस्तोसुन्कसुन्प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोऽभिचरितोः। अभिचरितुमित्यर्थः। ईश्वरो विलिखः। विलिखितुमित्यर्थः। ईश्वरो वितृदः। वितर्दितुमित्यर्थः।

अर्थ—तुमर्थे, छन्दसि—इन दोनों पदों का अनुवर्त्तन है। तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में 'ईश्वर' उपपद रहते धातु से 'तोसुन्' तथा 'कसुन्' प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में।

तोसुन् व कसुन् के उकार व नकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) ईश्वरोऽभिचरितोः
अभि चर् तोसुन्—अनुबन्धलोप, इट्,
अभिचरितोः—सु, लुक्।

(2) ईश्वरो विलिखः
वि लिख् कसुन्—पूर्ववत्।

(3) ईश्वरो वितृदः
वि तृद् कसुन्—पूर्ववत्।

(1147) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः *14* (3441)

छन्दसीत्येव। कृत्यानामर्थो भावकर्मणी। तस्मिन् कृत्यार्थे छन्दसि विषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै = अन्वेतवै = अन्वेतव्यम्। परिधातवै (अथ० 2.13.2) = परिधातव्यम्। परिस्तरितवै = परिस्तरितव्यम् (का०सं० 32.7)। केन्–नावगाहे = नावगाहितव्यम्। केन्य–दिदृक्षेण्यः (ऋ० 1.1.46.5), शुश्रूषेण्यः (तै० आ० 4.1) = दिदृक्षितव्यम्, शुश्रूषितव्यम्। त्वन्–कर्त्वं हविः (अथ० 1.4.3) = कर्त्तव्यम्। तुमर्थे छन्दसि इति सयादिसूत्रेऽपि तवै विहितः। तस्य तुमर्थादन्यत्र कारके विधिर्द्रष्टव्यः।

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन है। कृत्य प्रत्ययों का अर्थ भाव और कर्म है। कृत्य के अर्थ में धातु से तवै, केन्, केन्य तथा त्वन् प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में।

उदा० (1) अन्वेतवै (ऋ० 7.44.5)
अनु इ तवै—तव्यत् के अर्थ में, आर्धधातुक गुण,
अन्वेतवै—यणादेश, कृन्मेजन्तः।

(2) परिधातवै (शौ० सं० 2.13.2)
परि धा तवै—पूर्ववत्।

(3) अवगाहे
अव गाह् केन्—हलन्त्यम्, लशक्वतद्धिते
अवगाहे—सु, लुक्।

(4) दिदृक्षेण्यः (तै० ब्रा० 2.7.9.4)
दृश् सन्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
दिदृक्ष केन्य—लशक्वतद्धिते,
दिदृक्षेण्यः—णत्व, सु।

(5) शुश्रूषेण्यः (तै० आ० 4.1)
श्रु सन् → शुश्रूष केन्य—पूर्ववत्।

(6) कर्त्वम् (शौ० सं० 1.4.3)
कृ त्वन्—हलन्त्यम्, आर्धधातुक गुण,
कर्त्वम्—सु।

तुमर्थे····द्रष्टव्यः—तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद के विषय में 'से' आदि प्रत्ययों में 'तवै' भी कहा जा चुका है। तुमुन् के अर्थ से अतिरिक्त स्थल पर यह विधान है।

(1148) अवचक्षे च *15* (3442)

कृत्यार्थे छन्दसीत्येव। अवपूर्वाच्चक्षिङ एश्प्रत्ययो निपात्यते। रिपुणा नावचक्षे (वा०सं० 17.93)। नावख्यातव्यमित्यर्थः।

अर्थ—कृत्यार्थे तथा छन्दसि—इन पदों का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में 'अवचक्षे' पद निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) वावचक्षे (वा०सं०17.93)
अव चक्ष् एश्—तव्यत् के अर्थ में 'निपातन से 'एश्'[1] हुआ। सार्वधातुक संज्ञा,
अवचक्षे—अव्ययसंज्ञा, सुलुक्।

1. कुछ विद्वान् 'एश्' के स्थान पर 'शेन्' प्रत्यय स्वीकार करते हैं।

(1149) भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् *16* (3443)

कृत्यार्थे इति निवृत्तम्। तुमर्थे इति वर्त्तते। प्रकृत्यर्थविशेषणं भावलक्षणग्रहणम्। भावो लक्ष्यते येन तस्मिन्नर्थे वर्त्तमानेभ्यः स्थादिभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये तुमर्थे तोसुन्प्रत्ययो भवति। आ संस्थातोर्वेद्यां शेरते (का०सं० 11.6)। आ समाप्तेः सीदन्तीत्यर्थः। इण्–पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (का०सं० 8.3)। कृञ्–पुरा वत्सानामपाकर्त्तोः (का०सं० 31.15)। वदि–पुरा प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम्। चरि–पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्यम् (गो०ब्रा० 2.2.10)। हु–आ होतोरप्रमत्तस्तिष्ठति (तै०सं० 1.4.9.5)। तमि–आ तमितोरासीत (तै०ब्रा० 1.6.9.5)। जनि–आ विजनितोः सम्भवामेति (तै०सं० 2.5.1.5)।

अर्थ—'कृत्यार्थे' की अनुवृत्ति नहीं है। 'तुमर्थे' का अनुवर्त्तन है। प्रकृति के अर्थ के विशेषण को भावलक्षण के द्वारा कहा जाता है। जिसके द्वारा भाव लक्षित हो, उसके अर्थ में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में स्था, इण्, कृ, वद्, चर्, हु, तम् तथा जन्—इन धातुओं से 'तोसुन्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) आ संस्थातोः (काठ०सं० 11.6)
आ सम् स्था तोसुन्—नकार, उकार की इत्संज्ञा,
आसंस्थातोः—अनुस्वार, सु, लुक्।

(2) पुरा सूर्यस्योदेतोः (का०सं०8.3)
उद् इण् तोसुन्—पूर्ववत्।

(3) पुरा वत्सानामपाकर्त्तोः
अप आ कृ तोसुन्—आर्धधातुक गुण, शेष पूर्ववत्।

(4) पुरा प्रवदितोः (तै०सं० 3.4.3.4)
प्र वद् इट् तोसुन्—पूर्ववत्।

(5) पुरा प्रचरितोः (गो०ब्रा०2.2.10)
प्र चर् इट् तोसुन्—पूर्ववत्।

(6) आ होतोः (मै०सं०1.8.5)
आ हु तोसुन्—आर्धधातुक गुण।

(7) आ तमितोः (मै०सं०4.5.5)
तम् इट् तोसुन्—पूर्व।

(8) आ विजनितोः (तै०सं०2.5.1.5)
वि जन् इट् तोसुन्—पूर्ववत्।

(1150) सृपितृदोः कसुन् *17* (3444)

भावलक्षणे छन्दसीति वर्त्तते। सृपितृदोर्धात्वोर्भावलक्षणेऽर्थे वर्त्तमानयोश्छन्दसि विषये तुमर्थे कसुन्प्रत्ययो भवति। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (तै०सं० 1.1.9.3)। पुरा जर्तृभ्य आतृदः (ऋ० 8.1.12)।

अर्थ—भावलक्षणे तथा छन्दसि—इन पदों का अनुवर्त्तन है। भावलक्षण के अर्थ में तथा तुमन् प्रत्यय के अर्थ में सृप् तथा तृद् धातुओं से 'कसुन्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) पुरा क्रूरस्य विसृपः (यजु०1.28)
वि सृप् कसुन्—लशक्वतद्धिते, उपदेशेऽजनु०,
वि सृपः—गुण का निषेध।

(2) पुरा जर्तृभ्य आतृदः (ऋ०8.1.12)
आ तृद् कसुन्—पूर्ववत्।

(1151) अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा *18* (3316)

छन्दसि भावलक्षण इति सर्वं निवृत्तम्। अलं खलु इत्येतयोः प्रतिषेधवाचिनोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति प्राचामाचार्याणां मतेन। अलं कृत्वा। खलु कृत्वा। अलं बाले रुदित्वा। अलङ्खल्वोरिति किम्? मा कार्षीः। प्रतिषेधयोरिति किम्? अलङ्कारः। प्राचांग्रहणं विकल्पार्थम्–अलं रोदनेन। वाऽसरूपविधिश्चेत्पूजार्थम्।

अर्थ—छन्दसि, भावलक्षणे तथा तुमर्थे—इन सबका अनुवर्त्तन नहीं है। प्रतिषेधवाची अलम् तथा खलु उपपद रहते धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है, प्राचीन आचार्यों के मत में।

'अलम्' का स्वरादिगण में तथा 'खलु' का चादिगण में पाठ है। पक्ष में क्त्वा नहीं होता। 'अमैवाऽव्ययेन' से उपपद समास का निषेध होता है। अतः 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'क्त्वातोसुन्कसुनः' से क्त्वाप्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है। 'कृदतिङ्' से कृत् संज्ञा होती है। 'अव्ययकृतो भावे' (महा०3.4.9) से भाव अर्थ में होता है।

उदा० (1) अलं कृत्वा
'अलम्' प्रतिषेधवाची है, इसके उपपद रहते 'कृ' धातु से क्त्वा हुआ।

(2) खलु कृत्वा (पूर्ववत्)।
(3) अलं बाले रुदित्वा (पूर्ववत्)।

अलङ्खल्वो अर्थात् अलम् तथा खलु के उपपद रहते ही धातु से क्त्वा होता है—

(4) मा कार्षीः—यहाँ न 'अलम्' है और न ही 'खलु' है। अतः क्त्वा नहीं हुआ। निषेधवाची माङ् उपपद रहते लुङ् हुआ।

प्रतिषेधयो अर्थात् निषेधवाची 'अलम्' व 'खलु' के उपपद रहते धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है—

(5) अलङ्कारः
यहाँ 'अलम्' उपपद है; परन्तु निषेध अर्थ में नहीं है। अतः क्त्वा नहीं हुआ। भाव में 'घञ्' हुआ।

प्राचाम्—सूत्र में 'प्राचाम्' का ग्रहण विकल्प के लिए है। यथा—

(6) अलं रोदनेन
पक्ष में ल्युट् हुआ। वाऽसरूप विधि के कारण अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से यहाँ ल्युट् मान लेते हैं, तो 'प्राचाम्' का ग्रहण पूर्वाचार्यों के प्रति सम्मान के लिए स्वीकार किया जायेगा।

(1152) उदीचां माङो व्यतीहारे *19* (3317)

क्त्वाऽनुवर्त्तते। माङो धातोर्व्यतीहारे वर्त्तमानादुदीचामाचार्याणां मतेन क्त्वा प्रत्ययो भवति। अपमित्य याचते। अपमित्य हरति। अपूर्वकालत्वादप्राप्तः क्त्वा विधीयते। उदीचांग्रहणात्तु यथाप्राप्तमपि भवति–याचित्वाऽपमयते। हृत्वाऽपमयते। मेङः कृतात्वस्यायं निर्देशः कृतो ज्ञापनार्थः–नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वमिति (शा० प० 15)। तेन 'दाधा घ्वदाप्' (1.1.20) इति दैपोऽपि प्रतिषेधो भवति।

अर्थ—'क्त्वा' का अनुवर्त्तन है। व्यतिहार अर्थ में मेङ् धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है, उदीच्य आचार्यों के मत में।

मेङ् को 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार आदेश होकर 'माङ्' इस प्रकार निर्देश किया गया है।

उदा० (1) अपमित्य याचते
अप मे क्त्वा → अप मा क्त्वा—आकार आदेश,
अपमित्य—ल्यप्, सु, लुक्।

(2) अपमित्य हरति (पूर्ववत्)।

अपूर्व काल होने से क्त्वा प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र के द्वारा विधान किया जा रहा है।

(3) याचित्वाऽपमयते

उदीच्य आचार्यों के मत में क्त्वा होता है, पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होता है।

(4) हृत्वाऽपमयते (पूर्ववत्)।

मेङः०—आत्व किए गए 'मेङ्' का यह निर्देश ज्ञापित करता है कि सानुबन्ध की दशा में भी आत्व आदेश होता है। तब 'दाधाघ्वदाप्' में 'दैप्' का भी निषेध होता है।

(1153) परावरयोगे च *20* (3319)

परावराभ्यां योगः परावरयोगः। परेण पूर्वस्य योगे गम्यमाने अवरेण च परस्य धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति। परेण तावत्–अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः। परनदीयोगेन पर्वतो विशिष्यते। अवरयोगे–अतिक्रम्य तु पर्वतं नदी स्थिता। अवरपर्वतयोगेन नदी विशिष्यते।

अर्थ—यदि पर का पूर्व के साथ तथा पूर्व का पर के साथ योग गम्यमान हो तो धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है।

उदा० (क) परेण—

(1) अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः

(= पर भाग में स्थित नदी से पूर्व पर्वत स्थित है)

यह पर (नदी) का अवर (पर्वत) के साथ योग गम्यमान है। अतः क्त्वा हुआ। इसके स्थान पर 'ल्यप्' हुआ।

(ख) अवरयोगे—

(2) अतिक्रम्य तु पर्वतं नदी स्थिता

(= पर्वत के पश्चात् पर भाग में नदी में स्थित है)

यहाँ अवर का पर के साथ योग गम्यमान है।

(1154) समानकर्तृकयोः पूर्वकाले *21* (3320)

समानः कर्त्ता ययोर्धात्वर्थयोस्तत्र पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद्धातोः क्त्वाप्रत्ययो भवति। शक्तिशक्तिमतोर्भेदस्याविवक्षितत्वात् समानकर्तृकता। भुक्त्वा व्रजति। पीत्वा व्रजति। द्विवचनमतन्त्रम्—स्नात्वा, पीत्वा, भुक्त्वा, दत्वा व्रजति। समानकर्तृकयोरिति किम्? भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्तः। पूर्वकाले इति किम्? व्रजति च जल्पति च। *आस्यं व्यादाय स्वपिति, चक्षुः सम्मील्य हसतीत्युपसङ्ख्यानमपूर्वकालत्वात्* (म० भा०)।

अर्थ—जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्ता समान हो, वे समानकर्तृक कहलाते हैं। यदि धातुओं के अर्थों का कर्ता एक ही हो और किसी धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित हो तो उस पूर्वकाल में स्थित धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। 'समानकर्तृकयोः' में निर्धारण में षष्ठी अथवा सप्तमी है। शक्ति व शक्तिमान् के भेद का कथन न होने से समानकर्तृकता जाननी चाहिए।

उदा० (1) भुक्त्वा व्रजति

भुज् क्त्वा—भुज् धातु तथा व्रज् धातु—इन दोनों के अर्थों का कर्त्ता एक ही है, अतः पूर्वकाल में स्थित भोजनरूप क्रिया के वाचक भुज् धातु से क्त्वा हुआ।

भुक्त्वा—कुत्व, अव्ययसंज्ञा, सु, लुक्।

(2) पीत्वा व्रजति (पूर्ववत्)।

यह क्त्वा भाव में होता है।

यहाँ द्विवचन का प्रयोग उपलक्षणार्थ है। अतः दो से अधिक धातुओं में भी प्रकृत सूत्र का कार्य होता है।

(3) स्नात्वा पीत्वा दत्त्वा व्रजति,

स्ना, पा, दा सभी से क्त्वा हुआ।

समान० अर्थात् दो धात्वर्थों का **समान कर्त्ता होने** पर ही धातु से क्त्वा होता है—

(4) भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्तः

यहाँ भोजन क्रिया का कर्त्ता ब्राह्मण है तथा गमन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त है। दोनों कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं। अतः क्त्वा नहीं हुआ।

पूर्वकाले अर्थात् **पूर्वकाल में स्थित** धातु से क्त्वा होता है—

(5) व्रजति च जल्पति च

व्रजन क्रिया तथा जल्पन क्रिया दोनों साथ-साथ हो रही हैं। पूर्वकाल में स्थित न होने से यहाँ क्त्वा नहीं हुआ।

आस्यं व्यादाय स्वपिति सम्मील्य हसतीत्युपसङ्ख्यानमपूर्वकालत्वात्—पूर्वकाल में स्थित न होने पर भी निम्नलिखित में क्त्वा हो जाता है—

(6) आस्यं व्यादाय स्वपिति

स्वपन क्रिया पूर्वकाल में स्थित है तथा मुख का व्यादान उत्तर क्रिया है। प्रकृत वचन से 'व्यादाय' में क्त्वा > ल्यप् हुआ है।

(7) सम्मील्य हसति (पूर्ववत्)।

(1155) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च *22* (3343)

समानकर्तृकयोः पूर्वकाल इत्येव। आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम्, प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। आभीक्ष्ण्यविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाद्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति, चकारात्

क्त्वा च। द्विर्वचनसहितौ क्त्वाणमुलावाभीक्ष्ण्यं द्योतयतो न केवलौ। आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत (8.1.12) इत्युपसंख्यानाद् द्विर्वचनम्। भोजम्भोजं व्रजति, भुक्त्वा व्रजति। पायम्पायं व्रजति, पीत्वा पीत्वा व्रजति।

अर्थ—समानकर्तृयोः तथा पूर्वकाले—इनका अनुवर्त्तन है। पौनःपुन्य को आभीक्ष्ण्य कहते हैं। यह प्रकृति के अर्थ का विशेषण है। दो (या अधिक) धातुओं के अर्थों का एक समान कर्त्ता होने पर पूर्व काल में स्थित क्रिया के वाचक धातु से 'णमुल्' प्रत्यय तथा क्त्वा प्रत्यय होते हैं, क्रिया के बार-बार होने अर्थ में। णमुल् के णकार, उकार तथा लकार की इत्संज्ञा होती है। 'कृन्मेजन्तः' से णमुलन्त शब्द अव्यय होता है। यह प्रत्यय भाव में होता है।

क्त्वा तथा णमुल् द्विर्वचनसहित ही आभीक्ष्ण्य अर्थ का कथन करते हैं, केवल नहीं। आभीक्ष्ण्य अर्थ में द्वित्व होता है—इस वचन से द्विर्वचन होता है।

उदा० (1) भोजं भोजं व्रजति

भुज् णमुल्—भोजन क्रिया का बार-बार द्योत्य है। भोजन तथा व्रजन—दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक ही है, भोजन धात्वर्थ पूर्वकालविषयक है, अतः 'भुज्' धातु से 'णमुल्' हुआ,

भोज् अम्—लघूपधगुण, अव्ययसंज्ञा,

भोजं भोजम्—सु, लुक्, द्वित्व (नित्यवीप्सयोः)।

(2) पायं पायं व्रजति

पा णमुल्—पूर्ववत्,

पा य् अम्—'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'युक्',

पायं पायम्—पूर्ववत्।

(3) पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा[1]

पक्ष में क्त्वा हुआ, द्वित्व हुआ।

(1156) न यद्यनाकाङ्क्षे *23* (3344)

यच्छब्द उपपदे धातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे वाच्ये। यत्र पूर्वोत्तरे क्रिये स्तस्तच्चेद्वाक्यं न परं किञ्चिदाकांक्षत इति। णमुलनन्तरः, क्त्वा तु पूर्वसूत्रविहितोऽपि प्रतिषिध्यते। यदयं भुङ्क्ते ततः पचति। यदमधीते ततः शेते। अनाकाङ्क्ष इति किम्? यदयं भुक्त्वा व्रजति अधीत एव ततः परम्।

अर्थ—यदि अन्य वाक्य की आकांक्षा न रखने वाला वाक्य गम्यमान हो और दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता समान ही हो तो पूर्वकालविषयक धातु के अर्थ में विद्यमान 'यद्' शब्द के उपपद रहते धातु से णमुल् व क्त्वा प्रत्यय नहीं होते हैं।

णमुल् के अनन्तर पूर्व सूत्र के द्वारा विहित हुआ भी क्त्वा निषेध किया जाता है।

उदा० (1) यदयं भुङ्क्ते ततः पचति

यहाँ भोजन क्रिया व पचन क्रिया का कर्त्ता एक ही है, भोजन क्रिया पूर्वकालविषयक है, 'यद्' शब्द उपपद रहते पूर्वोक्त दोनों प्रत्ययों का प्रतिषेध हो गया।

(2) यदयमधीते ततः शेते (पूर्ववत्)।

अनाकाङ्क्षे अर्थात् अन्य वाक्य की **आकांक्षा न रखने** वाला वाक्य गम्यमान हो तो णमुल् व क्त्वा का निषेध होता है—

(3) यदयं भुक्त्वा व्रजति अधीत एव ततः परम्—यहाँ क्त्वा का निषेध नहीं हुआ।

(1157) विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु *24* (3345)

अप्राप्तविभाषेयम्। आभीक्ष्ण्य इति नानुवर्त्तते। अग्रे, प्रथम, पूर्व इत्येतेषूपपदेषु समानकर्तृकयोः पूर्वकाले धातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ विभाषा भवतः। अग्रे भोजं व्रजति। अग्रे भुक्त्वा व्रजति। प्रथमं भोजं व्रजति। प्रथमं भुक्त्वा व्रजति। पूर्वं भोजं व्रजति। पूर्वं भुक्त्वा व्रजति। विभाषाग्रहणमेताभ्यां मुक्ते लडादयोऽपि यथा स्युः-अग्रे भुङ्क्ते ततो व्रजति। ननु च वाऽसरूप इति भविष्यति? क्त्वाणमुलौ यत्र सह विधीयते तत्र वाऽसरूपविधिर्नास्तीत्येतदनेन ज्ञाप्यते। तेनाभीक्ष्ण्ये लडादयो न भवन्ति। उपपदसमासः कस्मान्न क्रियते? उक्तं तत्रैवकारस्य प्रयोजनम्-अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तत् समस्यते, नाऽन्यदिति (2.2.20)।

अर्थ—यह अप्राप्त विभाषा है। दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक हो तो पूर्वकालविषयक धातु से णमुल् व क्त्वा प्रत्यय विकल्प से होते हैं, अग्रे, प्रथम तथा पूर्व शब्द उपपद रहते।

उदा० (1) अग्रे भोजं व्रजति

भुज् णमुल्—लघूपध गुण,

भोजम्—अव्ययसंज्ञा, सु।

(2) अग्रे भुक्त्वा व्रजति

'अग्रे' उपपद रहते पक्ष में क्त्वा हुआ। कुत्व, अव्ययसंज्ञा, सु तथा सु का लुक्।

1. चार्वाक सम्प्रदाय की एक उक्ति। यह काशिका में उदाहृत नहीं है।

(3) प्रथमं भोजं व्रजति
भुज् णमुल्—पूर्ववत् लघूपध गुण, अव्ययसंज्ञा,
भोजम्—सु, लुक्।

(4) प्रथमं भुक्त्वा व्रजति
पक्ष में क्त्वा।

(5) पूर्वं भोजं व्रजति
णमुल् हुआ।

(6) पूर्वं भुक्त्वा व्रजति
क्त्वा हुआ।

विभाषा०—विभाषा के ग्रहण से पक्ष में लट् आदि प्रत्यय भी होते हैं—

(7) अग्रे भुङ्क्ते ततो व्रजति।
लट् प्रत्यय हुआ।

वाऽसरूप विधि हो जायेगी। इसके द्वारा ज्ञापित होता है कि जहाँ क्त्वा तथा णमुल् का साथ विधान किया जाता है, वहाँ वाऽसरूप विधि नहीं होती है। अतः आभीक्ष्ण्य अर्थ में लट् आदि भी होते हैं। प्रश्न उठता है कि उपपद समास क्यों नहीं होता ? वहाँ (अर्थात् अमैवाऽव्ययेन० सूत्र में) एवकार का प्रयोजन कहा जा चुका है। 'अम्' के साथ ही तुल्यविधान वाले उपपद का समास होता है; अन्य का नहीं।

(1158) कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् *25* (3346)

कर्मण्युपपदे कृञो धातोः खमुञ् प्रत्ययो भवति आक्रोशे गम्यमाने। चोरङ्कारमाक्रोशति। चोरोऽसि दस्युरसि इत्याक्रोशति। चोरकरणम् आक्रोशसम्पादनार्थमेव, न त्वसौ चोरः क्रियते।

अर्थ—आक्रोश अर्थ गम्यमान हो और दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक ही हो तो पूर्वकाल में स्थित धातु से 'खमुञ्' प्रत्यय होता है, यदि कर्मवाची उपपद हो।

'खमुञ्' के ञकार (हलन्त्यम्) व खकार (लशक्वतद्धिते) की इत्संज्ञा होती है। उकार उच्चारणार्थ है। 'अम्' शेष रहता है।

उदा० (1) चोरङ्कारम् आक्रोशति
चोर कृ खमुञ्—अनुबन्धलोप, 'अरुर्द्विष०' से 'मुम्' आगम,
चोर म् कृ अम्—वृद्धि आदेश, अनुस्वार, परसवर्ण,
चोरङ्कारम्—सु, सुलुक्।
यहाँ चोरकरण शपनमात्र है; उसे चोर नहीं किया जा रहा है।

(1159) स्वादुमि णमुल् *26* (3347)

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले, कृञ इति चाऽनुवर्त्तते। स्वादुमीत्यर्थग्रहणम्। स्वाद्वर्थेषूपपदेषु कृञो णमुल् प्रत्ययो भवति। स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते। लवणङ्कारम्भुङ्क्ते। स्वादुमीति मकारान्तनिपातनमीकाराभावार्थम्, च्व्यन्तस्यापि मकारार्थं दीर्घाभावार्थं च (म० भा०)। अस्वाद्वीं स्वाद्वीं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुङ्कारं भुंक्ते (म० भा०)। वाऽसरूपेण क्त्वापि भवति–स्वादुं कृत्वा भुंक्ते। तुमर्थाधिकाराच्च सर्वे एते भावे प्रत्ययाः। यद्येवं स्वादुङ्कारं भुंक्ते देवदत्त इति णमुला कर्त्तुरनभिहितत्वात्कर्त्तरि कस्मात्तृतीया न भवति? भुजिप्रत्ययेनाभिहितः कर्त्ता, न चास्मिन् प्रकरणे शक्तिशक्तिमतोर्भेदो विवक्ष्यते, समानकर्तृकत्वं हि विरुध्यते। प्रधानशक्त्यभिधाने वा गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते।

अर्थ—समानकर्तृकयोः तथा कृञः—इन पदों का अनुवर्तन है। 'स्वादुमि' यहाँ अर्थ का ग्रहण होता है; स्वरूप का नहीं।

यदि दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक हो तो पूर्वकालविषयक 'कृ' धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, यदि स्वादुम् वाची शब्द उपपद हो।

उदा० (1) स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते
1.1.38 का उदाहरण देखें।

(2) लवणङ्कारं भुङ्क्ते
सिद्धि के लिए 1.1.38 की व्याख्या देखें।

स्वादुमीति—'स्वादुमि' यहाँ जो मकारान्त का निपातन किया गया है, वह ईकार के अभाव के लिए किया गया है। 'सु' है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द का निपातन भी मकार के लिए तथा दीर्घ के अभाव के लिए होता है। यथा—

अस्वादुं कृत्वा स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते—वाऽसरूप विधि से क्त्वा भी होता है। यथा—स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते।

तुमर्थ का अधिकार होने से ये सभी प्रत्यय भाव में होते हैं।

यदि ऐसा है तो 'स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते देवदत्तः' यहाँ णमुल् के द्वारा कर्त्ता का अभिधान न होने से कर्त्ता में तृतीया क्यों नहीं होती ?

(समा०) भुज् धातु के द्वारा कर्त्ता उक्त है। अतः तृतीया नहीं होती है। इस प्रकरण में शक्ति और शक्तिमान् भेद नहीं कहा गया है। समानकर्तृकता का विरोध होता है। अथवा प्रधान शक्ति के कथन में गुणशक्ति कथित के समान प्रकाशित होती है।

(1160) अन्यथैवङ्कथमित्थंसु सिद्धा-प्रयोगश्चेत् *27* (3348)

कृञ इत्येव। अन्यथादिषूपपदेषु कृञो णमुल् प्रत्ययो भवति सिद्धाप्रयोगश्चेत्करोतेर्भवति। कथं पुनरसौ सिद्धाप्रयोगः? निरर्थकत्वान्न प्रयोगमर्हतीति एवमेव प्रयुज्यते। अन्यथा भुङ्क्ते इति यावान् अर्थस्तावानेवान्यथाकारं भुङ्क्ते इति गम्यते। अन्यथाकारं भुङ्क्ते। एवङ्कारं भुङ्क्ते। कथङ्कारं भुङ्क्ते। इत्थङ्कारं भुंक्ते। सिद्धाप्रयोग इति किम्? अन्यथाकृत्वा शिरो भुङ्क्ते।

अर्थ—कृञ्—इसका अनुवर्त्तन है। यदि कृ धातु अर्थहीन होकर प्रयोग के अयोग्य प्रतीत हो, तो अन्यथा, एवम्, कथम् तथा इत्थम् शब्दों के उपपद रहते 'कृ' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है। निरर्थक होने से वह प्रयोग के योग्य नहीं होता। इसी प्रकार प्रयोग होता है—

उदा० (1) अन्यथाकारं भुङ्क्ते

यहाँ 'कृ' का अर्थ अन्वित नहीं हो रहा है। अतः सिद्धाप्रयोग हुआ। णमुल् रूप बनता है।

(2) एवङ्कारं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

(3) कथङ्कारं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

(4) इत्थङ्कारं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

सिद्धाप्रयोग अर्थात् धातु के **अर्थहीन होकर प्रयोग** के **अयोग्य** प्रतीत होने पर ही 'कृ' से णमुल् होता है—

(5) अन्यथाकृत्वा शिरो भुङ्क्ते

यहाँ कृ सिद्धाप्रयोग नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

(1161) यथातथयोरसूयाप्रतिवचने *28* (3349)

कृञः, सिद्धाप्रयोग इति वर्त्तते। यथातथाशब्दयोरुपपदयोः कृञो णमुल् प्रत्ययो भवति असूयाप्रतिवचने गम्यमाने। यद्यसूयन् पृच्छति प्रतिवक्ति तत्र प्रतिवचनम्—यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं किं तवानेन। असूयाप्रतिवचने इति किम्? यथा कृत्वाऽहं भोक्ष्ये तथा त्वं द्रक्ष्यसि। सिद्धाप्रयोग इत्येव—यथा कृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये, किं तवानेन।

अर्थ—कृञः तथा सिद्धाप्रयोगः—इनका अनुवर्त्तन है। यदि 'कृ' धातु सिद्धाप्रयोग हो और निन्दा के द्वारा प्रत्युत्तर गम्यमान हो तो **यथा** व **तथा** उपपद रहते 'कृ' धातु से णमुल् होता है। यदि ईर्ष्यापूर्वक प्रश्न किया जाता है और इसका निन्दापरक प्रतिवचन होता है तो कृ से 'णमुल्' होता है।

उदा० (1) यथाकारम् अहं भोक्ष्ये (= मैं जैसे भी खाता हूँ, तुम्हें इससे क्या मतलब)

णमुल् हुआ, वृद्धि अव्ययसंज्ञा, सु, लुक्।

(2) तथाकारम् अहं भोक्ष्ये

असूयाप्रति० अर्थात् **निन्दा के द्वारा** प्रत्युत्तर गम्यमान रहते ही 'कृ' से णमुल् होता है—

(3) यथाकृत्वाऽहं भोक्ष्ये, तथा द्रक्ष्यसि

(= जिस प्रकार मैं खाता हूँ, तुम देख ही रहे हो)

यहाँ निन्दापरक प्रतिवचन गम्यमान नहीं है, अतः 'णमुल्' नहीं हुआ।

यथाकृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये किं तवाऽनेन।

(1162) कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये *29* (3350)

कर्मण्युपपदे साकल्यविशिष्टेऽर्थे दृशिविदोर्धात्वोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। कन्यादर्शं वरयति। या याः कन्याः पश्यति तास्ता वरयतीत्यर्थः। ब्राह्मणवेदं भोजयति। यं यं ब्राह्मणं जानाति लभते विचारयति वा तान् सर्वान् भोजयतीत्यर्थः। साकल्ये इति किम्? ब्राह्मणं दृष्ट्वा भोजयति।

अर्थ—साकल्य अर्थ गम्यमान रहते कर्मवाची शब्द के उपपद रहते दृश् तथा विद् धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता हैं।

उदा० (1) कन्यादर्शं वरयति

'कन्या' कर्मवाची उपपद है, साकल्य अर्थ गम्यमान है, णमुल् हुआ,

लघूपध गुण, अव्ययसंज्ञा, सु।

(2) ब्राह्मणवेदं भोजयति

पूर्ववत् णमुल्।

साकल्ये अर्थात् **समग्रता** अर्थ गम्यमान रहते धातु से णमुल् होता है—

(3) ब्राह्मणं दृष्ट्वा भोजयति

यहाँ णमुल् नहीं हुआ।

(1163) यावति विन्दजीवोः *30* (3351)

यावच्छब्द उपपदे विन्दतेर्जीवतेश्च णमुल् प्रत्ययो भवति।

यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते । यावज्जीवति तावदधीत इत्यर्थः ।

अर्थ—'यावत्' उपपद रहते विन्द् तथा जीव् धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) यावद्वेदं भुङ्क्ते (= जितना प्राप्त करता है, उतना खा लेता है)
णमुल् हुआ।
(2) यावज्जीवम् अधीते (पूर्ववत्)।

(1164) चर्मोदरयोः पूरेः *31* (3352)

कर्मणीत्येव । चर्मोदरयोः कर्मणोरुपपदयोः पूरयतेर्णमुल् प्रत्ययो भवति । चर्मपूरं स्तृणाति । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्तन है। कर्मवाची चर्म तथा उदर उपपद रहते ण्यन्त 'पूरि' धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) चर्मपूरं स्तृणाति
पूर्ववत् णमुल्, 'णेरनिटि' से णिलोप, सु, लुक्।
(2) उदरपूरं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

(1165) वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् *32* (3353)

कर्मणीत्येव । पूरयतेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ऊलोपश्चास्य पूरयतेरन्यतरस्यां भवति समुदायेन चेद्वर्षस्य प्रमाणमियत्ता गम्यते । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । गोष्पदप्रं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । सीताप्रं वृष्टो देवः । अस्यग्रहणं किमर्थम् ? उपपदस्य मा भूत्–मूषिकाबिलपूरं वृष्टो देवः, मूषिकाबिलप्रम् ।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्तन है। 'वर्ष का मान' अर्थ गम्यमान रहते तथा कर्मवाची उपपद के रहते ण्यन्त पूरि धातु से णमुल् प्रत्यय होता है तथा धातु के 'ऊ' का लोप विकल्प से होता है।

उदा० (1) गोष्पदप्रम्
गोष्पद पूरि णमुल्—णि का लोप, पाक्षिक 'ऊ' का लोप, गोष्पद प्र् अम्—सु, लुक्।
(2) गोष्पदपूरम्
गोष्पद् पूरि णमुल्—णिलोप, ऊलोप का अभाव,
(3) सीताप्रम् (पूर्ववत्)।
(4) सीतापूरम् (पूर्ववत्)।

अस्य० अर्थात् पूरि धातु के 'ऊ' का लोप होता है; उपपद् के 'ऊ' का नहीं—
(5) मूषिकाबिलपूरम्
मूषिका उपपद है। अतः इसके 'ऊ' का लोप नहीं होता है।
(6) मूषिकाविलप्रम्
'ऊ' का लोप हो गया है।

(1166) चेले क्नोपेः *33* (3354)

कर्मणीत्येव । 'क्नूयी शब्दे उन्दने च' (धा०पा० 485) अस्माण्ण्यन्ताद्धातोश्चेलार्थेषु कर्मसु उपपदेषु णमुल् प्रत्ययो भवति वर्षप्रमाणे गम्यमाने । चेलक्नोपं वृष्टो देवः । वस्त्रक्नोपम् । वसनक्नोपम् ।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्तन है। क्नूयी धातु शब्द करना तथा गीला होना अर्थों में प्रयुक्त होती है। 'वर्षा का मान' अर्थ गम्यमान हो और चेलवाची कर्म उपपद हो तो ण्यन्त 'क्नोपि' धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) चेलक्नोपम्
चेल क्नूय् णिच् णमुल्—णिलोप, 'अर्त्तिह्रीब्ली०' से पुक्, गुण,
चेलक्नोपम्—सु, सुलुक्।
(2) वस्त्रक्नोपम् (पूर्ववत्)।
(3) वसनक्नोपम् (पूर्ववत्)।

(1167) निमूलसमूलयोः कषः *34* (3355)

कर्मणीत्येव । निमूलसमूलशब्दयोः कर्मवाचिनोरुपपदयोः कषेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति । निमूलकाषं कषति । समूलकाषं कषति । निमूलं समूलं कषतीत्यर्थः । इतः प्रभृति कषादीन् यान् वक्ष्यति, तत्र कषादिषु 'यथाविध्यनुप्रयोगः' (3.4.46) इति ।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्तन है। निमूल तथा समूल कर्मवाची उपपद रहते 'कष्' धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) निमूलकाषम्
निमूल कष् णमुल्—अत उपधायाः,
निमूलकाषम्—सुं, सुलुक्।
(2) समूलकाषम् (पूर्ववत्)।

इतः—यहाँ से आगे जो-जो कष् आदि का विधान किया जायेगा, उन-उन में उनका यथाविधि अनुप्रयोग होता है।

(1168) शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः *35* (3356)

कर्मणीत्येव । शुष्कादिषु कर्मवाचिषूपपदेषु पिषेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति । शुष्कपेषं पिनष्टि । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । चूर्णपेषं पिनष्टि । चूर्णं पिनष्टीत्यर्थः । रूक्षपेषं पिनष्टि । रूक्षं पिनष्टीत्यर्थः ।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्त्तन है। कर्मवाची शुष्क, चूर्ण तथा रूक्ष शब्दों के उपपद रहते पिष् धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) शुष्कपेषं पिनष्टि
शुष्क पिष् णमुल्—लघूपधगुण,
शुष्कपेष्—अव्ययसंज्ञा,
शुष्कपेषम्—सु, सुलुक्।

(2) चूर्णपेषम् (पूर्ववत्)।
(3) रूक्षपेषम् (पूर्ववत्)।

(1169) समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः *36* (3357)

कर्मणीत्येव। समूल, अकृत, जीव—इत्येतेषु शब्देषु कर्मसूपपदेषु यथासंख्यं हन्, कृञ्, ग्रह इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति। समूलघातं हन्ति। समूलं हन्तीत्यर्थः। अकृतकारं करोति। जीवग्राहं गृह्णाति।

अर्थ—'कर्मणि' का अनुवर्त्तन है। कर्मवाची समूल, अकृत तथा जीव—इन शब्दों के उपपद रहते यथासंख्य करके हन्, कृ तथा ग्रह धातुओं से णमुल् होता है।

उदा० (1) समूलघातम्
समूल हन् णमुल्—अनुबन्धलोप, अत उपधायाः, हो हन्तेः०, हनस्तो०,
समूल घात अम्—अव्ययसंज्ञा,
समूलघातम्—सु, सुलुक्

(2) अकृतकारम्
अकृत कृ णमुल्—वृद्धि,
अकृतकारम्—विभक्तिकार्य।

(3) जीवग्राहम्
जीव ग्रह् णमुल्—अत उपधायाः,
जीवग्राहम्—विभक्तिकार्य।

(1170) करणे हनः *37* (3358)

करणे उपपदे हन्तेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। पाणिघातं वेदिं हन्ति। पादघातं भूमिं हन्ति। 'हिंसार्थानां च समानकर्मणाकाम्' (3.4.48) इति णमुलं वक्ष्यति, अहिंसार्थोऽयमारम्भः, नित्यसमासार्थो वा यथाविध्यनुप्रयोगार्थश्च। *पूर्वविप्रतिषेधेन हन्तेर्हिंसार्थस्यापि प्रत्ययोऽनेनैवेष्यते*। असिघातं हन्ति। शरघातं हन्ति।

अर्थ—करणवाची उपपद रहते हन् धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) पाणिघातम्
पाणिभ्यामुपहन्ति—णमुल्, पूर्ववत्।

(2) पादघातम् (पूर्ववत्)।

हिंसार्थानां—'हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम्' के द्वारा आगे णमुल् कहा जायेगा। यह अहिंसा के अर्थ में विधान किया जा रहा है अथवा नित्य समास और यथाविधि अनुप्रयोग के लिए है। इस सूत्र के निम्नलिखित तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं—

(क) अहिंसार्थ हन् धातु से णमुल् होता है,
(ख) नित्य उपपद समास होता है,
(ग) यथाविधि अनुप्रयोग होता है।

पूर्वप्रतिषेधेन हन्तेर्हिंसार्थस्याऽपि प्रत्ययोऽनेनैवेष्यते—पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा हिंसावाची हन् धातु से भी प्रकृत सूत्र के द्वारा ही णमुल् प्रत्यय होता है—

(3) असिघातम्
यहाँ हन् धातु हिंसार्थक है, करण उपपद (असि) के रहते णमुल् हुआ।

(4) शरघातम् (पूर्ववत्)।

(1171) स्नेहने पिषः *38* (3359)

करण इत्येव। स्निह्यते येन तत् स्नेहनम्। स्नेहनवाचिनि करणे उपपदे पिषेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। उदपेषं पिनष्टि। तैलेन पिनष्टीत्यर्थः।

अर्थ—'करणे' का अनुवर्त्तन है। स्नेहनवाची करण उपपद के रहते पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) उदपेषं पिनष्टि
उदकेन पिनष्टि—णमुल्, लघूपध गुण, 'पेषंवासवाहनाधिषु' के द्वारा 'उद' भाव होता है।

(2) तैलपेषं पिनष्टि (पूर्ववत्)।
'स्नेहन' के द्वारा सभी द्रवपदार्थों का ग्रहण होता है।

(1172) हस्ते वर्त्तिग्रहोः *39* (3360)

करण इत्येव। हस्त इत्यर्थग्रहणम्। वर्त्तिर्ण्यन्तः। हस्तवाचिनि करण उपपदे वर्त्तयतेर्गृह्णातेश्च णमुल् प्रत्ययो भवति। हस्तेन वर्त्तयति, हस्तवर्त्तं वर्त्तयति। करवर्त्तम्। पाणिवर्त्तम्। ग्रहेः खल्वपि—हस्तेन गृह्णाति, हस्तग्राहं गृह्णाति। करग्राहम्। पाणिग्राहम्।

अर्थ—'करणे' का अनुवर्त्तन है। 'हस्त' शब्द के द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है। हस्तवाची करण उपपद रहते वर्त्ति तथा ग्रह धातुओं से णमुल् होता है। वर्त्ति—यह णिप्रत्ययान्त है।

उदा० (1) हस्तवर्त्तम्
हस्तेन वर्त्तयति—णमुल्,
हस्त वृत् णिच् णमुल्—अनुबन्धलोप, णिलोप, लघूपधगुण,
हस्तवर्त्तम्—सु, सुलुक्।

(2) करवर्त्तम् (पूर्ववत्)।

(3) हस्तग्राहम्
हस्तेन गृह्णाति—णमुल्, अत उपधायाः।

(4) करग्राहम् (पूर्ववत्)।

(5) पाणिग्राहम् (पूर्ववत्)।

(1173) स्वे पुषः *40* (3361)

करण इत्येव। स्वे इत्यर्थग्रहणम्। स्ववाचिनि करण उपपदे पुषेर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। आत्मात्मीयज्ञातिधन-वचनः स्वशब्दः। स्वपोषं पुष्णाति, आत्मपोषम्, गोपोषम्, पितृपोषम्, मातृपोषम्, धनपोषम्, रैपोषम्।

अर्थ—'करणे' का अनुवर्त्तन है। स्ववाची करण उपपद रहते पुष् धातु से णमुल् होता है।

'स्व' के दो अर्थ हैं—आत्मीय ज्ञाति तथा धन।

उदा० (1) स्वपोषं पुष्णाति
स्व पुष् णमुल्—लघूपध गुण।

(2) आत्मपोषं पुष्णाति (पूर्ववत्)।

(3) गोपोषम् (पूर्ववत्)।

(4) पितृपोषम् (पूर्ववत्)।

(5) मातृपोषम् (पूर्ववत्)।

(6) धनपोषम् (पूर्ववत्)।

(7) रैपोषम् (पूर्ववत्)।

(1174) अधिकरणे बन्धः *41* (3362)

अधिकरणवाचिन्युपपदे बध्नातेर्धातोर्णमुल्प्रत्ययो भवति। चक्रबन्धं बध्नाति। कूटबन्धं बध्नाति। मुष्टिबन्धं बध्नाति। चोरकबन्धं बध्नाति। चोरके बध्नातीत्यर्थः।

अर्थ—अधिकरणवाची उपपद रहते बन्ध् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) चक्रबन्धं बध्नाति
चक्रे बध्नाति—णमुल्।

(2) कूटबन्धम् (पूर्ववत्)।

(3) मुष्टिबन्धम् (पूर्ववत्)।

(4) चोरकबन्धम् (पूर्ववत्)।

(1175) संज्ञायाम् *42* (3363)

संज्ञायां विषये बध्नातेर्धातोर्णमुल्प्रत्ययो भवति। क्रौञ्च-बन्धं बध्नाति। मयूरिकाबन्धं बध्नाति। अट्टालिकाबन्धं बद्धः। बन्धविशेषाणां नामधेयान्येतानि।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान रहते बन्ध् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। यहाँ कारकसामान्य में प्रत्यय का विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) क्रौञ्चबन्धं बध्नाति
कौञ्चे बध्नाति—अधिकरण कारक में 'णमुल्' हुआ।

(2) मयूरिकाबन्धम् (पूर्ववत्)।

(3) अट्टालिबन्धम् (पूर्ववत्)।

ये सभी बन्धविशेष के नाम हैं। संज्ञा होने से णमुल् हुआ।

(1176) कर्त्रोर्जीवपूरुषयोर्नशिवहोः *43* (3364)

जीवपुरुषयोः कर्त्तृवाचिनोरुपपदयोर्यथासंख्यं नशिवहो-र्धात्वोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। जीवनाशं नश्यति। जीवो नश्यतीत्यर्थः। पुरुषवाहं वहति। पुरुषः प्रेष्यो भूत्वा वह-तीत्यर्थः। कर्त्तरीति किम्? जीवेन नष्टः, पुरुषेणोढः।

अर्थ—कर्त्तृवाची जीव तथा पुरुष शब्दों के उपपद रहते यथासंख्य करके नश् और वह् धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है। यहाँ कर्त्ताकारक में होता है।

उदा० (1) जीवनाशं नश्यति
जीव नश् णमुल्—अत उपधायाः।

(2) पुरुषवाहम्
पुरुष वह् णमुल्—पूर्ववत्।

कर्त्तरीति अर्थात् कर्त्तृवाची उपपद रहते ही णमुल् होता है। यथा—

जीवेन नष्टः—यहाँ 'जीव' उपपद है, परन्तु कर्तृवाची नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'पुरुषेणोढ़:' में भी णमुल् नहीं हुआ।

(1177) ऊर्ध्वे शुषिपूरोः *44* (3365)

कर्तृग्रहणमनुवर्त्तते। ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे शुषिपूरोर्धात्वोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। ऊर्ध्वशोषं शुष्यति। ऊर्ध्वं शुष्यतीत्यर्थः। ऊर्ध्वपूरं पूर्यते। ऊर्ध्वं पूर्यते इत्यर्थः।

अर्थ—कर्तृग्रहण का अनुवर्त्तन है। कर्तृवाची ऊर्ध्व शब्द उपपद रहते शुष् और पूर् धातुओं से णमुल् होता है।

उदा० (1) ऊर्ध्वशोषं शुष्यति
ऊर्ध्व शुष् णमुल्—पुगन्तलघूपधस्य च,

(2) ऊर्ध्वपूरं पूर्यते (पूर्ववत्)।

(1178) उपमाने कर्मणि च *45* (3366)

उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्। उपमाने कर्मण्युपपदे चकारात् कर्त्तरि धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। घृतनिधायं निहितः। घृतमिव निहित इत्यर्थः। सुवर्णनिधायं निहितः। सुवर्णमिव निहित इत्यर्थः। कर्त्तरि खल्वपि–अजकनाशं नष्टः, अजक इव नष्टः, चूडकनाशम्, दन्तनाशम्।

अर्थ—जिससे तुलना की जाती है, उसे उपमान कहते हैं। उपमानवाची कर्म शब्द के उपपद रहते तथा कर्तृवाची उपपद के रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) घृतनिधायं निहितः
घृत नि धा णमुल्—'आतो युक् चिण्०' से 'युक्',
घृतनिधायम्—विभक्तिकार्य।

(2) सुवर्णनिधायम् (पूर्ववत्)।
(3) अजकनाशं नष्टः
अजक इव नष्टः—कर्तृवाची अजक के उपपद रहते धातु से णमुल् हुआ।

(4) चूडकनाशम् (पूर्ववत्)।
(5) दन्तनाशम् (पूर्ववत्)।

(1179) कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः *46* (3367)

निमूलसमूलयोरित्येतदारभ्य कषादयः। एतेषु यथाविध्यनुप्रयोगो भवति। यस्माद्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति स एवानुप्रयोक्तव्यः। ननु धातुसम्बन्धे प्रत्ययविधानादनुप्रयोगः सिद्ध एव? यथाविधीति नियमार्थं वचनम्। तथा चैवोदाहृतम्।

अर्थ—'निमूलसमूलयोः कषः' से लेकर 'कषादि' माना जाता है। कष् आदि धातुओं में यथाविधि अर्थात् तत् तत् धातु का अनुप्रयोग होता है। यह अनुप्रयोग णमुल् प्रत्यय के विषय में ही होता है।

भाव यह है कि जिस धातु से णमुल् का विधान किया जाता है, उस धातु का ही अनुप्रयोग होता है। यद्यपि धातु के सम्बन्ध में प्रत्यय का विधान होने से अनुप्रयोग सिद्ध ही है, तदपि यथाविधि हो—इसके नियम के लिए यह वचन है। उदाहरण दिया जा चुका है।

(1180) उपदंशस्तृतीयायाम् *47* (3368)

'दंश दशने' (धा०पा० 990), अस्माद्धातोरुपपूर्वात्तृतीयान्त उपपदे णमुल्प्रत्ययो भवति। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेनोपदंशम्। आर्द्रकोपदंशम् आर्द्रकेणोपदंशम्। अत्र विकल्पेनोपपदसमासः–'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' (2.2.21) इति। मूलकादि चोपदंशेः कर्म, भुजेः करणम्। सर्वस्मिन्नेवात्र णमुल्प्रकरणे सति क्रियाभेदे वाऽसरूपविधिना क्त्वापि भवति–मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते।

अर्थ—दंश = डंक मारना। तृतीयान्त पद के उपपद रहते उपपूर्वक दंश् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) मूलकोपदंशं भुङ्क्ते
मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—णमुल् हुआ। 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' से पाक्षिक समास हुआ। पक्ष में वाक्य रहा।

(2) आर्द्रकोपदंशम्
पक्ष में आर्द्रकेणोपदंशम्।

मूलकादि०—मूल आदि उप पूर्वक दंश् का कर्म है तथा भुज् का करण है। इस सम्पूर्ण णमुल् प्रकरण में क्रियाभेद होने पर वाऽसरूप विधि के द्वारा क्त्वा भी होता है। यथा—

मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते—अनुनासिकलोप हो गया है।

(1181) हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम् *48* (3369)

तृतीयायामित्येव। हिंसा प्राण्युपघातः। तदर्थानां धातूनामनुप्रयोगधातुना समानकर्मकाणां तृतीयान्त उपपदे णमुल् प्रत्ययो भवति। दण्डोपघातं गाः कालयति, दण्डेनोप-

घातम्। दण्डताडम्, दण्डेन ताडम्। समानकर्मकाणामिति किम्? चोरं दण्डेनोपहत्य गोपालको गाः कालयति।

अर्थ—'तृतीयायाम्' का अनुवर्त्तन हो रहा है। प्राणी का हनन 'हिंसा' कहलाता है। तृतीयान्त पद के उपपद रहते हिंसावाची धातु से णमुल् होता है, यदि अनुप्रयुक्त धातु और जिससे णमुल् हो रहा है, उस धातु का कर्म एक ही हो।

उदा० (1) दण्डोपघातं गाः कालयति
दण्ड उप हन् णमुल्—'कालयति' का अनुप्रयोग है, 'हन्' से णमुल् हुआ है, दोनों का कर्म (गौ) एक ही है,
दण्डोपघातम्—अव्ययसंज्ञा, सु, लुक्, समास।
पक्ष में वाक्य ही रहा—दण्डेनोपघातम्।

(2) दण्डताडम् (पूर्ववत्)।
पक्ष में दण्डेन ताडम्।

समानकर्मका० अर्थात् समान कर्म होने की दशा में ही णमुल् होता है—

(3) चोरं दण्डेनोपहत्य गोपालको गाः कालयति
यहाँ 'हन्' धातु का कर्म चोर है एवं 'कालयति' का कर्म 'गो' है। एक समान कर्म न होने से हन् से णमुल् नहीं हुआ।

(1182) सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः *49* (3370)

उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्यः सप्तम्यन्त उपपदे चकारात्तृतीयान्त उपपदे णमुल् प्रत्ययो भवति। पार्श्वोपपीडं शेते, पार्श्वयोरुपपीडम्, पार्श्वाभ्यामुपपीडम्। व्रजोपरोधं गाः स्थापयति, व्रजे उपरोधम्, व्रजेनोपरोधम्। पाण्युपकर्षं धानाः संगृह्णाति, पाणावुपकर्षम्, पाणिनोपकर्षम्। कर्षतेरिदं ग्रहणं न कृषतेः।

अर्थ—'उप' शब्द का सभी के साथ सम्बन्ध है। सप्तम्यन्त व तृतीयान्त पदों के उपपद रहते उपपूर्वक पीड्, रुध् तथा कर्ष् धातुओं से णमुल् होता है।

उदा० (1) पार्श्वोपपीडं शेते
पार्श्वयोरुपपीडं शेते
विकल्प से समास होता है। दोनों रूप सप्तम्यन्त उपपद के हैं।

(2) पार्श्वोपपीडं शेते
पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते
पूर्ववत् पाक्षिक समास। तृतीयान्त उपपद।

(3) व्रजोपरोधं गाः स्थापयति
व्रज उपरोधम्
व्रजेनोपरोधम्।

(4) पाण्युपकर्षं धानाः
पाणावुपकर्षम्
पाणिनोपकर्षम्
पूर्ववत्।
यहाँ 'कर्ष्' धातु का ग्रहण है; 'कृष्' का नहीं।

(1183) समासत्तौ *50* (3371)

सप्तम्यां तृतीयायामिति वर्त्तते। समासत्तिः सन्निकर्षः। समासत्तौ गम्यमानायां तृतीयासप्तम्योरुपपदयोर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। केशग्राहं युद्ध्यन्ते। केशेषु ग्राहम्। केशैर्ग्राहम्। हस्तग्राहम्। हस्तेषु ग्राहम्। हस्तैर्ग्राहम्। युद्धसंरम्भात् अत्यन्तं सन्निकृष्यन्ते इत्यर्थः।

अर्थ—सप्तम्याम् व तृतीयायाम्—इन दोनों का अनुवर्त्तन है। सन्निकर्ष को 'समासत्ति' कहते हैं। अत्यधिक सन्निकृष्टता गम्यमान होने पर तृतीयान्त व सप्तम्यन्त पदों के उपपद रहते धातु से 'णमुल्' होता है।

उदा० (1) केशग्राहं युद्ध्यन्ते
केशेषु ग्राहं युद्ध्यन्ते
केशैर्ग्राहं युद्ध्यन्ते
समास विकल्प से होता है। पूर्ववत् तीन रूप बनते हैं।

(2) हस्तग्राहम्
हस्तेषु ग्राहम्
हस्तैर्ग्राहम्।
युद्ध की दशा में अत्यधिक सन्निकृष्टता होती है।

(1184) प्रमाणे च *51* (3372)

तृतीयासप्तम्योरित्येव। प्रमाणमायामो दैर्घ्यम्। प्रमाणे गम्यमाने तृतीयासप्तम्योरुपपदयोर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। द्व्यङ्गुलोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति, द्व्यङ्गुले उत्कर्षम्, द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षम्। त्र्यङ्गुलोत्कर्षम्।

अर्थ—तृतीयायाम् तथा सप्तम्याम्—इन पदों का अनुवर्त्तन है। तृतीयान्त व सप्तम्यन्त पदों के उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, यदि लम्बाई गम्यमान हो।

उदा० (1) द्व्यङ्गुलोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति
समास हुआ।

(2) द्व्यङ्गुल उत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति
पक्ष में समास नहीं हुआ।

(3) द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति

समास अभाव, तृतीयान्त उपपद।

(1185) अपादाने परीप्सायाम् *52* (3373)

परीप्सा त्वरा। परीप्सायां गम्यमानायामपादान उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। शय्योत्थायं धावति, शय्याया उत्थायम्। एवं नाम त्वरते यदवश्यं कर्त्तव्यमपि नापेक्षते, शय्योत्थानमात्रमाद्रियते। रन्ध्रापकर्षं पयः पिबति। भ्राष्ट्रापकर्षमपूपान् भक्षयति। परीप्सायामिति किम्? आसनादुत्थाय गच्छति।

अर्थ—परीप्सा का अर्थ है—शीघ्रता। शीघ्रता अर्थ गम्यमान हो तो अपादानवाची शब्द के उपपद रहते धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) शय्योत्थायं धावति
शय्या उद् स्था णमुल्—आतो युक् चिण्०, सकार को पूर्वसवर्ण (उदः स्थास्तम्भो०),
शय्या उत्थाय् अम्—विभक्तिकार्य।
पाक्षिक समास हुआ। असमास की दशा में—
शय्याया उत्थायं धावति।

(2) रन्ध्रापकर्षं पयः पिबति
असमास में—रन्ध्राद् अपकर्षम्।

(3) भ्राष्ट्रापकर्षम् अपूपान् भक्षयति
भाष्ट्राद् अपकर्षम्—पक्ष में।

परीप्सायाम् अर्थात् शीघ्रता अर्थ गम्यमान रहते धातु से णमुल् होता है—

(4) आसनाद् उत्थाय गच्छति
यहाँ त्वरा अर्थ न होने से णमुल् नहीं हुआ।

(1186) द्वितीयायाञ्च *53* (3374)

परीप्सायामित्येव। द्वितीयान्त उपपदे परीप्सायां गम्यमानायां धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। यष्टिग्राहं युध्यन्ते। यष्टिं ग्राहम्। लोष्टग्राहम्। लोष्टं ग्राहम्। एवं नाम त्वरते यदायुधग्रहणमपि नाद्रियते, लोष्टादिकं यत्किञ्चिदासन्नं तद् गृह्णाति।

अर्थ—'परीप्सायाम्' का अनुवर्त्तन है। शीघ्रता अर्थ गम्यमान हो तो द्वितीयान्त पद के उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) यष्टिग्राहं युध्यन्ते
यष्टिं ग्राहं युध्यन्ते
विकल्प से समास हुआ।

(2) लोष्टग्राहम्
लोष्टं ग्राहम्
पूर्ववत् दो रूप।

एवं नाम—शस्त्रग्रहण की भी अपेक्षा न होने से त्वरा अर्थ गम्यमान होता है। डण्डा या पत्थर आदि जो भी पास में स्थित है, उसे ग्रहण कर लेता है।

(1187) स्वाङ्गेऽध्रुवे *54* (3376)

द्वितीयायामित्येव। अध्रुवे स्वाङ्गवाचिनि द्वितीयान्त उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति। अक्षिनिकाणं जल्पति। भ्रूविक्षेपं कथयति। अध्रुव इति किम्? उत्क्षिप्य शिरः कथयति। यस्मिन्नङ्गे छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियते तदध्रुवम्। 'अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गम्' (काशि० 4.1.54)।

अर्थ—'द्वितीयायाम्' का अनुवर्त्तन है। जहाँ 'ध्रुव' न हो, ऐसे स्वांगवाची द्वितीयान्त पद के उपपद रहते धातु से णमुल् होता है।

उदा० (1) अक्षिनिकायं जल्पति (= आँख बन्द करके बड़बड़ाता है)
यहाँ 'अक्षि' के नष्ट होने पर शरीर नष्ट नहीं होता। अतः 'अक्षि' स्वांग अध्रुव हुआ। तब णमुल् हुआ।

(2) भ्रूविक्षेपं कथयति।
भ्रू वि क्षिप् णमुल्।

अध्रुवे अर्थात् जो ध्रुव नहीं है, ऐसे स्वांगवाची के उपपद रहते धातु से णमुल् होता है—

(3) उत्क्षिप्य शिरः कथयति
यहाँ स्वांग ध्रुव है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

अद्रवम्—स्वांग का लक्षण इस प्रकार है—जो द्रव न हो तथा मूर्त्तिमान् हो, उसे स्वांग कहते हैं।

(1188) परिक्लिश्यमाने च *55* (3377)

स्वाङ्गे, द्वितीयायामित्येव। परिक्लिश्यमाने स्वाङ्गवाचिनि द्वितीयान्त उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति।

परिक्लेशः सर्वतो विबाधनम्, दुःखनम्। उरःपेषं युद्ध्यन्ते। उरःप्रतिपेषं युद्ध्यन्ते। शिरःपेषम्। शिरःप्रतिपेषम्। कृत्स्नमुरः पीडयन्तो युध्यन्ते। ध्रुवार्थोऽयमारम्भः।

अर्थ—स्वाङ्गे तथा द्वितीयायाम्—इन पदों का अनुवर्त्तन है। 'अच्छी प्रकार अथवा चारो ओर कष्ट को प्राप्त हो रहा है'—यह अर्थ गम्यमान रहते स्वांगवाची द्वितीयान्त के उपपद रहते धातु से णमुल् होता है। 'परिक्लेश' का अर्थ है—चारों ओर से कष्ट।

उदा० (1) उरःपेषं युध्यन्ते
उरस् पिष् णमुल्—लघूपध गुण, समास हुआ।

(2) शिरःपेषं युध्यन्ते (पूर्ववत्)।
ध्रुव स्वांगवाची के लिए यह विधान किया गया है।

(1189) विशिपतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः*56* (3378)

द्वितीयायामित्येव। द्वितीयान्त उपपदे विश्यादिभ्यो धातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति, व्याप्यमाने आसेव्यमाने चार्थे गम्यमाने। विश्यादिभिः क्रियाभिरनवयवेन पदार्थानां सम्बन्धो व्याप्तिः। तात्पर्यमासेवा। द्रव्ये व्याप्तिः, क्रियायामासेवा। गेहाऽनुप्रवेशमास्ते। समासेन व्याप्त्यासेवयोरुक्तत्वात् 'नित्यवीप्सयोः' (8.1.4) इति द्विर्वचनं न भवति। असमासपक्षे तु व्याप्यमानतायां द्रव्यवचनस्य द्विर्वचनम्, आसेव्यमानतायान्तु क्रियावचनस्य। तथाच वक्ष्यति-'सुप्सु वीप्सा, तिङ्क्षु नित्यतेति'। गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते। आसेवायाम्-गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते। पति-गेहानुप्रपातमास्ते। गेहंगेहमनुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते। पदि-गेहानुप्रपादमास्ते, गेहंगेहमनुप्रपादम्, गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम्। स्कन्दि-गेहावस्कन्दमास्ते, गेहंगेहमवस्कन्दम्, गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम्। व्याप्यमानासेव्यमानयोरिति किम्? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते। ननु चाऽऽभीक्ष्ण्ये णमुल्विहित एव, आसेवा चाभीक्ष्ण्यमेव, किमर्थम्पुनरासेवायां णमुलुच्यते? क्त्वानिवृत्त्यर्थमिति चेत्? न, इष्टत्वात्तस्य। द्वितीयोपपदार्थं तर्हि वचनम्- उपपदसमासः पक्षे यथा स्यात्, तेन हि सत्युपपदाभावः।

अर्थ—'द्वितीयायाम्' का अनुवर्त्तन है। द्वितीयान्त पद के उपपद रहते विशि, पति, पदि तथा स्कन्द् धातुओं से 'णमुल्' प्रत्यय होता है, यदि व्याप्यमान तथा आसेव्यमान अर्थ गम्यमान हों। अवयय न होने से 'विशि' आदि क्रियाओं के साथ पदार्थों का सम्बन्ध ही 'व्याप्ति' है। तात्पर्य का नाम 'आसेवा' है।

उदा० (1) गेहानुप्रवेशमास्ते

समासेन—समास की दशा में व्याप्ति और आसेवा के उक्त होने से 'नित्यवीप्सयोः' प्रवृत्त नहीं होता है।

असमास की दशा में व्याप्यमान अर्थ रहते द्रव्यवचन का द्वित्व होता है तथा आसेव्यमान अर्थ रहते क्रियावचन का द्वित्व होता है। यह आगे कहा जायेगा। सुप् प्रत्ययों में वीप्सा होती है तथा तिङ् में नित्यता। यथा—

(2) गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते
यहाँ व्याप्यमान अर्थ में है।

(3) गेहम् अनुप्रवेशमनुप्रवेशम् आस्ते,
आसेव्यमान अर्थ है।

(4) गेहानुप्रपातमास्ते
समास की दशा में, णमुल्।

(5) गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते
असमास, व्याप्यमान अर्थ।

(6) गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते
असमास, क्रिया का द्वित्व।

(7) गेहानुप्रपादमास्ते
णमुल् हुआ, समास हुआ।

(8) गेहं गेहमुनप्रपादमास्ते
असमास, व्याप्यमान अर्थ।

(9) गेहमनुप्रपादमनुप्रपादमास्ते
असमास, आसेव्यमान।

(10) गेहावस्कन्दमास्ते
णमुल्, समास।

(11) गेहं गेहमवस्कन्दमास्ते
असमास व्याप्यमान अर्थ।

(12) गेहमवस्कन्दमवस्कन्दमास्ते
असमास, आसेव्यमान।

व्याप्यमानं अर्थात् व्याप्यमान तथा आसेव्यमान अर्थ गम्यमान रहते ही धातु से णमुल् होता है—

(13) गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते
यहाँ णमुल् नहीं हुआ।

ननु—आभीक्ष्ण्य अर्थ में तो णमुल् कहा ही जा चुका है। आसेवा ही आभीक्ष्ण्य है। अतः प्रश्न उठता है कि पुनः 'आसेव्यमान' अर्थ में किसलिए विधान किया गया है।

(समा०) क्त्वा की निवृत्ति के लिए विधान किया गया है। (शंका) ऐसा नहीं है। उसके इष्ट होने से (यह नहीं होता है) द्वितीय उपपद के लिए विधान किया गया है। ताकि उपपद समास भी पक्ष में हो जाए। तब उपपद का अभाव सत्य है।

(1190) अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु *57* (3379)

द्वितीयायामित्येव। क्रियामन्तरयति क्रियान्तरः, क्रियाव्यवधायकः। क्रियान्तरे धात्वर्थे वर्त्तमानाभ्यामस्यतितृषिभ्यां द्वितीयान्तेषु कालवाचिषूपपदेषु णमुल्प्रत्ययो भवति। द्व्यहात्यासं गाः पाययति। द्व्यहमत्यासं गाः पाययति। त्र्यहात्यासं गाः पाययति। त्र्यहमत्यासं गाः पाययति। द्व्यहतर्षं गाः पाययति। द्व्यहं तर्षं गाः पाययति। अत्यसनेन तर्षणेन च गवां पानक्रिया व्यवधीयते = विच्छिद्यते। अद्य पाययित्वा द्व्यहमतिक्रम्य पुनः पाययतीत्यर्थः। अस्यतितृषोरिति किम्? द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते। क्रियान्तरे इति किम्? अहरत्यस्येषून् गतः। न गतिर्व्यवधीयते। कालेष्विति किम्? योजनमत्यस्य गाः पाययति। अध्वकर्मकमत्यसनं व्यवधायकं न कालकर्मकम्।

अर्थ—'द्वितीयायाम्' का अनुवर्त्तन है। जहाँ क्रिया अन्तरित हो, उसे 'क्रियान्तर' कहते हैं। क्रिया का व्यवधान क्रियान्तर कहलाता है। कालवाची द्वितीयान्त पद के उपपद रहते अस् तथा तृष् धातुओं से णमुल् होता है, यदि क्रिया का व्यवधान गम्यमान हो।

उदा० (1) द्व्यहात्यसं गाः पाययति (= दो दिन के अन्तर से गाय को पानी पिलाता है)

द्व्यहः द्वितीयान्त पद उपपद है, क्रिया का व्यवधान भी गम्यमान है, णमुल् हुआ, समास हुआ।

(2) द्व्यहमत्यासं गाः पाययति
असमास हुआ।

(3) द्व्यहतर्षं गाः पाययति
णमुल्, समास हुआ।

(4) द्व्यहं तर्षं गाः पाययति
असमास।

अद्य—आज जल पिला कर दो दिन बिताकर पुनः जल पिलाता है—यह अर्थ है।

अस्यति० अर्थात् अस् तथा तृष् धातुओं से णमुल् होता है—

(5) द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते
यहाँ णमुल् नहीं हुआ।

क्रियान्तर अर्थात् क्रिया का व्यवधान गम्यमान रहते धातु से णमुल् होता है—

(6) अहरत्यस्येषून् गतः
यहाँ गति क्रिया का व्यवधान नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

कालेषु अर्थात् कालवाची उपपद रहते धातु से णमुल् होता है—

(7) योजनमत्यस्य गाः पाययति
यहाँ कालवाची उपपद नहीं है, अपितु दूरीवाची उपपद है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

(1191) नाम्न्यादिशिग्रहोः *58* (3380)

द्वितीयायामित्येव। नामशब्दे द्वितीयान्त उपपदे आदिशेर्ग्रहेश्च धातोर्णमुल्प्रत्ययो भवति। नामादेशमाचष्टे। नामग्राहमाचष्टे।

अर्थ—'द्वितीयायाम्' का अनुवर्त्तन है। द्वितीयान्त नाम पद उपपद रहते आङ्पूर्वक दिश् तथा ग्रह् धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) नामादेशम्
नाम आ दिश् णमुल्—अनुबन्धलोप, लघूपधगुण,
नाम आदेश् अम्—अकः सवर्णे दीर्घः
नामादेशम्—विभक्तिकार्य।

(2) नामग्राहम्
नाम ग्रह् णमुल्—अनुबन्धलोप, अत उपधायाः,
नामग्राहम्—विभक्तिकार्य।

(1192) अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ *59* (3381)

अव्यय उपपदेऽयथाभिप्रेताख्याने गम्यमाने करोतेः क्त्वाणमुलौ भवतः। ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः। किं तर्हि वृषल! नीचैः कृत्याचक्षे, नीचैःकृत्वा, नीचैःकारम्? उच्चैर्नाम प्रियमाख्येयम्। ब्राह्मण! कन्या ते गर्भिणी, किं तर्हि वृषल! उच्चःकृत्याचक्षे, उच्चैःकृत्वा, उच्चैःकारम्। नीचैर्नामाप्रियमाख्येयम्। अयथाभिप्रेताख्यान इति किम्? उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टे-पुत्रस्ते जात इति। क्त्वाग्रहणं किम्? यावता सर्वस्मिन्नेवात्र प्रकरणे वाऽसरूपेण क्त्वा भवती-

त्युक्तम्। समासार्थं वचनम्। तथाच 'क्त्वा च' (2.2.22) इत्यस्मिन् सूत्रे 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' (2.2.21) इति वर्त्तते। णमुलधिकारे पुनर्णमुल्ग्रहणं तुल्यकक्षत्व-ज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरत्र द्वयोरप्यनुवृत्तिर्भविष्यति।

अर्थ—यदि 'इष्ट का कथन जैसा होना चाहिए, वैसा न होना' अर्थ गम्यमान हो तो अव्यय शब्द उपपद रहते 'कृ' धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) नीचैः कृत्याचक्षे
किसी ने कहा—ब्राह्मण, तुम्हारे यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है। तब सामने वाला कहता है कि दुष्ट, धीरे क्यों बोलता है?
यहाँ क्त्वा हुआ, इसे ल्यप् आदेश हुआ।

(2) नीचैःकारम्
यहाँ पूर्वोक्त स्थिति में णमुल् हुआ।

(3) उच्चैःकृत्याचक्षे
किसी ने कहा—ब्राह्मण, तुम्हारी कन्या गर्भवती है। तब सामने वाला कहता है कि दुष्ट, जोर से क्यों बोलता है?
क्त्वा हुआ, ल्यप् हुआ।

(4) उच्चैःकारम्
णमुल् हुआ है।

अयथाऽभि० अर्थात् इष्ट का कथन अयथा हो तो क्त्वा व णमुल् होते हैं—
(5) उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टे, पुत्रस्ते जातः
यहाँ इष्ट का कथन अयथा नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

क्त्वाग्रहणं० अर्थात् इस समग्र प्रकरण में वाऽसरूपविधि के द्वारा क्त्वा होता है—यहा कहा जा चुका है। तब पुनः क्त्वा का विधान व्यर्थ हो जाता है। (समा०) प्रस्तुत सूत्र में क्त्वा का ग्रहण किया गया है, ताकि समास हो जाए।

'क्त्वा च' इसमें 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' का अनुवर्त्तन है। सूत्र में णमुल् का ग्रहण तुल्य कक्ष के ज्ञापन के लिए है। अतः उत्तर शास्त्र में इन दोनों (क्त्वा, णमुल्) का अनुवर्त्तन होता है।

(1193) तिर्यच्यपवर्गे *60* (3382)

तिर्यक्शब्दे उपपदे कृञः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतोऽपवर्गे गम्यमाने। अपवर्गः समाप्तिः। तिर्यक्कृत्य गतः। तिर्यक्कृत्वा गतः। तिर्यक्कारं गतः। समाप्य गत इत्यर्थः। अपवर्ग इति किम्? तिर्यक्कृत्वा काष्ठं गतः। तिर्यचीति शब्दानुकरणम्, न च प्रकृतिवदनुकरणेन भवितव्यम्, अनुक्रियमाणरूपविनाशप्रसङ्गात्–'एतदोश्' (2.4.33), 'अदसो मात्' (1.1.12) इति।

अर्थ—तिर्यक् शब्द उपपद रहते कृ धातु से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय होते हैं, यदि अपवर्ग अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) तिर्यक्कृत्य गतः
क्त्वा हुआ, समास, ल्यप् हुआ।

(2) तिर्यक्कृत्वा गतः
असमास की दशा में ल्यप् नहीं हुआ।

(3) तिर्यक्कारं गतः
णमुल् हुआ।

अपवर्ग० अर्थात् अपवर्ग अर्थ गम्यमान रहते कृ धातु से क्त्वा व णमुल् होते हैं—

(4) तिर्यक्कृत्वा काष्ठं गतः
यहाँ अपवर्ग अर्थ गम्यमान न होने से णमुल् नहीं हुआ।

तिर्यचि—'तिर्यचि' यह शब्द का अनुकरण है। प्रकृति के समान अनुकरण नहीं होता, क्योंकि इससे अनुक्रियमाण शब्द के रूप में परिवर्त्तन हो जाता है। यथा—

(क) एतदोऽश्—यहाँ एतद् अनुकरण से ङस् हुआ। यदि इसे प्रकृति मान कर विभक्ति करते हैं तो इस सूत्र का स्वरूप 'एतस्याऽश्' ऐसा होना चाहिए था।

(ख) अदसो मात्—इसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए।

(1194) स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः *61* (3383)

तस्प्रत्ययो यतः स्वाङ्गात्तदेवमुच्यते। तस्प्रत्यये स्वाङ्गवाचिन्युपपदे करोतेर्भवतेश्च धात्वोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः। यथासंख्यमत्र नेष्यते, अस्वरितत्वात्। मुखतःकृत्य गतः। मुखतःकृत्वा गतः। मुखतःकारं गतः। मुखतोभूय तिष्ठति। मुखतोभूत्वा तिष्ठति। मुखतोभावं तिष्ठति। पृष्ठतःकृत्य गतः। पृष्ठतःकृत्वा गतः। पृष्ठतःकारं गतः। पृष्ठतोभूय गतः। पृष्ठतोभूत्वा। पृष्ठतोभावम्। स्वाङ्ग इति किम्? सर्वतः कृत्वा गतः। तस्ग्रहणं किम्? मुखीकृत्य गतः, मुखीभूय गतः। प्रत्ययग्रहणं किम्? मुखे तस्यतीति मुखतः, मुखतः कृत्वा गतः।

अर्थ—तस् प्रत्ययान्त स्वांगवाची शब्द के उपपद रहते कृ तथा भू धातुओं से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। स्वरित न होने से यहाँ यथासंख्य विधि नहीं होती।

उदा० (1) मुखत:कृत्य गत:

मुख तस्—अपादाने चा० से 'तस्' हुआ, तस् प्रत्ययान्त स्वांगवाची शब्द (मुखत:) उपपद रहते कृ धातु से क्त्वा हुआ, समास हुआ।

मुखत:कृत्य—ल्यप् हुआ, विभक्तिकार्य।

(2) मुखत:कृत्वा गत:

पक्ष में समास न होने से ल्यप् नहीं हुआ।

(3) मुखत:कारं गत:

णमुल् हुआ।

(4) मुखतोभूय तिष्ठति

भू से क्त्वा, ल्यप् आदेश।

(5) मुखतो भूत्वा तिष्ठति

क्त्वा। समासाभाव।

(6) मुखतोभावं तिष्ठति

णमुल् आदेश।

(7) पृष्ठत:कृत्य गत: (पूर्ववत्)।

(8) पृष्ठत: कृत्वा गत:

असमास, कृत्वा।

(9) पृष्ठत:कारं गत:

णमुल्।

(10) पृष्ठतोभूय गत:

(11) पृष्ठतो भूत्वा गत:

क्त्वा, असमास।

(12) पृष्ठतोभावं गत:

णमुल् हुआ।

स्वाङ्ग अर्थात् स्वांगवाची के उपपद रहते क्त्वा तथा णमुल् होते हैं—

(13) सर्वत: कृत्वा गत:

'सर्वत:' पद तस्-प्रत्ययान्त है, परन्तु स्वांगवाची नहीं है। अत: णमुल् नहीं हुआ।

तस्ग्रहणं० अर्थात् तस्-प्रत्ययान्त स्वांगवाची के उपपद रहते णमुल् होता है—

(14) मुखीकृत्य गत:

'मुखी' उपपद स्वांगवाची तो है; परन्तु तस् प्रत्ययान्त नहीं है। अत: णमुल् नहीं हुआ।

(15) मुखीभूय गत:

पूर्ववत् णमुल् नहीं हुआ।

प्रत्यय० अर्थात् तस् प्रत्यय जिसके अन्त में हो, ऐसे स्वांगवाची के उपपद रहते णमुल् होता है—

(16) मुखत: कृत्वा गत:

मुखे तस्यतीति—मुखत: यहाँ तस् प्रत्यय नहीं है। अत: स्वांगवाची मुख शब्द के उपपद रहते भी णमुल् नहीं हुआ।[1]

(1195) नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे *62* (3384)

नार्थो धार्थश्च प्रत्ययो यस्मात् स एवमुच्यते। नाधार्थप्रत्यये शब्दे च्व्यर्थ उपपदे कृभ्वोर्धात्वोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः। अनाना नाना कृत्वा गतः नानाकृत्य गतः, नानाकृत्वा गतः, नानाकारं गतः। विनाकृत्य गतः, विनाकृत्वा गतः, विनाकारं गतः। नानाभूय गतः, नानाभूत्वा गतः, नानाभावं गतः। विनाभूय गतः, विनाभूत्वा गतः, विनाभावं गतः। द्विधाकृत्य गतः, द्विधाकृत्वा गतः, द्विधाकारं गतः। द्विधाभूय गतः, द्विधाभूत्वा गतः, द्विधाभावं गतः। द्वैधंकृत्य गतः, द्वैधंकृत्वा गतः, द्वैधंकारं गतः। द्वैधंभूय गतः, द्वैधंभूत्वा गतः, द्वैधंभावं गतः। प्रत्ययग्रहणं किम्? हिरुक् कृत्वा, पृथक् कृत्वा। च्व्यर्थ इति किम्? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः। धार्थमर्थग्रहणम्, ना पुनरेक एव 'विनञ्भ्यां नानाञौ' (5.2.27) इति।

अर्थ—नावाची तथा धावाची प्रत्यय जिससे होते हैं, उसके उपपद रहते प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। च्वि अर्थात् अभूततद्भाव अर्थ में नावाची प्रत्यय है अन्त में जिसके तथा धावाची प्रत्यय है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द के उपपद रहते कृ तथा भू धातुओं से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (क) नार्थे—

(1) नानाकृत्य गत:

अनाना नाना कृत्वा गत:—च्वि के अर्थ में ना हुआ, इसके उपपद रहते कृ से क्त्वा, समास,

नानाकृत्य—ल्यप्, विभक्तिकार्य।

(2) नानाकृत्वा गत:

क्त्वा, असमास।

1. यहाँ प्रदर्शित सभी उदाहरण कई संस्करणों में मूल में प्रदर्शित नहीं हैं।—लेखक।

(3) नानाकारं गतः
णमुल् हुआ।

(4) विनाकृत्य गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(5) विना कृत्वा गतः
असमास।

(6) विनाकारं गतः
णमुल् हुआ।

(7) नानाभूय गतः
क्त्वा, समास, ल्यप्।

(8) नानाभूत्वा गतः
क्त्वा।

(9) नानाभावं गतः
णमुल् हुआ।

(10) विनाभूय गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(11) विना भूत्वा गतः
क्त्वा, असमास।

(12) विनाभावं गतः
णमुल् हुआ।

(ख) धार्थे—

(13) द्विधाकृत्य गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(14) द्विधा कृत्वा गतः
क्त्वा, असमास।

(15) द्विधाकारं गतः।
णमुल् हुआ।

(16) द्विधाभूय गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(17) द्विधा भूत्वा गतः
क्त्वा।

(18) द्विधाभावं गतः
णमुल्।

(19) द्वैधंकृत्य गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(20) द्वैधं कृत्वा गतः
क्त्वा।

(21) द्वैधंकारं गतः
णमुल् हुआ।

(22) द्वैधंभूय गतः
क्त्वा, ल्यप्।

(23) द्वैधं कृत्वा गतः
क्त्वा।

(24) द्वैधं भावं गतः
णमुल्।

प्रत्यय० अर्थात् नावाची तथा धावाची प्रत्यय है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द के उपपद रहते ही णमुल् होता है—

हिरुक् कृत्वा

यहाँ प्रत्यय नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

च्व्यर्थ० अर्थात् च्वि के अर्थ में नावाची तथा धावाची प्रत्ययान्त के उपपद रहते क्त्वा व णमुल् होते हैं—

नाना कृत्वा काष्ठानि गतः
यहाँ नावाची प्रत्ययान्त (नाना) उपपद है परन्तु यह अभूततद् भाव अर्थ में नहीं है। अतः णमुल् नहीं हुआ।

'धार्थ' यहाँ अर्थ का ग्रहण किया जाता है। 'ना' प्रत्यय तो एक ही है। द्र०—विनञ्भ्यां नानाञौ।

(1196) तूष्णीमि भुवः *63* (3385)

तूष्णींशब्द उपपदे भवतेर्धातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः। तूष्णींभूय, तूष्णींभूत्वा, तूष्णींभावम्। भूग्रहणं कृञो निवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—तूष्णीम् उपपद रहते भू धातु से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) तूष्णीम्भूय
तूष्णीम् भू क्त्वा—समास, ल्यप्, अनुस्वार,
तूष्णीम्भूय—परसवर्ण, विभक्तिकार्य।

(2) तूष्णींभूत्वा
समास नहीं हुआ।

(3) तूष्णीम्भावम्
णमुल् हुआ।

प्रकृत सूत्र में 'भू' का ग्रहण 'कृ' धातु की निवृत्ति के लिए है।

(1197) अन्वच्यानुलोम्ये *64* (3386)

अन्वक्शब्द उपपदे भवतेर्धातोरानुलोम्ये क्त्वाणमुलौ भवतः। आनुलोम्यमनुलोमता, अनुकूलत्वम् परिचित्तानुविधानम्। अन्वग्भूयास्ते, अन्वग्भूत्वाऽऽस्ते, अन्वग्भावमास्ते। आनुलोम्य इति किम्? अन्वग्भूत्वा तिष्ठति।

अर्थ—अन्वच् शब्द के उपपद रहते भू धातु से क्त्वा तथा णमुल् प्रत्यय होते हैं, अनुकूलता अर्थ वाच्य हो तो।

अनुलोमता को 'आनुलोम्य' कहते हैं। दूसरे के मन को अनुकूल कर लेना 'अनुकूलत्व' है।

उदा० (1) अन्वग्भूयास्ते
चोः कुः से कुत्व, तब जश्त्व हुआ।

(2) अन्वग्भूत्वाऽऽस्ते
क्त्वा, असमास।

(3) अन्वग्भावमास्ते
णमुल् हुआ।

आनुलोम्य अर्थात् अनुकूलता अर्थ गम्यमान रहते णमुल् प्रत्यय होता है—

(4) अन्वग्भूत्वा तिष्ठति
अनुकूलता अर्थ न होने से णमुल् नहीं हुआ।

(1198) शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमन् *65* (3177)

शकादिषूपपदेषु अस्त्यर्थेषु च धातुमात्रात्तुमुन् प्रत्ययो भवति। अक्रियार्थोपपदार्थोऽयमारम्भः। शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति भोक्तुम्। जानाति भोक्तुम्। ग्लायति भोक्तुम्। घटते भोक्तुम्। आरभते भोक्तुम्। लभते भोक्तुम्। प्रक्रमते भोक्तुम्। सहते भोक्तुम्। अर्हति भोक्तुम्। अस्त्यर्थेषु खल्वपि—अस्ति भोक्तुम्, भवति भोक्तुम्, विद्यते भोक्तुम्।

अर्थ—शक्, धृष्, ज्ञा, ग्लै, घट्, रभ्, लभ्, क्रम्, सह् अर्ह तथा अस्त्यर्थक (= भू, अस्, विद्) धातुओं के उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है।

अक्रियार्थ उपपद के लिए यह विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) शक्नोति भोक्तुम्
शक् धातु उपपद है। इसके उपपद रहते भुज् से तुमुन् हुआ।

(2) धृष्णोति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(3) जानाति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(4) ग्लायति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(5) घटते भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(6) आरभते भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(7) लभते भोक्तुम्। (पूर्ववत्)।

(8) प्रक्रमते भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(9) सहते भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(10) अर्हति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(11) अस्ति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(12) भवति भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(13) विद्यते भोक्तुम् (पूर्ववत्)।

(1199) पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु *66* (3178)

पर्याप्तिरन्यूनता। पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति। पर्याप्तो भोक्तुम्। अलं भोक्तुम्। भोक्तुं पारयति। पर्याप्तिवचनेष्विति किम्? अलं कृत्वा। अलमर्थेष्विति किम्? पर्याप्तं भुङ्क्ते। पूर्वसूत्रे शकिग्रहणमनलमर्थम्-शक्यमेव कर्त्तुमिति।

अर्थ—अन्यूनता को 'पर्याप्ति' कहते हैं। पर्याप्तिवाची अलम् अर्थक शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पर्याप्तो भोक्तुम्।

(2) अलं भोक्तुम्।

(3) भोक्तुं पारयति।

पर्याप्ति० अर्थात् पर्याप्तिवाची शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है—

(4) अलं कृत्वा
यहाँ तुमुन् नहीं हुआ।

अलमर्थेषु अर्थात् अलम् आदि शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है—

(5) पर्याप्तं भुङ्क्ते
यहाँ तुमुन् नहीं हुआ।

पूर्वसूत्रे—पूर्वसूत्र में शक् आदि का ग्रहण अलम् से अतिरिक्त अर्थ के लिए है। यथा—

(6) शक्यमेव कर्त्तुम्
यहाँ अलम् अर्थ नहीं है।

(1200) कर्त्तरि कृत् *67* (2832)

कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कर्त्तरि कारके भवन्ति। कृदुत्पत्ति-वाक्यानामयं शेषः। तत्र येष्वर्थनिर्देशो नास्ति तत्रेदमुपतिष्ठते, अर्थाकाङ्क्षत्वात्, न ख्युन्नादिवाक्येषु, साक्षादर्थ-निर्देशे सति तेषां निराकाङ्क्षत्वात्। कारकः। कर्त्ता। नन्दनः। ग्राही। पचः।

अर्थ—कृत् संज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

यह सूत्र कृत् प्रत्ययविधायक वाक्यों का पूरक है। जिन प्रत्यय-विधायक सूत्रों में अर्थ का निर्देश नहीं है, उनमें इस सूत्र की प्राप्ति होती है। कारण कि वहाँ अर्थ की आकांक्षा होती है।

भाव यह है कि प्रकृत सूत्र के दो उद्देश्य प्रतीत होते हैं—

(क) कृत् प्रत्ययों का विधान करने वाले सूत्र वाक्यों के पूरक बन कर कर्त्ता अर्थ का ज्ञान कराते हैं।

(ख) स्व-स्व विधायक सूत्रों के द्वारा प्रत्यय का विधान होने के बाद प्रकृत सूत्र के द्वारा अर्थ का निर्देश किया गया है।

न ख्युन्नादि०—ख्युन् आदि प्रत्यय के विधायक सूत्रों में उपस्थिति नहीं होती, क्योंकि अर्थ का साक्षात् निर्देश हो जाने पर वहाँ अर्थ की आकांक्षा नहीं रहती है।

भाव यह है कि द्वितीय पक्ष उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार तृच् आदि प्रत्ययों के अर्थ का आदेश करता है, उसी प्रकार ख्युन् आदि प्रत्ययों के अर्थ का भी आदेश करेगा अर्थात् ख्युन् आदि प्रत्यय अपने अर्थ में होगा तथा कर्त्ता अर्थ में भी हो जायेगा।

उपर्युक्त विश्लेषण का सार यह है कि प्रथम पक्ष ही ठीक है। यहाँ अर्थ की आकांक्षा रहती है। जहाँ-जहाँ अर्थ का निर्देश नहीं है, वहाँ-वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

(1201) भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा *68* (2894)

भव्यादयः शब्दाः कर्त्तरि वा निपात्यन्ते। 'तयोरेव कृत्य-क्तखलर्थाः' (3.4.70) इति भावकर्मणोः प्राप्तयोः कर्त्ता च वाच्यः पक्षे उच्यते। भवत्यसौ भव्यः, भव्यमनेनेति वा। गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानीति वा। प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य, प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्याय इति वा। उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः, उपस्थानीयः शिष्येण वा गुरुः। जायतेऽसौ जन्यः, जन्यमनेनेति वा। आप्लवतेऽसावाप्लाव्यः, आप्लाव्यमनेनेति वा। आपतत्यसावापात्यः, आपात्यमनेनेति वा।

अर्थ—कर्त्ता अर्थ में भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य और आपात्य—ये शब्द विकल्प से निपातन-सिद्ध हैं।

ये 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' के द्वारा भाव तथा कर्म में प्राप्त थे, तब कर्त्ता अर्थ में कहे गये हैं। पक्ष में भाव व कर्म में भी होते हैं।

उदा० (1) भव्यः
भवत्यसौ—कर्त्ता अर्थ में 'यत्' प्रत्यय का निपातन हुआ,
भू यत् → भो यत्—गुण हुआ,
भव्य सु—धातोस्तन्निमित्त०, प्रातिपदिक संज्ञा,
भव्यः—विभक्तिकार्य।
पक्ष में भाव में प्रत्यय हुआ—भव्यम्।

(2) गेयो माणवकः साम्नाम्
कर्त्ता में प्रत्यय हुआ। यत्। आदेच उपदेशे०। ईद्यति।

(3) गेयानि माणवकेन सामानि
कर्म में प्रत्यय हुआ।

(4) प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य
प्र वच् अनीयर्—कर्त्ता अर्थ में प्रत्यय हुआ,
प्रवचनीयः—विभक्तिकार्य।

(5) प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः
कर्म में प्रत्यय हुआ।

(6) उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरुः
उप स्था अनीयर्—कर्त्ता में प्रत्यय हुआ।

(7) उपस्थानीयः शिष्येण वा गुरुः
कर्म में प्रत्यय हुआ।

(8) जन्यः
जायतेऽसौ—कर्त्ता अर्थ में।

(9) जन्यम्
जन्यमनेन—भाव में प्रत्यय हुआ।

(10) आप्लाव्यः
आप्लावतेऽसौ—कर्त्ता में हुआ।
आप्लाव्यमनेन—भाव में प्रत्यय हुआ।

(11) आपात्य:
आपतत्यसौ—कर्त्ता अर्थ में प्रत्यय हुआ।

(1202) ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य:*69* (2152)

ल इत्युत्सृष्टानुबन्धं सामान्यं गृह्यते। प्रथमाबहुवचनान्तं चैतत्। लकारा: कर्मणि कारके भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च। अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे भवन्ति, पुनश्चकारात् कर्त्तरि च। गम्यते ग्रामो देवदत्तेन। गच्छति ग्रामं देवदत्त:। अकर्मकेभ्य:—आस्यते देवदत्तेन, आस्ते देवदत्त:। सकर्मकेभ्यो भावे न भवन्ति।

अर्थ—अनुबन्ध से रहित 'ल्' इस प्रकार सामान्य का ग्रहण किया गया है। 'ल:' पद में षष्ठी नहीं है, अपितु बहुवचन का जस् प्रत्यय है। लकार कर्म कारक में होता है। चकार के ग्रहण से कर्त्ता में भी होता है। अकर्मक धातु से लकार भाव में होते हैं। चकार से कर्त्ता में भी होते हैं।

भाव यह है कि सकर्मक धातु से लकार कर्त्ता तथा कर्म में होते हैं तथा अकर्मक धातु से भाव तथा कर्त्ता में होते हैं।

सूत्र में चकार का दो बार पाठ होने से इसके द्वारा 'कर्त्तरि' पद का दो बार अनुवर्त्तन होता है।

उदा० (1) गम्यते ग्रामो देवदत्तेन
यहाँ कर्म में लकार हुआ है।

(2) गच्छति ग्रामं देवदत्त:
यहाँ कर्त्ता में लकार हुआ है।

(3) आस्यते देवदत्तेन
आस् अकर्मक धातु है। अत: भाव में लकार हुआ।

(4) आस्ते देवदत्त:
कर्त्ता में लकार हुआ।

सकर्मक धातु से भाव में लकार नहीं होते।

विशेष 1.—कैयट ने 'ल:' को सर्वत्र एकवचनान्त माना है, परन्तु 'विधिनिमन्त्रणा०' की टीका में बहुवचन स्वीकार किया है। द्र०—ल: कर्मणि चेत्यत्र बहुवचननिर्देशात् (प्रदीप)। इसे नागेश भी एकवचनान्त मानते हैं। द्र०—लघुशब्देन्दुशेखर पृ०—422 तथा म०भा० (उद्योत)—3.3.161

'ल:' इस पद में विभक्ति के विषय में दो मत प्रस्तुत किये हैं—केचिल्ल इति प्रथमां व्याचक्षतेऽपरे षष्ठीम्—। षष्ठ्यन्त की दशा में षष्ठी का अन्वय समीपस्थ सूत्र 'कर्तरि कृत्' (पा०3.4.67) के कृत् पद से होता है। तब दोष होता है। अत: हमारे मत में प्रथमा ही उचित है।

2. लकारों के तीन अर्थ होते हैं—कर्त्ता, कर्म व भाव। धातु के दो अर्थ होते हैं—फल और व्यापार।

यथा—देव: जयपुरं गच्छति—यहाँ 'गमन' क्रिया व्यापार तथा 'जयपुर का संयोग' उस क्रिया का फल है। फल कर्म में रहता है और व्यापार कर्त्ता में। अत: जिस धातु के फल व व्यापार के आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं, वह सकर्मक धातु कहलाता है तथा जिस धातु के फल व व्यापार के आश्रय एक ही हों, वह अकर्मक कहलाता है।

लकार दश होते हैं। यथा—

लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्।
ये प्रत्याहारक्रम से रखे गये हैं।
लेट् वेद का विषय है।

लिङ् व लोट् के दो-दो भेद हैं—

विधिलिङ्, आशीर्लिङ्।

विधि लोट्, आशीर्लोट्। (दोनों लकारों में प्र०पु०, एकव० तथा म०पु०, एकव० में ही अन्तर होता है। द्र०—तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम्। शेष वचनों में कोई अन्तर नहीं है।)

(1203) तयोरेव कृत्यक्तखलर्था: *70* (2833)

तयोरेव भावकर्मणो: कृत्यसंज्ञका: क्तखलर्थाश्च प्रत्यया भवन्ति। एवकार: कर्तुरपकर्षणार्थ:। कृत्या: कर्मणि–कर्त्तव्य: कटो भवता, भोक्तव्य ओदनो भवता। भावे–आसितव्यं भवता, शयितव्यं भवता। क्त: कर्मणि–कृत: कटो भवता, भुक्त ओदनो भवता। भावे–आसितं भवता, शयितं भवता। खलर्था: कर्मणि–ईषत्कर: कटो भवता। सुकर:, दुष्कर:। भावे—ईषदाढ्यम्भवं भवता, स्वाढ्यम्भवं भवता। 'भावे चाकर्मकेभ्य:' (3.4.69) इत्यनुवृत्तेस्सकर्मकेभ्यो भावे न भवन्ति।

अर्थ—कृत्यसंज्ञक, क्त तथा खल्वाची प्रत्यय भाव तथा कर्म में होते हैं। 'तयो:' पद के द्वारा 'कर्मणि' व 'भावे' पदों का अनुकर्षण होता है। 'एव' पद 'कर्तु:' के अपकर्षण के लिए है।

उदा० (क) कर्मणि कृत्य:—

(1) कर्त्तव्यः कटो भवता
कर्म में 'तव्यत्' हुआ।

(2) भोक्तव्य ओदनो भवता
भुज् तव्यत्—कर्म में प्रत्यय हुआ, तव्यत् की आर्धधातुक संज्ञा, पुगन्तलघूपधस्य च से गुण,
भोक् तव्य—कुत्व, खरि च,
भोक्तव्यः—सु।

(ख) भावे कृत्यः—

(3) आशितव्यं भवता
धातु अकर्मक है, अतः भाव में 'तव्यत्' हुआ।

(4) शयितव्यं भवता
शी तव्यत्—भाव में प्रत्यय हुआ, इट् व गुण हुआ,
शे इ तव्य—अयादेश,
शयितव्यम्—सु।

(ग) कर्मणि क्तः—

(5) कृतः कटो भवता
कृ क्त—कित् होने से गुण का निषेध,
कृतः—सु।

(6) भुक्त ओदनो भवता (पूर्ववत्)।

(घ) भावे क्तः—

(7) आसितं भवता
आस् क्त—पूर्ववत्,
आसितम्—इट्, सु।

(8) शयितं भवता
शी इट् क्त—पूर्ववत्।

(ङ) खलर्थाः कर्मणि—

(9) ईषत्करः (पूर्ववत्)।
(10) सुकरः (पूर्ववत्)।
(11) दुष्करः (पूर्ववत्)।

(च) भावे—

(12) ईषदाढ्यम्भवं भवता
भाव में प्रत्यय हुआ।

(13) स्वाढ्यम्भवं भवता (पूर्ववत्)।

'भावे' तथा 'अकर्मकेभ्यः' इनका अनुवर्त्तन होने से सकर्मक से भाव में प्रत्यय नहीं होते।

(1204) आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च *71* (3053)

आदिकर्मणि यः क्तो विहितः स कर्त्तरि भवति, चकाराद्यथाप्राप्तं भावकर्मणोः। आदिभूतः क्रियाक्षण आदिकर्म, तस्मिन्नादिकर्मणि भूतत्वेन विवक्षिते यः क्तो विहितस्तस्यायमर्थनिर्देशः। प्रकृतः कटं देवदत्तः, प्रकृतः कटो देवदत्तेन, प्रकृतं देवदत्तेन। प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः, प्रभुक्त ओदनो देवदत्तेन, प्रभुक्तं देवदत्तेन।

अर्थ—आदि कर्म में जो 'क्त' विहित है, वह भावकर्म तथा कर्त्ता अर्थ में होता है। आदिभूत क्रियाक्षण को 'आदिकर्म' कहा जाता है। उस आदिकर्म के भूत के रूप में विवक्षित होने पर जो 'क्त' विहित है, उसी के अर्थ का निर्देश यहाँ है।

उदा० (1) प्रकृतः कटं देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में हुआ।

(2) प्रकृतः कटो देवदत्तेन
कर्म अर्थ में हुआ।

(3) प्रकृतं देवदत्तेन
भाव अर्थ में हुआ।

(4) प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में हुआ।

(5) प्रभुक्त ओदनो देवदत्तेन
कर्म अर्थ में हुआ।

(6) प्रभुक्तं देवदत्तेन
भाव अर्थ में।

(1205) गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च *72* (3086)

गत्यर्थेभ्यो धातुभ्योऽकर्मकेभ्यः श्लिषादिभ्यश्च यः क्तः स कर्त्तरि भवति, चकाराद्यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः। गतो देवदत्तो ग्रामम्। गतो देवदत्तेन ग्रामः। गतं देवदत्तेन। अकर्मकेभ्यः–ग्लानो भवान्, ग्लानं भवता, आसितो भवान्, आसितं भवता। श्लिष–उपश्लिष्टो गुरुं भवान्, उपश्लिष्टो गुरुर्भवता, उपश्लिष्टं भवता। शीङ्–उपशयितो गुरुं भवान्, उपशयितो गुरुर्भवता, उपशयितं भवता। स्था–उपस्थितो गुरुं भवान्, उपस्थितो गुरुर्भवता, उपस्थितं भवता। आस–उपासितो गुरुं भवान्, उपासितो गुरुर्भवता, उपासितं भवता। वस–अनूषितो गुरुं भवान्, अनूषितो गुरुर्भवता,

अनूषितं भवता। जन–अनुजातो माणवको माणविकाम्, अनुजाता माणवकेन माणविका, अनुजातं माणवकेन। रुह–आरूढो वृक्षं भवान्, आरूढो वृक्षो भवता, आरूढं भवता। जीर्यति–अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः, अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन, अनुजीर्णं देवदत्तेन। श्लिषादयस्सोपसर्गास्सकर्मका भवन्ति, तदर्थमेषामुपादानम्।

अर्थ—गतिवाची, अकर्मक, श्लिष्, शी, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह् तथा जॄ धातुओं से विहित 'क्त' प्रत्यय कर्त्ता, कर्म व भाव अर्थों में होता है।

उदा० (क) गत्यर्थेभ्यः—

(1) गतो देवदत्तो ग्रामम्
कर्त्ता अर्थ में।

(2) गतो देवदत्तेन ग्रामः
कर्म अर्थ में।

(3) गतं देवदत्तेन
भाव अर्थ में।

(ख) अकर्मकेभ्यः—

(4) ग्लानो भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(5) ग्लानं भवता
भाव अर्थ में।

(6) आसितो भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(7) आसितं भवता
भाव अर्थ में।

(ग) श्लिष् धातोः—

(8) उपश्लिष्टो गुरुं भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(9) उपश्लिष्टो गुरुर्भवता
कर्म अर्थ में।

(10) उपश्लिष्टं भवता
भाव अर्थ में।

(घ) शीङ् धातोः—

(11) उपशयितो गुरुं भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(12) उपशयितो गुरुर्भवता
कर्म अर्थ में।

(13) उपशयितं भवता
भाव अर्थ में।

(ङ) स्थाधातोः—

(14) उपस्थितो गुरुं भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(15) उपस्थितो गुरुर्भवता
कर्म अर्थ में।

(16) उपस्थितं भवता
भाव अर्थ में।

(च) आस्धातोः—

(17) उपासितो गुरुं भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(18) उपासितो गुरुर्भवता
कर्म अर्थ में।

(19) उपासितं भवता
भाव अर्थ में।

(छ) वस्धातोः—

(20) अनूषितो गुरुं भवान्।
कर्त्ता अर्थ में।

(21) अनूषितो गुरुर्भवता
कर्म अर्थ में।

(22) अनूषितं भवता
भाव अर्थ में।

(ज) जन्धातोः—

(23) अनुजातो माणवको माणविकाम्
कर्त्ता अर्थ में।

(24) अनुजाता माणविका
कर्म अर्थ में।

(25) अनुजातं माणवकेन
भाव अर्थ में।

(झ) रुह्धातोः—

(26) आरूढो वृक्षं भवान्
कर्त्ता अर्थ में।

(27) आरूढो वृक्षो भवता
कर्म अर्थ में।

(ञ) जॄधातोः—

(28) अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में।

(29) अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन
कर्म अर्थ में।

(30) अनुजीर्णं देवदत्तेन
भाव अर्थ में।

शिलष् आदि धातु सोपसर्ग होने पर सकर्मक हैं। अत एव इनका यहाँ उपादान किया गया है।

(1206) दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने *73* (3172)

दाशगोघ्नौ शब्दौ सम्प्रदाने कारके निपात्येते। 'दाशृ दाने', ततः पचाद्यच्। स कृत्संज्ञकत्वात् कर्त्तरि प्राप्तः, सम्प्रदाने निपात्यते। दाशन्ति तस्मै इति दाशः। आगताय तस्मै दातुं गां घ्नन्तीति गोघ्नः, अर्घार्होऽतिथिः। टगत्र निपात्यते। निपातनसामर्थ्यादिव गोघ्न ऋत्विगादिरुच्यते, न तु चाण्डालादिः। असत्यपि च गोहनने तस्य योग्यतया गोघ्न इत्यभिधीयते।

अर्थ—सम्प्रदान कारक के अर्थ में दाश और गोघ्न—ये कृदन्त शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) दाशः
दाश् अच्—पचादि होने से 'अच्' हुआ, कृत् संज्ञक होने से यह कर्त्ता अर्थ में प्राप्त था,
दाशः—सु। दाशन्ति अस्मा इति।

(2) गोघ्नः
गो हन्—आगताय गां हन्ति—इस अर्थ में सम्प्रदान कारक के अर्थ में,
गो हन् टक्—निपातन से 'टक्' हुआ,
गो घन् अ—हो हन्ते०,
गोघ्नः—गमहनजन०, सु।

निपातन०—निपातनसामर्थ्यवशात् गोघ्न शब्द ऋत्विक् आदि कहा जाता है; चाण्डाल आदि नहीं।

(1207) भीमादयोऽपादने *74* (3173)

भीमादयः शब्दा अपादाने निपात्यन्ते। उणादिप्रत्ययान्ता एते। 'श्याधूसूभ्यो मक्' (उ०सू० 1.144), 'भियष्षुक्च' (उ०सू० 1.147) इत्येवमादयः। 'ताभ्यामन्यत्रोणादय' (3.4.75) इति पर्युदासे प्राप्ते निपातनमारभ्यते। भीमः। भीष्मः। भयानकः। वरुः। चरुः। भूमिः। रजः। संस्कारः। संक्रन्दनः। प्रपतनः। समुद्रः। स्रुचः। स्रुक्। खलतिः।

अर्थ—अपादान कारक में 'भीम' आदि उणादिप्रत्ययान्त शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) भीमः
भी मक्—'श्याधूसूभ्यो मक्' से 'मक्' हुआ,
भीमः—सु।

(2) भीष्मः
भी षुक् मक्—'भियष्षुग् वा (उ०सू०) से षुक् आगम,
भीष्मः—सु।

ताभ्याम०—'ताभ्यामन्यत्रोणादयः' से पर्युदास प्राप्त होने पर यह निपातन किया जा रहा है।

(3) भयानकः
भी धातु से प्रत्यय हुआ।

(4) वरुः
'वृ' से प्रत्यय हुआ।

(5) चरुः (पूर्ववत्)।
(6) भूमिः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1208) ताभ्यामन्यत्रोणादयः *75* (3174)

उणादयः शब्दास्ताभ्यामपादानसम्प्रदानाभ्यामन्यत्र कारके भवन्ति। कृत्त्वात् कर्तर्येव प्राप्ताः कर्मादिषु कथ्यन्ते। ताभ्यामिति सम्प्रदानार्थः प्रत्यवमर्शः। अन्यथा ह्यपादानमेव पर्युदस्येत, अनन्तरत्वात्। कृषितोऽसौ कृषिः। तनित इति तन्तुः। वृत्तमिति वर्त्म। चरितं चर्म।

अर्थ—अपादान और सम्प्रदान कारकों से अतिरिक्त कारकों में भी उणादि प्रत्यय होते हैं। 'कृदतिङ्' से इन प्रत्ययों की कृत्संज्ञा हुई। कृत् होने से ये कर्तृ अर्थ में ही प्राप्त थे। प्रकृत सूत्र के द्वारा कर्म आदि में कहे गये हैं। 'ताभ्याम्' यहाँ द्विवचन का प्रयोग 'सम्प्रदान' के लिए है, अन्यथा केवल उपादान का ही पर्युदास हो पाता।

उदा० (1) कृषिः
कृष्यतेऽसौ—इस अर्थ में 'इगुपधात् कित्' (उ०सू० 4.120) से 'इन्' होकर रूप बनता है।
कृषिः—सु, कर्त्ता अर्थ में।

(2) तन्तुः
तन्यत इति—कर्त्ता अर्थ में 'सितनिगमि०' (उ०सू० 1.69) से 'तुन्' होकर रूप बनता है।

(3) वर्त्म
वृत्तम् इति—प्रत्यय हुआ।

(4) चर्म
चरितमिति—पूर्ववत्।

(1209) क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः *76* (3087)

ध्रौव्यार्था अकर्मकाः, प्रत्यवसानार्था अभ्यवहारार्थाः इति स्वनिकायप्रसिद्धिः। ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यो यः क्तो विहितः सोऽधिकरणे भवति, चकाराद्यथाप्राप्तं च। ध्रौव्यार्थेभ्यः कर्तृभावाधिकरणेषु, गत्यर्थेभ्यः कर्तृकर्मभावाधिकरणेषु, प्रत्यवसानार्थेभ्यः कर्मभावाधिकरणेषु। ध्रौव्यार्थेभ्यस्तावत्–आसितो देवदत्तः, आसितं तेन, इदमेषामासितम्। गत्यर्थेभ्यः–यातो देवदत्तो ग्रामम्, यातो देवदत्तेन ग्रामः, यातं देवदत्तेन, इदमेषां यातम्। प्रत्यवसानार्थेभ्यः–भुक्त ओदनो देवदत्तेन, देवदत्तेन भुक्तम्, इदमेषां भुक्तम्। कथं भुक्ता ब्राह्मणाः,पीता गाव इति? अकारो मत्वर्थीयः–भुक्तमेषामस्ति, पीतमेषा-स्तीति।

अर्थ—स्थितिवाची, गतिवाची तथा अभ्यवहारवाची धातुओं से विहित क्त प्रत्यय अधिकरण कारक में होता है तथा कर्त्ता, कर्म व भाव में होता है। स्थितिवाची धातु से प्रत्यय कर्तृ, भाव तथा अधिकरण अर्थों में होता है। गतिवाची धातु से प्रत्यय कर्तृ, कर्म, भाव तथा अधिकरण अर्थों में होता है तथा प्रत्यवसानवाची धातु से प्रत्यय कर्म, भाव तथा अधिकरण अर्थों में होता है।

उदा० (क) ध्रौव्यार्थेभ्यः—
(1) आसितो देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में प्रत्यय हुआ।

(2) आसितं तेन
भाव में हुआ।

(3) इदमेषाम् आसितम्
अधिकरण अर्थ में।

(ख) गत्यर्थेभ्यः—
(4) यातो ग्रामं देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में।

(5) यातो ग्रामो देवदत्तेन
कर्म अर्थ में।

(6) यातं देवदत्तेन
भाव अर्थ में।

(7) इदमेषां यातम्
अधिकरण अर्थ में।

(ग) प्रत्यवसानार्थेभ्यः—
(8) भुक्त ओदनो देवदत्तेन
कर्म अर्थ में हुआ।

(9) भुक्त ओदनं देवदत्तः
कर्त्ता अर्थ में।

(10) भुक्तं देवदत्तेन
भाव अर्थ में।

(11) भुक्ता ब्राह्मणाः
यहाँ अकार मत्वर्थीय है। भुक्तमेषामस्ति।

(12) पीता भावः
पूर्ववत्। पीतमेषामस्ति।

(1210) लस्य *77* (2153)

लस्येत्ययमधिकारः। अकार उच्चारणार्थः। लकारमात्रं स्थानित्वेनाधिक्रियते। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्येत्येवं तद्वेदितव्यम्। किं चेदं लस्येति? दश लकारा अनुबन्धविशिष्टा विहिता अर्थविशेषे कालविशेषे च, तेषां विशेषकराननुबन्धानृत्सृज्य यत्सामान्यं तद् गृह्यते। षट्टितः, चत्वारो ङितः अक्षरसमाम्नायवदानुपूर्व्या कथ्यन्ते। लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्। लोट्। लङ्। लिङ्। लुङ्। लृङ् इति। अथ लकारमात्रस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति—लुनाति चूडाल इति? धात्वधिकारोऽनुवर्त्तते, कर्त्रादयश्च विशेषकाः।

अर्थ—लकार के स्थान पर हो—यह अधिकार जानना चाहिए। 'ल' में अकार उच्चारणार्थ है।[1] स्थानी लकारमात्र है।

1. परन्तु 'लः कर्मणि०' तथा 'लः परस्मैपदम्' में लकार में अकार का संयोग नहीं है।

इससे लेकर इस पाद की समाप्तिपर्यन्त जिस कार्य का विधान है, वह-वह लकार के स्थान पर होता है।

लकार का अनुबन्धरहित निर्देश होने से इसके द्वारा दशों लकारों का ग्रहण होता है।

षट्टितो०—छः टित् लकार हैं तथा चार ङित् लकार हैं। अक्षर-समाम्नाय में पठित वर्णों के अनुक्रम से लकारों का पाठ किया गया है। यथा—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्। यहाँ लकारमात्र का ग्रहण होता है। 'लुनाति' तथा 'चूडाल' इन स्थलों पर लकार के स्थान पर आदेश नहीं होता। यहाँ 'धातोः' इसका अनुवर्त्तन है। कर्त्ता आदि विशेषक हैं।

(1211) तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथा-साथांध्वमिड्वहिमहिङ् *78* (2154)

लस्य तिबादय आदेशा भवन्ति। तिप्सिप्मिपां पकारः स्वरार्थः। इटष्टकारः 'इटोऽत्' (3.4.104) इति विशेषणार्थः, तिबा-दिभिरादेशैस्तुल्यत्वान्न देशविध्यर्थः। महिङो ङकारस्ति-ङिति प्रत्याहारग्रहणार्थः। पचति, पचतः, पचन्ति। पचसि, पचथः, पचथ। पचामि, पचावः, पचामः। पचते, पचेते, पचन्ते। पचसे, पचेथे, पचध्वे। पचे, पचावहे, पचामहे। एवमन्येष्वपि लकारेषूदाहार्यम्।

अर्थ—लकार (अर्थात् लट् आदि) के स्थान पर तिप् आदि अठारह आदेश होते हैं। यथा—

तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।

तिप्, सिप् तथा मिप्—ये पित् हैं। यह स्वर के लिये हैं। पित् होने से इनके परे रहते गुण और वृद्धि आदि कार्य होते हैं। शेष आदेश अपित् हैं। 'सार्वधातुकमपित्' से ये ङिद्वत् होते हैं। ङित् प्रत्यय के परे रहते गुण व वृद्धि का निषेध हो जाता है।

इट् को टित् 'इटोऽत्' के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त इट् को टित् करण स्पष्टता के लिये है। अन्यथा 'इटोऽत्' के स्थान पर 'एरत्' पाठ करना पड़ता; जिसके फलस्वरूप अनेक समस्याएँ खड़ी हो जातीं। महिङ् में 'ङ्' अनुबन्ध तिङ् व तङ् प्रत्याहारों के निर्माण के लिए है। तस्, थस्, वस्, थास् व ध्वम् प्रत्ययों में 'स्' या 'म्' की इत् सञ्ज्ञा का निषेध 'न विभक्तौ तुस्माः' से हो जाता है।

तस् आदि में रुत्वादि का अभाव तथा आताम् आदि में अनुस्वार परसवर्णादि का अभाव स्पष्टता के लिये है।

वासुदेव दीक्षित तथा अन्य कई विद्वान् 'तिप्........महिङ्' में समाहार द्वन्द्व मानते हैं, परन्तु नागेश जी ने तिप् आदि सभी को अविभक्तिक पद स्वीकार किया है। चूँकि समास की दशा में संहिता कार्य नित्य होता है और इस सूत्र में अनेकत्र सन्ध्यभाव देखा जाता है। अतः प्रत्येक पद अविभक्तिक मानना चाहिये।

हमारे मत में सन्ध्यभाव स्पष्टता के लिये है। अतः समाहार द्वन्द्व मानने में कोई दोष नहीं है।

उदा० (1) पचति
पच् लट्—वर्तमाने लट्। लस्य। तिप्तस्झि०,
पच् तिप्—तिङ्शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्,
पच् शप् तिप्—लशक्वतद्धिते,
पचति—हलन्त्यम्।

(2) पचतः
पच् शप् तस्—पूर्ववत्।

(3) पचन्ति
पच् झि—पूर्ववत्, झोऽन्तः,
पचन्ति—शप् आदि।

(4) पचसि
पच् शप् सिप्—पूर्ववत्।

(5) पचथः
पच् शप् थस्—पूर्ववत्।

(6) पचथ
पच् शप् थ—पूर्ववत्।

(7) पचामि
पच् शप् मिप्—अतो दीर्घो यञि।

(8) पचावः
पच् शप् वस्—पूर्ववत् दीर्घ।

(9) पचामः
पच् शप् मस्—पूर्ववत् दीर्घ।

(10) पचते
पच् शप् त—'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व।

(11) पचेते
पच् शप् आताम्—पूर्ववत् एत्व।

(12) पचन्ते
पच् शप् झ—पूर्ववत्, अतो गुणे।

(13) पचसे
पच् शप् थास्—थासः से।

(14) पचेथे
पच् शप् आथाम्—एत्व।

(15) पचध्वे
पच् शप् ध्वम्—एत्व।

(16) पचे
पच् शप् इट्—एत्व, 'अतो गुणे' से पररूप।

(17) पचावहे
पच् शप् वहि—दीर्घ, टि को एत्व।

(18) पचामहे
पच् शप् महिङ्—पूर्ववत्।

ये सभी लट् लकार के उदाहरण हैं। इसी प्रकार अन्य लकारों में भी जानना चाहिए।

(1212) टित आत्मनेपदानां टेरे *79* (2233)

टितो लकारस्य स्थाने यान्यात्मनेपदानि तेषां टेरेकारादेशो भवति। तथा चैवोदाहृतम्। इह कस्मान्न भवति–पचमानो यजमानः ? प्रकृतैस्तिबादिभिरात्मनेपदानि विशेष्यन्ते।

टित् लकारों (लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्) के स्थान पर विहित (तिप् आदि में) आत्मनेपदसंज्ञक आदेशों के 'टि' भाग के स्थान पर एकार होता है।

'तङानावात्मनेपदम्' से त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्, शानच्, तथा चानश् की आत्मनेपदसंज्ञा होती है। उदाहरण पिछले सूत्र पर देखें।

पचमानो—यहाँ टि को एत्व नहीं होता। प्रकृत तिप् आदि से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय विशेष होते हैं।

विशेष—1. लुट् टित् लकार है। प्र०पु० एकव० में 'एध इट् तास् डा' इस स्थिति में 'टि' का लोप होकर 'एधिता' बनता है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा टिभाग (आकार) के स्थान पर एत्व प्राप्त होता है, परन्तु आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि यदि तिङ् के स्थान पर कोई आदेश होता है तो वहाँ प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ निम्न सूत्र ज्ञापक हैं—

भाष्यकार के अनुसार 'एधिता' में पर होने के कारण प्रथम एत्व होता है। पुनः प्रसंगविधान से 'डा' होता है। तब 'लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः' इस परिभाषा के अनुसार पुनः एत्व नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार उक्त ज्ञापक से अधिक सहमत नहीं।

'थासः से' के स्थान पर 'थासः सि' से मात्रालाघव होता है तथा एत्व होकर 'सि' को 'से' बन जाता है।

इसी प्रकार 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' के स्थान पर 'लिटस्तझयो-रिशिसरिच्' सूत्रपाठ से भी काम चल सकता था।

2. 'एध् शप् म् शानच्' यहाँ 'एधमान' बनकर प्रकृत सूत्र से एत्व प्राप्त होना चाहिये, कारण कि 'तङानावात्मनेपदम्' से 'शानच्' की आत्मनेपदसञ्ज्ञा होती है। परन्तु 'शानच्' की गणना तिप् आदि अठारह प्रत्ययों में नहीं है। अतः यहाँ एत्व नहीं होगा। इसीलिये 'तिप् आदि में' ऐसा हिन्दी भाषा में अर्थ दिखाया गया है।

द्र०—(म०हा० 3.4.79.—पं० रामप्रसाद त्रिपाठी, पृ०404)

यहाँ त्रिपाठी जी ने दो सुझाव दिये हैं—

(क) 'तिप् तस् झि०' सूत्र की अनुवृत्ति करके,

(ख) 'वर्तमान' इस निर्देश से तङ् मात्र का ग्रहण करके उपर्युक्त अर्थ प्राप्त होता है।

(1213) थासः से *80* (2236)

टित इत्येव। टितो लकारस्य यस्थास्तस्य सेशब्द आदेशो भवति। पचसे। पेचिषे। पक्तासे। पक्ष्यसे।

अर्थ—टित् लकारों के स्थान पर विहित 'थास्' प्रत्यय के स्थान पर 'से' आदेश होता है। 'से' अनेकाल् है। अतः सम्पूर्ण स्थानों को हटा कर होता है।

उदा० (1) पचसे
पच् लट्—थास्, शप्,
पच् अ से—'से' आदेश।

(2) पेचिषे
पच् लिट्—थास्, से, द्वित्व।
पेचिषे—इट्, एत्व तथा अभ्यासलोप, मूर्धन्य।

(3) पक्तासे
पच् लुट्—थास्, से,
पच् तास् से—स्यतासी लृलुटोः,
पक्तासे—कुत्व, सकारलोप।

(4) पक्ष्यसे
पच् लृट्—थास्, से,
पच् स्य से—स्यतासी लृलुटोः,
पक् ष्य से—आदेशप्रत्यययोः,
पक्ष्यसे—कुत्व।

(1214) लिटस्तझयोरेशिरेच् *81* (2241)

लिडादेशयोस्तझयोर्यथासंख्यमेश् इरेच् इत्येतावादेशौ भवतः। शकारः सर्वादेशार्थः। चकारः स्वरार्थः। पेचे, पेचाते, पेचिरे। लेभे, लेभाते, लेभिरे।

अर्थ—लिट् के स्थान पर विहित 'त' तथा 'झ' के स्थान पर यथासंख्य करके 'एश्' तथा 'इरेच्' आदेश होते हैं। 'एश्' के शकार की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा होती है। शित् होने से 'एश्' सर्वादेश होता है। 'इरेच्' के चकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा होती है। इसे चित् स्वर के लिए किया गया है। 'इरेच्' के अनेकाल् होने से यह भी सर्वादेश होता है।

उदा० (1) पेचे
पच् लिट्—प्र०पु० एकव० में 'त' हुआ,
पच् एश्—एश् आदेश,
पेचे—द्वित्व, अभ्यासलोप, एत्व।

(2) पेचाते
पच् आताम्—टित आत्मनेपदानां टेरे,
पेचाते—अभ्यासलोप, एत्व।

(3) पेचिरे
पच् झ—लिट्, प्र०पु० बहुव०,
पच् इरेच्—इरेच् आदेश, द्वित्व,
पेचिरे—अभ्यासलोप, एत्व।

(4) लेभे
लभ् एश्—पूर्ववत्।

(5) लेभाते
लभ् आताम्—'पेचाते' की तरह।

(6) लेभिरे
लभ् झ—'पेचिरे' की तरह।

(1215) परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः *82* (2173)

लिट इत्येव। 'विद ज्ञाने' पदस्मैपदसंज्ञकानां यथासंख्यं तिबादीनां णलादयो नवादेशा भवन्ति। लकारः स्वरार्थः। णकारो वृद्ध्यर्थः। पपाच, पेचतुः, पेचुः। पेचिथ, पपक्थ, पेचथुः, पेच। पपाच, पपच। पेचिव। पेचिम।

अर्थ—'लिटः' का अनुवर्त्तन है। लिट् के स्थान पर विहित परस्मैपदसंज्ञक तिप् आदि नौ आदेशों के स्थान पर क्रमशः णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व तथा म—ये आदेश होते हैं। यहाँ यथासंख्य विधि होती है। णल् के णकार (चुटू) तथा लकार (हलन्त्यम्) की इत्संज्ञा होती है। लकार अनुबन्ध स्वर के लिए है। णकार अनुबन्ध वृद्धि आदेश के लिए है। थल् के लकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) पपाच
पच् तिप्—लिट्, प्र०पु० एकव०,
पच् णल्—परस्मैपदानां णलतुस०,
पच् पच् अ—द्वित्व, अनुबन्धलोप,
पपाच—हलादिः शेषः, अत उपधायाः।

(2) पेचतुः
पच् अतुस्—'तस्' के स्थान पर 'अतुस्',
पेचतुः—अत एकहल्मध्ये०,

(3) पेचुः
पच् उस्—'झि' के स्थान पर 'उस्', द्वित्व,
पेचुः—अभ्यासलोप, एत्व।

(4) पेचिथ
पच् सिप्—लिट्, म०पु० एकव०,
पच् थल्—थल् आदेश, आर्धधातुक इट् की प्राप्ति, 'एकाच उपदेशेऽनुदा०' से निषेध, क्रादिनियम से इट् की प्राप्ति, 'उपदेशेऽत्वतः' से निषेध, 'ऋतो भारद्वाजस्य' से पाक्षिक इट्,
प पच् इ थ—इट् पक्ष में द्वित्व,
पेचिथ—अभ्यासलोप, एत्व। थलि च सेटि।

(5) पपक्थ
प पच् थल्—इट् अभावपक्ष में,
पपक्थ—कुत्व।

(6) पेचथुः
पच् अथुस्—म०पु० द्विव०, द्वित्व,
पेचथुः—पूर्ववत्।

(7) पेच
पच् अ—द्वित्व,
पेच—पूर्ववत्।

(8) पपाच
पच् णल्—'मिप्' के स्थान पर 'णल्',
पच् पच् अ—द्वित्व, 'णल उत्तमो वा' से णल् पाक्षिक णिद्वत् हुआ,
पपाच—णित् पक्ष में उपधादीर्घ।

(9) पपच
प पच् अ—णिद्वत् अभाव पक्ष में उपधादीर्घ नहीं हुआ,
पपच—शेष पूर्ववत्।

(10) पेचिव
पच् व—उ०पु०एकव०,
पच् इट् व—आर्धधातुक इट्,
पेचिव—शेष पूर्ववत्।

(11) पेचिम
'पेचिव' की तरह।

(1216) विदो लटो वा *83* (2464)

परस्मैपदानामित्येव। 'विद ज्ञाने' अस्माद्धातोः परेषां लडादेशानां परस्मैपदानां णलादयो नव विकल्पेनादेशा भवन्ति। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद, विद्व:, विद्मः। न च भवति-वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः। वेद्मि, विद्वः, विद्मः।

अर्थ—'परस्मैपदानाम्' का अनुवर्त्तन है। विद् धातु से लट् के स्थान पर विहित परस्मैपदसंज्ञक तिप् आदि आदेशों के स्थान पर णल् आदि आदेश यथासंख्य करके विकल्प से होते हैं।

'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से णलादि की भी सार्वधातुक संज्ञा होती है। पक्ष में तिप् आदि भी होते हैं। यहाँ विद् ज्ञाने का ग्रहण होता है।

उदा० (1) वेद
विद् तिप्—लट्, तिप्,
विद् णल्—अनुबन्धलोप, शप्, शप् का लुक्,
वेद—पुगन्तलघूपधस्य च।

(2) वेत्ति
विद् शप् तिप्—पक्ष में णल् नहीं हुआ, शप् का लुक्।
वेत्ति—लघूपधगुण, खरि च।

(3) विदतुः
विद् अतुस्—'तस्' के स्थान पर 'अतुस्' हुआ।
विदतुः—ङित् होने से लघूपध गुण नहीं हुआ।

(4) वित्तः
विद् तस्—पक्ष में खरि च।

(5) विदुः
विद् झि—प्र०पु० बहुव०,
विद् उस्—उस् आदेश।

(6) विदन्ति
विद् झि—पक्ष में 'झोऽन्तः' से 'अन्त' आदेश।

(7) वेत्थ
विद् थल्—पित् होने से लघूपधगुण,
वेत्थ—खरि च।

(8) वेत्सि
विद् सिप्—पक्ष में 'खरि च' से चर्त्व होकर।

(9) विदथुः
विद् अथुस्—'थस्' को 'अथुस्' हुआ,
विदथुः—लघूपधगुण नहीं हुआ।

(10) वित्थः
विद् थस्—पक्ष में 'अथुस्' नहीं हुआ।

(11) विद
विद् अ—'थ' के स्थान पर 'अ' हुआ।

(12) वित्थ
विद् थ—पक्ष में, खरि च।

(13) वेद
विद् णल्—णल् हुआ, लघूपधगुण।

(14) वेद्मि
विद् मिप्—लघूपधगुण हुआ।

(15) विद्व
विद् व—'वस्' के स्थान पर 'व' हुआ।

(16) विद्वः
विद् वस्—पक्ष में।

(17) विद्म
विद् म—'मस्' को 'म' हुआ।

(18) विद्मः
पक्ष में 'म' नहीं हुआ।

ध्यातव्य है कि 'विद् म' इस दशा में 'द्' (यर्) पदान्त में नहीं है। अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' प्रवृत्त नहीं होता है।

(1217) ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः *84* (2450)

परस्मैपदानामिति, लटो वेति च वर्त्तते। ब्रुवः परस्य लटः परस्मैपदानां पञ्चानामादिभूतानां पञ्चैव णलादय आदेशा वा भवन्ति, तत्सन्नियोगेन च ब्रुव आहशब्द आदेशो भवति। आह, आहतुः, आहुः। आत्थ, आहथुः। न च भवति—ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथः इति। पञ्चानामिति किम्? ब्रूथ, ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः। आदित इति किम्? परेषां मा भूत्। ब्रुव इति पुनर्वचनं स्थान्यर्थम्, परस्मैपदानामेव हि स्यात्।

अर्थ—ब्रू धातु से पर लट् के स्थान पर विहित परस्मैपदसंज्ञक प्रथम पाँच आदेशों (= तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्) के स्थान पर यथासंख्य करके णलादि (= णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्) विकल्प से होते हैं तथा ब्रू को 'आह' आदेश भी विकल्प से होता है। 'आह' में अकार उच्चारणार्थ है। भाव यह है कि णल् आदि आदेश तथा 'आह्' आदेश युगपत् होते हैं।

उदा० (1) आह
ब्रू तिप्—लट् प्र०पु०एक०, शप्, शप् लुक्,
आह् णल्—आह् आदेश, णल् आदेश,
आह—अनुबन्धलोप।

(2) ब्रवीति
ब्रू तिप्—पक्ष में, 'ब्रुव ईट्' से 'ईट्',
ब्रो ई ति—सार्वधातुकार्धधातु० से गुण,
ब्रवीति—अवादेश।

(3) आहतुः
ब्रू तस् → आह् अतुस्—पूर्ववत्,
आहतुः—विसर्ग।

(4) ब्रूतः
ब्रू तस्—पक्ष में,
ब्रूतः—विसर्ग।

(5) आहुः
आह् उस्—आह् आदेश, उस् आदेश,
आहुः—विसर्ग।

(6) ब्रुवन्ति
ब्रू झि—पक्ष में,
ब्रू अन्ति—झोऽन्तः, अचि श्नुधातु० से उवङ् आदेश,
ब्रुवन्ति—रूप बना।

(7) आत्थ
आह् थल्—सार्वधातुक होने से इटागम नहीं हुआ,
आथ् थ → आत्थ—आहस्थः, खरि च।

(8) ब्रवीषि
ब्रू सिप्—पक्ष में,
ब्रवीषि—ईट्, गुण, मूर्धन्यादेश।

(9) आहथुः
ब्रू थस्—प्र०पु०द्वि०,
आहथुः—आह् तथा अथुस् आदेश।

(10) ब्रूथ
ब्रू थस्—पक्ष में,
ब्रूथः—पूर्ववत्।

पञ्चानामा० अर्थात् पाँच आदेशों के स्थान पर ही णल् आदि आदेश होते हैं, शेष के स्थान पर नहीं होते।

(11) ब्रूथ
यहाँ पूर्वोक्त आदेश नहीं हुआ।

(12) ब्रवीमि
पूर्वोक्त आदेश नहीं हुआ।

(13) ब्रूवः
पूर्वोक्त आदेश नहीं हुआ।

(14) ब्रूमः
पूर्वोक्त आदेश नहीं हुआ।

आदितः अर्थात् आदि के पाँच लादेशों के स्थान पर ही णल् आदि होते हैं। तब पाँच से अगले लादेशों (= थ, मिप्, वस्, मस्) के स्थान पर ये णल् आदि नहीं होते हैं।

सूत्र में 'ब्रुवः' पद का पुनः प्रयोग स्थानी के लिए है। ये आदेश परस्मैपद लादेशों के स्थान पर ही होते हैं।

(1218) लोटो लङ्वत् *85* (2198)

अतिदेशोऽयम्। लोटो लङ्वत् कार्यं भवति, तामादयस्सलोपश्च। पचताम्। पचतम्, पचत। पचाव, पचाम। अडाटौ कस्मान्न भवतः, तथा झेर्जुसादेशो (3.4.108) 'लङः शाकटायनस्यैव' (3.4.111) इति—वान्तु, यान्तु? 'विदो लटो वा' (3.4.83) इत्यतो वाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा भविष्यति।

अर्थ—यह अतिदेशसूत्र है। लोट् लङ् के समान होता है अर्थात् जो-जो कार्य लङ् की दशा में होते हैं, वे-वे कार्य लोट् प्रत्यय को भी होते हैं। लङ् में निम्नलिखित कार्य होते हैं—

(क) ताम् आदि—'तस्थस्थमिपां०' के द्वारा तस् आदि लादेशों के स्थान पर 'ताम्' आदि आदेश होते हैं।

(ख) सलोप—'नित्यं ङितः' से उत्तम पुरुष के सकार का लोप होता है।

(ग) अडादि आगम—धातु से पूर्व अट् अथवा आट् का आगम होता है।

(घ) इकारलोप—'इतश्च' से प्रत्यय के इकार का लोप होता है।

उपर्युक्त चार कार्यों में प्रथम दो कार्य ही लोट् को होते हैं। अट् आदि आगम लङ् के स्थान पर नहीं होते, अपितु ये आगम लङ् परे रहते अंग को होते हैं। अतः इनका अतिदेश नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त 'एरुः' सूत्र विधानसामर्थ्य से ज्ञापित करता है कि 'इतश्च' से विहित इकारलोप भी नहीं होता है।

उदा० (1) पचताम्

पच् तस्—लोट्, लोटो लङ्वत्, 'तस्थस्थमिपां०' से 'ताम्' आदेश, स्थानिवत् होने से सार्वधातुक,

पच् शप् ताम्—शप्,

पचताम्—अनुबन्धलोप।

(2) पचतम्

पच् थस् → पच् तम्—पूर्ववत्,

पचतम्—शप्।

(3) पचत

पच् थ → पच् अ त—पूर्ववत्।

(4) पचाव

पच् वस्—लोट्, लोटो लङ्वत्, शप्,

पच् अ आ वस्—आड् उत्तमस्य पिच्च,

पचाव—अकः सवर्णे दीर्घः, नित्यं ङितः।

(5) पचाम

पच् मस्—पूर्ववत्।

अडाटौ०—प्रकृत सूत्र से लङ् का लोट् में अतिदेश कर देने पर 'लुङ्लङ्०' से अट् आगम तथा 'आडजादीनाम्' से 'आट्' आगम लोट् में होने चाहिए। 'लङः शाकटायनस्यैव' से लोट् के 'झि' को 'जुस्' आदेश भी प्राप्त होता है।

(समा०) प्रकृत सूत्र में 'विदो लटो वा' (3.4.83) से 'वा' की अनुवृत्ति होती है। यह व्यवस्थित विभाषा है। तब अतिदेश के विषय में व्यवस्थित विभाषा होने पर निश्चित लक्ष्यों (ताम् आदेश आदि) में ही लङ् के समान कार्य देखा जाता है तथा कुछ लक्ष्यों (अट् आगम, आट् आगम, जुस् आदेश आदि) में अतिदेश प्रवृत्त नहीं होता है।

(1219) एरुः *86* (2196)

लोट इत्येव। लोडादेशानामिकारस्य उकारादेशो भवति। पचतु। पचन्तु। *हिन्योरुत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। न वोच्चा-रणसामर्थ्यात्। अथवा वेति वर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा।

अर्थ—लोट् प्रत्यय के स्थान पर विहित (तिप्, झि, सिप् व मिप् के) इकार के स्थान पर उकार आदेश होता है।

उदा० (1) पचतु

पच् शप् तिप्—लोट्, तिप्, शप्।

पचतु—एरुः।

(2) पचन्तु

पच् शप् झि—झोऽन्तः,

पचन्तु—एरुः।

हिन्योरुत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः—म०पु०एकव० में सिप् के स्थान पर 'सेर्ह्यपिच्च' से 'हि' आदेश होता है। उ०पु०एकव० में 'मेर्निः' से 'मि' के स्थान पर 'नि' आदेश होता है। पूर्वोक्त 'हि' तथा 'नि' को वचनसामर्थ्य से उत्व नहीं होता। अथवा 'वा' का अनुवर्त्तन है। इसे व्यवस्थित विभाषा माना जा सकता है।

(1220) सेर्ह्यपिच्च *87* (2201)

लोट इत्येव। लोडादेशस्य सेर्हि इत्ययमादेशो भवति, अपिच्च भवति। स्थानिवद्भावात् पित्त्वं प्राप्तं प्रतिषिद्ध्यते। लुनीहि। पुनीहि। राध्नुहि। तक्ष्णुहि।

अर्थ—लोट् के स्थान पर विहित 'सिप्' आदेश के स्थान पर 'हि' आदेश होता है और वह अपित् होता है। 'सिप्' पित् है। इसके स्थान पर 'हि' स्थानिवत् होकर पित् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'हि' अपित् कहा गया।

उदा० (1) लुनीहि

लू सिप्—लोट्, म०पु० एकव०, शप् प्राप्त हुआ,

लू श्ना हि—क्र्यादिभ्यः श्ना, सेर्ह्यपिच्च,

लु नी हि—प्वादीनां ह्रस्वः, सार्वधातुकमपित्, ई हल्यघोः।

(2) पुनीहि
पू सिप्—पूर्ववत्।

(3) राध्नुहि
राध् सिप्—पूर्ववत्,
राध् नु हि—पूर्ववत्।

(4) तक्ष्णुहि
तक्ष् श्नु हि—सिप्, श्नु, हि आदि पूर्ववत्।

(1221) वा छन्दसि *88* (3552)

अपित्त्वं विकल्प्यते। लादेशश्छन्दसि विषये हिशब्दो वाऽपिद्भवति। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (ऋ० 1.189.1)। प्रीणाहि। प्रीणीहि (का०सं० 40.12)।

अर्थ—'अपित्' का विकल्प कहा जा रहा है। वेद के विषय में लोट् के स्थान पर विहित 'सिप्' के स्थान पर 'हि' आदेश विकल्प से अपित् होता है।

उदा० (1) युयोध्यस्मज् (वा०सं०4.16)
यु सिप् यु → यु शप् सि—'व्यत्ययो बहुलम्' से श्लु,
यु यु हि—श्लौ, हि,
युयोधि—हुझल्भ्यो हेर्धिः, पित् पक्ष में गुण हुआ।

(2) प्रीणाहि
प्री सिप् → प्री श्ना हि—पूर्ववत्।
प्रीणाहि—णत्व।

(3) प्रीणीहि
अपित् पक्ष में ङित् होकर 'ई हल्यघोः' से ईत्व।

(4) युयुधि
अपित् पक्ष में गुण नहीं हुआ।

(5) जुहोधि
हु सिप् → सिप्, शप्, श्लु,
जुहुधि—द्वित्व, हि, धि, पित् पक्ष में गुण।

(6) जुहुधि
पूर्ववत्, अपित् पक्ष में गुण का निषेध।

(1222) मेर्निः *89* (2203)

लोट इत्येव। लोडादेशस्य मेर्निरादेशो भवति। उत्वलोपयोरपवादः। पचानि। पठानि।

अर्थ—लोट् के स्थान पर विहित 'मिप्' के स्थान पर 'नि' आदेश होता है। 'नि' आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है।

उत्व०—यहाँ वचनसामर्थ्य से 'एरुः' की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि आचार्य को उत्व करना इष्ट होता तो वे 'मेर्निः' के स्थान प 'मेर्नुः' सूत्र का पाठ कर देते।

इसी प्रकार सिप् के आदेशरूप 'हि' को भी उत्व नहीं होता।

उदा० (1) पचानि
पच् मिप्—लोट्, मिप्, लोटो लङ्वत्, तस्थस्थमिपां० से 'अम्' प्राप्त हुआ, 'मेर्निः' से 'नि' आदेश,
पचानि—शप्, आट्।

(2) पठानि
पठ् मिप्—पूर्ववत्।

(1223) आमेतः *90* (2251)

लोट इत्येव। लोट्सम्बन्धिन एकारस्य आमित्ययमादेशो भवति। पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम्।

अर्थ—लोट् के स्थान पर जो एकार, उसके स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा का निषेध होता है।

'एत्' में तकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) पचताम्
पच् त—लोट्, त,
पचते—शप्, टित आत्मनेपदानां०,
पचताम्—आम् आदेश।

(2) पचेताम्
पच् आताम्—लोट्, प्र०पु० द्वि०,
पचेते—एत्व,
पचेताम्—आम् आदेश।

(3) पचन्ताम्
पच् झ—लोट्, झ,
पचन्ते—शप्, झोऽन्तः, एत्व,
पचन्ताम्—आम्, आदेश।

(1224) सवाभ्यां वाऽमौ *91* (2252)

लोट इत्येव। सकारवकाराभ्यामुत्तरस्य लोट्सम्बन्धिन एकारस्य यथासंख्यं व अम् इत्येतावादेशौ भवतः। आमोऽपवादः। पचस्व। पचध्वम्।

अर्थ—सकार तथा वकार से परे लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान पर यथासंख्य करके 'व' तथा 'अम्' आदेश होते हैं।

यह 'आमेतः' से प्राप्त 'आम्' का अपवाद है।

उदा० (1) पचस्व
पच् थास्—लोट्, म०पु०एकव०,
पच से—शप्, थासस्से,
पचस्व—सकार से उत्तर एकार को वकार हुआ।

(2) पचध्वम्
पच् ध्वम्—लोट्, ध्वम्,
पचध्वे—शप्, एत्व,
पचध्वम्—वकार से उत्तर एकार को 'अम्' हुआ।

(1225) आडुत्तमस्य पिच्च *92* (2204)

लोट इत्येव। लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्याडागमो भवति स चोत्तमपुरुषः पिद्भवति। करवाणि, करवाव, करवाम। करवै, करवावहै, करवामहै।

अर्थ—लोट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के स्थान पर विहित आदेश को 'आट्' आगम होता है और वह उत्तम पुरुष पित् होता है।

उत्तम पुरुष में मिप्, वस्, मस्, इट्, वहि तथा महि प्रत्यय हैं। 'मिप्' स्वतः पित् है। अतः इसे पित् करने का कोई फल नहीं है। प्रकृत सूत्र का प्रयोजन शेष प्रत्ययों को पित् करना है।

उदा० (1) करवाणि
कृ उ मिप्—तनादिकृञ्भ्य उः,
कर् उ आ नि—मेर्निः, आड् उत्तमस्य पिच्च,
करवाणि—गुण, णत्व।

(2) करवाव
कृ उ वस्—उ, आट्, गुण,
करवाव—नित्यं ङितः।

(3) करवाम
कृ उ मस्—पूर्ववत्,
करवाम—नित्यं ङितः।

(4) करवै
कृ उ इट्—उ०पु०एकव०, उ, आट्, एत्व, एत ऐ,
कृ उ आट् ऐ—'आटश्च' से वृद्धि,
करवै—गुण।

(5) करवावहै
कृ उ आट् वहि—उ, आट्,
करो आ वहे—गुण, एत्व,
करवावहै—एत ऐ।

(6) करवामहै
कृ उ आट् महि—पूर्ववत्।

(1226) एत ऐ *93* (2253)

लोडुत्तमस्येति वर्त्तते। लोडुत्तमसम्बन्धिन एकारस्यै-कारादेशो भवति। आमोऽपवादः। करवै, करवावहै, करवामहै। इह कस्मान्न भवति—पचावेदम्, यजावेदम्? बहिरङ्गलक्षणत्वाद् गुणस्य।

अर्थ—लोट् के उत्तम पुरुष के एकार के स्थान पर 'ऐ' आदेश होता है। यह 'आमेतः' का अपवाद है।

उदा० (1) करवै, करवावहै, करवामहै—पिछले सूत्र पर देखें।

(2) पचावेदम्
'पचाव इदम्' इस दशा में 'आद्गुणः' से गुण हुआ—'पचावेदम्'। अब 'अन्तादिवच्च' से एकादेश को लोट् मानकर 'ऐ' होना चाहिये, परन्तु नहीं होता है, कारण कि 'आद्गुणः' से प्राप्त 'ए' एकादेश है, जो एक पदाश्रित एत्वादेश की दृष्टि में बहिरङ्ग है। अतः असिद्ध हो जाता है।

(1227) लेटोऽडाटौ *94* (3427)

लेटोऽडाटावागमौ भवतः पर्यायेण। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1)। तारिषत् (वा०सं० 23.32)। मन्दिषत्। पताति विद्युत् (ऋ० 4.16.17)। उदधिं च्यावयाति (तै०सं० 3.5.5.2)।

अर्थ—लेट् लकार को अट् व आट् आगम पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) जोषिषत्
जुष् सिप् त्—तिप्, इकारलोप, सिब्बहुलं लेटि,
जोष् इट् स् त्—इट्, लघूपधगुण,
जोषिषत्—अट् आगम, मूर्धन्य आदेश।

(2) तारिषत्
तृ सिप् त्—पूर्ववत्,
तार् इ स् अट् त्—वृद्धि, इट्, अट्,
तारिषत्—मूर्धन्य आदेश।

(3) मन्दिषत्
मदि → मन्द् सिप् त्—इदितो नुम्धातोः, तिप्, सिप्,
मन्दिषत्—अट्, इट्।

(4) पताति
पत् तिप्—तिप्,
पत् आट् ति—आट्।

(5) च्यावयति
च्यु णिच् तिप् → च्यु इ आ ति—णिच्, आट्,
च्यावयति—वृद्धि, आयादेश।

(1228) आत ऐ *95* (3429)

लेट इत्येव। लेट्सम्बन्धिन आकारस्य ऐकारादेशो भवति, प्रथमपुरुषमध्यमपुरुषात्मनेपदद्विवचनयोः। मन्त्रयैते। मन्त्रयैथे। करवैते। करवैथे। आटः कस्मान्न भवति? विधानसामर्थ्यात्।

अर्थ—लेट् सम्बन्धी आकार को ऐकार आदेश होता है। आत्मनेपद में आताम् (प्र० पु० द्वि०) तथा आथाम् (म० पु० द्वि०) में ही आकार प्राप्त है। आत् में तकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) मन्त्रयैते
मन्त्र् णिच् आताम्—णिच्,
मन्त्रय् आते—एत्व,
मन्त्रयैते—ऐकार।

(2) मन्त्रयैथे
मन्त्र् णिच् आथाम्—पूर्ववत्।

(3) करवैते (पूर्ववत्)।

(4) करवैथे (पूर्ववत्)।

विधानसामर्थ्यवशात् आट् के स्थान पर ऐकार नहीं होता है।

(1229) वैतोऽन्यत्र *96* (3430)

लेट इत्येव। लेट्सम्बन्धिन एकारस्य वा ऐकारादेशो भवति। अन्यत्रेत्यनन्तरो विधिरपेक्ष्यते-'आत ऐ' इत्येतद्विषयं वर्जयित्वा एत ऐ भवति। सप्ताहानि शयै। अहमेव पशूनामीशै (काठ०सं० 25.1)। मदंग्रा एव वो ग्रहां गृह्यान्तै (तै०सं० 6.4.7.1)। मद्देवतान्येव वः पात्रांण्युच्यान्तै (तै०सं० 6.4.7.2)। न च भवति—यत्र क्वं च ते मनो दक्षं दंधस उत्तरम् (ऋ० 6.16.17)। अन्यत्रेति किम्? मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे।

अर्थ—लेट् सम्बन्धी एकार के स्थान पर ऐकार आदेश विकल्प से होता है, 'आत ऐ' सूत्र के विषय को छोड़कर।

उदा० (1) शयै
शी इट् → शी ऐ—एत्व, प्रकृत सूत्र से ऐत्व,
शी अट् ऐ → शयै—गुण, वृद्धि।

(2) ईशै
ईश् इट्—पूर्ववत्।

(3) गृह्यान्तै
पूर्ववत् एकार को ऐकार।
'सार्वधातुके यक्' से 'यक्' होता है। आट् आगम हुआ।

(4) मनो दक्षं दधस उत्तरम्
यहाँ ऐकार नहीं हुआ।

अन्यत्रे० अर्थात् 'आत ऐ' के स्थल में एकार को ऐकार नहीं होता है—

(5) मन्त्रयैथे
सिद्धि पिछले सूत्र पर देखें।

(1230) इतश्च लोपः परस्मैपदेषु *97* (3426)

लेट इत्येव। लेट्सम्बन्धिन इकारस्य परस्मैपदविषयस्य लोपो भवति। वानुवृत्तेः पक्षे श्रवणमपि भवति। जोषिषत् (ऋ० 2.35.1, वा०सं० 23.32)। तारिषत्। मन्दिषत्। न च भवति—पतांति विद्युत् (ऋ० 4.16.17), उदधिं च्यावयाति (तै०सं० 3.5.5.2)। परस्मैपदग्रहणमिड्वहिमहिङां मा भूत्।

अर्थ—परस्मैपद के विषय में लेट् लकार के इकार का लोप विकल्प से होता है।

उदा० (1) तारिषत् आदि सभी उदाहरणों की सिद्धि के लिए सूत्र 3.4.94 देखें।

(2) चराति
इकार का लोप नहीं हुआ।

(3) पताति
इकार का लोप नहीं हुआ।

परस्मै०—सूत्र में परस्मैपद का ग्रहण किया गया है ताकि इट्, वहि तथा महिङ् के अकार का लोप न हो।

(1231) स उत्तमस्य *98* (3428)

लेट इति, वेति च वर्त्तते। लेट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य वा लोपो भवति। करवाव। करवाम। न च

भवति—करवावः, करवामः। उत्तमग्रहणं पुरुषान्तरे मा भूत्।

अर्थ—लेट् सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का लोप विकल्प से होता है।

उदा० (1) करवाव
कृ उ आट् वस्—उ, आट्,
करवाव—सकारलोप।

(2) करवावः
पक्ष में सकारलोप नहीं हुआ।

(3) करवाम
सकारलोप हुआ।

(4) करवामः
सकारलोप नहीं हुआ।

उत्तम पुरुष का ग्रहण किया गया है, ताकि अन्य पुरुष व मध्यम पुरुष में न हो।

(1232) नित्यं ङितः *99* (2200)

लेट इति निवृत्तम्। ङितो लकारस्य य उत्तमस्तस्य नित्यं सकारस्य लोपो भवति। अपचाव, अपचाम। नित्यग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—ङित् लकारों के उत्तम पुरुष के सकार का लोप नित्य होता है। लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्—ये चार लकार ङित् हैं। 'लोटो लङ्वत्' से अतिदेश किया जाता है। इस प्रकार पाँच लकारों में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

उदा० (1) अपचाव
पच् लङ् → पच् वस्—उ० पु० द्वि०
अपच् शप् वस्—शप्,
अपचाव—सकारलोप, दीर्घादेश।

(2) अपचाम (पूर्ववत्)।

इसी प्रकार शेष लकारों में भी जानना चाहिए।[1] सूत्र में 'नित्यम्' पद का न्यास पूर्वशास्त्र में प्राप्त 'वा' पद के अनुवर्त्तन की निवृत्ति के लिए है।

(1233) इतश्च *100* (2207)

ङित इत्येव। ङिल्लकारसम्बन्धिन इकारस्य नित्यं लोपो भवति। अपचत्। अपाक्षीत्। परस्मैपदेष्वित्येव-अपचावहि, अपचामहि।

1. पचेव, पचेम आदि।

अर्थ—ङित् लकारसम्बन्धी इद् रूप परस्मैपद आदेश के इत् (= ह्रस्व इकार) का नित्य लोप होता है।

उदा० (1) अपचत्
पच् तिप्—लङ्, इकारलोप,
अपचत्—शप्, अट्।

(2) अपाक्षीत्
पच् सिच् ईट् त्—लुङ्, तिप्, सिच्, इकारलोप, ईट्,
अपाक्षीत्—अट्, हलन्तलक्षणा वृद्धि, कुत्व, षत्व।
यह लोप परस्मैपद में ही होता है। यथा—

(3) अपचामहि
पच् महिङ्—उ०पु० बहुव०,
अ पच् अ महि—अट्, शप्,
अपचामहि—दीर्घादेश।

विशेष—1. काशिकाकार[1] के अनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—

ङित् लकारसम्बन्धी इकार का लोप हो, परस्मैपद प्रत्ययों में।

इस प्रकार अर्थ करने में निम्नलिखित दोष प्रसक्त होते हैं—

(क) लिङ् में पठ् शप् यासुट् त्—पठ इय् त् इस दशा में आदि इकार का लोप प्राप्त होता है।

(ख) लङ् में 'अट् रुद् इट् ताम्' इस दशा में इकार का लोप प्राप्त होता है, कारण कि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से प्राप्त इट् आगम ङित् लकार (ताम्) का ही अवयव है।

अतः इन दोषों के निवारणार्थ विश्वेश्वर जी ने पूर्वसूत्र (इतश्च लोपः पर०) से 'इत्' पद का अनुवर्त्तन किया है।[2]

(1234) तस्थस्थमिपां तांतंतामः *101* (2199)

ङित इत्येव। ङिल्लकारसम्बन्धिनां चतुर्णां तसादीनां यथासंख्यं तामादय आदेशा भवन्ति। अपचताम्, अपचतम्, अपचत। अपचम्। अपाक्ताम्। अपाक्तम्, अपाक्त। अपाक्षम्।

अर्थ—ङित् लकारसम्बन्धी तस्, थस्, थ तथा मिप्—इन आदेशों के स्थान पर यथासंख्य करके ताम्, तम्, त तथा अम् आदेश होते हैं।

1. काशि० 3.4.100
2. व्याक० सिद्धान्त सुधानिधि—श्री विश्वेश्वर सूरि।

आन्तरतम्य नियम की दशा में अर्थकृत सादृश्य के आधार पर तस् के स्थान पर ताम् होता है तथा इसी प्रकार शेष आदेशों के विषय में भी जानना चाहिए।

ताम् आदि सभी आदेश अनेकाल् हैं। अतः सर्वादेश होते हैं।

उदा० (1) अपचताम्
पच् तस्—लङ्, प्र०पु०द्वि०,
अ पच् शप् ताम्—ताम्, शप्, अट्,
अपचताम्—अनुबन्धलोप।

(2) अपचतम्
पच् थस्—पूर्ववत् तम्, अट्, शप्।

(3) अपचत
पच् थ—पूर्ववत्।

(4) अपचम्
पच् मिप्—पूर्ववत् अम्, शप्, अट्।

(5) अपाक्ताम्
पच् तस्—लुङ्, ताम् आदेश, सिच्,
अ पाच् ताम्—सिच् का लोप, वृद्धि,
अपाक्ताम्—कुत्व।

(6) अपाक्तम्
पच् तम्—थस्, तम्, पूर्ववत्,
अपाक्तम्—अट् आदि।

(7) अपाक्त
पच् त—थ, 'त' आदेश, पूर्ववत् सिच् आदि,
अपाक्त—कुत्व।

(8) अपाक्षम्
पच् अम्—लुङ्, मिप्, अम्,
अ पाच् स् अम्—अट्, सिच्, आदेशप्रत्यययोः,
अपाक्षम्—कुत्व।

(1235) लिङः सीयुट् *102* (2255)

लिङादेशानां सीयुडागमो भवति। टकारो देशविध्यर्थः। उकार उच्चारणार्थः। पचेत, पचेयाताम्, पचेरन्। पक्षीष्ट, पक्षीयास्ताम्, पक्षीरन्।

अर्थ—लिङ् प्रत्यय को सीयुट् आगम होता है। टकार की इत्संज्ञा होती है। उकार उच्चारणार्थ है। चूँकि 'यासुट् परस्मैपदेषू०' से परस्मैपद लिङ् को यासुट् आगम होता है। अतः पारिशेष्यात् आत्मनेपद लिङ् में सीयुट् होता है।

उदा० (1) पचेत
पच् त—लिङ्, त,
पच् शप् सीयुट् त—शप्, सीयुट्, लिङः सलोपो० से सकारलोप,
पच ईय् त—आद्गुणः,
पचेत—'लोपो व्योर्वलि' से यकारलोप।

(2) पचेयाताम्
पच् शप् सीयुट् आताम्—सभी कार्य पूर्ववत्,
पचेय् आताम्—यकारलोप,
पचेयाताम्—यकारलोप नहीं हुआ,

(3) पचेरन्
पच् शप् झ—पूर्ववत्,
पच् अ सीय् रन्—सीयुट्, 'झस्य रन्' से 'रन्' आदेश,
पचेरन्—सकारलोप, यकारलोप।

(4) पक्षीष्ट
पच् सीयुट् त—पूर्ववत्,
पच् सीय् सुट् त—सुट् तिथोः,
पक् षीय् स् त—अनुबन्धलोप, कुत्व, षत्व,
पक्षीष्ट—ष्टुना ष्टुः।

(5) पक्षीयास्ताम्
पच् सीयुट् आताम्—पूर्ववत्,
पच् सीय् आ सुट् ताम्—सुट्,
पक् षीय् आस्ताम्—षत्व, कुत्व,
पक्षीयास्ताम्—रूप बना।

(6) पक्षीरन्
पच् सीयुट् रन्—झ, झस्य रन्,
पक्षीरन्—कुत्व, षत्व, लोपो व्योर्वलि।

(1236) यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च *103* (2209)

लिङ इत्येव। परस्मैपदविषयस्य लिङो यासुडागमो भवति, स चोदात्तो भवति, ङिच्च। सीयुटोऽपवादः। आगमत्वादनुदात्तत्वे प्राप्ते उदात्तवचनम्। ङित्वं तु लिङ एव विधीयते, तत्र तत्कार्याणां सम्भवात्, नागमस्य। कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः। स्थानिवद्भावादेव लिङादेशस्य ङित्त्वे सिद्धे यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापनार्थम्-लकाराश्रयङित्त्वमादेशानां न भवतीति-अचिनवम्, अकरवम्।

अर्थ—लिङ् के स्थान पर विहित परस्मैपदसंज्ञक (तिप् से लेकर मस् तक) आदेशों को यासुट् आगम होता है और वह उदात्त तथा ङित् होता है। यह सीयुट् का अपवाद है। टकार की इत्संज्ञा होती है तथा उकार उच्चारणार्थ है।

आगमा०—यहाँ आगम का उदात्त विधान कर दिया है। इससे ज्ञापित होता है कि आगम अनुदात्त होते हैं।

यासुट् को ङित् करने से ज्ञापित होता है कि लकार के ङित् होने से उसके आदेशभूत तिप् आदि ङित् नहीं होते हैं; अन्यथा लिङ् स्वतः ङित् हैं। तब उनके स्थान पर होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से ङित् हो जाते हैं।

यहाँ शंका होती है कि स्थानी के अल् (ङ्) का आश्रय करने से यहाँ अल् विधि होने के कारण स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

इसका समाधान यह है कि अनुबन्ध के विषय में जो कार्य होता है, उसमें अल् विधि होने पर भी स्थानिवद्भाव हो जाता है। इसमें 'न ल्यपि' सूत्र ज्ञापक है।

'प्रदाय' इस दशा में 'धुमास्थागापा०' से ईत्व प्राप्त होता है। 'न ल्यपि' से ईत्व का निषेध होता है। कारण कि क्त्वा के स्थान में होने वाला ल्यप् स्थानिवद्भाव से कित् है। यदि ल्यप् कित् न होता तो निषेध किसलिये किया गया।

उदा० (1) कुर्यात्
कृ तिप्—लिङ्, लादेश,
कृ यासुट् त्—इतश्च, यासुट्,
कुर् यास् त्—उत्व, उरण् रपरः,
कुर्यात्—सलोप।

(2) कुर्याताम्
कृ तस् → कृ ताम्—प्र०पु०द्वि०,
कुर् यास् ताम्—पूर्ववत्,
कुर्याताम्—सलोप।

(3) कुर्युः
कृ यासुट् जुस्—झेर्जुस्, यासुट्,
कुर्युः—उत्व।

(1237) किदाशिषि *104* (2216)

आशिषि यो लिङ् तस्य यासुडागमो भवति, स चोदात्तः किद्भवति। प्रत्ययस्यैवेदं कित्त्वं नागमस्य, प्रयोजनाभावात्। ङित्त्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते। कित्त्वं गुणवृद्धिप्रतिषेधस्तुल्यः, सम्प्रसारणम्, जागर्तेर्गुणे च विशेषः। इष्यात्, इष्यास्ताम्, इष्यासुः; जागर्यात्, जागर्यास्ताम्, जागर्यासुः। आशिषीति किम्? वच्यात्, जागृयात्।

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् प्रत्यय के स्थान पर विहित परस्मैपदसंज्ञक तिप् आदि आदेश को होने वाला यासुट् आगम कित् होता है और वह उदात्त होता है।

प्रत्यय को कित्त्व किया गया है तथा प्रयोजन न होने से आगम को कित्त्व नहीं किया गया है।

ङित्त्वे०—पूर्व सूत्र से ङित् किया गया था। यहाँ कित् विधान किया गया है। इस प्रकार गुण व वृद्धि के निषेध में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। कित्त्व सम्प्रसारण के लिए किया गया है।

उदा० (1) इष्यात्
इष् यासुट् त—इतश्च, अनुबन्धलोप,
इष्यात्—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से सकारलोप।

(2) इष्यास्ताम्
इष् यासुट् ताम्—तस्, तामादेश, यासुट्,
इष्यास्ताम्—अनुबन्ध लोप,

(3) इष्यासुः
इष् यास् जुस्—झि, जुस् आदेश,
इष्यासुः—विसर्ग।

(4) जागर्यात्
जागृ यासुट् त्—तिप्, यासुट्, इतश्च,
जागर् यास् त्—जाग्रोऽविचिण्०,
जागर्यात्—सकारलोप।

(5) जागर्यास्ताम्
जागृ यासुट् ताम्—'जाग्रोऽविचिण्णल्०' से गुण।

(6) जागर्यासुः
जागृ यासुट् जुस्—पूर्ववत्।

आशिषि अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही यासुट् आगम व कित् होता है—

(7) वच्यात्
वच् यास् त्—कित् न होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ,
वच्यास्त्—सकारलोप,
वच्यात्—रूप बना।

(8) जागृयात्
जागृ यासुट् त्—कित् नहीं हुआ।

(1238) झस्य रन् *105* (2256)

लिङ इत्येव। झस्य लिङादेशस्य रन्नित्ययमादेशो भवति। झोऽन्तापवादः। पचेरन्। यजेरन्। कृषीरन्।

अर्थ—लिङ् के स्थान पर विहित 'झ' आदेश के स्थान पर 'रन्' होता है। अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है। 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा प्राप्त हुई। 'न विभक्तौ तुस्माः' से इत्संज्ञा का निषेध हुआ। यह 'झोऽन्तः' का अपवाद है।

उदा० (1) पचेरन्
पच् शप् झ—झ, शप्,
पच सीय् रन्—सीयुट्, 'रन्' आदेश,
पचेरन्—सकारलोप, यकारलोप।

(2) यजेरन् (पूर्ववत्)।
(3) कृषीरन् (पूर्ववत्)।

(1239) इटोऽत् *106* (2257)

लिङादेशस्य इटोऽदित्ययमादेशो भवति। पचेय। यजेय। कृषीय। हृषीय। तकारस्येत्संज्ञाप्रतिषेधः प्राप्नोति-'न विभक्तौ तुस्माः' (1.3.4) इति। नैवायमादेशावयवस्तकारः, किं तर्हि? मुखसुखार्थ उच्चार्यते। आगमस्येटो ग्रहणं न भवति—अर्थवद्ग्रहणे नानकर्थकस्येति (व्या०प० 1)।

अर्थ—लिङ् लकार को विहित इट् आदेश के स्थान पर 'अंत्' (= अकार) होता है। तकार उच्चारणार्थ है। 'न विभक्तौ तुस्माः' से तकार की इत्संज्ञा का निषेध होता है। यह तकार आदेश का अवयव नहीं है।

उदा० (1) पचेय
पच् शप् इट्—उ०पु०एकव०, शप्
पच् अ सीयुट् अत्—इटोऽत्,
पचेय—सकारलोप, आद्गुणः।

(2) यजेय
यज् शप् सीयुट् इट्—पूर्ववत्,
यजेय् अत्—इटोऽत्,
यजेय—आद्गुणः।

(3) कृषीय
कृ सीयुट् इट्—इटोऽत्,
कृसीय् अत्—आदेशप्रत्यययोः,
कृषीय—रूप बना।

(4) हृषीय
'कृषीय' की तरह।

आगमस्येटो—पद के द्वारा आर्धधातुक वलादिक 'इट्' का ग्रहण नहीं होता; बल्कि 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य' इस परिभाषा के द्वारा यहाँ 'इट्' प्रत्यय का ही ग्रहण होता है।

(1240) सुट् तिथोः *107* (2210)

लिङ इत्येव। लिङ्सम्बन्धिनोस्तकारथकारयोः सुडागमो भवति। तकारथकारावागमिनौ, लिङ् तद्विशेषणम्। सीयुटस्तु लिङेवागमी, तेन भिन्नविषयत्वात्सुटा बाधनं न भवति। तकारे इकार उच्चारणार्थः। कृषीष्ट, कृषीयास्ताम्। कृषीष्ठाः, कृषीयास्थाम्।

अर्थ—लिङ् प्रत्ययसम्बन्धी तकार व थकार को सुट् आगम होता है। टकार की इत् संज्ञा है तथा उकार मुखसुखार्थ है।

तकार०—तकार व थकार आगमी है। लिङ् उनका विशेषण है। सीयुट् का लिङ् ही आगमी है। उसका भिन्न विषय होने से इसका सुट् के द्वारा बाध नहीं होता है।

तकारे०—'ति' शब्द में इकार उच्चारणार्थ है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो सुट् आगम केवल 'ति' (प्र०पु०एकव०) प्रत्यय को ही प्राप्त होगा; 'त' प्रत्यय को नहीं होगा।

उदा० (1) कृषीष्ट
कृ सीयुट् सुट् त—त, सीयुट्, सुट्,
कृ सीय् स् त—अनुबन्धलोप,
कृषीष् त—यकारलोप, षत्व,
कृषीष्ट—ष्टुना ष्टुः।

(2) कृषीयास्ताम्
कृ सीयुट् आ सुट् ताम्—पूर्ववत्,
कृषीयास्ताम्—षत्व।

(3) कृषीरन्
कृ सीयुट् झ—झस्य रन्,
कृषीरन्—षत्व।

(4) कृषीष्ठाः
कृ सीयुट् सुट् थास्—म०पु०एकव०,
कृ षी ष् थास्—यकारलोप, षत्व,
कृषीष्ठाः—ष्टुना ष्टुः।

(5) कृषीयास्थाम्
कृ सीयुट् आ सुट् थाम्—पूर्ववत्,
कृषीयास्थाम्—षत्व ।

विशेष—सुट् का आगम परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों के विधिलिङ् में भी होता है। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से लोप हो जाता है। आशीर्लिङ् में आर्धधातुक होने से लोप नहीं होता।

(1241) झेर्जुस् *108* (2213)

लिङ इत्येव। लिङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति। झोऽन्तापवादः। पचेयुः। यजेयुः।

अर्थ—लिङ् प्रत्यय के स्थान पर विहित 'झि' आदेश के स्थान पर 'जुस्' आदेश होता है। यह 'झोऽन्तः' का अपवाद है। अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है। स्थानिवद्भाव से 'जुस्' की विभक्तिसंज्ञा हुई। 'चुटू' से जकार की इत्संज्ञा हुई।

उदा० (1) पचेयुः
पच् शप् यासुट् झि—झि, यासुट् परस्मैपदेषू०, कर्त्तरि शप्,
पच इय् उस्—झेर्जुस्, अतो येयः,
पचेयुः—आद्गुणः।

(2) यजेयुः
पूर्ववत् सभी कार्य।

(1242) सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च *109* (2226)

अलिङर्थ आरम्भः। सिचः परस्य अभ्यस्तसंज्ञकेभ्यो वेत्तेश्चोत्तरस्य झेर्जुस् आदेशो भवति। अभ्यस्तविदिग्रहणमसिजर्थम्। ङित इति चानुवर्त्तते। सिचस्तावत्—अकार्षुः, अहार्षुः। अभ्यस्तात्—अबिभयुः, अजिह्रयुः, अजागरुः। विदेः—अविदुः।

अर्थ—लिङ् से अतिरिक्त के लिए यह विधान किया जा रहा है। सिच् प्रत्यय से पर, अभ्यस्तसंज्ञक से पर तथा विद् धातु से पर ङित् लकार के स्थान पर विहित 'झि' आदेश को 'जुस्' होता है। अभ्यस्तसंज्ञक और विद्—इन दोनों का ग्रहण सिच् से अतिरिक्त के लिए है। 'श्लौ' इत्यादि से धातु को द्वित्व होता है। उसकी 'उभेऽभ्यस्तम्' से अभ्यस्तसञ्ज्ञा होती है। विद् धातु का धातुपाठ में पाँच स्थलों पर पाठ प्राप्त होता है। यथा—

विद ज्ञाने (अदा०, पर०)।
विद सत्तायाम् (दि०, आ०)।
विद्लृ लाभे (तुदा०, उभ०)।
विद विचारणे (रु०, आ०)।
विद चेतनाख्याननिवासेषु (चु० आ०)

आत्मनेपद में 'झि' के उपलब्ध न होने से दैवादिक, चौरादिक व आत्मनेपदी तौदादिक विद् का ग्रहण यहाँ नहीं होता।

परस्मैपद में तौदादिक विद् व झि के मध्य 'श' विकरण होता है। अतः इसकी भी निवृत्ति हो जाती है। शेष आदादिक विद् धातु बचता है। यहाँ इसी का ग्रहण है।

उदा० (1) अकार्षुः
कृ झि—लुङ्, च्लि लुङि, च्लेः सिच्,
कृ स् जुस्—जुस्, वृद्धि,
कार् ष् उस्—चुटू, षत्व,
अकार्षुः—अट्।

(2) अहार्षुः
हृ सिच् जुस्—पूर्ववत्,
अहार्षुः—अट्।

(3) अबिभयुः
भी भी जुस्—लुङ् झि, शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यस्तसंज्ञा, जुस्,
बि भे उस्—अभ्यासे चर्च, ह्रस्वः, गुण,
अबिभय् उस्—अयादेश,
अबिभयुः—रूप बना।

(4) अजागरुः
जागृ झि—लङ्, प्र०पु० बहुव०, जक्षित्यादयः षट्,
अट् जागृ जुस्—सिजभ्यस्तविदिभ्यः, अट्,
अजागरुः—गुण।

(5) अविदुः
विद् झि—लङ्, शप्, अदिप्रभृतिभ्यः शपः,
अट् विद् जुस्—जुस्,
अविदुः—अट्।

(1243) आतः *110* (2227)

सिज्ग्रहणमनुवर्त्तते। सिच आकारान्ताच्च परस्य झेर्जुसादेशो भवति। कथमाभ्यामानन्तर्यम्? सिज्लुकि कृते प्रत्ययलक्षणेन सिचोऽनन्तरः, श्रुत्या चाकारान्तादिति। अदुः। अधुः। अस्थुः। तकारो मुखसुखार्थः। पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्—आत एव सिज्लुगन्तान्नान्यस्मादिति। अभूवन्। प्रत्ययलक्षणेन जुस्प्राप्तः प्रतिषिद्ध्यते, तुल्यजातीयापेक्षत्वान्नियमस्य। श्रूयमाणे हि सिचि भवत्येव—अकार्षुः, अहार्षुः।

अर्थ—सिच् से उत्तर यदि 'झि' के स्थान पर 'जुस्' होता है तो वह आकारान्त धातु से उत्तर 'झि' को ही होता है। यह सूत्र नियमार्थ है।

कथमा०—'आतः' तथा 'सिचः' दोनों पदों में पञ्चमी होने से सूत्र का अर्थ होता है कि आकारान्त धातु से पर तथा सिच् से पर 'झि' को जुस् हो। परन्तु यह सम्भव नहीं है। यह सिच् के लुक् की दशा में ही सम्भव है। उस दशा में झि श्रुत्या आकारान्त धातु से उत्तर रहता है तथा प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिच् से उत्तर रहता है।

उदा० (1) अदुः
दा सिच् झि—लुङ्, सिच्, गातिस्थाघु०,
दा जुस्—जुस्, आद्गुणः, उस्यपदान्तात्,
अदुः—अट्।

(2) अधुः
'अदुः' की तरह।

(3) अस्थुः
'अदुः' की तरह।

तकारो०—'आतः' में तकार मुखसुखार्थ है। पूर्व सूत्र के द्वारा 'जुस्' सिद्ध था। तब पुनः इसका विधान नियमार्थ किया गया है। इसका आशय यह है कि सिच् का लुक् हुआ है, ऐसे आकारान्त धातु से पर 'झि' को 'जुस्' होता है, अन्य धातु से पर नहीं।

(4) अभूवन्
अ भू वुक् झि—लुङ्, भुवो वुक०,
यहाँ सिच् का श्रवण नहीं है, परन्तु 'भू' आकारान्त धातु नहीं है, अतः 'झि' को 'जुस्' नहीं हुआ,
अभूवन्त्—झोऽन्तः, इतश्च, संयोगान्तस्य लोपः।

यहाँ प्रत्ययलक्षण से प्राप्त जुस् का प्रतिषेध है। जहाँ सिच् प्राप्त होता है, वहाँ 'झि' को 'जुस्' होता है। यथा—
अकार्षुः, अहार्षुः।

(1244) लङः शाकटायनस्यैव *111* (2463)

आत इत्येव। आकारान्तादुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुसादेशो भवति शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। अयुः। अवुः। अन्येषां मते-अयान्। ननु ङित इत्यनुवर्त्तते, तत्र लङेवाकारान्तादनन्तरो ङित्सम्भवति नान्यः, तत्किं लङ्ग्रहणेन? एवं तर्हि लङेव यो लङ् विहितस्तस्य यथा स्यात्, लङ्वद्भावेन यस्तस्य मा भूत्-'लोटो लङ्वत्' (3.4.85) इति-यान्तु, वान्तु। 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (3.4.109) इत्ययमपि झेर्जुस् लोटो न भवति-बिभ्यतु, जाग्रतु, विदन्तु। जुस्भावमात्रं हि मुख्येन लङा विशेष्यते। एवकार उत्तरार्थः।

अर्थ—शाकटायन आचार्य के मत में आकारान्त धातु से उत्तर लङ् प्रत्यय के स्थान पर विहित 'झि' के स्थान पर 'जुस्' होता है। यह आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) अयुः
या जुस्—लङ्, झि, जुस्,
अ या उस्—अनुबन्धलोप,
अयुः—उस्यपदान्तात्।

(2) अयान्
अट् या अन्ति—पक्ष में 'जुस्' नहीं हुआ, 'झोऽन्तः' से 'अन्त' आदेश हुआ,
अयान्त्—इतश्च,
अयान्—संयोगान्तस्य लोपः।

(3) अवुः
'अयुः' की तरह।

(4) अवान्
'अयान्' की तरह।

ननु०—'ङित् लकार के स्थान पर हो'—इसका अनुवर्तन है। यहाँ आकारान्त धातु से अनन्तर लङ् ही ङित् सम्भव है, अन्य ङित् लकार नहीं। तब सूत्र में लङ् का ग्रहण व्यर्थ है। समाधान यह है कि लङ् ही जो लङ् का विधान किया गया है, उससे पर 'झि' को 'जुस्' होता है। जो लङ्वत् भाव से लङ् होता है, उससे नहीं होता है। 'लोटो लङ्वत्' से जो अतिदेश कहा गया है, वहाँ नहीं होता है।

(5) यान्तु
या झि—अतिदेश होने से 'जुस्' नहीं हुआ,
यान्तु—झोऽन्तः, एरुः।

(6) वान्तु
'यान्तु' की तरह।

सिजभ्यस्त०—'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' के द्वारा जो 'झि' को 'जुस्' कहा गया है, वह भी लोट् से नहीं होता है। यथा—

(7) बिभ्यतु
भी भी झि—जुस् नहीं हुआ,

बि भी अतु—एरुः,
बिभ्यतु—रूप बना।

(8) जाग्रतु
जागृ अतु—पूर्ववत्।
जाग्रतु—यणादेश।

(9) विदन्तु
विद् झि—झोऽन्तः,
विदन्तु—एरुः।

जुस् भावमात्र मुख्य लङ् के द्वारा विशेष होता है। सूत्र में 'एव' का पाठ उत्तरशास्त्र के लिए है।

(1245) द्विषश्च *112* (2435)

लङः शाकटायनस्यैवेत्येव। द्विषः परस्य लङादेशस्य झेर्जुसादेशो भवति, शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। अद्विषुः। अन्येषां मते—अद्विषन्।

अर्थ—'लङः शाकटायनस्यैव' का अनुवर्त्तन है। शाकटायन आचार्य के मत में द्विष् धातु से उत्तर लङ् के स्थान पर विहित 'झि' को 'जुस्' होता है।

उदा० (1) अद्विषुः
द्विष् झि—लङ्, प्र०पु०बहुव०,
द्विष् जुस्—'जुस्' हुआ,
अद्विषुः—चुटू।

(2) अद्विषन्
अट् द्विष् झि—पक्ष में 'जुस्' नहीं हुआ, 'झोऽन्तः' से अन्तादेश,
अद्विषन्—इतश्च, संयोगान्तस्य लोपः।

(1246) तिङ् शित् सार्वधातुकम् *113* (2166)

तिङः शितश्च प्रत्ययाः सार्वधातुकसंज्ञा भवन्ति। भवति। नयति। स्वपिति। रोदिति। पचमानः। यजमानः। सार्वधातुकप्रदेशाः–'सार्वधातुके यक्' (3.1.67) इत्येवमादयः।

अर्थ—('धातोः' के अधिकार में पठित) तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। तिङ् अट्ठारह प्रत्यय हैं। शकार है इत् जिसका, उसे शित् कहते हैं।

उदा० (1) नयति
नी तिप्—लट्, तिप्, सार्वधातुकसंज्ञा,
नी शप् ति—कर्त्तरि शप्, सार्वधातुकार्ध०,
नयति—अयादेश।

(2) स्वपिति
स्वप् तिप्—सार्वधातुकसंज्ञा, शप्, शप् का लुक्,
स्वपिति—रुदादिभ्यः सार्वधातुके।

(3) रोदिति
रुद् तिप्—सार्वधातुकसंज्ञा, शप्, शप् लुक्,
रोदिति—रुदादिभ्यः सार्वधातुके।

(4) पचमानः
पच् शानच्—लशक्वतद्धिते, तिङ् शित् सार्व०,
पच् शप् मुक् आन—कर्त्तरि शप्, आने मुक्,
पचमानः—कृत्तद्धितसमासाश्च, सु।

(5) यजमानः
'पचमानः' की तरह।

सार्वधातुक संज्ञा के कई फल हैं—
कर्त्तरि शप्, सार्वधातुके यक्।

विशेष–1. 'धातो' पद का फल यह है कि धात्वधिकार में पठित प्रत्यय की ही सार्वधातुक सञ्ज्ञा होती है। यथा—

साधु शस्—शस् धात्वधिकार में पठित नहीं है; अतः सार्वधातुक सञ्ज्ञा नहीं होती है। यदि यहाँ सार्वधातुक सञ्ज्ञा करेंगे तो शस् 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होकर घेर्ङिति से गुण होने लगेगा।

2. 'धातोः' का अर्थ है—धात्वधिकार में पठित अर्थात् जहाँ-जहाँ 'धातोः' इस अधिकार में प्रत्यय का विधान किया गया है, वहाँ-वहाँ उसे धात्वधिकार पठित जानना चाहिये।

कुछ विद्वान् 'धातोः' का अर्थ 'धातु से विहित' ऐसा अर्थ करते हैं, जो दोषपूर्ण है।

'लिह्' क्विबन्त शब्द है तथा 'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ता शब्दा धातुत्वं न जहति' इस परिभाषा से इनका धातुत्व तो रहता ही है। तब 'लिह्' से शस् करने पर शस् की सार्वधातुक सञ्ज्ञा होकर 'सार्वधातुके यक्' से यक् होकर अनिष्ट रूप बनता है। अतः 'धातोः' का अर्थ 'धातु से विहित' न करके 'धातु के अधिकार में पठित' ऐसा करना चाहिए।

3. अष्टाध्यायी में धातुओं से तीन प्रकार से प्रत्यय विहित हैं—

(क) 'धातोः', इस प्रकार कह कर। यथा—
धातोः कर्मणः समान० (3.1.7)।

धातोरेकाचो हलादेः क्रिया० (3.1.22)।
धातोः (3.1.91)।
शमि धातोः सञ्ज्ञायाम् (3.2.14)।

(ख) धातुविशेष का साक्षात् निर्देश करके—
लुपसदचरजप० (3.1.24)।

(ग) निपातन करके—
वह्यं करणम् (3.1.102)।

(1247) आर्धधातुकं शेषः *114* (2187)

तिङ्ः शितश्च वर्जयित्वाऽन्यः प्रत्ययः शेषो धातुसंशब्देन विहित आर्धधातुकसंज्ञो भवति। लविता। लवितुम्। लवितव्यम्। धातोः (3.1.91) इत्येव-वृक्षत्वम्, वृक्षताऽस्ति। लूभ्याम्, लूभिः। जुगुप्सते।

अर्थ—तिङ् व शित् को छोड़ कर शेष 'धातोः' के अधिकार में पठित प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

उदा० (1) लविता
लू तृच्—'ण्वुल्तृचौ' से 'तृच्', आर्धधातुक संज्ञा,
लू इट् तृ—आर्धधातुकस्येड् वलादेः,
लविता—सार्वधातुकार्धधातु०, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु।

(2) लवितुम्
लू तुमन्—आर्धधातुक संज्ञा,
लू इ तुम्—इट्, आर्धधातुक गुण,
लवितुम्—प्रातिपदिक संज्ञा, सु, सुलुक्।

(3) लवितव्यम्
लू तव्यत्—पूर्ववत्,
लवितव्यम्—सु।

धातोः अर्थात् **धातोः** के अधिकार में पठित प्रत्यय की ही आर्धधातुक संज्ञा होती है—

(4) वृक्षत्वम्
वृक्ष त्व—'त्व' प्रत्यय न तो तिङ् है और न ही शित् है, परन्तु 'धातोः' के अधिकार में पठित न होने से इसकी आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई,
वृक्षत्वम्—सु।

(5) वृक्षता
वृक्ष तल्—पूर्ववत्,
वृक्षता—टाप्, सु।

(6) लूभ्याम्
लू भ्याम्—पूर्ववत् आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई।

(7) लूभिः (पूर्ववत्)।

(8) जुगुप्सते
गुप् सन्—गुप्तिज्किद्भ्यः सन्, द्वित्व,
जुगुप्सते—धातुसंज्ञा, 'त' प्रत्यय।
पूर्ववत् आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई।

(1248) लिट् च *115* (2172)

लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञो भवति। सार्वधातुकसंज्ञाया अपवादः। पेचिथ। शेकिथ। जग्ले। मम्ले। ननु चैकसंज्ञाधिकारादन्यत्र समावेशो भवति? सत्यमेतत्। इह त्वेवकारोऽनुवर्त्तते, स नियमं करिष्यति।

अर्थ—लिट् प्रत्यय के स्थान पर विहित आदेश की आर्धधातुक संज्ञा होती है। यह सार्वधातुक संज्ञा का अपवाद है।

उदा० (1) पेचिथ
पच् थल्—लिट्, सिप्, थल्, आर्धधातुक संज्ञा, ऋतो भारद्वाजस्य से पाक्षिक इट्, द्वित्व, थलि च सेटि,
प पच् इ थ—अभ्यासलोप,
पेचिथ—पक्ष में 'पपक्थ' बनता है।

(2) शेकिथ
शक् थल्—पूर्ववत्,
शेकिथ—'पेचिथ' की तरह।

(3) जग्ले
ग्लै त → ग्ला त → ज ग्ला ए—आर्धधातुक संज्ञा,
जग्ले—आतो लोप इटि च।

(4) मम्ले
म्ला त—पूर्ववत् 'जग्ले' की तरह।

ननु चैक०—इस प्रकरण में एक सञ्ज्ञा अधिकार न होने से लिट् के स्थान पर विहित तिङ् की आर्धधातुक व सार्वधातुक सञ्ज्ञाओं की युगपत् प्राप्ति होती है। परन्तु प्रकृत सूत्र में 'एव' पद का अनुवर्त्तन होता है। अतः यहाँ केवल आर्धधातुक सञ्ज्ञा होती है।

(1249) लिङाशिषि *116* (2215)

आशिषि विषये यो लिङ् स आर्धधातुकसंज्ञो भवति।

सार्वधातुकसंज्ञाया अपवादः। समावेशश्चैवकारानुवृत्तेर्न भवति। लविषीष्ट, पविषीष्ट। आशिषीति किम्? लुनीयात्, पुनीयात्।

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् के स्थान पर विहित तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है। यह सार्वधातुक संज्ञा का अपवाद है। 'एव' पद की अनुवृत्ति होने से सार्वधातुक का यहाँ समावेश नहीं होता।

उदा० (1) लविषीष्ट

लू त → लू सीय् सुट् त—आर्धधातुक संज्ञा,

लू इ सी स् त—लट्, यकारलोप, आर्धधातुकगुण,

लविषीष्ट—षत्व, ष्टुना ष्टुः।

(2) पविषीष्ट

पू त—'लविषीष्ट' की तरह।

आशिषि अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होती है—

(3) लुनीयात्

लू श्ना यासुट् त्—तिप्, इतश्च, श्ना, यासुट्, आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई, इट् नहीं हुआ,

लुनीयात्—ईत्व।

(4) पुनीयात्

पू तिप्—'लुनीयात्' की तरह।

(1250) छन्दस्युभयथा *117* (3435)

छन्दसि विषये उभयथा भवति, सार्वधातुकमार्धधातुकं च। किं लिङेवानन्तरः सम्बध्यते? नैतदस्ति, सर्वमेव प्रकरणमपेक्ष्यैतदुच्यते-तिङ्शिदादि छन्दस्युभयथा भवति। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः (ऋ० 7.99.7)-आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः, वर्धयन्त्विति प्राप्ते। शेषं च सार्वधातुकम्-स्वस्तये नावमिवारुहेम (ऋ० 10.178.2)। क्तिनः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावो न भवति। लिट् सार्वधातुकम्-ससृवांसो विशृण्विरे (ऋ० 4.8.6), सोममिन्द्राय सुन्विरे (ऋ० 7.32.4)। लिङ् उभयथा भवति-उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम् (ऋ० 6.47.8)। सार्वधातुकत्वाल्लिङः सलोपः (7.2.79), आर्धधातुकत्वादेत्वम्। 'व्यत्ययो बहुलम्' (3.1.85) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥
समाप्तश्चाऽयं तृतीयोऽध्यायः॥3॥

अर्थ—वेद के विषय में दोनों संज्ञाएँ (सार्वधातुक तथा आर्धधातुक) होती हैं। क्या लिङ् का अव्यवहित सम्बन्ध है? ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण प्रकरण की अपेक्षा करके यह कहा जा रहा है। वेद के विषय में तिङ् व शित् की उभय संज्ञाएँ होती हैं।

उदा० (1) वर्धन्तु (ऋ०7.99.7)

वृध् णिच् झि—लोट्, 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा प्राप्त हुई, प्रकृत सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा हुई,

वृध् अन्ति—'णेरनिटि' से णिलोप, झोऽन्तः,

वर्धन्तु—एरुः।

(2) आरुहेम (ऋ०10.3.10)

आ पूर्वक रुह् धातु से उ०पु०बहुव० में रूप बनता है।

(3) विशृण्विरे

श्रु झ—लिट्, झ, 'आर्धधातुकं शेषः' को बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा सार्वधातुक संज्ञा,

श्रृ श्नु इरेच्—लिटस्तझयोरेशिरेच्, श्रुवः शृ च,

विशृण्विरे—णत्व, यणादेश, वि उपसर्ग।

(4) सुन्विरे

लिट् सार्वधातुक होकर रूप बनता है।

(5) उपस्थेयाम (ऋ०7.15.5)

उप स्था मस्—लिङ्, मस्,

उप स्था यासुट् मस्—प्रकृत सूत्र के द्वारा आर्धधातुक संज्ञा, 'एर्लिङि' के द्वारा एत्व,

उप स्थे यास् मस्—'लिङ्याशिष्यङ्' से प्राप्त अङ् छान्दस के कारण नहीं हुआ,

उपस्थेयामस्—'लिङाशिषि' से प्राप्त आर्धधातुक संज्ञा को बाधकर सार्वधातुक संज्ञा हुई, 'लिङः सलोपो०' से 'यासुट्' के सकार का लोप,

उपस्थेयाम—'नित्यं ङितः' से सकारलोप।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।
समाप्तश्चाऽयं तृतीयोऽध्यायः॥3॥

कतिपय व्याकरणग्रन्थाः

अष्टाध्यायी। 'चन्द्रलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगीविषयैरुपबृंहिता।
व्याख्याकार—पं. ईश्वरचन्द्र। 1-2 भाग सम्पूर्ण

काशिका। 'चन्द्रलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता।
व्याख्याकार—पं. ईश्वरचन्द्र। 1-3 भाग सम्पूर्ण

परिभाषेन्दुशेखरः। 'सुबोधिनी' हिन्दीव्याख्या सहित।
व्याख्याकार—आचार्य श्रीविश्वनाथ मिश्र

प्रौढमनोरमा-सशब्दरत्न। 'बालप्रकाशिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्या सहित। पञ्चसन्ध्यन्त।
व्याख्याकार—श्रीद्वारकाप्रसाद द्विवेदी

बृहच्छब्दकुसुमाकरः। शब्दरूपों का संग्रह। सम्पादक—पं॰ हरेकान्त मिश्र

बृहद्धातुकुसुमाकरः। टिप्पण्यादिविभूषित-ण्यन्त-सन्नन्त-यङन्त-यङ्लुङन्त-भावकर्म-कृदन्तरूपसहित- सार्थसकलधातुरूपाणां सङ्ग्रहः। सम्पादक—पं॰ हरेकान्त मिश्र

मध्यसिद्धान्तकौमुदी। 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता।
व्याख्याकार—डॉ॰ श्रीसुरेशचन्द्र शर्मा। सम्पूर्ण (1-4 भाग)

मुग्धबोधव्याकरणम्। बोपदेव विरचित। श्रीदुर्गादास तर्कवागीश, श्रीरामतर्कवागीश कृत टीका सहित। सम्पा॰ जीवानन्दविद्यासागर

लघुशब्देन्दुशेखरः। 'सुबोधिनी' हिन्दीव्याख्या सहित। पञ्चसन्ध्यन्त।
व्याख्याकार—आचार्य विश्वनाथ मिश्र

लघुशब्देन्दुशेखरः। 'बैकुण्ठी' हिन्दी टीका। टीकाकार—बैकुण्ठनाथ शास्त्री। अव्ययीभावापर्यन्त

लघुसिद्धान्तकौमुदी। महेशसिंह कुशवाहा कृत विवेचनात्मक 'माहेश्वरी' हिन्दी व्याखा सहित।

वैयाकरणभूषणसारः। 'दर्पण'-'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित।
डॉ॰ चन्द्रिकाप्रसाद द्विवेदी

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी। श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वतीविरचित 'तत्त्वबोधिनी' व्याख्यासंवलिता। श्रीजयकृष्णविरचित 'सुबोधिनी' टीकासहिता च। सम्पादक—श्रीवासुदेवलक्ष्मणशास्त्रीपणशीकर

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी। 'बालमनोरमा' संस्कृत एवं 'दीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित।
व्याख्याकार—आचार्य श्रीगोपालदत्त पाण्डेय। 1-2 भाग मात्र

वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा। 'किरणावली' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित।
व्याख्याकार—आचार्य लोकमणि दाहाल

व्याकरणमहाभाष्यम्। सप्रदीप—'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित।
टीकाकार—आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र। आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित।
प्रथम आह्निक (पस्पशाह्निक) एवं 1-5 आह्निक



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली-110007